



श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य एकत्रिंशः (३१) सोपानः

# बृहदारण्यकोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करमाध्यसमेता

( प्रथमो भागः )



‘गोविन्दप्रसादिनी’ टिप्पणी एवं ‘कैलासविद्याप्रकाशक’ कोटपत्र परिष्कर्ता विद्यावाचस्पति  
महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज



‘विद्यानन्दीमिताक्षरा’ व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर  
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



‘कुमुदतोषिणी’ टीकाकार एवं सम्पादक

डॉ० लमेशानन्द शास्त्री

एम. ए., एल-एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य



श्री कैलास आश्रम प्रतापदी समारोह महासमिति, ऋषिकेश

प्रकाशक—

श्री कलास धार्मिक शताब्दी समारोह महासमिति  
मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ० प्र०)

---

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए रियायती दर के कामज पर मुद्रित

---

---

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

---

प्रथम संस्करण १९००



पुनः प्रणिमा वि. सं. २०३६

—पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१. श्री कलास धार्मिक मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४६२०१
२. श्री कलास धार्मिक, उजेली, उत्तरकाशी-२४६१६३
३. श्री ब्रह्मनाम सन्ध्यास आश्रम, भूपतियाला, हरिद्वार-२४६४०१
४. श्री राम धार्मिक, समानामण्डो, पटियाला-१४७१०१
५. श्री ब्रह्मिणामुति सं० म० विद्यालय, मिथपोखरा, वाराणसी-२२१००१
६. श्री ब्रह्मिणाम विद्याभवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
७. श्री ब्रह्मिणाम विद्याभवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
८. श्री कलास बनारसोद्यान, चौक, वाराणसी-२२१००१

---

मुद्रक—श्री कलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द धार्मिक, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ० प्र०)

## श्री कलास आश्रम ऋषिकेश की आदर्श परम्परा

श्री कलास आश्रम (ब्रह्मविद्यापीठ) ऋषिकेश की संस्थापना प्रातःस्मरणीय ब्राह्मसंस्थापक ब्रह्मलीन स्वामी धनराज गिरि जी महाराज द्वारा उस समय की गई, जिस समय भारतवर्ष में प्राचीन पद्धति से दार्शनिक ग्रन्थों का पठन-पाठन मृत प्रायः हो चला था। विद्वान् एवं धार्मिक नेताओं का झुकाव भी संसार की सत्यता प्रतिपादन करने में होता जा रहा था। सामाजिक पुनरुत्थान के नाम पर भारतवर्ष की ब्राह्म संस्कृति एवं सभ्यता का निर्वेचन पक्षपातपूर्ण दृष्टि में किया जाने लगा था। ऐसे अवसर पर ब्रह्मविद्या के पठन-पाठन, इसकी सार्वकालिक उपयोगिता एवं महत्त्व पर बल दिया जाना आवश्यक था। परम श्रद्धेय स्वामी धनराज गिरि जी महाराज ने उत्तराखण्ड में गङ्गा के पवित्र एवं सुरभ्य वातावरण में रहने वाले आत्मानन्द के रसिक साधकों एवं महापुरुषों को इस ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। आरम्भ में वृक्ष की छाया में अध्ययन-अध्यापन करना, निराला भोजन करते हुए सत्त्वजिज्ञासुओं की गिपासा को शान्त करना मात्र ही इनका जीवन था। कालान्तर में धर्मिन-चन्द्रेश्वर भगवान् महादेव की प्रेरणा से महाराजश्री ने सन् १८८० में श्री कलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ की स्थापना कर भारतवर्ष में दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा को मदा-सदा के लिए सुरक्षित रखने का बीड़ा उठाया।

श्री कलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ पिछले एक शतक से वेदान्त अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए हुए है। गङ्गा के तट पर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित कलास आश्रम वेदान्त जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त मनोरम स्थल है। साधकों एवं ब्रह्मविद्यानुरागियों के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण है। यहाँ का एकान्त सेवन एवं निष्ठावान् महापुरुषों का प्राथम्य किसी भी आत्मशान्ति प्रदान नहीं करता। यहाँ का वायुमण्डल चैतन्यरागरसिकों की आत्सरसि के लिए स्वभावतः प्रेरणा देता है। यहाँ की पवित्र भूमि में आचार्यजनों के श्रीचरणों के सात्त्विक में ऐसा लगता है मानो भद्वैत-निष्ठा सब भोर में सिमट कर भूतिमयी होकर यही ध्यावास करने लगी हो। स्वामी विवेकानन्द जी एवं स्वामी रामतीर्थ जी प्रभृति विजिष्ट महापुरुषों की साधनस्थली श्री कलास आश्रम में सर्वप्रथम सन् १९६७ में मुझे जाने का अवसर दैवयोग से प्राप्त हुआ। विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज के दर्शन किए। उनकी सत्त्वनिष्ठा अलौकिक थी। इधर सन् १९७३ से तो संस्था का अङ्गभूत होकर जीवन्मुक्त महापुरुषों की भद्वैतनिष्ठा का चिन्तन करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है।

श्री कलास आश्रम के पीठाचार्य धनराज गिरि जी महाराज एवं सत्त्वनिष्ठा के लिए विद्वत्समाज में मदा सर्वप्रिय रहे हैं। यहाँ के पीठाचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज एवं विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज ने उपनिषदों का रहस्य प्रतिपादन करने के लिए संस्कृत भाषा में टिप्पण एवं श्लोकप्रश्नों को लिखा। सर्वत्र चर्चा पत्ती आ रही थी कि कलास में उपनिषदों पर दुर्लभ हस्तलेख हैं। पूर्व पीठाचार्यों की प्रकाशन कराने की प्रवृत्ति नहीं होती थी। इस तरह वे हस्तलेख वर्षों तक पुस्तकालय की शोभा बने रहे। इनके

काशन का एकमात्र श्रेय परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यतीन्द्रकुलतिलक बतमान ठााचार्य महामण्डलेश्वर वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज को है। सन् १९६६ में कैलासाश्रम के पीठाचार्य महामण्डलेश्वर होने से पूर्व ही आपके कई अन्य प्रकाशित हो चुके थे। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर “वेदान्त परिभाषा” एवं “ब्रह्मसूत्र वद्यानन्दी वृत्ति” इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए भारत सरकार शिक्षा विभाग ने आर्थिक सहयोग भी दिया। श्री कैलास आश्रम के इतिहास में ऐसा पहली बार हो हुआ कि उक्त सस्या की दार्शनिक उपलब्धियों को अधिकाधिक प्रकाश में लाने के लिए ठोस कार्य किया हो और यह सब पूज्य महाराजश्री की प्रेरणा वृत्ता से संभव हुआ।

### लेखन, अनुवाद एवं सम्पादन

प्रस्तुत बृहदारण्यकोपनिषत् के टिप्पण एवं श्रोडपत्र लेखन का कार्य फरवरी सन १९७५ में महाराज श्री ने मुझे सौंपा था। टिप्पणकार द्वारा मूल पुस्तक में ही यत्र तत्र रिक्त स्थानों में बारीक-बारीक प्रश्नों में लिखे गये पदार्थ की प्रेसकापी बनाना, सन्देहास्पद स्थानों में भाष्य, भ्रानन्दगिरिटीका एवं वार्तिककार आदि के भावों का विश्लेषण करते हुए सही पाठ का निर्णय लेना, यह एक दुसाध्य कार्य था जो महापुरुषों की वृत्ता से मैं यथाबुद्धि निष्पादित कर पाया। मूल मन्त्र, भाष्य, एवं भ्रानन्दगिरि टीका पर “गोविन्दप्रसादिनी” टिप्पणी इतनी प्रचुर मात्रा में हैं कि हस्तलिखित १७५२ पृष्ठों में पूर्ण हुई। इसी प्रकार “कैलास विद्याप्रकाशक” श्रोडपत्र को ३३७ हस्तलिखित पृष्ठों में पूरा किया जा सका। यदि इन्हें ‘भ्रानन्दगिरि’ टीका की तरह स्वतन्त्र निबन्धात्मक टीका ही कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि उपनिषद्मन्त्रों, भाष्य एवं भ्रानन्दगिरि टीका के सारगर्भित अर्थ को इनमें अधिक स्पष्ट किया है।

महाराज श्री की आज्ञा हुई कि शाङ्करभाष्य पर सरल, ससिद्ध, भावाभिव्यञ्जक अनुवाद हो, इसके लिए मैंने “कुमुदतोषिणी” टीका लिखी। यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य पर पहले भी कई लेखक अपनी लेखनी उठा चुके हैं एवं भाष्य के अर्थ को समझने का प्रयास किया है, तदपि इस टीका में कुछ नवीनता अवश्य मिलेगी। भगवान् शाङ्कराचार्य मन्त्रों पर अपना भाष्य लिखते समय मन्त्र के एक-एक पद को लेकर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करते हुए व्याख्या करते जाते हैं। अपने अनुवाद में मैंने भाष्य में आये हुए मन्त्र के पदों को उद्धरणचिह्नों (“ ”) के अन्दर लेकर पुनः उसका अर्थ किया है। इससे कहीं-कहीं जहाँ भाषा प्रवाह में गत्यवरोध आया है, वहाँ अनुवाद में भाष्य की मौलिकता की असृष्टि बनाये रखने का प्रयास किया है। ‘कुमुदतोषिणी’ टीका करने में सुरेश्वराचार्यरचित “भाष्यवार्तिक”, विद्यारण्यरचित बृहदारण्यकवार्तिकसार, भ्रानन्दगिरि टीका, स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी महाराज द्वारा रचित टिप्पण एवं श्रोडपत्र का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। टिप्पण एवं श्रोडपत्र के भावों को अनुवाद में समावेश करने के लिए उन्हें कोष्टक ( ) में रख दिया है, इससे उन पाठकों का विशेष हित होगा जो संस्कृत भाषा का केवल प्रारम्भिक ज्ञान रखते हैं किन्तु शाङ्करभाष्य की गहराई को समझने के इच्छुक हों। पूर्वोक्त पाण्डुलिपि एवं शाङ्करभाष्य अनुवाद ३ वष ४ मास में पूरा हुआ।

इससे पहले कि मैं अपनी इतिकर्तव्यता यही पर समझने के लिए निवेदन करता, महाराजश्री ने इस बृहदारण्यकोपनिषत् के सम्पादन का कार्य भी मुझे करने का आदेश दिया। उनकी आज्ञा के



वशीभूत एवं हृदयस्थित संवित्शक्ति से प्रेरणा पाकर मैंने सब धर्मों के लोकोपकारी दायित्वों को समेट कर अपनी पूर्ण शक्ति इसके सम्पादन में लगा दी। इसका शुद्धन श्री कैलास विद्या प्रेस ऋषिकेश में होने के कारण ही इतनी जल्दी इसे प्रकाश में लाया जा सका।

### अध्ययन प्रक्रिया

बृहदारण्यक उपनिषत् के अध्ययन की दो प्रक्रियाएँ थी; एक काण्वशास्त्रीय एवं दूसरी माध्यन्दिनशास्त्रीय। माध्यन्दिनशास्त्रीय प्रक्रिया के आचार्य भर्तृहरिप्रपञ्च एवं मण्डनमिश्र आदि थे, तथा भगवान् गङ्गाराचार्य की प्रक्रिया काण्वशास्त्रीय है। भगवान्मन्दनानन्दरचित ग्रन्थानन्दगिर टीका से यह स्पष्ट होता है। यथा —

“काण्वोपनिषद्विवरणव्याजेनाशेषामेवोपनिषदं शोधयितुं कामो भगवान्माध्यकारः” इत्यादि।

भगवान् गङ्गाराचार्य ने अपनी प्रक्रिया को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए बृहदारण्यकोपनिषत्-पञ्चाङ्ग में प्रायः १५ स्थलों में माध्यन्दिनशास्त्रीय प्रक्रिया का खण्डन किया है। सबसे अधिक स्थलों में द्वैताद्वैत के सिद्धान्त को प्रस्तुत कर उसे शास्त्रविरुद्ध घोषित कर अनादरदाष्ट से देखने के लिए कहा है। उधर सुरेश्वराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी आचार्य मण्डनमिश्र को पण्डितमन्य कहकर उनके सब का निराकरण करते हैं।

### बृहदारण्यक उपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय

ईशादि ग्रन्थ भी उपनिषदें, जिन पर गङ्गारभाष्य उपलब्ध है, सभी ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती हैं किन्तु कलेवर धीर ग्रन्थ की दृष्टि से महान् होने के कारण बृहदारण्यक उपनिषत् का अपना एक विशिष्ट स्थान है। ईशादि उपनिषदें जहाँ संक्षिप्त एवं सरल हैं, वहीं बृहदारण्यकोपनिषत् बृहत्, धीर गम्भीर है। इसके एक-एक मन्त्र में इतना पदार्थ है कि उसका ग्रन्थ चिन्तन करते-करते समाप्ति सी लग जाती है। यह कहना बहुत हृदय तक सुसंगत ही है कि सभी वेद, शास्त्र एवं पुराणादि शास्त्रों के श्रवण एवं पठन से अद्वैतनिष्ठा उत्पत्ति सुख नहीं होती, बितनी एकमात्र बृहदारण्यकोपनिषत् के श्रवण, पठन, मनन एवं निदिध्यासन करने से की जा सकती है। द्वैतपरक शास्त्र बहिर्मुखता तक ही सीमित रहने देते हैं, जो कि परमार्थ में बाधक है। विद्यारण्य मुनि के मत में—

“अन्तर्मुख पुरुष के लिए यह सत्कार दुःखदायी नहीं होता और बहिर्मुख पुरुष तो संसार में दुःख के अनन्तर दुःख ही प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष सदा अन्तर्मुख रहता है और अज्ञानी सदा बहिर्मुख रहता है क्योंकि विवेक के न होने से बहिर्मुख पुरुष प्रत्यक्षतत्त्व को नहीं जानता है” (वा. सा. १.४.११-१२)।

बृहदारण्यक उपनिषत् पुत्रपणा, वित्तपणा एवं लोकपणा से ऊपर उठना सिखाता है। धर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि कर ज्ञान के लिए द्वारभूत है। “विविदिषन्ति यजेन”, “ज्ञानमुत्पद्यते पुसा क्षयात्पापस्य कर्मणः”, “अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा” इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि विविदिषा से ब्रह्मात्मैक्य होता है, मन के मर्तों को क्षय करने से विविदिषा आती है तथा धर्म से अनोमल क्षीण होते हैं। इसी से ईशावास्योपनिषत् में “प्राणधारण पर्यन्त कर्मों में निष्ठा किए रहे” ऐसा कहा है। “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः” इत्यादि। किन्तु “तमेव विदिष्व”, “ज्ञानादेव तु कवलयम्”

“तत्त्वमस्यादिवाक्योत्पत्त्यं ज्ञान भोक्तव्यं साधनम्” इत्यादि संबन्धो ह्येतो अति स्मृति वाक्यो से निरतिशय प्रानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। इसका विस्तृत विवेचन बृहदारण्यकोपनिषत् प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में हुआ है।

बृहदारण्यक उपनिषत् में सत्तारूप मनस्य की निवृत्ति के लिए उपदेश है। मनस्य का हेतु शरीरधारण है क्योंकि किसी भी शरीरधारण को प्रिय और अप्रिय (सुख और दुःख) विच्छेद नहीं होता है। धर्म और अधर्म देह के कारण हैं और दोनों का मूल विहित और प्रतिषिद्ध कर्म है। राग-द्वेष के कारण शोभनाध्यास और अशोभनाध्यास होता है। अन्य वस्तु के सद्भाव के बिना पूर्वोक्त सद्भाव हो नहीं सकता। वह अन्य वस्तु का सद्भाव आत्मा का अज्ञान से कल्पित है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् अनादि अविद्या मनस्य परम्परा का समूल उच्छेद कर ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

### भगवान् शङ्कराचार्य एवं श्रीमत्सुरेश्वराचार्य

वातिकार श्रीमत्सुरेश्वराचार्य जी शाङ्करभाष्य की प्रक्रिया एवं निदान्त प्रतिपादन शैली से बहुत प्रभावित हैं। उन्होने भगवान् शङ्कराचार्य की भावपूर्ण वन्दना इस प्रकार की है—

“मा शंलादुदयात्तथास्तगिरितो मास्वचशोरश्मिभि  
व्याप्त निश्वसनन्यकारमभवच्छस्य स्म शिष्यैरिदम् ।  
भाराज्ज्ञानगभस्तिमि प्रतिहृतश्चन्द्रायते भास्कर-  
स्तस्मै शङ्करभानवे तनुमनोवाग्भिर्नमस्तात्सदा” ॥

इनकी दृष्टि में भगवान् शङ्कराचार्य का बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य सभी उपनिषदों की वृत्तिरूप होने से गम्भीर है, अतः इस पर वातिक की अपेक्षा है। वातिकार अपना बुद्धिर्वचन प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भाष्य पर वातिक नहीं लिखते, बल्कि गुरुदेव के शिष्यों में श्रद्धा के प्रतिरेक के कारण उन्होंने ऐसा किया। उन्हीं के शब्दों में—

“श्रद्धामाश्रयत्वेन वातिकमिदं तस्या समासात्कृतम्” । (वा उपसंहारात्मके श्लोके)

श्रीमत्सुरेश्वराचार्य जी ने कही कही भाष्य की प्रकारान्तर से भी व्याख्या की है (पृ २००)। इसी तरह ‘प्रियतरम’ के भाष्य में ‘तमम्’ प्रत्यय के अर्थ में ‘इयमुन्’ प्रत्यय मानत हैं। इसमें दो हेतु दिये हैं, प्रथम क्योंकि पुत्र की बहुत लोग प्रतिशय विवक्षा करते हैं, दूसरे यह छान्दस प्रयोग है (पृ २४४)। ‘विद्यया देवलोक’ (बु उ १५ १६) के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

‘विद्यया देवलोको न पुत्रं नापि कर्मणा । देवलोको वै लोकानां त्रयाणां श्रेष्ठः प्रशस्त्यतमः । तस्मात्तत्साधनत्वाद्धिया प्रशंसति’ ।

इस पर वातिकार ने अपनी असहमति प्रदर्शित की है (पृ ३७७)। सप्रति वाक्य का संबन्धान्तर प्रदर्शित किया गया है (पृ ३१६-८३)। ‘अयातो वतमीयासा’ (बु उ १५ २१) इत्यादि मन्त्र का वातिकार ने तात्पर्यान्तर वर्णन किया है। बु उ १५ २३ में ‘यतश्चोदेति’ इत्यादि ग्रन्थ को पूर्वाध प्रश्नरूप से एवं ‘प्राणाद्या एव उदेति’ को उत्तररूप में बर्णित किया है (पृ ४०२)। जो भी हो, वातिकार कात्यायन एवं काशिकाकार जयादित्य यामन ने जिस प्रकार महर्षि पतञ्जलि-

रचित महाभाष्य तथा भगवान् पाणिनि के सूत्रों से कई स्थलों में वैमत्य प्रगट किया है; कम से कम श्रीमत्पुरेश्वराचार्य जी का भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य जी से सिद्धान्ततः कोई विरोध नहीं है।

### अद्वैतवाद की सर्वोच्च प्रतिष्ठा

भगवान् शङ्कराचार्य के भद्वैतवाद को केवलाद्वैतवाद, निर्विशेषाद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, ध्रुपनि-पदाद्वैतवाद, निर्विशेषब्रह्माद्वैतवाद आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। उपनिषदों में प्रतिपादित केवल निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, वही सत्य है। ब्रह्म से अतिरिक्त सभी कुछ दृश्यमान जगत् और जीव मिथ्या है। ब्रह्म जगत् और जीव का सभी तक द्वैतरूप से भाव होता है, जब तक ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता। भगवान् शङ्कराचार्य अद्वैतवाद से भिन्न सिद्धान्त को अपसिद्धान्त कहते हैं, अतः उससे समझौता करने के लिए किसी भी अवस्था में तैयार नहीं हैं। जो लोग कहते हैं—द्वैत भी सत्य है, भद्वैत भी सत्य है, एकत्व भी सत्य है, अनेकरव भी सत्य है, भेद भी सत्य है, अभेद भी सत्य है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि विशिष्ट भद्वितीय ब्रह्म विषयक उत्तरार्ग व अपवाद का विकल्प अथवा समुच्चय संभव नहीं है, दूसरे यह कल्पना सुचोभना नहीं है क्योंकि इससे श्रुति, स्मृति और न्याय का विरोध प्राप्ता है (वृ उ शा भा ५१२)।

कुछ दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ उपासना के समुच्चय महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं किन्तु भाष्यकार को यह कदापि सह्य नहीं है। उन्हीं के शब्दों में—

“यावदयमेव देव पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति वा स्वभावप्रवृत्तिविशिष्ट वेद तावदञ्जसा कृत्स्नमात्मानं न देव” (वृ उ शा भा १४७)।

भगवान् शङ्कराचार्य के विचार में पुरुषों की विभिन्ना बुद्धि को देखते हुए शास्त्र धनेक प्रकार से साध्यसाधनरूप सवन्धविशेषों का उपदेश करता है। विषयों में प्रवृत्त होने के कारण पुरुष शास्त्र की उपेक्षा कर साधनविशेषों में प्रवृत्त होता है। शास्त्र तो सूर्य और प्रदीपादि के समान तटस्थ ही रहता है। इस प्रकार किसी पुरुष को परम पुरुषार्थ भी अपुरुषार्थ के समान लगता है। बुद्धि-वैचित्र्य के कारण ही उपासक द्वैत से छुटकारा नहीं पा सकता। कहा भी है—

“अपि वृन्दावने शून्ये सुगालत्वं स इच्छति।

न तु निर्विषय मोक्षं यन्तुमर्हति शोभतम्” ॥ इत्यादि।

भगवान् भाष्यकार के मत में कर्म और विद्या का स्वरूप क्रमशः अज्ञानात्मक एवं ज्ञानात्मक है, अतः उनमें परस्पर भेद है। “कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याविद्यात्मकयोः प्रतिकूलवर्तनं विरोधः” (पृ ५७७)। जीव कर्मासक्ति के द्वारा बन्धन में फँस जाता है और ज्ञान द्वारा मोक्ष लाभ करता है। इसलिए तत्त्वद्रष्टा महापुरुष कर्मासक्ति नहीं करते। वार्तिककार ने भी तत्तत्स्थलों में इसकी पुष्टि की है।

भगवान् शङ्कराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भर्तृप्रपञ्चादि दार्शनिकों का विशेषरूप में खण्डन करते हैं। यद्यपि बहुदारण्यकोपनिषद्भाष्य में परमतः प्रस्तुत कर उसके दूषण से ग्रन्थ का कोई सवन्ध नहीं दीखता, तथापि प्राचार्य शङ्कर भद्वैतवाद के उत्कर्ष एवं सुन्दर प्रतिष्ठा के लिए यह सब प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मसूत्र में विभिन्न पक्षों का वर्णन होने के कारण शाङ्कराचार्य में उसका खण्डन

कर सिद्धान्त को स्थापित करना न्यायसङ्गत है। क्योंकि शङ्कराचार्य से पूर्व भी द्वैतवादी अपने मत को शास्त्रसम्मत कहते चले आ रहे थे; इसलिए उपनिषद्भाष्य तथा गीताभाष्य में भी जरा सा अवसर मिलते ही उन्होंने द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, एवं ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी आदिकों को धृति-विरुद्ध सिद्ध करना अपना प्रधान कर्तव्य समझ लिया है। इसे उन्होंने स्थान-स्थान पर श्रुति, स्मृति और तर्क से सम्यक् प्रकार से सिद्ध किया है, ताकि साधक असत्पथ का त्याग कर सत्पथ का अनुसरण करे।

## मधुविद्या

बृहदारण्यकोपनिषत् में तीन काण्ड हैं; प्रथम मधुकाण्ड, द्वितीय याज्ञवल्क्यकाण्ड और तृतीय खिलकाण्ड। मधुकाण्ड में उपदेश, याज्ञवल्क्यकाण्ड में उपपत्ति एवं खिलकाण्ड में उपासना; इस क्रम से तीनों काण्डों में ये तीन ही अर्थ प्रधानरूप से कहे गये हैं। मधुकाण्ड में चार अध्याय हैं, उनमें प्रारम्भ के दो अध्यायों में प्रथम नामक कर्म कहा गया है, अतः यह उपनिषत् नहीं माना जाता है। प्रकृत ग्रन्थ बृहदारण्यकोपनिषत् का प्रथम अध्याय उपनिषत्क्रम से है; बृहदारण्यक क्रम से वह तृतीय अध्याय है। दोनों अध्यायों को मधुकाण्ड की सजा वयो दी गई जबकि द्वितीयाध्याय पञ्चम ब्राह्मण ही मधुब्राह्मण नाम से विख्यात है। इसका समाधान यह है कि जिस मधुविद्या का प्रतिपादन इस ब्राह्मण में विशेष रूप से है, उसी का विस्तार द्वितीयाध्याय चतुर्थब्राह्मणपर्यन्त हुआ है। भगवान् भाष्यकार के शब्दों में—

“अथवाऽऽश्मवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्याऽऽश्मोत्पत्तिस्त्यतिलयत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यावस्य निगमनं क्रियते” (पृ. ६२७)।

मधुविद्या प्रकारान्तर से ब्रह्मविद्या ही है। इसका उपदेश हिरण्यगर्भ ने विराट् प्रजापति को किया, प्रजापति की वंशपरम्परा से दध्यङ्गुमर्बण ने भद्रिनीकुमारों को इसका उपदेश किया। छान्दोग्योपनिषत् में मधुविद्या की एक अन्य भी परम्परा है जिसमें पिता अरुण से उद्दालक ने सुता (छा. उ. ३. ११. ४)। बृहदारण्यकोपनिषत् में इस परम्परा के साथ कोई संबन्ध नहीं है (बृ. उ. २. ६. १-३)।

संक्षेप में मधुविद्या का स्वरूप इस प्रकार है। यह पृथिवी आदि समस्त जगत् परस्पर उपकार्य और उपकारक स्वरूप है। लोक में जो भी पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारक रूप होते हैं, वे एककारणपूर्वक, एकचैतन्यानुविद्ध और एकप्रलयस्थान वाले देखे जाते हैं। इसलिए यह पृथिव्यादिरूप जगत् भी परस्पर उपकार्य उपकारक स्वरूप होने के कारण वैसा ही होता है। पृथिवी, सब जूज, पादिय पुरुष और शरीर ये चारों एक दूसरे के मधु हैं। सब पृथिवी भूतों की कार्य है, अतः इनमें एककारणपूर्वकत्व है। जिस एक कारण से ये सब उत्पन्न हुए हैं, वही एक परमार्थ ब्रह्म है। जिसके स्वरूप ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् ग्रहण होता है, वही यह मधुचतुष्टय है। कहा भी है—

“सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः।

इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यश्लेषाहारिणी” ॥ (वा. सा. १. ४. १४)

इस मधुविद्या की स्तुति के लिए ब्राह्म्यायिका भी कही गयी है कि किस प्रकार इन्द्र द्वारा इस गोपनीय विद्या का उपदेश देना मना करने पर भी अथर्वा के पुत्र दध्यङ्गनामा ने भद्रिनीकुमारों को इसका उपदेश किया। जब इन्द्र ने क्रोध से उस ब्राह्मण का घट धतग कर दिया तो भद्रिनीकुमारों ने

अपनी विद्या से पुनः घट विस्थापित कर दिया । इस मधुविद्या का फल यही है कि ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान हो जाये । इसलिए आचार्य शाङ्कर के शब्दों में ठीक ही कहा गया है—

“तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवलक्षणत्पूर्वमपि ब्रह्मैव सदविद्ययाऽब्रह्माऽऽसीत्सर्वमेव च सदसर्वमासीत्तां  
स्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य ब्रह्मविदब्रह्मैव सन्ब्रह्माभवत्सर्वः सन् सर्वमभवत्” (पृ. ६४६) ।

प्रबन्धप्रकरण में प्रोक्त मधुविद्या एवं बृहदारण्यकोपनिषत् तथा अन्य उपनिषदों में इस विद्या के स्वरूप में क्या साम्य एवं भेद है; गोमांसको एवं भर्तृप्रपञ्चादि आचार्यों द्वारा इसे उपासना का स्वरूप क्यों दिया गया जबकि भगवान् शाङ्कराचार्य का इसे ब्रह्मविद्या मानने के लिए आग्रह है—इत्यादि विषयों पर एक स्वतंत्र अनुसन्धान करने की आवश्यकता है ।

### प्रस्तुत संस्करण के संबन्ध में

यह बृहदारण्यक उपनिषत् वर्षों से अनुपलब्ध है । धानन्दाश्रम ग्रन्थालय से मुद्रित धानन्दगिरिटीका सहित शाङ्करभाष्य भी अब अप्राप्य है । इसी प्रकार श्रीमत्सुरेश्वराचार्य का बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यात्मिक भी अब दुर्लभ है । इस ग्रन्थ की वर्षों से प्रतीक्षा थी । श्री कलास आश्रम के इस संस्करण को पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे अपार हर्ष हो रहा है । इसके सम्पादन का क्रम इस प्रकार है । ग्रन्थ के शीर्षस्थ भाग में स्थूलाक्षरो में उपनिषन्मन्त्र का मुद्रण है । उसके नीचे श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यानन्द गिरि जी महाराज कृत उस मन्त्र की “विद्यानन्दी मिताक्षरा” हिन्दी भाषा में व्याख्या है । जहाँ मन्त्र का भाष्य अधिक है, वहाँ शाङ्करभाष्य की ही शीर्षस्थ भाग पर लिया गया है । शाङ्कर-भाष्य को मन्त्र से भिन्न टाइप में दिया है । उसके नीचे उसी पृष्ठ के शाङ्करभाष्य से सम्बद्ध धानन्दगिरि टीका दी गई है । भाष्य से इसके टाइप भी भिन्न हैं, एवं दो प्रकार के हैं, एक भाष्यार्थ प्रतिपादन के लिए तथा दूसरा भाष्य के प्रतीक को प्रदर्शित करने के लिए है । प्रतीक के पूर्व प्रायः षैश (—) का चिह्न रहता है । पृष्ठ १८८ में भाष्य एवं धानन्दगिरि टीका का नमूना लें—

ॐ 'तदे'वंभूतं 'जगदव्याकृतं' 'सत्तामरूपाभ्यामेव' 'नाम्ना' 'रूपेणैव च व्याक्रियत ।

( ना० )

“भजातं ब्रह्म जगती भूलमित्युक्त्वा तद्विवर्तो जगविति ” निरूपयति—तदेवभूतमिति ।

( आ गि. टी. )

धानन्दगिरि के नीचे शाङ्करभाष्य की “कुमुदतोपिणी” टीका है । उसके नीचे भूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य एवं धानन्दगिरि टीका पर की गई टिप्पण है । यथा उपरोक्त उदाहरण में ही भाष्य में ३ से ८ तक के अक्षर दिए हैं एवं धानन्दगिरि टीका में १० व ११ अक्षर दिए हैं । उन्हीं अक्षरों को नीचे मुद्रित कर उसकी टिप्पण को दिया गया है । उसके नीचे श्लोडपत्र को दिया है । जैसे उपरोक्त भाष्य के प्रारम्भ में ही सितारे ॐ का चिह्न दिया है, उसी सितारे ॐ को नीचे लगाकर प्रतीक संकेत कर श्लोडपत्र मुद्रित किया गया है ।

प्रस्तुत संस्करण में टिप्पण एवं शोधपत्र का समावेश इसका मुख्य प्रावर्धन है। टिप्पण और शोधपत्रों के अध्ययन से विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की सर्वशास्त्रपारङ्गता निर्विवाद सिद्ध होती है। स्थान-स्थान पर प्रामाण्य प्राप्त उपनिषद्ग्रन्थों, पद्धतान्तसूत्रों, तत्त्वभाष्यों, भाष्यवाचिक, वातिकसारादि के उद्धरणों के द्वारा आपने श्रुतिसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कहीं-कहीं तो स्वाराज्यसिद्धि जैसे प्रकरण ग्रन्थों एवं वात्स्यायन सूत्रों का भी संकेत मिलता है। इनके अर्थों का जितना अधिक विचार किया जायेगा, उतनी ही विशेष आनन्दानुभूति होगी एवं अद्वैत तत्त्व के प्रति निष्ठा दृढ़तर होती जाएगी।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की ओर से श्री कैलास आश्रम शताब्दी महोत्सव आयोजन के अवसर पर किया जा रहा है। इसके लिए श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष एवं कैलासपीठाधीश्वर यतीन्द्रकुलतिलक महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज के हम सदा सर्वदा ऋणी हैं, जिनके दृढ सत्त्व से एवं प्रकाशन कार्य की प्राथमिकता देने के कारण ही यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश में लाया जा सका। श्री कैलास आश्रम के सुदृढ स्तम्भ परम अद्वैत श्री १०८ स्वामी हरिहर तोय जी महाराज ने समुचित मार्ग निर्देशन द्वारा ग्रन्थ को उत्तरोत्तर अधिक परिमाणित ढंग से प्रस्तुत करवाने में प्रेरणाप्रद सहयोग दिया है। जिन महापुरुषों, विद्वान् महानुभावों ने अपने अप्रमत्त समय में कुछ समय देकर इस ग्रन्थ के लिए शुभाशीर्वाचन, भूमिका, शुभाशंसा, अभिनन्दन आदि लेख लिखे हैं, श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति उनकी अत्यन्त आभारी है।

ग्रन्थ प्रकाशन की यथाशीघ्र पूर्ण करवाने में श्री कैलास आश्रम के जिन तत्त्वजिज्ञासु महापुरुषों ने निष्काम भावेन सेवा की है, उनमें स्वामी परिव्रजानन्द गिरि जी महाराज, रघुनन्दन पुरा, उमानन्द गिरि, धम्म गिरि, शिवानन्द शास्त्री, गीतानन्द, मुक्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, केशवानन्द, रामानन्द शास्त्री, राघवानन्द, दिव्यानन्द, असृगानन्द, देवेन्द्रानन्द, रामेश्वरानन्द, चन्द्रेश्वरानन्द, ओकारानन्द, कैवल्यानन्द, पुजारी दया गिरि, त्रिभुवन चैतन्य, शिव चैतन्य जी प्रभृति के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उपरोक्त सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं।

यद्यपि ग्रन्थ में मुद्रण सबन्धी त्रुटियों की न होने देने के लिए पूर्ण प्रयास किया गया है तो भी यदि अनवधानवश कोई प्रशुद्धि रह गयी हो तो कृपालु पाठकजन इसे क्षमा करेंगे।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

उपनिषद् कुटीर,  
पश्चिम बिहार  
नई दिल्ली—११००६३

मयवदीयः  
डॉ. उमेशानन्द शास्त्री  
१३ जून १९७६ (गणेशचतुर्थी)

भारतहृदयसन्नाट् अनन्तश्रीविभूषितस्वामिहरिहरानन्वसरस्वती-  
श्रीकरपात्रीमहाभागानां

★ शुभाशीर्वचांसि ★

पृह्वोरण्यके काश्वशास्त्रोये कलित पुरा ।  
 भाष्यं प्रसन्नमम्भोरं शङ्कुराचार्यदेशिकः ॥१॥  
 अथ भाष्ये स्वटोकापामानन्दगिरिणाद्भुतम् ।  
 तस्मिस्तस्मिस्त्यतेऽपूर्वं रहस्यं विशदीकृतम् ॥२॥  
 हिन्दोभाषामयोभाष्य उमेसानन्दशास्त्रिणा ।  
 अष्ट्याहृत्य नवचित्किञ्चित्कृता टीका न विस्तरा ॥३॥  
 विद्यावाचस्पतिविष्णुदेवानन्दगिरिः स्वयम् ।  
 कृतवान् टिप्पणं साधु विदुषां मोदमादयत् ॥४॥  
 स्थातोपुलाकन्यामेन कुञ्चित्कुञ्चिन्मया ।  
 दत्ता दृष्टिर्मेनस्तोपो बहुधा समपद्यत ॥५॥  
 महामहामण्डलेशो बीतरागो महायतिः ।  
 विद्यानन्दगिरिविद्वत्प्रवरौ धीविवर्धनम् ॥६॥  
 मध्यमनाम्मापनयो, कात्ताद् भवितात् पुनः ।  
 सुधीपरम्पराप्राप्तं क्रोडपत्रं मुनिर्मेतम् ॥७॥  
 कंलासाधमसद्गुण्यप्रकाशतमिति स्वया ।  
 शुभाशिया वर्धयित्वाऽऽप्लाव्य प्रेरणकोतसा ॥८॥  
 एतद्गुणमालोपेतं भाषायां सदनुवितम् ।  
 बाहुदारण्यकं भाष्यं तया सम्यक् प्रकाशयते ॥९॥  
 नीर्मासान्यायमाधित्य विचारे विपुलीकृते ।  
 निश्चप्रचं ब्रह्मतत्त्वं साधकानां समुत्फुरेत् ॥१०॥  
 प्रन्वथ प्रचयं गच्छेत् शम्भारायणस्मृतिः ।  
 सर्वेषां मङ्गलं भूयात् सर्वे सुखमवाप्नुयुः ॥११॥

## प्रस्तावना

### दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

ग्रनादि काल से प्राणिमात्र के मानस में यही नैसर्गिक अभिलाषा रही है कि हम सम्पूर्ण दुःखों से सर्वथा छूट जायें और सबसे बड़ा आनन्द प्राप्त कर लें। जीवन के इस स्तर को परमेश्वर की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति की सच्चा अस्यात्मशास्त्र में दी गयी है। यद्यपि धर्म, धर्म और कामरूप पुरुषार्थ की ओर भी लोक की बहुधा प्रवृत्ति देखी जाती है फिर भी इन तीनों की नश्वरता को प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण से समझ लेने से विवेकी इन्हें पीछे छोड़ कर मोक्ष प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त होता देखा जाता है। इसीलिये मोक्ष की परमपुरुषार्थ और धर्म, धर्म एवं काम की केवल पुरुषार्थ कहा गया है। मोक्ष के स्वरूप निर्धारण में तथा उसके साधनों के निरूपण में दार्शनिकों का कुछ मत-भेद है, फिर भी श्रुतिप्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप विविधदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमात्मनन्द की प्राप्ति ही मान्य है। ऐसा मोक्ष ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है। इसे श्रुति अपने कण्ठ से बतलाती है—“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकमुत्तत्त्वमानयु”, “नान्य णन्या विद्यतेऽन्यथाय”। अर्थात् “न कर्म से, न पुत्रादि प्रजा से और न धन से ही मोक्ष मिलता है, किन्तु अनात्माभिमान के त्याग से कुछ एक मनीषियों ने मोक्ष प्राप्त किया है”, “ब्रह्मज्ञान के सिवा मोक्ष का कोई दूसरा राग नहीं है”—यह श्रुति का डिण्डिम उद्घोष है। अन्यान्य दार्शनिकों ने भी इसी जवान से इसे स्वीकार किया है।

अपौरुषेय वेद के कर्म, उपासना एवं ज्ञान, ऐसे तीन काण्ड हैं। इनमें से ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। निष्काम भाव से कर्म और उपासना के अनुष्ठान से चित्त के मल तथा विकल्प दूर हो जाते हैं, तत्पश्चात् वेदान्त श्रवणादि का मुख्य अधिकारी माना जाता है। “कपाये कर्मभि पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्तते” इत्यादि। श्रुति ने भी वेदानुवचन, तपोदान यज्ञादि को ब्रह्मजिज्ञासा यानी मुमुक्षा का ही साधन माना है, मोक्ष या मोक्ष के अन्तरंग साधन ब्रह्मज्ञान के प्रति इन्हे साधनरूप से स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार कर्म और उपासना के अनुष्ठान का भी चरम फल मोक्ष ही है। वेद के शिरोभाग वेदान्त को वेद का रहस्य कहा गया है। जिसके अनुष्ठान में शास्त्रविहित कर्म और उपासना का त्याग भी मनुस्मृति ने कहा है।

“तपोविशेषैर्विवर्धयेत्तेश्च विधिचोदितैः।

वेद कृत्स्नोऽधिगन्तव्य सरहस्यो द्विजन्मना ॥ मनु २।१६५

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।

आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥” मनु. १२।६२

“परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन” इस मुण्डक श्रुति में भी यही बात बतलायी गयी है। अतः मोक्ष साधन आत्मज्ञान का सम्पादन ही मुमुक्षुओं का एकमात्र कर्तव्य है।



ऋग्वेद, यजुः, साम धीर अथर्ववेद मे सभी ११८० शाखायें थीं । जिनमें से कालगति से बहुत शाखायें इस समय उपलब्ध नहीं है । प्रत्येक शाखाओं की उपनिषद् मानी गयी है । सम्प्रति उपलब्ध उपनिषदों मे ईशादि दशोपनिषद् पर भगवत्पादभगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का प्रसन्न, गम्भीर भाष्य विद्वानों के हृदय की अपनी ओर बरबस खींच लेता है । वे विद्वान् मुनतकण्ठ से शाङ्करभाष्य की प्रशंसा करने लग जाते हैं । यद्यपि परवर्ती कुछ विद्वानों ने शाङ्करभाष्य एवं उसके केवलाद्वैतसिद्धान्त पर पर धूलप्रक्षेप करने का असफल प्रयत्न किया है, फिर भी विद्वत्समाज मे शाङ्करभाष्य एव उसका सिद्धान्त सदा मान्य रहा है और भागे भी समादरणीय रहेगा । सभी उपनिषदों की प्रपेक्षा कलेवर तथा प्रपं में बड़े होने के कारण बृहद् और अरण्य (वन) में अध्ययनीय होने के कारण इसे बृहदारण्यक कहते हैं । जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिसंहिता के अन्तर्गत काण्व और माध्यन्दिनीशाखा मे ईशावास्योपनिषद् मिलती है, वैसे ही शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिसंहिता के अन्तर्गत काण्व एवं माध्यन्दिनीशाखीय बृहदारण्यकोपनिषद् भी मिलती है । बृहदारण्यक के सभी ८ अध्याय हैं । प्रथम के ४ अध्यायों को मधुकाण्ड, सत्यवचात् २ अध्याय याज्ञवल्कीयकाण्ड और अन्तिम २ अध्याय खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं । बृहदारण्यक के प्रथम और द्वितीय अध्याय प्रवर्ग्य कर्म के प्रज्ञ हैं, क्योंकि इनमे प्रश्वमेधादि कर्मों का निपुणतम निरूपण किया गया है । ये कर्म विज्ञा के अङ्ग नहीं हैं । केवल अरण्य मे अध्ययन के लिये ही विद्या की सन्निधि में इनका पाठ किया गया है । अतः प्रारम्भ के २ अध्यायों को उपनिषद् नहीं मानते हैं । अतएव उपनिषद् भाष्यकर्ता प्रायः शङ्कराचार्यजी ने बृहदारण्यक के प्रारम्भिक दो अध्यायों पर भाष्य नहीं लिखा है । यही बात बृहदारण्यक व्यातिकसार में कही गयी है । मधुकाण्ड के तीसरे और चौथे अध्याय को बृहदारण्यकोपनिषद् मानकर पाद्य शङ्कराचार्य जी ने इनपर भाष्य लिखा है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम प्रश्वमेध ब्राह्मण में प्रश्व के अवयवों मे विराट् के अवयवों की दृष्टि का विधान उपासना के लिये किया गया है । यह उपासना प्रश्वमेधकर्मसंबन्धी होती हुई भी स्वतन्त्र है । इसीलिए इसे उपनिषद् माना है । इस विज्ञान का प्रयोजन यह है कि जिनका प्रश्वमेध कर्मानुष्ठान मे अधिकार नहीं है, उन्हें इस उपासना के अनुष्ठानमात्र से ही प्रश्वमेधकर्मानुष्ठान का फल मिल जाता है । इसे पाठक इस प्रस्तुत सस्करण के १६वें पृष्ठ में देखें । बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रारम्भ मे प्रश्वमेध ब्राह्मण पाठ का आशय यह भी है कि जिस प्रकार कर्म का फल सत्तार है, ऐसे ही उपासनासहित कर्म या केवल इस उपासना का फल भी सत्तार ही है, अर्थात् हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी मरणधर्मा और तदवर हैं । इस प्रकार के फल का वर्णन भी प्रथम प्रश्वमेध ब्राह्मण मे नहीं है किन्तु द्वितीय अग्नि ब्राह्मण के अन्त मे फल बतलाया गया है । पृथक् फल का कथन न होने से दोनों ही ब्राह्मणों द्वारा एक ही उपासना बतलाई गयी है । प्रश्वमेधयोगी अग्नि की उत्पत्ति द्वितीय ब्राह्मण मे बतलायी गयी है, जो अग्नि विराट् का अवयव है । अतः वह अग्नि विराट् बुद्धि से उपास्य है । कार्य कारण का अमेद घट भाष्य द्वारा अत्यन्त कुशलतापूर्वक भाष्यकारो ने कहा है । “नैवेह किञ्चनात्र आसीन्मृत्युर्नैवेदमावृतासीत्” (बृ.उ. १-२-१) । इस मन्त्र में मृत्यु शब्द से मायाविशिष्ट चेतन (ईश्वर) को कहा गया है, जो सम्पूर्ण विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से प्रश्वमेधयोगी अग्नि का भी जैसा ही कारण है । इस प्रकार दोनों ब्राह्मणों में प्रश्वमेध की ही उपासना बतलाई है ; जिसका फल म्रमृत्यु पर विजय प्राप्त करना है ।

इस अध्याय के तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण मे शुद्ध्यादि गुणो से युक्त प्राण की उपासना हिरण्यगर्भ

की प्राप्ति के लिये बड़ी गयी है। मनुष्य ही प्रजापति है। इसके अन्तःकरण में ब्रामुरी और देवी ऐसी दो प्रकार की वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इनमें वास्तवस्कार के बिना स्वभावतः स्वार्थपारायणता से युक्त ब्रामुरी वृत्ति ही अधिकतर होती है। इसीलिये इसे ज्येष्ठ कहा है। वास्तवस्कारयुक्त निस्वार्थ वृत्ति पीछे से ही होती है और वह भी थोड़ी। अतः इस देवी वृत्ति को बनिष्ठ कहा है। एक बार देवताओं ने भ्रमणों पर विजययाने के लिये क्रमशः वागादि इन्द्रियों को उद्गमन करने के लिए कहा; किन्तु भोगासक्त होने के कारण ये सभी भ्रमणों द्वारा पाप से वेध दिये गये। स्वार्थपारायणता को ही पापशब्द से कहा है। अन्त में मुख्य प्राण ने उद्गमन किया। इसमें स्वार्थपारायणता न होने के कारण इससे टकराकर भ्रमण परास्त हो गये। अतः निस्वार्थ भाव से ग्रहोरात्र त्रियाशीस मुख्य प्राण को श्रेष्ठ मानकर इसकी उपासना करे। जिससे अध्यात्मपरिच्छेद से छूटकर अधिदैवभाव हिरण्यगर्भ को उपासक प्राप्त कर लेता है। इस उपासना को उद्योगविद्या भी कहते हैं। यहाँ पर प्राण की स्तुति अनेक प्रकार से की गयी है।

इस प्रथमाध्याय के 'सृष्ट्यादि सर्वरूपता' नामक चतुर्थ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि केवल ब्रह्मविद्या ही मोक्ष का साधन है। पूर्वोक्त वैदिक कर्म, उपासना या दोनों का समुच्चयानुष्ठान मोक्ष का साधन नहीं है। उनका फल नष्ट हो जाने के कारण अन्ततः अनर्थ का ही हेतु है। अतः मनुष्यों को इनसे उपरत होकर मोक्ष के एकमात्र साधन ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये वेदान्त श्रवणादि का अनुष्ठान करना चाहिये। मन्वादि शरीर उत्पत्ति से पूर्व पुरुष की तरह शिरपादादि वाला विराडात्मा ही था। उसी विराडात्मा के ग्रह तथा पुरष, ऐसे दो नाम उपासना के लिए कहे गए हैं। भविष्यवाक्य से अकेलापन भय का हेतु है और विचार से भय निवृत्त हो जाता है। अतः आज भी विचार से आत्मकत्वदर्शन कर लेने पर भय मिट जाता है। इसी विराडात्मा से सम्पूर्ण विश्व उत्पत्ति का विस्तार बतलाया गया है। अद्वय आत्मा से जगद्विस्तार वर्णन का तात्पर्य अद्वैत बतलाने में है। वह परमात्मा क्षुरधान में सूर्य के समान देहादि में तब से शिख तक व्याप्त है। वह प्राणन क्रिया करने से प्राण और दर्शनादि क्रिया करने से चक्षुरादि भी बन जाता है। व्यष्टिभाव की उपासना का परित्याग कर समष्टिभाव की ही उपासना करनी चाहिये। आत्मा वित्तादि सभी से प्रिय है। यदि वित्तादि को आत्मा से भिन्न मानकर प्रिय बहेगा तो वित्तादि के वियोग से उत्पन्न दुःख का अनुभव करना ही पड़ेगा। अतः ब्रह्मविद्या से ही सर्वभावापत्ति वामदेवादि में देखी गयी है। देवता भेददर्शी भ्रष्टानी के ही ऐश्वर्य के बाधक होते हैं; अभेददर्शी ज्ञानी के नहीं। इसलिये सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मण का उपदेश अद्वय आत्मदर्शन कराने में ही है।

प्रथमाध्याय के पञ्चम 'सप्तान्न' ब्राह्मण में बतलाया गया है कि भ्रष्टानी पूर्वजन्म में कर्म और उपासना का अनुष्ठान कर उत्तर जन्म में भोग के लिये सप्तान्नरूप से जगत् की सृष्टि करता है। उत्कृष्ट कर्म और उपासना के फलस्वरूप वैराज पद की प्राप्ति कर जगत् की सृष्टि करता है। यह बात चतुर्थ ब्राह्मण में कही गयी है। निरुष्ट (सकाम) कर्म और उपासना के फलस्वरूप मनुष्यादि पद की प्राप्ति द्वारा जीव अपने भोग के योग्य सप्तान्न की सृष्टि करता है, यही बात इस पञ्चम ब्राह्मण में कही जा रही है। प्रथम मन्त्र से सूत्ररूप में सप्तान्न सृष्टि की बतलाकर इसी का विस्तार सम्पूर्ण ब्राह्मण द्वारा किया गया है। अन्त में सम्प्रदान कर्म का निरूपण कर अध्यात्म और अधिदैव प्राणदर्शनरूप व्रत की मोमासा बतलायी गयी है।

प्रथमाध्याय के पष्ठ ब्राह्मण में उपसंहार के लिये पूर्वोक्त विस्तृत अविद्याकर्मों की सक्षेपरूप से कहा गया है। जगत् व्याकरण से पूर्वविद्या में वही जाने वाली अनात्मवस्तु सब नाम, रूप और कर्म; बस इतने ही है। इनमें देवदत्तादि नामविशेष का उपादान कारण नामसामान्यरूप बाणी ही है। सुक्लनीलादि रूप और स्पर्शादिविशेष का उपादान चक्षु शब्दवाच्य रूपसामान्य अर्थात् प्रकाश्यमान है। ऐसे ही मनन, दर्शन, चलनादिक्रियाविशेष का उपादान आत्मा (देह) है क्योंकि इन्हीं सामान्य से सम्पूर्ण विशेषों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अविद्या के विषय ससार को यहाँ तक दिखलाया है, जो अध्यारोपात्मक है। इसके बाद द्वितीय अध्याय में पूर्वोक्त अध्यारोपित जगत् का अपवाद कर विद्या के विषय आत्मा को कहेंगे। इसी की वातिकसार में कहा है कि “अध्यारोपात्मादभ्या प्रधुकाण्ड प्रवर्तते। अध्यारोप्य तृतीयेन चतुर्थेन त्वपोहते” ॥ आरण्यक दृष्टि से वातिककार ने तृतीय और चतुर्थ कहा है। उपनिषद् दृष्टि से प्रथम और द्वितीय अध्याय ही है।

मधुकाण्ड के प्रथम अध्याय के समान ही इसके द्वितीय अध्याय में भी ६ ब्राह्मण हैं। इनमें अजातशत्रु ब्राह्मण में गर्ग गोत्र में उत्पन्न जानाभिमानी बालाकि ब्राह्मण और तत्त्वज्ञानी काशिराज अजातशत्रु का समावेश है। “नापृष्ट कस्मच्चिद्ब्रूयात्” इस शास्त्रमर्यादा के अनुसार बिना पूछे उपदेश नहीं करना चाहिये। किन्तु दन्तबालाकि ने बिना पूछे ही अजातशत्रु से कहा कि मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ। गुणग्राही राजा ब्रह्मविद्या की महत्ता को जानता था। अतः उसके गर्वनिपनरूप दोष की ओर ध्यान न देकर इस माङ्गलिक वचन के लिये एक सहस्र गौ भेंट कर दी। उसके बाद बालाकि ने आबित्यादि द्वादश स्थलों में ब्रह्मरूपता का आरोप किया, किन्तु राजा अजातशत्रु ने उन्हें परिछिन्न देवमात्र बतला कर उन सबमें ब्रह्मरूपता का निषेध कर दिया। साथ ही उन उपासनाओं का विशिष्ट फल भी बतलाया। जिसे राजा अच्छी प्रकार जानता था। इससे अधिक बालाकि को ज्ञान नहीं था। अतः उसका गर्व चूर-चूर हो गया। विवश हो गार्ग्य ने ब्रह्मज्ञान के लिये तत्त्वज्ञ राजा की शरण ली। राजा गार्ग्य का हाथ पकड़कर महल के भीतर एक सोये हुए पुरुष के पास ले गया। उस सुषुप्त पुरुष को हे बृहन्, हे पाण्डुरवासः, हे सोमराजा इत्यादि नाम लेकर पुकारा, किन्तु वह उठा नहीं। तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबाकर उठाने पर वह उठ गया। इस प्रसङ्ग से श्रुति ने यह सिद्ध किया है कि नामरूपाभिमानी देव वस्तुतः विज्ञानमय आत्मा नहीं है। वह तो नामरूप से परे सर्वत्र ग्रथिष्ठानरूप से विद्यमान है। सुषुप्ति काल में वह चक्षुरादि विज्ञान को भ्रन्त करण में प्रतिकलित चिदाभास द्वारा ग्रहण कर हृदयाकाश में सोता है। उसी की सत्ता और चेतनता से सभी सत्, चैतन एव कृपाशील होते हैं। वह इन्द्रियो का प्रेरक होने से प्राण है किन्तु प्राणों का भी प्रेरक होने से प्राणों का प्राण है। यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषद् है।

जगज्जन्मादि कारण अद्वय ब्रह्म का स्वरूप अजातशत्रु ब्राह्मण में बतलाया गया। अब द्वितीय अध्याय के द्वितीय शिशुब्राह्मण में जगत् का स्वरूप बतलाते हैं। इन्द्रियो का प्रेरक शरीरमध्यवर्ती मुख्य प्राण ही शिशु है। यह वर्तमान देह उसका आधान है। शिरः प्रस्थापान है। अन्नपानजनित शक्तिरूप प्राण स्फूर्णा (कील) है और अन्न-बाँधने की रस्सी के समान है। ऐसे शिशु की उपासना करने वाला शिरः स्थित सात शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है। निपयासक्ति के कारण दो आँख दो कान, दो नाक और एक मुखरूप आधतन में रहने वाली आठो इन्द्रिया कल्याणकारी पुरुष के शत्रु के समान हैं; जिन्हें पूर्वी प्राणोपासक वश में कर लेता है। इन्हीं का वर्णन इस ब्राह्मण में विभिन्न नाम और प्रकार से किया गया है।

प्रजातन्त्रब्रह्मब्राह्मण के अन्त में "प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्" इस वाक्य से ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है। तत्पश्चात् शिशु ब्राह्मण में उन प्राणों की सात संख्या भी बतला दी गयी। प्रथम द्वितीय प्रध्याय के तृतीय मूर्तामूर्त ब्राह्मण में समस्त उपाधियों के निषेध द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्त्व को स्पष्ट रूप से बतलाएँगे। ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं। इनमें पृथिवी, जल और अग्नि मूर्त हैं एवं वायु और आकाश अमूर्त हैं। इन्हीं का विस्तार अध्यात्म तथा अधिदैव जगत् है। उपर्युक्त दोनों रूपों का "अथात आदेसो नेति नेति" इस वाक्य से निषेध कर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप का बोध कराया गया है। निषेध की इतनी स्पष्टता एवं चरित्रज्ञान के सिधे निषेधवाक्य पर इतनी निर्भरता भोपनिषद् सिद्धान्त की अपूर्वता का चोत्कर्ष है। निःसन्देह उपनिषद् के बिना भोपनिषद् ब्रह्मस्त्व का साक्षात्कार हो नहीं सकता। अतः निषेध श्रुतिवाक्य ब्रह्मस्त्वावगम कराने में सर्वथा सफल है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ मंत्रेयी ब्राह्मण है और मुनिकाण्ड के छठे अध्याय में भी यह प्रसंग आता है। एक ही ब्राह्मण का दो बार होना धर्म्यास द्वारा तात्पर्य का निश्चयायक है। सम्प्रदाय भेद भी मंत्रेयी ब्राह्मण के द्विरावृत्ति में कारण हो सकता है। मधुकाण्ड आगमप्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्तिप्रधान है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। दोनों को सम्पूर्ण धनसम्पदा का बँटवारा कर ऋषि स्वयं गार्हस्थ्य जीवन से उठकर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे। अतः मंत्रेयी से कहा, प्ररी मंत्रेयी! आगो, कार्त्तव्यनी के साथ तुम्हारी धनसम्पदा विभाजन करदूँ। कार्त्तव्यनी सामान्यबुद्धि थी, किन्तु मंत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी थी। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य से उपन कहा, कि मुझे धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी मिल जाये, तो मैं धर्म हो जाऊँगी या नहीं। महर्षि ने कहा—नहीं नहीं, धनसम्पत्ति से कोई धर्म नहीं हो सकता। जैसा धनादिसम्पत्ति व्यक्ति का जीवन होता है, ऐसा ही तुम्हारा भी जीवन होगा। धर्मस्त्व की भाशा वित्त से नहीं की जा सकती। इसपर मंत्रेयी ने कहा कि जिसे लेकर मैं धर्म नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। अतः धर्मस्त्व साधन जिसे प्राप्त जानते हैं, मुझे तो उसीका उपदेश करें। मंत्रेयी की यही तीव्र मुमुक्षा एवं जिज्ञासा महर्षि याज्ञवल्क्य के उपदेश की प्रेरणा-स्रोत बन गयी। इस प्रकार की मुमुक्षा जहाँ नहीं है; उसके प्रति किया हुआ परमार्थस्त्व का उपदेश सदा फलप्रद नहीं होता। वेदान्त बिचार से पूर्व विवेक वैराग्यादि साधनों को धननामा आश्रयक है। इसीलिये महर्षि ने आत्मस्त्व उपदेश से पूर्व पति, पत्नी, पुत्र, वित्तादि में प्रेम आत्मा के लिये बतलाया, जिससे कि आत्मा से भिन्न वस्तु में सर्वथा राग हट जावे। आत्मा ही परम त्रेम का विषय है। इससे आत्मा में परमानन्दरूपा की सिद्धि हो जाती है। अतः सन्निवदानन्द आत्मा ही दर्शन के श्रेष्ठ है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के योग्य है। आत्मा सम्पूर्ण विश्वकल्पना का अधिष्ठान है इसीलिये हे मंत्रेयी! आत्मा के विज्ञान से सम्पूर्ण विश्व विज्ञात हो जाता है। यदि आत्मा से भिन्न किसी की भी जानेगा, तो वह उस भेददर्शी के परामर्श (ब्रह्मस्त्वस्वरूप अमृतत्व से पतन) का कारण बन जायगा। इससे योगे दुन्दुभि आदि अनेक दृष्टान्तों से यही सिद्ध किया है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे दुन्दुभि, शल्य और बीणा आदि के शब्दमामात्र का ग्रहण पहले होता है। तत्पश्चात् तात्स्वर आदि से युक्त शब्दविशेष का ग्रहण होता है। वैसे ही पहले चिदात्मा का ग्रहण होता है। उसके बाद ही उसमें कल्पित नामरूपात्मक जगत् का ग्रहण होता है। जैसे प्रकाश का नेत्र से ग्रहण हुए बिना नीलादि रंग को कोई देख नहीं सकता; ठीक उसी प्रकार चिदात्मा को देखने के बाद ही उसमें कल्पित नामरूपात्मक जगत् को देख सकता है; यही पर दुन्दुभि आदि शब्द से श्रुति ने

उत्पन्न शब्दसामान्य को ही कहा है, जिसमें तालस्वरूपदियुक्त शब्दविशेष कल्पित हैं। जैसे गोली लकड़ी के साथ अग्नि का संयोग होने पर पहले घुमा निकलता है, तत्परचात् चिनगारियां छिटकती हैं। ये चिनगारियां अग्नि से भिन्न नहीं हैं। ऐसे ही परमार्थ ब्रह्मात्मतत्त्व से मामा सम्बन्ध के कारण छिटकते हुए कोटिर ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नहीं हैं। नामरूपात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का उसी परमार्थतत्त्व में विलय दिखलाने के लिए जल समुद्र आदि का उद्घाटन श्रुति ने दिया है। जैसे समुद्र का जल बादलों द्वारा धाकूट कर पर्वतादि पर बरसाने के बाद नदी आदि के रूप में छलकता हुआ अन्ततः समुद्र में लीन हो जाता है। ऐसे ही नामरूपात्मक जगत् परमात्मा से निकल कर अन्ततः परमात्मा में ही समा जाता है; अतः यह प्रपञ्च परमात्मस्वरूप ही है। जैसे समुद्र का जल मिट्टी और उष्णता के सम्बन्ध से खिचबन्धन (कठिन) हो जाता है और पुनः पानी में डालते ही अपने कारणसम्पर्क से उस सन्धवधन की कठिनता मिट जाती है एवं सन्धवधन (ममक का टुकड़ा) विलीन हो जलमात्र शेष रह जाता है। ऐसे ही माया के कार्यकरणसंघात के सम्पर्क से ब्रह्म में जीव-भाव दीखता है। तदनन्तर वर्णाश्रम आदि से विशिष्टरूप में भी भासने लग जाता है। जब शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ब्रह्मविद्या का उदय होता है, तब ये कार्यकरणसंघात अपने अधिष्ठान ब्रह्मात्मत्व में मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं एवं संघातप्रयुक्त जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है; क्योंकि जीवभाव के निमित्त संघात के निवृत्त हो जाने पर संघातनिमित्तक जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है। फिर तो ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इसीको श्रुति ने “महद्भूतमनन्तरमपार विज्ञानधनम्” कहा है। मरने के बाद सनातनात्मा का अभाव नहीं होता, किन्तु अन्तःकरणादि उपाधियों के रहते जो विशेष विज्ञान होता है, वह विज्ञान उपाधि की अभावदशा में नहीं होता क्योंकि यह आत्मा अविनाशी है। इसका कभी भी उच्छेद नहीं होता है। जहाँ पर अविद्या दशा में रज्जु में आरोपित सर्प की भाँति द्वैत खड़ा हो जाता है, वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है, सुनता है इत्यादि दर्शनादि विशेषविज्ञान होता है। किन्तु रज्जुएव के ज्ञान के समान जहाँ पर कल्पित विद्वत् के अधिष्ठान ब्रह्मात्मत्व का बोध हो गया; वहाँ पर द्वैत का अभाव हो जाने के कारण कौन, किससे, किसको देखेगा; कौन किससे, किसको सुनेगा इत्यादि सम्पूर्ण कर्ता, करण, क्रिया का अभाव सुस्पष्ट हो जाता है। जो सबका प्रकाशक है, भला उसे कौन प्रकाशित कर सकता है। इसीलिए विदेहकैवल्य दशा में विशेष विज्ञान का अभाव कहा है। इससे मैत्रेयी का सम्पूर्ण मोह निवृत्त हो गया और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रति मोह में डालने की उसकी आशाका भी मिट गयी अर्थात् परिच्छिन्नता के मिट जाने पर शुद्ध सच्चिदानन्दधन ब्रह्म सामान्य चैतन्य ही शेष रहता है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय मधु नामक पञ्चम ब्राह्मण में कहा है कि जैसे अनेक मधुकर अनेको पुष्पो का सार लेकर मधु की बनाते हैं, वैसे ही ब्रह्मादि स्तम्भपर्यन्त सम्पूर्ण भूतो की समष्टि कर्म सत्कार के फलस्वरूप पृथिव्यादि जगत् का निर्माण होता है। अतः ये पृथिव्यादि जगत् सम्पूर्ण भूतो के कार्य हैं। वैसे ही पृथिव्यादि कारणसामग्री से सम्पूर्ण भूतो के कार्यकरणसंघात का निर्माण होता है। अतः ये भूत भी पृथिव्यादि के कार्य हैं। इस प्रकार पृथिव्यादि जगत् और ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्त सभी भूतो में परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव रहने के कारण इनका परस्पर कार्यकारणभाव है। अतएव ये एक दूसरे के मधु हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत जो इन पृथिव्यादि के अधिष्ठानरूप नित्य, चैतन्य, आनन्दधन पुरुष है और जो शरीर आत्मा है। दोनों एक ही तत्त्व है। यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सब कुछ है। इस प्रकार इस मधु ब्राह्मण में अधिष्ठानरूप से सम्पूर्ण प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता बतलायी गयी है। “इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” इस श्रुति ने तो अपनी मायाशक्तियों

के कारण परमात्मा का ही भनेक रूप होना बतलाया है। इस मधुविद्या का उपदेश अति आग्रह करने पर भस्विनीकुमारो को दध्यङ् भाषवर्ण ऋषि ने घोड़े के शिर से निया था। पता लगने पर पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज इन्द्र ने ऋषि के भस्वदशिर को काट डाला, जिस शिर से दध्यङ् भाषवर्ण ऋषि ने मधुविद्या का उपदेश किया था। उस घोड़े के शिर कट जाने पर पुनः भस्विनीकुमारो ने ऋषि का अपना शिर ज्यो का त्यों जोड़ दिया। इससे इस मधुविद्या की दुर्लभता सिद्ध होती है, क्योंकि इस विद्या को सीखने के लिए ऐसे उपक्रम किये जा सकते हैं। यह विद्या देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। इसीलिए अनघिवारी सम्भ्रम कर ऋषि ने इन्द्र को इसका उपदेश नहीं किया और भस्विनीकुमारो को इस देवदुर्लभ मधुविद्या को प्राप्त करने के लिये प्राचार्य के शिरच्छेदनरूप उपक्रम करना पड़ा। इसके आगे मधुवश नामक यष्ट ब्राह्मण में मधुविद्या की वंशपरम्परा का वर्णन कर मधुकाण्ड समाप्त हो जाता है। इसका पाठ विद्याप्रयुक्त ऋण के भनयन, विद्यासम्प्रदायप्रवर्तक ऋषियों के प्रति कृतज्ञताप्रदर्शन एवं विद्यावश सस्मरण हेतु पुण्यसम्पादन के लिए भवश्यक करना चाहिये। वशवर्णन से ब्रह्मविद्या की स्तुति भी हो जाती है। जिसे इतने बड़े बड़े महान् पुरुषों ने भङ्गीकार किया है, भक्त. महापुरुषों से अनुगृहीत यह विद्या अत्यन्त उत्कृष्ट एवं भाग्यशालिनी है इसमें प्रथमान्त शिष्य है और पञ्चम्यन्त प्राचार्य है अर्थात् भ्रमुक से भ्रमुक ने इस विद्या को प्राप्त किया है।

इसके बाद दो अध्याय याज्ञवल्क्य (मुनि) काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। मधुकाण्ड आगम-प्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्ति (युक्ति) प्रधान है। इसमें बाद, क्या एवं जल्पकथा के रूप में उक्त विद्या का ही विस्तार है। आत्मतत्त्व प्रकाशन में प्रवृत्त आगम और उपपत्ति करतलामलकवत् परमार्थ-तत्त्व को दिखला सकते हैं। क्योंकि "श्रोतव्यो मन्तव्यः" ऐसा धृति ने भी कहा है। भक्त पूर्वोक्त आगम से भवगत अर्थ को ही परीक्षापूर्वक निश्चय कराने के लिये उपपत्तिप्रधान मुनिकाण्ड को कहते हैं। आख्यायिका प्रकृत विद्या की स्तुति के लिये भयवा उपायविधानपरक होती है। "पुष्कलेन घनेन वा" इत्यादि शास्त्रों में दान को भी विद्याप्राप्ति का उपाय कहा है; जो यहाँ पर उपलब्ध हो रहा है। विद्वानों के साथ बाद करना भी विद्याप्राप्ति का उपाय न्यायविद्या में देखा गया है। 'बादे बादे आयेते तत्त्वबोध.' इत्यादि। वह विद्याप्राप्ति उपाय बादकरण भी इस अध्याय में स्पष्ट दिखाई देता है। विद्वानों के सम्पर्क से विद्या की वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है। भक्त विद्याप्राप्ति उपाय प्रदर्शन के लिये यह आख्यायिका है।

विदेह देश के प्रसिद्ध राजा जनक ने बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ द्वारा यजन किया। जिसमें निमन्त्रित, या दर्शनार्थी कुरु एवं पाञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विद्वत्समुदाय को देखकर उस राजा को विशेष जानने की उत्कण्ठा हो उठी कि इन एकत्रित ब्राह्मणों में बड़े प्रवक्ता कौन हैं। भक्त. उसने अपनी गोशाला में एक हजार गायें रुकवा दी, जिनमें प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सोना बँधा था। राजा ने उन ब्राह्मणों से कहा—'हे पूज्य ब्राह्मणों! आप में जो ब्रह्मिष्ठ हो, वह इन गायों को ले जाये। इसे सुन उन ब्राह्मणों में से किसी को भी अपने को ब्रह्मिष्ठ की प्रतिज्ञा करने का साहस नहीं हुआ। उन्हे साहसहीन देख याज्ञवल्क्य ने अपने सामविधि भक्षण करने वाले ब्रह्मचारी शिष्य से गायों को गुरुकुल की ओर हाँकने के लिये कहा। इससे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये। उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में एक, राजा जनक का भस्वल नामक होता था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! हम सबमें तुम्ही ब्रह्मिष्ठ हो। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सच्चे तत्त्वज्ञ के अनुरूप ही उत्तर दिया। ब्रह्मिष्ठ को वो हम नमस्कार करते हैं। इस समय हमें गो की इच्छा है। व्यवहार से अपने

मे ग्रहप्लुता की प्रतिज्ञा करने वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वत्थ ने मन मे प्रश्न करने का निश्चय कर लिया । यहाँ से अश्वत्थ ब्राह्मण प्रारम्भ होता है ।

मधुकाण्ड के उदगीय ब्राह्मण मे पाइत्त कर्म द्वारा यजमान के मृत्यु से पार होने का सक्षिप्त वर्णन हो चुका है । उसमे आये दर्शन विशेष के लिये ही यहाँ विस्तार से कह रहे है । अश्वत्थ ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह ऋत्विग् अग्न्यादि सभी साधन स्वाभाविक आसक्तियुक्त कर्म से व्याप्त है, इतना ही नहीं, बल्कि मृत्यु द्वारा वश मे किया हुआ है, मला ऐसी मृत्यु की व्याप्ति का प्रतिक्रमण किस दशनरूप साधन से यजमान कर सकता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—होता ऋत्विगरूप अग्नि और वाक से । तात्पर्य यह है कि जो यह अधियज्ञ होता ऋत्विग और अध्यात्म होता वाक् है, दोनों ही परिच्छिन्न साधन उपर्युक्त मृत्यु से व्याप्त हैं एव प्रतिक्रमण परिवर्तनशील हैं । इन दोनों मे अधिदैवत अग्नि दृष्टि करने पर मुक्ति होती है, अर्थात् इनमे अग्निस्वरूप दर्शन ही मुक्ति है । अतः परिच्छिन्न होता ऋत्विग् और वाक अपरिच्छिन्न अधिदैवताग्निरूप से देखे जाने पर यजमान की मुक्ति का साधन है । इस अपरिच्छिन्नदृष्टिरूप मुक्ति का फल जो अपरिच्छिन्न अधिदैवत अग्नि की प्राप्ति है, वही अतिमुक्ति है । अर्थात् मुक्ति ही अतिमुक्ति का साधन है । पुनः अश्वत्थ ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह जो कुछ है सभी दिन और रात्रि से व्याप्त है एव इनके अधीन है । ऐसी स्थिति मे किस साधन के द्वारा यजमान दिन और रात्रि की व्याप्ति को पार कर सकता है । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—अध्वर्यु ऋत्विग् और बहुरूप आदित्य के द्वारा । अर्थात् यज्ञ का अध्वर्यु और यजमान का नेत्र दोनों ही परिच्छिन्न हैं । इनमे जब आदित्य दृष्टि करेगा, तब ये दोनों अपने-अपने परिच्छिन्न दृष्टि से न देखने पर अपरिच्छिन्न आदित्य दृष्टि से देखे जाएँगे । यह आदित्य दर्शन ही मुक्ति है और आदित्यभाव की प्राप्ति अतिमुक्ति है । अतः आदित्यभावापत्तिरूप अतिमुक्ति का साधन अध्वर्यु और नेत्र मे आदित्यदर्शनरूप मुक्ति ही है । आदित्य मे दिन और रात्रि का विभाग नहीं है । अतएव आदित्यभावापन्न पदार्थ भी अहोरात्र के परिच्छेद से मुक्त हो जाता है । अहोरात्र का परिच्छेदक आदित्य है किन्तु प्रतिपदा आदि तिथियों का परिच्छेदक आदित्य नहीं है, अपितु चन्द्रमा है । अतः अश्वत्थ ने याज्ञवल्क्य से पुनः पूछा—यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त हैं एव इनके द्वारा वशीभूत है । ऐसी दशा में किस साधन से यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को पार कर सकता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता ऋत्विग् से और वायुरूप प्राण से, क्योंकि यज्ञ का उद्गाता प्राण ही है और जो प्राण है वही वायु है एव वही उद्गाता है । अतः उद्गाता तथा प्राण मे परिच्छिन्नदृष्टि निवृत्ति के लिए अपरिच्छिन्न अधिदैवत वायु दृष्टि करना ही मुक्ति है । इस दृष्टि के फलस्वरूप चन्द्रभावापत्ति ही अतिमुक्ति यजमान की है । चन्द्रमा मे प्रतिपदादि तिथिप्रयुक्त पूर्वपक्ष और अपर नहीं है । अतएव चन्द्रभावापन्न पदार्थ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से सर्वथा मुक्त हो जाता है । यद्यपि चन्द्रमा पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष का कारण है, इसलिये इनकी व्याप्ति से मुक्ति पाने के लिये यजमान को यज्ञ के साधनों मे चन्द्रदृष्टि करनी चाहिये, पर यद्युति ने तो यज्ञ के साधन उद्गाता और प्राण मे वायुदर्शन करने को कहा है । तथापि चन्द्रमा मे वृद्धिपक्ष का निमित्त वायु ही है । अतः वायुभावापन्न पुरुष तिथ्यादि काल को पार कर जाता है—ऐसा कहना युक्तियुक्त ही है । अपरिच्छिन्न लोकप्राप्ति के मार्ग के विषय में अश्वत्थ याज्ञवल्क्य से पूछता है कि यह जो अन्तरिक्ष है, वह तो निरात्मक सा है; फिर मला यजमान किसके सहारे स्वर्गलोक मे चढ़ता है । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ब्रह्मा ऋत्विग् और मनरूप चन्द्रमा से । निःसन्देह यज्ञ का ब्रह्मा मन है और यह मन चन्द्रमा है ।

अतः परिच्छिन्न अधिभूत ब्रह्मा और अध्यात्म मन में अपरिच्छिन्न अधिदेवत चन्द्रशेखर करने से अपरिच्छिन्न चन्द्ररूप आत्मस्वन द्वारा यजमान कर्मफल स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है । यम यही अतिमुक्ति है । इस प्रकार अतिमोक्षो का वर्णन कर सम्पदो का वर्णन इस अश्वत्थ ब्राह्मण में किया है ।

अश्वत्थ ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि आज कितनी ऋचाओं से होता इस यज्ञ में दक्षिण दशन करेगा । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन ऋचाओं से । वे हैं; पुरोऽनुवाक्या, याज्या और दक्ष्या । याग से पूर्व प्रयुक्त ऋचाएँ पुरोऽनुवाक्या, यागायं प्रयुक्त ऋचाएँ याज्या और दक्षिणकर्म में प्रयुक्त ऋचाएँ दक्ष्या कही जाती हैं । सभी ऋचाएँ इतनी हैं । अतः इनके द्वारा पुरुष सम्पूर्ण प्राणिममुदाय पर विजय प्राप्त कर लेता है । अश्वत्थ ने पुनः पूछा कि आज इस यज्ञ में अध्वर्यु कितनी ब्राह्मणियों द्वारा होम करेगा । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन से । जो रुमिधाज्यादि ब्राह्मणियों होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो तिल-यवादि ब्राह्मणियों होम करने पर अरघ्यत शब्द करती हैं एवं जो दुग्ध सोम की ब्राह्मणियों होम करते ही पृथिवी पर ली जाती हैं, वस ये ही तीन हैं । उपर्युक्त तीनों ब्राह्मणियों से यजमान लक्षण में समानता रहने के कारण अमश, देवलोका, पितृलोका और मनुष्यलोक को जीत लेता है । अश्वत्थ ने पूछा—आज यज्ञ में दक्षिण की ओर सब पर आसीन ब्रह्मा कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है । “देवताभि” में बहुवचन प्रासङ्गिक है अथवा प्रतिवादी फो व्यामोह में डालने के लिये किया गया है क्योंकि देवता एक है, इसे अश्वत्थ भी जानता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—एक देवता से । वह देवता मन ही है । वह मन ही वृत्तिभेद से अनन्त है । “अनन्ता वै विद्वेदेवा.” इस प्रकार अनन्तता में सादृश्य होने के कारण वह मनरूप देवता के द्वारा अनन्तलोक को जीत लेता है । अश्वत्थ ने फिर पूछा—आज इस यज्ञ में उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा । कुछ ऋचाओं के ऋक्सामसमुदाय का ही नाम स्तोत्रिया है । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन का । वे पुरोऽनुवाक्या, याज्या और दक्ष्या ही तीन हैं । “य” शब्द की समानता रहने के कारण अध्यात्म में प्राण ही पुरोऽनुवाक्या है । आनन्तर्यसमानता के कारण अपान ही याज्या है और व्यान ही दक्ष्या है क्योंकि प्राण और अपान की अभाव दशा में ही ऋचाओं का उच्चारण करता है । लोक-सम्बन्धी सादृश्य होने के कारण इन तीनों ऋचाओं द्वारा क्रमशः पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक को जीत लेता है । इस प्रकार अपने प्रदो को यथायं उत्तर पाकर अश्वत्थ चुप हो गया ।

उसके बाद द्वितीय अर्धभाग ब्राह्मण में जरत्कारुगोत्र में उत्पन्न जरत्कारुव अर्धभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा—यह कितने और अतिग्रह कितने हैं एवं वे कौन-कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं । इनमें घ्राण, बाण, रसना, चक्षुः, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वग् ग्रह हैं । जो गन्धादि अपने-अपने विषयों से गृहीत हैं । अतएव ये विषय अतिग्रह हैं । अर्धभाग ने पुनः पूछा—यह जो कुछ है, सब मृत्यु का साध है, पर इस मृत्यु का भक्षक देवता कौन है । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नि सन्देह अग्नि ही मृत्यु है, जो जल का भक्षक है । इस प्रकार के ज्ञान से पुनर्मृत्यु को जीत लेता है । अर्धभाग ने पुनः पूछा कि इस प्रकार परमार्थ ज्ञानरूप मृत्यु के द्वारा मृत्यु को खा लिये जाने पर शरीर छोड़ता है; तो उस मरने वाले विद्वान् से पूर्वोक्त वागादि ग्रह और उनके विषयरूप अतिग्रह उत्क्रमण करते हैं या नहीं । याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं । जैसे समुद्र में तरंगें लीन हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप में अभिन्नभाव से स्थितिप्राप्त उस विद्वान् में ही कार्य-करण सभी लीन हो जाते हैं । अर्धभाग फिर ने पूछा—मृतपुरुष को क्या नहीं छोड़ता । याज्ञवल्क्य ने कहा—नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम अनन्त है और विद्वेदेव भी अनन्त हैं ।



अतः नाम के अनन्तत्वाधिकारी विश्वेदेवों को आत्मभाव से प्राप्त कर इस अनन्तदर्शन से वह अनन्त-लोक को ही जीत लेता है । आर्तभाग ने पुनः पूछा कि जब मरे हुए अज्ञानी के वागादि इन्द्रियो के उपकारक ग्रन्थादि देव अपना उपकार (सहयोग) करना छोड़ देते हैं, तब यह पुरुष कहाँ रहता है । याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग को एकान्त में ने जाकर वादियों के अभिमत (जीव के आश्रयस्थान) स्वभावादि का खण्डन कर कर्म को ही जीव का आश्रयस्थान बतलाया क्योंकि कार्यकरणसंघात के पुनर्ग्रहण में पुण्य पाप कर्म ही निमित्त कारण है । यथार्थ उत्तर सुनकर आर्तभाग चुप हो गया ।

तत्पश्चात् तृतीय भूज्य ब्राह्मण ने कहा गया है कि केवल कर्म या उपायनासहित कर्म का फल सत्कार ही है, मोक्ष नहीं है । भद्रास में भ्रमण करते हुए गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के अभिमान वाले लक्ष्य के पीछे भूज्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे । याज्ञवल्क्य ने कहा—जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं, वहाँ पारिक्षित रहे । साथ ही भुवनकोष की भी बतला दिया । इस प्रकार गन्धर्व ने वायु की ही पशंसा की थी । सम्पूर्ण भूतो में विविधरूप से व्याप्त वायु उपष्टि है और केवल सूत्रात्मारूप से समष्टि वायु ही है । इस प्रकार जानने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मरकर फिर वह नहीं मरता । अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर सुन भूज्य चुप हो गया । चतुर्थ उपस्त ब्राह्मण ने आत्मा के अस्तित्व और निरुपाधिक स्वरूप को जानने के लिये चक्र के पुत्र उपस्त ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि जो साक्षादपरोक्ष-ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा नाम से प्रसिद्ध है, उसे गो के सींग पकड़कर जैसे दिखलाया जाय, वैसे मुझे दिखला दो । याज्ञवल्क्य ने कहा—यह कार्यकरणसंघात जिससे आत्मवान् (सत्ता-एव स्फूर्ति वाला) हो रहा है, वही तेरा स्वरूप है । वक्षी प्राणनादिक्रियारूप उपाधि के कारण प्राणादि नाम से कहा जाता है । निरुपाधिक आत्मा का वर्णन कोई भी पुरुष गोशृङ्गग्रहण की भाँति कर नहीं सकता । तुम दृष्टि के द्रष्टा को घटादि विषय के समान देख नहीं सकते । यद्यपि चक्षुःसंयुक्त भ्रन्त-करण की वृत्तिरूप लौकिक दृष्टि उपस्थि विनाशशील है, उपाधि द्रष्टा की स्वरूप-भूत दृष्टि नित्य है । उसे दृश्यवस्तु की भाँति नहीं देख सकते हो । श्रुति के श्रोता, मति के मन्ता और विज्ञाति के विज्ञाता की कोई भी अपनी लौकिक श्रुति, मति एवं बुद्धि का विषय नहीं बना सकता है । यही तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है । इससे भिन्न सब नाशवान् तुच्छ है । अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर उपस्त चुप हो गया ।

उसके बाद पचम कहोल ब्राह्मण ने पूर्वब्राह्मणोक्त आत्मा का ही अनुवाद कर उसमें क्षुधापिपासादि संसारधर्म से रहित होने की बात कहोने में कुछ विशेष जानने की इच्छा से पूछी । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस असंसारी आत्मा को जानने की इच्छा से अथवा जानकर ब्राह्मण पुत्रादि त्रिविध एषणा से मुक्त हो भिक्षाचर्या करते हैं । अतः आत्मविज्ञातु गम्यासी विधिवत् श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा इसी आत्मा को जानकर ब्राह्मण (कुलकृत्य) हो जाता है । इस प्रकार क्षुधा-पिपासादि सम्पूर्ण संसार धर्मरहित नित्य तृप्त आत्मस्थिति की ही ब्राह्मण पद कहते हैं । इससे भिन्न प्रविद्याविषय एषणात्रय स्वप्न, माया एवं मरीचि उदक की भाँति तुच्छ है । इस प्रकार अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर कहोल भी चुप हो गया ।

इसके आगे गार्गी ब्राह्मण से लेकर शाकल्य ब्राह्मण पर्यन्त पूर्वोक्त सर्वान्तर आत्मा के बोध कराने के लिए कहा गया है । भ्रन्तब्राह्मणस्वरूप से व्यवस्थित पृथिव्यादि में बाह्य-बाह्य निराकरण करते हुए द्रष्टा के साक्षात् सर्वान्तर समी संसारधर्म से रहित मूर्ख आत्मा के दर्शन कराने के लिए यह प्रसंग

प्राग्भूत किया जाता है। पञ्चम मार्गी ब्राह्मण में वचननु की पुत्री मार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद से यह सिद्ध होता है कि पृथिवी, जल, वायु, अन्तरिक्ष लोक, गन्धर्व साक, आदित्य लोक, चन्द्र लोक, तदग्र लोक, देव लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक तथा ब्रह्म लोक में स पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर में श्रोत-श्रोत है। तत्पश्चात् ब्रह्म लोक किसमें श्रोत-श्रोत है। मार्गी के इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि आगम से पूछने योग्य देवता को अनुमान के आधार पर पूछना अतिप्रश्न हो जायेगा। यदि तुम्हें मरना इष्ट नहीं है, तो अतिप्रश्न न कर। इस बात को सुन मार्गी चुप हो गयो। सप्तम भारुणि ब्रह्मलोक के अन्तरतम सूत्र को बतलाया गया है। अध्ययन के समय मद्रास में भ्रमण करते हुए प्रायवर्ण कबन्धनामा गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के भूमिमानों ग्रहणपुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह लोक, परलोक तथा सभी भूत जिसमें गुंथे हुए हैं, उस सूत्र और इनके नियामक अन्तर्धामी को जाने बिना ही तू ब्रह्मवेत्ता की सम्पदा गायो को यदि ले जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा। याज्ञवल्क्य उत्तर दिया कि यह लोक, परलोक एवं सभी भूत वायु से गुंथे हुए हैं। इस वायु के धमाक में मृत पुरुष के शरीर वैसे ही बिखर जाते हैं, जैसे धागे के न रहने पर उसमें पिरोये हुए मण्णादि बिखर जाते हैं। अपने का यथायं उत्तर सुनकर उद्दालक ने शेष अन्तर्धामी को बतलाने के लिए कहा। याज्ञवल्क्य ने अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म जगत् में ईश्वर को ही नियामक बतलाया। जो सम्पूर्ण ससार धर्म से रहित तथा सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है; यह देखा नहीं जाता, किन्तु यह स्वयं वक्षु के पास होने से दर्शन स्वरूप है। वैसे श्रोत्र, मन और बुद्धि का भी विषय नहीं है, किन्तु इनके अधिहित होने से श्रोता, मन्ता और विज्ञाता कहा जाता है। साथ ही इससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एवं विज्ञाता नहीं है अर्थात् स्वरूपतः द्रष्टृत्वादिपरमरहित होता हुआ भी तत्तदुपाधियों से युक्त होने पर वही द्रष्टा इत्यादि भी है। इस तुम्हारे आत्मस्वरूप ईश्वर से भिन्न सब तुच्छ (नाशवान्) है। यथायं उत्तर सुन भारुणि उद्दालक चुप हो गया।

इसके बाद अष्टम अक्षर ब्राह्मण में सभ्य ब्राह्मणी तथा प्रतिवादी याज्ञवल्क्य की अनुमति प्राप्त कर मार्गी ने दो प्रश्न पूछे। जिनका उत्तर देना याज्ञवल्क्य के लिये दुष्कर है, ऐसा मार्गी समझती थी। प्रथम प्रश्न से मार्गी ने पूछा—जो अलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, इन दोनों के मध्य में और स्वयं भी जो अलोक तथा पृथिवी हैं। इनके सिवा भूत, वर्तमान और भविष्य जो कहे जाते जाते हैं, ये सबके सब किसमें श्रोत-श्रोत हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा—सपर्युक्त व्याकृत जगत् अव्याकृताकाश में श्रोत-श्रोत है। मार्गी ने द्वितीय प्रश्न से पूछा—उक्त आकाश किसमें श्रोत-श्रोत है। मार्गी समझती थी कि यदि याज्ञवल्क्य इसे अवाच्य कहकर इसका उत्तर नहीं देता तो अप्रतिपत्तिराम निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा और यदि अवाच्यतत्त्व के विषय में कुछ बोलेगा तो विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा। इन दोनों दोषों को निवृत्त करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। यह स्थूलादि से भिन्न है। यह न किसी का भक्ष्य है और न किसी का मलक है। यह सत्ता स्फूर्ति मात्र से ही सब पर अनुशासन कर रहा है। अतः इसके अनुशासन में सूर्यादि स्थित हैं। एवं मर्यादा का अतिक्रमण कोई नहीं करता। इस अक्षर तत्त्व को सत्ता में ही दातादि कर्मों का फल निश्चित मानकर अनुप्य दाता की प्रशंसा करता है, देवगण यजमान का और पितृगण जीविका के लिए दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं। इस अक्षर को जाने बिना इस लोक में हजारों वर्ष तक किये हुए होमादि नाशवान् ही होते हैं। इस अक्षर को न जानकर मरा हुआ कृपण है। अतः उसको जन्मना मरना पड़ता ही है। पर इस अक्षर को जानकर मरा

हुआ व्यक्ति ब्राह्मण है। यह भंकर देला सुना नहीं जाता, किन्तु यह दृष्टिस्वरूप, श्रुतिस्वरूप इत्यादि होने से द्रष्टृ, श्रोतृ, मन्तृ और विज्ञातृ है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा आदि नहीं है, बल्कि इनमें भिन्न वस्तु तुच्छ, नाशवान् है। इसी प्रसर में आकाश श्रोत-श्रोत है। मार्गों में सभी सभ्य ब्राह्मणों से कहा कि आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। भच्छा हो, आपलोग नमस्कार 'करके इससे छुटकारा पा जावें। इतना कह कर मार्गी चुप हो गयी।

पूर्व ब्राह्मणों के द्वारा बतलाये गये ब्रह्म का नियम्य देवताओं के प्राणपर्यन्त संकोच और भ्रान्त्यपर्यन्त विकास वर्णन द्वारा साक्षादपरोक्ष ज्ञान कराना है। इसके लिए यह नवम शाकल्य ब्राह्मण प्रारम्भ किया गया है। इसमें विदग्ध शाकल्य के पूछने पर याज्ञवल्क्य ने (देवसस्याबोधक मन्त्रपद) निविद् द्वारा पहले ३३०६ देवसंख्या को बतलाकर देवताओं का विस्तार बतलाया। पुनः उनको बतलाते हुए तैत्तिरीय, छः, तीन, दो, अर्धघं और अन्त में एक देव है, ऐसा कहा। सख्येय के विषय में पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ३३०६ तो इनकी विभूतियाँ हैं। वस्तुतः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति इस प्रकार तैत्तिरीय है। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठों सम्पूर्ण प्राणियों के बसाने वाले होने से वसु कहे जाते हैं। वरु इन्द्रियाँ और मन इस भरणशाली शरीर से निकलने पर सम्बन्धियों को बलाते हैं; इसीलिये ये रुद्र कहे गये हैं। संवत्सर के अवयवरूप बारह मास द्वादश आदित्य इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि सभी प्राणियों की आयु और कर्मफल को ग्रहण कर ये चनते हैं। प्राणियों की हिंसा करने वाला वज्र इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है, जो यज्ञ साधन पशुधन के प्रधीन है। वसुरूप से पूर्वोक्त अग्न्यादि में चन्द्रमा और नक्षत्रों को छोड़ कर तैत्तिरीय देवताओं के रूप में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक ये छः ही हैं। अग्नि और पृथिवी को मिलाकर एकदेव, वायु और अन्तरिक्ष को एक कर देने पर दूसरा देव तथा आदित्य और द्युलोक को एक करने पर तीसरा देव होता है। अतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीनों लोक ही तीन हैं। वैसे ही अन्न और प्राण में पूर्वोक्त सबका अन्तर्भाव हो जाने से दो ही देव हैं। एक होते हुए भी वायु को अर्धघं इसलिये कहा जाता है क्योंकि वायु के रहने पर ही यह सब प्रधि श्रद्धा को प्राप्त होता है। एक देव प्राण है, वह ब्रह्म है। इतना ही नहीं; बल्कि सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है। इसीलिये उसको परोक्षार्थवाचक 'त्यत्' ऐसे शब्द से कहते हैं। इस प्रकार अनन्त देवों का निविद्मन्त्राविशिष्ट में अन्तर्भाव किया। पुनः उनका तैत्तिरीय आदि में अन्तर्भाव करते-करते अन्त में प्राण को शेष रखा। अतः एक, अनन्त और अर्धवर्ती संख्या से विशिष्ट एक प्राण ही है। उसके बाद प्रश्नोत्तर द्वारा उसी प्राणब्रह्म के आठ भेद बतलाये गये हैं। जिस देव का आश्रय पृथिवी है, देखने का साधन होने से अग्नि जिसका लोक है, संकल्पादि कार्य करने का साधन मन जिसको ज्योति है; ऐसा यह पृथिवी का अभिमानी देव कार्यकरणसघात वाला है। बह्नी पाथिवांश शरीर में होने से शारीर कहा जाता है। उस शारीर देव का देवता प्रभूत है। खाये हुए अन्न का जो रस माता के शरीर में बोज के पाथ्यभूत लोहित की निष्पत्ति का कारण है; उस रस को ही प्रभूत कहा गया है। स्त्री प्रसंग की अभिलाषा काम जिसका आश्रय है, हृदय (बुद्धि) लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष अर्ध्यात्म भी काममय है। उद्दीपक होने से स्त्री ही उस काममय पुरुष का देवता है। द्युस्नादिरूप हो जिसके आश्रय हैं, चक्षु लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष आदित्य में रहता है, जो सभीरूपों का विशिष्ट कार्य है। उसका देवता सत्य यानी चक्षुः है क्योंकि अर्ध्यात्म चक्षु से ही प्रधिदैव आदित्य की निष्पत्ति होती है। आकाश ही जिसका आश्रय है, ओज लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष



और ऐसे सोम से यजन कर यजमान सोमसम्बन्धिनी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है । दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित पुरुष से सत्य बोलने के लिये कहते हैं । अतः सत्य का कार्य दीक्षा नष्ट न हो जाय, इस भय से दीक्षित पुरुष सदा सत्य ही बोलता है । वह सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है क्योंकि हृदय से ही सत्य को जानता है । याज्ञवल्क्य के उक्त सभी उत्तर को सुनकर शाकल्य ने स्वीकार किया कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा कि ध्रुवादिसा में मैं अग्नि देवता वाला हूँ । मेरे के चारो ओर रहने वालों की दृष्टि में ऊर्ध्व दिशा का कभी भी व्यभिचार नहीं होता । इसीलिए यह ऊर्ध्व कही गई है । ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश की बहुलता है और प्रकाश ही अग्नि है । वह अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है और वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है । ऐसा कहते समय समस्त दिशाओं में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सम्पूर्ण दिशाओं को आत्मभाव से प्राप्त था । नाम, रूप और कर्म के स्वरूपभूत उस याज्ञवल्क्य की देवता और प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएँ आत्मभूत थी । इनमें रूप पूर्व दिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदय स्वरूप हो गया था । एव केवच कर्म, पुनोत्पादन रूपकर्म और ज्ञानसहित कर्म अपने फल तथा अधिष्ठातृ देवों के सहित दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय ही हो गये थे । इसी प्रकार ध्रुवा के सहित सम्पूर्ण नाम भी वाक् द्वारा उसके हृदय को प्राप्त हो चुके थे । उक्त रीति से सब नाम, रूप और हृदय ही तो हैं । ऐसे सर्वात्मक हृदय के विषय में (हृदय किसमें प्रतिष्ठित है, ऐसा शाकल्य के पूछने पर) याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को प्रेतनाम से सम्बोधित कर कहा कि इस शरीर से हृदयरूप आत्मा अन्यत्र हो जाय, तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जाएँ या पक्षी चोंच मार-मार कर नोच डालें । अतः मुझ शरीर में हृदय प्रतिष्ठित है और शरीर नाम, रूप तथा कर्ममय होने के कारण हृदय में प्रतिष्ठित है । इस प्रकार कार्य और कारणरूप हृदय (आत्मा) एव देह परस्पर एक दूसरे में प्रतिष्ठित है । ये दोनों देह और आत्मा प्राणवृत्ति में प्रतिष्ठित हैं । प्राणवृत्ति प्रपान में प्रतिष्ठित है, अन्यथा प्रपानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह प्राण बाहर निकल जाता । वैसे ही मध्यवर्ती व्यानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह प्रपानवृत्ति नीचे की ओर चली जाती और प्राणवृत्ति ऊपर की ओर ही चली जाती । अतः प्रपानवृत्ति व्यान में प्रतिष्ठित है । व्यान उदान में प्रतिष्ठित है । यदि पूर्वोक्त तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्ति में बंधी नहीं होतीं तो ये सभी ओर चली जाती । समान में केवल उदान नहीं, अपितु सभी प्राणादि प्रतिष्ठित हैं, उक्त प्रसङ्ग से यही दिखलाया है कि शरीर हृदय और वायु ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं । तथा विज्ञानमय के लिए प्रयुक्त होकर सघातरूप से नियमपूर्वक प्रवृत्त होते हैं । अब इसके भागे यह बतलाना है कि यह सब जिसके द्वारा नियत है और जिसमें आकाशादि सम्पूर्ण जगत् प्रोत-प्रोत एव प्रतिष्ठित है; उसी निरुपाधिक साक्षादपरोक्ष ब्रह्म का निर्देश अग्रिम प्रसङ्ग से करना है । मधुकाण्ड में “नेति नेति” वाक्य से जिसका निर्देश किया गया है, वही यह आत्मा सम्पूर्ण कार्य धर्म से अतीत होने के कारण अगृह्य है । अतः गृहीत नहीं होता । एव मूर्त और सघात से भिन्न होने के कारण अशीर्ष्य है । अतः नष्ट नहीं होता । अमूर्त होने से असङ्ग है । इसलिए कही भी ससक्त नहीं होता और न व्यथित एव हसित ही होता है । शीघ्रता में श्रुति ने क्रम को छोड़कर शीघ्रनिपद पुरुष का स्वरूपतः निर्देश किया । अब पुनः भाष्यायिका का ही अनुसरण करती हैं—पृथिव्यादि षाठ भायतन, अग्न्यादि षाठ आलोका, शरीरादि षाठ पुरष और अमृतादि षाठ देव बतलाये गये हैं । जो उन पुरुषों को निश्चयपूर्वक जानकर पुनः प्राची आदि दिग् द्वारा उन्हें अपने हृदयरूप आत्मा में उपसहार कर शीघ्राधिक धर्मों का प्रतिश्रमण किये हुए है ; उसी शीघ्रनिपद पुरुष को तुम्हें विद्याप्रिमानी से मैं पूछता हूँ । यदि तुम उसकी विस्पष्ट व्याख्या नहीं करोगे, तो तुम्हारा शिर गिर जायगा, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ।

किन्तु शाकल्य उसे जानता नहीं था, अतः उसका शिर गिर गया। लुटेरों ने उसकी हड्डियों को कुछ और ही समझकर उसके शिप्यों के पास से छीन लिया। ब्रह्मजानी के अनादर से ऐसा दुष्परिणाम होता है। इस प्रकार यह आत्मान आचारप्रदर्शन और विद्यारतुति के लिये है। पहले निषधमुक्त से ब्रह्म का निर्देश किया था; अब पुनः विधिमुख से ब्रह्मनिर्देश के लिये आत्मान का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है। अश्वत्थ ब्राह्मणों को जीतकर गोघनग्रहण को उचित मानते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—हे पूज्य ब्राह्मणों! आपमें जिसकी इच्छा हो, वह मुझमें पूछे या सभी मुझ से पूछें, प्रथम आपमें से जो चाहे, उससे मैं पूछना हूँ, या सभी से मैं पूछता हूँ। इस प्रकार कहने पर भी प्रत्युत्तर देने का साहम उन ब्राह्मणों में नहीं हुआ। तब वृक्ष के दृष्टान्त से जगत् कारण के विषय में याज्ञवल्क्य ने पूछा, किन्तु जगत् के मूल का ज्ञान उन ब्राह्मणों को नहीं था। अतः ब्राह्मण हार गए और ब्रह्मिष्ठ होने से याज्ञवल्क्य गायों को ले गए। इस प्रकार आत्मान समाप्त हो गया।

याज्ञवल्क्य ने जिस जगत् के कारण के विषय में पूछा था, उसे श्रुति स्वयं ही कहती है—वह विज्ञानस्वरूप है, वही आनन्द है। वह जगत् कारण विषय विज्ञान के समान दुःख से अनुबद्ध नहीं है किन्तु विज्ञान और आनन्द इन दोनों विशेषणों से युक्त ब्रह्म क्या है। वह धन का दाता और यजमान के कर्मफलदाता होने से परम गति है। इतना ही नहीं, प्रत्युत ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

पूर्व ब्राह्मणोक्त निषेध और विधिवाक्य द्वारा निदिष्ट विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म का ही याज्ञवल्क्यकाण्ड द्वितीयाध्याय प्रथम याज्ञवल्क्य ब्राह्मण में वागादि देवता के द्वारा बोध कराया गया है। इस प्रथम याज्ञवल्क्य ब्राह्मण में राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है। जनक ने विभिन्न आचार्यों से वाक्, प्राण, वक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को ही ब्रह्मरूप से सुन रखा था। जिन्हें राजा जनक से सुनकर याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक के आपतन (गोलक) और प्रतिष्ठा (भाष्य) को पूछा। किन्तु उन आचार्यों से उक्त विषय में जनक ने कुछ सुना नहीं था। अतः वे बतला न सके। तब याज्ञवल्क्य ने उन सभी के आपतन और प्रतिष्ठा को बतलाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उनकी उपासना का विधान बतलाया। उनमें प्रत्येक उपासना का फल बतलाते समय यही कहा कि इनके उपासकों को उपास्यदेव कभी नहीं त्यागता है। उस उपासक का अनुसरण सभी प्राणी करते हैं और वह उपासक देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने प्रत्येक उपासना के फल सुन उसी को परम पुरुषार्थ मानकर याज्ञवल्क्य को एक-एक हजार गौ भेंट करना चाहा, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका घन नहीं लेना। अतः अपने पिता के सिद्धान्त के विरुद्ध मैं इस दक्षिणा को स्वीकार नहीं कर सकता।

इस घटना में राजा जनक में दानीपने, विद्वान्पने और बहुश्रुत होने का अहङ्कार खुर-खुर हो गया। वे राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर नमस्कार करते हुए उपदेश के लिये प्रार्थना करते हैं। तब याज्ञवल्क्य ने ज्ञानित्वादि का अभिमान त्याग कर शिष्यभाव से शरणापन्न राजा जनक को विद्या का अधिकारी समझकर उन्हें बिराट् का उपदेश किया और फिर उस सर्वात्मा का

प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्मा का भी उपदेश किया। जिससे जनक ने अपने में कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए अपना सम्पूर्ण राज्य-सम्भवादि शुद्धदेव के चरणों में समर्पण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय कूच ब्राह्मण के साथ ही यह प्रकरण समाप्त हो जाता है।

मुनिकाण्ड के द्वितीयाध्याय तृतीय ज्योतिर्निर्मा ब्राह्मण में आत्मा के स्वयंज्योतिष्व होने का प्रतिपादन किया गया है। इस बार जनक के पास जाते समय याज्ञवल्क्य ने सोचा था कि मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा। किन्तु बात विपरीत हो गयी क्योंकि अग्निहोत्रसंवाद प्रसङ्ग में किसी समय प्रसन्न हो ऋषि ने राजा को स्वेच्छापूर्वक प्रश्न करने के लिए वरदान दे रखा था। अतः प्रश्न करने के सामान्य नियम का पालन न कर जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह पुरुष किस ज्योति बाला है। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् और अन्त में आत्मज्योति से बैठना, ग्रन्थ जाना, सब काम करना एवं नियत स्थान पर लौट आने की बात कही। वह आत्मा प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर विज्ञानमय है। वह जाग्रत् में बुद्धि के साथ सादारण्य हुआ सब काम करता है और स्वप्न में देहरूप मृत्यु के रूपों को पार कर जाता है। वह आत्मस्वरूप के अज्ञान से जनन-मरणादि देहधर्म को अपने में मानता है। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में क्रमशः और क्रम के बिना भी जाता आता रहता है। स्वप्न में रथादि के न रहने पर भी जाग्रत् की वासना से स्वयंप्रकाश आत्मा सब कुछ बता लेता है। यह स्वप्न द्वारा देह को निश्चेष्ट करके भी स्वयं सोता नहीं है और देह को जीवित पहिचान के लिए प्राण को छोड़ जाता है; अन्यथा निद्राकाल में कहीं मृत्यु का भ्रम न हो जाये। आश्चर्य यह है कि स्वप्न में आत्मा के विलास को सभी देखते हैं; पर आत्मा को नहीं देखते। आत्मा की असङ्गता बेहद है। यह एक अवस्था की वस्तु को दूसरी अवस्था में नहीं ले जाता, किन्तु प्रकला ही चला जाता है। अतः जाग्रदादि सभी अवस्थाओं से इसकी असङ्गता सिद्ध होती है। यह जाग्रत् और स्वप्न में अन्त हुआ बाज पक्षी के समान ही अपने विधायस्थान सुषुप्ति में चला जाता है। सम्पूर्ण द्वैत के विस्मरणपूर्वक स्वरूप की स्मृति बनी रहे तो इसी की जीवनमुक्ति कहते हैं। सोया हुआ पुरुष जाग्रत् और स्वप्न के दृश्य पदार्थ के सङ्ग और उससे होने वाले शोक को पार कर जाता है। वह नित्य, विज्ञानमय आत्मा सुषुप्ति में किसी वस्तु को नहीं देखता। इससे उसके दशोनादि शक्ति के नाश की आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह वाक्य उसकी नित्य है। जाग्रत् स्वप्न में प्रविष्टा की विशेष-शक्ति से द्वैत के खड़े हो जाने पर दूसरे को दूसरा देखता सुनता है इत्यादि। जैसे जल विद्युद् और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। सुषुप्ति और समाधि में द्वैत का विस्मरण समान है। दोनों में भेद इतना ही है कि समाधि में स्वरूप का बोध बना रहता है और निद्रा में वह बोध नहीं रहता है। यही पुरुष की परम गति, परम सम्पत्ति, परम लोक और परम आनन्द है। इसी आनन्द की कला को लेकर तोनो लोक जीवित हैं। मनुष्य के सर्वाधिक आनन्द से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त विषयसंसर्गजन्य जितना भी आनन्द है; इन सभी से अधिक आनन्द निष्पाप, कामनाशून्य, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, विद्वान् को प्राप्त होता रहता है। आत्मानन्द की अभिव्यक्ति जितनी विषय से होती है, उससे कई गुण अधिक आत्मानन्दामिव्यक्ति निष्कामता तथा स्वरूपनिष्ठा से होती है। यह बात यहाँ पर तथा तत्तिरीयोपनिषद् में भी बतलायी गयी है। इन सभी बातों को सुनकर राजा जनक ने कहा कि इसके बदले श्रीमान् को मैं एक सहस्र गायें देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप वन्दन से मुक्त करने के लिये उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि भयभीत हो गये। भयभीत होने के दो कारण हो सकते हैं। एक यह कि हमारे सम्पूर्ण उपदेश को केवल एक हजार गौदक्षिणा से राजा माप

रहा है। दूसरा यह कि कामप्रदन् के बहाने मेरा सारा विज्ञान लेना चाहता है। हम मोक्ष उपयोगी सभी उपदेश कर चुके हैं। अब कुछ रोप रहा नहीं। यदि कुछ आगे हम बहेगे, तो सम्भवतः उसे भी यह बुद्धिमान् राजा इसी मापदण्ड से मापेगा, जो उचित नहीं। फिर कामप्रदन्रूप वरदान देने के कारण मैं तो बंधा हुआ हूँ। निःसन्देह आत्मा का प्रवक्ता और धोता दोनों ही आश्चर्य हैं। इस आत्मविद्या को किसी भी मायिक पदार्थ से मापा नहीं जा सकता। इसके आगे मरणासन्न की दशा, ऊर्ध्वदेवता का कारण, देहान्तर में जाने का प्रकार एवं प्राणों का देहान्तर में जाने की विधि का निपुणतम निरूपण किया गया है।

मुनिकाण्ड द्वितीयाध्याय के चतुर्थ शारीर ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण उपदेशों का सार सग्रह करके बतलाया है। मरणासन्न दशा में यह जीव सभी इन्द्रियों के तेज बोल लेकर हृदयदेश में अभिव्यक्त विज्ञानवाला होता है। हृदय के अग्रभाग के प्रद्योतनपूर्वक भावी देह ग्रहण के लिए चक्षुरादि द्वार से निकल जाता है। उस जीव के साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य संस्कार जाते हैं। जैसे तृणजलोका आगे के पंरो से दूसरे तृण का आश्रय लेने पर ही पहले वाले तृण को छोड़ता है, वैसे ही यह जीवात्मा वर्तमान शरीर को प्रचेतन बना दूसरे शरीर का आश्रय लेकर ही पूर्व देह को छोड़ता है। यह विज्ञानमय आत्मा सकल्पानुसार शरीर का निर्माण कर लेता है और सकल्प पूर्व के कर्म एवं वासना के अनुरूप होता है। पुनः सकल्पानुसार कर्म कर तदनुरूप फल को प्राप्त करता है। यह तो कामनामय मज्जानी जीव की गति बतलाये। इसके भिन्न मातृकाम ज्ञानी पुरुष के प्राण देहान्तर ग्रहण के लिये शरीर से निकलते ही नहीं हैं। प्रत्युत ब्रह्मज्ञानी जीवितवस्था में ही ब्रह्मस्वरूप हो हो जाता है। आरब्धक्षीण होते ही निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष संपत् की केचुली की भाँति देह को छोड़ कर सुखपूर्वक स्वरूप में स्थित रहता है। इस उपदेश के बदले एक सहस्र गी भेंट करने की प्रतिज्ञा पुनः जनक ने की। औपनिषद् पुरुष की उपेक्षा कर केवल कर्म में या कर्मबोधक वेदादि शास्त्रों के अभ्यास में सगे रहने वाले व्यक्ति अन्धकूप में गिरते हैं। ऐसे मज्जानी पुरुष घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित उन लोकों को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर सुख नाममात्र भी नहीं है। इसके विपरीत आत्मा को अपरोक्ष अनुभव करने वाला आप्तकाम एवं कृतकृत्य पुरुष शरीर के ताप से भी सन्तप्त नहीं होता। वह तो जीवित दशा में ही मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा को जानकर जीवन्मुक्ति का लाभ इस मनुष्य देह में ही प्राप्त करना चाहिये। अग्न्या इस क्षति की पूर्ति कही भी सम्भव नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल के प्रशासक, प्रकाशमय आत्मतत्त्व को शास्त्र एवं आचार्य की कृपा से जानने वाला ब्रह्मवेत्ता भय के कारण द्वैत के भिड़ जाने से शरीर सुरक्षा का भी चिन्ता नहीं करता। सर्वाधार, अद्वय ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अमरत्व मिलता है और भेददर्शी बार-बार जन्मता-मरता रहता है। आत्मबोधक वेदान्त शास्त्र का ही अनुशीलन करें, अनात्मबोधक शास्त्र का अभ्यास केवल वाणी का व्यायाममात्र भूसे कूटने के समान व्यर्थ प्रयास है। ऐसे आत्मज्ञान तथा आत्मनिष्ठा प्राप्ति करने के लिये एषणाश्रय का संन्यास करना भी आवश्यक है। उस आत्मजिज्ञासु को दृढ़ धारणा होती है कि जब हमें आत्मलोक का ही सम्पादन करना है, तो फिर हम प्रजा से क्या करेंगे। "नेति नेति" निषेधमुख से वेदान्त वाक्य द्वारा आत्मा को जानकर ज्ञानी पुरुष धर्माधर्म की भी दग्ध कर डालता है, जो अज्ञानदशा में सबको सन्तुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार भोजस्वी भाषा द्वारा याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को उपदेश किया। उन्होंने इस उपदेश से कृतकृत्य हो ऋषि के चरणों में आत्मसमर्पण कर डाला। आत्मा महान्, अजन्मा, अजर, अमर, अमय, ब्रह्मस्वरूप है। ऐसे आत्मा को



जानने वाला पुरुष अमय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार शरीर ब्राह्मण का सार बतलाया गया।

इसके आगे मुनिकाण्ड की रीति से मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मतत्त्व का उपदेश मैत्रेयी को महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया और जोबन्मुक्ति के विलक्षण आनन्दानुभव करने के लिये सन्यास ग्रहण कर लिया। इस अध्याय के पठ ब्राह्मण में मुनिकाण्ड के आचार्य वषा का वर्णन है इस प्रकार याज्ञवल्क्यकाण्ड के दोनों अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन हो जाता है।

बृहदारण्यक के अन्तिम सप्तम एवं अष्टम दो अध्याय विलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें अनेक प्रकार की उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। विलकाण्ड के प्रथमाध्याय में १५ ब्राह्मण हैं। बृहदारण्यक के इससे भिन्न किसी अध्याय में इतने ब्राह्मण नहीं हैं। प्रथम ब्राह्मण में वायु के समान ही असंज्ञ और व्यापक चिदाकाश की उपासना ओङ्काररूप से करनी चाहिये। ऐसा बतलाया गया है।

प्राजापत्यनामक द्वितीय ब्राह्मण में एक रोचक आख्यान है। प्रजापति के पुत्र देव, मानव और दानव एक बार दीर्घकाल तक उनके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किये। तप से युक्त करण उन तीनों को क्रमशः एक ही "द" अक्षर का उपदेश प्रजापति ने किया। अपने अधिकार और योग्यता के अनु-रूप देवों ने इन्द्रियदमन, मनुष्यों ने दान और दानवों ने दया अर्थात् उस दकार का समझा। जिसे ब्रह्मा ने यथार्थ बतलाया। तत्पश्चात् त्रमश हृदयग्रह, सत्यग्रह, सत्यग्रहसंस्थानरूप आदित्यमण्डलस्थ और दक्षिणनेत्रस्थपुरुष, मनोमय पुरुष, विद्युद्ब्रह्म, वाग्धेनु की उपासना, वैश्वनराग्निधोप, उपासना-मति, रोमादिजगत्ताप में सप्तर्षि, अन्न और प्राण के अग्न्योज्याश्रयत्व, उक्थवृष्टि से प्राणोपासना, गायत्री के प्रत्येक पाद की उपासना और फल का वर्णन, अन्त में कर्म और उपासना के समुच्चय अनुष्ठान वालों के लिये मार्गयाचना बतलाकर प्रथमाध्याय समाप्त हो जाता है।

विलकाण्ड के अन्तिम अध्याय में प्राणसंवाद से मुख्यप्राण की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। प्राणोपासक के लिये भोजन से पूर्व और पश्चात् स्मृतिविहित आश्रमन में अनगनता चिन्तन करने को बतलाया। जिसका विस्मृत विचार ब्रह्मसूत्र में किया गया है।

इससे पूर्व ज्ञानकर्मसमुच्चय अनुष्ठान करने वाले साधक शोभनमार्ग से ले जाने के परमेश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। उससे पूर्व केवलकर्म से पितृलोक और उपासना एवं उपासनासहित कर्म से देवलोक की प्राप्ति बतलायी गयी है। पर उपर्युक्त दोनों स्थानों में मार्गविक्षेप का निर्धारण नहीं किया गया था। इसी बात को स्पष्ट बतलाने के लिये कर्मविभागनामक द्वितीय ब्राह्मण कहा गया है। विद्यामि-मानी श्वेतकेतु पाञ्चालों की सभा में आया। वहाँ पर प्रवाहण जबलि ने श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछे—उनमें से एक का उत्तर वह दे सका। इससे खिन्न मन हो श्वेतकेतु अपने पिता के पास आकर उलाहना देने लगा। श्वेतकेतु के पिता गोतम ने भी इस विषय में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। गोतम उक्त प्रश्नों के उत्तर जानने के लिये प्रवाहण के पास आया। ब्राह्मण होने के कारण गोतम वाणीमात्र से क्षत्रिय प्रवाहण के प्रति शिष्यभाव से उपसन्न हुआ क्योंकि आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षत्रिय के शिष्यत्व करने के लिये शास्त्र ने आज्ञा दे रखी है। उसके बाद राजा ने दूलाक, पर्जन्य, भूलोक, पुरुष एवं स्थोरूप आध्यात्मिक पाँच अग्निनों का उपदेश कर प्रसिद्ध पञ्चाग्नि का भी उपदेश किया। जो अनुवादमात्र

है, उपास्य नहीं है। अतएव छान्दोग्य की पञ्चाग्निविद्या और वृहदारण्यक विद्या को समान मानकर परस्पर गुणोपसंहार का आदेश ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार एवं भाष्यकार ने दिया है। प्रतीकोपासकों में केवल पञ्चाग्निविद्या के उपासक ही अचिरादि देवयान से ब्रह्मलोक जाता है, दूसरे प्रतीकोपासक नहीं जाते इससे विपरीत केवल कर्मों मरने पर धूमादि पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। जहाँ से कर्म-फल भोगने के बाद पुनरावृत्ति होती है। इन दोनों से भिन्न प्राणी के लिए कीट, पतंगादि योनियों में बार-बार जन्म मरण ही गति है।

इस अध्याय के तृतीय श्रीमन्त्र ब्राह्मण में कर्म के साधन मानुषवित्त धनोपाजन का वह उपाय बतलाया है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति उपासना स्वतन्त्र है; किन्तु कर्म देव तथा मानुषवित्त के अधीन है। महत्त्वप्राप्ति के लिये श्रीमन्त्र कर्मानुष्ठान की आवश्यकता है क्योंकि महत्त्व प्राप्त होने पर धन स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसीलिये श्रीमन्त्र ब्राह्मण कहा गया है।

जिस प्राणोपासक धनार्थी पुरुष ने श्रीमन्त्र ब्राह्मण में विहित कर्म का अनुष्ठान कर लिया है; श्रीमन्त्र कर्मानुष्ठान कर पुत्रमन्त्र कर्मानुष्ठान के लिये उसे पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्योंकि सत्सन्तान ही अपने और पिता के लोभप्राप्ति का साधन हो सकती है। अतः सत्सन्तान प्राप्ति के लिये यह श्रीमन्त्र ब्राह्मण कहा गया है। शास्त्रविधि से उत्पन्न किया हुआ पुत्र अपने पिता-पितामहादि से भी भागे बंट जाता है। तथा 'तू लक्ष्मी, कीर्ति और ब्रह्मचर्य द्वारा उन्नति की परा-काष्ठा पर पहुँच गया' ऐसी स्तुति उसकी लोग करते हैं। विशिष्ट पुत्र से पिता भी स्तुति का पात्र बन जाता है।

पञ्चम ब्राह्मण में खिलकाण्ड की आचार्यपरम्परा का वर्णन है। यहाँ पर स्त्री विशेषण से पुत्र का विशेषण देकर आचार्यवश का वर्णन इसलिये किया गया है क्योंकि स्त्री प्रधानता से ही गुणवान् पुत्र की उत्पत्ति पुत्रमन्त्र प्रसंग में बतलायी गयी है। ये यजु श्रुतिर्षा आचार्यवश बतलाने वाली ब्राह्मण स मिली नहीं है। जिसमें इनमें कोई पौरुषत्व की आशङ्का कर सके। ये तो सर्वथा शुद्ध हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृहदारण्यकोपनिषद् का सार सग्रह किया गया।

अनादि अपौरुषेय वेद के शिरोभाग होने से उपनिषद् भी अनादि और अपौरुषेय है। इसकी परम्परा भी ऐसी ही है। पर वेदान्त का जैसा ऋषिाद्वैत सिद्धान्त भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य जी की वाणी में निखर कर आया, ऐसा इनसे पूर्व देखने में नहीं आता। इसीलिये पाछे में केवलाद्वैत सिद्धान्त को शङ्कर सिद्धान्त की सजा दी गयी है। इनसे पूर्व या तो केवल कमकाण्ड में मानव समाज निरत थे या उसमें ऊँचकर भर्वादिक मिद्वान्त और तन्त्र साधनों में निरत होते जा रहे थे। उस समय साक्षात् भगवान् शङ्कर ने शङ्कराचार्य रूप से इस घरा पर अवतरित हो सनातन वैदिक सिद्धान्त को प्रशस्त किया। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इन तीनों से समर्थित सिद्धान्त ही विद्वत्समाज में मान्य होता है। अतः आद्य शङ्कराचार्य जी ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा साथ ही अनेक प्रकरण-ग्रन्थों का निर्माण कर भद्वैत ज्ञान को सुलभ कर दिया। ईशादि जिन दशोपनिषद् पर भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का भाष्य है, उनमें वृहदारण्यकोपनिषद् का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसमें भाष्यकार ने अपना हृदय खोलकर रस दिया है। केवल कर्म या ज्ञानकर्मसमुच्चय के अनुष्ठान से शाश्वत शान्ति

रूप मोक्ष नहीं मिलता। अपितु मोक्ष का ऐकान्तिक साधन ब्रह्मात्यैवबोध है। यह बोध प्रमति प्रतिबन्ध के साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु को प्रद्वैत ब्रह्मविद्या के आचार्य के मुख से महावाक्य सुनते ही हो जाता है। इसीलिये इस आत्मा को ओपनिषद् पुरुष कहा गया है। जिसका साक्षात्कार केवल उपनिषद् महावाक्य से होता हो, उसे ओपनिषद् पुरुष कहते हैं। असम्भावना विपरीतभावना प्रतिबन्धक के रहने पर ध्यात्र के साथ महावाक्य का सम्बन्ध होने पर भी अद्वैतज्ञान नहीं होता। अतः उक्त प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए प्रद्वैत ब्रह्मविद्या के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य मुक्त से गुरु उपसत्तिपूर्वक वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप विचार करना चाहिये, ऐसा श्रुति का आदेश है। उपनिषद् के मौलिक सिद्धान्त को अवगत करने के लिए भूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और उनकी आनन्दगिरि टीका को आचार्यपरम्परा से पढ़ना आवश्यक है। वह परम्परा आज भी कैलासाश्रम में दृष्टिगोचर होती है।

### ॐ प्रस्तुत संस्करण की विशेषता ॥

आनन्दगिरि टीकासहित उपनिषद् शाङ्करभाष्य के सभी संस्करणों में से आनन्द आश्रम से प्रकाशित संस्करण अच्छा माना जाता है। जिसमें अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पाठ संग्रहण के साथ पाठभेद भी दिया गया है। पर वह केवल संस्कृतज्ञों के लिये ही उपादेय रहा। हिन्दी अनुवाद न होने के कारण स्वल्प संस्कृत जानने वालों या संस्कृत न जानने वालों के लिये उपयोगी नहीं था। इस समय वह संस्करण भी दुर्लभ हो गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दीभाषान्तर के सहित उपनिषद् शाङ्करभाष्य गीता-प्रेस आदि कई स्थानों से प्रकाशित हुए। जो शाङ्करभाष्य के तात्पर्यज्ञान के उपयोगी सिद्ध न हो सकें वरन् सत्य यह है कि आनन्दगिरिटीका के बिना शाङ्करभाष्य का तात्पर्यावगाहन असम्भव ही है। विशेषतः बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य समझने के लिये आनन्दगिरिटीका भी पर्याप्त नहीं है। इसे समझने के लिये बृहदारण्यक वार्तिक की परमावश्यकता है। जो वर्तमान समय में दुष्कर ही है। कैलासाश्रम की वेदान्त अध्ययन परम्परा में टिप्पणी का आविष्कार महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज ने किया। सबसे टिप्पणिसहित उपनिषद् शाङ्करभाष्य अध्ययन-अध्यापन का क्रम कैलासाश्रम की अध्ययनपरम्परा में चलता रहा। टिप्पणी के आविष्कर्ता से साक्षात् अध्ययन करने वाले उनके प्रिय शिष्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज हुए। जिन्होंने १३ वर्षों में केवल बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य आनन्दगिरिटीका एवं अभिनव टिप्पणी का विधिवत् अध्ययन किया। स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज से प्रत्येकानेक महामुहूर्तों में उक्त रीति से उपनिषद् का अध्ययन किया। इस प्रकार वेदान्त अध्ययन की सशोधित एवं परिष्कृत परम्परा का प्रादुर्भाव कैलासाश्रम से हुआ, जिसे सभी सहृदय विद्वान् स्वीकार करते हैं। अपने सद्गुरुदेव से प्राप्त टिप्पणी का अध्ययन और अध्यापन काल में स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज ने पुनः परिष्कार किया। अनुक्त द्विरुक्त भाग को परिष्कृत कर नया रूप दिया। बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य आनन्दगिरिटीका पर टिप्पण लिखते समय टिप्पणकार ग्रन्थ के तात्पर्य को समझने के लिये जहाँ अपनी ओर से टिप्पणी की कल्पना की है, वहाँ वार्तिक का उदाहरण भी दिया है, जिससे टिप्पण का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। सामान्य टिप्पणी के अतिरिक्त विस्तृत टिप्पणी पृथक् से टिप्पणकार ने लिखी है। जिसे इस प्रकाशन में “कैलास विद्याप्रकाशक श्लोडपत्र” की संज्ञा दी गयी है एवं सामान्य टिप्पणी का “गोविन्दप्रसादिनी” नाम रखा गया है। इन दोनों टिप्पणियों के सहित

बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य के अध्ययन करने से जहाँ एक ओर इसके तात्पर्य अवगाहन में अपूर्व लाभ मिलता है, वहाँ पर अध्येता के मन में वातिक के अध्ययन के लिये अभिनव रुचि जाग उठती है। इस प्रकार वातिक अध्ययन की आकांक्षापूर्ति के लिए पाठक वातिक ग्रन्थ का भी अध्ययन अवश्य करेंगे। यो तो बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य से सम्बन्धित आवश्यक अंश को टिप्पणीकार ने संगृहीत कर रखा है। साथ ही उसकी व्याख्या भी कर दी है, जिससे पाठकों को अध्ययन में पर्याप्त सहयोग मिलेगा एवं ग्रन्थ का कल्पना का अवसर नहीं मिल सकेगा।

### प्रस्तुत प्रकाशन का संकल्प ❀

कैलासाश्रम में पाने से पूर्व काशी तथा दिल्ली में रहते समय ही हमने कैलासाश्रम की अध्ययन-परम्परा एवं टिप्पणी की प्रशंसा सुन रखी थी। फलतः कैलासाश्रम में पाने पर सर्वप्रथम हमारे मन में यही संकल्प उत्पन्न हुआ कि परस्पर से विरसयोजित इस टिप्पणी की सुरक्षा के लिये समुचित प्रयत्न करना चाहिये। इससे पूर्व महारामाश्रम ने अपने समझने के लिये आवश्यक उपयोगी भाग को अध्ययन करते समय अपना पुस्तक में लिख लिया, बस इतना ही करते थे। आखिर कागज की एक निश्चित प्राप्ति होती है। काल पाकर कागज के सड़ जाने एवं जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर इन मनीषियों का सम्मर्शन कौन करेगा? इन बातों पर बार-बार विचार कर इसे प्रकाश में लाने का संकल्प मन में जाग उठा। तदनुसार धर्मप्रचार करते समय प्रवास में ही हमने माण्डूक्यकारिका शाङ्करभाष्य की टिप्पणियों की प्रेस के उपयोगी बनाकर कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित करा दिया था। तब से ऐसे ही सटिप्पण-शाङ्करभाष्य सहित शेष उपनिषदों के प्रकाशन की माँग बढ़ती गयी। पर निरन्तर भ्रमण में रहने के कारण शेष उपनिषदों की टिप्पणियों को हम स्वयं प्रेस के उपयोगी न बना सके। इस काम के लिये सुयोग्य परिश्रमी विद्वान् की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जिसकी पूर्ति हमारे प्रिय डॉ॰ उमेशानन्द जी शास्त्री ने की। डॉ॰ उमेशानन्द जी शास्त्री के सहयोग के बिना सटिप्पण शाङ्करभाष्य के सहित बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रकाशन दुष्कर ही था। आपने बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य ध्यानन्दगिरि टीका की परमपूज्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज वाली पुस्तक के आधार पर सामान्य टिप्पण तथा कोटपत्र की छुट्ट प्रसंकापी करने में अथक परिश्रम किया है, जो श्लाघनीय है। एतदर्थं ये अनेक साधुवाद के पात्र हैं। क्योंकि टिप्पणकार ने अपने समझने या विद्याधियों को समझाने के लिए ध्यानन्दाश्रम वाले सरकारण में जहाँ भी स्थान मिला, टिप्पणी लिखते गये; उन टिप्पणियों को प्रेस उपयोगी बनाने के लिए अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता थी, जिसे आपने किया। इसके अतिरिक्त शाङ्करभाष्य की हिन्दी व्याख्या लिखकर डा॰ उमेशानन्द जी शास्त्री ने इसे सब सामान्य उपयोगी बना दिया, जो स्वर्ण में सुगन्ध के समान हो गयी।

### ❀ श्री कैलास आश्रम शतान्दी ❀

बहुत बार ऐसा देखा गया है कि पाण्डुलिपि पुस्तकें वर्षों पड़ी रहती हैं। उसका प्रकाशन नहीं हो पाता। उपयुक्त समय और सभी सामग्री उपलब्ध न होने के कारण प्रकाशन कार्य अवरुद्ध पड़ा रहता। यह एक देव संयोग ही कहा जायगा कि १९८० ई० में कैलासाश्रम को संस्थापित हुए सौ वर्ष पूरे हो

जायेंगे । इस प्रसंग को लेकर हमारे मन में कैलास आश्रम शताब्दी समारोह मनाने का संकल्प भगवान् भूतभावन अभिनवचन्द्रेश्वर एवं पूर्वाचार्यों की प्रेरणा से उठ गया । इसका समर्थन श्री कैलासाश्रम ट्रस्ट कमेटी ने किया । कार्यक्रम निर्धारित कर तीन चरणों में विभक्त कर दिया गया । शताब्दी के प्रस्तावित कार्यक्रमों में प्राथमिकता प्रकाशन विभाग को दी गयी । जिसके अधीन दुर्लभ चिरसंगृहीत साहित्य का प्रकाशन, सामूहिक चित्रों एवं स्मारिका के प्रकाशन का कार्य निर्धारित किया गया । इस प्रकाशन कार्य के लिए स्वयं कैलास विद्या प्रेस की स्थापना की गयी । कागज की दुर्लभता भी प्रकाशन कार्य में कम बाधक नहीं थी । दिल्ली प्रशासन ने कोटा से बृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशन के लिए कागज देकर हमारे कार्य को सरल बना दिया । एतदर्थ उन्हें भी भूरिः धन्यवाद है । मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य, दोनों की हिन्दी व्याख्या, शाङ्करभाष्य की आनन्दगिरिटीका, टिप्पणी एवं कौडपत्र इन सातों को सुव्यवस्थित रूप से सम्पादन करना सरल नहीं था । हमारे संकल्पानुसार इसके सम्पादन का कार्यभार भी डॉ० उमेशानन्द जी शास्त्री को अपने कंधों पर लेना पड़ा । इस कार्य में कैलास विद्या प्रेस के सभी कर्मचारियों का सहयोग भी प्रशंसनीय है ; जिसके फलस्वरूप बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रस्तुत संस्करण पाठकों के सामने अतिशीघ्र हम उपस्थित कर पाये हैं । इससे पूर्व ईशावास्योपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् का प्रकाशन उपर्युक्त सभी सामग्रियों के सहित प्रकाशित हो चुका है । शेष छः उपनिषदों का प्रकाशन भी भगवत्कृपा से यथाशीघ्र होने की सम्भावना है । इत्यो शम् ।

भगवत्पाद्रीयः

गंगा दशहरा

श्री कैलास आश्रम

उत्तरकाशी (उ० प्र०)

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द जी गिरि

श्रीमत्परमहंस परित्याजकाचार्य श्रीत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मुम्बापुरीस्थ आनन्दयनाश्रमपीठाधीश्वर  
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण वेदान्त-न्याय-व्याकरणाचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री  
विभूषित स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज द्वारा

## अभिनन्दन

प्रायःभूमि भारतवर्ष औपनिषद विद्या का जन्मस्थान है। चरम विकास भी उसका यही हुआ।  
ज्ञान विज्ञान सम्पन्न वह समय भारतवर्ष का सुवर्णयुग था। "तत्र श्रीविजयो भूतिर्धुवा नीति" इस  
उक्ति का मूर्तरूप-साक्षात्कार यहाँ होता था। किन्तु अनीति नीति को कुचल डालती है। राजस  
देवताओं को परास्त किया ही करते हैं। ग्रन्थायी विदेशियों ने धोखे से भारत को गुलाम बनाया।  
दीर्घदासता ने भारतीयों के मनोबल को काफी धक्का पहुँचाया। अनीति की विजय ने नैतिकता को  
गिराया। शम, दमादि का अवमूल्यन होने लगा। साधनाओं की न्यूनता होने लगी। औपनिषद  
विज्ञानालोक फीका पड़ने लगा। उसी बीच में भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी सामने आने लगा।  
उसका परिणाम यह हुआ कि साधनाहीन कुछ लोग इन्हीं चमत्कारों को सब कुछ समझने लगे। दूसरे  
लोग ग्रन्थात्मतत्त्व के साथ धर्तृ लगाने लगे। ग्रन्थात्मतत्त्व को हम अवश्य मानेंगे वशर्ते कि वह  
विज्ञान की कसीटी पर खरा उतरे, ऐसी घोषणायें होने लगीं।

भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी अवश्य एक प्रकाश है। परन्तु यह न तो वस्तु का यथार्थ-  
स्वरूपदर्शन करा सकता है और न मार्गदर्शन ही। मरुमरीचिका न वस्तुदर्शन कराती है और न  
मार्गदर्शन ही। उससे अस्त-जल का दर्शन होता है और आगे का दृश्य ओझल होता है। वैसे ही यह  
भौतिक विज्ञान का चमत्कार भी मरीचिकाजलसदृश भौतिक क्षणिक सुख का दर्शन कराता है और  
ग्रन्थात्म मार्ग को ओझल कर देता है। अतः भारत के श्रद्धिमानों ने इसे अज्ञान के अन्धकार से अधिक  
महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने "अविद्यया मृत्युं तोरवाँ" इस प्रकार भौतिक विज्ञान की सप्रयोजनता स्वी-  
कार करते हुए भी "अन्ध तमः प्रविशन्ति वेदविद्यामुपासते" इस प्रकार उसे अविद्या ही माना और  
परिणाम अन्धकार प्रवेश ही बताया।

हम भौतिक विज्ञान को दोष नहीं दे रहे। यह विज्ञान प्राचीनकाल में भी था, आगे भी रहेगा।  
उसका केवल स्वरूप परिवर्तन होता रहता है। अनेकविध यन्त्रसन्त्रादि प्राचीन युग में भी विद्यमान  
थे। भौतिक सुख सुविधा एवं उसकी सामग्रियाँ भी पुष्करूप से थी। इतिहास-पुराणादि में इन सबका  
वर्णन मिलता है। किन्तु विज्ञेयता यही थी कि इन सबका होते हुए भी इन्हीं का सब कुछ समझने का  
अविवेक लोग नहीं करते थे। कारण, वे शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता होने के कारण साधनाएँ  
करने में धैर्य रखते थे। आज स्थिति यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव होने के कारण लागू  
भालसी बन गये हैं। बिना श्रम किये सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। तप करना और साधनार्थ  
करना हचता नहीं। मानसिक स्वास्थ्य के अभाव से क्षम-दमादि निष्ठा से रहित हुए। फलतः ग्रन्थात्म  
भालोक दूर चला गया। अनुभूति के अभाव में तत्त्व के अस्तित्व में ही संशय होने लगा। उसी बीच  
में नये रूप में विज्ञान के चमत्कार आ धमके और उसी की चकाचौंध में लोग ग्रन्थ से होने लगे।

ओपनिषद् अर्थ की अनुभूति न सही, केवल परोक्षनिश्चय भी हो गया होता तो यह स्थिति पंदा न होती। पर देवयोग से अध्यात्मप्रधान भारत में ही यह सब हो गया।

ओपनिषद् विचार्ये अनादि हैं। केवल विद्या ही नहीं, उपनिषदें स्वरूपतः भी अनादि ही हैं। इनको श्रुति कहा जाता है। इसलिये कि केवल सुनकर ही लोग इन्हें याद रखते थे। लिखने एवं मुद्रित करने की आवश्यकता ही नहीं थी। आज चाहे बुद्धि की बढती हुई मन्दता का परिणाम हो, चाहे परिश्रम करने में आलस्य का फल हो; लोग केवल श्रवणकर उन उपनिषदों को याद रखने में संवधा असमर्थ हो गये हैं। अतएव उनका लेखन तथा मुद्रण करना आवश्यक हो गया। इतना ही नहीं इन के अर्थों को हृदय में धारण करना भी कठिन हो जाने कारण व्याख्याओं का भी लेखन तथा मुद्रण आवश्यक हो गया। यह आज की ही स्थिति नहीं। हजारों वर्ष पूर्व ही यह स्थिति संमुख धा चुकी थी। उसी समय अर्थ का अर्थ न हो, इस आशय से भूतानुकम्पी शंकराचार्य भगवान् भाष्यकार ने इन सब पर भाष्य लिखा और वास्तविक अर्थ को हमेशा के लिये सुरक्षित कर दिया।

बहिर्मुखता जैसी-जैसी बढी; वैसे-वैसे जो बातें उपनिषदों के साथ हुई, वही भाष्यों के साथ भी होने लगी। अर्थात् भाष्यों का आशय सम्बन्ध भवगत करना भी कठिन होने लगा। भाष्य प्रसन्न होने साथ गंभीर भी होने से भाष्याशय को स्थायीरूप से हृदयंगम कर रखना दुष्कर होने लगा। तब इन भाष्यों पर आचार्य श्री आनन्द गिरि जी ने टीकाये लिखी। उन्होंने भाष्याशय को तो स्पष्ट किया ही, माथ ही स्थान-स्थान में भाष्य में अगोचर हुई दुर्लभ ग्रन्थियों को भी खोलकर रखा जिससे एक समस्या का हल हो गया अर्थात् उपनिषदों का वास्तविक रहस्य समझने के लिये आवश्यक सामग्रियों का आकलन आनन्दगिरिजी व्याख्या में आकर पूर्ण हुआ।

किन्तु समस्या एक नयी और आ गयी। वह यही कि अध्ययन की संप्रदायागत परिपाटी ही टूटने लगी। गहन अध्ययन का अभाव भी होने लगा। माधारण लोगों की बात तो दूर, संस्कृत के अध्येताओं में भी आत्मविश्वास का अभाव होने लगा। साधारण लोग तो संस्कृत को सचमुच देव-भाषा ही समझने लगे। अर्थात् यह देवताओं की ही शब्दों की भाषा है, अपनी नहीं; जो समझने लगे। इनका नतीजा यह निकला कि ओपनिषद् अर्थ से लोग फिर दूर होने लगे। लोग अनुभवशून्य होने लगे। इसी मोके पर हमारे पूर्वोक्त भौतिकविज्ञान का भी आक्रमण हुआ। कुछ पादप्रसारियों ने इस पर धोपणा की कि जो विज्ञान की कसौटी में खरा उतरे; वही बात सही हो सकती है। विज्ञान के बाह्यदाम्बरो में फँसे हुए लोग स्वर में तान मिलाने लगे। अध्यात्मसाधना में भ्रमल व्यक्तियों ने कर्त्तल बजाना शुरू किया। फिर क्या था, इसी की रागलहरी में सामान्य लोग बहने लगे।

इन सब के मूल में भोग वासना काम कर ही थी जो भौतिकविज्ञान के लज्जित मुख भोग से उदभूत हुई किन्तु उसके भी मूल में ओपनिषद् अर्थ का अज्ञान ही सक्रिय रहा "रागो लिङ्गम-बोधस्थ" यही अनुभवियों का अनुभव है। दूसरों की तो बात क्या, कई सत भी इस अज्ञान के घेरे में आकर भौतिक विज्ञान का महिमागान करने लगे और अपने लक्ष्य से दूर हटते गये। हम पहले कह आये हैं कि ओपनिषद् पुरुष का साक्षात्कार भले न हो, परोक्षज्ञान भी यदि होता तो ऐसी स्थिति उपस्थित नहीं होती। सर्वथा अज्ञान का ही यह परिणाम है, और वही भारत में घटित हुआ।

यदि उपनिषद् भाष्य एवं उनकी व्याख्याओं को ठीक तरह से समझ लिया होता तो भी तपा-कथित विज्ञानवादियों को यह मालूम हो जाता कि यह आत्मतत्त्व भौतिकविज्ञान की कसौटी पर कसने

की चीज नहीं है। सामान्य लोग भी समझने लगते कि औपनिषद् ज्ञान और भौतिकविज्ञान दो भिन्न मार्ग हैं—“दूरमेते विपरीते विपूची”। दोनों का अपना-अपना रास्ता भलग है। एक को दूसरे के साथ जोड़ना संभव नहीं है। चन्द्रमा के आलोक में दिन को, या सूर्य के आलोक में कोई रात को देखना चाहे, वैसे ही भौतिकविज्ञान के आलोक में आत्मतत्त्व को देखने की चेष्टा है। उपनिषदों के अध्ययन मात्र से भी इतनी भूल का निवारण करना संभव था। शर्तें उममे इतनी ही कि जो अध्ययन हो, वह निष्प्रति हो। एतदर्थ दो कार्य आज के समय परम आवश्यक हो गये हैं; एक तो सश्रुतज्ञों के लिये करना है जो स्वयं अध्ययन पर आगे दूसरों को अध्यापन से समझावें। दूसरा सामान्यजन के लिये करना है जो ठीक ठीक अर्थ के जानने के इच्छुक हो।

इन में प्रथम कार्य भाष्य एवं व्याख्या के दुर्बोध अंशों को सुगम बना कर किया जा सकता है और वह कार्य ऋषिकेश कैलास आश्रम में कभी से चालू किया गया था और कब का पूर्ण भी हो गया था जिसका समय-समय पर विस्तार भी हुआ। भाष्यों पर कैलास आश्रम की टिप्पणियाँ संत समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये उक्त कार्यकलाप का सृतिमान् स्वरूप हैं। भाष्य तथा टीका का अर्थ समझने में ये अत्यन्त उपयोगी हैं। कैलासाश्रम के टिप्पणी संप्रदाय में परम पूज्य प्रातःस्मरणीय अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराजकृत टिप्पणियाँ परम उत्कृष्ट हैं। परन्तु खेद की बात यही रही कि ये टिप्पणियाँ जनसाधारण के लिये आज तक अप्रकाशित ही रही। दूसरा कार्य (सामान्यजन भी जिससे औपनिषद् रहस्य आसानी से समझें) यह था कि भाष्यों का सरल सुबोध हिन्दी अनुवाद किया जाए। यद्यपि यह कार्य गीताप्रेस गोरखपुर आदि स्थानों से भी संपन्न किया गया था। किन्तु भाष्य-टिप्पणियों के अभाव में वह अनुवाद “लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति” वाली बात को चरितार्थ कर रहा था। ये टिप्पणियाँ अध्यापकों के लिये तो लोचन सदृश हैं। इनके साथ अनुवाद हो तो ही पूरा भाष्याशय समझ में आ सकता है।

इन दोनों कार्यों की पूर्ति के लिये कैलासाश्रम की शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में वर्तमान महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज ने सटिप्पण सानुवाद सम्बन्धमा उपनिषद् भाष्य मुद्रण प्रारम्भ कर दिया है जिसकी प्रशंसा जितनी की जाय; अल्प ही है। माण्डूक्योपनिषत् का प्रकाशन कुछ साल पहले ही हो चुका था। हाल में ही ईशावास्य तथा मुण्डक का मुद्रण भी हो गया है और सब से बड़ी उपनिषद् बृहदारण्यक प्रकाशित हो रही है।

बृहदारण्यक आकार में बृहत् तो है ही, तत्त्वप्रतिपादन की दृष्टि से भी इसकी विशालता विद्वज्जननिर्विवाद है। तदनुरूप ही इस पर टिप्पणी भी उमय दृष्टि से बृहत् है। अर्थात् जगह-जगह सुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक श्लोकों का उदाहरण देते हुए टिप्पणी लिखी गयी है जो सबको विशेष बोधदायी एवं आनन्दकारी है। इस उपनिषत् का भाष्यानुवाद डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जो ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है। भाषा प्रवाह को कायम रखते हुए ही कोष्टकों में व्याख्येय अंश की व्याख्या भी जो की गयी है, वह उनकी अपनी विशेषता है। अति अमसाध्य इस कार्य का जिस द्रुतगति से संपादन हो रहा है, उसे देखकर कोई भी धन्य-धन्य कहे बिना नहीं रहेगा।

हमें विश्वास है कि इस प्रशस्तनीय कार्य से हमारा अध्यात्मविज्ञान फिर एक बार चमक उठेगा। लोगों को औपनिषद् ज्ञान में रुचि बढ़ेगी। “स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्” के अनुसार निर्भयता का मार्ग प्रशस्त होगा। मैं उक्त प्रकाशन का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।



श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीजय ब्रह्मनिष्ठ मुम्बापुरीस्थ संन्यासाश्रमपीठाधीश्वर न्याय-  
वेदान्ताचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री विमुक्षित स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी महाराज द्वारा

## अभिनन्दन

हमारे वैदिक साहित्य के मूल-ग्रन्थ भाग को उपनिषद् शब्द से कहा गया है। उपनिषदों को ही वेदान्त कहते हैं। 'वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्' इस उक्ति से यही सिद्ध होता है कि उपनिषद् का ही अपर नाम वेदान्त है। वेदों का चरम भाग या अन्तिम साधर्म्यभूत ही वेदान्त है।

वेद क्या है ? थोड़ा इस पर भी बिचार करे। 'इष्टप्राप्तिपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो वेदयति बोधयति स वेद' अर्थात् जो इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार के अलौकिक उपाय का बोध करावे। "यद्वा ज्ञायन्ते विद्यन्ते लभ्यन्ते वा एतेन धर्मादयः पुरुषार्था इति वेदः" अथवा जिसके द्वारा धर्म प्रादि चार पुरुषार्थों का बोध हो, प्राप्ति हो, उसे वेद कहते हैं। अलौकिक उपाय वेदों में बताये गये हैं। इस विषय में सायणाचार्य ने कहा है—

“अत्यक्षेणानुमित्या वा वस्तुपायो न बुध्यते।  
एत विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता” ॥

वेदों की वेदता इसी में है, जिसको अत्यक्ष प्रमाण या अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा न जाना जा सके, ऐसी वस्तु का बोध करावे। इष्टान्त रूप यो समझे—स्वर्ग नरक-धर्म-अधर्म आदि वस्तुएँ ऐसी हैं जो कि अत्यक्ष आदि के प्रमाणों के द्वारा नहीं जान सकते हैं। जिस स्वर्ग के विषय में कहा जाता है—

“धनं दुःखेन सम्मिन्नं न च अस्तमन्नन्तरम्।  
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वपदास्पदम्” ॥

एतत्स्वर्ग स्वर्ग का साधन यज्ञादि धर्म है। न तो स्वर्ग अत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है न स्वर्ग के साधन, न उपाय ही। दोनों का अलौकिक उपाय न होकर वैदिक यानी अलौकिक उपाय है।

वेद एक बड़े श्रीधरालय के समान है। अधिकारी के अनुसार सभी पुरुषार्थों का उपदेश करता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि वेदों में तो भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं, मतभेद है। धर्म तो एक होना चाहिये। किन्तु वेदों को तो सबको ही हितोपदेश करना है और और सब को ही हित करना है। इसलिए सबके ही उपयोगी उपदेश उसमें प्राप्त होते हैं। कामनाओं की पूर्ति के उपाय विविध कम वेद में विस्तार से बताये गये हैं, जिससे स्वर्ग आदि फल का प्राप्ति होती है।

जो मनुष्य पूर्वकृत कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धान्त करण हो चुके हैं, जिनकी कामनाएँ दब चुकी हैं, उनके लिए मारण्यक और उपनिषदों में उपासना और तत्त्वज्ञान का उपदेश भी वेदों में दिया गया है। यदि वेद केवल निष्काम पुरुषों को ही उपदेश देते तो रजोपुण प्रधान सकाम पुरुष वेदों के उपदेशरूप लाभ से वंचित रह जाते। तब सब जगत् का उपकार वेदों के द्वारा कैसे होता ?

वेदों के प्रवृत्त करने वाले परमात्मा पर भी यह कसकड़ा आता कि उसने कुछ थोड़े में सत्त्व-प्रधान प्राणियों को ही उपदेश दिया। इसलिए सब प्रकार के प्राणियों के उद्धार के लिये ही वेदों को प्रयत्न करना पड़ा है। वेद सबको ही अपने अधिकार के अनुसार उपदेश देता है—कर्मकाण्ड के अधिकारियों को कर्मकाण्ड द्वारा उनकी अभिलाषा की पूर्ति के साधन बताता है, उपासना के अधिकारियों को उपासना का उपदेश देकर प्राणों बढ़ाता है और ज्ञान के अधिकारियों को तत्त्वज्ञान का का उपदेश देकर सीधा मोक्षमार्ग में प्रविष्ट कराता है।

अन्य धर्म केवल एक मार्ग बताते हैं। जो उस मार्ग में चल सकें, वे अपना कल्याण साधन करें; जो न चल सकें, उनके लिए कोई उपाय नहीं। जैसे हमारे देश भारत में ही जैन और बौद्ध धर्म हैं, वे वेद को नहीं मानते। अतएव वे अपने अधिकारभेद भी नहीं रखते। उनके धर्म केवल निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देते हैं। इसकी परीक्षा की जाय तो प्रतिशत बहुत ही अल्प अल्प निवृत्ति-प्रधान पुरुषों का प्राप्त होगा। शेष अपना कल्याण का साधन नहीं कर सकते हैं, यही सिद्ध होता है।

एव ईसाई धर्म उदभावक हजरत ईसा का एक उपदेश प्रमिष्ट है 'जो कोई तुम्हारे एक गाल पर धप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। बदला लेने का प्रयत्न कभी न करो'। इसमें सन्देह नहीं कि उपदेश अत्यन्त शान्ति प्रधान और कल्याणकारक एव उच्च श्रेणी का है। परन्तु देखना यह है कि इनका पालन कितने मनुष्य कर सकते हैं। फिर भी इस धर्म के अनुयायी बनने वालों में नित्य लड़ाई-झगडा, नित्य भिन्न-भिन्न प्रकारों से मीरों के नाश की प्रवृत्ति और सदा ही बदला लेने की भावना देखी जा रही है। किन्तु वैदिक सनातन धर्म में ऐसी बात नहीं।

अधिकार भेद पर चिढ़कर बहुत लोग वैदिक सनातन धर्म पर उलटा आक्षेप करते हैं। आक्षेपकर्ता पर यह दृष्टान्त लागू होता है। किसी नगर में दो बंद आएं। उनमें एक बंद के पास एक ही नुस्खा था। चाहे कोई शिर दर्द वाला धावे या कोई पेट दर्द वाला, वह सबको एक ही नुस्खा बता देता था। यह तो वही कहावत हुई जैसा कि किसी कवि ने बंद का उपहास करते हुए कहा है—

‘यस्य कस्य तरोर्मूल येन केनापि पेपितम् ।  
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यदा तदा भविष्यति’ ॥

इसके अलावा दूसरा बंद जो नगर में आया था, वह प्रत्येक प्राणी के भिन्न-भिन्न रोगों की परीक्षा करता। तब सब बातों का बिचार करके एक-एक रोग में भी अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग बताता। अब कहिए कि इन दोनों बंदों में से अधिक सोकोपकार किसके द्वारा होगा। निःसन्देह यही कहेगे कि अधिक उपकारक तो दूसरा बंद ही है। बस यही न्याय यहाँ भी समझिए। जैसे बंद स्थूल शरीर का चिकित्सक होता है, वैसे ही अर्माचार्य सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण व्यावहारिक आत्मा के चिकित्सक हैं। इसी उद्देश्य से सनातन धर्म में अधिकारभेद-भाव माना गया है। कर्मकाण्ड का अधिकारी कर्म करे, उपासना करे, उपासक भी निर्गुण निराकार को उपासना नहीं करते, उनके लिए मनुष्य नाना रूपों की व उन रूपों की मूर्ति आदि की उपासना बतायी गयी है। अन्तिक उन्नति करता हुआ मनुष्य अन्तिम सर्वात्मिक ज्ञान पर पहुँच जाता है। सनातन धर्म का यही विश्वास है कि अधिकारानुसार अन्तिक उन्नति का मार्ग सब को बताना चाहिये। एक मार्ग पर हठ करने से सबका लाभ नहीं हो सकता।

जिसे हम कहते हैं कि अन्त मे ज्ञानकाण्ड द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह ज्ञानकाण्ड उपनिषद् को ही कहते हैं। यद्यपि उपनिषदों मे अनेक प्रकार की विद्या है—'ऊर्ध्वमूनोऽवाक् वाखा एवाऽवस्थ सनातन' इत्यादि से अद्वय विद्या, सदसद् विद्या, ज्ञानरुमं विद्या, प्राण विद्या, योग विद्या, प्रणव विद्या, पञ्चाग्नि विद्या, विराट् विद्या, देव विद्या, नक्षत्र विद्या, भूत विद्या, यज्ञ विद्या इत्यादि विद्याओं का अथ तत्र निरूपण किया गया है, फिर भी उपनिषद शब्द का मुख्यरूपेण ब्रह्मविद्या अर्थ है। उपनिषद् शब्द के प्रत्येक अवयवभूत शब्दों का पर्यवसान अथ ब्रह्मविद्या मे ही है। पद्लु घातु विशाग्न-गति-अवसादनार्थ मे पाणिनि महर्षि ने स्मरण किया है। वातिककार सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है—

“उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यत् ।  
निह-त्यविद्या तज्जं च यस्मादुपनिषद्भवेत् ॥  
निहत्यानर्थमूला स्वाविद्या प्रत्यक्षमथा परम् ।  
गमयत्यस्तसंभेदमतो योपनिषद्भवेत् ॥  
प्रवृत्तिहेतुं शेषांशास्तन्मूलोच्छेदकस्ततः ।  
यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषत्प्रता” ॥

यद्योक्त विद्याजनक होने के कारण उपचाररूप के ग्रन्थ को भी 'सागल जीवनम्' की तरह उपनिषद ग्रन्थ को भी ब्रह्मविद्या शब्द से कहा जाता है। सभी उपनिषदों मे बृहदारण्यकोपनिषद का कलेवर बड़ा है। सुरेश्वराचार्य जी ने भी कहा है—“बृहत्वादग्रन्थतोऽर्थान्च बृहदारण्यकं मतम्”। भाष्यकार भगवत्पाद ने भी जैसा विशद शोध विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यक पर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद् पर नहीं लिखा। अतः यह उपनिषदों मे सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जा सकती है। बड़ी खुशी की बात है कि बृहदारण्यकोपनिषद को शाङ्करमाध्य आनन्दगिरिटीका, टिप्पण, श्रीडपत्र मन्त्र व भाष्यानुवाद सहित लब्धप्रतिष्ठित ऋषिकेश स्थित कैलास आश्रम के महामण्डलेश्वर अनन्त-श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज के महान् प्रयत्न द्वारा कैलास आश्रम के शताब्दी महोत्सव के अवसर मे प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी बड़ी आबश्यकता थी। जिज्ञासु-मुमुक्षुओं को इसकी प्राप्ति से बहुत ही आनन्द का अनुभव होगा। एतदर्थ कैलाशाश्रम के महामण्डलेश्वर जी को जितना धन्यवाद दिया जाय वह अल्पमात्रा मे ही होगा। सभी लोग इसका अलभ्य लाभ उठावें, यही हमारी हार्दिक इच्छा है।

संस्कृत जगत के प्रकाण्ड विद्वान्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के  
कुलपति प्राचार्य डॉ. बदरीनाथ शुक्ल जी द्वारा

## अभिनन्दन

वेद विषय का गौर प्रधानतया भारतवर्ष का सर्वप्राचीन वाङ्मय है। भारत के प्राचार्यों ने वेदों का पर्याप्त अनुशीलन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि वेद अपौरुषेय वाणी है। इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा परिधर्षन की स्वतन्त्रता किसी भी पुरुष को नहीं है; चाहे वह सर्वज्ञ ही क्यों न हो। भारत में वेदों के सम्बन्ध में यह मान्यता कोई अट्टा अथवा अन्धविश्वास के कारण नहीं है किन्तु वेद में उपलब्ध उन शारद्वत सदेवों के कारण है जो निष्पक्ष रूप से सम्पूर्ण मानव जाति के उद्धार एवं उत्थान में सहायक है। रचनाशीली एवं प्रतिपाद्यतत्त्वों की दृष्टि से वेदों के अनेक विभाग किये गये हैं। उपनिषद् भी वेदों का एक विधेय वर्ग है जिसमें आत्मतत्त्व का विशद वर्णन किया गया है। इन उपनिषदों का वैदिक वाङ्मय में सर्वाधिक महत्त्व केवल इस कारण है कि उनमें मनुष्य के आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य सत्ता के किसी क्षेत्र में कोई भी कार्य क्यों न करे किन्तु उसकी प्रवृत्ति का सर्वत्र एक ही मूल है—उसके अपने आत्मा की तृप्ति। उपनिषदों की यह ध्येयत मुष्यत् अभिध्याति है क्योंकि मनुष्यों के जितने भी कार्य हैं, सभी आत्मतुष्टि के लिये हैं। मनुष्य अपनी आत्मा के सम्बन्ध में सत्य जानकारी करे क्योंकि यदि वह अनात्मा को आत्मा समझ कर प्रयास करेगा तो उसका सारा प्रयास आत्मा के लिये नहीं होकर अनात्मा के लिये होगा। फलतः उसके सारे प्रयत्नों से उसके आत्मा की तुष्टि कभी नहीं होगी। इसलिये उपनिषदों ने "आत्मानं विद्धि" "आत्मा भाउरे इष्टव्यः" इत्यादि रूप में आत्मज्ञान का सम्पादन करना ही मनुष्य का पहला कर्तव्य बतलाया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा का ध्येयत विस्तृत विवेचन हुआ है। उसमें अनात्मदष्टि की सर्व दुःखों का मूल बतलाते हुए आत्मदर्शित्व को सर्व श्रेयो का मूल बतलाया। उसके प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही एक वाक्य उपलब्ध होता है जिसका आशय यह है कि सम्पूर्ण वेद प्रत्यक्ष गौर अनुमान से ज्ञात न हो सकने वाले इष्ट की प्राप्ति गौर अनिष्ट के परिहार के उपाय का प्रतिपादन करता है गौर ये दोनों ही बातें सम्पूर्ण मानवजाति के लिये उपयोगी है। वेद की इस महिमा का वर्णन करते हुए मरणोत्तर मनुष्य के अस्तित्व अनास्तित्व के दाङ्का से प्रारम्भ कर वर्णन के उत्तर में आत्मा का अस्तित्व है, इस निर्णय की स्थापना की गई है। यो तो स्पष्ट है कि सभी उपनिषद भेददष्टि को सत्ता की समस्त दुराध्यायों का कारण बताते हुए आत्मैक्यदष्टि को ही ध्येय का साधन बतलाती हैं, किन्तु इस तत्त्व का प्रतिपादन बृहदारण्यक उपनिषद् में जिस विस्तार एवं सत्त्व से किया जाता है, उसका स्थान पट्वितीय है। इसलिये भारत के अनेक प्राचार्यों ने बृहदारण्यक उपनिषद् की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया कि उनके द्वारा प्रतिपादित उपायों को अनात्मसेन जनसामान्य को समझाया जा सके तथा उज्ज्वलित फलो से लाभान्वित कराया जा सके, यही कारण है कि विद्यावाचस्पति स्वामी श्री विश्व-देवानन्द गिरि जी ने महाराज मूल बृहदारण्यक उपनिषद्, उस पर शाकरभाष्य तथा आनन्दगिरिविरचित

भाष्यटीका पर एक ऐसा टिप्पण एवं प्रभूतपूर्व श्रोत्रपत्र लिखने का संकल्प किया, जो उपनिषद्भाष्य एवं आनन्दगिरि के गूढ़ तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिये निश्चल शाश्वत प्रदीप का कार्य कर सके। मैंने इस टिप्पण तथा श्रोत्रपत्र को सावधानी से देखा है तथा उसे इस योग्य पाया है कि उसके बारे में निःसंकोच कहा जा सके कि वह मूलभाष्य तथा आनन्दगिरि के लिये एक वास्तव प्रकाशस्तम्भ है। इस टिप्पण से भाष्यादि को समझने में पद-पद पर सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अनेक स्थलों का हृदयस्पर्शी विवेचनावलोकन टिप्पणकर्ता स्वामी श्री विष्णुदेवानन्द गिरि जी को अभिनन्दित करने के लिये प्रेरित करता है। अल्पविद्या के प्रवर्तक आचार्यों से तथा विश्वनाथ से हमारी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के रचना के उद्देश्यों को पूरा करने में सहायता करें। मुझे पूरी आशा है कि इस टिप्पण तथा श्रोत्रपत्र की सहायता से अनेक लोगों को उपनिषद् तत्त्व हृदयंगम होकर आत्मोत्थान की दिशा की प्रशस्त करेगा।

इस संदर्भ में मैं कैलाश आश्रम अताबदी समारोह महासमिति के अध्यक्ष महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्द गिरि जी महाराज को भी अभिनन्दित करने में प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ, जिन्होंने इस प्रकाशन की महत्ता को समझा तथा उनको सम्पन्न करने का प्रयत्न प्रयास किया।

वीतरागशिरोमणि, कैलास आश्रम के मानव न्यासी  
श्री १०८ स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज  
द्वारा

शिव सम्मति

“श्रुतवाक्येभ्यो मन्तव्यश्रोतपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येय एते ब्रह्महेतवः॥”

आत्मा का श्रवण श्रुतिवाक्यों से करना चाहिए अर्थात् शास्त्र किस वस्तु (जीव-ब्रह्म के भेद या अभेद) का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार प्रमाणगत सशयनिवृत्ति के साधन को ध्वज कहते हैं। श्रुतियों से आत्मा का मनन करना चाहिए अर्थात् आत्मा परमात्मा भिन्न हैं या अभिन्न; इस प्रकार प्रमेयगत सशयनिवृत्ति के साधन को मनन कहते हैं। मनन के पश्चात् उस तत्त्व में अपनी निरन्तर स्थिति बनाने का नाम ही निदिध्यासन है। आत्मतत्त्व के साक्षात्कार में ये तीनों ही कारण हैं। लोग इधर-उधर की बात सुनकर या आधुनिक पुस्तकें पढ़ सुनकर अपने आपको थोथिय समझने लगते हैं, परन्तु यह शास्त्रमर्यादानुकूल नहीं है। शास्त्रपरम्परा इससे भिन्न है। इस परम्परा को देखना ही तो आप श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश में आकर आज भी देख सकते हैं, जो ग्रन्थ उपलब्ध होनी बहुत कठिन है। इसका एकमात्र कारण श्री कैलास आश्रम के संस्थापक आद्य आचार्य श्री १०८ स्वामी धनराज गिरि जी महाराज की अटूट निष्ठा एवं श्री अभिनवचन्द्रेश्वर की महती कृपा जो इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। श्री कैलास आश्रम के पीठाचार्यों तथा अन्यान्य वीतराग सन्तों ने इसकी सुरक्षा के लिये कितना परिश्रम, कितना त्याग, कितना शास्त्र का

मन्यन किया है, वह तो आपको बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य, भानन्दगिरि टीका तथा 'गोविन्द-प्रसादिनी' टिप्पणी एवं क्रीडपत्र सहित अध्ययन-अध्यापन से भवगत होगा। प्रस्थानत्रयी के ऊपर श्री कंलास आश्रम की टिप्पणियों में से सर्वाधिक विस्तृत टिप्पणी बृहदारण्यकोपनिषद् के ऊपर है। दूसरी प्रसन्नता की बात यह है कि ग्रन्थ के प्राशय को खोलने के लिये क्रीडपत्र भी साथ में लिखा है। यदि श्री कंलास आश्रम के इन महामनीषियों ने यह टिप्पणी तथा क्रीडात्र नहीं लिखा होता तो इस बृहत्काय ग्रन्थ के शाङ्करभाष्य का तथा भानन्दगिरि टीका का तात्पर्य निर्णय करना प्रत्येक के वश की बात नहीं थी। ये ग्रन्थ के अर्थ को प्रकाशित करने के लिये मानो दिव्य ज्योति है। टिप्पणी तथा क्रीडपत्र श्री कंलास आश्रम की निजी निधि है। यह अभी तक आश्रम के पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई थी। जिसका अध्ययन-अध्यापन परम पूज्य प्रातःस्मरणीय श्री तीर्थ जी महाराज प्रभृति महात्मगण प्रकाशित करते-कराते हैं। इस निधि से सबको लाभ हो ऐसी दयार्द्रभावना से सबके समक्ष प्रकट करने का परम श्रेय वर्तमान पीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज की है। भगवत् कृपा से उनके हृदय में यह प्रेरणा हुई कि प्रातःस्मरणीय ब्रह्मलोक विद्यावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज का टिप्पणादि लेखन का मगलमय प्रयास चिरकाल तक जिज्ञासुजनों को मगल प्रदान करता रहे, उनके हृदयान्वकार को दूर करने के लिये दिव्य ज्योति का काम करता रहे, इसी भावना से श्री महामण्डलेश्वर जी ने बृहदारण्यकोपनिषद् क्रीडपत्रादि के सहित प्रकाशित करवाया, हस्तलिखित से स्वल्प काल तक थोड़े जिज्ञासुओं का उपकार हो सकता था परन्तु प्रकाशित होने पर चिरकाल तक बहुतों का उपकार होगा।

नव प्रकाशित इस बृहदारण्यकोपनिषद् में दूसरी विशेषता यह भी है कि शाङ्करभाष्य का अनुवाद राष्ट्रभाषा में श्रीमान् डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने साधारण जिज्ञासुजनों के लामार्थ किया है। अब यह ग्रन्थ जैसे विद्वानों के लिये उपयोगी है, वैसे ही साधारण जिज्ञासुजनों के लिये भी लाभप्रद होगा। अन्य ग्रन्थों में जहाँ राष्ट्रभाषा अनुवाद है, वहाँ भानन्दगिरि टीका उपलब्ध नहीं। जहाँ भानन्दगिरि टीका है, वहाँ शाङ्करभाष्यादि का अनुवाद नहीं मिलता लेकिन इस ग्रन्थ में दोनों ही हैं। श्रीमान् डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने इसके सम्पादन कार्य में प्रयत्न परिश्रम किया है। भगवान् से उनकी मगलमय कामना करते हुए शतश धन्यवाद देते हैं।

श्री कंलास आश्रम के मनीषियों ने टिप्पणी आदिकों का प्राकट्य करने में कितना मनन किया होगा, यह तो पाठकगण अध्ययन के समय ही जान सकेंगे तथा वर्तमान पीठाधीश्वर जी महाराज ने इसके प्रकाशन में अत्यधिक परिश्रम किया है। खासकर आश्रम के शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में ऐसे बृहत्काय ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये एक कंलास विद्या प्रस भी लगाना पड़ा। उसमें बहुत सी कठिनाइयों का सामना करते हुये भी प्रकाशन कार्य सम्पन्न कराया। इन सब विभूतियों के हम ऋणी हैं। भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इन महापुरुषों का परिश्रम सफल हो। जिज्ञासुजन इसका अध्ययन कर कल्याण के भागी बनें। यही हमारी शुभ कामना है। ओ३म् शम्।

## भूमिका

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमो महद्भ्यो गुरुभ्यः ।

नमः श्रुतिश्रिरपचाषण्डमार्तण्डमूर्तये । बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने ॥

पद्वक्त्रमानससरःप्रतिलब्धजन्मभाष्यारविन्दमकरन्दरसं पिवन्ति ।

प्रत्याशमुन्मुखविनीतविनेयभृङ्गाः तान् भाष्यकवित्तकगुरुन् प्रणमामि मूर्ध्ना ॥

न स्तोमि तं व्यासमशेषमर्थं तस्य ह न सूत्रैरपि यो बध्न्व ।

यिनापि तैः सङ्प्रशितालितार्थं तं शङ्करं नोमि सुरेश्वरं च ॥

श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान्वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान् ॥

विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान् कुपालून् श्रमस्तुगुरुन् सततमेव नमामि मूर्ध्ना ॥

अवेदानीं प्रकाशयते श्रीमद्भगवत्पादप्रणीतं बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम् आनन्दगिरिव्याख्यया, विषमस्थलटिप्पण्या महामण्डलेश्वरविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिश्वरैः प्रणीतेन श्रोतृपत्रेण संवलितं राष्ट्रभाषानुवादमहितं च प्रियपाठकाणां वेदान्तविद्याविनोदरसिकानां प्रमोदाय च । सुविदितमेवं तस्मैषां भारतीयानां ऋषिवंशप्रसूतानामस्माकं परमं सवस्वं वेदानाम् । ते च ऋग्वेदादि-भेदेन चतुर्विधाः प्रयन्ते । तत्रास्ति यजुर्वेदः कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोः भित्तिस्थानीयः शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधः । तत्रापि शुक्लयजुर्वेदे काण्वमाध्यन्दिनभेदेन संहिताद्वयं ब्राह्मणं च शतपथामिधं च । शतं पथानोऽध्यायाः यत्र सन्ति, तेन शतपथमिति नाम्ना शीयते । तत्र काण्वशतपथब्राह्मणे सन्ति चतुर्दश-काण्डानि । तत्रापि अन्तिमे काण्डे चतुर्दशे अष्टाध्यायाः विलसन्ति । तत्र चादिममध्यायद्वयं प्रवर्ग्याख्यस्य कर्मणः ज्योतिष्टोमाङ्गभूतस्य प्रतिपादकम् । अत एव तदिदमध्यायद्वयं प्रवर्ग्यकाण्डमिति वैदिक-निकाये प्रसिद्धम् ।

बृहदारण्यकोपनिषदः षडध्यायात्मकत्वम्—चतुर्दशकाण्डस्यावशिष्टाः पङ् अध्यायाः अत एव षडध्यायी बृहदारण्यकोपनिषदभिधीयते, त तु अष्टाध्यायात्मिका । अत एकोक्तं च भगवत्पादैः भाष्यो-पक्रमे 'सैयं षडध्यायी' इति ।

अस्या उपनिषद अध्यायसंख्याविषये वैयर्थ्यं तत्र मूलं तत्परिहारश्च—पुण्यपत्तने आनन्दाश्रम-मुद्रणालये मुद्रिते बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये वातिके च षडध्याया इति । 'उषा वा' इत्यादिरध्यायः प्रथमाध्यायसया मुद्रितः । भगवत्पादाश्च षष्टे चतुर्थे पञ्चमे इति व्यवहरन्तो दृश्यन्ते । अतो पाठकमहा-भागानां छात्राणां जिज्ञासूना च भ्रान्तिर्जायते । सैयं भ्रान्तिः मुद्रितपुस्तके 'ब्राह्मणक्रमेण तृतीयो-ध्यायः उपनिषत्क्रमेण प्रथमोऽध्यायः' इति प्रत्येकमध्यायोपसंहारपुष्पिकायां दर्शनात् दूरी भवेत् । भाष्यव्याख्यानोपक्रमदृष्ट्यापि प्रथमोऽध्याय इति व्यवहारस्त्वमर्थनीयः । तथादिममध्यायद्वयं प्रवर्ग्याख्यकर्मनिरूपणपरम् । 'उषा वा अथवत्ये'त्यादिप्रमाणस्य ब्राह्मणक्रमेण तृतीयाध्यायस्य उपनिष-त्क्रमेण प्रथमाध्यायस्यैव भाष्यमकारि भगवत्पादैः । अत एव भगवत्पादा वमाधिरे—

"यत् शिष्याचार्यसंवादेन च पठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतमिति, अधराराणां चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थः तथा प्रतिपत्तव्योऽपि"—इति ।

प्रायशो व्याख्याकारोऽपि तथैव व्यवहरन्ति । अतो वस्तुवृत्तमनुसन्धानैरन्धमाभिरपि प्रथमो-  
ऽध्याय इत्येव व्यवहार कृत इत्यवघेयं विबुधैरिति । एतेन अष्टाध्यायात्मक बृहदारण्यकमिति  
केपाचित्कयन चित्रयोपपत्तिवम् ।

बृहदारण्यकशब्दनिर्वचनम्—इयं च षष्ठ्यायी शब्दतोऽर्थतश्च बृहत्त्वात् अरण्येऽधोयमान-  
त्वान्च बृहदारण्यकमिति शिष्टेऽर्थेऽह्नियते । “एतदारण्यक सर्वं नाऽब्रवी श्रीतुमहंती”ति स्मरणात् ।  
अत एव महर्षिका केचन याज्ञवल्क्यकाण्डमेवाध्यापयन्ति न तु मधुकाण्डखिलकाण्डे । प्रवचनकाले  
सास्तानर्थविशेषान् बोधयन्त्येव केवलम् । इयं चोपनिषद् ‘उषा वाऽप्रवक्ष्य मेध्यस्य शिरः’ इत्याद्युपक्रमा  
काण्डशतपथब्राह्मणान्तर्गता, न तु माध्यन्दिनीयज्ञतब्राह्मणान्तर्गता । सा हि “द्वया ह वै प्राजापत्या”  
इत्याद्युपक्रमा । भगवत्पादै काण्वशाखोपनिषद् भाष्य व्यवचि । न तु माध्यन्दिनीयाया उपनिषद् ।  
उभयत्रापि तत्र तत्र पाठभेदा उपलभ्यन्ते । ते च भगवत्पादैस्तत्र तत्र प्रादक्षिण्येऽप्यभेदाश्च ।

अस्या उपनिषद्ः काण्डत्रयात्मना विभागवर्णनम्—तत्र षष्ठ्यायी बृहदारण्यकोपनिषत् ।  
तत्र सन्ति षष्ठ्यायी । तेषां काण्डत्रयात्मना विभाग भाष्यकारादिभिः प्रादक्षिण्ये । आदितोऽध्यायद्वय-  
मागमकाण्ड ( मधुकाण्डम् ) आगमैकप्रधानत्वात् । द्वितीयं च याज्ञवल्क्यकाण्ड मुनिकाण्ड चेति गीयते ।  
वादजल्पकयामधिकृत्य प्रवृत्तत्वेनोपपत्तिप्रधानत्वात् । तृतीयं च खिलकाण्डम् अथवा परिशिष्ट-  
काण्डमिति च व्यपदिश्यते ।

खिलशब्दार्थरूपणम्—प्राचीनैराचार्यैः खिलकाण्डस्येदं सङ्गणमुक्तम्—‘कर्मापासनब्रह्म-  
काण्डेषु त्रिष्वपि यथावद्वक्तव्यमवशिष्टं तस्य सर्वस्य अभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वं खिलत्वम्’ । यथा  
बृहदारण्यके षष्ठ्यध्याये “पूर्णमद पूर्णमिदमि”त्यादिना ब्रह्मतत्त्वमभिहितम् । “ॐ क ब्रह्म ख ब्रह्म”  
इत्यादिभिः ‘यो ह वै ज्येष्ठ च श्रेष्ठ च वेद’ इत्यादिभिः वाक्यैः नानाविधानि उपासनानि अभिहितानि  
‘स य कामयेत महान् प्राप्नुयाम’ इत्यादिना अन्यस्य कर्म अभिहितम् । तथा पुत्रविशेषादिकामना-  
युक्तानां तत्कर्मणि अभिहितानि । अतः षष्ठ्यमप्यष्टमो अध्याययोः खिलकाण्डत्वम् । अत एव चतुर्वेदी-  
भाष्यकारैः माधवाचार्यैः बृहदारण्यके षष्ठ्यमप्यष्टमो अध्यायोः खिलकाण्डत्वेन आचार्यैः उपहृतौ, इत्युक्तं  
“अम्भस्य वारे” इत्याद्युपनिषद्भाष्योपक्रमे इति ।

ब्राह्मणस्य मन्त्राध्यायानुरूपत्वेन ईशावास्यबृहदारण्यकयोः संबन्धवर्णनम्—ईशावास्यमि-  
त्यादयो मन्त्रोपनिषद् । तेषां व्याख्यानरूपा बृहदारण्यकोपनिषत् । अनयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरैकार्थप्रतिपादक-  
त्वेनैकवाक्यमता, उभयोरैकार्थप्रतिपादकत्वात् । तत्परश्चाष्टं सङ्गद्वयं इति न्यायात् । मन्त्रेण सक्षेपेणो-  
पार्थस्य प्रतिपादकं ब्राह्मणमिति युक्तम् । अत्र ईशावास्यमित्यादिप्रथममन्त्रे सर्वेष्वपारित्यागेन ज्ञान-  
निष्ठायाः ‘ईशावास्यमिदं सर्वं .. मा गृध कस्यस्त्विदमिति’ ।

अज्ञाना जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसमवे “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा” इति कर्म-  
निष्ठायाः द्वितीयेन मन्त्रेण । अनयोर्निष्ठयोर्विभागं मन्त्रप्रदक्षिणतयोः बृहदारण्यकोपनिषदि प्रदर्शितः ।  
“सोऽहमयं जायामे स्यादि”त्यादिनाऽज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । “मन एवास्यात्मा वाग्जायेत्यादि”  
वचनात् । अज्ञत्वं कर्मत्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तत्फलं सप्तमप्रसंगं । ‘सप्तानानि तपसा  
मेधयाऽज्जनयत् पिता” ( मृ० व० १-४-१ ) । तेषु मृष्टेष्वन्नेषु तस्य पितुः, अहमिदं भवेदमिति आत्मा-  
ध्यासेन मनः प्रादिद्वितरेषु सबन्धाध्यासेनायस्यमानं ससारं प्रमिदं । जायाद्येष्वान्नस्यस्यसासेन चात्मविदा  
कर्मनिष्ठा प्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता । यद्योक्तं बृहदारण्यके “किं प्रजया करिष्यामो येनो



‘नोऽयमात्माऽयं लोकः’ इत्यादिना । अत एव चतुर्थब्राह्मणे “अस्मै लोकस्य कर्मण इति तु कामयमानो-  
ऽयाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्तकाम आत्मकाम इति” (वृ० उ० ४-५-६) ।

भर्तृ प्रपञ्चव्याख्यानेन अर्थागतार्थत्ववर्णनम्—भर्तृ प्रपञ्चाचार्येण भाष्यं भगवत्पादीयभाष्या-  
पेक्षया ग्रन्थतः गुरुभूतं पाठकमानुसारि च । परमवत्त्वे तदिदं लुप्तप्रायं नामशेषमास्ते भगवत्पादैः  
तथान्यैश्च व्याख्यातृभिस्तन्नादितमस्ति । भगवत्पादैस्तु ग्रन्थक्रमानुसारेण वर्णय्यातमिति विशेषः । अत  
एव भगवत्पादैः भाष्योपक्रमे “अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते” (पृ. २) । अत्र वृत्तिशब्देन भाष्यमभिप्रेतम् ।  
अत्राल्पग्रन्था इति वृत्तिविशेषणेन बहुग्रन्थाद्भूतं प्रपञ्चभाष्यादस्य खेसक्षणं सूचयति । अथोक्तमानन्द-  
गिरिणा—

“उवा वा अश्वस्य इति । एतेन चिकीर्षिताया वृत्तेः भर्तृ प्रपञ्चभाष्येणागतार्थत्वमुक्तम् । तद्वि  
‘हृया हे’त्यादि भाष्यनिन्दनभूतिमधिकृत्य प्रवृत्तम् । इयं पुनः ‘उवा वा अश्वस्य’ इत्यादि काण्वभूतिमा-  
श्रित्येति । भर्तृ प्रपञ्चभाष्याद्विशेषान्तरमाह—अल्पग्रन्थेति । अस्या ग्रन्थतोऽल्पत्वेऽपि नायं तस्तथात्व-  
मिति ग्रन्थस्य ग्रहणम्” (पृ. २) ।

तेनेदमवगम्यते—भर्तृ प्रपञ्चभाष्यं भाष्यकाराणां समये विद्वत्समाजे समादरपात्रं विद्वद्भिः  
आदरेणाधोयमानञ्चासीदिति वेदविरुद्धं तदीयमतं निराकृत्य उपनिषदर्थः परिशोधितः परिष्कृतश्च  
भगवत्पादैः । तेन सदारभ्यैव भगवत्पादीयं भाष्यं विद्वद्भिः समादृत्यते स्म इति ।

उपनिषच्छब्दार्थनिर्बचनम्—शब्दो द्विविधः रूढः यौगिकश्चेति । तत्र रूढः समुदायशक्तिरित्य-  
नर्थान्तरम् । समुदायशक्त्याऽर्थबोधकशब्दो रूढ इत्युच्यते । यथा गौरिति । योगः प्रवयवशक्तिः ।  
अथयवशक्त्याऽर्थबोधकशब्दो यौगिक इति सकीर्यते । यथा पाचकोदिशब्दः । प्रकृते उपनिषच्छब्दः रूढो  
यौगिको वा इति जिज्ञासाया यौगिकः एव परिगृह्यते विषयप्रयोजनादिलाभात् । न तु रूढः । उपनि-  
षदुपसर्गद्वयपूर्वकात् “पदलु विशारणगत्यवसादनेषु” इति घातोः कर्तरि क्विप् उपनिषच्छब्दः निष्पद्यते ।  
तत्र गतिः विशारणमवसादनञ्चेति धात्वर्थाः । गत्यर्थमादाय जीवस्य ब्रह्मरूपतां गमयतीत्युपनिषत् ।  
विशारणं क्षिप्रिलकरणम् । अविद्यां क्षिप्रिलमयि । अपसादयत्यविद्याम्, अविद्याप्रयुक्तं कार्यं च निवृत्तोत्पु-  
पनिषत् । अतः उपनिषदपदं यौगिकं ब्रह्मविद्यापरम् । अथोक्तं वार्तिके—

“उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं यतः ।

निहन्त्यविद्यां सत्त्वञ्च तस्मादुपनिषद्भवेत्” ॥ इति ।

अस्यायमर्थः—अत्रोपनीयेति वारद्वयं योजनीयम् । इममात्मानं ब्रह्म उपनीय, अपास्तद्वयं ब्रह्म  
इममात्मानं उपनीयेति । तथा चायमर्थः परितितिष्ठति इमं त्वंपदलक्ष्यमपरोक्षात्मानम् अपास्तद्वयं  
शोधितं तत्पदार्थं ब्रह्म । उपनीय तदात्मतया बोधयित्वा वाक्यजन्यवृत्तिरूपा विद्या अविद्यां निहन्तीति ।  
अतः उपनिषच्छब्दो यौगिकः । तादर्थ्यात् अन्त्येऽपि प्रयोगः । उपनिषदयमोमहे उपनिषदमध्यापयाम  
इति । “आयुर्वै धृतिमिति”वत् लक्षणया प्रयोगः । एतेन यदुक्तं विद्यासामरेण न्यायकल्पसत्तिकायामुप-  
निषच्छब्दः रूढ इति । अत्र पक्षे विषयप्रयोजनादिकं न सम्भ्यत इति यौगिकोऽपि उपनिषच्छब्द इति ।  
तन्निरस्तमिति वेदितव्यम् । यौगिकत्वस्वीकार एव विषयादिकं सम्भ्यते, नान्यथा । भगवत्पादैश्च—  
“संसारव्याविवृत्तुभ्यः संसाहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्राप्तये” इति भाषितम् । यथा  
भूताकाशे रूढस्यापि प्राकाशशब्दस्य “प्राकाशस्तल्लिङ्गात्” इत्यधिकरणन्यायेन ब्रह्मणः अपाधारण-

धर्मदर्शनेन रुद्धि परित्यज्य आसमन्तात् काशत इति आकाश इति योगमङ्गीकृत्य ध्याज्यपृष्ठादिशब्दवत्  
आकाशशब्दस्य योगिकत्वमेवेति सिद्धान्तितम् । अत एव अध्वरमीमांसकैरपि सदित्युक्तं अथवायनैव  
उपपत्ती रुद्धिर्न कल्पिता प्रोक्षणोपवर्धसयोगादित्यधिकरणे । अत उपनिषच्छब्दं यौगिक एव न तु  
रुद्ध इति ।

भाष्यलक्षणम्—वृत्तिशब्देन भाष्य ग्रहणम् । भाष्यलक्षणञ्च यद्योक्तम्—

“सूत्रस्य ‘पटमादाय वाक्यं सूत्रानुकारिभिः’ ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदुः” ॥ इति ।

इदं च लक्षणं टिप्पण्या सुविशदं व्याख्यातमिति द्वितीयपृष्ठस्यटिप्पणी द्रष्टव्या जिज्ञासुभि  
क्वचित् ‘भाष्यस्य भाष्याद्भाष्य’मित्यपि भाष्यलक्षणं कथ्यमानं दृश्यते । तदपि प्रकृते सगच्छत एवेति  
तदपि अत्र स्पष्टमथ ।

अस्या उपनिषदः सर्ववेदान्तार्थप्रतिपादकत्वम्—शब्दतोऽर्थतश्च बृहदियमुपनिषत्सर्वविद्या-  
प्रतिष्ठिताया ब्रह्मविद्याया अपेक्षिताना बहिरङ्गानामन्तरङ्गानाम्बु साधनानां विवेचनमुखेन सर्ववेद-  
वेदान्तशास्त्रत्रमेयजातं काश्चिन्नं सम्यगेवोपपादयति । किं बहुना समेया वेदवाक्यानां काण्डत्रयात्मक-  
विभक्त्यानामभान्तरतात्पर्याभ्यां जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादने पयवस्यतीति । अत एवोक्तं वातिकारम्भे  
सुरेश्वराचार्ये—

“या काण्डोपनिषच्छनेन सकलाम्नामार्थसशोधिनी

सचक्रगुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्ति सता शातये ।

अर्थाविवेकरणं कृतार्थकक्रताशङ्कासमुच्छित्तये

तस्या न्यायवमाश्रितेन वचसा प्रक्रम्यते लेशतः” ॥ इति ।

[ स वा २ ]

अनेन च पद्येन सरससरलपदसन्दर्भेण अर्थगाम्भीर्ययुक्ततन च भाष्यार्थं विवृतं ।  
तथाहि—सकलस्याम्नायस्य त्रिकाण्डात्मकस्य वेदस्यार्थं सम्यगशोध्यतेऽनेन सा सकला-  
म्नामार्थसशोधिनी महातात्पर्यम् । अर्थात् कर्मकाण्डस्वाभावान्तरतात्पर्यं साध्यसाधनभावसंबन्धे  
अन्तःकरणद्विद्वारा ग्रहणार्थमेव । एव देवताकाण्डस्यापि । ब्रह्मकाण्डस्य तु साक्षादेव जीवब्रह्मैक्य  
प्रतिपादनपरत्वं ‘सर्वं वेदा यत्पदमामनन्तीनि’ श्रुते । एव च तत्र तत्र उपनिषत्सु भाषिकेन  
रूपेण प्रतिपादितानां बहिरङ्गणा यज्ञादीनामन्तरङ्गणा शमादीनां प्रतिपादनमुखेन सकलोपनिषदा  
तात्पर्यनिरूपणपरमिदमुपनिषद्गवत्पादीय भाष्यम् । गुरव आचार्या जन्मतः सवज्ञा यतो हि अनुवृत्ता  
शुश्रूपादिना सेविता गुरव गोडपादगोविन्दभगवत्पादा यस्तथोक्ता सता वृत्ति चक्र इत्यन्वयः ।  
सता नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनसम्पन्नानाम् अनपनिवृत्त्युपलक्षितानन्दवाप्तये अर्थात् वातिक-  
तत्फलकमिति । वेदान्तानामद्वैतपरत्वप्रतिपादनं मुख्यं फलं वेदावलम्बिशुक्तकार्तिकोत्थापितशङ्कानिरास  
अवान्तरफलम् आगममूलकयुक्तत्वा लेशतः प्रतिपाद्यते । तस्या लेशतः इत्यनेन अनोदितप्रकाशनार्थमिति  
वेदितव्यम् । तस्या अर्थाविवेकरणं प्रक्रम्यते ।

सबन्धवार्तिकम्—अत्र तस्यास्य कमकाण्डेन सबन्ध इति भाष्यं सबन्धवार्तिकमिति विबुधै-  
रनिगद्यते । अनेन भाष्येन प्राचीनैरुपनिषत्तानां सबन्धानां निरासमुखेन साध्यसाधनभावसंबन्ध उपवर्णितः ।

संवन्धप्रतिपादनपरस्य 'अस्य भाष्यस्योपरि ११३५ (श्लोकाः) वातिकानि प्रणीतानि सुरेश्वराचार्यैः यत्संवन्धवातिकमिति अभ्युक्तं । यत्र वेदान्तशास्त्राभिमत समस्तमेवप्रमेयभातमुपनिबद्धमस्ति । एवमधिकारिभाष्यं प्रयोजनभाष्यञ्चेति महान् दुःखग्राहोऽयं पन्था इति ।

वेदप्रामाण्यनिरूपणम्—प्रातःस्मरणीयानामधेयैः भगवत्पादैः संवन्धप्रतिपादनात्पूर्वं वेदानां प्रामाण्यं सम्प्रसमयितम् । अत्रसिद्धप्रमाणभावानां, वेदानां (वेदान्तानां) संवन्धप्रतिपादनं निष्प्रयोजनमापद्यते । अत एव भगवत्पादाः आदौ वेदप्रामाण्यं समर्थयामासु । तथा च भगवत्पादं य भाष्य "सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतोऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निमग्नं एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरितिष्टत्वादिति" (पृ.५) । अस्यायमभिप्रायस्तथाहि—को नाम वेद तस्य किं लक्षणं कथं तस्य प्रामाण्यमिति जिज्ञासा जायते । अतस्तदाहो निरूपणीयं भवति । सामान्यज्ञानानन्तरं हि विशेषजिज्ञासा समुद्यते । तत्रेदं उच्यते मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयम् अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मकः निमग्नस्वरानुपूर्विकः शब्दराशिरिति । सर्वोऽपि चेतनः इष्टं मे स्यात् अनिष्टं मा भूदिति पर्यपेते । तस्य उपायः लोके प्रत्यक्षेणानुमानेन वाऽवगम्यते, सः लौकिकोपायः यथा विषयादिभोगः औपघसेवा च । यत्र उपायः लौकिकेन प्रमाणेनावगम्यते किन्तु शास्त्रेणैव वेदापरपर्यायेन ज्ञायते स च उपायः प्रलौकिक इति उच्यते । उपाय बोधयति यो ग्रन्थः स वेद इति तत्फलक्षणम् । यथा "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति । अत्र स्वर्गादिरूपस्य इष्टस्य प्राप्तेरुपायः ज्योतिष्टोमयाव । स चानेन विधिवाक्येन प्रतिपाद्यते । अयं औपायः शास्त्रेणैव समधिगम्यते न लौकिकः । अतोऽयं उपायोऽलौकिक इति व्यपदिश्यते । एवं 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इति अनिष्टपरिहारस्यालौकिक उपायः तद्वर्जनमिति वेदादेवावगम्यते । अतः इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरुपायः धर्माधर्मशब्दप्रवेदनीय इति उभयत्र लक्षणसमन्वयः । अत्रालौकिकपक्षेन प्रत्यक्षानुमानेन अनुग्यावर्तते । अनुभूयमानस्य सूक्ष्मन्दनवनितादेः इष्टप्राप्तिहेतुत्वमीपघसेवादेः अनिष्टपरिहारहेतुत्वं च प्रत्यक्षादेवावगम्यते । स्वेनानुभविष्यमानस्य पुरुषार्थसंगतस्य च इष्टोनिष्टप्राप्तिपरिहारहेतुत्वमनुमानेनावसीयते । न सन्तु ज्योतिष्टोमादि स्वर्गप्राप्तिहेतुकलब्धभक्षणवर्जनं हि अनिष्टपरिहारहेतुरित्ययमर्थः ।

शाब्दिकप्रबरेण तार्किकशिरोमणिना वाऽवगन्तुमनुमातुं वा शक्यते तस्मादलौकिको उपायबोधको वेद इति । वेदशब्दश्च यौगिकः उच्छादिगणे पठितः, वृषादिगणे पठितः रूढो धर्ममुष्टिवाचो । अत एवोक्तमभिमुक्तं ।

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता" ॥ इति ।

एवं च प्रागुद्धृतस्य भाष्यस्यायमर्थः समस्तो वेदः कर्मकाण्डदेवताकाण्डज्ञानकाण्डात्मकः इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय बोधयति । अत एव प्रायेण पृष्ठा इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिक उपायः अभीप्सितो भवति । अयं च भाष्यसन्दर्भः भगवता आनन्दज्ञानेन त्रेधा व्याख्यातः ।

'सर्वोऽप्ययं वेदः' इत्यादिभाष्यस्याद्यव्याख्यानम्—तत्र भवानानन्दज्ञानः "एषोऽर्थोऽज्ययनविधियुपातः सर्वोऽपि काण्डद्वयात्मको वेदो मानान्तरानधिगत यदिष्टोपायादि तज्ज्ञापनपरस्तथा चाज्ञातज्ञापकत्वाविरोपात्तुल्य प्रामाण्यं काण्डयोरिति" प्रथमं व्याख्यानम् ।

द्वितीयं व्याख्यानम्—"प्रयवा वेदन वेदोऽनुभवः । स च शब्देतरमानायोग्यो रूपादिहीनत्वात् । 'एतदप्रमेयम्' इति हि श्रुतिः । स चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायस्तस्येव तत्तदात्मनाऽवस्थानात् । 'तच्च

स्यच्चाभवत्' इत्यादिश्रुतेः । स च प्रकाशनः सर्वप्रकाशकत्वात् । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतेः । स च परोऽविद्यातत्कार्यातीतत्वात् । 'विरजः पर आकाशात्' इत्यादि श्रुतेः । एवंरूपो वेदपदवेदनीय-  
दिचदेकरसः प्रत्यक्षातुरेव सर्वोऽपि कार्यकारणात्मकः प्रपञ्चः । 'आत्मवेद सर्वम्' इति श्रुतेः । तथा च  
यथोक्तं वस्तु प्रकाशयन्तो वेदान्ता विधिवाक्यवत्प्रमाणमिति" इति द्वितीयं व्याख्यानम् ।

तृतीयं व्याख्यानम्— तृतीयं च व्याख्यानमिदानीं प्रकाशयते । "प्रत्यक्षादिनाऽनवगतो योऽमा-  
विष्टप्राप्त्याद्युपायो ब्रह्मात्मा तस्य प्रकाशनपरः सर्वोऽप्यय वेदः । तस्यैवाज्ञातत्वात्तत्र कमंकाण्डं  
कमानुष्ठानप्रयुक्तबुद्धिगुह्यद्वारा ब्रह्माधिगतावागदुपकारकम् (परम्परया सहकारीति टिप्पणप्रानु-  
सन्धेया) । 'विविदिधर्मि यज्ञेन' इति श्रुतेः । ज्ञानकाण्ड तु साक्षादेव तत्रोपयुक्तम् । परमपुरुषस्योप-  
निषदत्वश्रवणात् । 'सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुतेः । तद्युक्तं कमंकाण्डवज्ज्ञानकाण्डवस्यापि  
प्रामाण्यमिति" । अतः पूर्वोक्तरीत्या वेदस्य प्रामाण्यं सिध्यति । तथा चोक्तम् 'तस्य ज्ञानमुपदेश' इति  
(मी० द० १-१-५) । अस्यार्थः—तस्य प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य धर्मस्य ब्रह्मणश्च ज्ञानं ज्ञापकम् । करणे  
ल्युङन्तोऽयं ज्ञानशब्दः । प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धेऽर्थे उपदेशः । वेदवाक्यं प्रमाणं तस्य स्वार्थं प्रमाणान्तरानपेक्ष-  
त्वात् । इदं बादरायणस्यापि सम्मतम् । अत्रत्या टिप्पणी नवमत्रिशत्यष्टयोः जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या ।

प्रमाविचारः—प्रमाकरणं प्रमाणमिरयुच्यते । करणं चासाधारण कारणम् । अत्र चार्थं प्रमा-  
करणं प्रमाणमित्यत्र समेपा दार्शनिकानां मतैक्यम् । परन्तु प्रमाशब्दार्थं वैमर्त्यं दृश्यते । यद्यर्थानुभवः  
प्रमेत्याचक्षणाः नैयायिकाः याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमाचक्षते । तच्च सद्वृत्ति तत्प्रकारकत्वे सति अनु-  
भवस्वरूपम् । वेदान्तिनस्तु यज्ञातार्थज्ञापकत्वं प्रमायाः लक्षणमिति प्रतिपादयन्ति । अर्थेऽनुपलब्ध-  
विशेषणात् । व्यवहारे भाट्टनयः इति न्यायाच्च । अज्ञातार्थज्ञापकत्वमात्रस्य प्रमालक्षणत्वे शुक्तौ  
इदं रजतमित्यत्रापि उक्तलक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिरस्यात् तद्वारणाय अबाधितत्वविषयविशेषणम् ।  
अयमर्थः अव्यतिरेकशब्देन सूचितः । अकारः अनुक्तसमुच्चयार्थः असदिग्धत्वं गमयति । एवं च अनधि-  
गतः अबाधितः असदिग्ध प्रयोजनवान् योऽयं तद्विषयकत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमायाः लक्षणमिति । न्याय-  
गणिकायां वाचस्पतिमिश्रैः परिष्कृतमिदं लक्षणमुक्तम् । अत्र नैयायिकोक्तं प्रमालक्षणमिति प्रमालक्षणं  
परिशील्यमानम् असम्यक्तलक्षण एव परिवसति अनुभवविशेषणदानेनैव । अत्र एवानधिगताज्ञातार्थज्ञा-  
पकत्वमिति प्रमालक्षणं सर्वतत्त्वसिद्धान्त इत्युक्तं गूढार्थतत्त्वाल्लोके मधुसूदनसरस्वतीभिः । अज्ञातज्ञाप-  
कत्वं हि प्रामाण्यमिति सर्वतत्त्वसिद्धान्तः ।

प्रमाविवेचनम्—अत्रेदं बोध्यं यत्प्रमाणं भवति तद्वोधकमेव भवति न अवोधकं भवति । अतः  
बोधकत्वं स्मृतिसंशयविपर्ययज्ञानसाधारणमिति अधिकदेशवृत्तित्वाद्वाच्यम् भवति । प्रामाण्यं तु न्यून-  
देशत्वात् व्याप्य भवति । यथा घूमर्याग्निर्व्यापको भवति तथा प्रामाण्यस्य बोधकत्वं व्य.पकं भवति ।  
प्रामाण्यं च व्याप्य भवति । प्रमायाः ज्ञानविशेषत्वं दर्शयितुमेव सूत्रे विशेषणत्रयमुपात्तम् । ओत्पत्तिकः  
अर्थेनोपलब्धे अव्यतिरेकशब्दार्थे अबाधितेऽनधिगततेऽसदिग्धे चार्थे प्रमाजनक प्रमाणमिति । तत्र अबाधित  
इत्यनेन विशेषणेन विपर्ययज्ञानविषयाद्वावृत्तिः क्रियते । अनधिगत इत्यनेन स्मृतेः अमन्दिग्धे इत्यनेन  
संशयविषयाद्वावृत्तिः क्रियते । एवंभूते विषये यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रमा । तस्याः जनक वेदवाक्यमिति ।  
इदं च ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते स्वत एव ज्ञायत इति स्वतः प्रामाण्यमित्युच्यते । इदं च मत-  
मस्मदगुरोर्भगवतो बादरायणस्यापि सम्मतम् । प्रामाण्ये परापेक्षायाः अभावात् । स च वेदः अपरोक्षेयः ।  
अत एव निरस्तमस्तदोपाशङ्कः इति समस्तस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सुस्थितं भवति । तदनन्तरं तस्य

विषयादिजिज्ञासा जायते । तत्सबन्धप्रतिपादनं सगतं भवतीत्यत्रेत्य भगवत्पादैः सबन्धकथनात् पूर्वं वेदस्य प्रामाण्यं प्रासाधि । तत्रोपनिषदः प्रधानं बोधकतया स्वतःसिद्धप्रमाणभाव इति तदुपकारित्वात् कर्मकाण्डस्य देवताकाण्डस्य च तदुपकारित्वमिति ।

तात्पर्यलिङ्गनिरूपणम्—भगवान्सर्वज्ञकल्पः मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिः भारतीयानामस्माकं परमं सर्वं तस्यादान्तरतात्पर्यं कर्मकाण्डादौ महातात्पर्यं तु जीवब्रह्मैक्य एव इति प्रतिज्ञामात्रेण प्रागवादिष्यम् । साम्प्रतं तात्पर्यनिर्णयं कथं भवति तत्र कति लिङ्गानि सङ्क्षेपेणाधस्तादुपवर्ण्यते । वाक्यं तात्पर्यविषयोभूतैः प्रमाणं भवति न तु प्रतिपादनेऽर्थे । यत्परं शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात् । स चार्थः पौर्वापर्यपरामर्शेनैव शब्दानां वर्णयितव्यः । समेपा वेदवाक्यानां तत्र तत्रार्थं तात्पर्यनिर्णयोपयोगीनि लिङ्गानि प्राचीनैराचार्यैर्वेदार्थाविगमार्थकेन पद्येन समृद्धा उपवर्जितानि । यथा—

“उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये” ॥ इति ।

अस्मिन् प्राचीनपद्ये उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकमेव लिङ्गमभिप्रेतम् । तेन लिङ्गानि पठित्युपपद्यन्ते-ऽन्यथा तयोर्भेदे तत्सत्यापातः । अतः ताभ्यां तत्सत्याग्रहः । ताभ्यां तत्तद्वाक्येयाऽऽद्यन्तभागानिष्ठमेकार्थपर्यवसायित्वं लक्षणया बोध्यते । द्वितीयञ्च लिङ्गमभ्यासः । अभ्यासो नाम अनन्यपरं पुनश्चरणम् । तृतीयं च लिङ्गमर्थवादः । स च स्तुतिनिन्दाऽऽदतरप्रतिपादनं वचनमभिधायते । एतानि त्रीणि लिङ्गानि शब्दवष्टित्वाच्छब्दनिष्ठलिङ्गमित्यभियुक्तं व्यवह्रियते । एतानि च त्रीण्युपक्रमोपसंहारी अभ्यासः अर्थवादश्चेति शब्दनिष्ठान्यतिप्रसङ्गवारकाणि यथा ब्राह्मणस्य यज्ञोपवीतादीनि । एतानि चातिप्रसङ्गनिराकरणमुत्तेन प्राक्त्रिकैः तात्पर्यं ग्राह्यमिति ।

अपूर्वताफलमुपपत्तिश्चेति त्रीणि लिङ्गानि प्रामाण्यशरीरसपादकानि । अपूर्वत्वञ्च प्रामांतरागोचरत्वम् । प्रकृतवाक्याद्वाक्यश्रवणात्प्राक् कनापि प्रमाणान्तरेणाज्ञातत्वम् । अर्थात् अज्ञातार्थाज्ञापकत्वमनविगताथगन्तृत्वमिति मन्तव्यम् । पञ्चमं च लिङ्गं फलं प्रकृतवाक्याध्यानस्य फलमस्त्वमपि तात्पर्यग्राहकं भवति । पष्ठं च लिङ्गमुपपत्तिः । सा चावाधितरम् । अर्थात् प्रकृतवाक्याध्यानाधितत्वेनेतत्त्वमर्थनिष्ठं यथा चागमत्र निष्कर्षं शब्दनिष्ठस्य लिङ्गत्रयस्यातिप्रसङ्गवारकत्वम् । अर्थनिष्ठस्य लिङ्गनिष्ठस्य प्रामाण्यस्य स्वरूपसपादकत्वमिति ।

उपक्रमोपसंहारयोरेकार्थनिष्ठत्वम्—एकस्य वाक्यस्यानेकार्थभावे तात्पर्यसंशये सति यस्मिन्नर्थे आद्यन्तभागयोरुपक्रमोपसंहारयोः पर्यवसानं भवति स एव तात्पर्यविषय इति सप्रधायते । इतरथा तस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत । क्वचित्त्वनुवादकत्वशब्दानिरासयापि तस्य लिङ्गत्वम् । यदीदं वाक्यमेतमर्थमनुवदेत्तर्हि इदमेवार्थकं स्पष्टवृत्तेः सम्भवति । तस्मादुपक्रमोपसंहारयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णायकत्वेन लिङ्गत्वमुरोक्तं व्युत्पद्यते ।

अभ्यासः—द्वितीयं त्वभ्यासनामकमिदं चेकस्मिन्नर्थे वाक्यस्य तात्पर्यमित्यत्र गमकं भवति । अध्वरमोमासकं द्वितीयाध्यासद्वितीयापादद्वितीयाधिकरणे ‘समिधो यजतीत्यादौ पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तेषु यजतिषु कमभेदकप्रमाणतया समर्थितम् । तस्यायमाशयः, एकेन विहितस्यान्येन विधानायोगात् नानाकर्मविधाने तात्पर्यग्राहकमभ्यासनामकम् । पूर्वोत्तरपक्षादिकं तत्रैव द्रष्टव्यम् । प्रकृते च सिद्धार्थविषयकं सदेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यग्राहकतया लिङ्गमिति व्यपदिश्यते । अतोऽभ्यासस्यैकस्मिन्वस्तुत्यादरः

ज्ञापनद्वारा तात्पर्यग्राहकत्वम् । यद्योक्तं शास्त्रीये निरुक्ते—‘अभ्यासे हि भूयस्त्वमयस्य भवति यथाऽहो दर्शनीया, ग्रहो दर्शनीयेति’ । भामतीनिबन्धेऽपि वाचस्पत्ये ईदृशेवाऽऽनुपूर्वी दृश्यते । अभ्यासं भावो दर्शनीयस्य पदार्थस्याभ्यासेन दर्शनीयत्वमस्व प्रतीयते ।

अभ्यासात्यर्थवादयोरन्यतररेणान्यतरस्य गतार्थताशङ्कासमाधाने—अभ्यासः प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा यथा तात्पर्यग्राहकः तथैवात्यर्थवादोऽपि प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा तात्पर्यज्ञापको भवति । तर्हि एतयोः कस्को विशेष इति शङ्का जायते । अत्रेदं समाधानं बोध्यमभ्यासेनार्थान्तरादुत्कृष्टत्वरूपं प्राशस्त्य बोध्यते । अतोऽभ्यासात्यर्थवादयोरन्यतररेणान्यतरस्य चरितार्थ्यम् । न चाभ्यासात्यर्थवादयोरैक्यमिति ।

अपूर्वता—अपूर्वत्वमपि तात्पर्यग्राहक लिङ्गम् । तच्च प्रकृतवाक्यार्थविषयस्य ज्ञानात्पूर्व प्रमाणान्तरेणाज्ञातत्वम् । एतेन प्रामाण्यशरीरप्रविष्टमज्ञातार्थज्ञापकत्वरूपमनधिगतार्थगन्तृत्वं बोध्यते । अत इदं प्रामाण्यशरीरसंपादनमुखेन तात्पर्यग्रहे निर्णयहेतुर्भवति ।

फलम्—उत्तज्ज्ञानस्य प्रयोजनवत्त्वं ज्ञानस्य हानोपादानोपेक्षावुद्ध्या फलानीति न्यायभाष्यकारः वात्स्यायनमुनिः ब्रूयात् । अत इदमपि प्रयोजनप्रतिपादकमुखेन प्रमाणशरीरनिर्वाहमुखेन तात्पर्यनिर्णायकं भवति ।

उपपत्तिः—उपपत्तिर्नाम उत्तज्ज्ञानविषयस्यावाधितत्वम् । एतस्य लिङ्गत्रयस्य प्रामाण्यस्वरूपसंपादनमुखेन तात्पर्यं प्रति ज्ञापकताऽपि लिङ्गत्वमुपपद्यते । यथा यज्ञोपवीतादिकं ग्राह्येण प्रति । एतेषां त्रयाणां मध्ये आद्यं विशेषणमपूर्वनामकं “य एव विद्वान् पूर्णमासी यजत” इति विद्वद्वाक्यं समुदायानुदकम् । तस्य स्वार्थं प्रामाण्यवारणाधोपात्तम् । द्वितीयं च विशेषणं ‘मुत्ताना वै देवगवावहन्ति’ इत्यादेः प्रामाण्यवारणाय । सकलस्य वेदस्याध्ययनकर्तव्यता बोध्यतः । अध्ययनविधेः प्रयोजनवदर्थ-ज्ञानपर्यवसायित्वं जिज्ञासाधिकरणोक्तं न प्रस्मर्तव्यम् । अतो यादृशं ज्ञानं प्रमातुरिष्टप्रयोजकं भवति तस्यैव प्रमात्वेन लोके व्यवहारो दृश्यते । निष्प्रयोजनस्य केनापि पुंसां प्रामाण्यानभ्युपगमात् । अतः द्विविधेन लिङ्गत्रयेण तार्थ्यावधारणात् तात्पर्यं भवति चार्थं शब्दप्रमाणं भवति । तार्थ्यवद्विधुतिः प्रत्यक्षादुत्पन्नवती न श्रुतिमात्रमिति अभ्युक्तोक्तेः । तत्रापि निष्प्रयोजकस्य वाक्यस्य प्राधान्यं सप्रयोजकवाक्यस्यार्थतदङ्गत्वमित्यादि सिद्धिसधुचिह्निकयोः (४२५-४२६ पृष्ठयोः) निपुणतरमुपपादितम् ।

उपक्रमादीनां समन्वयनिरूपणम्—तत्त्वमसीति वाक्ये त्रीणि पदान्युपलभ्यन्ते । अत्र तत्त्व-पदयोः सामानाधिकरण्यं श्रूयते । तच्च वाच्यार्थयोः सर्वज्ञत्वचिह्नज्ञत्वादिविशिष्टयोः विरुद्धधर्माक्रान्तयोरभेदायोगेनानुपपन्ने भवति तत्त्वपदार्थयोः विरुद्धविशेषणाश्रयागेन जीवबह्वयस्वरूपमात्रे लक्षणा-ऽङ्गीक्रियते । तथा लक्ष्यमाणावपि ब्रह्मजीवो भेदेनैव प्रतीयेयाताम् । लक्ष्यकोटधननुप्रविष्टस्य भेदस्य प्रतीक्षावपि अघटमानस्याभेदस्य माक्षाद्भेदप्रतीत्याऽन्यन्तमघटना स्यात् । अतः भेदकविशेषणयोरिव भेदस्य त्यागः तार्थ्याधिनुरोधात् । तार्थ्याधीनत्वाच्छब्दवृत्तेः । लक्ष्यमाणद्वयाभेदप्रत्ययब्रह्मव्यपतीति-दशावामेव शाब्दस्याभेदस्य प्रतीतेः तत्त्वपदार्थो ब्रह्मजीववप्यन्तो लक्षणीयो ।

तत्र छान्दोग्यवाक्यं तदर्थं त्वमर्थपर्यन्तं लक्षयति । बृहदारण्यकवाक्यं तु त्वमर्थं तदर्थपर्यन्तं लक्षयति । अर्थात् छान्दोग्यस्य तत्त्वमसीति वाक्यमस्मात्प्राक्तनं तदर्थं त्वमर्थपर्यन्तमानयति । ‘यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती’ति सर्वविज्ञानप्रतिज्ञादिना । बृहदारण्यकवाक्यं तु “स वा एष महानज गार्ता” इत्यतः प्राक्तनं त्वमर्थं तदर्थपर्यन्तमानयति । “अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रह्मोति” इति

प्रश्नोत्तरलिङ्गेन । तत्र तत्पदार्थे विशेषणाशल्यायाय छान्दोग्ये “वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्ति-  
केत्येव सत्यमिति” श्रुतिरूपकरोति । वृहदारण्यके तु त्वपदार्थे विशेषणाशल्यायाय अनन्वागतस्तेन  
भवति । “असङ्गो ह्ययं पुरुष ” इत्याद्यसङ्गत्वश्रुतिरूपकरोति । एव च तत्त्वपदार्थयो जीवब्रह्मपदन्तता  
प्रतिपादनेन परस्परोपकाररूपस्य उपकारस्य प्रयोजनस्यैक्याद्विद्यैकत्वम् । अयमर्थं न्यायसङ्ग्रहे विवर-  
णाचार्यैरुपपादितम् । विस्तरस्तु परिमले द्रष्टव्यः । अतः सर्वेषां वेदवाक्यानां जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादन एव  
तात्पर्यमिति । असकृद्भगवत्पादैस्तद्व्याख्यातृभिश्च प्रतिपादितमित्यद्वैतवेदान्तिभिरेव पय पोतमिति ।

उपनिषत्प्रतिपाद्यनिरूपणम् — सर्वास्वपनिषत्सु वृहदिति सविस्तरं वार्तिकवचनादष्टम्भेनोपा-  
पादि । तत्र षडध्यायाः । काण्डत्रयमिति च पूर्वमवोचाम । तत्र मधुकाण्डे ब्राह्मणक्रमेणाध्यायचतुष्टयम्  
उपनिषत्क्रमेण चाध्यायद्वयम् । तत्र मधुकाण्डे अध्यायद्वयात्मके मधुद्वयम् । आर्यवशां दध्यह्नमह्विः  
त्वाष्ट्रं कक्ष्यञ्चेति मधुद्वयमुपादिशत । तत्र आद्यं त्वाष्ट्रं मधुं प्रवर्णयित्वा कर्मणां ऽङ्गं यज्ञस्य शिरश्च  
दप्रतिसन्धानादिविषय दर्शनम् । द्वितीयं तु कक्ष्यं गोप्यं रहस्यमित्यर्थं परमात्मसबन्धविज्ञानम् । तत्र  
प्रथमद्वितीयौ अध्यायौ प्रवर्णकमन्विषयो, प्रत्येकं कर्मकाण्डत्वेन भगवत्पादै न तस्य आरम्भकारि । अत एव  
(तृतीयचतुर्थाभ्यामध्यायाभ्यां) प्रथमद्वितीयाभ्यां प्रतिपादितोऽर्थः । चतुर्थाध्यायस्यावसाने “इयं  
पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधुः” इत्यादिना अनेकपर्यायं मधुब्राह्मणे न्यरूपि । मधुकाण्डञ्च चतुर्थाध्यायेन  
समापितम् । तस्य गुरुपरम्पराऽपि ‘अथ वरा’ इत्यादिना ‘ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नम इत्यन्तेन प्रकीर्तिता ।

याज्ञवल्क्यमुत्तेनागमप्रधानेन मधुकाण्डेनोपदिष्टोऽर्थः तृतीयचतुर्थाभ्यामध्यायाभ्यां वादकथा  
जल्पकथा चाश्रित्य विस्तरेण निरूपित । अत एवेदमध्यायद्वयमृषिकाण्ड मुनिकाण्डमिति याज्ञवल्क्याय  
काण्डनिरूपि अभियुक्तं व्यावाहारि । तस्यापि पृथगाचार्यवशं निरूपित । ततः कानिचित् उपासमानि  
श्रीमत्पुत्रमन्थादिकं कर्म चेति अवशिष्टमपेक्षितमर्थं प्रतिपादयति खिलकाण्ड पञ्चमपञ्चाध्या-  
यात्मकम् । तवन्ते च सम्पूर्णया वृहदारण्यकोपनिषद आचार्यवशापरम्परा समाप्ताता ।

अत एव मुनिकाण्डे चतुर्थब्राह्मणस्यावसाने अद्वैतात्मतत्त्वबोधनाय नानोपायवर्णनं स्थालीपुलाक-  
ध्यायेन लिङ्गानां वर्णनम् — “स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोमृतोऽमयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं  
हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद” (वृ उ ४ ४. २५) । अस्माकं — जन्मजरामरणविरहितोऽविद्याकार्य-  
रहित आत्मा भयरहित ब्रह्म तद्विद्वानपि अभयं ब्रह्मैव भवतीति वेदान्तानां सारभूतोऽर्थः उपसमाहारि ।  
तथा च समस्तपादोय आध्यम् —

“इदानीं समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य योऽर्थः उक्तः स समुच्चित्यात्म्या कण्डिकाया निदिश्यत  
एतावानसमस्तारण्यकार्यं इति” ।

एवमागमकाण्डोऽपि मधुब्राह्मणावसाने “तदेतब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यमयमात्मा ब्रह्म  
सर्वानुभूयित्यनुशासनम्” (वृ उ २ ५ १६) इति समाप्तायते । प्रतानुशासनमित्यस्य शब्दस्य  
सर्ववेदान्तोद्देश इत्यर्थः । “कारणरहितं ब्रह्म” इत्यादिना कार्यकरणविनिर्मुक्तमेकरस पूर्णं प्रत्यग्भिन्न  
ब्रह्म सर्ववेदान्तसारमिति स्वयं ब्रूते । एव पण्डेऽध्याये चतुर्थब्राह्मणे “स वा एष महानज आत्मा योऽयं  
विज्ञानमय प्राणेषु य एतोज्ज्वलं ह्य आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान” (वृ उ ४ ४. २२)  
इति । अत्र “योऽयं विज्ञानमय” इत्यादिना जीवमनूय तस्य प्रमाणान्तरानधिगतासत्तासत्यमित्वं  
बोध्यते । अत्र “सर्वस्य वशी सर्वस्येशान” “न कर्मणा बध्नेते नो कनीया” इत्यादिवचनादयसत्तादि-  
त्वमावनिरूपणपराणि ।

द्रष्टुन्तरनिषेधमुखेनाद्वैतधर्मेणम्—अव्याकृतप्रक्रियायामपि “स एष इह प्रविष्टः । आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुर क्षुरधानेऽवहित स्याद्विष्वभरो वा विश्वभरकुलाये” (वृ उ १ ४ ७) इत्यादिना स्व-सृष्टे कार्यं देहादौ प्रवेशमभिधाय तन्मयं प्राणनादिक्रियाकर्तुं प्राणादीनामवाक्त्वमुपवर्णयति “स प्राण-त्रेव प्राणो भवति पश्यञ्चक्षुः शृण्वन्धोत्र”मित्यादिना । क्वचिच्चाशेषविशेषशून्यतया अप्राप्तसमस्त-विशेषणमात्मतत्त्व तात्पर्येण निरूपयति ।

उक्तार्थं साक्षितयाऽक्षरब्राह्मणस्थोपन्यासः—तथा अक्षरब्राह्मणे ‘स होवाचैतद्वैतदशर गांनि ब्राह्मण! अमिवदन्त्यस्यूलमनण्वहस्वदोर्ध्वमलोहितमस्नेह”मित्यादि । एवमेव सर्वविशेषनिषेधक “स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशोभो न हि शोयतेऽमङ्गो न हि सज्यतेऽमिता न व्ययते न रिप्यती”ति (वृ उ ४ ५ १५) । ईदृशमात्मन स्वरूपं लोकेत तर्कशास्त्राद्वेदादपि विधिकाण्डान्नावगम्यते । परन्तूपनिषद्भिरेवात्रागम्यते ‘त त्वोपनिषद पुरुष पृच्छामो’ति वाक्यं मुक्तकण्ठ ब्रूने । उपनिषत्स्वेव प्राधान्येन प्रतिपाद्यमानतैवोपनिषदत्वम् । यद्योक्त भगवत्पादं शारीरकमीमांसाभाष्ये समन्वयमून—

“नन्वात्माऽहप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नं न तस्माद्विज्ञात्वेन प्रत्युक्तत्वात् । न ह्यहप्रत्ययविषयकत्वं व्यतिरेकेण तस्माद्विशेषवन्भूतस्यस्सम एक कूटस्थनित्यं पुरुषं विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतं सर्वस्यात्मा” इति ।

अद्वैतवेदान्तिना सर्वस्य विवर्तवादः—विवर्तवादः स्वप्ने बाधितानामत एव मिथ्याभूतानां रथादिपदार्थानां सृष्टिकथनेन स्फुटं प्रतिपादितः । यथा—“न तत्र रथा न रथधोना न पत्न्यानां भवन्त्यथ रथारथयोगान्पथं सृजते” (वृ उ ४ ३ १०) इति । इदं च श्रुतिवचनं प्रतिपन्नोपाधौ वैकालिकनिषेधप्रतिपत्तिस्वरूपमिथ्यात्वानां रथादीनां स्वप्ने रथादीनां सृष्टिमभिधेयानां विवर्तवादः स्फुटीकराति ।

किंच “यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः” इत्यादिना द्वैतवत् ब्रह्म इत्युक्तत्वा “नेह नानाऽस्ति किंचन” इति द्वैतमासेधती श्रुति मुक्तकण्ठमेव द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमुपपादयति । “यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समदनुत इति । तद्यथा ऽहिनित्वं यती बल्मीके मृते प्रत्यस्ता शमीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽन्यायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्म तेज एव” (वृ उ ४ ४ ७) इत्यादिवाक्यजातं जीवनमुक्तिं विदेहमुक्तिं चोपनिषत्प्रसिद्धं समुपवर्णयति । अथ च “यत्राय पुरुषो भ्रियत उदस्मात्प्राणा क्रामन्त्याहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽग्नेव ममव-नीयते स उच्छ्रवयत्याध्मापत्याध्मातो मृतं शेते” (वृ उ ३ २ ११) “यत्राय पुरुषो भ्रियते किमेत न जहातीति” (वृ उ ३ २ १२) इति च वाक्यजातमस्मिन्सन्दर्भेऽनुमन्धयम् ।

मेधासम्पन्नं विदेहानां राजा जनकः न्यायकुशलोऽनुमानमार्गेण महर्षिणा याज्ञवल्क्येन बोधितः । तत्र यज्ञादिप्रसङ्गे विद्वत्समाजवत्पनया ब्रह्मविदुषा पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहसमाकणनकुतुहलीविद्वद्भ्यः बहु-द्विविणदातेति सुप्रसिद्धं श्रुतिपुं गीतादिषु च । अत एव ब्रह्मवेत्ता काशिराजः अजातशत्रुः सासूयः ब्रूते ‘जनको जनक इति जना धावन्तीति ईदृशस्य शिष्यलक्षणमम्पन्नस्य जनकस्य राज्ञः सर्वज्ञस्य याज्ञ-वल्क्यस्य च प्रश्नप्रतिवचनपरम्परोपन्यासेनाऽऽत्मन व्यतिरिक्तं स्वयज्योतिरप्यत्र स्वप्रकाशत्वापर-पर्यायमवस्थापयस्य चारादिनाऽमङ्गल्यमसमृष्टस्वमविलुप्तचित्तिस्वरूपत्वं निरतिशयानन्दरूपत्वमद्वैतत्वं मुक्तस्वरूपञ्चेत्याद्यनेकप्रमेयजातं न्यायमार्गेणोपपादितं दृश्यते । ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ इति विनियानां प्रज्ञाभिवृद्धिं तद्विद्यैस्सयोग इति न्यायसूत्रेणोपन्यासेनोपवर्णिता ।



याज्ञवल्क्यमंत्रयोसंवादस्यास्याते प्रयोजनकथनम्—एवं मंत्रयोऽब्राह्मण मधुकाण्डे द्वितीयेऽध्याये याज्ञवल्क्यकाण्डे चतुर्थे चान्ते संप्रथित विराजते । तात्पर्यनिर्णायकेषु पटसु लिङ्गेष्वभ्यासनामक्रमन्यतम लिङ्गम् । तेन प्रतिपिपादयिष्यतेऽर्थं तात्पर्यमवसीयते । तच्च चतुर्थाध्यायस्थित ब्राह्मण मधुकाण्डोक्तस्य सर्वस्यार्थस्य निगमनस्थानीयम् । अयं च न्याय वाक्यकोविदे परिगृहीत हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया पुनर्वचन निगमनमिति । अस्य नोडपत्र विशेषतोऽवलोकनीयम् ।

अत्र हेत्वन्तरोपन्यास —अथवा आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतसाधनं स सन्यासात्म-  
विज्ञानमभिहितं तदेव तर्कोपायि अमृतत्वसाधनं स सन्यासात्मज्ञानमधिगम्यते । आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवति अव्यभिचारः इति' एव आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्व निर्धारितम् । पुनः तस्यैवोपपत्तिप्रधानेन याज्ञवल्क्यकाण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्य वादेन निवारितम् । 'शिष्याचार्यसंबन्धेन च पठते प्रश्नप्रतिबन्धनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम् । अथेदानीं निगमन-  
स्थानीयं मंत्रयोऽब्राह्मणमारभ्यते" इति ।

भगवत्वादानां श्रुतिपारवश्यं पारपर्यायमुसारित्वादिनिरूपणम्—श्रीमन्तः श्रुतिस्मृतिपुराणा-  
नामालया भगवत्पादाः काण्डशालीयामुपनिषदः वेदार्थनिर्णयोपयोगिन्यायरत्नपूर्णेन अविच्छिन्नगुह-  
संप्रदायानुसारिणा ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादनपरेण भूपयन्ति स्म । न केवलमिदं वृत्तिनामकं भाष्यं बृहदारण्य-  
कोपनिषद एव सर्वज्ञकल्पस्य भगवतो वेदस्य तात्पर्यमवधारयति । किं बहुना स्वमग्रस्यैव मन्त्रयाज्ञाणात्म-  
कस्य शब्दराशे साक्षात्परम्परया च ब्रह्मात्मैक्यमेवावधारयति । तत्राऽपि काण्डन्यात्मना वेदस्य तात्पर्यं निरूपयति । अर्थात् 'इमे त्वा' इत्यादेः कमकाण्डस्य यागादेः स्वर्गस्य च साध्यसाधनभाष्यसंब-  
न्धान्तरतात्पर्यमन्तःकरणशुद्धिकारा जीवब्रह्मैक्ये परमतस्त्वच्चावगमयति । एव वेवताकाण्डस्यापि ।  
उपनिषदा तु साक्षादेव ब्रह्मप्रतिपादनपरत्वमर्थात् सर्वेषां वेदवाक्यानां साक्षात् परम्परया वा ब्रह्म-  
प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादन इत्यवधेयम् ।

इमे भगवन्तः भाष्यकारचरणां श्रुतीनां पौर्वापर्यालोचनया स्वरसतया श्रुतिप्रतिपाद्यमेवार्थ-  
मुपपादयन्ति न तु नैयायिकादिभिस्तर्कोपपादितमर्थं क्लिष्टकल्पनया श्रुत्यर्थत्वेन कदापि नाङ्गीकुर्वन्ति ।  
प्रत्युत प्रपौष्टेयवेदवाक्यानां विरोधे तार्किकयुक्तीनामेवाभासत्वं मुक्तकण्ठमुद्घोषयन्ति ।

वेदान्तानामर्तं तात्पर्यस्वीकारे शङ्कासमाधाने—ननु ब्रह्मात्मैक्ये साध्यसाधनभावादिभेदा-  
भिरप्यप्रवृत्तं पूर्वकाण्डे विधिनिषेधात्मकं प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणानि च कथमुपपद्येरन्ति नैवाशङ्कनीयम् ।  
'प्रवर्तमानलक्षणा दोषा' इत्यभिमुक्तानां वचनानुसारेण मिथ्याज्ञानप्रसूतानां कामानामनर्थरूपत्वेऽपि यो  
लोकतः यथाप्राप्तकामानुपादाय तत्साधनानि उच्चावचानि काम्यानि कर्माणि भगवती श्रुतिविधते ।  
यथाप्राप्तमविद्याप्रत्युपस्थापितं साध्यसाधनेति कर्तव्यताभेदमाश्रित्येष्टप्राप्त्युपायेऽनिष्टपरिहारोपाये च  
स्वभावतः प्रवृत्तस्य पुंसः तद्विशेषमजानातस्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायमुपदिशति कर्मशास्त्रम् ।

लोकतो यथाप्राप्तस्य त्रियाकारकफलभेदस्य सत्यतामसत्यता वा नैवाभिपद्यते अतिसूक्ष्मास्तेऽत्र  
विषये । अतः कर्मकाण्डे नाप्रमाणं भवितुमर्हति । एव च सर्वोऽपि वेदः प्रमाणमिति विवेचयन्ति  
भगवत्पादाः ।

सिद्धेऽर्थे अस्मास्तिस्वादी वेदान्तनामेव प्रामाण्यमिति निरूपणम्—अत एव भगवत्पादाः सर्वव-  
ग्रन्थे "तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्धोऽभिधीयत" इति प्रतिज्ञा विधाय तदर्थमेव "सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षा-  
नुमानाभ्यामनवगतेऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपर" ( पृ ५ ) इति वाक्यसन्दर्भेण सिद्धार्थं

प्रामाण्य प्रामोसधन् । तत्र "सर्वपुरुषाणां निमर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वा"दिति हेतुवाक्येण प्रामाण्यापयोगितया ससारव्याविवृत्सुभ्य इति भाष्येण विद्याधिकारिसौलभ्यं वर्णयामासु । तत् प्रामात्रकमीमासकाभिमतं कार्यं वेदान्तप्रामाण्य "दृष्टविषये चेति 'वाक्येण निराकृत्य 'न चासति जन्मान्तरसन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्या' दित्यादिवचनसमुदायेन परैरपि वेदस्य सिद्धार्थे प्रामाण्यमङ्गीकर्तुमिति सर्वथाऽप्यस्ति प्रात्मा कर्मणि शुद्धान्त करणस्य वेदाभ्या-  
दिसाधनचतुष्टयद्वारा ज्ञानोत्पत्तिसंबन्ध कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रतिज्ञात समर्थत भगवत्पाद ।

अस्मिन्प्रसङ्गे च वेदान्तदर्शनस्य यच्च यावच्चवापेक्षित प्रमेयजात सर्वमपि विचारित सगृही-  
तञ्च । विदोपजिज्ञासुभिः संबन्धवार्तिकं द्रष्टव्यम् । तत्र श्रुतिस्मृतिपुक्तिभिः सम्प्रदायगतसिद्धान्तसमर्थन  
स्वयूच्याना भर्तृप्रपञ्चादीना मतनिरासादिकञ्च । स्वपक्षप्रतिपक्षभूतानि सार्थिकमतानि निरा-  
साञ्चक्रु ।

उक्तार्थस्य स्पष्टीकरणम्—स्वसिद्धान्तपरिबोधनाय "वेचित् यथा ब्रह्मेति भावोपुरुष'  
निर्दिश्यते । ब्राह्मण इति व्याचक्षते" (पृ २५५) इति । एव मित्राभिन्न ब्रह्म अर्थात् अनेकात्मक ब्रह्म  
इति भर्तृप्रपञ्चाचार्यस्य मतम् । अत्र भाष्य "संबन्धवचनवत् प्रज्ञानंकरसधन निरन्तर पूर्वापरब्राह्माभ्यान्त-  
र्भववर्जित सबाह्यान्तरमज नेति नेति भस्मूलमण्वहृद्वमजमभयममृतमित्यभिधेयमित्याद्या श्रुतय  
निश्चितार्थसम्पर्कविपर्ययसङ्कारहिता सर्वा समुद्रे प्रक्षिता स्युरकिञ्चित्करत्वादिति" ।

एव तृतीयेऽध्याये ब्रह्मातिब्रह्मातिभागब्राह्मणे भर्तृप्रपञ्चाचार्यं ससारमृत्योरन्तरालावस्थाकल्पना  
भगवत्पादं वेदबाह्यत्वदूषणेन खण्डिता द्यते । अथा—

"केचिद्व्रणयन्ति ब्रह्मातिब्रह्मस्य सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते । नामावशिष्टोऽविद्ययो-  
परस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मनः परिच्छिन्नो भोगोऽप्य जगतो व्यावृत्त उच्छिन्नकामकर्मोन्तराले  
व्यवतिष्ठते । तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपनेनव्यमित्यत पर परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येव-  
मपवर्गास्थामन्तरालावस्था परिकल्प्योत्तराश्वसंबन्ध कुर्वन्ति" ।

अनेन सन्दर्भेण भर्तृप्रपञ्चाचार्यस्य कल्पनामुपबण्ण्य 'तत्र वक्तव्य मित्यादि अन्यजातेन त  
दूषयित्वा "तस्मादत्यन्तनिकृष्टा सास्त्रबाह्येय कल्पना । प्रकृत तु वतयिष्याम" इत्यादिना स्वमत-  
मुपस्थापयन्तो भगवत्पादा हि अत्र भर्तृप्रपञ्चकल्पनाया अत्यन्तनिकृष्टत्वे वेदान्तशास्त्रबाह्यत्व  
हनूकुर्वन्तीत्यवधेयम् ।

मूर्तामूर्तब्राह्मणे भर्तृप्रपञ्चमतोपन्यासनिरासो—एवमेव मूर्तामूर्तब्राह्मणे भाष्यकार—  
'भौपनिषदमन्या अपि केचित्प्रक्रिया रचयन्ति । मूर्तामूर्तराशिरक परमात्मराशिः कृतमस्ताभ्यामन्योऽन्य  
मध्यम किल तृतीय कर्ता भोक्त्रा विज्ञानमयेनाजातशत्रुप्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदाय" ।  
कर्मराशि लिङ्गाश्रित । "तथापि यथा पुष्पाश्रितो गन्ध पुष्पवियोगेऽपि पुटतैसाश्रयो भवति तद्वल्लिङ्ग-  
वियोगेऽपि कर्मराशि परमात्मैकदेशमाश्रयति । स परमात्मैकदेश कित्वात्यत प्रागतेन गुणेन कर्मणा  
सगुणो भवति निर्गुणोऽपि स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मेति" । भर्तृप्रपञ्चसमता बदीया।  
प्रक्रिया निरूप्य "तत्र च तार्किके सह सधि कुर्वन्ते" इत्यादिना भाष्यसन्दर्भेण क्वचिदशे वैदोपिकाद्य-  
नुसारिणी क्वचिद्वेदो साध्यानुसारिण्यति वर्णयामासु भगवत्पादा । अनन्तर वदन्ति—“सर्वमेत तार्किके  
सह सामञ्जस्यकल्पनारमणोपलव पश्यन्ति" इत्युक्त्वा "तस्माद्बेदार्थमूढानां स्वचित्तप्रमवा एवमादि-  
कल्पना भक्षरवाह्या । न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारी वा । निरपेक्षत्वाद्देवस्य प्रामाण्य प्रति ।

तस्माद्राशिप्रत्ययकल्पनाऽसम्भजसा” इत्यन्तेन भाष्यसन्दर्भेण तदीया कल्पना निराकुर्वन्तो दूषणमध्ये “तस्मान्छ्रुत्यर्थकल्पनाऽकुशलाः सर्व एवोपनिषदर्थमन्यथा कुर्वन्ति । तथाऽपि वेदार्थश्चेत्स्यात्कामं भवतु न मे द्वेष” इति समुद्धोषयन्ति । इयं च भाष्यसूक्तिः भाष्यकाराणां पारमार्थिकमोपनिषदत्वं विशदयति तस्मात् ।

पीर्वापर्यपरिशीलनेनाविरोधेनैव वेदार्थवर्णनम्—अपि च श्रुतीनां पीर्वापर्यपरिशीलनेन श्रुतिवचोभिः बोधितमर्थं गुरुपरम्परानुसारेण निर्धारयति । यथा उत्पत्तिप्रकरणे ‘जने’ विस्फुलिङ्गा इति दृष्टान्तवचनेन परमात्मनः अक्षः जीवात्मेति अक्षवादिना पक्षनिराकरणाय श्रुतेः विज्ञानात्मन एकत्व-प्रतिपादनायेति श्रुतितात्पर्यं समुपवर्णयन्ति । अन्ते च निर्धारयन्ति यत्पूर्वापरालोचनेन परमात्मैक्यप्रत्ययद्वौकरणात् इति । तथाहि—“अनेहि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेवेत्यैकत्वप्रत्ययाहोर्दृष्टो लोके । तथा चाशोऽग्निरेकत्वप्रत्ययाहं । तत्रैव सति विज्ञानात्मनः परमात्मविकाराणरववाचका शब्दाः परमात्मैकत्वप्रत्ययाधिरूपाः । उपक्रमोपसंहाराभ्यां च । सर्वासु ह्युपनिषसु पूर्वमेकत्व प्रतिज्ञाय दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च परमात्मनो विकाराशादित्वं जगत्तः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसहरति । तस्मादुपक्रमोपसंहाराभ्यामर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययद्वयिन् उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि वाक्यानीति” । सभवेत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्यत इति । “तद्विष्येकवाक्ययोगे च सभवेत्युत्पत्त्यादिवाक्यानां वाक्यान्तरत्वकल्पनाया न प्रमाणमस्ती”ति ।

स्वाभिहितेऽर्थे द्विविधाचार्यसमतिकथनम्—अत्र च सप्रदायविद आख्यायिका सप्रचक्षते—इत्यादिना (पृ ४६६) द्विविधाचार्यप्रतिपादितया साप्रदायिकाख्यायिकया व्याख्यूलत्वाभिमानिन राज-प्रत्ययस्य आत्मनः ब्रह्मप्रत्ययस्य द्रवौकरणायेव दृष्टान्तश्रुतीनामुपप्लम्भितं दरीक्ष्यते ।

विनयेनैवार्थविवेचनसरणिः—किं च विरुद्धत्वेन भासमानानामर्थविवेक्षणनिर्णयाय भगवत्पादानां विनयपूर्विकं वाक्यार्थविचारप्रवृत्तिः दृश्यते । यथा श्रुतिस्मृतिवाक्यानि शतश उपनभ्यन्ते इतरेतर-विरुद्धानि । आचारश्च तद्विद्वाम् । विप्रतिपत्तिश्च शास्त्राथप्रतिपत्तीनां बहुविधानपि । अतो न शक्यते शास्त्रार्थः मन्दबुद्धिभिविवेकेन प्रतिपत्तुम् । परनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरैव एषा वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम् । तस्मादेषा विषयविभागज्ञापनाय यथा बुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्याम इत्यनेनाव-गम्यते । उपनिषदर्थनिर्धारणे सप्रदायक्रमगत्येषु गुरुषु तेषां श्रद्धा न युक्तिषु । नैतावतावगन्तव्यं सुचीभिः । भूयस्विरुद्धानां तर्काणां प्रतिपादने महानादरो दृश्यते । यथा चिन्तयामि च त्वं न निर्णेष्यसि किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनं न । कथं तर्हि बहुप्रतिपक्षत्वात् एकत्वादित्येको वेदार्थपरत्वात् । बहवो हि भेदवादिनः वेदबाह्यत्वात्प्रतिपक्षः । अतो ममाशङ्का न निर्णेष्यसीति एतामेव स्वस्तेन यन्मात्रमेकयोगितमनेकयोगिवहुप्रतिपक्षमास्थ अतो जेष्यामि सर्वानारभे च चिन्तामिति ।

किं च वेदशास्त्रादीनां स्वीययुक्तिवलेनैवार्थं साध्यता तात्त्विकानां यथाभूतशास्त्रार्थावधारणं न सम्भवतीति उपपादयन्ति । यथा तात्त्विकैस्तु पण्डित्यवगमबलैः अस्ति नास्ति कर्मा प्रकृतेत्यादि बहुविरुद्धतर्कयुद्धिः आविष्कृता शास्त्रार्थमर्यादा तेनायनिश्चयो दुर्लभः । ये तु वेदशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पा तेषां प्रत्यक्षविषयेष्वेव निश्चितश्चास्त्रार्थः देवाविविषय इति । एवमेव यदाऽपि मतं किञ्चिदस्तुपरिक्लृप्तं ये श्रुतिध्यायिष्यते तद्व्याख्यानं सर्वथोपेक्षणीयं मत्पुष्टिदशन्ति भगवत्पादाः । यथा ये तु अतोऽन्यथा आत्मवस्तुपरिवर्तनबन्धमोक्षादिशास्त्रमर्थवादमापादयन्ति ते उत्सहन्ते खेऽपि शाकुन-पदं दृष्टं त्वं वा मुष्टिनाऽऽजप्य चमवेद्वेष्टितुम् । वयं च तत्कर्तुमशक्ता सर्वदा सममेकरसमद्वितीयमज-प्रतिपादयितुं प्रवर्तमहे इति ।

परममतिनिराकरणेऽपि भगवत्पादानां पक्षपातराहित्यम्—भगवत्पादा ग्रीपनिपद रादान् प्रतिपादयन्त तत्प्रतिपक्षभूतानां परपक्षाणामपि निरासाञ्चक्रुः । तन्निराकरणे अयमेव हेतुर्बुद्धेदिक-  
श्रेयोमार्गपरिपन्थित्वम् । अत एव चतुर्थे विविधसौगतमतानां प्रदर्शनेपूर्वकं तेषां निरासोपक्रमम्—“सर्वा  
एता कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासवस्य व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषाऽपह्नवादिष्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्ष-  
भूता वेदवस्य । तत्र येषां बाह्योऽर्थोऽस्ति तान्प्रत्युच्यते तावत्” —इत्यनेन च समुद्धरणेनेदमवगम्यते  
यदीपनिपदसिद्धान्तविरोधिना चार्वाकसौगतावान्तरमतविशेषाणामभेदेन तर्कबलेन निरास एवाभिमत  
इति । एव वेदबाह्यमतनिराकरणे स्वयुध्यानां सन्निकृष्टानामोपनिपदमन्यमानानां पक्षविध्वंसनेन च  
सर्वोपनिपदप्रकाशकत्वं गृहदारण्यकोपनिपद साधु सजाघटिति । अपि च भगवत्पादानां परपक्षदूषण-  
मपि न व्यसनितया परद्वेषपक्षवसायि अपि तु ग्रीपनिपदसिद्धान्तबध्दधारणपर्यवसायि । अत एव सारीरक-  
भाष्ये तत्पादापरनाम्नि द्वितीयचरणे वमापिरे यरपरपक्षनिराकरणे परद्वेषकर वीतरागाणां  
मुमुक्षूणां न कर्तव्यमिदं शाङ्ख्य वेदार्थतत्त्वनिर्णयोपयोगित्वेन तस्य कर्तव्यत्वं व्यवस्थापितम् । तथा च  
भाष्यम्—

“ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं वतु” युक्तम् ।  
किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरणेन । बाढमेव । तथापि महाजनपरिगृहीतानि महानि सात्वादि-  
तन्त्राणि सम्यग्दर्शनोपदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केपाञ्चित् मन्दमतीना एतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपा-  
देयानि इत्यपेक्षा । तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभासितत्वाच्च यद्वा सतेषु इत्यस्य तदासारतापपा-  
दनाय प्रयत्यत” इति ।

अस्य च भाष्यसन्दर्भस्य व्याख्यानाय प्रवृत्तौ आमलीपतिवाचस्पतिमित्र कथयति ।  
वीतरागकथाया अपि परपक्षदूषणार्थता निर्णयफलकत्वेन हेतुना यथा तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा ।  
न च परपक्षदूषणमन्तरेण तत्त्वनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते ।  
न तु परपक्षतया इति न वीतरागकथाऽवस्थाहतिरिति । अपि चैकस्यैवात्मन भक्षनायाद्यतीतत्वं तद्वत्त्वं  
चेति विरुद्धधर्मसंघर्षः कथं सगच्छतामिति शङ्काया परिहारप्रसङ्गे भगवत्पादा प्रतिपादयन्ति । न हि  
परमार्थविधारणनिष्ठाया वस्तुन्तरास्तित्वं प्रतिपद्यामहे । “एकमेवाद्वितीयम्” इत्यादिश्रुते ।  
नामरूपपञ्चवह्नारकाले त्रिविकेकिना क्रियाकारकफलादिष्ववह्नारो नास्तीति न प्रतिपिध्यते । तस्माज्ज्ञा-  
नाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वा अपि व्यवहारा शास्त्रीया लौकिकाश्च न विरुध्यन्ते । अतो न कश्चन विरोध-  
शङ्कालेशोऽपि । सर्ववादिनामपि अपरिहार्यं परमार्थसव्यवहारकृतो व्यवहार इति ।

आत्मज्ञानस्य फलमानन्दरूपत्ववर्णनञ्च परस्परविरुद्धधर्मवत्त्वशङ्कापरिहारी—आगमोप-  
पत्तिभ्यां सिद्धान्तं प्रतिपाद्य तदनन्तरं शोकमोहादिनिवृत्तिश्च प्रत्यक्षं फलं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानस्येति  
प्रबोधाभेति वदन्तो विद्वदनुभवमपि प्रमाणयन्ति भाष्यकाराः । तत्र तत्र च ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य न  
मुक्तिहेतुत्वं किन्तु सन्ध्यासमहितात्मज्ञानादिति पक्षः च भुज्यब्राह्मणव्याख्यानावसरेषु गृहदारण्यकभाष्ये  
तात्पर्येण सोपपत्तिकं व्यवस्थापयन्ति । अयं च विषय ईशोपनिषद्भाष्योपसंहारे मुण्डकोपनिषद्भूमिकाया  
तैत्तिरीयोपनिषद्विवरणे छन्दोगोपनिषद्वारम्भे गोताभाष्ये च तत्र तत्र कञ्चन प्रसङ्गापादाय ज्ञानकर्म-  
समुच्चयवादा पराकुर्वन्ति । जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कार एव साधनमिति च समर्थयन्ति । ‘त्यागेनैकेऽमृतत्व-  
मानु’ इति श्रुतिः । अस्यामेवोपनिषदि समुच्चयवादनिरासावसरे “केचिद्वावद्भूता धृत्युसविशेषार्थानि-  
भिज्ञा सन्त पुत्रादिसाधनानां मोक्षायता वदन्ति । तेषां मुक्षापिधानं श्रुत्येदं कृतं जाया मे स्यादित्यादि

पाङ्क्तं काम्यं कर्मैत्युपक्रमेण पुत्रादीनां च साध्यविशेषविनियोगोपसंहारेण च । तस्मादणश्रुतिरविद्व-  
द्विषया न परमात्मविद्विषयेति सिद्धम्” (पृ ३८८) ।

“केचित्तु ब्रह्मविदोऽप्येषणासंबन्धं वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम् । व्यासवाक्यं च.....  
तेनं श्रुतम्—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शनः” ॥ इति ।

.. पुत्रप्रतिवचनरूपमत्र केचिद्गृहस्थाः मिखाटनादिभयात् परिभवाच्च तृष्यमाणाः सूक्ष्मदृष्टिंतां  
दर्शयन्ति । भगवत्पादास्तु कर्मणः प्राधान्येन मोक्षहेतुत्वं निरस्यन्तः जानातेत्यस्य यज्ञादीनि कर्माण्यारा-  
वुपकारकाणि भवस्यमनुष्ठेयानि । जन्मान्तरकर्मामनुष्ठेयस्त्वमेव ब्रह्मचर्यम् । एवं शुद्धचित्तः सत्रैव ब्राह्मणे  
स्थितः संन्यासाश्रमं स्वोक्त्यादिस्यथा कर्माण्यनुष्ठेयान्येव चित्तशुद्धये इति निरूपयन्ति । तथा च भगव-  
त्पादाः इमे श्रुतियुक्त्यनुभवः प्रसन्नपदगम्भीरेणारन्तुदेन वाक्यजालेन बृहदारण्यकोपनिषदः परमसाध्य-  
निर्णायक भाष्यमकारसुः । किं बहुना “तस्मादेतां सत्रं प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः” इति श्रुतिवाक्य-  
व्याख्यानावसरे तस्मान्मुमुक्षुः देवताराधनपरः श्रद्धामक्तिपरः विद्याप्राप्तिं प्रति ।

“विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते” इत्यस्य  
मन्त्रस्य व्याख्या—अयं मन्त्रः भगवत्पादैः ज्ञानकर्मसमुच्चयपरतया व्याख्यातः । तथा च भगवत्पादीय  
भाष्यम् “विद्याञ्चाविद्याञ्च देवताकर्मं देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः । यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेय  
वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव, एकपुरुषार्थसबन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते । अविद्याया कर्मणाऽग्नि-  
होत्रादिना मृत्यु स्वाभाविक कर्मं ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञाने-  
नामृतं देशात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्वचमृत उच्यते यदेवतात्मभावममनमिति । पाचस्पतिमिश्रा-  
भिमतोऽयं इत्यमलानन्दयतिना कल्पतरी प्राद्वि । तथाहि—विद्या वृत्तिम्, अविद्याञ्च कार्यकरणभावेन  
सहिते यो वेद स अविद्योपादानत्वेन सह तन्मय्या वृत्त्या तदुपादानं मृत्युमविद्यां तीर्त्वा स्वरूपभूतविद्यो-  
पलक्षितममृतमश्नुत इति । अर्थात् अविद्योपादानया ब्रह्माऽस्मिन्वृत्त्या अविद्यातरणेनामृतत्वं  
प्राप्नोतीति ।

अस्य मन्त्रस्य वातिकोक्तोऽर्थः—वातिककारैस्तु अयं मन्त्रः इत्थं व्याख्यातस्तथाहि—यः विद्या  
शास्त्रीयं कर्म अविद्यां स्वाभाविक कर्मं चोभयं सह निर्वर्धयन्निर्बलकभावेन सहितं वेद स अविद्यया  
पार्श्वीयकर्मणा मृत्यु स्वाभाविक कर्मं तीर्त्वाऽतिशय विद्याया अद्वैततत्त्वविद्ययाऽश्नुते इति । एव  
भगवत्पादैः अमेयेन तर्कजातेन परपक्षाभिराकृत्य अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकाः सर्वे पदार्थाः कणेहस्य  
विवेचिता बृहदारण्यकभाष्ये इति । भगवत्पादीय भाष्यं परितोलयता करवदरतमानं समस्तमपि  
प्रमेयजातमवगम्यत इति । विदितवेदितव्यानां पुरस्तान् किञ्चिद्वक्तव्यमवशिष्यत इति ।

वातिकान्ता ब्रह्मविद्या—तत्र भवान् वातिककारः बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये उक्तानुक्तदुरुक्त-  
चिन्तनात्मकं वातिकं प्रणिनाय । तत्र च भगवत्पादीयभाष्यस्य तात्पर्यवर्णनं मुखेन दुरुक्तचिन्तनमपि  
कृतं दृश्यते । तथाहि—यथा द्वितीयब्राह्मणे सृष्टिं प्रतिपादयन्तः भाष्यकारा एवं नाप्यममापिपत  
यत्तेजोवन्तानां सृष्टिं वर्णयन्तः साखान्तरीयवाक्यास्मोपसंहारम् । अर्थात् एकवाक्यतान्त्रीकस्य वर्णनी-

यमित्यभिधाय सृष्टिप्रसङ्गस्य ग्रहात्मैकत्वप्रतिपादने तात्पर्यं सृष्टिस्तु न विवक्षितेत्युक्तम् । तथा च भाष्यम्—“तस्य प्रजापतेरचंत् पूजयत् आपो रमात्मिका पूजाङ्गभूता भजायन्तोत्पन्ना । भ्राष्टाऽकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यं श्रुत्यन्तरसामर्थ्यादिकल्पामभवाच्च सृष्टिक्रमस्य” । अत्र वार्तिककाराविवक्षितमिदं भाष्यकारीयमतं विज्ञानिष्ठत्वादुपनिषदाम् । तथा च वार्तिके—“विद्योत्पत्तिप्रधानत्वात्सृष्टिर्वा न विवक्ष्यते । तथा च प्रतिवेदान्तं सृष्टिर्नानाविधेदयते” ॥ (वा १ २ १४६) इति ।

एवमेव पुत्रेणायं लोक जय्य कर्मणा पितृलोकं विद्याया देवलोकेति । अत्र एवकार सर्वत्र वाक्ये संयोज्य भगवत्पादा व्याचक्षते । परन्तु वार्तिककार इदं व्याख्यानं नामुमेने । अत्र हि त्वद निरस्य प्रवृत्तान्तरेण व्याख्याञ्जकार । यथा—“विद्याया देवलोकाणि श्रुतत्वादेव कारणात् । नैवकाराभिसंस्थादेवेत्यत्र न सगतिः” । (वा १ ५ २५६) इति । ‘पुत्रस्यैवावधृत्य एवकारो भवेदयम् । पितृदेव लोकसंप्राप्तिं श्रुतेहान्येव साधने ॥ व्याख्यानमिदमेवात्र विदोष दोषवत्परम् । इदमेव ततो ग्राह्यं न तु यद्दोषवन्मत्तमिति” ॥ वा २८० २८१ ॥ प्रकृतसंस्वरणे ३७७ पृष्ठेऽपि विषयं क्रोडपत्रकारं सविस्तरमुपापदि । विदोषस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः ।

‘एतं चै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा पुत्रं पणायाश्च वित्तं पणायाश्च लोकं पणायाश्च व्युत्पायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्माद्ब्राह्मणं पाण्डित्यं निविद्यं बाल्येन तिष्ठति” (वृ उ ३ ५ १) इत्यत्र ब्राह्मणशब्दश्च वणाद्ब्राह्मणस्यैव सन्यासेऽधिकार इति भाष्यकारा प्रतिपादयामासु । वार्तिककारस्तु ‘ब्रह्मचर्यादेव प्रज्जेदि त्यादिसन्यासविधायकश्रुतौ ब्राह्मणादिवर्णत्रयसाधारण्येन प्रवृत्तत्वात् सामान्यश्रुतेश्चात्र ब्राह्मणग्रहणं विशेषः सकोचकल्पवत्त्वात् । ब्राह्मण क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रज्जेद्गृहीदिति विशेषस्त्वगृहीतत्वासम्भवात् । अत्र ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियवक्ष्ययोरुपलक्षणार्थम् । स ब्राह्मणबृहदारण्यकोपनिषदि ३५१ पृष्ठे इति उत्तरत्र वक्ष्यमाणफलावस्थयब्राह्मणाभिप्रायकं वा इति वर्णयन्ति । परन्तु भाष्यानुसारेण व्याख्या विधाय इदमसंगतमित्याक्षिप्य समर्थयन्त स्वकीयसमुपस्थापयन्ति यथा—

‘त्रयाणामविशेषणं सन्यासं श्रूयते श्रुतौ ।  
यदोपलक्षणाय स्याद्ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥  
एव चेद्ब्राह्मणोक्तिः स्यादध्वस्ताविद्यगृहीतये ।

स ब्राह्मण इति स्पष्टं श्रुतिरन्ते च वक्ष्यति” ॥ (वा ३ ५ ७६, ६२)

एवं कहोलब्राह्मणेऽपि त्रयाणामपि वर्णानां श्रुतौ सन्यासदर्शनात् ब्राह्मणस्यैव सन्यास इति श्रुत्या विरुध्यते इति च प्रतिपादयन्ति । किंच वार्तिककाराणामयमभिप्रायः प्रतीयते यत् पूर्वोक्तप्रवृत्त्याभ्यां सन्यासतद्विधिनिरूपणं निष्फलमिति । यथोक्तं वार्तिके—

‘सत्यं प्रत्यक्षविधिषु यथोक्तपञ्चफलेन धमः ।  
भिक्षाचर्यं चरन्तीतिविध्यं क्रियते महान् ॥  
तिष्ठति चेदिति चात्रापि प्रत्यक्षं श्रूयते विधिः ।  
तस्मिन्सति वृथा कस्माज्जगोऽप्यपरिचिद्यते” ॥ (३ ५ १६५ १६६) इति ।

एवं ‘स एष नेति नेत्यात्मा’ (वृ उ ३ ६ २६) इत्यादिवाक्यं न याज्ञवल्क्यस्य अपि तु ततो निर्गतं भगवत्मा स्वतन्त्रायां श्रुतेर्वचनमिति भगवत्पादीयं व्याख्यानम् । वार्तिककारस्तु भाष्यकारीयं व्याख्यानं यथावदुपपाद्य तदनन्तरमेतद्वाक्यं याज्ञवल्क्यस्य प्रवृत्तान्तर्गतम् । तथा वाक्यस्य विच्छेदे इति

शब्दादीनामन्यतमस्याभावात् वाक्यविच्छेदं विनैव पूर्ववाक्येणैकवाक्यतयैव व्याख्यानमुचितमिति ।

“स एष नेति नेत्याद्यः प्रश्नो वाज्यं समीक्ष्यतार्म् ।

मध्ये वाक्यच्छिदोऽभावादिति शब्दस्य पूर्ववत्” ॥ (वा. ३. ६. १०४) ॥ इति ।

एवमेव चतुर्थस्य ततीयब्राह्मणोपक्रमे “जनकं वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिव्ये” (घृ. उ. ४. ३. १) इति । इदं च भाष्यरीत्या एतेन संबदिष्य इति योजनाया जनकेन सह संवादायैव याज्ञवल्क्यो जगामेति व्याख्यानं प्रदर्श्य भाष्योक्तव्याख्याया, असाधुत्वमभिधाय स्वीयव्याख्यानस्य साधुत्वं निरूपयन्ति । यथा वातिके—

“राज्ञेऽपूर्वं पप्रच्छ एतस्माद्गम्यते सुमा ।

लिङ्गाद्व्याख्योत्तरा पूर्वा न साध्वीत्यप्रमाणतः” ॥ ४. ३. १३ ॥ इति ।

एवमेव “य एष विज्ञानमयः पुरुष” इति श्रुतिव्याख्यानावसरे भगवत्पादेः पुरि शयनात्पुरुष इति व्युत्पत्तिः प्रादर्शित । वातिककारस्तु पुरयन्पुरुष इति व्युत्पत्तिं धर्णयन्ति । यथा वातिके—

“पुरयन्पुरुषः प्रत्यक्सर्पादीन् रश्ना यथा ।

व्युत्पत्तिरियमेवात्र तात्पर्यस्य समीक्षणम्” ॥ २. १. १६२ ॥

एवमेव याज्ञवल्क्यमंत्रेयीसवादरूपे मंत्रेयीब्राह्मणे “अस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्यज्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः” इति मन्त्रव्याख्यानावसरे भगवत्पादेः इतिहासपुराणादिकं वैदिकमेव ग्राह्यमित्युक्तम् । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वसिद्धिरसः चतुर्विध मन्त्रजातम् । इतिहास इति ऊर्वशीपुण्यरक्तोत्सवादाविः । ऊर्वशीहाप्सरा इत्यादिब्राह्मणमेव ग्राह्यम् । पुराणम्—असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि । अत्र वातिककारैः इदं निरस्य प्रसिद्धस्यैव इतिहासपुराणादेः ग्रहणमित्युक्तम् । तत्र भाष्यानुसारेण यज्वेदः इत्यादि व्याख्यायार्थान्तरमाह—इतिहासादिशब्देः अष्टविधश्राह्मणस्य ग्रहणं न बाधकमावे लोकप्रसिद्धेरपि अनतिक्रमणीयात् । तस्मात्प्रसिद्धानामेव इतिहासपुराणानां ग्रहणमिति । यथा प्रसिद्धमितिहासपुराणादपि गृह्यते । लोकप्रसिद्धिमुल्लघयतीति न्यायोऽप्यथाग्रहः । अत्रत्यो विशेषः श्रोत्रपत्रतोऽप्यनन्तव्यः ।

वातिककारापसिद्धान्तानां संग्रहः—श्रीमद्वादरायणशङ्करसुरेश्वरकृतमयदि अद्वैतवेदान्तदर्शने वातिककारीयत्वेन प्रसिद्धाः इमे निद्धान्ताः जिज्ञासूनाम् । अन्तैवसन्ता सुखबोधाय स्वासीपुलाकन्यायेन केचन ग्रथस्तात् प्रदर्शयन्ते । यथा—

१. श्रवणे परितस्थ्याविधिः ।

२. शब्दार्थसम्बन्धरूपशक्तिग्रहस्याभावेऽपि सुषुप्तस्य शब्दव्यवणात् प्रबोधवत्तत्त्वमसीति महा-  
वान्यद्बोधो भवति । “अगृहीत्वैव संवन्धमभिधानाभिधेययोः । हित्वा निद्रा प्रबुध्यन्ते सुषुप्तो बोधिताः परंः” । इति ।

३. जीवविषये आभासवादः ।

४. आत्मेत्येवोपसीत अभ्युपेत्यवादो नियमविधिरिति भाष्यम् ।

५. संन्यासे त्रयाणामधिकारः ।

६. भर्तृप्रपञ्चाभिमतस्य परिणामवादस्य विवर्तवादपरतया व्याख्यानम् ।

७. सुखमहमत्वात्प्राप्तं न किञ्चिदवेदिमिति न सोपुष्कालीनस्मरणं किन्तुनुभव इति ।

८ प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमिति ग्रामासवादिनो वातिकवार इति विन्दुटीवयोरुल्लेख इति । एतेषामेव वातिककाराभिमतानां सिद्धा तानां सिद्धान्तलेशसंग्रहादौ विस्तरेण तत्तत्स्थलानि चाधस्तादुद्घ्रियन्ते । तथाहि—

‘आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्य’ इति श्रवणविधिं विचारप्रसङ्गे मध्यमदीक्षितं परिसंख्या-विधिं वातिककाराणामिति शास्त्र सिद्धान्तलेशसंग्रहे प्रस्तावे निरूपयन्ति । प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमिमा-भासवादिन वातिककारा इति सिद्धान्तविन्दौ न्यायरत्नावल्याञ्च प्रथमश्लोकव्याख्यानं ।

ब्रह्मज्ञानार्थं वेदान्तश्रवणं प्रवृत्तस्य चिकित्साज्ञानार्थं चरकमुश्रुतादिश्रवणे प्रवृत्तस्यैव मध्ये व्यापारान्तरेऽपि प्रवृत्तिः प्रमज्ज्यत इति तन्निवृत्तिफलकं “श्रोतव्य” इति परिसंख्याविधिरिति वातिक-मतमिति सिद्धान्तलेशसंग्रहे दीक्षितेन्द्रा प्रतिपादयन्ति । यथा ‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ (छा व २ २३ १) इति छान्दोग्ये अनन्यव्यापारत्वस्य मुक्त्युपायत्वावधारणात् सम्पूर्वस्य तिर्यक्ते समाप्तिर्वाचितया ब्रह्मसंस्थादाहिताया ब्रह्मणि समाप्तेरनन्यव्यापाररूपत्वात्, “तमेवैकं जानय भग्न्या वाचो विमुञ्चय” इत्याद्यर्थेण कण्ठत एव व्यापारान्तरप्रतिपद्याञ्च । “ग्रामुप्तेरामृते काल नयेद्वेदान्त-चित्तया” इत्यादिस्मृतेश्च । न च ब्रह्मज्ञानानुपयोगिनो व्यापारान्तरस्य एकस्मिन् साध्ये श्रवणं सह समुच्चित्य प्राप्त्यभावान्न तन्निवृत्त्यर्थं परिसंख्याविधिर्युज्यत इति वाच्यम् । ‘सहकार्यन्तरविधि’ (उ मी ३ ४ १४ ४७) इत्यादिसूत्रं ‘यस्मात् पक्षे भेददर्शनप्राप्त्यान्त्र प्राप्तोति, तस्मान्निवृत्तिविधि’ इति तद्भाष्ये च कृतश्रवणस्य शान्दज्ञानमानात् कृतकृत्यता मन्वानस्य अविद्यानिवर्तकसाक्षात्काराप-योगिनि निदिध्यासने प्रवृत्तिर्न स्यादिति अतत्साधनपक्षप्राप्तिमात्रेण निदिध्यासने नियमविधेरभ्युपगतया तन्न्यायेनाऽसाधनस्य समुच्चित्य प्राप्त्यापि तन्निवृत्तिफलकस्य परिसंख्याविधेः सम्भवादिति ।

‘नियम परिसंख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेद्यत् ।

अनात्मादर्शनेर्नैव परात्मानमुपास्महे’ ॥ (नै सि १ ८८) इति वातिकवचनानुसारिण केचिदाहुः । अस्य वातिकस्य अपूर्वविधित्वं न सम्भवतीति कृष्णालंकारः । चित्तुसीय व्याख्यानं द्रष्टव्यं जिज्ञासुभिः ।

सुप्तोत्थितस्य पुरुषस्य सुखमहमस्वाप्स न किञ्चिदवेदिमिति ज्ञानमनुभवात्मकमिति । उक्तं हि अव्यावृत्तप्रक्रियायां वातिके—

‘न सुषुप्तगविज्ञानं नाज्ञासिपमिति स्मृतिः ।

कालाद्यव्यवधानत्वात्मा ह्यात्मस्थमतीतमाक” ॥ १ ४ ३०० ॥

इदं च वातिकमानन्दगिरिणा इत्य व्याख्यातं शास्त्रप्रवाचिकायाम् । “उत्थितस्य नावेदिप-मिति परामर्शं स्वाधकालोनाज्ञानविषयकादाचित्कानुभवोपनायको नेत्यत्र हेतुमाह—यालादीति । आत्मनो देशकालव्यवधानाभावात्तद्गतज्ञानस्यापि न तत्संबन्धस्तथा च नाज्ञासिपमित्यज्ञानं पूर्वकालश्च साधिष्यध्यस्ती संनैव दयेते” इति । ब्रह्मानन्दगौडस्यु न्यायरत्नावल्या न किञ्चिदवेदिपमित्याकारा भज्ञानस्य जाग्रत्प्रालीनस्य स्मृतित्वं न स्यादिति वाच्यं तस्य तन्मतेऽनुभवस्य स्वीकारादिति । शब्दार्थसंबन्धं ज्ञानं विनापि सुषुप्तस्य शब्दश्रवणात् प्रबोधयत पदार्थबोधस्तभवति । यथोक्तं वातिके—



“अगृहीत्स्यैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः ।

हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुपुप्ते बोधिताः परैः ॥ १. ४. ८६१ ॥ इति ।

जीवात्मविषये आभासवादः सम्प्रदाये प्रसिद्धः । अपरे तु न प्रतिबिम्बः ताप्यवच्छिन्नो जीवः । किन्तु कीर्त्तयेत्येव राधेयत्ववदविकृतस्य ब्रह्मण एव अविद्याजीवभावः । व्याधकुलसंवधितराजकुमार-  
दृष्टान्तेन ‘ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यते’ इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रतिपादनात् ।

“राजसूनोः स्मृतिप्राप्ती व्याधभावो निवर्तते ।

तथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः” ॥ इति वार्तिकोक्तेरर्थः ।

संन्यासे त्रयाणां वर्णानामधिकारः—शास्त्रसिद्धान्तलेखसंग्रहे वार्तिकमतं यथा वर्णितं  
तद्यथा—अत्र केचित् ‘यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा’ इत्याद्यविशेषश्रुत्या—

“ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ।

त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः” ॥

इति स्मृत्यनुगृहीततया क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारसिद्धेः श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणं  
त्रयाणामुपलक्षणम् । अत एव वार्तिकेऽपि ‘अधिकारिविशेषस्य’ इति श्लोकेन आप्याभिप्रायमुक्त्वा—

के “त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुती ।

यदोपलक्षणार्थं स्यात् ब्राह्मणग्रहणं तदा” ॥

इत्यनन्तरश्लोकेन स्वमते क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारो दक्षित इति । तयोः श्रवणाद्य-  
नुष्ठानसिद्धिं समर्थयन्ते ।

“अन्ये तु ब्राह्मणस्यैव संन्यासो बहुधा श्रुतेः ।

देवादिचदसंन्यासश्रवणं सत्रवैश्ययोः” ॥

अन्ये तु अनेकेषु संन्यासविधिवार्येषु ब्राह्मणग्रहणात् उदाहृत्य जाबालश्रुती संन्यासविधिवार्ये  
ब्राह्मणग्रहणामादेशि श्रुत्यन्तरसिद्धं ब्राह्मणाधिकारमेव सिद्धं कृत्वा ‘संन्यासावस्थापामगोपयती कथं  
ब्राह्मणः’ इति ब्राह्मणपरामर्शान्न ब्राह्मणस्यैव संन्यासाधिकारः । विरोधाधिकरणन्यायेन (पूर्व-  
भोगमा १, ३, २) श्रुत्यविरुद्धस्यैव स्मृत्यर्थस्य सग्राह्यत्वात् । यत् संन्यासस्य सर्वाधिकारित्वेन वार्तिक-  
वचनं तत् विद्वत्संन्यामविषयं न तु आतुरविविदिपासंन्यासे आप्याभिप्रायविरुद्धसर्वाधिकारप्रतिपादन-  
परम् ।

“सर्वाधिकारविच्छेदि विज्ञानं चेदुपेक्षते ।

कुतोऽधिकारविषयो व्युत्थाने निबधे बलात्” ॥

इत्यनन्तरश्लोकेन ब्रह्मज्ञानोदयानन्तरं जीवन्मुक्तिकाले विद्वत्संन्यास एवाधिकारनियमनिराकर-  
णात् । एव च ब्राह्मणानामेव श्रवणाद्यनुष्ठाने संन्यासोऽङ्गक्षत्रियवैश्ययोस्तन्निरपेक्षः श्रवणाद्यधिकार इति  
तयोः श्रवणाद्यनुष्ठाननिर्वाहः ।

अस्यामुनिपदि प्रतिपादनीयानि रोचकानि बहूनि कथानकानि यैरात्मतत्त्व बहुकृत्वोऽपि  
पथ्यं वदितव्यमिति न्यायेन सुविशदमुपवर्णितम् । तेषां निरूपणे भूमिकाकलेवरववृद्धिमथात् द्विप्राणि  
कथानकानि संक्षेपेण स्थालोपुलाकन्यायेन प्रदर्श्यन्ते ।

मूर्तामूर्तब्राह्मणार्थस्य संक्षेपः—अयमत्र विषयपरिमुद्धिः । “हे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चेवामूर्तं चे”ति ब्रह्मणो रूपद्वयं प्रस्तुत्य “तदेवमूर्तं यदन्यद्वायोदधान्तरिक्षाच्चेति” वाक्येन पृथिव्यप्तेजोरूपं भूतत्रयात्मकं रूपं ब्रह्मणो मूर्तमिति निरूप्य तत्कार्यत्वेनादित्यमण्डलं प्रतिपादितम् । “तस्यैतस्य मूर्तस्य .....एष रसो य एष तपती”ति वाक्यसन्दर्भेण ।

अत्रेयमाशङ्का जायते यद्यपि आदित्यमण्डलं पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं भवति । तथापि त्रयाणामपि भूतानामतिस्फुटत्वसाम्येन भूतत्रयकार्यत्वमादित्यमण्डलस्य प्रदर्शितमिति ज्ञेयम् । “अयामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चे”ति भूतत्रयममूर्तत्वेन निरूप्य तत्कार्यत्वेन आदित्यमण्डलश्चान्तर्वर्ती पुरुषस्तन्माप्नातः । “तस्यैतस्यामूर्तस्य.....एष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः” इति । अत्रेदं बोध्यम्—यद्यपि आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः चेत्तन न साक्षात्भूतकार्यं तथापि तच्छरीरस्य भूतकार्यत्वात्तदभेदोपचारेण सोऽपि भूतकार्यत्वेन निरूप्यते । यद्यपि तच्छरीरमपि भूतकार्यं तथाप्यस्फुटत्वसाम्यात् वाय्वाकाशकार्यैश्चमुक्तमिति ध्येयम् । एवमुक्तं मूर्तामूर्तप्रपञ्चमित्यधिर्देवतमिति । देवतासर्वान्धत्वेनोपसमाहृतिः ।

“अयाध्यात्ममिति” शरीरात्तर्गततया मूर्तामूर्तं प्रस्तुत्य “इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाञ्च यश्चायमन्तरात्मनाकाशः” योऽयमन्तरात्मन् शरीरे भावाश्च तस्मात् यदन्यत् इति वाक्येन शरीरात्मकं तेजोऽब्जनात्मकमाध्यात्मिकं निरूप्य तत्कार्यं चक्षुर्गोत्रकं समाम्नातम् । ‘तस्यैतस्य मूर्तस्य... एष रसो यच्चक्षुरि’त्यादिना । पूर्ववदत्रापि गोलकस्य पञ्चभौतिकत्वेऽपि स्फुटत्वाभिप्रायं भूतत्रयकार्यत्वम् । “अयामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मनाकाशः” इति शरीरं वायुश्चाकाशश्चामूर्तत्वेन निरूप्य तत्कार्यत्वेन लिङ्गशरीरं निरूपितम् अस्फुटत्वसामान्यात् । “तस्यैतस्यामूर्तस्य.....एष रसो योऽयं दक्षिणेऽङ्गपुरुषः” इति लिङ्गशरीरस्य पुरुषपदप्रतिपाद्यत्वं च पुरुषतादात्म्येनेति विज्ञेयम् । यद्यपि तत् सर्वशरीरव्यापी तथापि तदभिमानिनो हिरण्यगर्भस्यादित्यरूपस्य ‘इन्द्रो ह वै नामैव योऽयं दक्षिणेऽङ्गपुरुषः’ इति वाक्यसन्दर्भेण दक्षिणाक्षिस्थानत्वावगमात् तदभेदोपचारेण लिङ्गशरीरमपि दक्षिणाक्षिस्थानत्वेन निरूपितम् । अनन्तरं च ‘तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डुवाविकं यथेन्द्रगोपी यथा सकृद्विद्युत्तमि’ति नानारूपतया लिङ्गं निरूपितम् । महारजनं हरिद्रा कुसुम्भं वा तेन रक्तं वासं माहारजनम् । पाण्डुं श्वेतम् । अविर्लोपविकारभूतं बम्बलादि भाविकम् । यो वर्षासु प्रतिस्त्रिज्वलतया भाविर्भवति कीटविशेषः स इन्द्रगोप इति प्रसिद्धः । विद्युत् विद्युत् सकृद्विद्युत् विद्युत्विषयः । अत्रेदमवधेयम्—द्वितीयेऽध्यायेऽज्ञातशत्रुब्राह्मणे उपसंहारः—‘तस्योपनिषत्स्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्” । अयमर्थोऽवगम्यते अज्ञातशत्रुब्राह्मणे वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतस्य ब्रह्मणो यत् सत्यस्य सत्यत्वमुक्तम् । तत्र प्रथमशब्दोदितप्राणालम्बनमुपासनं प्रसगात् शिनुब्राह्मणे निरूप्य यत् परमसत्यत्वं ब्रह्मणो द्वितीयसत्यपदेनोपन्यस्तम् । तत् प्रपञ्चनिषेधेन प्रदर्शयितुमेव मूर्तामूर्तब्राह्मणप्रवृत्तमिति सपिण्डितोऽर्थोऽवगन्तव्यः । “अथात आदेशो नेति नेतो”ति शास्त्रब्रह्मणो रूपद्वयं लोचसिद्धं रूपद्वयं परामुच्यति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय । अथवा पूर्वं प्रतिपद्य भूतराशिं द्वितीयो वासनाराशिम् । अथवा वीप्साय सर्वप्रतिषेधाय । तेनाविकारस्य सवस्य निषेधेनाविषयो ब्रह्मेति प्रतिपादयति ततो ब्रवीति च भूयः ३. २ २२ सूत्रे एषाऽञ्जरयोजनेत्यादिना । तत्र प्रथमयोजनायामेतस्माद्ब्रह्मणोऽतिरिक्तं नास्तीति निषिद्धयते । न तु स्वयमेव नास्तीति । द्वितीययोजनायान्तु न ह्येतस्मात् प्रपञ्चनिषेधरूपादादेशनात् अन्यत् परमादेशनं नास्ति । अस्मिन्पक्षे

नामधेयविषय योजनीयम् । अथ नामधेयम् “सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमि”ति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधोऽवकल्पते न त्वयावसाने । तस्मात् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावावसान इति संक्षेपः ।

गार्गी कथानकम्—महाराजेन जनकेन यज्ञे समवेतानां ब्रह्मवेत्तां ब्रह्ममुपस्तकहोतादीनां पराजये गार्गी नाम ब्रह्मविदुषी काचित्ब्राह्मणी सदस्यागत्य नमस्कारपूर्वकं ब्राह्मणभ्योऽनुज्ञां प्राप्य याज्ञवल्क्यम्-प्राक्षीत । उत्तरदाने अयाच्यवदनं नाम निग्रहस्थानं तददाने अप्रतिभा नाम निग्रहस्थानमित्युभयया याज्ञवल्क्यस्य पराभवः सन्वानाः । याज्ञवल्क्यः सर्वमिदं जगद्भूतं भवत् भविष्यच्च यत्राप्याकृताकाशे वर्तते । सोऽप्याकृताकाशं कुत्राऽप्यस्त इति ।

याज्ञवल्क्यश्च तस्या अभिप्रायं ज्ञात्वा एकदैव दोषद्वयं परिहरन्नाह—“एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्यूलममण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽप्यावनाकाशम्... ..” (बृ० उ० ३-८-८) इत्यादि । अत्र ब्राह्मणा अभिवदन्ति इत्यनेन स्वस्यावाच्यवदनदोषो पर्यहारिः, स्योत्यादिसकलधर्मरहिताक्षरकथनेन चाऽप्रतिभा निराकारिः । ततो नेतरसकलनिषेधमात्रात्वात् अक्षरसिद्धिरिति शङ्कायाः सकलनिषेधावधत्वेन तत्सत्त्वमभिप्रेत्य “एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृती तिष्ठतः” इत्यादिना चावापृथिव्यौ निमेषादिकालानवस्समुद्रा देवः पितरश्चाक्षरस्य प्रशासने वर्तन्त इति सकलमर्यादाविधायकत्वेन अक्षरसत्त्वमभिधाय “यो वा एतदक्षरं गार्ग्यैवदित्वाऽस्मिंस्तोके जुहोती”त्यादिना यदज्ञानात्सत्सारकार्पण्यं यज्ज्ञानाच्च तन्निवृत्तिरिति । तत्सर्वमुक्त्वा कुतस्तर्हि तन्नोपलभ्यत इत्याशङ्कायां दृष्ट्याद्यविषयत्वेऽपि सर्वसाध्यकत्वेन स्वयं भासमानं तवस्तीति ब्रह्मन्तरनिषेधात् “अदृष्टं द्रष्टुं... ..” नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं” इत्यक्षरसद्भावं प्रसाधयामास गार्गी प्रति इत्यक्षरब्राह्मणस्य संक्षेपः । अत्र न्यायनिर्णये श्रोतृपत्रे च वातिकोक्तानामनुमानानां स्वरूपवर्णनादिकं विस्तरेणोपपादितं जिज्ञासुभिर्दृष्टव्यम् ।

अनेदमवधेयम्—यदस्ति तत्सर्वविशेषणमेव भवतीति लोकप्रसिद्धिः । नास्ति अक्षरं परं ब्रह्मेति शङ्का न कर्तुमुचिता । अन्तर्यामिणि जगत्कारणे प्रशासनेऽनुमानसिद्धे निरुपाध्यक्षरं सेत्स्यति । जगत्कारणत्वस्योपलक्षणतया “जन्माद्यस्य यतः” (अ सू १।२।२) इति सूत्रे सिद्धान्तितत्वात् उपलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपतत्क्षणप्रवृत्तेः प्रकृतेऽन्तर्यामिणि अनुमानमुपपद्यत इति ।

याज्ञवल्क्यमंत्रेयीब्राह्मणार्थस्य संक्षेपः—महर्षियाज्ञवल्क्यो गृहस्थाश्रमात् सग्यासाश्रमं जिगमिषु मंत्रेयीमुवाच सप्तत्या कात्यायन्या तव वित्तं सभागं करिष्यामीति । सा तु अमृतत्वाधिनी मुमुक्षुणा पत्या सह चिरवासेन तत्परिचरणादिलब्धात् करणशुद्ध्या सजातमुमुक्षायापृच्छत् मंत्रेय्या वित्तसमागेन लब्धेन वित्तेनामृता स्यामिति । स तु प्रत्युवाच ताम् “अमृतत्वस्य तु नाऽऽज्ञाऽस्ति वित्तेनेति” । ययैवोपकरणवतामशनवासनादिवता जीवितं तथैव भवत्या अपि स्यात् । वित्तेनामृतत्वस्याशा नास्तीति । ज्ञानसाध्यत्वादमृतत्वस्य न तु कर्मसाध्यत्वम् । किञ्च कर्मणा तत्त्वविज्ञानविरोधिना तत्सद्भावानुपपत्तेः । ततो मंत्रेयी न वित्तेन प्रयोजनम् । यदेव असमानमृतत्वसाधनं वेद तदेव मे ब्रूहीति । ततो याज्ञवल्क्य उवाच एहास्त्वं प्रियं भापसे इति तां प्रशस्यतमममृतत्वसाधनमात्मज्ञानमुपदिदेश । लोके पश्यादयो जायादीनां प्रिया भवन्ति कस्मै प्रयोजनाय विचारे क्रियमाणे न पश्यादीनां प्रयोजनाय प्रिया भवन्ति । अपि तु घातनं कामार्थैव प्रिया भवन्ति । अत एव तेषु स्वाभिमतसंपादकत्वं दशाध्यामिव स्वानिष्टसंपादकत्वदशाया न प्रीतिरस्ति । अतस्तेषां प्रियत्वं सोपाधिषमेव । घातनस्तु निरुपाधिकं प्रियत्वम् ।

तस्मादनात्मभ्यो वैराग्यं प्राप्य यत्र निरुपाधिकं प्रियत्वम् । तस्यैवाचार्योपदेशमनुश्रवणादिद्वारा तस्यैव साक्षात्कार इति ।

ततो "ब्रह्म तं परादाद्योज्यमात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादिना । 'तत्' प्रत्ययः प्रथमायै । आत्मान्य-त्वेन दृष्टा ब्राह्मणत्वजातिरमृतत्वपदात् निराकर्तव्या । अर्थात् सर्वस्यापि जगतः आत्मैव तत्तन्म रज्जुरिव संपत्त्य । अत्रानेकदृष्टान्तोपादानं सामान्यबहुत्वव्यापनाय । तदेव विशदयति चिन्मात्रानुगमात् सर्वत्र चिद्रूपतैवेत्याह—दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैर्यस्मिन्गृहीते यद्गृह्यते यस्मिन् गृहीते न गृह्यते तत्तत्त्वानुगतं भवतीति न्यायेन जगतो चिदात्ममाश्रयं निरूपयति श्रुतिर्भगवती ।

एवमुत्पत्तिकालेऽपि प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्म वेति ज्ञातुं शक्यमित्याह । एवमाद्र्द्वैतान्तेः धूमविस्फुलिज्जादयो व्युच्चरन्ति तथैव महतो भूतस्य व्युच्चरत् नामरूपात्मकं जगत् तत्त्वान्यत्वाभ्यां निरूपयितुं न शक्यते ।

एवमेकात्मप्रक्रियायां प्रलयसमयेऽपि तस्मिन्चैवात्मनि जगतोऽनुप्रवेशः । अतः आत्मैव जगत् । तस्मादिदं संबंधमयमात्मेति निरूपयति श्रुतिः । एवं सर्वात्मत्वादिना ब्रह्मणस्सप्रपञ्चत्वेन विकारित्वे निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादकागमविरोधे प्रसवते सप्रपञ्चत्वस्मारोपितत्वप्रतिपादनार्थम् । "स यथा संधव-धनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इत्यादिनाभिधाय अन्ते "स एव नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते" इत्यादिना सर्वप्रपञ्चानपेक्षः । तस्माद्-मैत्रेयोब्राह्मणसन्दर्भेऽप्यारोपापवादाभ्यां जीवत्वेश्वरत्वोपसक्षिप्तशुद्धचैतन्यरूपब्रह्मस्वरूपमात्रप्रतिपादन-परमिति तत्त्वम् ।

शाकल्यब्राह्मणार्थस्य संक्षेपः—शाकल्ययाज्ञवल्क्यसवादे देवतास्वरूप विचार्यं निर्णीतम् । तत्र शाकल्यः प्रष्टा याज्ञवल्क्यश्च वक्ता । देवताविस्तारसंक्षेपो स्वरूप च प्रष्टव्योऽर्थः । तयाहि तत्रैषा श्रुतिः—"अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवता याज्ञवल्क्येति ॥ हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रत्योमिति" । अस्याः श्रुते-रयमर्थः शाकल्येन देवानां सख्यादिविस्तारे पृष्टः याज्ञवल्क्यो विजिगीषुः कथायां प्रवृत्तत्वात् परेषां बुद्धिध्यामोहनाय निविदा प्रयुत्तर ददौ । निविच्छब्दो वैश्वदेवनामके शास्त्रविशेषे स्थितानां सख्यावाचिना पदानां समुदायमाचष्टे इति वैदिकमाजिकानां प्रसिद्धिः । अतो यावन्तो देवा वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते तावन्त उपारम्भा इत्युक्तं भवति । तानि पदानि त्रयश्च त्री चेत्यादिपदानि । शतत्रय सहस्रत्रय पदं च देवानां विस्तारः । कस्यैवेत्येवकारेण तत्र तत्र देवतान्तरशङ्का व्यावर्त्यते । य एव देवाः पूर्वं विस्तृताः त एव संक्षेपेण क्रियन्त इति तत्र तत्र प्रश्नार्थः । तत्रेदमवधेयम्—कतीति सख्याप्रश्नः । कतमे इति स्वरूप-प्रश्नः । तत्र तत्र शतसहस्रसख्या ये देवा उक्ताः ते सर्वे प्रधानं न भवन्ति । किं तर्हि ? प्राधान्येन हविर्भुजा त्रयस्त्रिंशद्देवानां योगमहिम्ना स्वोक्तैश्चिह्नविग्रहा एव । अतस्तेषां स्वरूपविशेषः पृथक् न निरूपणार्थः । त्रयस्त्रिंशद्देवेषु श्रुता बस्वादयः पुराणादिप्रसिद्धेभ्यः अन्ये । तेषु शब्दप्रवृत्तियो गिकी । तत्रत्यानां पदानामर्थाः प्राणाः बाह्येन्द्रियाणि । आत्मा अन्तःकरणम् । इन्द्रप्राणपतिशब्दो लक्षणया स्तनयित्युज्जयोर्वर्तते । लक्षितलक्षणयाऽनपिपक्षोः । अर्घ्यधेनोश्चैव सख्यावाची । योगेन समृद्धं वायुं धवतीति वायुः सूत्रात्मा । "वायुर्वै गौतम भूत्रमि"ति श्रुतेः । अन्ते प्राणशब्दः परमात्मवाची । तदेव स्पष्टयितुं स ब्रह्मैत्युक्तम् । तच्छब्दः परोक्षवाची । अकृतब्रह्मविचारं पुरुषं प्रति ब्रह्मणश्शास्त्रैक-समाधिगम्यत्वात् परोक्षत्वमिति । तत्र प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवैको देव इति । तत्रैवाप्रे ननु इन्द्रमित्र-

वरुणशब्दा भिन्नदेवतावाचिनो न त्वेक देवमभिदधति । अन्ययैन्द्रयागे वारुणो मन्त्र प्रयुज्येत । नाय दोष , देवस्य कर्त्तृत्वस्य मूर्तिभेदेन मन्त्रव्यवस्थोपपत्तेः । किञ्च देवस्यैकत्वेऽपि कर्मानुष्ठानदशायामोपाधिका भेदोऽङ्गीक्रियत एव । अत एवास्यामुपनिषदि प्रथमाध्यायस्य 'तद्यदिदमाहुरमु यजामु यजेत्येकं देवमेतस्यैव सा विमृष्टिरेष उ ह्य व सर्वे देवा' ( बृ० उ० १-४६ ) "मूर्धा ते व्यपतिष्यदिति याज्ञ-वल्क्य । त त्वोपनिषद पुरुष न वेद तस्य मूर्धा निपतितः । ब्रह्मविद्विद्वेपे न केवलमिहलोकहृति अपितु परलोकविरोधोऽपीति । अतो ब्रह्मविदि विनीतेन भवितव्यम् । तेन शास्त्र परावभूव शाकल्य । तस्मिन्प्रसंगे ब्रह्मज्ञानिना विरोध ज्ञातयोऽस्त्योन्यपि न लभन्त इति निन्दया आत्मज्ञानिनो विद्वेषो न कार्य इति । न हि निन्दान्यायेनात्मज्ञानस्य प्रशंसा । महतीय ब्रह्मविद्या यत् तन्निष्ठशायामैहिकामुष्मिन्विरोधस्मादिति विद्यास्तुतिरिति शाकल्यब्राह्मणायसक्षप ॥

अतः पर पठध्याया प्रतिपाद्योऽर्थः सिद्धान्तज्ञानन्यायेन संक्षेपेणोपवर्ण्यते । इष्ट हि बिबुषा लोके समासक्यासधारणाभियुक्तोक्ते । अश्वमेधसवन्धिनाऽश्वस्याङ्गेषु कालदृष्टिविधीयते । तत्रैव तैत्तिरीयसंहितायास्सप्तमकाण्डस्यान्तिमेऽनुवाके उक्तस्यार्थस्य संक्षेपश्च तत्रत्यभाष्योपहितः प्रादक्षि । तत्र बृहदारण्यकापनिषदि अश्वाङ्गेषु कालादिदृष्टिविधानम् । तैत्तिरीयके तु अयं विशेषः । अन्योत्कर्षेण उपनिषदादौ योजनीयः । सर्वजगदात्मकत्वेनाऽश्वस्तूयते । विराड्रूपेण वाऽश्वोपासनविधिरिति वेदभाष्यकारो बभाषिरे ।

छात्राणां जिज्ञासूनां च सुखबोधाय ब्राह्मणार्थं संक्षेपेणाद्यस्तन्निविद्यन्ते—अस्यामुपनिषदि पठध्याया मन्त्र इति प्राग्वोचामः । तत्र प्रथमाध्याये पठ ब्राह्मणानि सन्ति । तत्र प्रथमे ब्राह्मणे कण्डिकाद्वयमद्वयमेधयागाङ्गभूतस्य अश्वमेधे सन्ति त्रय पञ्च पञ्चमपञ्चमद्वयं त्वरगोमृगश्चेति । तत्र अद्वय एव प्रधानमश्वमेधस्य । क्षत्रियवर्तृत्वेन ब्राह्मणवैश्ययोरनधिकारात् । अद्वयमेधाङ्गस्य अश्वस्यावयवेषूपपासनं विहितम् । तेनैवाश्वमेधफलप्राप्तिः तयोः । अश्वविषयकोपासनं यथा अस्यामुपनिषदि समागमाते । एव तैत्तिरीयसंहिताया सप्तमकाण्डे पञ्चमे प्रपाठके यो वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षवान् मेधः भवति । 'उपा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादिना विहितमुपासनं तत्प्रतिपादकं ब्राह्मणं तैत्तिरीयसंहितासप्तमकाण्डान्तिमानुवाकं अद्यो निवेदितम् । यथा—

### बृहदारण्यकोपनिषत्

ॐ उपा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्च-  
क्षुर्वति प्राणोऽथात्तमग्निर्वैश्वानरः सवत्सर आत्मा-  
ऽश्वस्य मेध्यस्य । सो पुष्टमन्तारिक्षमुदरं पृथिवीं  
पाजस्य दिशः पार्श्वं भवान्तरदिशः पार्श्वं श्रुतवोऽ-  
ङ्गानि मामाश्वाधमासाश्च पर्वण्यहोरात्राणि  
प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्योनि नमो माँऽसानि । ऊवध्यः  
सिकता सिन्धवो गुदा यक्ष्च क्लोमानश्च पवता  
श्रोपधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यपूर्वाधो निम्तो-  
चनञ्चपनाधो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विद्युन्ते  
तस्तत्तनयति यमेहति तद्वपति वागेवास्थ वाक् ॥१॥

तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे पञ्चमप्रपाठकं.

यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षवान्  
मेध्यो भवति । उपा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः  
सूर्यश्चक्षुः वातः प्राणः चन्द्रमा श्रोत्रम् । दिशः पादा  
भवान्तरदिशः । पञ्चोऽहोरात्रे निमेषा अयमासा  
पर्वणि, मासा तन्वाणि श्रुतवोऽङ्गानि, सवत्सर  
आत्मा, रश्मयः केशा नक्षत्राणि रूपं तारका  
अस्योनि नमो माँऽसान्योपपयो लोमानि वनस्पतयो  
वाला अग्निर्मूलं वैश्वानरो व्यात्तम् ॥ १ ॥

समुद्र उदरमन्तरिक्षं पायुर्दावापृथिवी प्राणो  
वावा शेषः सोमो रेवो यज्जृम्भते तद्विद्योतते

अहर्वा अश्व पुरस्तान्महिमाञ्ज्वजायत तस्य पूर्वं समुद्रे योनी रात्रिरेन पश्चान्यहिमाञ्ज्वजायत तस्या-  
परे समुद्रे योनिरेतो वा अश्व महिमानावभित सब-  
भूयतु । ह्यो भूत्वा देवानवद्दृढाजो गन्धर्वानर्वाञ्जुरा-  
नश्वो मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धु समुद्रो योनि ॥२॥

यद्विधूनुने तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्पति वागेभास्य  
वागहर्वा अश्वस्य जायमानस्य महिमा पुरस्ताज्जा-  
यते रात्रिरेन महिमा पश्चादनुजायत एतो वं महि-  
मानावश्वमभित सबभूयतुर्ह्यो देवानवद्दृढा-  
ञ्जुरान्वाजो गन्धर्वानश्वो मनुष्यान्समुद्रो वा अश्वस्य  
योनि समुद्र ॥ २ ॥

तदर्थावगमाय तदीय भाष्य च जिज्ञासूनां सुखबोधाय अत्र सन्निवेशितमस्ति ।

अयान्तिमेऽनुवाके सर्वजगदात्मवेनाश्व स्तुयते । अथवा विराड्रूपेणाश्वोपासनप्रतिपादकोऽय-  
मनुवाक प्रकरणादुत्कृष्योपनिषदादौ द्रष्टव्य । अत एव वाजसनेयिन एतदयं प्रतिपादकं ब्राह्मणमुपनिषदा-  
दावामनन्ति । अस्यायमर्थः—य पुमान्मेघस्य यागयोग्याश्वस्य शिरो वेद शिर प्रभृतीनवयवान् विराडवयव-  
भूतमुप कालादिरूपेणोपास्ते, सोऽय शीर्षेणानुप कालादिरूपं शिर प्रभृतिभिर्विराडवयवैर्युक्तो मेघो  
यागफलभोग्योभो भवति । अश्वनुष्ठानस्य चोपासनस्य च समान फलम् । तथा च पञ्चमकाण्डे  
समाप्तातम्—' सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेघेन यजते । य उ चैनमेव वेद' इति ।

तत्र कस्मिन्श्चावयवे को विराडवयवो ध्यातव्य इति तत्सर्वमुच्यते—मेघस्याश्वस्य यद्विराट्-  
रुपा उप कालरूपम् । यदश्वस्य चक्षु तत्सूर्यं । यस्तदीयं प्राण सोऽय बाह्यो वायु । यस्तदीयं श्रोत्र सोऽय  
बन्धमा । ये तदीया पादा ता प्राच्या दिशः । ये पर्वणं पार्श्वस्थिविशेषा ता इमा आग्नेय्याद्यवन्तर-  
दिशः । यस्तदीयो निमेषोन्मेषसहितस्ते उभे अहोरात्रे । यानि तदीयहस्तपादगतपर्वणि ते शुक्लवृष्ण  
पक्षरूपा पर्वमासा । यानि च पर्वणा सधानानि ते चन्त्राद्या मासा । यानि चानुक्तविशेषाणि त्वराद्य-  
ङ्गानि ते वसन्ताद्या ऋतव । य भारमा मध्यमेह स सवसरकालः । ये तदीया केशा ते सूर्यरश्मयः ।  
यदवयवस्य भास्वरूपं तानि कृतिवादिनक्षत्राणि । यान्यनुक्तान्यस्थीनि तानि बृहस्पतिशुक्रशुक्रवाद्या-  
प्रीडितारका । यानि तत्र तत्र स्थितानि मासखण्डानि तदेतन्मनः । यानि क्षुद्रलोमानि ता धौपधयः । ये  
वासा पुच्छगता दीर्घकेशास्ते वनस्पतयः । यदेतन्मुखं सपद्यतेऽयं लोकप्रसिद्धोऽग्निः । यद्विषातं मुखवि-  
हारणं सोऽय वैश्वानरनामको देवताविशेषः । यद्वर सोऽय रुद्रः । य पायु तदन्तरिक्षम् । यावायवी ते  
द्यावापृथिव्यौ । यः शेषः सोऽयमभिपकार्यो ब्राह्मणः । अतः स सोमरसः । यज्जज्जयते गान्त्राणि विनाम-  
यति सेयं विद्युतः । यद्विधूनुते सशब्दं शरीरं कम्पयति तदेतद्गर्जनम् । यदेतन्मेहनं सेयं वृष्टिः । अस्य  
होपाशब्दरूपा या वावसेय वेदरूपा वागेव । जायमानस्य क्तो प्रयुज्यमानस्याश्वस्य य सज्जपनात्पुरस्ता-  
न्महिमाख्यो राजतग्रहस्तदिदमहरेव । एन पश्चादेतस्याश्वस्य सज्जपनादूर्ध्वं यो महिमाख्य सोऽवर्णग्रह  
सेयं रात्रिः । एतावैवोभौ महिमानी ग्रहावश्वमभित सबभूयतुरश्वस्य सज्जपनात्पूर्वं पश्चाच्च व्यशस्थितौ ।  
ह्यार्वावाज्यश्च अग्रान्तरजातिविशेषास्तत्तदूषेण देवादीन्वहन्ति । एवविधस्य विराड्रूपस्याश्वस्य समुद्र  
एव योनिः कारणम् । सम्यगुद्भवत्युत्पद्यते जगदस्मादिति समुद्र परमात्मा । न ह्यन्वस्मादयं विराडुत्पत्तु-  
मर्हति । स एवास्य बन्धु स्तम्भ स्थितिहेतुरित्यर्थः । एवमुपासिता पापक्षयद्वारा विराड्रूपं प्राप्नोति ।  
"त यथा ययोपास्ते तथैव भवति" इति श्रुत्यन्तरात् । विराट्प्राप्तिश्च क्रममुक्तिहेतुः । तत्र ज्ञानोत्पत्तौ  
सत्या तेन विराजा सह मुच्यमानत्वात् । तथा च स्मृतिः—

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानं प्रविशन्ति परं पदम्" ॥ इति ।

प्रियतमत्वं प्रतिपादनम् । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यादिवाक्यस्य वृत्तिकारभाष्यकारमतयो तात्पर्य-  
वर्णनम् । प्रसङ्गादत्र वाक्ये ब्रह्मावावो पुंश्व इति भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानस्य निराकरणम् "तस्य ह न  
देवादचनाभूत्या ईक्षते" इति अप्राप्तनिपक्षानुपरिहारश्च । एकादशवर्णिकाया चानुवर्णमृष्टिवचनम् ।  
'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति वाक्यस्यार्थवर्णनम् । भर्तृप्रपञ्चमन्मतस्य समुच्चयद्वयस्य  
निरास देहद्वयनाशस्य अन्तरालावस्थस्य निरासश्च । षोडशवर्णिकायामविदुष देवाद्युपकारनिरूप-  
णम् । "तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम्" इति वाक्यार्थनिरूपणमूलेन "जायमानो यं ब्राह्मण" इत्यादि-  
श्रुत्यर्थवर्णनञ्च ।

पञ्चमे ब्राह्मण सप्तान्सृष्टि एकमस्य साधारण द्वे देवानामन्ते त्रीणि आत्मने पञ्च एव  
तत्पय इत्यत्र सप्तमतया मन्त्रोक्तस्य पञ्चन्नस्य तुरीयत्वेन ब्राह्मणे व्याख्यानस्य तात्पर्यवर्णनम् ।  
वाङ्मन प्राणानाम् आधिभौतिक विस्तार, आधिदैविको विस्तार अनन्तयान्तपातिन प्राणस्य  
निरूपणम् । "त्रयो वाक्" इत्यादिश्रुतौ एवत्र श्रुतस्यवधारस्य अन्ययानुपङ्गेन भगवत्पादोय व्याख्यानम् ।  
'अथात सप्रति' इत्याद्यर्थवर्णनम् । तत्रैव भर्तृप्रपञ्चमतस्य सप्रति कृत्वापि यावज्जीव अग्निहोत्र  
वर्तव्यमेव इत्यस्य निराकरणम् । "स यदा एषवित्" इति श्रुत्यर्थनिरूपणम् ।

षष्ठे ब्राह्मण "तदेतत्त्रय" इत्यादे व्याख्यानमित्यादिरूपेण प्रथमाध्यायार्थो निरूपितः ।

द्वितीयोऽध्याय — द्वितीयेऽध्याये षडब्राह्मणानि सन्ति । तत्र प्रथम ब्राह्मण गार्ग्याज्ञानशत्रुसंवाद-  
मुलेन ब्रह्मतत्त्व निरूपयितुमुपक्रान्तम् "सत्यस्य सत्यमिति" । तस्यैव द्वितीये विश्वब्राह्मणे प्राणविषयो-  
पासन विहितम् । तृतीयञ्च भूर्तामूर्तब्राह्मणम् । तत्र भूर्तामूर्तयो ब्रह्मणि प्रसङ्गमापाद्य तन्निषेधन ब्रह्म-  
तत्त्व परिरोधितम् । "अथ नामधेयस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेव सत्य" मिति । अत्रत्यो  
विशेष अस्माभिः पूर्वमेव बयानकप्रसङ्गे समुहीत इति । नात्र लेखनी व्यापार्यते ।

चतुर्थञ्च ब्राह्मण मैत्रयीब्राह्मणम् । इदमेव कर्म मैत्रयीसंवादमुलेन अन्येषामात्मन परमप्रेमा-  
स्पदत्वं प्रवर्तते । अत्रत्य कथानकमत्यन्तरुचिकरमिति नात्र किञ्चिद्वचनव्यमवशिष्यते । अत्र आत्मन  
परमप्रेमास्पदत्वं प्रतिपादितम् । तत "इद सर्वं यदयमात्मा" इति वाक्येनात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रद-  
क्षिते स्थितिकाले सर्वस्थात्मा गृहीतु शक्यमिति प्रतिपादनाय दुन्दुभ्यादिषष्टान्तत्रयोपादानेन पूर्वोक्त-  
प्रतिज्ञैव समर्पिता । अल्पे प्राणपि सर्वस्य प्रपञ्चस्य आत्ममात्रत्वमिति प्रतिपादनाय 'यदाईदधानेति' ति  
षष्टान्तोपादानेनायमर्थस्समर्थितः । तत्रैवाष्टविध ब्राह्मण वेदानामपौरुषयत्वं तदितरप्रख्याना पौरुषयकृत-  
कत्वेन पौरुषयत्वं तथा नाम प्रपञ्चसृष्ट्या रूपप्रपञ्चसृष्टेरपि समग्रं न्यूनतादोषपरिहाराय इत्यादिक  
सर्वं विशेषतः षोडशत्रे द्रष्टव्यम् । एव एकायनप्रक्रियापि एकमेव ब्रह्म अवगन्तव्यम् । तत्रैव 'अथा  
सर्वाशामपात्रममुद्र एकायनमि' ति । तत्र विषयस्य प्रलयाभिधानेन विषयसन्तानजातीयाना करणानामपि  
लय भव्यते श्रुति विषयस्यैव स्वात्मब्राह्मत्वेन सत्स्थानान्तर करण नाम यथा रूपविशेषस्यैव सत्स्थान  
प्रदीप करण सर्वरूपप्रकाशने इति । तस्मादुत्पत्तिस्थितिलयप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्  
प्रज्ञान ब्रह्मैव । आर्मेवैद सर्वमिति यत् प्रज्ञात तत्साधितम् ।

तत पञ्चमं मधुब्राह्मणम् । तत्र मधु परस्परमुपकार्योपकारवभावः । तत् फल सृष्टि । तथा च  
पृथिव्यादि सर्वं जगत् परस्पररोपकार्योपकारवभूत तदेकारणपूर्वकमेकमामान्यादमेव मेकप्रलय च दृश्यम् ।  
तस्मादिदमपि पृथिव्यादिसंज्ञ जगत्परस्पररोपकार्योपकारकत्वात्तथाभूत भवितुमर्हति । अयमेवा-

योऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रतिपाद्यते । अथवाऽऽत्मवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्याऽऽत्मोत्पत्तिस्थितिलयत्वे हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य निगमनं क्रियते । यथोक्तं ग्रामाधिकं तत्र मधुविद्यायाः प्रकाशकेन मन्त्रेण तदुपबृंहणं ब्राह्मणेन च पञ्चमं ब्राह्मणं समर्थितम् ।

पठे ब्राह्मणे "अथ वा १७ ॥" इत्यारभ्य ब्रह्मविद्यायाम्य मधुकाण्डस्य वंशः ब्रह्मविद्यायाः मन्त्र-  
श्चायं स्वाध्यायार्थः जपार्थश्च । तेन महाजनपरिगृहीतोऽयं ब्रह्मविद्या महाभागधेया इति ब्रह्मविद्यायाः  
स्तुतिः । स्वाध्यायशब्दार्थस्तु स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सति अध्यापनम् । जपस्तु प्रत्यहमावृत्तिरित्य-  
भेदः । विशेषस्तु क्रोडपत्रे द्रष्टव्यः ।

तृतीयस्य प्रतिपाद्यः—तृतीयेऽध्याये नवब्राह्मणानि सन्ति । यत्र यज्ञप्रज्ञेन समवेतानां ब्रह्म-  
विदुषा परीक्षापूर्वकागमार्थेनिर्धारणायोपपत्तिप्रधाने याज्ञवल्क्यकाण्डे एतेषां मध्येऽनूचान्तमः क इति  
जिज्ञासया जनककृतः गोष्ठे गोसहस्रं गोसहस्रावरोधः । ब्रह्मिष्ठेन ब्राह्ममिति जनकैनाभिहितेऽपि  
ब्राह्मणानां मध्ये गोसहस्रब्रह्मणासामर्थ्यं दृष्ट्वा स्वगृहं प्रति गोमहस्रं नयेति याज्ञवल्क्यः स्वशिष्यमा-  
शापयामास । ततः ब्राह्मणेषु क्रुद्धेषु प्रथमब्राह्मणे याज्ञवल्क्यं प्रति ब्रह्मिष्ठमिमानिनः अश्वत्थस्य  
सवादरूपं प्रथमं ब्राह्मणम् । द्वितीयं च याज्ञवल्क्यातं भागसवादरूपेण प्रवृत्तम् । तृतीयं ब्राह्मणं  
च याज्ञवल्क्यभुज्युसंवादरूपेण प्रवृत्तम् । चतुर्थं च ब्राह्मणं याज्ञवल्क्योषस्तसंवादरूपम् । पञ्चमं च  
ब्राह्मणं याज्ञवल्क्यकहोलसवादमुखेन प्रवृत्तम् । उपस्तकहोलब्राह्मणयोः प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वे-  
नार्थभेदो नास्ति । उपस्तकब्राह्मणे शरीरातिरेकं कहोलब्राह्मणे अश्नायाद्यतीतत्वं प्रतिपाद्यत इति  
विशेषः । तत्र चतुर्थब्राह्मणे पृष्ठस्यैवात्मस्वरूपस्य सोपाधिकत्वरूपमधिकत्वाभ्यां भेदः इति प्रति-  
पादनम् तदङ्गत्वेन च संन्यासविधानम् । पठे च ब्राह्मणः याज्ञवल्क्यगार्गीसंवादमुखेन प्रवृत्तम् । यदिदं  
सर्वमप्युच्यते च प्रोतं चेत्यादिनाऽन्तर्यामिसूत्रविषयम् । सप्तमं च ब्राह्मणमेन्तर्यामिब्राह्मणमित्युच्यते ।  
यत्रान्तर्यामिस्वरूपमुपदिशति । इदमेव श्रीहलकब्राह्मणमित्यपि व्यपदिश्यते । अष्टमं च गार्गी-  
ब्राह्मणम् अथवा अक्षरब्राह्मणमिति व्यवह्रियते यत्र अश्नायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्ष  
सर्वान्तर ब्रह्म । नवमं शाकल्यब्राह्मणम् । अथ याज्ञवल्क्यभाषात् शाकल्यस्य मूर्धपातः । शाकल्य-  
मूर्धपातमयात् तूष्णीभूतेषु ब्राह्मणेषु ब्रह्मविद्विष्ठः याज्ञवल्क्यः उपस्थितान् ब्राह्मणान् सर्वोध्य युष्माकं  
मध्ये यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो व कामयते त व पृच्छामि सर्वान्वा वः  
पृच्छामि । याज्ञवल्क्योत्तरान्तरं प्रत्युत्तरदानासामर्थ्यात् प्रकल्पभूतेषु ब्राह्मणेषु याज्ञवल्क्यकृत-  
प्रश्नप्रतिपादका "अथा वक्षी जनस्पति" रित्यादिसप्तमन्त्राः पठिताः । अथ ब्राह्मे भगवत्पाठाः पर-  
मतनिराकरणपूर्वकं मोक्षस्थानन्दरूपत्वं श्रुत्यनुसारेण प्रतिपादयन्ति स्म ।

चतुर्थस्य विषयः—चतुर्थेऽध्याये नवब्राह्मणानि सन्ति । तत्र प्रथमं पञ्चाचार्यब्राह्मणं द्वितीयं  
कूचब्राह्मणं तृतीयं ज्योतिर्ब्राह्मणम् । चतुर्थं ब्राह्मणं संसारोपवर्णनं प्रस्तुतम् । तत्रायं पुरुषः येभ्यो  
ब्रह्मेभ्य सप्रमुच्येत्युक्तम् । कश्मिन्काले कदा इति प्रतिपाद्यते समागतं याज्ञवल्क्यं प्रति किमर्थमागमन  
पशुकानमया वा मूधमवस्तुनिर्णयान्तरप्रश्नश्रवणं च भवति जनको यपृच्छत् । तदा याज्ञवल्क्यः उभयार्थमि-  
त्युत्तर ददौ । ज्ञानसाधनानि वागाद्युपाधिकब्रह्मोपासनानि जाग्रदादिद्वारा तत्त्वनिर्धारणं च । याज्ञवल्क्यस्य  
वदिष्यतो तस्य ब्रह्मे कामप्रदानाख्यस्य वरस्य याज्ञवल्क्येन राजे इति दत्तत्वात् हेतुकथनं "किंज्योति-  
र्य पुरुषः" इत्यादि जनकेन कृतानां प्रश्नानामादित्यज्योतिरित्यादीनि याज्ञवल्क्येन दत्ताभ्युत्तराणि ।  
जनककृतस्य "कतम ब्राह्मे"ति प्रश्नस्य "योऽयं विज्ञानमय" इत्यादि याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् । जाग्रदव-



स्यायां आत्मज्योतिः मुञ्जेविवात् निष्कृष्य दर्शयितुमक्षयत्वात् स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वादिप्रति-  
पादनम् । अत विमोक्षाय ब्रूहि इत्येवं जनकेन अनुयुक्तः याज्ञवल्क्यः सुषुप्ते आत्मना मोदत्रासादिराहित्य-  
प्रतिपादनपूर्वकमसंगतं स्वप्ने कर्तृत्वाभावादसंगतं स्वतः कर्तृत्वाभावाज्जाग्रतेऽपि प्रतिपादनं महा-  
मत्स्यदृष्टान्तेन श्येनवाक्येनात्मनः सौयस्वरूपप्रतिपादनं श्रीवस्य परमात्मना एकत्वाद्विरोधज्ञानाभावे प्रिया  
स्त्रियः इत्यादि प्रतिपादनम् । अकामस्य मोक्षप्रतिपादनम् । मोक्षसाधनप्रतिपादकानां श्लोकानां समा-  
न्यायते आत्मकामस्य ब्रह्मविदः मोक्ष इत्यस्मिन्नर्थे मन्त्राणामुपन्यासः । आत्मज्ञानस्तुत्यर्थं तन्निष्ठस्य  
कायबलेशाराहित्यप्रतिपादनेन मार्गान्तरनिन्दा । परमार्थज्ञानसंस्कृतमनसैव ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मात्मनि  
सर्वधेद्विनिर्योगवर्णनञ्च । ब्रह्मविद्याफनकथनपूर्वकं याज्ञवल्क्याय गुरवे कृतकृत्यजनककृतात्मनिषेदनं  
प्रतिपादनं समस्तारण्यकार्यस्य संक्षेपेण निर्देशः । उक्तस्य सर्वायंस्व मैत्रेयीब्राह्मणेन निगमनमृषिकाण्डस्य  
वक्षवर्णनञ्च ।

पञ्चमवष्टविधयः—पञ्चमेऽध्याये सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः "पूर्णमद" इत्यादिना  
निर्देशः । सर्वोपास्तितोपात्तेन दमादिताधनत्रयविधानं हृदयं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म मनो ब्रह्म इत्याद्युपासनम् ।  
उक्थपष्टधा यजुर्दष्टधा सामसष्टधा प्राणोपासनम् । गायत्र्युपाधिविशिष्टस्य ब्रह्मण उपपासनम् ।  
गायत्र्युपस्थानं गायत्र्या मुखविधानायाथवादः मुखविधानं च । ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिण आदित्य-  
प्रार्थनाग्निदेवताप्रार्थना च ।

पठेऽध्याये ज्येष्ठेऽष्टगुणत्वेन प्राणोपासनं जगदिप्रार्णः प्रजापतिसमीपं गत्वा कोऽस्मार्क  
मध्ये धरिष्ठः इति प्रदत्तस्य प्रजापतेरुत्तरम् । प्राणस्याप्तवस्त्वप्रतिपादनं च । पञ्चाग्निविद्याविधानमुत्तेन  
मानुषवराः ममापि सन्ति इति देववरप्रदानेन स्वप्रतिज्ञा रक्षणीया इति शीतमवचनान्तरं शचैव पूर्वं  
ब्राह्मणाः प्रापात्काले क्षत्रियान् शिष्यवृत्त्योपगच्छन्ति नोपनयनेन शुश्रूषादिभिः । तस्मै पञ्चाग्नि-  
विद्योपदेशः । तत्रैव पठ्यस्याग्नेः विधानं पञ्चाग्निविदः अचिरादिमार्गेण गतिवर्णनम् । पञ्चाग्निविद्या-  
रहितानां केवलकर्मिणां दक्षिणमार्गोपदेशः । महत्त्वप्राप्तये मन्त्राख्यस्य कर्मणः उपदेशः श्रीमन्मन्त्रपूर्वक-  
पुत्रमन्त्रविधानं च । अविदुषामतिगृहीतमिदं कर्मेतीत्यत्र आचार्यपरम्परासम्मतिकथनम् । विशिष्ट-  
पुत्रेच्छायां पण्डितत्वादिविशिष्टपुत्रेच्छायां चोपायस्य कथनम् । शोदनपाकादिकरणकालादिकथनम् ।  
जातकर्मनामकर्णमात्राभिः मन्त्राभ्यां च कथनम् । यथोक्तं शिशुसम्पन्नपितुः पुत्रस्य च स्तुतिः खिल-  
काण्डस्य च विद्यावशाच्चेति इत्यादयः पदार्थाः सग्रहेणात्र उपवर्णिताः जिज्ञासूनामुपकाराय । अन्ये च  
बहवो विषयाः विशिष्टोपपादनं च ।

क्रौडपत्रविषये वक्तव्यम्—अस्या उपनिषदस्तात्पर्याचिन्तिर्नैयाय भगवत्पाटीय भाष्य गुरुमुखाद-  
ध्येतव्यमित्युक्तम् । तदर्थंश्च आनन्दज्ञानविवरणटीकयव (न्यायनिर्णयेन) संक्षेपेण जातु शक्यते ।  
तस्यापि मूल धातिककारोपज्ञ महावातिकम् । यथोक्तमानन्दगिरिणा उपोद्धाते —

'बृहदारण्यके भाष्ये शिष्योपकृतिरिदमेव ।

सुदेववरोत्तिमाश्रित्य नियते न्यायनिर्णयः" ॥ इति ।

तस्य तच्च यस्य भाष्यस्य नियद्वातिकमित्यज्ञातप्रायमेवासीत् । तदध्ययनपरम्परायाः  
प्रणीतत्वात् महर्षिकर्षः विद्यावाचस्पतिभिः महामण्डलेश्वरः हृषीकेशश्चर्कसासाधमपीठाध्यक्षः, महता  
प्रणिधानेन तादृश नौडपत्रं निर्माय महता परिश्रमेण । अस्य भाष्यस्य अर्थापवृत्तृहणमिदं धातिक इदं  
धातिकद्वयमित्यभिप्राय धातिकद्वयमुद्धृत्य तदर्थविवरणं स्वयं चक्रुः । एव प्रतिपद प्रतिभाष्यञ्च

वातिकेण यथा व्याख्यात तथा करतलामलकवत् प्रकाशितमेतैः महनीयचरणै । एवमेव समग्रस्यापि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यस्य अर्थविवरणात्मक वातिकमर्थविवरणेन सह दु सग्राहेऽस्मिन् क्रोडपत्रे विद्वदनुभवैकगम्ये विस्तरेण वर्णयामासु । अग्रे घन्था इमे ब्रह्मविद्विरिष्ठाः । अतः समस्त विद्वत्कुलमेतेषामधमर्णमित्यत्र नास्ति सन्देहलेश । किं वर्णयामि सुललितपदसन्दर्भे भाष्यवातिकयोः आक्षेपसमाधानार्थप्रतिपादनशैलीम् । एतेषां कृते यच्च यावच्च उच्यते तत्सर्वमवर्णीय एव । ईदृशस्य महानिधिमिव पुस्तकागारे निगूढितस्य क्रोडपत्ररत्नस्य भाष्यवातिकयोजनेन महान्तमुपवारमकारसु । ब्रह्मनिष्ठा इममेव पीठमधितिष्ठन्त वेदान्तविद्याविनोदरसिका, प्राचीनग्रन्थपरिक्षणप्रकाशनप्रचारणैकतानमानसा, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा श्रीमन्न श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिपादा अन्यवादाभाजनमित्यत्र को वा प्रेक्षावान् विप्रनिपद्यते ।

अस्मिन्स्वरूपे क्रोडपत्रविभूषिते द्रष्टव्या पदार्था अवस्तनया तालिकया जिज्ञासूना परमो-  
कृतये अवस्तान्तिविद्यन्ते—

पृ० १. वश । पृ० २ पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् । पृ० ३. भाष्यसंक्षेपम् । पृ० ४. प्रामाण्य-  
विचार, वेदस्य त्रैधा व्याख्यानम् । पृ० ६ ब्रौह्मपत्तिकसूत्रव्याख्यानम् । नवमत्रिंशत्पृष्ठयोऽपि द्रष्टव्या ।

पृ० ३० अत्र प्रामाण्यादिति ग्रानन्दगिरिटीका टिप्पणी च । पृ० ३१. कारणस्य सत्त्वे-  
ऽनुमानमहिता नाप्युक्तान्तरे पाठ अनुपयुक्तोऽपि । पृ० ३३ 'प्रत्यभिज्ञेति क्षणिकार्थं बोधयल्लिङ्ग-  
मित्येव पाठो युक्तः । पृ० ३६ स्वाध्वमेति पाठान्तरम् । पृ० ४०. इत्यत्र चान् प्रक्रिया द्रष्टव्या ।  
पृ० ४४ अनुमानरचना चानैवम् । पृ० ४८. ऋगादिशब्दार्था विचार्या ।

पृ० ७७ देवताधिकरणन्यायेन परिहरति । पृ० ६०-६१ वातिकोद्धरणं तद्व्याख्यानञ्च ।  
पृ० १२४ इन्द्रियसौष्ठवफलम् । पृ० १२७ सद्विधे तु बाधयशेषात् । पृ० १४४. मन्त्रार्थं पदार्थं  
वाक्यार्थं कल तात्पर्यार्थं वातिकमावाय तत्समर्थनम् ।

पृ० १६३ विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् । पृ० १७६-१७७ केवलयाज्ञिका इति भाष्यपदस्य क्रोड-  
पत्रम् । पृ० १८० अर्थवमित्याद्युपपद्यत इत्यन्तर्भाष्य पञ्चवातिकानि द्रष्टव्यानि । पृ० १८५ भाव  
इति । पृ० १९० चतुर्विधस्यातीनामन्यतमत्वं वारयति । पृ० १९१-१९२ वेह्विह प्रविष्ट इत्यनाष्टौ  
वातिकानि द्रष्टव्यानि । पृ० २०५ आत्मनि प्रकृतसख्याऽपूरण इत्यत्र पञ्चवातिकानि । पृ० २१७ यत्सा-  
क्षादित्यादि प्राप्तत्वादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यं द्वाभ्यामाहुः । पृ० २२१ विभुदृशत्वेनैवोपयोगः ।  
पृ० २३० निविचतफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वमिति भाष्यसन्दर्भस्य विशेषणकृत्यम् । पृ० २३८-२३९ कथं  
पुनरित्यादौत्यर्थं इत्यन्तस्य पञ्चदशवातिकानि । पृ० २६८ नार्थव्रत्तीयमुचितम् । पृ० २७३ अन्य-  
श्चेतन अचेतनो वा । पृ० २७४ एकजीववादस्य श्रुतत्वमिति । पृ० २७५ अधित्वादिति । पृ० २७६.  
नानाजीववादस्य नावकाशः । पृ० २७७ व्यावृत्तेति बाह्योत्सुक्य इति टीकांनुसारेण व्यावृत्तबाह्योत्सुक्य  
इत्येव रहस्यम् । पृ० २८० कालक्रमेण-श्रोतव्यतपसामेवा संपत्तिविपत्तिहेतुत्वं दास्य लोके च प्रसिद्धं  
टिप्पणम् । पृ० २८४ उक्तञ्चेतनप्रतिबन्धनदक्षायामित्यर्थं इत्यस्य टिप्पणम् । पृ० २९३ अचेत्यादि मन्त्र  
चत्वारि वातिकानि सन्तीति क्रोडपत्रम् । पृ० २९७. 'तदाहुर्ब्रह्मविद्यया' इत्यादिना सन्न्यधप्रयोजनेऽभिहिते  
इत्यस्य टिप्पणम् । पृ० २९८ अयञ्चेन्नादिसर्गस्तत्रैव द्रष्टव्यस्तच्चेत्यत्रात् । पृ० ३०८ जप्येनैव सवि-

ध्वंद्वाहणो नात्र संसर्ग इति ब्राह्मणसंस्कारनिष्पत्त्यं । पृ० ३१५ परेण च वेदविद्याविषयेण इति भाष्यान्तर्ज्ञानयो टिप्पणम् । पृ० ३१८ यजतिचोदनाद्रव्यदेवताश्रियासमुदाये इति टिप्पणम् ।

पृ० ३३८. निर्वपेदिति टिप्पणम् । पृ० ३३९-३४०. अग्नेना अग्निशसति इति पदत्रयस्य व्याख्यानम् । पृ० ३४१ सर्वप्राथम्यस्य साधारणत्वप्रतिपादनेन भृशप्रपञ्चमतस्य निराकरणम् । पृ० ३४३ द्वे देवानित्यत्र दशपूर्णमासयोगंहणम् 'अग्निरिदं हविरजुपते'त्यस्य टिप्पणम् । पृ० ३४६. पाठत्रयार्थ-क्रमो बलीयान् । पृ० ३४७ ३८८ सर्वस्य जगत पय परिणामित्वे शङ्कासमाधाने श्रोत्रपत्रम् । पृ० ३४३ चतुर्थस्य च बृहदारण्यकापेक्षया उपनिषदपेक्षया तु द्वितीयत्वमिति । पृ० ३५४ मनसा ह्येवेति श्रुतिव्याख्यानम् । पृ० ३५७-३५८ मनसा असाधारणकारणत्वम् । पृ० ३७३ रात्रिशब्दस्या-होरात्ररूपत्वम् । पृ० ३७७ एवकारस्यान्ययागव्यवच्छेद उत्तरवाक्ययोः सङ्गटनम् । पृ० ३७९ सप्रति-कर्मवाक्यस्य द्वेधा व्याख्यानं वार्तिके । पृ० ३८३-३८७. अयेत्यादि चनमित्यन्तर्भाष्यसंग्राहकाणि दश वार्तिकानि प्रदर्शयन्ते । पृ० ३८८. ऋणवाञ्छायाते इति पाठः । पृ० ३९८ अनुमान सूचितमित्यस्य टिप्पणम् । पृ० ४०० यथा तापस इति टिप्पणम् । पृ० ४०२ प्राणाद्वा एष इति ब्राह्मणवाक्यमुत्तरत्वेनाभ्युपगम्य यत्तद्वैदेतीत्यादिमन्त्रस्य पूर्वार्धं प्रश्नत्वेन व्याख्यानम् ।

पृ० ४१९ वार्तिकमारे अध्यायाद्येनिरूपणम् । पृ० ४२०-४२१ बह्य ते ब्रवाणीत्यत्र सप्त-वार्तिकानि । पृ० ४२१ जनको दित्सुरित्यस्य टिप्पणम् । पृ० ४२२ मा मा इत्यत्र 'आवाधे चेति' सूत्रम् । पृ० ४२५ द्विगुण चन्द्रमण्डलमित्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ४३७ पाणिनाऽप्येष... स होतृस्यादित्यस्य टिप्पणम् । एषा प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादायेत्यादिभाष्यस्यार्थान्तरवर्णनम् श्रोत्रपत्रे । पृ० ४४९ अश्व-वर्णादिनाम्न इत्यस्य सालक्ष्यवाचिन इति टिप्पणम् । पृ० ४६५-४६८ यदा न कस्यचन वेदेति भाष्या-र्थाभिप्रेक्षणपराणि वार्तिकानि । पृ० ४७५ वर्षेय तदाऽभूदित्यादेरिति टिप्पणम् । पृ० ४७७ नन्वस्ति प्राणा-द्यात्मव्यतिरिक्त वस्तुव्यतिरिक्तमित्यादि भाष्यार्थाभिप्रेक्षणपराणि नववार्तिकानि । पृ० ४८३ जगद्वाचित्वाधि-वरणपूर्वपक्षन्यायेन द्रष्टव्यमिति टिप्पणम् । पृ० ५११-५१२ अर्थैकशब्दार्थेनवाक्यता टिप्पणम् । पृ० ५१३ अग्निरुण इति भाष्यस्य टिप्पणम् । पृ० ५२२-५२५. अनुमादीनां प्रति नियमादिलिङ्ग-वयादात्मभेद इत्यत्र श्रोत्रपत्रम् । पृ० ५२५-५२६. अनुमानस्यैवाविषयस्वात्कुतोऽनुमानविरोध इत्यत्र श्रोत्रपत्रम् ।

पृ० ५३०. सप्तत्वं टिप्पणम् । पृ० ५३१ आतरो हि सहजशत्रवः । पृ० ५३७ चमसपदस्य टिप्पणम् ।

पृ० ५४०-५४१. मृतमृतब्राह्मणस्य संबन्धकथनम् । पृ० ५६८-५६९ नकारद्वय वीप्सायां टिप्पणम् । पृ० ५७०-५७१ अथ नामधेय सत्यस्य सत्यमित्यस्य एकादश वार्तिकानि ।

पृ० ५७२. ब्रह्मात्मोत्पत्त्यः । पृ० ५७३-५७६ अस्या ब्रह्मविद्यायां अङ्गत्वेन सन्यासो विधित्त इत्यादिभाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ५८७-५८९ यवणमनननिदिध्यासनानां स्वरूपकथनम् । पृ० ६००-६०६ अनादिनिधना नित्येत्यादेर्य सदातनत्वं तस्य निश्चयित इत्यस्य टिप्पणम् । पृ० ६०७-६०९ चक्षुस्तजसमित्याद्यनुमानानि शास्त्रप्रवाशिकायाम् । पृ० ६०९-६१० संश्व-वित्य इत्यादिभाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६१३ अनन्तमित्याद्यपारमित्यन्तर्भाष्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६१४-६१५ एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरश्रान्तरवर्णनम् । पृ० ६१६-६२१. यत्र हि द्वेतिव भवतीत्या-देस्तात्पर्यम् । पृ० ६२४. येनेद सर्वं विजानातीत्यादिभाष्यस्य तात्पर्यवर्णनम् ।

पृ० ६२६. इद सर्वं यदयमात्रेति वाक्यस्य व्याख्यानम् । पृ० ६२८. हेत्वपदेशादिति गीतमसूत्रस्य टिप्पणम् । पृ० ६२९. अयमेव स इत्यादेशोऽप्यार्थवर्णनम् । पृ० ६३६. धर्मशब्दस्त्रेधा वर्णितः । पृ० ६४२-६४५. तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चारा सर्वे समपिता इति व्याख्यानम् । पृ० ६५०. परिसमाप्ता ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनभूतेति व्याख्यानम् । पृ० ६५२. तद्वामित्यादि मन्त्र-योजना । पृ० ६६२. सर्वानुभूतिरूपस्य व्याख्यानम् ।

पृ० ६६६. महाजनाः परमपथे । पर्वः श्रन्विद्वयमध्यवर्ति भागः । महाभागधेयेत्यस्य टिप्पणम् । (पृ० ६६६) स्वाध्यायः स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सत्यध्यापन तस्य परिष्कारः टिप्पणे । स्वाधीनोच्चारण-क्षमत्वविशिष्ट यदन्योच्चारणानुकूलोच्चारण कर्तुं स्व तत्स्वाध्यायः । शिष्योच्चारणाधीनतटस्थोच्चारण-मादाय शिष्येऽतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम् । उदासीनावस्थायां गुरोः स्वाध्यायव्यवहारवारणाय विशेष्यमिति निरवद्य लक्षणम् ।

एव प्रातस्स्मरणीयनामधेयैर्विद्यावाचस्पतिमहाभागैस्समप्रस्य भगवत्पादोपभाष्यस्य वार्तिकानामञ्च योजनेन तदुपवृत्तं हणनं स्वोपज्ञेन क्रीडपत्रेण च भूषणयामासुः । अत्रशिष्टप्रकाशनं सोपस्कर सपरिष्कारञ्च वर्तमानपीठाधीश्वरा शान्ता दाम्ताः महान्ताः विविधानवद्यविद्याविद्योत्तितान्त-करणा श्री-विभूषिता श्रीयतीन्द्रचरन्तृङ्गामणयः श्रीविद्यानन्दगिरिन्द्राद्योभनरमणीयाक्षरंस्सम्बुद्ध प्रकाशमकापूरिति परम प्रमोदस्थानम् । एतेषां क्षरीरे स्वाभ्युदीर्घजीवित्वं समुत्साहञ्च प्रयच्छन्तीति । करालेऽस्मिन् कलिहस्तके काले ईदृशममृत्युसम साधु कृत्य सञ्चालयन् सर्वान्तर्यामी भारतीयजनसामानसे सत्कृति राष्ट्रार्थैक्यञ्च संपादयन् प्राचीनभारतगौरवं प्रतिष्ठाञ्च यथापूर्वं प्रतिष्ठापयेदिति ।

अस्मिन् संस्करणे वक्तव्यम्—इदञ्च संस्करणमस्मात्प्राक्प्रकाशितानि सस्त्रीणि संस्करणान्य-तिशेते । तानि च प्रायशो भक्षिकास्थाने भक्षिकापातानुसरन्ति अशुद्धिबहुतानि भ्रष्टानि । किं बहुना सुपरिष्कृतमिदं संस्करणं प्रेक्षावता विमर्शकवराणां परम प्रमोदावर्धमिति । अत्र संस्करणे भाष्याक्षराणां वार्तिकवधनैस्सबन्धवर्णनमपूर्वक्रीडपत्रकारैः समयोजितं प्रागवादिभ्यः । अन्ये तेनाध्यापकमहामागानाम-धीतिना जिज्ञासूनाञ्च महानुपकारी भवेदिति । अपूर्वञ्च भाष्यवार्तिकयोर्योगनप्रकारो नवीना जागृति-मुत्पादयिष्यति । आस्तिकजनताजनादंभस्योपकाराय सुखबोधाय धीस्थानियर्थं बृहदारण्यकोपनिष-न्मन्त्राणां राष्ट्रभाषयाऽनुवादं पूर्वमेव कृतं प्रासीत् । तेन सह डॉ० स्वामिधीयुतोमेगानन्दस्वास्त्रिवर्यैश्चाप-कृतः शाङ्करभाष्यानुवादश्च योजितोऽस्मिन् संस्करणे । एतेन सर्वेषामेव महानुपकारस्त्यादित्याशास्यते ।

विदुषां वार्षिकव्ययं—तत्र तत्र पाठभेदः, शुद्धमुद्रितनिर्देशनम्, अर्थसमतिश्च आद्यदुद्धिबल्लोदय-समशोधि । तद्यपि मनुष्यमात्रमुलभा विन्दुविसर्ग-इकार-उकार-एकार-एकार-ओकार-ओकारादीनाञ्चकाराणां समोजने ये दोषास्समुपलभ्यन्ते, तान् सशोध्य पठितुं पाठयितुञ्च प्रियपाठकवरा-सानुरोधं सानुनयञ्च प्रार्थयन्ते । एतत्प्रबन्धक्षीरसागरसात्वादनञ्च कुर्वन्तिवति साञ्जलिबन्ध-गुणैकपक्षपातितो विबुधवराप्रार्थयते ।

विदुषामायव

मोमासारतन्म प्र. सुवहाण्यशास्त्री

भू. पू. प्राचार्यः धन्यसदच

वर्मपरीहित्यकर्मकाण्डधर्मशास्त्रयोमासादर्शनविभागस्य

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये

सम्मानितदर्शनप्राध्यापकदच 'साधुवेला' वाराणस्याम् ।

नसिंहजयन्ती

वै शु. चतुर्दशी स. २०३६

१०-५-१९७६ ।

पण्डितराजशाश्वतरत्नाकरादिपदभाजां महेशानुसंधानसरथाननिदेशवाना

श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिमहोदयाना

## सम्पत्तिः

तत्रभवन्त श्रीविष्णुदेवानन्दमहाराजा सिद्धिक्षेत्रे हृषीकेशे विराजमान वैलासाश्रममधिति-  
ष्ठितं महान् छात्रान् श्रीशङ्करभगवत्पादोषान् भाष्यग्रन्थान् अन्याद्यः प्रोढान् पट्वन्तमिद्विधादीन्  
अध्यापयन्त अध्यापनकाल एव अध्यापनोपयोगितया तत्र ग्रन्थेषु विस्तृता टिप्पणी व्यरचयन् । इमा  
टिप्पण्य भ्रातोऽभ्यमाने श्रीमञ्जुप्यस्य श्रीमानन्दगिर्याचार्यकृतटीकायाश्च व्याख्यानरूपा भवन्ति ।  
निखिलशास्त्रेषु नदीपणा एते तत्र शास्त्ररहस्य भाष्यादिषु निगूढतया गर्भाभूत सरलसरलया  
स्वीयया समृतवाण्या प्राचीकृतान् ।

बृहदारण्यक भाष्यटिप्पण्यामयमन्यो विशेष यत् श्रीसुरेश्वराचार्यकृतवार्तिक तट्टीका च तत्र  
तत्रोद्भूत्य स्वीयटिप्पणी समभूययन् । जैमिनिसूत्राणि श्रीशबरस्वामिकृत तदभाष्य, श्रीकुमारिल-  
भट्टकृत तट्टातिक च पदे पदेऽनुवदन्ति भाष्यार्थस्पष्टीकरणाय । बृहदारण्यकभाष्यटिप्पण्या  
महिमाऽत्र प्रकाशते ।

तनु नामभाष्येण "ससारव्यावृत्तुभ्य" इत्यनेन प्रयाजनमुक्त तेनैव च तत्फलकामस्या-  
धिकारिहवनिर्णयसम्भवात् अर्थमधिकारिभाष्यमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहु वात्तिकाचार्या —

"मियो विरोधसिध्यर्थं कमज्ञानाधिकारिणो ।

ससारव्यावृत्तुभ्य इत्युक्ति भाष्यकृञ्जयो" ॥

इति वार्तिकमह्यन्तावश्यक भाष्याभिप्रायपरिमाने इति विभावयन्त अत्र वार्तिक  
योजयन्ति । बृहदारण्यकप्रतिपाद्यार्थं विविच्य प्रदर्शयितुं श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितवार्तिकसाराख्यात्  
ग्रन्थात् नव श्लोकान् पठन्ति—“अरण्याध्ययनादेतत् आरण्यकमुदीर्यते”—इत्यादिना (पृ० ५) ।  
कर्माधिकारिण्यपेक्षित गुणज्ञात स्वाराज्यसिद्धिकृदभिहितश्लोकोक्तरीत्यसि प्ररपादयन् ।  
स च “अर्थां दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान्”—इत्यादि अध्ययनफल वेदार्थज्ञानमिति  
मीमांसका अक्षरावाप्तिरिति विवरणकारादयो वेदान्तिन । अस्मिन् पक्षे ‘भास्मा  
वा अरे द्रष्टव्य ओतव्यो मन्तव्य’ इति श्रवणविधिरेव ब्रह्मजिज्ञासारूपश्रवणे प्रवर्तिका ।  
मत्तद्वयमप्यङ्गीकृत्य टिप्पणीकारा उभयो काण्डयो एकपुरुषार्थविशायितया एकराशित्वकरण  
भाष्यकृत ‘सर्वोऽप्यय वेद’ इति समञ्जस वदन्ति (पृ० ६) । मोक्षमुख न सर्वामिलपित  
विषयमुखमेव सलु प्राकृता जना वाञ्छन्ति इति आक्षेपमुदभाष्य टिप्पणीकारा मोक्षमुखस्य सर्वाभिलाष-  
विषयत्वं समर्थयन्त—मोक्षमुख अनावृत आत्मस्वरूपानन्द स एव विषयसम्पक्कजन्यमनोवृत्तिभि  
तत्र तत्र परिच्छिन्नरूपेण प्रकाशते ‘एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती’ति श्रुते  
इत्याहु । (पृ० ७) वेदप्राभाष्य ओत्पत्तिकसूत्रे स्थापितमिति टीका—तत्र टिप्पणी ‘ओत्पत्तिकसु  
शब्दस्यार्थेन सबन्धस्तस्य ज्ञानभूपदेशोऽन्यतिरेकश्चाथेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण बादरायणस्यानपेक्षत्वात्”—

इति जैमिनिसूत्रम्—इत्यादिना । (पृ० ६) जैमिनिसूत्रमुदाहृत्य तस्य सप्रदायसिद्ध कुमारिलप्रोक्तमर्थं स्पष्टमाह ।

टिप्पण्या योगसूत्राणि बहून्मुदाहृतानि । तथाहि (पृ० १२) “अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-  
शुचिसुखात्मरूपातिरविद्या । रजदर्शनशक्त्यौरेकात्मतैवास्मिता । सुखानुशयी राग । दुःखानुशयी द्वेष ”  
इत्यादीनि सूत्राणि रागद्वेषादिशब्दप्रतिपाद्यतया विवृण्वन्ति ।

मीमांसकाः असकृत् विध्युद्देशे—इति पद प्रयुज्जते । तस्यायमर्थं विधिः उद्दिश्यते निदिश्यते  
अस्मिन् इति व्युत्पन्न्या सिद्धादिपठित विधिवाक्यमित्यर्थं इति । तमेवार्थं टिप्पण्यामाहुः (पृ० १८) ।  
विध्युद्देशे विधायकवाक्ये—इत्यादिना (पृ० १६)—भाष्ये समार क्रियाकारकफलार्थकतया आत्मन्वा-  
रोपितः इत्युक्तं तस्य विविच्यायमाह टिप्पण्या ससारो हि क्वचित् क्रियारूप निष्ठिक्ये न सम्भवति क्व-  
चित्काररूपः तस्याद्वितीये न सम्भव क्वचित् फलरूप फलस्य कार्यरूपतया फलेऽसम्भवात् इति ।  
(पृ० ५६) भाष्ये तमेव कुमार जातभग्निं प्रथमशरीरिणं अज्ञानायावत्प्राप्त्युत्तु अतु मुखविदारणं कृत-  
वानिति भाष्यम् । टिप्पण्यामाहुः—पुत्रमत्तु प्रवृत्तस्य स्रष्टुर्मर्त्यादामंगं स्थावतं ग्राह—क्षुषेति ।  
अज्ञानायावत्पुत्रो मर्त्यादां मिदानोऽपि अज्ञाने प्रवर्तते विवेकिनामपि क्षुत्पीडितानां तदज्ञानात् यथा  
विश्वामित्र इवजाघनीमित्यादि ।

आत्मवेदमग्न आसीदिरिहादि ग्राहणे ‘द्वितीयाद्वै भयं भवति’ इति द्वैतभावनायां भयहेतुत्वमुक्त्वा  
स चे नैव रेमे स द्वितीयमैकतं प्रत इत्यादिना एकाकिस्वरूपाद्वैतज्ञानमपि निन्दितम् । एव चोभयोरपि  
दुष्टत्वात् क परिग्राह्य इत्याक्षेपे मतिः टिप्पणीकारः परिग्रह—प्रकाशस्य विबुधं अद्वैतज्ञानं नारतिहेतुः  
भक्तिमपि निवर्तयति कामिनस्तु द्वितीयाद्वय एकाकित्वे अरतिश्च भवति इति एतत्सर्वं वार्तिकतट्टीको-  
दाहरणेन टिप्पणीकारा प्रदर्शयन्ति (पृ० ५६) “एकाकिनो विराजो वाजिद्विद्यासवीनचेतसः । पूर्वजन्मो-  
त्पत्सत्कारात् भयमाविरभूदिह” ॥ इत्यादि ।

एव (पृ० १७६-१७७) तद्यदिदमाहुरमु यजामु यजेत्यादि मूलभाष्यटिप्पणी रचयन् वार्तिकानि  
उदाहृत्य केवलकर्मिणामेवेयं निन्दा न तु ज्ञानिना अकर्मिणा देवानामप्यात्मभूतानाम् तदुक्तं “यजेति  
लिङ्गान्निर्भेदा कर्मिणामेव गम्यते । न तु विध्वस्तमोहानां प्रत्यङ्मार्गैकसाधिनाम्”—इत्यादि ।  
“एष मिथो भिन्नं यदाहुस्त एकां देवमध्वरे । तदसत्प्रतिपत्तय यतोऽभिन्नेव देवता । भेदग्राहि न  
नो मानं घटादावपि विद्यते” इत्यादिना । १६२ पृ०—विराट्पुरुषद्विरूपगर्भयोः स्वरूप वार्तिकानु-  
सारेण विवेचयति—व्यतिक्रीणक्षीरनीरवमयोपाधिकारणं वानारूपं तस्य सर्वकार्यात्मकत्वात्तस्मात्  
सूत्रमुत्पन्नं अपञ्चोक्तपञ्चभूतात्मकं क्रियाप्रधानज्ञानोपसर्जनशक्तियुक्तमित्यर्थं । विराट्स्वरूपं तु—  
परारम्भं सूत्रादिहेतुमायावी सूक्ष्मः पृथिव्यादिपञ्चकादेषविभागवान्बराज स्थूलप्रपञ्चात्मकं स्थानं  
प्राप्य विराडुच्यते स चाग्निगूर्वाद्यवयवानिस्थितः ।

पृ० २१७—आत्मैतेत्येवोपासीतेत्यत्र नापूर्वविधिः प्राप्तत्वात् इति भाष्यटिप्पण्या वार्तिकमत्र  
प्रदर्शयन्त —

“नित्यप्राप्तिमिहाऽऽचष्टे निर्व्यर्थोपनुत्तस्यः ।  
अप्राप्ताशानुपात्येव सर्वं एव विधियन्ते ॥  
पाक्षिक्युपासनप्राप्तिरित्या वेति च लिङ्गतः ।  
विवक्षिता माध्यकृतो नित्यप्राप्तिरित्येव” ॥

इत्यनेन परिसंख्याविधिश्च प्रतिपाद्यत इत्याह—(पृ० २७६) । नानाजीववादस्य नावकाश इति श्रीप्रानन्दगिरिटीका समर्थयन्त ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्येवातमवादोपक्रमदेक एव जीव । बहुवचन शरीरभेदाभिप्रायमिति समाधानमाहु । ( पृ० ३७६ ) सप्रतिकर्म कस्येत्याशङ्क्या कोऽधिकारीति प्रश्ने य क्रमसंन्यास चिकीर्षति पुत्रवादश्च स एव अधिकारी ब्रह्मवार्तिसंन्यसेने तु नास्य कर्मण प्राप्ति नाप्यपुत्रस्य इति वार्तिकानुसारेण निर्णय कुर्वन्ति । विद्या कस्मै केन वा उपदेष्टव्येति प्रश्ने टिप्पणीकार भर्तृप्रपञ्चाना बचनभुदाहरेति युक्त सयोगोऽधिकारित्वेन हेतुना नष्टाश्चदगधरयवदिति इमे टिप्पणीकार मूलस्य भगवत्पादकृतव्याख्यामुपपाद्य यत्र यत्र वार्तिककारा व्याख्यान्तर भाष्यविरुद्ध स्वयं लिखन्ति । तत्तद्व्याख्यान्तरमपि । विस्मरेण प्रतिपादयन्ति (पृ० ४५६-४५७) 'तदेर्पा प्राणाना विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्देने' इति मूलस्य भगवत्पादा जीवश्चिदामामेन वरणेन इन्द्रियाण्यमर्षग्रहणसामर्थ्यं सहृत्य भजते ब्रह्मणि शेते सुषुप्ता इत्यर्थापयन्ति । अर्थान्तर तु विज्ञान—अर्थग्रहणशक्तिमन्ति इन्द्रियाणि तानि भजतश्चैतन्यात्मना सुषुप्ता जीवाभिन्न पर आकाशे बुद्धे स्वरूपे शेन इत्यर्थः । बहुषु स्थलेषु एवमेव वातिकतास्पर्शाणि भाष्ये योजयन् अथूनवार्तिकाना भाष्य पठितुमिच्छता वार्तिकश्रवणीभुक्ता जनयन्ति । विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत इति वाक्य मूलीकृत्य प्रसङ्गान् सत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्यमिति वदता मत निराकृत्य ये उक्तवाक्यस्य सप्तविधानार्थान् प्रदर्शयन्ति टिप्पण्या च स्पष्टीकुर्वन्ति टिप्पणकारा । मीमांसाशास्त्रत उद्बुद्धान्यधिकरणानि मीमांसाग्रन्थपरिशीलनपूर्वक प्रकृते योजयन्ति । यथा अर्थकत्वादेक वाक्य (पृ० ५११) । साख्याभिमत पुरुषबहुत्व टिप्पणकारा घतश खण्डयन्ति (पृ० ५२३) । वार्तिकोक्तानि जीवभेदानुमानखण्डनपराध्यनुमानानि स्वयं विवृणोति "ऐकारम्भग्रन्तो देहा स्युर्विवादो येषु धत्ते । शरीरत्वाविशेषत्वात्प्रतिवादिशरीरवत् ' ॥ इत्यादिना ।

किं बहुना भाष्यतट्टीकोपेत विस्तृतटिप्पणीव्याजेन भाष्यटीकयोर्व्याख्यानरूपया वार्तिकार्थसंयोजनेन बृहदारण्यकभाष्यटीकावार्तिकदीना समेषा ग्रन्थानामभिप्रायावयवहेतुभूतया सवलितमिदं सस्करण छात्राणामभ्यापकाना मुमुक्षूणा चाल्पन्तोषवारकमित्यत्र न कोऽपि सहायः । हिन्दीभाषया भाष्यविवरणं सस्कृतानभिज्ञानं बोधयितुं महदुपकारकमिति स्पष्टमेव ।

अस्या च श्रीकैलासाश्रमग्रन्थमालाया ईशाद्युपनिषदा श्रीप्रानन्दगिरिटीकासहित श्रीशाङ्कर-भाष्य महामण्डलेश्वरश्रीविष्णुदेवानन्दगिरिस्वामिना विस्तृतटिप्पण्या श्रीकैलासाश्रमस्थापनसत्ताब्दी-महोत्सवे श्रीमहामण्डलेश्वरविद्यानन्दगिरिमहाभागाना भाष्यक्षेपेण सग्रन्थस्यमाने प्रकार्यमान समेषा विदुषा वेदान्तश्रद्धावता च महते प्रमोदाय भवति । सटिप्पणवृहदारण्यकभाष्यटीकात्मकेऽस्मिन् विभागो संयोजितम् । श्रीविष्णुदेवानन्दगिरिस्वामिविरचित कोटपत्र इमं विभाग परमोत्कृष्टं प्रापयतीति ।

संन्यासाश्रमहृदिद्वारवास्यवेदान्त ज्योतिषाचार्यस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिमहाराजानां

## सम्मतिः

इह खलु नैसर्गिकरूपेण चक्रवर्तमाने सत्त्वाऽसत्त्वाभ्याञ्चाऽनिर्वचनीयतयाऽऽविद्यकत्वेनाऽऽपातरमणीयेऽनादिसारे सकलो हि जीवलोकः सुखाभीप्सया दुःखजिहासाया च निरन्तरं प्रवर्तमानो रागद्वेषमदमोहमात्सर्यादित्रैगुण्यविवारे प्रतिक्षण स्वान्तं करणं विकुर्वन् स्वस्य च कल्पनयवेष्टाऽनिष्टे परिकल्प्याऽनुकूलवेदनीये वस्तुनि समासक्तिं ब्रह्मन् प्रतिकूलवेदनीये च द्विपन् प्रचण्डाऽऽध्यात्मिवादितापत्रयसोमानमुल्लङ्घयितुमसमर्थो नतं इति सर्वैरनुभूयत एव । तत्रैव महात्त पारिणामिकमविद्यास्वभाव निरोक्ष्य काम्य-निषिद्धवर्गवर्जितपुरःसरं नित्यनैमित्तिकादिनिष्कामकर्माऽनुष्ठानपरतया निर्मलितनिखिलसर्वरूपत्वेन नितान्तनिर्मलस्थानं करणाय साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य च जिज्ञासोर्दुःखनिवर्त्तलौकिकोपायाऽमाच्छेता समालोच्य तदत्यन्तिकनिवृत्तिं मार्गानो निरतिशयानन्दावाप्त्यर्थं तदुपायतया पराविद्याया प्रवृत्तिर्भवेति । अत्र च “परा यया तदक्षरमधिगम्यते” इति श्रुत्याऽऽक्षराधिगमहेतुविद्या पराशब्देन व्यवह्रियते; अक्षरञ्च विनासाज्वाध्य देशकालयस्तुपरिच्छेदशून्य सच्चिदानन्दघनं स्वयज्योतिर्ग्रहणैरपरम्, “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गां गिः सूर्याचन्द्रमसौ विद्युतो तिष्ठन्तः” इत्यादिश्रुते । तस्मात् सकलससारदुःखानिवर्हणाय विद्या—अक्षरविद्या ब्रह्मविद्या, उपनिषदित्यादिशब्दैः समानार्थकतया कथ्यते । अत एव श्रीमद्भगवत्पादाचार्या अपि भाष्यमात्रमात्रमात्रा—“य इमा ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरा सन्तस्तेषां गर्भजरापोषाद्यनर्थपूजं निशातयति, परब्रह्म वा गमयति अविद्यादिसंसारकारणञ्चाऽयन्तमवरावयति विनाशयतीत्युपनिषदि” इत्येवमिति ।

एवमुक्तगुणविशिष्टोपनिषदामुपनिषदाचार्यकृतभाष्येषु मध्ये बृहदारण्यकोपनिषदभाष्यमतिगम्भीरवर्तते । इदं बृहदारण्यकमपि भाष्यनिर्देशवशात्साभेदेन क्वचित् स्वल्पपाठान्तरत्वात् द्विविधं दृश्यते । तत्र श्रीमद्भगवत्पादाचार्या अपि काण्वशास्त्रीयब्राह्मणकुलेऽवतीर्णत्वात् स्वशास्त्रीयशतपथब्राह्मणान्तर्गतं बृहदारण्यकोपनिषदमवलम्ब्यैव सुललितश्लाघाश्रुणविशिष्टभाषया सर्ववेदान्तसंग्रहार्थकं विस्तीर्णभाष्यं सुस्पष्टं कृतवन्तः । आनन्दगिरिकृतटीकासहितस्यैव भूतभार्यस्य श्रुतिकेशस्यैकलासाश्रमेऽतिप्राचीनकालतः परम्परया प्रचलितस्वाध्यायप्रवचनावसरे ब्रह्मालोके श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्धे ब्रह्मनिष्ठस्वामिनोविन्दानन्दमहाराजैर्लिखिता विस्तीर्णटिप्पणी अमुद्रितरूपेण साम्प्रतमपि वर्तते । तदनन्तरमपि पदवाक्य-प्रमाणपारावारैः प्राणस्मरणीयैर्ब्रह्मालोके श्रोत्रियैर्ब्रह्मनिष्ठैः श्रीमत्परमपूज्यपादमहामण्डलेश्वरैर्यतिकूलशिरोभूषणैर्विद्यावाचस्पतिभिः स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजैः कृताः सक्षिप्तानि सारगणिता टिप्पण्युपलभ्यन्ते । तथा सक्षिप्तटिप्पण्या सह राष्ट्रभाषानुयायसमलङ्कृतमिदं बृहदारण्यकभाष्यमानन्दगिरिटीकासहितमधुना वर्तमानश्रीकैलासाश्रमपीठाधीश्वरैरनन्तश्रीविभूषितैरहिकापुष्पिकफलमोगविरचितं श्रद्धालुजिज्ञासुजनानां मानसकरं विक्रमस्यद्भिर्मोहान्धकारहारिभिः स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां निरन्तरं लोककल्याणकारिभिर्जानामृतपानमदविस्मृतवितथव्यवहारैरपि केवलमहेतुव्या दयया लोकोपकाराय कृतपुरुषार्थविद्वत्प्रवरैर्महामण्डलेश्वरैः स्वनामधेयैश्च श्रीस्वामिविद्वानन्दगिरिमहोदयैः खण्डशः प्रकाशितुमारब्धम् । तत्राऽऽख्यखण्डरूपेण प्रथममध्यायद्वयात्मकमिदमूल्यपद्यरत्नं निविष्टं प्रकाशितं सञ्जायते । एतदर्थं श्रीस्वामिपादाः कोटिशो धन्यवादाहर्हि । आशासऽप्रेऽप्येव प्रशसनीयपुरुषार्थमवलम्ब्य श्रीस्वामिपादाः शेषभागमप्यतिशीघ्रं प्रकाशयिष्यन्तीति ॥



# विषयानुक्रमणिका

मन्त्राचरण	१	सामकी निरुक्ति एव	
उपनिषत् के आरम्भ का प्रयोजन	३	उपासना का पन्	१३०
उपनिषत् शब्द के अर्थ की निरुक्ति	४	उद्गोष निरुक्ति एव	
वृहदारण्यक उपनिषत् के नामकरण मे		इसकी उपासना का पन्	१३४
हेतुनिरूपण	५	'असतो मा सद्गमय' "तमसो मा ज्योति-	
उपनिषत्प्रतिपाद्य विषय पर विचार	५	गमय" "मृत्योर्माऽमृत गमय" इन यजुर्मन्त्रों	
देहात्म्यादियों के मत का खण्डन	७	का तिरोहित अर्थ निरूपण	१४४
ब्रामाण्यवाद निरूपण	६	पूर्व ब्राह्मण से चतुर्थ ब्राह्मण के प्रतिपाद्य	
'उपा वा अश्वस्य' इस मन्त्र का प्रयोजन	१५	विषय का सवन्ध	१४१
नामरूपकर्ममय ससार का स्वरूप	१८	प्रजापति के भययुक्त होने मे हेतु	१५७
अद्वैत दर्शन	१६	एकत्वज्ञान की अयुक्तता का खण्डन	१६१
अश्वमेध उपयोगी अग्नि की उपासना का		प्रजापति के एकाकीरमण न करने मे हेतु	१६७
वर्णन	२८	मृष्टि निरूपण	१७०
मृष्टि प्रतिष्ठा कथन दून्यवाद का खण्डन	२६	प्रजापति के स्वरूप मे	
उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सिद्धि	३५	विविधमत निरूपण	१७८
अकंशब्द का निर्वचन	४६	सोमार्चन अतिसृष्टि का कथन	१८३
प्रजापति का विभागत्रय निरूपण	५१	प्रवेशवादी मत निरूपण एव	
प्रथम एव द्वितीय ब्राह्मण का सारांश	६४	उसका निराकरण	१८४
तृतीय ब्राह्मण के विषय का कथन	७०	आत्मा की उपासना मे अपूर्वविधि	
ज्ञानकर्म का फल व प्रयोजन	७०	का निराकरण	२१५
मृत्यु एव उसकी उत्पत्ति का वर्णन	७१	आत्मा के पदनीय होने मे	
ज्ञान निरूपण मे हेतु	७५	हेतु प्रतिपादन	२३८
ज्ञान का अनधिगतार्थ एव		'प्रिय' नाम आत्मा की उपासना	
प्रबाधितार्थविषयक होना	८४	व उसका फल	२४३
कर्मों के काम्यरव और निरयत्व		ब्रह्मिज्ञान से सर्वात्मभाव प्राप्ति	२४८
विभाग का खण्डन	६३	ब्रह्मदर्शन का प्रतिपादन	२७१
बाणदिसङ्घातकर्तृक व्यङ्गहार		अल्पसामर्थ्य सम्पन्न कलियुगी जीवों	
अविद्या का आश्रय	६६	को भी ब्रह्मविद्या प्राप्ति सम्भव	२७७
भाङ्गिरसनिरूपण	१०६	देवताओं द्वारा विघ्न सम्पादन वर्णन	२७८
दूरदेवता निरूपण	१०६	आत्माकारवृत्ति अविद्या की	
श्री कैलासविद्या प्रकाशक		निवृत्ति करने मे हेतुक	२८५
क्रोडपत्र का आरम्भ	११२	देवादि ऋणों के स्वरूप एव	
प्राणोपासना मे हेतु कथन	१२५	कार्य का निरूपण	२६२

वर्णाश्रमादि सृष्टि निरूपण	२९८	चन्द्रमण्डलान्तर्गत पुरुष की	
भर्तृ प्रपञ्च मत 'कर्म विद्यासाहचर्य'		उपासना व फल	४२४
होने से क्षीण नहीं होता' इसका निराकरण	३१३	विद्युत् पुरुष की उपासना व फल	४२५
कार्य का स्वरूप निरूपण	३२०	आकाश पुरुष की उपासना व फल	४२६
एषणात्रयनिरूपण	३२१	वायु पुरुष की उपासना व फल	४२७
पूर्णतासम्पादन का प्रकार		अग्नि पुरुष की उपासना व फल	४२८
एवं उपाय	३२८	आदर्श पुरुष की उपासना व फल	४२९
मानुष एवं अमानुषवित्त	३२९	शब्द पुरुष की उपासना व फल	४३०
समाश्रयसृष्टि निरूपण	३३१	दिक् पुरुष की उपासना व फल	४३१
श्रुतिवाक्य द्वारा इसके अर्थ का		छायात्म्य पुरुष की उपासना व फल	४३२
स्पष्टीकरण करना	३३४	शुद्धिमात्र पुरुष की उपासना व फल	४३२
सत्ता से विरक्त हुए पुरुष के लिए		गार्ग्य द्वारा चुप हो जाने पर	
ब्रह्मविद्या का प्रारम्भ	३३८	भजातेशानु द्वारा आत्मतत्त्व	
साधारण अन्न के विषय		विवेचन का वर्णन	४३५
मे भर्तृ प्रपञ्च का मत एवं		सुषुप्त अवस्था का वर्णन	४३५
उसका निराकरण	३४२	'बहु कहीं से आया' इसका निरूपण	४३६
अन्न का हुत एवं प्रहुत		ब्रह्मविद्या सञ्ज्ञास्त्रप्रामाण्य	४३९
प्रविभाग निरूपण	३४३	परमात्मा से ही सृष्टि सम्भव	४४७
अन्न के प्रक्षय होने में हेतु	३५१	ब्रह्म का प्रवेश श्रुतिसम्मत है	४६०
मन के उपास्तित्व और स्वरूप		अभेद में शास्त्र का अर्थ	४६१
के विषय पर विचार	३५६	अग्निविस्फुल्लिङ्ग दृष्टान्त	४६५
वाक् के स्वरूप का निरूपण	३५८	आख्यायिका द्वारा जीवात्मा-परमात्मा	
प्राण के स्वरूप का निरूपण	३५९	के ऐकान्त्यज्ञान की स्थापना	४६६
वाक्, मन और प्राण का आधिदैविक अर्थ	३६४	अमज्जन्म अध्यास से परे वह तत्त्व है	५०३
प्राणविज्ञान का फल	३६८	कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता एवं	
अन्नत्रय का सबस्तर रूप से वर्णन		अप्रामाणिकता पर चर्चा	५०६
एवं उसके ज्ञान का फल	३७०	उपनिषत्प्रामाण्य का प्रतिपेक्ष	
लोकत्रयनिरूपण एवं उसका फल	३७६	करना असम्भव है ।	५१०
प्राज्ञापत्य पद पर विद्यमान		साहचर्यमत्त निराकरण	५२३
विद्वान् का फल	३८४	परब्रह्म से पृथक् कुछ नहीं	५२५
यतमीमांसा विचार	३८५	पञ्चभूतात्मक सत्य निर्धारण करने	
अर्थ प्रकाशक मन्त्र	४०२	के लिए मूर्तामूर्त ब्राह्मण का प्रारम्भ	५२८
नाम, रूप और कर्म का निरूपण	४०६	द्वितीय ब्राह्मण से तृतीय ब्राह्मण	
पूर्व अध्याय से संबन्ध	४१५	का संबन्ध प्रदर्शन	५४०
अत्यन्त सूक्ष्म आत्मतत्त्व को सरलता		ब्रह्म का मूर्त-अमूर्तादि विभाग प्रतिपादन	५४१
से समझाने के लिए भजातेशानु		भर्तृ प्रपञ्च मत निरूपण एवं	
आख्यायिका का निरूपण	४१७	उसका निराकरण	५४७
आदित्य पुरुष की उपासना व फल	४२२	अध्यात्म मूर्तामूर्त विभाग प्रतिपादन	५५०

निखिल प्रपञ्च में तादात्म्य होकर  
ब्रह्म के सत्यत्व की प्रतीति  
भर्तृ प्रपञ्चमतानुसारी राशित्रय  
कल्पना इनका साहचर्य से मतेक्य  
तथा निराम  
'नेति नेति' उपदेश ही आदेश है  
आत्मतत्त्व ही गवेयणीय है  
अज्ञत्व रूप से सन्यास का विधान  
ब्रह्मज्ञानी का एगणात्रय से  
सबन्ध नहीं होता  
प्रवृत्तिलक्षणकर्म और निवृत्तिलक्षण  
ज्ञान में परस्पर विरोध है  
भ्राह्म्यायिका द्वारा सन्यास का विधान  
जाया, पति, पुत्रादि अपने प्रयोजन  
के लिए प्रिय होते हैं  
आत्मा से व्यतिरिक्त कोई वस्तु नहीं  
नक्कारे, दुन्दुभि, वीजा एव गीसी  
लकड़ी के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन  
प्रलयदशन दृष्टान्त

संघवह्नित्व दृष्टान्त द्वारा परमार्थ		
५५३	दृष्टि का निरूपण	६०६
	विज्ञानधन सर्वजगत् का आत्मा है	६१७
	आत्मज्ञान ही जाने पर कोई कर्तव्य	
५५५	कर्म शेष नहीं रहता, द्वैत अविद्या-	
५६६	वस्था में ही रहता है ।	६१६
५७१	पञ्चम बाह्यण प्रारम्भ में हेतु	६२५
५७३	पृथिवी सब भूतों की मधु है	६२८
	इनो प्रकार जल, अग्नि, वायु, आदित्य,	
५७७	दिशा, चन्द्रमा, विद्युत्, स्तनयितु,	
	आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य एव	
५७८	आत्मा सब भूतों के मधु हैं ।	६३१
५८०	सभी कुछ सर्वात्मा में समपित है	
	इसका रथनाभि रथनभि दृष्टान्त	
५८४	से प्रतिपादन	६४२
५९०	ब्रह्मविद्या की स्तुति	६५०
	मधु विज्ञान का माहात्म्य	६५२
५९२	वशानुक्रम वर्णन	६६५
६०२	भकारादिकर्म से मन्त्रों की सूची	६७०

### \* किञ्चित्प्रास्ताविकम् \*

इह जगति प्राग्भूमात्रस्याऽऽध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकतापं नितरा तातप्यमानस्य  
तस्याऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिपूर्वकं नित्यनिरतिशयपरमानन्दावाप्स्यर्थं यथाशक्तिप्रयत्नमानस्यापि मनोरथ-  
पूतिर्न जायते । यत्प्रकारस्याज्ञानादनुपाये उपायभ्रमाद्वा जानतोऽपि प्रमादवशाद्मन्दप्रयत्नान्मुर्धे-  
वातिदुर्लभस्य मानुषदेहस्यापव्ययं करोति । समस्तदुःखनिवृत्त परमानन्दावाप्तेश्च साधनद्वयावाधित-  
प्रामाण्याद्वादेव प्रसिद्धमिति । तथापि परमप्रमाणस्य वेदान्तस्यैव सामर्थ्यमिति सर्वासामुपनिषदा  
बृहदारण्यकस्येवेति प्रतिष्ठमेव । अन्यतोऽर्थतश्च बृहत्वाद्दरप्येऽनूच्यमानत्वाच्च बृहदारण्यकमिति  
नाम्ना प्रथितस्य तैत्तिरीयारण्याद्यारण्यकान्तरापेक्षया बृहत्त्वाच्च सुखलयजुर्वेदीयशतयज्ञाह्वानात्त-  
स्यास्य प्रथममधुमुनिखिलकाण्डचतुष्टयात्मकस्य प्रथमकाण्ड विहाय काण्डत्रयात्मकस्योपनिषद्भागस्य  
परमहंसपरिश्रजकाचार्यकलासाश्रमाध्यक्षमहामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिः स्थापितस्य स्वो-  
पज्ञातिष्पणसमन्वितस्यनन्तश्रीमत्परमहंसपरिश्रजप्रकाशायविद्यावाचस्पतिकलासाश्रमाध्यक्षमहामण्डलेश्वर-  
स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिसंगृहीतस्यानन्दगिरिव्याख्यान्वितशाङ्करभाष्यापेतस्य यतीन्द्रकुलतिलकश्री-  
कलासविद्यापीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरानन्तश्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिमहानुभावकृपापात्रहाक्टरोमेशानन्द-  
शास्त्रनिर्मितनृगिरानूदितस्यापूर्वं संस्करण सर्वेषामुपकारक भूषादित्याशासानो  
हृषीकेशकलासाधमे

विद्वद्भिषेय

हरिहरतीर्थः

गुरुपूर्णिमायां सवत् २०३६ ।

श्रीकलासाश्रमब्रह्मविद्यापीठस्य सञ्चालक सचिवश्च कलासाश्रमन्यासस्य ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

# बृहदारण्यकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवर्तितशांकरभाष्यसमेता ।

( अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं भाष्यम् । )

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशश्रुतिभ्यो नमो गुरुभ्यः ।

( अथाऽऽनन्दगिरिकृता बृहदारण्यकभाष्यटीका )

यद्विद्यावशाद्विश्वं हृमयते 'रक्षणाहिषत् । यद्विद्यया च तद्धानिस्तं कन्दे पुरुषोत्तमम् ॥१॥  
नमस्तस्यैतत्संदोहसरसोरुहानवे । गुरवे परपक्षौघध्वान्तध्वंसपटीपते ॥२॥  
भगवत्पावपादाब्जद्वन्द्वं द्वन्द्वनिबन्धम् । सुरेश्वरादिसद्गुरुचरवत्तन्म्वितभाभजे ॥३॥  
बृहदारण्यके भाष्ये शिष्योऽकृतिसिद्धये । सुरेश्वरोक्तिमाश्रित्य क्रियते न्यापनार्णवः ॥४॥

अथ डा० जमेशानन्दशास्त्री कृत 'कुमुदतोषिणी' टीका

यो भूर्भुव स्वर्भित परिपूर्णभूमा कालात्मना प्रतिपद स्वयमस्ति भाति ।

देव स विष्णुपटवृत्तिमपेक्ष्य दक्षिणामूर्तिरेव ददता मधुरामृतं न ॥१॥

छन्दोऽपवर्गसार भुवि विद्यानन्दमन्तत स्तोमि । कैलासे मुनिवृन्दे महोमदीय परिस्फुटति ॥२॥

श्रवणान्तसरस्वन्त तरीतु घृतमेधसाम् । हृदय ह्लादयन्तीय टीका कुमुदतोषिणी ॥३॥

ॐ ब्रह्म विद्या सम्प्रदाय के कर्ता आचार्य परम्परा के (पौतिमाष्यादि) ऋषियो, हिरण्य-  
गर्भादि एव गुरुदेव को नमस्कार है ।

अथविद्यावाचस्पतिस्वामिषिष्णुदेवानन्दरचितटिप्पणम्

यद्ब्रह्मविष्णुमिबरूपतया प्रतीतम्, मुनिश्चितिप्रलयकारणतामुपैति ।

तद्ब्रह्म नित्यनिर्गुणान्तपदैवेष स्वत स्फुरतु वस्तु निरंतर व ॥१॥

नास्मात्विच्छिन्नदेति नास्तमयते नास्मिन्नुपलस्यते, किन्मात्र परमार्थतस्तु सकृते ज्योतिर्मय मासते ।

आतिथ्यकतिपयित बहुमत सर्वप्रणवातिपम्, स्वातध्वान्तमतीत्य यत्र गमिन धाम्यन्ति तस्मै नमः ॥२॥

रजतम्—स्त्वगुणावभासिनी स्वत प्रदीप्ता चित्तिरेव धातिदा ।

सदा भवद्भूतधविष्यभास्वती, स्तवीमि शक्ति चितिमेव वैवलात् ॥३॥

१ संप्रदाय—गिष्येभ्य सम्प्रदानम्—सम्यक्संप्रदानम् । २ वच आचार्यपरम्परयोपदेत इति यावत् ।

३ राना वटिमुत्रम् मेखनापरपर्याया । ४ संदोह समूह । ५ परपक्षौघ भेदवर्गदिसमूह । ६ आ

ममन्तात् श्रद्धाभक्त्युद्भवेनेत्यर्थ । ७ उपवृत्ति असुभावनाविपरीतभावनापहिलेन वाक्यार्थवोरुपा प्राहा ।

८ न्यापनिर्णय इति न्यायानाम्—श्रुत्यर्थोद्बलवतया भाष्योक्ताना मुक्तीनाम्, निर्णयो बादिपद्धितानागतना-

तिपावरणपुर मरमभिलषितार्थसाधरस्वव्यवस्थापनेत्यर्थ ।

“उपा वा अश्वस्य” इत्येवंमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत् । तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते, संसार व्याविष्टुमुष्यः ‘संसारहेतुनिवृत्तिसाधनं ह्यामैकत्वविद्याप्रतिपत्त्ये ।

‘काण्वोपुनियद्विरणध्याजेनाशेषोमेवोपनिषदं’ शोधयितुकामो भगवान् भाष्यकारो विघ्नोप-  
शमादिसमर्थं शिष्टाचारप्रमाणकं परापरगुरुनमस्काररूपं मङ्गलमाचरति—ॐ नमो ब्रह्मादिभ्य इति ।  
वेदो हिरण्यगर्भो वा ब्रह्म तन्मस्कारेण सर्वा देवता नमस्कृता भवन्ति तदर्थत्वात्तदात्मकत्वाच्च  
“एष उ ह्येष सर्वे देवाः” इति श्रुतेः । आदिपदेन परमेष्ठिप्रभृतयो गृह्यन्ते । यद्यपि तेषामुक्तो  
ब्रह्मान्तर्भावस्तथाऽपि तेष्वनादरनिरासार्थं पृथग्ग्रहणम् । चतुर्थो नमोयोगः । नमःशब्दस्त्रिविधप्रह्वी-  
भावविषयः । ननु ब्रह्मादिनां वस्तुत्वात् नमस्क्रियन्ते संव हि यस्तद्येस्यत आह—  
“ब्रह्म विद्येति । एतेषां तत्संप्रदायकर्तृत्वे “वंशब्राह्मणं प्रमाणयति—वशात्पुत्रस्य इति । यद्यपि  
तत्र पीतिमाप्यादयो ब्रह्मागताः संप्रदायकर्तारः श्रूयन्ते । “तथाऽपि गुरुशिष्यक्रमेण ब्रह्मणः “प्राथम्य-  
मिति” “तदादित्वमिति भावः । संप्रत्यपरगुरुनमस्करोति—नमो गुरुभ्य इति । यद्यपि ब्रह्मादिद्या-  
संप्रदायकर्तृन्तर्भावादिते प्रागेव नमस्कृतास्तथाऽपि शिष्याणां गुरुविषयाद”रातिरेकार्थं पृथग्गुरु-  
नमस्करणम् । “यस्य देवे परा भक्तिः” इत्यादिश्रुतेरिति” ।

“यदुद्दिश्य मङ्गलमाचरितं तत्प्रतिज्ञातुं प्रतीकमादत्ते—उपा वा इति । “एतेन चिकीर्षिताया  
वृत्तेर्भर्तुं प्रपञ्चभाष्येणागतार्थत्वमुक्तम् । तद्धि “इया” इत्यादिमाध्यंदिनभूतिमधिष्ठित्य प्रवृत्तम् । इयं  
पुनः “उपा वा अश्वस्य” इत्यादिकाण्वभूतिमाश्रित्येति । अथोद्दिश्यं निदिशति—तस्या इति ।  
भर्तुं प्रपञ्चभाष्याद्विषेयान्तरमाह—अल्पग्रन्थेति । अस्या ग्रन्थतोऽल्पस्वेऽपि नार्थतत्तयात्वमिति “ग्रन्थस्य  
ग्रहणम् । वृत्तिशब्दो भाष्यविषयः । सूत्रानुकारिभिर्वाच्यः सूत्रार्थस्य स्वपदानां चोपहरणस्य “भाष्य-

“उपा वा अश्वस्य” इति मन्त्र से प्रारम्भ होने वाली (काण्वभूति) वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद्  
है । संसार से विरक्ति के इच्छुक प्राणियों के लिए, संसार के कारण अविद्या निवृत्ति के साधन ब्रह्मा-  
मैकत्वविद्या की प्राप्ति के लिए उसकी यह अल्प परिमाण ग्रन्थ वाली वृत्ति प्रारम्भ की जाती है ।

१. प्रतिज्ञाभाष्यम् । २. अधिकारिभाष्यम् । ३. पलभाष्यम् । ४. काण्वशास्त्रीयोपनिषदित्यर्थं, भाष्यकारीया हीयम्  
शांखा । ५. जातवेकत्वम् । ६. निर्णीततात्पर्यवत्ता वर्तुंभना इत्यर्थं । ७. तदर्थत्वादिनि वेदप्रतिपाद्यत्वादित्यर्थं ।  
एष उ इत्यादिवाक्यतोऽप्यवहितपूर्वम् एतस्यैव सा विमृष्टिरिति वाच्यम् तथा च या विमृष्टि विविधा अन्त्यादि-  
रूपेण देवानां कृष्टिः सा एतस्य प्रजापतेरेव श्रेष्ठः । हि मय्याम्, उ तस्मात् सर्वे देवा एष एव प्रजापतिरेव तद्भे-  
दत्वात् तदन्तर्गतत्वेन तदभिप्रा एवेति समुदायार्थः । ८. बृह० उ० १४६ । ९. विराट् । १०. वक्तव्या  
ब्रह्मादिनां येषामनुग्रहाप्राप्ता ते गुरुव मदेव वन्द्या एति शिष्टाचारपरिपातमात्रं ते नमस्क्रियन्ते इति बोध्यमिति ।  
११. वः उ० १-२ । १२. तथापीति अर्थकममाश्रित्येति शेषः । पाठक्रमादर्थक्रमोक्तीयानिनि न्यायादिनि भावः ।  
१३ इति अर्थकमाश्रयमाश्रित्यर्थः । १४. न तु ब्रह्मादय इति चेत् । १५. तदादित्वमिति तेषु सम्प्रदायकर्तृषु  
ब्रह्मणं आदित्वमुक्तमिति शेषः । १६. शिष्या गुण्यदादरातिशयं कुर्वन्त्विति बोधयितुमित्यर्थः । १७. मङ्गल-  
भाष्यव्याख्यासमाप्त्यर्थः इति । १८. यदिति भाष्यप्रणयनमित्यर्थः । १९. उपा केत्यादि प्रतीकोपादानेन ।  
२०. इयाह प्राजापत्यादेवाश्चागुराश्चेत्यादित्यर्थः । २१. बृह० उ० १-३-१ । २२. अन्त्यादाऽप्यवृत्ति-  
रित्येवोच्येति बोध्यम् । २३. ‘सूत्रार्थो’ बर्णयत यत्र वाक्यं सूत्रानुकारिभिः । स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्य  
भाष्यविदो विदुः’ इति तत्त्वज्ञानम् । सूत्रानुकारिभिर्निरिति सूत्रसदृशं. सग्रहवाक्यमित्यर्थः । स्वपदानि च तान्येव  
सग्रहवाक्यानि ।

तेषां ब्रह्मविद्योपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात् ।  
उपनिषदस्य सदेस्तदर्थत्वात् । तादर्थ्याद्ग्रन्थोऽप्युपनिषदुच्यते ।

लक्षणस्यात्र भावादिति । ननु कर्मकाण्डाधिकारिणो 'वित्तसणोऽधिकारी न ज्ञानकाण्डे संभवति'  
'अथित्वादेः साधारणत्वाद्देवैराग्यादेश्च 'दुर्वचनत्वात् । नच निरधिकारं शास्त्रमारम्भमर्हतीत्यत  
आह—संसारैति । कर्मकाण्डे हि 'स्वर्गादिकामः संसारपरवशो नरपशुरधिकारी । इह तु संसाराद्-  
व्यावृत्तिमिच्छत्यो 'विरक्ताः । नच वैराग्यं दुर्वचं शुद्धबुद्धौ विवेकिनो 'ब्रह्मलोकान्ते 'संसारे तत्संभवात् ।

उक्तं हि—

“शोध्यमानं तु तच्चित्तमो”भरपितकर्मभिः ।

वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्याशु “सुनिर्मलम्” इति ॥

“अतो यथोक्त”विशिष्टाधिकारिभ्यो वृत्तेराग्नः संभवतीत्यर्थः । तथाऽपि विषयप्रयोजन-  
संबन्धानामभावे कथं वृत्तिरारम्भ्यते तत्राऽह—संसारहेत्विति । प्रमातृताप्रमुखः कर्तृत्वादिरनर्थः  
संसारस्तस्य हेतुरात्माविद्या तन्निवृत्तेः साधनं ब्रह्मात्मकत्वविद्या तस्याः प्रतिपत्तिरप्रतिषेधद्वयाः  
प्राप्तिस्तदर्थं वृत्तिरारम्भ्यत इति योजना । “एतदुक्तं भवति—सन्निवानानर्थनिवृत्तिः शास्त्रस्य  
प्रयोजनम् । ब्रह्मात्मैक्यविद्या तदुपायः । तदर्थं विषयः । संबन्धो ज्ञानफलयोः साधोपेयत्वम् ।  
शास्त्रतद्विषययोर्विषयविषयित्वं तदारभ्य “शास्त्रमिति ।

वह यह ब्रह्मविद्या, उपनिषद् शब्द की वाचिका, अपने में तत्पर मनुष्यों के संसार का, कारण-  
सहितनाश करती है । ‘उप’ ‘नि’ पूर्वक पदलू (विशरणगत्यवसादनेषु) धातु का यही अर्थ है । ग्रन्थ के  
ब्रह्मविद्या में जनक एवं उपकारक होने के कारण इसे भी उपनिषद् कहा जाता है ।

१. नामभाष्यम् । २. प्रतिज्ञाभाष्यव्याख्या समाप्त्यर्थं इति । ३. सकाशात् । ४. अथित्वादेरिति—अर्थां दशो द्वि-  
जोऽहं बुध इतिप्रतिमान् कर्मसूक्तोधिकारी इत्यादि स्वाराग्यनिष्ठभुक्तपक्षप्रतिपाद्यत्वात्तत्वादेरित्यर्थः । अत्रापित्वं  
प्रव्यवक्तव्यं स्वर्गाद्यभ्युपगमात् न च बोध्यम् । दशत्वं त्रिधाकुशलत्वम् । नृपत्वं चाधीतजैमिनीप्रसात्तत्त्वम् इत्यादिकं  
बोद्धव्यम् । ५. ननु अथित्वावतिरिक्तं वैराग्यादिकमेव ब्रह्मविद्याधिकारिविशेषणम् तदुक्तं दान्तो दान्तः  
परिव्राजित्वादीत्यत आह वैराग्यादेश्चेति । ६. दुःसम्पाद्यत्वात् । ७. अहमित्यस्य च वर्णाश्रमादिवृ-  
द्धाभिमानवातित्यर्थः । तत्रैव च शान्त्यो दान्त परिव्राजुपरमपरमो ब्रह्मविद्याधिकारीत्युक्तम् स्वर्गपदेन पार-  
लोकिक्त्वाम्बुत्वं सूचितम् । ८. नर्तृत्वाद्यभिमानाधोऽन । ९. हिताहितविवेकसूच्यम् ।

१०. “त्यक्ताशेषात्रित्यर्थेव समारं प्रजिह्वासतः । जिज्ञासोरेव चैवात्म्यं प्रथ्यन्तेष्वधिकारिताः ॥१॥

एतमेवेति च तथा प्रत्यग्यावात्म्यवित्तये । सर्वैर्मर्त्यैश्च ग्राह्यं श्रुतिविद्याधिकारिणम् ॥२॥

प्रत्यग्विविदितातिद्वयं वेदानुबचनादयः । ब्रह्माप्त्यर्थं तु तत्पराग- ईशान्योति श्रुतेर्वत्तात् ॥३॥”

इति यानिषट्पुस्तोत्तरवाक्यस्य । इमन्तीत्यनेन एतमेव प्रवृत्तिनो मोक्षमिच्छन्त इति ग्राह्यन्दिनश्रुतेरेव  
पाठान्तरेण सहर्षं वेदितव्यम् ॥ ११. ब्रह्मनोऽप्यन्ते । १२. संसारमण्डले इत्यर्थः । १३. निष्काम-  
नर्भमिर्ग्यर्थः । १४. अन्तर्मध्यमात्स्वप्रसात्पराधीनं सु इति तीव्रतरवैराग्यमित्यर्थः । १५. वैराग्यादेः  
सुवचत्वादित्यर्थः । १६. कर्मकाण्डाधिकारितो वित्तसणेत्यर्थः । १७. एतदुक्तं भवतीति अधिकारिभाष्यफल-  
भाष्याभ्यामित्यादिः । १८. पक्षभाष्यसमाप्त्यर्थं इति शब्दः ।

प्रयोजनादिषु 'प्रवृत्त्यङ्गतयोक्तेष्वपि सर्वव्यापाराणां प्रयोजनार्थत्वात्तस्य प्राधान्यम् ।  
उपतं हि—

“सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य धर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते” इति ॥

‘तथाच शास्त्रारम्भोप’यिकं प्रयोजनमेव नामध्युत्पादनद्वारा ध्युत्पादयति—सेयमिति ।  
अध्यात्मशास्त्रेषु प्रसिद्धा संनिहिता चात्र ब्रह्मात्मवर्णविद्या तद्विद्यानां सर्वकर्मसंग्यासिर्नां सनिदानस्य  
संसारस्यात्पन्तनाशकत्वाद्भूयत्पुनरित्युच्यते । ‘उपनिषदं भो ब्रूहि’ इत्याद्या च ‘श्रुतिः ।  
‘तस्मादुपनिषच्छब्दवाच्यत्वेऽप्ये’ताधानयोः सम्यक्ते तत्राऽऽह—उपनिषुयस्येति । अस्यायं—‘पदं  
विशरणतत्पवसावनेषु’ इति स्मर्यते । सदेधातिरुपनिषुयस्य विषयन्तस्य सहेतुसंसारनिवर्तकब्रह्मविद्यार्थ-  
त्वादुपनिषच्छब्दवाच्यता सा भवत्युक्तकत्वती । ‘उपशब्दो हि सामीप्यमाह । “तच्चासति संकोचके  
“प्रतीचि” “पर्यवस्यति । निशब्दश्च निश्चयार्थः”तस्मादेकार्थस्य निश्चिन्वतां तद्विद्या सहेतुं संसारं  
सावयतीत्युपनिषदुच्यते । उपतं हि—“अवसावनायस्य चावसावात्” इति । ब्रह्मविद्यं च हेतुपनिषदित्युच्यते  
कथं तर्हि ग्रन्थे शुद्धास्तच्छब्दं प्रयुज्जते न खल्वेकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वं “भ्याम्यमित्याशङ्क्याऽह—  
तादर्थ्यादिति । ग्रन्थस्य ब्रह्मविद्याजनकत्वादुप”चारान्तरोपनिषदमित्यर्थः ।

- यथोक्तविद्याजनकत्वे ग्रन्थस्य किमिति तदध्येतृणां सर्वेषां विद्या न भवतीत्याशङ्क्य  
“अवसावनादिपराणामेवारण्या”नुवचनादिनियमाधीताक्षरेभ्यस्तज्जमेति बृहदारण्यकनामनिर्वचनपूर्वक-  
माह—सेयमिति । अथारण्यानुवचनादिनियमाधीतवेदास्तानामपि केषांचिद्विद्यानुपलभ्यमानाः कुतो  
यथोक्ताक्षरेभ्यस्तदुपतिरित्यत आह—बृहत्वादिति । उपनिषदन्तरेभ्यो ग्रन्थपरिमाणातिरेकादस्य  
बृहत्त्व प्रसिद्धमर्थतोऽपि तस्य तदस्ति ब्रह्मणोऽखण्डंकरसस्यात्र प्रतिपाद्यत्वात्तज्ज्ञानहेतूनां चांतरङ्ग-  
बहिरङ्गाणां भूषणमिह प्रतिपादनात् । अतो बृहत्त्वादारब्धकत्वाच्च बृहदारण्यकम् । नचैतदनुद-

१ प्रवृत्तिप्रयोजकतयेत्यर्थः । २ प्रयोजनस्य प्राधान्ये निवृत्ते सतीत्यर्थः । ३ प्रयोजकम् । ४ नामकपद-  
द्वारा कथयतीत्यर्थः । ५ ननु नामभाष्येण प्रयोजनमुक्तं चेत् तस्मादधिगारी अर्थास्तिष्ठोऽनो धर्ममधिकारि  
भाष्यमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहुर्वैतिकाचार्याः—

‘निर्धोविरोधसिद्धयर्थं धर्मज्ञानाधिकारिणो । सपारब्धाविबुधस्य इत्युक्तिं भाष्यकृज्जगविति ॥”

६ यत् उपनिषदं भो ब्रूहीत्याद्याश्रुतिः । ७ तस्मात्—उपनिषदाम् श्रुतस्य श्रुतेस्त्वैत्यर्थः । श्रुती हि ब्रह्म-  
विद्यार्थे एवोपनिषच्छब्दः । ८ एतावानिति—सहेतुसंसारनिवर्तकत्वपरिमाणक इत्यर्थः । उपनिषच्छब्दस्याग्ना-  
पविरोधे रुद्धेनामतिरिक्तस्य अवयवाच्चैव कुतोऽर्थान्तरे वृत्तियोगाद्ब्रह्मलोकोऽसीति न्यायादिर्हि भावः । ९ नात्राभि-  
धावृत्ति समुदायशक्तेरस्तत्वात् प्रसिद्धेस्तु गतिर्वस्यते अतो नेह स न्यायोक्ततरति न्यायोक्तदुष्यतभवत्यत एव  
तन्नायावतादादिति । अविधावृत्तेस्तत्पर्यवृत्तिर्बनीयसीति न्याय चाभिप्रेत्य भाष्य व्याकुर्वन्नुपनिषदस्य  
चाभ्यायं गाह—उपशब्द इति । १० तच्चेति अव्यवहितस्वरूपसामोष्य इत्यर्थः । ११ अन्तर्बहिर्विभा-  
गहीन आत्मनीत्यर्थः । १२ पर्यवस्यतीति तात्पर्यवदभवतीत्यर्थः । तथा च सर्वतो अवधानाभावापेक्षित  
चैतन्य उपोपमर्गसद्व्यमिति ध्येयम् । १३ तस्मादिति अवयवार्थस्य तस्या पोषकत्वादित्यर्थः । १४  
अवसादनायस्य सद्विद्यतो अवसादस्यायस्य ब्रह्मविद्याया समन्वयादिति सूत्रार्थः । १५ गौरवादिर्हि भावः ।  
१६ अथवनयोरभेदारोपादित्यर्थः । १७ यवणादाचार्यव्यापारकताम् । १८ अनुवचनमप्ययम् ।

‘सेयं पडध्याय्यरण्येऽन्यमानत्वादरण्यकम् । बृहत्त्वात्परिमाणतो बृहदा-  
रण्यकम् । तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्धोऽभिधीयते ।

सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेऽष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः  
सर्वपुराणां नित्यगन्तं एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात् ।

बुद्धेरधीतमपि विद्यामादधाति । “कषाधे कर्मभिः पष्वे ततो ज्ञानम्” इति स्मृतेरित्यर्थः ।  
ज्ञानकाण्डस्य “विशिष्टाधिकार्यादिविशिष्टधेऽपि कर्मकाण्डेन नियतपूर्वापरभावानुपपत्तिरभ्यः सवन्धो  
वक्तव्यः । स च परोक्षकविप्रतिपक्षोरक्षयो “विशेषतो जातुस्मिन्पाशङ्कपाऽह—तस्येति ।

प्रतिज्ञातं संबन्धं “प्रकटयितुमसिद्धप्रमाणभाषानां वेदान्तानां सवन्धाभिधाना” वसराभाषा-

यह यह पडध्यायी, अरण्य में कहीं जाने के कारण अरण्यक है । परिमाण में बड़ी होने के  
कारण बृहदारण्यक है । अब इसमें इस ज्ञानकाण्ड का कर्मकाण्ड से सम्बन्ध बतलाया जाता है ।

यह सारा ही काण्डद्वयात्मक वेद, प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अनधिरात, इष्ट-प्राप्ति और  
प्रतिष्ठितवृत्ति के उपायों को प्रकाशित करने वाला है, क्योंकि “मुझे सुख मिले, दुःख न मिले” ऐसा  
सब मनुष्यों को स्वाभाविक रूप से ही इष्ट है ।

१ सेयं पडध्यायीति ।

“अरण्यमप्यनादेतवारण्यकमुदीर्यते । बृहत्त्वादिष्वन्तोऽर्वाच्यं बृहदारण्यकं मतम् ॥१॥

बृहदारण्यके षण्णवमपाद्य मधुस्मृतम् । द्वितीय यज्ञतत्त्वस्याख्य तृतीय खित्तसत्त्वकम् ॥२॥

उपदेशोपपत्ती द्वे उपास्तिध्वेति ते त्रय । अर्वा अमेध काण्डानां प्राधान्येन निरूपिता ॥३॥

मधुकाण्डे तु चत्वारोऽप्याभास्तत्राद्योऽहो । प्रवर्ग्यस्तत्रैव वर्षं श्रोतं नोपनिषत्तत ॥४॥

विद्यासन्निधिपाठोऽपि विद्यासत्त्वं न चर्मण । अरण्याध्ययनापैव विद्यासन्निधिरिष्यते ॥५॥

गुणोपसंहृतवैतसूत्रपारेण वर्णितम् । अतस्तृतीयमारभ्य व्याख्यानं न तु पूर्वयो ॥६॥

अध्वारोपायपादाभ्यां मधुकाण्डं प्रवर्तत । अध्वारोप्यं तृतीयेन चतुर्थेन त्वोपगते ॥७॥

पडब्राह्मणानि ज्ञेयानि तृतीये ब्राह्मणत्रयम् । भाष्यं सत्तारशीमान्तसाधनप्रतिपादकम् ॥८॥

चतुर्थे तत्फलं प्रोष्य विद्याविधे च सूत्रिते । विस्तरात्तद्वद्ब्रह्माद्वृत्तिरविद्याया अथोभयो ॥९॥”

इत्युक्तं वातिकसारे । मधुकाण्डं वृ० २-५-१ इष्ट-यम् । उभयोरिति पञ्चदशष्टयोऽस्तिरित्यर्थः । २ अधीय-

मानत्वात् । ३ इति नामभाष्यम् । ४ तस्येति—उपरिष्ठतस्येत्यर्थः बुद्ध्यास्पृष्टस्येति भावः । ५

ज्ञानकाण्डस्य । ६ ननु मिथो विच्छदयो काण्डयो सम्बन्ध एव न सम्भवति विविदिद्यारूपे ज्ञानरूपे च

मायं प्रत्येकमुभयो काण्डयो उभयत्र वा प्रत्येककाण्डस्य अपर्यवसानात् इत्याशयः समाधुर्वातिकाचार्या—वेदो हि

सर्वं एवायमात्मैक्यज्ञानसिद्धये । अतो नाभ्योऽभिज्ञानसम्बन्धं कर्मविज्ञानकाण्डयोः” इति । तथा च ब्रह्मात्मैक्य-

ज्ञानमिद्विद्देहेतुत्वाद्भुगोरेवज्ञानहेतुत्वरूपमर्थवत्त्येव परस्परमुभयो सम्बन्धस्त्वभवत्येव एवमधीहेतुत्वादभ्यो

ज्ञानयो सम्बन्ध इत्यर्थः । ७ प्रमाणभाष्यम् । ८ उपदेशमनपेक्षेत्यर्थः । ९ कर्माणि कषायान् पाच-

यन्तीत्यर्थः प्रथमपादस्य षण्णवेषादि—कषाणपत्तिवर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिरित्यादि । ततो ज्ञानं प्रवर्तते

इति वाक्योपपन्नं । १० तस्यावनेन जन्ममुक्तकालितवेतसो नियमाधीतत्वाद्यावस्थापादितध्रुवभादेरावायोपदिष्टो

वेदान्तो विद्याहेतुर्नाष्टुद्धबुद्धेरिति भावः । ११ विलक्षण इति । १२ उपायोपेयभावाच्चसाधारणस्वरूपेणेत्यर्थः ।

१३ सर्वधर्मात्यादिवक्ष्यमाणशब्देनेति ध्येयम् । १४ तन्वेव तदभिधानावसराभावश्चेत् तर्हि प्रथमं तत्प्रमाणं प्रतिपाद्य

सम्बन्धापेक्षायां सम्बन्धप्रतिज्ञाभाष्यं प्रणेतव्यम् इति चेत्तस्यैव उपोद्घातप्रक्रियया आभ्यन्तरस्तस्यैवादिना सम्बन्ध



तत्प्रामाण्यं प्रतिपाद्य पश्चात्तेषां कर्मकाण्डेन संबन्धविशेषवचनमुचितमिति मन्वानस्तत्प्रामाण्यं साधयति—सर्वोऽपीति । 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्या'गमातिरिक्तप्रमाणोपलक्षणार्थम् । 'एषोऽर्थोऽध्ययन-विध्युपात्तः सर्वोऽपि काण्डद्वयात्मको वेदी मानान्तरानधिगतं यदिष्टोपायादि तज्ज्ञापनपरस्तथाचा-जातज्ञापकत्वाविशेषोपात्तत्वं प्रामाण्यं काण्डयोरेति । अथ या वेदनं वेदोऽनुभवः । स च द्रावेतर-मानायोग्यो रूपादिहीनत्वात् । 'एतदप्रमेयम्' इति हि श्रुतिः । ॥ चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायस्तस्यैव तत्तदात्मनाऽवस्थानात् । 'सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादिश्रुतेः । स च प्रकाशनः सर्वप्रकाशकत्वात् । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति श्रुतेः । स च परोऽविद्यातत्कार्यातीतत्वात् । 'विरजः पर 'भाकाशात्' इत्यादिश्रुतेः । एषरूपो वेदपदवेदनीयश्चिदेकरसः प्रत्यग्धातुरेव सर्वोऽपि कार्यकारणरूपः प्रपञ्चः । 'प्रारम्भेवैव सर्वम्' इति श्रुतेः । 'तथाच यथोक्तं यस्तु प्रकाशयन्तो वेदान्ता विविधावयवप्रमाणमिति । अथवा प्रत्यक्षादिनाऽनवगतो योऽसाविष्टप्राप्त्याद्युपायो ब्रह्मात्मा तस्य प्रकाशनपरः सर्वोऽप्ययं वेदः । तस्यैवाज्ञातत्वात्तत्र' कर्मकाण्डं कर्मानुष्ठानप्रयुक्तबुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्माधिगतावाराहुप'कारकम् । 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति श्रुतेः । ज्ञानकाण्डं तु साक्षादेव तत्रोपयुक्तम् । परमपुरयस्योपनिषदस्व-श्रवणात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुतेः । तद्युक्तं कर्मकाण्डज्ञानकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति । अधिकारिसौलभ्यप्रतिपादनद्वारा ज्ञानकाण्डप्रामाण्यमेव स्फुटयति—सर्वपुराणामिति । अयमर्थः—सुखं मे स्याद्बुद्धं मा भूदिति स्वभावतः शास्त्रं विना सर्वेषां पुरुषाणामनवच्छिन्न-सुखा"दिमात्रेभिलाषोपलक्षणासन्मात्रस्य च मोक्षत्वा"तत्कामिनो ज्ञानकाण्डाधिकारिणः सुलभत्वा- "तस्मिन्प्रमा"स्वार्थविषयमाह"धत्कथं"तदप्रमाणमिति ।

प्रत्यक्षादौ ततो न सम्बन्धप्रतिज्ञा साध्वी वेदान्तानामप्रामाण्यादिति चोदिते तत्प्रामाण्योक्त्या उक्तचोप प्रत्या-ख्याय विविदिषा श्रुतिसिद्धकर्मणा विविदिषाहेतुत्व नाम सम्बन्धविशेषमाह स्म अतो नात्र भाष्ये किञ्चिद्-पणम् । उपोद्भातलक्षण चोक्तं 'चिन्ता प्रवृत्तसिद्धयर्थासुपोद्घात प्रचक्षत' इति । विविदिषाश्रुतिश्च 'तमेत विवि-दिषन्ति ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन सप्रसादानावेनेति' बोध्या । सम्बन्धविशेषश्च भाष्यद्वन्द्वे उपयोपेयभावरूपो वेदितव्यः । १ ननु सर्वोपीत्यादिवदङ्गिर्भगवत्पार्द सर्ववेदस्य ब्रह्मात्मनि प्रामाण्यं यद्यप्युक्तं तथापि प्रत्यक्षादिविशेषणेन उपमानादिविषयत्वाद्ब्रह्मण तत्र वेदस्य तत्सत्त्वादविसत्त्वादान्याममानतेत्याहुष्य आह—प्रत्यक्षेति । २ आगमविषयत्वोक्तिरेकात्म्यस्य व्याहृता मा भूदित्याममातिरिक्तेतिप्रमाणविशेषम् । ३ मिथो विलक्षणार्थवचनं ज्ञानकाण्डयो सर्वोप्ययं वेद इत्येकरास्येनोपदेशो न युक्त इत्यत आह एषोऽर्थ इति । अध्ययन-विधेरक्षरावाप्तिद्वारा अर्थावगमद्वारा वा पदान्तत्वात् तेनैवेनोपासकाण्डयोरेव पुरुषार्थविसादितया प्रणजदवादि बाधयदेव बाधयता तथा च काण्डयोरेकराशित्ववरण युक्तमिति भावः । ४ सर्वोपीत्यादिभाष्योक्तकूपोऽर्थ इत्यर्थः । ५ इष्टोपायादीति—प्रत्यग्भिन्नं बहुतेति शेषः । ६ तथाचोक्तं—वेदमात्रस्याज्ञातज्ञापनतत्पदेवत्ये वेत्यर्थः । ७ अध्याहुतात् । ८ उत्तानुभवरूपज्ञाणो निशिलाधिष्ठानत्वे च । ९ काण्डद्वयमध्ये । १० परम्परया सहचारि । ११ अव्यवहितनिरुतिशरणपूर्णसुखादावेत्यर्थः । १२ तत्कामिन इति—एव प्राणिमात्रस्य मुमुक्षामदभावे किमु धत्तव्यं निरस्तनिरुतिचित्तमनस्य लीप्रतरवैराग्यादिसम्पन्नस्य तत्सद्भाव इतिभावः । ननु लीनिनसुख एव सर्वोपायभिलाषदर्शनाम्भोक्षसुखस्य चातोविवरत्वात् नच मुमुक्षासद्भाव इति चेन्न मोक्षरूपमुपयस्यैव तत्तद्विषयसम्बन्धेन लीविकैरिष्यमाणत्वात् लीनिनसुखावलक्षणं तदिति न भ्रमिनव्यम् । १३ उत्ताधिकारिणि । १४ प्रत्यग्भिन्नप्रज्ञा । १५ उत्पादयत् । १६ ज्ञानकाण्डम् । ननु मुमुक्षोरेवान्तरात् प्रामाण्यस्य भोजनादाविव स्वर्गादावभिलाषसम्भवात् तत्परवशस्य च विद्यानधिवारात् वयमत्राधिकारिसौलभ्यमिति चेन्न य स्वर्गादि कासाति स कश्चिन्मोक्षमपि नार्थे तस्य निरुतिदयनत्वात्, यस्तु मुक्तिं कामयते नातो स्वर्गादि वयमपि वामयते तस्यात्यल्पफलत्वात्, अतो यो मुमुक्षु भूत्वा पुन स्वर्गाद्यभिलषति स पशूना वाम इवापसदो मुमुक्षुणामिति

दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वा-  
न्नाऽऽगमोऽनुसंधेयः । न चासति जन्मान्तरसबन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्ट-  
प्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात् । स्वभाववाददर्शनात् ।

ननु वेदस्य कार्यपरतया प्रामाण्यात्कर्मकाण्डवत्काण्डान्तरस्यापि कार्यपरतया प्रामाण्यमेष्ट-  
व्यमिति नेत्याह—दृष्टविषय इति । क्रियाकारकफलेतिषतंव्यतानामन्यतमेतस्मिन्का (मे का)ये  
समोहितप्राप्त्याद्युपायभूते व्युत्पत्तिकाले प्रत्यक्षादिसिद्धे तथाविधकार्यविधौऽन्यथासम्भवात्तत्र  
नाऽऽगमोऽनुसंधेयः । न हि लोकेवेदयोस्तद्भिद्यते । अलौकिके तस्मिन्व्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । नचा  
व्युत्पन्नानि पदानि बोधकान्यतिप्रसङ्गात् । नच ब्रह्मेत्यपि तुल्या व्युत्पत्त्यनुपपत्तिः । तस्मिन्ब्रह्मत्वे-  
नाऽऽत्मत्वेन च प्रसिद्धे तत्तत्सामान्योपाधौ विज्ञानाविषयानां व्युत्पत्तेः सुकरत्वात् । तानि चास्म-  
किकमलण्ड प्रत्यग्रह्य मि'ल्लुठितसामान्यविशेष लक्षणया बोधयन्ति । "तस्माद्ब्रह्म वेदप्रमाणक न  
कार्यमिति भावः । किंच तिम्रुतु वेदान्तप्रामाण्य कर्मकाण्डेऽपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वादौ सिद्धेऽयं  
प्रामाण्यमावश्यकम् । तदभावे तत्प्रामाण्यायोपात् । न हि भविष्यद्देहसबन्ध्यात्मसङ्गावानधिगमे  
पारलौकिकप्रवृत्तिविश्रम्भः । तस्मात्कर्मकाण्डप्रामाण्यमिच्छता सिद्धेऽयं भविष्यद्देहसमन्वित्यात्मनि  
स्वर्गादौ च तत्प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वात्कार्यं वेदप्रामाण्यानियमाद्वेदान्तानामपि स्वार्थं मानत्वं सिध्यती-  
त्याह—न चेति । ननु वेदान्तसबन्ध्यात्मज्ञानं विनाऽपि विधिवशाद्वैष्ट्यायंक्रियासु प्रवृत्तिः स्यादिति  
नेत्याह—स्वभावेति । यवाऽऽमा वेदान्तसबन्धी शाखान्मानान्तराच्च न प्रमितस्तदा भोक्तुरनवग-  
मात् प्रेक्षापूर्वकारो यायाद्यनुतिष्ठेत् । "लोकायतस्य व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमज्ञानतो जन्मान्तरेष्टानिष्ट-  
प्राप्तिहानीच्छया वैदिकक्रियासमप्रवृत्तेर्दर्शनात् । अतो नातिरिक्तात्मज्ञानं विना "साम्परायिके  
प्रवृत्तिरित्यर्थः ।

इष्ट कार्यं मे तो इष्ट प्राप्तिं श्रीर अनिष्टनिवृत्तिं के उपायो के ज्ञान प्रमाण से सिद्ध हो जाने  
के कारण आगम प्रमाण के अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं । भविष्यद्देह सम्बन्धी आत्मा के  
अस्तित्व का ज्ञान न होने पर वेदान्तसम्बन्धी इष्टप्राप्ति श्रीर अनिष्टनिवृत्ति की इच्छा भी नहीं होगी ।  
ऐसा वेदात्मवादी चार्वाकदर्शन का मत है ।

—न च नाम्नाप्यन पत्नीतिद्वारा तत्कामाधिकारिण उत्तरवादनर्थमिदं भाव्यमिति वाच्यम् अर्थश्रुतिभ्यामु-  
भयप्राप्त्यधिकारिर्देशादर्थमेदसिद्धे । यद्यपि ससारविवृत्त्युभय इत्यत्र मुखतोऽधिकारी प्रदक्षितस्तथाप्यत्र तत्सो-  
लम्ब्येष्टत्वाभावेन वैयर्थ्यम् । न चैवं शास्त्रस्य सर्वाधिकारत्वं स्यादिति वाच्यम् । साधनचतुष्टयविशिष्टानामेव  
विद्याधारादिना गौतम्योन्निनि इष्टव्यम् । १ आन्नाद्यस्य क्रियायत्त्वादानर्थक्यमतदर्शनामि त्यादि  
जैमिनिसंभानि भावः । २ शक्तिग्रहसमयः । ३ आगमानुसंधानं विनैव । ४ कायम् ।  
५ जबगहादिगद्धानामप्ययप्रत्यायकत्वप्रमणात् । ६ व्यापनत्वेन । ७ प्रत्ययत्वेन । ८ ब्रह्मत्वाद्युपहित  
इत्यर्थः । ब्रह्मत्वादिसामान्यम् उपाधिविशेषण यस्य तस्मिन् । ९ वेदात्तभाष्यानि । १० निर्णयेत्यर्थः ।  
११ कायत्वाद्युपपत्तेर्ब्रह्मण्येय वेदानां प्रामाण्यात् । १२ बद्धफलकर्मसु । १३ देहात्मवादिवार्त्तव्येति ।  
१४ सम्पद पर—देहपातादन तरमीयते गम्यतेऽग्नौ सम्पराय परलोकं तत्प्राप्तिहेतुर्कर्मापासनादिशास्त्रोपाधन-  
विशेषः साम्परायिक तस्मिन् । परनोत्पत्तकर्मणीति यावत् ।

तस्माज्जन्मान्तरसंबन्धात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते । “येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीयेके नायमस्तीति चैके” इत्युपक्रम्या-  
स्तीत्येवोपलब्धव्य इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात् “यथा च मरणं प्राप्य” इत्युपक्रम्य—

“ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थानुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ”

इति च “ स्वयं ज्योतिः ” इत्युपक्रम्य “ तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते ”

“ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ” इति च “ ज्ञपयिष्यामि ” इत्युपक्रम्य

“ विज्ञानमयः ” इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम् ।

ननु विषयः साधनविशेषं बोधयन्तो नातिरिक्तात्मास्तित्वाद्वा ‘मानं वाक्यमेवप्रसङ्गादित्यत आह—  
तस्मादिति । अतिरिक्तात्मविषयं विना पारलौकिकप्रवृत्त्यनुपपत्त्या कर्मकाण्डप्रामाण्याद्योगादिति यावत् ।  
विधीनां ‘श्रुत्यर्थाभ्यामुभयार्थस्वमविरुद्धमित्यर्थः । न केवलं विधिभिरेवार्थादाक्षिप्तमतिरिक्तात्मास्तित्वं  
किंतु श्रुत्याऽपि स्वमुखेनोक्तमित्याह—येयमिति । निर्णयदर्शनाद्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वमिति संबन्धः ।  
तत्रैव ‘प्रकृतोपयोगित्वेनोपक्रमोपसंहारादन्तरे दर्शयति—यथा चेति । पूर्ववदेव संबन्धद्योतनार्थं, चकारः ।  
उपक्रमोपसंहारकरूप्यात्कठबल्लूनामतिरिक्तात्मास्तित्वे तात्पर्यमुक्त्वा बृहदारण्यकवाक्यस्यापि तत्र  
तात्पर्यमाह—स्वयमिति । न हि प्रसिद्धजडत्वस्य देहादेः स्वयंज्योतिर्भूमिति “ज्योतिर्ब्राह्मणगतोपक्रमस्तत्र—  
“विषयो देहादिव्यतिरिक्तात्मानमधिकरोति । तं प्रेतं” विद्याकर्मणी पूर्वोपाजिते फलदानायानुगच्छतः ।  
स च गत्वा ज्ञानकर्मानुगुणं फलमनुभवतीति “शारीरकेब्राह्मणगतोपसंहारोऽपि जन्मान्तरसंबन्धविषयः ।

इसलिये देहान्तरसम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व एवं देहान्तर इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति  
रूप उपायविशेष के निरूपण करने में शास्त्र प्रवृत्त होता है—“जाने वाले मृत मनुष्य के विषय में कुछ  
रहता है, कुछ नहीं रहता, ऐसी शका करते हैं” इस उपक्रम से “आत्मा निश्चित है—ऐसा ही जानना  
चाहिये” यह निर्णय (शास्त्रकार) लेते हैं ।

“मृत्यु के बाद जैसा होता है” इसी प्रकार उपक्रम करके “(प्रज्ञानी देहाभिमानी) अपने कर्म  
और चिन्तन के अनुरूप कितने शरीर धारण करने के लिए किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ मनुष्य  
स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं” ऐसा कहते हैं । “वह स्वयंज्योति है” ऐसा उपक्रम करके “उस  
समय इसके साथ साथ ज्ञान कर्म (और पूर्वानुभवजन्य संस्कार) जाता है”, तथा “पुण्यकर्मों से पुण्यवान्  
एवं कुत्सित बर्मां से पापी होता है” ऐसा भी कहते हैं । “बतलाऊंगा” इस प्रकार प्रारम्भ करके  
“आत्मा विज्ञानमय है” ऐसा देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व बतलाया है ।

१ श्रुती—एवमादिनिर्धारणोपसम्मादित्यर्थ । २ वृ० ४-३-६ । ३ वृ० ४-४-२ । ४ वृ० ४-४-४ ।

५ वृ० २-१-१५ । ६ वृ० २-१-१६ । ७ प्रमितजनवस्वरूपधर्मस्यान्मानमिति बहुविशेषणस्याप्य-

मयमुन्नेयम् । ८ वचनाधीर्पतित्यामित्यर्थं शब्दतोऽर्थापत्तितत्त्वेति यावत् । ९ सिद्धे वस्तुनि वेदस्य

प्रामाण्यामिति प्रवृत्तम् । १०. स्वयं ज्योतिः पुरुषविषय इत्यर्थः । ११ वृ० चतुर्थाध्यायस्यवृत्तीयब्राह्मणे ।

१२ अर्थापत्तीति—बोधयतीत्यर्थः । १३ परलोकाय गच्छन्तम् । १४ वृ० उ० अ० ४ ।

तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेत् । न वादिविप्रतिपत्तिर्वशनात् । न हि देहान्तर-  
संवन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्ना-  
स्त्यात्मेति वदन्तः । न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चिद्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति ।

स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेत् । न । निरूपितेऽभावात् । न हि प्रत्यक्षेण

नचात्रैव भस्मीभवतो देहादेर्जन्मान्तरसंबन्धो युक्तः । तेनाऽऽत्मा देहादिर्ध्यतिरिक्तो जन्मान्तरसंबन्धी  
सिद्धो ब्राह्मणस्याभ्यासित्यर्थः । 'अजातशत्रुर्ब्राह्मणे च ध्येय' इत्या अप्रियप्प्यामीत्युपक्रमो ध्यतिरिक्तात्मा-  
स्तित्वविषयः । ॥ हि प्रत्यक्षे देहद्वौ जिज्ञासाऽस्ति । तत्रैवोपसंहारे "य एष विज्ञानमयः पुरुषः" इति  
विज्ञानमयविशेषणादतिरिक्तात्मास्तित्वं दर्शितं न हि देहादीर्विज्ञानमयत्वमस्ति तस्मात्तदप्युपक्रमोप-  
संहाराभ्यां ध्यतिरिक्तात्मास्तित्वं गमयतीत्याह—अप्रियप्प्यामीत्युपक्रम्येति । नचोदाहृतानां वाक्यानाम-  
प्रामाण्यम् । तत्प्रामाण्यस्योत्पत्तिकसूत्रे हेत्वविरोधादभ्युपेयत्वादिति भावः ।

यथोक्तात्मन्यहं प्रत्ययो मानं तत्र देहाकारास्फुरणादतिरिक्तात्मास्तित्वस्य तेनैव स्फुरयुपपत्तौ रतो  
न तत्र ध्रुतिप्रामाण्यमिति शङ्कते—तत्प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षस्य विषयोऽवकाशो यस्मिन्नित्यतिरिक्ता-  
त्मास्तित्वमुच्यते । यद्यपि ध्यतिरिक्तात्मास्तित्वं त्वदभिप्रायेणाहंयोगोचरस्तथाऽपि न सा ध्यतिरेक-  
मात्मनो गोचरयति 'युगत्यागमविषयेकशून्यानामहंप्रत्ययभाजां ध्यतिरेकाप्रत्ययप्राप्ती विप्रश्चितां विप्रति-  
पत्त्यभावप्रसङ्गादिति परिहरति—न वादीति । वेदप्रतिकूला वादिनो नास्तिकां नैव विदवां मुञ्चन्ती-  
त्याह—न हीति । तेषु प्रातिकूल्यसंभावनार्थं विशेषणं नेत्यादि । इति वदन्तः सन्तो नोऽस्माकं प्रति-  
कूला न हि रघुरेवं वदनस्यैवासंभवादस्य "क्षविरोधादिति योजना । प्रत्यक्षे विषये विप्रतिपत्त्यभावे  
दृष्टान्तमाह—न हीति ।

"तत्र ध्यविचारं शङ्कते—स्थाण्वादाविति । प्रत्यक्षे ध्यमिणि स्यात्पुर्वं पुरुषो वेति विप्रतिपत्ते-

यदि कहौ आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विषय है, तो उचित नहीं, क्योंकि इस सम्बन्ध  
में वादियों में मतभेद देखा जाता है । यदि जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होता तो चार्वाक  
एवं बौद्ध दर्शन के प्रतिपादन करने वाले "आत्मा नहीं है" ऐसा कहते हुए हमारे प्रतिकूल नहीं होते ।  
चक्षु इन्द्रिय से साक्षात् दीखने वाले घटादि मे "घट नहीं है" ऐसा संशय किसी को भी नहीं होता ।

स्थाणु आदि मे पुरुष आदि का भ्रम देखा जाने के कारण प्रत्यक्ष वस्तु में संशय हो जाता है—

१. सू० अ० २ । २ विज्ञपयिष्याम्येति भिन्नक्रमेण सम्बन्धः । ३. विज्ञानं बुद्धिः सन्मयः तदुपाधिकस्त्व-  
दुपहित इति यावत् । ४. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽप्यतिरेकस्यार्थेऽनुपलब्धे  
तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वादिति प्रथमाभ्यायप्रथमपादपञ्चमे जैमिनीयसूत्रे । औत्पत्तिक इत्यादि । औत्पत्तिक-  
स्वाभाविकोऽप्येव इत्यर्थः । अतस्तस्य धर्मैव ज्ञानं शल्लकरणं वैदिकजन्म । प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धे चार्थे उपदेशः  
शब्दोऽप्यतिरेकोऽप्यभिचारिणामित्यर्थः । तद् वेदान्त्यं प्रमाणं धर्मो बादरायणस्याप्यभिमतं तस्य स्वार्थं  
मानान्तरानपेक्षत्वादिति सूत्राक्षराणामर्थः । ५. अजातज्ञापवत्स्वरूपहेतोरेवमत्र तुल्यत्वादित्यर्थः । उपमन्त्रेति—  
ज्ञानवर्मेवाण्डोरित्यर्थः । ६. मण्डरीरध्यज्ञानमहं कृशमवृत्तं वा ज्ञान इत्येवमादिरूपः । ७. मानसम्भवात् ।  
८. प्रत्यक्षासिद्धत्वात् । ९. आत्मानात्मनोः प्रत्यक्सत्त्वपरात्त्वज्ञानं युक्तिः । आत्ममहत्वात्स्मृत्तमनन्वित्यादिजन्म-  
मात्मनि तत्तत्त्वज्ञानम् । देहादिभेदावगमश्च विवेकः । १०. प्रत्यक्षविरोधादित्यर्थः । ११. यत्र प्रत्यक्षविषयत्वं  
तत्र विप्रतिपत्त्यभाव इति व्याप्ती ।

निरूपिते स्थाप्यादौ, विप्रतिपत्तिर्भवति । त्रैनाशिकास्त्वहमितिप्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते ।

। तस्मात्प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात्प्रत्यक्षाप्राप्स्तमारितत्वसिद्धिः । तथाऽनुमानादपि । श्रुत्याऽऽत्मास्तित्वे, लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च 'प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेत् । न । जन्मान्तरसंबन्धस्याग्रहणात् । आगमेन त्वात्मास्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शित'लौकिकलिङ्ग-

रूपसम्भाष्य प्रत्यक्षे विप्रतिपत्त्यभावे व्यभिचारादिति शङ्काः । आदिपदेन पापाणादौ गजादिविप्रति-  
पत्तिः संगृह्यते । किं प्रत्यक्षमात्रे विप्रतिपत्तिः किं वा तेन विविक्ते प्रतिपत्ते । नाऽऽद्योऽङ्गीकारात् ।  
नच वमात्मनि प्रत्यक्षे विप्रतिपत्ता'वपि नाऽऽगमात्वेयणा । तेनैव तन्निरासेन तन्निरायादिति मन्वानो  
द्वितीयं दूषयति—नेत्यादिना । 'प्रत्यक्षतो विविक्तेऽयं विप्रतिपत्त्यभावं प्रपञ्चयति—न हीति । आत्मनः  
स्पूलदेहाव्यतिरिक्तत्वं न प्रत्यक्षमिति प्रतिपाद्य सूक्ष्मदेहव्यतिरिक्तत्वमपि नाहंप्रत्ययग्राह्यमित्याह—  
'वैनाशिकास्त्विति । ते सत्त्वहमिति धियमनुभवन्ति । तथाऽपि देहान्तरं स्पूलदेहातिरिक्तत्वं सूक्ष्मं तत्र  
प्रधानभूताया बुद्धेरतिरिक्तस्याऽऽत्मनो नास्तित्वमेव पश्यन्ति 'तत्राहं धिया सूक्ष्मदेहातिरिक्तात्म-  
सिद्धिरित्यर्थः ।

किञ्च प्रत्यक्षस्य विषयो 'रूपादिस्त' 'द्राहिर्यं तद्वैलक्षण्यं तदात्मनोऽस्ति । 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्'  
इत्यादिश्रुते । न हि रूपादि तदाधारं वा विना प्रत्यक्षं 'क्रमते । 'अतो न देहाद्यतिरिक्तात्मास्तित्वस्य  
प्रत्यक्षात्प्रसिद्धिरित्याह—तस्मादिति । प्रत्यक्षतो विविक्ते विप्रतिपत्त्ययोगात् । प्रकृते च तद्वैलक्षण्यमिति  
यावत् । 'अथेच्छादय' ववचिवाभिता गुणत्वाद्रूपादिवदित्यनुमानादतिरिक्तात्मसिद्धिरिति नेत्याह—  
तत्रेति । नाऽऽत्मास्तित्वप्रसिद्धिरितिसंबन्धार्थस्तथाशब्दः । अयं भाव—इच्छादीना 'स्वातन्त्र्ये स्वरूपासिद्धिः

ऐसा कहना उचित नहीं है । अतो-भाति देखने पर बड़ा सशय का अभाव हो जाता है । स्थाणु आदि  
को अतो-भाति देख लेने पर उसमें सन्देह नहीं होता है । विज्ञानवादी तो "अहम्" ऐसी प्रत्यक्षविषय  
बुद्धि के उचित होने पर भी देह से भिन्न आत्मा के न होने का निर्णय करते हैं ।

इमनिष् प्रत्यक्ष के विषय रूपादि से विलक्षण होने के कारण आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि  
प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती । इसी प्रकार (आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि) अनुमान के द्वारा भी नहीं  
हो सकती । यदि कहो ("य प्राणेन प्राणिति") श्रुति ने आत्मा के अस्तित्व से लिङ्ग दिखाया है । शरीर  
लिङ्ग प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है—तो ठीक नहीं । क्योंकि आत्मा के जन्मान्तर सम्बन्ध का

- १ मानसप्रत्यक्षनिश्चितारमविषयत्वादित्यर्थः । २ आत्मनो जन्मान्तरेण य सम्बन्धस्तस्य ग्रहणात् आगमेतत्प्र-  
माणेनाज्ञातादित्यर्थः । ३ लोकप्रसिद्धेत्यर्थः । ४ प्रत्यक्षेणान्तरभिन्नत्वेन ज्ञात इति यावत् । ५ एवमिति  
। स्थाप्यादावित्यर्थः । ६ अपीति विप्रतिपत्त्यपवादवित्यर्थः । ७ आगमविप्रतिपत्तिविविक्तात्मानस्तादा क्रमाया ।  
८ विज्ञानवादिनः । ९ अहमितिप्रत्यक्षविषयत्वेना धिय जानत इत्यर्थः । १० तन्मते धियोऽहं प्रत्ययवि-  
षयत्वात् । ११ रूपादिरित्यादिपदेन रूपादयो गुणा रूपादिभक्तो गुणिनश्च आह्वा । १२ तत्राहंत्वमिति  
तत्पदेनापि तदुभय आह्वये च तदा गुणपदे 'राहित्यमत्यन्ताभाववत्त्वम् गुणिपदे तु भेदत्वमवगमनीयम् ।  
१३ प्रवर्तते । १४ आत्मनि प्रत्यक्षप्रवृत्तिप्रयोजनभावादित्यर्थः । १५ शङ्कामामयशास्त्रोऽयं अन्वयः ।  
१६ आध्यात्मपक्षेऽपि ।

विशेषंश्च तदनुसारिणो भीमांस्तकास्तार्किकाश्चाहंप्रत्ययं लिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमति-  
प्रभवानीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चाऽऽस्मेति ।

‘सर्वथाऽप्यस्त्यात्मा देहान्तरसंबन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहान्तरगतेष्टानिष्टाप्राप्तिपरि-

वारतन्त्र्ये परस्परार्थत्वमाधारस्येदानीमेव साध्यमानत्वात् । षष्वधिकृष्टवदेत चाऽऽश्रयमात्रवचने  
सिद्धसाधनत्वं मनस्तत्वाभ्यस्तस्य सिद्धत्वावतमोक्तौ च दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेति । “यः प्राप्तेन  
प्राणिति” इत्यादिभूत्या प्राणनादिव्यापाराख्यस्य लिङ्गस्याऽऽत्मास्तित्वे प्रदर्शितत्वात्तस्य च व्याप्ति-  
सापेक्षस्य प्रत्यक्षादिसिद्धात्मविषयत्वाच्च तस्य शब्दकगम्यतेति शङ्कते—अत्येति । आत्मनः ‘स्वातन्त्र्येण  
‘लिङ्गगम्यत्वाभिप्रायेण भूत्या लिङ्गं नोपगम्यस्तमिति परिहरति—नेति । योचेतनव्यापारः स  
चेतनाधिष्ठानपूर्वको यथा रयादिव्यापारः । ‘प्राणनादिव्यापारस्याप्यचेतनव्यापारत्वाच्चेतनाधि-  
ष्ठानपूर्वकत्वमिति ‘संभावनामात्रेण सिङ्गोपन्यासः । न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते । आत्मनो  
जन्मान्तरसम्बन्धस्य प्रमाणान्तरेणाग्रहणसत्त्व्याप्तलिङ्गायोगावित्याह—जन्मान्तरेति । ननु व्यति-  
रिक्तात्मास्तित्वमामगमकगम्यं चेत्कथं तत्प्रत्यक्षमनुमेयं चेति याविनो वदन्तीति तत्राऽऽह—आगमेन स्थिति ।  
येयं प्रेते विचिकित्सेत्याद्यागमेन “को ह्येवाप्यात्” इत्यादिविबोधोक्तंश्च प्राणनादिभिरलौकिकलिङ्गविशेषै-  
रात्मास्तित्वे सिद्धे यथोक्तात्मसिद्धिमनुसरन्तो चाविनो वैदिकमेवाहंप्रत्ययं प्रतिलभमाना वैदिकान्येव च  
लिङ्गानि पश्यन्तः स्वोत्प्रेक्षानिर्मितानि तानीति कल्पयन्तो द्विधाऽऽत्मानं वदन्ति । वस्तुतस्तत्त्वात्मा  
यथोक्तधृत्येकसमधियम्य इत्यर्थः ।

तस्यास्येत्यादिना काण्डयोः संबन्धं प्रतिज्ञाय तादर्थ्येन सिद्धेऽर्थे वेदान्तप्रामाण्यं सर्वोऽपीत्यादिना

आगमेतर प्रमाण से ज्ञान नहीं होता । आगमप्रमाण एव वेदोक्त और लोकप्रसिद्ध लिङ्गविशेषों के द्वारा  
आत्मा के अस्तित्व का बोध होने पर उसी का अनुसरण करने वाले भीमाश्रक और तार्किक वैदिक मह-  
प्रत्यय और लिङ्गों को ही “ये हमारी बुद्धि की उपज हैं” ऐसी कल्पना करते हुए कहते हैं कि “आत्मा  
प्रत्यक्ष और अनुमान का भी विषय है ।”

सर्वथा ही देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा है—ऐसा जानने वाले तथा जन्मान्तर मे

१. तस्येत्यादिभाष्येण काण्डयोनियतपौर्वापर्यानुपपत्तिसम्य सम्बन्ध प्रतिज्ञाय तदर्थमेव सिद्धेऽर्थे वेदान्त-  
प्रामाण्य सर्वोऽपीत्यादिना प्रसाध्य विद्याधिकारिसौलभ्यं च प्रामाण्योपयोगित्वेन सर्वगुह्याणामित्यादिनोक्त्वा  
परकीयकार्यं च वेदप्रामाण्यं दृष्टविषयेत्यादिना निराकृत्य । न चास्तौत्यादिना परैरपि सिद्धेऽर्थे वेद-  
प्रामाण्यस्यैतदप्यतया युक्त वेदान्तानां स्वार्थनिष्ठत्वमिति प्रतिष्ठाप्य पूर्वज क सम्बन्ध काण्डयोरिति  
योऽन्तर्गमित प्रश्न तस्य कर्मणि शुद्धबुद्धेर्वैराग्याद्विद्वद्भिर ज्ञानोत्पत्तिसम्बन्ध इति निर्णय कर्तव्य तदर्थं  
सर्वथेत्यादिभाष्यम् । पूर्वजैति—नर्थकाण्डोक्ति य प्रश्न इत्यन्वय । क सम्बन्ध इति कि दादस्य आक्षेपार्थकत्वेन  
सम्बन्धो नास्त्येत्यर्थकत्वेऽपि प्रश्नस्य शब्दस्वाम्यात्तात्पर्यमर्थकत्वमिति ध्येयम् इति टिप्पणटिप्पणम् ।
२. आश्रयसामान्यवचने । ३. यं ३-४-१ । ४. तत् आत्मा सर्वान्तर इत्यादि श्रुतिशेष । य आत्मा  
प्राणेन प्राणिति मुखाद्वायुनिर्गमत्यकप्राणनजियावान् भवतीत्यस्यार्थः । येनात्मना प्राणो वायु प्रणीयते तादृक्-  
क्रिया भवतीत्युक्तवृत्तिमात्र । ५. शक्यप्रज्ञा हि सिद्धयोरेव व्याप्तिरव्यस्येण हेतुसाध्ययो द्रव्यमुपगमनीय-  
मात्मनो व्याप्ति लिङ्गस्य ग्रहीतुमध्यस्तत् श्रुतिदर्शितस्येति भावः । ६. शब्दानपेक्षतया । ७. लिङ्गमनुमानम् ।
८. मुखाद्वायुनिर्गम प्राणन प्रवेक्षोऽज्ञानम् । ९. अनुमित्यात्मकापतज्ञानमात्रजननार्थमिति निमित्ताधिका वृत्तीया ।

हारोपायविशेषार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम् । न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्तिपरि-  
हारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तुं भोक्तृस्वरूपमभिमानलक्षणं तद्विपरीतब्रह्मात्मस्वरूप-  
विज्ञानेनापनीतम् । यावद्वि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादिस्वभावविकदोषप्रयुक्तः  
शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि प्रवर्तमानो मनोवाक्कार्यदृष्टानिष्टसाधनान्यधर्म-  
संज्ञकानि कर्मान्युपचिनोति बाहुल्येन स्वाभाविकदोषबलीयस्त्वात् । ततः स्यावरा-  
न्ताधोगतिः ।

प्रसाध्याधुना कर्मभिः शुद्धपुद्गेर्वैराग्याविद्वारा ज्ञानोत्पत्तिरिति तयोः 'संबन्धं कथयति—सर्वथाऽपीति ।  
'आगमन्मानान्तराद्वा व्यतिरिक्तात्मास्तित्वप्रतिपत्ताव'पीत्यर्थः । पुटपार्थोपायविशेषार्थिनस्तज्ज्ञापनार्थं  
कर्मकाण्डमारब्धं चेत्तर्हि तत्रोक्तकर्मभिरेव विवक्षितपुण्यसिद्धेर्वैदान्तारम्भव्यवस्थान्न संबन्धोक्तिः  
सावकाशेत्याशङ्क्याऽऽह—नत्विति । आत्माज्ञानं स्वत्वनयकारणमन्वयव्यतिरेक'शास्त्रागम्यं मिथ्या-  
ज्ञान'कार्यंतिङ्गक च । तस्मात्कर्तुं भोक्तृब्रह्मात्मज्ञानावपनेयम् । न हि तत्कर्मकाण्डोक्तंरेव कर्मभिः  
दायमपनेतुं विरोधाभावात् । तस्मात्तद्व्यापनार्थं ज्ञानसिद्धये वेदान्तारम्भसंभवादुक्त'संबन्धसिद्धि-  
रित्यर्थः । यदि कर्मभिरज्ञानं न निवर्तते । ना निवर्तितम् । सत्येव तस्मिन्कर्मवशात्नोक्तः स्यादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—यावद्वीति । सन्यस्तज्ञानमेव साक्षात्नोक्तहेतुर्न कर्म । 'तत्तु'प्रनाह्या तदुपयोगि । न हि  
सत्येवाज्ञाने मुक्तिः । तस्मिन्सति संसारस्य दुर्धारत्वात् । 'तस्मात्कर्मकाण्डस्य वैराग्यद्वारा प्रवेशो  
मुक्ताविति भावः । अयमित्यज्ञो निर्दिश्यते । रागद्वेषादीत्यादिषास्वेना'विद्यास्मिताभिनिवेशा गृह्यन्ते ।  
दोषाणा स्वाभाविकत्वं 'शास्त्रानपेक्षत्वम् । अपिकारः 'संभावनायः । दृष्टत्वमन्वयव्यतिरेक'सिद्धत्वम् ।

होने वाले इष्ट प्राप्ति और अनिष्टपरिहार के उपाय विशेष को समझने की इच्छा वाले पुरुष को, उस  
विशेष उपाय का ज्ञान कराने के लिए कर्मकाण्ड का प्रारम्भ किया जाता है । आत्मा की इष्ट प्राप्ति  
'और अनिष्टपरिहार की इच्छा के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वरूप अभिमानलक्षण आत्मविषयक अज्ञान  
को उससे विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूप विज्ञान के द्वारा नहीं हटाया गया । जब तक उसे नहीं हटाया जाता  
है, तब तक यह अज्ञानी जीव कर्मफल के राग, द्वेषादि (प्रविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश रूप) स्वाभाविक  
दोषों से प्रेरित हुआ, शास्त्रोक्त विहित और निषिद्ध कर्मों का अतिश्रमण करके वर्तता हुआ मन  
वाणी और शरीर से अधर्मसंज्ञक इष्ट और अनिष्ट साधन भूत अदृष्ट कर्मों का सम्पादन करता है,

१ 'प्रेरित' । २ सम्पादयति । ३ अधर्मानुष्ठानात् । ४ अर्थद्वारोपायोपेयभावरूपसम्बन्धमित्यर्थः ।  
५ अपरिवार्यम् । ६ अन्वयव्यतिरेको शास्त्रं च 'यद्य हि द्वैतमिव भवती'त्यादि । ७ कर्तृत्वादभिन्न  
सोपादानव कार्यत्वात् षटादिवत् देवदत्तो'ज्ञानवान् कर्तृत्वादभिन्नमवत्त्वात्—अन्वये रजतादिभ्रमवदज्ञतादिवत्  
व्यतिरेके वामदेवादिवदित्येवमाद्यनुमानमिह बोध्यम् । ८ उपयोपेयभावरूपसम्बन्धेत्यर्थः । ९ कथं तर्हि  
तत्र प्रवृत्तिरित्यत्राह—तत्त्विति । १० परम्परया । ११ कर्मकाण्डस्य साक्षान्मुक्तावनुपयोगित्वात् ।  
१२ अनित्याधुविदुः सानात्म्यं नित्यपुचिमुत्तारमक्यातिरविद्या । दृग्दर्शनचक्रयोरेवात्मतत्वास्मिता । मुक्तानुगामी  
रागः । दुःसानुगामी द्वेषः । स्वरसवाही निदुषोऽपि तयाहृदोऽभिनिवेशः । द्वितीयसाधनपादोयमूत्राणि ५-६॥  
स्वल्प रस सत्कारः तद्वाही तज्ज इति यावत् । तथा अविद्वद्वा । अभिनिवेशः सा नाभूवमिति मरणशक्तः ।  
रुद्ध प्रसिद्धः । दाढ्यंगत इति वार्थः । १३ शास्त्रजन्येष्टानिष्टसाधनताज्ञानाज्ज्ञानत्वम् । १४ प्रायस्त्वद्यो-  
तनार्थः । १५ निषिद्धशास्त्रातिक्रमे राजदण्डाद्यनिष्टसत्त्व तदभावे तदभावः ।

- कदाचिच्चास्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम् । ततो मनश्चादिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येनोपचिनोति धर्माख्यम् । तद्द्विविधम्—'ज्ञानपूर्वकं' केवलं च । तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम् । ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम् । तथाच शास्त्रम् "आत्मयाजी श्रेयान्देव-

अदृष्टत्वं शास्त्रमाग्रगम्यत्वम् । अथर्भोपचयप्राचुर्यं हेतुमाह—स्वाभाविकेति । 'अथ वैराग्यार्थं कर्मफलं प्रापश्च यन्नयमं फलमाह—तन्न इति । - ।

उपतं हि—

"शरीरजः कर्मदोषं याति स्यादवरातां नरः" इति ।

'तत्किं पुण्योपचयाभायादनयकाशं स्वर्गाधिकफलमिति नेत्याह—कदाचिदिति । शास्त्रीय-संस्कारस्य बलीयस्यै फलितमाह—तत्त इति । आदिशब्दो बाग्देहविषयः । फलविभागं वक्तुं कर्म भिन्नसि—तद्द्विविधमिति । 'तस्य मुक्तिफलत्वं निरसितुं फलं विभजते—तत्रेति । केवलमिष्टादि-कर्मैति दोषः । "कर्मणां पितृलोकः" इति हि वक्ष्यति । तस्मिन्कले "नानात्वमभिप्रेत्या-ऽऽदिशब्दः । "विद्यया देवलोकः" इति धृतिमाभित्याऽऽह—ज्ञानेति । देवलोकौ यस्याऽऽदिब्रह्मलोकौ यस्यान्तस्तस्या "यस्य प्राप्तिरेव फलमस्येति विग्रहः उक्तेऽयं शातपथी श्रुतिं प्रमाणयति—तथाचेति । सर्वत्र परमात्मभावनापुरःसरं नित्यं कर्मानुतिष्ठन्नात्मयाजी । कामनापुरःसरं देवाग्यजमानो देवयाजी । तयोर्मध्ये कतरः श्रेयानिति विचारे सत्त्वात्मयाजी श्रेयानिति निर्णयः कृतः । प्रतो ज्ञानपूर्वकं कर्म देवलोकस्य कामनापूर्वं तु पितृलोकस्य प्रापकमित्यर्थः ।

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।

'इह याऽमुय वा काम्यं "प्रवृत्तं कर्म कोट्यते ॥

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु "निवृत्तमभिधीयते'

क्याकि स्वभावजनित दोष बलवान् होता है । अधर्म अनुष्ठान से उसे स्थावर पर्यन्त नीच योनियो की प्राप्ति होती है ।

कभी-कभी शास्त्रजन्म (ज्ञान से होने वाले) संस्कार बलवान् होते हैं । तब मन, वाणी, देह से प्रायः धर्माख्य इष्टसाधनो की करता रहता है । कर्म दो प्रकार के हैं—सोपासन और केवल । उनमें केवल कर्म (कामना द्वारा अनुष्ठित) पितृलोकादि की प्राप्तिरूप फलवाले होते हैं । सोपासन कर्म देवलोक स्वर्लोक, सूर्यलोक, ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराते हैं । इस सम्बन्ध में शास्त्रवचन भी है—'देवयाजी से

- १ शास्त्रज्ञानसंस्कारेभ्यः । २ कर्म । ३ उपासनासमुच्चितम् सोपासनमिति यावत् । ४ कामनायाजुष्टी-यमानमिति दोषः । ५ कर्मकाण्डस्यान्त शुद्धिपुर सर वैराग्यजननद्वारा मोक्षे प्रवेशप्रतिपादनान्तरमित्यर्थः । ६ शरीरकर्मजप्रापं रित्यर्थः । ७ वाचिकं पश्चिमागता मानसैरग्न्यजातितामिति स्मृतिशेषः । ८ मानवीय स्मृतिः । ९ तस्मात्—अधर्मोपचयादित्यर्थः । १० कर्मणः । ११ वृ० १-५-१६ । १२ कस्यचिद्भूते कस्यचिद्भूता-पेशमाधियय तत्तत्तमाभाव तत्तत्तमाभावेनानेकविपरवमित्यर्थः । १३ वृ० १-५-१६ । १४ स्वर्लोकैरित्यल्लो-कान्तरूपस्य । १५ आत्मा अन्तःकरणम् तत्तत्तमनीलः । यजनम् पूजनम् अन्तःकरणपूजनं च तच्छोधनरूपम् शोधितं हि तत्पूजितं भवति । १६ कार्पेयी यजेत वृष्टिकामः । चित्रया यजेत पशुकामः इत्यादिनोक्तमहिं-काम्यम् । ज्योतिष्मोमादि चापुष्पिन् वेदितव्यम् । १७ साधारणवृत्तिप्रयोजकत्वात्प्रवृत्तिमित्युच्यते । १८ सत्तारनिवृत्तिप्रयोजकत्वात्निवृत्तमुच्यते ।



याजिनः" इत्यादि । स्मृतिश्च "द्विविधं कर्म वैविकम्" इत्याद्या । साम्ये च धर्माधर्मयो-  
र्मनुष्यत्वप्राप्तिः । एवं ब्रह्माद्या स्यावरान्ता स्वामाविकाविद्यादिदोषवतो धर्माधर्मसाधन-  
कृता संसारगतिर्निरूपकमर्थमया ।

'तदेवेदं' व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत् । 'स एष  
बीजाङ्कुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाप्यारोपलक्षणोऽनादिर-

इत्यादिमनुस्मृतिं चात्रे'बोदाहरति-स्मृतिश्चेति । धर्माधर्मयोरेकंकस्य फलमुक्त्या मिथयोः  
फलमाह-साम्ये चेति । उक्तं हि-

'उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मनुष्यं समतेऽवशाः' इति ।

प्रिविधमपि कर्मफलं धैर्याग्यार्थं संक्षिप्योपलहरति-एवमिति । सा'चाविद्याकृतत्वादनर्थ-  
रूपेत्याह-स्वामाविकेति । विचित्रकर्मजन्यतया तस्या वैचित्र्यमाह-धर्माधर्मैति । तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव  
तन्निर्माणसंभवात्कृतमविद्येत्यत आह-नामेति । 'तेषां सूक्ष्मावस्थाविद्या तदासम्बन्धेति यावत् ।  
धर्मद्विरविद्यायाश्च निमित्तत्वोपादानत्वाभ्यामुपयोग' इति भावः ।

ननु संसारगतेराविद्यकत्वमप्युक्तं 'प्रत्यक्षादिप्रतिपन्नत्वात्प्रामाण्याभ्यामेव' व्याक्रियतेति श्रुती  
च नामह्मात्मनो जगतोऽभिव्यक्तिश्चरुसात्त च प्रामाणिकस्याविद्याकृतत्वमत आह-तदेवेदमिति ।  
जगतः 'स्वरूपमात्मा तन्नायस्तत्त्वात्मा'वात्मतत्त्वेनभिव्यक्ते प्रत्यक्षादिना धृत्या चाभिव्यक्तमिव  
'दृश्यमानमपि जगदनभिव्यक्त'मेवेति न तस्याविद्याकृतत्वसतिरिति भावः । अविद्याकृतां संसारगति-  
मनुभायते"-स एष इति । नन्वविद्याकृतत्वे "कथमनादित्यमित्याशङ्क्य तस्य "प्रवाहत्पैरेत्याह-  
बीजाङ्कुरादिवदिति । "तर्हि कादाचित्कया साधनापेक्षामन्तरेण नाशो "अविध्यतीत्याशङ्क्याऽह-

आत्मयाजी श्रेष्ठ है ।" स्मृति भी कहती है- (प्रवृत्त और निवृत्त भेद से) वैविक कर्म दो प्रकार के हैं ।  
पुण्य और पाप के समान होने पर मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है । इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्यावर  
पर्यन्त, धर्म और अधर्म साधन से होने वाली, स्वाभाविक अविद्यादि दोष वाली, नाम रूप एवं कर्म  
के आश्रित संसार की गति है ।

(ब्रह्मा से लेकर स्यावर पर्यन्त) यही प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न साध्य-साधन रूप  
व्याकृत जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था । (परोक्षप्रत्यक्षात्मक) यह संसार आत्मा मे त्रिया, कारक

- १ नामादीनामाश्रय एवाश्रयो यस्या इति विग्रहः । २ ब्रह्मादिस्थावरान्तं यथोक्तमेव । ३ प्रत्यक्षादिना  
प्रतिपन्नम् । ४ स एष स्वर्गमर्त्यादि परोक्षप्रत्यक्षात्मक संसार इत्यन्वयः । ५ धर्मद्विविधे एवेत्यर्थः ।  
६ संसारगतिः । ७ नामदीनामित्यर्थः । ८ संसारगताविति शेषः । ९ यथाहि प्रत्यक्षादिप्रतिपन्नं घटादि  
अविद्यातिरिक्तमुदुपादानं तद्वदिति भावः । १० न तु प्रत्यक्षात्मनापीत्येवकारणं । ११ वास्तव रूपमित्यर्थः ।  
१२ जगत आत्मस्वरूपत्वात् । १३ तथाच वातिक्रमपि-अविद्यातिरिक्तोऽच्छिन्नो नानाविधकृतमन्वपि ।  
कार्यकारणवदस्तु नानापास्तं तथोक्तम् ॥' इति आत्मनि विदिते सर्वे विदितमिति पादत्रयार्थं पठितः । नाविद्या-  
तिरिक्तं तम इति नुर्वं समाहितम् । अत आत्मज्ञानात् । १४ अन्यथाभासमानत्वाद्धेति । १५ अनुवदति ।  
१६ कथं तस्येति सम्बन्धः । १७ न स्वरूपेण । १८ संसारस्याविद्याजन्यत्वे । १९ अविद्याजन्यं हि  
गन्धर्वनगरादिनिवर्तव्यमनपेक्ष्य स्वयमेव नश्यति तद्वदसावपि ।

नन्तोऽनर्थं 'इत्येतस्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये 'तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदा-  
रम्भते ।

अस्य त्वंश्वमेधकर्मसंबन्धिनो, विज्ञानस्य प्रयोजनं येषामश्वमेधे नाधिकारस्ते-

अनादिरिति । चेतन्यषडात्मनि तस्याविद्याकृतत्वानुपपत्तिमाशङ्क्य नानारूपत्वेन 'ततो विसर्ग-  
त्वादेकरूपे युवत तस्य कल्पितत्वमित्याह—त्रियेति । अनादेरपि संसारस्य प्रागभाववन्नवृत्तिः स्यादिति  
चेत्तयाऽपि ब्रह्मविद्यामन्तरेण नाशो नास्तीत्याह—अनन्त इति । प्रयत्नतो हेयत्वं द्योतयितुमनर्थ  
इति विरोधणम् । नैसर्गिक इति पाठे तु कारणरूपेण तदवमुन्नेयम् । यस्मात्कर्म संसारफलं न मोक्षं  
'फलपति तस्मात्सनिदानसंसारनियतं कात्मज्ञानार्थत्वेन साधनचतुष्टयसंपन्नमधिकारिणमधिकृत्य"  
वेदान्तारम्भः संभवतोऽप्युपसंहरति—इत्येतस्मादिति ।

"यथोक्तज्ञाना"र्थयेनोपनिष"दारम्भे "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "इत्यारब्धयं तस्माद्विरक्त्य  
ज्ञानोपदेशात् । 'उपा वा अश्वस्य' "इत्यारम्भरातु न युक्तं साक्षादत्र "तदनुवैरित्याशङ्क्यात्मादाश्रयो-  
पनिषदारम्भेऽभीष्टं फलमभिधिस्तमानः प्रथममश्वमेधोपासनफलमाह—अस्य त्विति । राजयज्ञत्वा-  
दश्वमेधस्य तदनधिकारिणामपि ब्राह्मणादीनां तत्कालोपनाम"स्मादेवोपासनात्तवाप्तिरिति मत्वा श्रुतौ  
तदुपासनोक्तिरित्यर्थः । किमत्र" नियामकमित्याशङ्क्य विकल्पश्रवणं केवलस्यापि" ज्ञानस्य साधनत्वं  
सूचयतीत्यर्थतो" विवक्ष्यश्रुतिमुदाहरति—विद्येति । तत्फलप्राप्तिरितिपूर्वेषां संबन्धः । "तत्रैव  
श्रुत्यन्तरमाह—तद्वेति । "तदेतत्प्राणद्वन्द्वं लोकप्राप्तिसाधनं प्रसिद्धमिति यावत् । आदिशब्देन  
केवलतोपासत्या ब्रह्मलोकान्निवादिन्यः श्रुतयो गृह्यन्ते ।

और फल का अध्यास रूप होने से अविद्याकृत है, बीजाङ्कुरादि के समान (प्रवाह रूप से, न कि  
स्वरूप से); अनादि और अनन्त अनर्थ का कारण है । इसलिए इससे विरक्त की अविद्या निवृत्ति के  
लिए हमसे विपरीत ब्रह्मविद्या प्राप्ति रूप प्रयोजन वाली यह उपनिषद् प्रारम्भ की जाती है ।

(उपा वा अश्वस्य) इस अश्वमेधसम्बन्धी विज्ञान का प्रयोजन यही है कि जिनका (राजयज्ञत्व  
होने से) अश्वमेध यज्ञ करने में अधिकार नहीं है, ऐसे फलार्थी को (उपा वा अश्वस्य) इसी उपासना के

- १ इतीति संसारस्यानर्थरूपत्वादेतोऽनित्यं । २ एतस्मात् संसारत् । ३ तद्विपरीतेति अविद्यानिवृत्त्यर्थं ।
- ४ अज्ञानमम् । ५ संसारस्यत्यादि । ६ चेतन्यत । ७ अनादित्वस्य निवृत्त्युपादायप्रयोजकत्वेऽपीत्यर्थं ।
- = ज्ञानेतरानित्यं । ८ तद्वै नैसर्गिकत्वस्य स्वरूपेणातादित्वमिति यावत् । ९ निष्पादयति । १० अधि-  
वृत्त्यति उद्दिश्येत्यर्थं तदुपकारायति यावत् । ११ यथोक्तज्ञानेति सनिदानसंसारनिवर्तकब्रह्मत्वमेकज्ञानेत्यर्थं ।
- १२ तदर्थत्वेन तज्जननत्वेन तज्जननार्थमिति यावत् । १३ उपनिषदारम्भे तत्प्रतिपादकप्रत्यारम्भे । सिद्धे  
सतीत्यर्थं । १४ बृ० उ० १-४-१० । १५ इति वाक्याङ्गाप्यत्र प्रणेताभ्युपनिषत्त्वस्य आरम्भोपनिषत्त्वस्य  
प्रयोजनस्य इति धार्यं । १६ इत्यारम्भ इति इत्यत्र आरम्भ उपनिषदारम्भ इत्यर्थं । १७ अश्व—अश्वमेध-  
ब्राह्मणे । १८ अस्मादिनि उपा केत्यादि ब्राह्मणनिरूपितादित्यर्थं । २० अत्रेति उक्तानधिकारिणा तेन  
तदाप्तौ । २१ अपीति उपासनाश्रममुचितकर्मवदित्यर्थं । अपेदेष्टान्तापार्थकत्वादत्र । २२ अर्थत इति विकल्प-  
श्रुत्यर्थनिर्देशनत इत्यर्थं । २३ वेदलोपासत्यापि नमंफलावाप्ती । २४ तस्यैवोक्तम् एतत् फलकथनसमये  
उपस्थितम् ।

पामस्मादेव विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिः । " विद्यया वा कर्मणा वा " "तद्धेतुलोकजिदेव"  
इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ।

कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेत् । न । "योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं  
वेद" इति विकल्पश्रुतेः । विद्याप्रकरणे चाऽऽम्नानात् । कर्मान्तरे च संपादनदर्शनाद्विज्ञाना-  
त्तत्फलप्राप्तिरस्तौत्यवगम्यते । सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः । समष्टिव्यष्टिप्राप्ति-  
फलत्वात् ।

"अश्वमेधे यदुपासनं तस्याप्यश्वविषयत्वेन फलवत्त्वात् स्वातन्त्र्येण तद्वत्त्वमङ्गेषु  
स्वतन्त्रफलाभावादिति शङ्कते—कर्मविषयत्वमिति । 'ज्ञानस्य कृत्यमर्थत्वं दूषयति—नेति । पूर्वप्राथम्यं"  
दर्शिता विकल्पश्रुतिमत्र" हेतुतया स्वहोऽनुक्रामति—योऽश्वमेधेनेति । स सर्वं पाप्मानं तरति तरति  
ब्रह्महत्यामिति संबंधः । ज्ञानकर्मणोस्तुल्यफलत्वस्य "न्याय्यत्वादिति शेषः" । उपास्तिफलश्रुतेर्य-  
यादत्व"माशङ्क्याश्वमेधयदुपास्तेरपि "कर्मत्वाद्विहितत्वात्कर्मप्रकरणादप्युत्पितत्वाच्च मंत्रमित्याह—  
विद्येति । फलश्रुतेर्यथावत्त्वाभावे हेतवन्तरमाह—कर्मान्तरे चेति । अश्वमेधातिरिक्ते कर्मण्यर्थं वाच्य  
लोकोज्ज्वलिरित्याह—"चित्याग्न्यावापेतल्लोकादिसंपादनस्य "स्वतन्त्रफलुपासनस्य दर्शनात् "फलश्रुते-

द्वारा फल की प्राप्ति हो जाय । श्रुतियों में कहा भी है—"उसके फल की प्राप्ति उपासना भ्रमवा  
कर्म से होती है", "वह यह (प्राण उपासना) सम्पूर्ण लोक प्राप्ति का साधन है ।"

यदि कहो अश्वमेधविज्ञान कर्मशेषत्व ही है, तो ऐसा कहना उचित नहीं । क्योंकि "जो अश्वमेध  
से यज्ञ करता है भ्रमवा जो इसे इस प्रकार जानता है (वह मृत्यु को जीत लेता है)" । इस प्रकार कर्मका  
अनुष्ठान एव ज्ञान का विकल्प बतलाने वाली श्रुति है । विद्या प्रकरण में भी इसका वर्णन है । अश्वमेध  
से भिन्न कर्म में भी इसका सम्पादन मिलने से विज्ञान से भी अश्वमेध का ही फल मिलता है, ऐसा जाना  
जाता है । अश्वमेध सब कर्मों से श्रेष्ठ कर्म है । क्योंकि इससे समष्टिव्यष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भपद की  
प्राप्ति होती है ।

:-

१. कर्मविषयत्वम्—कर्मशेषत्वम् । २. एव । ३. एतम् अश्वमेधम् । ४. एषमिति कर्मानुष्ठानकर्मव-  
दित्यर्थः । ५. श्रेष्ठम् । ६. समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वादिति—समष्टित्वम् अनुवृत्तरूपत्वम् तच्च सकलमूदमवर्णा-  
नुगतत्वम् । व्यष्टित्वम् व्यावृत्तरूपत्वम् तच्च हिरण्यगर्भतो नवृत्तित्वम् । तथा च समष्टिव्यष्ट्यात्मकहिरण्यगर्भपद-  
प्राप्तिफलवत्त्वादित्यर्थः । ७. अश्वमेधकृत्यविषयम् । ८. उपासनस्य । ९. कृत्यशेषत्वम् । १०. अर्थप्रदर्श-  
नेनोपस्थापिताम् । ११. अनेति नेति प्रतिज्ञायामित्यर्थः । १२. आश्रयकत्वात् । १३. अन्यथाविवक्षितश्रुते-  
रनुपपत्तेरिति भावः । १४. अश्वमेधोपासनं प्रशस्तमित्यर्थः । १५. ननु कर्मत्वं न फलजनकत्वनिवृत्तम्  
अतः पातुतस्यापि जलताडनादेः कर्मत्वदर्शनादित्यत आह—विहितत्वादिति । विहितत्वे सति कर्मत्वं फलजनकत्वे  
हेतुः । ननु विहितकर्मरूपत्वेऽपि उक्तोपासनस्य प्रयत्नादिवदश्वमेधं कर्मशेषत्वं किं न स्यादत आह कर्मति ।  
यैपरीत्येन कर्मप्राप्तित्वेन स्थितवन्मुत्पितवन् तस्याह विद्याप्रकरणेऽप्युक्तत्वात् कर्मणा सह शेषोपिभार्य  
इत्यर्थः । १६. वाक्ये । १७. कर्माङ्गभूतचयवाक्यकर्मणा मष्टौतीर्जित चित्यामि । १८. अत्र बहुव्रीहिः ।  
१९. न फलश्रुतेरिति कर्मान्तरेऽङ्गविषयकौपासनस्य स्वतन्त्रफलत्वस्य दर्शनात् तथाचिह्ने च प्रहृतोपासने स्वतन्त्र-  
फलवत्त्वमेवोक्तिरुपासनाभावादिनि भावः ।

‘तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भ आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्वप्रदर्शनायम् ।  
तथाच दर्शयिष्यति फलमशनाया मृत्युभावम् ।

न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेत् । न । सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः । सर्व  
हि पत्नीसंबद्धं कर्म । “जाया मे स्यादेतावान्वै कामः” इति निसर्गत एव सर्वकर्मणां

रथं वादतेत्यर्थः । अश्वमेधोपासनं न कृत्वर्थं किं तु पुण्यार्थं तत्र चाधिकारोऽश्वमेधकृत्वनधिकारिणा-  
मपीत्येतावदेवेष्टं “चेतुपासने कर्मप्रकरणस्थेऽपि तस्माद्ब्रह्माप्रकरणे नास्याध्ययनमयं वदित्वा शङ्क्याऽऽह  
—सर्वेषां चेति । परत्वे हेतुः—समष्टीति । अनुवृत्तव्यावृत्तरूपहिरण्यगर्भप्राप्तिहेतुत्वात्तस्य श्रेयतेत्यर्थः ।

“तस्य पुण्यश्रेयस्त्वेऽपि प्रकृते किमायासं तदाह—तस्य चेति । यदा क्रतुप्रधानत्वाश्वमेधस्यो-  
पास्तिसहितस्यापि संसारफलत्वं तदाऽऽप्नोयसामग्निहोत्रादीनां संसारफलत्वं किं वाच्यमिह स्मिन्कर्म-  
राशौ घन्यहेतौ विरक्ताः साधनचतुष्टयविशिष्टा ज्ञानमपेक्षमाणास्तदुपाये श्रवणावादेव सर्वकर्म-  
संन्यासपूर्वकं कथं न प्रयत्नैरस्ति याशयतीति श्रुतिरुपासनां विचारश्चेति भिदधाति । “तेनोपा या अश्वस्ये-  
त्पाराश्वोपनिषदारम्भो युक्तोऽस्य विशिष्टाधिकारिसमर्पकत्वादित्यर्थः । “उपासनफलस्य संसार-  
गोचरत्वमेव कुतः सिद्धमत आह—तथा चेति । “अशनाया हि मृत्युः । “स वै नैव रेमे । सोऽविभे-  
दिति । भयारस्यादिश्रवणादुपास्तियुक्तक्रतुफलस्य सूत्रस्य बन्धमध्यपातित्वाद्विशिष्टोऽपि क्रतुर्न “युक्तये  
पर्याप्नोतीत्यर्थः ।

अश्वमेधक्रतु प्रौर उसकी उपासना का, यहा ब्रह्मविद्या के प्रारम्भ मे व्याख्यान, सब कर्मों का  
संसारविषयत्व प्रदर्शन करने के लिए है । हिरण्यगर्भ क्षुधादिवाला होने से उसकी मृत्युभावता फल को  
भागे श्रुति दिखलाएगी ।

यदि कहो नित्यकर्म संसार अन्तर्गत फलवाले नहीं हैं, तो ऐसा कहना नहीं बनता । क्योंकि (“एता-  
वान्वै कामः”) श्रुति समस्त कर्मफलों का उपसंहार संसार मे ही करती है । सब कर्म पत्नी से सम्बद्ध हैं ।

१ अश्वमेधक्रतोस्तदुपासनस्य च । २ बृ० उ० १-२-१ । ३ अशनायालक्षणया अशनायादिभ्याम् हिरण्यगर्भं  
तस्या नृत्तुभावमिति समस्त पदम् । ४ विषयेति अन्तर्गतेत्यर्थः । ५ साधान्येन सर्वकर्मफलसंप्राप्तकामुती  
नमं फलान्तर्गतत्वे न मोक्षस्याश्रयणादित्यर्थः । यदा श्रुती संसारस्यैव कर्मफलत्वेन श्रवणादित्यर्थः । ६ बृ० उ०  
१-४-१७ । ७ वाक्येन । ८ क्रतुशेषम् । ९ पुत्र्य प्रति स्वातन्त्र्यफलप्रदम् । १० तर्हीति शेषः । ११ तस्य  
अश्वमेधस्य । १२ पुण्यश्रेयस्त्वे सकलपुण्यकर्मणां मध्ये ज्यायस्ये । १३ प्रकृते अश्वमेधोपासनाध्ययनस्य ब्रह्म-  
विद्याप्रवरणैर्गर्वस्वरूपे । “ब्रह्म वा इदमग्र आसीद” इत्यत आरम्भे इत आरम्भस्य किं फलत्वरूपे च परमप्रकृते  
इत्यर्थः । १४ इतीति इत्यभिप्रेत्यत्यर्थः । १५ तेनेति विद्याप्रकरणे तदुपन्यासस्य वैराग्यप्रयोजकत्वेनेत्यर्थः । १६  
अस्येति उपा वेत्यत आरम्भस्येत्यर्थः । १७ उपासनाफलस्य हिरण्यगर्भरूपस्य । १८ संसारमोचरत्वम् संसारान्त-  
र्गतत्वम् । १९ अशनायालक्षणया तद्वान् हिरण्यगर्भं । २० मृत्युं मारकं अशनायावान् हि इतर  
मारयति । २१ स हिरण्यगर्भं विनोद न प्राप । २२ इति रस्यभावकचनात्तस्य जीवत्वम् तथा च ससा-  
रान्तर्गतत्वमेव तस्य । २३ मुक्तये नालमित्यर्थः । ननुपास्तियुक्तस्याशेषक्रतुराजोऽयमेवेत्यं महत्त्वेन मोक्षहे-  
तुत्वम् अन्यमाहमृत्पातुपत्तेरिति चेत् श्रुतान्तरापेक्षया फलातिरेकस्य एव महत्त्वस्य सुस्थत्वात् ।

'काम्यत्वं दर्शयित्वा पुत्रकर्मपरविधानां च "अयं लोकः पितृलोको देवलोको" इति फलं दर्शयित्वा 'अथान्नात्मकतां चान्तं' उपसंहरिष्यति "अयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इति । सर्वकर्मणा फलं व्याकृतं संसार एवेति ।

इदमेव अयं प्रागुक्तोऽस्ति ह्यव्याकृतमासीत् । तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्या-

१ उक्ते सर्वकर्मणा बन्धफलत्वे नित्यनैमित्तिकानां न तत्फलत्वं तेषां विष्णुदेहे फलात्पुत्रेन-  
ष्टादवदध्य"रथन्यायेन मुक्तिफलत्वलाभादिति शङ्कते-न नित्यानामिति । "एतावान् काम इति"  
सर्वकर्मणामविशेषेण फलसम्बन्धवशात्पदवादेऽथ काम्य"फलत्वस्य तद्विष्णुदेशवशात्सिद्धत्वात्कर्मणा  
पितृलोक इति वाक्यस्य नित्यादिकर्मफलविषय"त्वात् मोक्षफलत्वाशङ्केति परिहरति-नैति ।  
"उक्तमेव स्फुटयति-सर्वं हीति । पत्नीसंबन्धे मानमाह-जायेति । तथाऽपि कथं कर्मणं सर्वस्य  
"कामोपायत्व तत्राऽह-एतावान् काम इति । कथं "तर्हि तेषां फलभेदो सम्यक्ते तत्राऽह-पुनरेति ।  
"अथैव फलविभागे कथं समष्टिद्वयद्विप्राप्तिफलत्वमश्वमेधस्योक्तमत आह-अथान्नात्मकता चेति ।  
अस्याध्यायस्यावसाने कर्मफलस्य हिरण्यगर्भरूपता प्रयमित्याद्या भुतिरूप"संहरिष्यतीत्यर्थः ।  
उपसंहारश्च तस्मात्पर्यमाह-सर्वकर्मणामिति ।

कर्मफल संसारद्वे"त्प्राक्तदनुष्ठानात्तदभावान्मुक्तानां पुनर्वन्ध" स्यादित्याशङ्क्याऽह-  
इदमेवेति । तर्हि तस्यामवस्थायामिति यावत् । तस्य पुनर्प्राकरणे कारणमाह-तदेवेति । व्याकृता-

"मुने पत्नी प्राप्त हो-यही कामना है" यह भुति सब कर्मों को स्वभावतः काममूलक दिखाने, फिर पुत्र, कर्म और और विद्या (उपासना) के "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक" इस प्रकार फल दिखलाकर अध्याय के अवसान में अथान्नात्मकता से भुति उपसंहार करेगी-"यह संसार नाम, रूप और कर्म इन तीनों से युक्त है ।" सब कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है, यह आशय है ।

यही नामरूपकर्मभिरुक्तय उत्पत्ति से पूर्व अनभिव्यक्त रूप से स्थित था । वही फिर वृक्ष

१ काम्यमानफलसाधनत्वम् । २ अपरविद्या उपासना । ३ पूर्वोक्तसत्त्वासाधना नामादिष्वे सक्षेपकरणादाह-  
अनैति । ४ प्रथमाध्यायवसाने । ५ नू० उ० १ ६ १ । ६ नामरूपरूपानां भिन्नत्वम् तथा च  
काम्यमेव वस्तु कर्मफल न सिद्धरूपम् । ७ अव्याकृतमासीत्-अनभिव्यक्तनामरूपात्मना स्थितमासीदित्यर्थः ।  
तथा च न वस्तुनापि समारम्भ प्राथमिकत्वं वस्तु दाबन्तं विद्योत्पत्ते प्राक् सत्य सचदेव सत्तात् प्रयाप्तु विशेष  
यत् कदाचिद्व्यक्तताया वदाविन्वाव्यक्ततेति । ८ तेषाम् नित्यनैमित्तिककर्माणां । ९ विष्णुदेहे विद्यापक-  
बाध अहं ह सन्ध्यामुपासीत् 'यावज्जीवमनिहो न जुहुयादि त्ववमादाविति यावत् । १० पत्नानुक्त  
नित्यनैमित्तिक फलसाधनम्-साधनानुसारेण मुक्ति साधनसाधनेति भावः । ११ एतावान् जायापुत्रवित्तक-  
र्माधेव । नाम कामयितव्यो विषय इति श्रुत्यर्थः । १२ इतीति इत्यतदाश्वमेधेत्यर्थः । १३ काम्यफल-  
त्वस्येति-काम्यकर्मफलत्वस्येत्यर्थः । १४ बोधवत्वात् । १५ उक्तमेवेति मोक्षस्य वर्धपक्षत्वाभावमेव यदा  
वर्धना समारफलरूपमेवेत्यर्थः । १६ कामोपायत्वम् काम्यमानफलसाधनत्वमित्यर्थः । १७ तर्हि-निश्चित-  
कर्मणा काम्यमानफलसाधनत्वे । १८ अथो मनी एवमिति त्रिषेत्यर्थः । १९ उपसंहरिष्यति बोधयिष्य-  
तीत्यर्थः । २० तदनुष्ठानात् कर्मानुष्ठानात् प्राक् पूर्वम् । २१ तदभावात् कर्मानावात् । २२ मुक्तानां  
पुनर्वन्ध इति-यथा प्राक्कर्माभावेऽपि प्राथमिकसमारम्भ तर्ध्वं जानामिदग्यकर्माणां मुक्तानामपि पुनरारम्भ-  
स्यादिनैव कर्मभिरित्यर्थः ।

क्रियते बीजादिव दृक्षः । सोऽयं व्याकृताव्याकृतरूपः संसारो विद्याविषयः क्रियाकारक-  
फलात्मकतयाऽऽत्मरूपत्वेनाध्यारोपितोऽविद्ययैव मूर्तमूर्ततद्वासानात्मकोऽतो विलक्षणो-  
ऽनामरूपकर्मत्मकोऽद्वयो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रियाकारकफलभेदादि विषययोगाव-  
भासते । अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपादेता वदिदमिति साध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य  
कामादिदोषकर्मयोजमूर्ताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्या-  
ऽऽरभ्यते ।

व्याकृतात्मनः संसारस्य प्रामाणिकत्वेन सत्यत्वमाशङ्क्याविद्याकृतत्वेन तन्मिथ्यात्वमुक्तं स्मारयति—  
सोऽयमिति । स एष हि भ्रान्तिर्विषयो न प्रामाणिकस्तत्स्तुतोऽस्य सत्यतेरर्थः । कथम् स्याऽऽत्मन्यद्वये-  
कद्वये प्रारितिरित्याशङ्क्याऽह—क्रियेति । समारोपे मूलकारणमाह—अविद्येति । आत्मन्यविद्या-  
रोपित इतमित्यत्र द्वे वाच्ये ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेत्यादिवाक्य प्रमाणयति—मूर्तेति । नन्वात्म-  
न्यारोपो मोपपद्यते तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य इतंविलक्षणत्वादसति सादृश्येऽध्यासासिद्धेरत  
आह—प्रत इति । संसाराद्विलक्षणमेव प्रकटयति—अनामेति । आदिपदेना न्येऽपि विषयमेवाः  
सगृह्यते । आरोपे प्रमित्येति करोमि भुञ्जे चेत्यनुभवं प्रमाणयति—प्रवभासत इति । आत्मन्यध्यासः  
सादृश्यमाभावेऽपि न भवति मलिनत्वादिवद्यतोऽनुभूयतेऽतः सविज्ञानाविद्यानिवर्तकब्रह्मविद्याधर्मेणोप-  
निषदारम्भः संभवतीत्युपसंहरति—अत इति । एतावदित्यनर्थात्मत्वोक्तिः । तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ  
दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिवेति ।

मे बीजरूप हेतु के समान सब प्राणियों के कर्मवश अभिव्यक्त होता है । यह संसार व्याकृत-अव्याकृत  
रूप है, अविद्या का विषय है । क्रिया, कारण और फलात्मक होने से आत्मतादात्म्य सम्बन्ध से अविद्या  
द्वारा ही अभ्यस्त है । स्थूल, सूक्ष्म और तत्सत्स्वार्थमक है । इससे विलक्षण आत्मा नाम-रूप कर्म से  
रहित है, अद्वितीय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव होने पर भी त्रिया कारक फल विशेषादि तद्रूप विषय  
से प्रतीत होता है । संसार के अभ्यस्तत्व होने से इस साध्यसाधनरूप, क्रिया-कारक और फल-  
विशेषादि रूप संसार से “यह इतना है” इस प्रकार विरक्त हुए पुरुष की कामादि दोष से होने वाले  
तत्तद् निषिद्ध कर्मों की जनयित्री अविद्या की निवृत्ति के लिए, रस्सी में सर्पभ्रम के समान बाध के लिए,  
ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जाता है ।

१ अविद्याकृत इत्यर्थः । २ निष्क्रियाद्वयसिद्धस्वरूपात्मनि भासमानस्य संसारस्याध्यारोपितत्व हेतुमाह—  
क्रियेति । संसारो हि क्वचित् त्रियाख्य स च न निष्क्रिय आत्मानि वस्तुतः स भवति विरोधात् । क्वचिच्च कारक-  
रूप सत्य च सद्रूपस्य अद्वये विरोधात् । क्वचिच्च फलात्मक फलस्य च कार्यरूपतया सिद्धे वस्तुनि वस्तुत्व-  
विरोधादध्यारोपित एव सति संसार इति । ३ आत्मतादात्म्येनेत्यर्थः । आविष्कृतादात्म्यसम्बन्धेनेति भावः ।  
४ अभ्यस्तः । ५ स्थूलमूढमतस्सकारात्मकः । ६ उक्तसंगारादित्यर्थः । ७ विशेषेत्यर्थः । ८ तद्रू-  
पविषयमेवेत्यर्थः । ९ संसारस्याभ्यस्तत्वसम्भावः । १० संसारात् । ११ इव यवत् एतावत् अनर्थात्मकम् ।  
इति हेतोः संसारस्यानर्थात्मकत्वादिति समुदाहार्यः । १२ तत्तद्दोषप्रयुक्तनिषिद्धादिकर्मैत्यर्थः । १३ श्रुतिदोष्य-  
त्वादिति भावः । १४ संसारयतिर्नामरूपकर्मश्रयति बाधयेतीतिमित्यर्थः । १५ भ्रान्तिप्रयुक्त इत्यर्थः । १६  
तत्—तस्मात् भ्रान्तिमूलकत्वादित्यर्थः । १७ भ्रान्तिमूलकसंसारस्य । १८ सम्बन्धः । १९ देशतियङ्मुन्युप्या ।  
२० प्रमात्रणो नवागि प्रमानाहमिति यावत् । प्रमातृत्वानन्तर नर्तृत्व एतौ भोक्तृत्वमिति कर्मो दर्शितः ।  
२१ सादृश्यदेहाध्यासाप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।

ॐ । उषा वा अश्वस्य-<sup>१</sup>मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः ।  
 प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य  
 मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्य  
 दिशः, पार्श्वे अवान्तरदिशः - पश्चिम ऋतवोऽङ्गानि  
 मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा

ॐ यज्ञ मन्मन्धी अश्व वा शिरोभाग ब्रह्ममुहूर्त है (नेत्रो वा अभिमानि देव) सूर्य उनका नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है (क्योंकि मुखका अधिष्ठातृदेव अग्नि ही है) और यज्ञीय अश्वका आत्मा संवत्सर है, (अश्वस्य मेध्यस्य, इसकी पुनरुक्ति सबके साथ सम्बन्ध बतलाने के लिये है) ऊँचाई में समानता होने के कारण द्युलोक उसका पृष्ठ है । छिद्ररूपता में समानता होने के कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, चारो दिशाएँ पार्श्व भाग हैं, आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएँ पार्श्वभाग की अस्थियाँ हैं, संवत्सर के अवयव होने से ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्धमास संधियाँ हैं, दिन और रात्रि पाद हैं; भुक्त्वत्वे में समानता होने के कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं,

‘तत्र ‘तावदश्वमेधविज्ञानाय “उषा वा अश्वस्य” इत्यादि । तत्राश्वविषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य । प्राधान्यं च तन्नामाङ्कितत्वात्कृतोः प्राजापत्यत्वाच्च ।

उषा इति ब्राह्मो मुहूर्त उषाः । वैशब्दः स्मारणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति । शिरः प्राधान्यात् । शिरश्च प्रधानं शरीरावयवानाम् । अश्वस्य मेध्यस्य मेधाहंस्य यज्ञि-  
 यस्योषाः शिर इति संबन्धः ।

एवमुपनिषदारम्भे स्थिते प्राथमिकब्राह्मणयोरवान्तरतात्पर्यमाह—तत्र तावदिति । आश्वस्य पुनरवान्तरतात्पर्यं दर्शयति—तत्रेति । नन्वादश्वमेधस्याङ्गबाहुल्ये कस्मादश्वस्याङ्गविषयमेवोपासनमुच्यते तत्राऽह—प्राधान्यादिति । तदेव कथमिति तदाह—प्राधान्यं चेति । प्रजापतिदेवताकात्वा-

उत्तमे भी प्रथम अश्वमेध उपासना के लिए “उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः” इत्यादि मन्त्र कहा है । अश्वमेध भाग के अश्व की प्रधानता होने के कारण अश्वकाङ्ग विषयक ही दर्शन कहा जाता है । इस याग में अश्व नाम अङ्कित होने के कारण, विराट् देवता होने के कारण अश्व की प्रधानता है ।

‘उषा वा अश्वस्य’ इस मन्त्र में उषा का अर्थ है ब्राह्म मुहूर्त । “वै” शब्द स्मरण दिलाने के अर्थ में है, जो (शास्त्रोक्त एव लौकिक व्यवहार में) प्रसिद्ध ब्रह्ममुहूर्त काल का स्मरण कराता है ।

१ यज्ञाहंस्य । २ रीकोक्तार्थम् । ३ तावदिति—अर्थात् ब्राह्मणाम्नामश्वमेधोपासनमुच्यते तत्राप्याश्वना-  
 श्वविषयम् अश्वविषयं च द्यौर्नक्षत्राद्विषयमिति शेषः । ४ उपासनाय । ५ अश्वकाङ्गविषयमिति  
 यावत् । ६ अश्वनामघटितनामवत्तादित्यर्थः । ७ ‘रात्रे पश्चिमयामस्य मुहूर्तो भस्मृतीयक । स ब्राह्म  
 दिति विशेषो विहित स प्रबोधने । ८ सप्तपत्नीयस्येति यावत् । ९ महातात्पर्यं तु मयस्तोपनिषदा ब्रह्मविद्याया-  
 मेवेति बोध्यम् । १० विराट् ।

नक्षत्राण्यस्योनि नभो मांसानि । ऊवध्य<sup>१</sup> सिकताः  
सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च  
वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोच्चजघनार्धो  
यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति  
तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

आकाश मे स्थित मेघ मांस है, सिकता उदरस्थ<sup>२</sup> अर्धपूर्व अर्ध है, नदियां नाडियां है, पर्वत जिगर और हृदयगत मांसखण्ड है, ओषधि और वनस्पतियां लोम तथा केश है, मध्याह्नकाल पर्यन्त ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि से ऊपर का भाग और मध्याह्नकाल से नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य कमर से नीचे का भाग है, उसकी जमुहाई लेना विजली चमकना है और जो शरीर का विधूनुत है वह मेघ का गर्जन है, वह अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उस अश्व की वाणी है ॥ १ ॥]

कर्माङ्गस्य पशोः संस्कृतव्यत्वात्कालादिदृष्टयः शिरश्चाद्विषु<sup>३</sup> क्षिप्यन्ते । प्राजा-  
पत्यत्वं<sup>४</sup> च प्रजापतिदृष्ट्यधरोपणात् । काललोकदेवतात्वाधरोपणं च प्रजापतित्व-  
करणं पशोः । एवंरूपो हि प्रजापतिः । विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ ।

आश्वस्य प्राधान्यमित्याह—प्राजापत्यत्वाच्चेति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—उपा इत्यादिना । स्मार-  
णार्थमेव निपानस्य स्फुटयति—प्रसिद्धमिति । आश्वस्ये लौकिके च व्यवहारे प्रसिद्धो ब्राह्मो  
मुहूर्तस्तं कालमिति यावत् । उपसि शिरःशब्दप्रयोगे दिनावयवेषु तस्य प्राधान्यं हेतुमाह—प्राधान्यादिति ।  
तथापि कथं तत्र तच्छब्दप्रयोगस्तत्राऽऽह—शिरश्चेति । आश्वमेधिकशिरस्सुपसो दृष्टिः कर्तव्येत्याह—  
अश्वस्येति ।

कालाद्विष्टरवदादौषु किमिति क्षिप्यतेऽवाङ्महृष्टिरेव तेषु किं न स्यादिति शङ्कायाऽऽह—कर्माङ्गस्येति ।  
अङ्गेष्वनङ्गमिति<sup>५</sup> शेषे हेतुवन्तरमाह—प्राजापत्यत्वं चेति । अश्वस्य सेत्स्यतीति शेषः । तत्र हेतु—  
प्रजापतीति । ननु कालादिदृष्टयोऽवावयववैवहारोप्यन्ते न तस्य प्रजापतित्वं क्षिप्यते तत्राऽऽह—कालेति ।  
कालाद्यात्मको हि प्रजापतिः । तथा च यथा प्रतिमायां विष्णुत्वाकरणं तद्वद्विस्तृता कालाद्विष्टरश्वा-

उपाकाल प्रसिद्ध होने के कारण शिर है । शरीर के अवयवों में जैसे शिर श्रेष्ठ है इसी प्रकार दिन  
रूनी अवयवों में उपा प्रधान है । आश्वमेधिक अश्व का उपा शिर है—ऐसी दृष्टि कर लेनी चाहिये ।

कर्माङ्गभूत पशु का संस्कार होने के कारण उसके शिर आदि में कालादि दृष्टिया आरो-  
पित की जाती हैं । प्रजापतिदृष्टि के आरोप करने से यह प्रजापतिरूपत्व है । काल, लोक और देवतात्व  
का आरोप ही पशु में प्रजापतित्व की भावना करना है । जिस प्रकार प्रतिमादि में विष्णुत्वादि की  
भावना की जाती है, उसी प्रकार प्रजापति की भावना की जानी चाहिए ।

१. केशानामप्येतदुपलक्षणम् । २. नात्रविनामनपूर्वकं मुखनिदार्णं विजृम्भणं तत्र विद्योतनदृष्टिः । ३. हे प्राशब्द ।

४. आरोप्यन्ते । ५. प्रजापतिरूपत्वमित्यर्थः । ६. "ब्राह्मो मुहूर्तं बुध्यते धर्मायां वनुचिन्तयेत् । कायकलेशाश्च  
तन्मनान् वेदतत्त्वार्थमेव च न्येवमादिरूपे इत्यर्थः । ७. उपा आदि दृष्ट्यारोपे इत्यर्थः ।



सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात्सूर्याधिदैवतत्वाच्च । वातः प्राणो वायुस्वामाध्यात् ।  
 व्याप्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः । वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम् । वैश्वानरो नामाग्निविवृतं  
 मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात् । संवत्सर आत्मा संवत्सरो द्वादशमासत्रयोदशमासो  
 वा । आत्मा शरीरम् । 'कालावयवानां च संवत्सरः शरीरं' । शरीरं चाऽऽत्मा "मध्यं  
 ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः । अश्वस्य मेध्यस्येति सर्वत्रानुपङ्गार्यं पुनर्वचनम् ।

द्यौः पृष्ठम् । ऊर्ध्वंत्वसामान्यात् । अन्तरिक्षमुदरं सुपिरत्वसामान्यात् । पृथिवी  
 पाजस्यं पादस्यमिति वर्णव्यत्ययेन पादासनस्यानमित्यर्थः । दिशश्चतस्रोऽपि पार्श्वं  
 पार्श्वेन दिशां संबन्धात् । पार्श्वयोर्दिशां च संह्यावैषम्यादयुक्तमिति चेत् । न । सर्वंमुख-

वयवेषु तस्य प्रजापतित्वकरणम् । अश्वमेधाधिकारी हि सत्यश्वे कर्मणो 'भोयं वत्तरत्वाय कालावि-  
 द्दृष्टीरदवावयवेषु कुर्यात्' । तदनधिकारी स्वस्वाभावे 'स्वात्मानमश्वं' कल्पयित्वा स्वशिरःप्रमृतिषु  
 कालाविद्वृष्टिकरणेन प्रजापतित्वं संपाद्य प्रजापतिरस्मीति ज्ञानात्तद्भावं प्रतिपद्येति भावः ।

चक्षुषि सूर्यदृष्टौ हेतुमाह—गिरस इति । उपसोऽनन्तरत्वं सूर्यं दृष्टं चक्षुषि च शिरसोऽनन्त-  
 रत्वं दृश्यते 'तस्मात्तत्र तद्दृष्टृष्वन्तेत्यर्थः' । तत्रैव हेत्यन्तरमाह—सूर्येति । "प्रादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी  
 प्राविशत्" इति श्रुतेश्चक्षुषि सूर्योऽधिष्ठात्री देवता तेन सामीप्यात्तत्र तद्दृष्टिरित्यर्थः । अश्वप्रानो  
 वायुदृष्टौ चलनस्वाभाव्यं हेतुः । अश्वस्य विदारिते मुखे भवत्वग्निदृष्टिस्तथाऽपि पर्यायोपादानं व्यर्थ-  
 मिति पाशङ्क्य 'ऋषादाविद्यावृत्त्यर्थं विशेषणमित्याह—वैश्वानर इत्यग्नेरिति । "अग्निर्वग्निभूत्वा मुखं

गिर के अनन्तर होने के कारण एव सूर्य के अभिमानी देवता होने के कारण सूर्य ही उपा  
 शिर वाले अश्व के नेत्र है । वायु स्वभाव वाला होने के कारण वायु उसके प्राण हैं । अश्व के खुले  
 हुए मुख वैश्वानर अग्नि हैं । वैश्वानर यह अग्नि का विशेषण है । अग्नि के खुले हुए मुख को वैश्वान-  
 नर कहते हैं क्योंकि मुख का अभिमानी देव अग्नि है । द्वादश मासात्मक एव (अधिक मास को लेकर)  
 त्रयोदश मासात्मक सवत्सर अश्व की आत्मा है । उसका आत्मा अर्थात् शरीर है । सवत्सरात्मक काल  
 के अवयवों का सवत्सर ही शरीर है । श्रुति भी कहती है—"इन सभी अश्वों के मध्य आत्मा है ।"  
 इसलिए गरीर आत्मा है । 'अदवस्य मेध्यस्य' यह पुनरुक्ति सब के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के  
 लिए है ।

दोनों में ऊर्ध्वंत्व सामान्य होने के कारण पृष्ठभाग में द्युलोक की दृष्टि करे । अश्वकाश  
 सामान्य दोनों में होने के कारण अन्तरिक्ष लोक की दृष्टि उदर में करे । पृथिवी पाजस्य अथवा वर्णव्य-  
 त्यास से पादस्य है अर्थात् पाद आधारत्व का स्थान अथवा खुर हैं । पार्श्व से दिशाओं का सम्बन्ध  
 होने के कारण चारों दिशाएँ अश्व के दो पार्श्वभाग हैं, यदि कहो कि पार्श्व और दिशा में संह्या का  
 वैषम्य होने के कारण सम्बन्ध ठीक नहीं बनता, तो ऐसा कहना उचित नहीं । अश्व का मुख सभी

१ कालेति सवत्सरात्मककालेत्यर्थः । २ सूर्यमिति मावत् । ३ पार्श्वयोर्दिश्वचतुष्टयदृष्टिकरणभूतमित्यर्थः ।

४ ननु येषामश्वमेधाधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात्तत्कनप्राप्तिरित्युपादादश्वमेधानधिष्ठितानामेव

प्रवृत्तौपार्तिस्तिमाद्यङ्गपाह—अश्वमेधाधिकारीति । ५ अविधेन दीपप्रसन्नप्रदत्तार्थम् । ६ स्वशरीरम् ।

७ उपसोऽनन्तरत्वं सामान्यात् । ८ समागानिवाद्यमेध्यान्तर्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः । इदमप्यधिरस्वाधिक फलमिति  
 न्यायादेव न तु वैश्वानरमादन्तक्या जुह्वानि बोधयतीति ध्येयम् ।

त्वोपपत्तोऽश्वस्य पार्श्वान्ध्यामेव सर्वदिशां संवन्धाददोषः । अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पशवः पार्श्वस्थोनि ।

ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात् । मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि संधयः संधिसामान्यात् । अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः । बहुवचनात्प्राजापत्यदेवपित्र्यमानुषाणि प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतेरिति । अहोरात्रं हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादः । नक्षत्राण्यस्थोनि शुक्लत्वसामान्यात् । नमो नमस्या मेघा अन्तरिक्षस्पोदरत्वोक्तेर्मासानुदक-रुधिरसेचनसामान्यात् ।

प्राविशत्" इति श्रुतिमाश्रित्य मुखे तद्दृष्टौ हेतुमाह—मुखस्येति । अधिकमासमनुसृत्य त्रयोदशमासो वेत्युक्तम् । शरीरे सवत्सरदृष्टिरित्यत्राऽऽत्मत्वं हेतुमाह—कालेति । आत्मा हस्तादीनामङ्गानामिति शेषः । कालावयवानां सवत्सरस्याऽऽत्मत्ववदङ्गानां शरीरस्याऽऽत्मत्वे प्रमाणमाह—मध्य हीति । पुनरुत्तरेत्यवस्थमाह—मध्यस्येति ।

पृष्ठे द्युलोकादृष्टौ हेतुमाह—ऊर्ध्वत्वेति । उदरेऽन्तरिक्षदृष्टौ निमित्तमाह—मुपिरत्वेति । पादा अश्वेयन्ते यस्मिन्निति द्युत्पत्तिमाश्रित्य विवक्षितमाह—पादेति । अश्वस्य हि खुरे पादाः सनत्वसामान्या-त्पृथिवीदृष्टिरित्यर्थः । पार्श्वयोर्विवक्षितुष्ट्यदृष्टौ हेतुमाह—पार्श्वेनेति । द्वे पार्श्वे चतस्रश्च दिशस्तत्र कार्यं तयोस्तदारीपणं द्वाभ्यामेव द्वयोः संवन्धादिति शङ्कते—पार्श्वयोरिति । यद्यपि द्वे दिशौ द्वाभ्यां पार्श्वान्ध्यां संवप्येते तत्प्राप्त्यश्वस्य प्राङ्मुखत्वे प्रत्यङ्मुखत्वे च दक्षिणोत्तरोस्तन्मुखत्वे च प्राक्प्रतीच्योदिशोस्ताभ्यां संवन्धसंभवात्तत्र तद्दृष्टिरविरहेति परिहरति—नेत्यादिना । तदुपपत्तौ चाश्वस्य अरिष्टगुरुं हेतुकत्वं व्यम् । पार्श्वस्थिध्ववान्तरदिशामारोपे पार्श्वविवक्षन्वयो हेतुः ।

ऋतवः संवत्सरस्याङ्गानि हस्तादीनि च देहस्यावयवास्तस्माद्दुदृष्टिरङ्गेषु कर्तव्ये-त्याह—ऋतव इति । अस्ति मासादीनां संवत्सरसंघित्वमस्ति च शरीरसंघित्वं पर्वणामतस्तेषु मासादिदृष्टिरित्याह—सधीति । युगसहस्राभ्यां प्राजापत्यमेकमहोरात्रम् । अयनाभ्यां वैद्यम् । पक्षाभ्यां

दिशाभ्यो की ओर होने एक उसके पार्श्वभागो का भी सभी दिशाभ्यो से सम्बन्ध होने के कारण, इसमे कोई दोष नहीं है । आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, पार्श्वभाग की अस्थियाँ हैं ।

सवत्सर के अवयव एक ऋतु से उनकी समानता होने के कारण ऋतुएँ ऋतु हैं । चैत्रादि मास और शुक्लादिपक्ष, संधि से समानता होने के कारण पर्व सन्धियाँ हैं । दिन और रात प्रतिष्ठा है । बहुवचन प्रयोग के कारण प्रजापति, देव, पितृ और मनुष्य सभी के दिन-रात प्रतिष्ठा है, मानी पाद हैं, क्योंकि इनसे ही सदा प्रतिष्ठित होता है । सवत्सररूप कालात्मा दिन और रात के द्वारा प्रतिष्ठित होता है और अश्व पंरो के द्वारा प्रतिष्ठित होता है । शुक्लत्व सामान्य होने से नक्षत्र अस्थियाँ हैं । आकाश अथवा आकाशस्थित मेघ, आकाश के उदर रूप कहे के जाने कारण, मास है । क्योंकि जल रूप रुधिर बरसाने में उनकी मास से समानता है ।

१ क्रमेणति शेष । २ अनुकानीति बोध्यम् । ३ चैत्रादयः । ४ शुक्लादिपक्षा । ५ सवत्सर ।

६ स्वरूपत्वम् आधारत्वं वा । ७ स्याप्यन्ते । ८ पादाधारत्वेत्यर्थः । ९ आधारविष्टेयविविध-सम्पादत्वे । १० सर्वमुखत्वोपपत्तावित्यर्थः । ११ उभयोः शरीरसंवत्सराङ्गत्वमाभ्यात् ।

: ऊवध्यमुदरस्थमर्धजोर्णमशनं सिकता विदिलष्टावयवत्वसामान्यात् । सिन्धवः  
 स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यो बहुवचनाच्च । यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याघस्तादक्षि-  
 णोत्तरो मांसखण्डो । क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव । पर्वताः काठिन्यादु-  
 ळिङ्गन्तवाच्य । श्लोपधयश्च क्षुद्राः स्यावरा वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथा-  
 संभवम् । उधन्नुद्रच्छन्मवति सविताऽऽमध्याह्नादश्वस्य पूर्वार्धो नामेहृद्वमित्यर्थः ।  
 निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्याह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः पूर्वापरत्वसाधर्म्यात् । यद्विजृम्भते गात्राणि  
 विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनं मुखधनयोर्विदारणसामान्यात् । यद्विधूनुते  
 गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसामान्यात् । यन्मेहति सूत्रं करोत्यश्वस्तद्वर्षति  
 वर्षणं 'तस्तेचनसामान्यात् । वामेव शब्द एवास्याश्वस्य घागिति नात्र कल्पनेत्यर्थः ॥१॥

विश्वम् । षष्टिघटिकाभिर्मानुषमिति भेदः । प्रतिष्ठाशब्दस्य पादविषयत्वं द्युत्पादयति—प्रतिष्ठि-  
 तीति । पादेष्वहोरात्रद्विष्टितद्वयं शुक्लमुपपादयति—अहोरात्रैरिति । अस्मिन् नक्षत्रद्वयो हेतुमाह—  
 शुक्लत्वेति । नभःशब्देनान्तरिक्षं किमिति न गृह्यते मुखे सत्युपचा'रायोगादित्याशङ्क्य पुनरपि  
 परिहर्तुमित्याह—अन्तरिक्षस्येति । उदकं सिञ्चन्ति मेघा मासानि अधिरमतः सैककर्तृत्वसामान्यान्मासेषु  
 भेदद्विष्टिरित्याह—उदकेति ।

अवजठरविपरिर्वतित्यर्धजोर्णं सिकताद्वयो हेतुमाह—विदिलष्टेति । किमिति गुदशब्देन  
 पापुरेव न गृह्यते शिराग्रहो हि मुखार्धातिक्रमः स्यात्तत्राऽह—बहुवचनाच्चेति । चकारोऽवधारणार्थः ।  
 यद्यपि बहुवचन्या शिराम्योऽर्धोऽन्तरमपि गुदशब्दमर्हति तथापि स्यन्दनसादृश्यात्तात्त्वेव सिन्धुद्विष्टिरिति  
 तासांमिह ग्रहणमिति भावः । कुतो मांसखण्डयोर्द्वित्वमेकत्र बहुवचनाच्चतुर्वचप्रतीतिरित्याशङ्क्य दारा

ऊवध्य उदर मे रहने वाला अर्धजोर्ण अथ सिकता है, क्योंकि अवयवों के अलग-अलग रहने में  
 समानता है । समुद्र वहने में सामान्य धर्मवाले होने के कारण नदियाँ गुदा-नाडियाँ हैं, क्योंकि यहाँ  
 सिन्धु और गुदा शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हैं । यकृत् और क्लोमा हृदय के नीचे भाग में दायाँ और बायीं  
 ओर दो मांस खण्ड हैं । "क्लोमान्" यह नित्य बहुवचनान्त एकवचन के ही अर्थ में होता है ।  
 (यकृत् और क्लोमा की तरह) पर्वत भी कठिन और ऊँचे उठे हुए हैं । क्षुद्र स्यावर सामान्य धर्म  
 वाली श्लोपधियाँ लोम हैं, एव महान् स्यावर सामान्य धर्म वाली वनस्पतियाँ केश हैं ।

उगता हुमा एव मध्याह्नकाल तक ऊपर की ओर जाता हुमा सूर्य अश्व का 'पूर्वार्ध' अर्थात्  
 नाभि से ऊपर का भाग है । मध्याह्न काल से अस्ताचल की ओर जाता हुमा सूर्य 'जघनार्ध' अर्थात्  
 नीचे का भाग है क्योंकि पूर्वत्व और अपरत्व उदित और अस्त होने वाले सूर्य के समान धर्म वाले हैं ।  
 यह जो अश्व जमुहाई लेता है, अङ्गो को फँलाता और पटकता है, वह विद्योतन (विजली का चमकना)  
 है क्योंकि विजृम्भण और विद्योतन में मुख और मेघ के विदारकत्व रूप समान धर्म हैं । यह जो अश्व  
 शरीर को हिलाता व कम्पित करता है, वह मेघ का स्तनित है क्योंकि दोनों में गर्जन समान धर्म है ।  
 यह जो अश्व सींचता है भूत्र करता है वह वर्षण है क्योंकि दोनों में भूसेचन रूप समान धर्म है । वाणी ही  
 अर्थात् शब्द ही अश्व की वाक् इन्द्रिय है, इसमें कोई आरोप नहीं है, यह भाव है ॥१॥

अर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वं समुद्रे  
 योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यांपरे  
 समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संवभूवतुः ।  
 हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो  
 मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥१॥

इत अश्व के सामने महिमा रूप से दिन प्रकट हुआ । उस ग्रह की योनि पूर्व समुद्र है, तत्पश्चात् महिमा रूप से रात्रि प्रकट हुई, उसकी योनि पश्चिम समुद्र है, ये दोनों ही इस अश्व के पीछे दोनों ओर महिमा सजक ग्रह हुए, (जो कि इस अश्व के आगे पीछे स्वर्ण और रजत के पात्र विशेष रखे जाते हैं) इसने हथ होकर देवताओं को वहन किया, बाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया । समुद्र (परमात्मा ही) इसका बन्धन है और परमात्मा ही उसकी उत्पत्ति का कारण है ॥२॥

अर्वा इति सौवर्णराजतो महिमाख्यो ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते तद्विषयमिव दर्शनम् । अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याह । अहरश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायतेति कथम् । अश्वस्य प्रजापतित्वात् । प्रजापतिर्ह्यादित्यादिलक्षणोऽङ्गो लक्ष्यते ।

इतिबद्धवर्तनेर्निर्माह—कलोमान इति । तयो. पर्वतदृष्टी हेतुद्वयमाह—काठिन्यादित्यादिना । भूदत्तसाधम्यादियदिदृष्टिर्लोमसु महत्त्वसामान्याद्वनस्पतिदृष्टिश्चाश्वकेषु कर्तव्येत्याह—यथासम्भविमिति । पूर्वत्वसामान्यान्मध्याह्नात्प्रागवस्थादित्यदृष्टिरश्वस्य नाभेरुर्ध्वभागे कर्तव्येत्याह—उद्यम्रित्यादिना । अपरत्वसाध्यादवस्था नाभेरपरार्धे मध्याह्नादनन्तरभाग्यादित्यदृष्टिः । कायैत्याह—निम्नलोचनित्यादिना । विजृम्भत इत्यादी प्रत्ययार्थो न विवक्षितः । विजृम्भण मुखविदारयति विद्योतनं पुनर्मध्यमसौ विद्योतनदृष्टिर्जृम्भणे कर्तव्येत्याह—मुखेति । स्तनयतीति स्तनितमुख्यते तद्दृष्टिर्वा-  
 अकम्पे कर्तव्येत्यत्र हेतुमाह—गर्जनेति । भूतकरणे वर्णवृष्टौ कारणमाह—सेचनेति । अश्वस्य हेपित-  
 शब्दे नास्त्रयोरीपणमित्यतो न सादृश्यं बलव्यमित्याह—नात्रेति ॥१॥

अश्वामयवेषु कालादिदृष्टीर्विधायश्व प्रजापतिरूपं विवक्षित्वा कण्डिकान्तरं धृष्ट्वा तात्पर्य-  
 माह—अह्रित्यादिना । ग्रहो द्रवनीयद्रव्याधारी पात्रविशेषावग्रतः पृष्ठतश्चेति संज्ञपनाप्रागुर्ध्वं चेति

“अर्वा अश्व” इत्यादि मन्त्र मे अश्व के आगे और पीछे महिमा नाम के सुवर्ण और रजत के दो ग्रह स्थापित किये जाते हैं उसी सम्बन्ध मे यह दृष्टि है । दीप्ति रूप समान धर्म होने के कारण दिन ही सुवर्ण ग्रह है । दिन, अश्व के समक्ष महिमा रूप से किस प्रकार प्रकट हुआ ? इसे बताते हैं—  
 क्योंकि अग्रतः प्रजापति है आदित्यादि रूप प्रजापति ही दिन वाची है । अश्व को लक्षित कराकर



तथा 'च ह्यो भूत्वेत्यादि स्तुत्यर्थमेव । ह्यो हि नो तेर्गति' कर्मणो विशिष्टगति-  
रित्यर्थः । जातिविशेषो वा । देवानवहदेवत्वमगमयत् प्रजापतित्वाद्देवानां वा वोढाऽभवत् ।  
ननु निन्दैव वाहनत्वम् । नैष दोषः । वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य स्वाभाविकत्वादुच्छ्राय-  
न्प्राप्तिर्देवादिसंबन्धोऽश्वस्येति स्तुतिरेवेष्टा । तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः । वाजी  
भूत्वा गन्धर्वानवहदित्यनुपङ्गः । तथाऽर्वा भूत्वाऽसुरान् । अश्वो भूत्वा मनुष्यान् । समुद्र  
एवेति परमात्मा बन्धुबन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति । समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति ।  
एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थिति रिति स्तूयते "अप्सु यो निर्वा अश्वः" इति श्रुतेः । प्रसिद्ध एव  
वा समुद्रो योनिः ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

'वाक्यमेव स्यान्नेत्याहु—अश्वस्येति । किमत्र नियामकमित्याशङ्क्य पुनरुक्तिरिति मत्याऽह—  
तावित्यादिना । वंशब्दायंकथनम्—एवेति ।

वाक्यविशेषोऽप्यत्रानुगुणी भवतीत्याहु—तथा चेति । ह्यशब्दनिष्पत्तिपुर सरं तदर्थमाहु—  
ह्यइति । वाज्यादिशब्दानां जातिविशेषवाचित्वादत्रापि तदेव ग्राह्यमिति पक्षान्तरमाहु—जातीति ।

उसी प्रकार "ह्यो भूत्वा" इत्यादि वचन भी स्तुति के लिए ही है । ह्य नाम क्यो पडा-  
क्याकि यह जाता है, गति कर्म वाला है, विशिष्ट गतिवाला है । अथवा ह्य इसलिए है, क्योंकि यह  
अश्व जाति विशेषवाचक है । अश्व होकर उसने देवताओं का वहन किया, अर्थात् प्रजापतिरूप होने के  
कारण देवत्व को प्राप्त कराया अथवा वह देवताओं की सवारी हुआ । यदि ऐसा कहो कि वाहन  
होना तो निन्दापरक है, स्तुतिपरक कैसे हुआ ? तो ऐसा कहना उचित नहीं । अश्व का वाहनत्व  
होना दोष नहीं, यह तो स्वाभाविक है । स्वाभाविकत्व होने के कारण, देवादि से सम्बन्ध होने के  
कारण, उच्छ्राष्ट पद की प्राप्ति ही है, इसलिए यह अश्व की स्तुति ही है । इसी प्रकार वाजी आदि भी  
जातिविशेष है । वाजी होकर गन्धर्वों की सवारी बना, अर्वा होकर असुरों को, एव अश्व होकर  
मनुष्यों को वहन किया, यह सम्बन्ध है । "समुद्र" अर्थात् परमात्मा ही इसका 'बन्धु' यानी बन्धन है ।  
बन्धन नाम क्यो पडा ? क्योंकि इसमें बाँधा जाता है । समुद्र ही 'योनि' अर्थात् उत्पत्ति में कारण है ।  
इस प्रकार 'यह शुद्ध योनि वाला, शुद्ध स्थिति वाला, (शुद्ध जय वाला) है' ऐसे इसकी स्तुति की  
जाती है । श्रुति भी कहती है—"अश्व की जलमय योनि है" अथवा समुद्र ही इसकी योनि है यह तो  
प्रसिद्ध ही है ॥२॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का प्रथम ब्राह्मण पूर्ण हुआ ।

- १ तर्कवैतर्प्य । २ गतिक्रियवस्थेत्यर्थ । ३ विरुद्धरूपत्वात् । ४ नैष दोष । दोष श्रुत्युक्ते हेतुमाह  
स्वाभाविकत्वादिति । हेतु विवृणोति वाहनत्वमित्यादिना । ५ यद्वा वाहनत्व न श्रुतिवार्तापर्यवियम इति  
शेषस्तस्यानूद्यमानत्वादिति भाव । ६ इतीति—देवादिसम्बन्धरूपोत्पत्तिप्राप्तिबोधवत्त्वादित्यर्थ । ७  
स्थाप्यन् इति स्थित्यास्पदम् । ८ शुद्धलयश्चेत्यपि बोध्यम् । ९ स्वतन्त्रफलदोषासनद्वयबोधवत्तयाज्यो-  
रङ्गाङ्गिभावो न स्यादिति भाव । १० इदमप्यधिकमधिकार्थमिति न्यायादेवेति ध्येयम् । ११ अश्वस्तुतो ।  
१२ सिद्धिपुर सरमित्यर्थ । १३ ह्यशब्देऽपि जातिविशेषवाचकत्वमित्यर्थ ।

( अथ प्रथमाध्यायस्य 'द्वितीय ब्राह्मणम् । )

नैवेह किंचिनाग्र आसीन्मृत्युर्न वेदमावृतमासीत् । अश-  
नाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी  
स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते  
वं मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं क<sup>१</sup> ह वा अस्मि  
भवति य एवमेतद्वर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥

( इस समारम्भण्डल में मन आदि की उत्पत्ति से ) पहले यहाँ नामरूप में विभक्त कुछ भी नहीं  
था, यह सब क्षुधारूप मृत्यु से आवृत था, क्योंकि क्षुधा ही मृत्यु है । उसने मन को इसलिए बनाया  
कि मैं मन से युक्त होऊँ । उसने अर्चन करते हुए आचरण किया । अतः उसके अर्चन करने से पूजा का  
अङ्गभूत रसात्मक जल उत्पन्न हुआ । पूजा करते हुए मुझे जल प्राप्त हुआ है । अतः यही अर्क वा अर्कत्व  
है । जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है, निश्चय ही उसे सुख प्राप्त होता है । ( सुख वही  
हेतुभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि को ही गौण दृष्टि से अर्क वह दिया गया  
है, यही अद्वयमेव याग में उपयोगी अग्नि के अर्कत्व में कारण बतलाया गया है ) ॥१॥

- अथान्तरद्वयमेधोपयोगिकस्योत्पत्तिरुच्यते । तद्विषयदर्शनविधेयैवोत्पत्तिः रतु-  
त्यर्था । नैवेह किंचिनाग्र आसीत् । इह संसारमण्डले किंचन किंचिदपि नामरूप-

देवानां देवत्वप्रापकत्वं कथमस्येत्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतित्वादिति । अश्व स्तोतुमारभ्य 'कल्पान्तरोऽस्या  
तस्मिन्दावचनमनु'चितमिति शङ्कते—नन्विति । उपक्रमविरोधो नास्तीति परिहरति—नेत्यादिना ।  
समुत्पद्य मूर्तान् द्रव्यैस्तस्मिन्निहितं व्युत्पत्त्या परमगम्भीरस्येश्वरस्य समुद्रशब्दतामाह—परमात्मेति ।  
'तत्र योनिर्बसुत्पादकत्वं बन्धुत्व स्थापकत्वं समुद्रत्व विलापकत्वमिति भेदः । अथ परमात्मयो-  
नित्वादिवचनमुपास्याश्वस्य'बधोपयुज्यते तत्राऽह—एवमिति । ध्रुवस्तारानुरोधेन समुद्रो योनिरित्यत्र  
समुद्रशब्दस्य रुद्धिमनुजानाति—अप्सुयोनिरिति ॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

अथादिदर्शनोक्त्यनन्तरमग्निदर्शनं वस्तु ब्राह्मणान्तरमवतारयति—अथेति । नैवेहेत्यादौ  
'तद्दृष्टिर्नास्तीति चेत्सत्यं तत्राग्नेर्जन्म वस्तु भूमिका क्रियत इत्याह—अग्नेरिति । चायोरग्निरिति'यादौ  
प्रसिद्धं तद्वन्मेति चेत्सत्यं तद्वि'शेषस्यात्र जन्मोक्तिरित्याह—अद्वयमेवेति । दर्शने विधित्तिते-

१ द्वितीयब्राह्मणे बह्वैश्वर्यमेधोपयोगिन । उपासन विराडनुद्धृष्टा नार्यत्वेन विधीयते ॥१॥

अवोपास्तिरित्यत्रेया प्रथमब्राह्मणोदिता । द्वितीय ब्राह्मणे सम्पत् फलमस्या प्रवक्ष्यते ॥२॥

पृथक्फलस्वावयवनाद्ब्राह्मणद्वयवर्णितम् । एकोपासनमेवेति विज्ञातव्यमुपासकं ॥३॥

२ विधित्तयेत्यर्थः । ३ पदान्तरवचनेन । ४ उपक्रमविरुद्धमित्यर्थः । ५ लीयन्ते । ६ परागमनि  
प्रवृत्तावप्य इति शार्थः । ७ अद्वयसंबन्धिन नग्नमन्त्रे प्रयोजक भवतीत्यर्थः । ८ तथा चाद्वयस्तुतावप्युक्तं  
तत् । ९ अङ्गुपासनम् । १० तैत्तिरीयवाक्ये । ११ अद्वयमेधोपयोगिनोऽग्ने ।

प्रविभक्तविशेषं नैवाऽऽसीन्न बभूव । अग्रे प्रागुत्पत्तेर्मनआदेः । किं शून्यमेव बभूव शून्यमेव स्यात् "नैवेह किंचन" इति श्रुतेः । न कार्यं कारणं वाऽऽसीदुत्पत्तेश्च । उत्पद्यते हि घटः । अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम् ।

ननु कारणस्य न नास्तित्वं मृत्पिण्डादिदर्शनात् । यन्नोपलभ्यते तस्यैव नास्ति-  
ताऽस्तु कार्यस्य न तु कारणस्योपलभ्यमानत्वात् । न । प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात् ।

किं जन्मोक्त्येति चेत्तत्राऽह—तद्विषयेति । अग्निदर्शनस्य विधातुमिष्टस्य सिद्धयर्थमुपास्याग्निस्तुतिफला तदुत्पत्तिरिति । 'बुद्धजन्मत्वादुत्कृष्टत्वेनायमुपास्यो राजादिवदित्यर्थः । तात्पर्यमुक्त्वा बाधयमावाधा-  
क्षराणि व्याचष्टे—नैवेत्यादिना । 'नामरूपाभ्यां विभक्तो विशेषो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । 'अग्रं शून्यवादी लब्धवाकाशोऽपि'मुदय 'परेष्टुश्रुत्ययष्टमेन स्वपसमाह—किमित्यादिना । कार्यस्य प्रागसत्त्वे हेत्वन्तरमाह—उत्पत्तेश्चेति । धिमतः प्रागसदुत्पद्यमानत्वाद्यन्वेन तदेवं यथा परेष्टुं ब्रह्मेत्यर्थः । हेत्वसिद्धिं शङ्कि श्रोतारमाह—उत्पद्यते हीति । घटग्रहणं कार्यमात्रस्योपलक्षणार्थम् । उक्तमनुमानं 'निगमयति—अतः' इति ।

"तत्र तात्त्विको ब्रूते—तन्विति । "यदुक्तं न कार्यं कारणं वाऽऽसीदिति "तत्र भागे "बाधो "भागे

अद्वैतदृष्टिकथन के अनन्तर अद्वैतमेव याम् में उपयोगी अग्नि की उत्पत्ति के विषय में बताया जाता है । अग्नि विषयक दृष्टि विधान की इच्छा, जो उसकी उत्पत्ति कही जाती है—वह स्तुति के लिए है । पहले यहाँ कुछ भी नहीं था । इस ससार मण्डल में 'किंचन' अर्थात् नामात्मक, रूपात्मक विभाग वाला कार्यकारणरूप वस्तु में कुछ भी विशेष नहीं था । 'अग्रे' अर्थात् आगे यानी मनादि की उत्पत्ति के पूर्व ( इस पर शून्यवादी शङ्का करता है—) तो क्या (मनादि उत्पत्ति के पूर्व) उस समय शून्य ही था क्योंकि श्रुति कहती है—"यहाँ कुछ भी नहीं था" । उत्पत्ति के पूर्व कार्य अथवा कारण कुछ भी नहीं था । कार्य रूप घट उत्पन्न होता है इसलिए उत्पत्ति से पूर्व घट की सत्ता नहीं होती ।

(इस पर कहते हैं)—किन्तु कारण का अस्तित्व तो सदा रहता है क्योंकि (घट रूपकार्य के उत्पत्ति के पूर्व भी) मृत् पिण्डादि देखे जाते हैं । अभाव उसी वस्तु का होता है, जो वस्तु कभी उपलब्ध नहीं होती, कार्य का अभाव भले ही हो, कारण का अभाव तो नहीं होता क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है । (शून्यवादी कहता है) ऐसा कहना ठीक नहीं । उत्पत्ति से पूर्व तो सभी वस्तुओं की अनुपलब्धि रहती है । यदि अनुपलब्धि अभाव में हेतु है, तो उत्पत्ति से पूर्व सारे जगत् का कारण

- १ यत्त्वयोक्त कारणस्य प्राकसत्त्वं तन्मेत्यर्थ । २ उपासनस्य । ३ इष्टेति निर्विकल्पदर्शनस्यासम्भवादिति भावः । ४ बुद्धात्परमात्मनो जन्म यस्य क्त्वात् । ५ नामात्मना रूपरूपमना विभाग गत स्वरूप कार्य-कारणरूपवस्तुजात यदा विभक्तो व्यवस्थित । विशेष कार्यकारणरूपम् । यस्मिन् कार्यकारणसमुदायवस्तुनि इदं घटनामिदं तद्रूपमित्येव व्यवस्था गत इत्यर्थः । ६ सृष्टे प्राक्तकार्यकारणनिषेधोक्ती । ७ श्रुतितात्पर्य-मपवालाच्येव । ८ सिद्धात्यपीष्टेत्यर्थः । तस्य तु नास्तित्वात् । ९ कार्यम् । १० उपसहरति । ११ घटस्योत्पत्तिमत्तादित्यर्थः । १२ कार्यकारणयोरुभयोरप्यसत्त्वं उच्यते । १३ कार्यकारणयोरसत्त्वोक्ती । १४ कारणज्ञ इत्यर्थः । १५ असत्त्वाभावः । १६ कथमिति असत्त्वस्वीकृतिः ।



अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः 'प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते । तस्मात्सर्वस्यैवानावोऽस्तु । न "मृत्युर्न वेदमावृतमासीत्" इति श्रुतेः । यदि हि 'किंचिदपि नाऽऽसीद्येनाऽऽव्रियते यच्चाऽऽव्रियते तदा नावक्ष्यन्मृत्युर्न वेदमावृतमिति । न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो बन्ध्यापुत्र इति' । अत्रोक्तिं च मृत्युर्न वेदमावृतमासीदिति ।

तस्माद्येनाऽऽवृतं कारणेन यच्चाऽऽवृतं कार्यं प्रागुत्पत्तोस्तदुभयमासीच्छ्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च । अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम् । कार्यस्य हि

चानुमतिरित्यर्थः । कार्यस्यापि कथं प्रागसत्त्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽह-यत्रेति । 'एतेनानुमानस्य सिद्धसाध्यतोक्ता । कार्यवत्कारणस्यापि प्रागसत्त्वं किं न स्यादित्याशङ्क्योक्तहेत्वभावाग्नमवमित्याह-नत्विति । अन्यथाद्याह-न प्रागुत्पत्तेरिति । 'विमतं प्रागसत्त्वोपपत्तेरिति नदाऽनुपलब्धत्वात्संमतवत्' । न चामिदो हेतु श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात् । तद्विरोधे" सत्युपपन्नव्येराभास"स्यादित्यर्थः । "तदेव प्रपञ्चयति-अनुपलब्धिश्चेदिति । कार्यवत्कारणस्यापि प्रागसत्त्वे प्राप्ते सिद्धान्तपत्तिरिति-नेत्यादिना । न वेत्यादि-श्रुतिरव्यक्तनामरूपार्थविषया न प्रागसत्त्वं कार्यकारणयोरह । अन्यथा वाक्यशेषविरोधादित्यर्थः । श्रुतिं विवृणोति-यदि हीति । इयोरसत्त्वेऽपिका "वाचोपुत्तेरनुपपत्तिस्तत्राऽह-न हीति । मा "तर्हि वाक्यमेव भूविश्याशङ्क्याऽह-ब्रवीति चेति ।

मृत्युर्नेत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति-तस्मादिति । श्रुते प्रामाण्यादिति । "तस्मात्प्रामाण्यस्य प्रमाण-लक्षणं स्थितत्वादिति यावत्" । परकीयेऽनुमाने श्रुतिविरोधमभिधापानुमानविरोधमाह-अनुमेय-

या कार्यं उपलब्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिए सबकी अनुपलब्धि होने से सभी का प्रभाव होना चाहिये । (उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ममान कारण का भी अभाव है-ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है)-ऐसा कहना ठीक नहीं । श्रुति भी कहती है-"यह मृत्यु से ही आवृत था" । यदि उस समय, जिसमे आवृत होता है, और जिसका आवरण होता है-यह कुछ भी न होता, तो श्रुति यह न कहती कि "यह मृत्यु से ही आवृत था" । बन्ध्यापुत्र गगनकुसुम से आवृत है, ऐसा प्रयोग कभी नहीं होता । श्रुति तो ऐसा कहती है-"यह मृत्यु से ही आवृत था" ।

अतः (कार्य और कारण दोनों के श्रुत्युक्त होने से) जिस कारण से आवृत था तथा जो कार्य आवृत था, उत्पत्ति से पूर्व वे दोनों ही थे, इसमे श्रुति और अनुमान प्रमाण हेतु हैं । उत्पत्ति से पूर्व

१ कार्य कारण वा प्रागुत्पत्तेरस्तित्वार्थः । २ सर्वानुपलम्भात् । ३ मृत्युरिह मायावद्भवित मूलकारणम्-ईश्वर इति यावत् स च भारकत्वान्मृत्युरप्ययास्पदम् । ४ आवृतमावाक्य इत्यर्थः । ५ प्रयोग इति शेषः ।

६ कार्यकारणयोरुभयोरपि श्रुत्युक्तत्वात्सत्त्वस्य आचार्याचारत्वेन । ७ एतेवेति-उत्पत्ते प्राक् कार्य-मत्त्वानुपलम्भप्रदानेनेत्यर्थः । ८ अनुपलम्भरूपहेतित्वार्थः । ९ कारणम् । १० घटादिकार्यवत् । ११ श्रुतिनिषिद्धतत्त्वस्थानहेत्वात् । १२ ननु प्रत्यक्षविरोध स्यादिति चेदवाह तद्विरोध इति । १३ उपलब्धे प्रत्यक्षस्य । १४ आभासत्वात् अमत्वात् । १५ सर्वव्यापक्यमेवेत्यर्थः । १६ वस्य श्रुतिवाक्यस्येति यावत् । १७ कार्यकारणयोरसत्त्वे । १८ ननु श्रुतिप्रामाण्येति किं प्रमाणमित्यत्राह तदिति । १९ प्रथमाध्यायेऽप्युक्तिरङ्गमूले इति बोध्यं तच्च सूत्रगतैव नवमपृष्ठे समुद्धृतम् । २० प्रमाणनिरूपक लक्षणमध्याय इति व्युत्पत्तेः । प्रमाणनिरूपकप्रथमाध्याये नैमिनीयदर्शनीये । तत्र हि समस्तवेदप्रामाण्यं स्थापितम् । २१ भावः ।

सतो जायमानस्य कारणे सत्पुत्पत्तिदर्शनात् । असति चादर्शनात् । जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते घटादिकारणास्तित्ववत् ।

घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेवानुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेन्न । मृदादेः कारणत्वात् । मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेर्न पिण्डाद्याकारविशेषः । तदभावे भावात् । असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घटरुचकादि-

त्वान्वेति । कार्यकारणयोः सत्त्वस्यानुमेयतया तदसत्त्वमनुमातुमशक्यम् । उपजीव्यविषयतया सत्त्वानुमानस्य बलीयस्त्वादित्यर्थः । कार्यकारणयोः सत्त्वानुमानं प्रतिज्ञाय प्रथमं कारणसत्त्वमनुमिनोति—अनुमीयते चेत्यादिना । “कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाह”—कार्यस्य हीति । विमतं सत्पूर्वं कार्यं वास्तु-  
भवदित्यर्थः ।

नानुपमृद्य ‘प्रादुर्भावाविति स्वायेन दृष्टान्तस्य साध्यवृत्त्यर्थं चोदयति—घटादीति । न तावद-  
सिद्धौ घटः स्वकारणमुपमृद्धानस्यसतोऽकारकत्वास्तित्वस्य तूपमर्कत्वे’ नासत्पूर्वकत्वमिति’ कुतः साध्य-  
विकलतेत्याह—नेति । किञ्चान्वयि ‘इत्यमेव सर्वत्र कारणं न पिण्डादिविशेषोऽनन्वयादभव’ इत्यानास्वेति  
कुतः साध्यवृत्त्यमित्याह—मृदादेरिति । “तदेव स्फुटयति—मृत्सुवर्णादीति । तत्रेति दृष्टान्तोक्तिः ।

कार्यं श्रौर कारण की सत्ता की अनुमिति की जाती है । क्योंकि उत्पन्न होने वाले विद्यमान कार्य की ही विद्यमान कारण मे उत्पत्ति देखी जाती है, अविद्यमान मे नहीं देखी जाती है । घटादिकारण की सत्ता के समान उत्पत्ति से पूर्व जगत् के कारण की सत्ता का भी अनुमान किया जा सकता है ।

(शून्यवादी पुन अपना मत प्रस्तुत करता है) किन्तु घटादि कारण की भी सत्ता नहीं है, क्योंकि (‘कारण का नाश विये बिना कार्य की उत्पत्ति असम्भव है’ इस न्याय के अनुसार) मृत्पिण्डादि का नाश किए बिना घट रूप कार्य की उत्पत्ति असम्भव है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना उचित नहीं । क्योंकि (घटादि रूपों मे) कारण तो मृत्तिकादि हैं । (इसे भ्रन्वयव्यतिरेक से सिद्ध करते हैं) घट और रुचकादि के कारण तो मृत्तिका और सुवर्णादि हैं, पिण्डाद्याकार विशेष उनका कारण नहीं है । नभोकि पिण्डाभाव होने पर भी घटाद्यद्रव्य की उपलब्धि तो रहती है । पिण्डाकारविशेष के विद्यमान न रहने पर भी मृत्तिका और सुवर्णादि कारण-द्रव्य मात्र से ही घट और रुचकादि कार्य की

१ “यदेव कारणमार्तरिह सासादिति विचिन्तम् । यदेवोत्तरकार्येषु न कार्यं कारणमिति ॥”

इति वातिकमध्यप्रानुसंधेयम् । अस्यां ब्रह्म पिण्डादिरुपप्राप्यमित्यर्थः । यदेव मृदादिरूप कारणमार्तं प्रत्यक्षो-  
त्तरं साक्षादप्यलोच्य च विनिश्चितम् तदेवोत्तरकार्येषु घटादिरूपेषु । मिते भावात् कार्यं तु पिण्डादिरूप न  
कारणम् । कस्यचिदघटादेरन्यथाघटादेरपि कस्यचिदन्वयिकारणत्वावतरिति भाव इति ॥ अन्यदपि अन्त्यात्मापत्ति  
देय स्यादाद्य प्रति कारणमिति । अन्त्यात्मापीदिति स्वयन्तोषे वचनमिदं तदभिप्रायस्य । २ अस्तरानुमानस्य हि  
प्रतियोगिविधया सत्त्वमुपजीव्यमस्तत्तत् साधकमनुमानतो बलीयः । ३ ‘कारणस्य सत्त्वेऽनुमानमाहेति’ तस्य दृष्टान्त-  
वान्तरे पाठ—अनुपमुक्तोऽपि । ४. जगत् । ५ विद्यमानपूर्वम् । ६. कारणनाशमभूत्वा कार्यस्योत्पत्त्य-  
सम्भवादित्यर्थः । तथा च तद्व्याख्यानं कार्यान्वयवहितपूर्वजनवृत्तित्वे न तु कारणस्येति भावः । अत्राप्यस्य चाद्य-  
स्यात्र सत्पूर्वत्वं प्रसिद्धम् इति । ७ सत्पूर्वकत्वादेतो । ८ कार्यतादात्म्येन प्रतीयमानम् । ९ कार्य-  
तादात्म्येनाप्रतीयमानत्वात् । १० अनवस्थानादिति—घटस्य मृदतिरिक्तकारणवत्त्वे सत्कारणस्यापि भावत्वेन  
वदतिरिक्तरारम्भः । ११ मृदादेः कारणत्वमेव ।

कार्योत्पत्तिर्दृश्यते । तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घटरुचकादिकारणम् । असति तु 'मृत्सुव-  
र्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायत इति' मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणं नतु पिण्डाकारविशेषः ।  
सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्याऽऽत्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वन्कार्यन्तरमुत्पाद-  
यति । एकस्मिन्कारणे युगपदनेककार्यो विरोधात् । न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वा-  
त्मनोपमर्दो भवति । 'तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दो 'कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे ।-

पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत् । पिण्डादिपूर्वकार्योपमर्दो  
मृदादिकारणं नोपमृद्यते घटादिकार्यान्तरेऽप्यनुवर्तत इत्येतदयुक्तम् । पिण्डघटादिव्यति-

किंवा नवव्यतिरेकाभ्यां कारणमवधेयम् । न च पिण्डाभावे घटो न भवतीति व्यतिरेकोऽस्ति । पिण्डा-  
भावेऽपि शाकलादिभ्योऽपि घटाद्यद्रव्योपलब्धादित्याह—तदभाव इति । तदेव स्फुटयति—असत्यपीति ।  
त्वन्मतेऽपि व्यतिरेकराहित्यं नुबन्धमित्याशङ्क्याऽह—असतीति । मृदाद्येव घटादिकारणं चेत्किमिति  
पिण्डादौ 'सत्येव' 'ततो घटाद्यमुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽह—सर्वमिति । 'ब्रह्मणि त्वविद्यावशादुपपत्ति-  
रिति भावः । अन्यविद्रव्यं पूर्वोत्पन्नस्वकार्यतिरोधानेन कार्यन्तरं जनयति चेत्कार्यतादा' 'इमेन स्वयमपि  
नश्येत्तन्नो' 'तरकार्योत्पत्तिहेत्वभावादित्याशङ्क्याऽह—नचेति । 'कार्यान्तरेऽप्य' 'नुवृत्तिवर्शनात्कार्यान्त-  
रात्मना भावाच्चेत्यर्थः । अन्यविद्रव्यस्यैव कारणत्वे फलितमाह—तस्मादिति ।

"अन्यमिदो मृदादेर्नाभावेनाभावाच्च कारणतेति शङ्कते—पिण्डादीति । "तदेव चोद्य

उत्पत्ति होनी देखी जाती है । इसलिए पिण्डाकार विशेष घटरुचकादि में कारण नहीं है । मृत्तिका और  
सुवर्णादि के विद्यमान न रहने पर घटरुचकादि की उत्पत्ति नहीं होती, अतः मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य  
ही उनके कारण हैं, पिण्डाकार विशेष कारण नहीं है । कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी कारण अपने  
से पूर्व उत्पन्न कार्य का तिरोभाव करके दूसरे कार्य को उत्पन्न करते हैं । एक ही कारण में एक साथ  
समष्टि रूप से अनेक कार्य नहीं हो सकते । पूर्वकार्य के तिरोधान होने से ही कारण के स्वरूप का तिरो-  
धान नहीं होता । इसलिए पिण्डादि के तिरोधान होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होना, उत्पत्ति से  
पूर्व कारण के विद्यमान न होने में हेतु नहीं है ।

(शून्यवादी शङ्का करता है) पिण्डादि से भिन्न मृदादि की अनुपपत्ति होने से, कारणत्व मानना  
उचित नहीं है । पिण्डादि पूर्व कार्य का लय होने पर मृदादि कारण का लय नहीं होता, वह घटादि  
दूसरे कार्य में भी अनुवृत्त रहता है—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्याकि पिण्ड और घटादि से पृथक्

१ व्यतिरेकसहचारसत्त्वादेतीत्यर्थः । २ मेय तरारणस्यापि तथैवमनवस्थानादित्यर्थः । ३ अन्य-

विद्रव्यस्य मृदादेरेव घटादिकारणत्वात् पिण्डादेरकारणत्वादिनि धार्यः । ४ मत्पदम् । ५ अनुपलब्धे ।

६ कारणत्वमुक्तमित्यर्थः । ७ हेतुतिरिचम् अनुवर्तनादित्यर्थः । ८ अतिरेकाभावप्रदुत्पत्तिपिण्डादिनिष्ठघटा-

द्विकारणत्वाभावेन । ९ सत्यपि । १० मृदादे । ११ यच्च तत्कारणात्तनुपमर्दो ब्रह्मणो धाव्यापु-

रानिर्दिष्टमाह ब्रह्मणि त्विति—एकस्मिन्नपि ब्रह्मण्यविद्यावशादुपपन्नकार्योपपत्तिरित्यर्थः । १२ कार्य-

नादात्म्योपपन्नत्वादित्यर्थः । १३ तनेति प्रथमकार्यनेशात्मन इत्यर्थः । १४ न कार्यन्तरमुत्पत्तुमर्हतीति

येप । १५ प्रसिद्धायां हेतु पूरणं कार्योत्पादना । कार्यन्तरे घटादिषु द्वितीयदिनार्थः । अनुवृत्ति-

वर्शनादिनि तादात्म्येन सत्त्वाद्युपपत्तित्यर्थः । १६ कार्यतादात्म्यापन्नम् । १७ पिण्डादीत्यादिनोक्तमेव

मङ्गशीनमेवेति धार्यः ।

रेकेण मृदादिकारणस्यानुपलम्भादिति चेन्न । मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादि-  
निवृत्तौ चानुवृत्तिदर्शनात् । सादृश्यादन्वयदर्शनं न कारणानुवृत्तेरिति चेन्न । पिण्डादिग-  
तानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमानाभासात्सादृश्यादिकल्पनानुपपत्तेः ।

न च प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाऽव्यभिचारिता । प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य 'सर्वत्रं-

विवृणोति—पिण्डादीत्यादिना । मृद्वधः सुवर्णं कुण्डलमित्यादितादात्म्यप्रत्ययस्य पिण्डाद्यतिरिक्तमृदा-  
द्यभावेऽनुपपत्तेरनुगतं मृदाद्युपेयमिति परिहरति—नेति । किञ्च या पिण्डात्मना पूर्वद्युमृदासीत्तेष्व  
घटाद्यमूदिति प्रत्यभिज्ञया मृदोऽन्वयिन्या 'सिद्धेस्तत्कारणत्वं दुर'वल्लवमित्याह—मृदादीति ।  
'यत्तत्तत्क्षणिकं यथा दीपः' सत्तत्त्वेमे भावा इत्यनुमानात्सर्वार्थानां क्षणिकत्वसिद्धेरन्वयः"दृष्टिः  
सादृश्याद्भ्रान्तिरिति शङ्कते—साहृदयादिति । "प्रत्यभिज्ञासिद्धेऽस्याप्यर्थविरुद्धं क्षणिकार्थबोधि-  
लिङ्गमनु"ष्णतानुमानवन्न मानमिति दूषयति—नेत्यादिना । सादृश्यादीत्यादिशब्देन प्रत्यभिज्ञा  
भ्रान्तिस्त्वादिति गृह्यते ।

"प्रत्यक्षात्कार"संबन्धं गम्यते । अनुमानात्सम्भेदः । "अतो द्वयोर्विरुद्धत्वस्याप्यभिचारित्वात्ता

मृत्तिर्नादि कारण की उपलब्धि नहीं होती । (क्षणिक विज्ञानवादी की शङ्का का समाधान कर  
सिद्धान्ती कहता है) ऐसा कहना ठीक नहीं । घटादि की उत्पत्ति होने पर और पिण्डादि के तिरोधान  
होने पर मृत्तिनादि कारणों की (घटादि तादात्म्य से) उपस्थिति देखी जाती है । यदि कहीं, सादृश्य  
प्रयोग के कारण एक वस्तु की अनेक काल में सम्बन्ध होने से प्रतीति-रूपा प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है,  
कारण की अनुवृत्ति होने से नहीं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि पिण्डादिगत मृदादि अवयवों का  
ही घटादि में प्रत्यक्ष देखा जाता है इसलिए ('वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' अर्थात् वह्नि द्रव्यत्व होने के  
कारण उष्ण नहीं है) अनुमानाभास से सादृश्यादि की कल्पना करना उचित नहीं है ।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता में (भाव  
प्रधान) विरोध भी नहीं होता । क्योंकि अनुमान के प्रत्यक्षपूर्वक होने से सर्वत्र (क्षणिकत्वादि में भी)

- १ अनुवृत्ति घटादितादात्म्येन सत्त्वानुभव । २ कारणस्यानेककालसम्बन्धप्रयुक्तमित्यर्थः । ३ प्रत्यभिज्ञा-  
बाधितादित्यर्थः । ४ विरुद्धेति भावप्रधानो निर्देहः । ५ यथा प्रत्यक्षानुमानानापेक्ष न तथाऽनुमान प्रत्यक्षा-  
नापेक्ष तत्सिद्धव्याख्याद्युपजीवितादतः प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वादन्वयवत्तेत्यर्थः । ६ क्षणिकत्वादावपि त्वदभिमतम् ।  
७ कार्यतादात्म्यापत्तमित्यर्थः । ८ कार्यतादात्म्यापन्नाया । ९ तस्या मृदकारणत्वम् । १० निरा-  
कर्तृमाशयम् । ११ अयं विज्ञानवादीत्यादि । १२ अयं हि क्षणिकविज्ञानवादी न पञ्चावयवमनुमानस-  
म्पुगच्छति किन्तु दृष्टान्तमुपनय चेति सर्वं क्षणिक सत्त्वादित्याकार न वतीति ध्येयम् । १३ एवस्य  
वस्तुनोजेककालसर्वान्वयेन प्रतीतिरूपा प्रत्यभिज्ञा । १४ सादृश्यप्रयुक्तमित्यर्थः । १५ प्रत्यभिज्ञेति  
वस्तुतत्त्वेन 'प्रत्यभिज्ञासिद्धस्याप्यर्थविरुद्ध क्षणिकार्थ बोधयत्नलिङ्गमित्येव पाठोऽप्यनन्वयः । १६ स्याप्यर्थ-  
साधकप्रत्यभिज्ञायापितम् । १७ वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादित्यवमनुमानेत्यर्थः । १८ निर्देहोति भावः ।  
१९ आदिना प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तिवत्सम्पादक विषयक्षणिकत्व ग्रहीतव्यम् । २० प्रत्यक्षादिति प्रत्यभिज्ञात्मक-  
प्रत्यक्षादित्यर्थः । २१ कारणस्य मृदादे, ऐक्यम् अनेककालसम्बन्धित्वम् । २२ उक्तप्रत्यक्षानुमानयो परस्परम्  
विरुद्धविषयवत्त्वादित्यर्थः । २३ नियतत्वात् ।

वानाभासप्रसङ्गात् । यदि 'च क्षणिकं सर्वं तदेवेद'मिति गम्यमानं 'तदबुद्धेरप्यन्यतद् बुद्ध-  
पेक्षत्वे तस्या अप्यन्यतद्बुद्धपेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या 'अपि बुद्धेर्मृषा-  
'त्वात्सर्वत्रानाभासतैव । तदिदंबुद्धधोरपि 'कर्मभावे संबन्धानुपपत्तिः । सादृश्यात्-  
'त्संबन्ध इति चेद् । तदिदंबुद्धधोरितरेतरविषयत्वानुपपत्तिः । असति चेतरेतरविषयत्वे  
सादृश्यग्रहणानुपपत्तिः ।

ध्यक्षेणा "नुमानबाधो वंपरो"त्यसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—नचेति । प्रत्य "भिज्ञामुपजीव्यक्षणिकत्वानु-  
मानाप्रवृत्तावप्युपजीव्य"जातीयत्वात्तत्रावत्यानुपजीवकजातीयकमुक्तानुमानं दुर्बलं तद्वा "ध्यमित्यर्थः" ।  
प्रत्य "भिज्ञा" "स्वायं" "स्वतो न मानं बुद्ध्यन्तरसंवादादेव बुद्धीनां मानत्वस्य श्रद्धेरितृत्वात् । न च  
'बुद्ध्यन्तरं' स्यादित्यसाधकमस्तीति" प्रत्यभिज्ञायमानस्यापि क्षणिकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्रेति ।  
प्रसङ्गमेव प्रकटयति—यदि चेति । क्षणिक"त्वादिबुद्धेरपि स्वायं स्वतोमानत्वाभावात्तादृग्बु-  
द्ध्यन्तरापेक्षायां तस्यापि तथारवेनानवस्थानाद्बुद्धेः स्वतः प्रामाण्यमुपेयम् । तथाच प्रत्यभिज्ञानं सर्वं  
तथैवावाधादित्यर्थः । किंच प्रत्यभिज्ञाया आन्तित्वं ववता" "स्वरूपानपह्नवात्तदिदं"बुद्धयोः

अविश्वास का प्रसङ्ग हो जायगा । और यदि "यह वही है" इस प्रकार ज्ञात होने वाला सब कुछ  
क्षणिक है, तो उस अनुमानजन्य क्षणिकत्व बुद्धि को प्रमाणित करने के लिए (स्वभिन्नस्वसमान-  
विषयक) बुद्ध्यन्तर की अपेक्षा होने से, और उसके लिए अन्यतद्बुद्धि की अपेक्षा होने से अनवस्था  
दोष होने पर "यह उसके समान है" इस प्रकार यह बुद्धि भी मिथ्या होने के कारण सर्वत्र अविश्वास  
प्रसंग रह ही जायगा । तथा "यह" और "वह" इन बुद्धियों में कर्ता के आश्रय का प्रभाव होने के कारण  
परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा । यदि कहो, सादृश्य होने के कारण उन बुद्धियों में सम्बन्ध हो सकता  
है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि "यह" और "वह" इन बुद्धियों का पृथक-पृथक् विषयत्व मिद्ध  
नहीं होता । इतरेतर विषयत्व के विद्यमान न रहने पर सादृश्यग्रहण भी मिद्ध नहीं होता ।

१. चेत् । २. वाक्यात्कुरे च । ३. प्रत्यभिज्ञाप्रमाणक सर्वं क्षणिक चेदिति सम्बन्ध स्यादित्यभाषकबुद्ध-  
धन्तराभावादित्यभिप्राय । ४. अनुमानजन्यक्षणिकत्वबुद्धे । ५. स्वभिन्नस्वसमानविषयकबुद्ध्यन्तरेत्यर्थः ।  
६. अपिस्त्वार्यं, भिन्नप्रसङ्ग मृषात्वादित्यनन्तर योज्य । ७. मृषात्वादिति सादृश्यबुद्धेः स्वसमानविषयकबुद्ध-  
धन्तराभावेनाप्रमाणतया स्वायंशोधकत्वाभावादित्यर्थः । ८. कर्मभाव इति कर्तृश्रयस्यैकस्याभावे सतीत्यर्थः ।  
९. तत्सम्बन्ध तयो बुद्धयो सम्बन्ध सम्बन्धधीगित्यर्थः । १०. अन्यस्य तद्भाहकस्याभावादिति भावः ।  
सोपि विज्ञानातिरिक्तज्ञानमुपगमादिति ध्येयम् । ११. उभयो प्रमाणत्वे तुल्येऽप्यस्यैव बाधवत्त्वे विनिगम-  
काभावादिनि भावः । १२. अनुमानस्यैव बाधवत्त्वम्भावादित्यर्थः । १३. नन्वनुमानस्याभिज्ञात्मकप्रत्यक्षा-  
पेक्षावेऽपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षानपेक्षात्वात् तदपेक्षाया दुर्बलत्वम्, तथा च विनिगमकाभावेनानुमानस्यापि प्राप्त्य  
सम्बन्धोत्पत्त आह—प्रत्यभिज्ञामिति । १४. उपजीव्यजातीयत्वादिति अनुमानोपजीव्य प्रत्यक्षम् प्रत्यक्षत्वेन  
तज्जातीय प्रत्यभिज्ञानम् तस्य भाव तत्त्व तस्मात् । १५. तद्बाध्यमिति—तेनोपजीव्यजातीयेन प्रत्यभिज्ञानेन  
बाध्यमित्यर्थः । १६. इत्यर्थ इति अभिप्रेतार्थ इत्यर्थः, तथा च भाष्ये प्रत्यक्षपद प्रत्यभिज्ञायामुपजीव्यजाती-  
यत्वबाधनार्थमिति भावः । १७. बौद्धानुसाम्याह प्रत्यभिज्ञेति । १८. स्वायं अनेककालसम्बन्धिमृदि ।  
१९. स्वतः बुद्ध्यन्तरनिरपेक्षतया बुद्ध्यन्तरेति स्वमानविषयकबुद्ध्यन्तरेत्यर्थः । २०. बुद्ध्यन्तरसंवा-  
दाभावाद । २१. सादृश्यधीरादिग्राह्या । २२. त्वया । २३. स्वरूपानपह्नवादिनि प्रत्यभिज्ञास्वरूपानप-  
ह्नवानित्यर्थः । २४. बुद्धधोरित्युक्त्या प्रत्यभिज्ञास्थने बुद्धेर्बुद्धिद्वयमुगीकृत्यने इत्यवधेयम् ।

असत्येव सादृश्ये तदबुद्धिरिति चेन्न । तदिदंबुद्धधोरपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषय-  
त्वप्रसङ्गात् । अतद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न । बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्व-  
प्रसङ्गात् । तदप्यस्त्विति चेन्न । सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्धचनुपपत्तेः । तस्मादसदेतत्सा-  
दृश्यात् तदबुद्धिरिति । अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसङ्गावः । कार्यस्य चाभिध्यक्ति-  
लिङ्गत्वात् । कार्यस्य च सङ्गावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धः ।

सामानाधिकरण्येन संबन्धो वाच्यः, स च वक्तुं न शक्यते क्षणद्वयसंबन्धिनो द्रष्टुरभावादित्याह—  
तदिदमिति । असति संबन्धे बुद्धधोः सादृश्यात् तदबुद्धिरिति शङ्कते—सादृश्यादिति । 'तयोः  
स्वसंबन्धत्वाद्वाहकान्तरस्य चाभावाच्च सादृश्यसिद्धिरिति क्लृपयति—न तदिदंबुद्धधोरिति । तथाऽपि  
किमिति सादृश्यासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—असति चेति ।

सादृश्यासिद्धिमभ्युपेत्य शङ्कते—असत्येवेति । यत्र सत्येवायं 'धीस्तत्रैव' 'साधकापेक्षा  
नाग्यश्चेति भावः । "तत्र वाह्यार्थवादिनं प्रत्याह—न तदिदंबुद्धधोरिति । विज्ञानवाद्याह—असति ।  
तथा सत्यनामसम्बन्धं क्षणिकविज्ञानमित्यस्यापि ज्ञानस्यासद्विषयतया विज्ञानवादासिद्धिरित्याह—  
नेति । शून्यवाद्याह—तदपीति । सर्वा धोरसद्विषयेत्येवा धोरसद्विषया स्यात्तत्र सर्वबुद्धेरसद्विषयत्वा-  
सिद्धिरिति क्लृपयति—नेत्यादिना । परंपक्षासंभवात् "ह्यप्रत्यभिज्ञया स्थापितेति तद्विषयान्तस्य साध्य-  
वैकल्यं परिहृत्यावाप्तप्रकृतं "भूषसंहरति—तस्मादिति । संप्रति कारणसत्त्वानुमानं निगमयति—

यदि कहो सादृश्य के विद्यमान न रहने पर भी तदबुद्धि (यह वही है, ऐसी बुद्धि) होती है—  
तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसे में सादृश्य-बुद्धि के समान 'तद्' धोर 'इदम्' बुद्धियाँ भी  
(बुद्धिस्त्व लिङ्ग से) असद्विषयक सद् होगी । तो सभी बुद्धियों को असद्विषयक ही बनने दो—ऐसा  
कहना ठीक नहीं, ऐसे में बुद्धि-बुद्धि के भी असद्विषयकत्व होने का प्रसङ्ग आ जाएगा । (तो क्या बात  
है ?) वह भी हो जाने दो । ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि खद सब बुद्धियाँ ही मिथ्या होगी तो  
अमत्य बुद्धि का होना कैसे सम्भव होगा ? अतः सादृश्य से 'यह वही है' ऐसी तदबुद्धि (घटादि कार्यों  
में अन्वयबुद्धि) होती है—यह कहना ठीक नहीं है । इसलिए (घटादि रूप) कार्य की उत्पत्ति से  
पूर्व कारण की विद्यमानता सिद्ध ही है । और कार्य की भी सत्ता है क्योंकि (कार्यास्तित्वानुमान)  
अभिध्यक्ति रूप लिङ्ग वाला है । उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अस्तित्व भी प्रसिद्ध है ।

१ बुद्धित्वेन लिङ्गेनेति ध्येयम् । २ तदबुद्धिरिति मृदादिवाहकानां मृदपद इत्येव घटादि-  
कार्येष्वन्वयबुद्धिरित्यर्थः । ३ अवेदल्लुतीत्यर्थः । ४ विज्ञानान्तरित्युपदायस्याभावेन मृदादेरपि विज्ञानत्व-  
रूपत्वात् अपोहरूपमृदादिना तयोः सादृश्यात्तत्प्रयुक्तसामानाधिकरण्यबुद्धिरित्यर्थः । मृदातिरिक्तस्याभावोऽत्र  
अपोहराशङ्कायः । ५ सम्बन्धधी । ६ न तावदन्यो धियोरन्यो ग्राहको यस्तयोः सादृश्यं पश्येदनम्यु-  
पपत्तात् अन्योन्यविषयत्वं तु स्वसंबन्धत्वात्तद्वत्त्वं, अतः सादृश्यधीरयुक्तो धियोस्तत्सादृश्यस्य च ग्राहकाभावा-  
दित्यभिप्रायेणाह—तयोर्गिति । ७ बौद्धः । ८ मत्तमोऽन्यमिदं सामानाधिकरण्यं यस्मिन्नर्थे सत्येदेत्यन्वयः ।  
९ प्रमापीरिति यावत् । १० ग्राहकापेक्षा । ११ तत्रेति असत्सादृश्यविषयकधीस्वीकार इत्यर्थः ।  
१२ वाह्यार्थवादिनं सोऽन्तर्निर्वाचयति । १३ निर्वाचयम् । १४ परेति तार्किकधीदित्यर्थः ।  
१५ तदिदं पूर्वोक्तोऽर्थः । १६ अन्तर्प्रकृतमिति—अप्रत्यभिज्ञानिदृशादृश्यनिबन्धनप्रान्तिस्त्वनिराक-  
रणमित्यर्थः । महाप्रवृत्तं तु कार्यमत्यूर्वेतरत्वाधनरूपमवगमनीयम् । १७ तस्मादिति—परवादे सादृश्यानुपपत्त्या  
प्रत्यभिज्ञाया सादृश्यविषयत्वानुपपत्तेरित्यर्थः ।

कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति । अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः । यद्वि लोके प्रावृत्तं तमग्रादिना घटादि वस्तु तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञानविषयत्वं प्राप्तुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति । तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः । न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते ।

न । तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतैवेति चेत् । न हि तव घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदित आदित्य उपलभ्येतैव । 'मृत्पिण्डेऽसंनिहिते तमग्राद्यावरणे चासति

अतः' इति । कार्यकारणयोर्द्वयोरपि प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनुमेयमिति प्रतिज्ञाय कारणास्तित्वं प्रपञ्चितमिदानीं कार्यास्तित्वानुमानं दर्शयति—'कार्यस्य चेति । प्रागुत्पत्तेः सद्भावः प्रसिद्ध इति वकारार्थः । प्रतिज्ञाभावं विभजते—कार्यस्येति ।

हेतुभागमाक्षिपति—कथमिति । अभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति व्युत्पत्त्या कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादिति कार्यसत्त्वे हेतुवच्यते 'सिद्धे' हि सत्त्वेऽभिव्यक्तिलिङ्गमस्येति सिद्धयति तद्वत्साच्च 'सत्त्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः । संप्रतिपक्षयाऽभिव्यक्त्या विप्रतिपन्नं सत्त्वं साध्यते 'तन्नाग्योश्रयत्वमिति परिहरति—अभिव्यक्तिरिति । कथं 'तर्हीहा'नुमानं प्रयोक्तव्यमित्याशङ्क्य प्रथमं श्योसिमाह—यद्वीति । यद्यभिव्यज्यमानं तत्प्रागभिव्यक्तेरस्ति यथा तमोन्त स्य घटादीत्यर्थः । संप्रत्यनुमिनोति—तथेति । 'विमतं प्रागभिव्यक्तेः सद्यभिव्यक्तिविषयत्वाद्यद्वयभिव्यज्यते सत्प्राक्सत्तसंप्रतिपन्नवदित्यर्थः । ननु तमोन्त स्यो घटोऽभि'व्यज्जकसामीप्यादभिव्यज्यते न तत्र प्राक्कालीनं सत्त्वं प्रयोजकमित्याशङ्क्याऽह—न हीति ।

उक्तेऽनुमाने कार्यस्य सदोपलब्धिप्रसङ्गं पक्ष'बाधकमाशङ्कते—नेत्यादिना । उक्तानुमाननिषेधो

अभिव्यक्तिरूप लिङ्ग वाला ऐसे व्युत्पत्ति करने पर "अभिव्यक्तिलिङ्गत्वात्" यह हेतु कैसे सिद्ध हुआ ? अभिव्यक्ति का अर्थ है—अपरोक्षज्ञानविषयत्व की प्राप्ति । जैसे कि ससार में घटादि वस्तु समादि से ढकी होती है, तब आलोकादि से उस आवरण का निराकरण होने पर विज्ञानविषयत्व की प्राप्ति होकर (वही घट) अपने पूर्व अस्तित्व का त्याग नहीं करता । उसी तरह यह निर्णय हो जाता है, कि उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् भी था, क्योंकि जिस घट का अस्तित्व ही न हो, सूर्य के उदय होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती ।

ऐसा कहना ठीक नहीं है । तुम्हारे मत में घटादिकार्य के अविद्यमान नहीं होने से भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये । तुम्हारे मत में घटादि कार्य अविद्यमान तो कभी है ही नहीं, आदित्य के उदय होने पर भी उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये । मृत्पिण्ड के सान्निध्य के बिना, तम आदि आवरण के न होने पर भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, क्योंकि वह तो विद्यमान है । (सिद्धान्ती

१ साक्षादित्यादि—अपरोक्षज्ञानविषयत्वसम्बन्ध इत्यर्थः । २ निश्चिनुम । ३ 'मृदित्यादि चेदित्यन्त' पाठ प्रसिप्तस्वरूपि तथैवेति प्रतिमानि । ४ ननुत्पत्ते प्राक् पिण्डस्यैवावरणत्वाभ्युपलम्बत इत्यत आह—मृत्पिण्ड इति । ५ अत इति व्याप्तस्य कार्यत्वहेतोः पक्षवृत्तित्वादित्यर्थः । ६ ज्ञाते । ७ ज्ञायते । ८ अभिव्यक्तिरूपलिङ्गज्ञानात् । ९ तदिति अभिव्यक्तिमिदं सत्त्वसिद्धयनपेक्षत्वादित्यर्थः । १० तर्हीति अभिव्यक्तिलिङ्गत्वसम्बन्ध इत्यर्थः । ११ इहेति उत्पत्ते प्राक्कार्यसत्त्व इत्यर्थः । १२ विमतमिति युक्तिरूप्यादिनामप्यधिष्ठानात्मना प्राक्कालत्वमभिधेयम् । सौनिकप्रमात्मिका वाऽभिव्यक्तिविषयधीरेयव्यभिचारः । १३ आलोकादिमात्रमीमाणादित्यर्थः । १४ पक्षबाधामिति—अनुमानविषयीभूतस्य पक्षस्य सिद्धान्त्यभिमतस्य कार्यसत्त्वादित्यस्य, बाधकम् अभावमप्यादनमित्यर्थः ।

विद्यमानत्वादिति चेत् । न । द्विविधत्वादावरणस्य । घटादिकार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं  
मृदादेरभिव्यक्तस्य तमः कुड्यादि प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तर-  
रूपेण संस्थानम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तोविद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्याऽऽवृत्तत्वादनुपलब्धिः ।  
नष्टोत्पन्नमावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्त्वभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः ।

नञर्थः । अविद्यमानत्वाभावादिति च्छेदः । अनुमाने बाधकोपन्यासं विवृणोति—न हीति । वर्तमान-  
वदतीतमागमि च घटादि सदैव चेदुपलब्धिसामग्र्या सत्या तद्वत्प्राग्जनेर्नाशान्नोर्ध्वमुपलभ्येत न  
“वर्तमानम्” इत्येतत् सत्त्वं माद्युक्तं कार्यस्य तदा सत्त्वमित्यर्थः । मृत्पिण्डग्रहणं विरोधिकायान्तिरोप-  
लक्षणार्थम् । अस्तिनहि सतीति च्छेदः “न तावद्विद्यमानत्वमात्रं कार्यस्य सद्योपलम्भापादकं सतीति  
घटादेरभिव्यक्त्यनभिव्यक्त्योरुपलब्धत्वादिति समोद्यते—नेति । अभिव्यक्तिसामग्रीसत्त्वत्वभिव्यक्ति-  
साधकं न तु सतस्तरतामयोऽनियमोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—द्विविधत्वादिति । उत्पन्नस्य कुड्याद्यावरण-  
मनुत्पन्नस्य विशिष्ट कारणमिति द्विविध्यमेव प्रतिज्ञापूर्वकं साधयति—घटादीति । यद्योपलम्ब्यमान-  
कारणावयवानां कार्यान्तराकारेण स्थितिस्तदा नेदं कार्यमुपलभ्यते तत्राभिव्यक्त्या चोपलभ्यत इत्यवयव-  
व्यतिरेकसिद्धं कारणस्य कार्यान्तररूपेण स्थितस्य कार्यावरकत्वमिति दृष्टव्यम् । विशिष्टस्य कारण-  
स्याऽऽवरकत्वसिद्धौ सिद्धमर्थमाह—तस्मादिति । प्राक्कार्यास्तित्वे सिद्धे सदा तदुपलब्धिप्रसङ्गाय  
निराकृत्य “नष्टो घटो नास्तोत्यादिप्रयोगप्रत्ययभेदानुपपत्तिं बाधकान्तरमाशङ्क्याऽऽह—नष्टेति ।

इसका समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि आवरण द्विविध है । घटादिरूप कार्य  
में आवरण दो प्रकार का है—उत्पन्न मृदादि के साथ अन्धकार और भित्ति आदि, एव मृत्तिका से घट  
रूप कार्य की उत्पत्ति के पूर्व मृदादि अवयवों का पिण्डादि कार्यरूप में स्थित रहना । इसलिए (विशिष्ट  
कारण के आवरण होने से) उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान घटादि कार्य की भी दायूत होने के कारण  
उपलब्धि नहीं होती । नष्ट होना और उत्पन्न होना, होना और न होना इत्यादि शब्द और प्रत्यय  
भेद तो अभिव्यक्ति और तिरोभाव (अस्ति व्यवहार और नास्ति व्यवहार) इनकी द्विविधता की  
अपेक्षा से हुआ करता है ।

१ सकाशात् । २ उत्पन्नस्य । ३ विशिष्टकारणस्य आवरणत्वात् । ४ बाधकत्वम् । ५ उत्प-  
न्नस्य अविद्यमानतादिवत् । ६ अतीतिरिति नाशप्रतियोगीत्यर्थः । ७ आगामीति प्रागभावप्रतियोगीत्यर्थः ।  
८ प्रतिवन्धकाभावे च सतीत्यपि बोध्यम् । ९ वर्तमानवत् । १० वर्तमानवत् । ११ उपलभ्यत  
इति न च सर्वदा कार्योपलब्धिसामग्रीराहित्यमिति वाच्यम्, तत्कारणस्यैव उपलब्धत्वात् कारणस्य च  
प्रागुत्पत्तेरपि सत्त्वस्य साधितत्वादिति । १२ अतीतानागतत्वमात्रायामनुपलब्धत्वात् । १३ पिण्डादावरणस्ये-  
नाभिमतरफालादिनामर्थः । १४ विद्यमानत्वे सत्यभिव्यक्त्यनुपलम्बप्रयोजकविशेषावयवानाह नेत्यादि ।  
१५ अस्तीति वर्तमानघटादावदुत्पत्तिरिति ज्ञेय, अनेन कारणसत्त्वमेव तत्त्वत्वमिति प्रयुक्तम् वर्तमानपदे तत्त्वत्वे-  
ऽपि व्याज्जवत्त्वनिधमानम् अतः मतोऽप्रत्ययव्यवधानत्वम् ॥ स्वार्थिवादिभिरेष्टव्यमिति भावः । १६ विशिष्टमिति—  
पिण्डाद्यवयवांतराभिहितमित्यर्थः पिण्डाद्यवयवापन्नमिति यावत् । १७ तत्रान्यथेति तत्र तेषु कारणवयवेषु  
अगम्या सरगु कार्यान्तराकारेण स्थित्यभाववत्तु चेत्यर्थः । १८ घटो नष्टो, घटो नास्ति, उत्पन्नो घटो, घटो-  
ऽस्तीति चत्वारः प्रयोगा बोध्या अत्र च घटोऽस्तीति प्रयोगस्य सदास्तित्वावयवत्वभावेऽपि इदानीं घटोऽस्ती-  
त्यस्य तदुक्त्यर्थः । गदास्तित्वे इदानीमिति विशिष्टत्वानुवैचागोपादिति ध्येयम् ।



पिण्डकपालादेरावरणवैलक्षण्यादयुक्तमिति चेत् । तमः कुड्यादि हि घटाद्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले । 'तस्मात्पिण्डकपाल-संस्थान'योर्विद्यमानस्यैव घटस्याऽऽवृत्तत्वादनुपलब्धिरित्ययुक्तमावरणधर्मवैलक्षण्यादिति चेत् । न । क्षीरोदकादिः क्षीराद्यावरणेनैकदेशत्वदर्शनात् । घटादि'कार्ये' कपालचूर्णाद्यवयवानामन्तर्भावादानावरणत्वमिति चेत् । च । विभक्तानां कार्यान्तरत्वादावरणत्वोपपत्तेः ।

आवरणामाव एव यतः कर्तव्य इति चेत्पिण्डकपालावस्थयोर्विद्यमानमेव

कपालादिना तिरोभावे नष्टव्यवहारः पिण्डाद्यावरणभङ्गेनाभिव्यक्तावृत्तव्यवहारो दीपादिना तमो-निरासेनाभिव्यक्तो भावव्यवहारः पिण्डादिना तिरोभावेऽभावव्यवहारः । तदेवं कार्यस्य सदा सत्त्वेऽपि प्रयोगप्रत्ययभेदसिद्धिरित्यर्थः ।

पिण्डादि न घटाद्यावरणं तेन समानदेशत्वात् । यद्यस्याऽऽवरणं न तत्तेन समानदेशं यथा कुड्यादिति शङ्कते—पिण्डेति । व्यतिरेक्यनुमानं विवृणोति—तमइत्यादिना । अनुमान'कलं' निगमयति तस्मादिति । किमिदं समानदेशत्वं किमेकाग्र्यत्वं किंवैककारणत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं विरुद्ध'त्वेन दूषयति—नेत्यादिना । क्षीरेण संकीर्णस्योदकादेराश्रित्यमाणस्येति यावत् । द्वितीयमुत्थापयति—घटादीनि । यत्पेद' कार्यं तस्मिन्मुदात्मनि "तेषाम"वस्थानात्तद्वत्तेषामनावरणत्वमित्यर्थः । घटावस्थ-मृन्मात्रवृत्तिकपालादेर्घटानावरणत्वमिष्टमेवेति सिद्धसाध्यताज्यक्तघटावस्थमृत्तुलिकपालादेरनावरण-त्वसाधने हेत्वमिष्टघटस्य कपालादेर्भा'ऽऽश्रयमृदवयवभेदादिति दूषयति—न विभक्तानामिति ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है) पिण्डकपालादिको के आवरण से विलक्षण होने के कारण (घटादिको का पिण्डादिको से आवृतत्व बहा जाना) ठीक नहीं है। अन्धकार और दीवार आदि घटादि के आवरण तो घटादि से भिन्न देश में देखे जाते हैं, इस प्रकार पिण्ड और कपाल घटादि से भिन्न देश में नहीं देखे जाते । इसलिए (समान देश में आवरणत्व असंभव होने के कारण) पिण्ड और कपाल के सम्पान में विद्यमान ही घटादि की, आवृत होने के कारण उपलब्धि नहीं होती—यह कहना अशुभ है क्योंकि आवरण धर्मों (कुड्यादि) से उनमें विलक्षणता है । (सिद्धान्ती इसका खण्डन करता है—) ऐसी बात नहीं है—दूध, जल (तेल, घृत) आदि की अपने आवरण दूध आदि के साथ समानदेशीयता देखी जाती है । घटादि कार्य हैं जिसके, ऐसी मृत्तिका में कपाल और चर्नादि अवयवों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनको अनावरणत्व कहो—तो ठीक नहीं । क्योंकि परस्पर भिन्न-भिन्न का विभिन्न कारणत्व होने से उन्हें आवरण मानना सिद्ध हो जाता है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) आवरणाभाव के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ।

- १ घटादे पिण्डादिनावृतत्वकथनमयुक्तमित्यर्थः । २ समानदेशत्वेनावरणत्वासम्भवात् । ३ सति सप्तमी । ४ आवरण धर्मो यस्य तस्मात्कुड्यादितो वैलक्षण्यादित्यर्थः । ५ आदिना तेलपूनादि । ६ सह । ७ घटादीनि कार्याणि यस्य तस्मिन्मुदात्मनीति विग्रहः । = विभक्तानां परस्पर भिन्नानाम् कार्यान्तरत्वात् भिन्नकारणत्वादिति यावत् । ८ अस्तित्वव्यवहारः । ९ नास्तित्वव्यवहारः । ११ पिण्डादेरावरणत्वाभावरूपम् । १२ साध्याविरुद्धत्वेनेत्यर्थः हेतो साध्याभाववद्बुद्धित्वमिति यावत् । १३ इदं घटादिवार्यम् । १४ तेषां घटपालादीनाम् । १५ अवस्थानात्—तुल्यदेशत्वात् एवकारणत्वमिति यावत् । १६ स्वाश्रयेति पाठान्तरम् ।

घटादिकार्यमावृतत्वाच्चोपलभ्यत इति चेत् । घटादिकार्यानिना तदावरणविनाश एव यत्नः कर्तव्यो न घटाद्युत्पत्तौ । न चैतदस्ति तस्मादयुक्तं, विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनूपलब्धिरिति चेत् । न । अनियमात् । न हि 'विनाशमात्रप्रयत्नादेव घटाद्यनिव्यक्तिर्नियता । तमग्राद्यावृते घटादौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात् । सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत् । दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः सोऽपि तमस्तिरस्करणाय तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते । न हि घटे किञ्चिदाधोऽयत इति चेत् । न । प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात् । यथा प्रकाशविशिष्टौ घट उपलभ्यते प्रदीपकरणेन न तथा प्रावप्रदीपकरणात् । 'तस्मान्न-तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि प्रकाशवत्त्वाय । प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमान-

विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनूपलब्धिवेदावरणतिरस्कारे यत्नः स्यान्न घटादेवैतत्तावतो'नु-भवविरोध सत्कार्यवादिन स्यादिति शङ्कते—आवरणेति । तदेव" प्रपञ्चयति—पिण्डेति । "यत्राऽऽवृतवस्तु व्यग्रयते तत्राऽऽवरणभङ्ग एव यत्न इति व्याप्त्यभावाभ्यानुभवविरोधोऽस्तीति दूषयति—नानियमादिति । अनियम "साधयति—न हीति । तमसाऽऽवृते घटादौ दीपोत्पत्तौ यत्नोऽस्तीत्यत्र बोधयति—सोऽपीति । अनुभवविरोधमाशङ्क्योक्तमेव व्यनक्ति—दीपादीति । दीपस्तमस्तिरयति चेत्कथं

पिण्ड और कपाल की अवस्थाओं में, विद्यमान ही घटादि काय की, आवृत होने के कारण उपलब्धि नहीं होती । तब तो जिसे घटादि कार्य की इच्छा हो, उसे उसके आवरण के नाश का यत्न करना चाहिये, घटादि उत्पत्ति के लिए यत्न करने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु ऐसा होता नहीं है । इसलिए (अनुभवविरोधी होने से) यह कहना ठीक नहीं है कि विद्यमान घटादि की ही आवृत होने के कारण उपलब्धि नहीं होती ।

(सिद्धान्ती खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम नहीं है । आवरणविनाश के लिए प्रयत्न करने मात्र से ही घटादि की उत्पत्ति हो जाए, ऐसा नियत नहीं है । क्योंकि तम भावि से आवृत घटादि प्राप्ति के लिए, प्रदीपादि की उत्पत्ति में प्रयत्न देखा जाता है ।

(पुन शङ्का होती है) वह यत्न भी तो अन्धकार के नाश के लिए किया जाता है । दीपादि की उत्पत्ति के लिए भी जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी अन्धकार के नाश के लिए ही है । अन्धकार के नष्ट होने पर घट स्वयं ही उपलब्ध हो जाता है । यदि कहो, (दीप के उत्पत्ति के अनुकूल प्रयत्न के द्वारा घट के उपलब्धि रूप प्रयोजन वाली) कोई वस्तु घट में उत्पन्न नहीं करायी जाती । (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि प्रकाशवान् घट की ही उपलब्धि होती है । जैसे दीपक होने पर प्रकाशविशिष्ट घट की उपलब्धि होती है, वैसे दीपक तैयार करने से पहले नहीं होती । इसलिए अन्धकार विनाश के लिए प्रदीप जलाया नहीं जाता, बल्कि प्रकाश के लिए दीप जलाया जाता है । इससे स्पष्ट होता है, कि घटादि वस्तु की उपलब्धि

१ अनुभवाविरोधात् । २ आवरणविनाशेत्यर्थः । ३ आदिशब्दत्रयेण क्रमाद् दधिनवनीतमय्यादिब्रह्म ।

४ अपिना पूर्वमादिगन्धद्रव्योक्त समुच्चिनोति । ५ आधीयत इति दीपात्परानुलक्षणलेन घटोपलब्धि-प्रयोजक किमपि वस्तु घटेनोत्पाद्यत इत्यर्थः । ६ ब्रह्ममाणहेतो नस्मादित्युक्तम् । ७ व्यनक्ति प्रवासेति । ८ पिण्डादिनेत्यादि । ९ उत्पत्तादिति तदुत्पत्तौ च घटाद्यधीयत इति शेषः । १० अत घटादयिनो घटाद्युत्पत्तौ यत्नदर्शनात् । ११ यद्विद्यमेव । १२ विबुधोति । १३ गृहादौ ।

१४ उपपादयति । १५ गोपीत्यादिसङ्ख्याक्योक्तमर्थमित्यर्थः ।

त्वात् । यच्चिदावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात् । यथा कुड्यादिविनाशे । तस्मात् नियमो-  
ऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनाऽऽवरणविनाश एव यत्नः कार्य इति ।

नियमार्थवत्त्वाच्च । 'कारणे वर्तमानं' कार्यं 'कार्यान्तराणामावरणमित्यवोचाम ।  
'तत्र यदि पूर्वाभिव्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यवहितस्य वा कपालस्य विनाश एव 'यत्नः  
क्रियेत' । तदा 'विद' लक्षणाद्यपि कार्यं 'जायेत । तेन' 'प्रावृत्तो घटो नोपलभ्यत इति  
पुनः' प्रयत्नान्तरापेक्षं । तस्माद्घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो "नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवान् ।

कुम्भोपलब्धिरत आह—तस्मिन्निति । तत्र हेतुमाह—न हीति । अनुभवमनूय परिहरति—  
नेत्यादिना । किमिदानीमावरणभङ्गे प्रयत्नो नेत्येव नियमोऽस्तु नेत्याह—यच्चिदिति । अ"नियमं  
निगमयन्ननुभवविरोधाभावमुपसंहरति—तस्मादिति ।

किंचाभिव्यक्तुं 'कव्यापारे सति नियमेन घटो व्यज्यते तदभावे नेत्यव्यव्यतिरेकावधारितो  
"घटार्थं कुलालादिव्यापारस्तस्यार्थवत्त्वार्यमभिव्यक्त्यर्थं एव प्रयत्नो वक्तव्य आवरणभङ्ग" इत्याधिक  
इत्याह—नियमेति । उच्यते "स्मारयन्नेतदेव" विवृणोति—कारण इत्यादिना । प्रावृत्तिभङ्गार्थं यत्ने

प्रवाशयुक्त होने पर ही होती है । दीवारादि के विनाश के समान कहीं-कहीं आवरणविनाश के लिए  
प्रयत्न भी हुआ करता है । इसलिए (आवरणविनाश और अर्थाभिव्यक्ति में प्रयत्न दिखाई देने पर)  
पदार्थ की अभिव्यक्ति के इच्छुक को आवरणविनाश के लिए ही यत्न करना चाहिए—ऐसा  
कोई नियम नहीं है ।

इसके अतिरिक्त कुलालादि व्यापाररूप नियम की सफलता के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए ।  
मृदादि कारण में विद्यमान पिण्डादि कार्य घटादि रूप अन्य कार्यों वा आवरण होता है—ऐसे पहले  
कह आए हैं । पूर्वोक्त कथन में यदि पूर्वाभिव्यक्त पिण्डकार्य की अथवा व्यवधानयुक्त कपाल की  
अविद्यमानता के लिए ही यत्न किया जायगा, तो उससे शकल और चूणादि कार्य भी सम्भव हो  
जायगा । (शकलचूर्णादि घट के आवरण में कार्यान्तर सम्भव होने पर) तब तो प्रावृत्त घट की उप-  
लब्धि नष्ट होती—ऐसे पुन प्रयत्नान्तर की आवश्यकता बनी ही रहेगी । अत घटादि अभिव्यक्ति के

१ आवरणतिरस्कृतावर्थाभिव्यक्तौ च यत्नदर्शनात् । २ नियमस्य कुलालादिव्यापारस्यार्थवत्त्वासफलत्वा-  
दित्यर्थः । ३ मृदादी । ४ पिण्डादि । ५ घटादीनाम् । ६ पूर्वोक्ते स्थित सतीत्यर्थः । ७ तर्हि ।  
८ तदेति—पिण्डाद्यावरणविनाशप्रशङ्काम् । ९ विदत शकलम् । १० सम्भवेत् । ११ तेनेति—विदल-  
क्षणादिघटावरणकार्यान्तरसम्भवादित्यादि । १२ विदलादेरपि भङ्गे तदपत्तिरिति चेन्नेत्याह पुनरिति  
यद्भङ्गावस्थाया विदनादे सकाशादयदपि तत्सजातीय विजातीय वा व्यवधानमापतेत्तस्मादावरणभङ्गे प्रयत्न-  
श्चेत्तदा यावच्छक्यं तत्प्रभवत्तद्भङ्गपेक्षायां घटाव्यक्तिरेव न स्यादिति भावः । १३ अव्यव्यव्यतिरेकावधारितः ।  
१४ स्वयमुपलब्धौ । १५ नियमाभावमुपसंहरन् । १६ अभिव्यञ्जकस्य कुलालादेर्व्यापारे । १७  
घटाभिव्यक्त्यर्थः । १८ आवरणभङ्गस्त्वार्थिक इति—यत्र हि प्रशास्यन्त घटादिव तत्रैव तमोनिवृत्तिदर्शनात्  
प्रशास्य प्राप्तम्य तमोहानेस्तु पादनात्यमिति भावः । इदमेव भङ्गचन्तरेण—प्रकाशव्याप्त घटमृते तदावरण-  
तमोनिवृत्त्यदर्शनात्तत्र प्रकाशस्य प्राप्तम्य तमोहानेश्च पादनात्य दृष्टमिति । इत्यत्र प्रक्रिया द्रष्टव्या—घट-  
स्तावत्पूर्वमज्ञातो बाह्येन्द्रियद्वारा बुद्धिव्यावृत्त्या व्याप्यते, तदघातश्चस्वगततमो ह्यस्तिविशिष्टो भवति, तत  
प्राकट्यमागी भवति ततश्चादानादिव्यवहार इति । १९ द्विविधत्वादावरणस्येत्यादिप्रयुक्तम् । २०  
नियमार्थवत्त्वमेव ।

तस्मात्प्रागुत्पत्तेरपि सदैव कार्यम् ।

अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च । अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येतयोश्च प्रत्यययोर्धर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम् । अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च । न ह्यसत्यमितया प्रवृत्तिलोके दृष्टा । योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात् । असंसद्भूविष्यद्घट ऐश्वर भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात् । न च प्रत्यक्षभुपचर्यते । घटसद्भावे ह्यनुमानमवोचाम ।

यतो घटानुपलब्धिरतस्तदुपलब्धयर्थत्वेन नियतः सम्यक्तः सफल स्यादिति कलितमाहु—तस्मादिति । प्रकृतमभिव्यक्तिलिङ्गकमनुमानं निर्दोषत्वादादेयं मन्वानस्तत्फलमुपसहरति—तस्मात्प्रागिति ।

कार्यस्य सत्त्वे युक्तपन्तरमाहु—अतीतेति । 'विमर्त' 'सदर्थ' प्रमाण' 'स्वातन्त्र्य' 'अनवविषय' । तदेवानुमानं विशदयति—प्रतीत इति । "अन्वेषोपपत्त्यन्तरमाहु—अनागतेति । प्रागामिनि घटे सर्वोपपत्त्येन लोके प्रवृत्तिर्दृष्टा न चात्यन्तासति सा युक्ता तेन । तस्यासद्विषयत्वात् । किं च योगिनामोशस्य चातीताविविधं प्रत्यक्षज्ञानमिष्टं तच्च विद्यमानोपलम्भनमतो घटस्य सदा सत्यमित्याहु—योगिना चेति । ईश्वरसमुच्चयार्थश्रकार । भविष्यद्घटहणमतीनोपलक्षणाद्यम् । ऐश्वर्यं योगिकं चेति द्रष्टव्यम् । असद्भूत्येष्टत्वमाहुपाऽऽहु—न चेति । अधिकवत्त्वं हि बाधकं न ज्ञानतिशयादंशादिज्ञानादधिकवत्त्वं ज्ञानं दृष्टमती बाधकाभावाच्च तन्मिथ्येत्यर्थः । तस्य सम्यक्त्वेऽपि 'पूर्वोत्तरकालपीरसङ्घटविषयत्वं किं न स्यादित्याहुपाऽऽहु—घटेति । पूर्वोत्तरकालयोरेति शेषः ।

इच्छुक का (अन्वयव्यतिरेक रूप) नियत कारक व्यापार ही सफल होता है । इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य विद्यमान ही है ।

कार्य की विद्यमानता में भूत-भविष्यत् प्रतीतिमो का भेद भी हेतु है । भूत घट और भावी घट, इन प्रतीतियों का भी घट प्रतीति की तरह निर्विषय होना उचित नहीं है, क्योंकि भावी घट के चाहने वाले की प्रवृत्ति देखी जाती है । अत्यन्त अविद्यमान पदार्थ की इच्छा से संसार में किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । इसके अलावा योगियों का भी भूत और भावी ज्ञान से सर्वभविषयक ही हुआ करता है । (विषयबाधक तर्क कहते हैं—) यदि प्रागामी घट असत् माना जायगा, तो प्रागामी घटविषयक ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान भी अप्रामाणिक होगा । (ईश्वरसम्बन्धी, योगिक और) प्रत्यक्ष ज्ञान कभी बाधित नहीं होता । घट की सत्ता में पूर्वोक्त युक्तियाँ और अनुमान कह चुके हैं ।

- १ सत्यत्वादिति—सदर्थविषयनत्वावित्यर्थ । २ विषयबाधकतर्कमाहु—अतस्त्वेदित्यादिना । ३ मिथ्येति—अप्रमाणमित्यर्थ । ४ "प्रत्यक्ष नापि चेशस्य केनचित्प्रतिहृत्यत । अपविद्धातिशयोक्त्येव तज्ज्ञान केन हृत्यते ।" इति कारिकाप्रत्ययानुसन्धेयम् । अपविद्धातिशयोक्ति निरतिशयमित्यर्थ । प्रत्यक्षम् ऐश योगिक च ज्ञानम् । ५ उपचर्यते बाध्यते केनचिन्नेत्यर्थ । ६ हिना पूर्वोक्तयुक्तपन्तपणि मुचयति । ७ प्रदर्शितेति शेष । ८ निदत्त —अन्वयव्यतिरेकावधारित । ९ अतीतप्यदृष्टज्ञानम् । १० सद्घटालम्बनम् । ११ घटज्ञानत्वात् । १२ सर्वज्ञानयत्ज्ञानवत् । १३ चार्थसत्त्व एव । १४ प्रागामिनि प्रवृत्तिदर्शनेन अत्यन्तामिनि प्रवृत्त्युत्पत्त्येन चेत्यर्थ । १५ घटोत्पत्तिरवसापेक्षया पूर्वोत्तरकालयोरेत्यर्थ ।

विप्रतिषेधाच्च । यदि घटो भविष्यतीति कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितम् । येन च कालेन घटस्य संबन्धो भविष्यतीत्युच्यते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते । भविष्यन्घटोऽसन्निति न भविष्यतीत्यर्थः । अयं घटो न वर्तत इति यद्वत् ।

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्यते घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु तत्र यथा व्यापार-

घटस्य प्रागसत्त्वाभावे हेतुस्तरमाह—विप्रतिषेधादिति । स हि कारकव्यापारदशायां सन्निति कोऽयं किं तस्य भविष्यत्त्वादि तदा नास्ति किं वाऽर्थक्रियासामर्थ्यमात्रे व्याहृति साधयति—यदीति । घटार्थं कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु सत्सु घटो भविष्यतीति प्रमाणेन निश्चित चेत्कथं तद्विरुद्धं प्रागसत्त्वं मुच्यते । कारकव्यापारावच्छिन्नेन हि कालेन घटस्य भविष्यत्वेनातीतत्वेन वा भविष्यत्त्वमूदिति वा संबन्धो विवक्ष्यते । तथाच तस्मिन्नेव काले घटस्य तथा विप्रतिषेधनिषेधे व्याहृतिरतिव्यक्तैत्यर्थः । तामेवाभिनयति—भविष्यन्निति । यो हि कारकव्यापारदशायां भविष्यत्त्वादिहेतुरस्ति स तदा नास्तीत्युच्यते तस्य सत्त्वामवस्थायां तेनाऽऽकारेणासत्त्वमर्थो भवति । तथाच घटो यदा येनाऽऽकारेणास्ति स तदा तेनाऽऽकारेण नास्तीति व्याहृतिरित्यर्थः ।

द्वितीयमुरवापयति—ध्रुवेति । प्रागुत्पत्तेर्घटार्थं कुलालादिषु प्रवृत्तेषु सोऽसन्नित्यसच्छब्दायं

तथा भूत और भावी घट, निषेध होने पर विरोध भी आता है । यदि घट के लिए प्रवृत्त कुम्हार आदि को, प्रमाण के द्वारा घट की भविष्यत्त्व रूप सत्ता का निश्चय हो गया है, कि 'घट हागा' तो जिस वर्तमान काल से घट का सम्बन्ध होगा—ऐसा कहा जाता है, उसी समय में 'घट नहीं है', ऐसा विरुद्ध कथन होता है । "आगामी घट असत् है" इसका अर्थ है, कि घट उत्पन्न नहीं होगा । जैसे यह कहा जाय, कि यह घट नहीं है ।

और यदि ऐसा कही, कि उत्पत्तिसे पूर्व घट असत् है तो कुम्हार आदि के घट के लिए प्रवृत्त होने पर जिस प्रकार वहाँ व्यापार विशिष्टत्वं रूप से कुम्हारादि विद्यमान हैं, उस प्रकार घट

१ अतीतानागतघटनिषेधे विप्रतिषेध प्रसज्यतेत्यर्थः । विप्रतिषेधो विरोधो व्याहृतिरिति यावत् । २ भविष्यतीति—प्रमाणेनेत्यन्वयः । प्रमाणेन प्रमाणवाक्येनेत्यर्थः । ३ घटार्थं कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु सत्सु घटो भविष्यतीति प्रमाणवाक्येन घटस्य सत्त्वं निश्चितम् । यदि तर्हि कथं येन च कालेन वर्तमानरूपेण ननु भविष्यतीति वाक्येन घटस्य सम्बन्धोऽभिधीयते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति घटस्यासत्त्वमिति विरुद्धमुच्यते इति माध्याहार योजनीयः पङ्क्तिः । ४ घटस्य भविष्यत्त्वरूप सत्त्वमिति शेषः । ५ कालेन वर्तमानेन । ६ इति वाक्येनेत्यर्थः । ७ व्याहृतिरिति शेषः । ८ अमच्छब्दार्थमाह नेति । ९ घटोत्पत्तेः प्राक् । १० तस्य अतीतानागतघटस्य । ११ भविष्यत्त्वादीति भविष्यत्त्वादित्यस्य गत्वमित्यर्थः । १२ वर्तमान काले । १३ विरोधमुपपादयति । १४ निश्चित भविष्यत्त्वादिहेतु सत्त्वम् । १५ तद्विरुद्धं निरस्तं सत्त्वविरुद्धम् । १६ व्याहृत्यन्तरमाह आस्तेति । १७ कालेनेति सम्बन्धो विवक्ष्यत इत्यन्वयः । १८ तेन रूपेण च वाक्येनेत्यत्राह—भविष्यत्त्वेनातीतत्वेन तेन तेन रूपेणेत्यर्थः । १९ भविष्यत्त्वमूदिति—तेन तेन वाक्येनेत्यर्थः । २० तथाचेति—उत्तविधया सत्त्वस्य विवक्षितत्वे चेत्यर्थः । २१ तथाविधेति—भविष्यत्त्वादिरूपेत्यर्थः ।

रूपेण वर्तमानास्तावत्कुलात्तादयस्तथा घटो न वर्तते । इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते । कस्मात् । स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते । न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति । न च तयोर्भविष्यता घटस्य । तस्मात्कुलात्तादिव्यापारवर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते । यदि घटस्य यत्त्वं भविष्यत्ताकार्यरूपं तत्प्रतिपिध्येत । तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात् । ननु तद्वान्प्रतिषेधति । न च सर्वेषां क्रियावता-  
मेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा ।

अपि च चतुर्विधानामभावानां घटस्येतेतरामावो घटादन्वो दृष्टो यथा घटामावः

स्वयमेव विवेकयति—तत्रेत्यादिना । तत्र सिद्धान्तो ब्रूते—न विरुध्यत इति । कथं पुनः सत्कार्यवा-  
दिनस्तद्वत्सत्त्वमिदं विद्वन्त्याह—कस्मादिति । प्रागुत्पत्तेस्तुच्छव्यावृत्तिरूपं सत्त्वं घटस्य त्रिपाधप्रापितं  
तच्चेद्भवानपि तस्य सदातनमर्थक्रियासामर्थ्यं निषेधन्ननुमन्यते नाऽऽवयोर्विप्रतिपत्तिरित्यभिप्रेत्याऽह  
—स्वेन हीति । ननु स्वन्मते सर्वस्य भूमानत्वाविशेषात्पिण्डादेर्वर्तमानता घटस्य स्यात्तस्य चातीतता  
भविष्यत्ता च पिण्डकपालयोः स्यादिति साक्यमाशङ्क्याऽह—न हीति । व्यवहारदशायां यथा प्रति-  
भासमनिर्वाच्यं संस्थानमेवाद्वयणदित्यर्थः । प्रागवस्थायां घटस्यार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वनिषेधे  
विरोधाभावमुपपादितमुपसंहरति—तस्यादिति । उक्तमेव अपतिरेकद्वारा विवृणोति—यदीत्यादिना ।  
यदा कारकाणि व्याघ्रियन्ते तदा घटोऽसन्निति । तस्य भविष्यत्वादिरूपं तत्काले निषिध्यते चेवुक्त-  
विधया व्याघातः स्यात् । न च तस्य तस्मिन्काले भविष्यत्वादिरूपं सत्त्वं निषिध्यते । अर्थक्रियासाम-  
र्थ्यस्यैव निषेधात् । तद्विरोधावकाशोऽतीत्यर्थः । न हि पिण्डस्येत्यादिना साक्यं समाधिरुक्तस्तनिदानां  
सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया स्फुटयति—न चेति । भविष्यत्त्वमतोतत्त्वं चेति शेषः ।

कार्यस्य प्रागुत्पत्तेर्नाशच्छोर्ध्वमसत्त्वाभावे हेत्यन्तरमाह—अपि चेति । तद्विधानुमानतया

नही है—यह श्रुत शब्द का अर्थ करने पर (अर्थ क्रिया सामर्थ्य रूप सत्त्व निषेध से तुच्छ व्यावृत्ति  
रूप सत्त्व का) विरोध नहीं होता । ऐसा क्यों कहते हो ? क्योंकि प्रपने भावो रूप से घट तो विद्यमान  
ही है । पिण्ड और कपाल को विद्यमानता हो, तो घट की विद्यमानता नहीं हो सकती, घट की  
भविष्यत्ता हो, तो पिण्ड और कपाल की नहीं हो सकती । इसलिये (निर्व्यापार घट की विद्यमानता  
सम्भव होने से) कुम्हार आदि के व्यापार की विद्यमानता में “उत्पत्ति से पूर्व घट अस्त है” ऐसा  
कहने में कोई विरोध नहीं आता । यदि घट का, जो भविष्यत् कार्यत्वक रूप स्वल्प है, उसका  
प्रतिषेध किया जाय, तो उसके प्रतिषेध करने पर विरोध होगा । आप तो उसका निषेध करते  
नहीं हैं । सभी क्रियावान् कारको भी एक ही वर्तमानता या भविष्यत्ता होती हो—ऐसा बहना  
भी ठीक नहीं ।

इमं च अनिरिक्त चार प्रकार के भ्रमायो मे, घट का अन्योन्याभाव, घट से अन्य वस्तु में भी

- १ व्यापारविनिर्घटस्वरूपेणेत्यर्थः । २ अर्थक्रियासामर्थ्यरूपसत्त्वनिषेधेन तुच्छव्यावृत्तिरूपसत्त्व न विरुध्यत  
इत्यर्थः । ३ घटस्य स्वीयभविष्यत्त्वं रूपेण वर्तमानत्वादित्यर्थः । ४ निर्व्यापारघटस्य सत्त्वमभावात् । ५  
स्वीयम् । ६ भविष्यत् कार्यात्मक रूपमित्यर्थः । ७ नारकाणाम् । ८ पूर्वपक्षीत्यर्थः । ९ पूर्वपक्षि-  
णैवमभिहिते । १० कार्यात्मकम् । ११ पृच्छति । १२ प्रतीत्यनुसंधादित्यर्थः । १३ संस्थानमव-  
यवमन्वयः । १४ विरोधाभावम् । १५ आशङ्केत्यर्थः । १६ तेन-उक्तनिषेधेन, विरोध—तुच्छव्या-  
वृत्तिरूपसत्त्वस्य विरोधो नैत्यर्थः ।

पटादिरेव न घटस्वरूपमेव । न च घटाभावः सन्पटोऽभावात्मकः किं तर्हि भावरूप एव ।  
 एवं घटस्य प्राग्प्रध्वंसात्पन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात् । घटेन' व्यपदिश्यमानत्वा-  
 द्घटस्येतरेतरामावयत् । 'तथैव भावात्मकताऽभावाणाम् । एवं च सति घटस्य प्राग्भाव  
 इति' । न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति ।

स्पष्टयितुं दृष्टान्त साधयति—चतुर्विधानामिति । पृष्ठो निर्धारणे । घटान्योन्याभावस्य घटादन्यत्वे  
 तत्रान्योन्याभावान्तराङ्गीकारादनवस्थेत्याशङ्क्याऽह—दृष्ट इति । न यौक्तिकमन्यत्वं किंतु घटो  
 न भवति पट इति 'प्रातीतिक' तथाच घटाभावः पटादिरेवेति पटादेस्ततोऽप्यस्याद्घटान्योन्याभाव-  
 स्यापि घटादन्यत्वं सिद्धिरित्यर्थः । ननु घटाभावः पटादिरित्ययुक्तं विशेषण'देन घटस्यापि पटादावन्त-  
 र्भावप्रसङ्गादिति चेन्नैवं दृष्टपदेन निराकृतं स्यात् । घटाभावस्य पटादित्वाभावे'पि न स्वातंत्र्यम-  
 भावत्वविरोधात् । नापि तदन्योन्याभावः पटादेर्धर्म' संसर्गाभावात् न' भविष्यात्तात् । न च ॥ घटस्यैव  
 धर्म स्वरूपं वा घटो घटो न भवतीति प्रतीत्यभावादित्यभिप्रेत्याऽह—न घटस्वरूपमेवेति । पवि  
 प्रतीतिमाश्रित्य घटान्योन्याभावः पटादिरित्येत तदा पटादेर्भावस्याभावत्वविधा'नादृश्या'घात इत्याश-  
 ङ्क्याऽह—न चेति । स्वरूप'पररूपाभ्यां सर्वं सद'सद्वारमकमिति हि वृद्धाः । 'तथा च पटादे-  
 'स्वेनाऽऽत्मना भावरत्वं घटतादात्म्याभावात्तदभावत्वं चेत्यन्याहतिरित्यर्थः । सिद्धे प्रतीत्यनुसारिणि

देखा जाता है । जिस प्रकार घटाभाव पटादि ही है, घट स्वरूप नहीं है । घटाभाव होने से पटाभाव-  
 स्वरूप नहीं हो जाता । तो क्या होता है ? (अभाव रूप के साथ साथ) भाव रूप भी होता है । इस  
 प्रकार प्राग्भाव, प्रध्वसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घट से भिन्न है । घट के अन्योन्याभाव की तरह  
 घट से इसका उपदेश किया जाता है । उसी प्रकार ('अभावा सन्तः घटाभिन्नत्वात् पटवत्' अर्थात्  
 अभाव है, घटाभिन्न होने के कारण, पट के सदृश) अभावा की भी भावरूपता है । ऐसा होने पर  
 'घट वा प्राग्भाव है' इस उक्ति से, "उत्पत्ति से पूर्व घटस्वरूप नहीं है" ऐसा सिद्ध नहीं होता ।

- १ अथमेव शब्दोऽप्यर्थः, तथा च भावरूपोऽपीत्यभावत्वमपि समुचितम् । २ घटप्राग्भावो घटप्रस इत्येव  
 घटविशेषणकत्वेन व्यवहितवशात्प्रवादित्यर्थः । अनुमानरचना चार्थैव प्राग्भावादयो घटाङ्गीकृत्यैव धर्मविशेषण-  
 कत्वात् घटान्योन्याभाववत् । न च दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् घटाद्योन्याभावस्य पटाद्यामनो घटान्यत्वाभावे  
 घटस्य पटाद्यामनवप्रसगात् । न चान्योन्याभावस्यान्यत्वेऽनवस्थान्तास्वरूपभेदाङ्गीकारेण परिहृतत्वादिति । ३ तथै-  
 वेत्यादिना—अभावा' सन्तः घटाङ्गीकृतत्वात्पटवदित्यनुमानं सूचितं बोध्यम् । ४ उक्तप्रेत्यर्थः । ५ प्रतीति-  
 प्रमाणकम् नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नापेति भावः । ६ प्रातीतिकत्वे च । ७ अभावविशेषणकत्वेनेत्यर्थः । ८ नहि दृष्टे-  
 ऽनुपपन्नं नापेति भावः । दृष्टे-प्रत्यक्षे । ९ पटादित्वाभावेऽतीति, पटाद्यधिकरणरूपताप्रभ्युपगमेऽपीत्यर्थः ।  
 १० न स्वातंत्र्यमिति—प्रतियोग्यनुयोगिनिरपेक्षः प्रतीतो नेत्यर्थः । सति स्वातंत्र्येऽभावत्वमेव न स्यादभावस्य  
 प्रतीको प्रतियोग्यादिनिरपेक्षत्वाभावात् स हि प्रतियोग्यादिविशिष्ट एव प्रतीयते घटाभावः पटाभाव इत्येव न  
 स्वरूपमिति । ११ संसर्गाभावस्वरूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अनुयोगित्वरूपत्वाभावरत्वन्योन्याभाववत् अतु-  
 योगित्वगृहाभावरत्वं संसर्गाभावत्वमित्यभ्युपेक्षेद द्रष्टव्यम् । १२ विधानादिति—अभिधानादित्यर्थः । १३  
 व्याघातो विरोधः । १४ स्वरूपपररूपाम्यामिति—निरपेक्षभावेसरूपाम्यामित्यर्थः । पटादिनिरपेक्ष तु रूप  
 घटस्य स्वीय पटादिप्रतियोगिसापेक्ष यत्तत्सत् परकीय तथा च पटाद्यपेक्षया घटोऽभावस्वरूपसत्तिरपेक्षस्तु स भाव-  
 रूपः । १५ सदस्यधारकमिति—भावाभावाभेदात्मकमित्यर्थः । १६ तथा चेति—सर्वैर्योग्यधारकत्वे चेत्यर्थः ।  
 १७ स्वेनात्मनेति—स्वीयनिरपेक्षरूपेणेत्यर्थः ।

‘अथ घटस्य ‘प्रागभाव’ इति घटस्य यत्स्वरूपं तदेवोच्येत । ‘घटस्येतिव्यपदेशा-  
नुपपत्तिः । अथ कल्पयित्वा व्यपदिष्येत शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यद्वत् । ‘तथाऽपि  
‘घटस्य प्रागभाव’ इति कल्पितस्यैवाभावस्य घटेन’ व्यपदेशो न घट’स्वरूपस्यैव ।

दृष्टान्ते विवक्षितमनुमानमाह—एवमिति । किं च तेषामभावाणां घटाद्भिन्नत्वात्पदवदेव ‘सत्त्वं’ भेद-  
व्यमित्यनुमानान्तरमाह—तथेति । “अनुमानफलं कथयति—एवं” चेति । तेषां घटादन्यत्वे तस्या-  
नाद्यनन्तत्वमद्वयत्वं सर्वात्मत्वं च प्राप्नोति । “सत्त्वे च “तेषामभावाभावाच्च भावाभावायोर्मयः”  
संगतिरित्यर्थः ।

ननु प्रसिद्धोऽभावो भाववदशकयोऽप्यज्ञोत्तुमिति चेत्सं तर्हि” घटस्य स्वरूपमर्थान्तरं वेति  
विकल्पाऽऽद्यमनूय ब्रूयति—अथेत्यादिना । प्रागभावादेर्घटत्वेऽपि संबन्धं कल्पयित्वा घटस्येत्युक्तिरिति  
“शङ्कते—अथेति । संबन्धस्य कल्पितत्वे संबन्धिनोऽप्यभावस्य तथात्वं स्यादिति ब्रूयति—तथाऽपीति ।  
“यत्र संबन्धं कल्पयित्वा व्यपदेशस्तत्र” न वास्तवो भेदो यथा रात्रिशरसोस्तथाऽत्रापि कल्पिते संबन्धे  
भेदस्य तथात्वाद्वास्तवत्वं संबन्धिनोरन्यतरस्य स्यात् । न चाभावस्तथा तापेक्षत्वावतो घटस्तथेत्यर्थः ।

पक्षान्तरं मे “घट का प्रागभाव”, ऐसा घट का जो स्वरूप है, वही यदि कहा जाय; तो  
((“घटस्य”) घट का, ऐसा व्यवहार ही नहीं बनता । यदि “शिलापुत्रक का शरीर” ऐसी कल्पना  
करके कहा जाय; तो भी “घट का प्रागभाव”, इस कथन से कल्पित भभाव का ही घट सम्बन्धी  
व्यपदेश हीगा, केवल घटस्वरूप का ही नहीं होगा । और यदि घट से घट के भभाव को भिन्न माना

- १ पक्षान्तरे । २. प्रागभाव इति अभावान्तरोपलक्षणमेतत् । ३. उच्यते । ४. घटस्येत्यादि—भेदनिमित्तसम्बन्धायप्यपठधनुपपत्तिरित्यर्थः । ५. शिलापुत्रकमिति पुत्रककृतेः शरीरमात्ररूपत्वेऽपि सम्बन्धमारोप्य यथा व्यपदेश इत्यर्थः । ६. उत्करोत्या व्यपदेशोपपत्तावपि । ७. अभावान्तरोपलक्षणम् । अभावस्य घटरूपत्वे च घटस्याभाव इत्यस्य घटस्य घट इत्यर्थं स्यादित्यपि बोध्यम् ८. व्यपदेशान्वयीतिः । ९. घटसम्बन्धितया । १०. केवत्सर्वेव घटस्य । ११. सत्त्वं भेदव्यभिचि—भावकाऽऽद्यमुपपत्तयेत्यर्थः । १२. पूर्वोक्तमव्यभिचरत्वात्परिभ्रमोन्मातफलमिति बोध्यम् । १३. तेषां घटादन्यत्वे सत्त्वे चानुमानेन साधिते मतीत्यर्थः । १४. घटादन्यत्वेऽपि तेषां घटसम्बन्धात् कुतोऽप्योक्त-रूपतस्याशङ्क्यसत्त्वानुमानकनमाह सत्त्वे चेति । घटसम्बन्धस्तु तेषां घटप्रागभावो घटपक्ष इत्येव घटविरोध-गृह्येन प्रतीतिगोचरत्वादिति ध्येयम् । १५. तेषामित्यादि—अभावानां सत्त्वे भावस्वरूपत्वेऽनुमानसिद्धे सति अगतीनतेऽभावात् दत्तजनोऽत्रितित्वात् भावस्य घटादेरभावेन ध्वसादिनाऽनन्तत्वादिविधातव सम्बन्धामावादात्तस्य तत्त्वं निरुपसर्गमित्यर्थः । तेषामभाव. भावादिति वाच्यः अभावत्वाभावादित्यभिनप्रधानत्वात् । १६. न मिथः शङ्कतिरिति—प्रागभावस्य घटादन्यत्वेन सत्त्वेन च घटस्य प्रागभावेन सम्बन्धामावादानादित्यर्थः । प्रागभावेन सम्बन्धामावादादित्यस्याभावरूपत्वेनपरप्रसिद्धप्रागभावसम्बन्धामावादादित्यर्थः एवमुत्तरत्रापि । एवं एवहस्यापि तथाविधात्वेन घटस्य घटप्रागभावेन सम्बन्धामावादानन्तत्वम् तथात्यन्ताभावस्यापि तथात्वेन घटस्यात्यन्ताभावेन सम्बन्धामावादानुगततयाऽपिऽप्यन्तत्वाद्वयवत्त्वं, एवं भेदस्याप्युक्तत्वे न घटस्यान्योपपत्तावागम्यनित्यता मयोरित्यर्थः च सिद्धम् अन्योन्याभावसम्बन्धिन एवाव्यवर्तित्वस्य बादिभिरेवमुपपत्तादिति भावः । १७. परोक्तममुं नेम्य न तर्हीत्यादि । १८. शङ्कन इति—पुरुषस्य चैनन्वयिनिवदव्यपदेशोपपत्तिं समर्थयत इत्यर्थः । १९. ययो पदाद्ययोः । २०. तयोः पदाद्ययोः ।



अथार्यान्तरं घटादघटस्याभाव इत्युक्तोत्तरमेतत् । किंचान्यत्रागुत्पत्तोः शशविषाणवद-  
भावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासंबन्धानुपपत्तिः । द्विनिष्ठत्वासंबन्धस्य । अयुतसिद्धा-  
नामदोष इति चेत् । न । भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तोः । भावभूतयोर्हि युतसिद्धता-  
युतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति  
सिद्धम् ।

‘किलक्षणेन मृत्युनाऽऽवृत्तमित्यत आह—अज्ञानाययाऽशितुमिच्छाऽज्ञानाया संव

कल्पांतरमनुवदति—अयेति । अनुमानफलं वदन्निघटस्य कारणात्मना ध्रुवत्ववचनेन समाहितमेत-  
दित्याह—उक्तोत्तरमिति । असत्कार्यभावे दोषान्तरमाह—किं चेति । स्यहेतुसंबन्धः सत्तासंबन्धो वा  
जन्मेति तार्किका । न च प्रागुत्पत्तेरसतः संबन्धस्तस्य सतोर्वृत्तेरित्यर्थः । युतसिद्धयो रज्जुघटयो-  
र्मिथ संयोगे पृथक्सिद्धिरपेक्षतेऽनुतसिद्धानां परस्परपरिहारेण प्रतीत्यनर्हतां कार्यकारणादीनां  
मिथोयोगे पृथक्सिद्धयभावो न दोषमावहतीति शङ्कते—अयुतेति । परिहरति—नेति । “उक्तमेव  
स्वीकृत्य—भावेति । व्यवहारहृष्टा कार्यकारणयोः साधितां तुच्छं व्यावृत्तिमुपसहरति—तस्मादिति ।

नैवेहेत्यत्र सर्वस्य प्रागुत्पत्तेरसत्त्वशङ्का मृत्युनेत्यादिवाक्यव्याख्यानेन निरस्ता । सप्रति  
मृत्युशब्दस्यापि तरे रुढत्वाच्च तेनाऽऽवरणं अगतं संभवतोत्पाक्षयति—किलक्षणेनेति । अनभित्यक्त-  
नामरूपसम्यक्साधयोग्यमप्यङ्गीकृतपञ्चमहाभूतावस्थातिरिक्तं “मायारूपं साभासं मृत्युरित्युच्यते । न  
हि सर्वं कार्यमवान्तरकारणादुत्पत्तमर्हतीत्यभिप्रेत्याऽह—अत आह्वेति । कथं यथोक्तो मृत्युरश-

जाय तो (अभावो की सत्ता कथन से अभावत्व का ही अभाव प्रतिपादनरूप) इसका उत्तर कह चुके हैं ।  
इसके अतिरिक्त खरगोश के सींग के समान अभावरूप घट का अपने कारण की सत्ता से सम्बन्ध होना,  
उत्पत्ति से पूर्व सिद्ध नहीं होता । क्योंकि सम्बन्ध तो दो में हो हो सकता है । अयुतसिद्ध पदार्थों में

- १ उक्तोत्तरमेतदिति—अत्र—“अणुभावस्तथावत्स इत्याद्यावासुदीरिता । अभावा अहकार्यत्वात् मद्रूपा  
स्पर्शदादिवत् ॥१॥ भावत्वस्याविशेषेऽपि यथा जलमूत्राभेदा । भावावातरभेदा स्तु प्रागभावादयस्तथा ॥२॥  
लोकप्रसिद्धिमुल्लङ्घ्य किं भावत्वदुपग्रहात् । कार्यं तवेति चेत्तेवा किं कार्यं वेदवह्नुने ॥३॥ अभावव्यवहारस्तु  
भावत्वेऽनुपपद्यते । भावान्तरमभावो हि कयाचित् व्यपेक्षया ॥४॥” इति वातिकसारांति —अत्र कयाचिद्व्य-  
पेक्षयति प्रतियोग्याद्यपेक्षेत्यर्थः । २ प्रागुत्पत्तेर्हि घटस्त्वन्मते शशविषाणवदभावभूत । ३ सतोरेवायुत-  
सिद्धत्वन । ४ सगदशनादितिभाव । ५ तस्मादिति कार्यसत्त्वे साधकमत्वात् असत्त्वे दोषस्योत्पत्त्याच्च ।  
६ ध्वमानन्तर्योपपत्तयाम् । ७ किलक्षणेनेति तत् किं स्वरूपमस्ति मृत्योर्यद् आवरणं भवेदपितु नास्त्येव तादृश  
रूपमित्याशयायं । ८ ब्रह्मात्मनेत्यर्थः । ९ कार्यस्य स्वरूपेण मृदादिना यत्र स्वस्मिन्सत्ताया वा अनित्यत्वम् ।  
१० न च कार्यस्याप्यन्तमत्त्वमावाप्तं शशशृङ्गसाम्यम् तस्य प्रामाण्योऽयन्तासतो विशेषातिदेशेति भाव ।  
११ युतसिद्धिः परस्परनिरपेक्षसिद्धित्ववत् । १२ आदिना गुणगुणिजातिव्यक्त्युपाध्यादिषह । १३ अनु-  
पपत्तिमेव । १४ व्यावहारिकसत्त्वम् । १५ मृती यमे चेत्यर्थः । १६ मायारूपम्—मूलकारणम् ।  
१७ सामासिकमिति—विदधिषष्ठानमित्यर्थः । अज्ञात ब्रह्मेति द्योनिषट्कार्थः । १८ मनु श्रुतो माध्वे च सूत्रवर्तु-  
नृद्विह्वनेति प्रतीयते मृत्यो सन्दर्शनमादिमत्त्वोन्नेतरोऽत्र मूत्र मृत्युत्पादितमित्याशङ्क्याह नहीति । १९  
अवातत्वात्प्रादिति—हिरण्यवर्णरूपादित्यर्थः । २० अर्हतीति—अतो मूलकारणमेवात्र मृत्युत्पादितमिति  
येष ।

मृत्योर्लक्षणं तथा लक्षितेन मृत्युनाऽज्ञानायया । कथमज्ञानायामृत्युरिति । उच्यते—  
अज्ञानायामृत्युः । हिंशब्देन प्रसिद्ध हेतुमवद्योतयति । यो ह्यशितुमिच्छति सोऽज्ञाना-  
यानन्तरमेव हन्ति जन्तून् । तेनासावज्ञानायया लक्ष्यते मृत्युरित्यज्ञानायाम् हीत्याह ।  
बुद्ध्यात्मनोऽज्ञानायाम् धर्म इति स एष बुद्धचवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते । तेन  
मृत्युनेद कार्यमावृतमासीत् । यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादयः आवृताः स्युरिति तद्वत् ।  
तन्मनोऽकुसुत । तदिति मनसो निर्देशः । स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमाणं कार्यसिद्धया तत्कार्या-

नायया लक्ष्यते । न हि मूलकारणस्याज्ञानायामिदमस्त्वम् । अज्ञानायामपिप्राप्ते प्राणस्येति स्थितेरिति  
शङ्कते—कथमिति । मूलकारणस्येव सूत्रत्वं प्राप्तस्य सर्वसहर्तृत्वान्मृत्युत्वे सति वाक्यशेषोपपत्तिरिति  
परिहरति—उच्यते इति । प्रसिद्धमेव प्रकटयति—यो हीति । तथाऽपि प्रसिद्धं मृत्युं हिवा कथं  
हिरण्यगर्भोपादानमत आह—बुद्ध्यात्मन इति । उक्तं हेतुं कृत्वा फलितमाह—इति स इति । ननु न तेन  
जगदाप्रियते मूलकारणेनैव तदावरणात्तत्त्वम् वाक्योपपन्नमोपपत्तिरत आह—तेनेति । ननु  
हिरण्यगर्भे प्रकृते कथं श्रुतिरन्यत्र प्रयोगस्तत्राऽह—तदिति मनस इति । वाक्यार्थमप्युना कथयति—

कोई दोष नहीं आता—ऐसा कहना उचित नहीं । भाव और अभाव का अयुतसिद्ध होना सिद्ध नहीं  
होता । भाव पदार्थ ही युतसिद्ध अथवा अयुतसिद्ध होते हैं, भाव और अभाव अथवा परस्परिक दो  
ष अभाव नहीं होते । निष्कर्ष यह है, कि उत्पत्ति से पूर्व बंध कार्य, रात ही है ।

यह किस स्वरूप वाली मृत्यु से आवृत था ? इस पर श्रुति कहती है—अज्ञानायामृत्युः ।  
अज्ञानायामृत्युः नाम कथं पडा—ज्ञान की इच्छा का नाम अज्ञानायामृत्युः है, वही लक्षणा के द्वारा मृत्यु का बोधक  
है, उससे लक्षित मृत्यु से अर्थात् अज्ञानायामृत्युः से (यह आवृत था) । अज्ञानायामृत्युः है—ऐसे कैसे कहते  
हो ? इस पर बतलाते हैं—क्योंकि अज्ञानायामृत्युः है । “हिं” शब्द से श्रुति प्रसिद्ध हेतु को प्रकट करती  
है । जो भी भोजन की इच्छा करता है, वह अज्ञानायामृत्युः के अनन्तर ही जीव होता करता है । इस  
(प्रसिद्ध हेतु) से “अज्ञानायामृत्युः” शब्द से मृत्यु लक्षित होती है, इसी से अज्ञानायामृत्युः ऐसा श्रुति  
कहती है ।

अज्ञानायामृत्युः समष्टि बुद्धि तादात्म्यापन्न सूत्रात्मा का धर्म है, अतः बुद्धि में स्थित वह सूत्रात्मा  
हिरण्यगर्भ ही मृत्यु कहा गया है । इसलिए मृत्यु से यह सब कार्य आवृत था । जिस प्रकार पिण्डावस्था-  
रूप मूर्त्तिका से घटादि आवृत है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ रूप मृत्यु से जगत् व्याप्त था । (इस प्रकार  
कार्य की प्रागवस्था बतलाकर उसकी उत्पत्ति प्रक्रिया कहते हैं—) यह मन बनाया । तत यह शब्द

- १ सक्षणम्—लक्षणमा बोधनम् । २ तेनेत्यादि—तेन प्रसिद्धन हेतुना अज्ञानायामृत्युः अज्ञानायामृत्युः
- लक्ष्यते इति युक्तमाह अज्ञानायामृत्युः । ३ बुद्ध्यात्मन इति समष्टिबुद्धितादात्म्यापन्नस्य सूत्रात्मन इत्यर्थः ।
- ४ इतीति यथोक्तसूत्रात्मनोऽज्ञानायामृत्युर्वत्त्वादित्यर्थः । ५ एव कार्यस्य प्रागवस्थायभिधाय तदुत्पत्तिप्रवार-
- माह तन्मन इति । ६ वार्येति विराडादीत्यर्थः । ७ यथोक्त मूलकारणाख्यः । ८ प्राणस्येति—हिरण्य-
- गर्भस्य समष्टिप्राणात्मनया ते समवत इति भावः । ९ स्थितेरिति—सिद्धान्तादित्यर्थः । १० सर्वसह-
- र्तृत्वादिति अध्यात्म वागादीनामधिदैव वाक्यादीना सर्वेषां सगर्भविद्योक्तानां सत्त्वं त्वेति । ११ वाक्य-
- शेषः—अज्ञानायामृत्युः इति । १२ तथापीति—एव हिरण्यगर्भस्य मृत्युत्वे सत्यपीत्यर्थः । १३ वाक्योपपन्ने
- मृत्युनेदमावृतमासीदित्युपपन्नवचनस्यार्थः ।

लोचनक्षमं मनःशब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्तःकरणमकुरुत कृतवान् । केनाभिप्रायेण मनोऽकरोदिति । उच्यते—आत्मन्य्यात्मवान्स्यां भवेयम् । अहमनेनाऽऽत्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः ।

स प्रजापतिरभिध्यक्तेन मनसा समनस्कः सन्नचंचंचयन्पूजयन्नात्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्यचरच्चरणमकरोत् । तस्य प्रजापतेरर्चतः पूजयत आपो रसात्मका पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्नाः । अत्राऽऽकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यं श्रुत्यन्तरं सा-मर्थ्याद्विकल्पासंभवाच्च सृष्टिक्रमस्य । अर्चते पूजा कुर्वते च मे मह्यं कमुदकमभूदित-

स प्रकृत इति । नृत्तसृष्टिपतिरेकेण भौतिकस्य मनसः सृष्टिरयुक्तेति मत्वा पृच्छति—केनेति । अयञ्चीकृतानां भूतानां हिरण्यगर्भदेहभूतानां प्रागेव सग्यात्मकत्वाद्देहोऽप्येव मनोव्यक्तिरचिरद्वेति मन्वानो भूते—उच्यत इति । स्वात्मवत्त्वस्य स्वाभाविकत्वात् तदाशसनीयमित्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—ग्रहमिति ।

मनसो व्यक्तस्योपयोगमाह—स प्रजापतिरिति । ननु तत्तिरीयकाणामाकाशादिसृष्टिरुच्यते तत्कथमिहापामावो सृष्टिवचनं तत्राऽऽह—अनेति । सप्तम्या हिरण्यगर्भकृतृकसर्पोक्तिः । त्रयाणां पञ्चीकृतानामिति यावत् । नन्वाकाशाद्या तत्तिरीये सृष्टिरिह स्वबाह्येऽनुदितानुदितहोमवद्विकल्पो भविष्यति नेत्याह—विकल्पेति । पुरुषतन्त्रत्वात्क्रियाया युक्तो विकल्पः सिद्धेऽर्थे तु पुरुषानधीने मासौ सम्भवत्यतः सृष्टिविवक्षिता चेदाकाशाद्यैव सा युक्ता विद्याप्रधानत्वात् नाऽऽदरः सृष्ट्यादिति भावः । अपामावो सृष्टिवचनमनुपयुक्तं । अष्टुस्ताभिरेव पूजा सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽभेदिकान्तेरर्कनामसिद्धयर्थं

मन का निर्देश करता है । इस प्रकृत मृत्यु ने आगे कहे जाने वाले विराडादि कार्य की सृष्टि करने की इच्छा से उस कार्य की आलोचना में समर्थ मनशब्दवाची संकल्पादि लक्षणों वाला अन्तःकरण बनाया । मन किसलिये बनाया ? इस पर कहते हैं—मैं आत्मन्वी या आत्मवान् होऊँ । अर्थात् मैं इस आत्मा से यानी मन से मनस्वी होऊँ, इसलिए मन बनाया—यह अभिप्राय है ।

उस प्रजापति ने अभिव्यक्त हुए मन से मनोयुक्त होकर प्रचन अर्थात् पूजा करते हुए अपने प्रति ही “मैं कृतार्थ हूँ इस प्रकार आचरण किया । उस प्रजापति की अर्चा अर्थात् पूजा करते हुए पूजा के अङ्गभूत द्वावात्मक जल उत्पन्न हुए । यहाँ (जल की उत्पत्ति) आकाशादि तीन महाभूतों की उत्पत्ति के पश्चात् हुई, ऐसा कहना चाहिए था क्योंकि दूसरी श्रुतियों में अन्यथा सिद्ध होता है एवं सृष्टि का विकल्प करना भी संभव नहीं है । मृत्यु ने ऐसा माना था—“अर्चनं यानी पूजा करते हुए

१ इत्यभिप्रायेण तमनोऽकुरुतेत्यर्थः । २ अभिप्रायस्तोऽपि नाशक्तस्य स्रष्टृत्वेत्याशङ्क्य मोक्षप्रित्यस्यार्थमाह—स प्रजापतिरिति । ३ अत्र सूत्रात्पन सृष्टिविषये दत्तोऽभौति स्वसामर्थ्यालोचनमेवाचनमित्याह—आत्मानमेवेति । ४ चरणमकरोदिति—इत्याकारकं शृष्टे स्वसामर्थ्यालोचनमभिप्रायचरणमकरोदित्यर्थः । ५ रसात्मिका द्वावात्मिका इत्यर्थः । ६ सामर्थ्यादिति—अन्यथानुपपत्तिरित्यर्थः । ७ इह वाजसनेयवे । ८ अत इति—सिद्धस्य सृष्टिक्रमस्य पुर्यात् नत्वादित्यर्थः । ९ समनन्तरं विराजः सगंस्य निर्देयमाणत्वात् सृष्टेर्विवक्षितत्वमुपेत्य अथा ग्रहणमुपलक्षणमित्युक्तम् । सम्प्रति संवाचित्वसिद्धा विद्यानिष्ठत्वादुपनिषदामित्याह—विद्याप्रधानत्वादिति । १० सृष्ट्यादिति—तथा च प्रतिवेदात् सृष्टिर्नानाविधेऽव्यक्ते, इति आतिशयवचनमत्रानुसमेयम् । ११ आरभमेधेनेति—अरभमेधाङ्गभूतत्यर्थः ।

१।१७ त] आपो वा अर्कस्तदाप्या<sup>१७</sup> शर आसीत्तत्समहृत्य ।

सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य  
तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥२॥

जल ही अर्क है, (क्योंकि अर्क नामक अग्नि का वह हेतु है) उन जलो का जो (घृतपिण्ड के समान) स्थूलभाग था, वह एकत्रित हो गया और यही पृथिवी हो गया, अर्थात् जल से ब्रह्माण्ड निष्पन्न हुआ । उसके उत्पन्न होने पर वह प्रजापति रूप मृत्यु थक गया, उस थके हुए प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत तेजोरस अग्नि निकल आया ॥२॥

येवममन्यत यस्मान्मृत्युस्तदेव<sup>१</sup> हेतोरर्कस्याग्नेरभ्येधकृतूपयोगिकस्यार्कत्वमर्कत्वे हेतुरित्यर्थः । अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत् । अर्चनात्सु<sup>२</sup> हेतुपूजाकरणोदत्तसंख्येयान्तेर-  
द्गौणं नामार्क इति । य एवं यथोक्तकर्मस्यार्कत्वं वेद जानाति । कमुदकं वा नामसामान्यात् । ह वा इत्यवधारणार्थो भवत्येवेति । अस्मा एवंविद<sup>३</sup> एवंविदर्थं भवति ॥१॥

आपो वा अर्कः । कः पुनरसावर्क इति । उच्यते—आपो वा या अर्चनाद्भूतास्ता तदुपयोगमुपन्यस्यति—अर्चत इति । कौऽसौ हेतुरित्यपेक्षायामर्चसिपदाव्यवस्था<sup>४</sup> कंशब्देन संगतिरिति मन्वानः सन्नाह—प्रकृत्यमिति । एवं मृत्योरर्कत्वेऽपि कथमग्नेरर्कत्वमित्याशङ्क्य मृत्युसंबन्धादित्याह—अग्नेरिति । किमर्थमग्नेरर्कनामनिर्वचनमित्याशङ्क्यापूर्वसंज्ञा<sup>५</sup> योगस्य कलान्तराभावादुपासनार्थमित्याह—अग्नेरिति । निर्वचनमेव स्फोरयति—अर्चनादिति । कलवत्त्वाच्च यथोक्तनामवतोऽग्नेरुपास्तिरत्र विवक्षितेत्याह—य एवमिति ॥१॥

अपामर्कत्वमभ्येधस्याग्नेरर्कत्वमिति शङ्कते—क पुनरिति । अकरण<sup>६</sup>माधित्य तासामर्कत्वमो-

मेरे लिए क अर्थात् जल हुआ है—इस हेतु से अर्क अर्थात् अश्वमेध याग में उपयोगी विराह अग्नि का अर्कत्व है अर्थात् यही उसके अर्कत्व में हेतु है । यह अग्नि के अर्क नाम का निर्वचन है । अर्चन से अर्थात् सुख की मूलभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि का यह अर्क नाम गौण है । जो इस प्रकार उपर्युक्त अर्क के अर्कत्व की उपासना करता है उसे “क” उदक अथवा सुख होता है । “क” यह जल और सुख का समानार्थक है । ‘ह’ ‘वा’ यह अवधारणार्थक अन्यर्थ हैं अर्थात् निदचय ही उसके लिए जल या सुख होता है । उसे “एव विद” यानी इस प्रकार जानने वाले (अर्कत्वगुण विशिष्ट रूप से उपासना करने वाले) के लिए (जल या सुख) होता है ॥१॥

१ तदेवेति—तस्मादेव यथोक्तमननादेवेत्यर्थः । २ अग्नेरिति—वक्ष्यमाणविराड् रूपस्याग्नेरित्यर्थः । ३ अर्चनात् सुखहेत्वम् सम्बन्धाच्चाकं नामा प्रजापतिरित्यर्थः । ४ सुखहेतुपूजाकरणमिति—अर्चनादित्यस्य विवरणमिदम् तथा चार्चनात्सुयोगिकत्वं अन्वयतस्त्वमेव पतस्त्वमेव नदीनामिति बोध्यम् । ५ दू० १।२।१ । ६ उपास्ते । ७ सुखम् । ८ एवंविद इति—अर्कगुणविशिष्टत्वेनोपासितुमित्यर्थः । ९ अवाद्भ्यः सनाशात्पृथ्वीद्वाराऽप्युत्पत्तिमाह—आपो वेति । १० अर्चसिपदाव्यवस्थ अरित्यस्य अर्चस्येन सङ्गति सम्बन्ध पदव्यवस्थार्थः । ११ सम्बन्धस्य । १२ आपो वाजं इति प्रवृत्त्युक्तौ श्रवणादित्यर्थः । १३ अग्ने-  
रेवाग्निप्रारणे प्राधान्यादिति भावः । तथा चाग्नेर्मृत्यु तदेतुत्वात्सर्वा गौणमर्कत्वम् ।

एवाकोऽग्नेरकंस्य हेतुत्वात् । अग्नौ 'वाग्निः प्रतिष्ठित इति । न पुनः साक्षादेवाकंस्ताः । तासामप्रकरणात् । अग्नेश्च' प्रकरणम् । वक्ष्यति 'चायमग्निरकं इति' । तत्तत्र यदपां शर इव शरो' दध्न इव 'मण्डभूतमासीत्तत्समहन्यत' संधातमापद्यत तेजसा बाह्यान्तःपच्यमानं लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपा शरः स समहन्यतेति सा पृथिव्यामवत्स संधातो येयं' पृथिवी साऽमवत् । ताभ्योऽद्व्योऽण्डममिनिर्वृत्तमित्यर्थः । तस्यां पृथिव्यामुत्पादितायां ॥ मृत्युः प्रजापतिरश्राम्यच्छम्युक्तो वसूय सर्वो हि लोकः' कार्यं कृत्वा श्राम्यति । प्रजापतेश्च

पञ्चारिकमित्युत्तरमाह—उच्यते इति । 'तास्वन्तर्हिरण्यमण्डं सबभूवेति श्रुतिमनुसरन्नुपचारे हेत्यन्तरमाह—अप्सु चति' । मुख्यमकंत्वमपां वारयति—न पुनरिति । ननु 'धृतिस्त्रिङ्गावयप्रकरणस्थानसमाध्याना समयाये पारदोषैस्त्वमर्थविप्रकर्षात्' इतित्यायात्प्रकरणावाचो वा अर्थ इति वाक्य चलचदित्याशङ्क्य वाक्यसहस्रत् प्रकरणमेव केवलवाक्याद्वलवदित्याशयवानाह—वक्ष्यति चेति । भूतान्तरसंहितास्वप्नु कारणभूतासु पृथिवीद्वारा 'पार्थिवोऽग्निः' प्रतिष्ठित इत्युक्तिमानी पृथिवीरूपं ताभ्यो वक्ष्यति—तदित्यादिना । अप्सु भूतान्तरसंहितासूत्रप्राप्त्यु सतिष्विति सप्तम्यर्थः । शर इव शर इत्युक्तमेव ध्याचष्टे—दध्न इवेति । संधाते सहकारिकारणमाह—तेजसेति । यत्तदिति पदे नर्पसकत्वेन श्रुते कथं तयो शरशब्देन कारणास्तोच्छूनत्ववाचिना 'पुंलिङ्गान्त्वयस्तत्राऽह—लिङ्गव्यत्ययेनेति । उक्तानुपपत्तिद्योतनार्थं वाशब्द । व्यत्ययेनान्वयमेवाभिनयति—योऽयामिति । वाक्यतात्पर्यमाह—ताभ्य इति । स्थूलप्रपञ्चारमकविराज सूक्ष्मप्रपञ्चारमकसूत्रादुत्पत्तिं वक्तुं 'धातनिकाभाह—तस्यामिति । उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धि-

(जल और पृथ्वी से अग्नि की उत्पत्ति होने कारण) जल ही अर्क है । वह अर्क क्या है ? इस पर कहते हैं—अग्नि में अर्क के हेतु होने से, पूजा का अङ्गभूत जल ही अर्क है । विराड् जल में अग्नि प्रतिष्ठित है । किन्तु उसका प्रकरण नहीं होने से, वह मासात् अर्क नहीं है । अग्नि के प्राकरणिक्त्व होने से 'पार्थिव अग्नि ही अर्क है' ऐसा भावे बतलायेंगे । वह उस जल का फेनरूपसारभूत के समान शर अर्थात् वही के सारभूत (घृतपिण्ड) के समान स्थूल भाग था, वह इकट्ठा हो गया । बाहर और भीतर के तेज से परिपक्व होकर कठिन हो गया । अथवा ("योऽपा शर") जो जल का शर है, इसमें लिङ्गव्यत्यय से, जो जल का स्थूल भाग था, वह एकत्रित हो गया ऐसा अर्थ होता है । वह पृथिवी हो गयी, सधात रूप प्रत्यक्षगोचर पृथिवी हो गयी । उस जल से विराड् शरीर उत्पन्न हुआ । उस पृथिवी के जलन होने से शर यह सूक्ष्म रूप अर्थात् 'श्राम्यत्' अर्थात् 'अभ्युक्त' हो गया । सभी लोग कार्य करके धन जाते हैं । प्रजापति का यह महान् कार्य है जो उसने पृथिवी की सृष्टि की ।

१ अग्निरिति—पार्थिवो विराड् रूपोऽग्निरित्येष स च पृथिवीद्वाराप्सु प्रतिष्ठित इत्ययं टीकोक्तयुतेरुपायत सङ्ग्रह इति बोध्यम् । २ अनेद्वेति—अनेद्वेष प्राकरणिक्त्वादित्यर्थः । ३ वृ० उ० १२७ । ४ शर-सार उच्छ्रुतीनि यावत् । ५ मण्डभूतमिति—फेनरूपम्—सारभूतमिति यावत् । ६ सपातमापद्यतेति—नटिनमभूदित्यर्थः । ७ येयम्—प्रत्यक्षगोचरम् । ८ अण्डमग्निर्वृत्तमिति—विराट् शरीरमभिनिष्पन्नमित्यर्थः । नानात्वं सूत्रात्मा स्वस्य स्थूलदेहमुक्तोरप्यो सृष्टवानिति रहस्यम् यत् स एव सूत्राभिमानो विराडभ्यपदेवो, नानात्वं—अनेकरूपः । ९ तास्वन्तरसंहितासु कारणभूतास्वप्नु अन्तर्हिरण्यमप्योतिर्ममम् अण्ड विराट् शरीरम् अन्त्याव्य सबभूवेत्यर्थः । १० तथा पारदोषैस्त्वामात्मकत्वमिति भावः । ११ विराट्—शरीरम् । १२ भूमिकायाम् ।

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं  
तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची  
दिक्शिरोऽसौ चासौ चेमौ । अथास्य प्रतीची दिक्पु-  
च्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोवीची च

उस प्रजापति ने अपने को तीन प्रकार से विभक्त किया, उसने (अग्नि और वायु की अपेक्षा)।  
आदित्य को तीन सव्याग्रो का पूरक बनाया । ऐसे ही वायु को तीसरा बनाया (घोर अग्नि को भी  
तीसरा बनाया) इस प्रकार यह प्राण (अग्नि वायु और आदित्य इन) तीन भागों में विभक्त हो गया ।  
उसकी पूर्वदिशा गिर है तथा ईशान्य और मान्मेयी विदिशाएँ जुड़ाएँ हैं । वैसे ही पश्चिमदिशा इसकी  
पुच्छ है और वायव्य तथा नैऋत्य विदिशाएँ जुड़ाएँ हैं । दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व भाग हैं,

तन्महत्कार्यं यत्पृथिवीसर्गः किं तस्य भ्रान्तस्येत्युच्यते—तस्य भ्रान्तस्य तप्तस्य खिन्नस्य  
तेजोरसस्तेज एव रसस्तेजोरसो रसः सारो निरवतंतं प्रजापतिशरीराभिधकान्त इत्यर्थः ।  
कोऽसौ निष्क्रान्तोऽग्निः सोऽण्डस्यान्तविराट्प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरणसंघातबाह्यातः ।  
“स च शरीरो प्रथमः” इति स्मरणात् ॥२॥

स च जातः प्रजापतिस्त्रेधा त्रिप्रकारमात्मानं स्वयमेव कार्यकरणसंघातं व्यकुरुत  
व्यभजदित्येतत् । कथं त्रेधेत्याह—आदित्यं तृतीयमग्निवायवपेक्षया त्रयाणां पूरणम-

मनुकूपयति—सर्वो हीति । इदानीं विराड्पत्तिमुपदिशति—किं तस्येत्यादिना । अग्निशब्दार्थं स्फुटयति  
—सोऽण्डस्येति । तस्य प्रथमशरीरित्वे मानमाह—स वा इति ॥२॥

विराजो ध्यानायमयच्छेदमेदमाह—स चेति । कोऽस्य त्रेधाभावस्य कर्तृति वीक्षायामाह—स्व-  
यमेवेति । कथमेकस्य त्रिधात्वमग्यया वा कथमेकत्वमित्याह—कथमिति । मृदो घटशरावाद्यनैकरूपत्व-

यकने पर प्रजापति को क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—। भ्रान्त होने के कारण ‘तप्तस्य’ अर्थात् खिन्न  
हुए प्रजापति का ‘तेजोरस’ यानी तेज ही जो रस है वह तेजोरस, रस सार का भी नाम है, वह  
सार ‘निरवतंतं’ अर्थात् प्रजापति के शरीर से बाहर निकल गया । बाहर क्या निकल गया? अग्नि बाहर  
निकला । वह जो इस अण्ड के भीतर ‘प्रथमज’ यानी सबसे पहले उत्पन्न कार्यकरणसंघाताभिमानो विरा-  
ट्शब्दित अण्डाभिमानो आत्मा प्रजापति (चतुर्मुख ब्रह्मा नाम वाला) उत्पन्न हुआ । “वही विराट्मावा-  
पस शरीरो प्रथम हुआ” ऐसा स्मृति भी कहती है ।

१. भ्रान्तस्येति—हेतुमर्षमिदं विशेषणम् भ्रान्तत्वात्तप्तस्येत्यर्थः । २. विराडित्यादि—विराट्शब्दतात्पर्याभिमा-  
न्यात्मेत्यर्थः स च प्रजापतिप्रथमजवर्तुमुत्पन्नहोत्येवमादिनामन इत्यर्थः । ३. सङ्घातवानिति—सङ्घाताभिमानो-  
त्यर्थः । ४. स वा इत्यादि स्मृतौ स च पुरुष उच्यते । जादिकर्ता स भूतानां ब्रह्माद्ये समवर्ततेति ॥ शेषचर-  
णानि अत्र तत्तच्छब्दप्रेषेण भूतानाम् परामुच्यते—स एव विराट्मावापस शरीरीत्युच्यते भूतानाम्—व्यष्टिनाम्य-  
णाम् अपरे—व्यष्टिमुष्टे । ५. प्रजापति—विराट्प्रेषणोत्पन्नो हिरण्यवर्गः । ६. स्वयमेव—हिरण्यवर्गं एवे-  
त्यर्थः । ७. विराट्प्रेषणोत्पन्नो हिरण्यवर्गः । ८. अवच्छेदमेदम् उपाधिनिषेधम् अभासानुपात्यत्वम् ।  
९. अग्नयेति—त्रिविधत्वाम्युपगम इत्यर्थः ।

पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽस्तु  
प्रतिष्ठितो यत्र क्वचन्ति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं  
विद्वान् ॥३॥

द्युलोक पृष्ठ भाग है, अन्तरिक्ष उदर है और (अधोभाग में समानता होने के कारण) यह पृथिवी  
हृदय है। यह लोकादि स्वरूप प्रजापति अग्नि जल में स्थित है, इसे इस प्रकार अग्नि का जल में  
स्थित होना जानने वाला पुरुष वहाँ कही जाता है, वहाँ ही प्रतिष्ठित होता है ॥३॥

कुहतेत्यनुवर्तते । तथाऽग्न्यादित्यापेक्षया वायुं तृतीयम् । तथा वाय्वादित्यापेक्षयाऽग्निं  
तृतीयमिति द्रष्टव्यम् । सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे । स एष प्राणः  
सर्वभूतानामात्माऽप्यग्निवाय्वादित्यरूपेण विशेषतः स्वेनैव मृत्वात्मना श्रेया विहितो  
यिमक्तो न विराट्स्वरूपोपमर्दनेन । तस्यास्य प्रथमजस्याग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्याकस्य  
विराजश्चित्यात्मकस्याश्वस्येव दर्शनमुच्यते । सर्वा हि पूर्वोक्तोत्पत्तिरस्य स्तुत्यर्थे  
वोचाम—इत्यमसौ शुद्धजन्मेति । तस्य प्राची दिविशरो विशिष्टत्वसामान्यात् । अतो

षट्त्रिंशो बहुरूपत्वं साधयति—प्राहेत्यादिना । कथमग्निं तृतीयमित्यधुतं कल्प्यते तत्राऽऽह—सामर्थ्य-  
स्येति । वाय्वादित्ययोर्विवाग्नेरपि संख्यापूरणत्वात्तेरविशिष्टत्वाद्भिन्नं तृतीयमकुहतेत्युपसंख्यायते स  
श्रेयाऽऽमानमिति बोधकमादित्यर्थः । ननु किमयं श्रेयाभावो विराट्स्वरूपोपमर्दने क्रियते न हि स  
तस्मिन्सत्येव युक्तो विरोधादत आह—स एष इति । यथा तत्त्ववस्थानुपमर्दनेन भूलकारणात्पदो जायते  
तथा सर्वेषां भूतानां प्राणतया साधारणोऽप्ययं स्वेनैव स्थितश्चेन्नानुपमर्दनेन मृत्युरूपेण श्रेयाविभागस्य कर्ता ।  
न चैकस्य बहुरूपत्वविरोधो मायादिवदुपपत्तेरित्यर्थः । तस्य प्राचीत्यादेस्तत्पर्यमाह—तस्येति । उक्ता-  
नि विशेषणानि प्रकरणाविच्छेदाद्यंमनूयन्ते । अग्निविषयं दर्शनमिदानीमुच्यते चेन्नैवेहेत्यादि “पूर्वोक्त-

(विराट् रूप से उत्पन्न) हिरण्यगर्भ ने अपने की कार्यकरण सघात रूप से ‘श्रेया’ यानी तीन  
प्रकार से ‘व्यकुहत्’ यानी विभक्त किया। कैसे तीन प्रकार से किया ? इस पर कहते हैं—उसने  
अग्नि और वायु की अपेक्षा आदित्य को तीसरा बनाया। तीन का पूरक किया; ऐसी प्रवृत्ति होती  
है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्य की अपेक्षा वायु तृतीय है। तथा वायु और आदित्य की अपेक्षा  
अग्नि तृतीय है—ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि सख्या के पूरक के रूप में तीनों की सामर्थ्य, समान  
है। (उपासक प्रत्यक्षता रूप से) वह यह प्राण सब प्राणियों का आत्मा होता हुआ भी, अग्नि, वायु और  
आदित्य रूप से, विशेषतः अपने मूल्यस्वरूप से, न कि विराट्स्वरूप का लय करके, तीन प्रकार का

१ सामर्थ्यस्येति—इत्यपि सामर्थ्यं पदार्थान्तेष्वन्यत्रेतत्त्रितय एवैतदुपासनस्य दृष्टतद्वादिहापि तथेति श्येयम् ।

२ स एष इति—अपञ्चीकृतदारीरित्वेनाप्यसायोग्यतया ॥ इति उपासकप्रत्यक्षतया चैव इति निर्देष्ट ।

३ चित्यात्मकस्येति—उपास्यत्वेत्यर्थः । ४. विशिष्टत्वसामान्यादिति—बहुधा मुनेः दिशा च प्राच्या उत्कृष्ट-  
तुल्यत्वादित्यर्थः । ५. विराज इति—विराट्भावमापन्नस्य हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः । ६. उपसंख्यायत इति

कल्प्यत इत्यर्थः । ७. स श्रेयाभावः । ८. तस्मिन्—विराट्स्वरूपे । ९. प्रकरणविच्छेदाद्यमित्येव प्रकर-  
णमिदं तत् आरम्भं ननु भिन्नमिति बोधयितुमित्यर्थः । १०. अग्निविषयम् विराट्विषयमित्यर्थः । ११.

पूर्वोक्तमिति—“मृत्युर्नैवेदमायुतमासीदित्यादीत्यर्थः” ।

चासौ चैशान्याग्नेध्यावीमौ बाहू । ईरयतेर्गतिकर्मणः । अथास्याग्नेः प्रतीची दिवपुच्छं जघन्यो भागः । प्राङ्मुखस्य प्रत्यग्दिकसंबन्धात् । असौ चासौ च वायव्यनेत्रं त्यौ सक्थ्यौ सक्थिनौ पृष्ठकोणत्वसामान्यात् । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे उभयदिवसंबन्धसामान्यात् । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमिति पूर्ववत् । इयमुरः । अधोभागत्वसामान्यात् । स एषोऽग्निः प्रजापतिरूपो लोकाद्यात्मकोऽग्निरप्सु प्रतिष्ठितः । “एवमिमे लोका अप्सवन्तः” इति श्रुतेः । यत्र वक्ष्ये यस्मिन्कास्मिन्निश्चिदेति गच्छति तदेव तत्रैव प्रतिष्ठित इति स्थितिः लभते ।

“अनर्थकमित्वाशङ्क्याऽऽह—सर्वा हीति । स्तुतिमेवाभिनयति—इत्यमिति । ‘कर्मज्ञस्याग्नेः संकर्तव्यत्वाच्चित्वाग्निशिरसि प्राचोऽष्टि कर्तव्येत्याह—तस्येति । आरौपे सादृश्यमाह—विशिष्टत्वेति । शिरसोऽन्तरभावित्वात्तद्वाहो रैशान्यादिदृष्टिमाह—असौ चेति । कथमेवंशब्दो बाहुवाचीत्याशङ्क्य सत्पुपसिमाह—ईरयतेरिति । गत्यर्थयोगावीमंशब्दो बाहुमधिकरोतीत्यर्थः । तस्युच्छादिविपु प्रतीच्यादिदृष्टोरप्यस्यति—अयेत्यादिता । चित्तव्यस्याग्नेः शिरसि बाह्वो प्राच्यादिदृष्टिकरणान्तरमित्यर्थः । सक्थिपदं पृष्ठनिष्ठोन्नतास्थिहृदयविषयम् । उभयशब्देन प्राचीप्रतीचीद्वयं गृह्यते । उरति पृथिवीदृष्टिमाह—इयमिति । उपास्यमग्निमुक्तमनुवदति—स एष इति । तस्योपासनार्थमेवाप्सु प्रतिष्ठितत्वं गुणमुपदिशति—अग्निरिति । भूतान्तरसंहितानामपि सर्वलोककारणत्वाद्देशेपलोकान्मकोऽग्निस्तत्र प्रतिष्ठितः संबन्धीत्यन श्रुत्यन्तर संवादयति—एवमिति । यन्तेषु लोकेषु सर्वं कार्यं प्रतिष्ठितं तथेति

हो गया । उस प्रथम उत्पन्न इस अग्नि की, अश्वमेधयाग उपयोगी अर्क की, चित्वात्मक उपास्य विराड् की, अश्व के समान दृष्टि कही जाती है । इसकी उत्पत्ति जो पूर्व में कही गयी वह सब स्तुति के लिए है—यह कह चुके हैं । इस प्रकार यह शुद्ध जन्मा है—ऐसी स्तुति करते हैं । उत्कृष्टता रूप विशिष्टता में समान होने के कारण पूर्व दिशा उसका शिर है । ‘असौ चासौ’ अर्थात् ईशान और आग्नेय विदिशाएँ ‘ईमौ’ अर्थात् भुजाएँ हैं । (ईमं नाम कयो पडा ?) ‘ईरयते’ जाता है । गत्यर्थक ईरधातु से ईमं सिद्ध हुआ । और पश्चिम दिशा इस अग्नि की पुच्छ है, अर्थात् निम्न भाग है, क्योंकि पूर्व दिशा की ओर मुख करने से पश्चिम दिशा में पुच्छ का सम्बन्ध है । पृष्ठ भाग के कोण से समानधर्मी होने के कारण ‘असौ चासौ’ अर्थात् वायव्य और नेत्रं त्य उसकी जह्वाएँ हैं । दोनों दिशाओं में पार्श्व भागों की समानता होने के कारण दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं । उन्नतत्व साम्य से द्यौलोक पीठ है एवं सुषिरत्व साम्य से अन्तरिक्ष उदर है—ऐसा पहले कह चुके हैं । अधोभागत्व में समानता होने के कारण यह पृथिवी उसका हृदय है । प्रजापति देवतास्वरूप लोकादिस्वरूप वह यह अग्नि जल

- १ बाहू इति अत्र पार्श्वोदिकसम्बन्धसामान्यादिनि हेतुवाक्य पूरणीयम् । अनयोर्बाह्वो पार्श्वसम्बन्धो यथा तयाऽनयोरेपि दिशो पार्श्वत्वेन वरपरमानवलिप्तोत्पत्तिमागम्य समान इति तदर्थः । २ प्रत्यगित्यादि—प्रत्यग्दिकसंबन्धप्राधान्यत्वसामान्यादित्यर्थः सम्बन्धस्य द्विष्टत्वादिति । ३ उपरतत्वमाग्यात् । ४ अन्तरिक्ष पूर्ववदिति—सुषिरत्वसामान्यादित्यर्थः । ५ प्रजेट्यादि—प्रजापतित्वादित्येतात्पर्यम् । लोचरूप । आदिता वाक्स्वरूपश्च बोध्यः । ६ अप्सु प्रतिष्ठित इति—अप्सु भूतान्तरसंहितासु कारणभूतासु सूत्ररूपास्त्विति बोध्यम् । “पस्मात्प्राकरणमुत्पन्नं कार्यं नाश्रय्य वर्तते । अप्सु कारणभूतासु तस्मादग्निं प्रतिष्ठितं” इति वार्तिकोक्तः । ७ अनर्थकमिति—उपासनान्वेषकवाक्ययुक्तत्वादिति भावः प्रवरणस्य चैतस्योपासननिष्ठत्वादिति ध्येयम् । ८ जघन्याङ्गेषु । ९ अग्नेत्यादिसूत्ररूपाणामित्यपि बाधव्यम् ।



सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा  
वाचं मिथुन<sup>१७</sup> समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स  
संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः सवत्सर आस

उस मृत्यु ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो (जिसमें मैं शरीर धारी हो जाऊँ), इसीलिये उस क्षुधा में उपलक्षित मृत्यु ने मन के द्वारा वेदव्यापी की आलोचना की अर्थात् वेदविहित सृष्टिक्रम वा मन से विचार किया। उससे जो वीर्य हुआ, वह सवत्सर बन गया, इससे पूर्व सवत्सर नहीं था। उस सवत्सर काल निर्माता गर्भस्थ प्रजापति की मृत्युरूप प्रजापति उठने समय तक गर्भ में

कोऽसत्त्वेवं ययोक्तमप्सु प्रतिष्ठितस्त्वमग्नेर्विद्वान्विजा नन्मु'एफलमेतत् ॥३॥

सोऽकामयत योऽसौ मृत्युः सोऽबाविक्रमेणाऽऽत्मनाऽऽत्मानमण्डस्यान्तः कार्यं करण-  
संघातवन्तं विराजमग्निमसृजत त्रेधा चाऽऽत्मानमकुक्षेत्युत्स । स किंचिद्यापारः सन्न-

यावत् । लोकशब्देन स्थूलाना भूताना संनिवेशविशेषा गृह्यन्ते । अप्सु भूतान्तरसंहितासु कारणभूतास्ति-  
षति यावत् । फलभूति व्याचष्टे—यत्रेति । अयोपास्तिफलमप पुनर्मृत्युं जयतीत्यादिना<sup>१८</sup> वक्ष्यते ।  
किमिदमस्थाने फलसकृतेनमत आह—गुणेति ॥३॥

उत्तरप्रथमवचनार्थं तस्य पूर्ववर्ण्येन 'समन्व' वक्तुं युक्त कीर्तयति—सोऽकामयतेत्यादिना । अथा-  
न्तरव्यापारमन्तरेण कर्तुं स्थानुपपत्तिरिति मत्वा पृच्छति—स किं व्यापार इति । कामनाविरूपमवान्तर-  
व्यापारमुत्तरवाक्यावपृच्छेन दर्शयति—उच्यते इति । कामनाकार्यं मनःसंयोगमुपन्यस्यति—स एवमिति ।

मे प्रतिष्ठित है। धृति कहती है—“यह सब लोक जल के अन्तर्गत हैं—” वह जहाँ कहीं जिस किसी जगह 'एति' अर्थात् जाता है 'तदेव प्रतिष्ठित' अर्थात् स्थिति लाभ करता है। वह कौन है? जो इस प्रकार उपर्युक्त अग्नि की जल में प्रतिष्ठितरूप गुण से उपासना करता है। यह गुण मात्र की उपासना का फल है (गुणी की उपासना का फल नहीं है) ॥३॥

उसने कामना की। यह जो मृत्यु था उसने अपने से अपने आप को ही ब्रह्माण्ड के अन्तर कार्यकरण संघातात्मक विराट् अग्नि को रक्षा और अपने को तीन भागों में विभक्त किया—ऐसा कहा जा चुका। उसने किस क्रिया से इसकी सृष्टि की? इस पर कहते हैं—उस मृत्यु ने 'अकामयत'

१ गुणनिरर्थक । २ उपासीन । ३ गुणेति-गुणभावोपास्तिसफल ननु गुणुपास्तेरित्यर्थः । ४ नृ १२७

५ सन्न-अमिति—उत्थाप्योत्पापकाभाववत् समन्वयमित्यर्थः, तत्र पूर्वोक्तप्रथम उत्थापक उत्तरवचनस्याप्य इति ध्येयम् ॥ ६ समन्वयमिति—अत्रोद्भाष्य समन्वयान्तरमपि वार्तिक उक्तम् तथाहि 'अनुसर्गोऽप्येवोक्तः प्राग्वत्सर्गोऽप्युच्यते । अशनायावती यस्याप्राप्त्यब्रविद्वात्स्थितिः ॥' अस्याप्य—तेजोरसो निरवर्तताग्निरित्यत्रानु सर्ग उक्त अग्ने सर्वभक्षकत्वात् सम्प्रत्यक्षमगं उच्यते इति साधीयसी सङ्गतिरित्यर्थः । किमर्थमग्नसंयवनमस्यानङ्ग-  
माह—अशनायावत् इति । अत्र हि विराज सृष्टि स्पष्टीक्रियते, 'अन्न विराडिति' च श्रुत बनीयोऽन करिष्य' इति च वक्ष्यते ततोऽप्ययं समन्वयो युक्त इति भावः । वार्तिकान्तरम्—'त्रेधा व्यध्वजस्तत्मानमित्यतश्चा प्रदर्शयते । अग्निप्राणी पुरवोक्तव्यं सर्वसरोद्भूत ॥' समन्वयान्तरमाह चेमेति । ननु आदित्य तृतीयमित्यादिना प्रयोग प्रजापतेर्वेधामश्वनुक्त सत्त्व सद्गुतर्धमभुनत्वाव तत्राह—अग्निप्राणाविति । निरवर्तताग्निरित्यग्निरसो याम् तृतीयमिति वायु । यद्यप्यादित्य तृतीयमित्यादिष्वोऽप्युत्तरनवापि तस्य सर्वशरीरतमनो अग्नोवत्पथमुत्तरा श्रुति-  
रित्यर्थः । अत्राग्निप्राणाविति प्राग्वत्सन्नेन वायुविवक्ष्यते इति बोध्यम् ।

तमेतावन्तं कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः  
कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्यादवात्स  
भाणकरोत्संव वागभवत् ॥४॥

धारण किये रहा जितना संवत्सर का परिणाम होता है । इतने समय के बाद उससे उसकी सृष्टि की  
अर्थात् उस अण्ड को फोड़ दिया । उस उत्पन्न हुए प्रथम शरीरी कुमार अग्नि के प्रति भक्षण के लिये  
मुख फाड़ा, स्वाभाविक अविद्या से युक्त होने के कारण उसने डरकर 'भाण' ऐसा शब्द किया, वही वाक्  
(शब्द) हुआ ॥४॥

सृजतेति । उच्यते—स मृत्युरकामयत कामितवान् । किम् । द्वितीयो मे ममाऽऽत्मा  
शरीरं येनाहं शरीरी स्या स जायेतोत्पद्येतेत्येवमेतदकामयत । स एवं कामयित्वा  
मनसा पूर्वोत्पन्नेन वाच त्रयीलक्षणां मिथुनं द्वन्द्वभावं समभवत्संभवनं कृतवान्मनसा  
त्रयीमालोचितयास्त्रयीविहितं सृष्टिधर्मं मनसाज्वालोलोचयदिरदर्थः । कोऽज्ञाद्विज्ञादया  
लक्षितो मृत्युः । अज्ञानाया मृत्युरित्युक्तम् । तमेव परामृशत्यन्यत्र प्रसङ्गो मा भूविति ।  
तत्तत्र रेत आसीत् । तत्तत्र 'मिथुने यद्रेत आसीत्प्रथमशरीरिरणः प्रजापतेरत्पत्नौ कारणं  
रेतो बीजं 'ज्ञानकर्मरूपं त्रय्यालोचनायां यद्दृष्टवानासीज्जन्मान्तर'कृतम् । तद्भावं भावि-

कोऽप्य मनसा सह वाचो द्वन्द्वभावस्तत्राऽह—मनसेति । वाक्यार्थमेव स्फुटयति—त्रयीविहितमिति ।  
वेदोक्तसृष्टिक्रमालोचनं प्रजापतेर्नैव प्रथमं संसारस्यानादित्वादिति वस्तुमनुशब्दः । 'सोऽकामयत' इत्यादौ  
संबन्धोऽप्यवहितविराडाव्ययवाक्यमाशङ्क्य परिहरति—कोऽज्ञादित्यादिना । कथं तया मृत्युसंशयते  
तत्राऽह—अज्ञानयेति । किमिति तर्हि पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽह—तमेवेति । अन्यत्रानन्तरप्रकृते विरा-  
डात्मनोति यावत् । अवान्तरव्यापारान्तरमाह—तदित्यादिना । प्रसिद्धं रेतो व्यावर्तयति—ज्ञानेति ।  
ननु प्रजापतेर्न ज्ञान कर्म वा सम्भवति तत्रानधिकारावित्याशङ्क्याऽहोदित्यस्यार्थमाह—जन्मान्तरेति ।  
वाक्यस्यापेक्षितं पूरयित्वा वाक्यान्तरमादाय व्याकरोति—तद्भावेत्यादिना ।

अर्थात् चाह । क्या चाह ? मेरा दूसरा 'आत्मा' यानी शरीर होवे, जिससे मैं बृहदारी होऊँ । वह  
'जायेत' अर्थात् पैदा होवे, ऐसा उसने चाहा । ऐसी इच्छा करके उसने पूर्वोत्पन्न मन से (वेदोक्त  
सृष्टिधर्म मे) आलोच्य-आलोचक भाव रूप 'मिथुनम्' यानी द्वन्द्व भाव से त्रयीलक्षणा रूपा वाणी की  
'समभवत्' यानी सभावना अर्थात् मन से वेदत्रयी की आलोचना की, वेदत्रयी-प्रतिपाद्य सृष्टिधर्म की  
मन से आलोचना की—ऐसा तात्पर्य है । वह वीन था ? अज्ञानाया के द्वारा सक्षित मृत्यु । अज्ञानाया  
मृत्यु है, ऐसा कह चुके हैं । उमी को यहाँ कहते हैं, ताकि अन्यत्र प्रसंग न हो जाय । 'तच्चरेत आसीत्'

- १ सूत्रम् । २ वेदोक्तसृष्टिधर्ममिति यावत् । ३ द्वन्द्वभावमिति—द्वन्द्वभावश्चात्राऽध्यात्मप्रवर्णनं आलाच्यासीच-  
रयो सम्बन्धो विषयविषयिकाख्यो न तु स्त्रीपुंसयोष्यतिक्रमाऽस्तुतत्वात् तत्रालोच्यो वदानं सृष्टिधर्म आलोचन-  
मु मन शब्दितमन्त वरणमिति व्ययम् । ४ प्रतिपाद्यम् । ५ मिथुने इति—मनसा त्रय्यालोचनं कृतं मतीत्यर्थः ।  
६ ज्ञानकर्मरूपमिति—ज्ञानमुपायन कर्म—उपायनसमुच्चितम् तयोर्भावना चेतनितयात्मवमित्यर्थः । ७ जन्मा-  
न्तरकृतमिति—पूर्ववत्पुनर्यजमानावस्थानाजितम् जनतत्त्वत्वाद्यो च पलायनस्य तत्प्राप्तमित्यर्थः ।  
८ तद्भावं भावित इति—आविर्भूतमानादिनष्टनृत्न इत्यर्थः ।

तोऽपः' सृष्ट्वा तेन रेतसा-बीजेना'प्स्वनुप्रविश्याण्डरूपेण गर्भोभूतः स संवत्सरोऽभव-  
त्संवत्सस्कालनिर्माता संवत्सरः 'प्रजापतिरभवत् ।

'न ह पुरा पूर्वं ततस्तस्मात्संवत्सरकालनिर्मातुः प्रजापतेः संवत्सरः कालो नाम  
नाऽऽप्त न बभूव ह । तं संवत्सरकालनिर्मातारमन्तर्गभं प्रजापतिं यावानिह प्रसिद्धः काल  
एतावन्तमेतावत्संवत्सरपरिमाणं कालमविमर्शतवान्मृत्युः' । यावान्संवत्सर इह प्रसिद्ध-  
स्ततः परस्तादिक कृतवान् । तमेतावतः कालस्य संवत्सरमात्रस्य परस्तादूर्ध्वमसृजत  
सृष्टवानण्डमभिनदित्यर्थः । तमेवं कुमारं जातमग्निं प्रथमशरीरिरणमशनायावत्स्वान्मृत्युर-

ननु संवत्सरस्य प्रागेव सिद्धत्वाच्च प्रजापतेस्तन्निर्माणेन तदात्मत्वमित्याशङ्क्योत्तरं वाक्यमुपा-  
दत्ते-न ह पुरेति । तद्व्याख्ये-पूर्वमिति । प्रजापतेरादित्यात्मकत्वात्सवधोतत्वाच्च संवत्सरव्यवहारस्-  
याऽऽदित्यात्पूर्वं तद्व्यवहारो नाऽऽसीद्वैवेत्यर्थः । कियत्सं कालमण्डरूपेण गर्भो बभूवेत्यपेक्षायामाह-तमि-  
त्यादिना । अवान्तरव्यापारमनेकविधमभिधाय विराडुत्पत्तिमाकाङ्क्षाद्वारोपसंहरति-यावानित्या-  
दिना । किं पूर्वमेव गर्भतया विद्यमानस्य विराजः सृष्टिस्तत्राऽऽह-अण्डमिति । विराडुत्पत्तिमुक्तवा  
'शब्दमात्रस्य सृष्टिं विवक्षुर्भूमिकां करोति-तमेवमिति । अयोग्येऽपि पुत्रभक्षणे प्रवर्तकं दर्शयति-अश-

अर्थात् उस मन से (त्रयी आलोचन रूप) मिथून मे वह जो रेतस् हुआ, प्रथम शरीरी प्रजापति से  
उत्पत्ति मे हेतुभूत जो बीज रूप रेतस हुआ अर्थात् वेदत्रयी की आलोचना करने पर उसने जो  
जन्मान्तरकृत उपामना कर्म रूप बीज देखा । उस बीज रूप से आविर्भूत ज्ञानादि मे सहकृत (पञ्ची-  
कृतभूत) जल की सृष्टि कर, उस रेतस् रूप बीज के द्वारा जल मे प्रविष्ट होकर, ब्रह्माण्ड रूप से  
गर्भस्थ हो, वह सवत्सर हुआ । अर्थात् वह सवत्सर रूप काल का निर्माता आदित्यात्मक सवत्सर  
प्रजापति हुआ ।

उस सवत्सर रूप काल के निर्माता प्रजापति से पूर्व आदित्यात्मक सवत्सर नाम  
(आदित्य के उदय के आधीन होने के कारण) काल नहीं था । उस सवत्सर काल के निर्माता अन्तर्गभं

१ अप सृष्टेति पञ्चीकृतभूतान्मुत्पाद्येत्यर्थः । २ अस्मिन्-सृष्टेः प्रवृत्तिरिति-  
आदित्यात्मक सवत्सरोऽभवदित्यर्थः । आदित्यसवत्सरयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावोद्भेद इति बोध्यम् । ३ बभूव  
हेति हेति प्रसिद्धो न हि ततः पूर्वं सवत्सरो नाम आदित्योदयाधीनत्वात्सृष्ट्यवस्थेतिभावः । ४ मृतवान्मृत्यु-  
रिति-मृत्युरेव स्वयं गर्भोभूत आसीदित्यर्थः । ५ तमिति विराजमादित्यमित्यर्थः । ६ अगनायावत्त्वादिति-  
तथा च वाग्वि- "अगनायादियत्त्वात् स्वभावबलचादित । सृष्ट्वाच घस्मरः पुत्र तमभिध्वादाश्लुषा ॥  
भिनन्ति सर्वमर्यादा नान्वावाप्यपेक्षते ।" इति मृत्युर्हि घसनघोलस्तेनैव हिवास्वभावेन चोदित क्षुत्पिपासायुत्-  
त्वाज्ज्येष्ठ पुत्र सृष्ट्वा तमनुभविमुन्मत्तेन मुच विदारितवानित्यर्थः । पुत्रमनु प्रवृत्तस्य स्वपट्टमर्यादाभङ्ग स्यादि-  
त्यत आह क्षुपेति । अगनायावत्पदुनो मर्यादा भिन्दानोऽपि स्व पर च दृष्ट्वेवासाने प्रवर्तत इत्याशङ्क्याह नान्वये-  
ति आदिनाऽभोग्यादित् स्ते मर्यादाभेतुल्यवदित्येपर्यं । न चाविवेकिनामेव प्रवृत्तावपि न विवेकिमुद्राभिवृत्तस्य  
प्राणस्येदानीं प्रवृत्तिर्गतेति वाच्यम् व्यवहारदशाया विवेकिनामपि पदवादिभिरविशेषात् । "अस्य दशोदरशार्थं  
को न दुर्यादशम्प्रतम्" इति तैरेनोक्ते क्षुत्पिपासाधीनतः पुत्रमपि भक्षयति न पुनरन्यत्र करोतीति न्याय प्रदर्श-  
नित् प्राणस्य मृत्यो स्वपुत्रभक्षणे प्रवृत्तिरिति भावः । ८, मिद्वान्ने सत्यार्थवादाभ्युपगमात्सृष्टति नेयमिति ।  
९ शब्दमात्रस्येति-यावदभिधानस्येत्यर्थः ।

स ऐक्षत यदि वा इममभिम<sup>१</sup>स्ये कनीयोऽन्नं करिष्य  
इति स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेद<sup>२</sup>सर्वमसृजत यदिदं  
किंचर्चो यजू<sup>३</sup>षि सामानि छन्दा<sup>४</sup>सि यज्ञान्प्रजाः

उस मृत्यु ने विचार किया, यदि मैं इस कुमार को मार डालूँगा तो मैं यह बहुत ही थोड़ा भोजन करूँगा । अतः उसने उस वाणी और उस मन के द्वारा इन सबकी सृष्टि की जो कुछ भी ये ऋक यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा तथा पशु है—(इन सभी को बनाया) । उसने जिस-जिस वस्तु की

निष्पादनामुल्लविदारणं कृतवानत्तुम् । 'स च कुमारो भीतः स्वाभाविकयाऽविद्यया' युक्तो  
भाणित्येवं शब्दमकरोत् । सैव चागमवद्वाक्यशब्दोऽभवत् ॥४॥

'स ऐक्षत स एवं भीतं कृतरचं कुमारं दृष्ट्वा मृत्युरैक्षतेक्षितवान् । 'अशनायाधानपि  
यदि कदाचिद्वा 'इमं कुमारमभिमंस्ये । अभिपूर्वो मन्यतिहिंसार्थं । हिंसिष्य इत्यर्थः ।

नायावत्वादिति । विराजो भयकारणमाह—स्वाभाविकयेति । इन्द्रिय देवता च व्यावर्तयति—वाक्यशब्द  
इति ॥४॥

इदानीमृणामिष्टुष्टिमुपदेष्टुं पातनिकां करोति—स इत्यादिना । ईक्षणप्रतिबन्धकसङ्काश दश-  
यति—अशनायाधानपीति । अभिपूर्वो मन्यतिरिति । उक्तोऽस्य पञ्चनभिमन्येत नास्य खद पञ्चनभिमन्यत

प्रजापति को एक सवत्सर व्यापी काल तक, जो कि प्रसिद्ध है, मृत्यु ने धारण किया । 'अर्थात् मृत्यु  
स्वयं गर्भीभूत हुई ।) सवत्सर पर्वन्त जितना कि प्रसिद्ध है, रखा, तब बाद में क्या किया ? विराट्  
आदित्य को सवत्सरमात्र काल के पश्चात् उसने ऊपर सृजन किया अर्थात् आण्डे को विदारण कर  
दिया । उससे प्रथम शरीरी अग्नि बालक हुआ, भूमी मृत्यु ने उसे खाने के लिए मुँह काटा । स्वा-  
भाविकी अविद्या से युक्त डरे हुए उस बालक ने "भाणु" ऐसे शब्द किया । वही वाक् हुआ, वाक्  
अर्थात् शब्द हुआ ॥४॥

(शिशु क शब्द करते हुए क्षण में) उसस सोचा—इस प्रकार डरे हुए शब्द करने वाले उस  
शिशु को देखकर मृत्यु ने 'ऐक्षत' अर्थात् विचार किया । क्षुधायुक्त होने पर भी यदि मैं (स्रष्टव्य अन्न  
में हेतुभूत) इस शिशु को 'अभिमंस्ये' अर्थात् मार डालूँगा । अभिपूर्वक मन् धातु हिंसार्थं ॥ होता है ।

१ स भाणकरोदित्यस्य सहेतुव्ययमाह—स चेति मृत्युना मुल्लविदारणे कृते सति स चोत्पन्न कुमारो भीत मन्  
भाणित्येव शब्दमात्रमन्योरेदिति सम्बन्धः । २ अविषयति—उपलक्षणमेतत्कर्मादीनापि-नदुक्तम् 'जमान्तरत्तम-  
न्वस्ताविद्याकर्मादिहेतुतः । जयकर्मप्रयुक्तं सन् विद्युर्भाणत्यन्नाकरोत् ॥ अत्र जयैषादे जनिष्यमाणप्राणिनर्म-  
प्रयुक्त इत्यर्थः । यथोक्तहेतुवशात् स्वभावप्रतिज्ञाप्रयुक्तम् । कुमारोत्पन्नवत् स्वभाव चिच्छिदे भयात् ॥ अत्यन्त-  
मपि सूरारणां स्वस्वभावैव हेतुतः । तित्तिरादिसमुत्पाते वेपथुर्जायते भयात् ॥ इत्यर्थः । ३ स इति मित्सुराद-  
सलज्जातोचनक्षण इत्यर्थः । ४ ननु तस्य सर्वज्ञत्वादीक्षणं स्वत एव सम्भवति किन्निमित्तविशेषोक्तयेत्याशङ्क्याह  
अशनायेति । अशनायावत्तैषि तस्यातिनिष्ठुत्वादुक्तनिमित्तबलादीक्षणं समुत्पन्नमेवेत्यर्थः । ५ इतिमिति  
स्रष्टव्याभेदेतुभूतमित्यर्थः ।

पशून् । स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमधिष्यत सर्वं वा  
अतीति तददितेरदितित्व<sup>७</sup> सर्वस्यंतस्यात्ता भवति  
सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं  
वेद ॥५॥

रचना की उा सभी का खाने का विचार किया, वह सबको खाता है, यही उस अदिनि का अदितित्व है। जो इस प्रकार इससे अदितिपन को जानता है, वह हम सभी का भोक्ता हा जाता है और य सध उससे अन्न हो जाते हैं ॥५॥

कनीयोऽन्नं करिष्ये कनीयोऽल्पमन्नं करिष्य इत्येवमीक्षित्वा तद्भक्षणानुपरांराम । बहु ह्यन्नं कर्तव्य दीघकालभक्षणाय न कनीय । तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्नं स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभाव । स एव प्रयोजनमत्र्याहुल्यमालोच्य तथैव याचा पूर्वोक्तया तेनैव चाऽऽत्मना मनसा 'मिथुनीभावमालोचनमुपगम्येद सर्वं स्थावरजङ्गम चासृजत यदिद किंच यत्किंचेदम् । किं तत् । ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि च सप्त गायत्र्यादीनि

इत्यादि शास्त्रमत्र प्रमाणयितव्यम् । अन्नस्य कनीयस्त्वे का हानिरित्यास्तु चाऽऽह—बहु हीति । तथा ऽपि विराजो भक्षणे का क्षतिस्तत्राऽऽह—तद्भक्षणे हीति । तस्यान्नात्मकत्वात्तदुत्पादकात्चेति शेष । कारणनिवृत्तौ कार्यनिवृत्तिरित्यत्र दृष्टांतमाह—बीजेति । यथोक्तेक्षणानंतर 'मिथुनभावद्वारा त्रयीसृष्टि प्रस्तौति—स एवमिति । ननु विराज सृष्ट्या स्थावरजङ्गमात्मनो जगत सृष्टेरक्त्याकिं पुनरक्त्येया शयेन पृष्ट्वा परिहरति—किं तदिति । गायत्र्यादीनीत्यादिपदेनोत्तिगगनुदुष्कृतोपदिष्टत्रिष्टुजगती

तो 'कनीयोऽन्नं करिष्ये अर्थात् कम अन्न कर लूंगा, इस प्रकार विचार कर उसने उसे नहीं खाया । बहुत समय तक खाते रहने के लिए अधिक अन्न करना चाहिए कम से काय नहीं होगा । बीजभक्षण से अन्नाभाव हो जाने के समान इसे खा लेने पर थोडा ही अन्न होगा । इस प्रकार भक्षण से उपराम हो अ की बाहुल्यता के लिए विचार कर उस पूर्वोक्त भाषात्मिका वाक तथा उसी कुमारभावापन्न आत्मना

१ बीजभक्षण इत्येवादि ननु कुसालाभावे घटवत् विराडभावेऽपि स्यादन्नमिति चेत्तद्यम् यद्यपि समुत्पन्नो घट कुसालाभावेऽपि तिष्ठति तथापि तदभावेन जायते न चोपादानाभावे भावभावस्य सम्भवो न हि बीजमड्डु योपादानं भक्षितवता उत्तारणोऽऽकुरो सम्यतज्ञो विराडभाव जमाभावादप्रत्य समृद्धिदूरनिरस्तव्य । २ प्रयोजनमिति—भक्षणोपपत्तेः फलमित्यर्थ । ३ पूर्वोक्त्येति—भाषात्मिकका कुमारवदननिगतवैत्य । ४ आत्मनेति—आत्मोक्तुमारणे तद्भाषापत्नेन स्वेनेति वाच्य । ५ मिथुनीत्यादि मिथुनीभावान्न त्र्यालोचन इत्येवम् ६ असृजेति—एव वाच्यवाचरूप जगद्विराजा तमुत्पत्त्यया वाचा च उत्पादितवान् प्रमाणनिरित्यर्थ तथा च आत्मिकम् कुमारवदनोदगतया वाचर्गादीन् सस्र स । पदवादीश्च कुमारण आत्मनाऽबीजनसृजयत् । इति न हि हनुमन्मयोक्तव्येव त्रया सृष्टि न चात्मता त्रयी तदर्थकितेनुस्त्वये वनन्तरप्रवृत्तकुमारमुनिगतवाग्रहण समवे निरष्टवत्ताजवर्गादिति भाव । ७ किंचेयादि—किंच यदिदमिति योग्यम् । ८ ऋच—मिया धारपादवदमन्त्रा । ९ यजूंषि—अविबलितछन्दस्कास्ते । १० सामानि—स्तोभविनिष्ठा मन्त्रा स्तोत्रा हुक्कादिसकलछन्दा । ११ मिथुनीभावद्वारेति सृष्टिभमालोचनद्वारेत्यर्थ ।

स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान्मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान्यज्ञांश्च तत्साध्याप्रजा-  
स्तत्कर्त्रीः पशूँश्च ग्रान्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान् । ननु त्रय्या मिथुनीभूतयाऽसृजतेत्युक्त-  
भृगादीनीह कथमसृजतेति । नैष दोषः । मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्तस्या बाह्यस्तु  
ऋगादीनां विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तोभावः सर्ग इति ॥

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किञ्चिदसृजत  
तत्तदत्तं नक्षयितुमधियत धृतवान्मनः सर्वं कृत्स्नं वै यस्मादस्तीति तत्तस्माददितेरदिति-  
नाम्नो मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम् । तथाच मन्त्रः “अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्भाता

छन्दांस्युक्तानि । केवलानां छन्दसां सर्गसंभवात्तद्वारुढानामुपयजुःसामात्मनां मन्त्राणां सृष्टिरत्र विवक्षि-  
तेत्याह—स्तोत्रेति । उद्गात्रादिना गीयमानमृज्जातं स्तोत्रं तदेव होत्रादिना शस्यमानं शास्त्रम् ।  
स्तुतमनुशंसतीति हि श्रुतिः । यत्र गीयते न च शस्यते ऽध्वर्युप्रमृतिभिश्च प्रयुज्यते तदव्यत्र ग्राह्यमित्य-  
भिप्रेत्याऽऽदिपदम् । अत एव त्रिविधानित्युक्तम् । अजादयो ग्राम्याः पशवो वषयाव्यस्तारण्या इति  
शेषः । कर्मसाधनभूतानसृजतेति संबन्धः । स मनसा वाचं मिथुनं समभवदित्युक्तत्वात्प्रागेव श्रम्याः  
सिद्धत्वात् तस्याः सृष्टिः श्लिष्टेति शङ्कते—नन्विति । व्यक्ताव्यक्तविभागेन परिहरति—नेत्यादिना ।  
इति मिथुनीभावसर्गयोर्व्यपत्तिरिति शेषः । अतुसर्गश्चाप्तसर्गश्चेति द्वयमुक्तम् ।

इवानीमुपास्यस्य प्रजापतेर्गुणान्तर्ग” निर्दिशति—स प्रजापतिरित्यादिना । कथं मृत्योरदिति-

यानी मन से वेदत्रयी का आलोचन रूप मिथुन भाव को प्राप्त होकर इस जड़-चेतन संसार की रचना  
की । ‘परिव किंच’ अर्थात् जो भी कुछ यह है । वह क्या है ? ऋचु, यजु, साम, गायत्री आदि सात छन्द  
अर्थात् गायत्री आदि छन्द विशिष्ट स्तोत्र-शास्त्रादि कर्मों के अङ्गभूत तीनों प्रकार के मन्त्र और यज्ञ,  
उसकी साध्य प्रजा और उस कर्म के साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशुओं की रचना की, यदि कहो, मन  
द्वारा मिथुनीभूत वेदत्रयी से आदित्यारम्भक सवत्सर की रचना की, पहले यह कहा था—तो फिर ऋगादि  
की सृष्टि कैसे हुई ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । मनका जो वेदत्रयी से मिथुनीभाव है, वह अव्ययत है ।  
विद्यमान उन ऋगादि का ही कर्मों में विनियोग रूप से जो बाह्य व्यक्तीभाव है वही उसकी सृष्टि है ।

१. श्रम्यामिथुनीभूतयाऽसृजतेति—मनसा मिथुनीभूतया श्रम्याऽऽदित्य सवत्सरमसृजतेत्यर्थः तदारामना स्वयमेवा-  
ज्जापतेति यावत् । २. विद्यमानानाम्—अस्मत्तत्तया पूर्वं सिद्धागममेत्यर्थः नवपूर्वसत्ताम् । ३. यस्मादिति  
—मूलस्थेति शब्दार्थोऽयम् व्याख्येय चेति शब्दम्—अतोत्यत्र धृतवानित्यवगमनीयमिह । ४. मृत्योरदितित्व-  
मिति—ननु प्रजापतेः स्रष्टृत्वमेव नातृत्वमन्यथाऽनवबुद्धधर्मासिद्धेस्तत्तुष्टोऽस्यादितित्वमित्याशयः समादधुर्वाचि-  
वाचायाः तथाहि—“स्रष्टृर्नो वार्यमस्याम्यामन्योऽन्याव्यतिरेकतः । स्रष्टृत्वात् सृजत्येव साधतेऽन सदा-  
ऽऽवतः ॥” इति अस्यार्थः—स्रष्टृ नार्यम् तत्त्वं तमपेक्षत अता भव्य तन्न तमपेक्षते अत स्रष्टा नार्यं सृजायेव  
स्रष्टृत्वात् अन्यथा तदसिद्धेः अत्र चान्नं सदेवावते तस्याद्यत्वेनैव स्थितेतिस्थयः । ५. उद्गात्रादिनेत्यादिना  
प्रतिप्रस्थाप्रादयो प्राप्ताः । ६. होत्रादिनेत्यादिना ब्रह्मादयो ग्राह्याः । ७. अध्वर्युप्रमृतिभिरिति प्रतिहृनादय  
प्रमृतिग्राह्याः । ८. तेजोरमो निरवर्तनाग्निरित्यत्रातुमर्ग उक्तः “योऽप्रावयत । द्वितीयो मे आत्मा जायते”त्यत्र  
विप्राजः सृष्टिः स्पष्टीकृता यन्नं च विराडिति श्रुतेः ‘वनीयोऽन्नं करिष्य’ इति च । अतस्तत्स्रष्टृत्वात्प्रगं उक्त  
इत्यभिप्रेत्याह—अतुसर्गश्चाप्तसर्गश्चेति । ९. उत्तरसम्बन्धेतिद्वारणम् । १०. गुणान्तरमिति पूर्वोक्ताप्यु  
प्रतिष्ठितव्यपेक्षया गुणान्तरमित्यर्थः ।



स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतास्त्रिविधान्मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान्यज्ञांश्च तत्साध्यान्प्रजा-  
स्तत्कर्त्रीः पशूँश्च प्राण्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान् । ननु 'त्रय्या मिथुनीभूतयाऽसृजतेत्युक्त-  
मृगादीनोह कथमसृजतेति । नैष दोषः । मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्तस्या बाह्यस्तु  
ऋगादीना विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तोभावः सर्ग इति ॥

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किञ्चिदसृजत  
तत्तदसृजं भक्षयितुमधियत धृतवान्मनः सर्वं कृत्स्नं चे 'यस्मादस्तीति तत्तस्माददितेरदिति-  
नाम्नो 'मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम् । तथाच मन्त्रः "अदितिर्घोरदितिरग्निरिक्षमदितिर्मता

छन्वास्तुक्तानि । केवलानां छन्दसा सर्गासमवाप्तवारुणानामृत्युसु सामात्मना मन्त्राणां सृष्टिरत्र विवक्षि-  
तेत्याह—स्तोत्रेति । 'उद्गात्रादिना गीयमानमृजात स्तोत्र तदेव 'होत्रादिना शस्यमानं शस्त्रम् ।  
स्तुतमनुज्ञसतीति हि भूति । यत्र गीयते न च शस्यते'अव्युत्प्रमृतिभिश्च प्रयुज्यते तदव्ययं प्राह्यमित्य-  
भिप्रेत्याऽऽदिपदम् । अत एव त्रिविधानित्युक्तम् । प्रजापत्यो ग्राम्या, पशवो गवयादयस्त्वारण्या इति  
भेदः । कर्मसाधनभूतानामुज्जतेति सवन्धः । स मनसा वाच मिथुनं समभवदित्युक्तत्वात्प्रागेव प्रम्या,  
सिद्धत्वात् तस्याः सृष्टिं हिलच्छेति शङ्कते—नन्विति । व्यक्ताव्यक्तविभागेन परिहरति—नैत्यादिना ।  
इति मिथुनीभावसर्गोपपत्तिरिति शेषः । 'अतुसर्गश्चाग्निसर्गश्चेति द्वयमुक्तम् ।

इदानीमुपास्यस्य प्रजापतेर्गुणान्तरं" निदिशति—स प्रजापतिरित्यादिना । कथं मृत्योरदिति-

यानीं मन से वेदनयी का आलोचन रूप मिथुन भाव को प्राप्त होकर इस जड़-चेतन ससार की रचना  
की । 'यदिद किंच' अर्थात् जो भी कुछ यह है । वह क्या है ? ऋक्, यजु, साम, गायत्री आदि सात छन्द  
अर्थात् गायत्री आदि छन्द विशिष्ट स्तोत्र-शस्त्रादि कर्मों के अङ्गभूत तीनों प्रकार के मन्त्र और यज्ञ,  
उसकी साध्य प्रजा और उस कर्म के साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशुओं की रचना की, यदि कहो, मन  
द्वारा मिथुनीभूत वेदत्रयी से आदित्यात्मक सवत्सर की रचना की, पहले यह कहा था—तो फिर ऋगादि  
की सृष्टि कैसे हुई ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । मनका जो वेदत्रयी से मिथुनीभाव है, वह अव्यक्त है ।  
विद्यमान उन ऋगादि का ही यमों में विनियोग रूप से जो बाह्य व्यक्तीभाव है यही उसकी सृष्टि है ।

१ ग्राम्यामिथुनीभूतयाऽमृजतेति—मनसा मिथुनीभूतया ग्राम्याऽऽदिष्य सवत्सरममृजतेत्यर्थं तदात्मना स्वयमेवा-  
ऽजायतेति यावत् । २ विद्यमानानाम्—अव्यक्ततया पूर्वं मिद्धानामेवेत्यर्थं तत्पूर्वसत्ताम् । ३ यस्मादिति  
—भूतस्थेति शब्दार्थोऽयम् व्याख्येय चेति शब्दम्—अस्तीत्यत्र धृतवानित्यवगमनीयमिह । ४ मृत्योरदितित्व-  
मिति—ननु प्रजापते सृष्टृत्यमेव भातुत्वमन्यथाऽनबुद्धयसिद्धेस्तात्तुतोऽस्यादितित्वमित्याद्यस्य समासमुपाति-  
याचार्या तपाहि—'सृष्टृतो नार्थभेदाभ्यामन्योऽप्यव्यतिरेकतः । सृष्टृतत्वेन सृजत्येव साद्यतेऽन तादा  
ऽऽद्यत ॥ इति अस्यायं—सष्टया वार्यम् तच्च तमपेक्षत अता भेदय तच्च तमपेक्षते अत स्रष्टा वार्यं सृजायव  
सृष्टृत्वात् ग्राम्या तदसिद्धे अत्रा चान्न सदैवाद्यते तस्याद्यत्वेनैव स्थितेरेत्यर्थः । ५ उद्गात्रादिनेत्यादिना  
प्रतिप्रस्थाप्यारयो ग्राह्या । ६ होत्रादिनेत्यादिना ब्रह्मादयो ग्राह्या । ७ अव्ययमुत्प्रमृतिभिरिति प्रतिहर्तादय  
प्रमृतिप्राह्या । ८ तजोरयो निरवर्तनान्मिरित्यत्रातुसर्गं उक्तं 'सोऽग्रायवत् । द्वितीयो य आत्मा जायेत 'त्यत्र  
विराज सृष्टिं रूपदीकृता अत्र च विराडिति श्रुते 'वनीयोऽन्नं करिष्य' इति च । अतस्तात्पर्यमृष्ट्याऽग्निसर्गं उक्त  
इत्यभिप्रेत्याह—अतुसर्गश्चाग्निसर्गश्चेति । ९ उत्तरसम्बन्धेतिद्वयम् । १० गुणान्तरमिति पूर्वोक्ताप्यु  
प्रतिष्ठितत्वापेक्षया गुणान्तरमित्यर्थः ।



तोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्वा-  
म्यत्स तपोऽतप्यत तस्य आन्तस्य तप्तस्य यशो वीर्य-

उम प्रजापति ने ऐसी कामना की कि मैं पुनः 'बड़े भारी अश्वमेधादि यज्ञ के द्वारा यजन करूँ, इसी से वह यश गया । उसने तप किया, उस आन्त तथा सिन्न हुए का यश और वीर्य निवृत्त गया ।

स पिता" इत्यादिः । सर्वस्यैतस्य जगतोऽन्नभूतस्यात्ता सर्वात्मनैव भवत्यन्यथा विरोधात् । न हि कश्चित्सर्वस्यैकोऽस्ता वृद्धयते तस्मात्सर्वात्मा भवतीत्यर्थः । सर्वमस्यान्नं भवत्यत एव । सर्वात्मनो ह्यतुः सर्वमन्नं भवतीत्युपपद्यते । य एवमेतद्यथोक्तमदितेभृत्योः प्रजापतेः सर्वस्यादनाददितित्वं वेद तस्यैतत्फलम् ॥५॥

सोऽकामयतेत्यश्वाश्वमेधयोर्निर्वचनार्थमिदमाह । भूयसा 'महता यज्ञेन भूयः

नामत्वं सिद्धबुद्ध्यते तत्राऽऽह—तथा चेति । अदितेः सर्वात्मत्वं वदता मन्त्रेण सर्वकारणस्य मृत्योरदितिनामत्वं सूचितमिति भावः । मृत्योरदितित्वविज्ञानवतीऽवागन्तरफलमाह—सर्वस्येति । सर्वात्मनेति कुतो विज्ञाप्यते तत्राऽऽह—अन्यथेति । सर्वरूपेणावस्थानाभावे सर्वान्नभक्षणस्याशक्यत्वादित्यर्थः । विरोधमेव साधयति—न हीति । फलस्योपासनाधीनत्वात्प्रजापतिमदितिनामानमात्मनैव ध्यायन्ध्येयमात्मा भूत्वा तत्तद्रूपत्वमापन्नः सर्वस्यान्नस्यात्ता स्यादित्यर्थः । 'अन्नमन्नमेवास्म्य सदा न कदाचित्तवस्यात् भवतीति वधुतुमन्तरवाक्यमादत्ते—सर्वमिति । अतः एवेत्युक्तं व्यक्तीकरोति—सर्वात्मनो हीति ॥५॥

उपास्तिविधौ सफले 'सति समाप्तिरेव ब्राह्मणस्योचिता किमुत्तरप्रण्येनेत्यादाङ्ग्य प्रतीकमा-

उस प्रजापति ने 'इस प्रकार अन्नवृद्धि होगी'—ऐसा जानकर जिस किसी भी क्रिया या क्रिया के साधन स्वरूप फल की रचना की, उस उसका 'अतुम्' अर्थात् भक्षण करने के लिए 'अग्नियत्' यानी मन में धारणा की । उस 'अदितेः' अर्थात् अदिति नामक मृत्यु का अदितित्व प्रसिद्ध है, क्योंकि "कृत्स्नमिति" अर्थात् सभी खाता है । यजुर्वेद संहिता में मन्त्र है—'अदिति द्युलोक, अदिति अन्तरिक्ष, अदिति माता और अदिति पिता है"—इत्यादि । इस अन्नमय सारे ससार का वह सर्वात्मभाव से ही भोक्ता है, क्योंकि बिना सर्वात्मभाव के सबका भोक्ता संभव नहीं है; इसलिए सर्वभोक्ता होने से वह सर्वात्मा हो जाता है । अथ उसके लिए सब कुछ ही जाता है । अतः जो सर्वात्मभाव से भोक्ता है, उसी का सभी कुछ अन्न होना संभव है । जो 'एवम्' अर्थात् इस पूर्व कथित अदिति सप्तक मृत्यु प्रजापति की, सबका भोक्ता होने से अदितित्व रूप से उपासना करता है—उसे यह फल मिलता है ॥५॥

- १ सस्मादिति—सर्वातुल्योत्तेरित्यर्थः । २ निर्वचनार्थमिदमिति—प्रजापते अश्वमेधमेधनाम्नो प्रयुक्तिमिति-त्वात्तन्निर्वचनार्थमिदमुत्तर वाक्यमित्यर्थं तन्निर्वचनार्थत्वेन चास्य शन्यस्य स्वार्थोऽप्राप्त्यादर्शवादतया स्तुत्यर्थ-त्वमिति समभूचीति समवगमनीयम् ॥ ३ महतेति—महत्त्वं च यज्ञे सर्वस्वदक्षिणावश्वं तच्छास्त्रमेधयर्थं भवति तथा च महता यज्ञेनेति अश्वमेधादिधेनो यजेनेति वाक्यम् । ४ तत्तद्रूपत्वमिति—तत्तद्रूपत्वमित्यर्थः । ५ अन्नमन्नमेवास्म्येति सर्वमन्तर्गत्येनेनैव सर्वस्यान्नत्वसिद्धेः सर्वमस्यान्नमिति पुनरुक्तिरित्यादाङ्ग्यामित्यादि । ६ अतएव—अतु गवात्मत्वादित्यर्थः । ७ अभिहिते सतीत्यर्थः ।

मृदुकामत् । प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेष्टक्रान्तेषु  
शरीर<sup>१७</sup> श्वयितुमधियत तस्य शरीर एव मन  
आसीत् ॥६॥

चक्षुरादि प्राण ही यश और वीर्य है । तत्परचात् प्राणो के निकल जाने पर शरीर फूलने लग गया,  
इतने पर भी उसका मन शरीर में ही रहा ॥६॥

पुनरपि यजेयेति । जन्मान्तरकरणापेक्षया भूयःशब्दः । स प्रजापतिर्जन्मान्तरेऽश्वमेधे-  
नायजत । स 'तद्भावाभावित एव कल्पादौ' व्यावर्तत । योऽश्वमेधक्रियाकारण फलात्मत्वेन  
'निर्वृत्तः सन्नकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेत्येव महत्कार्यं कामयित्वा लोकवदश्नाभ्यत् ।

वाय तात्पर्यमाह—सोऽकामयतेत्यादिना । तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधस्यमित्येतदन्त वाक्यमिदमा निर्दिश्यते ।  
'भूयोर्दक्षिणाकत्वादश्वमेधस्य भूयस्त्वम् । इतिशब्दोऽकामयतेत्यनेन संबध्यते । कथं पुनस्तेन यक्षयमाणस्य  
प्रजापतेर्भूय शब्दोक्तिः । न हि स पूर्वमश्वमेधमन्वतिष्ठत्कर्मनिधिकास्तेऽस्यप्राज्ञह—जन्मान्तरोत् । 'तदेव  
स्पष्टयति—स प्रजापतिरिति । अथातोते जन्मनि यजमानोऽश्वमेधाय कर्ताभूत् । अथुना हिरण्यगर्भो भूयो  
यजेयेत्याह । 'तथाच कर्तृभेदाद्भूयःशब्दोऽसामञ्जस्यमत आह—स तद्भावेति । स प्रजापतिरश्वमेधया-  
सनाविशिष्टो ज्ञानकर्मफलत्वेन कल्पादौ निवृत्तो भूयो यजेयेत्याह कर्तृभेदप्रतीत्येन साधकफलावस्थयोर्-  
जमानसूत्रगोर्भेदाभावादित्यर्थः । प्रजापतिरीश्वरो न तस्य दुःखात्मककृत्यनुष्ठानेच्छा यस्मिन्प्राज्ञह  
'प्रकृतिवशात्तदुपपत्तिमभिप्रेत्याज्ञह—सोऽश्वमेधेति । कथं 'भेदाभावा' 'दिवक्षिता स्तुतिः सिद्धेत्याशङ्क्या-

'उसने कामना की' इत्यादि श्रुतिवाक्य से अश्व और अश्वमेध का (प्रवृत्तिनिमित्तक) होने  
से स्वार्थ में अप्रामाण्य होने से अर्थवाद द्वारा स्तुति के लिए) निर्वचन करने के लिए श्रुति यह कहती  
है—(सर्वत्र दक्षिणा वाले) महान् (अश्वमेध) याग से मैं पुन यजन करूँ । जन्मान्तर में करने की  
अपेक्षा से यहाँ महान् शब्द का प्रयोग किया है । उस प्रजापति ने दूसरे जन्म में अश्वमेध याग द्वारा  
यजन किया था । अश्वमेध याग के सत्कारो से सत्कृत ही वह कल्प के आदि में प्राविर्भूत हुआ ।  
अश्वमेध याग के क्रिया कारक और फलात्मक रूप से प्रादुर्भूत होकर उसने कामना की, कि मैं महान्  
याग से महान् अनुष्ठान करूँ । इस प्रकार महान् कार्य की कामना करके वह सासारिक लोगों  
के समान श्रम कार्य में प्रवृत्त हुआ । उसने तप किया । उसके थके हुए होने से खिन्न हुए (प्रजापति के)

१ अश्वमेधसत्कारसत्कृत । २ आविरभवत् । ३ प्रादुर्भूत । ४ तदेवेति जन्मान्तरकरणापेक्षात्-  
मेवेत्यर्थः । ५ तथाचेति साधकफलावस्थाप्राप्त्यर्थं जमानभूयस्याभिप्रेत्येवेत्यर्थः । ६ अगामश्चस्यम्  
अस्वास्त्वम् । ७ ऐक्येनेति—कर्तृत्वमोक्तत्वाद्यर्थेयद्विरण्यादयानादिति भावः । ८ इच्छेति—नहि सुखी  
दुःख भोक्तुमर्हति इति दृष्टं सोऽह इति भावः । ९ प्रवृत्तिवशादिति—सर्वमपि कार्यं व्यवहारभूमौ प्रवृत्तिना  
दृष्टं तथा च सूत्रस्यापि प्रवृत्तिवशात् कृत्यनुष्ठानेच्छा कर्ता हि भोक्तु फलावस्थस्य प्रवृत्ति स च अनुभवतिष्ठत्  
सदृशात्फलभूतस्यापि प्रजापते तदनुष्ठानेच्छेत्यर्थः । १० एतावतेति—यतोऽतः कामनायामनेनेत्यर्थः । ११ दिव-  
क्षिता—वश्यमाणनया विवक्षितात्यर्थः ।

त तपोऽतप्यत । तस्य 'श्रान्तस्य तप्तस्येति पूर्ववत् । 'यशो वीर्यमुदक्रामदिति स्वयमेव पदार्थमाह । प्राणाश्चक्षुरादयो च यशो यशोहेतुत्वात्तेषु हि सत्सु स्यातिर्भवति । तथा वीर्यं बलमस्मिञ्शरीरे । न ह्युत्क्रान्तप्राणो यशस्वी बलवान्वा भवति । तस्मात्प्राणा एव यशो वीर्यं चास्मिञ्शरीरे । 'तदेवं 'प्राणलक्षणं यशो वीर्यमुदक्रामदुत्क्रान्तवत् । 'तदेवं यशोवीर्यभूतेषु प्राणेषूत्क्रान्तेषु 'शरीरान्निष्क्रान्तेषु तच्छरीरं प्रजापतेः श्रयितुमुच्छ्रितमावं गन्तुमधिपता मेध्यं चामवत् । तस्य प्रजापतेः शरीरान्निर्गतस्यापि तस्मिन्नेव शरीरे 'मन आसीत् । 'यथा कस्यचित्प्रिये 'विषये दूरं गतस्यापि मनो भवति तद्वत् ॥६॥

॥६॥—एवमिति । "अमकार्यमाह—स तप इति । चक्षुरादीनां यशस्त्वे हेतुमाह—यशोहेतुत्वादिति । तदेव साधयति—तेषुहीति । प्राणा एवेति तथाशब्दार्थः । सत्सु हि तेषु शरीरे बलं भवतीति पूर्ववदेव हेतुस्त्वेव । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—न हीति । प्राणानां यशस्त्वं वीर्यत्वं चोपसंहृत्य बाधमार्थं निगमयति—तदेवमिति । तत्प्राणेष्वित्यादि व्याचष्टे—तदेवमित्यादिना । शरीरान्निर्गतस्य प्रजापते-भुक्तत्वमाहाङ्गाऽह—तस्येति ॥६॥

ऐसा पूर्ववत् मन्त्रार्थं समझना चाहिए । प्रजापति के शरीर से यश और वीर्य—यह दो पदार्थ निकल गये । श्रुति यश और वीर्य पदों का स्वयं अर्थ करती है—यश में कारण होने से चक्षुरादि प्राण ही यश हैं, क्योंकि उनके होने से श्रुति होती है । इसी प्रकार प्राण ही इस शरीर में वीर्य या बल हैं । प्राणों के उत्क्रमण होने पर कोई भी यशस्वी या बलवान नहीं होता । इसलिए प्राण ही इस शरीर में यश और वीर्य हैं । वे इस प्रकार प्राणलक्षणरूप लिङ्ग शरीर के यश और वीर्य निकल गए । इस प्रकार यश और वीर्यभूत प्राणों के 'उत्क्रान्तेषु' यानी शरीर से निकल जाने पर प्रजापति शरीर में 'श्रययितुम्' अर्थात् फूटना रूप विकार होना 'अधिगत' यानी आरम्भ हुआ और वह अपवित्र हो गया । उस प्रजापति के शरीर से निकल जाने पर भी मन उसका उसी शरीर में अभिपन्न रहा । (क्योंकि बिना एकात्मबोध के आसक्ति का त्याग असम्भव है) जैसे किसी प्रिय वस्तु के दूर चले जाने पर मन वही चला जाता है ॥६॥

१. श्रान्तत्वात् क्षिप्रम् । २. यशोवीर्यमुदक्रामदिति—प्रजापते शरीरादेतद्वयमुत्क्रान्तवदित्यर्थः । ३. तदेवमिति—नय बहूनां प्राणानां यशोवीर्यत्वं न हि तेषां प्रत्येकं यशोवीर्यत्वं कस्यचिद्भावेपीतरेषामभावे देहे स्यात्तिबलमोरनुपपन्नमात् नापि मिलितानां तथात्वम् एवस्याप्यभावे तदभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्य समादधुर्वीति-वाचार्जं तथाहि—“लिङ्गात्मेह यशोवीर्यमुभयं हि तदुद्भवमिति ।” इह स्थूलदेहेलिङ्गात्मनि यशोवीर्यशब्दयो-र्वृद्धप्रयोगाभावात्तन्मैवमित्याशङ्कनवाह उभय हीति । यशश्च वीर्यं चेत्युभय लिङ्गात्मन सक्तामाहुर्भवति तदभावे तदयोगात्तस्माद्युक्तं लिङ्गात्मनस्तथात्वमित्यर्थः । ४. प्राणलक्षणमिति—लिङ्गशरीरमिति यावत् । ५. तदेवमिति—मूलस्थतच्छब्दस्यार्थ एवमिति । ६. आरभत । ७. अपवित्रम् । ८. अभिवृद्ध । ९. ननु देहा-न्निर्गतस्यापि प्रजापते निमित्तं तस्मिन्नेवासात्किरासीत्, नहि बुद्धिपूर्वकारो दुःखायतनाय देहाय स्पृहयति तत्राह मयेति । तथा चोक्तं वातिके—“सङ्गराद्यो ह्यमभावो विनैकात्म्यावबोधनादिति ।” ‘रसजं मि’त्याद्या स्मृति-रानुगुणेति द्योतयितुं हि यत् । १०. स्यादौ । ११. अमकार्यम्—तापस्य अमकार्यमित्यर्थः ।

सोऽकामयत मेध्यं म इदं<sup>१</sup> स्यादात्मन्वनेन स्या-  
मिति । ततोऽश्वः<sup>२</sup> सम्भवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति  
तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद  
य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यं वामन्यत । तं<sup>३</sup> संवत्स-

उसने कामना की कि यह मेरा शरीर यज्ञ के योग्य हो जाये, मैं इस शरीर से शरीर वाला होऊँ, क्योंकि वह शरीर (यज्ञ और वीर्य से हीन होकर) फूल गया था । अतः उससे वह अश्व हो गया और वह यज्ञीय हुआ । इसीलिये यही अश्वमेधत्व है—अर्थात् उसे अश्वमेध नाम प्राप्त हुआ । जो इसे इस प्रकार जानता है, वही अश्वमेध को जानता है । उसने उसे बन्धनयून्य ही चिन्तन किया, फिर पूरे एक

स तस्मिन्नेव शरीरे गतमनाः सन्निमकरोदिति । उच्यते—सोऽकामयत कथं मेध्यं मेधाहं यज्ञियं मे ममेदं शरीरं स्यात् । किंचाऽऽत्मन्व्यात्मवांश्चानेन शरीरेण शरीरवान्स्यामिति प्रविवेश । यस्मात्तच्छरीरं भद्रियोगाद्गतयशोवीर्यं सदाश्वं<sup>४</sup> अयत्ततस्तस्मादश्वः<sup>५</sup> सम्भवत् । ततोऽञ्जनामा प्रजापतिरेव साक्षादिति स्तूप्यते । यस्माच्च पुनस्त-

सम्यग्ज्ञानाभावादासङ्गं सत्यपि न पुनस्तस्मिन्प्रवेशो युक्तः परित्यक्तपरिग्रहायोपादिति शङ्कते—स तस्मिन्निति । अज्ञानवशात्परित्यक्तपरिग्रहोऽपि सम्भवतीत्याह—उच्यत इति । बीतदेहस्य कामनाऽयुक्तेति शङ्कते—कथमिति । सामर्थ्यातिशयादशरीरस्यापि प्रजापतेस्तदुपपत्तिरिति मान्वानो ब्रूते—मेध्यमिति । कामनाफलमाह—इति प्रविवेशेति । तथाऽपि कथं प्रकृतनिश्चितसिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—यस्मादिति । यच्छब्दो यस्मादिति व्याख्यातः । देहस्याश्वत्वेऽपि कथं प्रजापतेस्तथात्वमित्याशङ्क्य तत्तादात्म्यादित्याह—तत इति । अश्वस्य प्रजापतित्वेन स्तुतत्वात्तस्योपास्यत्व फलतीति भावः । तथाऽपि कथमश्वमेधनामनिर्वचनमित्याशङ्क्याऽह—यस्माच्चेति । क्रतोस्तत्तामकस्य प्रजा-

उसी शरीर में लगे हुए मन वाले उस प्रजापति ने क्या किया ? इस पर श्रुति कहती है—(देहासक्ति से छूट कर तादात्म्य बोध के लिए) उस प्रजापति ने कामना की कि मेरा यह शरीर 'मेध्य' यानी यज्ञ के उपयुक्त या यज्ञीय कैसे हो जाय ? तथा मैं 'आत्मन्वी' यानी आत्मानुरागी अर्थात् इस शरीर से शरीरवान् कैसे हो जाऊँ ? उसने ऐसा सोच कर उसमें प्रवेश किया । अश्व इसलिए हुआ, क्योंकि वह शरीर मेरे वियोग से यशवीर्यहीन होकर 'अश्वयत्' अर्थात् फूल गया था । उसी शरीर

- १ सोऽकामयतेति—'जातदेहाभिपङ्गु सस्तादात्म्यप्रतिपित्तया । मेध्यमित्यादिक काम सोऽकामयत वामुक् । इति वार्तिके तदंशसक्तिबोक्तकामनाया हेतुरिति वक्तुं कामुक इत्युक्तम् ।
- २ यस्मादिति मूलस्य यच्छब्दस्यैवार्थोऽयम् ।
- ३ अश्ववत्—उच्छन्नतामयात् ।
- ४ अश्व सम्भवदिति—तस्मिन्प्रविष्ट प्रजापतिरेवाश्वरूपोऽभवदित्यर्थः ।
- ५ तत—शरीरतद्वतीरेवेदविषयात् इत्यर्थः ।
- ६ स्तूप्यत इति—अयमश्व साक्षात्प्रजापति रेवेत्यश्व स्तूप्यत इत्यर्थः ।
- ७ तत्रापीति—प्रजापतेर्विराज शरीरे प्रवेशेऽतीत्यर्थः ।
- ८ प्रकृतेति—अश्वमेधनामेत्यर्थः ।
- ९ उपास्यत्व फलतीति तथा न "तस्योपा दे"त्यादिप्राक्तनग्रन्थेनोपास्तिरभिहितेति ।
- १० तथापि—एवमश्वनामनिर्वचने मिदेषि ।

रस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून्देवताभ्यः  
प्रत्योहत् । तस्मात्सर्वदेवत्वं प्रोक्षितं प्राजापत्यमा-  
लभन्त एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य सव-  
त्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावे-

सवत्सर के बाद अपने लिए ही ब्राह्मण किया अर्थात् प्रजापति देवता सम्बन्धी पशु रूप उसका ब्राह्मण किया और अन्य पशुओं को भी अन्यान्य देवताओं के प्रति पहुँचाया । इसलिए आज भी याज्ञिक सांग सभी देवताओं के लिये मन्त्रों द्वारा सस्मृत प्रजापति सम्बन्धी पशु का ब्राह्मण करते हैं । यह जो सूर्य तपता है, यही अश्वमेध है, उस सूर्य का सवत्सर शरीर है, यह पापिव अग्नि अर्क है, तथा उसके ये

प्रवेशाद्गतयशोवीर्यत्वादमेध्यं स'मेध्यमभूतदेव , तस्मादेवाश्वमेधस्याश्वमेधनाम्नः  
'क्रतोरश्वमेधत्वमश्वमेधनामलानः । 'कियाकारकफलात्मको हि क्रतुः । स च प्रजापतिरेवेति  
'स्तूयते ।

क्रतुनिर्वर्तकस्याश्वस्य प्रजापतिस्त्वमुक्तमुष्ठा वा अश्वस्य मेध्यस्येत्यादिना ।  
'तस्यैवाश्वस्य मेध्यस्य प्रजापतिस्त्वरूपस्याग्नेश्च 'यथोक्तस्य क्रतुफलात्मरूपतया 'समस्योपा-

पतेरिति यावत् । देहो हि प्राणविद्योगादश्वत्पुनस्तत्प्रवेशाच्च 'मिथार्होऽभूदतः सोऽश्वमेधस्तत्तावात्मा-  
प्रजापतिरपि तथेत्यर्थः । ननु प्रजापतित्वेनाश्वमेधस्य स्तुतिर्नोपयोगिनी, अग्नेरुपास्यत्वेन प्रस्तुतत्वा-  
त्क्रतुपासना'भावात्त आह—क्रियेति ।

ननु क्त्वङ्गस्याश्वस्याश्वमेधक्रत्वात्मनश्चान्नेरुक्तीत्या स्तुतत्वात्तदुपास्तेश्च प्रागेवोक्तत्वादेव ह  
वा अश्वमेधमित्यादिवाक्यं नोपपुज्यते तत्राऽऽह—अतुनिर्वर्तकस्येति । उक्तं च चित्तपत्याग्नेस्तस्य प्राची  
विहित्यादिना प्रजापतिरिति ज्ञेयः । 'अश्वोपासनमग्न्युपासनं चक्रेमेवेति वक्तुमुत्तरं वाक्यमित्याह—

मे (अश्वमेधवधा) से 'यह अश्व साक्षात् प्रजापति ही है' ऐसे उसकी स्तुति की जाती है । क्योंकि  
यश और वीर्य के चले जाने पर अपवित्र होने पर भी उसके पुन प्रवेश से वह यशार्ह हुआ । इसी से  
'अश्वमेधस्य' अर्थात् अश्वमेध नामक याग का 'अश्वमेधत्वम्' अर्थात् अश्वमेध नाम हुआ । क्योंकि  
(विराडात्मकप्रजापति शरीररूप) अतु, त्रिया, कारक और फल रूप होता है । और उसी की ही प्रजा-  
पति रूप से स्तुति की जाती है ।

१ पुनस्तत्प्रवेशाग्नेध्यमभूदित्यन्वयः । २ क्रतोरिति—अथ क्रतुशब्देन अपुणो विवक्षितत्वात् । प्रजापति-  
शरीरस्येत्यर्थः । ३ तत्साध्यतया तत्साधकतया च तत्तदात्मकबोक्तिरिति ध्येयम् । ४ स्तूयत इति—  
तथा च क्रतो विराडारमप्रजापतिरूपत्वनोपास्यत्व विध्यतीति भावः । ५ उक्तस्यैव । ६ प्रजापत्यात्मकस्य ।  
७ समस्योपासनमिति—अग्न्युपासनयो पूर्वमुक्तयोरेवोक्तस्येत्यर्थः । ८ मिथार्होऽभूदिति—अश्वमेधसंज्ञाया-  
ग्योऽभूदित्यर्थः । ९ न नुत्राप्युपरातिर्यो । १० अथावादि—द्विहानुत्तरवादित्यर्थः । ११ अश्वोपासनमि-  
त्यादि—अश्वोपासनमुष्ठा वेत्यादिनोक्तम् उक्तं चाम्युपासनं नैवेह विञ्चनेत्यादिना तदुभय न मिथो भिन्न  
विन्त्येवमेवेति विविष्टोपासन विधातु प्रधानविधिमाहेत्यर्थः ।

तावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप  
पुनर्मृत्युं जयति ननं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्याऽऽत्मा  
भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

आदित्यादि लोक आत्मा है, ये अग्नि और आदित्य अर्क एव अश्वमेध हैं, किन्तु वे मृत्युरूप देवता एक ही है । जो इस प्रकार (इस अश्वमेध को मृत्युरूप एक देवता) जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है । इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसकी आत्मा हो जाता है, तथा वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है) ॥७॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

सनं विधातव्यमित्यारभ्यते । पूर्वत्र क्रियापदस्य विधायकस्याश्रुतत्वात्क्रियापदापेक्षत्वाच्च  
प्रकरणस्यायमर्थोऽवगम्यते । एष ह वा अश्वमेधं कर्तुं वेद यः कश्चिदेनमश्वमग्निरूपमकं  
च यथोक्तमेवं वक्ष्यमाणेन समातेन प्रदक्ष्यमानेन विशेषणैः विशिष्टं वेद स एषोऽश्व-  
मेधं वेद नान्यः । तस्मादेवं वेदितव्य इत्यर्थः ।

तस्यैवेति । य एवनेतद्वदितेरवितित्वं वेदेत्यादौ प्रमेयं विहितमुपासनं किं पुनरा'रम्भेणेत्याशङ्क्याऽह  
—पूर्वत्रेति । यद्यपि विधिरवितित्वं वेदेति श्रुततयाऽपि सगुणोपास्तिविधिं प्रधानविधिः । अत्र तु  
प्रधानविधिरुपास्तप्रकरणत्वादपेक्ष्यते । अतोऽश्वमेधं वेदेति प्रधानविधिरिति भावः । तात्पर्यमुक्त्वा  
वाक्यमावापाक्षराणि व्याकरोति—एष इति । यथोक्तमित्युभयत्र प्रजापतित्वमनुकल्प्यते । तन्नयव-  
ध्येत्यादि' प्रदक्ष्यमानविशेषणम् । विधिरत्र स्पष्टो न भवतीत्याशङ्क्याऽह—तस्मादिति । अश्वमेधो  
विशेष्यत्वेन संबध्यते ।

“उपा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर” इत्यादि श्रुतिवाक्य से यागनिर्वर्तक उस अश्व का प्रजा-  
पतित्व कहा गया । प्रजापति स्वरूप मेध्य उक्त अश्व की ही, और यज्ञफलार्थकरूप से यथोक्त प्रजा-  
पत्यात्मक रूप अग्नि की (अश्व, अग्नि की) एकीभाव से उपासना करनी चाहिए—इससे आगे का  
ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है । पूर्व श्रुति में विधिवोधक क्रियापद का श्रवण नहीं हुआ है, और क्योंकि  
(उपासनापरक श्रुति में) क्रिया पद की आवश्यकता होती है, इससे प्रकरण में (अग्नि अश्व की  
एकीकृत उपासना करनी चाहिये) यह अर्थ किया जाता है । वही इस अश्वमेध याग को जानता है,  
जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है । जो कोई इस अश्व तथा पूर्वोक्त अग्नि रूप अर्क को आगे  
बतलाये जाने वाले एकीकृत रूप से प्रदक्षित विशेषण से विशिष्ट जानता है, वह इस अश्वमेध को  
जानता है, दूसरा नहीं । इसलिए इस अश्वमेध की इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए, यह अर्थ है ।

१ अयमर्थ इति—नमस्योपासन विधातव्यमित्ययमर्थ इत्यर्थः । २ तस्मादिति—तस्यैवाश्वमेधवदित्यादित्यर्थः ।

३ आदिना प्रथमकण्डिकोक्तार्थस्यार्कत्वं वेदेत्यपि तृतीयकण्डिकोक्तं य एव विद्वानिति ग्राह्यम् । ४ आरम्भेण

एश्वरफलकेनारम्भेणेत्यर्थः । ५ उपात्रेति—अनावश्वे चेत्यर्थः । ६ इत्यादिना प्रदक्ष्यमानेत्यर्थः ।

७ तथा चैवविधिमश्वमेध प्रजापतित्वकाम उपासीतेति विनिर्दिष्टविधानायम् इति बोध्यम् ।

कथं, तत्र पशुविषयमेव तावद्दर्शनमाह । तत्र प्रजापतिभूयसा यजेत भूयो यजेयेति कामयित्वाऽऽत्मानमेव पशुं मेध्यं कल्पयित्वा तं पशुमनवरुध्येवोत्सृष्टं पशुमवरोधमकृत्वेव मुक्तप्रग्रहमन्यताचिन्तयत् । तं संवत्सरस्य पूर्णस्य परस्तादूर्ध्वमात्मन आत्मार्यमालभत । प्रजापतिदेवताकृत्वेनेत्येतदालभताऽऽलम्भनं कृतवान् । पशुनन्याग्राम्यानां रण्याश्च देवताभ्यो यथादेयं प्रत्योहत्प्रतिगमितवान् । यस्माच्चैवं प्रजापतिरभिन्यत तस्मादेवमन्योऽप्युक्तेन विधिनाऽऽत्मानं पशुमश्वं मेध्यं कल्पयित्वा सर्वदेवत्योऽहं प्रोक्ष्यमाण आलम्बमानस्त्यहं मद्देवत्य एव स्याम् । अन्य इतरे पञ्चवो ग्राम्यारण्या यथादेवतमन्याभ्यो देवताभ्य आलम्ब्यन्ते मवयवभूताभ्य एवेति विद्यात् । अत एवेदानीं सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालम्बन्ते याज्ञिकाः ।

एवञ्चद्वादप्रसिद्धार्यंश्च भाति कुतो विधिरित्याह—वयमिति । एष ह वा अद्यमेध वेदेत्यादौ विवक्षितस्य विधेरभिप्राय करोति—तत्रेत्यादिना । उपास्तिविधिं प्रस्ताव सप्तम्यर्थः । “वयं नु पशुविषय दर्शनं” तद्दर्शयति—तत्रेति । “एवम” नन्तरयाव्ये प्रवृत्ते सतीति यावत् । “अयं विवक्षितविधिमभिप्रायति—यस्माच्चैति । प्रजापतिरित्युक्तं कलावस्थायामन्यतेत्यत्र किं प्रमाणमित्यामङ्गुप संप्रति तत्कार्यभूतासु “प्रजासु तथाविधचेष्टादृष्टिरित्याह—अत एवेति । प्रोक्षितं मन्त्रसंस्कृतं पशुमिति यावत् ।

किस प्रकार उपासना करनी चाहिए ? इस सन्दर्भ में श्रुति पहले पशु विषयक दर्शन का ही प्रतिपादन करती है । “मं महान् अश्वमेध याग से पुन यजन कहे” इस प्रकार प्रजापति ने कामना करके अपने शरीर में ही यज्ञीय पशु की कल्पना करके उस पशु को ‘अनवरुध्यैव’ यानी उसे छूटा हुआ माना यद्यपि उसे बिना अनवरुद्ध किये हुए बिना बन्धन के है—ऐसे ‘अनन्यत्’ अर्थात् चिन्तन किया । पूरे एक सवत्सर के बाद उसका अपने लिए ही वध किया अर्थात् प्रजापति देवता रूप से उसका आलम्भन किया । स्व अवयव भूत ग्रामि आदि देवताओं के लिए भी, जिस देवता के लिए जो जो शास्त्र में विधान है, उसी के अनुसार अन्यान्य ग्राम्य और वन्य पशु प्राप्त कराये । क्योंकि प्रजापति ने इस प्रकार उपासना की, इसलिए दूसरे को भी उक्त विधि से अपने को यज्ञार्ह पशु अथवा मानकर ‘वेदमन्त्रों द्वारा अभिषिक्त मेरा शरीर सभी देवताओं के लिए हो’ किन्तु वध किये जाने पर ‘केवल अपने ही देवता के लिए होऊँ ।’ ऐसा जाने । तथा दूसरे ग्राम्य और वन्य पशु, जिस देवता के लिए जिस-जिस का शास्त्र में विधान है—उसी के अनुसार मेरे ही अवयवभूत अन्यान्य देवताओं के लिए—आलम्भन किये जाते हैं—ऐसी उपासना करे । प्रजापति के द्वारा ऐसे करने से ही, सब देवों ने उद्देश्य से अभिषिक्त किये हुए प्रजापति सम्बन्धी का याज्ञिक लोग आलम्भन करते हैं ।

१ स्वशरीरम् । २ अश्वम् । ३ यज्ञियम् । ४ देवताभ्य इति—स्वावयवभूताभ्योऽन्यादिदेवताभ्य इत्यर्थः । ५ यथादेवतमितिशब्देन यथादेवताकृत्येन यथादुक्तं तद्वन्तिप्रमेणेत्यर्थः । ६ उपास्त । ७ सर्वदेवत्य-सर्वदेवतार्थः । ८ अहं मन्त्रशरीरम् । ९ प्रोक्ष्यमाण इति—प्रोक्ष्यमाणेतरद्रवस्यापि प्रजापतिरूपत्वाद्भेदोक्तिः । १० उपासीत । ११ अन एव प्रजापतिना तथावरणादयः । १२ सर्वदेवताऽहंयम् । १३ विधे—विशिष्टस्य विधेरित्यर्थः । १४ प्रस्ताव प्रवरणम् । १५ निस्वरूपम् । १६ तदिति—विशिष्टविधिरूपमित्यर्थः पशुविषय विशिष्टविधिरूपं यत्नं कथमित्यर्थः । १७ एव विशिष्टविधिपरत्वेन १८ अनन्तर वाक्ये—एष ह कत्यादिवाक्ये । १९ अथेति—भूमिकां वृत्तत्यर्थः २० कारणानुविधायित्वात्तामयमिति भावः ।

‘एवमेव ह वा अश्वमेधो य एव तपति यस्त्वेवं पशुसाधनकः क्रतुः स एव साक्षात्फलभूतो निर्दिश्यत एव ह वा अश्वमेधः । कोऽसौ । य एव सविता तपति जगद्वभासयति तेजसा । तस्यास्य क्रतुफलात्मनः संवत्सरः कालविशेष आत्मा शरीरं तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य । तस्यैव क्रत्वात्मनोऽग्निसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणाव निर्देशः । अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः साधनभूतः । तस्य चार्कस्य क्रतो कित्यस्येमे लोकास्त्रयोऽप्यात्मानः शरीरावयवाः । तथाच व्याख्यातं तस्य प्राचीः दिगित्यादिना । तावग्यादित्यावेतो

‘फलावस्यप्रजापतिवदित्येवंशब्दार्थः । ‘उपासनविधिरुक्तः संप्रति प्रतीकमादाय ‘तात्पर्यमाह — एव इति । द्विविधो हि क्रतुः ‘कल्पितपशुहेतुको बाह्यसङ्केतकश्च, स च द्विप्रकारोऽपि फलरूपेण स्थितः सवितैवेत्युपास्तिकफलं वस्तुमेतद्वाक्यमित्यर्थः । विशेषोक्तिं विना नास्ति पुनस्तोषोपशान्तिरित्याह—कोऽसाविति । क्रतुफलात्मकः सविता मण्डलं देवता वेति संवेहे द्वितीयं गृहीत्वा तस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्यास्येति । ‘आदित्योदयास्तमयाम्बामहोरात्रादिद्वारा संवत्सरव्यवस्थानात्तन्निर्मातृत्वस्य युक्तं तत्तादात्म्यमित्यर्थः । क्रतोरादित्यस्वरूपत्वात् तदङ्गस्याग्नेस्तद्वस्तुमयमग्निरर्क इति वाक्यं तस्यार्थमाह—तस्यैवेति । ननु पूर्वोक्तस्यैवानेराविस्यत्वं कुतो नियम्यतेऽयमिति श्रियोऽ’ग्निरग्न्यग्निरादित्यः किं न स्यादित्याहङ्गुपाऽह—तस्य चेति । ‘तथाऽपि कथं तस्यैवाऽऽदित्यत्वं तत्राऽह—तथा चेति । तस्य प्राचीत्यादिना लोका-

“पूर्वाग्नयो यह वही अश्वमेध है, जो तपता है” । जो इस प्रकार पशुसाध्य याग है, वही “यह वही अश्वमेध है” इस वाक्य से साक्षात् फलस्वरूप बतलाया जाता है । यह कौन है ? जो यह (सबको दीखने वाला) सूर्य तपता है अर्थात् अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करता है । उस इस सविताविशेष्यक क्रतुफलरूप सूर्य का संवत्सर—कालविशेष आत्मा स्वरूप है; क्योंकि वही संवत्सर का निर्वाहक होता है । उस सविता फलरूप यज्ञात्मा का यज्ञफल अग्निसाध्यत्व होने से उसका यज्ञरूप से निर्देश किया गया है । यह पार्थिव अग्नि, देवतात्वस्वरूप से क्रतु के अङ्गभूत होने से अर्क है । यज्ञ में क्या न किए जाने वाले उस अर्क के भू, भुवः, स्व. तीनों लोक ‘आत्मान’—‘यानी शरीर के अवयव है ।

१. पूर्वान्वयी । २. सर्वप्रत्ययः । ३. तेजसेति—एव एवोभयविधोऽश्वमेध. फलात्मनावस्थितो दृश्यत इति शेष । ४. सविताविशेष्यः । ५. स्वरूपम् । ६. तस्यैवेत्यादि—तस्यैव—सवितुरेव फलस्य फलरूपस्य पदकृ-पत्वादिति यावत् क्रतुरूपेणैव—क्रतुरूपेणैव साध्यसाधनयोरभेदारीपात् क्रत्वात्मनश्च सतस्त्वग्निनासाध्यत्वात् अयं पार्थिवोऽग्निरर्क सूर्य इति निर्देश इत्यन्वयः । ७. देवतात्वेन ऋत्विज्भूत । ८. लोका—भूरादयः । ९. पूर्वान्वयि वाक्यमिदम् । १०. नन्वश्वमेधोपासनमत्र विधिरिति तस्य च विधिरितिक्रान्त. तत्त्वमुत्तरेण वाक्येनेत्यभिप्रेत्याह—उपासनविधिरिति । ११. तात्पर्यमिति अश्वमेधोपासनफलं वस्तुमुत्तरं वाक्यमिति तात्पर्य-मित्यर्थः । उपायोपदेशानन्तरमुपेधोपदेशावसरत्वात् पशोपदेधमन्त्रेणवाइत्युपपन्नमिति यावत् । १२. कल्पितपशुहेतुक इति—यो मनसा सम्पादितः पूर्वोक्तास्याग्निसाधनोऽश्वमेध. स आसः यत्नं वायेन निष्पादितो बाह्यादिसादित्येतुक. स द्वितीय इत्यर्थः । ननु कथमादित्यस्य उभयविधाश्वमेधत्वम् न हि तस्य मनोदेहनिर्वर्त्य-क्रियात्वम्, नैवम् उभयो गावदश्वमेधयिया मानती वायिन्वे च तदनुष्ठानात् योऽपूर्वादित्यपरिणामस्तद्वारा सवितैव मानसोऽश्वमेधो य. पूर्वमुपा वेत्यादिनाऽनुनासः काविकोऽपि स एव यं सासादत्वादिति निर्वर्तयति “अनो प्रास्ताहुतिः सम्पगादित्यमुषतिप्यो” इति स्मृत्यः । १३. कथमादित्यस्यात्मा संवत्सरः ॥ हि कालेन परि-च्छिन्नो न तदभिज्ञो भवति तत्राह—सन्निर्वर्त्यत्यादि । १४. आदित्यरूपोऽग्निश्चित्याग्नेर्निमिष निम । १५. तथापीति—अत्राग्नेर्लोकावयवत्ववचनेऽतीत्यर्थः ।



ययाविशेषितावकाश्वमेधो 'क्रतुफले । 'अर्को यः। पायिवोऽग्निः स साक्षात्क्रतुरूपः  
क्रियात्मकः क्रनोरग्निसाध्यत्वात्तद्रूपेणैव निर्देशः । क्रतुसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव  
निर्देश आदित्योऽश्वमेध इति ।

तो साध्यसाधनो क्रतुफलभूतावगत्यादित्यो सा उ पुनर्भूय एकैव देवता भवति ।  
का सा, मृत्युरेव । पूर्वमप्येकैवाऽऽसी'त्क्रियासाधनफलभेदाय विभक्ता । तथा चोक्तम् "स  
त्रेधाऽऽत्मानं द्यमुस्त" इति । सा पुनरपि 'क्रियानिवृत्त्युत्तरकालमेकैव देवता भवति

स्मकत्वं चिरपाग्नेवत्तं तद्विहास्युच्यते 'तस्मात्तस्यैवाप्राऽऽदित्यत्वमिष्टमित्यर्थः । 'अग्न्यादित्यमेवस्य  
लोकेश्वरसिद्धयश्च तयोरेकेन क्रतुना तादात्म्यमित्याशङ्क्याऽह—ताविति । ययाविशेषितस्यमादित्य-  
क्रतुरूपत्वम् । कुतस्तस्य 'वाकस्य क्रतुरूपत्व साधनत्वेन भेदादित्याशङ्क्यो'पचारादित्याह—क्रियारमम  
इति । 'तथाऽपि कथमादित्यस्य क्रतुतादात्म्योक्तिरित्याशङ्क्याऽह—क्रतुसाध्यत्वादिति ।

नवादित्यस्य क्रतुफलत्वेन क्रतुत्वे सत्यपि तद्वेतोरग्नेरादित्येन सहसतादात्म्यायोगादपुक्तमग्ने-  
रादित्यत्वमित्याशङ्क्याऽह—ताविति । क्रतुफलत्वात्तादात्मा सधिता तद्वेतुश्चित्यो'ऽग्निस्तावु'क्त'विभा-  
गाद्वयत्वादितीपासनादि'व्यापारी सन्ताविकैव प्राणाख्या देवतेति' तयोरेक्योक्तिरित्यर्थः । एकैवेत्युच्यते  
प्रकृतयोरेक्यादित्ययो'रन्यतरपरिशेषं शङ्कते—का सेति । कथ द्वयोरेकत्वमेकत्वे वा कथं द्वित्वं तत्राऽऽह  
—पूर्वमपीति । उच्यतेऽर्थं बाधयोपक्रममनुकूलयति—तथा चेति । सा पुनरित्यत्र पुनरित्यादेशर्थं निगमयति

इसीने "पूर्वं दिशा सप्तका शिर है" इत्यादि वाक्यो से पहले व्याख्या की जा चुकी है । वे ये अग्नि और  
आदित्य, यद्योक्त विशेषणो से अर्क और अश्वमेध यज्ञ यज्ञ और फल हैं । अर्क जो पायिव अग्नि है, वह  
साक्षात् यज्ञ स्वरूप है । याग अग्निसाध्य है, इसलिये उसी रूप से उसका निर्देश किया जाता है । फल  
के यज्ञसाध्य होने से आदित्य अश्वमेध रूप है, ऐसा यज्ञ रूप से उसका निर्देश किया जाता है ।

वे यज्ञरूप अग्नि और फलभूत आदित्य साध्य और साधन हैं । अग्नि और आदित्य तादात्म्य  
से वह एक ही देवता है । वह देवता कौन है? मृत्यु ही है । उस एक मृत्यु देवता का ही अश्वमेध क्रिया  
अश्ववादि साधन एवं मृत्यु फल भेद से विभाग हो गया । जैसे कहा भी है—"उस मृत्यु ने तीन प्रकार

- १ क्रतुफले इति-एव क्रतुरूपोऽग्निरपरत्वं फलभूतीर्क इत्यर्थः । २ तावानीत्यादिनपहवाक्य व्यापत्ते अर्को  
य इत्यादिना । ३ क्रियेत्यादि क्रिया-अश्वमेध, साधनम्-अश्ववादि । एते-मृत्युरेव । तेषा परस्पर भेदाय भिन्न-  
त्वेन व्यवहारणं वा वागवचनभेदाय विभक्ता इति । ४ स त्रेधाति इत्य मृत्योर्विभागे सत्येव त्रयोऽर्थे भेद-  
व्यवहार इति भावः । ५ क्रियादीति पाठान्तरम् आदिना कारकादि । ६ तस्मादिति-उपक्रमादुरोधात्  
उपक्रमोपसहारादयोरेकत्वान्यथाह्येत्यर्थः । ७ नवादित्य क्रतुरक्त तद्वेतुश्चानिस्तत्त्व तयो माध्यसाधनयो  
रेक्यमित्यभिप्रेत्याह-अन्यादित्येति । ८ आहोति-आदित्यचित्वाग्न्योऽभयोरैकत्वमनूद्यमृत्य्वा मनः सुमेध  
मह एव त्वमाहृत्यर्थः । ९ अग्नेरित्यर्थः । १० साध्यसाधनयोरेकत्वेदारोपादित्यर्थः । ११ चित्वा-  
नेरादोपात्तक्रतुरूपत्वेऽपि । १२ अग्निरिति-तदास्येत्यनुपपन्नः । १३ स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकृष्टेत्युक्तिविभागादित्यर्थः ।  
१४ विभागावस्थापित्ति पाठान्तरम् अर्थस्त्वविधि उभयत्रापि । १५ व्यापारादिनि कृतकर्तृत्वावित्यर्थः ।  
१६ इति-एवमर्थः । १७ अयत्तरपरिचोपमिति-एकस्य अपरस्मिन्नतत्त्वानवर्ग उभयोरेकदेवतात्वं भविष्यतीति  
कस्य जस्मिन्नन्तर्गतत्वेन मुख्यत्वेन परिचोप इत्याशयेन "तद्धन इत्यर्थः ।

'मृत्युरेव फलरूपः । यः पुनरेवमेवमश्वमेधं मृत्युमेका देवतां वेदाहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध  
एका देवता मद्रूपाश्वाग्निसाधनसाध्येति । सोऽप्यजयति पुनर्मृत्यु पुनर्मरणं सृष्टमृत्वा  
पुनर्मरणाय न जायत इत्यर्थः । अपजितोऽपि मृत्युरेन पुनराप्नुयादित्योशङ्क्याऽऽह—  
नैनं मृत्युराप्नोति । कस्मात् । मृत्युरस्यैवंविद आत्मा भवति । किंच मृत्युरेव फलरूपः  
सन्नेतासां देवतानामेको भवति तस्यैतत्फलम् ॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीय ब्राह्मणम् ।

द्वया हेत्याद्यस्यै कः संवन्धः । कर्मणां ज्ञानसहितानां परा भवतिरक्ता मृत्वा-

—सा पुनरिति । ननु फलकथनार्थमुपक्रम्य प्राणात्मनाऽज्ज्यादित्यपरेकत्वं वदता प्रकान्तं विस्मृतमिति  
नेत्याह—य पुनरिति । एकत्वमभिज्ञत्वम् ॥७॥

से अपना विभाग किया"—। पुन वह ही क्रियाकारकादि निष्पत्ति के लिए, उत्तरकाल मे एक ही  
देवता मृत्युलक्षण प्राणास्य फलरूप हो जाता है । जो इस अश्वमेध को इस प्रकार मृत्युरूप एक देवता  
जानता है, अर्थात् 'मैं ही अश्वमेध रूप मृत्यु हूँ, अश्व और अग्नि रूप साधन से सिद्ध होने वाला एक  
मृत्युरूप देवता मेरा स्वरूप है' इस प्रकार जो उपासना करता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात्  
एक बार मर कर पुन मरने के लिए उत्पन्न नहीं होता । पराजित होने पर भी इसे मृत्यु पुन ग्रहण कर  
लेगी—ऐसी शक्ता होने पर कहते हैं—इसे मृत्यु पुन प्राप्त नहीं करती । ऐसा क्यों? क्योंकि इस प्रकार  
उपासना करनेवाले का मृत्यु आत्मा हो जाता है । फलान्तर भी है कि उपासक मृत्यु ही का रूप होकर  
इन देवताओं मे एक हो जाता है—यही फल उपासक को मिलता है ॥७॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण पूर्ण हुआ ।

१ मृत्युरेवेति मृत्युलक्षणप्राणास्यैवेत्यर्थः । २ मनुवत् । ३ आत्मा भवतीति—ननु अनायासा हि मृत्युरि-  
त्यनायासविपासावती सबस्यूनप्रपञ्चसहर्षी या मृत्युर्भविता प्राणास्योपासया देवतोक्ता सैव देवता तत्तत्तुल्या-  
यादुपासितुरात्मा चेति हि क्षुत्पिपासादित सुदुखी स्यात् तन्नाशार्थं जन्ममरणोपासनेनेति चेत् मृत्योर्हि साक्षादारम्भा  
निर्वापिकी जपदिर्वाजत स चेदुपासितुरात्मा त्व सर्वोपद्रवरहितो न स्यात् अनायासादिना चोपलक्षणेन तस्य  
सर्वसहर्षत्वमेवेष्टमिति भावः । तदुक्तं वातिने— "अनायासावती योक्ता मृत्यु सर्वोपद्रवरता । सैवात्मा विदुष  
साक्षादारम्भा म्यादत्रसोऽमर ॥" इति यद्यपि विदुषो मृत्युरात्मा तथापि तस्य देहमवगन्धाध्यात्मिक मृत्युसंबन्ध  
स्पादिति चोद्य तु 'नैनमिति वाक्यम दत्तोत्तरम् तर्हि विदुषः क्षणैरमविनाशि तिष्ठेत् ततस्तस्य धारोत्स्वय्याहति-  
रित्यपि चोद्य 'मृत्युरस्य'ति वाक्येन दत्तसमाधानं प्राणात्मना निवृत्तो विद्वान् धर्तमानवेहमारुध्नमन्ति जहाति  
ततश्च तस्य सर्वसम्बन्धविनिर्माणो भवति न पुनर्मरणार्थं देह गृह्णाति इति भावः । तदुक्तं वातिने— "नैनमाध्या-  
त्मिको मृत्युस्तन्मृत्युत्वाद्वाप्नुयात् । सहन्मृत्यामुदेहं मुच्यते सर्ववन्धनादिनि ॥" अथ तन्मृत्युत्वादिति—अजरा-  
मरात्मना स्थितस्योपासितमृत्योर्गपि मृत्युत्वादित्यर्थः । अमुदेहेनेति प्राणात्मना स्थित इत्यर्थः । ४ ननु विदुष  
गर्वसम्बन्धविनिर्माणे न मुक्तोऽप्यादि प्रेष्यत्वादित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यार्थवचनेन परिहरति वि चेति—परागत-  
रमाह—निष्ठचेति । उपासक इति शेषः । ५ "तृतीयब्राह्मणे प्राण शुद्ध्यादिपुण्यसमुत् । हिरण्यगर्भप्राणार्थ-  
मुपास्य प्रतिपादिन ॥" इति वातिवचनम् । ६ परः । ७ फलम् । ८ मृत्युरस्यभाव इति । तस्याभावात्मा-  
भावविनामङ्गलक्षणपाम्बस्वरूपमृत्युम्यावृत्त्यर्थमत्रत्यमृत्युसन्दायं माहुरीतिवचनार्थं तथाहि— "प्राध्यात्मिकपरिच्छे-  
दव्यावृत्तिवत्समाध्यायान् । स मृत्युमृत्युसन्देहं पश्यन्तोऽत्र अण्यत्" इति यस्य सूत्रस्यास्यैव गमाश्रयात् । परि-  
च्छेदस्यावृत्ति देहपरिच्छेदाभिमाननिवृत्तिरित्यर्थः ।

त्मभावोऽश्वमेध'गत्युक्त्या । अथेदानीं मृत्यूवात्मभावसाधनभूतयोः 'कर्मज्ञानयोरेत' उद्भवस्त-  
त्प्रकाशनार्थमुद्गीयब्राह्मणमारभ्यते । ननु मृत्यूवात्मभावः पूर्वत्र ज्ञानकर्मणोः फलमुक्तम् ।  
'उद्गीयज्ञानकर्मणोस्तु मृत्यूवात्मभावातिक्रमणं फलं वक्ष्यति ।' अतो 'मिन्नविषयत्वात्फ-  
लस्य न पूर्वकर्मज्ञानोद्भवप्रकाशनार्थमिति चेत् । नायं दोषः । 'अग्न्यादित्यात्मभावत्वादु-

ब्राह्मणान्तरमवतार्य तस्य पूर्वत्र संबन्धाप्रतीतेन सोऽस्तीत्याक्षिपति—इया हेत्याद्यस्येति ।  
यिवक्षितं संबन्धं यवतुं वृत्तं कीर्तयति—कर्मणामिति । सा काष्ठा सा परा गतिरिति श्रुतेरक्ता परा  
गतिर्मुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—मृत्यूवात्मभाव इति । अश्वमेधोपासनस्य साश्वमेधस्य चैव तस्य वा फलमुक्तं  
नोपास्यन्तराणां कर्मान्तराणां चेत्याशङ्क्याश्वमेधफलोक्तयोपास्यन्तराणां वैयलानां समुत्तिष्ठतानां च  
फलमुपलभितमित्याह—अश्वमेधेति । वृत्तमनुद्योत्तरब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—अथेति । ज्ञानयुक्तानां कर्म-  
णां संसारफलवदप्रदर्शनानन्तरमिति यावत् । ज्ञानकर्मणोऽ'द्भावकस्य प्राणस्य स्वरूप निरूपयितुं  
ब्राह्मणमित्यु'र्याप्योत्थापकत्वं संबन्धमुक्तमाक्षिपति—नन्विति । मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते "इति मृत्योर-  
तिक्रमस्य वक्ष्यमाणज्ञानकर्मफलत्वात्पूर्वत्र च तद्भावस्य तत्फलस्योक्तत्वादुभयस्यापि फलस्य भेदापूर्वो-

### प्रथम अध्याय तृतीय ब्राह्मण

"इया ह प्राजापरया" इस मन्त्र से प्रारम्भ होने वाले इस ब्राह्मण का पूर्वब्राह्मण से क्या  
सम्बन्ध है? अश्व के फल द्वारा ज्ञानसहित कर्मों की मृत्युरूपता की प्राप्तिरूप चरम फल बतलाया  
गया है । अब यहाँ मृत्युस्वरूपता के साधनभूत कर्म और ज्ञान का जिस वक्ष्यमाण पाप्मस्वरूप से उदय  
होता है, उसी को स्पष्ट करने के लिए उद्गीथ ब्राह्मण का प्रारम्भ किया जाता है । (उत्थाप्य उत्था-  
पक भाव से) अब शका होयी है—पहले तो ज्ञान और कर्म का फल मृत्यूवात्मभाव है—ऐसा कहा । किन्तु  
उद्गीथ ब्राह्मणोक्त ज्ञान और कर्म का मृत्यूवात्मभाव का अतिक्रमण फल बतलाया जायगा । अतः ज्ञान  
कर्म के भेद से फल के भिन्न-उद्देश्यक होने के कारण पूर्व कर्मज्ञान के उद्भावक होने से प्रकाशन के लिए

१ गति — फलम् । २ अत उद्भव इति — यस्यान्तराणां वक्ष्यमाणपाप्मभिरनभिभव इत्यर्थः । ३ उद्गी-  
थज्ञानकर्मणो — उद्गीथब्राह्मणोक्तयोस्तयोरेत्यर्थः । ४ नृ०उ० १३१२ । ५ अत इत्यादि—अत इति  
भेदादित्यर्थः । ज्ञानकर्मणोरिति दोषः । ६ मिन्नविषयत्वादिति — भित्तोद्देश्यकरत्वादित्यर्थः । तथा च पूर्वोक्त-  
ब्राह्मणज्ञानकर्मणोर्मिन्नविषयत्वात् फलस्य भेदादित्येवमन्वयः । ७ उद्भावित्यर्थः । ८ अग्न्यादीति पाठान्त-  
रम् । ९ उपलक्षितमिति—उपलक्षणतयोकमित्यर्थः नरवक्ष्यमेधफलोक्तिस्तस्यानफलसप्रहर्षा सर्वस्मात्फलवदुपा-  
यरावेर्वाग्यस्येष्टत्वादिति दोषः, अश्वमेधफलोक्तेरपि ततो वैराग्यायैवत्वात् । ननु ज्ञानयुक्तानां कर्मणां  
सुनातिक्रमत्वे नच पितृलोकाद्यानि, न ह्येवमेव साधन ब्रह्मलोक पितृलोकादि च प्रापयति तत्कर्मणां पितृलो-  
क इत्यादिवाक्यविच्छेदमित्याशङ्क्य स्थापितं नातिके तयाहि—“अस्वीय फलसंप्राप्तिरत्यभोजनार्थमेत । अतएव  
मभिभूते स्वातव्योरागुरपाप्मभिरिति ।” महत्तराग्या ज्ञानवर्गम्या समुच्चिताम्या चैवलाद्वा तथाविधज्ञानार्थ  
ब्रह्मलोक । ताम्यामेवास्पीयोम्या पितृलोकादीनि व्यवस्थाया न व्युत्तिविरोधोऽस्तीत्यर्थः । ननु ज्ञानकर्मणो-  
रूपत्व तान न्यूनफलत्वं परिच्छिन्नफलत्वं वा । नाथ परस्परार्थयात् । नेतर सूत्राद्युपासनस्यापि तपाखेन  
पितृलोकोक्तफलवत्प्रसङ्गात् । अत आह—अतएवमिति । तयोर्ज्ञानकर्मणोरूपत्वम् आतुरपाप्मभिरभिभूत म्यात्  
तथा च तदभिभूतत्वमेव तदल्पत्वमित्यर्थः । १० अनभिभूतत्वकारणस्य पाप्मनिर्वक्ष्यमाणं । ११ उत्थाप्यत्वादि-  
पूर्वोक्तज्ञानकर्मणो जनभिभूत एव नति ब्रह्मलोकायाव नायथेत्यवगतव इत्युक्तिरुक्त आकांक्षा तयोर्वेदाध्यायार्थ-  
भवस्तत्ति स्वरूपमित्युत्थापनत्वोत्थाप्यत्वभावः । १२ नृ०उ० १३१२ ।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा  
एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पृधन्ते ते  
ह देवा ऊर्चुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥१॥

प्राजापति-के देव और असुर—ऐसे दो प्रकार के पुत्र थे । उनमें देवगण थोड़े ही थे और असुरगण अधिक थे (क्योंकि स्वाभाविक कर्म-जन्य प्रवृत्ति अधिक होती है और शास्त्र जन्य प्रवृत्ति मल्प होती है), इन लोको में वे दोनों ज्ञानसाध्य लोक के निमित्त परस्पर ईर्ष्या करते लगे, उनमें से देवों ने कहा—कि यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा हम असुरों को जीतेगे ॥१॥

‘द्वयोथफलस्य पूर्वत्राप्येतदेव फलमुक्तमेतासां देवतानामेको भवतीति । ननु मृत्युमति-  
क्रान्त इत्यादि विरुद्धम् । न । स्वाभाविकपाप्मासङ्गविषयत्वात्’तिक्रमणम् ।

‘कोऽसौ स्वाभाविकः पाप्मासङ्गो मृत्युः । कुतो वा तस्योद्भवः । केन वा तस्या-  
तिक्रमणम् । कथं वेत्येतस्यार्थस्य प्रकाशनायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते । कथम्—

‘त्तरयोर्ज्ञानकर्मणो विषयशब्दितोद्देश्यमेवात्र पूर्वोक्तपोस्तयोर्’द्वयकारणप्रकाशनार्थं ब्राह्मणमित्यर्थः । पूर्वोत्तरज्ञानकर्मफलभेदाभावादेकविषयत्वात्तदुद्भावकप्रकाशनार्थं ब्राह्मणं युक्तमिति परिहरति—नाय-  
मिति । बाध्यशेषविरोधं शङ्कित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना । स्वाभाविकः शास्त्रज्ञानाभेधो योऽयं पाप्मा  
विषयासङ्गरूप स मृत्युस्तस्यातिक्रमण बाध्यशेषे कथ्यते नहि हिरण्यगर्भस्यमृत्योरतः पूर्वोक्तज्ञानकर्मभ्यां  
‘तुल्यविषयत्वमेयोत्तरज्ञानकर्मणोरित्यर्थः ।

ज्ञानकर्मणोर्द्वयायक भवतु ब्राह्मणमारभ्यतमाख्यायिका तु किमर्थेत्पाशङ्क्य तस्यास्तात्पर्य-  
माह—कोऽमाविति । कथं यथोक्तो ब्राह्मणस्यायिकयोरर्थः शक्यो जातुमित्याकाङ्क्षा निक्षिप्याक्षराणि

नहीं हो सकते । (शका का परिहार करते हैं—) यह दोष नहीं है । क्योंकि उद्गीथ ब्राह्मणोक्त ज्ञान कर्म  
फल का प्रयोजन है—अग्नि एव आदित्य आत्मभाव । पहले भी “वह उपासक इन देवताओं में से कोई एक  
देवता हो जाता है” — इस वाक्य से यही फल बतलाया है । (पूर्वोत्तरज्ञानकर्म की अग्न्यादिदेवतात्मभाव  
फलरूपता होने से) यदि कहो ‘मृत्यु को अतिक्रमण कर लेता है—यह कथन विरुद्ध है । ऐसा कहना ठीक  
नहीं । अतिक्रमण वाक्य का “स्वाभाविक पाप्मासङ्गरूप मृत्यु का अतिक्रमण”—यह अर्थ है ।

वह शास्त्र अनाद्येय पाप्मासङ्ग मृत्यु क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? किससे उसका  
अतिक्रमण होता है? किस प्रकार इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए आख्यायिका का प्रारम्भ किया  
जाता है? किस प्रकार?—‘द्वय’—अर्थात् दो प्रकार के थे । ‘ह’ यह निपात पूर्व प्रसङ्ग का घेतक है ।

१ उद्गीथब्राह्मणात् पानकर्मफलस्य । २ नन्विति—पूर्वोत्तरज्ञानकर्मणोरग्न्यादिदेवतात्मभावफल इति  
दोषः । ३ अतिक्रमणस्य—अतिक्रमणवाक्यस्य । ४ वाऽप्रावित्यादि-प्रथम स्वरूपप्रश्नः । द्वितीय कारण-  
प्रश्नः । तृतीय अतिक्रमणप्रश्नः । चतुर्थ इति च त्वत्तात्पर्यमाश्रयशेषोपकरणप्रश्नः । ५ अनादिमू-  
लत्वनारण्येत्यर्थः । ६ उद्देश्यवत्त्वात् । ७ एवोद्देश्यवत्त्वम् । ८ एव च हिरण्यगर्भमन्वादिर्महाफलम-  
वान्तरफलं तु पाप्ममल्पनिजम् इति विधेयः । ९ उत्थाप्य ।



यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभावित्वा असुराः, ततस्तस्मात्कानीयसा. कनीयांस एव कानीयसाः स्वार्थेऽपि वृद्धिः कनीयांसोऽल्पा एव देवाः । ज्यायसा असुरा ज्यायांसोऽसुराः । स्वाभाविकी हि कर्मज्ञानप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणानां शास्त्रजनितायाः कर्मज्ञानप्रवृत्तेः । दृष्ट-प्रयोजनत्वात् । अत एव कनीयस्त्व देवानां, शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात् । अत्यन्तयत्न-साध्या हि सा ।

ते देवाश्चासुराश्च प्रजापतिशरीरस्था एषु लोकेषु निमित्तभूतेषु स्वाभाविकेतर-कर्मज्ञानसाध्येष्ववस्थाप्यन्त स्पर्धा कृतवन्तः । देवानां चासुराणां च वृत्त्युद्भवामिभौ स्पर्धा कदाचिच्छास्त्रजनितकर्मज्ञानभावनारूपा वृत्तिः प्राणानामुद्भवति । यदा चोद्भवति

तत इत्यादिवाक्येभ्यं व्याचष्टे—यस्माच्चेति । देवानामल्पत्व प्रपञ्चयति—स्वाभाविकी हीति । महत्तरत्वे हेतुहं दृष्टप्रयोजनत्वादिति । असुराणां बहुत्व प्रपञ्चयति—शास्त्रजनितेति । असुराणां बाहुल्य-मिति शेषः । तत्रैव साधयति—अत्यन्तेति ।

उभयेषां देवासुराणां मिथं संघर्षं दर्शयति—ते देवाच्चेति । कथं ब्रह्मादीनां स्थावरान्तामा-भोगस्यानाना स्पर्धानिमित्तस्त्वमित्याशङ्क्य तेषां शास्त्रीयेतरज्ञानकर्मसाध्यत्वात्तयोश्च देवासुरजया-धोनत्वात्तस्य च स्पर्धापूर्वकत्वात्परम्परया लोकानां तन्निमित्तस्त्वमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—स्वाभाविकेति ।

जन बाले कर्म और उपासना से संस्कृत, वे प्राण ही असुर हैं । अथवा केवल अपने ही प्राणों के संरक्षण में तत्पर रहने के कारण सुर यानी देवताओं से निभ्र होने से वे असुर कहाते हैं ।

क्योंकि असुर दृष्टप्रयोजन वाले ज्ञान और कर्म से संस्कृत हैं इसलिए देवता अल्प हैं । कनीयान् शब्द में ही स्वार्थ में अणुप्रत्यय होकर आदिबुद्धि करके 'कानीयस' सिद्ध हुआ । 'कनीयस' अपार्ति देवता अल्प ही है । असुर ज्येष्ठ है, अथवा अपेक्षाकृत अधिक महान् है । क्योंकि (हिंसा-अनुतादि रूप स्वाभाविक अज्ञान जनित कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण) दृष्टप्रयोजन वाली प्राणों की शास्त्रजनित कर्म-ज्ञान प्रवृत्ति की अपेक्षा उनमें स्वाभाविकी कर्मज्ञान प्रवृत्ति ही अधिक होती है । इसलिए देवताओं की अल्पता है, क्योंकि शास्त्रजनित प्रवृत्ति की अल्पता है, अत्यन्त प्रयत्न करने पर (शास्त्रजनित प्रवृत्ति) सिद्ध होती है ।

वे देवता और असुर प्रजापति के शरीर में रहते हैं । स्वाभाविक एवं शास्त्रजनित कर्म और ज्ञान से साध्य इन लोकों के लिए वे परस्पर संघर्ष करने लगे । दैवी और आसुरी चित्तवृत्तियों का उठना और दबना ही इन देवताओं और असुरों की स्पर्धा है । कभी तो प्राणों की शास्त्रजनित कर्म-ज्ञान भावनास्वरूपा शमादिवृत्ति होती है । और जब यह उठती है तो दृष्टप्रयोजन वाली प्रत्यक्ष

१ दृष्टप्रयोजनत्वादिति—हिंसाप्रवृत्तिरूपाया स्वाभाविकी ज्ञानकर्मप्रवृत्तिरिति शेषः । २ स्पर्धा कृतवन्त इति । स्पर्धां कुर्वता देवानामयमभिप्रायं वाचिने—“असुराण्योऽधिकारम्यो व्युत्पाप्यहं प्रजापतिम् । दैवीभूमि-न्यायमिति देवचिकीर्षितम् ॥” असुराणामयमभिप्रायः—“देवस्य एतमाच्छिद्य कामक्रीयादिसाधना । आनया-मानुरीभूमिरीरितं दैत्यनिश्चितम् ॥” इह—व्यवहारमार्गे स्थित प्रजापति—यजमानम् आसुराधिकारा वायादयः । ध्रुवाप्य विमुक्तीदृश्यः । देवभूमि—देवसम्पद इत्यर्थः । ३ वृत्ति शमादिरूपा । ४ भोगभूमिशरीरा-णामित्यर्थः । ५ तयो—शास्त्रीयेतरज्ञानकर्मणो ।

तदा दृष्टप्रयोजना प्रत्यक्षानुमानजनितकर्मज्ञानभावनारूपा तेषामेव प्राणानां 'वृत्तिरासुयं-  
मिभूयते । स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः । कदाचित्तद्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत  
आसुर्या उद्भवः । सोऽसुराणां जयो देवानां पराजयः । एवं देवानां जये धर्मभूयस्त्वा-  
दुत्कर्ष आ प्रजापतित्वप्राप्तेः । असुरजयेऽधर्मभूयस्त्वादपकर्ष आ स्थावरत्वप्राप्तेः ।  
उभयसाम्ये मनुष्यत्वप्राप्तिः । न एवं 'कनीयस्त्वाद'भिभूयमाना असुरेर्देवा बाहुल्याद-  
सुराणां किं कृतवन्त इत्युच्यते—ते देवा असुरेरभिभूयमाना ह किलोच्चरुक्तवन्तः ।  
कथम् । हन्तेदानीमस्मिन्मजे ज्योतिष्टोम उद्गीथेनोद्गीथकर्मपदार्थं कर्तृस्वरूपाश्रमणो-  
नात्ययामातिगच्छामः । असुरानभिभूय स्वं देवमायं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपद्यामह  
इत्युक्तवन्तोऽन्योन्यम् । उद्गीथकर्मपदार्थं कर्तृस्वरूपाश्रमणं च 'ज्ञानकर्मभ्याम् । कर्म  
वक्ष्यमाणं मन्त्रजपलक्षणं विधित्स्यमानं तदेतानि जपेदिति । ज्ञानं त्वदमेव 'निरूप्य-  
माणम् ।

का पुनरेषां स्वर्था नामेत्याशङ्क्याऽह—देवानां चेति । तामेव सफला विवृणोति—कदाचिदित्यादिना ।  
अधिकृतैरसुरपराजये देवजये च प्रयतिव्यमित्यनुषहबुद्ध्यया जयफलमाह—एवमिति । आकाङ्क्षापूर्वक-  
मनन्तरवाच्यमावाय व्याकरोति—त एवमित्यादिना । योज्यमुद्गीथो नाम कर्माङ्गभूत पदार्थस्तत्कर्तुः  
प्राणस्य स्वरूपाश्रमणमेव कथं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽह—उद्गीथेति । किं तत्कर्म किं वा ज्ञानं तदाह—  
कर्मैति । तदेतान्य'सतो मा सद्गमयेत्यादीनि यजूंषि जपेदिति विधित्स्यमानमिति योजना ।

अनुमान जनित कर्मज्ञानभावनारूपा, उन प्राणो की कामादि रूपा आसुरीवृत्ति दब जाती है । यह  
देवताओं की जीत है, और असुरों की हार है । कभी उल्टा हो जाता है, देवताओं की घमादिवृत्ति  
दब जाती है, एव राक्षसों की कामादिवृत्ति उत्पन्न हो जाती है । यह असुरों की जीत है और देवताओं  
की हार है । इस प्रकार देवताओं की जीत होने पर धर्म की अधिकता से प्रजापतित्व प्राप्ति पर्यन्त  
(वागाद्यपहित यजमान का) उत्कर्ष होता है । असुरों की जीत से अधर्म के बाहुल्य से स्थावरत्व प्राप्ति  
पर्यन्त अपकर्ष होता है । धर्म और अधर्म के समान होने से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है । असुरों के  
प्राबल्य से एव निराश्रय होने से उनके द्वारा पीड़ित करने से उन देवताओं ने क्या किया? इस पर कहते  
हैं—असुरों द्वारा पीड़ा पहुँचाए जाने पर वे देवता इस प्रकार बोले । किस प्रकार बोले? "अरे ! अब  
इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ पदार्थ के उद्गाता स्वरूप प्राण के आश्रय से हम  
असुरों का अतिक्रमण करेंगे । असुरों का पराभव कर शास्त्रप्रतिपादित अपने देवभाव को प्राप्त करेंगे"  
—इस प्रकार एक दूसरे से बोले । उद्गीथ कर्माङ्गभूत पदार्थ के उद्गाता स्वरूप प्राण का आश्रय

- १ वृत्ति कामादिरूपा । २ उत्कर्ष इति—वागाद्यपहितस्य यजमानस्येति शेषः । ३ कनीयस्त्वादिना—  
निराश्रयत्वाच्चेति शेषः । ४ अभिभूयमाना—पीडयमाना । ५ बाहुल्यादिति प्राबल्याच्चेति शेषः ।
- ६ उद्गीथमंत्रादि—उद्गीथनामको य कर्माङ्गभूत पदार्थः । यद्वा उद्गीथरूपो य कर्मपदार्थं त्रियात्मकः ।
- ७ तस्य कर्ता प्राण सत्येव प्राणे सामयानात्मकोद्गीथस्य साम्यत्वात् । तत्स्वरूपाश्रयत्वेत्यर्थः । यद्वा कर्ता  
उद्गाता तस्य स्वरूपम् आत्मा प्राण एव तदाश्रयणेत्यर्थः । ८ प्राणवियवकोपासनमसंमनुष्यमायुष्टाना-  
दित्यर्थः । ९ ज्ञानं त्वदमेवेति—अनुष्ठानादिपरित्यागपूर्वकषु द्रष्टव्यप्राप्तयेत्यर्थः । १० निरूप्यमाणम्  
—परोक्षमात्र विचार्यमाणमिति यावत् । ११ वृ० उ० १३ २८ ।

नन्विदमभ्यारोहजपविधिषोडशोऽर्थवादो न ज्ञाननिरूपणपरम् । न । 'य एवं वेदेति' वचनात् । उद्गीथप्रस्तावे पुराकल्पश्रवणादुद्गीथविधिपरमिति चेत् । न । अप्रकरणात् । उद्गीथस्य चान्यत्र विहितत्वात् । विद्याप्रकरणत्वाच्चास्य ।

अभ्यारोहजपस्य चानित्यत्वात् । 'एवंवित्रयोऽप्यत्वात् । विज्ञानस्य च 'नित्यवच्छ्र-

द्वया हेत्यादि न ज्ञाननिरूपणपर जपविधिषोपत्वेनार्थवादत्वात्तत्कुतोऽत्र ज्ञानस्य निरूपणमात्र-  
त्वमित्याक्षिपति—नन्विति । आभिमुख्येनाऽऽरोहति देयभावसन्नेत्यभ्यारोहो मन्त्रजपस्तद्विधिषोडश-  
वाचो द्वया हेत्यादिवाक्यमित्यर्थः । उपास्तिविधिश्चवणात्तत्परं वाक्यं न जपविधिशेष इति दूषयति—  
नेति । 'मा भूजपविधिषोपस्तथाऽप्युद्गीथाद्येत्यौद्गीथाश्रयः' मन्त्रेणः सन्निधाने 'पुरातनकल्पनाप्रकारस्य द्वया  
हेत्यादिना श्रवणात्तद्विधिषोडशोऽर्थवादोऽयमिति शङ्कते—उद्गीथेति । नैवं वाक्यं 'ज्ञानं चोद्गीथविधि-  
शेषस्तत्प्रकरणत्वाभावेन संनिध्यभावादिति दूषयति—नाप्रकरणादिति । 'उद्गीथस्तहि वध विधी-  
यते न खल्वविहितमङ्ग' भवति तत्राऽह—उद्गीथस्य चेति । अन्यत्रेति कर्मकाण्डोक्तिः । अथोद्गीथाद्येत्यु-  
द्गीथविधिरपीह प्रतीयते तत्कथं संनिधिरपेक्षते—तत्राऽह—विधेति । उद्गीथविधिरिह प्रतीयमान-  
'प्राणस्योद्गीतातृहृद्योपासनविधिरन्यथा प्रकरणविरोधादित्यर्थः ।

जपविधिषोपत्वमुद्गीथविधिषोपत्वं वा ज्ञानस्य नास्त्येत्युक्तम् । इदानीं जपविधिषोपत्वाभावे युक्त-  
त्यन्तरमाह—अभ्यारोहेति । अनित्यत्वं साध्यमिति—एवमिति । प्राणविज्ञानवत्प्राणोऽप्येव जपो न तद्विज्ञा-  
नात्प्राणस्ति 'तन्नासो पश्चाद्वाची प्राणेष सिद्धं विज्ञानं' 'प्रयोजयतोत्यर्थः' । 'तस्यापि प्राचीनार्थं कथमि-  
त्याशङ्क्याऽह—विज्ञानस्य चेति । य एवं विद्वान्पौरुषमासी यजत इतिवच्च एवं वेदेति विज्ञानं श्रुतम् । न

प्राणविषयकं कर्म के समुच्चय रूप अनुष्ठान से हो सकता है । प्राण कहा जाने वाला वह कर्म मन्त्र जप  
लक्षण वाला है । 'तदेतानि जपेत्' इस वाक्य से उसका विधान किया जाना है । यही (पशुदवागादि  
का परित्याग कर शुद्ध प्राणों की उपासना ही) वह ज्ञान है, जिसका विचार किया जायगा ।

यदि शङ्का करो, कि यह तो अभ्यारोह मन्त्रजप विधि का शेषरूप अर्थवाद है, ज्ञानपरीक्षण  
परक नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । इसमें "जो ऐसा जानता है" यह श्रुति प्रमाण है । यदि कहो  
उद्गीथप्रकरण में आख्यायिकास्था पुरातन कल्पनासम्बन्धी श्रुति होने से उद्गीथ विधिपरक  
है, तो ठीक नहीं, क्योंकि यह तो उद्गीथ का प्रकरण नहीं है । सामोद्गीतान रूप उद्गीता ने कर्म का  
अन्यत्र विधान किया गया है । यहाँ तो विद्या का प्रकरण है ।

इसमें दूसरा भी हेतु बतलाते है, कि अभ्यारोह जप अनित्य है । वह प्राण विज्ञानी द्वारा ही

१. वृ० उ० १३७ । २ उद्गीथस्य—सामोद्गीतानरूपस्योद्गीतात् कर्मण । ३ एवंवित्रयोऽप्यत्वादिति—प्राण-  
विज्ञानवत्प्राणोऽप्येव जप इत्यर्थः । जपस्य प्राणविज्ञानवत्प्राणोऽप्येव जप इत्यर्थः । ४ नित्यवच्छ्रवणादिति—सिद्धवच्छ्रवणादित्यर्थः ।  
एव वेदेति तस्य सिद्धवच्छ्रवणं न तु एव विद्यादिति साध्यवदित्यर्थः । ५ पुरातनकल्पनाप्रकारस्येति—आख्या-  
यिकारूपस्येत्यर्थः । ६ प्राणोपासनम् । ७ उद्गीथविधिष्वनभ्युपगमे । ८ प्राणस्येति—उद्गीथानुवादेन  
वागादिनिन्द्याद्वारा भुक्षेत्यादि । ९ तन्नासावित्यादि । असी जप पश्चाद्वाची प्राणेष सिद्धं विज्ञानं न प्रयो-  
जयति विज्ञानप्रयोजको न भवतीति योजना तथा च जपस्य प्राणसिद्धत्वेनाप्रयोजनत्वात् विज्ञानं प्रति शेषित्वं न  
पठते वेदिना हि प्राक् सिद्धवच्चित्तव्यम् शेषं प्रति प्रयोजकत्वादिति भावः । १० अनुष्ठानपतीत्यर्थः ।



वणात् । "तद्वैतल्लोकजिदेव" इति च श्रुतेः । प्राणस्य वागादीनां च शुद्धचशुद्धि-  
वचनात् । न ह्यनुपास्यत्वे प्राणस्य शुद्धिवचनं वागादीनां च सहोपन्यस्तानामशुद्धिवचनं  
वागादिनिन्दया मुख्यप्राणस्तुतिश्चाभिप्रेतोपपद्यते । मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते इत्यादि  
फलवचनं च । प्राणस्वरूपापत्तेर्हि फलं तद्यद्वागादीनामभ्यादिभावः ।  
भवतु नाम प्राणस्योपासनं न तु विशुद्ध्यादिगुणवत्तेति । ननु स्याच्छ्रुतत्वात् ।

हि प्रयाजादि पौर्णमासी प्रयोजकम् । तस्या एव तत्प्रयोजकत्वात् । तथा प्राणवित्प्रयोज्यो जपो न  
विज्ञानप्रयोजकः । तस्य स्वप्रयोजकत्वेन प्रागेव सिद्धेरावश्यकत्वादित्यर्थः । "फलदत्त्वाच्च प्राणविज्ञानं  
स्वतन्त्रं विधिरसितमित्याह—तद्वैति । प्राणोपास्तेविवक्षितत्वे हेतुवन्तरमाह—प्राणस्येति । यद्धि स्तूयते  
तद्धिधीयते इति न्यायमाभित्यक्तमेव प्रपञ्चयति—न हीति । इतश्च प्राणोपास्तिरत्र विधिरसितेत्याह  
—मृत्युमिति । फलवचनं प्राणस्यानुपास्यत्वे नोपपद्यत इति संबन्धः । "उक्तमेव ध्यनक्ति—प्राणेति ।  
मृत्युमोक्षणानन्तरं वागादीनां यदन्यादित्वं फलं तदध्यात्मपरिच्छेदं हित्वोपासितुराधिदैविकप्राणस्वरू-  
पापत्तेरुपपद्यते । तस्माद्विधित्सितंवात्र प्राणोपास्तिरित्यर्थः ।

"उक्तन्यायेन प्राणोपास्तिमुक्तस्य प्राणदेवतां शुद्ध्यादिगुणवतीमाक्षिपति—भवत्विति । यथा

अनुष्ठेय है । प्राण विज्ञान सिद्धवत् सुना गया है । श्रुति भी कहती है—'कर्म से असहकृत केवल  
प्राणविज्ञान, लोको की प्राप्ति कराने वाला ही है ।' प्राणोपासना में प्राण और वागादि की शुद्धि और  
अशुद्धि का वर्णन होने से भी यह विद्या वा प्रकरण सिद्ध होता है । प्राणोपास्ति न होने पर प्राणो की  
शुद्धि का वर्णन करना, उसी के साथ प्रतिपादित वागादि की अशुद्ध कहना, नहीं बनता । इससे

१ तद्वैतदिर्यादि—हं शब्दोऽत्र केवल्य ब्रूते सर्वनामनी चोपासन तथा च केवल (वर्माहृतम्) प्राणोपासन  
सूत्रात्मवसाधनमेव भवतीति वाच्यम् । २ बृ० उ० १२२८ । ३ शुद्धीत्यादि—प्राणस्य शुद्धिः शुद्धिद्वय  
वागादीनामित्युक्तिवशादस्मिन्प्रकरणे प्राणोपास्तिरभिप्रेता अन्यथा तच्छुद्ध्यादिवचनमनर्थकं स्यादित्यर्थः । ४  
न हीत्याद्युपपद्यत इत्यन्तस्य भाष्यस्यायमर्थः । वागादीनामशुद्धत्वेन निन्दा प्राणस्य शुद्धत्वेन स्तुतिरित्यर्थवादा-  
त्स्तिज्ज्ञात्वा प्राणोपासने विधि कल्प्यत इति । अर्थवादलिङ्गक विधिवत्त्वमन्यत्रापि प्रसिद्धमिति वक्तुमभिप्रेते-  
त्युक्तम् । ५ बृ० उ० १३१२ । ६ अन्यादिभाव इति—"तद्वैतल्लोकजिदेवे"त्यत्र प्राणोपास्ते सूत्रात्मव  
फलमुक्तम् इह च मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत इति वाक्ये तत्त्वम् (सूत्रात्मभावप्रयुक्तम्) वागाद्युपास्तेरग्न्याद्यात्म-  
त्वमुपासितुर्वागादीनामुच्यत इति विशेषः । एव प्राणोपास्ते विधिरसितत्वाद्विशेषो द्रव्य हेत्यादिरिति भावः ।  
७ नवित्यादि—शुद्ध्यादिगुणवती प्राणदेवता नास्ति प्रमाणाभावात् । उपासितिविधिरस्येन धृतैरुक्तदेवताया-  
मतात्परादित्यर्थः । ८ नवित्यादि—ननुरावधारणे—श्रुतत्वादगुणवत्तापि स्यादेवेत्यर्थः । ९ अनुष्ठापनम् ।  
१० आवश्यकत्वादित्यर्थः इति यद्वा—अनावश्यको हि जपः प्राणविदा तस्याननुष्ठेयत्वसम्भवात् असत्यपि जपे विद्युयो  
विद्यया फलसिद्धे । उपासनं स्वावश्यकम् तद्विना जपमात्रेणोत्पृष्टफलासिद्धे ततोऽनित्यस्य जपस्य नित्यवच्छ्रुतो-  
त्त्वानावश्यकत्वे एव नित्यत्वानित्यत्वे इति व्येयम् । ११ किं चेह प्रकरणं तद्वैतदिति नाल्यादुत्पृष्टफलविनिष्ट  
प्राणविज्ञानं यत् श्रुतं तत् फलवत्त्वादपि तद्विषय विज्ञानं विधातुमिष्टमिति द्रव्य हेत्यादिवाक्ये तत्तरमेव न विध्य-  
न्तरपरमित्याह—अनवस्थाच्येति । १२ स्वतन्त्रमिति न वस्यविच्छेदप्रभृतमित्यर्थः । १३ उक्तम्—अनुपपन्नत्वेमे-  
त्यर्थः । १४ ध्यनक्ति—विधियुक्तेन स्पष्टप्रतीत्यर्थः । १५ तस्मादिनि—यथोक्तफलस्य प्राणस्वरूपापत्तिनिमित्त-  
त्वादित्यर्थः । १६ उपादिष्टाद्युत्पत्तिनिर्वापनेत्यर्थः ।

न स्यादुपास्यत्वे स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः । न । अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेय प्राप्त्युपपत्तेर्लोकवत् । यो ह्यविपरीतमर्थं प्रतिपद्यते लोके स इष्टं प्राप्नोत्यनिष्टाद्वा निवर्तते न विपरीतार्थ-  
प्रतिपत्त्या । तथेहापि श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेय प्राप्तिरूपमत्रा न विपर्यये ।

न चोपासनार्थश्रुतशब्दोत्थविज्ञानविषयस्यायथावत्त्वे प्रमाणमस्ति । न च तद्विज्ञा-

प्राणस्योपपत्तिः शास्त्रदृष्टत्वादिप्रा तयाऽस्य गुणसम्बन्ध श्रुतत्वादेष्टव्यं उपास्तानुपास्ये न गुणवति प्राणे  
प्रामाणिकप्राप्तेरविशेषादिति सिद्धान्तो ब्रूते—नन्विति । प्राणस्योपास्यत्वेऽपि शुद्धधादिगुणवादस्य  
स्तुत्यर्थत्वेनायं वादत्वसम्भवाच्च यथोक्ता देवता स्यादिति पूर्ववाद्याह—न स्यादिति । विशुद्धधादिगुणवा-  
दस्यायं वादत्येऽपि नाश्रुतार्थत्वात्त्वमिति परिहरति—नेति । विशुद्धधादिगुणविशिष्टप्राणदृष्टेरत्र फल-  
प्राप्ति श्रुता न सा ज्ञानस्य मिथ्यायत्वे युक्ता सम्यग्ज्ञानादेव पुमर्थान्ते सम्भवादसं स्तुतिरपि यथा-  
यथेत्यर्थः । लोकदृष्टान्त व्याचष्टे—यो हीति । इहेति वेदाख्यदाष्टान्तिकोक्तिः ।

ननु विशुद्धधादिगुणवर्ती देवता वदन्ति वाक्यान्मुपासनाविध्यर्थत्वाच्च स्वार्थं प्रामाण्य प्रतिप-  
पद्यन्ते तत्राऽह—न चेति । १ अथपराणामपि वाक्याना मानान्तरसंवादाद्विसर्वावयोरसतो स्वार्थं प्रामा-  
ण्यमनुभवानुसारिभिरेष्टव्यमित्यर्थः । ननु प्राणस्य विशुद्धधादिवाचो न स्वार्थं मानमप्यपरत्वादादित्य-  
यूपादिवाक्यवदत आह—न चेति । २ आदित्ययूपादिवाक्यार्थज्ञानस्य प्रत्यक्षादिनाऽपवादविशुद्धधादिगु-  
णविज्ञानस्य नापवाद श्रुतसं तस्माद्विशुद्धधादिवादस्य स्वार्थं मानत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । विशुद्धधादिगु-

वागादि की निन्दा द्वारा मुख्य प्राण की स्तुति अभीष्ट है ऐसा सिद्ध होता है । 'मृत्यु का अतिक्रमण  
करके प्रकाशित होता है'—ऐसा फल वाक्य भी मिलता है । वागादि की जो अग्न्यादिभाव होता है,  
वह उनकी प्राणस्वरूपावाप्ति का ही फल है ।

(इस पर शंका होती है —) भले ही प्राण की उपासना हो किन्तु ( प्रमाण के प्रभाव के  
कारण) प्राण देवता का विशुद्धधादि गुण वाला होना सिद्ध नहीं होता । यदि कहो श्रुति विहित होने से  
प्राणों की गुणवत्ता है ही,—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति तो उपासित विधि परक होने से  
( बिना प्राणदेवता म तात्पर्य के) उसकी स्तुति के लिए हो सकती है । शंका परिहार करते हैं—ऐसी  
बात नहीं । लोक में भी देखा जाता है, कि अविपरीत अर्थ के ज्ञान से ही अथप्राप्ति सम्भव है । क्योंकि  
जो पुरुष यथाभूत अर्थ का जानता है उसे ससार में इष्ट प्राप्ति होती है अथकम्पादि रूप अनिष्ट की  
निवृत्ति होती है अथयाभूत अर्थ के ज्ञान से ऐसा नहीं होता । उसी प्रकार यहाँ भी श्रुति वचन से होने  
वाले ज्ञान से ही श्रेय प्राप्ति सम्भव है उसके बिना सम्भव नहीं ।

१ यथाभूतम् । २ अथकम्पादे । ३ श्रुतेत्यादि—शास्त्रीयविशुद्धधादिगुणविशिष्टप्राणोपास्ताविति प्रकृत्यर्थः ।

४ तदित्यादि—विशुद्ध धादिगुणविज्ञानस्वैत्यर्थः । ५ ब्रूत इति—देवताधिकरणव्यायेन परिहृणीत्यर्थः ।  
मन्त्रार्थवादतिहासपुराणलोकप्रसिद्धिम्यो विग्रहादियञ्चकविनिष्टदेवतादृष्टेन प्रत्याख्यान सम्भवति विशुद्धधादि  
श्रुते प्राणोपासनविध्यपवादत्वेऽपि सबादविसर्वादयोग्याये द्वारायं मानव विरोधादित्यभिप्रायः । विग्रहादियञ्चक  
चोक्तम्—विग्रहो हविषा भाग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता । फलप्रदानमित्येतत् पञ्चक विग्रहादिकम् ॥'

६ विशुद्धधादिगुणवर्तीत्यर्थः । ७ अभीष्टेत्यादि अविद्यमानाशयशब्दत्वमित्यर्थः । ८ यथोक्तोपासनस्य ।

९ अबाधितार्थविषयकज्ञानात् । १० यथास्तुतवापत्तेः । ११ अत इति सम्यग्ज्ञानस्यैवाभीष्टफलप्राप्तिप्रयो-  
जनवादित्यर्थः । १२ अथपराणामिति—विधेयप्राणस्यपराणानित्यर्थः । १३ यूपानेति—आदिना यजमान  
प्रस्तार इत्यादिग्रहः । १४ अनुमानेऽपवादप्रवणत्वमुपाधिगित्यभिप्रायणाह—आदित्येत्यादि । १५ तस्मादिति—  
मानांतरविमवादाभावादित्यर्थः ।

नस्यापवादः श्रूयते । ततः श्रेय-प्राप्ति-दर्शनाद्यर्थतां प्रतिपद्यामहे । विपर्यये चानर्थप्राप्ति-दर्शनात् । यो हि विपर्ययेणार्थं प्रतिपद्यते लोके पुरुषं स्थाणुरित्यमित्रं मित्रमिति वा सोऽनर्थं प्राप्नुवन्मुदयते ।-

आत्मेश्वरदेवतादीनामप्ययथार्थानामेव चेदग्रहणं श्रुतितोऽनर्थप्राप्त्यर्थं शास्त्र-मिति ध्रुवं प्राप्नुयाल्लोकदेव, न चैतदिष्टम् । तस्माद्यथाभूतानेवाऽऽत्मेश्वरदेवतादीन्प्रा-ह्यत्पुपासनाय शास्त्रम् । नामादौ ब्रह्मदृष्टिदर्शनादयुक्तमिति चेत्स्फुटं नामादेरब्रह्मत्वं

णकप्राणविज्ञानात्कलशवर्षणात्तद्वादस्य यथार्थत्वमेवेत्युपसंहरति-तत इति । लोकदृष्टेऽपि साधारणाना-दिप्राप्तिरितिप्राप्तिरहारश्चेत्पञ्चयमुखेनोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेना(णा)पि समर्थयते-विपर्यये चेत्यादिना ।

शास्त्रस्यानर्थार्थत्वमिष्टमिति शङ्कां निराकृष्टे-न चेति । प्रयोक्ष्येयस्यासंभावितसर्वदोषस्याशेषपु-र्यार्थहेतोः शास्त्रस्यानर्थार्थत्वमेदुमशब्दमित्यर्थः । शास्त्रस्य यथाभूतार्थत्वं निगमयति-तस्मादिति । उपासनाय ज्ञानाय चेति शेषः । शास्त्राद्यार्थप्रतिपत्तेः श्रेय प्राप्तिरित्यत्र व्यभिचारोद्यमयति-नामादाविति । तदेव स्फुटयति-स्फुटमिति । 'अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिरतस्मिन्स्तद्बुद्धिस्तानिमित्वा धीः सा च'-यावन्नाम्नो 'गतमित्यादिभ्युत्था कलवतो ततः शास्त्राद्यार्थप्रतिपत्तरेव कलमित्युक्तमित्यर्थः मेवा-

इसके अतिरिक्त उपासना प्रतिपादक श्रुतिवचनो से होने वाले विज्ञान के विषय के, अर्थार्थ होने मे कोई प्रमाण नहीं है । विबुद्धादिदिगुणविज्ञान का अपवाद तो कहीं सुनने को भी नहीं मिलता । यथोक्त प्राणोपासना से श्रेय प्राप्ति श्रवण होने से हम उसकी यथावस्था स्वीकार करते है । इससे विपरीत मानने मे अनर्थ प्राप्ति होगी, ऐसा सुना जाता है । जो 'पुरुष ससार मे वस्तु को अयथाभूत वेदता है अर्थात् पुरुष को स्थाणु और पृथु को मित्र की तरह समझता है, वह प्रत्यर्थ की प्राप्ति करता है-यह देखा जाता है ।

(लोकदृष्टान्त समुच्चय होने से) यदि श्रुति से आत्मा, ईश्वर, देवतादि का भी अर्थार्थ रूप से ग्रहण होता, तब तो लोक की तरह शास्त्र भी अनिष्ट प्राप्ति के प्रयोजन वाला है, ऐसी आपत्ति अवश्य हो जाती । परन्तु यह स्वीकार्य नहीं है । (शास्त्र क अनर्थ-प्रयोजक होने से तुम्हारा भी अनिष्ट होगा) इसलिए उपासना के लिए यथार्थ आत्मा ईश्वर देवतादि को शास्त्र ग्रहण करता है ।

१ तत-यथोक्तप्राणोपासनात् । २ अथवात् । ३ अपितोऽब्रह्मदृष्टान्तसमुच्चयः । ४ श्रुति इति तर्हिति शेषः । ५ अनर्थेत्यादि-अनिष्टप्राप्तिप्रयोजक शास्त्रमित्येतदवश्यमापत्तेरित्यर्थः । ६ तस्मादिति-शास्त्रानर्थार्थत्वस्य तत्राप्यनिष्टत्वादित्यर्थः । ७ ब्राह्मयतीति-तथा च ब्राह्मिकम्-यावन्किञ्चिन्मिते प्राप्ते न तन्मिथ्या मितत्वं । मिथ्येति ग्राह्यच्छास्त्रमनर्थार्थं यतो भवेदिति ॥ अस्यापि-शास्त्रमिदं प्राणस्य विबुद्ध-पादि न तन्मिथ्याहेत्वभावादित्यर्थः । प्राणस्य सत्यमेव बुद्धपादीत्यत्र हेत्वन्तरमाह-मिथ्येति-यदि मिथ्येति निश्चित बुद्धपादिप्राणस्य शास्त्र बोधेतरता वस्तुतोऽविज्ञमानतद्विनिष्टतत्प्रतिपत्तेरनर्थं स्यात् लोके विपरी-तार्थविशेषोऽनर्थदर्शनात् अतः शास्त्रं मिथ्याबुद्धपादिबोधकमनर्थार्थं स्यात् चैतदिष्टम् अपरोक्षदेवस्यासंभावितसर्व-दोषस्याशेषपुपुर्यार्थहेतोः तस्यानर्थार्थत्वमेष्टुमशब्दवत्येन शास्त्रीय बुद्धपादिसत्यमेव । न च योपानिबन्दिमपि मिथ्येति युक्तम् तद्वदत्र द्वापर्यं विरोधाभावात्स्योक्तत्वादित्यर्थः । द्वापर्यं-अथार्थं योवाग्निव च छा० पञ्चा-ग्निविद्यायाम् ॥ ८ नामब्रह्मोत्पुपासनात् । छा० उ० ब० ७ ख० १ । ९ नामादौ । १० यावन्नाम्नो गतमित्यादि-यावन्नाम्नो विषयभूत तत्र यथानामनाशेऽस्य तत्पत्त्यनन्ततां यथेच्छ श्रवणं भवतीत्यर्थः । ११ छा० उ० ७-१ । गतमिति तत्रास्य यथावयवपारो भवति यो नामब्रह्मोपासत इति वाक्यतोप । ।

'तत्र ब्रह्मदृष्टिः स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिः विपरीतां ग्राहयच्छास्त्रं दृश्यते । 'तस्माद्यथार्थ-  
मेव शास्त्रतः प्रतिपत्तोः, श्रेय, इत्ययुक्तमिति चेत् । न । प्रतिमावद्भेदप्रतिपत्तोः । नामादा-  
वब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिः विपरीतां ग्राहयति शास्त्रं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिमिति नतत्साध-  
वोचः । कस्मात् । भेदेन हि ब्रह्मणो 'नामादिवस्तुप्रतिपन्नस्य' नामादौ विधीयते ब्रह्म-  
दृष्टिः प्रतिमादाविव विष्णुदृष्टिः ।

'आलम्बनत्वेन हि नामादिप्रतिपत्तिः प्रतिमादिवदेव न तु नामाद्येव ब्रह्मेति ।  
यथा स्थाणावभिजातिं न स्थाणुरिति पुरुष एवायमिति प्रतिपद्यते विपरीतम्, न तु

ग्रहपूर्वकोऽन्यस्याऽवात्मतायभासो "मिथ्याज्ञानमत्र" तु भेदे भासमाने "अन्यत्रान्यदृष्टिविधीयते । यथा  
विष्णोर्भेदे प्रतिमाया गृह्यमाणे तत्र विष्णुदृष्टिः क्रियते तन्नेदं मिथ्याज्ञानमित्याह—नेति । ननुयं  
स्पष्टयति—नामादाविति । प्रश्नपूर्वकं हेतुं व्याचष्टे—कस्मादिति ।

प्रतिमाया विष्णुदृष्टिः "प्रत्यालम्बनत्वेनेव न विष्णुतादात्म्यं नामादेस्तु ब्रह्मतादात्म्यं श्रुत-  
मिति "वैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—आलम्बनत्वेनेति । "उक्तमर्थं "वैयर्थ्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । कर्म-  
भोमासको ब्रह्मविद्वेषे "प्रकटयप्रत्ययतिष्ठते—ब्रह्मेति । केवला तद्दृष्टिरेव नाम्नि "घोद्यते बोधनाध-  
द्याच्च फल सेत्स्यति ब्रह्म तु नास्ति मानाभावादित्यर्थः । अथ यथा देवानां प्रतिमाविष्णुत्वात्मानानाम-  
न्यत्र सत्त्वं यथा च घटाद्यात्मना पितृणां ब्राह्मणादिदेहे तर्क्यमाणानामन्यत्र सत्त्वं तथा ब्रह्मणोऽपि  
नामादावुपासत्वादात्म्यं सत्त्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एतेनेति । नामादौ ब्रह्मदृष्टीनैति यावत् ।  
दृष्टान्तासिद्धेर्नैव पापि ब्रह्मास्तीति भावः । सत्यज्ञानादिलक्षणे ब्रह्म नास्तीत्ययुक्तम् 'सदेव सोम्येवम्'

'नाम की ब्रह्म भावना से उपासना करे' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति मे ब्रह्मदृष्टि का श्रवण होने के कारण  
तुम्हारा कथन ठीक नहीं है । नामादि मे अग्रहत्व स्पष्ट ही है । शास्त्र अनात्मनामादि मे, स्थाणु मे  
पुरुष की तरह विपरीत ब्रह्मदर्शन करता हुआ देखा जाता है, अतः (उक्त व्यभिचार से) शास्त्र से यथार्थ  
ज्ञान होने के कारण ही श्रेय प्राप्त होती है, ऐसा कहना ठीक नहीं । (उक्त शङ्का का परिहार करते  
हैं—) ऐसी बात नहीं है । (ब्रह्म स्त्री नाम मे) भेदज्ञान पुर सर, प्रतिमा मे विष्णुत्व दृष्टि के  
समान नाम मे ब्रह्मत्व बुद्धि रहती है । स्थाणु आदि मे पुरुषदृष्टि के समान शास्त्र अनात्मनामादि मे  
विपरीत ब्रह्मदृष्टि का ग्रहण कराता है—यह तुमने सही नहीं कहा । ऐसा क्यों, क्योंकि ब्रह्म का नामादि  
मे ब्रह्मदृष्टि का विधान उसी प्रकार किया जाता है, जैसे प्रतिमादि मे विष्णुदृष्टि का विधान किया  
जाता है ।

१. नामादावनाममिति । २. उक्तव्यभिचारिणम् । ३. अग्रहणव्यभिचारिणम् नाम्नि ब्रह्मज्ञानस्य निधात्वं नम्यम् ।
४. ब्रह्मनामोर्भेदज्ञानपुर सर नाम्नि ब्रह्मत्वबुद्धिरित्यर्थः । ५. द्वितीयान्तमेवम् । ६. पुरुषस्यत्यर्थः । ७.
- नित्यबुद्धिरिति—तथा चाविवेकपूर्वकभेदविधौ मिथ्याज्ञानादनाममिति च ब्रह्मदृष्टेर्विवेकपूर्वकत्वात्तन्मिथ्यात्वो-  
क्तिरयुक्तेति भावः । ८. ब्रह्मदृष्टयधिकरणत्वेनैव नामादिप्रतीतिरित्यर्थः । ९. मिथ्याज्ञानमिति यथा यो
- हि रज्जु रज्जुवत्या न जानाति तस्य न च सर्पत्वप्रतीतिर्मिथ्याज्ञानमित्यर्थः । १०. नामब्रह्मणोः । ११. नाम्नि
- ब्रह्मदृष्टिः । १२. अधिकरणत्वमेव । १३. दृष्टान्तादृष्टान्तिवयोर्नैवदृष्टान्तिरित्यर्थः । १४. वैयर्थ्याभावरूपम् ।
१५. अतिरेकिदृष्टान्तेनेत्यर्थः । १६. प्रकटयति । विवेकस्य धर्मप्रतियोगिनी वाच्यो न चामनस्तथाव-  
न च यथास्ति । यस्य धर्मित्यादिना स्वात्मनाभावात् उपनिषदां तु वेदोपरत्वेनामात्वात् अता विवेकपूर्वकत्वा-  
योगाप्रामादौ ब्रह्मदृष्टे रज्जुवर्षादिदृष्टेरिव मिथ्याज्ञानेति मन्वान मयिति शेषः । वेदोपरवेदान्ता इति भीमा-  
सतममय । ऊर्ग, ऊपरभूतमित्येवमत्र इत्यर्थः । १७. उपदिश्यते ।

तथा नामादो ब्रह्मदृष्टिर्विपरीता । 'ब्रह्मदृष्टिरेव केयसा नास्ति ब्रह्मेति चेत् । एतेन प्रतिमाब्राह्मणादियु विष्ण्वादिदेवपित्रादिदृष्टीनां तुल्यता । न । ऋगादिषु पृथिव्यादि-  
दृष्टिदर्शनात् । विद्यमानपृथिव्यादिवस्तुदृष्टीनामेवर्गादिविषये प्रक्षेपदर्शनात् । तस्मात्स-  
त्सामान्यान्नामादियु ब्रह्मादिदृष्टीनां विद्यमानब्रह्मादिविषयत्वसिद्धिः ।

एतेन प्रतिमाब्राह्मणादियु विष्ण्वादिदेवपित्रादिवुद्धीनां च सत्यवस्तुविषयत्व-  
सिद्धिः । मुख्यापेक्षत्याच्च गौणत्वस्य । पञ्चाग्न्यादियु चाग्नित्वादेर्गौणत्वाच्च मुख्याग्न्यादि-  
सद्भाववन्नामादियु ब्रह्मत्वस्य गौणत्वान्मुख्यब्रह्मसद्भावोपपत्तिः । क्रियायश्चाविशेषाद्वि-

द्वयाविधुतेरित्याह—नेति । किंच ब्रह्मदृष्टिः 'सत्यायां द्वास्त्रीयदृष्टित्वादि'पमेवर्गिनः सामेतिदृष्टि-  
विरयाह—ऋगादिष्विति । 'तदेव स्पष्टपति—विद्यमानेति । साभिर्दृष्टिभिः सामान्यं दृष्टित्वं तस्मै इति  
यावत् ।

यस्तु दृष्टान्तासिद्धिरिति तत्राऽऽह—एतेनेति । ब्रह्मदृष्टेः सत्यायत्ययचनेनेति यावत् । ब्रह्मास्ति-  
त्वे हेतुवन्तरमाह—मुख्यापेक्षत्वादिति । "उक्तमेव विवृणोति—पञ्चेति । पञ्चाग्नयो दृष्टजं पृथिवी-  
रूपयोपितः । आविष्यं वाग्धेत्वादिग्रहार्थम् । ननु वेदान्तयेवं ब्रह्मेत्येते न च सैम्यस्तद्धीः सिध्यति "तेषां  
"विधिष्वेव्युपेक्षाप्रामाण्यात्तत्कुतो ब्रह्म"द्विरत आह—निर्यायंश्चेति । "विमतं स्वार्थं प्रमाणमज्ञातज्ञा-

ब्रह्मदृष्टि के अधिकरणत्व होने से ही प्रतिमा में विष्णुदृष्टि के समान नामादि की प्रतीति  
होती है, नामादि ही ब्रह्म है—ऐसी प्रतीति नहीं होती । जिस प्रकार स्थाणु का ज्ञान न होने पर  
'यह पुरुष ही है, स्थाणु नहीं है'—ऐसा विपरीत ज्ञान होता है । नामादि में वैसी प्रथमार्थ ब्रह्मदृष्टि  
नहीं होगी । यदि कहो, ब्रह्मदृष्टि मात्र ही है, वस्तुतः ब्रह्म नहीं है । इससे तो प्रतिमा और ब्राह्मणादि  
में विष्णु और पितृ आदि दृष्टियों समान रूप से सिद्ध होती हैं । (शङ्कापरिहार किया जाता है—)  
ऐसी बात नहीं—क्योंकि ऋगादि में पृथिवी आदि दृष्टि सुनी जाती है । ऋगादि विषय में विद्यमान  
वस्तुविषयक पृथिवी आदि दृष्टिया का ही आरोप देखा गया है । अतः उनमें समानता होने के कारण  
नामादि में जो ब्रह्मदृष्टि है, उनकी मद्ब्रह्मादि विषयता सिद्ध हो जाती है ।

इससे प्रतिमा और ब्राह्मणादि में विष्णु आदि देवदृष्टि और पितृ आदि दृष्टियों का भी सत्

- १ ब्रह्मदृष्टिमात्रम् । २ तुल्यतेति—तथा च विष्ण्वादीनामप्यग्नयश्च सत्यं नान्तीति भावः । ३. सिद्धिरिति  
ऋगादिषु सत्तु सत्ता पृथिव्यादीनामारोपदर्शनाद्व्यापारवपि सत्येव सतो ब्रह्मणो दृष्टिारोपणीयेत्यर्थः ।
- ४ गौणत्वादिति—द्राहकत्वाद्यभावादगौणत्वम् । ५ मुख्येति—यत्कथोपस्थापनीयत्वमुल्लेख्यम् । ६ उपपत्ति-  
रिति—किं च विपत्ता बुद्धिं सालम्बना बुद्धित्वात् घटादिवुद्धित्वात् इत्यनुमानान्न ब्रह्मसतीत्याहुर्वातिकाचार्या  
—"न चासद्विषया काचिद्वुद्धिर्जगति वीर्यत" इति । किंच सर्वस्य मात्राद्यर्थस्य व्यभिचारेऽपि भावाभाव-  
साधकं चिद्वस्तव्यभिचार्यस्ति तत्त्वच कूटस्थ भविदेकरस ब्रह्म नास्ति तदुक्तम्—"सर्वार्थव्यभिचारेऽपि सविद-  
व्यभिचारिणीति" । ७ सत्यविवक्षितम् । ८. इत्येवेत्यादि—इयम् पृथिवी—तथा च ऋचि पृथिवीदृष्टि  
कर्तव्येति । ९. तदेवेति ऋगादिषु पृथिव्यादिदृष्टिदर्शनेवेत्यर्थः । १०. उक्तमेव—गौणत्वनिष्ठ मुख्या-  
पेक्षत्वमेव । ११. छिद्रार्थबोधना वेदान्तानाम् । १२ विधिष्वेव्युपेक्षित-विधायकक्रियापदाद्यतित्वादित्यर्थः ।  
तथा च वेदान्तानाम् क्रियापदपुन्यत्वेन चावयवबोधनाद्व्यापारमभित्यागम् । १३ वेदान्ताद्यम् ।

छार्थानाम् । यथा च दर्शपूर्णमासादि 'क्रियैवंपला 'विशिष्टेति कर्तव्यताकैवंप्रयुक्ताङ्गा चेत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते । तथा परमात्मे-  
श्वरदेवतादिवस्त्वस्थूलादिधर्मकमशमायाद्यतीतं चेत्येवमादिविशिष्टमिति वेदवाक्यैरेव  
ज्ञाप्यत इत्यलौकिकत्वात्तथाभूतमेव भवितुमर्हतीति । न च क्रियार्थैर्वर्णनवाक्यानां  
बुद्ध्युत्पादकत्वे विशेषोऽस्ति । न चानिश्चिता विषयस्ता वा परमात्मादिवस्तुविषया  
'बुद्धिरित्येवमिति ।

पकत्वात्समतयत् । 'अतो वेदान्तशास्त्रादेव ब्रह्मसिद्धिरित्यर्थः । 'सिद्ध'साध्यायैर्भेदेन वयम्यादवि-  
शिष्टत्वमनिष्टमित्याद्युक्त्यो' क्तं विवृणोति—यथा चेति । विशिष्टत्वं 'स्वरूपोपकारित्वं' 'कलोपका-  
रित्वं च । 'पञ्चमोक्त प्रकारं पराश्रयमुपेयमित्यादिष्टम् । अलौकिकत्वं साधयति—प्रत्यक्षादीति ।  
किंच वेदान्तानामप्रामाण्यं 'बुद्ध्यनुत्पत्तेर्वा' 'संशयाद्युत्पत्तेर्वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । न द्वितीय  
इत्याह—न चानिश्चितेति । 'कोटिद्वयास्पर्शित्वाच्च'बाधाध्वेत्यर्थः ।

वस्तु विषयक होना सिद्ध हो जाता है । (ब्रह्म के सत् होने में दूसरा हेतु कहने हैं—) क्योंकि गौणत्व तो मुख्यत्व  
की अपेक्षा से होता है । पञ्चाग्नियो में दाहकत्वादि-समाव होने से अग्नित्व आदि का गौणत्व है,  
इससे शक्त्योपस्थापनीयत्वरूप मुख्य अग्नि आदि का सद्भाव सिद्ध हो जाता है । उसी प्रकार  
नामादिको में ब्रह्मत्व की गौणता होने से मुख्य ब्रह्म में सद्भाव सिद्ध हो जाता है । उपासनापरक और  
कर्मपरक वाक्यों की भी समानता होने के कारण यही सिद्ध होता है । जैसे दर्श-पूर्णमासादि क्रिया  
इत फल वाली है, विलक्षण इतिकर्तव्यता वाली है और इसी क्रम से उसके अङ्ग प्रयुक्त है—ये सब  
अलौकिक बातें प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, किन्तु सत् हैं—ऐसा वेदवाक्यों से सिद्ध होता है ।  
इस प्रकार परमात्मा, ईश्वर और देवतादि-वस्तु स्थूलत्वादि-धर्मों से रहित एवं क्षुधादि से अतीत है—  
तथा इस प्रकार के गुणों से विलक्षण हैं—यह सब वेद-वाक्यों से प्रमाणित होता है—इसलिए अलौकिक  
होने के कारण वह सत् ही हो सकता है । इसके सिवा कर्मपरक वाक्यों से उपासनापरक वाक्यों का  
बुद्धि अर्थात् दृष्टि उत्पन्न करने में कोई भेद नहीं है । उनसे परमात्मादि वस्तु विषयक सद्यस्वरूप

१ क्रिदैवंपलेति—अत्र क्रियापद सङ्गम्य अपूर्वपरम् तस्मैव साक्षात्फलवन्नत्वादिति । विष्णुदेशतो विश्वजि-  
ह्व्यायादिना च सिद्धगणिकार परामुक्त्येव फलेति । अत्र विष्णुदेशत इति विधिवाक्यादित्यर्थः विश्वजिह्व्यायदस्य  
यस्य कर्मण फलविशेषो नोत्तमस्तस्य स्वर्ग एव फल विश्वजिति तथा व्यवस्थापनादिति । अधिकारमिति—फल-  
सम्बन्धमित्यर्थः । २ विलक्षणेत्यर्थः । ३ सद्यस्वरूपेत्यर्थः । ४ बुद्धिरिति—अधिकारिणामिति शेषः ।  
उत्पद्यत इति वेदान्तवाक्यैरिति शेषः । ५ उत्पद्यत इति—यत्तु तेषां यथावृत्तादौ यथिबस्तत्त्वमादिवाक्यादेक-  
रूपाभाविता च वस्तुविषया बुद्धिस्तद्यत्तया प्रागाप्येव स्वायं वेदान्तानामिति ध्येयम् । ६ कर्मकाण्डवत् ।  
७ वेदान्तानां स्वार्थं मानत्वात् । ८ सिद्ध-ब्रह्म, सिद्धार्थविषयवत्त्वं वेदान्तानाम् । ९ साध्यायैर्विषयवत्त्वं  
च कर्मकाण्डस्येति विलक्षणम् । १० सप्रहयायम् । ११ इदं चेति कर्तव्यतारूपमेवेति बोध्यम् । १२  
स्वरूपोपकारित्वम्—सन्निपत्योपकारित्वं प्रोक्षणावपासादीनाम् । पत्नीपकारित्वं पाशदुपकारवत् प्रयाजादीनाम् ।  
१३ जैमिनीय अ ५ पा १ । १४ बुद्धीत्यादि—बुद्धधनुत्पादकत्वावित्यर्थः । १५ तथा च बुद्धधनुत्पादक-  
त्वमेवाप्रामाण्यम् एवमप्रेषणं बोध्यम् । १६ वेदान्तवाक्यजिह्वोतिनिश्चितत्वे हेतुमाह—कोटीत्यादि—विश्वको-  
टिद्वयानवगाहित्वादित्यर्थः । तस्या एवाविषयस्वरूपत्वे हेतुः । १७ अवाधादिति—अवाधितविषयवत्त्वादित्यर्थः ।

अनुष्ठेयाभावादयुक्तमिति चेत् । क्रियायैर्वाक्यैश्च्यंशा, भावनाऽनुष्ठेया ज्ञाप्यते-  
ऽलौकिकश्चपि । न तथा परमात्मेश्वरादिविज्ञानेऽनुष्ठेयं किञ्चिदस्ति । अतः क्रियायैः  
साधर्म्यमित्ययुक्तमिति चेत् । न । ज्ञानस्य तथाभूतार्थविषयत्वात् । न ह्यनुष्ठेयस्य  
अंशस्य भावनास्यस्यानुष्ठेयत्वात्तथात्वं किं, तर्हि प्रमाणसमधिगतत्वात् । न च  
तद्विषयमाया बुद्धेरनुष्ठेयविषयत्वात्तथात्वं किं तर्हि, वेदवाक्यजनितत्वादेव ।

क्रियायैर्वाक्यैर्विद्यार्थानां वाक्यानां साधर्म्यमुक्तमाक्षिपति—अनुष्ठेयेति । साधर्म्यस्यायुक्त-  
त्वमेव व्यनक्ति—क्रियायैरिति । वाक्योत्पद्यबुद्धेर्यथार्थत्वाद्विषयभावेऽपि वाक्यप्रामाण्यमज्ञातज्ञापकत्वे-  
ना—विरुद्धमिति परिहरति—न ज्ञानस्येति । अनुष्ठेयेनिष्ठत्वमन्तरेण कुतो—वस्तुनि “प्रयोगप्रत्यययोः”त-  
थायैस्त्वमित्याशङ्क्य “तयोर्विषये”तथात्वार्यं “तदपेक्षास्वप्रामाण्याय”वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—न  
होति । “तदुभयविषयस्य”कस्तद्व्याप्यस्य तथात्वं न “कस्तद्व्याप्यस्य”किन्तु मानस्यत्वादव्यया  
विप्रलम्भकविषयवाक्येऽपि तथात्वापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—न चेति । बुद्धिग्रहणं प्रयोगोपल-  
क्षणार्थम् । कस्तद्व्याप्यविषयप्रयोगादेर्नानुष्ठेयविषयत्वात्मानत्वं किन्तु प्रमाकरणात् स्मृतत्वात्तद्व्याप्य-  
वृत्ततिप्रमविततादवस्थ्याद”तोऽनुष्ठेयेनिष्ठत्वं मानत्वेऽनुपयुक्तमित्यर्थः ।

अनिश्चित या विपरीत बुद्धि उत्पन्न नहीं होती । अर्थात् वेदान्त का स्वार्थ में ही प्रामाण्य है ।

(इस पर शङ्का होती है) उपासनापरक वाक्यों को कर्मपरक वाक्यों के तुल्यप्रमाण रूप  
(समानधर्मों) कहना अनुचित है, क्योंकि वहाँ अनुष्ठेय कर्म नहीं होता । श्रियार्थक वाक्यों से  
प्रत्यक्षादि के अविषय होने से भी तीन अश्वानी शास्त्री भावना अनुष्ठेया है । परमात्मा श्रीर ईश्वरादि  
विज्ञान में ऐसी कोई अनुष्ठेया क्रिया नहीं होती, अतः विज्ञान वाक्यों की कर्मपरक वाक्यों से जो  
तुल्यप्रामाण्यरूपता बतलायो है, वह ठीक नहीं है । (शङ्का का परिहार करते हैं)—ऐसा कहना ठीक  
नहीं है । क्योंकि (सत्त्वमादिवाक्यों से उत्पन्न) ज्ञान अनधिगतार्थ और अबाधितार्थ विषयक होता है ।  
अश्व-शास्त्री भावना सन्नक अनुष्ठेयार्थनिष्ठ होने से प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि वह अनुष्ठेय है । तो कैसे  
है ? प्रमाणगम्य होने के कारण है । इसी तरह अनुष्ठेयविषयमा बुद्धि की अनधिगताबाधितार्थता

१ भावनाऽनशाब्दोच्यं ग्राह्या अनुष्ठेयाय निष्ठत्वादननुष्ठेयमुक्तम् । २ अलौकिकेति—प्रसङ्गाद्यविषयमा तथा च  
तस्या अज्ञातत्वात् तद्विषयकमैकान्शेयवाक्यमात्रम् प्रामाण्यमिति भावः । ३ ज्ञानरूपेत्यादि—तत्त्वमादिवाक्योप-  
ज्ञानस्य अनधिगतार्थविषयविषयकत्वादित्यर्थः । ४. प्रामाण्यम् । ५ मानस्यत्वात् । ६ तद्विति—अनुष्ठेय-  
वस्तुति । ७ वेदवाक्यजनितत्वादेवेति—विषयकार्यनिष्ठत्वेन प्रामाण्ये तद्विषयत्वे प्रामाण्यं तत्र सति तद्विषय-  
त्वेत्यन्योन्यापवादज्ञातज्ञापनत्वमेव सत् । अतो मायादेरिष्टोपायत्वरूपं भावात्तरावोप्यत्वात् तदेव विधिवाक्येनयम्  
इति मत्वा वातिकेऽभिहितम्—“अन्योन्यापयतादोष कार्यप्रामाण्यवादिन” इति । ८ साधर्म्यम्—तुल्यप्रा-  
माण्यरूपम् । ९ तत्त्वमादिकावैषम्यं । १० अविरुद्धमिति—न ह्यनुष्ठेयनिष्ठत्वं प्रामाण्यप्रयोजकम् स्वर्ग-  
काम चिकता भवेदित्यादौ व्यभिचारात् किन्त्वज्ञातज्ञापनत्वम् तस्य चोपपन्नत्वव्यभिचारादिति भावः ।  
उभयपदेति वचनज्ञानवचनोक्तिः । ११ वस्तुनि—विद्ये वस्तुनि ग्रहणीत्यर्थम् । १२ प्रयोगप्रत्यययोरिति—आदत्तवचन-  
ज्ञानयोरित्यर्थः । १३ प्रामाण्यम् । १४ तयोः प्रयोगप्रत्यययोः । १५ तथात्वार्यं—प्रामाण्यार्थम् । १६  
तदपेक्षा—अनुष्ठेयवत्स्वत्वेता । १७ तदुभयेति—प्रयोगप्रत्ययैरित्यर्थः । १८ अनुष्ठेयार्थेत्येवम् । १९  
स्वनिष्ठानुष्ठेयत्वमुक्तम् । २० अनुष्ठेयनिष्ठत्वस्यानिप्रमत्तत्वात् ।

वेदवाक्याधिगतस्य वस्तुन स्तथात्वे सत्यनुष्ठेयत्वविशिष्टं चेदनुतिष्ठति नो चेदनुष्ठेयत्वविशिष्टं नानुतिष्ठति । अतनुष्ठेयत्वे वाक्यप्रमाणत्वानुपतिरिति चेत् । न ह्यनुष्ठेयेऽसति पदानां संहतिरुपपद्यते । अनुष्ठेये तु सति तादर्थ्येन पदानि 'संहन्यन्ते । तत्रानुष्ठेयनिष्ठं वाक्यं प्रमाणं भवतीदमनेनैवं कर्तव्यमिति । न त्विदमनेनैवमित्येवं प्रकराणां पदशतानामपि वाक्यत्वमस्ति । 'कुर्याद्विद्येत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्'

"कुतस्तर्हि कार्याकार्यधियादित्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति । "वैदिकस्यार्थस्यावाधेन "यथार्थत्वे सिद्धे समीहितसाधनत्वविशिष्टं चेद्वस्तु तदा कर्तव्यमिति धियाऽनुतिष्ठति । तत्त्वेदनिष्टसाधनत्वविशिष्टं तदा न कार्यमिति धिया नानुतिष्ठति । अतो मानात्तन्मानुमानानुमानहेतुं "कार्यकार्यधियादित्यर्थः । "तथाऽपि ब्रह्मणो वाक्यार्थं पदार्थं वा नाऽऽह इत्याह—अतनुष्ठेयत्व इति । "तस्याकार्यत्वेऽपि वाक्यार्थत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । उभयपक्षासतोति चेद । द्वितीयं रूपमिति—

अनुष्ठेयवस्तुविषयक होने से नहीं है । तो फिर क्यों है ? वेदवाक्यजनित होने से ही उसकी यथार्थता है ।

वेद वाक्य द्वारा ज्ञात वस्तु के प्रामाण्य सिद्ध होने पर, यदि वह अनुष्ठेयत्वविशिष्ट होती है, तो पुरुष उसका अनुष्ठान करता है, और यदि अनुष्ठेयत्व विशिष्ट नहीं होती, तो पुरुष उसका अनुष्ठान नहीं करता । (इस पर शङ्का होती है—) फिर (ब्रह्म के अकार्यत्व होने से) तो वाक्य-गम्यता ही न होगी, क्योंकि कार्य की ही वाक्यगम्यता होती है । ब्रह्मरूप वस्तु के अनुष्ठेय न होने पर (क्रिया पदभाव से) पदों की संहति सिद्ध नहीं होती है । कार्यपरक होने से तदुपकारक रूप से पदों की संहति होती है । लोक और वेद मे "इसे इससे इस प्रकार ही करना चाहिये" इस प्रकार अनुष्ठेयार्थनिष्ठ वाक्य हो प्रमाण होता है । 'इसे, इससे, इस प्रकार' ऐसे सैकड़ों पद मिलने पर भी उसमे

- १ प्रामाण्ये । २ अतनुष्ठेयत्व इत्यादि—ब्रह्मण इत्यादि तथा च ब्रह्मणोऽन्यार्थत्वाच्च वाक्यगम्यतेति भाव कार्यैरेव वाक्यगम्यत्वमित्यभिमान । ३ अनुष्ठेय इत्यादि ब्रह्मणश्चेवकार्यत्वं तदा तद्विषयवेदान्तेषु क्रिया-पदभावात्पदसहस्ययोगाद्वाक्यासिद्धेर्न तस्य तदर्थ इति भाव । ४ ब्रह्मरूपवस्तुनीति शेष । ५ तदुपकारक-वेत्यर्थः । ६ एतावता वेदान्तस्य वाक्यत्वाभाव उक्तः । ७ उक्तान्वयव्यतिरेके मति लोचनेदयोर्वयः । ८ तत्रानुष्ठेयनिष्ठमित्यादि—लोकवेदयो न विद्यापदमन्तराण्यस्मात्पदानां विषयसंहतिर्दृष्टाज्ज्ञो वेदान्तपु विद्यापदसूच्यपु नास्ति वाक्यत्वमिति भावः । ९ इदमनुष्ठेय वस्तुनेन वाक्येनैव कर्तव्यमित्यनुष्ठेयनिष्ठ वाक्य प्रमाण भवतीत्यन्वयः । १० "एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विशिष्टवाक्यम्" । ११ कुतस्तर्हि—तर्हि अनुष्ठेयनिष्ठत्वस्य प्रामाण्यानुपपत्तये कार्याकार्यधियाविति—कर्तव्यावर्तयबुद्धी इत्यर्थः । यथा हि नर्बकाण्डोयनियार्थवाक्यश्रवणात् कर्तव्यधीर्जायते इदं वाक्यादि मया कर्तव्यमिति । तस्य ज्ञानमित्यादि ज्ञानवाक्याच्च न कर्तव्यमीरिति तथा च अनुष्ठानाननुष्ठानहेतुकार्यावर्तयबुद्धी वरमादेतोजयिष्यातामिति वाक्यार्थः । १२ वैदिकस्य—वेदबोधितस्य । १३ प्रामाण्ये । १४ अतो मानात्तत्त्वेति—यथोक्तमेयानुरोधादित्यर्थः । तस्य—अनुष्ठेयादिवस्तुनः । १५ कार्याकार्यधियाविति—तथा चानुष्ठेयानुष्ठानाननुष्ठानहेतुकर्तव्यबुद्धी मेयानुरोधादेव भवति इत्यर्थः । तथा च याज्ञिकम्—"प्रमाणाधिगतो सत्यां पुंसो मेयानुरोधतः । अनुष्ठेयोऽननुष्ठेय इति पञ्चगम्य-तिर्भवेदिति ।" १६ तथापीत्यादि—वेदान्तानां प्रामाण्येऽपि ब्रह्म हि न कस्यचिद्वाक्यस्यार्थं पदस्य वा । १७ ब्रह्मणः ।



इत्येवमादीनामन्यतमेऽसत्यतः परमात्मेभ्वरादीनामवाक्यप्रमाणत्वम् । पदार्थत्वे च प्रमाणान्तरविषयत्वम् । अतोऽसदेतदिति चेत् । न । अस्ति मेरुवर्णंचतुष्टयोपेत इत्येवमादावनुष्ठेयसि वाक्यदर्शनात् । न च मेरुवर्णंचतुष्टयोपेत इत्येवमादिवाक्यश्रवणे मेवादावनुष्ठेयत्वबुद्धिरुपपद्यते । तथाऽस्तिपदसंहितानां परमात्मेभ्वरादिप्रतिपादकवाक्यपदानां विशेषणविशेष्यभावेन संहतिः केन वायंते ।

मेवाविज्ञानवत्परमात्मज्ञाने प्रयोजनाभावादयुक्तमिति चेत् । न । "ब्रह्मविदानोति

पदार्थत्वे चेति । ब्रह्मणः 'ज्ञास्त्रार्थत्वमेतदित्युच्यते । 'कार्यास्पृष्टेऽयं वाक्यप्रामाण्यं दृष्टान्तेन साधयति—नेत्यादिना । सुपनहृद्यलोहितमिश्रसंक्षरं वर्णंचतुष्टयं तद्विशिष्टो 'मेरुस्तीत्यादिप्रयोगे मेवादात्र 'कार्येऽपि 'सम्प्राधीदशनात्तत्त्वमसिवाक्यादपि कार्यास्पृष्टे ब्रह्मणि सम्प्रज्ञानतद्विरुद्धित्यर्थः । दृष्टान्तेऽपि कार्यधीरेव वाक्यादुदेतोत्याशङ्क्याऽह—न चेति । ननु तत्र क्रियापदाधीना पदसंहतियुक्ता वेदान्तेषु पुनस्तदभावात्पदसंहत्ययोगात्कुतो वाक्यप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवति तत्राऽह—तथेति ।

"विमतमफलं मिदार्थज्ञानतया"संमतवदित्यनुमानात्तत्त्वमादेः सिद्धार्थस्यायुक्तं मानस्त्वमिति शङ्कते—मेवादीति । श्रुतिविरोधेनानुमानं धुनोते—नेत्यादिना । "विद्वदनुभवविरोधाच्च नैवमित्याह—

वाक्यत्व नही आ सकता । 'कुर्यात्, क्रियेत्, कर्तव्यम्, भवेत्, स्यात्' ये पाँचो विधिलक्षण क्रियापद सब वेदो में नियत हैं । अतः परमात्मा और ईश्वरादि वाक्य प्रामाण्यत्व के विषय नहीं हैं । क्रियापदाभाव होने एव वेदान्त के अवाक्यत्व होने से ऐसा होता है । (ब्रह्म प्रमाणान्तरविषय पदार्थत्वात् घटवत्) पदार्थत्व होने से (वह ब्रह्म) प्रागमानिर्वक्त प्रमाण का विषय होगा । (वाक्यार्थत्व और पदार्थत्व से ब्रह्म का निरूपण न हो सकने के कारण) अतः यह असत् है ऐसे कहना चाहिए ? (शङ्का का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं "मेरु चार वर्णों वाला है" इत्यादि वाक्य में अनुनुष्ठेयत्व होने पर भी वाक्य देखा जाता है । "मेरु चार वर्णों वाला है" इत्यादि वाक्य मुनने पर मेरु आदि में अनुनुष्ठेय बुद्धि

१ क्रियापदाभावेन वेदान्तानामवाक्यत्वात् । २ प्रमाणान्तरविषयत्वमिति—अवेदमनुमान सूचित ब्रह्मप्रमाणान्तरविषय पदार्थत्वात् घटवदिनि । प्रमाणान्तरैति—आगमतिरिक्तप्रमाणेत्यर्थः । अत्रोक्तं वातिके— "पदार्थत्वे च तन्निश्चिन्निष्कर्षप्रयोजनमयथादिनि ।" किञ्च पदार्थत्वं ब्रह्मो बुद्धं मिदार्थज्ञानिरितिभ्रमेत्येतत् वातिके— "आगमैवप्रमाणतया पदार्थत्वमिष्यत" इति । ब्रह्म वाक्यार्थमित्यङ्गीकारात्पदार्थत्ववृत्तदोषाभावः । न च क्रियापदाभावात् पदार्थत्वमिति वेदान्तेऽपि प्रतिपाद्यमनुमानात् क्रियापदयोगात् इत्यभिप्रेत्य तत्रोक्तम्— "अत्यस्मीत्यभ्युपेत्यान्वेवमप्युपपद्यत इति" । यदा वाक्यार्थत्वमङ्गीकृत्य पदार्थत्वमनङ्गीकारपरस्तमित्यभिप्रेत्योक्तम् आगमेति । क्रियापदमन्तरेण पदसंहत्यभावाद्वाक्यानिद्वेस्तद्वगम्यत्वमपि निरस्तमित्यामङ्कोपोक्तम् अत्यस्मीति । ३ ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वपदार्थत्वस्या निरूपयितुमशक्यत्वात् । ४ दृष्टान्तवत् । ५ अनुक्तमिति—मिदार्थबोधस्य तत्त्वमस्यादि वाक्यस्य प्रामाण्यमयुक्तमित्यर्थः । ६ शास्त्रप्रतिपाद्यत्वम् । ७. कार्यास्पृष्ट इति कार्यम्—अनुष्ठेयम्, तदस्पृष्टे—अनुनुष्ठेय इति यावत् । ८. मिश्रम्—चित्रम् । ९ वर्णंचतुष्टयमिति—तच्च मेरावेरस्मिन् दिग्दिग्भागेन द्रष्टव्यम् । १०. मेरुस्तीत्यादीति—आदिना—यथा सोमवर्णंराजतपधाम्या सुपगंगतिविहृन्नोऽश्वदमुत्तदर्शानो दीपान्मेरुज्जतीनि प्रयोगे विशिष्टे पतत्विषयशायंश्वस्ति पथीति शब्दादुत्पद्यते सम्प्रज्ञानमित्येवमादि आहम् । ११. अनुनुष्ठेये । १२. अस्ति मेरुरिति शब्दादिति शेषः । १३. ब्रह्मज्ञानम् । १४. मेवाविज्ञानवत् । १५. निरस्यति । १६. अनुमानेयुतिवाक्यमवतारं तत्रैव प्रत्यक्षवाक्यमप्यवतारयति विद्वदनुभवति ।

परम्" "मिद्यते हृदयग्रन्थिः" इति फलश्रवणात् । संसारबीजाविद्यादिदोषनिवृत्ति-  
'दर्शनाच्च । अनन्वयशेषत्वाच्च तज्ज्ञानस्य जुह्वामिव फलश्रुतेरर्थवादत्वानुपपत्तिः ।

ससारेति । फलश्रुतेरर्थवास्त्वेनामान्मानावाधकत्वेत्याशङ्क्याऽह—अनन्येति । 'परममयीत्वा-  
धिकरणन्यायेन जुह्वां फलश्रुतेरर्थवादत्वं युक्तम् । ब्रह्माप्योऽन्यथोक्त्यापकाभावात्तत्फलश्रुतेरर्थवाद-  
त्वातिद्विरिति । अन्यथा 'आरीरकानारम्भः स्यादित्यर्थः । अतएव नुभवार्था वाक्योक्त्यज्ञानस्य फल-  
वत्त्वदृष्टेयुक्ता । कार्यास्पृष्टे स्वार्थे तत्त्वमस्यादेर्मनितेत्युक्तं संप्रति शास्त्रस्य कार्यपरत्वानियमे 'हेत्व-

नही उत्पन्न होती । इसी दृष्टान्त के समान परमात्मा और ईश्वरादिका प्रतिपादन करने वाले  
"अस्ति" पद वाले वाक्यों के पदों की विशेषण-विशेष्यभावरूप सहृति का कौन वारण कर  
सकता है ?

(इस पर शङ्का होती है—) मेरु आदि के ज्ञान की तरह परमात्मज्ञान, प्रयोजन के अभाव होने  
से (सिद्धार्थबोधक 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य का प्रामाण्य) अनुपपन्न है । (इस पर शङ्कापरिहार करते हैं—)  
ऐसा कहना ठीक नहीं । "ब्रह्म के जानने वाला परमपद प्राप्त कर लेता है", "उसके हृदय की ग्रन्थि  
खुल जाती है" इत्यादि श्रुतियों में परमात्मज्ञान का फल सुना गया है । तथा ससार के बीज रूप

१ अधिधादीति—आदिनाऽधिधाकार्यं नोकमोहादिप्राप्तम् । २ दर्शनाच्चेति—वाक्यीयज्ञानोदयानन्तरमेव सत्फलस्य  
शोभादिबोधकस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्विच्छेदमनुमाने नोदयतीत्यर्थः । ३ अमानत्वादिति—अर्थवादस्य स्वार्थे तात्पर्य-  
भावात्तत्राप्रमाणत्वादित्यर्थः । ४ परममयीत्वाधिकरणन्यायेन जुह्वा फलश्रुतेरर्थवादत्वं युक्तमिति—द्रव्यसत्कारकर्मणा  
नत्वर्थत्वाधिकारणापरपर्याये परममयीत्वाधिकरणे उक्तेन परार्थत्वादिहेतुना पापस्वीकृत्यवशपाहितोपायभावात् ननु-  
प्रागस्त्यसौभार्यव्युक्तित्यर्थः । "द्रव्यसत्कारकर्मणु परार्थत्वाकृत्यवृत्तिरर्थवादः स्यादिति तदधिकरणसूत्रम् । "यस्य  
परममयी जुह्वर्भवति ननु पापं हलोकं शृणोति" । यदाह केवलमेवमातृकस्य वृद्धते । यत्प्रधात्रानुप्राजा इत्यन्ते  
वर्मं वा एतद् मन्त्रस्य क्रियते वर्मं यजमानस्य आतृम्याभिभूयै इत्येतानि प्रवृत्तमूत्रस्य विषयवानयानि—अथ  
यजुह्वप्रवृत्तिभूत द्रव्य पश्चात्तत्र यजमानकेन चक्षुष्य सत्कारं यज्ज प्रयत्नानुदायरूपं वर्मं क्रियते पुनर्यत्फल-  
मुद्दिश्य विधीयन्त उत क्लृप्त्यभावा इति सशये पापस्वीकृत्यवशपाहितोपादे (स्वनिश्चयवशपाभावादे) पुनर्यत्फल-  
निष्फलस्य प्रतिमानात् पुनर्यत्त्वेन विधीयन्त इति प्राप्ते मिदन्तवति—द्रव्यसत्कारकर्मनिधिषु क्रमेण  
उदाहृतवान्येषु फलप्रवणमर्थवाद स्यात् परार्थत्वात् परममयीत्वादीनां क्लृप्त्यत्वादित्यर्थः । यत् हि साध्यं  
भवति न चात्र साधकता प्रतीयते न शृणोति, वृद्धते, वर्मं क्रियते इति वर्तमानत्वनिर्देशात् । अतः पक्षार्था एव  
विधाय तत्र परममयीत्वस्यानारम्भाधीतस्यापि वाक्येन क्रतुसम्बन्ध (समभिध्याहारो वाच्यम्) तथा चोक्त  
स्य परंताज्जानारम्भाधीतस्य सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु तत्र बोधकेनापि तत्प्राप्तिसमयात्पीनरक्तपातोरिति ।  
बोदकम् प्रवृत्तिवदित्यादिदेशवाक्यम् । पीनरक्त्येति प्रकृतौ वा द्विकृतत्वादिति न्यायविरोधेन पीनरक्त्यह-  
पदोपापत्तेरित्यर्थः । प्रवृत्तौ वा प्रकृतावेव परंता कस्मात् द्विकृतत्वात् बोदकप्राप्तत्वेन पीनरक्त्यादिति सूत्रार्थः ।  
एव च पीनरक्त्योद्भावनान्यथानुपपत्त्या परंताया मानयेन क्रतुसम्बन्धं तथा च परममयीवाक्यं क्रतुसमभिध्याहारेण  
पठनीयम् । क्रतुश्चात्र दर्शपूर्णमासाख्य । सत्कारकर्मणोस्तु प्रकरणेन क्रतुसम्बन्धं नत्वर्थानां तु क्रतुनिष्पादन-  
व्यतिरेकेण फलवाक्यानां अभावात् वर्तमाननिर्देशस्य विपरिणाम इत्यापि फलवत्युक्त्युपपत्तिरिति भावः ।  
उभयानामाप्रकरणम् । ५ सत्फलश्रुतेरर्थवादत्वाङ्गीकारे । ६ ब्रह्माविद्याफलप्रयोजनवत्त्वादारम्भस्येति-  
भावः । ७ अस्ति मेखित्वाद्युक्तहेत्वोपायाऽन्य हेतुमित्यर्थः ।

'प्रतिपिद्वानिष्टफलसंयन्धश्च वेदादेव विज्ञायते । न चानुष्ठेयः सः । न च प्रतिपिद्वविषये प्रवृत्तक्रियस्याकरणादप्यदनुष्ठेयमस्ति ।' प्रकृत्यन्तज्ञाननिष्ठतंव हि 'परमार्थतः प्रतिषेध-विधोर्ना स्यात् ।

क्षुधातंस्य 'प्रतिषेधज्ञानसंस्कृतस्या'भक्ष्ये'ऽमोज्ये वा प्रत्युपरिच्यते कलञ्जानिश्चरता-

न्तरमाह—प्रतिपिद्वेति । यद्यपि कलञ्जमक्षणादेरप.पातस्य च 'संयन्धो न कलञ्जं भक्षयेदित्यादि-वाक्यात्प्रतीयते 'तथाऽपि तस्यानुष्ठेयत्वाद्वाक्यस्यानुष्ठेयनिवृत्ततिष्ठिरित्याशङ्क्याऽह—न चेति । संयन्धस्या'भावायर्थेवाप्रानुष्ठेयतेत्यर्थः । अमक्षणावि कार्यमिति विधिपरत्वमेव निषेधवाक्यस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽह—न चेति । 'तस्यापि "कार्यार्थस्य विधिनियेधनेदमङ्गान्नश्च स्वसंबन्ध-भावाद्योपने "बुद्ध्यस्या"यन्त्रे च्युतो लक्षणापाताप्रतिपिद्वविषये रागादिना प्रवृत्तक्रियावतो "निषेध-ज्ञानार्थयोस्तंस्कृतस्य "निषेधश्च तेरकरणात्प्रसक्तक्रिया"निवृत्त्युपलक्षितादौदासीन्यादप्यदनुष्ठेयं न प्रतिभातीत्यर्थः । "भावविषयं कर्तव्यत्वं विधीनामर्थो"ऽभावविषयं तु निषेधानामिति "विशेषमा-शङ्क्याऽह—प्रकृत्यन्तेति । अभावस्य 'भावार्थेवाभावात्कर्तव्यताविषयत्वात्तिष्ठिरिति हिताशङ्क्यः ।

"प्रतिषेधज्ञानवतोऽपि "कलञ्जमक्षणाविज्ञानदर्शनात्प्रवृत्तं"निमोगाधीनत्वात्प्रभुमेव वाक्यमेवमुच्यमिति चेन्नैत्याह—क्षुधातंस्येति । विपत्तिप्रधानहृतस्य पशोर्मसं कलञ्जं ब्रह्मवाद्य-

प्रविद्यादि दोष की निवृत्ति भी ब्रह्मात्म-ज्ञान से होती देखी गयी है । ब्रह्मात्मज्ञान किसी अन्य कर्म का शेष भी नहीं है, जिन प्रकार जुह विषयक फलप्रति ग्रहणवाद है, उसी प्रकार उसके ग्रहणवाद होने की कल्पना नहीं कर सकते । इसी प्रकार ("बिभी री हिंसा न करे" इत्यादि) 'प्रतिपिद्व वर्मानुष्ठान से

१ प्रतिपिद्वेत्यादि—प्रतिपिद्वस्य यदनिष्ट पन् तत्सम्बन्ध इत्यर्थ । हुनवादेरनिष्टफलसम्बन्धो न हन्यादिति वेदादेव ज्ञायत न च तस्य कार्यता शङ्कितुमपि शक्यते न हि निषेधस्य विधिद्वानिष्टसम्बन्धो तत्संस्कृतोऽनुनिष्ठनि अगो निषेधवाक्यानां कार्यनिषेधानामपि मानत्वात् कार्यपरत्वनिश्चयं शास्त्रग्रथेति भावः । अत्र तत्संस्कृत इत्यस्य निषेधशास्त्रसंस्कारविशिष्ट इत्यर्थः । २ अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठतैवेति—प्रसक्षादिबर्तन्यत्वाभावाद्योपात्तार्थवर्त-वेत्यर्थः । ३ पणतः । ४ निषेधशास्त्रावर्जज्ञानीयसंस्कारवृत्तस्य । ५. अग्रहय—नलञ्जे । ६. अमोज्य—अभिशास्ता इति यथाक्रमम् । ७. भक्षणादेरप.पातस्य च ज्ञयजनकभावाच्च सम्बन्धः पुरेण सहत्वप.पातस्य स्वस्वाभिभावाच्च स इति ज्ञेयम् । ८. सम्बन्धस्य वेदपम्यत्वेऽपि । ९. भावार्थत्वाभावा-दित्यर्थः धात्वर्थत्वाभावादिति यावत् सर्वत्र धात्वर्थस्यैवानुष्ठेयत्वादिति भावः । १०. निषेधवाक्यस्यापि । ११. अनुष्ठेयनिष्ठत्वे । १२. शक्तस्य । १३. स्वसम्बन्धं यदाख्यातान्तं तद्विधेयणीभूतधात्वर्थमात्रे वृत्ता-वित्यर्थः । १४. निषेधशास्त्रयवणजन्तवर्जज्ञानीयसंस्कारविशिष्टस्य पुंसः । १५. प्रतिषेधवाक्यध्वन्या-दित्यर्थः । १६. निवृत्त्यपरप्राप्त्याकरणस्याभावरूपत्वेनानुष्ठेयत्वमभिप्रेत्याह—निवृत्तीत्यादि—प्रसक्तक्रिया-निवृत्तिपदेन लक्षणया स्मोज्ञान्याविनेपक्षणादीदासीन्यादित्यर्थः । १७. प्रतियोगिप्रतीतिनिरोधप्रतीतिविषय-विषयनित्यर्थः । १८. प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षप्रतीतिविषयविषयकमित्यर्थः । १९. विधिनियेधयोर्दोष-पत्तिमिति यावत् । २०. धात्वर्थत्वाभावादित्यर्थः । २१. प्रतिषेधशास्त्रार्थज्ञानसंस्कृतस्य पुंसः । २२. कलञ्जादेर्मक्षयत्वादित्येष ज्ञानस्य प्रतीयमानत्वादित्यर्थः । २३. अपूर्वापरप्राप्त्याकार्यधीनत्वादित्यर्थः । तथाहि 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यस्य कलञ्जमक्षणमनिष्टसाधनमित्यर्थेनत्वेनानिष्टस्य च दुरदृष्टतया सदधीना ततो निवृ-त्तिरित्यागत निषेधस्य कार्यनिष्ठत्वमिति भावः ।

‘आदाविदं भक्ष्यमदो भोज्यमिति’ वा ‘ज्ञानमुत्पन्नं तद्विषयया प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या बाध्यते । मृगतृष्णिकायामिव पेयज्ञानं तद्विषययाथात्म्यविज्ञानेन तस्मिन्बाधिते स्वाभाविकविपरीतज्ञानेऽनर्थकरी तद्भ्रमक्षणभोजनप्रवृत्तिर्न भवति । विपरीतज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेर्निवृत्तिरेव न पुनर्यत्नः कार्यस्तदभावे । तस्मात्प्रतिषेधविधीनां वस्तुयाथात्म्यज्ञाननिष्ठतैव न पुरुषव्यापारनिष्ठतागन्धोऽप्यस्ति । तथेहापि परमात्मादिमायात्पक्षान-

“भिज्ञापयुक्तस्यान्नपानद्यभोज्यं तस्मिन्नभक्ष्येऽभोज्ये च प्राप्ते यद्वभ्रमज्ञानं क्षुत्सामस्योत्पन्नं तन्निपेधधीसंस्कृतस्य तदोत्पत्त्या बाध्यमित्यत्र लौकिकदृष्टान्तमाह—भृगतृष्णिकायामिति । तथाऽपि प्रवृत्त्यभावसिद्धये विधिरूप्यतामिति चेन्नेत्याह—तस्मिन्मिति । तदभावः प्रवृत्त्यभावो न विधिजन्यप्रयत्नसाध्यो निमित्ताभावेनेव सिद्धेरित्यर्थः । दृष्टान्तमुपसंहरति—तस्मादिति । बाष्पान्तिकमाहुः-

‘उसका फल भी प्रतिष्ठ है—ऐसा वेदो से ही जाना जाता है । उसका अनुष्ठान नहीं होता । जो मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त है; उसके लिए प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान न करने मात्र से ही, दूसरे कर्मों की अनुष्ठेयनिष्ठता नहीं हो जाती । क्योंकि प्रतिषेधसम्बन्धी विधियां फलतः भक्षणार्थ कर्तव्यत्व के प्रभावबोधकं तात्पर्य वाली हैं ।

यदि निषेध-शास्त्रार्थ-ज्ञान-संस्कार से युक्त किसी खाद्यार्तं पुरुष के सामने अभक्ष्य कलञ्ज अथवा अनोज्य भक्षिवास्तु अन्न आ जाए; तो उसे “यह भक्ष्य है यह भोज्य है” ऐसा भ्रमारमक ज्ञान उत्पन्न होगा । कलञ्ज और अभिक्षास्तु अन्न विषयक प्रतिषेधज्ञान स्मृति से उसका बाध हो जाएगा । जिस प्रकार मरु-मरीचिका के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर उसमें पेयजल-बुद्धि का बाध हो जाता है । उस शास्त्रानाधेय विपरीत ज्ञान के बाधित हो जाने पर उसके भक्षण अथवा भोज्य में प्रतिष्ठ सम्पादिका प्रवृत्ति नहीं रहती । विपरीत ज्ञान जन्य प्रवृत्ति की तो निवृत्ति हो जाती है । उसके प्रभाव के लिए उसे फिर कोई दलन नहीं करना चाहिए । अतः (प्रतिषेध विधि-वाक्यों का विधेयार्थनिष्ठत्व

१. भ्रमारमकम् । २. कलञ्जाभिज्ञास्तान्निविषयया । ३. बाध्यत इति—तथा च प्रवृत्तिबीजस्य भक्ष्यत्वादि-प्रकारकभ्रमस्य न कलञ्जभिक्षादिनिषेधज्ञानीयस्मृत्याबाधत् प्रयोजकाभावादेव निवृत्त्युपपत्तेर्न तद्व्यापिनोपाधीनत्वमित्यर्थः । ४. उद्विष्येत्यादि—जलज्ञानविषये मरुभूमिप्रतिपत्तितमरीच्युदके यद् यायात्म्यज्ञानं—मरुभूमिं न तु जलमित्येव रूपं तेनेत्यर्थः । ५. शास्त्रानाधेयेत्यर्थः । ६. अनिष्टसम्पादिका । ७. निवृत्तिरेवेति—भवतीति शेषः । ८. तस्मात्—इतिषेधविधीनां (वाक्यानाम्) विधेयार्थनिष्ठत्वात्प्रभावः । ९. वस्तु-यायात्म्यज्ञाननिष्ठतैवेति—यस्तु—कलञ्जभक्षणार्थ-यायात्म्यम्—अनिष्टसम्पादकत्वम् । तद्विपरीततात्पर्यवर्ततेत्यर्थः । १०. तथेहापीति—प्रतिषेधवाक्यवत् वेदान्तवाक्येऽपीत्यर्थः । ११. परमात्मादीत्यादि—परमात्मा-तत्पदार्थ आदिना त्वपदार्थ आत्मा तयोर्वाधारस्य निरुपाधिकं स्वरूपम् । तद्विषयकज्ञानोत्पादकविधीनाम्—तत्त्वमादिप्रहावाक्याना-मवान्तरवाक्यानां चेत्यर्थः । वेदान्तेषु विध्यभावद्विधिसन्दो वान्यपरत्वेनैव व्याख्यात इति ध्येयम् । १२. मिथ्याकलञ्जोभिक्षापः । अनेन ब्राह्मणो हत इत्येवमादिस्तमहृतवतोऽपि पुंसः । १३. इदं भक्ष्यमदोभोज्य-मित्याद्याकारम् । १४. तथापीति—प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या प्राप्तोऽप्रव्याभोज्यविषयके विपरीतज्ञाने बाधितोऽपीत्यर्थः । १५. अर्थ्यतामिति—स्वीक्रियताम् । प्रवृत्त्यभावस्य विधिरूप्यप्रयत्नसाध्यत्वादितिभावः । १६. निमित्तेति—भक्ष्यत्वादिप्रकारकविपरीतज्ञानरूपप्रयोजकत्वमित्यर्थः ।

विधीनां 'ताद्यन्मात्रपर्यवसानतैव स्यात् । 'तथा तद्विज्ञानसंस्कृतस्य तद्विपरीताद्यंज्ञान-  
निमित्तानां प्रवृत्तीनामनर्थार्थत्वेन ज्ञायमानत्वात् । परमात्मादियायात्म्यज्ञानस्मृत्या  
'स्याभाविके' तन्निमित्तविज्ञाने बाधितेऽभावः स्यात् ।

ननु कलञ्जादिभक्षणादेरनर्थार्थत्ववस्तुयायात्म्यज्ञानस्मृत्या 'स्वाभाविके तद्भूक्ष्य-  
त्वादि'विपरीतज्ञाने निर्वर्तिते तद्भूक्षणाद्यनर्थप्रवृत्त्यभाववदप्रतिषेधविषयत्वाच्छास्त्रविहित-  
प्रवृत्त्यभावो 'न युक्त इति चेत् । न । विपरीतज्ञाननिमित्तत्वानर्थार्थत्वाभ्यां 'तुल्यत्वात् ।

तथेति । न चेन्न तत्स्वमस्यादिवाक्यानां सिद्धवस्तुमात्रपर्यवसानता स्तु 'सर्वकर्म'निवर्तकत्वमपि  
सिध्यतीत्याह—तथेति । अक्षरंभोक्तृब्रह्माहमितिज्ञानसंस्कृतस्य" "प्रवृत्तीनामभाव स्यादिति  
संशयः । तस्माद्ब्रह्मभावाद्विपरीतो"ऽर्थो यस्य कर्तृत्वादिज्ञानस्य तन्निमित्तानाम"नर्थार्थत्वेन  
"ज्ञायमानत्वादिति "हेतुः । कदा पुनस्तासामभावः स्यादत आह—परमात्मादीति । भ्रान्तिप्राप्त-  
भक्षणादिनिरासेन निवृत्तिनिष्ठमया निषेधवाक्यस्त मानत्ववत्स्वमादेरपि प्रत्यगज्ञानोत्पत्त्युत्पादि-  
निवर्तकत्वेन मानत्वापेक्षितिरिति समुदाहार्यः ।

वृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमाशङ्कते—नन्विति । तस्य निषिद्धत्वाद्"नर्थार्थत्वमेव यद्वस्तु-  
यायात्म्यं तज्ज्ञानेन निषेधे कृते तत्संस्कारद्वारा संपादितस्मृत्या शास्त्रोपज्ञानेन विपरीतज्ञाने बाधिते  
तत्कार्यप्रवृत्त्यभावो निमित्तभावे नैमित्तिकाभावव्याप्तेन युक्तो न तथाऽग्निहोत्रादिप्रवृत्त्यभावो युक्तः ।

असंभव होने से) प्रतिषेध विधियो का कलञ्ज-भक्षणादि वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान कराने में  
तात्पर्य है, उनमें पुरुष के व्यापारमिष्टना की गन्ध भी नहीं है । प्रतिषेध वाक्य के समान वेदान्त-  
वाक्य में भी ब्रह्मात्मवैय स्वरूप का ज्ञान कराने वाली विधियां सिद्धवस्तु—मात्र तात्पर्य वाली हो  
जाएंगी । सिद्धवस्तु पर्यवसान के समान परमात्मादि ज्ञान से सञ्चुत पुरुष को उससे विपरीत पदार्थ-  
ज्ञान निमित्तप्रवृत्तिर्या अनर्थ प्रयोजन वाली लगने लगेंगी । ब्रह्मात्मवैय ज्ञान की स्मृति से स्वाभाविक  
आवृत्तक प्रवृत्ति प्रयोजक कर्तृत्वादि ज्ञान के बाधित हो जाने से प्रवृत्ति का अभाव हो जायगा ।

(वृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता से झट्का होती है ।) परन्तु कलञ्ज भक्षणादि अनर्थार्थक

१ सिद्धवस्तुमात्रतात्पर्यवर्तितैवर्थ । २ सिद्धवस्तुपर्यवसानवत् । ३ स्वभावादि—अग्निहोत्रे । ४  
तन्निमित्तस्येति—अवृत्तिप्रयोजककर्तृत्वादिज्ञान इत्यर्थः । ५ शास्त्रज्ञानापेक्षे । ६ भ्रान्तिरूपज्ञाने । ७  
न युक्त इति—पथाकलञ्जभक्षणादेरज्ञानवृत्तत्वादनर्थपरत्वाच्च न कलञ्ज भक्षयेदित्यादिनिषेधवाक्यानामग्निहोत्रा-  
यताधीद्वारा निवृत्तिनिष्ठत्वेन प्राप्ताभ्यमयुक्त्यं तथा श्रौतकर्मणो माज्ञानवृत्तत्वमनर्थार्थत्व वा, तदि शास्त्रप्रयुक्त-  
मतस्तत्त्वमस्यादेस्तत्त्वज्ञान जनयतोऽपि श्रौतकर्मनिवर्तकत्वाच्च निवर्तकत्वेन प्राप्ताभ्यमिति तदाशयः । =  
तुल्यत्वादिति यथा कलञ्जभक्षणादि—अज्ञानवृत्तम् अनर्थफलक च तथा श्रौतमपि कर्म । प्रत्यगज्ञानवृत्तकर्तृत्वा-  
दिजन्यत्वात् तज्जन्यदेष्टव्यहस्य चानर्थत्वादतो बाधयोत्पन्नानाद्यज्ञानभ्रष्टी तज्जन्यकर्मप्राप्तेनिवर्तकत्वेन निषेधवत्  
तत्स्वमस्यादिवाक्यस्य मानत्वोपपत्तिरिति सिद्धान्तो भावः । ८ विहितनिषिद्धकलकर्मस्य । ९  
इदमर्थकमिति ध्येयम् । ११ पुनः । १२ प्रवृत्तीनाम्—विहितनिषिद्धकर्मोपायविषयाणामित्यर्थः । १३  
अर्थ—कर्तृत्वादिरूपो विषयः । १४ अनिष्टप्रयोजकत्वेन । १५ निश्चितत्वात् । १६ हेतुरिति—यथोक्त-  
प्रवृत्त्यभावे इति शेषः । १७ अनिष्टगायनत्वमेव ।

कलञ्जभक्षणादिप्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वमनर्थार्थित्वं च यथा तथा शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि । तस्मात्परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वेनानर्थार्थित्वेन च तुल्यत्वात्परमात्मज्ञानेन विपरीतज्ञाने निर्वर्तिते युक्त एवाभावः ।

ननु तत्र युक्तो नित्यानां तु केवलशास्त्रनिमित्तत्वादनर्थार्थित्वामावाज्ञाभावो न युक्त इति चेत् । न । अविद्यारागद्वेषादिदोषवतो विहितत्वात् । यथा स्वर्गकामादिना दोषवतो दर्शपूर्णमासादीनि काम्यानि कर्माणि विहितानि तथा सर्वानर्थदोषाविद्यादिदोषवतस्तज्जनितेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारागद्वेषदोषवतश्च तत्प्रेरिताविशेषप्रवृत्तेरिष्टा-

ब्रह्मविद्याग्निहोत्रादि न कर्तव्यमिति निषेधानुपलम्भादित्यर्थः । तत्त्वमस्यादिवाक्येनार्थाभिप्रेक्ष्यमानिहोत्रादिति मन्वान साम्यमाह—नेत्यादिना । शास्त्रीयप्रवृत्तीनां गर्भवासाविहेतुत्वादनर्थार्थित्वमहकर्तव्याद्यभिमानकृतत्वेन विपरीतज्ञाननिमित्तत्वम् । 'एतदेव दृष्टान्तावष्टम्भेन स्पष्टयति—कलञ्जेति ।

काम्यानामज्ञानहेतुत्वाननर्थार्थित्वाभ्यां विदुषस्तेषु प्रवृत्त्यभावो युक्तो नित्यानां तु 'शास्त्रमात्रप्रयुक्तानुष्ठानत्वाद्वाज्ञानकृतत्वं प्रत्ययायाख्यामयं ध्वस्तित्याहुः नानर्थक्यत्वमस्त्येषु प्रवृत्त्यभावो युक्तो न भवतीति शङ्कते—नन्विति । "नित्यानां शास्त्रमात्रकृतानुष्ठानत्वमसिद्धमिति परिहरति—नेत्यादिना । "तदेव प्रपञ्चयति—यथेति । अविद्यादीत्यादिशब्देनास्मितादिबलेनचतुष्टयोक्तिः । तत्रविद्याविभिर्नितेष्टप्राप्तौ तादृगनिष्टप्राप्तौ च क्रमेण रागद्वेषवत् पुरुषरूपेष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहारं च वाञ्छतस्तस्यामेव रागद्वेषाभ्यामिष्टं ये भूयादनिष्टं वा भूतिः" इति विशेषकामनाभिप्रेरिताविशेषप्रवृत्तिपुस्तकस्य

वस्तुप्राप्ते के यथायस्वरूप ज्ञान की स्मृति से उनके भक्ष्यत्व आदि शास्त्रानाथेय भ्रान्ति रूप ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर, जसे कलञ्ज-भक्षणादि अज्ञानवृत्त और अनर्थफल वाले हैं, 'कलञ्ज भक्षण न करे', इत्यादि निषेध वाक्यो का अनिष्ट-उपाय बुद्धि द्वारा प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता । उसी प्रकार श्रौत कर्म अज्ञानकृत अथवा अनर्थार्थत्व नहीं है, इत्यज्ञान होने पर भी श्रौतकर्म निवर्तकत्व रूप से प्रामाण्य नहीं है । (शका का परिहार करते है) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि विपरीत ज्ञान के निमित्त होने से और अनर्थ के लिए होने से ये दोनों समान ही है । जसे कलञ्ज भक्षण की प्रवृत्ति विपरीत ज्ञान निमित्तक और अनर्थफलक है, उसी प्रकार शास्त्र विहित प्रवृत्तियां भी हैं । इसलिए परमात्मा के निष्पाद्यिष्य स्वरूप के ज्ञाता की दृष्टि में शास्त्रविहित प्रवृत्तियां भी मिथ्याज्ञान निमित्तक अनर्थ फलक होने से समानधर्मी हैं । निष्पाद्यिष्यस्वरूप परमात्मा के ज्ञान हो जाने से विपरीत ज्ञान के निवर्तित होने पर उनका अभाव हो जाता है, यही ठीक है ।

वैसे "अभाव हो जाता है" ऐसा काम्य कर्मों में कह सकते हैं, किन्तु नित्य कर्मों का

- १ अनर्थफलकत्वम् । २ निष्पाद्यिष्यस्वरूपेत्यर्थः । ३ काम्यकर्मविवरणम् । ४ प्रयुक्तत्वात् । ५ विहितत्वादिति—नित्यनर्थक्यामिति शेषः । ६ प्राप्तीत्यादि—प्राप्तिपरिहारान्यो प्रयोजनो रागद्वेषादिति विग्रहः । ७ तद्विद्यादि—रागादिजनितप्रवृत्तिमामास्येत्यर्थः । कर्तुरेव विद्यपथमिदम् । ८ अर्थादिनि—जनत इत्यर्थः—प्रवृत्तिप्रयोजकत्वं त्वादिविषयवत्विपरीतज्ञानाभावसम्पादनं वाच्यं । ९ तुल्यत्वमव । १० शास्त्रमात्रेति मात्रपदम् अविद्यास्मितादिदोषान् व्यावर्तयति । ११ नित्यानाम्—अहम्ह स च्यामुपासीत त्वादिविहितानाम् । १२ भगूहीतमेव । १३ इत्यविशेषेत्यादि—इत्याकारकवाक्यानामाश्रयजनितप्रवृत्तिसामान्यवृत्त्ययं पुन इत्यर्थः ।

निष्टप्राप्तिपरिहारायिनो नित्यानि कर्माणि विधीयन्ते न केवलं शास्त्रनिमित्तान्येव ।

न चाग्निहोत्रदशंपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धसोमानां कर्मणां स्वतः काम्यत्व-  
नित्यत्वविधेकोऽस्ति । कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण 'कामार्थता' । तथाऽविद्यादि-  
दोषवतः 'स्वभावप्राप्तेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारायिनस्तदर्थान्येव नित्यानीति पुषतं । तं प्रति  
विहितत्वात् । न परमात्मयायात्म्यविज्ञानवतः 'शमोपायव्यतिरेकेण किञ्चित्कर्म विहित-

नित्यानि विधीयन्ते । स्वर्गकाम पशुकाम इति विशेषाग्निः काम्यानि । तुल्यं तूभयोर् केवलशास्त्रा-  
निमित्तत्वमित्यर्थः ।

किञ्च काम्यानां 'दुष्टत्वं द्रवता नित्यानामपि तद्विद्वत्पुत्पत्तिविनियोगप्रयोगाधिकारविधिरूपे  
'विशेषाभावादित्याह—न चेति । कथं तर्हि काम्यनित्यविभागस्तत्राऽऽह—कर्तृगतेनेति । स्वर्गकामः  
पशुकाम इतिविशेषाग्निः काम्यविधिरिष्टं मे स्यादनिष्ट चा नृदित्यविशेष'कामप्रेरितविशेषित-  
प्रवृत्तिमत्तो नित्यविधिरिति'युक्तमित्यर्थः । "नन्वविद्यादिदोषवतो नित्यानि कर्माणीत्ययुक्तं परमात्म-  
ज्ञानवतोऽपि यावद्बीजभूतेस्तेषामनुष्ठेयत्वादित्याशङ्क्य "भूतेरविरक्तविषयत्वात्संभविताह—न परमा-  
त्मेति ।

अभाव तो उचित नहीं है, क्योंकि वे केवल शास्त्र प्रयुक्त हैं, एव अनर्थों को प्राप्ति नहीं कराते ।  
(अका का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि नित्यकर्म अविद्या, राग, द्वेषादि  
दोष से विहित है । जैसे दर्शपूर्णमासादि काम्यकर्मों का स्वर्गकामादि दोषवान् पुष्टो के लिए विधान  
किया जाता है, उसी प्रकार सब अनर्थों को जनयित्रीरूपा अविद्यादि—दोषवान्, तथा उससे होने  
वाले इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के प्रयोजक रागद्वेषरूप दोष से युक्त, तथा उस राग-द्वेष से  
प्रेरित प्रवृत्ति सामान्य इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहार इच्छा वाले कर्त्ता के लिए नित्य कर्मों का व्यपदेश  
किया जाता है—वे केवल शास्त्र निमित्तक ही नहीं हैं ।

१ विभाग । २ काम्यता । ३ स्वभाव—कर्तृत्वाद्यभिमान—सप्रयोजकादृष्ट वा तेन प्राप्तेत्यर्थः । ४  
निखिलानर्थबीजाविद्यादिदोषवन्त गुणाश्च । ५ परमात्मनोस्तत्त्वमयैश्वर्यायात्म्य निरुपाधिरूपम् । ६ कर्मो-  
परमात्मकसाधन निरत्यर्थः । ७ दोषप्रयुक्तत्वम् ८ यथा एषो विधीना काम्यविधायकत्वं तद्वैव नित्य-  
विधायकत्वमपीति भावः । ९ विधित्वस्य तुल्यत्वादित्यर्थं तथा बीजेषामपि दुष्टत्वमवश्यं वाच्यं विहितत्वा-  
विशेषात् । १० कामसामान्यजनित्यर्थः । ११ युक्तमिति उक्तविषया काम्यनित्यविभागो युक्त इत्यर्थः ।  
प्रकारान्तरेण स विभागो न सिध्यति तुल्यं हि नित्यस्यापि कामनाधीनत्वं "यद्यदि कुर्वते जन्तुस्तत्कामस्य  
चेद्वि"मिति स्मृतेरिति न कामाधीनत्वमपि काम्यत्वमिति भावः । १२ कामनाप्रयुक्तं काम्यं जीवनप्रयुक्तं  
नित्यमिति विभागो गच्छते नन्विति । १३ युनेरविरक्तेति—भावज्जीवयुते वापादिदोषाणहृतमानसपुविषय-  
वत्वादित्यर्थः । ननु रामादिदुष्टस्य कर्माधिकारे तथाविरक्त्यैव मुमुक्षोर्ज्ञानाधिकारोपीति न विशेषो ज्ञानकर्मणो  
मुमुक्षोरपि मोक्षे रागादित्याशङ्क्य समादधुर्वातिवाच्यं तथाहि—"आविरिञ्चाद्विरक्तस्य तद्विस्तारत्वमस्ति ।  
मोक्षे पुनोऽधिकारं स्यात् कामाप्रवृत्तात्मनः ॥१॥ पराञ्च कामानित्येव कामानित्यपरं तथा । सोऽकाम इति-  
तद्वच्च युनि कामनिषेधिनो ॥२॥ अविद्याया न चोच्छ्रितो ज्ञानाद्व्यपदेशकते । ज्ञानोत्पन्नो न चैवाव्यच्छ-  
मादिभ्यो ह्येवत्येव ॥३॥ यमाद्यनुत्पत्तये नान्यदनुद्विष्टुद्वेषेवत्येव । बुद्धिबुद्धौ च नित्यादिवर्त्मन्यो नान्यदिप्यते ॥४॥  
आत्माऽनैकहेतुत्वाद्वाङ्मनः कायवर्त्मनाम् । आत्मज्ञानेन तद्वाचात् यमपिशा कुतो भवेत् ॥५॥ यदज्ञान-

मुपलभ्यते । 'कर्मनिमित्तदेवतादिसर्वसाधनविज्ञानोपमर्देन ह्यात्मज्ञानं' विधीयते ।

न चोपमर्दितक्रियाकारकादिविज्ञानस्य 'कर्मप्रवृत्तिरप्युच्यते । 'विशिष्टक्रिया-

"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारस्मुच्यते"

इति स्मृतज्ञानपरिपाके कारणं कर्मोपशम एव प्रतीयते न तथा 'कर्मविधिरित्यर्थः । न केवलं विहितं मोपलभ्यते न संभवति ज्ञेयाह—कर्मनिमित्तेति । यदा नास्ति त्वं संसारो कित्त्वकत्रभोवत् ब्रह्मासीति, भुत्वा ज्ञाप्यते तदा देवतायाः संप्रदानत्वं करणत्वं ब्रह्मादेरित्ये'तत्सर्वम्'पमृदितं भवति । 'तत्कथमकर्तृत्वज्ञानवतः संभवति कर्मविधिरित्यर्थः ।

"उपमृदितमपि वासनावशादुद्भविव्यति "ततश्च विदुषोऽपि कर्मविधिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । वासनावशादुद्भवसूतस्या"ऽऽभासत्वादा"स्मस्मृत्या पुनः पुनर्बाध्याच्च विदुषो न कर्मप्रवृत्ति-

इसके प्रतिरिक्त, अग्निहोत्र, दर्शन, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमादि कर्मों का, स्वन कोई काम्यत्व प्रयत्न नित्यस्वरूप विभाग नहीं होता । स्वर्गविषयक कामना के दोष से कर्ता की काम्यता सिद्ध होती है । इसी प्रकार कर्तृत्वादि—अभिमान से प्राप्त, इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के इच्छुक अविद्यादि—दोषवान् कर्त्ता के लिए ही नित्यकर्मों का अपदेश किया गया है—ऐसा मानना उचित है । क्योंकि उसी (निखिल अनर्थ के बीजरूपा अविद्यादि दोषवान्) पुरुष के लिए उनका प्रयोग किया गया है । परमात्मा के निरुपाधिकस्वरूप विज्ञाता के लिए कर्मोपशमरूप साधन से भिन्न

त्प्रवृत्तिर्मा तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेत् । प्रत्यग्ज्ञानोद्भवे तस्मात् समाप्ति सर्वकर्मणामिति ॥६॥" एतेषा व्याख्यातम्—आविरिञ्चनदिति—आ च स्यागो संसारादिति शेषः । अनित्यसंसारविषयस्तच्छब्दः । मोक्षवाच-स्तदुपायज्ञानविषयः । साधनचतुष्टयविशिष्टो हि मोक्षापायज्ञानेऽधिकारी न रागादिमान् अथ शब्दोपात्तन्याय-विरोधादित्यर्थः । अत्रात्र शब्द आदिमब्रह्मसूत्रघटको बोध्य तस्य साधनसम्पत्त्यनन्तर्यावस्थात् न्यायश्च तत्रोक्तमुक्तिरनाप ॥१॥ विरक्तस्य ज्ञानाधिकारे भानमाह—पराच इति । पराच कामाननुयति बाला इत्येव प्रकारं वाक्यम् । कामान्य कामयते अन्यमान इत्यपरमपि वाक्य पूर्ववन्नित्यादारा कामनिषेधकम् । उक्त-वाक्यवद् योऽकाम इति च श्रुति साक्षादेव तन्निषेधेन कामाद्यनुपदृतस्य श्रेयोमार्गे सम्प्राप्तोऽधिकार सूचय-तीत्यर्थः ॥२॥ कथं कर्मफलद्विरक्तस्य मोक्षाधिकार तस्यापि तत्फलत्वादन्यथा कर्मणाभुतप्रफलानन्वय स्यादित्याशङ्क्य क्रममुपन्यस्यति—अविद्यामा इति । समाधीना ज्ञानोत्पत्त्युपकरणत्वं धृतिप्रसिद्धमिति ह्यिहादर्शः ॥३॥ ॥४॥ परम्परयापि कर्मणा मोक्षोपागोप्यते विमिति साक्षादेव नेष्यते इत्याह—आत्मेति त्रिविधस्यापि कर्मणो-ज्ञानजन्यत्वात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तदवस्थश्च कर्मणोऽपि निवृत्तज्ञानिनो मोक्षे तदपेक्षा न युक्तित्यर्थः ॥५॥ ज्ञानिनो ध्वस्ताज्ञानस्यापि कर्मदत्तानामोक्षे तदपेक्षेत्याशङ्क्य तस्य बाधितानुवृत्त्या तददृष्टिरित्याशयेनाह—तदज्ञानादिति ऊर्ध्वमिति शेषः । योगारूढस्य तस्यैवेति वचनात् कर्मोपशयो ज्ञानपरिपाके हेतुर्न कर्मति मावा फलितमाह—प्रत्यमिति—ज्ञानादूर्ध्वं कर्मसिभवस्तच्छब्दार्थः ॥६॥ इति १ कर्मनिमित्त यस्येति विज्ञानान्वयि । २ उपमर्दो माय प्रयोजकत्वं तृतीयायं तदुपायप्रयोजक तदुपायफलकमिति यावत् । ३ उपदिश्यते । ४ विदुषः । ५ संभवति । ६ विशिष्टत्वम्—अबाधितत्वम् । ७ ज्ञानपदार्थदृश्यः । ८ न च जीवनप्रयु-क्त नित्यमिति युक्त सत्यपि जीवने कदाचित्तदभावात् तस्मिन्सत्येव तत्तस्यैव तु काम्येऽपि तुर्यमिति भावः । ९ इति स्वरूपमित्यर्थः । १० एतत्सर्वज्ञानमित्यर्थः । ११ बाधितम् । १२ तत् तस्मात्—कर्मप्रवृत्ति-प्रयोजकक्रियाकारकादिविज्ञानाभावादित्यर्थः । १३ बाधितमपि यथोक्तविज्ञानम् । १४ उद्भूतात्तस्मात् । १५ आभासत्वात्—अभ्यस्तत्वात् अभ्यस्त बाधवर्तनत्वादित्यर्थः । १६ नन्वाभासादपि श्रुतिस्मृत्यादाविव प्रवृत्ति स्यादत आह—आत्यस्मृत्येति ।



साधनादिज्ञानपूर्वकत्वात्क्रियाप्रवृत्तेः न हि देशकालाद्यनवच्छिन्नास्यूलाहयादिब्रह्मप्रत्यय-  
'धारिणः कर्मावसरोऽस्ति । भोजनादिप्रवृत्त्यवसरवत्स्यादिति चेत् । न । अविद्यादि-  
'केवलदोषनिमित्तत्वाद्भोजनादिप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तेः ।

न तु 'तथाऽनियतं कदाचित्क्रियते कदाचिन्न क्रियते चेति नित्यं कर्मोपपद्यते ।  
केवलदोषनिमित्तत्वात् भोजनादिकर्मणोऽनियतत्वं स्यात् । दोषोद्भवाभिव्ययोरनियतत्वा-  
'त्कामानामिव काम्येषु । शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वाच्च नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिः ।

रित्यर्थः । किंवानवच्छिन्न ब्रह्मात्मोक्तिं स्मरतस्तदानीमस्य देशादिसापेक्षं कर्म निरवकाशमित्याहु-  
—नहीति । विबुधो भिक्षाटनादिवत्कर्मावसरः स्यादिति शङ्कते—भोजनादीति । अपरोक्षज्ञानवतो  
वा परोक्षज्ञानवतो वा भोजनादिप्रवृत्तिः । नाऽऽद्य । 'अनभ्युपगमा'त्तत्प्रतीतेर्बाधितानुवृत्तिमात्रत्वाव-  
'गिनहोत्रादेरबाधिताभिमाननिमित्तस्य 'तथात्वानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्याऽऽह—नेति । न द्वितीयः ।  
परोक्षज्ञानिन 'शास्त्रानपेक्षक्षुत्पिपासादिदोषकृतत्वा'त्तत्प्रवृत्तेरिष्टत्वादित्याहु—अविद्यादीति ।

अग्निहोत्राद्यपि 'तथा स्यादिति चेन्नेत्याहु—नत्विति । भोजनादिप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तिं  
विबुधोक्ति—केवेति । न तु तथेत्यादि प्रपञ्चयति—शास्त्रनिमित्तं । 'तर्हि शास्त्रविहितकाला-

कोई भी कर्म विहित नहीं है । क्योंकि शास्त्रज्ञान का उपदेश तो इसलिए किया जाता है, ताकि कर्म-  
निमित्तक विज्ञानान्वयी देवतादिरूप सब प्रकार के बाधनों के विज्ञान का बाध हो ।

और जिसके क्रियाकारकादि-विज्ञान का बाध हो गया है, ऐसे विद्वान की भी कर्म में प्रवृत्ति  
सम्भव नहीं है । कर्म में प्रवृत्ति तो अबाधित-क्रियामाधनानि ज्ञानपूर्वक होती है । देशकालादि से अनव-  
च्छिन्न, अस्यूल और अद्वयादि स्वरूप ब्रह्मप्रत्यय की धारणा करने वाले विद्वान को तो कर्म करने का  
कोई अवकाश ही नहीं होता । (शका होती है) भोजनादि प्रवृत्ति के अवसर के समान विद्वान् को भी  
कर्म का अवसर हो सकता है, ऐसा कहा जाय तो ? (शका परिहार करते हैं)—ऐसा कहना ठीक

- १ उत्पन्नब्रह्मप्रत्ययस्यापि तन्मागार्ध्वं कर्म अविध्यतीत्याद्यवगाह—धारिण इति । तथा श्रौतम्—'न चोच्छि-  
न्नात्मनो ह्यस्य सदैवार्थमपि स्थिते । प्रतीच्यवसरोज्जीह बाङ्मन कायकर्मणामिति ॥' स्थितेरिति प्रवाहकपे-  
षेति शेषः । २ शास्त्रानपेक्षत्वं केवलत्वम् । ३ नियतत्वाभावादित्यर्थः । ४ तथेति—भोजनादिवदि-  
त्यर्थः । ५ कामवता पुत्रमिति केचित् । ६ शास्त्रविहितेति यावत् । ७ शास्त्रनिमित्तत्वादियदि—यथा  
काम्याग्निहोत्रस्य दोषनिमित्तत्वे मत्स्यापि शास्त्रविहितत्वात् सावरात्रात्प्राप्त्यपेक्षत्वं एव निरूपयामासि दोष-  
निमित्तत्वे सत्यपि शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वात् अनित्यत्वानुपपत्तिरित्यन्वयः । ८ इष्टान्नाद्यमस्या वृद्धिर्यति-  
ताद्य इति । ९ प्रवाहात्मना सदा मन्मथबुद्धिस्थितेरात्मवस्तुप्रसूतत्वादित्यभिप्रेत्याहु—अनभ्युपगमादिति ।  
१० ननु तदनभ्युपगमे देहधारणार्थं देहाधीनजीवन्मुक्तिशास्त्रं च विवक्ष्येतेत्याशङ्क्याह—तदिति । यद्यपि  
सत्यमेवाकत् भोक्तृब्रह्मात्मविद्यायां भोजनादिप्रवृत्त्यवकाशास्तथापि दम्बपटवद्बाधितानुवृत्त्या तद्भानाज्जीव-  
न्मुक्तिर्यदिति भावः । ११ अन्वग्निहोत्राद्यपि बाधितानुवृत्त्या स्यादित्याशङ्क्याह—अग्निहोत्रेति । १२  
तथात्वम्—बाधितानुवृत्तिमात्रत्वम् । १३ शास्त्रानपेक्षत्वादिति—मिसादिप्रवृत्ते केवलदोषप्रयुक्तत्वात् अग्निहोत्रा-  
देव शास्त्रप्रयुक्तत्वात् भिक्षादिदृष्टान्तेन अग्निहोत्राद्यापादयितुं शक्यम्—दृष्टान्तदर्शान्तिवयो शास्त्रवृत्तत्वं  
तद्वृत्तत्वाभ्यां वैपर्य्यादिति भावः । १४ भिक्षाटनादिप्रवृत्ते । १५ तथेति—अविद्यादिवयोर्मात्रप्रयुक्त-  
मित्यर्थः । १६ अविद्यादिवद्ब्रह्मात्मोक्तनियतत्वाभावात् व्याकट इत्यर्थः । १७ नियतत्वे सतीत्यर्थः ।

'दोषनिमित्तत्वे सत्यपि यथा काम्याग्निहोत्रस्य शास्त्रविहितत्वात्सायंप्रातः कालाद्यपेक्ष-  
त्वमेवम् ।

। तद्भोजनादिप्रवृत्तौ 'नियमवत्स्यादिति चेत् । न नियमस्याक्रियात्वात्क्रियायाश्चा-  
प्रयोजकत्वात्नासौ ज्ञानस्यापवादकरः ।

अपेक्षत्वान्नित्यानाम'दोषप्रभवत्वं भवेदित्याशङ्क्याऽह—दोषेति । एव दोषकृतत्वेऽपि नित्यानां शास्त्र-  
सापेक्षत्वात्कालाद्यपेक्षत्वमविरुद्धमित्याह—एवमिति ।

भोजनादेदोषकृतत्वेऽपि—

'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भक्षम् ।' 'यतीनां तु चतुर्गुणम्'

। 'इत्यादि'नियमवद्विबुधोऽग्निहोत्रादिनियमोऽपि स्यादिति शङ्कते—तद्भोजनादिति । "विबुधो  
नास्ति भोजनादिनियमो"ऽतिक्रान्तविधित्वात् । न च "तावता यथेष्टचेष्टापरितरधर्मापीनाऽविवेककृता हि  
सा । न च तौ विबुधो विद्येते । अतो"ऽविद्यावस्थायांमप्यसती यथेष्टचेष्टा विद्यादशायां "कुत" स्यात् ।  
सत्कारस्याप्यभावात् । 'बाधितानुवृत्तेश्च । अग्निहोत्रादेस्त्व'नाभासत्वात्त बाधितानुवृत्तिरित्याह—  
नेति । किंचाविबुधा विविदिपूणामेव "नियमः । तेषां विधिनिषेधयोश्चरत्वात् । न च तेषामप्येव"

नहीं । भोजनादि मे प्रवृत्ति नियतत्वाभाव के कारण अथवा शास्त्रानपेक्षत्व केवल अविद्यादिदोष-  
जनित होने के कारण होती हो—ऐसा सिद्ध नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त भोजनादि के समान नित्य कर्म का—'कभी करलो, कभी न करो'—ऐसा  
अनियत होना संभव नहीं है । भोजनादि कर्म केवल क्षुधादि दोष के कारण होते हैं, उनका अनियतत्व  
संभव है, काम्य कर्मों में कामना अथवा कामवान् पुरुषों की तरह उन दोषों की उत्पत्ति और निवृत्ति  
अनियत हैं । अग्निहोत्ररूप काम्यकर्म के दोषनिमित्तक होने पर शास्त्रविहित होने से साय-प्रातः-  
कालादि अपेक्ष्य है, ऐसे ही नित्य कर्म भी दोषमय होने पर शास्त्रनिमित्तक कालाद्यपेक्ष्य है, अतः उनमें  
अनियत होना नहीं बनता ।

१ दोषेत्यादि—इदं पूर्वोक्तरोभयान्वयि दोषनिमित्तत्वे सत्यपि नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिरिति पूर्वान्वय ।

२ विबुधोऽग्निहोत्रादिनियमोऽपि स्यादित्यर्थः । ३ भिक्षादेरितरविद्याविरोधिन्नयाज्ञासेपरत्वादित्यर्थः ।

४ ननु विविदिपूना परितस्थप्यते चेत्तदर्थानुष्ठाननिष्ठानां तेषां विद्यावर्णनवृत्त्यनुपपत्तेः सा दोषपर्येत्यादिभ्याह—

नास्ति । यस्माद्वन्यं निवृत्तिपत्तौ नियमो न विरुद्धत्रियाप्रयोजकः तस्मादात्मविषयो न बाधकोऽपि तदनुग्राह्य

एव भिक्षादिहीनस्य यथेष्टचेष्टारसिकस्य वा ब्रह्मविद्यानुपपत्तिरिति भावः । ५ परितस्थानियमः । ६

बाधकः । ७ अदोषप्रभवत्वं भवेदिति—तथा च शास्त्रमात्रप्रयुक्तानुष्ठानत्वादनर्थक्यरत्वाभावात्तु प्रवृत्त्यभावो

विबुधोऽपि न युक्त इत्याकृतम् । ८ इमौ भिक्षपचोपपादौ । ९ इदं चातुर्वर्ण्यं शौचमभिरुहय—मनु०

५-३६ । १० आदिना एवकासं चरेद्भक्षमित्यादिग्राह्यम् । ११ बर्णस्य कालनियमेत्यर्थः ।

१२ विबुधो भिक्षाटनाद्येवातिष्ठ तन्निग्रमवदग्निहोत्रादिनियतिस्तु द्वारनिरस्तेत्यभिप्रेत्याह—विबुध इति ।

अत्र असिद्धमित्यस्य धास्त्रानपेक्षमित्यर्थः । १३ विध्यकिङ्करत्वादित्यर्थः । १४ अतिक्रान्त-

विधित्वमात्रेण । १५ साधनावस्थायामिति यावत् । १६ कारणत्वात् । १७ अतितु न स्यात् कारणा-

भावात् । १८ उपरान्तं हृष्टान्तदाष्टीमिकयोर्वेषम्य स्फुर्यति—बाधितति । भोजनादौ प्रवृत्तिसंभव इति

क्षेपः । भोजनादेदोषमात्रजन्यत्वाभासतया बाधितानुवृत्तिसंभवमिति भावः । १९ अबाधिताभिमाननिमित्त-

त्वादनाभासत्वम् । २० नियमः—चातुर्वर्ण्यामित्यादिवर्णितो नियमः । २१ नियमः ।

'तस्मात्परमात्मयायात्म्य'ज्ञानविधेरपि तद्विपरीतस्थूलद्वैतादिज्ञाननिवर्तकत्वा-  
'तस्मात्प्रतिषेधकर्मप्रतिषेध'विध्ययत्वं संपद्यते । कर्मप्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वाद्ध्या 'प्रतिषेध-  
विषये । 'तस्मात्प्रतिषेधविधिवच्च वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं च' सिद्धे शास्त्रस्य ॥१॥

ज्ञानोदयपरिपन्थो । 'तस्यान्यनिवृत्तिरूपस्य स्वयक्रियात्वाभावात् । अपि 'स क्रियाशक्तिपन्था-  
विद्यो' 'प्रतिक्षिपति । "अन्यनिवृत्त्या"स्मन"स्तदाक्षेपकत्वासिद्धेरित्याहु- नियमस्येति ।

कर्मसु रागादिमतोऽधिकाराद्विरक्तस्य ज्ञानाधिकारज्ञानिनो हेत्वभावादेव कर्माभावात्तस्य  
"भोजनाद्यतुल्यत्वात्तत्त्वभावेः सर्वव्यापारोपरमात्मकज्ञानहेतोर्निवर्तकत्वेन प्राप्त्याप्यं प्रतिपादितमुपसंहरति  
—तस्मादिति । तस्य" विधिरूपत्वं बाधयम् । तस्य नियमबाधयवत्त्वज्ञानहेतोस्तद्विरोधिभिन्नाज्ञान-  
ध्वंसितराज्ञेयव्यापारनिवर्तकत्वेन "कूटस्थवस्तुनिष्ठस्य युक्त प्राप्त्याप्यम् । मिथ्य ज्ञानध्वंसे हेत्वभावे  
कलाभाग्नयायेन सर्वकर्मनिवृत्तेरित्यर्थः । "तत्पदोपात्तं हेतुमेव स्पष्टयति—कर्मप्रवृत्तीति । यथा प्रति-  
षेधे भक्षणार्थे प्रतिषेधशास्त्रवशात्प्रवृत्त्यभावस्तथा तत्त्वमस्यादिवाक्य"सामर्थ्यात्स्मैवपि प्रवृत्त्यभा-  
वस्य तुल्यत्वात्प्राप्ताप्यमपि तुल्यमित्यर्थः । प्रतिषेधशास्त्रसाम्ये तत्त्वमस्यादिवाक्यस्योच्यमाने "तदेव  
निवृत्तिनिवृत्तं" इत्यात्र वस्तुप्रतिपादकत्वमित्याशङ्क्याऽह—तस्मादिति । प्रतिषेधो हि प्रसक्तक्रिया  
निवर्तयति"दुर्बलक्षितौदासीन्यात्मके वस्तुनि "धर्मवत्पति" । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापि वस्तुप्रति-  
पादकत्वमविरुद्धमित्यर्थः । वेदान्तानां "सिद्धे प्राप्त्याप्यवद"र्षवादादीनामन्यपराणामपि संवाहविसंवाद-  
योरभावे स्वार्थं मानत्वसिद्धौ सिद्धा बिभृक्षुपाविगुणयतो "प्राणदेवतेति चकारार्थः ।

(इस पर दाका होती है) —उस भोजनादि प्रवृत्ति मे ( भिक्षाटन ) नियम की तरह विद्वान् वा  
भग्नित्तोनादि नियम भी हो सकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं । नियम की क्रियारूपता नहीं है, और  
क्रिया प्रयोजक नहीं होती—यह परिसर्या नियम ज्ञान का विरोधी नहीं है ।

- १ वस्तुमानहेतोः । २ ज्ञानोपादयवान्वयस्य । ३ निवर्तकत्वान्यथाप्युपपत्त्येवम् । ४ बोधनार्थत्वम् ।
- ५ कलञ्जभक्षणार्थे । ६ तस्मादिति- नियमवान्ने तत्त्वमादौ च प्राप्तप्रवृत्तिनिरासेन कर्मक्षेपवस्तुमान-  
पर्यवसानत्वाविरोधाद् इत्यर्थः । ७ प्रतिषेधक । ८ नियमस्य परिसर्यान्वयस्य । तेषामपि चातुर्वर्त्य-  
मिरादिनाम नियमविधि प्रसिद्धपरिस्तराविधिबोधयमादित्यभिप्रेत्याहु- तत्त्वस्यादि । ९ स परिसर्यान्वयो  
नियमविधि क्रियाम् निवृत्त्यनुकूल्यापारम् । आक्षिपन्नि-ता बिना स्वस्य विधित्वानुपपत्तेरिति भावः ।
- १० प्रतिषेधनाति । न प्रतिक्षिपतीति—अन्यथा तथैवामिहोनादिक्रियापि तस्य स्यात् । ज्ञानस्य क्वचित्ता  
क्रियात्वाभ्युपगमेन तत्प्रतिषेधकत्वाभावे विधी क्रियात्त्वमागम्येन भग्नित्तोनादेरप्यप्रतिषेधनात्तदपि प्रसज्येतेति  
भावः । ११ अन्यनिवृत्तीत्यादि—स तत्त्वमविवृत्तिप्रयोजक सप्त प्रयोजयति क्रियाम्—इति कुतो विधाविरोध-  
कृतश्च तत्प्राग्निहोनादिप्रसक्तिरिति भावः । १२ निवृत्तिबोधनस्य । १३ ननु विधेर्भावात्प्रतिषेधकत्वनिव-  
सादस्तिक्रियाऽक्षेपकत्वमित्याशङ्क्य विधाविबुद्धताक्षेपकत्वासाधयमभिप्रेत्याहु-तदिति । भिन्नादे शुद्धोपपत्तत्वा-  
त्कर्मणोऽतथात्वात् वैषम्यमिति भावः । १४ कर्मणः । १५ शास्त्रान्पेक्षुषाद्विरोधमात्रमुक्तत्वात्प्राप्तेः ।
- १६ परमात्मयायात्म्यज्ञानस्य । १७ अक्रिये वस्तुनात्म्येवम् । १८ तत्प्राग्नि-पदेवम् । १९  
सामर्थ्यादिति अक्षेपप्रवृत्तीनामात्म्या ज्ञानहेतुत्वात् परमात्मयायात्म्यज्ञानहेतोस्तत्त्वमस्यादेन दृष्टमित्येन हेत्वभावे  
फलाभावे ऋति न्यायेन विदुषः कर्मसु प्रवृत्त्यभावात् युक्त एवेति तत्त्वम् । २० नयन-निषेधशास्त्रवदेत्यर्थः ।
- २१ तदुपनिषत्तत्वादि—निवृत्त्युपपत्तिप्रवृत्त्यनुकूलप्रत्यक्षाभावात्तद्विषयमोऽवस्थाविधेयात्तत्त्व-वस्तुनीत्यर्थः ।
- २२ तात्पर्यवद्भवति । २३ यथनि शेषः । २४ अत्रार्थेनैव शुद्धे ब्रह्मणि । २५ विधेयप्राप्त्यपराणां ।
- २६ प्राणदेवक्षिति—ननुप्राप्त्येव मित्रत्वात् तन्प्राप्त्येव इत्याहोपादिवाक्यमित्येवम् ।

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद-  
गायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं  
वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वं न उद्गात्राऽत्येष्य-  
न्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त यः स पाप्मा  
यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

उन देवताओं ने ऐसा निश्चय कर वाक् के अभिमानी देव से कहा—‘तुम हमारे लिए उद्गाता का कर्म करो’। वाणी ने ‘बहुत अच्छा’ ऐसा कहकर उन देवताओं के लिए गान किया। उसने वाणी ने जो भोग था, उसे देवताओं के लिए गान किया और जो कल्याणकारक भाषण करती थी, उसे अपने लिए गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा ही देवगण हमें जीतेंगे। अतः असुरों ने वाणी के पास जाकर उसे पाप से वेध डाला। यह जो वाणी निषिद्ध भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है ॥२॥

‘ते देवा हवन् विनिश्चित्य वाचं वागभिमामिनीं देवतामूचुरस्तवन्तः । त्वं  
नोऽस्मभ्यमुद्गायीद्वात्रं कर्म कुरुष्व वाग्देवतानिर्वर्त्यमौद्वात्रं कर्म वृष्टवन्तः । तामेव च

‘ज्ञानमिह परीक्ष्यमाणमित्येतत्प्रसङ्गागतं विचार परिसमाप्य ते ह वाचमित्यादि व्याचष्टे—  
ते देवा इति । ‘प्रचेतनाया वाचो नियोज्यत्वं वारयति—वागभिमामिनीमिति । नियोज्यता देवाना-  
मभिप्रायमाह—वाग्देवतेति । नन्वौद्गात्रं कर्म जपमन्त्रप्रकाश्या देवता निर्वर्त्यमिष्यति ननु वाग्देवतेति

इस वक्ष्यमाण हेतु से परमात्मनिरुपाधिक ज्ञानोत्पादकवाक्य भी, उससे विपरीत स्थूल एव  
दृढादि ज्ञाननिर्वर्तक—ग्रन्थयानुपपत्ति से, सब प्रकार के कर्मों के प्रतिषेध-बोधन के लिए तत्पर होता  
है। उसमें कर्मप्रवृत्ति का अभाव (कलञ्जभक्षणादि) प्रतिषेधविषयक वाक्यों के समान है। अतः  
प्रतिषेधवाक्यों के समान ही ‘तत्त्वमसि’ आदि में भ्रान्त-प्रवृत्ति निरास द्वारा (अकार्य शेष) वस्तु-  
प्रतिपादक और कर्मनिषेधपरक होना शास्त्र का सिद्ध होता है ॥१॥

उन (प्राजापत्य करणाधिष्ठाता) देवताओं ने ऐसा निश्चय कर “वाचम्” अर्थात् वाक् के

१ ते प्राजापत्या देवा करणाधिष्ठाता । २ उद्गीथेन ज्योतिर्होमयज्ञे अमुरानतीत्य स्व देवभाव प्रति-  
पद्येमहीत्येव निश्चित्येति ॥ शब्दार्थः । ३ औद्गात्र कर्मवाग्देवतायैव निर्वर्त्ययितुं यन्वयमिति निश्चितवन्त  
सन्त ऊचुरित्यन्वयः । ४ ७५ पृष्ठे भाष्ये ‘ज्ञानं त्विदमेव निरूप्यमाणं’मित्युक्ततत्प्रसङ्गादागतमित्यर्थः । ५  
ननु चेत्तानर्थैव नृत्यादे चेतनेन राजादिना नियोगवर्शनात् अचेतनेन चक्षुरादिना वयमचेतनाया वाचो नियोग  
इत्याशङ्काह—अचेतनाया इति । तथा च वार्तिकम्—“वागभिमामिनी चेद् वाग्देवतामित्युच्यते” इति । अप  
ह प्राणमूचुरित्यादिपदार्थान्येवपि प्राणादिसादना देवतावाचित्वं च शब्देन समुच्चयते । तामेव विशिनष्टि—अग्नि-  
रिति । “अग्निर्वाग्मूला मुखं प्राविशति” इति श्रुतेरग्निरेव वागभिमामिनी देवता तैवात्र ब्राह्मण उपास्यत्वात् । “ते ह  
देवा वाचमुद्गीथमुपासात्वाकुरे” इति श्रुतेः । अध्येषणाविषयत्वाच्च—लोके अध्येषणाविषयश्चेतनश्चेन्नो दृश्ये वाक्  
च त्वं न उद्गायेत्यध्येषणाविषयः । न च हृदयशास्त्रादिसिद्धिर्वाद्याणामेव ग्रहणं तेषां पारार्थ्यात् । अचेत-  
नत्वात् । मर्त्यत्वात् । अनीश्वरत्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

वाचं देवतां जपमन्त्राभिधेयामसतो मा सद्गमयेति । अत्र चोपासनायाः कर्मणश्च कर्तृत्वेन वागादय एव विवक्ष्यन्ते । कस्मात् । यस्मात्परमार्थतस्तत्कर्तृकस्तद्विषय एव च सर्वो ज्ञानकर्मसंयवहारः । वक्ष्यति हि "ध्यायतीव सेतायतीव" इत्यात्मकर्तृत्वाभावं विस्तरतः पठे । इहापि चाध्यायान्त उपसंहरिष्यत्यध्याकृतादिद्विधाकारकफलजातम् "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इत्यविद्याविषयम् । अध्याकृतात्तु यत्परं परमात्माद्यं विद्याविषयम्-

तत्राऽऽह—तामेवेति । असतो मा सद्गमयेति जपमन्त्राभिधेया दृष्टवन्त इति पूर्वोक्तं संबन्धम् । वागाद्याभ्यं कर्तृत्वादि वक्ष्यतोऽयं वादस्य "प्रासङ्गिकं तात्पर्यमाह—अत्र चेति । आत्माश्रये कर्तृत्वादावभासमाने तस्य वागाद्याभ्यत्यमयुक्तमित्याह—कस्मादिति । परस्य जीवस्य वा कर्तृत्वादि विवक्षितमिति विकल्प्याऽऽह वृष्यति—यस्मादिति । विचारदशाया वागादिसंघातस्य क्रिया"विशक्तिमत्त्वात्कर्तृत्वादित्वाभयो यस्मात्प्रतीतस्तत्मात्परस्याऽऽत्मनः— "स्वतस्तच्छक्तिशून्यस्य न तदाश्रयत्वमित्यर्थः । किं चा"विद्याश्रयः सर्वो व्यग्रहारो न तद्विने परस्मिन्नवतरतीत्याह—तद्विषय इति । "कर्ता शास्त्रार्थयत्नवात्" इति न्यायेन कर्तृत्वमात्मनोऽङ्गीकर्तव्यमित्याशङ्क्य "यथा च ततोभयमा" इति न्यायादौपाधिक तस्मिन्कर्तृत्वमित्यभिप्रेत्याऽह—वक्ष्यति हीति । यदुक्तम् "विद्याविषयः सर्वो व्यवहार इति" तत्र "बाध्यतौपमनुकूलयति—इहापीति । इतश्च परस्मिन्नात्मनि कर्तृत्वादिभ्यवहारो नास्तीत्याह—अध्याकृतात्त्विति । अनामरूपकर्मात्मकमित्यस्मादुपरिष्ठात्तत्पदमध्याहृतं पृथग"विद्याविषया-

अभिमानो देवता से कहा—तुम हमारे लिए 'उद्गाय' अर्थात् उद्गाता का कर्म करो—प्रोद्गात्र कर्म वाग्देवता द्वारा उपपन्न होना शक्य है—ऐसा निश्चय किया । उसी वाक् देवता को "मुझे प्रसतु से सत् के प्रति प्रप्रसरित करो" इस जप मन्त्र का अभिधेय देता । यहा अर्थवाद वाक्य मे उपासना और कर्म के कर्तारूप से वागादि ही विवक्षित है (आत्मा नहीं) । ऐसा क्यों कहते हो? क्योंकि उपासना और कर्मसम्बन्धी सारा व्यवहार वस्तुन वागादिसंघातकर्तृक है, एव अविद्या का आश्रय है । आत्म-कर्तृकविषयता का अभाव विस्तार से बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे बताया जायगा । जैसे "बुद्धि से ध्यान करता हुआ आत्मा भी ध्यान करता हुआ सा प्रतीत होता है । उसके चलने पर आत्मा भी चलता हुआ सा प्रतीत होता है ।" एव अध्याकृत और ध्याकृत क्रिया-कारक-फलजात,

- १ अर्थवादवाक्ये । २ नवतारमा । ३ तत्कर्तृक वागादिसंघातकर्तृक । ४ अविद्याश्रय । ५ ध्यायतीत्यादि—बुद्धौ ध्यायन्त्यां सत्यामात्राणि ध्यायतीव सङ्गते । चलन्त्या च तस्या चलतीव सोऽतीति वाच्यार्थः । ६ ६०३० ४-३-७ । ७ संश्लेषोपदेश्यति । ८ अव्याकृतव्याकृततामन्त्रम् । ९ ६० ३०—१ ६ १ । १० अविद्याविषयम् । ११ नवान्तरम् । १२ आदिना ज्ञानयति । १३ स्वत इति सहात्तरूपोपाधि-न्तरेणेत्यर्थः । १४ अविद्याश्रय इति—अविद्याऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तज्जन्त्यात्तदाश्रित इत्यर्थः । १५ ततो भान्त्रार्थवत्त्वादिति—आत्मैव कर्ता न बुद्धि कर्तृत्वेतिनोपायबोधकविधिशस्त्रस्य अर्थवत्त्वात् आत्मन कर्तृत्वे हि विधिशस्त्रार्थवत्त्वात् न न्यायानुबुद्धि वर्षी फलभोक्ता चात्येति कर्तृत्वेतिनोपायबोधकशस्त्रमनर्थक स्यात् । तस्माच्च वेदवबुद्धे कर्तृत्वं त्रित्वात्मन इति सूत्राय । १६ ६०३० २३ ३३ । १७ ६० ३० २३ ४० । १८ यथा च ततोभयमेति—न्याया तत्रा उपयया वास्यादिकरणान्मपेक्ष्य कर्ता दुर्लभो भवति अनेपेक्ष्य तु स्वरूपेणाऽऽत्मा सुखी भवति । तथाऽऽत्मापि बुद्ध्यादीनि करणान्यपेक्ष्य कर्ता सत्सरति अनेपेक्ष्य तु स्वाभावतोऽर्त्ता परमानन्द । अथादिसर्वं स्वाभाविककर्तृत्वाभाव गृह्यानि । १९ अविद्याश्रयः । २० उनेपेक्षी । २१ उपसंहरवाक्य मवादयानि । २२ अविद्याविषयः ।

नामरूपकर्मात्मकं नेति नेतीतीतरप्रत्याख्यानेनोपसंहरिष्यति' पृथक् । यस्तु 'वागादि-  
समाहारोपाधिपरिकल्पितः संसार्यात्मा तं च वागादि'समाहारपक्षपातिनमेव दर्शयिष्य-  
त्येतेभ्यो भूतेभ्यः 'समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति । तस्माद्युक्ता वागादीनामेव ज्ञानकर्म-  
कर्तृत्वफलप्राप्तिविवक्षा ।

तथेति तथाऽस्त्विति देवेरुक्ता वाक्तेभ्योऽर्थभ्योऽर्थयोदगायदुद्गानं कृतवती ।  
कः पुनरसौ देवेभ्योर्यायोद्गानकर्मणा वाचा निर्वर्तितः 'कार्यविशेष इति । उच्यते—यो  
वाचि निमित्तभूतायां वागादिसमुदायस्य य 'उपकारो निष्पद्यते वदनादिध्यापारेण स  
एव । सर्वेषां 'ह्यसौ वागवदनाभिनिवृत्तो भोगः फलम् । तं भोगं सा त्रिषु पवमानेषु

स्त्रियाकारकलजातादिति शब्दः । सा भूत्परमात्मा कर्तृत्वाद्याभ्रयो जीवस्तु स्यादिति द्वितीयमाशङ्क्या-  
ऽऽह—यस्त्विति । जीवशब्दवाच्यस्य विशिष्टस्य कल्पितत्वाच्च तात्त्विकं कर्तृत्वादिकं किं तु तद्द्वारा  
'स्वरूपे समारोपितमिति भावः । आत्मनि तात्त्विककर्तृत्वाद्यभावे फलितमर्थवादतात्पर्यमुपसंहरति—  
तस्मादिति ।

तात्पर्यमर्थवादस्योक्तत्वा निरुक्त्या वाग्देवस्य यत्कृतं तनुपगम्यस्यति—तथेत्यादिना । उद्गा-  
नत्वं जपमन्त्रप्रकाशयत्वं चाऽऽत्मनोऽङ्गीकृत्य वागुद्गाने प्रवृत्ता चेत्तया कश्चिदुपकारे देवानामुद्गानेन  
निर्वर्तनीयः स च नास्तीति शङ्कते—क पुनरिति । वदनादिध्यापारे सति यः सुखविशेषः सघातस्य  
निष्पद्यते स एव कार्यविशेष इत्याह—उच्यते इति । यो वाचोति प्रतीकमादाय 'ध्याख्यायते । कथं पुनर्वाचो  
वचनं बहुषो दर्शनमित्यादिना निष्पन्नं "फलं सर्वसाधारणमित्याशङ्क्यानुभवमनुवृत्त्याऽऽह—सर्वोपा-  
मिति । किं च देवार्थमुद्गायन्त्या वाचः स्वायंमपि किञ्चिदुद्गानमस्ति । तथा च "ज्योतिष्टोमे द्वादश  
स्तोत्राणि तत्र त्रिषु पवमानाख्येषु स्तोत्रेषु याजमानः "फलमुद्गानेन कृत्वा शिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु य'एक-

प्रविद्या का आध्रय है । इसमें "यह नाम, रूप और कर्म से वह अनात्मा ही त्रिविध है" ऐसा श्रुतिवाक्य  
है, जिसका इस अध्याय के अन्त में सक्षेप से उपदेश किया जायगा । अभ्याकृत से परे जो नाम, रूप  
और कर्म से रहित परमात्मज्ञक विद्या का विषय है, "नेति नेति" इस श्रुति से आत्मभिन्न-अनात्मनि-  
षेध द्वारा उसका पृथक् उपसंहार किया जायगा । और जो वागादि सवतरूप-उपाधि विशिष्ट से  
कल्पित ससारी आत्मा है वह "इन भूतो से उत्पन्न होकर, इनके नष्ट होने से, इन्हीं के साथ नष्ट हो  
जाता है" इस श्रुतिवचन से वागादिसघात के अन्तर्गत ही है, ऐसा बतलाएंगे । इसलिए वाक् आदि ही  
उपासना और कर्म के कर्ता हैं, तथा उन्हें ही फल प्राप्ति होती है,—ऐसा मानना ही उचित है ।

- १ आत्मभिन्नानात्मनिषेधेन । २ बृ० उ० २३६ । ३ वागादिसघातरूपोपाधिविशिष्टत्वेन कल्पित । ४.  
सघातान्तर्गतमेवेत्यर्थः । ५ बृ० उ० २४१२ । ६ उपकाराय । ७ सर्वदेवसाधारण फलविशेष ।  
८. सुखविशेष । ९ उद्गीथदेवतापीन सघातस्य सदा जीवन प्रत्यक्षसिद्धिमिति हिना द्योतयति । उद्गीथपरा-  
द्वयाद् वागाद्युद्गानकर्तृपर । १० परस्मिन्नेव प्रतीचि विवेच्यते । ११. उच्यते इत्युत्पापमर्थः । १२.  
आदिनाश्रुतज्ञानरूपेन्द्रियव्यापारग्रहणम् । १३ सुखविशेषात्मकम् । १४. ज्योतिष्टोमप्रकरणम् । १५ यज-  
मानादि । १६ शुद्धोच्चारणसामर्थ्यम् ।

'कृत्वाऽवशिष्टेषु नयसु स्तोत्रेषु 'वाचनिकमातिवज्यं फलं यत्कल्याणं शोभनं वदति वर्णन-  
'नितिवर्तयति तदात्मने' मह्यमेव । तदर्थं साधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्बन्धवर्णना-  
मुच्चारणमर्तसत्तदेव विशेष्यते यत्कल्याणं वदतीति । यत्तु यदनकार्यं सर्वसंघातोपकारा-  
त्मकं तद्याजमानमेव ।

तत्र कल्याणवदनात्मसंबन्धासङ्गावसरं देवताया रन्ध्रं प्रतिलभ्य ते 'विदुरमुराः  
कयमनेनोद्गात्रा नोऽस्मा'स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म चा'भिभूयातोत्य शास्त्रजनितकर्मज्ञान-

ह्याणवदनसामर्थ्यं तदात्मने स्वायंमेवाऽऽजायदित्याह—त भोगमिति । ऋत्विजा श्रोतवात्र फलसम्बन्धः  
संभवतोऽस्याऽऽज्ञाऽह—साधनिकमिति । "अयाऽऽत्मनेऽज्ञात्तया"गायेत् इति श्रुतमित्यर्थः । कल्याण-  
वदनसामर्थ्यस्य स्वायंत्व समययते—तदीति । कल्याणवदनं वाचोऽसाधारणं चेत्कर्तृत्वं यो वाची-  
त्वादेवियपस्तत्राऽह—यत्त्विति ।

वाग्देवतायामुच्चारणामवकाशं दर्शयति—तत्रेति । स्वायं परायं चोद्गाने सतीति यावत् ।  
कल्याणवदनस्याऽऽत्मना वाचैव संबन्धे योऽयमासङ्गोऽभिनिवेशः ॥ एवावसरो देवतायास्तमवसरं  
प्राप्तेत्यर्थः । अवसरमेव व्याकरोति—रन्ध्रमिति । अस्मा'नतीत्येति संबन्धः । कोऽसावमुरात्ययत्तं  
व्यावृष्टे—स्वाभाविकमिति । तत्रोपायमुपन्यस्यति—शास्त्रेति । अमुरानभिभूय केनाऽऽत्मना देवा-

'तथेति' अर्थान् 'ऐसा ही हो'—देवताओं द्वारा कही गयी इस वाणी में देवताओं के उपकार  
के लिए उद्गान किया । देवताओं के हित के लिए उद्गान कर्म से वाणी द्वारा कौनसा ऐसा सर्वदेव-  
साधारण फलविशेष सम्पन्न हुआ ? इस पर कहते हैं—निमित्तभूता वाणी में उनके भाषणादि  
व्यापार द्वारा वाक् आदि समुदाय का जो (मुख विशेष) उपकार होता है—वही उनका फलविशेष है,  
क्योंकि सबको वाणी के भाषण से होने वाला, भोग्य फल प्राप्त होता है ।

उस भोग को पवमानाख्य तीन स्तोत्रों में यजमानगामी उद्गान करके, शेष तीनों स्तोत्रों में  
जो ऋत्विक् सम्बन्धी वेदवचन—प्रमाणित फल था, या वह जो कल्याणमय सुन्दर भाषण-रूप वर्णों का  
उच्चारण था, 'मेरे लिए ही हो'—इस प्रकार उसने अपने लिए उद्गान किया । वाक् देवता का वो  
इतर व्यावृत्त कर्म है, जो वर्णों का ठीक उच्चारण है । अतः (यद्योक्त उच्चारण वाणी का  
असाधारण धर्म होने से) "जो कल्याणमय बोलता है" उनका सामर्थ्य को ही विशेष रूप से बतलाया है ।  
बोलना रूप जो कार्य है, वह समस्त सङ्गान का हितकारी है, वह यजमान सम्बन्धी ही है ।

(स्वार्थ और परार्थ उद्गान होने पर) वहाँ कल्याणवदन का येरी वाणी से सम्बन्ध है—ऐसा

- १ यजमानगन्तव्यमुद्गान कृत्वा । २ वेदवचनप्रमाणत्वम् । ३ उच्चारणमिति । ४ कृण्वतीतिशेषः । ५  
इनख्यावृत्तम् । ६ सम्पत्तित्यादि—तदुक्तं वातिके—"यथासाश्च यथायोग्यं वर्षदोषविवर्जितम् । वर्णोच्चार-  
णसामर्थ्यं मर्मवास्तु तदीहसमिति ॥" अस्यायमर्थः—व्याख्यादिलक्षणशास्त्रोक्तव्येन तात्वादिरयानसम्बन्धा-  
गुरोर्नेत्रं च अनिद्वन्द्वस्वादितोषहीनं यथा भवति तथा वर्णानामुच्चारणं सामर्थ्यं तदातिवज्यमेवेति । ७ अत इति—  
मयोक्तोच्चारणस्य वाचोऽसाधारणधर्मत्वादित्यर्थः । ८ तदेवेति—उक्तसामर्थ्यमेवेत्यर्थः । ९ विदुरिति—  
देवाभिप्रायं ज्ञातवन्त इत्यर्थः । १० शास्त्रानाधेयम् । ११ अभिभूयति—अत्येव्यन्तीति मोक्षितपदपठना-  
तिशब्दार्थाऽयम् । १२ बु० उ० १ ३ २८ । १३ आपानेन सम्पादयेत् । १४ तिरस्कृत्येत्यर्थः ।

‘रूपेण ज्योतिषोद्गात्रात्मनाऽप्येव्यन्त्यतिगमिष्यतीत्येवं विज्ञाय तमुद्गातारमभिद्वत्या-  
भिगम्य स्वेनाऽऽसङ्गलक्षणैर्न पाप्मनाऽविध्यंस्ताडितवन्तः संयोजितवन्त इत्यर्थः । ॥ यः  
स पाप्मा यः प्रजापतेः पूर्वजन्मावस्थस्य वाचि क्षिप्तः स एष प्रत्यक्षीक्रियते । कोऽसौ ।  
यदेवेदमप्रतिरूपमनुरूपं शास्त्रप्रतिषिद्धं वदति येन प्रयुक्तोऽसम्यग्धीमत्सानुताद्यनिच्छ-  
न्नपि वदति । अनेन कार्येणाप्रतिरूपवदनेनानुगम्यमानः प्रजापतेः कार्यभूतासु प्रजासु  
वाचि वतंते । एवाप्रतिरूपवदनेनानुमितः स प्रजापतेर्वाचि गतः पाप्मा कारणानुविधायि  
हि कार्यमिति ॥२॥

स्यास्पन्तीति विवक्षायामाह—ज्योतिषेति । प्रजापतेर्वाचि पाप्मा क्षिप्तोऽसुरैरिति ‘कुतोऽवगम्यते  
तत्राऽऽह—स य स पाप्मेति । प्रतिषिद्धवदनमेव पाप्मेत्युक्तमदृष्टस्य क्रियातिरिक्तत्वाङ्गीकारादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—येनेति । असम्यं स भानर्हं स्त्रीवर्णमादि । बोभस्त भयानकं प्रेतादिवर्णनम् । अनृतमय-  
थादृष्टवचनम् । अविशब्दात्पिद्युनत्वं गृह्यते । किमत्र प्रजापतेर्वाचि पाप्मत्त्वे मानमुक्तं भवतीत्या-  
शङ्क्य स एष स पाप्मेति व्याकरोति—अनेनेति । प्राजापत्यासु प्रजासु प्रतिपन्नेनासत्यवदनादिना  
लिङ्गेन तद्वाचि पाप्मानुमीयते । विमत पाप्मपूर्वकं प्रतिकूलधीविषयत्वाद्बुद्धवच्च । स पाप्मा प्रजा-  
वाच्यनुमित स एष प्रजापतिर्वाचि पाप्मानं गमयति । विमत “कारणपूर्वकं कार्यत्वाद्बुधवत् । “न च  
प्रजागतं दुरितं प्राजापत्यं तद्विना हेत्वन्तरादेव स्यात्कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य । न च तत्कारणे-  
ऽपि “परस्मिन्प्रसङ्गं ‘अपापविद्धम्’ इति श्रुते । न च न ह बं देवान्पापं गच्छति” इति श्रुतेन सूत्रेऽपि  
पापवेधस्तस्य फलावस्थस्यापापत्वेऽपि यजमानावस्थस्य तद्भावादित्यर्थः । आशसकाराभ्यां कारणस्य  
पाप्मानमनूय तस्यैव कार्यस्यत्वमुच्यते । उत्तराभ्यां तु कार्यस्य पाप्मानमनूय तस्यैव कारणस्यत्व-  
मिति विभागः ॥२॥

अभिनिवेश का अवसर-रूप, वाक् देवता का कमजोर स्थल देखकर असुरो ने (देवताप्रो वः अभिप्राय)  
जाना । कैसे इसे जाना ? इस उद्गान कर्म से ये हमारा शास्त्रानाधेय ज्ञान, कर्म दबा कर, उद्गाता  
रूप शास्त्रजनित कर्मज्ञान रूप उपाय से, ज्योति द्वारा हमारा प्रतिगमन करेंगे ज्योतिपात्मा से  
युक्त हो जाएंगे, इस प्रकार जानकर उस उद्गाता के समीप ‘अभिद्वत्य’ अर्थात् जाकर अपने आसङ्ग-

१ रूपेणेति—उपायनेति शेष । २ ज्योतिषेत्यादि उद्गात्रा वाचा अत्येव्यन्तीति सम्बन्ध । ज्योतिषात्मना  
आत्मादिदेवात्मरूपेण च स्यादश्वन्तीत्यर्थः । ३ एव्यन्तीत्यस्य च गमिष्यन्तीति । तस्य च स्यास्पन्तीत्यर्थः  
ज्योतिषात्मनान्वयीतिबोध्यम् । ४ पापरूपशरेणेत्यर्थः । ५ पापकृतेनेत्यादिभ्यम् । ६ सम्बद्ध । ७  
प्रत्यक्षीक्रियत इति—अनुमानेन प्रकटीभियत इत्यर्थः । प्रजास्त्विति शेषः । ८ शास्त्रप्रतिषिद्धं वक्षतीति—  
नानूतं वदेदित्यादिशास्त्रनिषिद्धानूतादिवदनमित्यर्थः । प्रत्ययार्थस्याविवक्षणात् । ९ येनेत्यादि—यनादृष्टरूपेण  
पाप्मना प्रेरित तथा चादृष्टमेवात्र पाप्मशब्दितमिति सूचितमिति ध्येयम् । १० अनुमीयमानः । ११ प्रजा-  
नामिति शेषः । १२ मानादित्यर्थः । १३ प्रतीयमानेत्यर्थः । १४ अनुमापयति । १५ कारणमिहा-  
पादानं विवक्षितम् । १६ न च प्रजावतमित्यादि—यत् प्रजावतं दुरितं प्राजापत्यं तत् तदेव प्रजापतिनिष्ठ-  
मित्यर्थः । तच्च विना हेत्वन्तरादेव स्यादिति न च बाध्यम् । कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य—कार्यस्य कारण-  
पूर्वकत्वादिति साध्याहारं योजयन्ति । एवस्यैव दुरितस्य कारणस्वदुरितत्वेन कारणत्वम् कार्यस्यदुरितत्वेन च  
कार्यत्वमिति भावः । १७ पाप्मप्रगतिरित्यर्थः । १८ बृ० उ० १५ २० ।



‘अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः  
प्राण उद्गायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्य-  
त्कल्याणं जिघृति तदात्मने । ते विदुरनेन व न  
उद्गात्राऽत्येध्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स  
यः स पाप्मा तदेवेदमप्रतिरूपं जिघृति स एव स  
पाप्मा ॥३॥

अथ ह चक्षुरुचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षु-  
रुद्गायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्य-  
त्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन व न उद्-  
गात्राऽत्येध्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः  
स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स  
पाप्मा ॥४॥

फिर देवताओं ने घ्राण से कहा—“तू हमारे लिए उद्गान कर” । तब घ्राण ने “तथास्तु” कह कर उन देवताओं के लिये उद्गान किया । घ्राण में जो भोग है, उसे उसने देवताओं के लिए गान किया और जो कुछ अच्छी गन्ध सूंघता है, उसे उसने अपने लिए गाया । असुरों को इस बात का ज्यो ही पता लगा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमें जीतेंगे, त्यों ही असुरों ने उस घ्राण के समीप जाकर उसे पाप से वेध डाला । अतएव जो अननुरूप सूंघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥३॥

फिर देवताओं ने चक्षु से कहा—“तू हमारे लिए उद्गान कर” । तब चक्षु ने “तथास्तु” कह कर उनके लिए उद्गान किया—अर्थात् चक्षु में जो भोग है, उसे चक्षु ने देवताओं के लिए गाया और जो शुभ दर्शन करता है, उसे उसने अपने लिए गाया । असुरों को ज्यो ही यह मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे, त्यों ही असुरों ने चक्षु के पास जाकर उसे वेध डाला । यह जो निषिद्धरूप को देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥४॥

‘तथैव घ्राणादिदेवता उद्गीथनिर्वर्तकत्वाज्जपमन्त्रप्रकाशया उपाख्याचेति क्रमेण

वाग्देवताया जपमन्त्रप्रकाशयस्त्रिमुपास्यत्वं च नेति “निर्धार्यविशिष्टपर्यायचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह  
लक्षणं पाप रूपं शरत् “विध्यन्” अर्थात् ताडित या पापफल से समुक्त कर दिया । वह यह जो पाप प्रजापति की पूर्वजन्मस्थित वाणी में सम्बद्ध था, उसी को अनुमान के द्वारा प्रकट किया जाता है । वह कौन-सा है ? जो यह “अप्रतिरूपम्” यानी अननुरूप या शास्त्रनिषिद्ध (अनृत) बोलता है, जिस अदृष्टरूप पाप से प्रेरित हुआ न चाहते हुए भी अशिष्ट, बीभत्स, अनृतादि बोलता है । इस अप्रतिरूप

१ अथेति—आग्निराग्न्यान्तरिमित्यर्थ । २ हति—उद्गीथेनासुरान्त्वयामति निश्चित्येत्यर्थ । ३ प्राणमिति—घ्राणाभिमानिनी देवता पृथ्वीम् अदिवनी इत्यर्थ । ४ आगायदिनि—आगानेन प्राणितवानित्यर्थ । ५ वाग्देव । ६ उद्गानसम्पादवत्त्वात् । ७ निषिद्धेत्येतदतो मूलस्याशशब्दाद्योऽयमिति श्रेयम् ।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तभ्यः  
श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्य-  
त्कल्याण<sup>१</sup> शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न  
उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स  
यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूप<sup>२</sup> शृणोति स एव स  
पाप्मा ॥५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन  
उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याण<sup>१</sup>  
सकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा-  
ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स  
पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूप<sup>२</sup> संकल्पयति स एव स  
पाप्मवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेताः  
पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

फिर देवताओं ने श्रोत्र से कहा "तू हमारे लिए उद्गात बन ।" तब श्रोत्र ने 'तथास्तु' कहकर उन देवताओं के लिए उद्गान किया । श्रोत्र में जो भोग है, उसे उस श्रोत्र ने देवताओं के लिए घोषणा की और जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिए गाया । असुरों ने जब जाना कि इस उद्गाता ने द्वारा देवगण हमें जीतेंगे, तब उस श्रोत्र के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से बेध डाला । यह जो निषिद्ध शब्द का श्रवण करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥५॥

फिर देवताओं ने मन से कहा—"तू हमारे लिए उद्गान कर । तब मन ने 'तथास्तु' कह कर उन देवताओं के लिए उद्गान किया । मन में जो भोग है, उसे मन ने देवताओं के लिए घोषित किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिए गाया । असुरों को ज्यों ही मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा हमें जीतेंगे, त्यों ही मन के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से बेध डाला । यह जो निषिद्ध सङ्कल्प करता है, यही वह पाप है । इस प्रकार नि सदेह ही इन देवताओं का पाप का ससन हुआ और ऐसे ही असुरों ने इसे पाप से बेध डाला ॥६॥

परीक्षितवन्तः । देवाना चेतन्निश्चितमासीत् । वागाविदेवताः क्रमेण परीक्ष्यमाणाः ।  
'कल्याणविषयविशेषात्मसम्बन्धासङ्गहेतोरामुरपाप्मससर्गादुद्गोथनिवर्तनासमर्थ' । 'अतो-

—तथैवेति । परीक्षाफलनिर्णयमाह—देवाना चेति । अनुपास्यत्वे हेत्वन्तरमाह—इतरति । इतर  
कार्यकरणसघातस्तस्मिन्प्रव्यापकत्वं 'परिच्छिन्नत्वमतश्चानुपास्यत्वं जपमन्त्राप्रकाश्यत्वं चेत्यर्थः । उक्तं-

भाषणरूप-काय से अनुमीयमान वह पाप प्रजापति की कार्यभूता प्रजाओं की वाणी में रहता है ।  
प्रजापति की वाणी को प्राप्त हुआ, वही पाप अनुरूप भाषण से अनुमित होता है, क्योंकि वायं

अथ हेममासन्यं प्राणमूवुस्त्वं न उद्गायेति तथेति  
तेभ्य एष प्राण उद्गायते विदुरनेन वं न उद्गात्रा-

इसके बाद मुख के छिद्र में रहने वाले प्राण से देवताओं ने कहा—“तू हमारे लिए उद्गान कर”, तब “तथास्तु” कह कर इस प्राण ने क्षरणागत देवताओं के लिए उद्गान किया, धसुरों ने जब

अनभिधेया असतो मा सद्गमयेत्यनुपास्याश्चाशुद्धत्वादितराध्यापकत्वाच्चेति । एवमु खल्व-  
नुक्ता अप्येतास्त्वगाविदेवताः कल्पाणाकल्पाणकार्यदर्शनादेवं वागादिवदेवनाः पाप्मना-  
ऽविध्यन्पाप्मना विद्धवन्त इति यदुक्तं तत्पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मभिः संसर्गं कृतवन्त  
'इत्येतत् ॥३॥४॥५॥६॥

रिग्भिरनुक्तेऽप्यनुपलक्षणीयानोति विषयस्त्वोपसंहरति—एवमिति । वागादिवस्त्वगादिषु कल्पका-  
भावात् पाप्मवेषोऽसतोत्पाशङ्क्याऽह— कल्पाणेति । पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मनाऽविध्यन्प्रत्यययोरस्ति

कारण के पीछे चलने वाला होता है ॥२॥

बाणों की तरह ही घ्राणादि देवता उद्गान कर्म के सम्पादक होने से जपमन्त्र से प्रकाश्य और  
उपास्य है, ऐसा जानकर क्रम में देवताओं ने उनकी परीक्षा ली । देवताओं को यह निश्चय था, कि  
वागादि देवता कमजोर परीक्षा लिए जाने पर यथाशास्त्र बदनादि रूप का अपने से सम्बन्ध होने के  
कारण प्राप्तज्ञसंज्ञक घ्राणुरपाप के संसर्ग हो जाने से उद्गीय सम्पादन में समर्थ नहीं हैं । वक्ष्यमाण  
हेतु से अनभिधेय “असत् से मुझे सत् की ओर ले जाओ”, इस श्रुतिवाक्य से (घ्राणादि देवता)  
अशुद्ध और इतर अध्यापक होने के कारण अनुपास्य हैं । इस प्रकार वागादि के समान ही शास्त्रीकत-

१ एष प्राण उद्गायति—अनु पूर्वत्र यो वाचि भोगस्त देवेभ्य आध्यापत् परकल्पाण वदति तदात्मन इत्यादिवद-  
नापि य प्राणे भोग इति वाच्य प्रकरणवशादित्याप्तकृच्च समाहितं वाचित्—“यः प्राणे भोग इति न पूर्ववद्भूष्यतेऽत्र  
निम् । वागादीनामिव यतो नासोर्भागे विधिष्यते । अकृत्स्नभोगतो युक्त वागादिषु विशेषणम् । सर्वस्ववानुभो-  
गत्वात् किं कृताऽत्र विधिष्यत” इति । लिङ्गुन प्रकरणभङ्गं मन्वान समापत्ते—वागादीनामिति । न हि प्राण-  
स्य विधिष्ठो भागोऽस्ति तत्र तस्य विशेषणानुपपत्ते मर्दाप प्रकरणमनुपपत्त्या बाधितमकिंचित्करमित्यर्थः । तर्हि  
तेषामपि प्राणवर्द्धिषेणानुपपत्तिरित्याशयः दृष्टात स्पष्टयति—अकृत्स्न इति । बाधो हि वचनमेव भोगो न दर्श-  
नादि । अशुभो दर्शनमेव न बदनादि । इत्येवमप्येवम वागादिभोगत्वाभावात् प्रातिभिक भोगमादाय यो वाचो-  
त्थार्थवचनमित्यर्थः । अस्तु तर्हि वागादिवत्प्रमाणैरपि विवेकजन्यकृत्स्नभोगत्वादिशेषादित्याशयः बाणान्तिक  
स्पृष्टयति—सर्वस्येति । दर्शनप्रवणादेरिति यावत् । विशदेन वायं कुत मन्वेन हेतुश्चाक्षिप्यत । अत्र-प्राणे ।  
२ इतरत्सर्वं पूर्ववदित्युपेक्ष्य षष्ठ्यन्वितापान्त्वादिभावात् व्याकरोत्येवमु इत्यादिना एवमेव-वागादिवदेवेत्यर्थः ।  
३ कल्पाणान्पाप्मनादेति—त्वगादिष्वपि वागादिवत् कल्पाणम्य-यथाशास्त्र स्पर्शनादे । अकल्पाणरूपासृजन्पाप्मना-  
ध्याप्यस्य च बदनादनुत्पत्त्यानुपपत्त्येवोऽनुभूयत इत्यर्थः । तथाहि—विमतं पाप्मानुविद्धम् तत्कार्यवत्त्वात् वागा-  
दिवदिति भावः । ४ इति यदुक्तमिति—इति यदाकाशमुक्तमित्यर्थः । ५ तदिति—तदर्थेत्यर्थः । ६ इत्येतदिति  
—आत्मनमिति शेषः । नन्वेव मत्स्येता दवना इति व्यर्थम् एवमु खल्वेता इत्यनेनैव गतत्वादित्याशङ्क्य समादधु-  
र्वातिके—“या विद्धा देवात्माना प्रक्रियामहतिं पृथगिति” । या वागादिदेवता दर्शितायाश्च पाप्मना विद्धा-  
सत्या प्राणप्ररणात् पुनरेव प्रतिपाद्या प्रकरणस्योपमहतिरिवमित्यादिना कियते तत्रास्य वैयर्थ्यम् इति तदर्थः ।  
प्राणप्ररणाद्वागादिवत्प्रकरणविच्छेदात् तत्प्राप्तिमूक्त्या पुनरुक्तिरिति भावः । उपसंहृतप्रकरणस्य तात्पर्यमपि  
दर्शितं तत्रैव—“आसृजन्पाप्मभिर्विद्धा यस्माद्वागादयोऽमुर । बर्धनीयास्ततस्ता रघुनोपास्या श्रेय इप्सुभिरिति ॥”  
वागादीना स्वप्राधान्येन बोधमत्वा प्राणोपपत्तेनोपास्यत्वमिति भावः । ७ अनुत्तवदनादिवत् । आपनाभावा-

ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य 'पाप्मनाऽविव्यत्सन्स यथा-  
ऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्व<sup>१</sup>सेतैव<sup>२</sup> हँव विध्व<sup>३</sup>-  
समाना विध्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा-अभवन्पराऽसुरा  
-भवत्या<sup>४</sup>त्मना पराऽस्य द्विषन्भातृव्यो भवति य एवं  
वेद ॥७॥

जाना किं, इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमे जीत लेंगे । तब उन्होंने मुख्य प्राण के पास जाकर उसे पाप में वेधना चाहा—किन्तु जैसे पत्थर से टकराने पर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही वे असुर लोग भी प्राण से टकराने पर विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये । तब से देवगण स्वस्थ हो गये और असुरों का पराभव हुआ । जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति स्वरूप अपने रूप से स्थित होता है और उसमें द्वेष करने वाला सोतेला भाई पराभव (हार) को प्राप्त करता है ॥७॥

वागादिदेवता उपासीना अपि मृत्यवतिगमनायाशरयाः सन्तो देवाः क्रमेण ।  
अथानन्तरं हेममित्यभिनयप्रदर्शनम् । आसन्यमास्ये भवमासन्यं मुखान्तबिलस्थं प्राण-  
मूचुस्त्वं न उद्गापेति । तथेत्येवं शरणमुपगतेभ्यः स एष प्राणो मुख्य उदगायदित्यादि  
पूर्ववत् । पाप्मनाऽविव्यत्सन्वेधनं कर्तुं मिष्टवन्तस्ते च दोषासंसर्गिणं सन्तं मुख्यं प्राणम् ।  
स्वेनाऽऽसङ्गदोषेण वागादिषु तद्व्यप्रसरास्तदभ्यासात्तुवृत्त्या 'संश्लिष्यमाणा विनेशुविनष्टा  
विध्वस्ताः ।

पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य व्याख्यानव्याख्येयभावात्तद्विमित्याह—इति यदुक्तमिति ॥३॥४॥५॥६॥

सप्रति मुख्यप्राणस्य मन्त्रप्रकाशवत्सुपात्यत्वं च वस्तुमुत्तरवाक्यमुपादाय व्याकरोति—  
वागादीति । क्रमेणोपासीना इति संबन्धः । वागादिषु नराध्यानान्त्यमथशब्दाश्च । विध्वस्तित्याजपा-  
कोऽसाधारणो देहतदवयवव्यापारोऽभिनयः । दाषासंसर्गिणं दोषेण सनृष्टं कर्तुमिच्छां कृतो जातेत्या-  
शङ्क्याऽह—स्वेनेति । तदभ्यासात्तुवृत्त्या तस्य पाप्मसत्ताकरणस्याभ्यासवशादिति यावत् ।

स्पर्शनादि कल्याणमयं कर्म, शामङ्गपापमयं अकल्याणमयं कर्म दखे जाने पर अन्य स्वगादि देवता है—  
अनुव्रत होने पर भी इन्हे पाप में विद्ध कर दिया । पाप से वेव दिया' इस वाक्य से जो कहा, उसका  
'पाप से लिप्त कर दिया, अर्थात् पाप से युक्त कर दिया' यह व्याख्यान है । ॥३-६॥  
वागादि देवताओं की उपासना करने पर मृत्यु को जीतने में उन्हें अपना शरण न पाकर

१ आसङ्गसंज्ञाशरेत्यर्थः । २ प्राणात्मना अघोरीत्यर्थः प्राणान्तरूप एव भवतीति यावत् । ३ अभिन-  
येति—ननु प्राणान्तरूपव्यभिचारात् इहापि तद्व्यभिचयमिति चेन्न । नहि देहे प्राणस्य वरणग्रामवत् आयतनविशेष-  
प्रसिद्धिः अतस्तदभिनयस्यावयवमित्यभिप्रायः । ४ इष्टवन्त इति—ननु सह प्राणं तस्मिन् सस्तेषु स योजयितु-  
मेपायिच्छां जातेति यावत् । ५ उद्गायमयः । ६ सश्लेषमित्युच्यते इत्यर्थः अतर्भादित्यत्र सम्य-  
त्वादिति ध्येयम् । ७ प्राणमिति शेषः ।

कयमिवेति चेददृष्टान्त उच्यते—स यथा स दृष्टान्तो यथा लोकेऽस्मानं पापाणामृत्वा  
गत्वा प्राप्य लोष्टः पांसुपिण्डः पापाणचूर्णनायादमनि निक्षिप्तः स्वयं विध्वंसेत विस्रंसेत  
विचूर्णोमवेत्, एवं हैव यथाऽयं दृष्टान्त एवमेव विध्वंसमाना विशेषेण ध्वंसमाना  
विध्वञ्चो नानागतयो विनेशुविनष्टा यतस्ततस्तस्मादसुरविनाशादेवत्वप्रतिबन्धनूतेभ्यः  
स्वामाविकासङ्गजनितपाप्मन्यो वियोगादसंसर्गधर्ममुख्यप्राणाश्रयबलाद्देवा वागादयः  
प्रकृता अभवन् । किमभवन् । एवं देवतारूपमग्न्याद्यात्मकं 'वक्ष्यमाणम् । 'पूर्वमप्यग्न्या-  
द्यात्मान एव सन्तः स्वामाविकेन पाप्मना 'तिरस्कृतविज्ञानाः पिण्डमात्राभिमाना आसन् ।  
ते 'तत्पाप्मवियोगादुज्झित्वा पिण्डमात्राभिमानं शास्त्रसमर्पितवागाद्यग्न्याद्यात्माभिमाना

‘उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—वक्ष्यमित्यादिना । असुरनाशेनाऽससङ्गजनितपाप्मवियोगे हेतुमाह  
—अससर्गेति । वक्ष्यमाणं 'लोष्टोऽनिरभवदित्यादिनेति शेषः । वागादीनां 'स्थितानां नष्टानां च कुतो-  
ऽग्न्यादिरूपत्वमित्याशङ्क्याऽह—पूर्वमपीति । न 'तर्हि तेषां परिच्छेदाभिमानं स्यादित्याशङ्क्याऽह  
—स्वामाविकेनेति । परिच्छेदाभिमानादग्न्याद्यात्माभिमानस्य बलवत्त्व सूचयति—शास्त्रेति । न केच-

देवताभ्यां ने क्रमशः (प्राणादिकी कारण ली) । इसके अनन्तर 'ह, इमम्' यह पदद्वय अभिनय-सार्थक्य  
प्रदर्शन के लिए है । 'आमन्यम्' अर्थात् मुक्त में होने वाले मुखान्तर्वर्ती छिन्न में स्थित प्राण से कहा, तुम  
हमारे लिए उद्गान करो' । इस प्रकार अपनी कारण में आए हुए देवताओं के प्रति उस मुख्य प्राण ने  
उद्गान किया—इत्यादि प्रसङ्ग पूर्वक समझना चाहिये । असुरों ने पापरूप-बोध से श्लिष्ट उस मुख्य  
प्राण को पाप में सटिप्पण भ्रष्टा युक्त करना चाहा । अभिनिवेशरूप अपने दोष के कारण वागादिकों  
में उह भ्रमर प्राप्त हो गया । उसी अभ्यास की अनुवृत्ति में सत्येय की इच्छा करने वाले वे 'विनेशु'  
अर्थात् विध्वस्त हो गये ।

यदि वहां—किस प्रकार नष्ट हो गये ? तो इसे जानने के लिए दृष्टान्त करते हैं—। 'स यथा'  
अर्थात् वह दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे लोक में 'अस्मिन्' अर्थात् पापाण के पास 'गत्वा' यानी जाकर  
'लोष्ट' अर्थात् मृत्तिका चूर्णीभाव, के लिए पत्थर पर फेंका हुआ, स्वयं 'विध्वंसेत' नष्ट हो जाए, चूर्ण-  
भूत हो जाए—उसी प्रकार, अर्थात् जैसे यह दृष्टान्त है, इसी प्रकार 'विध्वंसमाना' अर्थात् विशेष रूप  
से ध्वंस हुआ 'विध्वञ्च' अर्थात् धनूप्यत्वदेवत्व स्थावरत्वरूप, प्रतिबन्धक नानागतियों को प्राप्त  
हुए 'विनेशु' अर्थात् नष्ट हो गये । क्योंकि ऐसा हुआ, इसलिए आसुरत्वविनाश हो जाने से देवत्व  
प्राप्ति के प्रतिबन्धकभूत शास्त्र-प्रनाशेय अभिनिवेशजनित पाप से वियोग हो जाने पर, अससंसर्गधर्म

१ उच्यते इति—प्राणताडनच्छेदपापमार्गेण प्राणोपगुणार्थां हन्ता इत्यर्थप्रतिपत्त्यर्थं वक्ष्यमाणप्रकारो दृष्टान्त  
बभूव इत्यर्थः । २ नानागतय इति—प्राणस्वाप्रवृत्त्यादेव तत्ताडनेच्छामार्गेणैवामुप नानागतय-अनुप्यत्व-  
स्थावरत्वादेहेतव दबत्वप्रतिबन्धकस्य सर्वेति युगपन्नष्टा दुर्बोधस्थितान्निष्ठपातुपिण्डवदिति दार्ष्टान्तिकभावार्थः ।

३ नृ० उ० १३१२ । ४ पूर्वमपीति—यथोक्तपाप्मवियोगात् प्रायसीत्यर्थः । ५ तिरस्कृतेत्यादि—आच्छा-  
दितान्मादित्वरूपविज्ञाना इत्यर्थः । ६ आमङ्गलक्षणपाप्मेत्यर्थः । ७ शास्त्रेति—अग्निवीरभूत्वा मुख  
प्राणिनादित्यादिशास्त्रेत्यर्थः । ८ उक्तेच्छावत्त्वादिनामाप्राप्तिरूपमर्थमित्यर्थः । ९ नृ० उ० १३१२ ।  
१० स्थितानामित्यादि—यदि तेऽग्न्यात्मभावे एव स्थिता तदा नोपपद्यते तेषां देवत्व, यदि तु ततोऽपि नष्टास्तदा  
गुणो न ददगुणसि स्वरूपत एवोच्छेदादिनि शङ्कास्य । ११ तर्हीति—वागादीनां साराग्न्यादिरूपत्व इत्यर्थः ।

‘बभूवुरित्यर्थः । किंच ते प्रतिपक्षभूता असुराः पराजमवन्नित्यनुवर्तन्ते । ‘पराभूता विनष्टा इत्यर्थः ।

यथा पुराकल्पेन वर्णितः पूर्वयजमानोऽतिक्रान्तकालिक एतामेवाऽऽख्यायिकारूपां श्रुतिं दृष्ट्वा तेनैव क्रमेण वागादिदेवताः परीक्ष्य ताश्चापोह्याऽऽसङ्गपाप्मांस्पर्ददोषवत्त्वेना-  
दोषास्पर्दं मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्य वागाद्याध्यात्मिकपिण्डमात्रपरिच्छिन्नात्माभिमानं  
हित्वा वैराजपिण्डाभिमानं ‘वागाद्यग्न्याद्यात्मविषयं वर्तमानप्रजापतित्वं शास्त्रप्रकाशितं  
प्रतिपन्नस्तर्पवायं यजमानस्तेनैव विधिना भवति प्रजापतित्वस्वरूपेणाऽऽत्मना परा चास्य  
प्रजापतित्वप्रतिपक्षभूतः पाप्मा ‘द्विषन्’ भ्रातृव्यो भवति । यतोऽद्वैताऽपि भवति कश्चिद्भ्रा-

तमभ्रोक्तानामैवापुराणमसंसर्गं यमिप्राणाभयाद्विनाशः किंतु ‘तत्तुल्यजातीयानामपीत्यभिप्रेत्याऽह—  
किंचेति ।

वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेन ‘तत्सहस्रस्य यजमानस्य देवताप्राप्तिरासुरपाप्मध्वसश्च  
फलमित्युक्तं । तत्र ‘पूर्वकल्पेयजमानस्यातिशयशालित्वाद्यथोक्तफलवत्त्वेऽपि ‘नेवानीतनस्यैवमित्या-  
शङ्क्य भवतीत्यादिश्रुतिमवतारयति—यथेति । पूर्वकल्पनाप्रकारेण पूर्वजन्मस्थो यजमानः शास्त्रप्र-  
काशितं वर्तमानप्रजापतित्वं प्रतिपन्नो यथेति संबन्धः । पूर्वयजमान इत्यस्य व्याख्याऽतिक्रान्तकालिक  
इति । पुराकल्पमेव दर्शयति—एतामिति । तेनेति श्रुत्युक्तेनेत्येतत् । तेनैव विधिना ध्यातप्रकाशितेन  
क्रमेण मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्येति शेषः । सप्तमो भ्रातृव्यस्तस्य द्विषन्निति ‘कुतो विशेषणमर्थ’सिद्ध-

मुख्यप्राण के आश्रय के बल से वागादि देवता अपने स्वरूप में स्थित हो गये । यह क्या हो गये ? आगे  
बननाये जाने वाले अपन अग्न्यादिरूप दवत्वभाव का प्राप्त हो गये । पापविषयों के पूर्व भी अग्न्यादि-  
स्वरूप ही थे । शास्त्र-अनाधय अग्न्यादिस्वरूप से आच्छादित-विज्ञान वाले होने से पिण्डमात्र में  
अभिमान से युक्त हो गये । (“अग्नि ही वाक होकर मुख में प्रवेष्ट कर गया”) इस प्रकार शास्त्र-  
ममपित होने से वागादि उस आमङ्गलक्षणपापविषयों से पिण्डमात्र में अभिमान को त्यागकर अग्न्या-  
दिरूप अभिमान से उपहित हो गये । इसका अतिरिक्त उनके प्रतिद्वन्द्वी असुर उनसे पराजित हो गये ।  
इसकी अनुवृत्ति होती है । पराजित होकर विनष्ट हो गया, यह इसका भाव है ।

जैसे पूर्वकल्प में वर्णित पूर्व अथवा भूतकालिक यजमान इस आख्यायिकारूपा श्रुति का  
निरूपण कर, उसी प्रकार वागादि देवताओं का परीक्षण कर, उन्हें आमङ्गलपाप के आस्पर्दरूप दोष का

- १ बभूवुरिति—यमाद्युपहितस्य यजमानस्य प्राणोऽहग्रहोपासनात् तत्स्वरूपप्राप्त सर्वस्य परिच्छेदाभिमानरूपस्य  
पाप्मनो नाशत् प्राणवद्वागादय मदा देवतात्मान सन्तोऽग्न्यात्मपरिच्छेदाभिमानप्रतिबन्धनिवृत्तावग्न्यादिदेवतात्व  
भजन्तीति परमार्थः । २ अमुष पराहता अवचन्नित्यनुपङ्ग न पुन प्रारोहन्ति वायव द्रव्यभिप्रेत्याह—परा-  
भूता इति । ३ आस्यदत्तया दोषवत्त्वेन । ४ वागाद्यभिप्रेत्यादीत्यर्थः । ५ परा भवती—लोष्ठवच्चूर्णी-  
भवति । ६ नित्यद्वेष्टा । ७ शत्रु । ८ अत्रोक्तानाम्—उद्दीपयब्राह्मणोक्तानामित्यर्थः । ९ तत्तुल्य-  
जातीयानामिति—शास्त्रान्तरोक्तानामपीत्यर्थः । १० तदुपहितस्य । ११ तत्रति—सामान्येन यजमानस्योक्तस्वरूप-  
त्वोत्तावपीत्यर्थः । १२ यजमानावस्थप्रजापत । १३ नदानीतनस्यति—अतिशयशालित्वाभावादिति शेषः ।  
१४ व्यावर्त्याभावादर्थं विनेषणमित्याहोपार्थः । १५ अनुवर्तनं मिदत्वात् ।

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्यमसक्तैत्ययमास्ये-  
ऽन्तरिति सोऽस्यास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां<sup>१७</sup> हि रसः ॥८॥

जब देवताओं ने कहा—जिसने हमें इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है वह कहाँ है ?  
ऐसा विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह मुख के ही भीतर है। अतः यह ग्रामास्य (किसी वा  
आश्रय न लेने के कारण) आङ्गिरस है, क्योंकि यही भूत घोर इन्द्रियादि अङ्गों का रस है ॥८॥

तृद्यो 'भरतादितुल्यो यस्त्विन्द्रियविषयासङ्गजनिः' पारमा<sup>१</sup> भ्रातृद्यो द्वेष्टा च । पारमा-  
यिकात्मस्वरूपतिरस्करणहेतुत्वात् । स च परामवति विज्ञीयते सोऽष्टवत्प्राणपरिध्वङ्गात् ।  
कस्यैतत्फलमित्याह—य एवं वेद । यथोक्तं 'प्राणमात्मत्वेन' प्रतिपद्यते पूर्वजमानव-  
दित्यर्थः ॥७॥

॥ -

फलमुपसंहृत्याधुनाऽऽख्यायिकारूपमेवाऽऽश्रित्याऽह । कस्माच्च हेतोर्वागादीनुपत्त्वा

रवाद्द्वेष्टायेत्याशङ्क्याऽह—यत इति । तस्य द्वेष्टत्वनियमे हेतुमाह—पारमायिकेति । अपरिच्छिन्नदे-  
वतात्मनश्च पारमायिकात्मस्वरूप विवक्षित ततिरस्करणकारणत्वाद्भुक्तपारमनो विशेषणमर्थवर्धिति  
शेष । यदानेयोऽष्टाकपाल इतिदृष्ट एव वेदेति 'प्रसिद्धाद्योपबन्धेऽपि' विधिपर वाक्यमतश्चैवं  
'विद्यादिति विवक्षितमित्यभिप्रेत्याऽह—यथोक्तमिति ॥७॥

फलवत्प्रधानोपास्तेरुक्तत्वात्ते होचुरित्याद्युत्तरवाक्ये गुणोपास्तित्परमित्याशङ्क्याह—'फलमिति ।

त्याग कर, योगास्पदरहित उस मुख्य प्राण को आत्मभाव से उपलब्ध कर, आध्यात्मिक पिण्डमात्र से  
अवच्छिन्न वागादि में आत्मत्व का अभिमान त्याग कर, वागादि की वागाद्यभिन्न-अग्न्यादिरूपता-  
विषयक शास्त्रनिरूपित विराट् पिण्डाभिमानों वर्तमान प्रजापति को प्राप्त हुआ, इसी प्रकार  
यह यजमान भी प्रजापति रूप से स्थित होता है । पापरूप, नित्यद्वेष्टा शत्रु सीतेला भाई प्रजापति  
का प्रतिद्वन्द्वी सोऽष्ट के समान पिस जाता है, चूर्णीभूत हो जाता है । राम के छोटे भाई भरत

- १ भरतो—रामानुज । २ स इति शेष । ३ मूत्ररमानम् । ४ उपास्त । ५ भवतीति पदशेष ।
- ६ प्रसिद्धाद्योपबन्धेऽपि—प्रसिद्धार्थकपदसम्बन्धेऽपीत्यर्थ । अनुष्ठेयार्थबोधकसिद्धादिपदभावेऽपीति यावत् ।
- ७ विधिपर वाक्यमिति—तदुक्तं वाक्ये—'य एवं वेदेति विधि' क्लेशोत्तरैर्यथावत् । आनुपङ्गुपलाक्या वा  
तदुपासाविमुक्तम् ॥१॥ आत्मविद्याधिकारेऽस्मिन्तदुपासाविधानतः । आत्मविद्योपाकारित्वं तत्समाध्यात्मक-  
गम्यत इति ॥२॥ अत्र टीका—उक्तार्थवादात् फलस्योच्यमानत्वात् तद्वचनस्य च स्तुतित्वात् विधिं विना च  
सदयोगात् अत्र मूत्रापापफलत्वेन तदुपास्तित्वविधीयते इत्यर्थः । यदा मोक्षफलत्वेन तदुपास्तित्वं विधीयते । मूत्रभाव-  
स्तु फलार्थं वीजावापे छायागम्यादिवदानुपङ्गुक फलमित्याह—आनुपङ्गुनि । मूत्रोपास्तित्वेन प्राप्त्याद्वारा जन्म-  
मुक्तिफलस्य मानमाह—आत्मेति । आत्मविद्याप्रकरणे मूत्रोपास्तित्वविधेस्तस्या मुक्तिफलं चेदात्मविद्यैव मुक्तिहेतु-  
रिति नियमासिद्धिरित्याशङ्क्याह—आत्मवित्तेति । सैव मुक्तिहेतुस्तदुत्पत्त्युपकारित्वमूत्रोपास्तित्वस्य प्रकरणादित्यर्थः ।  
उक्तोपनिषत्क ह्यो विमुच्यमानं नव गमिष्यसीति वाक्याज्जन्ममुक्तिफलस्य मूत्रोपास्तित्वस्येति । अतो ब्रह्मविद्या-  
द्वारा मोक्षे पर्यवसिता प्रवृत्तौपास्तित्वमाह—वाक्याज्जेति । उक्तोपनिषत्क इत्यादिनिरुक्तवाक्ये जनक प्रति याज्ञ-  
वल्क्यस्य । उक्तोपनिषत्क इत्यस्य बह्विधराचार्यैरुपदिष्टोपासन इत्यर्थः । ८ उपासीत । ९ आहति—न  
होचुरित्यादेरुक्तत्वावस्थे तात्पर्यमाहृत्य ।

मुख्य एव प्राण आत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति तदुपपत्तिनिरूपणाय यस्मादयं वागादीनां पिण्डादीनां च साधारण आत्मेत्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्त्याह 'श्रुतिः ।

ते प्रजापतिप्राणा मुख्येन' प्राणैरे परिप्रापितदेवस्वरूपा होचुरुक्तवन्तः 'कला-  
यस्थाः । किमित्याह । यव न्विति वितर्कं । यव नु कस्मिन्नु सोऽभूत् । कः । यो नोऽस्मा-  
नित्यमेवमसक्त सञ्जितवान्देवमावमात्मत्वेनोपगमितवान् । स्मरन्ति हि लोके केन-  
चिदुपकृता उपकारिणं लोकवदेव स्मरन्तो विचारयमाणाः कार्यकरणसंधात 'आत्मन्ये-  
वोपलब्धवन्तः ।

कथम्, अयमास्येऽन्तरिति, आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरयं प्रत्यक्षो वर्तत

फलवन्तं प्रधानविधिमुख्यत्वा संप्रत्याख्यायिकामेवाऽऽश्रय गुणविशिष्टं प्राणोपासनमाह्वानन्तरश्रुति-  
रित्यर्थः । शङ्कोत्तरत्वेन चोत्तरग्रन्थमवतारयति—कस्माच्चेति । विशुद्धत्वस्योक्तत्वाद्देवन्तर जिज्ञा-  
स्यमिति श्रोतयितुं चशब्दः । करणानां कार्यस्य तद्वयवानां च प्राणो यस्मादात्मा व्यापकस्तस्मात्स  
एवाऽऽश्रयितव्य इत्युपपत्तिनिरूपणार्थं तस्य व्यापकत्वमित्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्ती श्रुतिर्हेतुवन्तर-  
माहेति योजना । तच्छब्दस्तस्मादर्थः । प्राणस्याऽऽस्मरवादि उपकोक्तमाख्यायिकाधुति विभजते—  
ते प्रजापतीति । वागादयश्चेत्प्राणमाश्रित्य 'कलायस्थास्तहि किमिति प्राणं स्मरन्ति प्राप्तफलत्वावि-  
त्याशङ्क्याऽह—स्मरन्ति हीति । विचारफलमुपलब्धि कथयति—लोकवदिति ।

तामेवोपलब्धिमाकाङ्क्षाहारेण विवृणोति—कथमिति । हृष्टान्तं स्पष्टयति—सर्वो हीति । तथा

के समान कोई-कोई सौतेला भाई द्वेष नहीं करने वाला भी होता है, किन्तु जो इन्द्रिय की विषयासक्ति  
से होने वाला पाप रूप सौतेला भाई है, वह तो शत्रु ही होता है । क्योंकि वह आत्मा के यथार्थस्वरूप के  
तिरस्करण में कारण है । प्राण में सन्तुष्ट होने पर उसका ऐसे ही नाश हो जाता है, जैसे मिट्टी का  
टुकड़ा चूर्णभूत हो जाता है । किसको यह फल मिलता है ? इस पर उत्तर दते हैं—“य एव वेद”  
अर्थात् जो यथोक्त सूत्रात्मा प्राण की पूर्वयजमान की तरह आत्मभाव से उपासना करता है ॥७॥

फल का उपसंहार कर अब आख्यायिका के ही रूप का आश्रयण कर श्रुति कहती है—  
वागादि अन्य सब प्राणा को छोड़ कर मुख्य प्राण का ही आत्मस्वरूप से क्यों आश्रय लेना चाहिये ?  
उसकी सिद्धि प्रदर्शित करने के लिए । क्योंकि यह (मुख्य प्राण) वागादि और पिण्डादि का साधारण

- १ ते होचुरित्यारम्भ आत्मनःप्राप्तमामायदित्यतः प्राक्तनी श्रुतिरित्यर्थः । २ अग्न्यादिदेवभावापन्ना इत्यर्थः ।
- ३ आत्मीये । ४ अन्तरिति—अन्तरितं प्राणविशेषधम् त्वगादिव्यावृत्त्यर्थम् । आस्य प्राण इति सामान्येनोक्तौ  
त्वगादीनामप्यास्यन्तं सत्वात्तत्र श्यादतिप्रसक्ति मध्यवर्तिनाऽन्तं शब्देन तु तदव्यावृत्ति नियमे । तदुक्तं वार्तिके—  
“आत्मपर्यन्तशादीनि त्वमादीनि न मध्यतः । प्राणस्तु मध्य आस्यस्य तस्मादन्तविशेषणमिति ॥” त्ववस्थावदनु-  
भवसिद्धमात्मपर्यन्तत्वम् वाग्निजह्वयोन्तदन्तस्थत्वेऽपि न व्याख्या मध्यत्वतः भावः । प्राणस्तु मुक्तात्मिकाऽऽवा-  
तमन्ये वर्तते नैव त्वमावयोऽतोऽन्तविशेषणं त तस्यो व्यावर्तवतीत्यर्थः । ५ इत्युपपत्तिनिरूपणार्थमिति—उक्त-  
स्यार्थस्योपपत्तिर्भित्तिरूपमिति । ६ आत्मत्वादीत्यादिनाऽप्राप्तत्वादिवयमप्राणगुणग्रहणम् । ७ कला-  
यस्था—अग्न्यादिदेवभावापन्ना इत्यर्थः ।



इति । सर्वो हि लोको विद्यार्याध्यवस्यति । तथा देवाः । यस्मादयमन्तराकाशो वागाद्या-  
त्मत्वेन विशेषमनाश्रित्य वर्तमान उपलब्धो देवः, तस्मात्स प्राणोऽस्यास्यो विशेषानाश्रयत्वा-  
च्चासक्त सञ्जितवान्वागादीन् । अत एवाऽऽङ्गिरस आत्मा कार्यकरणानाम् । कथमाङ्गि-  
रसः । प्रसिद्धं ह्येतदङ्गानां कार्यकरणलक्षणानां रसः सार आत्मेत्यर्थः । कथं पुनरङ्गरसत्वं  
तदवाप्ये शोषप्रप्तैरिति' वक्ष्यामः । यस्माच्चायमङ्गरसत्वाद्विशेषानाश्रयत्वाच्च कार्य-

देवा विचार्य प्राणमास्यान्तराकाशस्थं निर्धारितवन्त इत्याहु—तथेति । किमनया कथया सिद्धमित्या-  
शङ्क्याऽऽहु—यस्मादिति । 'उपलब्धिसिद्धेर्ज्ञेयं युक्ति समुच्चिनोति—विशेषेति । सर्वानेव वागादीनवि-  
शेषेणान्यादिभावेन प्राण सञ्जितवान् । न चामध्यस्थः साधारणं कार्यं निर्वर्तयति । अतो मुक्तितोऽप्य-  
यमास्यान्तराकाशे वर्तमान सिद्ध इत्यर्थः । अयास्यत्ववदाङ्गिरसत्वं गुणान्तरं दर्शयति—अत एवेति ।  
सर्वसाधारणत्वादेवेति यावत् । तथाऽपि कुतोऽस्याऽऽङ्गिरसत्वं साधारण्येऽपि नभसि तदनुपलब्धेरित्या-  
शङ्क्य 'परिहरति—कथमित्यादिना । अङ्गेषु चरमपातो, सारत्वप्रसिद्धेन प्राणस्य तयावन्मिति शङ्कि-

प्रात्मा है,—इस आस्थायिका से दिखानाते हुए ("ते होचु" यहाँ से लेकर "आत्मनेऽप्राद्यमागायत्"  
५० उ० १-३-१७ इस मन्त्र पर्यन्त) श्रुति कहती है ।

मुख्य प्राण के द्वारा अग्न्यादिदेवभाव को प्राप्त कराये हुए वे प्रजापति के फलावस्थित प्राण  
"होचु" अर्थात् कहने लगे । क्या कहने लगे ? वह बतलाते हैं । "क्व" "नु" यह वितर्क अर्थ में निपात  
है । "क्व नु" अर्थात् मच्छा किसमे यो रहा ? कौन किसमे रहा ? जिसने हमें 'असवन' अर्थात्  
सञ्जित कर आत्मस्वरूप देवभाव की प्राप्ति कराये । मसार में भी तो किसी के द्वारा कृतकृत्य होने  
वाले (कृतज्ञ) मनुष्य उस उपकारीजन का स्मरण किया करते हैं । लोकमर्षादा के समान ही स्मरण  
तथा विचार करते हुए कार्यकरण के समुदायरूप उसका अपने में साक्षात्कार किया ।

किस प्रकार साक्षात्कार किया ? जो आस्य के भीतर है—'आस्ये' अर्थात् मुख में  
जा आकाश है, उसमें इसका साक्षात्कार होता है । सभी लोग निश्चय करने से पूर्व विचार  
करते हैं । उसा प्रकार देवताओं ने किया । क्योंकि देवताओं ने इसे वागादिभाव से (वागादिकों के  
अन्तर्गत) किमी विशेष का आश्रय लिए बिना अन्तराकाश में ही साक्षात्कार किया था, इसलिए उस  
प्राण ने 'अयास्य' अर्थात् विशेष का अनाश्रय करके वागादि इन्द्रियों को अग्न्यादिभाव से 'असवन'

१ निर्धारयतः । २ यस्मादिति—अत एव वागादय प्राणमास्येऽन्तश्चलन्त्यायमास्येऽन्तरिति व्यावहृत्युक्त सोऽस्यास्य  
इत्यर्थः । मध्यस्थ इति यावत् ३ विशेषमिति—वागादीनामन्वयतममित्यर्थः । ४ आत्मनि—स्वरूपभूत इत्यर्थः ।  
हेतुगर्भविगणनमिदं प्राणस्य । ५ स्वरूपभूत । ६ ५० उ० १ ३ १६ । ७ वक्ष्याम इति—अनु प्राणस्याङ्गि-  
रसत्वमादायुक्तम् अनन्तर च सा वा एषा देवता ह्युमेति द्विगुणत्वमुक्तम् । तत्र प्रथमयुतमुपस्थात्प्रतिपादयिष्यमि  
अस्म्युत तु द्वे ह्येतादियुतिरादन्वेन प्रतिपादयति, तत्र त्रयमङ्गं किं वारणमित्यासन्नय समाहित वातिने—  
तथाहि—'उपासितत्रयमिदमर्थं त्रयमङ्गो वसिष्यते । यतोऽतोर्प्रङ्गरस त्वत्वा द्वास्त्येवाभिधीयत' इति ॥ आदो  
द्विगुणेऽप्योऽन्तर्गमाङ्गिरसत्वमित्युपान्तित्रयसिद्धयर्थं पाठकममङ्गोऽङ्गीकृतस्य ततो बलवत्त्वाद्ब्रह्मनुके द्विगुणे  
प्राणस्य युद्धिमिदि न चायुदस्योपास्यत्वमतीर्णतोऽहोमयवागुपात त्रयवत्पाठव्याप्तित्रय इत्यर्थः । श्रोतत्रम-  
भङ्गेनायं गोपदाने फलितमाह—यत इति । ८ उपलब्धिसिद्ध इति—प्रत्यक्षमिदं प्राणस्यास्यान्तराकाशस्थ-  
त्वरूप इत्यर्थः । ९ परिहरतीति—अन्वयव्यतिरेकजन सर्वसाधारणस्य आङ्गिरसत्ववचनेनेति शेषः ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूर<sup>७</sup> ह्यस्या मृत्युर्दूर<sup>८</sup> ह

वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥६॥

‘वह’ यह देवता “दूर” नामवाली है, क्योंकि इस प्राण देवता से आसक्तिमय मृत्यु दूर है । जो ऐसा जानता है उससे मृत्यु दूर रहता है ॥६॥

करणानां साधारण आत्मा विशुद्धश्च तस्माद्वागादीनपास्य प्राण एवाऽऽत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति वाक्यार्थः । आत्मा ह्यात्मत्वेनोपगन्तव्योऽविपरीतबोधाच्छ्रेयःप्राप्तेर्विपर्यये चानिष्ट-प्राप्तिदर्शनात् ॥८॥

‘स्यान्मतं’ भारणस्य विशुद्धिरसिद्धेति । ‘ननु परिहृतमेतद्वागादीनां कल्याणवचना-द्यासङ्गप्रप्राणस्याऽऽसङ्गास्पदत्वामावेन । बाढम् । किं त्वाङ्गिरसत्वेन वागादीनामा-

त्वा समाधत्ते—कथं पुनरित्यादिना । कस्माच्च हेतोरित्यादिबोध्यपरिहारमुपसंहरति—यस्माच्चेति । वाक्यार्थं प्रपञ्चयति—आत्मा हीति ॥८॥

प्राणस्य शुद्धत्वाद्वाक्यपक्षवाच्योपास्यत्वमुक्तं तस्य शुद्धत्वं वागादिवदसिद्धमिवासाङ्गते—स्यान्मतमिति । ‘शङ्कामाश्लिष्य समाधत्ते’—नन्वित्यादिना । अत्रेव स्पृष्टृष्यस्यास्ति तेन स्पृष्टोऽपरस्तस्या-शुद्धतावदशुद्धवागादिसंख्यादशुद्धत्वाशङ्का प्राणस्योन्मिषतीत्यर्थः । तत्पर्यं दर्शयन्नुत्तरवाक्यं ‘मुत्तर-

प्रयाति संदिलिप्त किया । इसी से वह अङ्गिरस कार्यभूत और करण इन्द्रियों का स्वरूपभूत आत्मा है । वह अङ्गिरस क्यों है ? क्योंकि वह कार्यकरणसंघातरूप अङ्गो का रस या सार है अर्थात् स्वरूपभूत आत्मा है—यह प्रसिद्ध है । किन्तु इसका अङ्गिरसत्व क्यों है ? क्योंकि उसके चले जाने पर वह सूख जाता है—इसे आगे (बृ० उ० १-३-१६ मन्त्र में) कहेंगे । क्योंकि यह अङ्ग-रस होने से किसी विशेष क प्रयत्न होने से कार्य-करण का साधारण आत्मा है और विशुद्ध है । अतः वाक् आदि का परित्याग कर प्राण का ही आत्मभाव से आश्रय करना चाहिए—यह इस वाक्य का तात्पर्य है । यथार्थज्ञान से ही श्रेय प्राप्ति होती है, अथवायं ज्ञान से अनिष्ट प्राप्ति देखी गयी है । इसलिए आत्मस्वरूप से ही आत्मा का वर्णन करना चाहिए ॥८॥

यह (विशुद्धत्व और व्यापकत्व मिश्र होने पर प्राणों का उपास्यत्व) अभिमत है; किन्तु वहाँ प्राणों की विशुद्धि सिद्ध नहीं होती । (इस पर कहते हैं—) इसका समाधान तो हम पूर्व ही कर चुके हैं, क्योंकि वागादि शुद्धभाषणादिविपर्ययक आसङ्ग के समान, प्राण में आसक्ति की आस्पदरूपता का अभाव है । यह सत्य ही है । किन्तु अङ्गिरसरूप में वागादि का आत्मा बतलाया जाने से, शुद्ध होने पर अशुद्धवाक् के सम्पर्क से वह अशुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे शव का स्पर्श हो जाने से उसे

१. हर्गुणविशिष्टत्वेन प्राण वेदेत्यर्थः । २. यथार्थज्ञानात् । ३. स्यान्मतमिति—विशुद्धत्वव्यापकत्वयो सिद्धौ प्राणस्योपास्यत्वमभिमत स्यादित्यर्थः । ४. प्राणस्येति पूर्वोत्तरान्वयि—तत्रेति वा शेषः । ५. ननु रसवशात् । ६. सत्यम् । ७. सत्यं स्वतन्त्रमन्यं शुद्धत्वेऽप्यशुद्धवागादिगन्धवाद्यशुद्धत्वमित्याह—नि न्विति । ८. तत्र । ९. शङ्कामाश्लिष्य समाधत्ते इति प्राणस्य विशुद्धत्वाभावशङ्का । आश्लिष्य—निरस्य, शङ्काया असमाधत्तवमुद्धा-भ्येति यावत् । समाधत्ते—उक्तशङ्कामुपपादयति पूर्ववादीत्यर्थः । १०. उत्तरवाक्यमित्यादि—नवमकण्डिवाक्य-मुत्तरवाक्यमुक्तशङ्कासमाधानत्वेन ददायतीत्यर्थः ।

तत्त्वोक्त्या वागादिद्वारेण शब्दस्पष्टितस्पष्टेरिवाशुद्धता शङ्क्यत इत्याह—शुद्ध एव प्राणः । कुतः, सा वा एषा देवता दूर्नाम यं प्राणं प्राप्याश्मानमिव लोष्टो विध्वस्ता असुरास्तं परामृशति सेति । संवेपा येयं वर्तमानयजमानशरीरस्था देवनिर्धारिताऽयमास्थे-  
ऽन्तरिति । देवता च सा स्यात् । उपासनक्रियायाः कर्मभावेन गुणभूतत्वात् । 'यस्मात्सा दूर्नाम दूरित्येवं ख्याता । नामशब्दः ख्यापनपर्यायः । तस्मात्प्रसिद्धाऽस्या विशुद्धिर्दूर्ना-  
मत्वात् । कुतः पुनर्दूर्नामत्वमित्याह—दूरं दूरे हि यस्मादस्याः प्राणदेवताया मृत्युरा-  
सङ्गलक्षणः पाप्माऽसंश्लेषधर्मित्वात् प्राणस्य समोपस्थस्यापि दूरता मृत्योस्तस्माददूरित्येवं

त्वेनावतारयति—ग्राहेति । नन्वत्र प्राणो नोच्यते स्त्रीलिङ्गेनार्थान्तरिकप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽह—  
य प्राणमिति । 'तस्या'मूर्तस्य परोक्षत्वादपरोक्षवाची च कथमेतच्छब्दो 'गुज्यते तत्राऽह—संवेति ।  
कथं प्राणे देवताशब्दो न हि तस्य तच्छब्दत्वं प्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽह—देवता चेति । 'याने हि देवता  
कारकत्वेन 'गुणभूता प्रसिद्धा । तथा प्राणोऽपि द्रव्याद्यन्यत्वे सति विहित'क्रियागुणात्वाद्देवतेत्यर्थः ।  
'प्राणोपास्तिरिह विवक्षितेति वाक्याभ्यंमाह—यस्मादिति । १ तत्त्वप्राणदेवताया दूर्नामत्वं 'निहृदं  
तत्र तच्छब्दप्रसिद्धेरदर्शनाप्रापि यौगिकं प्राणस्य "प्रत्यम्बुत्तेर्दूरत्वाभावादित्याक्षिपति—कुतः पुनरिति ।  
परिहरानि—ग्राहेति । कथं पाप्मननिधौ "वर्तमानस्य ततो दूरत्वमित्याशङ्क्याऽह—असंश्लेषेति ।

स्पर्श करने वाला अशुद्ध हो जाता है । ऐसी शङ्का होने पर श्रुति कहती है—प्राण शुद्ध ही है । क्यों  
शुद्ध है ? वह यह देवता 'दूर' नाम वाला है । जिस प्राण को प्राप्त होकर अमुर ऐसे ही नष्ट हो गये,  
जैसे अमरुप-मृत्पिण्ड । उसे ही श्रुति "सा" अर्थात् वह कह कर सम्पादित करती है । यह वही है,  
जिसे देवतामो ने 'यह मुख के भीतर है'—ऐसा कह कर वर्तमान शरीर में स्थित निर्धारित किया है ।  
उपासना क्रिया के कर्मभाव से गुणयुक्त होने के कारण वह दैवता भी है । जिस कारण से वह प्राण  
देवता "दूर नाम" अर्थात् दूर इस प्रकार से विख्यात है । नाम शब्द ख्याति का पर्यायवाची है, अतः  
'दूर' नाम होने से इसकी ख्याति भी प्रसिद्ध है । "दूर" नाम क्यों पडा ? इस पर कहते हैं—क्योंकि  
इस प्राणदेवता से मृत्यु दूर ही रहती है—प्राण आसङ्गलक्षणात्मक पाप है (जल में पत्र के समान)  
असंश्लेषधर्म है, पाप होने भी इससे मृत्यु की दूरता है, इस कारण से 'दूर' इस प्रकार की ख्याति ही  
प्राणो की विशुद्धि की प्राप्ति है । दूर्गुणविशिष्ट प्राणो के जानने वाले का फल वतलाते हैं—इससे

- १ प्राणदेवता । २ सकाशात् । ३ जलपत्रवत् । ४ प्रवृत्तवाक्ये । ५ प्राणस्य । ६ अतिमृत्त्वस्य ।
- ७ प्राणे प्रगुज्यते । ८ वाग हि देवतेत्याक्षिपतिशब्देन वातिवटीवाक्यामित्य पठति तथाहि—  
यागादी बर्चनिरिदं चेतनो गुणोऽन्यादिदेवताप्रसिद्धा तथा प्राणस्याप्युपास्तित्रियाया गुणत्वाद्देवतात्वं न च  
तस्योक्तत्रियाया कर्मत्वात् गुणनेति युक्तमिति वाच्यम् गुणमन्वेन वारवस्य विवक्षितत्वात् तथा च प्राणस्य  
बर्चनिरिदं चेतनस्य सति क्रियाया कारकत्वाद्देवतात्वं युक्तमिति । अत्र न च तस्योक्तत्रियाया कर्मत्वात् गुणतेत्यस्य  
मीमांसकं बर्चनो गुणत्वात्तन्मुपपादितत्वात् इत्यवधेयम् । ९ क्रियाया प्राधान्यात् देवताया गुणभूतत्वं  
गोचरमित्यर्थः । १० कारकत्वात् । ११ ननु दद्यादिवत् फलविशेषसम्बन्धात् गुणविशिष्टेयाय न तु  
विशिष्टविशिष्ट्यापन्नाह—प्राणोपास्तिरित्यादि । १२ प्रसिद्धम्—जनार्दनाख्येति यावत् । १३ शरीरा-  
न्तरवर्तमानमित्यर्थः । १४ पाप्मननिधौ वर्तमानस्य ।

स्मातिरेव प्राणस्य विशुद्धिजापिका । 'विदुषः फलमुच्यते—दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति । अस्मादेवंविदो' य एवं वेद तस्मादेवमिति प्रकृतं विशुद्धिगुणोपेतं प्राणमुपास्त इत्यर्थः । उपासनं नामोपस्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्या ज्ञाप्यते तथा मनसोपगम्याऽऽस्तनं चिन्तनं लौकिकप्रत्ययाव्यवधानेन, यावत्तद्देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति 'लौकिकात्माभिमानवत् । "देवो भूत्वा देवानप्येति" "किदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि" इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥६॥

सा वा एषा देवता दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवतीत्युक्तम् । कथं पुनरेवंविदो दूरं मृत्युर्भवतीति । उच्यते । "एवंविद्विरोधात् । इन्द्रियविषयसंसर्गात्तद्भोजो हि पाप्मा

उपास्ते सदा भावयतीति यावत् । "ब्रह्मज्ञानादिव प्राणतत्त्वज्ञानात्फलसिद्धिसंभवे किं सदा तद्भावने-  
येवाशङ्क्य भावनापर्यायोपासनशब्दायमाह—उपासनं नामेति । "दीर्घकालाद्वरन्तरन्तरं रूपविशेषणमयं  
विबभूव" इह—लौकिकेति । "तस्य मर्षादां" इत्यस्य—यावदिति । मनुष्योऽहमिति बह्वोऽहमिति  
यस्य जीवत एवाभिमानाभिव्यक्तिस्तस्यैव देहपातादूर्ध्वं तद्भावः फलतीत्यत्र प्रमाणमाह—देवो भूत्वेति ।  
का देवता रूपं तथेति किदेवतोऽसीति तद्भावो "भातीत्यर्थः" ॥६॥

कण्डिकान्तरमवतार्यं घृतं कीर्तयति—सा वा इति । नित्यानुष्ठानात्पापहानिर्धर्मत्वापत्त्यभूतः ।  
न चेदमुपासनं "नित्यं" नैमित्तिकं वा देवतात्मस्वरूपमिदं विधानात्सत्कृतं पापमेव विदो दूरे भवतीत्या-  
क्षिपति—कथं पुनरिति । "विरोधिसंनिपाते पूर्ववत्समाख्यमकं मन्वान, समाभस्ते—उच्यते इति ।  
"उच्यतेभ्य व्यनक्ति—इन्द्रियेति । इन्द्रियाणां विषयेषु ससर्गयोऽभिनवेशस्तेन जनित पाप्मा परिच्छेदा-

मृत्यु दूर हो रहता है । 'अस्मात्' अर्थात् इस प्रकार जानने वाले के पास से यानी जो इसे इस प्रकार  
जानता है, उसके पास से, इस प्रकार जो विशुद्धिगुणविशिष्ट प्रकृतप्राण की उपासना करता है—यह  
निष्कर्ष हुमा । उपास्त्य—स्तावक वाक्यो में श्रुति द्वारा देवता का जैसा जैसा स्वरूप बताया जाता है, वैसा  
वैसा मन में निश्चय करके आसन अर्थात् लौकिक विजातीय-प्रत्यय के व्यवधान न माने देकर, जब  
तक उस देवतादि के स्वरूप में वर्णादिविशिष्टदेहात्म-प्रभिमान की तरह आत्माभिमान उत्पन्न न हो,  
तब तक उसी का चिन्तन करना उपासना है । श्रुतियाँ भी इसी का दिग्दर्शन कराती हैं—"देवता होकर  
देवता में समा जाता है", "इस पूर्व बिना में तुम किस (अधिष्ठातृ) देवता से युक्त होकर स्थित हो?"  
इत्यादि ॥६॥

१ दूर्गुणविशिष्टप्राणविदः । २ सकाशात् । ३ उपास्त्यस्तावकवाक्यम् । ४ निश्चित्य । ५ विजातीय-  
प्रत्ययेत्यर्थः । ६ वर्णादिविशिष्टदेहात्माभिमानवदित्यर्थः । ७ नृ० उ० ४ १ २ । ८ कथाधिष्ठानुदे-  
वताया एव प्राचीदिष्टेण सम्पन्नोऽसीति कतितायं । ९ नृ० उ० ३ ६ २० याज्ञवल्क्य प्रति शाबल्याद्विरुद्धम् ।  
१० अस्या वा देवताति प्रष्टव्यं प्रष्टव्यं प्रस्तुतकरणं तु मुनेर्विद्युपासनात्तादात्म्यसम्पत्तिर्निर्हय जातिनि बाधितुम् ।  
इहैव—इह जन्मनीत्यर्थः । ११ एवमित्त्वविरोधादिति न हि नित्यानुष्ठानादेव पापस्यो नियततोऽस्मानादे-  
रपि तत्प्रसिद्धेस्तस्मादेव विरुद्धेन पाप्मनो विरोधित्वाद्भवति सकाशाद्दूरे भवत्यस्याभिव्यक्तम् । १२ उपासन-  
शब्दार्थं ज्ञान मत्वा भूद्वारे ब्रह्मत्वादिना । १३ दीर्घकालादि—दीर्घकालात् फलपर्यन्तवत् आधार श्रद्धाभक्ती ।  
निरन्तरम्—अव्यवहितवत् । १४ चिन्तनम् । १५ अवधिम् । १६ दिग्भावः । १७ उपासकस्तेति-  
शेषः । १८ नित्यं सन्व्यावर्त्तनादि । १९ नैमित्तिकं च आह्वयतवर्गादि । २० विरोधिसंनिपाते इति  
—जलाग्न्यादिविद्रोहिणो पदार्थयो सामानाधिकरण्यं सति पूर्वस्थित स्वभित्त्वेनापगमवतिष्ठत इत्यर्थः । २१  
विरोधमेव ।

प्राणात्माभिमानिनो हि विरुध्यन्ते । वागादिविशेषात्माभिमानहेतुत्वात्स्वाभाविकज्ञानहेतु-  
त्वाच्च । शास्त्रजनितो हि प्राणात्माभिमानस्तस्मादेकैवंविदः पाप्मा दूरं भवतीति युक्तं  
'विरोधात्तदेतत्प्रदर्शयति—

भिमानोपरिच्छिन्ने प्राणात्मन्यात्माभिमानयतो विरुध्यते परिच्छेदापरिच्छेदयोर्विरोधाय प्रसिद्धत्वा-  
दित्यर्थः । विरोधं साधयति—वागादीति । पाप्मनो 'वागादिविशेषवत्यात्मन' विशिष्टेऽभिमानहेतु-  
त्वावापिदेविकापरिच्छिन्नाभिमाने' ध्वंसो 'युज्यते । बुध्यते हि चण्डालभाण्डायतन्यनो जलस्य  
'गङ्गाद्यविशेषभावापत्ताय' 'पेयत्वनिवृत्तिः ।

“अशुच्यपि ययः प्राप्य गङ्गां याति पवित्रताम्”

इति न्यायादित्यर्थः । “यन्नेसर्गिकाज्ञानजग्यं” तद्वागनुक्तप्रमाणज्ञानेन नियतं यथा रज्जुसर्पा-  
दिज्ञानं नैसर्गिकाज्ञानजग्यं च पाप्मा तेन प्रामाणिकप्राणविज्ञानेन तद्व्यतिरिक्तस्याह—स्वाभाविकेति ।  
नन्यभिमानयोर्विरोधाविशेषाद्वाग्यवाधकत्वव्यवस्थायोगाद्द्वयोरपि “नियो वायः स्यात्तत्राह—  
शास्त्रजनितो हीति । उक्तमेव पापध्वंसरूपं विद्याफलं प्रपञ्चयितुमुत्तरवाक्यमित्याह—तदेतदिति ।

“बहू यः देवता है, मृत्यु उसके पास नहीं जाती” यह कहा । इस प्रकार जानने वाले के पास  
से मृत्यु क्यों दूर रहती है ? इस पर कहते हैं । क्योंकि इस प्रकार जानने वाले से पाप का विरोध होने  
के कारण मृत्यु दूर ही रहती है । इन्द्रियो के विषयो के ससर्ग से होने वाली प्राप्ति ही पाप है, उस  
पापरूपा मृत्यु के कारण मृत्यु से प्राणात्माभिमान का विरोध है, क्योंकि वह वादादि से उपहित  
प्रात्माभिमान का हेतु है, और शास्त्रानाधाय भ्रमज्ञान में कारण है । प्राणात्माभिमान शास्त्रजनित है ।  
इसलिए ऐसे ज्ञाता से पाप का विरोध होने के कारण इस प्रकार जानने वाले के पास में पाप दूर ही  
रहता है । यह कहना ठीक है । इसी (पापध्वंसरूपा विद्या के फल) को श्रुति दिखाती है—

१ पाप्मन इति शेष । २ विरोधादिति—एवविधे सह पाप्मनो विरोधादित्यर्थ । अपरिच्छेदस्य शास्त्र-  
समर्पितत्वेन ब्रह्मत्वाद्वाधकारव परिच्छेदस्य तु स्वाभाविकत्वेन दुर्बलत्वाद्वाधम्यत्वमिति युक्तैव व्यवस्था ।  
३ एतदिति—यद्येकत पापध्वंसरूप विद्याफलमित्यर्थ । ४ विदुष । ५ उपपादयति । ६ वागादीत्यादि—  
वागादिकष आध्यात्मिक परिच्छिन्न पदार्थों विषये तत्सादात्म्याभिमानवति पुरुष इत्यर्थ । ७ विणिष्टाभि-  
मानेति पाठान्तरम् । ८ जाति सतीति शेष । ९ सभवति । १० अनेदभावापत्ताविरथ । ११  
अपेयत्वनिवृत्तिरिति—वाण्डालभाण्डस्यजलन्यानीयस्य देहस्थोपानवस्य गङ्गास्थानीयदेवभावापत्ताविरथस्या-  
नीयस्य पाप्मनो विवृत्तिर्नैवतीति दार्ष्टान्तिके योजनम् । १२ अनाद्यज्ञानजग्यं रजनादिज्ञानम् । १३ आग-  
म्युक्तम्—जग्यम् । १४ सुयोपमुन्मथायवति वाव ।

ॐ श्रीकैलासविद्याप्रकाशककोटपत्राणि ।

क्षेपविद पाप्मा दूर भवतीति युक्तिरिति—ननु प्राणस्य पाप्मा सम्बन्धे तदभिमानिनस्तदात्मकादपि पाप्मा दूर  
भवतीति युक्तमुक्तं स्यात्प्राणस्य प्राणस्य पाप्मा सम्बन्धे मिदं प्राणत्वादिवरप्राणवत्तत्सम्बन्धानुमानादित्यानाङ्कप  
ममादधुर्वात्तिकावाची —परिस्पन्दारिमरा वृत्ति श्रोत्रादिष्वपि विद्यत । प्राणस्यापेन्द्रियाणां तु सत्त्वादधर्मावले-  
हिनी ॥ प्रन्दादिप्राहिणी वृत्ति स्वरसगङ्गावपाप्माभि । दूषिता न परिस्पन्दो दूर मृत्युरमोस्तत इति” ॥२१६-२७॥  
प्राणस्य चलनस्या वृत्तिपरिच्छिन्ना सवदेव्यापिनीति न दूषितेत्यर्थ । प्राणान्तरवृत्तिरपि तथैवेत्याशङ्कत—  
अथेति । तुभान्देन गङ्गाव्यावर्गेणसाह—इन्द्रियाणां त्विति । वागादीनां अन्दादिप्राहिणी वृत्तिस्तन्मात्र मोचयति ।  
न हि वाक् दशनं चक्षुषा वा बदनं तथा च परिच्छिन्नैव तद्वृत्तिरित्यर्थ । तथापि पाप्मत्प्रशस्तिर्योरभय

सा वा एषा देवतेतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य  
यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो  
विन्यदधात्स्मान्न जनमियान्तान्तमियान्तेत्याप्मानं  
मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

उस इस प्राण देवता ने इन बागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु (स्वाभाविक अज्ञान से प्रेरित विषयसंगर्जनित ममता) को हटा कर जहाँ इन दिशाओं का अन्त हो जाता है, वहाँ पहुँचा दिया । वहाँ इन देवताओं के पाप को मुख्य प्राण ने तिरस्कारपूर्वक निहित कर दिया । अतः “मैं पापरूप मृत्यु से युक्त न होऊँ” इस मय से अन्य जना के ससर्ग में न जाय और अन्त दिशा में भी न जावे । (श्रीत विज्ञानवान् पुरुषों की सीमापयन्त ही दिशाओं को नष्टना की है, उनसे विशद आचरण वाले लोगों से बसा हुआ देश ही दिशाओं का अन्त है) ॥१०॥

‘सा वा एषा देवतेत्युक्तार्थम् । एतासां बागादीनां देवतानां पाप्मानं मृत्यु स्वाभाविका-  
ज्ञानप्रयुक्तेन्द्रियविषयसंसर्गसिद्धजनितेन हि पाप्मना सर्वो भ्रियते ‘स ह्यतो’ मृत्युस्तं  
‘प्राणात्माभिमानरूपान्यो देवताभ्यो’ अपच्छिद्यापहत्य ‘प्राणात्माभिमानमात्रतयैव प्राणोऽ-

मृत्युम्’ अपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयांचकारेति सवन्ध । कथं पाप्मा मृत्युरूपते तत्राऽऽह—  
स्वाभाविकेति । अपहत्येत्यत्र पूर्ववदन्वयः । प्राणदेवता चेत्याप्मानं हन्ति सवध किं न हृत्यादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—प्राणात्मेति । भवतु प्राणो बागादीनां पाप्मनोऽपहन्ता ‘यिदुषस्तु किमायातमित्या-

“सा वा एषा देवता” इस मन्त्र का अर्थ कह चुके हैं । इन वाक् आदि देवताओं के ‘पाप्मानं मृत्युम्’ अर्थात् शास्त्रानाशेय अज्ञान से प्रयुक्त इन्द्रियों के विषय के संसर्गरूप प्रतिनिवेश से होने वाले पाप से ही सारे प्राणी मरते हैं । इसलिए (मृत्युप्रयोजक होने से) वही मृत्यु है । प्राण में आत्माभिमान है जिनका, ऐसे रूप वाले देवताओं के पास से ‘अपहत्य’ अर्थात् अलग करके, प्राण में अपनी आत्म-

- १ सा—या प्राप्सुसुरातोऽष्टद्विनेषु । एषा—अयमास्थञ्जरिति देवैरुपलब्धा ईशतैवेत्युक्तोऽर्थः । २ पाप्मा ।
- ३ मृत्युप्रयोजकत्वात् । ४ प्राणात्माभिमानरूपान्य इति प्राणे आत्माभिमानो यासां तदुपाय इति बहुव्रीहिः ।
- ५ सकाशात् । ६ प्राणात्माभिमानमात्रतयैवेति—अभिमान एवेत्यभिमानमात्र प्राणे आत्माभिमानमात्र यस्य तत्स-  
म्बन्धीति यावत् स प्राणात्माभिमानमात्र प्राण तस्य भावस्तथा तयैव स्वमित्प्राप्तत्वाभिमानविषयतयैवेत्यर्थः । न  
तुक्ताभिमानविषयतयैवेत्येवकारार्थः । ७ अपहृत्य । ८ विदुष इत्यादि उपासकस्योपासकतया किं पतत तन्मन्त्रित्वम् ।

तुल्यतेत्याशङ्क्य परिच्छेदस्य पाप्मफलत्वात्तद्वृत्तिता परिच्छिन्ना बागादिवृत्तिरित्याह—स्वैरिति । धर्मफलत्वाद-  
परिच्छेदस्य प्राणवृत्तिरपरिच्छिन्ना न पाप्मद्वृत्तिरित्याह—नेति । एवमुक्तानामसंग्रहे प्राणस्य पतमसुखमात्राव फलित-  
माह—दूरमिति । पापासम्बन्ध प्राणस्योक्त्वा तद्विदोऽपि तन्निबन्धयति—‘मृत्युर्दूरं यथा प्राणात् तदात्मत्वात्तथा-  
ऽमरः । तद्विदश्च भवेन्मृत्युर्दूरमित्युपदिश्यत इति’ ॥२१८॥ पूर्वोक्तपायाद्यथा प्राणादासङ्करूपो मृत्युर्दूरं भवति  
तथा तद्विदोऽप्यसौ दूरे स्थाद्विदुषस्तदा तद्ग्राहयथा तदात्मत्वात्तो दूरमित्यादिक्लोत्किरिष्येत्यथ । तदेतत्सच-  
मभिप्रेत्याहुर्मंगयत्पथा विरोधादिति—एवमित्येव मह पाप्मनो विरोधादित्यथ ।

पहुंतेत्युच्यते । विरोधादेव तु पाप्मन्वैदो दुरंगमो भवति । किं पुनश्चकार देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहृत्येति, उच्यते-यत्र यस्मिन्नासां प्राच्यादीनां दिशामन्तोऽवसानं तत्तत्र गमयांचकार गमनं कृतवानित्येतत् ।

ननु नास्ति दिशामन्तः कथमन्तं गमितवानिति । उच्यते-श्रौतविज्ञानवज्जनावधि-निमित्तकल्पितत्वाद्विंश तद्बिरोधिजनाध्युषित एव देशो दिशामन्तो देशान्तोऽरण्यमिति 'यद्वदित्यदोषः । तत्तत्र' गमयित्वाऽऽसां देवतानां पाप्मन इति द्वितीयावबुधचनं विन्यदधा-

शङ्कपाऽह-विरोधादेवेति ।

'अन्ताकाशदेशत्वादिशामन्ताभावाद्यत्राऽऽसामित्याद्युक्तमिति शङ्कते-नन्विति । 'शास्त्रीय-ज्ञानकर्मसंस्कृतो जनो मध्यदेशः । प्रसिद्धस्यापि तदधिष्ठितत्वेन मध्यदेशत्वात्तत्राप्यल्पजाधिष्ठित-देशस्य पापीयस्त्वस्वीकारादेतस्त जन तदधिष्ठित च "देशमर्वाधि कृत्वा "तेनैव" निमित्तेन दिशां कल्पितत्वादान्त्याभावात्पुनर्विषयजनान्तरितजनस्य तदधिष्ठितदेशस्य चान्तस्थोक्तेर्मध्यदेशादन्यो देशो दिशामन्त इत्युक्ते न काचिदनुपपत्तिरिति परिहरति-उच्यत इति । किमिरण्यजनेध्वित्य-

त्वाभिमानविषयता से यहाँ प्राण को अपहृन्ता कहा है । इस प्रकार जानने वाले या पाप का विरोध होने के कारण ही पाप दूर भाग जाना है । देवताप्रा की पापरूप मृत्यु को उनसे अलग करके (प्राणदेवता ने) पुन क्या किया ? इस पर कहते हैं-यत्र अर्थात् जहाँ "आसाम्" अर्थात् पूर्वादि दिशाओं का "अन्त" अर्थात् अवसान है, "तत्" अर्थात् वहाँ "गमयांचकार" अर्थात् गमन करा दिया ।

यहाँ शङ्का होती है, जब दिशाप्रा का अन्त ही नहीं है, तो दिशाप्रा के अन्त में कैसे पहुँचा दिया ? इसका समाधान देते हैं-दिशाओं का कल्पना शास्त्रीय ज्ञान कर्म से संस्कृत पुरुष की अवधि-पयन्त की गयी है, तथा उनसे विरुद्ध असंस्कृत लोग से बसा हुआ दश ही दिशाओं का अन्त है । जैसे 'नगर का अन्त अरण्य है', यह प्रयोग होता है-ऐसे ही यहाँ मानने में कोई दोष नहीं है । वहाँ मयोक्त्रदिशा के अन्त में (वहाँ के निवासी जनो मे) दत्तप्राओं के पापों को पहुँचा कर 'विन्यदधात्' मानो विविध प्रकार से रख दिया । "पाप्मन" यह पद द्वितीया बहुवचनान्त है । अग्न्या-अनुपपत्ति

- १ विरोधादेवेति-एवमिदं पाप्मनो विरोधादेवेत्यर्थः । २ यद्वदिति-यथा दशान्तोऽरण्यमिति श्रुत्या वृक्षमनु-दायविशेषश्रुत्या भूमागो देशाद्यन्तोऽप्यत्र तथा दिशामन्त इति प्रयोगे शास्त्रीयज्ञानव्यवस्थितजनान्तरितजनस्यो देशो दिक्छन्दाय । इत्यदोष इति उक्तविषयस्य दिशामन्तस्यानुपपत्तितत्त्वज्ञानो दोषो नेत्यर्थः । ३ तत्रति-मपोत्तिदिशामन्त तत्सजने चेत्यर्थः । ४ जनान् आनायो देशाधिष्ठानमाश्रयो यासा तयात्वाद जनान्तरादा-देनगतापित्वादिति यावत् । ५ शास्त्रप्रसिद्धानिदिशान्तराचारसंस्कृतमना पुरुषः । ६ अनु जायन्तं पुण्यभूमि मध्य विन्यद्विहागयोर्निति-प्रसिद्धमध्यदेश विहागप्रसिद्धस्य तस्य ग्रह किं नियामकमित्याशङ्क्याह-प्रसिद्धस्यापि । ७ प्रसिद्धस्यापि मध्यदेशस्य तादृशजनाधिष्ठितत्वेनैव मध्यदेशत्वात् इत्यर्थः । तथा चातान्तिशयोक्तो जनो मध्यदेश तदधिष्ठितदत्तसूपचारोत्तपति न मध्यदेशशब्दस्यानानुपपत्तौ भावः । ८ तत्रापिति-प्रसिद्धमध्यदेशोऽपीत्यर्थः । ९ अत-उक्तजनस्य तदधिष्ठितदत्तस्य च मध्यदेशत्वादित्यर्थः । १० अर्थादीकृत्य । ११ तादृगवधिसंवेगः । १२ तेनैव निमित्तन दिशा कल्पितत्वादिनि गृहीयाया अथार्थवत्त्वात् उत्तजनादिरूपमध्यदेशात्तयादध्यभिद्विहाग-यामेव दिशा स्थोरादिति यावत् ।

द्विविधं न्यग्भावेनादधात्स्यापितवती । प्राणदेवता प्राणात्माभिमानशून्येष्वन्यजनेष्विति  
'सामर्थ्यादिन्द्रियसंसर्गजो हि स इति प्राण्याश्रयताऽवगम्यते । 'तस्मात्तन्मृत्यं जनं नेयाश्च  
गच्छेत्संभाषणदर्शनादिभिर्न संसृजेत् । तत्संसर्गं पाप्मना संसर्गः—कृतः स्यात्पाप्माश्रयो हि  
सः । तज्जननिवासं चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयाज्जनशून्यमपि जनमपि तद्देशविद्युक्तमित्य-  
भिप्रायः । नेदिति 'परिमयायै निपातः । इत्थं जनसंसर्गं पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ।  
अनु भव अयानीत्यनुगच्छेयमित्येयं भीतो न जनमन्तं चेयादिति पूर्वेषु संबन्धः ॥१०॥

'यिकावापः क्रियते तत्राऽऽह—इति सामर्थ्यादिति । 'देशमात्रे पाप्मावस्थानानुपपत्तेरित्यर्थः । तामेवा-  
नुपपत्तिं साधयति—इन्द्रियेति । भवतु यथोक्तो दिशामन्तस्तथा 'च पाप्मसंसर्गास्तु तथाऽपि किमायात-  
मित्याशङ्क्य तस्य शिष्टं स्यात्सम्बन्धमित्याह—तस्मादिति । निषेधद्वयस्य तात्पर्यमाह—जनशून्यमपीति ।  
प्राणोपास्तिप्रकरणे निषेधश्रुतेस्तदुपासकेनेषां निषेधोऽनुष्ठेयो न सर्वैरित्याहुषाऽह—नेदिः पादिना ।  
'इत्य श्रुत्युक्तं निषेधं न चेवंह कुर्यात्ततः पाप्मानमनुगच्छेयं निषेधातिक्रमादिति सर्वस्य भयं जायते न  
न प्राणोपासकत्वमेव । "अतः सर्वोऽपि पापाद्भूतो नोभयं वच्छेदोऽयम् हि प्रकरणाद्बलवदित्यर्थः ॥१०॥

से यह भय प्रजात होता है, कि उसे प्राणात्माभिमान-शून्य पापीजनों से स्थापित कर दिया ।  
वह पाप इन्द्रिया के संसर्ग से होता है, इसलिए उसकी प्राण्याश्रयता सिद्ध होती है । इसलिए उस पापी  
के पास न जाय, अर्थात् सम्भाषण और दर्शनादि से उनका सम्पर्क न करे । उनके संग 'करने' से उसे  
पाप का संसर्ग हो जायगा, क्योंकि वह पाप का आश्रय है । उन (पापियों) के निवास 'मन्तम्'  
अर्थात् दिगन्त शब्दवाची देश में जनशून्य होने पर भी न जाय । पापी जनों-के देश से अलग  
रहे, यह समिप्राय है । 'नेत्' यह अत्यन्त भय के अर्थ में निपात है । इस प्रकार इन पापी जनों से  
सम्पर्क होने पर मृत्यु की प्राप्ति होईगा । "मन्ववायानि" में अनु, भव, अयानि, इस प्रकार, प्रदच्छेद  
है । इस प्रकार भयापन्न होने पर पापी के दिशान्त देशों में न जाय । "इयात्" इस पूर्वस्य क्रियापद  
से इनका सम्बन्ध है ॥१०॥

"सा वा एषा देवता" इस श्रुति से प्राण का आत्मस्वरूप से जो उपासनाभूत ज्ञान है तदात्मक  
जो कर्म, उसके फल रूप से वागादि देवता की अग्न्यादिरूपता का वर्णन किया जाता है । पापविमोक्ष के  
बाद कर्मभूत वागादि देवता ने पापरूप मृत्यु से पार कर दिया (अर्थात् स्वरूपबोध करा दिया) ।  
वागादिदेवताप्रयोजक-पापरूप मृत्यु प्राणात्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया । इसीलिए वह प्राण पापरूप

१ पापमृजनेषु । २ इति सामर्थ्यादिति—अयमर्थोऽन्यथानुपपत्त्याऽवगम्यत इत्यन्यथानुपपत्त्यवयव । ३  
तस्मादिति—यस्मात्तत्र वागादीनां पाप्मानं प्राणा विन्यदधात्तस्मादित्यर्थः । ४ अत्यन्तभवः । ५ अक्षिरत्या  
वाप प्रलेप अध्याहार इति यावत् । ६ देशमात्र इत्यादिदेशस्य जडात्मत्वात् पापस्य च जडानाश्रितत्वात् देश-  
मात्रस्यत्वसंभव इत्यनुपपत्तिसामर्थ्यादित्यवयवयिकावाप इत्यर्थः । ७ तथैव । ८ तत्रेतिषेधः । ९ इत्य-  
मित्यादि—श्रुत्युक्तं निषेधमिदं श्रुत्युक्तानुसारेण यद्यहं न पालयेयमित्यर्थः । १० अत इति—निषेधस्य सामान्य-  
विषयकत्वादित्यर्थः । तथा च नातिक्रमः—"सामान्यविषयकत्वाय निषेधो नानविद्वन्तः । बलवत्प्रतिपातो हि वाक्य  
सामान्यमात्रम् ॥" प्रकरणात् प्राणविद्विषय निषेधेऽवगम्यमाने वक्ष्यते तस्मात् जनमित्यादिवाक्यात्तस्य सामान्य-  
विषयतेत्याशङ्क्य श्रुतिलिङ्गादिभूते प्रकरणाद्बलस्य बलवत्त्वनिरवधारित्याह—बलवदिति ।



सा वा एषा देवततासां देवतानां पाप्मानं, मृत्युमप-  
हृत्यार्थेना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत  
सोऽग्निरभवेत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमंतिक्रान्तो  
दीप्यते ॥१२॥

उम इम प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु को नष्टकर पुनः इन्हें आध्या-  
त्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के पार अपरिच्छिन्न आधिदैविक अग्न्यादि देवात्मभाव को प्राप्त करा  
दिया ॥११॥

उस प्रसिद्ध प्राण ने वाक् देवता को (आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के) पार पहुँचा दिया ।  
जब वाणी मृत्यु से पार हुई तब वह अग्नि हो गया । वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे देदीप्यमान  
है ॥१२॥

सा वा एषा देवता, 'तदेतत्प्राणात्मज्ञानकर्मफलं वागादीनामग्न्याद्यात्मत्वमुच्यते ।  
'अर्थेना मृत्युमत्यवहत् । यस्मादाध्यात्मिकपरिच्छेदकरः पाप्मा मृत्युः प्राणात्मविज्ञानेना-  
पहतस्तस्मात्स प्राणोऽपहन्ता पाप्मनो मृत्योः । तस्मात्स एव प्राण एना वागादिदेवताः  
प्रकृतं पाप्मानं मृत्युमतीत्यावहत्प्रापयस्व स्वमपरिच्छिन्नमग्न्यादिविदेवतात्मरूपम् ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । स प्राणो वाचमेव प्रथमा प्रधानामित्येतत् ।

द्विविधमुपास्तिफलं पापहानिर्देशताभावश्च । तत्र पापहानिमुपविज्ञता 'प्रासङ्गिकः साधारणो  
निषेधो दक्षितः । संप्रति देवताभावं वक्तुमुत्तरवाक्यमिति प्रतीकोपादानपूर्वकमाह—सा वा एषेति ।  
अथशब्दावद्योतितमर्थं कथयति—यस्मादिति । पाप्मापहनृत्यमनुचावशिष्टं भागं व्याचष्टे—तस्मात्स  
एवेति ॥११॥

'सामान्योक्तमर्थं विशेषेण प्रपञ्चयति—स वै वाचमित्यादिना । कथं वाचः प्राचम्यं तदाह—

मृत्यु का नाश करने वाला है । इस कारण से उस प्राण ने ही वागादि देवताओं को प्रकृत पापरूप मृत्यु  
से पार कर इनके अपरिच्छिन्न अग्न्यादि देवतात्मस्वरूप को प्राप्त करा दिया ॥११॥

१ नृबन्तु प्राणोपास्ते पापक्षयफलत्वम् अग्न्यादिदेवताप्राप्तिश्च तु न सम्भवति स्थितेषु नष्टेषु च वागादियु तेषां  
देवत्वप्रापणे प्राणरसात्मन्यत्वात् इत्याद्यत्राह—तदेतदिति । २ प्राणेत्यादि—प्राणस्यात्मत्वेन यन्ज्ञानम् उपासनम्  
तदात्मक यत्कर्म तस्य फल स्थितेष्वेव तेषु वस्तुतो देवतात्मसु परिच्छेदाभिमानप्रतिबन्धच्छन्तिमात्रेण देवत्वप्रापण  
प्राणस्य स भवतीत्येतदन्तराग्रन्थेनोच्यते । ३ अथेत्यादि—आपविमोक्षानन्तरम् । एना—वागादिदेवता कर्मभूताः ।  
मृत्युम्—पूर्वोक्तपाप्मरूपम् । अति—अनीत्य अवहत्—स्वरूप प्रापितवती प्राणदेवतेत्यर्थः । ४ आध्यात्मिनैत्यादि  
आध्यात्मिका वागादिदेवता तासां परिच्छेदप्रयोजक इत्यर्थः । ५ तस्मात्—प्राणस्यैव यथातन्मृत्युपहनृत्यत्वाद्-  
पासितस्य सन स्वात्मविज्ञानेन । ६ प्रासङ्गिक इति—प्रसङ्गादागत इत्यर्थः । प्रसङ्गश्च स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम् ।  
७ उपासनानुपासकसाधारण । ८ पूर्वोक्तार्थेनैव वागादीनामग्न्यादिभावाग्न्यात्मत्वात् उत्तरवाक्यवैयर्थ्यमित्याश-  
ङ्क्यार्थभेदान्नेवमित्याह—सामान्येति । वागादिदेवता मृत्यु पाप्मानमतीत्य अग्न्यादिभावा प्राण प्रापयति स्म इति  
सामान्येन तानां देवभावस्योक्तत्वात् वाचोऽग्नित्व प्राणस्य वाङ्मवमित्यादिविशेषविशिष्टदेवतारूपता अनन्तर-  
प्रत्येन विप्रियत इत्यर्थः ।

‘अथ ॥ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यते स ॥

वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

इसी प्रकार प्राण ने घ्राण को मृत्यु के पार पहुँचाया । वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ, उस समय वायु हो गया । अतः वह प्रतिक्रान्त-वायु मृत्यु से पार होकर बहता है ॥१३॥

‘उद्गीयकमणीतिरकरणापेक्षया साधकतमत्वं प्राधान्यं तस्याः । तां प्रथमामत्यवहद्ब्रह्मं कृतवान् । तस्याः पुनर्मृत्युमतीत्योद्वायाः किं रूपमित्युच्यते—सा वायव्या यस्मिन्काले पाप्मानं मृत्युमत्यमुच्यतातीत्यामुच्यते मोक्षिता स्वयमेव तदा सोऽग्निरेभवत्सा वाक्पूर्व-मप्यग्निरेव सती मृत्युविद्योगेऽप्यग्निरेवामवत् । एतावांस्तु विशेषो मृत्युविद्योगे । सोऽय-मतिक्रान्तोऽग्निः परेण मृत्युं परस्तान्मृत्योर्दोष्यते । प्राङ्मोक्षान्मृत्युप्रतिबद्धोऽध्यात्म-वा-गात्मना नेदानीमिव दोषिमानासीविदानीं तु मृत्युं परेण बोध्यते मृत्युविद्योगात् ॥१२॥

तथा प्राणो घ्राणो वायुरभवत् । स तु पवते मृत्युं परेणातिक्रान्तः । सर्वमन्य-दुक्तार्थम् ॥१३॥ ।

उद्गीथेति । वाचो मृत्युमतिक्रान्ताया रूपं प्रदनपूर्वकं प्रदर्शयति—तस्या इति । अनाग्नेरग्निस्वविरोधं धुनोते—सा वागिति । पूर्वमपि वाचोऽग्निस्त्वेनोपासनात्म्यं “तदन्तित्वमित्याशङ्क्याऽह—एतावानिति । उक्तं विशेषे विशदयति—प्रागिति ॥१२॥

इस प्रसिद्ध प्राण ने प्रधान वाग्देवता को मृत्यु के पार पहुँचाया । उस प्रसिद्ध प्राण ने “प्रथमाम्” अर्थात् प्रधान वाक् को, स्वरूपबोध कराया । साम-उद्गानरूप उद्गीथ कर्म में करणान्तर की अपेक्षा वाक् की अधिक प्रधानता है, क्योंकि साधकतम-रूप से प्राण उद्गाता के अत्यन्त समीप है । उस प्रधान वाक् देवता का उसने अतिबहन किया । किन्तु मृत्यु को पार करके से जायी जाती हुई (अग्निभाव-प्राप्ता) उस वाणी का क्या स्वरूप है ?—इस पर कहते हैं—वह वाणी “यदा” अर्थात् जिस समय में, पापरूप मृत्यु को ‘अत्यमुच्यते’ अर्थात् लाघ कर मुक्त हुई, प्राण द्वारा पापाभाव वाली कर दी गई; उस समय वह-अग्निभाव को प्राप्त हुई—। पूर्व में अग्निस्वरूप होती हुई वाणी मृत्यु के विरह में भी अग्निस्वरूप हो गयी । “मृत्यु के विद्योग होने पर” इतनी ही यहाँ अधिकता है । वह यह (पाप का) निष्क्रमण करने वाला अग्नि “परेण मृत्युम्” अर्थात् मृत्यु से परे दीप्तिमान होता है । मृत्यु के मुक्त से छुटने से पूर्व अध्यात्म-वाक् इन्द्रिय से तादात्म्य-मृत्यु से प्रतिबद्ध होने के कारण, वह इस समय के समान देदीप्यमान नहीं था । अब मृत्यु से विमुक्त होने से वह मृत्यु का अतिक्रमण करके प्रकाशित होता है ॥१२॥

१. पूर्वमन्यमात् स वै, इत्यनुवर्तनीयमिह । २. साधोद्गानरूपक्रमणीत्यर्थः । ३. साधकेति—अदीक्षाप्रक्रमणि साधकतमत्वेन प्राणस्मोद्गतुस्त्यन्तसन्नितित्वाद् करणान्तरस्यो वाच प्राधान्यमित्यर्थः । ४. अग्निभाव प्राप्ताया इत्यर्थः । ५. मोक्षितेति—प्राप्तेन पापाभाववती इत्यर्थः । ६. पापान्निष्क्रान्तः । ७. प्रागित्यादि—मृत्युमु-क्षान्मोक्षणात्प्रागित्यर्थः । ८. वागत्रेन्द्रियम् । ९. तत्तादात्म्येनेत्यर्थः । १०. तदन्तित्वमिति तस्या वाचो-ऽग्निस्त्व तदन्तित्वमिति विशाहम् ।

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स  
आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्त-  
स्तपति ॥१४॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत दिशोऽभ-  
वत्स्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा  
अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्ये-  
वत् ह वा एनमेवा देवता मृत्युमतिवहति य एवं  
'वेद ॥१६॥

फिर उस प्राण ने चक्षु को मृत्यु से पार पहुँचाया, जब चक्षु मृत्यु से पार हुआ तब वह  
आदित्य हो गया, क्योंकि वह यह परिच्छेद से अतिक्रान्त आदित्य मृत्यु से पार होकर तपता है ॥१४॥

फिर प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु के पार पहुँचाया, जब वह मृत्यु से पार हुआ तब वह दिशा हो  
गया, क्योंकि वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ परिच्छेदरूप मृत्यु से परे हैं ॥१५॥

फिर प्राण ने मन को मृत्यु के पार पहुँचाया, वह मन जिस समय मृत्यु से पार हुआ उस समय  
वह चन्द्रमा हो गया । वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा परिच्छेदरूप मृत्यु से परे प्रकाशित होता है ।  
ऐसे ही यह देवता उस उपासक को मृत्यु के पार ले जाता है, जो कोई इसे इस प्रकार जानता है ॥१६॥

तथा चक्षुरादित्योऽभवत्स तु तपति ॥१४॥

तथा श्रोत्रं विशोऽभवन् । दिशः प्राच्यादिविभागेनावस्थिताः ॥१५॥

मनश्चन्द्रमा भाति । यथा पूर्वयजमान 'वागाद्याग्यादिभावेन मृत्युमत्यवहत् ।  
एवमेन' वर्तमानयजमानमपि ह वा एषा प्राणदेवता मृत्युमतिवहति वागाद्याग्यादिभावे-

वागादीनामग्याविदेवतात्वप्राप्तानुपासकस्य किमायात न हि तत्रैव तस्य फलमित्याशङ्क-  
षाऽऽह—यथेति । देवतात्वप्रतिबन्धकान्याप्मन सर्वा'नपोह्योक्त'यत्मेना वागादीनामुपासकोपाधिमूताना-  
मग्याविदेवतात्पर्यं 'सोऽपि सदा प्राणमात्मत्वेन ध्यायन्भावनाबलद्वाराज पदं पूर्वयजमानवदामोतीति  
भावः । कस्मैद फलमित्याकाङ्क्षायामुपासक विदिनष्टि—यो वागादीति । उक्तोपासनस्य प्राप्नुक्त'

उसी प्रकार 'प्राण' याना घ्राण वायु हो गया । वह मृत्यु का अतिक्रमण करके बहता है । अन्य  
सभी पदों का अर्थ कहा जा चुका है ॥१३॥

उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदित्य हो गया, क्योंकि वह तपता है ॥१४॥

१ वागाद्यात्मकवागादिविशिष्ट प्राणमात्मत्वेन वद प्राणोऽहमस्मीत्युपासत इत्यर्थः । २ वागादीत्यादि—वागा-  
दिपयजमानोपाधीना दवभावप्राप्तपद्वारा मृत्युमतिक्रमणं यजमान वैराज पद प्राणाभ्य प्रापितवती प्राणदेवतरत्यर्थः ।  
३ निरत्यः । ४ शीघ्रः । ५ वर्तमानयजमानाः ।

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव

तदेद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

फिर उस प्राण ने अपने लिये खाने योग्य भक्ष्य का आगान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है। इसीलिये उस अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥१७॥

नैवं यो वागादिपञ्चकविशिष्टं प्राणं वेद । "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ॥१६॥

अथाऽऽत्मने । यथा वागादिभिरात्मार्यमागानं कृत्वा तथा मुखोऽपि प्राणः तर्ध-  
'प्राणसाधारणं' 'प्राजापत्यफलमागानं' कृत्वा त्रिषु पवमानेष्वपानन्तरं शिष्टेषु त्वसु  
स्तोत्रेष्वपानं आत्मार्यमन्नाद्यं भक्ष्यं च तदाद्यं चान्नाद्यमागायत् । कर्तुः 'कामसंयोगो

फल'मनुगुणमित्यत्र मानमाह—त यथेति ॥१६॥

उपास्यस्य प्राणस्य कार्यकरणसघातस्य, विधारकत्वं नाम गुरात्तरं वक्तुमुत्तरं वाक्यं तदाद्य  
व्याकरोति—अथेत्यादिना । कथमुद्गातुर्विक्रोतस्य फलसंबन्धस्तत्राऽह—कर्तुरिति । 'अन्नागानमास्वि-

इसी प्रकार श्रोत्र, दिशा हो गया । दिशार्णं पूर्वादि विभाग से अवस्थित है ॥१५॥

मन चन्द्रमा होकर भासित होता है । जिस प्रकार प्राणदेवता ने वागादिरूप यजमान की  
उपाधियो को देवभावप्राप्ति द्वारा, अग्न्यादिभाव से मृत्यु का अतिरुमण किया था, उसी प्रकार यह  
प्राणदेवता इस वर्तमान यजमान को भी, वागाद्यन्पादिभाव द्वारा मृत्यु से पार करा देता है ।  
(वागादिको का, प्रधानरूप से अनुपास्य होने पर भी प्राणशेषरूप से उपास्यत्व होना कहा है, उनका  
सर्वथा अनुपास्यत्वरूप सिद्ध नहीं है) जो प्राण को इस प्रकार वागादि-पञ्चदेव विशिष्ट जानता है ।  
उसके लिए श्रुति कहती है—"उसकी जो जिस रूप से उपासना करता है, तद्रूप हो जाता है" ॥१६॥

फिर उसने अपने लिए (अन्नाद्य का आगान) किया । जैसे वागादिको द्वारा अपने लिए गान  
किया गया, उसी प्रकार मुख्य प्राण ने भी तीन पवमानो में अविशेष, सर्व प्राणों के उपकारक वागादि-

१. प्राणेनैवाद्यते सर्वमथमित्यवधारणमयुक्तं वागादीनामप्यप्रतिमितोपकारवर्धनादिति शेष दूषयति—इह प्रति-  
तिष्ठतीति । इह—प्राणे अन्नं प्रतितिष्ठतीत्यर्थः । तदुक्तम् वाचिके—“असावन्न स्थित यस्माद् इह प्राणानवश्यतः ।  
यस्माच्छ्रुतिरतो वक्ति त्विहान्नं प्रतितिष्ठतीति ।” अतो ब्रह्मण्यब्दायै प्राणे स्थित सत् यस्माद् देहम्—स्थूलमन्नमयम्  
इतराद्य प्राणानवति पालयति अन्नम् । तस्मादित्येवाद्या श्रुति अन्नप्राणे प्रतिष्ठितमिति तत्पर्ययं वक्ति । अता-  
वागादीना प्राणमन्मन्थ्याद्याधीनस्थितिकत्वादवधारणमित्यर्थो वातिकानुसारी ॥ २ अनेन वागादीना प्राधा-यना-  
नुपास्यत्वेऽपि प्राणशेषतयोपास्यत्वमुक्तम् न सर्वानुपास्यत्वं तेषाम् । ३. तस्येदं फलं भवतीति शेषः । ४  
तम्—आत्मानम् । ५. अविशेषेण सर्वप्राणोपकारकम् । ६ प्राजापत्येत्यादि—वागाद्युपहितस्य यजमानस्याम्बु-  
द्वपार्यभिरवयवः । ७. अन्नं हि सिद्धासिद्धसाधारणम् । वाक् तु अन्तुर्हं सिद्धमेवोदनादीति न पौनर्यव्यतिरिक्त-  
प्रेत्य विगृह्यते । ८ आबानेन समपादयदित्यर्थः । ९. कामं फलम् तेन सम्बन्धः । १० अनुसृष्टम् । ११  
न केवलं प्रजापतिशरीरे प्राणस्यान्नस्थीकारे श्रुतिरेव मानम् किन्तु तत्कार्यभूतप्राणिष्वन्नस्थीकारवर्धनाय कारणेऽपि  
तदनुमेयम् कारणानुमादित्वात्तत्कार्यव्यतिरिक्तप्राणेष्वन्नस्थीकारवर्धनाय कारणेऽपि

'वाचनिक इत्युक्तम् । कथं पुनस्तदग्राद्यं प्राणैरेनाऽऽत्मार्यामा'गीतमिति गम्यत इत्यत्र हेतु-  
माह । यत्किंचे'ति 'सामान्याभ्रमात्रपरामर्शार्थः । हीति हेतो । यस्माद्भ्रमे प्राणिनियं  
त्किंचिदभ्रमद्यते नश्यते तदनेनैव प्राणैरेनैव । अत्र इति प्राणस्याऽऽख्या प्रसिद्धा । अत्रःशब्दः  
सान्तः शकटवाची, यस्त्वन्यः स्वरान्तः स प्राणपर्यायः । प्राणैरेनैव तदद्यत इत्यर्थः । किंच  
न केवलं प्राणेनाद्यत एवाग्राद्यं 'तस्मिञ्छरीराकारपरिणतेऽग्राद्य इह प्रतितिष्ठति प्राण-  
स्तस्मात्प्राणेनाऽऽत्मनः प्रतियुक्त्यर्थमागीतमग्राद्यम् । यदपि 'प्राणेनाग्रादनं तदपि 'प्राणस्य  
प्रतियुक्त्यर्थमेवेति न वागादिष्विव कल्याणासङ्गजपात्मसंभवः प्राणैरेति ॥१७॥

उपमित्यत्र प्रश्नपूर्वकं वाक्यशेषं मनुकूलयति—कथमित्यादिना । तमेव हेतुमाह—यस्मादिति । प्राणैरेनैव  
तदद्यत इति संबन्धः । यस्मादित्यस्य तस्मादित्यादिभाष्येणाश्वयः । अनित्यार्थोत्तरनशाब्दचेत्प्राणपर्या-  
यस्तर्हि कथं शकटे तच्छब्दप्रयोगस्तत्राऽह—अत्रःशब्द इति । इतश्च प्राणस्य स्वार्थमग्रागानं पुष्क-  
मित्याह—किंचेति । प्राणेन वागादिष्वदात्माद्यंमभ्रमागीतं चेत्तर्हि तस्यापि वाग्यमेषः स्यादित्याशङ्क्या-  
ऽह—यदपीति । इहान्ते देहाकारपरिणते प्राणस्तिष्ठति तदनुसारिणश्च वागादयः स्थितिभाजोऽतः  
'स्थित्यर्थं प्राणस्याभ्रमिति न वाग्यमेषस्तस्मिन्नस्तोत्यर्थः ॥१७॥

उपहित यजमान के अश्रुमुदय के लिए गान कर, इसके बाद अवशिष्ट नौ स्तोत्रों में अपनी आत्मा के  
लिए अग्राद्य का गान किया । अग्राद्य उसे कहते हैं, जो अन्न हो और अद्य यानी भक्षण करने योग्य  
हो (इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है) । उदगानवर्ता को जो फल से सम्बन्ध है; वह ("आत्मनेऽग्राद्य-  
मागायेदिति" वृ उ १ ३ २८) यह वक्ष्यमाणवचन कहा । किन्तु यह कैसे समझें, कि प्राण ने उस  
अग्राद्य को अपने लिये भागान द्वारा सम्पादित किया । इसमें हेतु कथन के लिए श्रुति को प्रस्तुत करते  
हैं—"यत् किंच" यह शब्दसमुदाय अद्यमान-वस्तुमामान्य के परामर्श के लिये है । "हि" यह हेतु-अर्थ  
में निपात है । क्योंकि मसार में प्राणियों द्वारा सामान्यरूप से जो भक्षण सेवन किया जाता है; वह  
'अनेनैव' अर्थात् प्राण के द्वारा ही खाया जाता है । "अन्न" यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है । एक दूसरा शब्द  
'अन्नम्' सकारान्त भी है, जो शकटवाची है, और यह जो दूसरा अकारान्त है, वह "अन्न" शब्द प्राण  
का पर्यायवाचक है । अर्थात् प्राण से ही खाया जाता है । एक बात और भी है—भोज्य अन्न प्राण से  
केवल खाया ही नहीं जाता, अपितु उस अग्राद्य के बारोबार परिणत होने पर उसमें ही प्राण  
विराजित होता है । इसलिए अपने विराजने के लिये प्राण ने अग्राद्य का गान किया । मुख्य प्राण के  
द्वारा जिस किसी अन्न का भक्षण होता है, वह गौणमुख्यसाधारण प्राणप्रतिष्ठा के लिए होता है । अतः  
वागादिकों के समान प्राण में कल्याण आमङ्गजनित पाप होना सम्भव नहीं है ॥१७॥

'वे देवगण' (वाने) । शका होती है कि यह जो निश्चय किया है कि अन्न प्राण के द्वारा खाया  
जाता है—यह कहना ठीक नहीं है । नवाकि वागादिकों में अन्न से होने वाला उपकार देखा जाता है ।  
वाक् का समाधान करते हैं—इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि उस उपकार का श्रौगणेश तो प्राण के

- १ वृ० उ० १ ३ २८ । "आत्मनेऽग्राद्यमागायेदिति" वक्ष्यमाणवचनप्रमाणम् । २ आपत्तेन सम्पादितम् ।  
३ शब्दममुदाय । ४ अद्यमानवस्तुमामान्येत्यर्थः । ५ सामान्यतोऽग्राद्यम् । ६ इहेत्यस्य व्याख्यानमेतत् ।  
७ मुष्मेन । ८ गौणमुख्यसाधारणस्य । ९ सवादयति । १० अत इति अग्रमये देहे वागादिस्थितः प्राण-  
स्थित्यधीनत्वादित्यर्थः । ११ स्थित्यर्थम्—उपपरिस्थित्यर्थम् ।

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन  
आगासीरन् नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभि-  
संविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त । तस्मा-

वे वागादि देवगण बोले—यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है, उसे तुने अपने लिये  
आगान कर लिया है । इसलिए अब हमे भी इस अन्न में साझीदार बनाओ । प्राण ने कहा, वे तुम  
लोग सभी ओर से मुझमें प्रवेश कर जाओ, तब “तथास्तु” कह कर वे वागादि सभी ओर से उस प्राण

ते देवाः । नन्ववधारणमयुक्तं प्राणेनेव तदद्यत इति । वागादीनामप्यन्ननि-  
मित्तोपकारदर्शनात् । नैष दोषः । प्राणद्वारत्वात्तदुपकारस्य । कथं प्राणद्वारकोऽन्नकृतो  
वागादीनामुपकार इत्येतमर्थं प्रदर्शयन्नाह—ते वागादयो देवाः स्वविषयद्योतनाद्देवा  
प्रब्रुवन्नुक्तवन्तो मुख्य प्राणमिदमेतावन्नातोऽधिकमस्ति । वा इति स्मरणार्थं । इदं तत्स-  
र्वमेतावदेव, किं, यदन्नं प्राणस्थितिकरमद्यते लोके तत्सर्वमात्मन आत्मार्यमागासीरा-

‘मर्ता श्रेष्ठः पुरो गन्तेत्यादिगुणविधानार्थं वाक्यान्तरमावर्त्ते—ते देवा इति । तस्य विवक्षितमर्थं  
वक्तुमावाधातिपति—नन्विति । अयुक्तत्वे हेतुमाह—वागादीनामिति । अवधारणानुपपत्तिं ब्रूयति—  
नैष दोष इति । यथा प्राणस्योपकारोऽन्नकृतो न वागादिद्वारकस्तथा तेषामपि नासौ प्राणद्वारको  
‘विशेषाभावादिति शङ्कते—कथमिति । वाक्येन परिहरति—एतमर्थमिति । आह ‘विशेषमिति शेषः ।  
तेषां देवत्व साधयति—स्वविषयेति । ‘तत्र प्रमिद्धिं प्रमाणयितुं वंशब्द इत्याह—वा इति स्मरणार्थं इति ।  
‘तत्प्रसिद्धस्त्वर्थस्येति शेषः । वाक्यार्थमाह—इदं तदिति । एतावत्स्वमेव व्याचष्टे—तत्सर्वमिति ।

द्वारा होता है । अन्न के कारण किया गया वागादिको का उपकार प्राणद्वारक कैसे है? इसी अर्थ को  
बतलाने के लिए श्रुति कहती है—वे वागादि देवता मुख्यप्राण से बोले, ‘यह तो इतना ही अन्न है, इससे  
अधिक नहीं है ।’ देव नाम क्यों पडा? क्योंकि वे अपने विषय का चोतन यानी प्रकाशन करते हैं इसलिए  
देवता है । यहा ‘वा’ यह निपात स्मरणापक है । यह जो सब कुछ है, वह इतना ही है । वह क्या ?  
लोक में देह की स्थिति का द्वार, जो भी अन्न भक्षण किया जाता है उस सबका तुमने ‘आत्मन’ अर्थात्  
आत्मा के लिये ‘आगासी’ अर्थात् आगान कर लिया । आगान के द्वारा आत्मसात् कर लिया, यह भाव  
है । लौकिक न्याय ने अनुसार हम अन्न के बिना जी नहीं सकते । इस कारण ‘अनु’ अर्थात् बाद में

१ एतमर्थमिति—वागादीनामन्ननिमित्तोपकारस्य प्राणद्वारकस्वरूपमथित्वर्थं । २ एतावदेवति वातिक—अप्य-  
मन्नं यतो देहलिङ्गभावेन याति न । परिणाम प्रवृत्तस्मादेतावदिति शष्यते ॥” भुक्तमन्नं कालादिना परिणाम  
गच्छदेहद्रव्यस्य स्थापकत्वेन तिष्ठति ततो देहद्रव्यस्थितिकरमेवान्नं नान्यदगतीत्यर्थं । ३ देहस्थितिद्वारेति शेषः । ४  
ननु विधिप्रभेदस्य प्रागेवोक्तत्वात् किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशयः—मर्तेति । तथा च वातिकम्—‘मर्ता श्रेष्ठः पुरोगन्ता  
ह्यप्रादोऽभिपतिस्तथा । इत्यादिगुणविषयं परो ग्रन्थोऽवतार्यते” इति ॥ अत्र विधिप्रभेदेति—गुणप्रधानविधीत्यर्थं ।  
अथ गुणविधिर्गोचरे प्रत्येक तत्फलवत् । एकैवस्मिन् गुणे विध्यनुकूलस्य प्रधानवृत्तातिरिक्तस्य फलस्य द्रव्यादाविव  
श्रवणादिति हेत्वर्थः । द्रव्यादाविति । दन्तेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यादाविवेकस्य । ५ निवामकाभावात् । ६  
निवामनम् । ७ अत्रापिक्वामाये । ८ तोवप्रसिद्धस्यस्य स्मरणार्थं ।

द्यदनेनान्नमत्ति' तेनैतास्तृप्यन्त्येव<sup>१</sup> ह वा एन<sup>२</sup> स्वा  
अभिसंविशन्ति भर्ता स्वाना<sup>३</sup> श्रेष्ठः पुर एता भवत्य-  
न्नादोऽधिपतियं एवं वेद य उ हंविद<sup>४</sup> स्वेषु प्रति

मे प्रवेश कर गये। अतः प्राण के द्वारा यह जीव जो भी अन्न खाता है, उससे ये वागादि प्राण भी तृप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है, उसका आश्रय सम्बन्धी-जन सभी ओर से ग्रहण करते हैं, वह स्वजनो का भर्ता, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलने वाला हो जाता है। तथा अन्न

गोतवानस्यागनेना<sup>५</sup>ऽऽत्मसात्कृतमित्यर्थः । 'वयं चाग्रमन्तरेण स्यातुं' नोत्सहामहे ।  
'अतोऽनु पश्चान्नोऽस्मानस्मिन्नग्र आत्मायं तवाग्र आभजस्या<sup>६</sup>ऽऽभाजयस्व । रिणचोऽश्रवणं  
छान्दसम् । अस्मांश्चाग्रभागिनः कुरु । इतर आह—ते यूयं यद्यन्नायिनो वै' मा मामभि-  
संविशत 'समन्ततो' मामाभिमुख्येन "निविशतेत्येवमुक्तवति प्राणो तथेत्येवमिति तं प्राणं  
परिसमन्तं परिसमन्तान्यविशन्त निश्रयेनाविशन्त तं प्राणं परिवेष्टय निविष्टयन्त

"किमिदं प्राणार्थमभ्यागानं नाम तदाह—आगानेनेति । का पुनरेतावता भवता क्षतिस्तत्राऽह—वयं  
चेति । अग्रमन्तरेण अयापि स्यातुमशक्तेर्मदर्थं तदागोतमिति चेत्तत्राऽह—अत इति । आभजस्येति  
यूपमाणा कथमन्यथा व्याख्यायते तत्राऽह—णिच इति । "तववाग्रस्वामित्वमस्माकमपि तत्र प्रवेशमात्रं  
स्थिरार्थमपेक्षितमिति वाक्यार्थमाह—अस्माद्वेति । वेशब्दो यद्यर्थं प्रयुक्त । प्राणं परिवेष्टय तबनुजया

"नो" अर्थात् हम भूवा को "अस्मिन्नग्र" यानी अपने इस अन्न में से 'आभजस्व' अर्थात् हमें भी  
हिस्सेदार बनाओ । "आभजस्व" (इसका अर्थ निचपरक है) छान्दस प्रयोग होने के कारण इसमें  
णिच् का श्रवण नहीं होता। अतः हमें भी अन्न में भागीदार कर्गे । उनके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर  
मुख्यप्राण ने कहा—"ते" अर्थात् आप जो अन्नाभिलाषी हो, "वै" अर्थात् तो 'मा' अर्थात् मुझमें  
'अभिसंविशत' सब ओर से तादात्म्य भाव से मेरी आत्मा द्वारा मुझसे एकता प्राप्त करो । इस प्रकार  
प्राण के कहे जाने पर "तथेति" अर्थात् ऐसा ही हो, "तम्" अर्थात् प्राण में 'परिसमन्तम्' अर्थात् चारों  
ओर से घेर कर प्रविष्ट हो गये । प्राण में आश्रयभाव ने अवस्थित प्राण की आत्मा से उन सबके प्राण  
द्वारा जो कुछ सामा जाता है, वह अन्न प्राण की स्थिति करने के साथ तृप्तिरकर भी है। वागादि का  
(प्राण की सहायता के बिना) स्वतन्त्ररूप से अन्न के साथ सम्बन्ध नहीं होता। स्वतन्त्ररूप से अन्न में

१ लोक । २ आत्मसात्कृतमिति । अतस्त्वय्यव तदक्षितं स्थितिरम् स्यादस्माकं तु स्थितिप्रयोजकप्राप्तिरिद्वि-  
रिति भावः । ३ वयं चेति । स्वामिनि भूत्येव स्वीयापन्नित्वेति लोचिकन्याय मूर्चयितुं चकार । ४ न  
शक्नुमः । ५ अत इति—अग्रमन्तरेणावस्थानुमशक्यत्वादित्यर्थः । ६ क्षुधितान् । ७ भागिनः कुरु । ८  
तैरेवमुक्तः प्राणः । ९ तर्हीति शेषः । १० तादात्म्यम् । ११ मदाजया । १२ मय्यकतामापन्नश्चरि-  
त्यर्थः । १३ किं स्वरूपमित्यर्थः । १४ एतावतेति—आगानेनाग्निनाग्रस्य स्वाधीनोत्तरणमात्रेणेत्यर्थः । एतत्प-  
ङ्क्तिस्थले पाठान्तरमपि तद्यथा—माभूद भवतामन्नमथ च आत्मवत् स्थितिनिरित्याशङ्क्याह-वयं चेतीति । आत्म-  
वदित्यस्य मद्वित्यर्थः । प्राणवदिति यावत् । १५ स्वयमेव अवचोऽग्रस्य भाग भजन्तामित्याशङ्क्य स्वामित-  
न्तत्वादस्माकं नैव कर्तुमुचितमिति श्रमेत् वाक्यार्थपर आश्रयमवधारयति—तथेति ।

प्रतिबुभूषति न हंवाल भार्येभ्यो भवत्यथ ये एवैत-  
मनुभवति यो वतमनु भार्यान्बुभूषति स हंवाल  
भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

भक्षण करने वाला सबका अधिपति हो जाता है । सम्बन्धियों में से जो भी ऐसे उपासक के प्रति विरुद्ध होना चाहता है, वह अपने आश्रिता का पोषण करने में समर्थ नहीं होता और जो कोई भी इनके अनुकूल रहकर अपन शरणागता का भरण करना चाहता है, वह निश्चय ही अपने शरणागतों के भरण पोषण में सक्षम हो जाता है ॥१८॥

इत्यर्थः । 'तथा निविष्टाना प्राणानुजया तेषा प्राणैर्नैवाद्यमान प्राणस्थितिकर सवन्न तृप्तिकर भवति न स्वातन्त्र्येणास्रसबन्धो वागादीनाम् । 'तस्माद्युक्तमेवावधारणमनैव तदद्यत इति ।

तदेवाऽऽह—तस्माद्यस्मात्प्राणाश्रयतयैव प्राणानुजयाऽमिसनिविष्टा वागादि-  
देवतास्तस्माद्यदन्नमनेन प्राणैर्नाति 'लोकेस्तेनान्नेनैता वागाद्यास्तुप्यन्ति वागाद्याभ्यं प्राण  
यो वेद वागादयश्च पञ्च प्राणश्रया इति तमप्येनमेव ह ये स्वा ज्ञातय अमिसविशन्ति  
वागादय इव प्राणम् । ज्ञातीनामाश्रयणीयो भवतीत्यभिप्रायः । 'अमिसनिविष्टाना च  
स्वाना प्राणवदेव वागादीना स्वान्नेन भर्ता भवति । तथा श्रेष्ठः 'पुरोऽग्रत एता गन्ता

वागादीनामस्नापितामवस्थान चेत्येवामपि प्राणवदन्नसबन्ध स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । त्यक्तप्राण-  
स्यान्नबलाद्वागावित्यत्यनुपलब्धेरित्यर्थः । वागादीनामन्नजन्योपकारस्य प्राणद्वारस्येति तदे कलितमाह—  
तस्मादिति ।

"तेषामन्नकृतोपकारस्य प्राणद्वारकत्वे वाच्यशेष सवादयति—तदेवेति । निष्ठाकल ब्रह्मणः"गुण-  
जातमुपदिशति—वागादीति । वेदनमेव व्याचष्टे—वागादयश्चेति । स स प्राणोऽहमस्मीति वेदेति

वागादिपोषकता का भभाव होने से यही निश्चय करना उचित है, 'वह अन्न प्राण' के द्वारा ही खाया जाता है' ।

उसे ही श्रुति भी कहती है । अतः जिससे प्राण के आश्रित रह कर ही प्राण की याज्ञा से वागादिदेवता सर्वात्म्यभाव से प्राण में निवास किए हुए हैं, इसीलिए अनेन अर्थात् प्राण के द्वारा जो अन्न अनुप्य खाते हैं, उसी अन्न से ये वागादि तृप्त होते हैं । वागादि के आश्रयस्वरूप प्राण को जो 'वागादि पाँचों ही प्राण के आश्रित है इस प्रकार जानता है, उस उपासक को भी इसी प्रकार

- १ तथा निविष्टानामिति—प्राणमाश्रित्यावस्थितानामित्यर्थः । २ तस्मादिति—स्वात यणा नस्य वागादीनामन्न-  
त्वाभावादित्यर्थः । ३ अमिसनिविष्टा—सर्वात्म्यना प्राणैर्ब्रह्मत्वात् कृतवत् इत्यर्थः । ४ तेनेति—प्राणप्यामि-  
केनेत्यर्थः । ५ उक्तोपासकमपि । ६ ज्ञातयो यद्यपि प्राणविदमाश्रयिष्यन्ति तथापि नास्ती तां पात्रयितुमल-  
मुपायाभावादित्याशङ्क्याह—अग्निसनिविष्टानामिति । ७ पोष्टा । ८ भर्तृत्वधेष्ठत्वयोरेवमाशङ्क्याह—धति ।  
धेष्ठ पूज्य गुणत इति शेषः । सत्रिये योत्रिष च तथा ( भर्तृत्वधेष्ठत्वयोः ) भदहृष्टरित्येष्टत्वार्थः ।  
९ पूज्य । १० सति भर्तृत्वादी पुरोयन्तृत्वमन्त्रिष्वित्युक्तिरिति पुर एता भवतीत्यन्वयमित्याशङ्क्याह—  
इति । ११ अप्रगण्य इति यावत् । १२ वागादीनाम् । १३ भर्तृत्वधेष्ठत्वादित्यर्थः ।



भवति वागादीनामिव प्राणः । तथाऽग्रादोऽनामयावीत्यर्थः । अधिपतिरधिष्ठाप्य च पालयिता स्वतन्त्रः प्रतिः प्राणवदेव वागादीनां य एवं प्राणं वेद तस्मैतद्यथोक्तं फलं भवति । किञ्च य उ हैवंविदं प्राणविदं प्रति स्वेष्टु ज्ञातीनां मध्ये प्रतिः प्रतिकूलो बुभूषति 'प्रतिस्पर्धामवितुमिच्छति सोऽसुरा इव प्राणप्रतिस्पर्धिनो न हैवालं न पर्याप्नो भार्यभ्यो भरणोपेभ्यो भवति भर्तुमित्यर्थः । अथ पुनर्य एव ज्ञातीनां मध्य एतमेवंविदं वागादय इव प्राणमन्यनुगतो भवति यो वंत्तमेवंविदमन्वेवानुवर्त्तयन्नेवाऽऽत्मीयान्भार्यान्बुभूषति भर्तुमिच्छति यथैव वागादयः प्राणानुवृत्त्याऽऽत्मबुभूषय आसन् । स हैवालं पर्याप्नो भार्यभ्यो भरणोपेभ्यो भवति भर्तु नेतरः स्वतन्त्रः । सर्वमेतत्प्राणगुणं विज्ञानफलमुक्तम् ॥१८॥

चकारार्थः । अनामयावी व्याधिरहितो दीप्ताग्निरिति यावत् । संप्रति प्राणविद्यां स्तोत्रं तद्विद्यावद्विद्वेषिणो बोधमाह—किञ्चेति । इवानां प्राणविदं प्रत्यनुरागे सामं दर्शयति—अथेत्यादिना । 'ते देवा अमृतमन्त्रित्यादौ गुणविधिबिबक्षिणो न विमिश्रविधि'गुणफलस्यैवात्र अवगन्तव्याह—सर्वमेतदिति ॥१८॥

जातिजन अपने प्राथित कर लेते हैं, जैसे वागादि को प्राण । वह जातिजनो का आश्रयणीय होता है, यह अभिप्राय है । वागादिको के स्वामी प्राण की तरह वह भी आश्रितजनों का अपने अन्न से पोषण करने वाला होता है तथा वह पूज्य 'पुर' अर्थात् भागे 'एता' जाने वाला होता है अर्थात् अग्रगण्य होता है, जैसे प्राण वागादिको को भागे से जाते हैं । तथा वह 'अन्नाद' अर्थात् दीप्ताग्नि वाला होने के कारण निरामय है, "अधिपति" अर्थात् वागादि के अधिपति प्राण के समान ही आश्रितजनो का अधिष्ठाता होकर पालक अर्थात् स्वतन्त्र रक्षक होता है । "जो प्राण को इस प्रकार जानता है, उसे उपयुक्त फल मिलता है ।" इसके सिवा 'स्वेष्टु' अर्थात् बन्धुजनो के मध्य जो भी इस प्रकार जानने वाले प्राणवेत्ता से 'प्रति' अर्थात् प्रतिकूल "बुभूषति" अर्थात् प्रतिस्पर्धा करने की इच्छा करता है, वह प्राण के प्रतिपक्षी असुरो के समान अपने "भार्यभ्यो" अर्थात् आश्रितो का भरण करने में "हैवालम्" अर्थात् समर्थ नहीं होता । इस प्रकार जातिजनो में से जो भी 'प्राण के अनुयायी वागादि के समान'—इम प्रकार इसे जानने वाले प्राणवेत्ता के 'अनु' अर्थात् अनुगत होता है । "यो वैतम्" अर्थात् जो भी इस प्राणवेत्ता का 'अनु' अर्थात् अनुवर्तन करते हुए भी अपने आश्रितो का 'बुभूषति' अर्थात् भरण करने की वंसे ही इच्छा करता है, जिस प्रकार कि वागादि प्राण का अनुवर्तन करते हुए आत्मीयजनो का भरण करने के इच्छुक थे । 'स' वह "भार्यभ्यो" यानी अपने आश्रितो के प्रति भरण करने में 'अलम्' अर्थात् समर्थ होता है । दूसरा जो स्वतन्त्र है, वह ऐसा करने में समर्थ नहीं होता । यह सब प्राण की गुण-उपासना का फल कहा गया है ॥१८॥

१ अनामयावीति—दीप्ताग्नित्वाभावे सद्यः भूत्वा विवक्ष्यम् । नहि व्याधितो मन्दाग्निरुत्तगुणोऽपि निवृणोतीति भावः । २ नहि पुरोगन्तृत्वनाधिपत्यस्य गतायत्वं पुरोहितस्य पुरोगन्तृत्वेषि राजन्वेवाधिपत्याधिगमादित्याह—अधिष्ठापति । अधिष्ठाप्य पालयितृत्वाभावे दीप्ताग्नित्वादेर्वैयर्थ्यं प्रसिद्धमिति च शब्दाद्यं । ३ प्रतिपक्षी । ४ आत्मीयान् भर्तुं विच्छेद । ५ उपासनपक्षम् । ६ ते देवा इत्यादे सोऽप्यास इत्यतः प्राप्तनस्य तात्पर्यमाह—ने देवा इति । ७ गुणफलस्येति—एवैवस्मिन् गुणे विध्यनुवृत्तस्य प्रधानपक्षातिरिक्तस्य फलस्यैव अत्र दध्यादाविव अवपात् इन्द्रियनामस्य दध्ना जुहुयादित्यादौ इन्द्रियसोपलब्ध फलम् ।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां<sup>१</sup> हि रसः प्राणो वा  
अङ्गानां<sup>२</sup> रसः प्राणो हि वा अङ्गानां<sup>३</sup> रसस्तस्माद्य-  
स्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष  
हि वा अङ्गानां<sup>४</sup> रसः ॥१६॥

वह प्राण “अयास्य” आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का सार है, अङ्गों का रस प्राण ही है, नि.सन्देह अङ्गों का रस प्राण ही है, क्योंकि जिस किसी अङ्ग से जब प्राण निकल जाता है, तब वह अङ्ग सूख जाता है । अतः प्राण ही सब अङ्गों का रस है ॥१६॥

कार्यकरणानामात्मत्वप्रतिपादनाय प्राणस्याऽऽङ्गिरसत्वमुपन्यस्तं सोऽयास्य  
‘आङ्गिरस इति । अस्माद्धेतोरयमाङ्गिरस इत्याङ्गिरसत्वे हेतुर्नोक्तस्तद्धेतुसिद्धयर्थमिद-  
मारभ्यते । तद्धेतुसिद्धयर्थं हि कार्यकरणआत्मत्वं प्राणस्य । अनन्तरं च वागादीनां प्राणा-  
धीनतोक्ता । सा च कथमुपपादनीयेत्याह’—

सोऽयास्य आङ्गिरस इत्यादि ‘यथोपन्यस्तमेवोपादीयत उत्तरार्थम् । प्राणो  
वा अङ्गानां रस इत्येवमन्तं वाक्यं यथाख्यास्याताम्येव पुनः स्मारयति । कथं, प्राणो

“उत्तरप्रत्यक्ष” व्यवहितेन संबन्धं वक्तुं “व्यवहितमनुवदति—कार्यकरणानामिति । अनन्तर-  
प्रत्यक्षतारयनि—अस्मादिति । किमित्याङ्गिरसत्वसाधको हेतुः साधनीयस्तत्राऽह—तद्वदिति ।  
“संप्रत्यक्षवहितसंबन्धं दर्शयति—अनन्तर चेति । “प्रकारान्तरं बुभुक्ष्यमानमिति सूचयितुं वशात्तः ।  
तर्हि यदुपपादनीयं तदुच्यते किमित्युक्तस्य पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽह—उत्तरार्थमिति । प्रतिज्ञानुवादी  
“वक्ष्यमाणहेतोरुपयोगीत्यर्थः । यथोपन्यस्तमेवेत्यादि “प्रपञ्चयति—प्राणो वा इति । “उक्तार्थनिर्णयहेतुं

कार्य और करण का आत्मत्व—प्रतिपादन करने के लिए “सोऽयास्य आङ्गिरस” इस अष्टम  
मन्त्र में प्राण का आङ्गिरसत्व उपपादन किया, किन्तु किस कारण से यह आङ्गिरस है ? यह नहीं  
बनाया गया । उस हेतु की सिद्धि के लिए भव (धागे का ग्रन्थ) आरम्भ किया जाता है । क्याकि प्राण  
की कार्यकरणस्वरूपता उसके हेतु की सिद्धि के आधीन है, उसके बाद वागादि वी प्राणाधीनता नहीं  
गयी है । उसका विवेचन किस प्रकार किया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

“सोऽयास्य आङ्गिरस.” इत्यादि मन्त्र से अष्टम कण्डिका में कहे हुए का ही पुनः प्रतिपादन,  
उत्तर के लिए है । “प्राणो वा अङ्गानां रस” यहाँ तक का कर्तृवाक्य पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार ही  
है, पुनः कर्मभूत पूर्ववाक्य का स्मरण श्रुति कराती है—प्राण के आङ्गिरसत्व में क्या हेतु है ? क्योंकि

१. अष्टमकण्डिकायाम् । २ इति जिज्ञासायामाहेत्यर्थः । ३ अष्टमकण्डिकायाम् । ४ अनुवदति । ५  
अत्रातद्गुणसंविज्ञानवद्बुद्धीहि । ६ कर्तृवाक्यम् । ७ पूर्ववाक्य कर्मभूतम् । ८ अनुवदति । ९ कथ-  
निति—नेन हेतुनेत्यर्थः । प्राणस्याङ्गिरसत्वे नो हेतुरिति यावत् । १०. एवमेविवरुण्डितवत्प्रत्यक्षम् । ११. अष्टम-  
कण्डिकायामकप्रत्यक्षम् । १२. अव्यवहितपूर्वकण्डिकाया सह सम्बन्धाभावादिति बोध्यम् । १३. अष्टादशकण्डि-  
कया सह । १४. प्रकारान्तरेण वागादीनां प्राणाधीनत्व बोधयितुमिति यावत् । एवस्य प्रकारस्य तर्कवैतर्क्यत्वात् ।  
१५. प्राणनिष्ठाङ्गिरसत्वसाधकहेतोः । १६ सप्रहवाक्यम् । १७. प्राणनिष्ठाङ्गिरसत्वस्फोटार्थस्य ।

वा अङ्गानां रस इति । प्राणो हि । हिशब्दः प्रसिद्धौ । अङ्गानां रसः । प्रसिद्धमेतत्प्राण-  
स्याङ्गरसत्वं न वागादीनाम् । तस्माद्युक्तं प्राणो वा इति स्मरणम् । कथं पुनः प्रसिद्ध-  
त्वमित्यत आह । तस्माच्छब्द उपसंहारार्थं उपरित्वेन संबध्यते । यस्माद्यतोऽयमवात्क-  
स्मादन्युक्तविशेषात् । यस्मात्कस्माद्यतः कुतश्चिच्चाङ्गाच्छरीरावयवादि विशेषितात्प्राण उत्प्रा-  
मत्यपसंपति तदेव 'तत्रैव तदङ्गं' शुष्यति नीरसं भवति शोषमुपैति । 'तस्मादेव हि वा  
अङ्गानां रस इत्युपसंहारः । अतः कार्यकरणानां भात्मा प्राण इत्येतत्सिद्धम् । आत्मापाये  
हि शोषो मरणं स्यात्तस्मात्तेन जीवन्ति प्राणिनः सर्वे । तस्मादपास्य वागादीन्प्राण  
एवोपास्य इति समुदायार्थः ॥१६॥

पृच्छति—कथमिति । तत्र प्रसिद्धि हेतु कुर्वन्परिहरति—प्राणो हीति । प्रसिद्धिमेव प्रकटयति—  
प्रसिद्धमिति । स्मरणं प्रसिद्धस्याऽङ्गरसत्वस्येति शेषः । प्रसिद्धिरसिद्धेति शाङ्कते—कथमिति ।  
तामश्वपथतिरेकाभ्यां साधयति—अत आहेति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यस्मात्कस्मादिति ।  
उक्तेन व्यतिरेकेणानुक्तमन्वयं समुच्चेत् चक्षत् । तस्माच्छब्दस्योपरिभावेन समन्वयमुक्तं स्पष्टयति—  
तस्मादिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामङ्गरसत्वे प्राणस्य सिद्धे फलितमाह—अत इति । 'उक्तन्यायादङ्गरसत्वे  
सिद्धेऽपि कथमात्मत्वं सिध्येदित्याशङ्क्याऽऽह—आन्मेति । अतः प्राण सघातस्याऽऽत्मा तथाऽपि  
किं स्यात्तद्वाह—तस्मादिति । भवतु प्राणाधीन सघातस्य जीवनं तथाऽपि कथं तस्यैवोपास्यत्वमित्या-  
शङ्क्याऽऽह—तस्मादपास्येति ॥१६॥

प्राण ही अङ्गो का रस है । "प्राणो हि" यहाँ 'हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में है । "अङ्गानां रसः" प्राण का  
हो यह अङ्गरसत्व होना प्रसिद्ध है—वागादि का नहीं । इसलिए प्राणो वा" इस धृतिवाक्य की पुन  
याद दिलाना उचित ही है । किन्तु उसकी प्रसिद्धि क्यों है ? इस पर कहते हैं—'तस्मात्' शब्द उप-  
संहारार्थक है, यह उपरोक्त (अर्थात् मन्त्र में 'शुष्यति' है उसके बाद) से सम्बन्ध रखता है ।  
'यस्मात्' यानी जिस अवयव 'कस्मात्' अर्थात् जिसका विशेष नहीं बताया गया, ऐसे किसी अवयव  
में 'यस्मात् कस्मात्' जिस किसी भी अनिर्धारित अङ्ग शरीर के अवयव से प्राण उत्पन्नमिति' अर्थात्  
अपसर्पित हो जाता है, वह अङ्ग प्राण-उत्क्रमण अवस्था में 'शुष्यति' अर्थात् नीरस हो जाता है, यानी  
मूल जाता है । (प्राण के अधिष्ठाता होने पर ही हस्तादि अङ्ग रम वाले हाते हैं, अन्यथा नीरस ही  
जाते हैं इस अन्वय व्यतिरेक से) इसलिए यही अङ्गो का रस है—इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है ।  
उक्त व्याप से उनके अङ्गरसत्व होने से कार्य-करण का स्वरूप प्राण है, वह सिद्ध हुआ । प्राणस्वरूप  
आत्मा क विमुक्त होने से शोष अर्थात् मरण हो जाता है । इसलिए सभी प्राणी उसी सर्वजीवनत्व  
प्राण के होने से जीवित रहते हैं । अत वागादिको को त्याग कर प्राण ही की उपासना करनी चाहिए,  
यह इनका समुदाय अर्थ है ॥१६॥

- १ प्रसिद्धयुवाद । २ उपरिहादित्यर्थ । शुष्यतीत्यस्मादनन्तरमिति यावत् । ३ अनिर्धारितात् । ४  
तस्या प्राणात्ममणवस्थायायाम् । ५ अति प्राणअधिष्ठातरि हस्तावङ्ग रमत्वात् अन्यथा नीरसमित्यन्वयव्यतिरेकात् ।  
६ उक्तन्यायात्तस्याङ्गरसत्वात् । ७ स्वरूपम् । ८ तथा च प्राणस्य सर्वजीवनत्वमापायत् । ९ अवय-  
व्यतिरेकत्वात् । १० प्राणस्य किमापातमित्यर्थः ।

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पति-

स्तस्मादु बृहस्पतिः ॥२०॥

यह प्राण ही बृहस्पति है । वाक् ही बृहती है, उस वाक् का यह प्राण, प्रति है । इसलिए यह बृहस्पति है ॥२०॥

एष उ । न केवलं कार्यकारणयोरेवाऽऽत्मा प्राणो रूपकर्मभूतयोः किं तर्हिऋग्य-  
जुःसाम्नां नामभूतानामात्मेति सर्वात्मकतया प्राण स्तुवन्मही करोत्युपास्यत्वाय—

एष उ प्रकृत आङ्गिरसो बृहस्पतिः । कथं बृहस्पतिरिति । उच्यते—वाग्वै

बृहस्पत्याविधर्मकं प्राणोपासनं यवतु वाक्यान्तरमवतारयति—एष इति । 'तस्य विधान्तरेण तात्पर्यमाह— न केवलमिति । कार्यं स्थूलशरीरं प्रत्यक्षतो रूप्यमाणं रूपरूपकं करणं च ज्ञानक्रिया-  
शक्तिमत्कर्मभूतं तयोरात्मा प्राण इत्युक्त्वा नामराशेरपि तथेति यवतु कण्डिकाचतुष्टयमित्यर्थः ।  
किमिति प्राणस्याऽऽत्मत्वेन सर्वात्मत्वोक्त्या स्तुतिरित्याशङ्क्याऽह—उपास्यत्वायेति । उद्देश्योप्यर्थो  
बृहस्पतिशब्दादुपरि संबध्यते । 'बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्' इति श्रुतेर्देवपुरोहितो बृहस्पतिरुच्यते  
तत्कथं प्राणस्य बृहस्पतित्वमिति शङ्कते—कथमिति । देवपुरोहित आसीत्पितृमुत्तरवाचयेनो(णो)

'एष उ' अर्थात् यह ही (बृहस्पति है) । स्थूल शरीर के रूप में प्रत्यक्ष दीखने वाले कार्यो  
एव ज्ञानबलक्रियायुक्त कर्मभूत इन्द्रियो का आत्मा प्राण नहीं है । तो किसका है ? नामरूप-  
कर्मात्मक सब जगत् का आत्मा होने से ऋग्यजुसामरूप वेदत्रयी का आत्मा है । इसलिए प्राण की  
स्तुति करते हुए (श्रुति) ऋगात्मत्व प्राण की तत्त्व से उपासना करने के लिए उसकी प्रशंस्ति करती है ।

यह प्राण ही इस प्रवरण में आङ्गिरस बृहस्पति है । बृहस्पति किस प्रकार है ? इस पर कहते

१ इतीति-नामरूपकर्मरूपकस्य सर्वस्य जगत् आत्मत्वाद्वतोरित्यर्थः । २ उपास्यत्वायेति-तत्र तावद्गतात्मत्व  
प्राणस्य तत्त्वेनोपास्यत्वायाहेति शेषः । ३ प्राणः । ४ प्रसिद्धाः । ५ वाक्यान्तरमवतारयतीति—यथा पूर्व-  
मपास्यत्वादिभिर्गुणैर्विशिष्टं प्राणकर्मणमुपासनमुक्तं तथा बृहस्पत्यादिष्वेव तद्विधानं विधानमुच्छिच्छास्त्रं गुणवि-  
शेषमाचष्टे । ६ चैव गुणविधि तत्त्वनाश्रुते विशिष्टविधिस्तु स्यादेव अन्तुते साम्नां सायुज्यमिति प्रधानत्वोक्तेः ।  
न च तानोपासकस्य प्रधानत्वसम्बन्धं श्रुतो न बृहस्पत्यामुपासकं प्रति किंचिदुक्तं—तत्र कथमनो विशिष्टविधि-  
रिति वाच्यं मध्यमणिन्यायेन तृतीयकडिगात्त्वफलत्वोक्तयत्तं सम्बन्धादित्यभिप्रायः वाक्यान्तरमवतारयतीत्यर्थः ।  
७ इति कण्डिकाचतुष्टयमित्यर्थः । ८ नामरूपकमणा स्वरूपत्वेनेत्यर्थः । ९ व्यावर्तयितुमिति—तथा च  
वातिकम्—“यदुच्यते इति श्रवणादन्ते साम्नो ग्रहादपि । ऋग्यजुसामनिर्देशं त्रयेणेति प्रतीयत ॥” यदुच्यते  
ब्रह्मणस्पतिरित्युत्तरवाच्ये ब्रह्मणि यदु श्रुतं तत्र प्राणो यदुष्मतिरित्यवगमात् पूर्वत्रापि बृहस्पतिरिति स एव-  
वर्षतिरुक्त इत्यर्थः । उत्तरवाच्यं ब्रह्मणस्त्वस्य यदुविषयत्वं सन्दिग्धमित्याशङ्क्य सदित्ये तु वाक्यतोपादिति न्याय-  
माह—अन्त इति । वाक्यतोपे प्राणस्य सामत्वोक्तेरप्यत्रैव तस्य यदुच्यदिरूपता विवक्षिता । सामान्यवचनेन  
सह पठितो वाक्यस्योपक्रमो नियमनवचनेन । शेषवाच्येन नैव इति श्रौतासामूत्रान्वयं वि चर्मादिशब्दानां श्रुतिष्वेव  
क्रमवृत्तेर्बृहस्पतिब्रह्मणस्त्वाम्नामूत्रयुगोपेक्षामित्याह—ऋगिति । अतो बृहस्पति ऋगपति यजुषस्पति यदुष्मति-  
रिति भासीत्याह—प्रतीयत इति ।



एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष  
पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है, वाक् ही (यजुर्वेदरूपवाणी) है । उस ब्रह्म का यह प्राण पति है,  
अतएव यह ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

मास्तुनिर्वर्त्या हि ऋक् । पालनाद्वा वाचः पतिः प्राणेन हि पाल्यते वाक् । अत्राणस्य  
शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात् । 'तस्माद् बृहस्पतिर्ऋचा प्राण आत्मेत्यर्थः ॥२०॥

तथा यजुषाम् । कथम्, एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः । वाग्वै ब्रह्म' ब्रह्म यजुस्तच्च  
वाग्विशेष एव । तस्या वाचो यजुषो ब्रह्मण एव 'पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः पूर्ववत्' ।  
कथ पुनरेतदवगम्यते बृहतीब्रह्मणोऽऋग्यजुषु' न पुनरन्यार्थत्वमिति । उच्यते—'वाचोऽन्ते  
सामसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्वग्वै सामेति । 'तथा च वाग्वै बृहती वाग्वै ब्रह्मेति च  
वाक्सामानाधिकरणयोर्ऋग्यजुषु' युक्तम् । परिशेषाच्च । साम्यमिहित ऋग्यजुषो एव

'प्राणोऽन्तर्भूतत्वमित्यर्थः । ऋगात्मत्व प्राणस्य प्रकारान्तरेण साधयति—पालनाद्वेति । सत्ताप्रदत्वे सति  
स्थापकत्वं 'तादात्म्यव्याप्तमित्यभिप्रेत्योपसहरति—तस्मादिति ॥२०॥

यजुषामात्मेति पूर्वोक्तं सवन्ध । नियतपादाक्षराणामृषा प्राणत्वे 'कुतस्तद्विपरीताना यजुषा  
सर्वमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमिति । तथाऽपि कथं प्राणो यजुषामात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—वाग्वै  
ब्रह्मेति । निर्वर्तकत्वं पालयितृत्वं 'वात्रापि तुल्यमित्याह—पूर्ववदिति । रुद्धिमाश्रित्य शङ्कते—कथ  
पुनरिति । वाक्प्रशेषविरोधाभावाच्च रुद्धिः सभवतीति परिहरति—उच्यत इति । वाग्वै सामेत्यन्ते वाच  
सामसामानाधिकरण्येन निर्देशादेवाधिकारोऽयमिति योजना । तथाऽपि कथमृषत्वं यजुष्वेव वा बृहती-  
ब्रह्मणोरिति तत्राऽऽह—तथा चेति । परिशेषमेव वशयति—साम्नीति । इतश्च वाक्सामानाधिकृतयो-  
ते) इसलिए यह बृहस्पति ऋचाग्रा का प्राण अर्थात् आत्मा है ॥२०॥

इसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का भा आत्मा है । कैसे है ? यह ही ब्रह्मणस्पति है । वाक् ही  
प्रसिद्ध ब्रह्म है, ब्रह्म यजुषु है और वह एक प्रकार से वाक् ही है । उस वाक्' यानी यजुस्वरूप  
का यह निष्पादक है । इसलिए ब्रह्मणस्पति यजुर्मन्त्रों का प्राण आत्मा है, ऐसा अर्थ पूर्वमन्त्र के समान  
जानना चाहिए । यह किस प्रकार जाना जाता है कि बृहती ऋक्वाचक है, और ब्रह्म यजुषुवाचक  
है, इसके अतिरिक्त इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता ? इस पर कहते हैं—उपसंहाररूप-  
निगमन वाक्य मे ("वाग्वै साम") वाक् ही साम है, इस धृति द्वारा वाक् की साम के साथ एकता  
दिखायी गयी है । ऐसा निश्चय हान पर "वाक् ही बृहती है", "वाक् ही ब्रह्म है"—इन धृति-

- १ स्थित्युत्पत्तिहेतुत्वादेव । २ प्रातदम् । ३ पानको निवतकस्येत्यर्थः । ४ ब्रह्मणस्पतिरिति—तथा  
च सत्ताप्रदत्तस्योपसंहारव्योक्तादात्म्यव्याप्तत्वाद् ब्रह्मणस्पति प्राणा यजुषामात्मेति भावः । ५ अन्त—  
वाचकोपे निगमनवाक्य इत्यर्थः । ६ वेदाधिवार निश्चिते च । ७ इत्थं प्राणस्य वागुपादानत्वात् ।  
८ व्याप्तिश्च मुद्रणद्वयो दृष्टा । ९ एवमित्यादिभिर्निर्दिष्टधर्मद्वयासम्भवादिति भावः । १० पूर्ववदिदानीमिव ।  
११ अयमिति एष उ एव बृहस्पतिरित्ययं वेदाधिवार वेदोपक्रम इत्यर्थः ।

एष उ एव साम वाग्वं साऽम एष सा चामश्चेति  
तत्तास्मान्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुपिणा समो मश-

यह प्राण ही साम है । उसमे वाक् ही "सा" और यह प्राण "अम" है । "सा" और "अम" ही साम है, वही साम वा सामत्व है, क्योंकि यह प्राण मक्खी के समान है, मच्छर के समान है, हस्ती

परिशिष्टे । वाग्विशेषत्वाच्च वाग्विशेषो हि ऋग्यजुषो । तस्मात्तयोर्वाचा समानाधि-  
करणता युक्ता अविशेषप्रसङ्गाच्च । सामोद्गीथ इति च 'स्पष्टं' विशेषाभिधानत्वम् ।  
'तथा बृहतीब्रह्मशब्दयोरपि विशेषाभिधानत्वं युक्तम् । अन्यथाऽनिर्धारितविशेषधोरा-  
नर्थक्यापत्तेश्च विशेषाभिधानस्य चाहमात्रत्वे चोभयत्र पौनरव्युत्पत्तिः । ऋग्यजुःसामोद्गीथ-  
शब्दानां च श्रुतिष्वेवंक्रम'दर्शनात् ॥२१॥

एष उ एव साम । कथमित्याह—वाग्वं सा यत्किंचित्स्त्रीशब्दानिधेयं सा वाक् ।

बृहतीब्रह्मणोऽयजुष्वमेष्टम्यमित्याह—वाग्विशेषत्वाच्चेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अविशेषेति ।  
प्रसङ्गमेव व्यतिरेकमुच्यते (५) विवृणोति—सामेति । द्वितीयश्रकारोऽवधारणार्थः । किंच 'वाग्वं बृहती'  
'वाग्वं ब्रह्मेति' वाक्याभ्यां बृहतीब्रह्मणोर्वाचात्मत्वं सिद्धं न च तयोर्वाहमात्रत्वं वाक्यभेदेऽपि वाग्वं  
वाग्विति' पौनरव्युत्पत्तिप्रसङ्गात्तस्माद्बृहतीब्रह्मणोरेष्टम्यम्यजुष्वमित्याह—वाहमात्रत्वे चेति । 'तत्रैव  
'स्थानमाधिरथ हेत्वन्तरमाह—ऋगिति ॥२१॥

ऋग्यजुष्वं प्राणस्य प्रतिपाद्य तस्यैव सामत्वं साधयति—एष इत्यादिना । 'तदेव स्पष्टयति—

मन्त्रो मे जो वाक् की एकता बृहती और ब्रह्म से दिखाई गई है, उसका ऋक्स्वरूप और यजु स्वरूप  
होना उचित ही है । परिशेष रह जाने से भी यह बात सिद्ध होती है । साम के प्रतिपादन कर देने के  
बाद ऋक् और यजुप् ही अवशेष रहते हैं । बृहती और ब्रह्म के एकतापरक ऋक् और यजुप् वाक्-  
विशेष ही है । इसलिए वाक्विशेषार्थक बृहती और ब्रह्म का वाक्सामान्यार्थक वाक्शब्द के साथ  
एकाधिकरण होना युक्त ही है, इसके अतिरिक्त अविशेष वा प्रसङ्ग होने लगेगा, साम और उद्गीथ शब्द  
वाक् के उपसर्जन प्राणरूप विशेष अर्थ के वाचक हैं, ऐसा स्पष्ट है । इसी प्रकार बृहती और ब्रह्म का

- १ वाग्विशेषार्थकबृहतीब्रह्मणो । २ वाचिनि—वाक् सामान्यर्थकवाक्यशब्देनत्वर्थ । ३ युक्तेति—सामा-  
न्यविशेषयो सामानाधिकरण्यात् नोनो षट् इत्यादी प्रसिद्धत्वादन्यार्थत्वं तथा वाग्वं बृहती वाग्वं ब्रह्मेति' श्रुता  
समानाधिकरणताऽनुपपन्ना स्यादिति भावः । ४ स्पष्टं विशेषाभिधानत्वम्—सामादोषशब्दयोर्वाप्युपसर्जनप्राण-  
रूपो यो विशेषोऽस्तद्व्यापकत्वमित्यर्थः । ५ तमेति—वाग्वं सा अम एष' सा चामश्चेति तत्तास्मान्नः प्राणो वा उक्त्  
वाग्वेव गीया उच्च गीया चेति स उद्गीथ इति सामोद्गीथवाग्विशेषाभिधानत्वं स्पष्टम् । तथा बृहतीब्रह्मशब्दयो-  
'वाग्वं बृहती' 'वाग्वं ब्रह्मेति' विशेषाभिधानत्वम् तच्च तयोर्वेदत्वे एव सम्भवति अन्यथा तयोर्वाक्यपर्यायत्वे  
'विशेषाभिधानस्यानर्थक्यप्रसङ्गादिति भावः । ६ दर्शनादिति—बृहतीब्रह्मशब्दाभ्यामुप्यजुषोर्ग्रहणमिति शेषः । ७  
वत् । ८ तत्रैवेति—बृहतीब्रह्मणो ऋग्यजुर्विषयत्वं इत्यर्थः । ९ स्थानमिति—स्थानास्य भीमासप्रसिद्ध-  
प्रमाणम् । स्थान च पाठक्रम एव । १० वाचोऽसितस्त्रीनिङ्गशब्दवाच्यवस्तुरूपत्वमेव ।

केन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिलोकैः समोऽनेन

सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यं सलो-

कतां य एवमेतत्साम वेद ॥२२॥

के समान है । यह त्रिलोकी के समान है । (निबहुना) यह सभी के समान है, इसलिये तो यह साम है । जो इस साम को इस प्रकार जानता है, वह साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है ॥२२॥

सर्वस्त्रीशब्दाभिधेयवस्तुविषयो हि सर्वनामसाशब्दः । तथाऽम एष प्राणः सर्वपुंशब्दाभिधेयवस्तुविषयोऽमःशब्दः । “केन मे पौंसानि नामान्याप्नोयीति प्राणेनेति ब्रूयात्वेन मे

सर्वेति । साशब्दो हि सर्वनाम तथाच यः स्त्रीलिङ्गः सर्वः शब्दस्तेनाभिधेयं वस्तु वागित्यर्थः । अमः प्राण इत्युक्तमुपपादयति—सर्वपुंशब्देति । पुंलिङ्गेन सर्वेण शब्देनाभिधेयं वस्तु प्राण इत्यर्थः । तत्र श्रुत्यन्तरं

भी विशेष अर्थ का वाचक होना युक्तिसंगत ही है, अन्यथा विशेष अर्थ का निर्धारण न होने से उनकी निरर्थकता सिद्ध हो जायगी । यदि उन्हें विशेष अर्थ का वाचक वाक् मान ही दिखाया जाय तो (“वाक् ही बृहती है”, “वाक् ही ब्रह्म है”) इन दोनों स्थानों में पुनरुक्ति-प्रसङ्ग हो जायगा । तथा ऋक्, यजुष्, साम, उद्गीथ—इन शब्दों का श्रुतिमें मे ऐसा क्रम देखा जाने से बृहती और ब्रह्म शब्द से ऋक् और यजुष् का ग्रहण करना चाहिए ॥२१॥

यही साम है । किस प्रकार ? इस पर कहते हैं—वह वाक् ही है । जो कुछ भी स्त्रीशब्द अभिधेय है, वह वाक् है । ‘ता’ (वह) यह सर्वनामसङ्ग शब्द समस्त स्त्रीशब्द की वाच्य वस्तुओं का विषय है । इस प्रकार ‘अम’ यह प्राण है । ‘अम’ शब्द समस्त पुंलिङ्ग शब्द की अभिधेय वस्तुओं का विषय है । एक दूसरी कौपीतिक धृति यही दिखाते हुए कहती है—“मेरे पुंलिङ्ग नाम उपासक किस करण से प्राप्त करता है, (ऐसा पूछा जाने पर) उपासक कहे—कि पञ्चवृत्त्यात्मकप्राण से प्राप्त करता है । (पुन पूछे जाने पर कि) मेरे स्त्रीलिङ्ग नाम किस करण से प्राप्त करता है ?—उपासक कहे—प्राणनिष्पादिका, वर्णाभिव्यक्ति मे हेतुभूता वाक् से प्राप्त करता है ।” यह सामशब्द

१ प्राणवाच्यममशब्द । २ सलोकतामित्यस्य स्थाने सलौकिकमित्येव पाठो भाष्यानुसारी । ३ स्वात्मन सर्वात्मन्येव बुबोधनमुपासक ब्रह्मा ब्रूत—केनेति । मे अम ब्रह्मण सर्वस्मिन् पौंसानि पुंलिङ्गनामानि केन वरणभूतेन रूपेण वापासकः आप्नोयि प्राप्नोति इति । एवमृष्टे प्राणेन पञ्चवृत्त्यात्मकेन साषिर्देवित्वेन इति ब्रूयादुपासक प्रत्युत्तरयेदित्यर्थः । पुनर्ब्रह्मा पृच्छति केनत्यादि पूर्ववत् । अमोत्तरवाक्ये वाचेति प्राणनिष्पादिका वर्णाभिव्यक्ति—हेतुभूतमेत्यर्थः । तृतीयप्रश्नोत्तरे मनमेति साषिर्देवित्वान्त करणेत्यर्थः । अत्र सचपि नाममानावाप्तौ वरण वाङ् न तु स्त्री नामाप्तामेव प्राणश्च जीवन्मन्तरेण न कुत्रापि करण मनश्च सर्वापत्तिविघातारण वरण न तु नपुसव नामाप्तामेव तथापि स्त्रीपुमव्यक्तिवत् ऋतित्वेव नपुमकव्यवर्त्तेत्युक्तकरण प्रत्ययोदयो भवति । ततोऽस्ति तदधिगमे मनोऽधिवर्गे व्यापार इत्यभिप्रेत्येतत् मनसा नपुसवातीति प्राणस्य च वाक्सहकारित्वात् नामाप्तौ वरणत्वम् पुंस्त्वाच्च तस्य पुत्राप्ताप्ली स्त्रीत्वाच्च वाच स्त्रीनामाप्ताविति विभागो न विरट इत्यप्यन विस्तार । अत्र च प्राणाद्यात्मना नामाप्तिर्नाम तत्तत्रायाभिधेयत्वेव तच्च प्राणादेरभिधेयवृत्तायामेवोपपद्यत इति । ४ अमसाशब्दमित्यस्य प्राणत्वम् । ५ स्पष्टयति । ६ तत्रेति—सर्वपुंशब्दाभिधेय प्राण सर्वस्त्रीशब्दाभिधेय च वागित्येत्यर्थः । तत्रेति—वाक्प्राणवाचकौ डा अमपञ्चादित्येत्येति वाचं ।



स्त्रीनामानोति 'वाचा' इति श्रुत्यन्तरात्<sup>१</sup>। वाक्प्राणा<sup>२</sup>निधानभूतोऽयं<sup>३</sup> सामशब्दः । तथा प्राणनिर्वर्त्यस्वरादिसमुदायमात्रं गीतिः सामशब्देनानिधीयते । श्रुतो न प्राणवाग्व्यतिरेकेण सामनामास्ति किञ्चित्स्वरवर्णदिश्र प्राणनिर्वर्त्यत्वात्प्राणतन्त्रत्वाच्च । एष उ एव प्राणः साम यस्मात्साम सामेति वाक्प्राणात्मकं सा चामश्चेति<sup>४</sup> तत्तस्मात्साम्नो गीतिरूपस्य स्वरादिसमुदायस्य सामत्वं तत्प्रगीतं<sup>५</sup> भुवि ।

यद्वा एव समस्तुत्यः<sup>६</sup> सर्वेण<sup>७</sup> वक्ष्यमाणेन प्रकारेण<sup>८</sup> तस्माद्वा<sup>९</sup> सामेत्यनेन

प्रमाणपति—केनेति । आचार्यस्य शिष्यं प्रत्येतद्वाक्यम् । पौस्तानि पुंसो वाचकानि । 'तथाऽपि कस्य 'सामशब्दवाच्यरश्मिर्वाङ्माहूय फलितमाह—वागिति । 'वागुपसर्जनः प्राणः सामशब्दाभिधेय एकवचननिर्देशादित्यर्थः । ननु 'गीतिषु सामाख्येति ग्यायाद्विशिष्टा काचिद्'गीतिः सामेत्युच्यते तत्कुतो वागुपसर्जनस्य प्राणस्य सामत्वमत आह—तथेति । प्राणस्य सामत्वे सतीति यावत् । प्रगीते मन्त्रवाक्ये सामशब्दस्य वृद्धेरिष्टावस्ति प्राणादिव्यतिरेकेण सामेत्याङ्गुष्ठाऽह—स्वरेति । आदिपदेन पदवाक्यादिप्रहः । 'वागुपसर्जने प्राणे मुख्यः सामशब्दस्तत्संबन्धादितरत्र' गौणो मञ्जादिशब्दवित्यर्थः । 'उक्तेऽयं तत्साम्नः सामत्वमिति वाक्यं योजयति—यस्मादिति । इदं सामेदं सामेति यद्व्यवहिते तद्वाक्प्राणात्मकमेधीक्यते सा चामश्चेति 'श्रुत्यन्तरेणस्मादेव तस्मात्प्रसिद्धस्य साम्नो यत्सामत्वं तन्मुरयसामनिर्धार्यत्वाद्वागौणमेव सर्वध्येतुम्वहारे प्रसिद्धमिति योजना ।

प्रकारान्तरेण प्राणस्य सामत्वमुपासनायंमुपन्यस्यति—यदित्यादिना । प्रकारान्तरद्योती

वाक् श्रौर प्राण उभय का अभिधानभूत है । तथा प्राण से निष्पन्न स्वरादिसमुदाय साम शब्द से कहा जाता है । यत् 'प्रसिद्ध सामत्व के प्राणाधीन होने से' प्राणरूप वाक् से भिन्न साम नाम की कोई वस्तु नहीं है । स्वर श्रौर वर्णादि प्राण से निष्पन्न होते हैं, एव प्राण के आधीन हैं । इसलिए यह प्राण ही साम है । "सा श्रौर अम" इस विग्रहरूप व्युत्पत्ति में "साम साम"—इस प्रकार कहा जाने वाला शब्द वाक् श्रौर प्राणस्वरूप ही है । इस कारण से गीतिरूप-साम-संज्ञक स्वरादिसमुदाय का सामत्व होना लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है ।

अथवा वह वदयमाण प्रकार से प्राण सबके "सम" अर्थात् तुल्य है । इसलिए "उ" शब्दार्थक "वा" वा "साम" इस वाक्य से सम्बन्ध है । प्राण के सामशब्द लाभ के निमित्तवाली प्रकाश-

१. नेन मे ननुमकानीति मनसैवेत्येव ब्रूवादिति श्रुतिशेषो द्रष्टव्यः । २. उभयेतरत्वं । ३. ममस्म । ४. प्रसिद्धसाम्न सामत्वस्य प्राणाधीनत्वादित्यर्थः । ५. व्युत्पत्तेः । ६. व्यवहारभूमी । ७. प्राण इति शेषः । ८. उपादयोऽयं वेति । ९. तथापीति—व्यस्तयो सामशब्दयोः वाक्प्राणवाच्यरश्मेऽतीत्यर्थः । १०. सामधर्मेति—यमस्तमामशब्देत्यर्थः । ११. ननु वाक्प्राणयो सामत्वे नच सामेत्येववचनमर्थभेदादित्याङ्गुष्ठा तथागुणप्रधानभाव एव एकवचनकरणे चारणमित्यभिप्रेत्याह—वागिति । १२. जं २०।२१।३६ । १३. गानम् । १४. ननु तथा प्राणेत्यादिभाष्येण सामन्यव्यस्य शब्दार्थैर्मकार्यद्वयमुक्तं न चैवस्य शब्दस्यैवाधेत्वे सम्भवति अनेकार्थत्वं न्याय्यमित्याङ्गुष्ठाह—वागुपसर्जन इति । सामशब्दस्य मुख्यार्थं भेदाभावात् अर्थान्तरस्य गीतत्वात् मञ्जादिशब्देऽपि गौणमुख्यार्थभेदस्य दृष्टत्वात् नात्र निविदवचमिति भावः । १५. मन्त्रादौ । १६. मञ्जाः क्रोशन्तीत्यादौ । १७. उक्तेऽयं इति—वागुपसर्जने प्राणे घात सामशब्दस्तत् सम्बन्धादितरत्र गौण दत्तुनतेऽयं इत्यर्थः । १८. एवमिति—वागुपसर्जनप्राणे मुख्य सामशब्द इत्यर्थः ।

संबन्धः । वाशब्दः 'सामशब्दलामनिमित्तप्रकारान्तरनिर्देश'सामर्थ्यात्सम्यः । केन पुनः प्रकारेण प्राणस्य 'तुल्यत्वमित्युच्यते—समः 'प्लुषिणा' पुत्तिकाशरीरेण समो मशकेन मशकशरीरेण समो नागेन हस्तिशरीरेण सम एमिस्त्रिमिलो'कैत्रलोवयशरीरेण 'प्राजापत्येन समोजनेन' जगद्रूपेण 'हैरण्यगर्भेण' पुत्तिकादिशरीरेषु गोत्वादिवत्कात्स्न्येन 'परिसमाप्त इति' समत्व प्राप्तस्य । न पुनः शरीरमात्रपरिमाणेनैवामूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्च । न च घटप्रासादादिप्रदीपवत्सङ्कोचविकासितया शरीरेषु 'तावन्मात्र समत्वम् । "त एते सर्व एव

वाशब्दोऽत्र न श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह—वाशब्द इति । "निमित्तान्तरमेव प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—केनेत्यादिना । ननु प्राणस्य तत्तच्छरीरपरिमाणत्वे परिच्छिन्नत्वाद्वा "नन्यानुपपत्तितत्कथमस्य विभेदेषु शरीरेषु समत्वमिष्याशङ्क्याऽऽह—पुत्तिकादौति । समशब्दस्य "यथाश्रुतायंत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न पुनरिति । "आधिदैविकेन रूपेणामूर्तत्वं सर्वगतत्वं च द्रष्टव्यम् । ननु प्रदीपो घटे सङ्कुषति प्रासादे च विकसति तथा प्राणोऽपि मशकादिशरीरेषु सकोचमभाविद्देशेषु विकास चाऽऽपद्यतामिति "समत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । प्राणस्य सर्वगतत्वे समत्ववृत्तिविरोधमाशङ्क्याऽऽह—

न्तरद्योतक सामर्थ्य से 'वा' शब्द का अवगण होता है । अच्छा तो प्राणा की तुल्यता प्रयात् उनका सर्व-समत्व किस प्रकार से है ? अब इसका प्रतिपादन करते हैं—यह प्राण 'प्लुषिणा' अर्थात् अतिसूक्ष्म शरीररूपा पुत्तिका के सदृश, 'मशकेन' अर्थात् मच्छर के शरीर के सदृश, 'नागेन' अर्थात् हाथी के शरीर के सदृश है । इन 'त्रिमिलो'क' अर्थात् प्रजापति के त्रैलोक्यात्मक विराट्शरीर के समान है । इस सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हैरण्यगर्भ के समान है । जिस प्रकार गोशरीर में सर्वावयव अवच्छेदरूप से गोत्व व्याप्त है, उसी प्रकार वह पुत्तिकादि शरीरों में व्याप्त है, इस कारण से उनके समान प्राण है । शरीरमात्र-परिमाण के कारण समान नहीं, क्योंकि यह अमूर्त और सर्वगत है । घट में सङ्कोच को प्राप्त होने

१ प्राणस्य सामशब्दलाभेत्यर्थः । २ उनिपातस्य प्रकारांतरावबोधेत्यर्थः सत्त्वादिदं चाद्यांतरमनङ्गुतमित्य-  
क्ते यदवेति वाक्यतात्पर्यामाहुर्वातिवाचायां — नि शेषभूतसाम्याद्वा सामप्राणोभिधीयत । प्रत्यग्ज्ञानहेतुत्वात्-  
जज्ञ्याऽऽनृत्यमुच्यते ॥३०५॥ इति । तत्समत्वेन प्राणस्यानन्त्यमयुक्तं सर्वं ज्ञानमनन्तमित्यादिभूतब्रह्मण एवा-  
जन्तारवाग्रहि द्रष्टोरानन्त्यं भुक्ष्यमित्याशङ्क्याह—अत्यगिति । अज्ञानजस्य प्राणस्याऽऽनन्त्यमापेक्षिकम् धनि-  
षद्धमस्यापि सज्ज-यत्वात्प्राणोपपत्तिरित्यर्थः । अस्मिन्पक्षे उनिपातो विवक्ष्यते सप्रान्त्यावद्योतीत्यावसनीयम् ।  
३ सत्वसमत्वम् । ४ प्लुषिणोऽति सूक्ष्मशरीरं हि पुत्तिका प्लुषिच्यते । पुत्तिकादिशरीरेण सम प्राण-  
स्तदाश्रयात् ॥३०५॥ इति वातिने । तदाश्रयादिति—तत्र तत्र देहं समाप्यवृत्तित्वम् । पुत्तिका पातिसूक्ष्मतम-  
मगकभेदः । ५ त्रैलोक्यात्मकविराट्शरीरेणत्वम् । ६ सर्वेण । ७ हैरण्यगर्भेण—ननु प्राणो नाम सूक्ता-  
त्मा तस्य तेनैव साम्यं कथमित्याशङ्क्य समग्रहितं वातिने—तथा हैरण्यगर्भेण लिङ्गात्मा सम एव तु इति ॥३०६॥  
त्रिधाशक्तितो ज्ञानशक्तिमत्ता साम्यमिति भावः । उभयवत्तत्वात्मा हि स इति । ८ सर्वावयववावच्छेदेन । ९  
व्याप्तः । १० हेतोः । ११ परिमाणमात्ररूपम् । १२ त एते इति सर्वे वागवयव सगालुस्या वन रूप-  
गेत्याकाङ्क्षामाह—सर्वजन्ता इति । आधिदैविकरूपणाशेषजगद्रूपाणि इत्यर्थः । १३ प्रकारान्तरमित्यर्थः ।  
१४ एतेन कानि कोक्तमानन्त्यमप्यभिमतमित्यभूत् । १५ तत्तच्छरीरपरिमाणत्वरूपम् । १६ नत्याप्यात्मि-  
केन जडरूपेणेत्यर्थः । १७ एकरसत्वासिद्धिरित्यर्थः ।

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीद<sup>१</sup> सर्व-  
मुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

यह प्राण ही उद्गीथ है, प्राण ही "उत्" है, क्योंकि प्राण से ही यह जगत् ऊपर की ओर धारण किया हुआ है। वाक् ही "गीथा" है, वह प्राण "उत्" है और यह गीथा प्राणतन्त्रा वाक् भी है। अतः (दोनों का एक शब्द से कथन होने के कारण) उद्गीथ है ॥२३॥

समाः सर्वेऽनन्ताः<sup>१</sup> " इति श्रुतेः । सर्वगतस्य तु शरीरेषु शरीरपरिमाणवृत्तिलाभो न विरुध्यते । एवं समत्वात्सामाख्यं प्राणं वेद यः श्रुतिप्रकाशितमहत्त्वं तस्यैतत्फलमश्नुते व्याप्नोति साम्नः प्राणस्य सायुज्यं सयुग्भावं समानदेहेन्द्रियाभिमानत्वं सालोच्यं समान-लोकतां वा भावनाविशेषतो य एवमेतद्यथोक्तं साम प्राणं वेद । आ प्राणात्सामिमाना-निध्यवतेरुपास्त इत्यर्थः ॥२२॥

'एष उ वा उद्गीथः । उद्गीथो नाम सामाख्यस्य भक्तिविशेषो नोद्गानम् । सामा-

सर्वगतस्येति । 'क्षण्ण्णदिषु गोत्ववच्छरीरेषु सर्वत्र स्थितस्य प्राणस्य तत्तच्छरीरपरिमाणाया बुद्धेर्लाभः संभवति सर्वगतस्यैव नभसस्तत्र तत्र कूपकुम्भाद्यवच्छेदोपलम्भादित्यर्थः । फलभूतिमवतार्य व्याकरोति—एवमिति । फलविकल्पे हेतुमाह—भावेनेति । वेदनं व्याकरोति—आ प्राणेति । 'इवं च फलं मध्यप्रदीपमायेनोभयतः संबद्धमवधयम् ॥२२॥

'प्रस्तावादिशब्दबुद्ध्युद्गीथशब्दस्यापि भक्तिविशेषे ब्रह्मत्वाद्बुद्ध्युद्गीथेनात्ययामेत्यत्र षोडशाग्रे 'कर्मणि प्रयुक्तत्वात्कथमुद्गीथः प्राण इत्याशङ्क्याऽह—उद्गीथो नामेति । नञ्पदस्योभयतः संबन्धः ।

वाले एव महान् मे विक्रम को प्राप्त होने वाले प्रदीप के समान शरीरो मे भी उतने परिमाणमात्ररूप वाला होने से इसका समत्व नहीं है । श्रुति से यही अभिलक्षित होता है—“वे ये वागादि सभी तुल्य हैं, क्योंकि आधिदैविकरूप से अयोध-जगद्भ्यापी है” सर्वगत प्राण का प्रत्येक शरीरो मे शरीर के परिमाणानुसार स्वरूपलाभ करने मे कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार समत्व होने से श्रुति द्वारा प्रमाणित महत्त्व वाले सामनामक प्राण को जो पुरुष जानता है, उसे वह फल मिलता है, वह सामनामक प्राण वा 'सायुज्यम्' अर्थात् सम्मिलनभाव या उसके साथ समान देह और इन्द्रियादि वा अभिमानत्व प्राप्त करता है, तथा उपास्ति ब्रह्मक्षय से सालोच्य अर्थात् समानलोकता को प्राप्त करता है, जो इस प्रकार इस यथोक्त सामरूप प्राण को जानता है, अर्थात् प्राणात्म-अभिमान उदय होने पर्यन्त उसकी उपासना करता है ॥२२॥

'यह (प्रकरणस्य प्राण) ही उद्गीथ है' । साम अवयवरूप भक्तिविशेष का नाम 'उद्गीथ' है, उद्गीथ से उद्गान अर्थ नहीं समझना, क्योंकि यहाँ सामशब्दित प्राण का ही प्रकरण चल रहा है ।

१. ५०७० १.५.१३ । २ उपास्तिर्वनसंख्यात् । ३. प्रहृतः प्राण । ४. व्यतिषु । ५ स्वरूपस्य । ६. एतस्य सायुज्यादे प्रपानपन्नत्वाद्यमपि विविष्टनिर्विरेत्यभिप्रेत्याह—इद चेति । ७. आदिना छान्दोग्योक्ता हिद्वापदयो आह्ला. : ८ उद्गाने ।

धिकारात् । कथमुद्गीथः प्राणः । 'प्राणो वा उत्प्राणेन हि यस्मादिदं सर्वं जगदुत्तन्धमूर्ध्वं  
स्तद्व्यमुत्तन्धितं विधृतमित्यर्थः । उत्तन्धार्थविद्योतकोऽयमुच्छब्दः 'प्राणगुणामिधायकः ।  
'तस्मादुत्प्राणो वागेव गीथा शब्दविशेषत्वाद्' उद्गीथमन्तेः । 'गायतेः शब्दार्थत्वात्सा वागेव ।  
न ह्युद्गीथमन्तेः शब्दव्यतिरेकेण किञ्चिद्रूपमुपलभ्यते' 'तस्माद्युक्तमवधारणं वागेव  
गीथेति । उच्च प्राणो गीथा च प्राणतन्त्रा वागित्युभयभेदेन शब्देनाभिधीयते स  
उद्गीथः ॥२३॥ उक्तार्थवादार्थायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते—

सामशब्दितस्य प्राणस्य प्रकृत्यादिनि हेतुमाह—सामाधिकारादिति । न तावदुद्गीथशब्दस्य प्राणो  
रुदितस्य तस्मिन्वृद्धप्रयोगावशंलाभाय योगोऽयमवधृते' 'रुष्टेरिति शङ्कते—कथमिति । योगवृत्तिमुपेत्य  
परिहरति—प्राण इति । उच्छब्दो नास्वार्थस्य वाचको निपातत्वादित्याशङ्क्याऽह—उत्तन्धेति ।  
तथाऽपि कथं प्राणो वा उदित्युक्तं तत्राऽह—प्राणेति । "वायुर्वै गौनम तत्पुत्रम्" इत्यादि' 'श्रुतेरित्यर्थः ।  
'उद्गीथमन्तेः शब्दविशेषत्वेऽपि गीथा वागिति कथमुच्यते तत्राऽह—गायतेरिति । अथावधारणं  
साधयति—न हीति । "तथाऽपि कथं प्राणस्योद्गीथत्वमित्याशङ्क्या वायुवसर्जनस्य तस्य तथाप्य  
कथयति—उच्चेति ॥२३॥

प्राण उद्गीथः किस प्रकार से है ? 'प्राणो वा उत्' अर्थात् प्राण ही उत् है, प्राण के द्वारा ही यह सम्पूर्ण  
जगत् विधृत है, ऊपर की ओर निष्प्रेष्ट है, उत्तन्धित है, धारण किया हुआ है । (निपात के अनेका-  
र्थक होने से) यह 'उत्' शब्द उत्तन्ध अर्थ वा छातन करता है, 'उत्' शब्द उत्तन्धनरूप प्राण के गुण  
का बोधक है । (प्राण के सर्वजगत्-विधारक होने से) प्राण उत् है । (प्राण 'उत्' है, वहाँ गीथा शब्द  
का अभाव है तो उद्गीथ की सिद्धि कैसे हुई ?) वाक् ही गीथा है, क्योंकि उद्गीथमन्ति के शब्द-  
विशेष होने के कारण वह उद्गीथ भवित है । 'जिमसे गाया जाय' इस व्युत्पत्ति के द्वारा गीथा शब्द  
वा अर्थ वाक् ही है । उद्भवित के रूप की शब्द में भिन्न कोई उत्प्रेक्षा प्रस्तुत नहीं की जा सकती ।  
इसलिए वाक् ही गीथा है, ऐसा निश्चय करना ही ठीक है । उत् प्राण है, और गीथा प्राण के आधीन

- १ प्राणो वा उदिति । तदुक्तं वार्तिके—“उपपन्न उदितस्य न चात्यन्तक्रियाधित । सद्योऽयं क्रियायाऽस्तस्य व्याचष्टे  
श्रुतिरज्ज्वरम्” ॥२३१॥ अत्यन्तक्रियाधित इति—उत्प्रेष्टक्रियावाचक इत्यर्थः । उत्कथवाचक इति यावत् । तद्वि-  
यमा सद्योऽयं उत्कर्षवाचकस्य तस्य मनसि कृत्वा सर्वोत्तन्धनस्य तस्य ब्रूत इत्यर्थः । अज्जना साक्षात् ॥ २
- सर्वं जगदुत्तन्धयामिति । अत्र वार्तिकम्—“उत्तन्धं विधृतं यस्मात् प्राणन जगदित्यवरम् । उत्प्राणोऽनं प्रतिष्ठन्तु  
गुणादुद्गीथ उच्यते ॥” २३१॥ प्रतिष्ठ-मायभक्तिविशेषः । गुणात्-आरोपात् । प्राणनिर्वर्त्यत्वरिति भावः ।
- ३ निपातानामनेनाभेदात् । ४ उत्तन्धनं प्राणगुणः । ५ तस्मादिति—प्राणस्य सर्वजगद्विधारकत्वादित्यर्थः ।
- ६ प्राणस्योच्छ्रद्धत्वाऽपि गीथशब्दत्वाभावात् न यमुद्गीथतयासाक्षाद् गीथशब्दायमाह—वागिति । ७ उद्गी-  
थमन्तरिति—उद्गीथमन्ते शब्दविशेषत्वात् सा उद्गीथमन्ति गीथेऽन्येति व्युत्पत्तिं गीथशब्दार्थो वागेत्येव ।
- ८ गायतेरिति गीथतज्जनयित्व्युत्पत्तिं गीथा वागित्यर्थः । ९ उपपन्नम् इति—नहि तद्वत्तत्प्रेक्षाप्रदानरूपत्वम्  
वागतिरिति चोपपन्नत्व इति शेषः । १० तस्मादिति—तस्मात्तेऽपि प्राणरूपत्वस्य बाधेन सत्त्वादिपथः ।
- ११ ॥ उद्गीथ इति—उद्गीथशब्दितप्राणनिर्वर्त्यतयोपचाराद्भूतेस्त्वत्त्वसंभवे न तत्रापि शक्तिं कस्या गौरवा-  
दिति भावः । १२ अप्रतीतः । १३ बृ०उ० ३७२ । १४ इयं हि वायो मूलत्वं दृग्वाया सर्वात्तन्धन  
तरत्तुं क दूते मूलस्योदयनतामप्यर्थात् । १५ उताभिप्रायमज्ञानं वाङ्मते-उद्गीथमन्तरिति । १६ तथा-  
पीति—प्राणस्यावच्छादित्वेऽपि वाचकं गीथाऽन्वार्थोऽपीत्यर्थः ।

तद्वापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं  
त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽस्यास्य

उक्त विषय मे यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम का भक्षण करते हुये कहा—“यदि अयास्य ओर आङ्गिरस नामक प्राण ने वारम्भयुक्त-प्राण से भिन्न

तद्वापि तत्तत्रैतस्मिन्नुवतेऽर्थे हाप्यास्यायिकाऽपि श्रूयते ह स्म । ब्रह्मदत्तो नामतः ।  
चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा चैकितानेयो राजानं यज्ञे सोमं भक्षयन्नुवाच  
किमयं चमसस्यो मया भक्षयमाणो राजा त्यस्य तस्य भगवानुतवादिनो मूर्धानं शिरो  
विपातयताद्विस्पष्ट पातयतु । तोरयं तातडादेश आशिषि लोड्विपातयतादिति । यद्यहम्-

तद्वापीवादिवाक्यस्य 'प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्याऽह—उक्तार्थेति । उद्गीथदेवता प्राणो न  
'वागादिरित्युक्तार्थः । 'जोवति तु वश्ये युवा' (पा० सू० ४।१।१६३) इति स्मरणात्प्रादी वश्ये जीवति  
पौत्रप्रभृतेर्यस्य तद्युवसज्जकमिति द्रष्टव्यम् । क्रियापदन्यत्पत्तिप्रकार सूचयति—तोरिति । तुप्रत्यय-  
स्यापमाशिषि विषये तातडादेश 'तुहोस्तातडाशिष्यन्तरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति स्मरणादि-  
त्यर्थः । मूर्धं पातप्रापक दर्शयति—यदीति । अनृतवादित्वस्य प्रापकाभावादप्राप्तिरिति शङ्कते—यय  
पुनरिति । उद्गीतानस्य 'बुद्ध्यादिसन्निधानात्तद्देवता प्राजापत्यादिलक्षणा किं तस्मिन् देवता किं वा वरा-  
स्वरा'दिसन्निधानात्तद्देवतैव तत्र देवतेति 'विप्रतिपत्तिरनृतवादित्वे शङ्किते ब्रह्मदत्त आपथेन निर्णयं  
चकारेत्याह—उच्यते इति । प्राणाद्वाक्स्युक्तादन्येनायास्यो यद्युदगापयति सवन्धः । नन्वयास्याङ्गिर-

वाक् है शाना का जब एव शब्द से कहा जाता है तो वह "उद्गीथ" शब्द होता है ॥२३॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए आख्यायिका का आरम्भ करते हैं—'तद्वापि'—अर्थात् इस  
उपर्युक्त विषय में यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। 'ब्रह्मदत्त' अर्थात् ब्रह्मदत्त नाम का। चिकितान  
का अपत्य चैकितान उसकी युवा सन्तान चैकितानेय कहलाती है, यज्ञ में 'राजानम्' अर्थात् सोम को  
भक्षण करते हुए बोला—मेरे द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह सोम 'त्यस्य' उस मुक्त मिथ्यावादी के  
'मूर्धानम्' अर्थात् शिर को 'विपातयतात्' अर्थात् बिल्कुल गिरा दे। 'विपातयतात्' शब्द कैसे सिद्ध  
हुआ? आर्शावाद् अर्थ में लोट लकार में 'तु' प्रत्यय को (तुहोस्तातडाशिष्यन्तरस्याम् सूत्र से)  
तानङ् आदेश होकर 'विपातयतात्' शब्द की निष्पत्ति हुई। यदि मैं मिथ्यावादी होऊँ तो शिर पात  
हो—यह अर्थ है। परन्तु अनृतवादित्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?—इस पर कहते हैं। 'यत्'

- १ विश्ववृक्षामुषीणा सत्र । सत्र नाम यज्ञ ऋत्विज एव यजमाना स्वयभूत्वा विचार्यादि कुर्वन्त । २ उद्गीथ-  
देवताया प्राण प्रहृन्नुपकाररत्त्वम् । ३ पूर्वं प्राणसंवादे उक्तः । ४ बुद्ध्यादीति—अबुद्धदपानानुत्पत्तेरदगा-  
नस्य बुद्ध्यादिसन्निधानम् । आदिपदन चायादिप्राप्त्यम् वायादीनां चादगानसंघर्षत्वेन न उदगापयति स्पष्ट एवोक्तः ।
- ५ प्राजापत्यादीति—प्राजापतिश्चतुर्मुखः तस्यापत्यानि बृहस्पत्यादयः प्राजापत्या बुद्धिदेवता बृहस्पतिः ॥ ६  
आदिना पदवाक्यस्यानानि कठादि च स्थानम् । ७ विप्रतिपत्तिरिति—ब्रह्मदत्तोदगाप्ये यज्ञे समागतानामुषीणा-  
मुद्गीथदेवतानिश्चयाभावात्तामुद्दिष्योक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरासीत् । उक्त परस्परस्मिन् अनृतवादित्वे सै शङ्किते  
सति विद्वदणो ब्रह्मदत्त उद्गाता सर्वराजन्यमत्वात् साक्षीवृत्तः स आपथद्वारेण देवतानिर्णयं चकारेत्यर्थः ।

## आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२४॥

देवता द्वारा उद्गान किया हो, तो (मैं भिष्यावादी ठहूँगा, ऐसे विपरीत ज्ञानवाला) मेरा शिर यह सोम देवता गिरा देंगे" । अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है ॥२४॥

नृतवादी स्यामित्यर्थः । कथं पुनरनृतवाचित्वप्राप्तिरिति । उच्यते—यद्यदीतोऽस्मात्प्रकृता-  
त्प्राणाद्वाक्संयुक्तावयास्यो मुख्यप्राणामिधायकेनाप्यास्याङ्गिरसशब्देनाभिधीयते 'विश्वसृजां  
पूर्वर्षीणां सत्र उद्गाता सोऽन्येन देवतान्तरेण वाक्प्राणव्यतिरिक्तेनोदगायदुद्गानं कृतवान् ।  
'ततोऽहमनृतवादी स्यां तस्य मम देवताविपरीतप्रतिपत्तुर्भूतं विपातयत्स्वित्येवं शपथं  
चकारेति विज्ञाने प्रत्ययवाच्यकृतं व्यतं दर्शयति । तन्मिममाख्यायिकानिर्धारितमर्थं स्वेन  
वचसोपसंहरति श्रुतिः—वाचा च प्राणप्रधानया प्राणेन च स्वस्याऽऽत्मभूतेन सोऽप्यास्य

सशब्दवाच्यो मुख्यप्राणो देवतात्वाप्रोद्गाता भवितुमुत्सहते तत्राऽऽह—मुख्येति । उक्तायं वाच्यार्थे 'स्युक्त-  
मुपसंहरति—इति विज्ञान इति । उत्तरीत्या शपथक्रियया प्राण एवोद्गीथदेवतेत्यस्मिन्विज्ञाने प्रत्ययो  
विश्वासस्तस्य यद्वाच्यं तस्य कर्तव्यतामाख्यायिकया दर्शयति श्रुतिरिति यावत् । आख्यायिकार्थस्यैव  
वाचेत्यादिनोक्तेः पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तन्मिममिति । 'शपथस्य स्वातन्त्र्येणाप्रामाण्येऽपि श्रुति-  
मूलतया प्रामाण्यं सिध्यतीति भावः ॥२४॥

अर्थात् जो 'इत' अर्थात् इस प्रकृत वाक्संयुक्त प्राण से 'अप्यास्य' अर्थात् मुख्य प्राण का अभिधायक  
अप्यास्य आङ्गिरस शब्द से कहा जाता है, इस नाम वाला वह अप्यास्य-आङ्गिरस विश्वसृज नामक पूर्व  
ऋषियो के यज्ञ मे उद्गाता था । उरने 'अन्येन' अर्थात् वाक् प्राण से भिन्न किसी दूसरे देवता द्वारा  
'उद्गायत' 'अर्थात् उद्गान किया हो, तो मैं अनृतवादी होऊँ । ऐसे मुझ देवतासम्बन्धी विपरीतज्ञान  
धारण करने वाले का मस्तक गिरा दे । इस प्रकार जो उस (ब्रह्मदत्त) ने कसम खायी, वह ('प्राण ही  
उद्गीथ देवता है') इस विज्ञान मे विश्वास दृढ करने के लिए है—यह स्पष्ट होता है । आख्यायिका  
द्वारा निर्णीत इस अर्थ का (स्वतन्त्ररूप से आख्यायिकागत उक्त शपथ अप्रामाण्य है, परन्तु श्रुतिमूलक  
होने के कारण प्रामाण्य है, इसलिए) श्रुति अपनी ही वाणी द्वारा उपसंहार करती है—उस (विश्व-

१ एतप्रामकानाम् । २ य वमूष स । ३ तत इति—उद्गीथदेवतात्वेन मदभिमतप्राणादन्येन देवतातरेणा-  
यास्मिन् कौद्गानादित्यर्थ । ४ वागुपसर्जनं प्राण एव देवतोद्गीथस्येत्येतीममर्थम् । ५ सोऽप्यास्य इति—पूर्वया  
नैमिषारण्यवासिना विश्वसृजामपीणा अने (बहुयजमानके कर्मणि) य उद्गाताऽभूत् स चाप्यास्यप्राणस्यात्मत्वेनो-  
पासनात् तद्रूपस्तन्नामा सवुत् स वागुपसर्जनं प्राणमुद्गीथदेवतात्वेनोपेत्य प्राणापसर्जनंभूतया वाचोद्गानं कर्म कृत-  
वान् तस्मादोद्गानस्य प्राण एव देवतेत्येवोपार्थो विचार्य निर्धारित इति भावः । ६ इत्युक्तिमिति—इति वाक्येन  
प्रतिज्ञातमाख्यायिकार्थमित्यर्थः । ७ ननु शपथस्य स्वयमेव मानत्वापि श्रुतेरपेक्षा न हि मान मानान्तरमपेक्षत  
इत्याशङ्क्याह—शपथस्येति । तस्य हि स्मृत्याचार्योरन्यतरस्य वेदमूलत्वादेव मानत्वं स्थितं पूर्वतन्त्र इति ।  
स्मृति—ऋषिवाच्यम् ।

तद्वापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचाय  
त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽस्यास्य

उक्त विषय मे यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ मे सोम का भक्षण करते हुये कहा—“यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक प्राण ने वाक्सुयुवत-प्राण से भिन्न

तद्वापि तत्तत्रैतस्मिन्नुक्तेऽयं हाप्याख्यायिकासि ध्रूयते ह स्म । ब्रह्मदत्तो नामतः । चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा चैकितानेयो राजानं यज्ञे सोमं भक्षयन्नुवाच किमयं चमसस्यो मया भक्ष्यमाणो राजा त्यस्य तस्य ममानृतवादिनो मूर्धानं शिरो विपातयताद्विस्पष्टं पातयतु । तोरयं तातडादेश आशिपि लोड्विपातयतादिति । यद्यहम-

तद्वापीत्यादिवाक्यस्य ‘प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्याऽह—उक्तार्येति । उद्गीथदेवता प्राणो न ‘वागादिरित्युक्तार्यः । ‘जोवति तु वश्ये युवा’ (पा० सू० ४।१।१६३) इति स्मरणात्प्राची वश्ये जीवति पौत्रप्रभृतेर्देवपत्यं तद्युवसंतकर्मिति द्रष्टव्यम् । क्रियापदनित्यतिप्रकारं सूचयति—तोरिति । तुप्रत्यय-स्यायमाशिपि विषये तातडादेश. ‘तुह्योस्तातडाशिप्यन्तरस्याम्’ (पा० सू० ७।१।३५) इति स्मरणादि-त्यर्थः । मूर्धपातप्रापकं दर्शयति—यदीति । अनुनवादिस्त्वस्य प्रापकाभावादप्राप्तिरिति शङ्कते—यथ पुनरिति । उद्गीतानस्य ‘बुद्ध्यादिसंनिधानात्तद्देवता ‘प्राजापत्यादिलक्षणा किं तस्मिन्देवता किं वा वरा-स्वरा’दिसंनिधानात्तद्देवतैव सत्र देवतेति ‘विप्रतिपत्तेरनृतवादित्वे शङ्किते ब्रह्मदत्तः शपथेन निर्णयं चकारेत्याह—उच्यत इति । प्राणाद्वाक्संयुक्तादयेनायास्यो यद्युदागपदिति संबन्धः । नन्वास्याङ्गिर-

वाक् है, दोनों को जब एव शब्द से कहा जाता है तो वह “उद्गीथ” शब्द होता है ॥२३॥

उक्त अथ की पुष्टि के लिए आख्यायिका का आरम्भ करते हैं—‘तद्वापि’—अर्थात् इस उपर्युक्त विषय मे यह आख्यायिका भी सुनी जाती है । ‘ब्रह्मदत्त’ अर्थात् ब्रह्मदत्त नाम का । चिकितान का अपत्य चैकितान उसकी युवा सन्तान चैकितानेय कहलाती है, यज्ञ मे ‘राजानम्’ अर्थात् सोम को भक्षण करते हुये बोला—मेरे द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह सोम ‘त्यस्य’ उस मुक्त मिथ्यावादी के ‘मूर्धानम्’ अर्थात् शिर को “विपातयतात्” अर्थात् बिस्कुल गिरा दे । ‘विपातयतात्’ शब्द कैसे सिद्ध हुआ ? आर्शावाद अर्थ मे लोड् लकार मे ‘तु’ प्रत्यय की ‘(तुह्योस्तातडाशिप्यन्तरस्याम्’ सूत्र से) तातड् भादेश होकर ‘विपातयतात्’ शब्द की निष्पत्ति हुई । यदि मैं मिथ्यावादी होऊँ तो शिर पात हो—यह अर्थ है । परन्तु अनृतवादित्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?—इस पर कहते हैं । ‘यत्’

- १ विस्वभुवामपीणा सत्रे । सत्र नाम यत्र ऋत्विज एव यजमाना स्वयभूत्वा विचारदि कुर्वन्त । २ उद्गीथ-देवताया प्राणे प्रकृतेऽनुपकारकत्वम् । ३ पूर्वं प्राणसवादे उक्तः । ४ बुद्ध्यादीनि—अनुबुद्ध्यादीनामुत्पत्तेरुदा-गस्य बुद्ध्यादिसंनिधानम् । आदिपदेन वागादिप्राह्मं वागादीनां आदयानसबन्धस्त्वं न उद्गायेति स्पष्ट एवेति । ५ प्राजापत्यादीति—प्राजापतिवचनमुंल तस्मात्पत्यानि बृहस्पत्यादयः प्राजापत्या बुद्धिदेवता बृहस्पति ॥ ६ आदिना पदवाक्यस्थानानि कठादि च स्थानम् । ७ विप्रतिपत्तेरिति—ब्रह्मदत्तोद्गीतान्ते यज्ञे समागतानामपीणा-मुद्गीथदेवतानिस्वभावात्तामुद्गीथोक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरासीत् । तत्र परस्परस्मिन् अनृतवादित्वे तं शङ्किते मति विरुद्धप्रतीतिर्ब्रह्मदत्त उद्गीता सर्वरातनमत्वात् सासीकृतं य शपथद्वारेण देवतानिर्णयं चकारेत्यर्थः ।

तस्य हंतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति  
तस्य वं वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः  
प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु-हंक आहुः ॥२७॥

जो पुरुष उस इस साम को प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है । निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है, नि सदेह वाक् मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाय जाता है, अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है । कुछ लोग कहते हैं कि वह प्राण अन्न मे प्रतिष्ठित होकर गाय जाता है । (अत प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है, अथवा अन्न है ऐसी दृष्टि करे ।) ॥२७॥

यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम् । पूर्ववत्फलेन प्रलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषव आह—तस्य वं साम्नो वागेव । वागिति जिह्वामूलादीना स्थानानामाख्या । संव प्रतिष्ठा । 'तवाह—वाचि हि जिह्वामूलादिषु हि यस्मात्प्रतिष्ठितः सन्नेष प्राण एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक् । अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्य आहुः । इह प्रतिष्ठितोऽप्युक्तम् । अग्निन्वितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन 'प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद्वा' इवा प्रतिष्ठाऽन्नं वेति ॥२७॥

शिरःकण्ठस्तोष्ठनासिकातामूनि गृह्यन्ते । किमिच्छन्ती स्थानानि वागित्युच्यन्ते 'तत्राऽह—वाचि हीति । पश्चात्तरमाह—अत इति । 'अन्नशब्देन तत्परिणामो देहो गृह्यते । एकीयपक्षे 'युक्तिमाह—इहेति । कथं 'तर्हि प्रतिष्ठागुणस्य प्राणस्य विज्ञानं कर्तव्यमत आह—अग्निन्वितत्वादिति ॥२७॥

अयं पूर्ववत् समकृतः आहिए ॥२६॥

स्व और मुक्कं के समान दूसरा प्रतिष्ठागुण विधान करने की इच्छा से श्रुति पारती है—'जो उस, इस साम को प्रतिष्ठा को जानता है' । प्रतिष्ठा किसे कहते हैं ? क्योंकि इसमे प्रतिष्ठित होता है । कौन होता है ? वह वाक् । यही वाक् उसकी प्रतिष्ठा है । जो सामशब्दितप्राण के गुण प्रतिष्ठा को जानता है, वह लोक मे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । "उसकी जो जिस-जिस रूप से उपासना करता है, (वही हो जाता है)" इस श्रुति के प्रमाण से उसका वैसे गुणो वाचा हो जाना युक्तिसंगत है । पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के समान ही तब श्रुति कहती है, जब फल का मोखी तथा श्रोता पूछता है ? 'वह प्रतिष्ठा क्या है 'वागेव' इस पद मे वाक् यह जिह्वामूलीयादि स्थानो का नाम है । उस साम की वही प्रतिष्ठा है । इसी बात को कहते हैं । क्योंकि 'वाचि' अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानो मे प्रतिष्ठित हुआ यह प्राण 'एतद् गान गीयते' अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है । इसलिए साम की प्रतिष्ठा वाक्

१ सदाहेति—वाचा तथा गृह्य हेतुपर वाचि होत्यादिवाच्यमित्याहृत्य । २ अग्निविद्यपमेतत् । ३ प्रतिष्ठागुणकस्य प्राणस्य विज्ञानमुपामनम् । ४ विवक्ष्येव विवादयनि-वाचेति । ५ तत्राहति—वाक् सन्नेन स्थानानामुपादाने हेतुप्रदर्शक वाचीतिप्रसूतिवाक्यमित्याहृत्य । ६ ननु त्रीहाध्वन प्राणस्य न प्रतिष्ठा नहि तत्प्रतिष्ठित स दृश्यते अत आह—अन्नेति । अन्नमशित चेत्प्रेषादिप्रोक्तकमेणाप्रविहारे देहस्तत्र स्थित प्राणो गीतिरव मतो मन्त्रवत् स प्राणप्रतिष्ठोऽन्ने पशान्तरोक्तिरुच्यते । ७ युक्तिमाहेति—उत्तमुक्तिव वाच्यमाहृत्य । ८ प्राणस्य प्रतिष्ठाद्रियवत्त्वे । ९ विज्ञाननर्तव्यमिति—किं प्रतिष्ठितस्य प्राणस्य विज्ञानं कर्तव्यमिति प्रस्तायं ।



तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य  
सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं  
य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

जो उस इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है, जो इस प्रकार साम के सुवर्ण को जानता है उसे लौकिक सुवर्ण या स्वर प्राप्त होता है ॥२६॥

'अथान्यो गुणः सुवर्णवत्तालक्षणो विधीयते । असावपि सोऽस्वयमेव । एता-  
वान्विशेषः । 'पूर्वं कण्ठगतमाधुर्यमिदं' तु लाक्षणिकं सुवर्णशब्दवाच्यं, तस्य हैतस्य साम्नो  
यः सुवर्णं वेद भवति हास्य 'सुवर्णम्' । 'सुवर्णशब्दसामान्यात्स्वरसुवर्णयोः । लौकिकमेव  
'सुवर्णं गुणविज्ञानफलं भवतीत्यर्थः । तस्य वै स्वर एव सुवर्णम् । भवति हास्य सुवर्णं य  
एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेदेति पूर्ववत्सर्वम् ॥२६॥

'तथा प्रतिष्ठागुणं विधित्सन्नाह—तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद । प्रति-  
तिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा वाक्तां प्रतिष्ठां 'साम्नो गुणं यो वेद स "प्रतितिष्ठति ह । "तं

साम्नो गुणान्तरमवतारयति—अथेति । तर्हि पुनरुक्तिरस्यात्तत्राऽऽह—'एतावानिति । "लाक्ष-  
णिकं कण्ठोऽयं वर्णो बन्त्योऽयमितिलक्षणज्ञानपूर्वकं स्पृष्टुं वर्णोच्चारणं ममैव सामशब्दितप्राणभूतस्य  
धनमिति यावत् । लाक्षणिकसौस्वर्यगुणयत्प्राणविज्ञानवत्सो यथोक्तफलत्वात् हेतुमाह—सुवर्णशब्देति ।  
वाक्यार्थमाह—लौकिकमेवेति । फलेन प्रलीम्भाभिमुखीकृत्य किं तत्सुवर्णमिति शुभूपपे ब्रूते—तस्येति ।  
गुणविज्ञानफलमुपसहरति—भवतीति । साम्नस्तत्त्वशब्दवाच्यस्य प्राणस्य 'स्वरूपभूतस्येति यावत् ॥२६॥  
उपास्यस्य प्रतिष्ठागुणवेऽपि कथमुपासकस्य तद्गुणत्व तत्राऽह—त यथेति । आदिपदादुर-

बाह्य धन से सम्बन्ध प्रदर्शन के अनन्तर दूसरे सुवर्णवत्त्व (धान्तर धनवत्त्व) लक्षण वाले  
गुण का प्रतिपादन करते हैं । यह भी स्वर-माधुर्यरूप ही है । इसमें इतनी ही विशिष्टता है, कि पहली  
स्वशब्दवाच्य सुस्वरता कण्ठगत माधुर्य की छोटिका थी, वह सोढव्य सुवर्णशब्दवाच्य लाक्षणिक है । जो  
पूर्ववर्णित इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे लोकप्रसिद्ध स्वर्ण मिलता है । स्वर और सुवर्ण, इन  
दोनों में सुवर्णशब्द-वाच्यत्व समान रूप से है । गुण और उपासना का फल लौकिक स्वर्ण ही होना है—  
इसका तात्पर्य है । उस साम का स्वर ही सुवर्ण है, यह निर्विवाद सिद्ध है । उसे सुवर्ण प्राप्त होता है,  
जो इस प्रकार सामशब्दवाच्य स्वरूपभूत प्राण की सुवर्णत्व भाव से उपासना करता है—इस प्रकार शेष

- १ बाह्यवित्तं सम्बन्धानन्तरम् । २ आन्तरधनवत्तालक्षण । ३. स्वशब्दवाच्य सौस्वर्यम् । ४. सोढ-  
व्यम् । ५. मोक्षप्रसिद्ध हाटवम् । ६. सुवर्णशब्दवाच्यत्वसामान्यात् । ७. कथम् । ८. तथेति-स्वसुवर्ण-  
वदित्यर्थः । ९. उक्तान्प्रामाण्यान्तरम् । १०. सामशब्दितस्य प्राणस्य । ११. प्रतिष्ठा लभते लोके । १२.  
कण्ठनिष्ठ माधुर्यं बाह्यधनं लाक्षणिकं वर्णज्ञानपूर्वकं तदुच्चारणमान्तरम् । सौस्वर्यस्य ध्वनिततत्वात्  
बाह्यत्वम् सौवर्ण्यस्य वर्णरत्नत्वादान्तरत्वमिति तयोर्मेदं मनसि निधायोक्तव्यं । अत्र लाक्षणिकत्व लक्षणप्रयुक्तत्व  
लक्षणं च शास्त्रमित्यवधार्यम् । १३. तस्य हैतस्येत्यादिनोक्तं वेदनमेव स्पृष्टयति—लाक्षणिकमित्यादिना । १४.  
अद्वयहोमभयना प्राणतादात्म्यापन्नस्यापासकस्येत्यर्थः ।

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति  
तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः  
प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु-हंक आहुः ॥२७॥

जो पुख उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है । निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है; निःसदेह वाक् में प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाय जाता है; अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है । कुछ लोग कहते हैं कि वह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर गाय जाता है । (अतः प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है, अथवा अन्न है ऐसी इष्टि करे ।) ॥२७॥

यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम् । पूर्ववत्फलेन प्रलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषव आह-तस्य वै साम्नो वागेव । वागिति जिह्वामूलादीनां स्थानानामाख्या । सैव प्रतिष्ठा । 'तदाह-वाचि हि जिह्वामूलादिषु हि यस्मात्प्रतिष्ठितः सन्नेय प्राण एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक् । अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्य आहुः । इह प्रतिष्ठितोऽत्युक्तम् । अनिन्दितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन 'प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद' इवा प्रतिष्ठाऽन्नं वेति ॥२७॥

शिरःकण्ठवन्तोष्ठनासिकातालूनि गृह्णाते । किमित्यष्टौ स्थानानि वागित्युच्यन्ते, तत्राऽह-वाचि हीति । पक्षान्तरमाह-अन्न इति । 'अन्नशब्देन तत्परिणामो देहो गृह्यते । एकीयपक्षे 'युक्तिमाह-इहेति । कथं 'तर्हि प्रतिष्ठागुणस्य प्राणस्य 'विज्ञानं कर्तव्यमत आह-अनिन्दितत्वादिति ॥२७॥

अयं पूर्ववत् समझना चाहिए ॥२६॥

स्व और मुवर्ण के समान दूसरा प्रतिष्ठागुण विधान करने की इच्छा से श्रुति करती है- 'जो उस, इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है' । प्रतिष्ठा किसे कहते हैं ? क्योंकि इसमें प्रतिष्ठित होता है । कौन होता है ? वह वाक् । यही वाक् उसकी प्रतिष्ठा है । जो सामसंविदप्राण के गुण प्रतिष्ठा को जानता है; वह लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । "उसकी जो जिस-जिस रूप से उपासना करता है, (वही हो जाता है)" इस श्रुति के प्रमाण से उसका वैसे गुणों वाला हो जाना युक्तिसंगत है । पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के समान ही तब श्रुति कहती है, जब फल का लोभी तथा श्रोता पूछता है ? 'वह प्रतिष्ठा क्या है 'वागेव' इस पद में वाक् यह जिह्वामूलीयादि स्थानों का नाम है । उस साम की वही प्रतिष्ठा है । इसी बात को कहते हैं । क्योंकि 'वाचि' अर्थात् जिह्वामूलीयादि स्थानों में प्रतिष्ठित हुआ यह प्राण 'एतद् गान गीयते' अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है । इसलिए साम की प्रतिष्ठा वाक्

१ उदाहेति-वाचा तेषा ग्रहण हेतुपर वाचि होत्यादिवाक्यमित्याहेत्यर्थ । २ त्रियाविशेषणमेतत् । ३

प्रतिष्ठागुणस्य प्राणस्य विज्ञानमुपानमम् । ४ विनश्यमेव विसर्जयति-आयेति । ५ तत्राह-वाक् शब्देन स्थानानामुपादान हेतुप्रदर्शक वाचीतिप्रमूलीवाक्यमित्याहेत्यर्थ । ६ ननु ब्रह्माद्यन्न प्राणस्य न प्रतिष्ठा नहि

तत्प्रतिष्ठितः ॥ इत्येते अत आह-अन्नेति । अन्नमशित भवेत्यादिश्रोत्रक्रमेणाप्रविकारो देहस्तत्र स्थितः प्राणो

गीतिरव यतो गच्छत्यतः स प्राणप्रतिष्ठोऽन्ने पदान्तरोक्तियुत्येत्यर्थ । ७ युक्तिमाहेति-उक्तयुक्तिक वाक्यमाहेत्यर्थ ।

८ प्राणस्य प्रतिष्ठाद्वयवत्त्वे । ९ विज्ञानकर्तव्यमिति-किं प्रतिष्ठितस्य प्राणस्य विज्ञानं कर्तव्यमिति प्रदर्शयति ।

अथातः 'पवमानानामेवाभ्यारोहः' 'स वै खलु प्रस्तोता  
 साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्' असतो-  
 मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं  
 गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा  
 असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुवित्ये-  
 वंतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वं तमो ज्योति-

इमने पदवान् (इस प्रकार जानने वाले उपासक से ब्रिये जाने वाले जप का विधान किया जाता है) पवमाना का ही अभ्यारोह बतलाया जाता है। वह प्रस्तोता निश्चितरूप से सामको ही आरम्भ करता है। जब वह प्रस्ताव करे तब इनका जप करे। "असतो मा सद्गमय" "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (मुझे अमृत से सत् की ओर ले जाओ। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ। वह जो बहता है मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, यहाँ अमृत ही मृत्यु है और अमृत ही सत् है। अतः उसके बहने का भाव यह है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझे अमृत कर दो। जब कहता है—मुझे अंधेरे से प्रकाश

'एवं प्राणविज्ञानवतो जपकर्मं विधिस्थते । यद्विज्ञानवतो जपकर्मण्यधिकारस्त-  
 विज्ञानमुक्तम् । अथानन्तरं यस्माच्चैवं विदुषा प्रयुज्यमानं देवमायाभ्यारोहफलं जपकर्म,  
 अतस्तस्मात्तद्विधीयत इह । तस्य घोद्रीयसंख्यात्सयंत्रं प्राप्नोति पवमानानामिति यचनात् ।

अथान पवमानानामित्यादिदाशमवतारयति—एवमिति । तत्राशदाश व्याचष्टे—यद्विज्ञानवत इति । अतः शब्दाधमाह—यस्माच्चैव । इति 'प्राणविदुक्तिः । वदा "तर्हि जपकर्मं बतंयं तत्राऽऽह—  
 है । यह धन्य पाणिनीमी शरीर में प्रतिष्ठित हुआ गया जाता है, हम प्रकार भी कुछ अन्य लोग कहते हैं । धन इमने प्रतिष्ठित है, यह ग्योबाय है । एकीयपक्ष की युक्ति भी स्वीकार्य होने के कारण विद्वान् ग प्रतिष्ठान्तुल्य धन प्राण की उपासना करे । क्योंकि 'वान् प्रतिष्ठा है अथवा धन प्रतिष्ठा है' हम प्रकार प्रतिष्ठाद्वय निर्देश है ॥२७॥

रमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवंतदाह  
 मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति । अथ  
 यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्माद्  
 तेषु वरं वृणीत य काम कामयेत त<sup>१</sup> स एष एव-  
 विदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं काम कामयेत  
 तमागायति तद्धृतलोकजिदेव न हंवालोक्वताया ।  
 आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

कौ ओर ले चलो, तो यहाँ मृत्यु ही अंधेरा है ओर अमृत ज्योति है । अतः उसका यही कहना है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो—यानी मुझे अमर कर दो । मृत्यु से अमृत की ओर मुझे ले चलो । इसमें छिपी-सी तो कोई बात ही नहीं है, इसके बाद जो अन्य स्तोत्रों में उपासक अपने लिये अन्नाद्य का आगान करे । उनके गाये जाने पर यजमान वर माँगे ओर जिस भोग को वह चाहता है उसे भी माँगे । यह इस प्रकार जानने वाला वह उद्गाता अपने अथवा यजमान के लिए जिस भोग को चाहता है, उसी का आगान करता है । वह यह प्राण उपासना सम्पूर्णलोक प्राप्ति का साधन है । जो इस प्रकार इस साम को जानता है, उसे लोक प्राप्ति की अयोग्यता की तो आशा ही नहीं है अर्थात् वह सम्पूर्ण लोको को प्राप्त करने में समर्थ है ॥२८॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

पवमानेषु त्रिष्वपि 'कर्तव्यताया प्राप्ताया पुनः कालसंकोच करोति । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति । स प्रस्तोता यत्र यस्मिन्काले साम प्रस्तुयात्प्रारभेत् । तस्मिन्काल एतानि जयेत् । अस्य च जपकर्मण आरुधाऽभ्यारोह इति । 'आग्निमुख्येनाऽऽरोह्यमेन जपकर्मणै'-

तस्येति । उद्गाथेनात्पयाम त्व न उद्गायेति च प्रकरणादुद्गाथेन सर्वथाज्जपस्य सर्वप्रोद्गातकाले प्राप्तो पवमानानामेवेति वचनात्कालनियमसिद्धिरित्यर्थः । स वै खल्वित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—पवमानेति । ननु कर्तव्यत्वेनाभ्यारोह श्रूयते जपकर्म विधिस्तिस्रमिति चोच्यते 'किं केन सगतमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्य चेति । अभ्यारोहशब्दस्य न 'तत्र रुद्धिर्द्विप्रयोगाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—आग्निमुख्ये-

इस प्रकार (अब) प्राण उपासक के लिए जपकर्म का विधान किया जाता है । जिस प्राण के उपासक का जपकर्म में अधिकार है वह उपासना कह दी गई । यथोक्त जानने वाले उपासक के द्वारा प्रयुक्त किया हुआ जपकर्म तादात्म्य रूप से देवभाव की प्राप्ति कराता है, इसलिए

१ जपकर्मणः । २ उत्तमसिद्धिं सिद्ध कालसङ्कोचमव स्पष्टयति-स इति । ३ प्राणविद्यजमानो जपकर्तृति ध्येयम् । ४ तादात्म्येन । ५ प्राणवित् । ६ किं केन सगतमिति । द्विम्—उत्तरवाक्यम् नेन—पूर्ववाक्येन सगतम् कथं सम्बद्धमित्यर्थः । ७ जपकर्मणि ।

वन्निदेव'भावमात्मानमित्यभ्यारोहः । एतानोति बहुवचनात्त्रोणि यजुंषि । द्वितीयानिर्देशाद्-  
'ब्राह्मणोत्पन्नत्वाच्च यथापठित एव स्वरः प्रयोक्तव्यो न मान्नः । 'याजमानं' जपकर्म ।

एतानि तानि यजुंषि—'असतो मा सद्गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्योर्मा-  
ऽमृतं गमय' इति । 'मन्त्राणामर्थस्तिरोहितो भवतीति स्वयमेव व्याचष्टे ब्राह्मणं

नेति । यजुर्मन्त्राणामनियतपादाक्षरत्वादसतो मा सद्गमयेत्यारम्भको वा द्वौ वा मन्त्रावित्याशङ्क्याऽऽह  
—एतानोति । यद्यमी याजुषा मन्त्रास्तर्हि मान्त्रेण स्वरेण 'ब्रह्माधिकप्रन्योक्तेन भाष्यमित्याशङ्क्याऽऽह  
—द्वितीयेति । यत्र स्वरो विवक्षितस्तत्र तृतीयानिर्देशो दृश्यते । "उर्चश्च" वा क्रियत उर्चः साम्नो-  
पांशु यजुषा इति । प्रकृते तु द्वितीयानिर्देशाज्जपकर्ममात्रं प्रतीयते मन्त्रास्तु स्वरो न प्रतिभातीत्यर्थः ।  
केन तर्हि स्वरेण प्रयोगी मन्त्राणामिति चेत्तत्राऽऽह—ब्राह्मणेति । भवतु शतपथेन स्वरेण मन्त्राणां प्रयो-  
गस्तथाऽपि किमार्थिज्यं किं वा याजमानं जपकर्मति घोषायामाह—याजमानमिति ।

व्याचिख्यासितयजुषां स्वरूपं दर्शयति—एतानोति । 'मन्त्रार्थशब्देन पदार्थो वाच्यार्थस्तत्फलं'

इमके अनन्तर, उसका यहाँ विधान किया जाता है । उद्गीथ-सम्बन्ध होने के कारण जपकर्म की सर्वत्र  
प्राप्ति में "पवमानानाम्" अर्थात् पवमानाख्य स्तोत्र के उद्गीत काल में ही—यह (नियम) वचन  
प्रमाण है । तीनों पवमानों में जपकर्म की कर्तव्यता प्राप्ति होने पर 'बहु प्रस्तोता साम का ही प्रारम्भ  
करता है' इस वाक्य से श्रुति पुन उसके काल का सकोच करती है । 'स' अर्थात् बहु प्रस्तोता 'यत्र'  
अर्थात् जिस काल में, साम "प्रस्तुपात्" अर्थात् प्रारम्भ करे, उसी समय में (प्राणवेत्ता जपकर्ता-  
यजमान) इनका जप करे । इसी जपकर्म का "अभ्यारोह" यह नाम है । 'सादात्म्यरूप से प्राणवेत्ता  
इस जपकर्म द्वारा आरोहण करता है, प्राणोपासक देवस्वरूप को प्राप्त हो जाता है'—इसलिए इसका  
'अभ्यारोह' नाम पड़ा । 'एतानि' इस पद में बहुवचन होने के कारण तीनों यजुर्मन्त्र हैं । द्वितीया  
विभक्ति के निर्देश से शतपथ ब्राह्मणस्थ मन्त्र होने से इनमें यथापठित ही स्वर का प्रयोग करना  
चाहिए—मन्त्रप्रयुक्त स्वर का नहीं । (मन्त्रों के देवभावसाधनत्व एव प्रार्थनार्थत्व होने से) यह जप  
कर्म यजमान का है ।

वे तीनों यजुर्मन्त्र ये हैं—'असत् से सत् की ओर मुझे ले जाओ', 'अन्धकार से प्रकाश की ओर  
मुझे ले जाओ' एवं 'मृत्यु से मुझे अमृतत्व की ओर ले जाओ' । मन्त्रों का अर्थ छिपा हुआ होता है;  
इसलिए शतपथ ब्राह्मण स्वयं ही मन्त्र के अर्थों की व्याख्या करता है । "स यदाह" अर्थात् मन्त्र जो  
उसने कहा । वह अर्थ क्या है ? इसे कहा जाता है ।—"असतो मा सद्गमय" इस मन्त्र में मृत्यु ही

१. देवेत्यादि—देवस्वरूप प्राणात्मानमित्यर्थ । २. ब्राह्मणोत्पन्नत्वादिति—शतपथब्राह्मणोत्पन्नत्वात् तदीयो  
समगप्रन्योक्तस्वरो मन्त्राणां प्रयोक्तव्यो न मान्नो द्वितीयानिर्देशेन तस्याविवक्षितत्वादिति भावः । ३. यजमान-  
कर्तृकम् । ४. जपकर्मति—मन्त्राणां देवभावसाधनत्वादिप्राधान्यार्थत्वादिति शेषः । ५. स यदाहेत्यादिब्राह्मण-  
तात्पर्यमाह—मन्त्राणामिति । ६. एतन्नामकप्रत्येत्यर्थः । ७. उर्चश्चरित्यादि—ऋग्वेदविहिते कर्मणि मन्त्रप्रयोग  
उर्चः कर्तव्यः । उपायु—तृष्णीम् । ८. ब्राह्मणे दृष्टां पुनर्दत्तं प्रत्याह—मन्त्रार्थेति । तदुक्तं वातिवे— "पूर्व  
पदार्थान्याख्याय पञ्चाङ्गाव्याख्यं प्रवीत् । फल पञ्चाव्याख्येत्येव व्याख्याकम्, श्रुतेः ॥३४॥" इति । फलम्—  
फलितार्थः । तात्पर्यार्थः इति यावत् । ९. फलम्—तात्पर्यार्थः ।

मन्त्रार्थम् । स मन्त्रो यदाह यदुक्तवान्कोऽस्यार्थ इत्युच्यते । 'असतो मा सद्गमय' इति । मृत्युर्वा असत्स्वाभाविककर्मविज्ञाने मृत्युरित्युच्येते । असदत्यन्ताधोभावहेतुत्वात् । सदभृतं 'सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने' अमरणहेतुत्वादभृतम् । तस्मादसतो मा मां कर्मणो ज्ञानाच्च 'सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने' गमय देवभावसाधनात्मभावमापादयेत्यर्थः । 'तत्र वाक्यार्थमाह—'अमृतं मा कुर्वित्येवंतदाहेति । 'तथा तमसो मा ज्योतिर्गमयेति । मृत्युर्वै तमः 'सर्वं ह्यज्ञानमावरणात्मकत्वात्तमस्तदेव च मरणहेतुत्वान्मृत्युः । ज्योतिरभृतं पूर्वोक्तविपरीतं 'देवं स्वरूपम् । प्रकाशात्मकत्वाज्ज्ञानं 'ज्योतिस्तदेवामृतम्' विनाशात्मकत्वात्तमस्तमसो मा ज्योतिर्गमयेति । पूर्ववत् 'मृत्योर्मांमृतं गमयेत्यादि । अमृतं मा कुर्वित्येवंतदाह । देवं

चेति प्रयुच्यते । लौकिकं तमो व्यावर्तयति—सर्वं हीति । पूर्वोक्तपदेन व्याख्यातं तमो गृह्यते । वैपरीत्ये हेतुमाह—प्रकाशात्मकत्वादिति । ज्ञानं तेन साध्यमिति यावत् । पदार्थोक्तिसमाप्तावितिशब्दः । 'उत्तरवाक्यानां वाक्यार्थस्तत्फलं' चेति द्वयं क्रमेणोच्यत इत्याह—पूर्ववदिति । फलवाक्यमादाय, 'पूर्व-

असत् है; अशास्त्रीय कर्म और विज्ञान को मृत्यु कहते हैं । अत्यन्त अधोपात में हेतु होने के कारण इसकी असत् शब्द-वाच्यता है । सत् अमृत है; शास्त्रीय होते हुए देवत्वप्राप्ति के साधन होने के कारण कर्म और विज्ञान का नाम सत् है । (देवभावापत्ति हेतु से) अमरत्व का हेतु होने के कारण वह अमृत है । (पद का अर्थ कह कर अब वाक्यार्थ कहते हैं ।) इसलिए असत् कर्म और असत् ज्ञान से मुझे सत् देवभाव के साधन और शास्त्रीय कर्म और ज्ञान की प्राप्ति कराओ, अर्थात् देवभाव की साधनरूपता को प्राप्त कराओ । पदार्थादि तीनों में वाक्यार्थ कहते हैं—मुझे अमृतत्व साधन के योग्य स्वभाव का सम्पादन करो—यही श्रुति का आत्यन्तिक अर्थ है । इस प्रकार 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस मन्त्र में मृत्यु ही तम है; (तमशब्द से अज्ञानमूलक सभी शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्म और ज्ञान का ग्रहण होता है ।) आवरणरूप होने से सारा अज्ञान 'तम' है और मरण का हेतु होने के कारण 'मृत्यु' है । ज्योति अमृत है, वह पूर्वोक्त मृत्यु से विपरीत उपास्वरूप है, प्रकाशात्मक होने से उपासना ही ज्योति है, मरणरहितस्वरूप होने से वही अमृत है । इसलिए कहा है "आवरणात्मक अज्ञानरूप तम से प्रकाशात्म-

१. अशास्त्रीये । २. अत्यन्ताध इत्यादि—तयोरात्यन्ताधोपातहेतुत्वादिसच्छब्दवाच्यत्वार्थः । ३. सच्छास्त्रीयेति—ने शास्त्रीये सतो देवत्वस्य हेतुत्वात् सच्छब्दवाक्ये इति भावः । ४. अमरणहेतुत्वादिति—तयोराध्यात्मिकविपरीच्छेदादिमानसयोगेन देवभावापत्तिहेतुत्वादाभरणहेतुत्वादित्यर्थः । ५. पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तस्मादिति । ६. देवभावसाधने । ७. देवभावसाधनरूपताम् । ८. तत्रेति—पदार्थादीनां त्रयाणां मध्ये । वाक्यार्थम् वाक्य-तात्पर्यमिति । ९. अमृतमित्यादि—अमृतम् अमृतत्वसाधनयोग्यस्वभावम् । कुट्ट सम्पादय माम् । १०. ननु-कल्पनस्य पुनर्वर्तिन्याका इत्याद्यद्विषय-तथेति । अनुवादस्य व्याख्यानार्थत्वाद् व्यर्थमिति भावः । ११. अस्मिन्मन्त्रे तम शब्देन सर्वं शास्त्रीयाशास्त्रीयज्ञानकर्ममूलकज्ञानमुच्यते सर्वमूलत्वादेव तत्सर्वमित्युच्यत तस्यावरणात्मकत्वात्तमस्तममित्यभिप्रेत्याह—सर्वमिति । १२. उपास्वरूपम् । १३. उपासकम् । १४. अमरणहेतुत्वात् । १५. मृत्योर्मित्यादि—अज्ञानात्मकादामुलभावाद् व्युत्पाद्यः । अमृतम्—अमरणात्मकज्ञानमाध्य देवभाव प्रापयेति वाक्यार्थः । १६. तात्पर्यम् । १७. पूर्वोक्तात्पूर्ववाक्यार्थतः ।

प्राजापत्यं फलमाद्यमापादयेत्यर्थः । पुत्रो मन्त्रोऽसाधनस्वभावात्साधनभावमापादयति । द्वितीयस्तु साधनभावादप्यज्ञानरूपात्साध्यभावमापादयति । मृत्योर्मांस्मृतं गमयेति पूर्वयोरेव मन्त्रयोः समुच्चितोऽप्यस्तृतीयेन मन्त्रेणोच्यते इति प्रसिद्धायतं । नात्र तृतीये मन्त्रे तिरोहितमन्तहितमिवायंरूपं 'पूर्वयोरिव मन्त्रयोरस्ति यथाश्रुत एवार्थः ।

'याजमानमुद्गानं कृत्वा पवमानेषु त्रिष्वयानन्तरं यानीतराणि शिष्टानि स्तोत्राणि तेष्वामनेऽप्राद्यमापादयेत् । प्राणविदुद्गता प्राणभूतः प्राणवदेव यस्मात्स एव उद्गातयं प्राणं येषोक्तं वेत्यतः प्राणवदेव तं कामं साधयितुं समर्थस्तस्माद्यजमानस्तेषु स्तोत्रेषु" प्रमु-

स्माद्विज्ञेयं वक्ष्यति—अभूतमिति । प्रथमद्वितीयमन्त्रयोरर्थभेदाप्रतीतिः पुनरुक्तिमादाङ्कुषाधान्तरमेवमाह—पूर्वो मन्त्र इति । तथाऽपि तृतीये मन्त्रे पुनरुक्तिस्तदवस्थेत्याशङ्क्याऽह—पूर्वयोरिति ।

बुक्तमनुद्योत्तरवाक्यमवतार्यं व्याचष्टे—याजमानमिति । यथा प्राणस्त्रिषु पवमानेषु "साधारण-मागानं" कुरा शिष्टेषु स्तोत्रेषु स्वार्थमागानमकरोत्येत्याह—प्राणविदिति । तद्विदोऽपि तद्वद्वागाने योग्यतामाह—प्राणभूत इति । हेतुवाक्यमादौ योजयति—यस्मादिति । "प्रतिज्ञावाक्यं व्याचष्टे—

स्वरूप उपासनारूप ज्योति की ओर ले जाओ" । उपरोक्त (दोनों मन्त्रों के वाक्यार्थ के समान) 'मृत्योर्मांस्मृत गमय' इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं—'भ्रमरणात्मक-ज्ञानसाध्य देवभाव की प्राप्ति कराओ', यही जप करने वाला मन्त्र में कहता है । अर्थात् मुझे देवभाव और प्रजापतिभावरूप फल की प्राप्ति कराओ । पहला मन्त्र 'असाधन स्वभाव से साधनभाव की प्राप्ति कराओ' यह कहता है । दूसरा मन्त्र कहता है 'अज्ञानात्मक साधनभाव से भी मुझे साध्यभाव की प्राप्ति कराओ' । 'मृत्यो-र्मांस्मृत गमय' इस तृतीय मन्त्र द्वारा पूर्वस्थ दोनों यजुर्मन्त्रों का समुच्चित अर्थ ही कहा जाता है । इसलिए (समुच्चितार्थक मन्त्र होने से) उसका अर्थ प्रसिद्ध ही है । यहाँ तृतीय मन्त्र में पूर्व के दोनों मन्त्रों की तरह 'तिरोहितम्' अर्थात् अन्तर्लून अर्थ का रूप नहीं है, इसलिए उसका अर्थ यथाश्रुत ही है ।

तीनों पवमान स्तोत्रों में यजमानगामी फल का उद्गान करके इसके बाद 'यानीतराणि' अर्थात् जो अवशिष्ट नौ स्तोत्र हैं, उनमें प्राणोपासक उद्गाता प्राणभूत होकर प्राण के समान अपने लिए अन्नाद्य का उद्गान करे । क्योंकि वह उद्गाता ही इस प्रकार बृहस्पत्यादि गुणवाले प्राण की

१ उच्यते इति—सप्तपेणित शेष । तथा च वातिकम्—'पूर्वयोर्मन्त्रयोर्मांस्त्रिस्तरेणोरित पुन । मन्त्रेण स तृतीयेन सप्तपेणाभिधीयते" ॥३६३॥ इति । अतएव हि सप्रहविवरणरूप ग्रन्थमास्त्रचमलि शास्त्रज्ञः । २ समु-च्चितार्थकत्वात् । ३ पूर्वयोरिवेति—तृतीयमन्त्रस्य द्वयशब्दो दृष्टान्तार्थक इतिभावः । ४ यजमानगामि-फलम् । ५ नवसंख्यानां । ६ बृहस्पत्यादिगुणम् । ७ अतः प्राणारूपकत्वात् । ८ तमिति—स्वोय याजमान वा फलमागानेन संपादयितुमित्यर्थः । ९ तस्मादिति—उद्गाता स्वार्थफलसंपत्ती शक्तत्वादित्यर्थः । १० नवसु । ११ उद्गीयमानेषु । १२ अवशिष्टेण । १३ सर्वप्राणोपकारकम् । १४ हेतुवाक्यमि-त्यादि—अनु परकर्मस्थस्योद्गाता स्वार्थमागानमभ्युक्तिमित्याशङ्क्य तस्यात्मागमागान सप्तवतीत्यत्र स एव इत्यादि तमागमातीत्यन्तम् हेतुवाक्यमादौ योजयतीत्यर्थः । १५ हेतुपदवाक्यम् ।

ज्यमानेषु 'वरं' वृणीत यं 'काम' कामयेत त कामं वरं वृणीत प्रार्ययेत् । यस्मात्स एष एवंविदुद्गातेति तस्माच्छब्दात्प्रागेव संबध्यते । आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयत इच्छत्युद्गाता तमागायत्यागानेन साधयति ।

एवं तावज्ज्ञानकर्मभ्यां प्राणात्मापत्तिरित्युक्तम् । तत्र नास्त्याशङ्कासंभवः । अतः 'कर्मापाये प्राणापत्तिर्भवति वा न वेत्याशङ्क्यते तदा शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—तद्वत्लोकजिदेवेति । तद्वत् तदेतत्प्राणवर्शनं कर्मविपुलं' केवलमपि लोकजिदेवेति 'लोकसाधनमेव ।

तस्मादिति । किमिति इत्यासेन वाक्यद्वयव्याख्यानमित्याशङ्का'र्याच्चेति न्यायेन पाठक्रममनाहृत्येति परिहरति—यस्मादित्यादिना । स एष एवविदुद्गाताऽऽत्मने यजमानाय वा य काम कामयते तमागानेन साधयति यस्मादिति हेतुप्रपञ्चस्तस्मादिति प्रतिज्ञाप्रपञ्चात्प्रागेव संबध्यत इति योजना ।

वृत्त कीर्तयति—एव तावदिति । तत्र कर्मसमुच्चिते ज्ञाने' देयताप्तौ शङ्कासंभयो नास्ति निष सहकृत्योज्ञानकर्मणोस्तदापिहेतुत्वादित्याह—तत्रेति । समनन्तर वाक्यमवतारयति—अत इति । समुच्चयात्कलाप्ते'हृष्टत्वादिति यावत् । न हेत्यादिना । पदानि चिद्धन्वाव्यमादाय व्याकरोति—प्रलोकाह-

जानता है, इसलिए (प्राणात्मक होने से) प्राण के समान ही वह उस कामना को सम्पादन करने में समर्थ है । (उद्गाता के स्वार्थ और परार्थ फल-संपत्ति में समर्थ होने के कारण) इसलिए वह नौ स्तोत्रों का उद्गान किये जाने पर (उद्गाता से) यजमान को वर माँगना चाहिए । उसे जिस फल की इच्छा हो, उसी फल के लिए वर माँगे । क्योंकि मन्त्र में 'स एष एवविदुद्गाता' इसका सम्बन्ध 'तस्मादु तेषु वरं वृणीत' इस पूर्वभाग से है । अर्थात् वह यह इस प्रकार जानने वाला उद्गाता अपने या यजमान के लिए जिस फल की "कामयते" अर्थात् इच्छा करता है, उसी को "प्राणयति" अर्थात् प्रागान के द्वारा प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार कर्मसमुच्चित ज्ञान में प्राणात्मत्व की प्राप्ति बतलायी गयी । इसमें शङ्का के लिए कोई स्थान नहीं है । इसलिए बर्माभाव अर्थात् केवल उपासना द्वारा प्राणात्मभाव की प्राप्ति होती है अथवा नहीं । इस शङ्का का समाधान श्रुति इस वाक्य से करती है—"तद्वत्लोकजिदेव" । 'तद्वत्' अर्थात् वह यह प्राणविज्ञान कर्माभाव वाला अकेला होने पर 'लोकजिदेव' अर्थात् देवभावप्राप्ति वा साधन है । 'प्रलोकयनामा' अर्थात् देवभावप्राप्ति की श्रयोग्यता की 'प्राप्ता' अर्थात् सकल्प या प्रार्थना तो हाँती नहीं है । ऐसा बर्भी लोव' म नहीं होता कि ग्राम में रहने वाला हो बन में रहने वाले पुरुष

१ वर—शुभ परलोच्य फलमुद्गातु सखादावृणीत । २ फलम् । ३ ज्ञानकर्मभ्यामिति—वयसमुच्चित-ज्ञानेनेत्यर्थ । उद्गीथोपासनस्य उद्योतिहोमप्रवरणपठितत्वादिति ध्येयम् । ४ कर्मापाय इति । कर्माभाव इत्यर्थ । केवलमोपासनमेति भावः । ५ हृनिपातस्यार्थोऽयम् । ६ देवभावप्राप्तम् । ७ 'अर्थान्' ४।१२ जमिनी-यसूत्रमिदम् । अस्यां कस्य नञ्चिदादिपठत्वाच्चेति । यथा अग्निहोत्र जुहोति यवाणु पञ्चतीत्यत्र क्त्वाप्रत्ययादीनामभावादनिमित्तमेनानुष्ठानमिति पूर्वपक्षे क्रमप्राप्य प्रमाणान्तरमुक्तमुत्प्रेषण । यवापूषानस्याग्निहोत्रहोमपवन-त्वात्पूर्वं साधन सम्पाद्य पश्चाद्धोमनिर्गुतिरिति भावः । ८ पाठनमनाहृत्यनि-यवाणु पवनप्राग्निहोत्र जुहोति इति ध्येयम् । ९ सति । १० निश्चिनत्वात् ।





इन्द्रियविषयासङ्गजैरासुरैः पाप्मभिरर्घ्यणीयो विशुद्धो वागादिपञ्चकं च मदाश्रयत्वा-  
'दग्न्याद्यात्मरूपं स्वाभाविकविज्ञानोत्प्रेन्द्रियविषयासङ्गजनितासुरपाप्मदोषवियुक्तं सर्व-  
भूतेषु च मदाश्रयान्नाद्योपयोगसंबन्धनमात्मा चाहं सर्वभूतानामाङ्गिरसत्वाद्गम्यजुःसामो-

हेतुत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—य एवमिति । एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वात्पूर्वोक्तं सर्वं वेद्यस्वरूपं सक्षिपति  
—ग्रहमस्मीत्यादिना । तस्य 'वागादिस्यो विशेषं दर्शयति—इन्द्रियेति । किमिदानीं प्राणस्योपास्यतया  
वागादिपञ्चकमुपेक्षितमिति नेत्याह—वागादीति । तस्य प्राणाश्रयत्वेऽपि कुतो देवतात्वमासङ्गपाप्मवि-  
द्वत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकेति । अस्तकृतोपकारं प्राणद्वारा वागादौ स्मारयति—सर्वेति । रूप-  
कर्मत्मके जगति प्राणस्य स्वरूपमनुसंधत्ते—आत्मा चेति । नामात्मके जगति प्राणस्याऽऽस्मात्त्वमुक्तं स्मार-

प्राण को जानता है । मैं इन्द्रियो के विषयो की आसक्तिरूप आसुर पापो से अग्रहसनीय विबुद्ध प्राण  
हूँ । वागादि पाँचो प्राण मेरे आश्रित होने के कारण शास्त्रानांघेय विज्ञान से जन्म, इन्द्रिय और विषयो  
की आसक्ति से होने वाले, आसुर-पापरूप दोष रहित अग्न्यादि देवतास्वरूप, और (वही वागादि  
पाँच प्राण) सम्पूर्ण भूतो मे मेरे आश्रित होने से अश्राव्य के उपयोग मे हेतु हैं । (रूपकर्मत्मक जगत्  
मे) आङ्गिरस होने के कारण मैं समस्त भूतो का आत्मा हूँ । (नामात्मक जगत् मे) श्रक्, यजुप्, साम

कारित्वाद् । नेतर तस्याप्रस्तुतत्वादित्याशङ्क्याह—आधमात्तरविषय त्विति । गृहस्याधमेतरब्रह्मपर्यायाश्रमस्य-  
विषयकमित्यर्थः । कर्मानधिकृतविधुरादिसप्रहीतु नृपण्य । १ प्राणस्य सर्ववेद्यमत्वेन तदाभिताना तेषामभि-  
दैविकरूपताजिज्जताऽऽध्यात्मिकपरिच्छेदविगमादिति भावः । २. प्राणशब्देन योनातामग्रहण टीकमिति-वागिति ।

यदि । उद्गातुरपि तत्तुल्य नोद्गातर्त्तं त्रिया यत् ॥ आजमान एवा कर्म ह्याभित्य फनवद्भवेत् । अष्टाद्यागा-  
नमुद्गातुस्तज्ज्ञान तद्वदाश्रितम् ॥ समुच्चयाच्चेदुद्भयोद्गातृयजमानयो । दवभाव विमर्षेय तद्वैतदिति हि  
श्रुति ॥ सर्वाधमाणा तर्हीद सामाग्येनाभिधीयते । तद्वैतदिति निद्वेत्पातुद्गातृयजमानयो ॥ देवभावेन विज्ञान  
रुत्तरोत्थेय तद्विषयम् । परार्थमपि मत्स्वमावनपेक्ष न सिद्धये ' ॥१७६-८६॥ इति । उद्गातु समुच्चयादेवभावपक्ष  
वृत्तमिति—नेत्यादिना । इहेति उद्गीयप्रकरणस्य फलत्वस्य चोक्तिः । ननु कर्मणि प्रविष्टस्य कथं कर्माभाव उपास्त-  
द्वारा कर्तुं शक्नुममुद्गातु समुच्चयात्फलमिति तत्र ६ तत्त्वोपास्तिस्त्वदीयेन कर्मणा समुच्चयित याजमानेन वा  
नाह इत्याह—नरेति ॥ उद्गातृज्ञानपुण्येय कर्माभावमुक्त्वा ज्ञानमपि तस्य नास्तीत्याह—नित्येति । उद्गातृविद्या-  
योगाद् उद्गातृमज्जमन्विज स्वर्गोद्गीयप्रपत्तस्तस्मात्ते नर्तव्यज्ञानाभ्यासाभिद्वेष्टदधीनदवतासासालारो न  
स्यादित्यर्थः । ननु विनापि ज्ञानाभ्यासेन यथासास्त्रमुद्गानाद् वतासासालारो भविष्यति नेत्याह—साक्षादिति ।  
कर्मानुष्ठानादस्तुसाक्षात्कारस्यादृष्टत्वादम्यामाच्चाभ्यास्यमानसासालारस्य नवचिदृष्टत्वादित्यर्थः । अस्तु तर्हि  
ज्ञानसन्तत्या देवतासाक्षात्कर्तव्यमुद्गानु स्वीयकर्माभावात्तात्प्राप्ते कर्तव्यज्ञानसतत्पुण्यपत्तेस्तत्त्वादित्याह—  
सन्ततिश्चेति ॥ ननु ज्ञानमात्रादव ब्रह्माभाववद्देयभावोऽपि स्वात्मिमग्यासेनेत्याशङ्क्याह—स्मारयति—न चेति ।  
ज्ञानमात्रादम्यास विना न देवभावा मानाभावादित्युक्त्वा ज्ञानाविरोधाच्च तथेत्याह—देव इति ॥ उद्गातृज्ञान-  
भावभावयो स्वीयकर्माभावात् तन समुच्चयस्तज्ज्ञानस्त्पुत्तम् । अथ द्वितीयमात्रमुद्गाह—उद्गातुरिति । यद्यपि  
विद्वानुद्गाता यथापि तस्य यजमानागमिना कर्मणा न स्वर्गीयविद्याया समुच्चय मिथ्यति अर्भेणो याजमानवा-  
द्विद्यायास्त्रोद्गातृस्वत्वाद्भिद्याधारयोस्तयो समुच्चयस्य दुर्बलत्वादित्यर्थः ॥ समुच्चयाद् उद्गातुर्देवातिरिति पक्ष  
निरस्य यजमानस्य तत्तत्तद्भाषण निरस्यति—यजमानस्यति । यजमानस्यापि ज्ञानवर्माणो समुच्चयो देवभाव-

द्वितीयभूतायाश्च वाच आत्मा तद्व्याप्तेस्तन्निर्वर्तकत्वाच्च मम साम्नो गीतिभावमापद्य-  
मानस्य बाह्यं धनं भूषणं सौख्यं ततोऽप्यान्तरं सौख्यं लाक्षणिकं सौख्यं गीतिभाव-  
मापद्यमानस्य मम कण्ठादिस्थानानि प्रतिष्ठा । एवंगुणोऽहं पुत्तिकादिशरीरेषु 'कात्स्न्येन'

यति—ऋगिति । सति सामत्वे गीतिभावावस्थाया प्राणस्योक्त बाह्यमान्तरं च सौख्यं सौख्यमिति  
गुणद्वयमनुवर्तते—ममेति । तस्यैव धंकरिणो प्रतिष्ठानुष्ठाननुस्मारयति—गीतीति । पट्टेवेत्यादिनोक्त'

और उद्गीयरूपा यावत्—इनमें व्याप्त और इनका निष्पावक होने के कारण मैं (प्राण) ही आत्म-  
स्वरूप हूँ । गीतिभाव को प्राप्त हुई अवस्था में मुझ साम का सुस्वरत्वारूप धन बाह्य भूषण है । उससे  
भी घनान्तर धन सुस्वरत्वारूप सुवर्णता है, जो लाक्षणिक है । गीतिभाव को प्राप्त हुए मुझ प्राण के  
कण्ठादि स्थान (और अन्नपरिणामी देह) प्रतिष्ठा हैं । इस प्रकार गुणों वाला आधिदैविक स्वरूप से  
अमूर्त एवं सर्वगण होने के कारण मैं पुत्तिकादिशरीरों में सर्वादय—अवच्छेदरूप से व्याप्त हूँ । इस

१ प्रतिष्ठति—अन्नपरिणामो देहस्यैति वेप । २ सर्वावयवावच्छेदेन । ३ सर्वतत्पदम् ।

प्रतिष्ठेत्पुच्छो नातीत्यत्रात सत्त्वपरामुष्ट पूर्वार्द्धोक्तं हेतुमेव स्पष्टयति—मिलेति ॥ उभयो समुच्चया-  
द्वयभावं पूर्ववादिना निरुक्ते विद्वान्ती यजमानस्य ततस्तद्भावं साधयति—मममिति । यत्पूर्वं प्राणोपासनेनमुक्त  
तद्याजमानमिहमुद्रातुपजमानेन कीमत्त्वात् यच्च यजमानस्योपपद्यमानतत समुच्चयाद्देवत्व तस्य पुनर्मित्यर्थः ।  
असमुच्चयवादी बाहुते—स्वयमिति । कर्मवज्ज्ञानमपि याजमान चेत्तर्हि तस्योपपन्न स्वयमेव शक्तहृदातार श्रि  
मापेक्षा स्यादहमते च तदपेक्षा तस्यादौद्गातमनेनोपासनमिति न समुच्चयाद्देवत्व यजमानस्यत्यर्थः ॥ सिद्धान्ती  
समुच्चय साधयति—कर्मगीति । यदि कर्मणि याजमाने निष्पश्यच्चमुद्रातारपेक्षति मम तर्हि तद्वदेव ज्ञानेऽपि  
याजमाने ज्ञानार्थमितरापेक्षा तथा च समुच्चयाद्यजमानस्य देवत्वमित्यर्थः । सप्रत्युद्गातुरपि समुच्चयाद्देवत्व  
साधयति—उद्गातुर्गति । यथोद्गातार विना प्योतिष्ठोमादिक्रिया न भिष्यति तथा सा विना काङ्क्षायापि  
सिद्धान्तिक्याकृत्यैव तदभावात्ततो यजमानवदुद्गातुरपि कर्मवत्त्व्य ज्ञानन्तु तस्य नीतिवज्जुद्गातुस्तदाश्रयत्वात्त-  
स्मान्मायामि समुच्चयाद्देवत्व मुक्तमित्यर्थः ॥ यत्तु भिन्नार्थिष्ठानत्वात् समुच्चयो ज्ञानकर्मचोरिति तत्राह—याजमा-  
नमिति । यथा यजमानस्वार्थान् कर्मप्रतिष्ठय तन्न समुच्चित उद्गातुस्तदासाधारण फल साधयति तथा तदीय-  
ज्ञानगदित्येन तन्मुच्चितामिदरूपकचन साधयति यजमानमभिधत्तेन तन्मुच्चितमितरज्ञानमपि स्वफल  
साधयतीति त्रिमार्थवत्त्वयोर्गति ज्ञानमयो समुच्चयादुभयोर्देवभाव सम्भवतीत्यर्थः । उद्गातुयजमानसर्वपवत्त-  
दीयज्ञानमयोर्गति तन्न चोपपत्त्यर्थो हि हृदय । द्वयो समुच्चयाद्दृष्टिं निन्दान्तिता समर्थिता पूर्ववत्तदुक्तमिति—  
समुच्चयादिति । वेवज्ज्ञानाद्वापि उद्गातुयजमानयोर्गति स्यात्तस्यैव समुच्चयाधिकारित्वान्तेतरस्त-  
स्याप्रभुत्वादिति मत्वाऽह—विमर्षेति ॥ वममूपाय सर्वेषां त्रैलोक्यानां वेवज्ज्ञानाद्वापि त्रिभुवतरमाह—  
सर्वेति । प्रवृत्तवाचप्रामाण्यात्वेवज्ज्ञानात् पञ्चमिष्ट चेत्तर्हि तन्न सर्वविज्ञानात् त्रिमार्थमभिधत्तेन ज्ञान फलवत्तु-  
ष्यत इत्यर्थः । प्रवृत्तयोगेन द्वयोर्गति ज्ञाने न स्यादित्याहुः—विद्वत्वादिति । तयो समुच्चयाधिकारि-  
त्वस्य स्थितत्वात् वेवज्ज्ञानेऽपि वातिरेक्यं ॥ वेवज्ज्ञानस्य देवापि तदुक्तमनुवृत्त समुच्चिनस्यैव उद्गातेऽदित्या-  
पाहुः तन्मुनिश्चायमाह—देवति । उद्गीयज्ञानमुद्गातुर्वत् यजमानस्वामिभ्यमपि वतीर देवभावेन योग्यति  
विमुक्तत्वेन वत् स्वामिभ्यमेव अनुपासने वत्तदेवभावापादयति त्रयता ज्ञान वेवज्मपि वरमाह तद्भावाभावं  
अवेदितुपपन्न वेवज्ज्ञानं ज्ञानस्य देवापि नत्वमित्यर्थः ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदा-  
त्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाभव-  
त्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथा-  
न्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स 'यत्पूर्वोऽस्मात्सर्व-

उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष की तरह शिरपावादि वाला विराडात्मा ही था । उस प्रजापति ने भालोचना करने पर भी अपने से भिन्न किसी को नहीं देखा । (सर्वात्मरूप से अपने को ही देखने के कारण इस श्रौत विज्ञानजनित संस्कार से युक्त) उस प्रजापति ने "अहमस्मि" मैं हूँ ऐसा कहा, इसीलिए वह 'अहम्' नाम वाला हो गया । अतएव इस समय भी सम्बोधन करने पर पहले प्रत्येक

परिसमाप्तोऽमूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्चेत्या एवमभिमानाभिग्यक्तेर्वेदोपास्त इत्यर्थः ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् । ज्ञानकर्मण्यां समुच्चिताभ्यां प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्याता । केवलप्राणदर्शनेन च तद्वैतल्लोकजिदेवेत्यादिना । प्रजापतेः 'फलभूतस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु जगतः स्वातन्त्र्यादिविभूत्युपवर्णनेन ज्ञानकर्मणोर्वैदिकयोः फलोत्कर्षो वर्णयितव्य इत्येवम-

पराभूयति—एवगुणोऽहमिति । इत्येवमभिमानाभिग्यक्तिपर्यन्तं यो व्यापति 'तस्येव' फलमित्युपसंहरति—इतीति ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

ब्राह्मणान्तरमवसायं पूर्वेषु संबन्धं यत्तु वृत्तं कीर्तयति—आत्मैवेत्यादिना । केवलप्राणदर्शनेन च प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्यातेति संबन्धः । इदानीमात्मेत्यादेस्तद्वैतमित्यतः प्राप्तप्रग्रन्थस्याऽऽपात-  
स्तत्पर्यमाह—प्रजापतेरिति । आदिपदेन सर्वात्मत्वादिव गृह्यते । फलोत्कर्षोपवर्णनं कुप्रोपयुज्यते तत्रा-

रीति से अभिमान की अभिग्यक्तिपर्यन्त जो प्राणो को जाता है, उसकी उपासना करता है, (कर्म से अनधिकृत होने पर भी) उसको उपरोक्त फल मिलता है, यह अर्थ है ॥२८॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय का तृतीय ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥३॥

प्रथम अध्याय चतुर्थं ब्राह्मण

"पहले यह आत्मा ही था" । समुच्चित ज्ञान और कर्म से तथा 'यह प्राणविज्ञान कर्माभाव वाला प्रकेला होने पर देवभावप्राप्ति का साधन है' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा केवल प्राणविज्ञान से प्रजापतित्व की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया । समुच्चादिकल-भूत प्रजापति की जगत् की सृष्टि,

१. यदमातावस्य । २. अमूर्तत्वादिति—आधिदैविकस्वरूपेति बोध्यम् । ३. समुच्चयादे । ४. कर्मान-  
धिष्ठितस्यापीति भाष्य । ५. तद्वैतमित्यतः प्राप्तम् । ६. आपात इति—अविषयज्ञात इत्यर्थः । स्वानभिमत  
तात्पर्यमिति यावत् । ७. आदिना सर्वनियन्तृत्वादि ।

संभूतोऽनुवीक्ष्यान्वालोचनं कृत्वा 'कोऽहं' 'किलक्षणो वाऽस्मीति' नान्यद्वस्त्वन्तरमात्मनः प्राणपिण्डात्मकात्कार्यकरणरूपान्नापश्यन्न ददर्श । 'केवलं त्वात्मानमेव सर्वात्मानमपश्यत् ।' तथा पूर्वजन्मश्रौतविज्ञानसंस्कृतः सोऽहं-प्रजापतिः-सर्वात्माऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरद्व्याहृतवान् ।

ततस्तस्मादर्थः पूर्वज्ञानसंस्काराद्वात्मानमेवाहंमित्यभ्यधादग्रे तस्मादहं नामावस्तस्योपनिषदहमिति श्रुतिप्रदर्शितमेव नाम व्यक्ष्यति । तस्माद्यस्मात्कारणे प्रजापतावेवं

एवेति । स्वरूपधर्मे विषयो द्वौ विमर्शौ । नान्यदिति वाक्यमादायासरारिषि व्याचष्टे—वस्त्वन्तरमिति । दर्शनशक्यभावादेव वस्त्वन्तरं प्रजापतिर्न दृष्टवानित्याशङ्क्याऽहं—केवलं स्थिति । सोऽहमित्यादि व्याचष्टे—तथेति । यथा सर्वात्मा प्रजापतिरहमिति पूर्वस्मिञ्जन्मनि श्रौतेन विज्ञानेन संस्कृतो विराडात्मा तथेदानीमपि फलादस्यः सोऽहं प्रजापतिरस्मीति प्रथम व्याहृतवानिति योजना ।

व्याहरणफलमाह—तत इति । किमिति प्रजापतेरहमिति नामोच्यते साधारणं हीवं सर्वेषामित्याशङ्क्योपासनार्थमित्याह—तस्येति । आध्यात्मिकस्य वाक्यस्य पुरुषस्याहमिति "रहस्य नामेति यतो व्यक्ष्यत्यतः श्रुतिसिद्धमेवेत्तन्नामास्य "ध्यानार्थमिहोक्तमित्यर्थः । "प्रजापतेरहं नामात्वे लोकप्रसिद्धिप्रमाणपितृमुत्तरं वाक्यमित्याह—तस्मादिति ।

मादि लक्षण वाले मनु आदि का स्रष्टा वह ही विराट् था । पहले उत्पन्न हुए उस प्रजापति ने "अनुवीक्ष्य" अर्थात् अपने को त्रैलोक्यात्मक विराट्स्वरूप देखने के अभ्यस्त पश्चात् यथोक्तरूप में अन्वालोचन करके "मेरा क्या स्वरूप है ? मैं किस धर्म वाला हूँ ?" इस प्रकार विचार करके अपने प्राणसमुदायारमक और देहेन्द्रिय-सघात से निम्न (स्वतन्त्र या परतन्त्र) कोई पदार्थ नहीं देखा । अपने को ही अद्वितीय, सर्वात्मरूप से देखा । (दूसरा कोई पदार्थ न देखकर विराडात्मा ने क्या किया ?) । इस तरह पूर्वजन्म के श्रौतविज्ञानजनित संस्कार से युक्त होने के कारण (प्राचीन अभ्यास के बल से प्रत्यगारामा में ही मति हुई) 'वह सर्वात्मा प्रजापति मैं हूँ', यह पहले "व्याहरत्" अर्थात् कहा ।

१. अनुवाद. पादवाक्यवाची—तथा च त्रैलोक्यात्मक विराजस्वमहमस्मीति बह्वर्धनस्य यजमानावस्थायामभ्यस्त सादृशदर्शनादनु पश्चाद्यथोक्तदर्शनफल यथोक्तरूप बीर्येत्यागयेनाह—अन्विति । २. निस्वरूपः । ३. किंप्रमंशः । ४. सदासी विराट् देहादेहात्तरस्याज्जुत्यतेरासीयं पिण्डमात्रं स दृष्ट्वास्ततोऽन्यत् स्वतन्त्र परतन्त्र वा न किंचिदित्यभिप्रेत्याह—नान्यदिति । ५. प्राणसमुदायारमकात् । ६. अद्वितीयम् । ७. अपरमपश्यत् विराडात्मा किं दृष्टवानित्यपेक्षामाह—तथेति । ८. प्राचीनाभ्यासबलात्प्रत्ययात्मन्येवास्य मतिरनुदित्यागयेनाह—तथात्वेति । तथा च वार्तिके—"त्रैलोक्यात्मकदेहात्मा नापश्यदपरं पृथक् । भिन्नार्थानभिगमन्त्यात् प्रतीच्येवास्य धीरभूत् ॥ मशब्द दर्शनं सादृक् प्राणभ्यस्त तथैव स । व्याजहार फलावस्थो ह्यहमित्यात्मवाचनमिति" ॥४१-४२॥ ९. इति—आत्मवाचिना चन्देन । १०. प्रथमम् । ११. इति वक्ष्यतीति सम्बन्धः । १२. वृ० उ० ५. ७. २ । १३. सोऽयम् । १४. ध्यानार्थमिति—एतेन सत्त्वमपि नामान्तरेषु किमित्यनेनैवात्मानमुक्तवानित्युक्तमपास्तम् उपासनार्थत्वादस्येत्युक्तत्वादितिष्येयम् । १५. प्रजापतिरहमित्यग्रे व्याजहार ततोऽहं नामाभूदित्यत्र किं मानमिति ।

‘वृत्तं तस्मात्तत्कार्यभूतेषु प्राणिष्वेतद्द्वैतस्मिन्नपि काले आमन्त्रितः कस्त्यमित्युक्तः। सन्नहम-  
यमित्येवाग्र उक्त्वा कारणात्माभिधानेनाऽऽत्मानमभिधायाग्रे पुनर्विशेषणनामजिज्ञासवेऽप्या-  
नन्तरं विशेषपिण्डाभिधानं देवदत्तो यज्ञदत्तो वेति प्रभूते कथयति यन्नामास्य विशेषपिण्डस्य  
मातापितृकृतं भवति तत्कथयति ।

‘स च प्रजापतिः पूर्वजन्मनि सम्यक्कर्मज्ञानं भावनानुष्ठानैः साधकावस्थायां यद्यस्मात्कर्म-  
ज्ञानभावनानुष्ठानैः प्रजापतित्वं प्रतिपित्सूना पूर्वं, प्रथम-सन्नस्मात्प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमु-  
दायात्सर्वस्मादाद्यौषदहत्किमासङ्गाज्ञानलक्षणान्सर्वान्पाप्मनः प्रजापतित्वप्रतिबन्धकार-

‘उपासनायं प्रजापतेरहनामोपस्था’ पुरुषनामनिर्वचनं करोति—ए चेत्यादिना । पूर्वस्मिन्न-  
जन्मनि साधकावस्थायां कर्मअनुष्ठानैरहमहमिकया प्रजापतित्वप्रेप्सूना मध्ये पूर्वो य सम्यक्कर्मअनुष्ठानं  
सर्वं प्रतिबन्धकं यस्मादहहत्स्मात्स प्रजापति पुरुष इति योजना । ‘उक्तमेव स्फुटयति—प्रथमं सन्निति ।  
सर्वस्मादस्मात्प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमुदायात्प्रथमं सन्नोपविति सवन्ध । अकाङ्क्षापूर्वकं बाह्यं”

‘तत्’ अर्थात् इसी से, क्योंकि पूर्वज्ञान के सकारो से अपने को ही उसने प्रारम्भ में ‘ग्रहम्’  
इस (आत्मवाची शब्द) से कहा, इसलिये वह ग्रहनाम वाला हुआ । श्रुतिप्रतिपादित ग्रहनामा उस  
आत्मा को उपनिषद् भाग्ये बताएगी । इसलिए किस कारण से प्रजापति ‘ग्रह’ नामक से निष्पन्न हुआ,  
इसी से ‘एतद्हि’ अर्थात् इस समय भी उसके कार्यभूत जीवो में ‘तू कौन है’, ऐसा किसी को जब पूछा  
जाता है, तो वह पहले ‘ग्रह मैं हूँ,’ इस प्रकार अपने को कारणात्मा विराड् अभिधायक शब्द से  
बतलाता है । फिर जब विक्षेप नाम को पूछा जाता है, तो वह उसे विशेष पिण्डात्मक शरीर का  
‘देवदत्त या यज्ञदत्त’ इस प्रकार नाम कहता है, अर्थात् वह विशेषनाम जो इसके विशेषपिण्डात्मक  
शरीर के माता पिता द्वारा रखा जाता है, बतलाता है ।

उस प्रजापति ने पूर्वजन्म की साधक अवस्था में सम्यक् कर्म और ज्ञान के अभ्यासरूप  
अनुष्ठानों द्वारा इन कर्म और ज्ञान के अभ्यासरूप अनुष्ठानों से प्रजापतित्व चाहने वालों में ‘पूर्वं’  
अर्थात् प्रधान होने के कारण, इस प्रजापतित्व प्राप्ति के इच्छुक “सर्वस्मात्” अर्थात् पूरे समुदाय  
से “श्रोपत्” अर्थात् दण्ड कर दिया । क्या दण्ड कर दिया ? प्रजापतित्व में प्रतिबन्धक कारणभूत  
भासवित और अज्ञान लक्षण वाले सम्पूर्ण पापों को दण्ड कर दिया । ऐसा होने से पुरष हुआ अर्थात्  
पूर्व में दण्ड कर दिया, इसलिए पुरुष हुआ ।

जिज्ञासायां प्रत्यक्ष तत्र मानमित्यभिप्रायं तस्मादित्यादिनाप्यभवतारयति प्रजापतरिति । तथा च वातिने—  
“तत्कार्येण लिङ्गेन ज्ञापयन् कारणाभिधाम् । तस्यादपीति वक्तव्येता प्रसिद्धिं लोचसाक्षिकीमिति” ॥४५॥ प्रजाप-  
तिवार्थभूतप्रजावागतेनाहमिति व्याहरणेन प्रथमप्रवृत्तेन लिङ्गेन कारणजि तस्मिन्नमित्यभिधानं तस्मादित्यादिना  
ज्ञापयन् वेदस्तस्याह नामत्वे लोकप्रसिद्धिं च प्रमाणयतीत्यर्थः । १ अहमिति व्याहरणेनाह नामत्वं निष्पन्न-  
मित्यर्थः । २ कारणान्तर्गतो विराडोऽभिधायनेन शब्देनेत्यर्थः । ३ ज्ञाना-अभ्यास । ४ प्रधान । ५  
उपासनायमिति—विराज सर्वोत्पत्त्यस्य दक्षितत्वात् पुरुषत्वानियमात् स वै पुरुष इति स्मृतिविरोध इत्याशयेत्यादौ  
शेषः । ६ तदर्थमेव । ७ अहमिति अस्यामिति व्रीह्यादित्वाद् वृत् । ८ उतमिति—पूर्वराज्योपेत मुख्य-  
त्वमेवेत्यर्थः ।

एभूतान् । यस्मादेवं तस्मात्पुरुषः पूर्वमौपदिति पुरुषः ।

यथाऽयं 'प्रजापतिरोपित्वा प्रतिबन्धकान्पाप्मनः सर्वान्पुरुषः, 'प्रजापतिरभवत् । 'एवमन्योऽपि ज्ञानकर्मभावनानुष्ठानबह्विना केवलं ज्ञानबलादौपति भस्मी करोति ह वं, स तं कं योऽस्माद्विदुषः पूर्वं प्रथमः प्रजापतिर्वभूयति भवितुमिच्छति तमित्यर्थः । तं दर्शयति—य एवं वेदेति सामर्थ्याज्ज्ञानभावनाप्रकर्षवान् । नन्वनर्थाय प्राजापत्यप्रतिपित्सर्वविदा चेद्दृश्यते । नप दोषः । ज्ञानभावनोत्कर्षाभावात्प्रथमं प्रजापतित्वप्रतिपत्यभावमाश्रवत्वा-

दर्शयति—किमस्यादिना । पूर्वं प्रजापतित्वप्रतिबन्धकप्रवृत्तित्वे सिद्धमर्थमाह—यस्मादिति ।

'पुरुषगुणोपासकस्य क्लमाह—यथेति । अयं प्रजापतिरिति भविष्यद्वृत्त्या साधकोक्तिः, पुरुषः प्रजापतिरिति क्लमावस्थः स कथ्यते । कोऽसाधोपतीत्यपेक्षायामाह—त दर्शयतीति । पुरुषगुणः प्रजापतिरहमस्मीति यो विद्यास्तोऽग्यामोपतीत्यर्थः । विद्यासाम्ये कथमेता व्यवस्थेत्याशाङ्क्याऽह—सामर्थ्यादिति । हेतुसाम्ये दाहकत्वानुपपत्तेश्चत्तरप्रकर्षवानितरान्वहतीत्यर्थः । प्रसिद्धं दाहमावाप्य षोडशति—नन्विति । 'तथा च सत्प्रेप्साऽयोगात्तदुपास्यसिद्धिरित्यर्थः । विवक्षितं दाहं दर्शयन्नुत्तरमाह—

जिस प्रकार (साधकावस्था वाला) यह प्रजापति सम्पूर्ण प्रतिबन्धक पापों को जला कर (क्लावस्था वाला) प्रजापति पुरुष हुआ । इस प्रकार (साधकावस्थासम्पन्न प्रजापति के समान) दूसरा भी, ज्ञान और कर्म के अभ्यास की अनुष्ठानमयी अग्नि द्वारा केवल ज्ञान के बल से उसको "औपति" अर्थात् भस्मसात् कर देता है । किसे (भस्मसात् करता है) ? जो इस विद्वान् से "पूर्वं" अर्थात् प्रधान प्रजापति होना चाहता है, उसको भस्मसात् कर देता है ऐसा इसका आशय है । उसे ही श्रुति कहती है 'य एव वेद' अर्थात् "जो इस प्रकार जानता है" (हेतुसाम्य से दाहकत्व-शक्ति असिद्ध होने पर भी) सामर्थ्य से वह ज्ञान भावना से उत्कर्षवान् है । यदि वह इस प्रकार उपासना करने वाले से भस्म हो जाता है, तब तो प्रजापतित्व प्राप्ति की इच्छा ही अनर्थ का कारण है । (शङ्का नमाधान करते हैं—) इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि ज्ञानभावना के उत्कर्ष का अभाव होने से प्रधान प्रजापतित्व न प्राप्त कर सना ही उसका दाह है । उत्कृष्टसाधनसम्पन्न (उपासक) प्रधान प्रजापतित्व की प्राप्ति करता है, न्यूनसाधनसम्पन्न (साधक) नहीं प्राप्त कर सकता, इस कारण से वह उसे भस्म कर देता है । यह प्रसिद्ध नहीं है कि उत्कृष्टसाधनसम्पन्न अपने से इतर न्यून-

१ साधकावस्थ । २, क्लमावस्थ । ३ साधकावस्थप्रजापतिवत् । ४ नामान्तरेषु सत्त्वपि किमिति पुरुषनामनिर्दिष्टिरित्याशङ्क्य तद्व्याप्तावस्थोपास्यार्थमिति मत्वा । क्लमावस्थमवतारयति—पुरुषगुणोपासकस्येति । ५ ननु वागादौ घेन्वादिधीवत् पुरुषगुणे विगजि धीर्नेहि तत्र घ्यातुर्गदात्म्यं अन्यस्यान्यत्वायोगादिति चेदत्राह—वर्तित्वे—'पुरपोऽस्मीत्युपास्यार्थं पुरुषार्थोऽयमुच्यते । औपनीत्युक्तिः साक्षात् गुणोपास्तिफलधवात्" । ॥५२॥ पुरुषगुणे विराग्यहृष्टोपास्तिरिष्टत्यत्र पुरुषनिर्दिष्ट प्रमाणयति—द्रव्युपास्यार्थमिति । फलान्तरादप्येवार्थानुपपत्तामनिर्वचनेऽपि न च तदगुणे विराग्यहृष्टोपास्तिरित्याशङ्क्य आह—औपतीति । साक्षात्सूत्रभावस्य पुरुषगुण-विरादुपास्तिफलस्य यथोक्तवाक्यत श्रुतस्तरत्रनुमायेन विराग्यहृष्टोपास्तिनिर्दिष्टित्वं । ६ प्राजापत्यप्रेप्साया अनर्थहेतुत्वे च ।

सोऽविभेत्तस्मादेकाकी विभेति स हायमीक्षां चके

यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु विभेमोति तत एवास्य भयं

वीषाय कस्माद्वचभैष्यद्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

यह पुण्याकार प्रथम क्षत्रीय प्रजापति भयभीत हो गया । इसीलिए आज भी अकेला पुष्ट हो रहा है । पुनः उस प्रजापति ने यह विचार किया, यदि मुझमें भिन्न कोई नहीं तो फिर मैं किससे डरता हूँ ? इतना विचार करते ही उसका भय जाता रहा, क्योंकि भय का कोई कारण दीखता नहीं था । भय तो सदा दूसरे से होता है (आत्मैकत्व दर्शन से प्रजापति का भय मिट गया । अतः आज भी आत्मैकत्व दर्शन ही भय से मुक्त कराने वाला है) ॥२॥

दाहस्य । उत्कृष्टसाधनः प्रथमं प्रजापतित्वं प्राप्नुवन्पूज्यसाधनो न प्राप्नोतीति स त दहती-  
त्युच्यते न पुनः प्रत्यक्षमुत्कृष्टसाधनेनेतरो दह्यते । यथा लोके ग्राजिसूतां यः प्रथममाजिमु-  
पसर्पति तेनेतरे दग्धा इवापहतसामर्थ्या भवन्ति तद्वत् ॥१॥

यदिदं तुष्टुषितं कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मफलं प्रजापत्यलक्षणं नैव तत्संसारविष-

नैव दोष इति । तदेव स्पष्टयति—उत्कृष्टेति । प्राप्नुवन्भवतीति शेषः । औपचारिक दाह इष्टान्तेन  
साधयति—यथेति । ग्राजिमर्मादा ता सरति घावन्तीत्याजिसूतस्तेषामिति यावत् ॥१॥

ज्ञानकर्मफलं सौमं पदमुत्कृष्टत्वामुक्तिस्तद्व्यमुक्त्यभावात्तदेतुसम्बन्धीतिद्वये प्रवृत्तिरनधिके-  
त्याजिज्ञेय सोऽविभेदियस्य तात्पर्यमाह—यदिदमिति । तुष्टुषितं स्तोत्रमभिप्रेतमिति यावत् । ग्राह

साधन वाले को जला ही डालता हो । लोक में जिस प्रकार 'ग्राज' अर्थात् बालकादि द्वारा श्रीडा विशेष में की हुई सीमा को जो 'ग्राजिसूत' अर्थात् सीमा तब पहुंचने के लिए दी देने वाला पहले प्राप्त कर लेता है, उस पुरुष से दूसर पुरुष दग्ध से हो जाते हैं, अर्थात् अपने को सामर्थ्यहीन सा अनुभव करने लगते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए ॥१॥

यहाँ जिस प्रजापतित्व लक्षण वाले कर्मकाण्डविहितज्ञान और कर्म के फल की स्तुति करनी

१ प्राप्तम् । २ कर्मप्रधान तृतीयब्राह्मणमपि कर्मकाण्डशक्तितम् । ३ नैबनि—ननु ज्ञानवर्गम्यामाप्तमूत्र-  
रवादशेषनामैवस्तेनैव हीन फलं ससारान्तर्गतमित्याशङ्क्य समदधुर्वातिवे— “अत्यन्ताचारम्यविज्ञानविज्ञान-  
साधनं । यावद्विचित्रफलं नापि सर्वानर्थनिवृत्तये ॥ निरस्तातिषयं नमं ज्ञानं चाऽऽप्यापि बालवत् । अतोऽवि-  
भेदविद्यावानतोऽसावभेदादिषत् ॥ न ह्यविद्यामानायाप्यस्तुयापातम्यसंप्रसात् । कश्चिद्विभेदविशेषविशेष-  
प्रजापति ॥ अत्यन्ताचारम्यविशेषं वि शेषपुरुषार्थकृत् । इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थं विद्यदुपानस्य कुत्सनमिति ॥”  
५४-५७ ॥ आयादित्तस्य प्रजापतेर्न भवादि युक्तं तदेवविद्याभावादित्याशङ्क्याह—निरस्तंति । तस्य च  
विद्यमानाणि विद्याऽऽरम्भकर्मप्रतिबन्धात् सर्वात्मनाऽर्षिबद्धा निवर्तयत्युत्पन्नानन्वीषन्मुक्तवदितिनाम ॥ विराजो  
भवहेतुरविचारतीत्यन्वयमुत्तेनोक्त्वा व्यतिरिक्तमुक्तेनाह—नहीति ॥ वर्मज्ञानवत्तन्मूर्तेः विराट्कृष्टत्वेन प्राणुको-  
शुना निन्द्यते तत्कथं पदप्रदानमन्यायो नावतरेदित्याशङ्क्याह—अत्यन्तीति । ४ ससाररूप विषमयम् । ५  
तदेव—दाहस्योक्तवचनेव । ६ ग्राजिमर्मादिति—बालादिभिः श्रीडाविशेषे कृता सीमेति यावत् ।



यमत्यक्रामदितोममर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह—

सोऽविभेत्स प्रजापतिर्योऽयं प्रथमः शरीरी पुरुषविधो व्याख्यातः सोऽविभेद्भूत-  
वानस्मदादिवदेवेत्याह । यस्मादयं पुरुषविधः शरीरकरणवानात्मनाशविपरीतदर्शनवत्त्वा-  
दविभेत्तस्मात्तत्सामान्यादद्यत्वेऽप्येकाकी बिभेति । किंचास्मदादिवदेव भयहेतुविपरीतदर्श-  
नापनोदकारणं 'यथाभूतात्मदर्शनं सोऽयं प्रजापतिरोसामीक्षणं चक्रे कृतवान्ह स्म ।  
कथमित्याह—यद्यस्मान्मत्तोऽन्यदात्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरं प्रतिद्वंद्वीभूतं नास्ति तस्मि-  
न्नात्मविनाशहेत्वभावे 'कस्मान्नु बिभेमोति ।

विवक्षितार्थसिद्धयर्थं हेतु भयभाक्त्वमिति शेषः । ज्ञानकर्मफलं त्रैलोक्यात्मकसूत्रत्वमुक्तृष्टमपि संसारा-  
त्तन्मूतमेव न कंचित्यमिति चतुष्टयं बाध्यमित्यर्थः । ग्रहमेकाकी कोऽपि मा हनिष्यतीत्यात्मनाश-  
विषयविपरीतज्ञानवशात्प्रजापतिर्भूतवानित्यत्र किं 'प्रमाणमित्याशङ्क्य कार्यगतेन 'भयलिङ्गेन  
कारणे प्रजापती तदनुमेयमित्याह—यस्मादिति । तत्सामान्यादेकाकिताविशेषादिति यावत् । प्रजा-  
पते संसारान्तर्भूतत्वे हेत्वन्तरमाह—विचेति । यथाऽस्मदादिभी रज्जुस्थाण्यादौ सर्पपुरुषादिभ्रम-  
जनितभयनिबुल्ये विचारेण तत्त्वज्ञानं संपाद्यते तथा प्रजापतिरपि भयस्य तद्वेत्तोश्च विपरीतविधो  
ध्वस्तिहेतुं तत्त्वज्ञानं विचार्य संपादितवानित्यर्थः । परमायं दर्शनमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथ-  
मित्यादिना । तस्मिन्नित्यत्र तस्मादित्यादौ पठितव्यम् ।

मच्छब्दोपलक्षित प्रत्यक्चैतन्यमद्वितीयकृत्स्नरूपेण ज्ञात्वा सहेतु भीति प्रजापतिरक्षिपदित्युक्त-

अभीष्ट है, वह समारूप अर्थ से बाहर नहीं है । इसी को स्पष्ट करने के लिए श्रुति कहती है—

'सोऽविभेत्' वह डर गया । 'स' अर्थात् वह प्रजापति, जिसकी पुरुषविध प्रथम शरीरी के रूप  
म व्याख्या कर चुके हैं, वह 'अविभेत्' अर्थात् हम लोगों के समान ही भयमुक्त हो गया—ऐसा श्रुति  
कहती है । यह पुरुषविध शरीर और इन्द्रियो वाला प्रजापति विपरीतज्ञान से अपना नाश  
देखकर डर गया था, इसीलिए उससे समानता होने के कारण आज भी अपने को अकेला पाकर  
मनुष्य डरता है । इसके अतिरिक्त हमारे समान ही प्रजापति को भी भय-हेतुक विपरीतज्ञान की  
निवृत्ति यथाय आत्मदर्शन से हुई । उस प्रजापति ने 'ईक्षाचक्र' अर्थात् विचार किया । कैसे विचार  
सम्पादित किया ? इस पर कहा जाता है—'यत्' अर्थात् यदि मुझे "अन्यत्" अर्थात् भिन्न  
अनात्मभूत प्रतिद्वंद्वी कोई अनात्म वस्तु नहीं है तो आत्मविनाश वा कोई कारण न होने पर (प्रत्यक्,  
अभिन्न, अद्वितीय, चैतन्य, आनन्द ग्रहास्वरूप) मैं किससे भयभीत होता हूँ ?

- १ "स वै शरीरी प्रथम" इत्यादिमूल्युक्त । २ ईक्षणव्याख्यानमिदम् । ३ विचारेण संपादितवान् । ४  
अनात्मभूतम् । ५ कस्मान्त्विति प्रत्यक्चैतन्यमद्वितीयकृत्स्नरूपेण ज्ञात्वा सहेतु वस्मादित्यर्थः । तदुक्त  
वार्तिके—'प्रत्यक्षा बहुषो यस्मादज्ञात्वा चाऽऽप्यन स्वतः । एव सति कुतो ये भीरिति विद्वांस्यपायते' ॥६७॥  
इति । तस्मादद्वितीयाभावाद्भयहेतोरभावादिति शेषः । ६ श्रुत्यतिरिक्तमित्यर्थः । ७ भयेति—प्रजापतिर्कार्य-  
भूतान्नजनय भय कारणपूर्वकम् कार्यत्वादित्यादिवदित्यनुमानेनेत्यर्थः । न च प्रजापते भय प्राजापत्य भय विना  
हेत्वत्पदेव स्यात् कारणानुविधायित्वात्कार्यमित्यति ।

तत एव यथाभूतात्मदर्शनादेवास्य प्रजापतेर्भयं वीयाय विस्पष्टमपगतवत् । तस्य प्रजापतेर्द्वयं तत्केवलाविद्यानिमित्तमेव परमार्थदर्शनेऽनुपपन्नमित्याह—कस्माद्वयमेव्य-  
त्किमित्यसौ भीतवान्परमार्थनिरूपणायां भयमनुपपन्नमेवेत्यभिप्रायः । यस्माद्वितीयाद्व-  
स्त्वन्तराद्वै भयं भवति । द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युपस्थापितमेव । नह्यदृश्यमानं  
द्वितीयं भयजन्मनो हेतुः “तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” इति मन्त्रवर्णात् ।  
यच्चेकत्वदर्शनेन भयमपनुनोदापनोदितं तद्युक्तम् । कस्मात् । द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं

मिवासी तत्त्वज्ञानफलमाह—तत इति । कस्माद्वीत्यादेरुत्तरस्य पूर्वणं वीनरूपमित्याशङ्क्य विदुषो  
हेत्वभावात् भयमित्युक्तमर्थमर्थवादानुत्तरस्य नैवमिस्थाह—तस्येत्यादिना । अनुपपत्तौ हेतुमाह—  
यस्मादिति । परमार्थदर्शनेऽपि वस्त्वन्तरात्किमिति भय न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्वितीयं चेति । अन्व-  
यव्यतिरेकाभ्यां द्वैतस्याविद्याप्रत्युपस्थापितत्वेऽपि कुतस्तदुत्पद्यतद्वर्शनं भयकारणं न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह  
—न हीति । तत्त्वज्ञाने सत्यज्ञानायोगात्तदुत्पद्यतद्वर्शनं चायुक्तमित्यतो हेत्वभावाद्भूयानुपपत्ति-  
रित्यर्थः । अद्वैतज्ञाने भयनिवृत्तिरित्यत्र मन्त्रं सवादयति—तत्रेति । “विराडवयवदर्शनेनैव प्रजापतेर्भयम-  
पनोतं माद्वैतदर्शनेनेत्यस्मिन्नर्थेऽपि यन्मदव्यञ्जास्तीत्यादि शक्यं व्याख्यातुमित्याशङ्क्याऽऽह—

“तत एव” अर्थात् यथार्थ-आत्मज्ञान से ही इस प्रजापति का भय “वीयाय” विस्पष्ट रूप से  
चला गया । उस प्रजापति का जो भय था, वह केवल अविद्या के कारण से था, परमार्थदृष्टि हो जाने  
पर उसका होना अनुपपन्न था । इसे श्रुति कहती है—“कस्माद्वयमेव्यत्” अर्थात् वह क्या था जिससे  
उसे भय हुआ ? परमार्थदृष्टि ने वो भय हाना ठीक नहीं है । क्योंकि “द्वितीयाद्” अर्थात् दूसरी वस्तु से,  
ही भय होता है । (आत्मा स व्यतिरिक्त) दूसरी वस्तु तो अविद्या अवस्था में ही प्रतिष्ठापित की हुई  
है । “अद्वैतज्ञान हो जाने पर माह और शोक चला जाता है” इस श्रुतिवचन से सिद्ध होता है, कि जा  
वस्तु दिखाई नहीं देता, ऐसी दूसरी वस्तु भय की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकती । अहमर्थमय-दर्शन से  
प्रजापति ने जो भय को दूर किया, वह ठीक है । क्यों ठीक है ? क्योंकि “द्वितीयाद्” अर्थात् दूसरी

१ अपनोदयम् । २ आहनि-अस्मात्प्रतिधुतिरिति शेषः तद्युक्तम्—“ब्रह्मविद्यामृतं नान्यद्भूयहतुर्विनाशकम् ।  
समाभ्यमिति न प्राह तत एवेति च श्रुतिः” ॥६६॥ इति । किं तद्व्यवसायार्थमित्येतत् प्रत्यगज्ञानमव तदुक्तम्—  
“प्रत्यगज्ञानमेवैव भीतिहेतुर्भवति । तत एवेति वचनं तदेव स्यात्प्रत्यगज्ञानमिति” ॥६९॥ ३ अविद्यातत्कामयो-  
ध्वस्तत्वात् । ४. विराडवयवदर्शनेनेवेति—त्रैलोक्यात्मा जीवाविष्टो ब्रह्म विराटवयवार्थं तथा च वातिने—एव  
एवाहमस्मीह द्वितीयादि भगवति । द्वितीयो न मदन्योऽस्ति वस्माद्वैतोर्मयं ममेति” ॥६३॥ प्रतीतिर्हि प्रत्येत्ये  
मान न च द्वितीयो भावतो हेत्वभावात् भीतिरिति निगमयति—कस्मादिति ।

ऋग्वेदीयविद्यास्त्याह—“एवाहमस्मीह विरातो वाऽप्रवृत्तासवीन्येतस । पूर्वजन्मोऽय-  
मकाराद्भूयमाविरभूदिति ॥ अयमव्यञ्जिन हेतुर्भीसावकेऽयं जातमी । मतो यन्नाशदस्तीति ह्ययं वस्माद्वि-  
भेद्यहम् ॥ एक एवाहमस्मीह द्वितीयादि भगवोरिति । द्वितीयो न मदन्योऽस्ति वस्माद्वैतोर्मयं मम ॥ तत एव  
विराडवयवदर्शनादेव तद्व्ययम् । वीयाय न परजानादतोऽस्तिरयोष्यत ॥ एवावयवोतिविज्ञानात्त्रैलोक्यात्मैव-  
योचरात् । अगाद्भूय यतोऽतोऽपुनरस्तिरित्यस्य वाचिनं ॥ सम्भविज्ञानविश्वम्मावविद्यायां कुनोऽस्ति । ध्वस्ता-  
न्यस्यापि सा चेत् स्वादिनिर्मात्रं प्रमथ्यत ॥ नाविद्यापानि विज्ञानाद्भूयध्वस्तिरभूदिति । अरायुर्भूतिरिति न



अथानुपदिष्टमेव प्रादुरभूत् । अस्मदादेरपि तथा प्रसङ्गः । अथ जन्मान्तरकृतसंस्कार-  
हेतुकम् । एकत्वदर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । यथा प्रजापतेरतिक्रान्तजन्मावस्थस्यैकत्वदर्शनं  
विद्यमानमध्यविद्याबन्धकारणं नापनिये । यतोऽविद्यासंयुक्त एवायं जज्ञोऽविभेत् । एवं

स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—को वेति । न हि तस्य शास्त्रभ्रवणमाचार्याभावाभापि संन्यासस्तस्य प्रवर्णक-  
विषयत्वान्नापि श्रमाद्यैश्वर्यासक्तत्वादतोऽस्मासु प्रसिद्धभ्रवणादिविद्याहेतवभावान्न प्रजापतेरैक्यधीर्मुक्ते-  
त्यर्थः । उपदेशानपेक्षमेव प्रजापतेरैक्यज्ञानं प्रादुर्भूतमिति शङ्कते—अथेति । अतिप्रसक्त्या प्रत्याह—  
अस्मदादेरिति । प्रजापतेर्यजमानावस्थायामाचार्यस्य सत्त्वाच्छ्रवणाद्याभुत्तेरैक्यज्ञानोदयात्तत्संस्कारोत्थं  
तथाविधमेव तज्ज्ञानं फलावस्थायामपि स्यादिति चोदयति—अथेति । द्वयमिति—एकत्वेति । अज्ञान-  
ध्वंसित्वेनार्थवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । तत्र 'गमकमाह—यत इति । दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति ।

बिना उपदेश के उत्तरी उत्पत्ति हुई, तब तो हमारे लिए भी बँसा प्रसङ्ग हो सकता है । यदि पूर्वजन्म  
के संस्कार से होने वाला माना जाय, तो एकत्वज्ञान की अनर्थता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । जिस  
प्रकार अपने पूर्वजन्म में प्रजापति एकत्वविज्ञान के विद्यमान रहने पर भी अविद्यारूप बन्धन के  
कारण को दूर न कर पाया, क्योंकि अविद्यासंयुक्त पैदा होने के कारण ही यह भय को प्राप्त हुआ

१ हेतुम् ।

विपक्ष दोषमाह—भवस्तेति । निवृत्ताविद्यस्यापि यद्यतिरस्ति तथा सत्यनर्थत्वात्तस्य भुक्तेरनुपपत्तिरिति स्यादित्यर्थः ॥  
प्रजापतेर्भूतिध्वस्तित्वं परैक्यज्ञानादिति कसिन्न निगमयति—नाविद्येति । उक्तेर्ज्यै पूर्वोक्तमेव श्रुतं सिद्धं स्मार-  
यति—अस्तीति । परदर्शनराहित्यमस्ति तत्रा प्राणभूता प्रसिद्धमिति हिशब्दाय । इतरथ न परजानादिराजो  
भीतिध्वस्तिरित्याह—न चेति । विराजो मन्वादिसमाधिचार परज्ञावस्य निरवशात्तत्र स्फोरयति—विण्डति ।  
विण्डशब्देन मन्वादिबहो गृह्यते । अस्मात्प्रकरणविच्छेद विनिर्यथ ॥ विराट्प्रकरणेऽपि परज्ञान विराट्फलत्वा-  
दुपविद्यतामित्याशङ्क्याह—प्रकियेति । अथात्र परैक्यज्ञानं भीतिध्वसीति भाष्यहृतोक्तं तस्य भवाभानुमन्यते  
तत्राह—समीरितमिति । भाष्यकारोक्तं विच्छिद्यफलमपि परैक्यज्ञानमनवतरदुःखं विदुषां हृदयगममित्यत्र  
हृष्टात्तमाह—अकालेति ॥ अस्त्युदभूतिलिङ्गादिराट्प्रकरणान्न परधियोऽनवकारात्त्वमुक्तं तत्रैव सिद्धान्तरमाह  
—मिथुनेति । आदिशब्देन द्वितीयेच्छादिग्रहः । इह प्रजापतिवृष्टिप्रवरणे । तस्य प्रवृत्तिविषयः ॥ परज्ञानवती  
मैथुनादिदुर्व्यापारवारकश्रुतिस्मृतिस्वागमानुदाहरति—आत्मेति । आत्मन्येव क्रौञ्च यस्य न त्वनात्मनि पुनादा-  
विति तपोच्यते आत्मनि रतिरेव क्रिया तद्वानिति क्रियान्तर निरस्यते । विमिच्छन्त्वस्य कामावरवादिवाक्य  
सग्रहीतुं चशब्दः । तथेति—उत्तागमानुसारेणेति यावत् । आत्मन्येव मिथुनं न द्वितीयं वस्तुनीति यथातम्  
स्मृतेरर्थस्तु वक्ष्यते ॥ विराट्ज्ञानमेवात्र भयध्वनिं न परज्ञानमित्यत्र सिद्धान्तरमाह—कार्येति ॥ एव पूर्वपदा-  
यित्वा सिद्धात्समाहोपेति । नतिष्ठद्वामदेवादीनामुत्पन्नसम्भ्रजानानामपि स्वाधिकारस्याप्यपि यन्तमविद्यालेशाद-  
रत्वादिदर्शनात्प्रजापतेरपि समुत्पन्नसम्भ्रजस्यैव यावदधिकारमवोधतेतेनारत्यादिमभवात् परज्ञानादेव तस्य  
भयनिवृत्तिर्मावदधिकारमवस्थितिः राधिकारिकाणामिति न्यायादित्यर्थः । यत् प्रविजानुचितमित्यादि तत्राऽह—  
अप्रविष्टेति । स एव इह प्रविष्ट इति वाक्यं सत्येनाऽऽद्यैवेदमत्र मासीद्यन्मदन्मप्रासीत्यत्रोक्तं ब्रह्मणोऽप्रविष्ट-  
भावस्य परामर्शः । न ह्यप्रकृतं सर्वनाम्ना वक्ष्य परासत्त्वं न चान्यत्र ब्रह्म प्रस्तुतं तद्वेदमिति च सनिहितमेव-  
शब्देनानुकुप्यते । न चान्याहृतवाक्येऽपि तच्छब्देन प्रवृत्तत्वं बिना कारयतया ब्रह्मपरामर्शोऽज्ञो यन्मदन्मदित्यादौ न  
प्रक्रियानुचितस्य परस्येति । न च विराजोऽपि परं परिहृत्य सत्त्वादिनिर्लभ्यमिति भावः ॥

'सर्वेषामेकत्ववदशनानर्थक्यं' प्राप्नोति । अन्त्यमेव नियतकमिति चेत् । न । पूर्ववत्पुनः प्रसङ्गे नानेकान्त्यात् । तस्मादनर्थकमेवैकत्ववदशनमिति ।

नैव दोषः । उत्कृष्टहेतुद्वयत्वाल्लोकघत् । यथा पुण्यकर्मोद्भवं विविधतः कार्य-

नन्वस्मिन्नेव जन्मनि प्रजापतेरेकवधोरेनपेक्षा जायते 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य' इति स्मृतेः । न च 'तदुत्प-  
त्यन्तरेमेव सहेतुं यत्थं निरणद्धि भगवत्प्रादिकलेन प्रारब्धकर्मणा प्रतिबन्धादतो मरणवासिकं 'तद-  
ज्ञानध्वंसीति शङ्कते—अन्त्यमेवेति । 'पुत्तकस्य कर्मणः' 'स्वोपपादकाज्ञानलेशनाशिज्ञानशक्तिप्रति-  
बन्धकत्वेऽपि जन्मान्तरादिसर्वसंसार' हेतुज्ञानध्वंसिज्ञानसामर्थ्यप्रतिबन्धकत्वे मानाभावात्मान्ये' जातं  
ज्ञानमनिघातकमित्यशङ्क्यं यत्पुनस्तस्य' च ज्ञानस्य निवर्तकत्वे मान्यत्वं हेतुः । यजमानान्तरस्यान्ये  
ज्ञाने'सिद्धसिद्धादृष्टेरन्त्यत्वस्याज्ञानध्वंसि'त्वेना'नियमात् । 'न च यजमानान्तरे'प्रज्ञोपपत्तौ चान्त्यं  
ज्ञानं ज्ञानत्वादाज्ञानध्वंसि पूर्वज्ञानेषु यद्यहेतुज्ञानध्वंसिस्त्वादृष्टेर्ज्ञानत्वहेतोरनैकान्त्यात् । 'न चान्त्यम-  
व्यक्तानमैक्यज्ञानत्वादाज्ञानध्वंसीति युक्तम् । उपान्त्यतादृष्टानमवदम्येऽपि तदयोगादुपात्त्ये हेतोरनैका-  
न्त्यादित्यभिप्रेत्य ब्रूयति—नेत्यादिना । 'कल्पतरुकारणाभावात्तदन्तरेण चोत्पत्तावतिप्रसङ्गात्सकाराधीन-  
त्वेऽपि 'विशेषाभावादन्त्यस्य च ज्ञानस्याज्ञानध्वंसिस्त्वासिद्धेरयुक्तं प्रजापतेरेकत्ववदशनमित्युपसंहरति—  
तस्मादिनि ।

प्रजापते 'सुप्तप्रतिबुद्धयत्प्रकृष्टादृष्टोत्थकार्यकरणत्वत्वात्पूर्वकल्पोपपदपदार्थबाधयस्मरणघट 'स्मृति-  
विपरिवर्तिनो' 'वाच्यविद्याध्यायभाषाददृष्टसहकृतात्तत्त्वज्ञानं स्थाल्लोके विशिष्टादृष्टोत्थकार्यकरणानां

या । इसी प्रकार हम सभी के एकत्ववदशन की व्यर्थता प्राप्त होती है । यदि कहो कि 'अन्त मे होने  
वाला एकत्वज्ञान अविद्या का नाश करता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से  
प्रथमादिज्ञान मे, प्रथमादिज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी अज्ञान वा प्रसङ्ग सुस्थिर हो जाने के कारण  
अभिचार हो जायगा । इससे एकत्वज्ञान अयुक्त ही है ।

१ सर्वेषामिति—अस्मदादीनामिति दोषः । तथा च वार्तिके—“द्वन्वाशेषात्तरावस्य विराजोऽपि महाम् । नावा-  
धीदात्मविद्या न काऽऽज्ञाऽविद्यापनुत्तय इति” ॥७४॥ विद्याप्रतिबन्धविधुरस्यैव विराजो जन्मान्तरे सत्यपि विद्या यद्य-  
विद्या सत्तारहेतु नादहत तर्हि बहुप्रतिबन्धतामम्याक तद्व्याप्तदृष्टाहर्षमावापि न युक्त तस्मात् जन्मान्तरे तस्यै-  
वपुनः ज्ञानगतमित्यर्थः । २ पूर्वोत्पत्तिः । पूर्ववत्—प्रथमादिज्ञानेति । पुनः—प्रथमादिज्ञानोत्पत्त्यन्तरमपि । प्रसङ्गेन  
—अज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेनेत्यर्थः सुस्थिरत्वेनेति यावत् ॥ अनेकान्त्यात्—हेतोर्व्यभिचारित्वादित्यर्थः । प्रथमादिज्ञानेषु  
सत्त्वपि अज्ञानमवल चेत् तदा तज्जानीय सदन्त्य ज्ञानमपि तज्जानीयम् वचमुत्सहनति स्वदभिमतहेतोर्व्यभिचारित्व-  
मुत्थिरमित्यर्थः । ३ अयुक्तम् । ४ विद्युदे । ५ साधननिरोधः । ६ ऐक्यज्ञानम् । ७ तस्य  
प्रतिबन्धात् । ८ ज्ञानम् । ९ स्वस्थापनेत्यर्थः । १० भूवाज्जन्मम् । ११ प्रजापतयमन्त्यमव्यक्तज्ञानम-  
ज्ञाननिवर्तकम् इत्यनुभावे अन्त्यस्य च ज्ञानस्य निवर्तकत्वं निमित्तत्वं हेतु किं वा ज्ञानत्वमाहोस्मिद्वैक्यज्ञानत्व-  
मिति विवक्ष्यते दापगाह—आत्मस्य चेति । १२ अनेन दृष्टान्तिनिर्द्धारिण ध्वनिता । १३ व्याप्यभावात् ।  
१४ द्वितीय दूषयति न चेति । १५ तृतीय प्रत्याह—न चान्त्यमिति । १६ समर्थः । १७ अस्मादिवत्पि  
तत्पत्त्वस्य मुख्यत्वादित्यर्थः । पूर्वानुप्रवदस्मृत्तस्य वैयर्थ्यादिसंघातित परमांशः । १८ सुप्तप्रतिबुद्धवदिति—  
यथा सुप्त पुमान् प्रबोधनलोचनेराह्वानादिगारभात्तराभावेऽपि प्रातनजगरणस्वरूपसहस्रतादृष्टवशादेव प्रबो-  
धान्तीति तददित्यर्थः । १९ स्मृतिविषयात् । २० उत्त्वमादिवाक्यात् ।

करणैः संयुक्ते जन्मनि सति प्रजापतेर्धर्मज्ञानवैराग्य-  
स्वयंविपरीतहेतुसंघर्षात्प्रमादाद्वा द्विशुद्धः कार्यकरणैः संयुक्तमुत्कृष्टं जन्म तदुद्भवं चानुप-  
दिष्टमेव युक्तमेकत्वदर्शनं प्रजापतेः । तथाच स्मृतिः—

“ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।

ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्” इति ॥

सहसिद्धत्वे भयानुपपत्तिरिति चेत् । न ह्यादित्येन सह तम उदेति । न, ‘अन्या-

प्रजाद्यतिशयदर्शनात्तेन च ज्ञानेन जन्मान्तरहेत्वविद्यासंघेऽप्यारब्धं कर्म तज्जं च भयारत्याद्यविद्यालेशतो  
भविष्यतीति परिहरति—नैव दोष इति । सगृहीतमर्थं समर्थयते—यथेत्यादिना । धर्माविचतुष्टयाद्विपरी-  
तमधर्माविचतुष्टयं तत्र हेतोः सर्वस्य पाप्मनो ज्ञानाद्यतिशयेन नाशविति यावत् । उत्कृष्टत्वं प्रकृष्टज्ञाना-  
दिशालित्वम् । उक्तजन्मफलमाह—तदुद्भवं चेति । तस्य ज्ञानादिवंशारब्धे पीराणिको स्मृतिमुवाहरति  
—तथा चेति । अप्रतिघमप्रतिघट्टं निरङ्कुशमित्येतत्प्रत्येकं संबध्यते यस्यैतच्चतुष्टयं सहसिद्धं स निरव-  
र्ततेति सबन्धः ।

सहसिद्धत्वस्मृते ‘सोऽभिषेत्’ इति श्रुतिविषयत्वात्प्रामाण्यमिति ‘विरोधाधिकरणन्यायेन  
शङ्कते—सहसिद्धत्व इति । सत्येष सृजे ज्ञाने ‘स्वहेतोर्भयमपि स्यादिति चेन्नेत्याह—न हीति ।  
अन्येनाऽऽचार्येणानुपदिष्टमेव प्रजापतेर्ज्ञानमुदेतोऽप्येवमर्थपरत्वात्सहसिद्धवाच्यस्य तत्त्वज्ञानात्प्राक्तस्य  
भयमाविहदुमूर्ध्वं चाज्ञानलेशादतो’ न विरोधः श्रुतिस्मृत्योरिति समाधत्ते—नेत्यादिना । ज्ञानोत्पत्तेरा-

(शङ्का का परिहार करते हैं) यह कोई दोष नहीं है । क्योंकि लोकव्यवहार के समान प्रजा-  
पति का जन्म उत्कृष्टहेतु से हुआ है । जिस प्रकार पुष्पकर्मों से उत्पन्न विशुद्ध-देह धीर इन्द्रियो से  
संयुक्त जन्म होने पर भी बुद्धि, धारणशक्ति, धीर स्मृति की विशदता देखी जाती है, उसी प्रकार  
धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से विपरीत होने वाले समस्त पापों के भस्म हो जाने प्रजापति का  
विशुद्ध-देह धीर इन्द्रियो से संयुक्त उत्कृष्ट जन्म है । उससे होने वाला प्रजापति का एकत्वदर्शन भी  
अनुपदिष्ट है—ऐसा मानना ठीक ही है । स्मृति भी इसका समर्थन करती है—

१ अन्यानुपदिष्टेति । विरोधं चाप्रामाण्य परस्परव्याघातात् इत्याचार्या । न चान सर्वाग्रहणस्मृते स्पृष्टोद्गा-  
नश्रुतवच निषोविरोधवत् विरोधोऽप्रतीति भावः । आचार्या जैमिनयः । २ आदिना वैराग्यादि । ३  
विरोधाधिकरणन्यायेनेति—“औदुम्बरी चेष्टनीया सर्वलोपा स्मृतिरिति । अमितिर्वेति सन्देह मिति स्यादष्टादि-  
वत् ॥ औदुम्बरी स्पृष्टम् गायदिति प्रत्यक्षवदत् । विरोधान्मूलवेदस्थाननुष्ठानादमप्यतः ॥ प्रत्यक्षानुमितश्रुत्योर्ब्र-  
ह्मापातवशानात् । अमात्वे शङ्कते बाधोऽनुमानस्यात्र वर्धते ॥ परस्परव्यवहारोऽयं मूल वेदेष्टव्यस्तत् । अस्तेवम-  
प्यनुष्ठान स्वप्रत्यक्षानुरोधतः ॥ इत्यधिकरणमालोक्तन्यायेनेत्यर्थः । मिति प्रमा । अष्टावर्गविशेष तस्यास्मृति-  
सिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्व यथा तद्वत् ॥ स्मृत्यानुमीयमान स्मृतेर्मूलभूतो वदः ॥ अमात्वम्—अप्रमात्वम् ॥ अत्र यथा  
—औदुम्बरी स्पृष्टम् गायदिति प्रत्यक्षानुतिविरोधात् औदुम्बरी सर्वविष्टनीयेति स्मृते तदनुमितमूलभूतश्रुतेरप्रा-  
प्रामाण्य तद्वदित्यर्थः । विरोधेति—तथा च जै० सू० “विरोधे त्वनपेक्ष स्यादसति ह्यनुमानम्” । १ ३ २ इति । श्रुति-  
विरोधे सति स्मृतिप्रामाण्यमनपेक्षितमसति तु तस्मिन् स्मृतिमूलश्रुत्यनुमानमित्यर्थः । ४. स्वस्य भयस्य, हेतोः  
अज्ञानात् । ५. वाक्यस्य यथोक्तमत्वात् ।

नुपदिष्टार्यत्वात्सहसिद्धवाक्यस्य । 'श्रद्धातात्पर्यप्रणिपातादीनामहेतुत्वमिति चेत् । 'स्या-  
न्मतम्--"श्रद्धावांल्लमते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्येवमादीनां  
श्रुतिस्मृतिविहितानां ज्ञानहेतूनामहेतुत्वं प्रजापतेरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्वे ज्ञानस्येति  
चेत् । न । निमित्तविकल्पसमुच्चयगुणवदगुणवत्त्वभेदोपपत्तेः ।

लोके हि 'नैमित्तिकानां कार्याणां निमित्तभेदोज्ञेयकथा' विकल्प्यते । तथा निमित्त-  
समुच्चयः । तेषां च विकल्पितानां समुच्चितानां च पुनर्गुणवदगुणवत्त्वकृतो भेदो भवति ।

कार्याद्यनपेक्षत्वे श्रद्धाविधिधानानर्थक्यादनेकश्रुतिस्मृतिविरोध स्यादिति शङ्कते—ग्रह्येति । आदिपदेन  
ज्ञानविग्रहः । 'अस्मदादिषु तेषां हेतुत्वमिति चेन्नेत्याह—प्रजापतेरिवेति । चोदितं विरोधं निरा-  
करोति—नेत्यादिना । "निमित्तानां विकल्प समुच्चयो गुणवत्त्वमगुणवत्त्वमित्यनेन प्रकारेण कार्यात्पत्तौ  
विशेषसंभवात् श्रद्धाविधिध्यानर्थक्यमित्यर्थः ।

सग्रहवाक्यं विवृणोति—लोके हीति । तद्धि सर्वं विकल्पादि यथा ज्ञातुं शक्यं तथैकस्मिन्नेव

"जिस जगत् के पालक प्रभु के अप्रतिबद्धज्ञान, अप्रतिबद्ध वैराग्य, अप्रतिबद्ध ऐश्वर्य और  
अप्रतिबद्ध धर्म—ये चारो सहजसिद्ध हैं (वह निरवतित हुआ)" इत्यादि ।

किन्तु इनके सहजसिद्ध होने पर प्रजापति को भय होना अयुक्त है । सूर्य के साथ ग्रन्थकार का  
उदय कभी नहीं होता । ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं । क्योंकि स्मृतिप्रोक्त इस सहजसिद्धवाक्य के  
प्रयोजन ज्ञान को आचार्यादि से अनुपदिष्ट बतलाना है । (फिर शङ्का होनी है) ऐसा होने पर तो  
श्रद्धा, तत्परत्व एवं नमस्कारादि की (ज्ञानोत्पत्ति में) ग्रहेतुता हो जायेगी । (सगृहीत श्रद्धादि गुणों  
को स्पष्ट करते हैं—) यदि प्रजापति के समान जन्मान्तरकृत धर्म ही ज्ञान का हेतु होगा तो  
"श्रद्धावान् तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष को ही ज्ञान प्राप्त होता है", (तत्त्वदर्शियों को) नमस्कार  
करके उस ज्ञान को जानो" इत्यादि श्रुतिस्मृति-समर्थित वाक्यों द्वारा ज्ञान के हेतुओं की ग्रहेतुता-  
पुष्टि हो जायेगी । (शङ्का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान के साधनों के  
विकल्प, समुच्चय, गुणवत्त्व और अगुणवत्त्व इस प्रकार से कार्य-उत्पत्ति में विशेष होने के कारण  
श्रद्धादि की अयुक्तता का बाध हो जाता है ।

लोक व्यवहार में सहेतुव कार्यों का निमित्तभेद विकल्प से अनेक प्रकार का होता है । उसी  
प्रकार निमित्तसमुच्चय भी अनेक प्रकार का होता है । और पुनः उन विकल्पित और संयुचितों का  
भी गुणवत्त्व और अगुणवत्त्व कृत्रिम भेद होता है । उद्यो को बताते हैं । पहले नैमित्तिकरूप ज्ञान कार्य

१ तत्परत्वैत्यर्थः । २ श्रद्धेत्यादिना सगृहीत विवृणोति स्यादिति । ३ यत् स्यादिति सम्बन्धः । ४  
प्रजापतेरिवेत्यादि—अस्मदादिष्वपि ज्ञानस्य प्रजापतेरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्व मति श्रुत्यादिविहितानां ज्ञानहेतूना-  
महेतुत्व मति स्यादिति सम्बन्धः । तथा च तद्विधानमनर्थकं स्यात् । पुरुषभेदेन (अधिकारिभेदेन) अवयवत्वे च विशेष-  
(समुच्चयविधायक) श्रुत्यादिविग्रहमिति भावः । ५ गृह्यसूक्तानाम् । ६ विकल्पेवानेकस्याभवतीत्यर्थः । ७  
अनेकस्याभवतीत्यर्थः । ८ तद्विधायकश्रुतिरित्यर्थः । ९ अस्मदादिनिष्ठज्ञान प्रतीत्यर्थः । १० ज्ञानसाधनानाम् ।

तद्यथा रूपज्ञान एव तावन्नैमित्तिके कार्ये तमसि विनाऽऽलोकेन चक्षुरूपसंनिकर्षो 'नयत्-  
चराणां रूपज्ञाने निमित्तं भवति 'मन एव केवलं रूपज्ञाननिमित्तं योगिनामस्माकं' तु'  
संनिकर्षालोकाभ्यां 'सह' । तथाऽऽदित्यचन्द्राद्यालोकभेदैः समुच्चिता-निमित्तभेदा भवन्ति ।  
तथाऽऽलोकविशेषगुणवदगुणवत्त्वेन भेदाः स्युः ।

एवमेवाऽऽत्मैकत्वज्ञानेऽपि क्वचिज्जन्मान्तरकृतं 'कर्म निमित्तं भवति । 'यथा  
प्रजापतेः । क्वचित्तपो निमित्तम् । "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः । क्वचित्

नैमित्तिके रूपज्ञानाद्यकार्ये दर्शयामीत्याह—तद्यथेति । तत्र विकल्पमुदाहरति—तमसीत्यादिना ।  
समुच्चयं दर्शयति—अस्माकं त्विति । विकल्पितानां समुच्चितानां च निमित्तानां गुणवदगुणवत्त्वप्रयुक्तं  
भेवं कथयति—तथेति । आलोकविशेषस्य गुणवत्त्वं बहुलत्वमगुणवत्त्वं मन्दप्रभत्वं 'चक्षुरादेर्गुणवत्त्वं  
निर्भलत्वादि "तिमिरोपहतत्वादि चागुणवत्त्वमिति भेदः ।

दृष्टान्तं प्रतिपाद्य दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । तथाऽप्यस्यापि प्रजापतितुल्यस्य वामदेवादेर्ज-  
न्मान्तरौपसाधनवशाद्विश्वरानुग्रहावस्मिन्नुन्मनि स्मृतवत्त्वादेक्यज्ञानमुदेतीति शेषः । भृगुस्तत्तुल्यो  
वाऽधिकारी ब्रह्मविद्युच्यते । तपोऽप्यव्यतिरेकाद्यमालोचनम् । इत्येतैस्तु प्रभृतिषु ज्ञाननिमित्तानां  
समुच्चयं दर्शयति—एवविदित्यादिना । एकान्तं "नियतमावश्यकं ज्ञानसाधने निमित्तत्वमिति यावत् ।

मे (मार्जारादि) रात्रि मे विचरण करणे वालो को बिना प्रकाश के अन्धकार मे होने वाला, चक्षु-रूप  
सन्निकर्ष रूपज्ञान मे कारण होता है (नही तो मार्जारादि रात्रि के अन्धकार मे रहने वाले भूषकादि  
को कैसे पकडते ?) । दूसरा विकल्प न होने से योगियों का मन हो रूपज्ञान मे हेतु है । हम  
अयोगियों को तो चक्षु-सन्निकर्ष और प्रकाश होने पर रूप ज्ञान होता है । इसी प्रकार सूर्य और  
चन्द्रादि आलोकभेद से विकल्पित और समुच्चित निमित्तो के भेद होते है । तथा आलोकविशेष के  
गुणत्व और अगुणत्व निमित्त भेद हो जाते है ।

१ नक्तञ्चराणामिति—मार्जारादीनामित्यर्थः । कथमन्यथाऽप्यनारम्यवर्तितस्तत्तुल्यस्य भूषकादिगृहीतुमिति भावः । २.  
विधान्तरेण विवृत्यार्थमाह—मन इति । ३ अयोगिताम् । ४ मनोरूपज्ञाननिमित्तमित्यन्वयः । ५ ममुच्चये  
प्रकारान्तरं दर्शयति—तथेति । चन्द्राद्यालोके सह चक्षुरादि वैपाचित्तत्र निमित्तमित्यर्थः । ६ श्ववणादिरूपम् । ७  
यथा प्रजापतेरिति । न चात्र नियामकमात्रं "यो ब्रह्मण विदधातीति" श्रुती प्रजापतियुद्धादौस्वरानुग्रहादौ जन्मो  
वेदादिर्भावोवर्तेरिति भावः । ८ उदितानुदितहोमवद्विषयवस्थितविकल्पमित्यर्थः । ९ प्रमात्रादीनां धोतृतां  
गुणवत्त्वदोषपरत्वात्मान्तेरेण्या निमित्तविकल्पं दर्शयति—चक्षुरादेरिति । आदिना प्रमात्रप्रमथयोर्ग्रहः । तत्र प्रमाता  
ज्ञानपरिणामी साक्षात्तत्त्वात् नरणाख्य तस्य गुणवत्त्व प्रवृष्टप्रवृत्तत्वादि । वैपरीत्य दोषवत्त्वम् । प्रमथो घटादि तस्य  
दोषो दूरत्वादि गुणः सन्निरुष्टत्वादि । दार्ष्टान्तिके यद्धादिषु गुणवत्त्वम्—उत्तरं । दोषवत्त्वं निवृत्ति इति  
द्वष्टव्यम् । १० चक्षुर्गन्तदोषविशेषस्तमिरः । ११ अन्वयेत्यादि—अत्र प्राणादित्यभिन्नचित्स्थित्वात्मानात्मा स्वगा-  
दिवत् आत्मा तु रज्ज्वादिवदव्यभिचारी यद्वा उत्पत्त्यादिभावेत्वात्प्रधानात्मनात्मत्वम् ब्रह्मणस्तु तद्वादिद्विषयात्म-  
त्वमित्येवविधानमव्यतिरेकात्प्रविशारादौ तत्र शब्देन विवक्षित इत्यर्थः । तदुक्तं वाग्विने— "अन्वयव्यतिरेक-  
विन्तन वा तपो भवेत् । अहं ब्रह्मैति वाक्यार्थबोधायात्मनिदं यत् इति ॥" वाक्यतात्पर्यान्वयेन मापनविधेयानु-  
संधान फलविशेषविन्तन चादिसम्बन्धेन गृह्यते । १२ नैतद्विना ज्ञान संभवतीति भावः ।



“आचार्यवानुरूपो वेद” “श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्” “तद्विद्धि प्रणिपातेन” “आचार्यद्विव”  
 “द्वष्टव्यः श्रोतव्यः” इतिश्रुतिस्मृतिभ्य एकान्तज्ञानलाभनिमित्तत्वं ‘श्रद्धाप्रभृतीनाम् ।  
 ‘अधर्मादिनिमित्तवियोगहेतुत्वात् । वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानां च साक्षाज्ज्ञेयविषय-  
 त्वात् । पापादिप्रतिबन्धक्षये’ चाऽऽत्ममनसोभूतार्थज्ञाननिमित्तस्वाभाव्यात् । तस्मादहेतुत्वं  
 न जातु ज्ञानस्य’ श्रद्धाप्रणिपातादीनामिति ॥२॥

अथ प्रणिपातादिव्यतिरेकेण न प्रजापतेरपि ज्ञानं संभवति सामग्र्यभावादत आह—अधर्मादिति ।  
 प्रणिपातावेर्ज्ञानोदयप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्प्रजापतेश्च तन्निवृत्तेर्जन्मान्तरीयसाधनायत्तत्वाद्वाधुनिकप्रणि-  
 पातादिना विना स्मृतवाक्यावेवैक्यधीः संभवतीत्यर्थः । ‘तर्हि श्रवणादिव्यतिरेकेणापि प्रजापतेर्ज्ञानं  
 स्यादित्याशङ्क्याऽह—वेदान्तेति । न तेषामा ज्ञानं कस्यचिदपि स्यात्प्रजापतेस्तु जन्मान्तरीयश्रवणव-  
 शाविदानीमनुस्मृतवाक्यास्तदुत्पत्तिरिति शेषः । तर्हि श्रद्धाविक्रमपि प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वेन प्रजापतेराद-  
 रणीयं तन्निवृत्तिमन्तरेण ज्ञानोत्पत्त्यनुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽह—पापादिति । आत्ममनसोमयः ‘संयुक्तयोः  
 संबन्धि यत्पापं तत्कार्यं च रागादि तस्यामेवज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्धस्य पूर्वोक्तेन न्यायेन क्षये सति प्रजा-  
 पतेरीश्वरानुग्रहात्स्मृतवाक्यस्य परमार्थज्ञानोत्पत्तौ केवलस्य निमित्तत्वात्तस्याऽऽधुनिकश्रद्धाद्यतिरेकेण  
 ज्ञानोदयेऽपि न तद्विधिवन्मध्यम् । अस्माकं तद्ग्राहये तदुत्पत्तेर्वाक्यतात्पर्याद्विज्ञानं सर्वेषामेव ‘ज्ञानसा-  
 धनमाचार्यादिषु पुनर्विकल्पसमुच्चयादित्यर्थः । अधिकारिभेदेन ज्ञानहेतुषु विकल्पेऽपि तेषामस्मात्  
 समुच्चयाच्च श्रुतिस्मृतिविरोधोऽस्तीत्युपसंहरति”—तस्मादिति ।

इसी प्रकार आत्मैकत्वज्ञान मे भी कभी-कभी पूर्वजन्मकृत श्रवणादिरूप कर्म निमित्त होता  
 है । जैसे प्रजापति की बुद्धि मे ईश्वर के अनुग्रह से वेद आविर्भूत हुए । कभी-कभी आत्मैकत्वज्ञान मे  
 तप निमित्त होता है । “उस निर्विकल्पक ब्रह्म को तप से जानने की इच्छा करो” ऐसा श्रुति द्वारा सिद्ध  
 होता है । कही-कही श्रुतियां “आचार्यवान् पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है”, “श्रद्धावान् पुरुष को ज्ञान  
 प्राप्त होता है”, “(तत्त्वदर्शी महात्माओं को) नमस्कार करके उसे जानो”, “आचार्य के  
 द्वारा ही (विद्या स्थिर होती है)”, एव “इस आत्मा का ही दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना  
 चाहिये” ऐसा कह कर अधर्मादिरूप जो ज्ञान प्रतिबन्धक है, उनके निमित्त का नाश हो जाने से श्रद्धा  
 आदि को द्वितीय ज्ञानलाभ निमित्त कहा है ।

वेदान्त के श्रवण, मनन और निदिध्यासन तो साक्षात् ज्ञानसाधन होने के कारण ब्रह्म को  
 श्रद्धादि की तरह परम्परा रूप से नहीं, अपितु साक्षात् विषय करते हैं । पापादि प्रतिबन्ध के नाश होने  
 पर आत्मा और मन का भी उत्पन्नज्ञान मे निमित्तों का स्वाभाविकत्व है । इसलिए ज्ञान की उत्पत्ति  
 मे श्रद्धा, प्रणिपातादिकों का ग्रहेतुत्त्व कभी नहीं हो सकता ॥२॥

१. पूर्वोक्तान्वयीदम् । २. अधर्मादिरूपाणि यानि ज्ञानप्रतिबन्धनिमित्तानि तेषाम् । ३. साक्षाज्ज्ञानसाधन-  
 त्वादन्तरङ्गसाधनत्वात्तु श्रद्धादिवत् परम्परया । ४. तत्त्वार्थज्ञाने निमित्तानां स्वाभाविकत्वादित्यर्थः । ५.  
 उत्पत्ताविति शेषः । ६. प्रजापतेः श्रवणादिपूर्वजन्मानुग्रीवारे । ७. तादात्म्यापन्नयोः । ८. एवं ज्ञानजन्म-  
 निमित्तानां विकल्पसमुच्चयश्च भवादिति शेषः । ९. श्रद्धादिविधित्यर्थः । १०. ज्ञानसाधनोभूतेषु । ११.  
 स्यान्मतमित्यादिनोपप्रान्तस्योपसंहरः ।

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय-

मैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमा<sup>१</sup>सौ संपरि-

ष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च

पत्नी चाभिव्रतां तस्माद्विदमर्धंबृगलमिव स्व इति ह

स्माऽऽह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत

एव ता<sup>२</sup> समभवत्ततो मनुष्या अजायेन्त ॥३॥

उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसीलिये आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नहीं करता (इष्ट वस्तु के संयोग से होने वाली कोखा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिये और अरति की निवृत्ति के लिये) उस प्रजापति ने दूसरे को अर्थात् स्त्री की अभिलाषा की, जैसे परस्पर स्त्री पुरुष आलङ्घित होते हैं वैसे ही परिणाम वाला वह सत्य सकल्प प्रजापति भी हो गया । उससे इस अपने शरीर को ही दो भागों में बांट दिया । उसी से पति और पत्नी हुये । इसीलिये कौविक शरीर द्विदल अन्न के एक दल के समान है अर्थात् बकेला पुरुष अर्ध द्विदल के समान है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । मत यह पुरुष का अर्ध आकाश स्त्री से पूर्ण होता है, विवाह के पश्चात् वह पुरुष उस स्त्री से संयुक्त हुआ पूर्ण माना जाता है । उसी मयुन की प्रवृत्ति से मनुष्य उत्पन्न हुये हैं ॥३॥

इतश्च संसारविषय एव प्रजापतित्वं यतः स प्रजापतिर्वै नैव रेमे रतिं नान्वभवद्-  
रत्याविष्टोऽभूदित्यर्थोऽस्मदादिष्वेव यत इदानीमपि तस्मादेकाकित्वाविधमंबवत्त्वादेकाकी  
न रमते रतिं नानुभवति । रतिर्नामिष्टार्थसंयोगजा क्रीडा । तत्प्रसङ्गिन इष्टविद्योगान्म-  
नस्याकुलीभावोऽरतिरित्युच्यते । स तस्या अरतेरपनोदाय द्वितीयमरत्यपघातसमयं

प्रजापतेर्भयाविष्टत्वेन संसारान्तर्भूतत्वमुक्तमिदानीं तत्रैव हेत्यस्माह—इत्येवेति । अरत्या-  
विष्टत्वे प्रजापतेरेकाकित्वं हेतुं करोति—यत इति । कार्यस्यारतिः कारणस्यारतेर्निष्पत्तिरनुमानं  
सूचयति—इदानीमपीति । आदिपदेन भयाविष्टत्वादिवह । अरतिं प्रतिषेधोक्तिरिति द्वारा निर्वाति—  
रतिर्नामेति । कर्म तर्हि यथोक्त रतिनिरसनमित्याशङ्क्य स द्वितीयमच्छवित्येतद्व्याचष्टे—स तस्या

इसलिए प्रजापति होना भी संसार के अन्तर्गत है, क्योंकि “स” अर्थात् उस प्रजापति ने  
“वै नैव रेमे” अर्थात् आनन्द अनुभव नहीं किया । (एकाकी होने से) हम लागा के समान ही उदास  
हो गया, यह भाव है । इसलिए इस समय भी “तस्मात्” अर्थात् एकाकित्वादि धर्मों से मुक्त होने के  
कारण “एकाकी न रमते” अर्थात् आनन्द अनुभव नहीं करता । इष्टवस्तु के संयोग से होने वाली  
मानसोत्सासविशेष श्रीडा का नाम ही रति है । उस इष्टवस्तु में संयुक्त पुरुष के मत से इष्टवस्तु  
के विद्योग होने पर जो व्याकुलता होती है, उसे अरति कहा जाता है । उस व्याकुलता को दूर करने

१ संसारान्तर्गतम् । २ एकाकित्वादिति शेषः । ३ मानसोत्सासविशेषः । ४ अनुमानमिति—विराभाभा-  
ऽरत्याविष्टोऽभूदेकाकित्वादस्मदादिष्वेवित्याशङ्क्यमित्यर्थः । निवृत्ताविद्याय पुनः स्वाध्यायसमाप्तिपर्यन्तमाध्या-  
यिजीवन्मुक्तानामिव आरत्यहेतुविशालेयानुवृत्त्याऽरत्याद्युपपद्यत इति भावः । ५ अरत्याविष्टत्वे ।

‘स्त्रीवस्त्वैच्छद्गृद्धिमकरोत् । तस्य चैवं स्त्रीविषयं गृध्यतः स्त्रिया परिष्वक्तस्येवा’ऽऽ-  
मनो ‘भावो बभूव । स तेन ‘सत्येप्सुत्वाद्’ तावानेतत्परिमाण आस बभूव ह ।

किं परिमाण इत्याह—यथा लोके स्त्रीपुमांसावरत्यपनोदाय संपरिष्वक्तौ यत्परि-  
माणौ स्यातां तथा तत्परिमाणो बभूवेत्यर्थः । स ‘तथा तत्परिमाणमेवेम’मात्मानं द्वेषा  
द्विप्रकारमपातयत्पातितवान् । इममेवेत्यवधारणं ‘मूलकारणाद्विराजो ‘विशेषणार्थम् ।  
न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन दधिभावापत्तिवद्विराड्भावोपमर्देन तावानास । किं तद्वात्माना

इति । स हेत्यस्य वाक्यस्य पातनिका करोति—तस्येति । तेन भावेनेति यावत् । कथमभिमानमात्रेण  
यथोक्तपरिमाणत्वं तत्राऽऽह—सत्येति । निपातोऽवधारणे । तस्यैव पुनरनुवादोऽन्वयार्थः ।

परिमाणमेव प्रदनपूर्वकं विवृणोति—किमित्यादिना । सप्रति स्त्रीपुंसयोस्तत्पत्तिमाह—स तथेति । तनु  
द्वेषाभावा ‘विराजो वा ससक्त’स्त्रीपुंसागतस्य “पिण्डस्य वा नाऽऽद्य सशब्देन विराड्प्रहायोगास्तस्य  
कर्मात्वाद्वितीयो त्वात्मशब्दानुपपत्तिस्तत्राऽऽह—इममिति । “तथा च सशब्देन कर्तृतया विराड्प्रहणम-  
विच्छेदमित्यर्थः । “तदेव स्फुटयति—नेत्यादिना । कस्य “तर्हि द्विधाकरणमित्याशङ्क्याऽऽह—किं  
तर्हीति । तच्च द्विधाकरणकर्मैति शेषः । कथं तर्हि तत्राऽऽमशब्दः संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—स एव चेति ।

के लिए उसने “द्वितीयम्” अर्थात् अरति को नाश करने में उपयुक्त स्त्रीरूप वस्तु की “ऐच्छत्” अर्थात्  
लालसा की । इस तरह स्त्री के लिए लालसा होने पर स्त्री से आलिङ्गन करते हुए उसे अपने अन्त-  
करण का अभिमान उत्पन्न हुआ । सत्यसङ्कल्प होने के कारण उस अभिमान से वह “एतावान्” अर्थात्  
इस परिमाण वाला “आस” अर्थात् हो गया ।

किस परिणाम वाला हो गया ? इस पर कहते हैं । जिस प्रकार लोक व्यवहार में स्त्री और पुरुष  
(एकाकी में आनन्द अनुभव न करने से) मन की उत्कण्ठा को दूर करने के लिए परस्पर आलिङ्गित  
होते हैं, वे दोनों जिस परिणाम वाले होते हैं, वह उसी परिमाण वाला हो गया—यह भाषाय है ।

१ स्त्रीवस्विति—स द्वितीयमैच्छदिति द्वितीयमात्रस्येष्टवधूतस्तस्य च स्त्रीत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अरत्यपपात-  
समर्थमिति । तथा शीघ्रत वातिवे— इच्छामात्रमरत्युत्पद्यमानव्यस्यीतस्त्रियम् । प्रयुङ्क्त योम्यतस्तस्वास्तदन-  
व्याऽऽरति प्रभो” ॥१११॥ इति । एकावित्वावरतिरुत्पत्ता द्वितीयपञ्चा तन्मात्र स्त्रीविशेषणाद्वे द्वितीयमात्र-  
विषय तदवत्यपनोदनासमर्थं पुंस्यनवस्थ द्वितीयत्वेन स्त्रियमुपस्थापयति तदन्ताभावि प्रजापतेररतिस्तस्मादवत्यप-  
पाते स्त्रियो योग्यत्वास्तं तद्विच्छावम् । अतएव दृष्टान्तेऽपि स्त्रीप्रहणमिति वार्तिकार्थः । २ अन्तकरणस्य ।

३ अभिमानः । ४ सत्यसङ्कल्पत्वात् । ५ सपरिष्वक्तस्त्रीपुंसप्रकारेण । ६ स्वतरीरम् । ७ मूलकार-  
णादित्यादि—अनुशतल्लोपत्तितो जभूतात् सपरिष्वक्तस्त्रीपुंसपरिमाणवाच्यरीरान्तरादित्यर्थः । यदा विराट् इत्यन-  
न्तर द्विधाकरणत्रिधाकरणं पिण्डस्येति शेषः । विशेषणार्थमित्यस्य व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः । तथा चेमेवेत्यवधारण  
जगतो मूलकारणतो विराडात्मानं सनादाद्विधाकरणत्रिया कर्मोभूतस्य परिष्वक्तस्त्रीपुंसपरिमाणस्य पिण्डस्य  
व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः । एष च स इममेवात्मानं द्विधाश्रातयदित्यस्यायमर्थः । स जन्ममूलकारणीभूत पुरुषविष-  
प्रथमसारीरो प्रजापतिविषाडाभा, इममेव स्वस्माद्विधावृत्त पुरोवर्तिन परिष्वक्तस्त्रीपुंसपरिमाण पिण्डमात्मानमा-  
स्मीयत्वेनाभिमत द्विधाश्रातयत् द्विप्रकार पातितवान् स द्विधाश्रुतोत्तस्य भागद्वय इत्यवानिति यावत् । ८  
व्यावृत्त्यर्थः । ९ विराट्परीरस्य । १० स्त्रीपुंसमात्रस्य । स्त्रीपुंसात्मकस्य इति पाठान्तरे । ११ तद्-  
वेणोत्पन्नदेहान्तस्य । १२ विराजो द्विधावात्मानमुपगमे च । १३ तस्य ततो व्यावर्तनमेव । १४ विराजो  
द्विधाभावनमैतान्मुपगमे ।

व्यवस्थितस्यैव विराजः । सत्यसंकल्पत्वादात्मव्यतिरिक्तं स्त्रीपुंसपरिष्वक्तपरिमाणं शरीरान्तरं बभूव । स एव च विराट् तथाभूतः स हैतावानासेति सामानाधिकरण्यात् ।

ततस्तस्मात्पातनात्पतिश्च पत्नी चामवतामिति वंपत्योर्निर्वचनं लौकिकयोरत एव तस्माद्यस्मादात्मान् एवार्थः पृथग्भूतो येयं स्त्री तस्मादिदं शरीरमात्मनोऽर्धवृगलमर्धं च तदर्धवृगलं विदलमर्धं विदलमिवेत्यर्थः । प्राक्संयुद्धनात्कस्यार्धवृगलमित्युच्यते स्व आत्मन इति । एवमाह स्मोक्तवान्किल याज्ञवल्क्यो यज्ञस्य बल्को वक्ता यतबल्कस्तस्यापत्यं

तथाभूतः संसक्तजायापुं परिमाणोऽभूदिति यावत् ।

न केवलं मनुः क्षतरूपेयमयोरेव वंपत्योरिदं निर्वचनं किंतु लोकप्रसिद्धयोः सर्वयोरेव तयोरेतद्ब्रह्मण्यं सर्वत्रास्य संभवदितिहाह—लौकिकयोरिति । उक्ते निर्वचने लोकावृभवमनुकूलयति—तस्मादिति । प्रागिति “सह्यमंभारिणोसवन्धात्पूर्वमित्यर्थः । आकाङ्क्षाद्वारा वष्ट्रीमाशायानुभवमवसन्ध्य व्याचष्टे—कस्येत्यादिना । बृगलशब्दो “विकारार्थः । अनुभवसिद्धेऽर्थे प्रामाणिकसंमतिमाह—

एक दूसरे से प्रालिङ्गित स्त्री-पुरुष की तरह उसने उस परिणाम वाले अपने इस शरीर को ही “द्वेषा” अर्थात् दो प्रकार से, “पातयत्” अर्थात्—पात कर दिया । मूलकारण से विराट् की व्यावृत्ति के लिए “इमम् एव” अर्थात् “इस शरीर को ही” यह निश्चयार्थक प्रयोग है । तो क्या अपने स्वरूप को संवधा नाश कर दूध से दधिभाव प्राप्ति की तरह पूर्वस्वरूप को सर्वथा विनष्ट कर विराट् ऐसे परिमाण वाला नहीं हुआ ? तो फिर कैसा हुआ ? अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हुए ही विराट्, सत्यसङ्कल्प होने के कारण अपने से भिन्न प्रालिङ्गित-स्त्रीपुरुष के परिमाण वाला दूसरा शरीर हो गया । वही पूर्वस्वरूप में अवस्थित विराट् या, संयुक्त-स्त्रीपुरुष के भी विराडाकार होने से वह इस प्रकार परिमाण वाला हो गया । एक ही अधिकरण में रहने से “सः” और “एतावान्” का समानाधिकरण है ।

‘सत.’ अर्थात् उस पातन से, मनु नाम के पति हुए और क्षतरूपा नाम वाली पत्नी हुई । यह सार्वत्रिक पति-पत्नी का निरूपण है । क्योंकि अपने शरीर से ही अर्धार्ध में विभक्त हुई यह स्त्री है । “तस्मादिदम्” अर्थात् इसी से यह शरीर अपनी आत्मा का अर्धवृगल है अर्थात् अर्ध विभाग है । उस विभाग में से जो अर्धविभाग है, उसे अर्धवृगल उसी प्रकार कहते हैं, जिस प्रकार भुक्ति और मोक्ष को दो भागों में विभक्त करने पर एक भाग को अर्धविदल कहते हैं । यदि ऐसा है तो विवाह से पूर्व स्त्री किसकी अर्धवृगल कही जाती है ? इस पर श्रुति कहती है—“अपनी आत्मा की ही अर्धवृगल होती है ?” ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा है । (याज्ञवल्क्य नाम क्यों पड़ा ?) “याज्ञवल्क्य.” अर्थात् यज्ञ का बरक या वक्ता यज्ञवल्क, उसकी मतान याज्ञवल्क्य हुई, उसे देवराति भी कहा है । ब्रह्मा का

१. मनु । २. क्षतरूपा । ३. निरूपणम् । ४. अतएवेति—अस्य निर्वचनस्य सार्वत्रिकत्वादेत्यर्थः । ५. स्वशरीरादेव भागो विभक्त इत्यर्थः । ६. स्वस्य । ७. विदलमिति भुक्तिवन्धाद्यर्थमागवदित्यर्थः । ८. पुरयत् । ९. तस्यापि नियन्त्रारारवादिति शब्दः । १०. अर्धभारिण. परस्त्रीप्रापयेन न भवति पूर्णतया-अपने संयुद्धनादित्याप्य व्याचष्टे—सह्यमंभारिणोसवन्धादिति । ११. विभागार्थः ।

सो हेयमीक्षांचक्रे । कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा ।  
 संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरमधदृषम् ।  
 इतरस्ताऽ० समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतरा-  
 ऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताऽ० ।

उस शतरूपा ने (कन्या-गमन निषेध स्मृति वाक्य का) विचार किया कि अपने से उत्पन्न कर मेरे साथ सभोग कैसे करता है ? अच्छा हो । ऐसी परिस्थिति में मैं छिप जाऊँ । मत बह गयी हो गयी, इसे देख दूसरा मनुरूप पुरुष वृषभ होकर उससे सभोग करने लगा । इससे गाय और बल उत्पन्न हुए । फिर वह शतरूपा घोड़ी हो गयी और मनु अच्छा घोड़ा बन गया । पुनः वह गर्दभी हो

याज्ञवल्क्यो देवरातिरित्यर्थः । ब्रह्मणो वाऽपत्यं यस्मादयं पुरुषार्थ आकाशः स्रग्धंशून्यः पुनरुद्बहनात्समात्पूर्यते स्रग्धर्धेन पुनः संपुटीकरणेनैव विदलार्थः । तां स प्रजापतिर्मन्वा-  
 ल्यः शतरूपाख्यामात्मनो दुहितरं पत्नीत्वेन कल्पिता समभवन्मैथुनमुपगतवान् । ततस्त-  
 स्मात्तदुपगमनान्मनुष्या अजायन्तोत्पन्नाः ॥३॥

सा शतरूपो हेयं सेयं दुहितृगमने स्मार्तं प्रतिषेधमनुस्मरन्तीक्षांचक्रे । कथं न्विद-

एवमिति । द्वेषापत्तेन सत्येको भागः पुरुषोऽपरस्तु स्त्रीत्यत्रैव हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति । उद्बहनात्प्राग-  
 यत्थायामाकाशः पुरुषार्थः स्रग्धर्धंशून्यो यस्मादसंपूर्णो वर्तते तस्मादुद्बहनेन प्राप्तस्रग्धर्धेन पुनरितरो  
 भागः पूर्यते यथा विदलार्थोऽसंपूर्णः संपुटीकरणेन पुनः संपूर्णं क्रियते सद्बुद्धिर्वा योजना । पूर्वमपि  
 'स्वाभाधिकयोऽप्यतायशेन संसर्गोऽमृदनादित्वात्ससारस्थेति सूचयितुं पुनरित्युक्तम् । पुरपार्थस्येतरार्थस्य  
 च मिथः संबन्धान्मनुष्यादिसृष्टिरित्याह—तामित्यादिना ।

स्मार्तं प्रतिषेधमिति । न सगौत्रा समानप्रवरा भार्या विन्देतेत्यादिकमिति यावत् । अङ्गार्यं हीदं  
 यदुद्बुहितृगमनं मातृतश्चाऽऽपञ्चमात्मपुरुषात्पितृतश्चाऽऽसप्तमादिति स्मृतेरिति मत्वाऽऽह—कथमिति ।

पुन याज्ञवल्क्य है—ऐसा भी प्रसिद्ध है । क्योंकि यह पुरुषार्थ शून्यत्वसादृश्य से आकाश स्रग्धर्धंशून्य है,  
 इसलिये विवाह करने पर पुनः यह स्रग्धर्ध से पूरित होता है । जैसे (शुक्ति-वेणु आदि के) विदलार्थ  
 पुनः सम्पुटित कर देने पर पूर्ण हो जाता है । "ताम्" अर्थात् उस मनुनामक प्रजापति ने पत्नीरूप  
 से कल्पना की हुई अपनी शतरूपानाम की कन्या से "समभवत्" अर्थात् मैथुन किया, "ततः" अर्थात्  
 उस मैथुन धर्म से मनुष्य "अजायन्त" अर्थात् उत्पन्न हुए ॥३॥

स्मृतिप्रोक्त पुत्रीगमन सम्बन्धी प्रतिषेधवाक्य का स्मरण कर वह यह शतरूपा सोचने

१ प्रसिद्धो याज्ञवल्क्य । २ शून्यत्वसादृश्यादावाप । ३ तामिति—ननु मनुशतरूपाम्ना मनुष्यादिमृष्टि-  
 बंधने न च तयो मृष्टिमसिष्टा ताभ्यामन्यसृष्टिर्बन्धु भुक्तेत्याशङ्क्याऽह वाचिने—'बिराजमसृजद्ब्रह्मा  
 सोऽमृत्युष्य विराट् । पुरुषं च मनु विद्धि यत्स्य मानवी प्रजा' ॥११॥ इति । स्रष्टा हि पुरुषो न सुवक्त्रोऽ-  
 मनुप्रविशेदित्याशङ्क्याह—पुरुषमिति । द्वेषाज्जातयदित्यत्र द्वेषापानन्यायेन मनुशतरूपयो मृष्टिरिति भाव  
 इत्यादि । ४ आधिक्ययोऽप्यता । ५ एवविधकन्या भार्यात्वेन गात्रोक्त्यादित्यर्थः ।

समेवामवत्तत एकशफमजायताजेतराऽभवद्वस्त इतरो-  
ऽविरतिरां मेघ इतरस्ता<sup>१</sup> समेवामवत्ततोऽजावयो-  
ऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्य-  
स्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

गयी, तब मनु गर्दभ हो गया और उससे सभोग करने लग गया । इस मिथुन से एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए । पुनः शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया । जब वह भेड़ हो गयी, तब मनु भेड़ा हो गया और उससे सभोग करने लग गया । इसी से भेड़ बकरे उत्पन्न हुए । ऐसे ही चीटी से लेकर जितने स्त्रीपुरुषरूप जोड़े हैं, उन सभी की इसी प्रकार उन दोनों ने सृष्टि की ॥४॥

मकृत्यं यन्मा मानात्मन एव जनयिष्योत्पाद्य संभवत्युपगच्छति । यद्यप्ययं 'निधृ'णोऽहं  
हन्तेदानीं तिरोऽसानि जात्यन्तरेण तिरस्कृता भवानोत्येवमीक्षित्वाऽसौ गौरमवत् ।  
उत्पाद्यप्राणिकर्मभिश्चोद्यमानायाः पुनः पुनः संव मतिः शतरूपाया मनोभ्रामवत् । ततश्च  
ऋषम इतरः । ता समेवामवदित्यादि पूर्ववत् । ततो गावोऽजायन्त । तथा बडवेतराऽभ-  
वबन्धुषु इतरः । तथा गर्दभीतरा गर्दभ इतरः । तत्र 'घडवाभ्वृषादीनां संगमात्तत  
एकशफमेकखुरमभ्याभ्वतरगर्दभाख्यं त्रयमजायत । तथाऽजेतराऽभवद्वस्तसृष्टाग इतरः ।  
तथाऽविरतिरा मेघ इतरः । तां समेवामवत् । तां तामिति वोप्ता । तामजां तामवि चेति

तयोर्जात्यन्तरगमनं कथमित्याशङ्क्याऽह—यत्पपीति । शतरूपायां गोभावमापन्नायामुपभाविभावो  
मनोर्भवतु तावता यथोक्तदोषपरिहारस्तयोर्बडवादिभावे तु न कारुण्यमस्तोत्पाद्यशङ्क्याऽह—उत्पाद्येति ।  
ततस्तस्या गोभावादनन्तरमिति यावत् । गवां जन्मार्थं मिथःसंभवनं ततःशब्दाद्यैः । तत्र तेषामुत्पत्तौ  
सत्यामिति यावत् । बाणपद्वये वोप्ता विवक्षितेत्याह—तामिति । तामेवाभिनयति—तामजामिति । तां

लगी । 'कथं तु' अर्थात् यह प्रश्नास्त्राय कृत्य है, जो अपने से ही उत्पन्न करके मुझमें "संभवति"  
अर्थात् ग्राम्य धर्म करता है । यद्यपि यह तो नितैज्ज है, मैं "हन्त" अर्थात् भब "तिरोऽसानि"  
जात्यन्तर रूप से अपने को छिपाये लेती हूँ—यह सोचकर वह गाय हो गयी । उत्पन्न किय जाने वाले  
प्राणियों के कर्मों से उदित हुई बुद्धि के समान मनु और शतरूपा की पुनः पुनः वैसे बुद्धि होती रही ।  
शतरूपा के गोभाव के अनन्तर मनु बेल हो गया । वह पूर्ववत् गाय के साथ ग्राम्यधर्म करने लगा ।  
गो बृषम के सम्बन्ध के बाद गाय बेल उत्पन्न हुए । फिर शतरूपा घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो  
गया । इसके बाद शतरूपा गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हुआ । उन घोड़ी और अश्वश्रेष्ठ के समागम  
से घोड़ा सन्धर और गर्दभाख्य तीनों एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए । इसी प्रकार शतरूपा बकरी  
हो गयी और मनु बकरा हो गया, शतरूपा भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा हो गया और उस उम शरीर से  
सङ्गम करने लगा । "ता" शब्द की "ताम्, ताम्" अर्थात् "वह-वह" यह द्विवक्ति समझ लेनी

१. नितैज्ज । २. बोधुषसम्बन्धादन्तरम् । ३. गर्दभावब्राह्मीपाददन्तर इति बोध्यम् । ४. आदिपद  
प्रधानाची । ऋषभोत्तम इति यावत् । ५. यथोक्तदोषेति—स्मार्तप्रतिषेधातिशयप्रयुक्तप्रत्यवायरूपदोषेत्यर्थः ।

६. दशयति ।

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहं<sup>७</sup> होद<sup>८</sup> सर्वमसृक्षीत  
ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्या<sup>९</sup> हास्यंतस्यां भवति य एवं  
वेद ॥५॥

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की रचना करने के बाद उस प्रजापति ने जाना कि "मैं ही सृष्टि हूँ"  
मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। अतएव वह प्रजापति सृष्टि नाम वाला हुआ। जो ऐसा  
जानता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रजापति के समान ही सृष्टा होता है ॥५॥

सममवदेवेत्यर्थः । ततोऽजाभ्रावयभ्राजावयोऽजायन्त । एवमेव यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदं  
मिथुनं स्त्रीपुंसलक्षणं द्वंद्वमा पिपीलिकाम्यः पिपीलिकामिः सहानेनैव न्यायेन तत्सर्वम-  
सृजत जगत्सृष्टवान् ॥४॥

स प्रजापतिः सर्वमिदं जगत्सृष्ट्वा<sup>१</sup> जेत् । कथम् । अहं वावाहमेव सृष्टिः सृज्यत  
'इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टि'रिति । यन्मया सृष्टं जगन्मदमेवत्वादहमेवास्मि न मत्तो  
व्यतिरिच्यते । 'कुत एतत् । अहं हि यस्मादिदं सर्वं जगदसृक्षि सृष्टवानस्मि तस्मा-

वड्वां तां गर्वभीं चेत्यपि द्रष्टव्यम् । ततो 'मिथ संभवनाद्ययोक्तादिति यावत् । विशेषाणामानन्यात्प्रत्ये-  
कमुपदेशासंभव मन्वान्, मक्षिप्योपसंहरति—एवमेवेति । 'तद्विभजते—इद मिथुनमिति । पशुकर्मप्रयोगो  
'न्याय' ॥४॥

"यद्यपि मन्वाविसृष्टिरेवोक्ता तथापि सर्वा सृष्टिरुक्तंवेति सिद्धवत्कृत्वाऽहं—स प्रजापतिरिति ।  
अवर्गति प्रजनपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना । कथं सृष्टिरस्मोत्यवधार्यते कर्तृ क्रिययोरेकत्वाद्योगा-  
दित्याशङ्क्याऽहं—सृज्यत इतीति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यन्मयेति । जगच्छब्दादुपरि तच्छब्द-  
मप्याहृत्याहमेव तदस्मीति संबन्धः । "तत्र हेतु राह—मदभेदत्वादिति । एवकारार्थमाह—नेति । मदभे-  
दत्वादित्युक्तमाक्षिप्य समाधत्ते—कुत इत्यादिना । न हि सृष्टं स्रष्टुरर्थान्तरं तत्सर्वं तेन "तेन मायावि-

चाहिये प्रयात् बकरारूप मनु ग्रीर भडारूप मनु उस बकरीरूपा शतरूपा ग्रीर भेडरूपा शतरूपा से  
समागम करने लगा । उससे बकरी ग्रीर भेडो की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार जो कुछ भी है, चीटी से  
लेकर स्त्रीपुरुष-द्वन्द्वतमक जगत् है, उसने इन सबकी इसी तरह से "प्रसृजत" प्रयात् उत्पत्ति की ॥४॥

उस प्रजापति ने यह सब जगत् उत्पन्न करके समझा । किस प्रकार समझा ?—"अहं वाव"  
प्रयात् मैं ही, सृष्टि हूँ । "सृजन की जाती है" इस व्युत्पत्ति से सृष्ट जगत् को "सृष्टि" इस शब्द से  
कहा जाता है । जिस जगत् की मैंने सृष्टि की है, विवर्तरूप से जगत् मुझसे अभिन्न होने के कारण

- १ आद्योऽभिप्रायप्यवत्वर मत्वाक्त पिपीलिकामि सहति । २ अवगतवान् । ३ इति व्युत्पत्त्यर्थः ।
- ४ इति शब्देत्यर्थः । ५ मदमेवत्वादिति—मद्विगतत्वे न जगतो मदभिप्रत्यवादित्यर्थः । ६ कुत एतदिति
- जगतस्त्वदभेदत्वेऽपि को हेतुर्तितासेषार्थः । ७ मंयुनात्मकादित्यर्थः । ८ उपसहारवाक्य विवृणोतीत्यर्थः ।
- ९ रीति । १० ननु पूर्णा सृष्टिमसृष्ट्वा सृष्टिरस्मीति श्रष्टा कथं सर्वा सृष्टिमवधारयतीत्याऽऽशङ्क्य या
- वक्ष्यमाणा सोमानीन्द्रादिरूपाऽनुपाहृतसृष्टि साप्सुतानुवाह्यमन्वाविसृष्टिवदुच्यते विराहं मन्यते अतस्तामपेक्ष्य
- सृष्टिरस्मोत्यवधारितवानित्यभिप्रेत्योत्तरावयमवतारयति—यद्यपीति । ११ तत्रेति—सृष्टिरस्मोत्यवधारण इत्यर्थः ।
- १२ रूपेणेत्यर्थः ।

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत  
तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनि-  
रन्तरतः । 'तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकं देवमे-

इस प्रकार फिर उस प्रजापति ने मन्थन किया । उससे मुखरूप योनि से दोनो हाथो के द्वारा अच्छी प्रकार मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया । इसीलिए ये दोनो ही हाथ भीतर को और से लोम-रहित है, क्योंकि स्त्रियो की योनि भीतर से लोम शून्य ही होती है (अतः ये हाथ और मुख दोनो ही बाह्य अग्नि को योनि माने जाते हैं । यासिक लोग अग्नि, इन्द्रादि को) इसीलिए भिन्न-भिन्न देवता

वित्पथः । यस्मात्सृष्टिशब्देनाऽऽत्मानमेवाभ्यधात्प्रजापतिस्ततस्तस्मात्सृष्टिरभवत्सृष्टिना-  
मामवत् । सृष्ट्या जगति हास्य प्रजापतेरेतस्यामेतस्मिज्जगति स प्रजापतिवत्सृष्ट्या  
भवति स्वात्मनोऽनन्यसूतस्य जगतः । कः । य एवं प्रजापतिवद्योक्तं स्वात्मनोऽनन्यसूतं  
जगत्साध्यात्माधिसूताधिदेवं जगदहमस्मीति वेद ॥५॥

एवं स प्रजापतिर्जगदिदं मिथुनात्मकं सृष्ट्या ब्राह्मणादिवर्णनियन्त्रीर्देवताः सिसृक्षु-  
रावौ । 'अथेति' शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनार्थम् । अनेन प्रकारेण मुखे हस्तौ प्रक्षिप्याभ्यमन्थदा-

वववस्थानादित्यर्थः । ततः सृष्टिरित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति । किमर्थं स्रष्टुरेवा 'विभूतिरपविष्टेत्या-  
वाङ्मुखाऽह—सृष्ट्यामिति । जगति भवतीति सबन्धः । बाक्यार्थमाह—प्रजापतिवदिति ॥५॥

अनु सर्वा सृष्टिरुक्तोक्तं च प्रजापतेर्विभूतिसंकीर्तनफलं किमवशिष्यते यवर्थमुत्तरं बाक्यमित्या-  
वाङ्मुखाऽह—एवमिति । आदावभ्यमन्थदिति 'सबन्ध' । अभिनयप्रदर्शनमेव विशदयति—अनेनेति ।

"मैं ही हूँ" वह मुझसे भिन्न नहीं है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् को "असृष्टि"  
अर्थात् उत्पन्न किया है । इसलिए यह मुझसे अभिन्न है—यह इसका माशय है । क्योंकि प्रजापति ने  
अपने का ही सृष्टि शब्द से कहा था, "ततः" अर्थात् इसलिए "सृष्टिरभवत्" अर्थात् सृष्टि नाम वाला  
हुआ । "हास्य" अर्थात् इस प्रजापति को "सृष्ट्याम्" अर्थात् सृष्टि जगत् में "एतस्याम्" अर्थात् इस जगत्  
में । वह प्रजापति के समान अपने से अभिन्न जगत् का स्रष्टा होता है । कौन स्रष्टा होता है ? जो  
'एवम्' अर्थात् प्रजापति के समान पूर्वकथित अपने से अभिन्न जगत् को (प्रजापति के तादात्म्यरूप से)  
"अध्यात्म, अधिसूत और अधिदेव के सहित जगत् मैं हूँ" इस प्रकार जानता है ॥५॥

इस प्रकार मिथुनात्मक सृष्टि की उत्पत्ति कर प्रजापति ने ब्राह्मणादि चार वर्णों को नियमा-  
धीन करने वाली देवताओं की इच्छा से पहले अग्निदेवता को उत्पन्न किया । "अथ"  
शब्द अनुप्रास सृष्टि के अनन्तर का बोधक है । "इति" शब्द मन्थनप्रकारक अभिनय प्रदर्शन के

१. तत-तत्र-कर्मकाण्डे इत्यर्थः । आहुरिति बुधवर्णिन देवतामेव पारमाथिक भवमाना आहुरित्यर्थः । देवमिति तस्मादरणीयमिति शेषः ।
२. स्रष्टा भवतीति—प्रजापतिना तादात्म्यरूपतया सद्गुणैव स्रष्टा भवतीत्यर्थः ।
३. अथेति—अनाथशब्दोन्मुखाहसृष्ट्यावन्त्यर्थः । इतिशब्दस्तु मन्थप्रकाराभिनयप्रदर्शनार्थ इति विवेकः ।
४. सृष्टिरूपा विभूतिः ।
५. सबन्ध इति—तथा चानुप्रासब्राह्मणादिसृष्ट्यनन्तरमनुप्राह्वाभ्यादिसृष्टिं अनुपुनर-  
वाक्यमिति भावः ।



तस्यैव सा 'विसृष्टिरेव उ ह्येव सर्वे देवाः । अथ  
यत्किंचेदमाद्रं' तद्रेतसोऽसृजत तद् सोम एतावद्वा  
इदं<sup>१</sup> सर्वमन्नं चैवान्नादश्च<sup>२</sup> सोम एवान्नमग्निरन्नादः

मानते हुए भी ऐसा कहते देखे जाते हैं कि इस अग्नि का यजन करो, इस इन्द्र का यजन करो, क्योंकि वह एक ही प्रजापति देव की विगृष्टि है । यह प्रजापति ही नितिस देवस्वरूप है, तत्पश्चात् उस प्रजापति ने वीर्य से उस वस्तु को उत्पन्न किया, जो कुछ भी यह समार मे गोला दीपना है वही सोम है । यह सब इतना ही है, यही अन्न और अन्नाद है । सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है । यह

'निमुह्येन मन्यनमकरोत् । मुखं हस्ताभ्यां मयित्वा स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां च योनि-  
न्यामग्निं ब्राह्मणजातेरनुग्रहकर्तारमसृजत सृष्टवान् । यस्माद्वाहकस्याग्नेर्योनिरेतदुभयं हस्तौ  
मुखं च तस्मादुभयमप्येतदलोमकं लोमविवर्जितम् । किं सर्वमेव । न अन्तरतोऽभ्यन्तरतः ।  
अस्ति हि योन्या सामान्यमुभयस्यास्य । किम् । अलोमका हि योनिरन्तरतः स्त्रीणाम् ।  
'तया ब्राह्मणोऽपि मुखादेव जने प्रजापतेः । तस्मादेकयोनित्वाज्ज्येष्ठेनेवानुजोऽनुगृह्यते-  
ऽग्निना ब्राह्मणः । तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निदेवत्यो 'मुखवीर्यश्चेति श्रुतिस्मृतिसिद्धम् । । ।'

मुखादेरग्निं प्रति योनित्वे समकमाह—यस्मादिति । 'प्रत्यक्षविरोधं शङ्कित्वा ब्रूयमति—किमित्यादिना ।  
हस्तयोर्मुखे च योनिशब्दप्रयोगे निमित्तमाह—अस्ति हीति । प्रजापतेर्मुखादित्यमग्निः । सुष्टौऽपि 'कथं  
ब्राह्मणमनुगृह्णाति तत्राऽह—तथेति । 'उक्तैर्धर्मैर्भुतिस्मृतिसंबाधं ब्रूयमति—तस्मादिति । 'आग्नेयो वै  
ब्राह्मणः' इत्याद्या श्रुतिस्तदनुसारिणी च स्मृतिर्द्रष्टव्या ।

लिए है । इस प्रकार मुख मे हाथ डाल कर 'अभ्यमन्यत्' अर्थात् पूरे प्रयत्न से मन्यन किया । उसने  
मुख को हाथा से मथकर मुख और हाथरूप योनियो से 'अग्निम्' अर्थात् ब्राह्मण जाति पर अनुग्रह  
करने वाले अग्नि देवता को 'असृजत्' अर्थात् उत्पन्न किया । क्योंकि दो हाथ और मुख यह दोनों  
वाहकगुण वाले अग्नि की यानि है । इतनिय यह दोनों ही 'अलोमकम्' अर्थात् रोमरहित हैं । क्या  
बाहर और भीतर सब जगह लोमरहित है ? ऐसा नहीं है । 'अन्तरत्' अर्थात् अन्दर से ही लोम-  
रहित हैं । (हस्त द्वय और मुख के लिए 'योनि' शब्द का प्रयोग करने मे हेतु दिखाते हैं<sup>१</sup>) इन दोनों  
की योनि से समानता है । क्या समानता है ? स्त्रियो की योनि भी अन्दर से रोमशून्य होती है ।  
अग्नि के समान ब्राह्मण भी प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ है । इसलिए एक ही योनि से, उत्पन्न होने  
के कारण अग्नि, ब्राह्मण पर उसी प्रकार अनुग्रह करता है, जिस प्रकार बड़ा भाई अपने छोटे भाई पर  
अनुग्रह करता है । ब्राह्मण के अग्नि से अनुग्राह होने के कारण अग्नि ही ब्राह्मण का देवता है और वह  
मुखरूप वीर्य वाला है । इस प्रकार ('आग्नेयो वै ब्राह्मणः') श्रुति और स्मृति से सिद्ध होता है ।

अग्निदेवता की तरह बल की आश्रयभूता भुजाभी से उसने क्षत्रियजाति के नियन्ता

१ विभूति । २ सर्वप्रयत्नेन । ३ सबाह्याभ्यन्तरमित्यव । ४ अग्निम् । ५ ब्राह्मणस्यानुग्राह-  
त्वात् । ६ तेज सामर्थ्यं च वीर्यम् । ७ प्रत्यक्षेण हि मुखोपरि दमश्वादिलोमानि दृश्यन्ते हस्तपृष्ठभागे चेति  
प्रत्यक्षविरोधः । ८ अग्नेर्ब्राह्मणानुग्राहकत्वस्ये ।



व्यवस्थिता तथा प्रजापतिरेव सर्वे देवा इति 'निश्चितोऽयं' । सट्टुरन्यत्वात्सृष्टानाम् । प्रजापतिर्नैव तु सृष्टत्वाद्देवानाम् ।

अथैवं प्रकरणार्थे व्यवस्थिते तत्सुत्यभिप्रायेणा'विद्वन्मतान्तरनिन्दोपन्यासः । अन्यनिन्दाऽन्यस्तुत्ये । तत्तत्र कर्मप्रकरणे क्लृप्तकलयाजिका यागकाले यदिदं वच आहुर-

प्रजापतिरेवेति विवक्षितमित्याह—यथेति । 'तत्र हेतुमाह—सट्टुरिति । तथाऽपि कथं देवतादि सर्वं प्रजापतिमात्रमित्याशङ्क्याऽह—प्रजापतिनेति ।

तद्यदिवमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—अथेति । सट्टा प्रजापतिरेव सृष्टं सर्वं कार्यमिति प्रकरणार्थे पूर्वोक्तप्रकारेण व्यवस्थिते सत्यन्तरं 'तस्यैव स्तुतिविवक्षया तद्यदिवमित्याद्यविद्वन्मतान्तरस्य निन्दार्थं वचनमित्यर्थः । मतान्तरे निन्दितेऽपि कथं प्रकरणार्थः स्तुतो भवतीत्याशङ्क्याऽह—अन्येति ।

और स्मृति से जानी जाती है । इसी प्रकार चेष्टा के आश्रय होने के कारण ऊरुभो से वैश्य जाति के नियन्ता वसु भादि देवता को और वैश्य को उत्पन्न किया । (ईहाश्रय और वसु भादि के अनुज होने के कारण) इसीलिए कृषि भादि कर्मों में तत्पर वैश्य, वसु भादि देवताओं से अनुगृहीत होता है । इस प्रकार चरणों से पोषणकर्त्री पृथ्व्यभिमानीदेवता एव सेवापरायण शूद्र को सृष्टि की । यही बात ("पञ्चूपा शूद्रोऽजायत") श्रुति और स्मृति से सिद्ध होती है ।

उनमें (सृष्टिसाकल्य के सम्पन्न होने से) 'सत्रियादि देवताओं की सृष्टि का यद्यपि उपनिषद् मन्त्र में कथन नहीं है । तो भी आगे कहे जाने वाले प्रकरण का सृष्टिपरिपूर्ति कथन के लिए कहे हुए के समान वह उपसंहार करती है । जिस प्रकार प्रजापति सट्टा है, जगत् सृष्ट कार्य है, इस सृष्टि श्रुति की प्रचल प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार प्रजापति ही सर्वदेवमय है, ऐसा इसका विवक्षित अर्थ है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ सट्टा से अन्य नहीं होते, और प्रजापति ही देवताओं की सृष्टि करने में कारण है ।

१ विवक्षित । २ अविद्वन्मतेति । तथा च वातिके—'अविद्वद्देवताभिधीप्रतिषेधाय साम्प्रतमिति' ॥१२६॥ अविदुषा परस्यामेवस्यामेव हि देवताया या भेदधीस्तन्निषेधायाधुना तद्यदिवमित्यादिवाक्य प्रवृत्तमिति योजना । ३ प्रदर्शितविवक्षितोऽर्थः । ४ प्रकरणार्थत्वेन ।

क्लृप्तकलयाजिका इति शुद्धकर्मिण इति यावत् । तथा च वातिवाक्या आह —'यदिदं कर्मिण प्राहु कर्मभूमा-  
वधेधन । अमुर्मणिममु सोम यजेति यजिसधवात् ॥ यजेति तिल्लङ्घिन्धेया कर्मिणामेव गम्यत । न तु विध्वस्त-  
मीहानां प्रत्यङ्मानैकजायिनाम् ॥ यत्वात्परतिरेव स्यादात्मवृत्तस्य मानव । अस्मन्मेष च सत्पुष्टस्तत्त्व कार्यं  
न विद्यते ॥ उत्पन्नैवात्म्यमाथात्म्यभास्वद्विज्ञानभास्कर-सत्पुष्टाविद्यावद्वृत्तमसां कर्मणिहूतिम् ॥ सर्वैर्मणि-  
काराणां निषेध प्रत्यपीदत् । पुराण प्राप्तो विष्णु प्रपन्नाय विरौटिने ॥१२१-१२५॥ इति । देवतास्वरूपधी-  
वैधुयमेवामेषस्तत्त्वम् । नन्वाहुरिति त्रियापद कर्तृ मात्रमपेक्षत तद्विद्याप्रवरणत्वाद्विदुषामेव तत्र कर्तृत्वं न कर्मिणा-  
मिति नेत्याह—यजीति ॥ नवस्मिन्वाक्ये देवताभेदानुवाचमात्र गम्यते न कर्मनिन्दा न च ते निन्दितु शक्यते  
श्रेयोमार्गं प्रवृत्तत्वात् । यथाऽह—यो यागमनुतिष्ठति ॥ कर्मिणमिति हि समाचक्षत इति । अन्यथा विदुषामपि  
निन्दा स्यात् तन्नाम पूर्वपक्षस्तथाह—यजेतीति । यद्यपि कर्मिण श्रेयोमार्गं प्रवृत्तान् यो हि पुरुषाभि श्रेयसे न  
समुनक्ति स धर्मस्तथाऽपि तेषामेवा निन्देव भेदानुवादव्याजेन सूच्यते । अमुर्मणि यजामुमिन्द्र यजेति हि वदतो  
देवता भिन्दानास्ते हस्यन्ते । तथा च योऽयथा सन्तमात्मानमित्यादिन्यायादव्यथाशान्तिलङ्घानिन्दायोग्यास्ते भवन्ती-

एकैकं देवमित्यस्य तात्पर्यमाह—नामेति । 'काठकं कालापकमितिवन्नामभेदात्कृतुषु तत्तद्देवता'स्तुति-

१ नामित्यादि । नाम इन्द्रादि, अस्त्रस्तोत्रे स्तुतिविशेषो तेषां प्रतिदेव भिन्नत्वाद्भवभेद इत्यर्थः । २ कठप्रोक्तं कर्म । ३ स्तुतिभेदादिति—अस्त्रस्तोत्रादिरूपस्तुतिभेदादित्यर्थः । स्तुतिभेदोच्चाऽन्यथाऽनुपपन्नं स्तुत्यान् भिन्नतीति भावः ।

त्यर्थः । यत्तु विदुषामपि निन्दा स्वादिति उक्ताऽह—नस्त्विति । निन्दायोग्यतति शेषः । मोहध्वसे हेतुमाह—  
प्रस्थगिति ॥ 'न हि कश्चित्क्षणमपि' इत्यादिस्मृतेर्नानिनामपि कमित्वा निन्दा स्यादित्याशङ्क्य तेषामवमित्ये भगव-  
द्भाष्यमेव प्रमाणयति—यस्त्विति । उल्लासो मानसो रतिस्तदनन्तरभाविसुखं वृष्टिं संघं प्रकृष्टां सतुष्टिरित्येवात्मर-  
भेदः ॥ अथात्र मुक्तस्य कर्माभावो यथ्यते बिबुषस्तदभावस्तु कर्ममित्याशङ्क्योक्तबाक्यनात्प्यमाह—उत्सनेति ।  
कर्मानिहूतिं प्रत्यपीयवदिति सम्बन्धः । तामव व्याचष्टे—सर्वेति । अधिकारपदनं प्रवृत्त्यादिग्रहः । न च भगवदुक्तं  
वस्तुम्बविदवासोऽधिकारितक्षणविशिष्टाय प्रतिपादितत्वादित्याह—अप्रतायति । अनान्यतो व्यापनशीलस्य भग-  
वानिति वस्तु वैशिष्ट्यमाह—पुराण इति । 'मियो भिन्नं यदाहुस्त एकेकं देवमप्वरैः । तदसंप्रतिपत्तस्य मतो-  
ऽभिन्नं न देवता ॥ भेदज्ञाहि न नो मान घटादावपि विद्यते । किमु नि शेषभिन्नाऽप्यपि पित्याभ्यन्तरी यदि ॥  
नाभावरादिबद्धिवमध्यात्मादीनिभागवत् । ओष्ठप्रोतात्मना तस्यो विराट्सूत्रादिवस्तुनु ॥ विविधाऽस्मैव सा सृष्टि-  
रिति हेतुमयीरणम् ॥ कारणं न विहायेह कार्यमन्वञ्च यत्ततः ॥ यत एवमतो दया सर्वेऽपि स्युः प्रजापतिः । तस्या-  
तस्यामधिकृतो तत्तद्रूपं प्रवक्षते ॥ एक एव बु विश्वात्मा मायया मोहयज्जनयत् । एवता बहुतामेति कुम्भवमणि-  
सञ्चयात् ॥ अभिन्न एव भूतात्मा प्रतिभूतसमाप्तितः । एवता बहुधा चैव दृश्यते जलच प्रवदिति ॥ १२९-१४२ ॥"  
ताद्यद्विमिश्रादिना पूर्वपक्षानुवादद्वारा कमिणा निन्दा न विदुषामित्युक्तिगिदानीं तन्मत्यादिभाष्य व्यावृत्तिनिन्दापक्ष-  
निषेध दर्शयति—मिय इति । विषयं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत्सर्वं ह्यपि रुद्र इति श्रुतरारम्भं  
देवता सर्वा इति स्मृतेरेकं वा समीकरूपचोदनाभ्यामिदोपादिति (जे० २४६) न्यायाधारत्वात्तत्र देवतैरुपादितिहेतु-  
माह—यत्त इति । आत्मन्यपि प्रतिदेहं भेदान् कथं तदभेदेन देवतैरुपादित्याशङ्क्याऽह—भेदेति । द्विरूप्यमस्ती-  
माह—यत्त इति । आत्मन्यपि प्रतिदेहं भेदान् कथं तदभेदेन देवतैरुपादित्याशङ्क्याऽह—भेदेति । द्विरूप्यमस्ती-  
माह—यत्त इति । आत्मन्यपि प्रतिदेहं भेदान् कथं तदभेदेन देवतैरुपादित्याशङ्क्याऽह—भेदेति । द्विरूप्यमस्ती-  
माह—यत्त इति । आत्मन्यपि प्रतिदेहं भेदान् कथं तदभेदेन देवतैरुपादित्याशङ्क्याऽह—भेदेति । द्विरूप्यमस्ती-

मन्यमाना आहुरित्यभिप्रायः । 'तत्र तथा विद्यात् । 'यस्मादेतस्यैव प्रजापतेः सा 'विमृष्टि-  
द्वेमेदः सर्व एष उ ह्येव प्रजापतिरेव प्राणः सर्वे देवाः ।

'अत्र विप्रतिपद्यन्ते । 'पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके । संसारीत्यपरे । पर एव तु  
मन्त्रवर्णात् । "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इति । "एष ब्रह्मण इन्द्र एव प्रजा-  
पतिरेते सर्वे देवाः" इति च श्रुतेः । स्मृतेश्च—

"एतमेके वदन्त्याग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" इति,

भेदाव्युपगच्छकदाविवक्ष्यक्रियाभेदाच्च प्रत्येकं देवानां भिन्नत्वात्कामिणामेतद्वचनमित्यर्थः । आदिशब्देन  
'रूपविभेदात्सिद्धिप्रत्ययं संगृह्णाति । नन्वत्र कर्मणां निन्दा च प्रतिभाति तन्मतोपन्यासस्यैव प्रतीतेरि-  
त्याशङ्क्याऽऽह—तन्नेति । एकस्यैव प्राणस्यानेकविधो देवताप्रभेदः "शाकल्यब्राह्मणे वक्ष्यत इति  
विवक्षित्वा विनिर्दिष्ट—प्राण इति ।

अग्न्यादयो देवाः सर्वे प्रजापतिरेत्युक्तं संप्रति तत्स्वरूपनिर्दिधारयिष्यामि । तत्र "विप्रतिपत्ति  
वशंपति—अथेति । हिरण्यगर्भस्य परम्यमाद्ये द्वितीये कल्पे संसारित्वं "विधेयमिति विभागः । "तत्र  
"पूर्वपक्षं गृह्णाति—पर एव तिष्ठति । नन्वेकस्यानेकात्मकत्वं मन्त्रवर्णादिव्यगम्यते नतु परमात्मत्वं  
प्रजापतेरित्याशङ्क्य ब्राह्मणवाक्यमुदाहरति—एव इति । ब्रह्मप्रजापती सूर्यायराजो । एषशब्दः

प्रजानी के मतान्तर की निन्दा के लिए मत प्रस्तुत करते हैं—बयोंकि किसी एक की निन्दा दूसरे की  
स्तुति के लिए होती है । तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्म प्रकरण में केवल याज्ञिक यज्ञ के समय "इस  
अग्नि देवता का यजन करो, उस इन्द्र देवता का यजन करो" इस प्रकार अग्नि आदि देवताओं के नाम,  
शास्त्र, स्तोत्र और कर्म भिन्न भिन्न होने के कारण सबको भ्रम मानते हुए वचन बोलते हैं । मुमुक्षु  
कर्ममार्गी के समान देवताभेद न माने । (आत्मस्वरूप से देवता-ऐक्य होने पर) यह समस्त अग्न्यादिरूपा  
विभूति इस प्रजापति का ही देवभेद है, अतः प्राणरूप प्रजापति ही सर्वदेवमय है ।

प्रजापति के स्वरूप में बहुत से मत प्रस्तुत किये जाते हैं । कुछ कहते हैं—ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ  
है । दूसरे कहते हैं कि हिरण्यगर्भ संसारी है । दोनों में से (ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ है, यह) आद्यपक्ष ही  
मन्त्रों से सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में धृतिर्मा प्रमाण है जैसे—"उस परमात्मा को ही इन्द्र, मित्र,  
वरुण और अग्नि आदि नामों द्वारा पुकारा जाता है", "यह ब्रह्म है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति है और

- १ तन्नेति । तत् देवताभेदम् । तथा कर्मिणो न विद्यात् मुमुक्षु । २. "विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं  
जायमानं च यत् सर्वं ह्येष कद्र" इति श्रुतेः । "आत्मैव देवता सर्वा" इति स्मृतेः । "एकं वा सयोगरूपचोद-  
नाऽऽद्याऽविशेषादिति" न्यायान्वाचकत्वेन देवत्वैक्यादिति हेतुमाहुः—यस्मादिति । अत्र सयोगः फलम्, रूपम्  
इति कर्तव्यता । चोदना पुरुषप्रयत्नः । आख्या नाम एतेषामविशेषादेकमभिन्नं कर्मोति (जै० २४६.) सूत्रार्थः ।
- ३ विमृष्टि—विविधाऽग्न्यादिरूपा विभूतिरित्यर्थः । ४ प्रजापतिस्वरूपे । ५. ब्रह्मैव । ६. इन्द्रमिति—  
परमात्मात्मनोऽन्नादिनागभिराहुरित्यर्थः । ७. परमात्मानम् । = रूप—वच्छहस्तत्वादि । आदिना गुणोत्प-  
त्त्यादिवहः । ८ आहुति—निन्दाफलकं निषेधमाहेत्यर्थः । ९. ब्र० उ० ३.६.६. । ११. प्रसरूपे ।
- १२ विप्रतिपत्तिमिति—यद्यपि प्रजापतेः संसारित्वासंसारित्वे मिदन्तेऽपीत्येते पर विप्रतिपत्तारस्त्यतदिच्छ-  
न्तस्तद्वारयन्त्येवेति विशेषः इति ध्येयम् । १३ उपपाद्यम् । १४ द्वयोर्मध्ये । १५ आद्यम् ।

“योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भूतो” इति च ।

संसार्येव वा स्यात् । “सर्वान्पाप्मन औषत्” इति श्रुतेः । न ह्यसंसारिणः पाप्म-  
दाहप्रसङ्गोऽस्ति । भयारतिसंयोगश्रवणाच्च । “अथ यन्मर्त्यः सत्त्वं मृतानसृजत” इति च ।

“हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्” इति च मन्त्रवर्णात् । स्मृतेश्च कर्मविपाकप्रक्रियायाम्—

“ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।

उत्तमां सैत्तिकीमेतां गतिमाहुर्भनीपिणः” इति ।

परमात्मविषयः । स्मृतेश्च पर एव हिरण्यगर्भं इति संबन्धः । तत्रैव वाक्यान्तरं पठति—योऽसाविति ।  
कर्मैन्द्रियाविषयमतीन्द्रियत्वम् । अग्राह्यत्वं ज्ञानेन्द्रियाविषयत्वम् । तत्र हेतुमाह—सूक्ष्मोऽव्यक्त इति ।  
न च तस्यासत्त्वं ‘प्रमात्रादिभावाभावसाक्षित्वेन सदा सत्त्वादित्याह—सनातन इति । इतश्च तस्य  
नासत्त्वं सर्वेषामात्मत्वादित्याह—सर्वेति । घनतः करुणाविषयत्वमाह—अचिन्त्य इति । योऽसौ परमात्मा  
यथोक्तविशेषणः स एव स्वयं विराडात्मना भूतवानित्याह—स एवेति ।

मन्त्रब्राह्मणस्मृतिषु परस्य सर्वदेवतात्मत्वदृष्टेरत्र च सूत्रस्य तत्प्रतीतिस्तस्य परत्वमित्युक्त-  
मिदानीं पूर्वपक्षान्तरमाह—संसार्येति । सर्वपाप्मदाहश्रवणमात्रेण कथं प्रजापतेः संसारित्वं तत्राऽह—  
—न हीति । ‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशाक्षित्व’ परस्यापि सर्वपाप्मो ‘दयाङ्गीकारान्नेद संसारित्वे लिङ्गमित्या-  
—न हीति । ‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशाक्षित्व’ परस्यापि सर्वपाप्मो ‘दयाङ्गीकारान्नेद संसारित्वे लिङ्गमित्या-  
शङ्क्याऽह—भयेति । प्रवृत्तेति च श्रवणाविति संबन्धः । न केवलं मर्त्यैव श्रुतेरेव संसारित्वं किन्तु  
जन्मभूतेश्वरमाह—हिरण्यगर्भमिति । यथोक्तहेतुना संसार्येव स्यादिति प्रतिज्ञयाऽवश्यः । ‘कर्मफलदर्शना-  
धिकारै ब्रह्मोऽप्याद्याः स्मृतेश्च ‘तत्फलभूतस्य प्रजापतेः संसारित्वमेवेत्याह—स्मृतेश्चेति । विराड्ब्रह्म-  
त्युच्यते । विश्वसृजो मन्वादयः । धर्मस्तदभिमानिनी देवता यमः । महाप्रवृत्तेराद्यो विकारः सूत्रम् ।

यह सब देवता हैं” । स्मृतियो मे भी इसे कहा है जैसे—“इस परमात्मा को ही कोई अग्नि, कोई मनु  
और कोई प्रजापति कहते हैं ।” “परमात्मा जो यह अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्व-  
भूतमय और अचिन्त्य है, वह ही स्वयं श्रवतरित हुआ” इत्यादि ।

अथवा हिरण्यगर्भ ससारी ही है । “उसने सब पापों को भस्म कर दिया” यह श्रुति है । क्योंकि पर-  
मात्मा तो अससारी है, अतः उसमे पापदाह का प्रसङ्ग नहीं है । वह भय भरित बाला भी सुना जाता है ।  
श्रुतियां कहती हैं—“उसने स्वयं मर्त्य होकर अमर्त्य देवताओं की सृष्टि की”, “परमात्मा उत्पन्न हुए  
हिरण्यगर्भ को देखता है ।” कर्मफलप्रकरण मे स्मृति भी कहती है—“हिरण्यगर्भ, प्रजापतिसमूह, धर्म,  
महत्तत्त्व और अण्वत्त की गति की विद्वान् लोग श्रेष्ठ सत्त्वपरिणाम ज्ञानकर्मफलबुद्धत बतलाते हैं ।”

१. परमात्मा । २. देवान् । ३. पश्यति परमात्मा । ४. कर्मेत्यादि—कर्मफलप्रकरणे । तथा च तत्रत्या  
स्मृतिर्नैह्यमसारिरूपफल वक्तुमर्हतीति शक्यः । ५. सत्त्वपरिणामज्ञानकर्मफलभूताम् । ६. प्रमाता—अन्तःकरणम् ।  
७. तदादिमाहुरिति प्रवृत्तवाक्ये । ८. अन्तरित्यादि । अन्तः शब्दार्थः परमात्मा श्रवितुमर्हति । अत्र हेतुस्तदि-  
त्यादि—तस्य परमेश्वरस्य मे सर्वपाप्मराहित्यादिधर्मस्तेषामस्मिन् वाक्य उपदेयादिर्वा हेत्वर्थः । अथ ॥ एषोऽन्त-  
रादित्ये हिरण्यमयं पुरुषो दृश्यते हिरण्यमयमुहिरण्येन आप्रणयान्नवं एव मुच्यं इत्यादि (छा० १।६।७-८) श्रुति-  
रस्य मूलस्य विषयः । ९. यं उ० १.१.२० । १०. उदय—असर्गाः । ११. नर्मन्तस्य शर्मनं यत्र नादृश  
प्रकरणे । १२. नर्मन्तभूतस्येत्यर्थः ।

‘अयं यं’ विरुद्धार्थानुपपत्तेः ‘प्रामाण्यव्याघात इति चेन्न ।

कल्पनान्तरोपपत्तेरविरोधात् । उपाधिविशेषसंबन्धा’ द्विशेषकल्पनान्तरमुपपद्यते ।

“प्राप्तो नो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति” ।

प्रथमतः प्रवृत्तिरिति भेदः । ‘अस्तु’ तर्हि द्विविधवाक्यवशात्प्रजापतेः संसारित्वमसंसारित्वं चेत्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । ‘तद्द्विविधवाक्यवश्वचणानन्तर्यमयशब्दार्थः । एवशब्दः संसारित्वासंसारित्वप्रकार-परामर्शार्थः । विरोधकृतमप्रामाण्यं निराकरोति—नेत्यादिना । स्वतोऽसंसारित्वं कल्पनया च संसारित्वमिति कल्पनान्तरसंभवाद्द्विविधधृतीनामविरोधात्प्रामाण्यमिति द्विरित्यर्थः । कल्पनया संसारित्वमित्येतद्विशदयति—उपाधीति । उपाधिकी परस्य विशेषकल्पनेत्यत्र प्रमाणमाह—प्राप्तो न इति । स्वारस्येन कूटस्थोऽप्यात्मा मनसः शीघ्रं दूरगमनदर्शनात्तदुपाधिकी दूरं व्रजति । यथा स्थाने ‘शयानोऽपि मनसो गतिभ्रान्त्या सर्वत्र यातीव भाति तथा जागरेऽप्येत्यर्थः । कल्पितेन ह्यर्थादिव्यपारेण स्वाभावियेन तद-

इत्तरहं तो विरुद्ध अर्थ असगत है, इससे श्रुतिप्रामाण्य का उभयविध वाक्यो में व्याघात होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपने असंसारित्व-कल्पना से दूसरी संसारित्व-कल्पना संभव हो जाने से दोनों प्रकार की श्रुतियों में अवरोध होने से प्रामाण्य की सिद्धि हो जायगी । उपाधिविशेष के सम्बन्ध से अन्य संसारित्व-विशेषकल्पना युक्तिनसगत है ।

“वह एक स्थान में प्रतिष्ठित होने पर भी दूर चला जाता है । सोता हुआ भी सब ओर जाता

१ बहुव्रीहिर्वा । २ उभयविधवाक्य इत्यर्थः । ३ संसारित्वकल्पना । ४ एव पूर्वपक्षयित्वा मिद्वान्तमितु प्रसङ्गमाह—अस्त्विति । ५ अन्यतरपक्षे निर्णायकाभावे । ६ तत् तत्र प्रजापतिविषयनेति यावत् । ७ अथत् ।

अर्थवन्मिताद्युपपद्यत इत्यन्तर्भाष्य इमानि पञ्चवार्तिवानि ब्रह्म्यानि तयाहि—“मिषाविरुद्धवार्तिवाद्ब्रह्मयोग-मयोरपि । अप्रामाण्यप्रसक्तियेन कल्पयन्तरमश्रयात् ॥ प्रत्यक्षज्ञानाज्ञानकविषयोपाधिसंगते । विरुद्धार्थत्व-वशा स्यादकत्रापि सम्भव ॥ अथास्ताविद्यात्तज्जवाद्ब्रह्माद्युत्तियोवर । स्वाभासाविद्यापाधि मन्तादयन्तर्मा-मिता क्रमेत् ॥ तथा हिरण्यगमस्व बुद्धयुपाधि स एव तु । तम सत्त्वरजोयोगाद्याति क्षेत्रज्ञतामज ॥ अभिन्न-बुद्ध्याऽभिभक्तं भिन्नधीभिश्च भिन्नताम् ॥ एति चित्स्वतन्माहोर्नो निबिदिगि दु स्थितमिति ॥ १४६-१४३ ॥ एव पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तमितु प्रसङ्गमाह—मिष इति । स्वतोऽसंसारित्वेऽपि सूत्रस्य संसारित्वमोपाधिकमिति विद्या-स्तरसिद्धेद्विविधागमविरोध इति मिद्वान्तमाह—नेति ॥ यथ संसारित्वासंसारित्वविरुद्धार्थवाक्यानामेकत्रात्मनि प्रामाण्यमित्याशङ्क्य सप्रवचन विवृणोति—प्रत्यगिति । संसारित्वेति शेषः । स्वतस्त्वसंसारित्वेऽप्यङ्गीकारे फलित-माह—विरुद्धेति । विरुद्धार्थत्वेन प्रतीयमानोदाहृतवाक्यानामिति यावत् ॥ तथामेवस्मिन्नात्मनि सम्भवमेव साध-मप्रादावसंसारित्ववाक्यानामुपपत्तिमाह—अपास्तेति । तत्रैव सविशेषवाक्यानामपि सम्भवमाह—स्वाभासेति । चिदाभासविशिष्टाविद्यापाधे साक्षरत्वं तस्यैव भाषात्कार्यनियन्तृत्वेनात्मनिमितेति भेदः ॥ तस्यैव मायामयापञ्ची-कृतभूतपञ्चकारणधर्मविबुद्धयुपाधित्वेन ज्ञानशक्तितो हिरण्यगमत्वमाह—तथेति । व्रजदिति पूर्वोक्त सम्बन्धः । तस्यैव समष्टिप्राप्तापाधे निष्ठाशक्तितम सूत्रव तस्यैव पञ्चीकृतभूतपञ्चकारणधर्ममष्टयुपाधेविराट्त्व तस्यैव प्राकृतभूतारण्यसार्त्तत्वरसतामसव्यष्टिविबुद्धयुपाधिसम्बन्धाप्राणाजीवरूपतत्त्वमिष्ट्याह—तम इति ॥ विरुद्धार्थ-वचनमेकत्र संभवमुपसहृति—अग्निनेति ॥

इत्थेवमादिश्रुतिभ्यः ।

उपाधिवशात्संसारित्वं न परमार्थतः । स्वतोऽसंसार्येव । एवमेकत्वं नानात्वं च

हिरण्यगर्भस्य । तथा सर्वजीवानाम् । “तत्त्वमसि” इति श्रुतेः । हिरण्यगर्भस्तूपाधिमुद्ध-

यतिशयापेक्षया प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः । संसारित्वं तु कचिदेव

दर्शयन्ति जीवानां तूपाधिगतामुद्धिबाहुल्यात्संसारित्वमेव । प्रायशोऽभिलप्यते । व्यावृत्तकृ-

त्स्नोपाधिभेदापेक्षया तु सर्वः परत्वेनाभिधीयते श्रुतिस्मृतिवादेः ।

‘तात्किंस्तु परित्यक्तागमबलैरस्ति नास्ति कर्ताऽकस्त्वपि विशुद्धं बहु तर्कयद्भि-

भावेन च पुक्तमात्मानं न कश्चिदपि निश्चेतुं शक्नोतीत्याह—कर्त्तामिति । आदिपदेन ध्यायतीवेत्यादि-

श्रुत्यो गृह्यन्ते ।

उदाहृतश्रुतीनां तात्पर्यमाह—उपाधीति । किं तर्हि पारमार्थिकं तदाह—स्वत इति । हिरण्य-

गर्भस्य आस्तवमयास्तत्वं च रूपं निरूपितमुपसंहरति—एवमिति । तस्याप्यस्मदादिवन्न स्वतो ब्रह्मत्वं

किंतु संसारित्वमेव स्वाभाविकमित्याशङ्क्य दृष्टान्तस्य साध्यविकत्ततामाह—तथेति । सर्वजीवानामे-

कस्य नानात्वं चेति पूर्वेण सवन्धः । तेषां स्वतो ब्रह्मत्वे प्रमाणमाह—तत्त्वमिति । कस्मात् हिरण्यगर्भं

विशेषो येनातावस्मदादिभिरुपास्यते तत्राऽह—हिरण्यगर्भस्त्विति । ननु श्रुतिस्मृतिवादिषु वधच्चित्तस्य

संसारित्वमपि प्रदर्शयते तस्यं तत्तु कल्पितमित्याशङ्क्येऽह—संसारित्वं त्विति । अस्मदादिष्वपि तुल्य-

मेवदित्याशङ्क्याऽह—जीवानां त्विति । कथं तर्हि ‘तत्त्वमसि’ क्षेत्रज्ञादिनां विद्धि इत्यादिश्रुतिस्मृ-

तियादाः संगच्छन्ते तत्राऽह—व्यावृत्तति ।

स्वमते तत्त्वनिश्चयमुक्त्वा परमते तदभावमाह—तात्किंस्त्विति । नन्वेकजीववादेऽपि सधंभ्य-

है, वह हर्ष से रहित है, उस देव को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन जान सकता है ?” इत्यादि श्रुतियों से

सिद्ध होता है ।

उत्तमे संसारित्व हो जाना परमार्थ दृष्टि से नहीं, उपाधि के कारण ही होता है । पारमार्थिक

दृष्टि से वह घससारी ही है । इस प्रकार हिरण्यगर्भ का एकत्व भी है और नानात्व भी है । इसी

प्रकार सब जीवा में एकत्व और नानात्व है । “वह तू है” यही श्रुति बताती है । हिरण्यगर्भ तो उपाधि

की श्रुति की अतिशयता की अपेक्षा (भय-अरति आदि संसार-प्रतीति में स्तुत कभी-कभी मृष्ट्यादि

काल में) प्रायशः ईश्वर ही है । इस प्रकार (हिरण्यगर्भ को परमात्मा सिद्ध करने वाली) श्रुति स्मृति-

वाद प्रवृत्त हुए हैं । (हिरण्यगर्भ का) सात्तात्त्विक तो कहीं-कहीं ही दिखाते हैं । जीवों का तो उपाधि-

गत अनुद्धिबाहुल्य के कारण प्रायः संसारित्व ही प्रतिपादन किया जाता है । निश्चित उपाधिभेद के

वाच को आलोचना से श्रुति-स्मृति-वादा द्वारा जीव का भी परमात्मभाव से निरूपण किया जाता है ।

जिन्होंने आगम का आश्रय त्याग दिया है ऐसे (निर्गुण उत्प्रेक्षाभाष्य में तत्त्वनिर्णय में

१. भयारत्यादिगसात्प्रतीतिविस्तृतस्य उदाचिदेव गृह्यादिकाले इत्युक्तं प्रादन इति । २. हिरण्यगर्भस्य परत्व-

बोधना पूर्वोक्ता । ३. अपेक्षा—आलोचना । ४. जीव । ५. तात्किं: निर्मूलोत्प्रेक्षाभाष्ये तत्त्वनिर्णय प्रवृत्तिः ।

६. गानुनीयन—तत्त्वप्रवृत्तिनिश्चयविषयताभाषादिन । ७. जीवत्वादिनि भावः ।



राकुलोष्टतः 'शास्त्रार्थः । 'तेनार्थनिश्चयो' कुलंमः । ये तु 'केवलशास्त्रानुसारिणः 'शान्त-  
दर्पास्तेषां' प्रत्यक्षविषय इय निश्चितः शास्त्रार्थो' देयतादिविषयः ।

'तत्र प्रजापतेरेकस्य देवस्या' प्राविलक्षणो भवो "विवक्षित इति । तत्राग्निरक्तो-  
ऽप्रादोऽप्राधः सोम इदानीमुच्यते । अयं यत्किंचेदं सोक आद्रं द्रवात्मकं तद्रेतस आत्मनो  
योजादसृजत । "रेतस प्रापः" इति श्रुतेः । द्रवात्मकश्च सोमः ।

यस्यानुपपत्तेस्तत्त्वनिश्चयबोलेष्वं तुल्यमिति चेन्नेत्याह—ये त्विति । स्वप्रदप्रबोधात्प्रागदोषव्यवस्था-  
संभवात्पूर्व्यं च तदभावाद्येष्टत्वादेवमेव ब्रह्मानाद्यविद्यावसादोषव्यवहारारोपवमिति पक्षे न बाधन दोष-  
वृत्तेति भावः ।

सर्वदेयतात्मकस्य प्रजापतेः स्वतोऽसंसारित्वं वृत्पनया यंपरोत्पमिति स्थिते सात्यमेत्याद्युत्तर-  
प्रापस्य सात्पर्यमाह—तत्रेति । विवक्षित इत्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरिति शेषः । "तस्य विषयं" परिशिष्टि-  
तत्राग्निरिति । "अत्राद्योनिर्धारणार्था सप्तमी । संप्रति प्रतीकमादायाधराणि व्याचरोति—अथेति ।  
अतः सर्गान्तर्गम्यमाह—रेतसः सकाशात्प्रां सर्गेऽपि सोममर्गं विमायातमित्याशङ्क्याह—द्रवा-  
त्मकश्चेति । "अद्वारवाहते" सोमोपतिश्रवणात्तत्र शंस्योपलब्धेति भावः ।

प्रवृत्त) ताविव "आत्मा की सत्ता है, आत्मा की सत्ता नहीं है, वह कर्ता है, वह अर्पता है" इत्यादि  
बहुत से विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं । इन्होंने परमात्मा को तर्क से प्रयुक्त निश्चय की विषयता बाला  
बना दिया है । निर्मूल लुप्ततर्प से सात्पर्य का निश्चय होना अमम्भव हो जाता है । किन्तु जो केवल  
शास्त्र का अनुसरण करने वाले दंपरहित पुरुष हैं, उन्हें शास्त्रमात्रगम्य देवतादिरूप प्रमेय का सात्पर्य  
(पट) प्रत्यक्ष के समान निश्चय होता है ।

इस प्रकार निश्चय हो जाने पर एक प्रजापति देवता के अन्न और अन्नाद्यादिरूप विरोध का  
प्रतिपादन करना इष्ट है । उसमें 'अन्ता' रूप अग्नि का निरूपण कर दिया, अथ 'प्राद्य' रूप सोम का  
वर्णन किया जाता है । जो कुछ भी सोक में 'आद्रम्' अर्थात् तरल पदार्थ है, 'तद्रेतस' अर्थात् उसने  
वह अपने बीज से उत्पन्न किया । श्रुति कहती है—"बीज से जल हुआ" । सोम भी द्रवात्मक है ।

१ परमात्मा । २ तेनेति—निर्मूललुप्ततर्पणेत्यर्थः । ३ यदर्थमुद्योगं कृतशोऽपि न सत्य इति सधुममसंनया-  
यमभिप्रेत्याह—तेनेति । ४ केवलेति—आस्त्रप्रतिकूलतर्कराहित्य केवलयम् । ५ तर्कोद्भावकविद्यादिप्रयुक्तमद-  
राहित्य शान्तदर्पत्वम् । ६ घटादिवत् । ७ शास्त्रैकगम्यो देवतादिरूपो विषय । प्रमेय इत्यर्थः । ८  
टीकोक्तार्थम् । ९ अन्नाद्यादिरूपो विशेषः । १० विवक्षित इति । अन्नाद्यादिरूपेणोपास्थत्वायेति शेषः । अत्र  
वातिवे । इत्यं गङ्गादिमाह — "अन्नाद्यावदुत्पत्तेस्तस्मा प्राणिनोऽप्रसृता । अन्तारोजोऽभिरहाभालस्यानाय  
सहना ॥ तस्मात्सोमाग्रमुष्टयर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" ॥१५४॥ इति । अन्नाद्यावत् प्रजापतेरुत्पत्तत्वादन्तारः स्या-  
नाय—स्थानु जीवितु नालम् । ११ तस्य उत्तरग्रन्थस्य । १२ परिशिष्टि पूर्वग्रथविषयात्पुनरुच्यते ।  
१३ अन्ता भाव च तयो । १४ विमायातमिति—नैतावता प्रजापतिसोमोत्पत्तिरुक्ता भवतीत्यर्थः । १५ तस्मि-  
न्नेनस्मिन्नमी देवा यद्वा जुह्वति तस्या आहृत्य सोमी राजा सभषतीति श्रुतेः । अत्र यद्वा जलम् यद्वा वा आप  
इति श्रुतेः ।

‘तस्माद्यदाद्रं प्रजापतिना रेतसः सृष्टं तदु सोम एव । एतावद्वा एतावदेव नातो-  
ऽधिकमिदं सर्वम् । किं तत् । अन्नं चैव सोमो द्रवात्मकत्वादाप्यायकम् । अन्नादश्चाग्नि-  
रौष्ण्याद्रूक्षत्वाच्च । तत्रैवमवधियते । सोम एवान्नें यदन्नते तदेव सोम इत्यर्थः । य एवात्ता  
स एवाग्निः । अर्थबलाद्व्यवधारणम् । अग्निरपि क्वचिद्रूपमानः सोमपक्षस्यैव ।  
सोमोऽपीज्यमानोऽग्निरेवात्तृत्वात् । एवमग्नीषोमात्मकं जगदात्मत्वेन पश्यन् केनचिद्दोषेण  
लिप्यते । प्रजापतिश्च भवति । सैषा ब्रह्मणः प्रजापतेरतिसृष्टिरात्मनोऽप्यतिशया ।

सोमस्य द्रवात्मकत्वे कलितमाह—तस्मादिति । अग्नीषोमयोरन्नान्नादयो, सृष्टावपि जगति  
सृष्ट्यात्तरमवशिष्टमस्तौत्पाशङ्कुपाऽह—एतावदिति । आप्यायक, सोमो द्रवात्मकत्वादान्नं चाऽप्यायकं  
प्रसिद्धं तस्मादुपपन्नं सोमस्यास्तवमित्याह—द्रवात्मकत्वादिति । सोम एवाग्निरन्नाद इत्यवधारणस्य  
विवक्षितमर्थमाह—तत्रेति । यद्योक्तं वाक्यं सप्तम्यर्थः । यथाभूतमवधारणमवधीर्य क्रुतो विधान्तरेण  
तद्व्याख्यानमित्याशङ्कुपाऽह—अर्थबलादिति । अन्नादस्य सहर्तृत्वादग्नित्वमग्नस्य च सहर्णीयतया  
सोमत्वमवधारयितुं युक्तमित्यर्थः । नन्वग्नस्य सोमत्वेन न नियमोऽग्नेरपि अलाहिना संहाराद्य चातुर-  
ग्नित्वेन नियमः ‘सोमस्यापि कवाचिदित्यमानत्वेनास्तृयास्तस्कुतोऽयं बलमित्याशङ्कुपाऽह—अग्निरपीति ।  
सोऽपि संहार्यश्चेत्सोम एव स च सहर्ता चेदग्निरवेत्यवधारणसिद्धिरित्यर्थः । प्रजापतेः सर्वात्मस्यमुपज्ञस्य  
जगतो द्वेषाविभक्तत्वाभिधानं ‘कुत्रोपयुक्तमित्याशङ्कुप ‘तस्य सूत्रे पर्यवसाना’ तस्मिन्नात्मबुद्धयोपासकस्य  
सर्वदोषराहित्यं फलमत्र विवक्षितमित्याह—एवमिति । अनुप्राहकदेवसृष्टिमुक्त्वा ‘तदुपासकस्य फलो-  
क्त्यर्थमादौ देवसृष्टिं स्तोति—संपेति ।

(सोम के द्रवात्मक होने से) इसलिए प्रजापति ने जो कुछ भी अपने वीर्य में द्रवात्मक पदार्थ  
रचा, वह सोम ही है । यह सब ‘एतावद्वा’ अर्थात् इतना ही है, इससे अधिक नहीं है । ‘एतावत्’ पद  
वाच्य वह क्या है ? यही कि तरलरूप होने से सोम सृष्टि-प्रद अन्न है । उष्णस्वभाव और रक्ष होने के  
कारण अग्नि अन्नाद है । इससे यहाँ निश्चित होता है कि ‘सोम एवान्मम्’ अर्थात् जो खाया जाता है,  
वही सोम है । जो अत्ता है, वही अग्नि है । अर्थ के बल से ही ऐसी धारणा होती है । यजन किया  
जाने वाला होने से कही-कही अग्नि भी (लतारसात्मक) सोम पक्षात्मक हो जाता है । कही-कही  
सोम भी यजन किया जाने वाला और अत्ता होने के कारण अग्नि मान लिया जाता है । इस प्रकार  
(अग्निन् सूत्रात्मा) अग्निषोमात्मक जगत् को आत्मस्वरूप देखने वाला पुरुष सर्वदोषरहित हो जाता  
है और वह प्रजापति हो जाता है । वह यह ‘ब्रह्मण’ अर्थात् प्रजापति की ‘अतिसृष्टि’ अर्थात् अपनी  
अनुग्राह्य और अतिमाधवी सृष्टि है ।

- १ सोमस्य द्रवात्मकत्वात् । २ एतावत्पदवाच्य विष् । ३ सृष्टिप्रयोजनम् । ४ जगदभिप्रयोजनमात्मम् ।  
५ अतिना अनुप्राप्तमृष्टिसग्रह । अतिमाधवी । ६ सोमस्य—लतारसात्मकस्य । इत्यमानत्वेन—रूप-  
मानत्वेन अग्निवर्मवसहर्तृत्वमापाद्यमानत्वेनेति यावत् । ७ कुत्रोपयुक्तमिति—वस्मिन् विषये पश्यद्भूवनीत्यर्थः ।  
८ तस्मैति द्वेषादिभ्रागाभिधानस्वत्वर्थः । ९ पर्यवसानात्—तत्पर्यावत् । १० तस्मिन्निनि—द्वेषार्थाविभक्तजगदा-  
त्मपूत्रात्मनीत्यर्थः । ११ देवतोपासकस्य तत्समदृष्टोपासकस्य वा ।

का सेत्याह—यच्छ्रूयसः प्रशस्यतरानात्मनः सकाशाद्यस्मादसृजत देवांस्तस्माद्देव-  
सृष्टिरतिसृष्टिः । कथं पुनरात्मनोऽतिशया सृष्टिरित्यत आह—अथ यद्यस्मान्मर्त्यः  
सन्मरणधर्मा सप्रभृतानमरणधर्मिणो देवान्कर्मज्ञानवह्निना सर्वानात्मनः पाप्मन ओषि-  
त्वाऽसृजत, तस्मादियमतिसृष्टिरुत्कृष्टज्ञानस्य फलमित्यर्थः । 'तस्मादेतामतिसृष्टिं प्रजापते-  
रात्मभूतां यो वेद स एतस्यामतिसृष्ट्यां प्रजापतिरिव भवति प्रजापतिवदेव स्रष्टा  
भवति ॥६॥

“तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्” सर्वं वैदिकं साधनं ज्ञानकर्मलक्षणं कर्त्राद्यनेककार-

‘अग्निर्धर्मः’ इत्यादिभूतेरग्न्यादयोऽस्याध्यायवास्तविक्यं तत्सृष्टिस्ततोऽतिशयवतीत्याशङ्कते—  
कथमिति । प्रजापतेर्यजमानावस्थापेभया देवसृष्टेरुत्कृष्टवचनमविरुद्धमिति परिहरति—अत आहति ।  
देवसृष्टेरतिसृष्टिर्वाभावशङ्कानुवादा’र्थोऽयमशब्दः । ज्ञानस्येत्युपलक्षणं कर्मणोऽपीति द्रष्टव्यम् । अतिसृष्टि-  
धर्मिण्यादि व्याचष्टे—तस्मादिति । देवादिल्लघ्ना ‘तदारमा प्रजापतिरहमेवेत्युपासितुस्तद्भावापत्त्या  
तत्त्वच्युद्वं कलतीत्यर्थः ॥६॥

पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धं खर्तुं प्रतीकमादाय कुलं कीर्तयति—तद्वेत्यादिना । ‘तस्याऽऽदेयत्वायं  
‘वैदिकमित्युक्तम् । साधनमित्युक्ते मुक्तिसाधनं ‘पुरः स्फुरति तद्विरस्यति—ज्ञानेति । एकहृष्य मोक्षस्या-  
नेकरूपं न साधनं भवतीति भावः । मुक्तिसाधनं ‘मानवस्तुतश्च तत्त्वज्ञानमिदं तु कारकसाध्यमतोऽपि  
न तद्वेतुरित्याह—कर्तादीति । किंचेदं प्रजापतिवत्कला’वसानम् ‘मृत्युरस्या’ऽऽत्मा भवति” इति भूतेः ।  
न च ‘तदेव कैवल्यं भयारत्यादिश्रवणादतोऽपि नैव मुक्त्ययंमित्याह—प्रजापतिरवेति । किंच निरयसिद्धा

वह कौनसी अतिसृष्टि है ? “यच्छ्रूयस.” अर्थात् जिसे अपने से अधिक उत्तम ‘देवान्’ अर्थात्  
देवतागो ने रचा है—इसलिए देवसृष्टि अतिसृष्टि है । यह सृष्टि अपने से थोड़ा बड़ी है ? इस पर श्रुति  
कहती है—‘अथ यद्’ अर्थात् व्योमिक इसने “मृत्यु सन्” मरणधर्मा होकर, कर्मज्ञानरूप अग्नि से  
अपने समस्त पापों को भस्म कर मरणधर्मा देवतागो की सृष्टि की है । इसलिए यह ‘अतिसृष्टि.’  
अर्थात् उत्कृष्टज्ञान का फल है । (देवसृष्टि के उत्कृष्टज्ञानकर्मफलरूप होने से) इसलिए प्रजापति  
की आत्मस्वरूप इस अतिसृष्टि को जो जानता है वह इस अतिसृष्टि में प्रजापति के समान हो जाता है,  
अर्थात् प्रजापति के समान जगत् वा स्रष्टा होता है ॥६॥

“वह यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था ।” अर्थात् आदि अनेक कारकों की अपेक्षा करने  
वाला, ज्ञान-और कर्मात्मक सम्पूर्ण वैदिक साधनरूप-प्रजापति में प्रयोजन वाला, साध्यफलक इतना ही

१ देवसृष्टेरुत्कृष्टज्ञानकर्मफलत्वात् । २ अविद्यापटलसवीतचशुषामिति शेष । अमानाच्छन्नचित्तानामिति  
तदर्थः । ३ पठम्—आच्छादयम् । ४ नन्वयं इति यावत् । ५ देवादित्युपाधिभिनः । ६ साधनस्य । ७  
तस्यानुपादेयत्वज्ञानं कारयति वैदिकमितीति पाठान्तरम् । ८ पुरः स्फुरतीति—अदित्युपरिस्थित भवतीत्यर्थः ।  
तत्पत्ररणात्वादिनि भावः । ९ प्रमाणप्रमेयाधीनमित्यर्थः । १० अवमानम्—अवधि । १०. समुच्चयोपासकस्य,  
मृत्यु हिरण्यगर्भः । ११ वृ० उ० १२७ । १२ हेरण्यायनं पदमेव ।

कापेक्षं प्रजापतित्वफलावसानं 'साध्यमेतावदेव यदेतद्व्याकृतं जगत्संसारः । 'अथैतस्यैव साध्यसाधनलक्षणस्य व्याकृतस्य जगतो व्याकरणात्प्राग्बीजावस्था या तां निर्दिद्विक्षत्य-  
इकुरादिकार्यानुमितामिव वृक्षस्य 'कर्मबीजोऽविद्याक्षेत्रो ह्यसौ संसारवृक्षः समूल उद्धतंव्य  
इति । 'तदुद्धरणे' हि पुरुषार्थपरिसमाप्तिः । तथाचोक्तम्—“ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः”

मुक्तिरिव 'तु' 'साध्यफलमतोऽपि न मुक्तिहेतुरित्याह—साध्यमिति । किंच 'मुक्तिर्व्याकृतादधन्तरमन्यदेव  
तद्विदितावित्यादिभूते । "इदं तु 'नामरूपं' 'व्याकृतमतो' 'ऽपि 'न तदेतुरित्याह—एतावदेवेति । संप्रत्य-  
व्याकृतकण्डिकामवतारपरप्रवेशवाक्यात्प्राक्तनस्य सद्देवमित्यादेर्वाक्यस्य तात्पर्यमाह—अथेति । ज्ञानकर्मफ-  
लोक्त्यान्तर्यस्यशब्दार्थः । बीजावस्था साभासप्रत्यगविद्या" तस्या निर्देष्टुमिष्ट्यमेव न साक्षान्निर्देश्य-  
त्वमनिर्वाच्यत्वादिति वक्तुं निर्दिद्विक्षतीत्युक्तम् । वृक्षस्य बीजावस्थां लोको निर्दिद्विक्षतीति संबन्धः ।  
यज्ज्ञाने पुनर्यास्मिन्तदेव वाक्यं किमिति प्रत्यगविद्योच्यते तत्राऽह—कर्मति । उद्धतंव्य इति तन्मूलनि-  
रूपणमर्थवदिति शेषः । अथ पुरुषार्थमर्थयमानस्य तदुद्धारोऽपि बसोपयुज्यते तत्राऽह—तदुद्धरणे हीति ।  
ननु संसारस्य मूलमेव नास्ति 'स्वभाववादात्प्रधानाद्येव वा तन्मूल नाज्ञातं ब्रह्मेत्याद्याद्वयं श्रुतिस्मृति-  
भ्यां परिहरति—तथा चेति । ऊर्ध्वमुत्कृष्टं कारणं कार्यापेक्षया परमव्याकृतं मूलमस्येत्यूर्ध्वमूलो हिरण्य-  
गर्भादयो मूलापेक्षया"वाच्यः । "क्षात्रा यस्य इत्येवावशात् । एवम् 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' इत्यादिगीता  
अपि नेतव्या । अस्ति हि संसारस्य मूलम् "नेदममूलं भविष्यति" इति श्रुतेस्तच्चाज्ञातं ब्रह्म वेति श्रुति-  
स्मृतिप्रसिद्धमिति "भावः ।

यह अव्यक्त जगत् है, यानी संसार है । कर्मनिमित्त अविद्या के उपादान इस प्रसिद्ध संसाररूपी वृक्ष  
को समूल काटना है—इसलिए अकुर आदि कार्य से अनुमित होने वाली वृक्ष की पूर्वबीजावस्था के  
समान इस (ज्ञानकर्मफलभूत) साध्यराधनरूप व्यक्त जगत् के व्याकृत होने से पूर्व जो बीजावस्था  
थी, उसका श्रुति निर्देश करना चाहती है । उस (प्रमातृत्वादिरूप महा-अनर्थरूप संसार वृक्ष) के  
काटने में ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है । ऐसा ही कठोपनिषद् में कहा गया है—“जिस  
(व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) का मूल ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यक् आदि शरीररूप)

१ साध्यमिति कारणव्युत्पत्त्या साध्यफलकमित्यर्थ । २ ज्ञानकर्मफलभूतस्यैव । ३ कर्मनिमित्तोऽविद्योपादानक  
इत्यर्थः । ४ प्रसिद्ध । ५ उच्छेदव्य । ६ तदुद्धरणे—तस्य प्रमातृत्वादिरूपमहानर्थरूपसंसारवृक्षस्य  
उद्धरणे सति । ७ हिषदोऽव्यव्यतिरेकश्रुचक । ८ ज्ञानवर्धक साधनम् । ९ उपाधकत्वम् । १०  
उद्धरणे सति । ११ हिषदोऽव्यव्यतिरेकश्रुचक । १२ नामरूपत्वात् । १३ कार्यम् । १४ अतोऽतीत्यत्र अतो व्याकृतमर्थेव  
कार्यादित्यर्थः । १५ ज्ञानकर्मरूपम् । १६ नामरूपत्वात् । १७ न तदेतुरिति—तत्त्वज्ञानस्य व्याकृतान्पातित्वप्रति-  
हेतुर्न मुक्तैरित्याह—इति पाठान्तरम् अर्थैक्यमिदम् । १८ तत्त्वज्ञानमेव हि तत् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरेव न व्याकृतत्वादिसाधारणनियम अती-  
तस्य मुक्तिहेतुत्वानुपगमान्न दोष व्यञ्जकमेव हि तत् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरेव न व्याकृतत्वादिसाधारणनियम अती-  
तिरित्येवोपनिन्द्यै रूपसार्यव्यञ्जनात् मित्याभूतैरपि गुरुभास्त्रादिभि सत्यात्मव्यञ्जनादिति ध्येयम् । १९ अय-  
पान्दर्यं दान्यन्तरम् उक्तं फल परमाणुत्वतस्यैवेति इति दोषो दृष्टव्यः । २० प्रत्यगाद्यविवक्षा । २१ स्व-  
भाववादाश्रयत्वात् । २२ निर्दिष्टा । २३ नानादिषु प्रसूतत्वाच्छासा इय । २४ छा०भू० । २५ भाव  
इति—साभासप्रत्यगविद्यास्यबीजावस्थोत्तिष्ठोऽत्र नित्यशुद्धमुद्रमुत्सवभाव परमात्मैव प्रत्यग्भूतो ज्ञो ज्ञान वेति  
निश्चित्य प्रदेशवाक्यात्प्राचीनवाक्य प्रवृत्तमिति तु परमार्थः ।

तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव 'व्याक्रिय-  
तासौनामाऽयमिदं'रूप इति 'तदिदमप्येतर्हि नाम-  
रूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदं'रूप इति स  
एव इह प्रविष्टः । आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने-  
ऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न  
पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम

वह यह (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान) जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था । वही नामरूप के योग से व्याकृत हो गया अर्थात् "यह इस नाम और इस रूप वाला है" इस प्रकार से वह अव्यक्त-तत्त्व, नाम और रूप के द्वारा व्यक्त हो गया । अतः अब इस सृष्टि के समय भी यह अव्याकृत वस्तु "इस नाम और इस रूप वाला है" इसी प्रकार व्यक्त होता है । वह यह व्यावर्ता पुरुष इस वर्तमान देह में नख से शिख पर्यन्त प्रवेश किये हुए है । जैसे छुरा छुरे के अधिकरण से छिपा रहता है, या विश्व का भर्ता अग्नि अपने आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है, इसीलिए लोग उसे देख नहीं पाते । वह असम्पूर्ण है, प्राणन निया के कारण होने से वह प्राण है, बदन का कारण होने से वाणी है । दर्शन का कारण होने से नेत्र है, श्रवण का कारण होने से श्रोत्र है और मनन का कारण होने से मन है । ये सब

इति काठके । गीतासु च "ऊर्ध्वमूलमघःशाखम्" इति । पुराणो च—"ब्रह्मवृक्षः सनातनः" इति ।

तद्वेदं तदिति बीजावस्थ जगत्प्रागुत्पत्तेस्तर्हि तस्मिन्काले परोक्षत्वात्सर्वनाम्ना-  
ऽप्रत्यक्षाभिधानेनाभिधीयते । भूतकालसंबन्धित्वावव्याकृतभाविनो जगतः । सुखग्रहणार्थ-

सप्रति प्रतीकमादाय पदानि व्याचष्टे—तदेत्यादिना । 'अप्रत्यक्षाभिधानेन तदिति सर्वनाम्ना 'बीजावस्थ जगदभिधीयते परोक्षत्वादिति सबन्ध । कथं जगतो बीजावस्थस्त्वमित्याशङ्क्य तर्ह्येत्यस्यार्थ-  
माह—प्रागिति । कथं तस्य परोक्षत्वं तत्राऽह—भूतेति । निपातार्थमाह—सुचेति । ह्रस्वार्थं 'मभिन-

शाखार्णं नीचे की ओर हैं ।" इसी को श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—"उसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं ।" पुराण में भी कहा है—"ब्रह्माधिष्ठानरूपं वृक्ष (तत्त्वज्ञान के बिना काटना असम्भव होने के कारण) सनातन है ।"

'तत् ह इदम्' में 'तत्' अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व बीजरूप में स्थित 'तर्हि' अर्थात् उस समय में (अव्यक्त था) । यही अव्यक्तरूप वाला जगत् भूतकाल से सम्बद्ध होने के कारण एव परोक्ष होने के

- १ व्याक्रियतेति—नामरूपावधारणपक्षे व्यक्तीभावमापद्यतेत्यर्थः । २ तदिदमिति—मुपुत्तो प्रमुक्त सदव्याकृत वस्तु । एतद्—अस्मिन्काले जगत्काल इत्यर्थः । ३ ब्रह्माधिष्ठानरूपो वृक्षो ब्रह्मवृक्षः । तत्त्वज्ञानमन्तरेणोच्छेत्तु-  
मशक्यत्वात्सनातन इति । ४ रूपस्य । ५ परोक्षार्थवाचनेन । ६ बीज साभावप्रत्ययविधातृरूपम् । ७ दर्शयति ।

भवति । वदन्वाक्पश्य<sup>१</sup>श्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो  
मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैक-  
मुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्या-  
त्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पद-  
नीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद ।  
यथा ह वं पदेनानुविन्देदेवं कीर्ति<sup>२</sup> श्लोकं विन्दते य  
एवं वेद ॥७॥

इसके कर्मानुसार ही नाम है । अतएव इनमें से एक-एक की उपासना जो करता है वह यह नहीं जानता,  
वस्तुतः वह असम्पूर्ण ही है । वैसे परिस्थिति में वह केवल एक-एक विशेषण से युक्त है । “अतः  
आत्मा है” इसी प्रकार से उस प्रजापति की उपासना करे, क्योंकि इसी आत्मा में वे सभी एक हो जाते  
हैं । यह जो सर्वानुभव सिद्ध आत्मा है, वही इन सब जीवों का प्राप्तव्य है । वस्तुतः यह आत्मा है और  
इस आत्मा के जानने से ही इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है । जैसे खोये हुए पशु को पदबिन्दु के द्वारा  
प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही जो पुरुष ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा कीर्ति और इष्ट पुरुषों का समा-  
गम प्राप्त करता है ॥७॥

‘मैतिह्यप्रयोगो ह्यशब्दः । एवं ह तवाऽऽसीदित्युच्यमाने सुखं तां परोक्षामपि जगतो  
बीजावस्थां प्रतिपद्यते पुत्रिधुरो ह किल राजाऽऽसीदित्युक्ते यद्वत् । इदमिति ‘व्याकृतनाम-  
रूपात्मकं साध्यसाधनलक्षणं यथार्वाणतमभिधीयते । तदिदंशब्दयोः परोक्षप्रत्यक्षावस्थ-  
जगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्यादेकत्वमेव परोक्षप्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते । तदेवे-

यति—किलेति । यथार्वाणतमित्यनर्थत्वेन संसारेऽसारत्वोक्तिः । यद्वत्तयसामानाधिकरण्यसन्धमर्थमाह  
—तदिदमिति । ‘एकत्वमभिनयेनोदाहरति—तदेवेति । एकत्वावगतिफलं कथयति—अथेति । सामाना-

कारण सर्वनाम द्वारा परोक्षार्थवाचक (‘तत्’) पद से कहा गया है । (परोक्ष जगत् की) सुखबुद्धि  
परम्परागत उपदेश के आधीन होती है इसलिये ‘ह’ शब्द का प्रयोग उस अर्थ में है । “उस समय वह  
ऐसा था” इस प्रकार कहने पर परोक्ष होने पर भी उस जगत् की बीजावस्था को श्रोता सुगमता से  
ग्रहण कर लेता है । जैसे लोकव्यवहार में भी कहा जाता है—“युधिष्ठिर एक राजा था” । नाम  
और रूपादि से व्यक्त उस साध्य और साधनरूप पूर्ववर्णित जगत् का ही “इदम्” इस शब्द से  
अभिधान होता है । अग्रप्रत्यक्ष और प्रत्यक्षरूप में जगत् के वाचक ‘तत्’ और ‘इदम्’ (वह और यह)

१ ऐतिह्यं परोक्षस्य जयनं सुमधोरोत्तममधीना तेनात्र ह्यशब्दप्रयोग ऐतिह्यमपरम्परायाम्नि प्रदेयः तदर्थोऽयं  
ह्यशब्दप्रयोग इत्यर्थः । इयमाऽऽसीदित्युक्त्याऽऽचार्यपरम्परया श्रूयत इति यावत् । “पारम्पर्योपदेशे स्वादेतिह्यमिति  
हाव्यमिलयम्” । ऐतिह्यं ह्यशब्दश्चेति द्वयं पारम्पर्योपदेशमात्रं तत्र ह्यशब्दोऽप्यवशिष्ट इति । २.  
नामात्मात्मना विज्ञेयम् । ३. स्वरूपप्रदर्शनेन स्पष्टयति ।

‘दमिदमेव च तदव्याकृतमासीदिति । अथैवं सति नासत्’ उत्पत्तिर्न सतो विनाशः कार्य-  
स्पेत्यवधृतं भवति ।

❖ ‘तदे’वंभूतं जगदव्याकृतं सन्नामरूपाभ्यामेव नाम्ना रूपेणैव च व्याक्रियत ।

धिकरणप्रवशादेकत्वे निश्चिते सत्यनन्तरम्—

‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’

इति स्मृतिरनुसृता भवतीति भावः ।

“अज्ञातं ब्रह्म जगतो मूलमित्युक्त्वा सट्वित्तो जगदिति” निरूपयति—तदेव भूतमिति । तृतीय-

इन दोनों शब्दों का एक अधिकरण होने से अग्रप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष अवस्था वाले जगत् की एकता ज्ञात होती है । वह अव्याकृत ही व्याकृत (कार्यरूप जगत्) था । यही अव्याकृत था । एकस्वरूप होने से ‘कार्यं अव्याकृतं है’ ऐसा कहे जाने पर असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत्कार्य का विनाश नहीं हो सकता—ऐसा निर्णय हो जाता है ।

“तत्” अर्थात् प्रकृत अज्ञात जगत् अनभिद्यवत् होकर “नामरूपाभ्यामेव” अर्थात् नाम और रूप के द्वारा व्याकृत हुआ । “व्याक्रियते” अर्थात् इसमें वर्मकृत् प्रयोग होने से वह अव्याकृत स्वयं

१ अव्याकृतमेव, व्याकृत-कार्यम् । २ नासत् उत्पत्तिरिति । कार्यमव्याकृतमित्युक्तं न तस्य सतो नाशः प्रत्यक्षेणव्याकृतस्य स्थितेर्नापि तस्यासतो जनितव्यस्यव्यक्तेरव जनित्वादिति भावः । ३ तत् प्रकृतम् । ४ एवभूतम्—अज्ञातम् । ५ अनभिद्यवत्तन्नामादि । ६ नामरूपाभ्यामिति—अत्र वाचकसामान्यं नामशब्दार्थः । तदुक्तं बातिके—“अभिधानादृतिर्नामसद्भेदेहाभिधीयते । अभिधेयादृतिस्तद्द्रूपमित्युपदिश्यत इति” ॥ ३६१ ॥ अनादृति सामान्यम् । ७ यद्वा नामरूपाभ्यां समुच्चिताभ्यामेव व्याकरणं नरवेकैकेनेत्येतदर्थमवधारणमिति केचित् (भर्तृ प्र०) तन्नेत्याह—नाम्नेति । ८ रूपेणैवेति—न तु प्रत्यगात्मस्वरूपेणेत्यर्थः । तथा च नामाद्यात्मना जगद्रूप-रूपमपि अधिष्ठानात्मनाऽप्यस्तमेव यथा सर्वाद्यात्मना व्यक्तापि रज्जु स्वरूपेणाव्यक्तैव तद्वदित्यर्थः । ९, अङ्गी-कृता । १० अज्ञातात्मविवर्तो जगदिति निरूपयितुमुत्तरं वाक्यमित्यभिप्रेत्य तदवमिति भाष्यमवतारयति - अज्ञातं ब्रह्म ति । ११ उपपादयति ।

कृतदेवभूत जगदव्याकृत सन्नामरूपाभ्यामेव नाम्ना रूपेणैव चेति । अत्र भाष्ये चत्वारि बातिवानि । तथाहि—  
‘कार्यकारणभेदेन प्रपञ्चो यं पुरोदित । यद्येकोऽर्थो ब्रह्मते तस्मात्परस्तादितदुच्यते ॥ प्रथमे वैश्वरूपेण यतोऽवि-  
द्यैव सर्वथा । अविद्यामात्रयायात्मावतस्तददमुच्यते ॥ मा भूद्रूपादृतयो पुंसां नामरूपात्मवस्तुनि । ऐवात्म्यव्य-  
क्तितोऽयत्र तस्मादेवेति गौरियम् ॥ सामानाधिकरण्यात्तद्व्यक्तस्याव्यक्तसिद्धयः । न हि कात्मन्यमभिव्यक्त्येव्यक्त-  
स्याकारोऽयं दधानादिति ॥ २०६-२०८ ॥ तन्नामरूपाभ्यामित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—कार्येति । कार्यकारणभेदेन  
तस्मादुक्तवक्ष्यमाणप्रपञ्चादपरिहातमुभयविधप्रपञ्चमाश्रित्य तदित्यानुच्यते । तत्र नामरूपाद्याभ्यामाश्लाशि-  
गृह्यते, न प्रसिद्धे नामरूपे न च तद्व्यापारणमृते मूलकारणादिति न तद्वह्णयत्र गुक्तमित्यर्थः ॥ कार्यकारणयोनि-  
त्यमभेद इत्युक्त्वा कार्यकारणभेदेन बदनो व्याहृतिरित्याशङ्क्याऽह—प्रथत इति । वैश्वरूपेण कार्यं कारणमित्य-  
नेवाकारणेत्यर्थः । सर्वदा त्रिज्वलि बालेति धावत् । कार्यकारणयोरेकविद्यत्वादुक्तमामानाधिकरण्यात्तयोरेवो-  
पपत्तिर्भेदेन चानुवादस्तद्वेषणाविद्याया भानादिद्रो मायाभिरित्यादिभूतेस्तत्र व्याहृतिरित्यर्थः ॥ तदित्यादिवाक्यस्य-  
मेव शब्द व्याहरोति—मा भूदिति । आत्मव्यक्तिं विना जगद्रूपसमिति पुंसां आतिरूपा धीमां भूदिति यतो मन्यते  
भूतिस्तस्मान्नामरूपाभ्यामेव जगदभिद्यवत् न स्वरूपेण प्रत्यगात्मनोति बद्धो नामाद्यात्मना तद्वह्णयत्रमित्यर्थः





‘शेषः । इदं शुक्लमिदं कृष्णं वा रूपमस्येतोदंरूपः । तदिदमव्याकृतं वस्त्वेतत्तस्मिन्नपि काले नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदंरूप इति ।

‘यदर्थः ‘सर्वशास्त्रारम्भो यस्मिन्नविद्यया ‘स्वाभाविकया कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता यः कारणं सर्वस्य जगतो यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छान्तेऽसमिव ‘फेनम-

प्रबुद्धदृष्टान्तेन स्पष्टयति—तदिदमिति ।

तद्वेत्यत्र मूलकारणमुक्त्वा तन्नामरूपाभ्यामित्यादिना तत्कार्यमुक्तमिदानीं प्रवेशवाक्यस्य शब्दापेक्षितमर्थमाह—यदर्थं इति । काण्डद्वयात्मनो वेदस्याऽऽरम्भो यस्य परस्य प्रतिपत्त्यर्थो ‘विज्ञायते कर्मकाण्डे हि स्वार्थानुष्ठानाहिनचिसमुद्भिद्वारा तत्त्वज्ञानोपयोगीष्यते ज्ञानकाण्डे तु साक्षादेव तन्निप-  
युज्यते ‘सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति’ इति च श्रूयते स परोऽत्र प्रविष्टो देहादाविति योजना । सर्वस्याऽऽ-  
भ्यासस्य ब्रह्मात्मनि ‘समन्वयमुक्त्वा तत्र विरोधसमायानार्थमाह—यस्मिन्निति । अघ्यासस्य  
‘धनुर्विधल्यातीनामन्यतमत्वं वारयति—प्रविष्टयेति । तस्या ‘मिध्याज्ञानत्वेन सावित्वाद्नाद्याभ्यास-  
हेतुत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—स्वाभाविकयेति । “विद्याप्रागभावत्वमविद्याया व्यावर्तयति—कर्त्रिति ।  
“न हि तदुपादानत्वमभावत्वे संभवति नचोपादानान्तरमस्तीति भावः । अन्यस्तु सर्वत्र यच्छब्दस्य  
पूर्ववद्ब्रह्मण्यः । आत्मनि कर्तृत्वाभ्यासस्याविद्याकृतत्वोक्त्या समन्वये विरोधः समाहितः संप्रत्य‘ध्या-  
सकारणस्योक्तत्वेऽपि निमित्तोपादानमेव” सास्यवादमाशङ्क्योक्तमेव कारणं तदुभेदनिराकरणार्थं कथय-  
ति—य कारणमिति । “श्रुतिस्मृतिवादिषु परस्य तत्कारणत्वं प्रसिद्धमिति भावः । नामरूपात्मकस्य  
इतत्स्याविद्याविद्यमानवेहेत्वाद्दिष्टापनोद्यत्वं सिध्यतीत्याह—यदात्मके इति । व्याकर्तृरात्मनः स्वभावतः  
शुद्धत्वे दृष्टान्तमाह—सलिलादिति । व्याक्रियमाणोर्नामरूपयोः स्वतोऽशुद्धत्वे दृष्टान्तमाह—मल-

प्रव्याकृतं वस्तु ‘एतर्हि’ अर्थात् उस समय भी नाम और रूप के द्वारा ही ‘इस नाम वाली है’, ‘इस  
रूप वाली है’ इस प्रकार व्याकृत होती है ।

जिसके लिए वैदिक-अवैदिक सर्वशास्त्रों का आरम्भ हुआ है, जिसमें अनादिसिद्धा अविद्या के

१ नामाभ्यासः । २ तदिदमिति—वर्तमानकाले सुपुस्तावध्याकृतवस्तुज्ञात आपरादी व्याक्रियमाण इहमतः  
सर्गादावपि पूर्वमव्याकृतस्य व्याकरण इद्वानुसारात्कल्पयति भावः । ३ वैदिकावैदिकमाधारणशास्त्रम् । ४  
अनादिसिद्धाः । ५ भूतानम् । ६ अविद्यात्मने । ७ निर्वचनीयते । ८ सात्पर्यम् । ९ धनुर्विधल्या-  
तीति—असत्स्यातिमार्थमिकानाम् । अस्यानि साम्यप्राप्तावराणाम् । अन्यथाभ्यासि साविकाणाम् । आत्मस्या-  
तिगीर्णावराणाम् । अविद्यायास्त्वनिर्वच्यत्वयाऽनिर्वचनीयस्याति संद्वान्तिकानामिति । १० धुतिरजतज्ञानवत् ।  
११ अविद्याया विद्याप्रागभावत्वादानादित्वेऽपि नाध्यामोपादाननस्यमिप्रेत्याह—विद्येति । १२ उभयविद्याभ्या-  
सस्याभावेतत्त्वात्तदुपादानाज्ञानस्यापि नाभावेत्त्वम् उपादानान्तराभावावित्यमिप्रेत्याह—न हीति । १३ अज्ञान-  
स्य । १४. कोमन्तर्भाष्याह—माश्ववादमिति । १५ श्रुतिस्मृतिवादेऽपि । ‘आत्मन आकाशं सभूतम्’ ।  
‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इत्याद्या श्रुतयः । ‘अहम् सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ । ‘मत् सर्वं प्रवर्तते’ इत्यादि-  
स्मृतेश्च । परिच्छिन्नस्य कार्यत्वेन मूलकारणत्वायोग इत्यादिभुक्तिस्त्राहको वादवादः । अतोऽज्ञातं प्रह्वं कारणं  
न प्रधानादीनि तत्र उक्तोक्तं वदन्ते च मधुबाह्मणादावतो न प्रधानवादः साधु । तथा च वार्तिकम्—“श्रुतिर्  
भुक्तिस्तस्यापि स्वयमेव प्रवदयति । उदरं भूममेवार्थं नातोऽप्यतराण तत्” ॥५८१॥ इति । उदरं—अग्ने ।

व्याकृते व्याक्रियेते यश्च ताभ्यां नामरूपाम्भ्यां विलक्षणः स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेष्व-  
शनायादिमत्सु ॥ प्रविष्टः ।

मिवेति । यथा केनापि जलोत्थं तन्मानमेव तथाऽऽज्ञातग्रहोत्थं जगद्ब्रह्ममात्रं तज्ज्ञानवाच्यं चेति भावः । नित्यशुद्धत्वादिलक्षणमपि वस्तु न स्वतोऽज्ञाननिवर्तकं केवलस्य 'तत्साधकत्वाद्वाक्योत्पद्युद्धि-  
वृत्त्यारूढं तु तथेति मन्वानो भूते-यत्वेति । 'आकाशो ह यं नाम नामरूपयो'निर्वहिता ते 'यदन्तरा-  
तद्ब्रह्म' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह-ताभ्यामिति । नामरूपात्मकद्वैतासंस्पर्शत्वादेव' नित्यशुद्धत्वमशुद्धे-  
द्वैतसंस्पर्शाधीनत्वात्तत्रापिचा प्रयोजिकेत्यभिप्रेत्य तत्संबन्धं निषेधति-वृद्धेति । तस्मादेव दुःखाद्यनर्था-  
संस्पर्शस्वमाह-मुक्तेति । विद्यावशाया शुद्धावित्तद्भावेऽपि बन्धावस्थायाम् नैवमिति चेन्नेत्याह-  
स्वभाव इति । प्रव्याकृतवाक्योक्तमज्ञातं परमात्मानं परामृशति-स इति । 'तमेव कार्यस्थं प्रत्यक्षं  
निदिशति-एष इति । आत्मा हि स्वतो नित्यशुद्धत्वाविरूपोऽपि स्वाविद्यावष्टम्भाभ्रानामरूपे व्याकरोतीति  
'तत्सर्जनस्याविद्यामयत्वं विवक्षितत्वाऽऽह-अव्याकृते इति । तपोरात्मना' व्याकृतत्वे तदतिरेकेणाभावः  
फलतीति भत्या विशिनष्टि-आत्मेति । जनिमन्मात्रमिहशब्दार्थं कथयति-ब्रह्मादीति । 'तत्रैव दुःखादि-  
संबन्धो नाऽऽत्मनोति मन्वानो विशिनष्टि-कर्मति । ब्रह्मात्मैक्ये पदद्वयसामानाधिकरण्याधिगते हेतुमाह  
—'प्रविष्ट इति ।

द्वारा कर्ता, क्रिया और फल का आरोप किया गया है, जो सारे जगत् का कारण है, जिसके स्वरूपभूत नाम और रूप स्वच्छजल से भलिनतारूप फेन के समान अविविधरूपक रूप में व्याकृत होते हैं । और जो उन नाम और रूप से विलक्षण स्वतः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप है, वह यह आत्मा प्रव्याकृत एवं आत्मस्वरूप-नामरूपों को व्याकृत करता हुआ सत्तम्बपर्यन्त कर्मफल के प्राधन्यभूत अशनाया-

- १ अतोऽहमित्यादिप्रतीत्यपि व्यवस्य । २ आकाश इति । आसम्भूतात्काशतः प्रकाशत इत्याकाश परमात्मा ।
- ३ निर्वहिति-उत्पत्तिस्थितिहेतुरित्यर्थः । ४ यदन्तरिति-गस्माद्विन्ने । यस्मिन्व्यतिरिक्तत्वात्तद्व्यतिरेक इति भावः ।
- ५ एवेति-अप्येकमेव कारणं बोधयित्वातः वार्तिकमिति हेतुत्वात् समुच्चीयत । ६ तमेवेत्यादि-परोक्षमिहित परमात्मानमेव । कार्यम् बुद्धिस्तत्स्य तदुद्गतिमिति यावत् । ७ तत्सर्जनस्थेति । नमव्युत्पत्त्या नामरूपात्मकद्वै-  
तस्येत्यर्थः । ८ स्वरूपेण । ९ उक्तदेहादाविव । १० प्रविष्ट इति-स्वाविद्यावष्टम्भाभ्रानामरूपे विवक्षितप्रतिबिम्बो-  
भूत इत्यर्थः । तथा च वार्तिकम्- 'सूत्रादिस्थानुपर्यन्तं जगत्पृष्ट्वा स्वमायया । स्वाभासैकसहाय्यात्मा तदेव प्राविशदिति' ॥५१४॥ इति । आभास प्रतिबिम्बसद्वदित्यर्थः ।

॥ प्रविष्ट इति । अत्राहो वार्तिकानि द्वयस्यानि । तथाहि- "इत्युक्तप्रतिपत्त्यर्थं ह्युरेयोऽभिधीयते । प्रविष्ट इत्यन-  
नात्र स्वाभासैकतमोऽन्यथा ॥ ५०१॥ स्वात्माभासप्रवचनं प्रत्यङ्माहनिवन्धनं । तज्जेवमिदं स एव स्वात्म-  
दबुधपरिचरिणु ॥ एषोऽव्याकृतमरूपं त्रियाविज्ञानात्किमत् । वतु'रूपभावकं स्थानं च तं नमस्यमादकम् ॥  
शुद्धपातमोऽभिनिर्वृत्तिव्यवसायात्पनस्ततः । हिरण्यमर्थं यः प्रादुराभास जगद्विभाम् ॥ धराज स्थानमासाद्य  
क्षमादिदेवाविभागवान् । देवताररमो देव एष एवाच्यते विराट् ॥ तथा च मन्त्रवर्णनं ह्यग्निर्धूमोऽपि हरयः ।  
तदुपादानमात्रा स्युर्वेत्ता स्वाभिमानजा ॥ आधिभौतिकभूतानां तथैवाव्यात्मरूपिणाम् । पूर्वोक्तानां परिदेवा  
ह्यग्निर्धूमोऽपि हरयः ॥ सूत्रादिस्थानुपर्यन्तं जगत्पृष्ट्वाऽऽजमायया । स्वाभासैकसहाय्यात्मा तदेव प्राविशदिति-  
रिति' ॥५०८-१४॥ प्रविष्टपदसाम्यमाह-इत्युक्तानि । इतिना पदद्वयसामानाधिकरण्यात्तत्तदोक्तमप्येव तन्नि-  
वचनपर्यन्तेशितो हेतुः प्रविष्टशब्देनोच्यत इत्यर्थः । परस्य प्रवेसरचनं प्रविष्टस्य जीवत्वात्तं तदस्य भुक्तं न तु





ग्रामः शून्य इति शब्दप्रयोगो भवति कदाचिन्निवासिजनविवक्षायां ग्राम आगत इति कदाचिदुभयविवक्षायामपि ग्रामशब्दप्रयोगो भवति 'ग्रामं च न प्रविशेदिति यथा । तद्वदिहापि जगदिदमव्याकृतं व्याकृतं चेत्यभेदविवक्षया भात्मानात्मनो भवति व्यपदेशः । तथेवं जगदुत्पत्तिविनाशात्मकमिति' केवलजगद्व्यपदेशः । तथा महानज आत्माऽऽख्यूलोऽनणुः स एव नेति नेतीत्यादि केवलात्मव्यपदेशः ।

ननु परेण व्याकृता व्याकृतं सर्वतो व्याप्तं सर्वदा जगत्स कथमिह प्रविष्टः परि-  
कल्प्यते । अत्रविष्टो हि देशः परिच्छिन्नेन प्रवेष्टुं शक्यते । यथा पुरेण ग्रामादिना-  
ऽऽकाशेन किञ्चिन्नित्यप्रविष्टत्वात् । पापाणसर्पादिवद्धर्मन्तिरेणेति चेत् । अथापि स्यान्न

तद्वदिति । इहेत्यव्याकृतवाक्योक्तिः । निवासमात्रवियक्षया ग्रामशब्दप्रयोगस्य दार्ष्टान्तिकमाह—  
तथेति । निवासिजनविवक्षया तत्प्रयोगस्यापि दार्ष्टान्तिक कथ्यते—तथा महानिति ।

अव्याकृतवाक्ये परस्य प्रकृतत्वात्तस्य प्रवेशवाक्ये सशब्देन परामृष्टस्य सृष्टे कार्यं प्रवेश उक्तस्तं  
च प्रकारान्तरेण ऽऽक्षिपति—नन्विति । कथमिति सूचिताननुपपत्तिमेव स्पष्टयति—अप्रविष्टो हीति ।  
दृष्टान्तावप्यभेद प्रवेशवादी शङ्कते—पापाणेति । "तदेव विवृणोति—अथापीत्यादिना । परस्य परिपू-

शून्य है' ऐसे शब्द का प्रयोग होता है और कभी ग्रामवासी लोग की विवक्षा होने पर 'ग्राम आ गया'  
ऐसा प्रयोग होता है तथा कभी दोनों की विवक्षा में भी ग्राम शब्द का प्रयोग होता है, जैसे 'ग्राम  
(नगर या जनसमूह) में प्रवेश न करे' । उसी तरह यहाँ भी 'यह जगत् व्याकृत और अव्याकृत है' इस  
वाक्य में अभेद की विवक्षा होने पर आत्मा और अनात्मा का निर्देश होता है । तथा 'यह जगत्  
उत्पत्तिविनाशस्वभाव वाला है' इस वाक्य में (आत्मोपसर्जन) केवल अनात्मजगत् का निर्देश  
है । तथा 'यह आत्मा महान् और जन्मरहित है', 'यह असूय और अनणु है', 'वह यह आत्मा ऐसा  
(कारणरूप) नहीं है, ऐसा (वार्थरूप) नहीं है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में केवल आत्मा का निर्देश है ।

(पुन शङ्का होती है ) किन्तु जब व्याकृत करने वाले परमात्मा द्वारा यह व्याकृत जगत्  
सर्वदा सब ओर से व्याप्त किया गया है, तो बुद्धिधादि में प्रविष्ट हुआ ऐसी कल्पना क्यों करते हो ?  
क्योंकि किसी परिच्छिन्न वस्तु द्वारा उसी जगह प्रवेश किया जा सकता है, जिसमें उसका प्रवेश न हुआ  
हो । जैसे पुर पट्टाग्रामादि में प्रवेश होता है । (सब में) नित्यप्रविष्ट होने के कारण आकाश के  
द्वारा किसी वस्तु में प्रवेश नहीं किया जा सकता । (मिद्वान्त्यवदशो प्रवेशवादी कहता है—)

१ नगर जनसमूह कथ्यम् । २ आत्मानात्मनोरिति । तथा च वालिके—अव्यक्त व्याकृत विभक्त यत्र चाप्यभि-  
धीयत । आत्मानात्मद्वयार्थेन विवक्षा तत्र गम्यते" ॥१२७॥ इति । ३ वाक्य । ४ क्वचित् जगच्छब्देन  
प्राधान्यात्प्रवृत्त्या । तथा च वालिके—"असूयलाऽनोऽनर बुद्धौ यत्र चाप्यभिधीयते । प्रत्यगात्मविशेषं तत्र  
नेपाभिधानतः ॥१२६॥ यत्र निषेध्यस्त्वन स्थानादिजगत्स्थितं तत्र प्रत्यगात्मैव निषेध्यापेक्षया जगच्छब्देन  
विवक्षयते इत्यर्थः । ५ वाक्ये । ६ केवलेति-आत्मोपसर्जनानात्मव्यवहारः । ७ बुद्धिधादी । ८ उक्त  
इति—यदि तस्य तत्र प्रकृतत्वं नेष्ट तदापि यन्मदन्यथास्ति, इत्यत्र प्रकृतत्वात् तस्यैव सशब्देन परामर्शः तस्यैव  
सृष्टेः सृष्टेः जगति प्रवेशो युक्त इति बोधः । 'यन्मदन्यथास्ति' चोक्ते परस्य प्रकृतत्वं । सशब्देन परामर्श  
परस्यैव भवति" ॥१२८॥ इति वालिकेने । ९ मिद्वान्त्यवदशी । १० महानात्मम् ।



न्तरेण विद्युज्य स्थानान्तरसंयोगलक्षणः प्रवेशो निरवयवस्यापरिच्छिन्नस्य दृष्टः ।

सावयव एव प्रवेशश्रवणादिति चेन्न । “दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः” “निष्कलं निष्क्रियम्” इत्यादिश्रुतिभ्यः । ‘सर्वव्यपदेश्यधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिभ्यश्च । प्रतिविम्बप्रवेशवदिति चेन्न । ‘वस्त्वन्तरेण विप्रकर्षानुपपत्तेः । द्रव्ये गुणप्रवेशवदिति चेत् । न । अन्याश्रितत्वात् । नित्यपरतन्त्रस्यैवाऽऽश्रितस्य गुणस्य द्रव्ये प्रवेश उपचर्यते । न तु ब्रह्मणः ‘स्वातन्त्र्यश्रवणात्तया प्रवेश उपपद्यते ।

फले बीजवदिति चेन्न । सावयवत्ववृद्धिक्षयोत्पत्तिविनाशादिधर्मवत्त्वप्रसङ्गात् । न

सदृशो च भवतीति योजना । विद्युज्येति पाठे तु स्फुटं च योजना ।

प्रवेशश्रुत्या निरवयवत्वासिद्धिं शङ्कते—सावयव इति । प्रवेशभूतेरन्यथोपपत्तेर्ब्रह्ममाणत्वात्तन्त्रमिति परिहरति—नेत्यादिना । अमूर्तत्वं निरवयवत्वम् । पुरुषार्थं पूर्णत्वम् । प्रकारान्तरेण प्रवेशोपपत्तिं शङ्कते—प्रतिविम्बेति । आदिस्थानादौ जलादिना सनिकर्षादिसम्भवात्प्रतिविम्बाद्यप्रवेशोपपत्तिः । आत्मनि तु परस्मिन्नमद्वैतज्ञवच्छिन्ने केनचिदपि तदभावात् यथोक्तप्रवेशसिद्धिरित्याह—न वस्त्वन्तरेणेति । प्रकारान्तरेण प्रवेशं बोधयति—द्रव्य इति । परस्यापि कार्ये प्रवेश इति दोषः । गुणापेक्षया परस्य बलक्षयं दर्शयन्परिहरति—नेत्यादिना । स्वातन्त्र्यश्रवणमेव सर्वेश्वर इत्यादि ।  
पनसाविकले बीजस्य प्रवेशवत्कार्ये परस्य स्वादिति शङ्कित्वा रूपयति—फल इत्यादिना ।

निरवयव मीर अपरिच्छिन्न पदार्थ का एक स्थान से वियोग प्राप्त कर दूसरे स्थान मे संयोग लक्षणरूप प्रवेश नही देखा जाता है ।

उसका प्रवेश होना तो सुना गया है इसलिये यदि वह अवयव युक्त कहा जाए तो ? ऐसा नहीं हो सकता । ‘ (वह अक्षरब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण) निरवयव ही दिव्य, आकाररहित पुरुष है” “जो कला रहित और क्रिया धन्य है (उस देव की मैं शरण हूँ)” इत्यादि श्रुतियों और (‘नेति-नेति’ इस प्रकार) सब व्यपदेश्य धर्म विशेष के प्रतिषेध करने वाली श्रुतियों इसमे प्रमाण है । (सिद्धान्त्येकदेशी का करता है—) यदि प्रतिविम्ब के प्रवेश के समान उसका प्रवेश मान लें तो ? (इसका परिहार पूर्वपक्षी करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वभिन्न वस्तु द्वारा वियोगादि होता असंभव है । (पुन सिद्धान्त्येकदेशी कहता है—) जैसे द्रव्य मे गुण का प्रवेश होता है उसी तरह उसका प्रवेश मान लें तो ? (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) ऐसा यहां मानना ठीक नहीं क्योंकि वह किसी के आश्रित नहीं है । नित्य परतन्त्र और आश्रित गुण का ही द्रव्य मे प्रवेश कहा जाता है । ब्रह्म का द्रव्य मे गुण भी तरह प्रवेश संभव नहीं है क्योंकि ईश्वर का स्वतन्त्र होना सुना जाता है ।

(पुन प्रवचनवादी कहता है—) यदि ईश्वर का प्रवेश फल मे बीज के समान मान लिया जाय

१ सर्वज्ञ । नेति नेतीति सर्वव्यवहृतिमाणधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिमनुवृत्त्यति—उच्यते । न परस्य सावयवत्वादिप्रमाणवैतिरूप । २ वस्त्वन्तरेणत्वादि । स्वभिन्नवस्तुना नियोगाद्यसम्भवादित्यर्थः । तदुक्तं आदिके— ‘ततोऽप्यत्र वियोगस्तत्र वस्तु वैतद् बीजवत् । प्रतिविम्बप्रवचोऽयं तत्र नित्यं नुज्यते ॥५४१॥ इति । ३ उच्यते । ४ स्वातन्त्र्येति—नहि कारणं नार्थं च वैपरीत्यादयो द्रव्य गुणवतीश्वरस्य प्रवचनं न कार्यं युक्तं स्वतन्त्रतया गुणवैधर्म्यादित्यर्थः । ५ सनिर्वाच्यत्वात् ।

चैवं धर्मवत्त्वं ब्रह्मणः “अजोऽजरः” इत्यादिश्रुतित्यायविरोधात् । ‘अन्य एव ससारी परि-  
च्छिन्न इह प्रविष्ट इति चेन्न । “संयं देवतैक्षत” इत्यारम्य “नामरूपे, व्याकरवाणि” इति  
तस्या एव प्रवेशव्याकरणकर्तृत्वश्रुतेः । तथा तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । स, एतमेव  
सीमानं विदार्यतया द्वारा प्रापद्यत । “सर्वाणि रूपाणि विचित्र्य धीरो नामानि कृत्वाऽ-  
भिवदन्यदास्ते” “त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वैश्वसि” “पुरश्चक्रे द्विपदः”  
“रूपं रूपम्” इति च मन्त्रवर्णान्न परादन्यस्य प्रवेशः ।

विनाशादोत्पादशब्देनानात्मत्वानीश्वरत्वादि गृह्यते । प्रसङ्गस्यैष्टत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—न चेति ।  
जन्मादीनां धर्माणां धैर्मिणो भिन्नत्वाभिन्नत्वासंभवादिन्यायः । ‘भोजकस्योरवयवावयवित्व पापाणसं-  
घोराघाराधेयतेष्वपुनरुक्तिः । परस्य सर्वप्रकारप्रवेजासंभवे प्रवेशश्रुतेः “रालम्बन बाध्यमित्याशङ्क्य पूर्व-  
पक्षमुपसंहरति—अन्य एवेति । जगतो हि परः स्रष्टेति वेदान्त मर्यादा स्रष्टव्यं च प्रवेष्टा प्रविश्य व्याक-  
रवाणोति प्रवेशव्याकरणयोरेककर्तृत्वश्रुतेस्तस्मात्परस्मादप्यस्य प्रवेशो न युक्तिमानिति सिद्धान्तयति  
—नैवेत्यादिना । “तत्रैव तंतिरीयश्रुति सत्रादयति—तथेति । ऐतरेयश्रुतिरपि यथोक्तमर्थमुपो” ब्रह्मपती-  
स्याह—स एतमेवेति । “श्रीनारायणाश्वयमन्त्रमप्यन्तानुकूलयति—सर्वाणीति । वाक्यान्तरमुदाहरति—  
त्वं कुमार इति । अत्रैव वाक्यशेषस्याऽऽनुगुण्यं वक्ष्यति—पुर इति । उदाहृतश्रुतीनां तात्पर्यमाह—  
न परादिनि ।

तो ? (पूर्वपक्षी कहता है—) ऐसा मानना भी ठीक नहीं । ऐसा कहने से ईश्वर में सावयवत्व, वृद्धि,  
क्षय, उत्पत्ति और विनाशादि धर्म होने का प्रसङ्ग आ जायगा । परन्तु ब्रह्म इस प्रकार के धर्मों वाला  
नहीं है । वह मानने से “वह अजन्मा और अजर है” इत्यादि श्रुति और युक्ति से विरोध होने लगेगा ।  
(लोक व्यवहार में परिच्छिन्न का ही प्रवेश देखा जाता है) अत यदि ऐसा मानो कि ईश्वर से भिन्न  
किसी परिच्छिन्न ससारी ने ही इसमें प्रवेश किया है तो ? (पूर्वपक्षी की उपसंहार उक्ति का सिद्धान्तो  
खण्डन करता है—) ऐसा मानना ठीक नहीं । (इस जगत् का स्रष्टा परमात्मा है और वही प्रवेष्टा है  
ऐसा वेदान्त का परम सिद्धान्त है इसलिए अन्य का प्रवेश होना सर्वथा अनुपयुक्त है) क्योंकि (छान्दो-  
ग्य उपनिषद् में) “उस इस (सत् नाम वाली तैज, अर्प और अन्न की योनिरूपा) देवता ने ईक्षण  
किया” यहाँ से लेकर “मैं नाम और रूपों की अभिव्यक्ति करूँ” अर्थात् तब की धुनि से उसी का प्रवेष्टा  
और स्रष्टा होना सिद्ध होता है । तथा “उसे सृजन कर बाद में (स्रष्टा परमेश्वर) उसी में प्रविष्ट हो  
गया”, वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्चा को ही विदीण कर इस मार्ग से ही इस सधात में प्रविष्ट हो  
गया” “जो धीर है वह समस्त रूपों को रचकर, उनके नाम रखकर उनमें घासीन हुआ धोलता रहता

१ वाय एवेत्यादि इह श्रुति या जगत्प्रविशदित्युक्तं स परस्मादन्य परिच्छन्नं समर्थं इति योग्यता । परिच्छ-  
न्नस्यैव प्रवेशो ताके दृष्टः । न च धुनिर्विरोध परस्परं जीवभावमापन्नस्य प्रवक्ष्यादित्वादिनि भावः । २  
छान्दोग्यः । ३ विरचय । ४ वत-य धीरः । आनीनोऽप्रियवतीति यावत् । ५ गच्छति । ६ बृ० उ०  
२-५-१८ । ७ बृ० उ० २-५-१९ । ८ भिन्नत्वेत्यादि । अत्यन्तभिन्नत्वं च यथार्थमिभाव यथा घटपटयो ।  
अभिन्नत्वेपि नाभिन्नत्वाभिपत्य चैत्र विरट्त्वादशब्दयामुपपन्नम् । ९ पञ्चीरदुष्कान्तस्य पापाणसंप्रदुष्टात्तन  
पुनरुक्तिमात्रदूषाऽऽह—वीजेति । १० विषयः । ११ परमसिद्धान्तः । १२ अतन जीवेनात्मनानुप्रविश्य  
नामरूपे व्यानरवाणि । १३ स्रष्टृप्रवेष्टोरैवे । १४ द्रव्यनि । १५ नारायणानुपदीप्यम् ।



प्रविष्टानामितरेतरभेदात् परानेकत्वमिति चेत् । न । “एको देवो बहुधा संनिविष्टः”  
 “एकः सन्बहुधा विचारः” “त्वमेकोऽसि बहून्नुप्रविष्टः” “एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी  
 सर्वभूतान्तरात्मा” इत्यादिश्रुतिभ्यः । प्रवेश उपपद्यते नोपपद्यत इति तिष्ठतु तावत्प्रविष्टा-  
 नां संसारित्वात्तदनेन्यत्वाच्च परस्य संसारित्वमिति चेत् । न । ‘अशनायाद्यत्ययश्रुतेः’ ।  
 सुखित्वदुःखित्वादिवशं नानेति चेत् । न । “न लिप्यते ‘सोऽदुःखेन बाह्यः’ इति  
 श्रुतेः । प्रत्यक्षादिपरोधादयुक्तमिति चेत् । न । उपाध्याश्रयजनितविशेषविषयत्वात्

परस्य प्रवेशे प्रविष्टानां भिन्नो भेदात्तदभिन्नस्य तस्यापि नानात्वप्रसक्तिरिति शङ्कते—प्रविष्टा-  
 नामिति । न परस्यानेकत्वमेकत्वश्रुतिविरोधाविति परिहरति—नेत्यादिना । विचार विचचारेति  
 यावत् । परस्य प्रवेशे नानात्वप्रसङ्ग प्रत्याख्याय दोषान्तरं चोच्यते—प्रवेश इति । तेषां संसारित्वेऽपि  
 परस्य किमायात् तदाह—तदनन्यत्वादिति । श्रुत्यवष्टम्भेन व्युपयति—नेति ।

अनुभवमनुसृत्य शङ्कते—सुखित्वेति । नासंसारित्वमिति शेषः । गूढाभिधिरुत्तरमाह—नेति ।  
 प्रागमो हि परस्यासंसारित्वे भान स्वयोच्यते स चाध्यक्षविच्छेदो न स्वार्थे भानं न च वंपरीत्यं ज्येष्ठ-  
 त्वेन<sup>१</sup> बलवत्त्वादिति शङ्कते—प्रत्यक्षादीति । पूर्ववादिभि स्वशापमाविष्कृतवति तिष्ठान्ती स्वाभि-  
 संधिमाह—नोपाधीति । उपाधिर्न करण तदाभ्यपत्त्वेन अनितो दिशेषश्चिदाभासस्तद्गतबुद्धादिविषय-

है”, “तुम ही कुमार मा कुमारी हो तू हो बूढ़ा हाकर लड़को के सहारे चलता है ।” “परमात्मा ने दो  
 पैर वाले शरीर बनाये”, “(एक हो सम्पूर्ण भूता का अन्तरात्मा उनके) रूप के अनुरूप हो रहा है”  
 इत्यादि मन्त्रवर्णों से भी परमात्मा से भिन्न मृष्टि में किसी दूसरे का प्रवेश सिद्ध नहीं होता ।

यदि शका करो कि प्रविष्ट पदार्थों का परस्पर भेद होने से परमात्मा ने नानात्व प्राप्त होने  
 लगेगा तो ऐसा कहना ठीक नहीं । “एक ही वह परमात्मा बहुरूप से प्रविष्ट हुआ”, “एक ही होकर उस  
 परमात्मा ने बहुरूप से विचार किया”, “तुम एक ही हो और अनेकों में प्रविष्ट हो”, “समस्त प्राणियों  
 में सर्वव्यापक सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा, एवं परमात्म देव ही गुप्त भाव से स्थित है ।” इत्यादि  
 श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं । (पूर्वपक्षी पुन दोषान्तर ढढकर कहता है—) अच्छा, इस कार्यभूत मृष्टि में  
 परमात्मा का प्रवेश होता है या नहीं, इस बात को छोड़ो । प्रविष्ट हुए पदार्थों के ससारी होने से एवं  
 परमात्मा उससे अभिन्न होने से श्रुति परमात्मा को अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि  
 सासारिक धर्मों से परे बताती है ।

यदि कहो परमात्मा का सुखी और दुखी होना देखा जाता है इसलिए परमात्मा

१ परानेकत्वमिति । पर स्वगतभेदवान् अनेकाभिन्नत्वात् अनेकवदिति शङ्कितुं राग्य ॥ २ बहुरूपेण ।

३ इत्यादीति । अनेके तत्त्वतः स्वगतभेदहीना एवाभिन्नत्वादेव वदिति प्रत्यनुमान तथा लोकेऽपि नाभेदा नानात्व-  
 कारी दृष्ट । तस्याभेदवत्त्वादेव तद्विरोधित्वादित्यभिन्नत्वस्य भेदमाश्रयत्वे लोकविरोधपदादिशङ्काय । तदुक्त  
 यातिके—“बहूनामेकयोगित्वादेकत्वं किं न चोच्यत इति ॥५१२॥ एकस्य बहुभिरभेदादनेकत्वं वेदबहूनामेकना-  
 भेदादेव त्वं किं न स्वादिति तदयं । पर स्वगततात्त्विकभेदहीनो भेदत्वादावाशब्दवदिति वास्तविकभेदाभावबोध्यमान  
 च द्रष्टव्यम् । तथा च परभेदमाश्रय लोकप्रमानुमानविरुद्धमिति भावः । ४ तिष्ठत्वस्थित्येन केनापि प्रवारेण  
 प्रवेशोऽस्तु श्रुतिवशादित्यर्थः । श्रुत्यवष्टम्भेन मक्षिप्त प्रवेश प्रपञ्चयितव्य पक्षवादिता तावच्छङ्काय ।

५ तदन्यत्वादिति । परं समारो तदभिन्नत्वात्तद्वदिति भावः । ६ बृ० उ० ३-५-१ । ७ योऽशनायापिपासे  
 शोक मोह जरा मृत्युमत्येतीत्यादिश्रुते । ८ जीवदुःखेन । ९ अविद्यात्सृष्टि । १० अध्यक्षस्य ।

प्रत्यक्षादेः । “न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येद्विज्ञातारमरे” केन विज्ञानीयाद्विज्ञातं विज्ञातृ” इत्यादिभ्यो तिस्यो नाऽऽत्मविषयं विज्ञानं किं तर्हि बुद्ध्याद्युपाध्यात्मप्रतिच्छायाविषयमेव सुखि-

त्वात्प्रत्यक्षादेराभासत्वात्तेनाऽऽत्मन्यसंसारित्वागमस्य न विरोधोऽस्तीत्यर्थः । किंच प्रत्यक्षादीनामनात्मविषयत्वादात्मविषयत्वाच्चाऽऽगमस्य भिन्नविषयतया नानयोमियो विरोधोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽत्मनोऽध्यक्षाद्यविषयत्वे श्रुतीरुदाहरति—न दृष्टेरिति । मुख्यहमित्यादिप्रतिभासस्य “तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमेव स्मारयति—किं तर्हीति । बुद्ध्यादिस्थाविस्तत्राऽऽत्मप्रतिच्छाया तत्प्रतिबिम्बस्त-

का सासारिक धर्मो से परे होना नहीं बनता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं । “( सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा ) अविद्या से असृष्ट वह परमात्मा जीव के दुःख से लिप्त नहीं होता” यह श्रुति इसमें प्रमाण है । यदि कहो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इसका विरोध होने से परमेश्वर का अक्षानायाद्यतीत मानना उचित नहीं तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षादि का उपाधि के आश्रय से होने वाले विशेष को विषयत्व करना होता है । “तुम (अन्तःकरण की वृत्तिरूप) दृष्टि के द्रष्टा को (घटादि के समान) नहीं देख सकते हो”, “(अरे मंजरी ! ) विज्ञाता को किससे जाने”, “(हे गार्गी ! ) यह अक्षर बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञात होना हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से दूसरों का विज्ञाता है” इत्यादि श्रुतियों से “मैं सुखी हूँ” आदि विज्ञान आत्मा को विषय नहीं करता । तो फिर किसको

१ वृ०उ० ३-४-२ । २ वृ०उ० ४४-१५ । ३ वृ०उ० ३-८-११ । ४ इत्यादीत्यादिना “पराञ्चि खानि” । “अग्न्यदेवतद्विदितादि” ग्रहणम् । ५ विज्ञानमिति—मुख्यहमित्यादिबिज्ञानमित्यर्थः । स्पष्टभाषानो दृष्टिबिषयत्वप्रतिषेधादिति शेषः । ६ प्रत्यक्षादेराभासत्वादिति—मिथ्याज्ञानजनकत्वेन मिथ्यात्वादित्यर्थः । ७ तेनैति—प्रत्यक्षादिना शङ्क्यम् । ८ न विरोधोऽस्तीति । प्रत्यसागमयोभिन्नविषयत्वादित्यर्थः । ९ प्रत्यक्षस्य । १० तर्हि वा गतिरिति—आत्मविषयत्वाभाव को विषय इत्यर्थः ।

प्रत्यक्षादेरिति । तथा च सामासा बुद्धिरेव सुखदुःखादिमती नात्मा आत्मनि तु तद्द्वारा दुःखित्वादिकल्पितमिति भावः । तथा च नातिक्रम—“शरीरेन्द्रियसंघात आत्मत्वेन गता धियम् । नित्यत्वमन्योतिता दोषा निशिपन्ति मुखादयः ॥५६३॥ दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् । दुःखिनः साक्षिताश्रुता साक्षिनो दुःखिता तथा ॥ नर्तं स्याद्विक्रिया दुःखी साक्षिता वा विकारिणः । वीर्विक्रियासहस्राणां साध्यनोऽहमविक्रिय ॥ सुखदुःखादिसंबद्धा यथा दण्डेन दण्डिमम् । राधको वीक्षते बुद्धिः साक्षी तद्वदसह ॥१९०-१२॥” इति, मुखादिमती बुद्धिरेव नाऽऽस्तेत्युपपादयति—शरीरेति । देहादावात्मत्वेन स्थिता सामासा बुद्धिः मुखादयो व्यावर्तयन्ति तद्बोद्धुमादिविषयमप्यक्षमिति न चित ससारितत्पय । मुखादीनां चेतनमर्थत्वप्रसिद्धेर्बुद्धिस्त्वमप्युत्तमिति चेन्नेत्याह—नित्येति । आत्मचैतन्यमात्रबुद्धिर्भवेत्पावात्मधर्मत्वप्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ निमित्त्याभासद्वारा चैतये दुःखित्वादि वस्तुत्वे साक्षादेव तत्र तत्किं न स्यादित्यादादृष्ट्याऽऽह—दुःखोति । दुःखेव कश्चिददुःखिनः साक्षी स्यादित्यत आह—दुःखिन इति । तथेति—अनुवर्तेति यावत् । दुःखित्वासाक्षित्वयोरेकत्रागमो हेतुमाह—नेति । परिणामित्वं विना न दुःखित्वम् । परिणामित्वेऽपि साक्षित्वमात्रादृष्ट्याऽऽह—साक्षितेति । तस्य जाड्यादासाक्षित्वेत्पय । विकारिणोऽभासित्वे फलितमाह—वीर्विक्रियेति । प्रत्यक्षात्मा निर्विकारो बुद्धितद्रूपसाक्षीत्युक्तम् । तदानीं तस्य साधयेन योगत्वेदसङ्गत्ववशातिरयोगत्वेदसाक्षित्वमात्रादृष्ट्याऽऽह—मुचेति । राधः साधनो द्रष्टेति यावत् । यथा द्रष्टा दण्डेन पुनत पेत्रभीक्षमाणो स्वयं दण्डी भवति तथा मुखादिमती बुद्धिमसह । सत्यस्यसाक्षी न मुखादिना युग्यतेजा वस्तुतोऽज्ञस्य वस्तुतमवस्थासाक्षित्वेत्पय ॥

तोऽहं दुःखितोऽहमित्येवमादि प्रत्यक्षविज्ञानम् । 'अयमहमिति' विषयेण विषयिणः सामानाधिकरण्योपचारात् । "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं" इत्यन्यात्मप्रतिषेधाच्च । देहावयवविशेष्यत्वाच्च सुखदुःखयोर्विषयधर्मत्वम् ।

"आत्मनस्तु कामाय", इत्यात्मार्यत्वश्रुतेरयुक्तमिति चेन्न । "यत्र वा अन्यदिव स्यादित्यविद्याविषयात्मार्यत्वाम्युपगमात् । 'तत्केन कं पश्येत्' "नेह नानाऽस्ति किंचन"

द्विषयमेव सुखदुःखमिरयादि विज्ञानमिति योजना । आत्मनो दुःखित्वाभावे हेतुन्तरमाह—अयमिति । अयं देहोऽहमिति हृदयेन द्रष्टुंस्तादात्म्याध्यासदर्शनाद्द्रष्टव्यविशिष्टस्यैव प्रत्यक्षाविषयत्वात् केवलस्याऽऽत्मनो दुःखाविसंसारोऽस्तौत्यर्थः । किंचास्तूलादिविशेषणमक्षरं प्रक्रम्य तस्यैव प्रत्यगारम्भं दर्शयन्ती श्रुतिरात्मनः संसारित्वं धारयतीत्याह—नाम्यदिति । किंच पादयोर्दुःखं शिरसि दुःखमिति देहावयवावच्छिन्नत्वेन तत्प्रतीतेस्तद्वर्तमानिश्चयान्नाऽऽत्मनि संसारित्वं प्रामाणिकमिरयाह—देहेति ।

श्रुतिवशादात्मनः संसारित्वं शङ्कते—आत्मनस्त्विति । सुख तावदात्मनाभ्यमात्मनस्तु कामायेति "सुखसाधनस्याऽऽत्मार्यत्वश्रुते" रतस्तद्विनामृतं" दुःखमपि तत्रैवात्मन्यसंसारित्वमयुक्तमित्यर्थः । आविद्यकसंसारित्वानुयादेनाऽऽत्मनोऽनतिशयानन्वत्वप्रतिपादकमात्मनस्तु कामायेत्यादिवाच्यमिति मत्वाऽऽह—नेति । तदाविद्यकसंसारानुवाचोत्पद्य गमकमाह—यत्रेति । अनेन हि वाच्येनाविद्यावस्थायामेवाऽऽत्मार्यत्वं सुखादेरभ्युपगम्यते । अतो न तस्याऽऽत्मन्यधर्मत्वमित्यर्थः । आत्मनि "संसारित्वव्या-

विषय करता है? "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इत्यादि प्रत्यक्षविज्ञान बुद्धि आदि उपाधि में होने वाले आत्मा के प्रतिबिम्ब को विषय करता है । क्योंकि "यह मैं हूँ" इस वाक्य में विषय के साथ विषयी का सामानाधिकरण्य-दर्शन होने से "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुति से अससारी अक्षर आत्मा से अन्य का प्रतिषेध किया है । ('पैर में पीडा है, शिर में दर्द है' इत्यादि प्रतीति में) देहावयव विशेष्यत्व होने से सुख-दुःख हृदयधर्मत्व होने से आत्मा में संसारित्व कल्पना प्रामाणिक नहीं है ।

यदि कहो कि "आत्मा के लिए हो सभी प्रिय होते हैं" ऐसी आत्मार्यत्व प्रतिपादन करने वाली श्रुति होने से आत्मा में संसारित्व की शंका होती है तो ऐसा मानना उचित नहीं । क्योंकि "जहाँ कोई अन्य सा होता है" इस श्रुति के अनुसार आविद्यक आत्मार्यता मानी जाती है, "(इसके विपरीत जहाँ

१ अयमिति इदं भाष्य प्रचरान्तरेण व्याहृतं यातिवे । तथाहि— "तथा दुःखदुःखमिरयादी प्रत्यक्षमुपचारात् ॥ सामानाधिकरण्यस्य तद्वैवेहोपचारात् । अयं दुःखदुःखमिरयादि विषयेण तदीक्षणमिति" ॥५६६-५६७॥ भिन्नविषयत्वादविरोधे हेतुन्तरमाह—तथेति । हेतुन्तरमेव स्पष्टयति—दुःखीति । यथा ब्राह्मणोऽहमित्याद्यस्य कल्पिततादात्म्यविषय तथा दुःखदुःखमिरयादी यत्प्रत्यक्ष तदपि मिथ्याज्ञानमेव उपचाराद्वेदेन विषयस्य मिथ्यात्वोक्तोरित्यर्थः ॥ प्रहृताभ्यक्षस्य मिथ्यात्व हेतु साधयति—सामानाधिकरण्यस्यति । ब्राह्मणोऽहमित्येकस्य मिथ्यात्वात्तद्विषयव्याप्यक्षस्य मिथ्याज्ञानत्ववदुःखिन्यारम्भ च यत्सामानाधिकरण्यमैक्यमध्यक्षविषयस्तत्स्योपचारात् मिथ्यात्वाद्विषयिणाप्रपि तस्य मिथ्याज्ञानत्वमित्यर्थः । २ दर्शनात् । ३ नु० उ० ३-८-११ । ४ असत्सार्थशरद्वेत्यर्थः । ५ हृदयधर्मत्वम् । ६ नु० उ० २-४-५ । ७ नु० उ० ४-३-३१ । ८ इति श्रुतेरित्यर्थः । ९ नु० उ० २-४-१४ । १० नु० उ० ४-४-१६ । ११ वाक्ये । १२ सुखस्यात्माश्रयत्वात् । १३ तद्विनामृतमिति—सुखाभ्यभिचारितम् । पूर्वापरभावेन सुखसमाधिचरमिति यावत् । १४ आत्मनस्तु कामायेतिवा-

कथेनेति शेषः ।



वत्त्ववदात्मनो दुःखित्वमिति चेन्न । एकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः<sup>१</sup> ।

न हि सुखग्राहकेण प्रत्यक्षप्रत्ययेन नित्यानुमेयस्याऽऽत्मनो विषयीकरणमुपपद्यते । तस्य च विषयीकरण आत्मन एकत्वाद्विषय्यभावप्रसङ्गः । एकस्यैव विषयविषयित्वं दीपवदिति चेन्न । युगपदसंभवादात्मन्यंशानुपपत्तेश्च<sup>२</sup> ।

गम्यत्वं दृष्टं यथा शुक्लो घट इति तद्रूप्यापक व्यावर्तमानं दुःखात्मनोऽर्थमर्थमित्यं व्यावर्तयति शब्दाकाशयोरपि गुणगुणिभावो नास्माकं संमतः शब्दतन्मात्रभाकाशमिति स्थितेरित्याशयेनाऽऽह—नैकेति ।

कथं तदनुपपत्तिस्तत्राऽह—न हीति । नित्यानुमेयस्येति जरत्तार्किकमतानुसारेण सांख्यसमयानुसारेण चोक्तम् । आधुनिकं तार्किकं प्रत्याह—तस्य चेति । सुखाविषदात्मनोऽपि प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सत्येकस्मिन्नेह तदेक्यसंभवेरात्मान्तरस्य तत्रायोगादेकत्र भोयतृद्वयान्निष्टेः 'पुरुषान्तरस्यान्यं प्रत्यप्रत्यक्षत्वाद्ब्रह्मभावादात्महृदयत्वासिद्धिरित्यर्थः । दीपस्य स्वव्यवहारहेतुत्वेन विषयविषयित्ववदेकस्यैवाऽऽत्मनो द्रष्टृदृश्यत्वसिद्धेर्ब्रह्मभावो नास्तीति शङ्कते—एकस्यैवेति । आत्मनो विषयविषयित्वं काल्पन्यैनाशाभ्यां वा । आद्येऽपि युगपत्क्रमेण वा । नाऽह इत्याह—न युगपदिति । 'क्रियायां गुणत्वं कर्तृत्वं तत्र प्राधान्यं कर्मत्वमतौ युगपदेकक्रियां प्रत्येकस्य साकत्वेन गुणप्रधानत्वायोगान्धमित्यर्थः । न 'द्वितीयः । एकभावेऽप्याभावादिति 'मत्वा' कल्पान्तरं प्रत्याह—आत्मनोति । 'एतेन प्रदीप-दृष्टान्तोऽपि प्रतिनीतस्तस्यांशाभ्यां 'तद्भावे प्रकृताननुकूलत्वात् ।

श्रीर आत्मा का एक ज्ञान का विषय होना सम्भव नहीं है ।

सुखग्राहक प्रत्यक्षविषयक ज्ञान के द्वारा (प्राचीन नैयायिक एवं सांख्यमतानुसार) नित्यानुमेय आत्मा को विषय करना असम्भव है । यदि आत्मा में विषयीकरण मानते हैं, तो आत्मा के एक होने के कारण उसमें विषयी के अभाव का प्रसङ्ग आ जायगा । यदि कहो कि दीप के समान एक का ही विषय श्रीर विषयी होना सम्भव है, तो यह बात भी यहाँ नहीं घटती । क्योंकि एक साथ ही होना असम्भव है और आत्मा में अण होना असम्भव है, इस कारण प्रदीप दृष्टान्त अननुकूल है ।

१ दुःखात्मनोरिति शेषः । २ आत्मनो द्रव्यरूपेण विषयत्व बोधरूपेण च विषयित्वमिति ( उभयरूपात्मवादि-भाट्टमत ) शकारनिरास्यम् । ३ शरीरान्तर्बर्त्यात्मनः । ४ भीमामवसमयोऽयं-क्रियाया कर्तृगीणतया-ऽन्यत्र कमणश्च प्राधान्येन तथाच घट पश्यतीत्यादे एककर्तृकवर्तमानदशनकर्म घट इति तन्मतेऽर्थः । ५ आद्ये द्वितीयः । ६ मनसैव प्रत्याख्यायेत्यर्थः । ७ कल्पान्तरमिति-अशाभ्याभिवस्याभ्यात्मनो विषयविषयित्वपक्ष-मित्यर्थः । ८ एतेनेति-एवस्य विषयविषयित्वनिरसनेन । प्रतीचो निरसत्वकल्पनेनेति वार्थः । प्रतिनीत इति-विपटितो विषय इति वार्थः । तथा च वार्तिके—“न व्यनक्ति प्रदीपोऽपि स्वतो भास्वरूपतः । विषयत्वान्च पुबुद्धेर्न दीपस्योभयात्मता ॥ प्रतीचश्च निरसत्वात् दीपेन समर्थेति” ॥ १५८३-८४ ॥ यथा दृष्टान्त प्रतिपत्तेर्वि-कल्पाद्यनवधानमित्याशङ्क्य दृष्टान्त विघटयति—नेति । न हि दीपो दीप प्रकाशयति प्रकाशकरसत्वादतो न तस्यैकरसत्वं विषयविषयित्वेत्यर्थः । अस्तु तर्हि तस्य स्वप्रकाशता स्वदिष्टाऽऽश्रयवन्नेत्याह—विषयत्वादिति । पुबुद्धि स्वरूपस्फुरण तद्ग्राह्यत्वादीपस्य न स्वप्रकाशतेत्यर्थः । दृष्टान्ताभाव निगमयति—नेति ॥ किंच प्रदीपस्य जडत्वात् तेनाऽन्यद्वक्त्रादास्याऽऽत्मन समतेत्याह—प्रतीचदधेति । ९ त्वदीत्या विषयविषयित्वेऽभ्युपगम्यमाने सति ।

एतेन विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकत्वं प्रत्युक्तम् । प्रत्यक्षानुमानविषयोश्च, दुःखात्मनो गुण-  
गुणित्वे नानुमानम् । दुःखस्य नित्यमेव प्रत्यक्षविषयत्वाद्गुणादिसामानाधिकरण्याच्च ।

मनःसंयोगजत्वेऽप्यात्मनि दुःखस्य सावयवत्वविक्रियावत्त्वानित्यत्वप्रसङ्गात् । न  
ह्यविकृत्य संयोगि, द्रव्यं गुणः कश्चिदुपयज्ञेयत्वा दृष्टः, क्वचित् । न च निरवयवं  
विक्रियमाणं दृष्टं क्वचिदनित्यगुणाश्रयं वा नित्यम् ।

ननु विज्ञानवादिनो गुणपदेकस्य विज्ञानस्य साकल्येन ग्राह्यग्राहकत्वमुपयन्ति तथा त्वदात्म-  
मनोऽपि स्यात्तत्राऽह—एतेनेति । एकस्योभयत्वनिरासेनेत्यर्थः । मा भूत्प्रत्यक्षमागमिक, पारिभाषिकं  
वाऽऽत्मनः संसारित्वम् । आनुमानिकं तु भविष्यति दुःखादि क्वचिदाश्रितं गुणत्वाद्गुणादिवित्याशये  
सिद्धे परिशेषादात्मनस्तदाभ्यस्तादित्याशङ्क्याऽह—प्रत्यक्षेति । न हि मिथोविरुद्धयोर्गुणगुणित्वमनुमेयं  
दुःखादेश्च साभासबुद्धिद्वयत्वात्पारिशेष्यासिद्धिरित्यर्थः । साभासान्त-करणनिष्ठं तु खादीत्यत्र प्रमाणा-  
द्भावत्वं सिद्धसाधनत्वमित्याशङ्क्य 'दुःखमित्यादिप्रत्यक्षस्य तत्र, प्रमाणत्वादुक्तानुमानस्य सिद्ध-  
साध्यतया परिशेष्यासिद्धिरित्याह—दुःखेति । यत्र रूपादिमति वेहे दाहच्छेदादि दृष्टं तत्रैव तत्कृत-  
दुःखाद्युपलम्भात्तत्राऽऽत्मनस्तद्वत्त्वमिति हेतुन्तरमाह—रूपादीति ।

यत्त्वात्मनः संयोगादात्मनि बुद्ध्यावयो नव वंशेष्वपि गुणा भवन्तीति तद्वत्त्वमिति—मन संयोग-  
जत्वेऽपीति । दुःखत्वाऽऽत्मनि मन संयोगजत्वेऽप्युपयतेऽपि मनोवदात्मनः संयोगित्वात्सावयवत्वादि-  
प्रसङ्गादात्मत्वमेव न स्यादित्यर्थः । 'तत्र संयोगित्वेन सक्रियत्वं साधयति—न हीति । संप्रति सक्रिय-  
त्वेन सावयवत्व प्रतिपादयति—न चेति । यद्वा दुःखादात्मनो विक्रियेति 'कश्चिद्विपुत्वात्सक्य सक्रियत्वम-  
नं गुणी नित्यत्वा'—इत्यामान्यवदित्याह—अनित्येति । नित्यं 'पदयाम इति शेषः । 'दाशब्दो  
नञ्नुक्त्यर्थः ।

इत्से विज्ञानवादियो के गुणपद एक विज्ञान के ग्राह्य-ग्राहक उभयरूप होने का खण्डन हो जाता  
है । प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय दुःख और अनुमान प्रमाण के विषय आत्मा के गुण और गुणित्व में अनुमान  
प्रमाण भी नहीं हो सकता (विभिन्न ज्ञान विषयो का वैसा हाना प्रसभव है) । क्योंकि दुःख तो  
नित्य ही प्रत्यक्ष का विषय है और रूपादिसामानाधिकरण्य है (इसलिए रूप के समान वेदत्व होने  
से दुःख आत्मधर्मी नहीं है) ।

दुःख को आत्मा में मन संयोगजन्य मानने पर आत्मा में सावयवत्व, विकारित्व और अनित्यत्व  
का प्रसङ्ग होने लगेगा । क्योंकि संयोगी द्रव्य को विकृत किए बिना कोई गुण वही उत्पन्न या

१ विभिन्नज्ञानविषयमेतुभावात्संभवादिति भावः । २ दुःख नात्मधर्मो येश्चत्वादुपवर्धित प्रकार्यः । ३  
न हीति—यमयोगि सत्तावयव सक्रियादि च घटादिदृष्ट आत्मनोऽपि संयोगित्वे त स्यातामिति भावः । ४  
उच्यते । ५ विनश्यत् । ६ विज्ञानवादिरिभाषासिद्धम् । ७ सामान्यबुद्धेर्वाद्वाह्यमर्थवादित्यर्थः । ८  
प्रयोज्यप्रयोजकयो सामानाधिकरण्यानियमात् । ९ संयोगित्वादिनि-संयोगित्वाद्गुणादिवत्सावयवत्व ततो विनि-  
यावत्त्वादित्यस्यात्तात्त्व्यादिप्रसक्तिरित्यर्थः । १० सावयवत्वादिसम्बन्धः । ११. भाट्टे । १२ सिद्धाते  
सत्तेव सामान्य सा च ब्रह्मैव । १३ आद्यपदाब्द नियतनिष्क्रमणद्वयाह—पदयाम इति शेष इति । १४  
तथा च दाशब्दस्य दृष्टमित्यन्वयार्थत्वानुपपत्तिरभिप्रेत्याह—याम् इति ।

न चाऽऽकाश आगमवादिमिनित्यतयाऽवगम्यते । न 'चान्यो दृष्टान्तोऽस्ति ।  
विक्रियमाणमपि तत्प्रत्ययानिवृत्तेरित्यमेवेति' चेन्न । द्रव्यस्यावयवान्यथात्वव्यतिरेकेण  
'विक्रियानुपपत्तेः ।

सावयवत्वेऽपि नित्यत्वमिति चेन्न । सावयवस्यावयवसंयोगपूर्वकत्वे सति 'विभागो-

आकाशो व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । आकाशस्य नित्यत्वं चेत् 'आत्मन आकाशः  
संभूतः' इत्यादिभूतिविरोधः स्यादिति सूत्रयितुमागमवादिभिरित्युक्तम् । परमाश्व्वदो व्यभिचारमा-  
शङ्क्याऽऽह—न चान्य इति । न सावयवणः सन्ति अणुवेतरसत्त्वे मानाभावाद्दिशश्चा'ऽऽकाशोऽस्तमं वन्ति  
कालस्तु सर्वे निमेया जतिर इत्यादिभूतेऽस्तमिमान्मनोऽप्यक्षमयं भूतिप्रसिद्धमतो न क्वचिद्रव्यव्यभिचार  
इति भावः । यस्मिन्विक्रियमाणो तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते 'तदपि' नित्यमिति न्यायेन परिणामवादी  
शङ्कते—विक्रियमाणमिति । तत्प्रत्ययस्तदेवेदमिति । प्रत्ययः । विक्रियां घटता द्रव्यस्यावयवान्यथात्वं  
वाक्यं तदेव तस्यानित्यत्वं मत्तन्ताभावस्याप्रामाणिकत्वेन दुर्बलत्वादिति परिहरति—न द्रव्यस्येति ।

आत्मनः सक्रियत्वं सावयवत्वं 'चाऽस्तु तयाऽपि नानित्यत्वमिति' स्याद्वादी शङ्कते—सावय-  
वत्वेऽपीति । यत्सावयवं तदवयवसंयोगकृतं यथा पटावि तथा सति संयोगस्य 'विभागावसानत्वादवय-  
वविभागे द्रव्यनाशोऽवश्यं भावोति दूषयति—न सावयवस्येति । यत्सावयवं तदवयवसंयोगपूर्वकमिति न

विनष्ट होते हुए नहीं देखा जाता । निरवयव वस्तु को विकृत होते और न ही वही नित्य वस्तु को  
अनित्य गुणों का आश्रय होते देखा जाता है ।

आगमवादियो ने आकाश को तो अनित्य माना है । सामान्य के अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टान्त  
भी नहीं है । ( जिसके विकृत होने पर यह वही है ऐसी बुद्धि विनष्ट नहीं होती, वह भी नित्य है; इस  
न्याय से अब परिणामवादी शङ्का करता है ) विकृत होने पर भी तद्बुद्धि निवृत्त न होने से वह नित्य  
ही है, ऐसा मानें तो क्या हानि है ? ( शङ्का परिहार करते हैं ) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि द्रव्य  
पदार्थ के अवयवों में अन्वयारूपत्व ( अनित्यत्व ) लाये बिना विकार होना असम्भव नहीं है ।

( अब स्याद्वादी शङ्का प्रस्तुत करते हैं ) यदि कहो कि वह सावयव भी है और नित्य भी है तो ऐसा  
भी मानना उचित नहीं है । क्योंकि अवयवसंयोगपूर्वक उत्पन्न सावयव द्रव्य के अवयवों का संयोगनाश  
हाना संभव है । यदि कहो बच्चादि में ऐसा नहीं देखा जाता तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि

१ सामान्यातिरिक्त । २ विक्रियानुपपत्तेरिति । अवयवान्यथात्वरूपमनित्यत्वं तु प्रतीचो निरवयवत्वादसम्भ-  
वोति भावः । ३ अनन्तावाशप्रदेगत्वाद्दिशाम् । ४ सैवय गङ्गा सैवय दीपकत्वात् इत्यादि । ५ परिणा-  
मिनित्यम् न तु वृत्त्यनित्यम् तत् । ६ एवकारव्यावर्त्यमाह—अत्यन्ताभावस्यति । ननु सूत्र्यवादिभिरवयवा-  
न्यथात्वव्यतिरेकेणानित्यत्वसद्व्यवधानोऽनन्ताभाव ( अत्यन्ताभावप्रतिषेधोक्तिव्यम् ) अमुपेयत स किमिति स्वया नैष्यत  
इत्यत आह—अप्रामाणिकत्वेनेति । तथाहि समानसिद्धो न वा आलो चेटादिवत्स्वापत्त्याभावत्वव्यापतो द्वितीये  
स्वप्रवादो न वा ( साधकमानान्तराभावे तेन स्वयमेव सेध्यम् सिद्धिर्वेदिष्टेति भावः ) न चेत् तदसत्त्वं सर्वसत्त्वा-  
पत्तिरिति सर्वसूत्र्यवादिनामिष्टो योऽभावोऽर्थोऽर्थोऽर्थो सन्नेव स्यात् तस्य स्वप्रवाशात्वं तु धत्तुमुदाहृत्य सविस्वर-  
रूपव्यतिरेकेण लौकिक वैदिक वा न किंचिदपि स्वप्रवाद प्रामाणिकदृष्टान्तोऽनन्ताभावस्य स्वप्रवाशात्वे सविद-  
भेद एव स्यादिति सलेश ॥ ७ चार्थवो वाकारः । ८ जैन । ९ अवयवभाविविभागपरत्वात् ।

पपत्तेः । वज्रादिष्वदर्शनान्नेति चेन्न । अनुमेयत्वात्संयोगपूर्वत्वस्य 'तस्मान्नाऽऽत्मनो --  
दुःखाद्यनित्यगुणाश्रयत्वोपपत्तिः ।

परस्यादुःखित्वेऽन्यस्य 'च दुःखिनोऽभावे दुःखोपशमनाय शास्त्रारम्भानर्थक्यमिति  
चेन्न । अविद्याध्यारोपितदुःखित्वभ्रमापोहार्यत्वात् । ॐ 'आत्मनि' प्रकृतसंख्या पूरण-

व्याप्तिः । सावयवेष्वेव वज्रादिष्ववयवसंयोगपूर्वकत्वे प्रमाणाभावादिति शङ्कते—वज्रादिष्विति ।  
विमतमवयवसंयोगपूर्वकं सावयवत्वा'स्पष्टवदित्यनुमानेन परिहरति—नानुमेयत्वादिति । आत्मनो  
मनःसंयोगजन्यदुःखादिविगुणवत्त्वे सावयवत्वसंक्रियत्वानित्यत्वादप्रसङ्गं प्रतिपाद्य 'प्रकृतमुपसंहरति—  
तस्मादिति ।

आत्मनोऽनर्थस्वसार्यं शास्त्रारम्भान्यथानुपपत्त्या संसारित्वेत्यर्थापत्त्या शङ्कते—परस्येति ।  
'अविद्याविद्यामानमात्मस्य मनर्थभ्रमं निराकर्तुं' तदारम्भः संभवतीत्यन्यथोपपत्त्या समाधत्ते—नावद्येति ।  
परस्यैवाविद्याकृतसंसारित्वभ्रान्तिस्वसार्यं ब्रह्ममित्येतद्वृष्टान्तेन स्पष्टयति—आत्मनोति । यत्तु

वही अवयवसंयोग पूर्व मे हुआ है—ऐसा अनुमान किया जाता है । इसलिए आत्मा के असंसारित्व  
होने के कारण उसमें अनित्य गुणों का आश्रय होना असंभव है ।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि ईश्वर दुःखी नहीं है, (जीवात्मा की दुःखनिवृत्ति की लिए ही  
शास्त्र आरम्भ करना चाहिए) और न ही दूसरा कोई दुःखी है, तो दुःख की निवृत्ति के लिए शास्त्र  
आरम्भ की व्यर्थता सिद्ध होती है । (शङ्का का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं ।  
आत्मा ने दशमत्वं लब्ध्वा की अपूर्णतारूप भ्रमनिवृत्ति के समान शास्त्र का आरम्भ अविद्या

१. तस्मादिति—यत् सावयवत्वानित्यत्वादितुर्वारम् अतोऽवयवकल्पनाऽयोगादात्मनो मनःसंयोगोऽनुपपत्तेस्तस्मिन्  
दुःखाद्युत्पत्तिहेत्वभावादसंसारित्वं तस्मात् आत्मनोऽसंसारित्वादिति यावत् । २ जीवात्मनो दुःखनिवृत्त्यर्थं  
शास्त्रमारभ्यमित्याशङ्क्य मान्यवतोऽस्ति दृष्टेत्यादिधुतिमनुसरन्नाह—अन्यस्यति । ३ बुद्धिगतदुःखनिवृत्त्यर्थं  
शास्त्रारम्भोऽनुकूलतया अवैतन्यादिति वार्थः । ४ शास्त्रारम्भस्येति शेषः । ५ दशमे । ६ आत्मनोत्पादि ।  
यथा दशमन्त्रमसीत्याप्तवाक्यं दशमेऽवयवत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थमेवमसंसारिण परस्मिन् समारित्यभ्रमनिवृत्त्यर्थं शास्त्र-  
मित्यर्थः । ॥ दशमन्त्रलब्ध्या । ॥ अपूर्णेति न्धेद । ६ पट्यविति । ननु सावयवत्वेऽवयवसंयोगपूर्वक-  
त्वाभावे वि' बापनमिति चेत् भावयवत्वानुपपत्तितरेवनि गृह्याण । १० आत्माऽसंसारित्वम् । ११ तत्त्वविषयवि-  
वास्तव दुःखमुपेत्य तदवस्थां शास्त्रमिति मत्वाह—अविद्येति । वास्तवस्यानित्यत्वत्वादिति भावः ।

ॐ आत्मनि प्रकृतसंख्यापूरणभ्रमापहृवदित्यादि । अत्र याति कानि पञ्च । तत्राह — 'नवसंख्ययमात्रश्री  
दशमो विभ्रमाद्यथा । न वेति दशमोऽस्मीति स्वीजमाणोऽपि तावत् ॥ नि शेषानामहृत्तद्वदनिज्ञातारमत्त्वम् ।  
न वेत्येकात्म्यमस्मीति बोधमाणोऽप्यनात्मनः ॥ दशमोऽस्मीति वाक्योत्पत्त्यसम्भजानानताविषया । प्लुष्ट्वाऽऽत्म-  
नः दशमाज्ञानं दशमोऽस्मीति बोधते ॥ यथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्योत्पत्त्यज्ञानवर्द्धिता । प्लुष्ट्वेहाऽऽत्मनोऽज्ञानं तथै-  
कात्म्यं प्रपद्यते ॥ प्रत्यक्षज्ञानहेतुत्वशास्त्राचार्यादिगामिनः । तद्विरुद्धमर्थेवात्म्यं प्रत्यपद्यत माययति' ॥ ६००-६०४ ॥  
परस्यैवाविद्याकृतसंसारित्वभ्रान्तिस्वसार्यं शास्त्रमित्येतद्वृष्टान्तेन साधयन्नादौ तस्याविद्यावत्त्वे दृष्टान्तमाह—  
नवेति । वस्तुनो दशमो भावयवको नवसंख्याकानेव भावयवकानुत्पत्तिभयानस्तद्दशमोऽहृत्तद्वदनिज्ञातारमत्त्वमिति  
भाग्या स्वस्य दशमत्वं न पश्यतीत्यर्थः । दशमत्वव्योपाप्तिमाह—स्वीयेति । स्वातिरिक्तान्तरमनवज्ञानं प्राप्तमपि



भ्रमापोहवत्कल्पितदुःख्यात्माभ्युपगमाच्च ।

जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवदात्मप्रवेशश्च प्रतिबिम्बवद्व्याकृते कार्य उपलभ्यत्वम् ।  
 ❀ प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध आत्मा पश्चात्कार्यं च सृष्टे व्याकृते बुद्धेरन्तरुपलभ्यमानः सूर्यादि-

परस्यादुःखित्वमन्यस्य च दुःखिनोऽसत्त्वं तत्राऽऽह—कल्पितेति । ॥ तावत्परमादन्वो दुःखी 'नामोऽतो-  
 ऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः । स पुनरनाद्यनिर्वाच्याज्ञानसंबन्धात्तज्जन्यबुद्ध्यादिभिरंशयाध्यासमापन्नः  
 संसरति । 'तथा च 'कल्पिताकारद्वारा दुःखिनः परस्याऽऽत्मनोऽङ्गीकाराध्यासपितेरुत्थानमित्यर्थः ।

परस्य प्रवेशे प्राप्ता दोषपरम्परा पराकृत्य तत्प्रवेशस्वरूपं निरूपयति—जलेति । यथा जले  
 सूर्यादेः प्रतिबिम्बलक्षणः प्रवेशो दृश्यते तथाऽऽत्मनोऽपि सृष्टे कार्यं 'काल्पनिकः प्रवेश इत्यर्थः ।  
 अनवच्छिन्नाद्व्यभिचिदातोर्वैस्त्वन्तरेण संनिकर्षात्संभवाच्च प्रतिबिम्बाद्यप्रवेशः संभवतीत्याशङ्क्य वस्तुन्त-  
 रकल्पनाया कल्पितसंनिकर्षाद्यादाय प्रतिबिम्बपक्षं साधयति—आत्मेति । 'तदेव प्रपञ्चयति—प्रागुत्पत्ते-  
 रित्यादिना ।

से भ्रम्यारोपित बु खित्वरूप भ्रम की निवृत्ति, के लिए है तथा कल्पित (बुद्ध्यादि मे स्वप्रतिबिम्ब  
 चिदाभासाख्य आकार द्वारा) बु खी आत्मा स्वीकार भी किया गया है ।

जल मे पड़े हुए सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान व्याकृत कार्य मे आत्म-प्रतिबिम्ब के समान  
 उपलब्ध होना आत्मा का उस कार्य मे प्रवेश है । जगत् की उत्पत्ति के पूर्व अनुपलब्ध आत्मा व्याकृत  
 कार्य की सृष्टि के पश्चात् बुद्धि के मन्दर उपलब्ध होने से जलादि मे सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के

१ जगदुत्पत्ते पूर्वम् । २ तथाचेति—परमादन्वस्य दुःखिनोऽभावे धेत्यर्थः । ३ कल्पिताकारद्वारेति ।  
 कल्पितबुद्ध्यादिवस्वरूपद्वारा । यद्वा कल्पितेषु बुद्ध्यादिस्वाकारः स्वप्रतिबिम्बस्विदाभासाख्यजगद्वारा । यद्वा—  
 कल्पितो य स्वीयाकारस्विदाभासाख्यन्तद्वारेत्यर्थः । ४. काल्पनिक इति—आस्त्रादिवत् प्रवेशस्यापि कल्पितत्वात्  
 तमाधाय काश्चिदागच्छेति भावः । तथा च वार्तने—“आस्त्राचार्यादयो यद्गमोहोत्तरवाप्तं वस्तुतः । प्रवेशोऽप्य-  
 स्य तादृक् स्यादैकान्यप्रतिपत्तये ॥ व्याकृताव्याकृतावस्थे जगतोऽस्य रवभावतः । अग्रे लोकोतो दृष्टे सद्यात्मात्म  
 प्रबोध्यते ॥ ६०५-६०६ ॥ ननु प्रकृतभूतिषु व्याकृताव्याकृत जगदुत्पत्ते न स्वैर्य प्रतिपाद्यते तत्त्व तत्प्रतिपत्त्यर्थं  
 प्रवेशकल्पनेत्याहुः—व्याकृतेति । लोको — लोके । ५ सद्ब्रह्मेणोत्पलभ्यत्वम् ।

न भवेत्ज्ञानसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ दाष्टान्तिमाह—नि शेषेति । उक्तहृत्तानुसारैरानिर्ज्ञातात्मयाचारम्यो मुमुक्षु  
 सर्वानात्मब्रह्म स्वातिरिक्तावहकारादीनां तावदुर्वैश्वि ब्रह्मात्मवत्त्वमस्तीत्यनेन प्रवारेण न चेतीत्यन्वयः ॥ परस्या-  
 विद्यां दृष्टान्तनोक्त्वा विद्यायां सद्ब्रह्मसे दृष्टान्तमाह—दशम इति । आप्तवाक्यनोक्तसम्बन्धानामिना स्वकीयदशमत्वा-  
 ज्ञान दशमा दशमोऽप्रमीति दशमत्वमात्मनोऽनुभवन्मात्रवरो यथा निर्बुधोतीत्यर्थः ॥ दृष्टान्तरथमर्थं दाष्टान्तिके  
 योजयति—उत्त्वमिति । इह जीवदशमयायेन ॥ उक्तमर्थं सोपस्कारमुपसहृति—अप्रयगीति । आदिपदेन ब्रह्मविद्या-  
 हेतवोऽनुता सर्वं गृह्यन्ते । अज्ञानहृतास्त्राचार्यादिद्वारोत्पन्नया मायया ब्रह्मविद्याया तत्कार्यैर्विद्वद्भवेन यदा  
 पुमान्प्रतिपन्नवास्तदेव तस्य सर्वानवस्थस्तिरित्यर्थः ॥

❀ प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध इत्यादि । अत्र कालिकद्वयमिति—“निर्बुधतोपेक्षानास्त्वतदेतुर्विभवायवान् । अनर्थसाक्षि-  
 प्रत्यङ्मासीत्तामादिजन्मतः ॥ इष्ट्यादिस्वरूपतावद्व्यतिरेकोऽभवत्पुरा । नामादिजन्मनि इष्टेत्यादिरूपान्योऽप्य-  
 भूदिति ॥ ६११-६१२ ॥ प्रतिबिम्बस्यानोयाज्जीवाद्ब्रह्मणो बिम्बरूपानीयत्वाभेद साधयति—निर्बुधेति ।



परम्" "त यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "आचार्यवान्पुरपो वेद" "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः । "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" "तद्व्यग्रथं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । भेददर्शनापवादोदाच्च सृष्ट्यादिवाक्यानामात्मैकत्वदर्शनार्थपरत्वोपपत्तिः । तस्मात्कार्यस्थस्योपलभ्यत्वमेव प्रवेश इत्युपचर्यते ।

आ नखाप्रेम्यो नखाप्रमर्षादिमात्मनश्चैतन्यमुपलभ्यते । तत्र कथमिव प्रविष्ट इत्याह— यथा लोके क्षुरधाने क्षुरो धीयतेऽस्मिन्निति क्षुरधानं तस्मिन्नापितोऽपस्कराधाने

वत्संनिधायकत्वं तदङ्गमिति न्यायमाश्रित्योक्तमेव प्रपञ्चयति—उपलब्धेरित्यादिना । तत शब्दो भक्तियोगपरामर्शो । तदित्यात्मज्ञानमुच्यते । तस्याप्रपञ्चं साधयति—प्राप्यते हीति । सृष्ट्यादिवाक्यानामभेदज्ञानार्थत्वे हेत्वन्तरमाह—भेदेति । 'वक्षितं प्रवेशं प्रतिपादितमुपसंहरति—तस्मादिति ।

आ पुनरस्य प्रवेशस्य मर्षादित्याह—आ नखाप्रेम्य इति । सभवति मर्षादान्तरे निर्मितं प्रवेशस्यैवमेव मर्षादित्याह—आ नखाप्रेति । दृष्टान्तद्वयमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—तप्रेति । प्रवेशाधारो देहादि मत्तमर्थः । प्रथमोदाहरणप्रतीकोपादानम्—यथेति । तद्व्याघाटे—मोक्ष इति ।

हुआ हो—ऐसा हम पहले कह आए हैं । एव सृष्टि, प्रवेश, स्थिति और लय का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य आत्मज्ञानके लिए हैं, क्योंकि (सृष्टि आदि श्रुतियाँ का स्वार्थ में परमज्ञान न होने के कारण) आत्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है—ऐसा मुझा गया है । "उसने अपने को ही जाना", "(मैं ब्रह्म हूँ) इसी विज्ञान से यह सर्वरूप हो गया", ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है", "लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है", "आचार्यवान् पुरुष ही सत्य को जानता है", "उम तत्त्ववेत्ता के लिए विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है, (जब तक कि वह प्रारब्ध कर्म को भोगकर वर्तमान देह के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता ।) इत्यादि श्रुतियों से यही सिद्ध होता है । और "तब मुझे तत्त्व में जानकर तुरन्त मुझ में ही प्रविष्ट हो जाता है", "वही आत्मज्ञान समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे अमृतत्व की प्राप्ति होती है" इत्यादि स्मृतिवचनों से भी यही सिद्ध होता है । इस अतिरिक्त भेदज्ञान की निन्दा होने से भी सृष्ट्यादि श्रुतियों का आत्मैक्य ज्ञानार्थक होना उचित है । अतः कार्यस्थ आत्मा का ज्ञान होना ही प्रवेश है—ऐसा उपचार होता है ।

"आ नखाप्रेम्य" अर्थात् नखाप्रपण्यन्त ही देह में पुरुष का चैतन्य स्फुरित होता है । वह चैतन्य उममें किस तरह प्रविष्ट होता है ? इस पर श्रुति कहती है—'यथा' अर्थात् लोक व्यवहार में जिस प्रकार 'क्षुरधाने' जिसमें छुरा रखा जाता है, उसका नाम क्षुरधान है—उसमें अर्थात् हजामत बनाने की सामग्री वाले नापित की सन्दूक के एनदेश में रखा छुरा 'अवहित' उपलब्ध होता है या

१ तत्त्वज्ञानस्य फलवत्त्वे श्रुतेस्तात्पर्यनिष्क्रमण्यात् सूचयति—इत्यादिश्रुतिभ्य इति । २ चैतन्य हि ब्रह्मे पुरुषस्य नखाप्रपण्यन्त स्फुरतीति । ३ तदेवदेहे । ४ प्रवेशादीनामात्मज्ञानार्थत्वम् । ५ वक्षितमिति तथा च वक्षिते—'तममैव यथा गर्पं स्रक्प्रविष्टा न नु स्वत । प्रत्यगज्ञानेनैवैवमात्मैव मायया जगत्' ॥६२३॥इति । स्वाज्ञानादेव सग्री भूजगत्प्रवेशो न वस्ततोऽस्तीति स्वगतिरित्तमर्षात्तत्त्ववत् प्रतीचोऽपि स्वज्ञानोत्प्रे जगति तद्व्यादेव प्रवेशो न परमार्थत इति प्रत्यगात्मैव वस्तु न नु जगदिनि नित्यमित्यर्थः ।

क्षुरोऽन्तस्थ उपलभ्यतेऽवहितः प्रवेशितः स्याद्यथा वा विश्वंभरोऽग्निविश्वस्य  
भरणाद्विश्वंभरकुलाये नीडेऽग्निः काष्ठादाववहितः स्मोर्वित्यनुवर्तते । तत्र हि स  
मध्यमान उपलभ्यते । यथाच क्षुरः क्षुरधानं कदेशेऽवस्थितो यथा चाग्निः काष्ठादौ  
सर्वतो व्याप्यावस्थित एव सामान्यतो विशेषतश्च देहं संव्याप्यावस्थित आत्मा । तत्र हि  
स प्राणनादिक्रियावान्दर्शनादिक्रियावांश्चोपलभ्यते । तस्मात्तत्रैवं प्रविष्टः तमात्मानं प्राण-  
नादिक्रियाविशिष्ट न पश्यन्ति नोपलभन्ते ।

नन्वप्राप्तप्रतिषेधोऽयं तं न पश्यन्तीति दर्शनस्याप्रकृतत्वात् । नैव दोषः । सृष्ट्यावि-

सत्र प्रवेशितत्वं क्षुरस्य कथं सिद्धमत आह—अन्तस्थ उपलभ्यत इति । “विश्वंभरशब्दस्याग्नि-  
विषयत्वं द्युत्पादयति—विश्वस्येति । तस्य सङ्कृतं महाभूतत्वात्काष्ठारवादा द्रष्टव्यम् । काष्ठादा-  
वग्नैरवहितस्ये युक्तिमाह—तत्रेति । द्रष्टान्तद्वये विवक्षितमशमनूद्य बाष्पान्तिकमाह—यथेत्यादिना ।  
आत्मनो जाग्रत्स्वप्नयोर्बहे द्वयो वृत्ति स्वापे तु सामान्यवृत्तिरेवैवैववांतरविभागमाह—तत्र हीति ।  
अवस्थाद्वयं सत्तत्पर्यं । न केवल विशेषवृत्तिरेव तदोपलब्धा किन्तु सामान्यवृत्तिश्चेति चकारायः ।  
‘प्रवस्थान्तरे संवेत्यपि’ तस्यैवार्थः । वाक्यान्तरमवतारयितुं भूमिकाभाह—तस्मादिति । यस्मादुभयो  
वृत्तिरारमनः शरीरे दृश्यते तस्मात्तत्रैव जलसुषुम्बवविधया प्रविष्टोऽयमिति योजना । व्याकृताञ्जगतः  
सकाशादारामां पृथक्कर्तुं तं न पश्यन्तीति चाप्य तद्व्याचष्टे—तमात्मानमिति । विशिष्ट पश्यन्तोऽपि  
‘केवलमात्मानं न पश्यन्तीति यावत् । “चाक्षुस्त्वनिषेधस्येष्टव्यमाशङ्क्य व्याचष्टे—नोपलभन्त इति ।

‘उक्तनिषेधमाक्षिपति—नन्विति । प्रतिषेधस्य प्राप्तं दशमपरिहरति—नेत्यादिना । तन्नाम-

प्रविष्ट होता है । अथवा जिस प्रकार “विश्वंभर” अर्थात् विश्व का भरण करने वाला अग्नि  
‘विश्वंभरकुलाये’ अर्थात् विश्वंभर के नीचे में, काष्ठादि में स्थित अग्नि के समान व्याप्य होकर  
स्थित है, इस प्रकार इसकी अनुवृत्ति होती है । वहाँ वह अग्नि मग्न करने पर उपलब्ध हो जाती है ।  
जिस प्रकार क्षुरधान के एकदेश में छुरा रहता है और जिस प्रकार काष्ठादि में अग्नि सत्र ओर व्याप्त  
रहती है, उसी प्रकार आत्मा स्फूर्त्यात्मा द्वारा इस देह को सामान्यरूप से एक द्रष्टा-श्रोतारूप आत्मा  
द्वारा विशेष रूप से देह को व्याप्त करने उसके एकदेश चक्षु-श्रोनादि नीचे में स्थित है । वहाँ वह  
प्राणनादि और दर्शनादि क्रियायान् देखा जाता है । इसलिए उस शरीर में ही प्रविष्ट ‘तम्’ अर्थात्  
उस प्राणनादिक्रियाविशिष्ट आत्मा को लोग ‘न पश्यन्ति’ अर्थात् नहीं जानते हैं ।

१ व्याप्य स्थित । २ सामान्यत स्फूर्त्यात्मा देह संव्याप्य । ३ विवेचन—द्रष्टा श्रोतेत्यादारमना देहम-  
संव्याप्य तदेकदेशे चक्षु भोवादिनाडिषु स्थित इत्ययं । अत्र वातिकम्—‘मिथो विपक्षा एव क्षुरधाने यथा  
क्षुरा । क्षुरधानादिभिरुपलभ्यते तथाऽऽत्मा नादिभेदेत इति ॥’ ४ न जानन्ति । ५ विश्वंभरेति-ननु नाथ  
शब्दोऽग्निं गोचरयति तत्र रुडपथावादिनामशङ्क्यत्वादि । ६ न केवलमिथ्यादिवाकित्वानुभवात् । ७  
सुषुप्ते । ८ सामान्यवृत्तिरेव । ९ चरारत्येव । १० पूजम् । ११ न पश्यन्तीति द्युत्पन्नोऽग्नौ  
(अनुकम्पामूलकते) स च पश्यन्तिगान्दस्य बाधुपायत्वेनापचन इत्यभिप्रेत्याऽह—चाक्षुषेति । १२ उक्तनि-  
षेधमिति-व्याकृताञ्जगत सनाशादारामां पृथक्कर्तुं निषेधवचनमित्युक्तत्वाद्दर्शनस्याप्रकृतत्वाद्दर्शननिषेधमादि-  
पतीत्ययं ॥

वाक्यानामात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थं परत्वात्प्रकृतमेव तस्य दर्शनम् । "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणात्" इति मन्त्रवर्णति ।

तत्र प्राणनादिक्रियाविशिष्टस्य दर्शने हेतुमाह—'अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मात् प्राणनादिक्रियाविशिष्टः' कुतः पुनरकृत्स्नत्वमिति । उच्यते । प्राणनेव प्राणनक्रियामेव कुर्वन्प्राणो नाम प्राणसमाख्यः प्राणमिधानो भवति । प्राणनक्रियाकर्तृत्वादि प्राणः प्राणितीत्युच्यते नान्या क्रियां कुर्वन् । यथा सावकः पाचक इति । तस्मात्क्रियान्तरवि-

रूपाम्या स एष इत्यादिवाक्यानां ज्ञानार्थत्वे मानमाह—रूपमिति ।

विशिष्टस्य दर्शनेऽपि पूर्णस्यादर्शने हेतुक्तिरनन्तरवाक्यमित्याह—तथेति । "प्रतिज्ञावाक्याय स्थिते सतीति यावत् । तस्मात्तद्दर्शनेऽपि पूर्णस्यादर्शनमिति श्रेय । विशिष्टस्यापि पूर्णत्वमात्मत्वादव्यथा प्राणनादिकर्तृत्वायोगादिति शङ्कते—कुत इति । प्राणनादिक्रियाकर्ता प्राणादिभिः संहतत्वात्पूर्णा न भवतीत्युत्तरधार्यवत्तरमाह—उच्यते इति । आत्मनि प्राणशब्दप्रवृत्तिमुपादयति—प्राणनक्रियाकर्तृत्वादिति । तत्कर्तृत्वादात्मा प्राण उच्यते प्राणितीति व्युत्पत्तेरिति योजना । संहतान्तमेवकारणमाह—नान्यामिति । एवकारार्थमनूय "हेत्यर्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) "उस आत्माको नहीं देखते हैं" इस श्रुति से अप्राप्त का प्रतिपेक्ष होता है क्योंकि इस प्रकरण में दर्शन की कोई बात नहीं है । (इस पर समाधान देते हैं—) इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि सृष्ट्यादि वाक्यों का आत्मैकत्व-प्रतिपत्तिरूपार्थ तात्पर्य होने के कारण उसका दर्शन प्रकरणानुसारी ही है । "वह परमात्मा रूप के प्रतिरूप हो गया । इसका वह रूप अभिप्रेषित करने के लिए (वह परमेश्वर) माया से अनेक रूप वाला दीखता है ।" इत्यादि श्रुति मन्त्र इसमें प्रमाण है ।

अथ श्रुति प्राणनादिक्रियाविशिष्ट के दिखायी देने पर भी निष्प्रपञ्च के न दीखने में हेतु बताती है—'अकृत्स्नो' अर्थात् असमस्त, 'हि' क्योंकि "स" अर्थात् वह प्राणनादिक्रियाविशिष्ट है । उसकी असमस्तता का क्या कारण है ? इस पर श्रुति बताती है—'प्राणनेव' अर्थात् प्राणन क्रिया को (प्रज्ञानवश) करता हुआ ही वह 'प्राणो नाम' अर्थात् प्राणसमाख्या या प्राणमिधान वाला होता है । क्योंकि प्राणन क्रिया का कर्ता होने से 'प्राण प्राणनक्रिया करता है' ऐसा कहा जाता है, अन्य दर्शनादिरूप क्रिया को करने के कारण नहीं । जैसे सबण क्रिया से सावक कहा जाता है, न कि पक्ति क्रिया से,

१ प्रतिपत्तिरूपार्थतात्पर्यवत्वात् । २ प्रकृतमेवेति—तन्नामरूपाम्यामिति प्रवृत्त सग स एष इहेति प्रवेशात् तस्याहमज्ञानशेषत्वात्तदपि प्रवृत्तमेवेति भाव । ३ रूप रूपमिति—व्युपाधिप्रतिविम्बरूपो बभूव तत्प्रतिविम्ब-वस्तु अस्य निरुपाधिकस्यात्मन रूप स्वरूप प्रतिचक्षणाय आत्मपाथात्म्यप्रतिस्थापनाय अयथाज्ञात्तत्प्रतिचक्षणीया-विद्यापटावृत्तस्य बुद्धिबुद्ध्युपाधिप्रतिविम्बभावात् स्वरूपप्रवाधानुपपत्तेरिति । ४ बु० उ० २-५-१६ । ५ निष्प्रपञ्चस्यादर्शने इत्यर्थः । ६ 'अकृत्स्नोऽसमस्त' इति परिच्छिन्नो व्यभिचारी अपूर्ण इति यावत् । दृष्टा श्रोता मन्तर्यादिविशिष्टस्वरूपाणां परस्पर आ्यानुत्तया व्यभिचारित्वेनापूर्णत्वमात्म्यमित्यर्थः । ७ अज्ञानवशा-दिति बोध्यम् । ८ दर्शनादिरूपम् । ९ सवनवियर्थेव सावको न तु पक्ता तथैव च पाचक इति । १० ज्ञातोपपत्तेः । ११ न पश्यन्तीति प्रतिज्ञावाक्यार्थः । १२ अनात्मत्वे । १३ अकृत्स्नो हि स इति हेतुबान्ध्यायम् ।

शिष्टस्यानुपसंहारादकृत्स्नो हि सः ।

तथा वदन्वदनक्रियां कुर्वन्वत्कीर्तिं वा विपश्यन् श्रक्षुश्चष्टे इति चक्षुर्द्रष्टा शृण्वञ्शृणोतीति श्रोत्रम् । प्राणन्नेव प्राणो वदन्वागित्याभ्यां क्रियाशक्त्युद्भवः प्रदक्षितो भवति, पश्यन् श्रक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भवः प्रदक्ष्यते । नामरूपविषयत्वाद् विज्ञानशक्तेः । श्रोत्रचक्षुषीं विज्ञानस्य साधने विज्ञानं तु नामरूपसाधनम् । न हि नामरूप-

“स्वापावस्थायाम् समस्तकरणोपसंहारेऽपि प्राणस्य व्यापारदर्शनात्प्राधान्यादगमात्प्राणसित्यावि-  
वाक्यमादौ व्याख्याय क्रियाशक्तित्वेन प्राणसादृश्याद्वाचो वदन्निषेतत्पूर्वकमुत्तरवाक्यानि व्याचष्टे—  
तथेत्यादिना । प्राणनवदान्मयामनुक्तकर्मत्रयव्यापारमुपलक्ष्य वाक्यद्वयतात्पर्यमाह—प्राणन्नेवेति ।  
प्राणवागाद्युपाधिद्वारेणाऽऽत्मनीति शेषः । “दृष्टिभूतिभ्यामनुक्तज्ञानेन्द्रियव्यापारोपसंभारं कृत्वाऽनन्तर-  
वाक्ययोस्तात्पर्यमाह—पश्यन्निषिति । चक्षुराद्युपाधिद्वारेणाऽऽत्मनीति पूर्ववत् । उक्तबुद्धीन्द्रियव्यापाराभ्या-  
मनुक्तं तद्व्यापारमुपलक्ष्याऽऽत्मन एव तद्व्यापारविररिद्धेन न सिध्यति । “संबन्धं विनो” उपलक्षणायोगादित्या-  
शङ्क्याऽह—नामरूपेत्यादिना । “प्रकाश” प्रकाशकातिरिक्तज्ञेयाभावात् “तदुपलक्षणे च चक्षुश्चोत्रयोरिव  
शङ्क्याऽह—नामरूपेत्यादिना । “प्रकाश” प्रकाशकातिरिक्तज्ञेयाभावात् “तदुपलक्षणे च चक्षुश्चोत्रयोरिव  
त्वगादिरपि करणत्वादे” कार्यत्वरूपसंबन्धादुपलक्षणसम्भवादात्मनः एव तद्व्यापारविररिद्धिरित्यर्थः । तपाऽप्यु-

इसी तरह पक्ति-क्रिया से हो पाचक कहा जाता है । इसलिए क्रियान्तरविशिष्ट का प्राणपद से बोध न होने के कारण प्राणनादिविशिष्ट वह अपूर्ण ही है ।

तथा इसी प्रकार ‘वदन्’ अर्थात् बोलता है, इस व्युत्पत्ति से वदन-क्रिया करता हुआ, यह वक्ता कहा जाता है । ‘पश्यश्चक्षुः’ ‘चक्षिड’ अदादिगणीय धातु से (व्यक्त रूप से बोलने और दर्शन ग्रहण में) चष्टे अर्थात् देखता है, इस व्युत्पत्ति के कारण चक्षु नाम पडा यानी द्रष्टा का नाम चक्षु है । “शृण्वन्” अर्थात् सुनता है, इस व्युत्पत्ति से जो सुनता है, वह श्रोता है । ‘प्राण-क्रिया को करता हुआ प्राणाभिधान वाला है’ एवं ‘वदन-क्रिया को करता हुआ ही वह वक्ता कहलाता है’ इन दोनों श्रुतिवाक्यों द्वारा आत्मा में क्रिया शक्ति का गमनादिव्यापार दिखाया गया है । ‘देखने के कारण वह श्रुतिवाक्यों द्वारा आत्मा में क्रिया शक्ति का गमनादिव्यापार दिखाया गया है । ‘देखने के कारण वह श्रुतिवाक्यों द्वारा विज्ञान शक्ति का स्पर्शनादि द्रष्टा है’ एवं ‘सुनने के कारण वह श्रोता है’ इन दोनों श्रुतिवाक्यों द्वारा विज्ञान शक्ति का स्पर्शनादि व्यापार दिखाया गया है । क्योंकि विज्ञानशक्ति नाम और रूप को विषय करती है । श्रोत्र और नेत्र व्यापार दिखाया गया है । क्योंकि विज्ञान नामरूप का प्रकाशक है । क्योंकि नामरूप से भिन्न कोई विज्ञेय नहीं विज्ञान में करण है और विज्ञान नामरूप का प्रकाशक है । क्योंकि नामरूप से भिन्न कोई विज्ञेय नहीं

१ प्राणपदानवबोधोपात् । २ अपूर्ण । ३ प्राणनादिविशिष्ट । ४ व्युत्पत्ति । ५ वक्ताश्रयित्वे । ६ श्रोता । ७ गमनादिव्यापार । ८ स्पर्शनादिव्यापार । ९ करणे । १० प्रकाशकम् । ११ ननु श्रोत्रचक्षुः करणकविज्ञानस्य स्ववित्तयेप्रवायवत्त्वत्प न च विज्ञान नामरूपप्रवायवत्त्वित्युच्यते इत्याशङ्क्याऽह—  
न हीति । १२ प्राणनक्रियाविशिष्टस्य श्रुतो ग्रहणयोग्यात् हेतुमाह—स्वापेत्यादिना । १३ दशमपञ्चगाम्याम् । १४ उपलक्षणापसंभारयो । १५ तदुपलक्षणात् । १६ रूपत्वम् । १७ नामेत्यम् । १८ विज्ञेयज्ञाने । १९ एकार्थस्वरूपसम्बन्धादिति—चक्षुरादेस्त्वगावदन एव विज्ञेयविज्ञापकस्वरूपसम्बन्धादित्यम् । तपा च तद्व्यापार-  
एतेनोपलक्षणेनोपलक्षणयो सम्बन्धे वक्तव्ये चक्षुरादेस्त्वगादेस्तदुक्तिरिति निरस्तम् । २० तत्प्राणीति—  
उक्तबुद्धीन्द्रियव्यापाराभ्यामनुक्ततद्व्यापारमुपलक्ष्य आत्मन एव तद्व्यापारविररिद्धिरित्यर्थः ।

व्यतिरिक्तं विज्ञेयमस्ति 'तयोश्चोपलम्भे करणं चक्षुःश्रोत्रे । क्रिया च नामरूपसाध्या प्राणसमवायिनी । तस्याः प्राणाश्रयाया अभिव्यक्तौ वाक्करणम् । तथा पाणिपादपायूपस्थाख्यानि' । सर्वेषामुपलक्षणार्था, वाक् । एतदेव हि सर्वं व्याकृतम् "अयं वा 'इदं नाम रूपं 'कर्म'" इति हि 'वक्ष्यति । मन्वानो मनो मनुत इति 'ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो 'मनुतेऽनेनेति पुरुषस्तु, कर्ता सन्मन्वानो भूत इत्युच्यते ।

स्वकर्मैन्द्रियव्यापारेणानुक्ततद्व्यापारोपलक्षणादात्मनो न गन्तृत्वादपरिच्छेदः । संगच्छते विना संबन्धमुपलक्षणासिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—क्रिया चेत्वादिना । "सर्वा क्रिया "नामरूपव्याख्या प्राणाश्रया "च तत्र प्राणाश्रयनामविषयोच्चारणक्रियाव्यञ्जकत्वं वाचो हस्तादीनां तदाश्रयादानादिव्यञ्जकता "तस्मादेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकत्वयोगादुपलक्षणसंभवादात्मनो गन्तृत्वादिसिद्धिरित्यर्थः । शक्तिद्वयोद्बोधतया समस्तसारस्य प्रतीत्यध्यासोऽत्र" विवक्षित इत्याह—एतदेवेति । उद्भूतज्ञानशक्तिद्वयमेतच्छब्दार्थः । "उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलमस्ति—अयमिति । आत्मा मन्वानः सन्मन इत्युच्यते मनुत इति व्युत्पत्तेरिति" वाक्यान्तरव्याचष्टे—मन्वान इति । करणे प्रसिद्धस्य मन शब्दस्य कथमात्मनि वृत्तिरित्याशङ्क्य व्युत्पत्तिर्भवेमाह—ज्ञानशक्तीत्यादिना । ५३१

हे । विज्ञेयारम्भक नामरूप की उपलब्धि मे नेत्र श्रोत्र और साधन है । श्रोत्र नाम श्रोत्र रूप से साध्या क्रिया प्राण की आश्रया है । उस प्राण की आश्रिता क्रिया की अभिव्यक्ति मे वाक् करण है । इसलिए हाथ, पैर, पायु और उपस्थ नाम की कर्मैन्द्रियां हैं । इन सबके उपलक्षण के लिए वाक् है । यही सब व्याकृत जगत् है । "व्याकृत अव्याकृत रूप सारा जगत् नाम, रूप, क्रिया सामान्य स्वरूप है" इसे श्रुति भागे बतलाएगी । 'मन्वानो मन' (अर्थात् रूपादिगुणीय भवबोधनार्थक 'मनु' वातु से) भवबोधन करता है, इस व्युत्पत्ति से ज्ञानशक्ति के विकार दक्षनादि का साधारण साधन मन है । क्योंकि इसके द्वारा भवबोधन करता है । पुरुष ही कर्ता होने पर जब भवबोधन करता है तो 'मन' इस नाम से कहा जाता है ।

१ विज्ञेयारम्भकनामरूपयो । २ तस्मादिति शेष । ३ सर्वं व्याकृतमेतदेव । ४ व्याकृताव्याकृत जगत् । ५ क्रियासामान्यम् । ६ नु० उ० १-६-१ । ७ ज्ञानशक्तिविकाराणां दधानादीनाम् । ८ व्युत्पत्तेरिति शेष । ९ मनुते इति व्युत्पत्ति । १० व्यावहार । ११ वदनादि । १२ नामरूपारम्भकनामादिव्यञ्जका । १३ वदनादिक्रियाया मध्ये । १४ तस्मादित्यादि —उपपादितादेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकत्वव्यञ्जकत्वव्यावस्थाद्यो सम्भवात् तद्व्यापारोपलक्षणयोगोपलक्षणयोरेकाश्रयक्रियाव्यञ्जकत्वव्यञ्जकत्वव्यावस्थाव्यवस्थेति । १५ प्रकृतवाक्य प्रकारेण वा । १६ सव्य जगत् प्रतीत्यध्यास्तत्त्वरूपेऽर्थे । १७ एकप्रकारेण ।

कुंमन इत्युच्यते इति । स प्राणन्वत्यादिमन्वानो मन इत्यन्तव्युत्तिभाष्यतात्पर्याहकारिणी बोधि वातिकानि सन्ति । तथाहि—'वर्तते वाग्भवेदारमा ह्युच्यते वाग्भवेदध्वनि । तथाच्यतेऽनेनेत्यस्मात् करणं वापुदाहता ॥ परमेश्वरस्तथा द्रष्टा धृष्टश्चोत्र तयैव च । त्रिधा त्रिधा व्यवच्छिन्न एव सर्वे सस्येत् ॥ परमार्थोचनार्थं सशयं कुर्वते मन । बुद्धिरध्यवसानाय साधो स्रज्ज उच्यते' ॥ ६८०-६८२ ॥ इति । यद्यपि यदौ प्राणनादिकर्तृत्वेनैवाऽऽत्मनो व्यवच्छेदं श्रुतस्तथापि प्रतीत्यध्यापार कर्तृत्वत्वसंभवेन करणत्वेन च व्यवच्छेदो द्रष्टव्य इत्याह—वर्ततेत्यादिना । ध्वनौ वाक्शब्दस्य कृद्विद्योतको हिशब्दः । अस्माद्व्युत्पादनादिति यावत् ॥ वदन्नागित्यन्तोक्तन्यायं वाक्यान्तरेव्यतिदिशति—पश्यन्ति । एव हि पश्य इति पशु शब्देन द्रष्टोच्यते दृश्यते इति कर्म तथा





ब्रह्म । कस्मात् । 'अकृत्स्नोऽसमस्तो हि यस्मादेव । आत्माऽस्मात्प्राणोऽभाविसेमुदायात्, अतः प्रविभक्त एकैकेन विशेषणोऽनं विशिष्ट इतरधर्मान्तरानुपसंहाराद्भवति ।' 'यावदयमेव वेद पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति' वा, 'स्वभावप्रवृत्तिविशिष्ट वेद तावेदञ्जसा कृत्स्नेमात्मानं न वेद ।' 'विशिष्ट-प्राण-प्राणान्तरात्' 'न-न-विशिष्ट-प्राण-प्राणान्तरात्' ।

कथं पुनः पश्यन्वेदेत्याह—आत्मेत्येवाऽऽत्मेति प्राणादीनि विशेषणानि मान्युक्तानि तानि यस्य स आप्नुवस्तान्यात्मेत्युच्यते । स तथा कृत्स्नविशेषोपसंहारी सङ्कृत्स्नो भवति । वस्तुमात्ररूपेण हि प्राणाद्युपाधि विशेषप्रक्रियाजनितानि विशेषणानि व्याप्नोति ।

निति शङ्कित्वा परिहरति—कस्मादित्यादिना । तस्माद्विशिष्टात्मदर्शो "न ब्रह्मात्मत्वदर्शीति शेष । उपास्तिजननमुपास्त इति जानाति" न स्वभावाद्युपासनमित्युक्तत्वात् । तथा च जानन्न जानातीति श्वाहृतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यावदिति । एव वेदेत्येतदेव विव्रियते—पश्यामीत्यादिना ।

आकाङ्क्षापूर्वकं विद्यासूत्रमवतारयति—कथमिति । "तत्र व्याख्येयं पदमादत्ते—आत्मेतीति । तद्वाच्यते—प्राणादीनीति । तस्मिन्ष्टे पूर्वोक्तधोपराहित्य दर्शयति—स तथेति । तत्तद्विशेषणव्याप्ति-द्वारेणेति यावत् । कथं तत्तद्विशेषोपसंहारी तेन तेनाऽऽत्मना तित्पुङ्कृत्स्न स्यात्प्राणाऽह—वस्तुमात्रेति ।

वक्षु की अन्य विशिष्ट क्रियात्मक मे आत्मा का उपसंहार न करके मन के द्वारा यह आत्मा है' इस प्रकार 'उपास्ते' अर्थात् चिन्तन करता है, 'न स वद' अर्थात् वह ब्रह्म को नहीं जानता है । क्यों नहीं जानता ? 'अकृत्स्न' अर्थात् असमस्त, 'हि' अर्थात् जिस कारण से 'एव' अर्थात् यह आत्मा है, (क्योंकि) प्राणनादि समुदाय से विशिष्ट है । इसलिए वह अन्य धर्मों का उपसंहार न करने के कारण परिच्छिन्न है अर्थात् एक एक विशेषण से विशिष्ट है । जब तक यह मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ' इस प्रकार आत्मा का शास्त्र अनपेक्ष प्रवृत्ति से विशिष्ट जानता है, तब तक वह तत्त्व से सम्पूर्ण आत्मा को नहीं जानता ।

+

१ परिच्छिन्न । २ निश्चलविशेषणसङ्करादिति यावत् । ३ यावदयमेव वेदेति—अयं जन यावदेव प्रसिद्धप्रकारेण प्राणनादिवर्तमानात्मानं वेद न तावत्स्वतो वेति यत् आत्मवस्तु क्रियाकारणभूयमिति भावः । तदुक्तं वातिके— "यावदेवमयं वेद प्राणिनीत्यादिवृत्तं कथं । अनियन्तारक वस्तु न तावद्दद तत्त्वत इति ॥ ७१०॥ ४ शास्त्रानपेक्षरूपः । ५ तत्त्वत साक्षादिति वाय । ६ कथं पश्यन् वेदेत्याशङ्क्या । ७ आप्नुवन् । ८ प्राणनादिनिश्चिन्नापानुरक्त नतदारमना तिष्ठन् । ९ वस्तुमात्ररूपेण—बाहुमनसातीतन अत्राय कारणन प्रत्यङ्गुतेनेयम् । एतन् दृष्टं प्नोतीति व्यासवाक्योत्तरात्मशब्दार्थो दक्षितो भवति । आत्मेत्यधोपासीतेत्यन्तरमात्राद्य उक्तं । तस्य शब्दविशेषविपर्ययत्वोक्तं इति वाच्यं । सर्वतोऽप्यवधानाभावात्पक्षेति प्रत्यन् तत्त्वमुपोपगच्छयम् । आसीतीति स्वरूपावस्थानमुच्यते । तथा च कथं कारणवितक्षणं बाहुमनसातीतं कूटस्थ प्रत्यक्षत्वमनुभूयाविवृष्टं सम्प्रापीतं । तदिदं स्वरूपावस्थानमासनं नेत्यात्मनि काचिद्विक्रियेति वाच्यम् । १० विशेषप्रक्रियानिमित्तानि । ११ नेत्यादि । विशिष्टस्य पुनराभावात् ब्रह्मात्मवस्तुनस्व स्वतःपूतत्वात् विशिष्टात्मदर्शी न तत्त्वदर्शीति भावः । १२ उपास्त इतीति । उपास्त इत्यस्याधमाह—इति जानातीति । उपास्त इत्यनं स्वभावाज्जानातीत्येवदुच्यते । नहि विहितमुपासनम् उत्तरत्र निन्दादृष्टेरित्यर्थः । निन्दा च न स वेदेत्यादि । १३ बा० १-४ ६८८ । १४ वातिके । १५ विद्याप्रतिपादकं सप्रहवाक्यम् । १६ विद्याधुरस्यम् । १७ तत्तदनुस्यूत ।

तथा च वक्ष्यति—“ध्यायतीव लेलायतीव” इति । ‘तस्मादात्मैत्येवोपासीत । एवं कृत्स्नो ह्यसौ स्वेन वस्तुरूपेण गृह्यमाणो भवति । कस्मात्कृत्स्न इत्याशङ्क्याऽऽह—अत्रास्मिन्नात्मनि हि यस्मान्निरुपाधिके जलसूर्यप्रतिबिम्बमेवा इवाऽऽदित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषाः प्राणादिकर्मजनामभिधेयो यथोक्ता ह्येत एकमनित्यतां भवन्ति प्रतिपद्यन्ते ।

॥ आत्मैवेदोपासीतेति 'नापूर्वविधिः । 'पक्षे प्राप्तत्वात् । "यत्ताक्षादपरोक्षा-

स्वतोऽस्य प्राणनादिसंवाधे संभवति किमित्युपाधिसंवाधेनैत्याशङ्क्याऽऽह—तथा चेति । आत्मनि  
"सर्वोपसंहारयति दृष्टे पूर्वोक्तदोषाभावात्तं पश्यन्नेवाऽऽत्मवर्त्तित्युपसंहरति—तस्मादिति । 'यथोक्ता-  
त्नोपासने पूर्वोक्तदोषाभावे 'प्रागुक्तमेव हेतुं स्मारयति—एवमिति । 'तत्प्रायं स्फोरयति—स्वेनेति ।  
वाङ्मनसातीतेनाकार्यकारणेन प्रत्यभूतेनेति यावत् । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाच्यमवतार्य व्याकरोति—  
कस्मादित्यादिना । "तस्माद्यथोक्तमात्मानमे"वोपासीतेति" ज्ञेयः । "प्रत्येवं द्योतको द्वितीयो हिशब्दः ।  
कस्मादित्येवमिति ।

विद्यासूत्रं "विधिस्पष्टं विना "विवक्षितेऽर्थे व्याख्यायापूर्वविधिरयमांत पक्ष प्रत्याह—आत्मत्य-

तो फिर किस प्रकार देखने पर जानता है। इस पर श्रुति कहती है—“आत्मैत्येव” अर्थात् आत्मा पद से पूर्व में प्राणादि विशेषणों द्वारा जिनका वर्णन कर दिया है, वे जिसके हैं, उन्हें व्याप्त करता हुआ होने के कारण आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार प्राणनादि समस्त उपाधियों से मुक्त तत्त्वदात्म-रूप में स्थित रहने से वही आत्मा पूर्ण कहा जाता है। वह वाङ्मनसातीत कार्यकारणरहित प्रत्यक्षरूप से प्राणादि उपाधि विशेष होने से क्रिया-निमित्त विशेषणों से व्याप्त है। ऐसा ही “बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चैष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है” इस श्रुति द्वारा आगे कहा जायगा। अतः “वह आत्मा है” इस प्रकार ही उसकी उपासना करे। इस प्रकार

१ तस्मादिति—सर्पादीन् सविधास्त्रिलाननबलेनैव व्यापनादित्यर्थः । २. नापूर्वति—विपरित्यक्तमप्राप्ती  
नियम पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ती परित्यक्तेति शीघ्रते ॥ इति यत्र विविधमतेऽप्युर्विधिवचनः । इति  
त्रिविधविषय पूर्वकाष्टेऽभिप्रायः । ३ पक्षे प्राप्तात्वादिति । अविच्छेदे स्मृति प्राप्ता विच्छेदे तु न सा ततः । पानिपया  
स्मृतिसम्प्राप्ती तत्सन्तानो निवृत्त्यते । उपस्थित यदा दृष्ट तदा तस्योपसन्ताने । आनन्दारमकमर्त स्मरेद्वद्व  
पुन पुन ॥ इत्येव मुदुचिताना मत प्राप्यकृतस्तथा । अङ्गीकृत्य भरच्चक्रसुर्विधिवारणे ॥ अष्टौ मृतिरापागु  
कल्पान्दन्तिचयन या । इत्यादि धीरचित्ताना नित्यप्राप्तिरिहोच्यते ॥ यत्तादाश्रितिबाबोत्पत्त्यव्यापारमनेहिना  
शानेन तमसो दाहान्त्रित्यप्राप्तौ च तन्मृति ॥ १४ ७७६-७८० ॥ देहात्मचिन्ता मृदानां नित्यप्राप्ता यथा तथा ।  
विदुषा ब्रह्मचिन्ताऽपि नातो नैषमिवो विधि रिति वास्तवसाद्योक्तम् ॥ १४ ७८६ ॥ ४. वृत्तिव्यवधान-  
न्तरेणैव । ५ अपरोक्षम् । ६ उच्यत इति शेषः । ७. सर्वोपसहास्वतोऽपि । प्राणादिनिश्चितविशेषण-  
व्याप्तिमतीत्यर्थः । ८. सर्वोपसहास्वदात्मनुभवन इत्यर्थः । ९. तत्प्राप्तिरित्युक्तम् । १०. हेतोः ।  
११. तस्मादिति—निरुपाधिकार्यानि प्राणादिसर्वोपाध्मपुनसहास्यद्वयः । १२. एवोऽज्ञातमनिवर्तकः ।  
१३. पश्येत् । १४. उक्तोपस्थेयः । १५. विधितत्परं विनिरूप्यः । वेदान्तेषु लिङ्गोनामर्हाप्येत्वात् ।  
१६. विवाक्षिते—अभिप्रेते वाच्यकारणविलसणे वाङ्मनसातीते कृत्स्ने प्रत्यग्भूतेष्वर्थे ।

१६. विवक्षिते—अभिप्रेते कार्यकारणवितरणं वाङ्मनसात्तात्तु नृपत्येव नान्यथा । तस्मादिह—  
 कृपास्तेत्येवोपासीतेति नापूर्वविधिर्न । एतद्वाप्यतात्पर्याविपर्ययपरिणामं यद्वानिर्वाहं सन्ति । तस्मादिह—  
 "नापूर्वविधिर्नैव कृपाविधिर्न ब्रह्मणे । सर्वदेव तु तत्प्राप्तेस्तथा नान्योऽपि नयन ॥ पूज्यापारानधीनत्वात्नेह  
 सभाभ्यते विधिः । स्वव्यापारैकविषयः तत्र एव यतो विधिः ॥ सत्येन्नेतज्ज्ञेयं पारस्य पूर्वप्राप्तेति पूर्वकः ।

व्यहम्" "कतम आत्मेति" "योऽयं विज्ञानमयः" इत्येवमाद्यात्मप्रतिपादनपराभिः श्रुति-  
मिरात्मविषयं विज्ञानपुत्पादितम् । तत्राऽऽत्मस्वरूपविज्ञानेनैव तद्विषयाऽनात्माभिमान-

वेति । अत्यन्ताप्राप्तार्यो ह्यपूर्वविषयेषा स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुषादिति नाम तेषां पक्षे प्राप्तत्वादी-  
त्मोपासनस्य सत्यं तत्प्राप्तिश्च पुरुषविशेषापेक्षया विचारारवसाने स्पष्टो अभिष्यतीत्यर्थः । इदानी-  
मात्मज्ञानस्याविषयेत्यवस्थापनार्थं वस्तुस्वभावालोचनया निरूप्यमाह—मत्साक्षादिति । उत्पाद्यता-  
मुक्तश्रुतिभिरात्मविज्ञानं किं तावतेत्यत आह—तत्रेति । कारकादीत्यादिपदं तद्वशान्तरमेवविषयम् ।

अपने बाङ्मनसातीत बायंकारणरहित प्रत्यक्षरूप में ग्रहण किया जाने से यह पूर्ण है । क्यों पूर्ण है ?  
इस पर श्रुति कहती है—'अथ' अर्थात् इस निरुपाधिक आत्मा में, पूर्व बतलाए हुए प्राणादि-धर्म-  
जनित नामों से अभिषेय प्राणादि उपाधियों से होने वाले समस्त विषय उसी तरह "एकम्" अर्थात्  
अभिप्रता को "अवन्ति" अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जलगतसूर्य प्रतिबिम्बमेव से सूर्य में एव हो  
जाता है ।

"वह आत्मा है" इसी प्रकार ही उपासना करनी चाहिए, यह अपूर्वविधि नहीं है (अपूर्वविधि  
अत्यन्त अप्राप्तार्थक होती है) क्योंकि यह दंगन पक्ष में स्वयंप्राप्त है "जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है

- १ बुद्धपादोना मध्ये । २ विज्ञान धीस्तराप्रय शङ्खश्च इति भावः । ३ ताभिस्तस्मिन्नुत्पादित ।
- ४ नेव प्रत्यक्षाद्यधिगतम् । ५ दशनस्य । ६ दशनस्य । ७ पक्षे प्राप्ति । ८ पुरवविषेयपति—
- विदुज्जनेत्यर्थः । आरम्भकर्मवशात् क्षुत्पिपासादिदायोऽङ्गवात् आत्मनो विस्मरणमनारमन स्मरण च समावित
- निवृत्त इति वदन् भाष्यकृत् । ज्ञानस्य पक्षे प्राप्ति विचारारवसाने वक्ष्यतीत्यर्थः । ९ उपसंहारात्मकटीकायां
- मन्त्रस्य । १० पूर्वमपूर्वविधिभिरासाधनान्यमविधिपमङ्गीकृत्या । ११ नित्यापरोक्षारम्भस्वरूपविचारणया ।
- १२ ताभिस्तदुत्पादने नास्मान्नानस्य निरूप्यान्ती क्रियायात्तमित्यर्थः ।

भाष्यकृद्भिः इतो यत्नः स आधिष्ठितेऽभ्युपगमः ॥ यथा कायनिषेधस्य प्राप्ताप्य वक्ष्यते स्फुटम् । ऐशान्यवस्तु-  
निष्ठस्य तथा पूर्वमवाविषम् ॥ निष्ठप्रत्ययभूतेरत्र भ्रान्ति समुपजायते । यजैतस्यादित्यामाग्याद्विषयार्थो  
विचार्यते ॥ सिद्धान्तोपक्रमं पूर्वं पुनश्च प्रदर्शयति । सम्मतिप्रतिपत्तिद्वयान्तो यतो वति बलाबलमिति ॥७५२-५७॥  
धीनपि विधीप्रकारोति—नेत्यादिना । अपूर्वविधिप्रथम परिसंख्या वा कश्चिदपि विधिं गृह्यते इति  
सबन्धः । तत्र हेतुमाह—सर्वदेति । आत्मविधिं सदाभाषातत्प्राप्तवक्ष्यमाणत्वात् तत्र विधिप्रय न हि सिद्धेऽर्थे  
विधिं साध्ये तन्निप्रमादित्यर्थः ॥ किंच ब्रह्मणि तज्ज्ञाने वा त्रिविधो विधिरुक्ते ह्येषा सदाभाषातज्ज्ञानस्य च  
मानवस्तुतन्त्रत्वादित्याह—पूर्वकाराति । प्रयत्नानधीनेऽपि कार्यादित्ये शरत् कुनरे ॥ दिष्टिस्तदऽह—स्वव्या-  
पारेति । यतो परमसाध्यचतुर्वर्त्यमात्रविषयस्त्रिविधाऽपि विधिरतो ज्ञाने मानवस्तुमात्रतन्त्रे न सोऽन्तीत्यर्थः ॥  
वस्तुनि तज्ज्ञाने वा विषयवस्तुवस्तुक्त्यायन सिद्धत्वात्तन्मुत्तरेण विधिविचारणेत्याशङ्क्याह—सत्येभ्य इति ।  
उत्तरो विचाररूपो ग्रन्थो आत्मविध्यसम्बन्ध इतिवस्तुमित्यर्थः ॥ ननु ब्रह्मणि तज्ज्ञाने च सर्वप्रकारविषयसम्बन्धस्य  
सम्बन्धप्रत्ये निष्ठत्वादनपि सर्ववैकली पुनर्हातित्याशङ्क्य सर्ववस्तुमनुवदति—येति । कार्यात्तत्प्राप्त्या वेदान्त-  
नवका कार्यभिरात्मिकाकार्यं बुद्धे सिद्धे वस्तुनि मानवमतिस्फुटमस्तीत्येतावन्मात्रं सबन्धप्रत्ये समधिगतमित्यर्थः ।  
उत्तरस्यापुनस्तुमर्थमाह—निष्ठप्रत्ययेति । आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्र विधायानपदश्रवणाद्यनेतेत्यादिना साहचर्यात्तत्र  
माणाद्यो विधिरहितव्यपि वस्तुनि तज्ज्ञाने वा विधिरिति भ्रान्तो भ्रान्ताया विधिपदव्याप्योऽङ्गो नियमोऽप्येवेति  
विनाय निरस्यतेऽतो भ्रान्तिनिवृत्त्या वाक्यस्य वस्तुपरस्य निश्चेतव्यमित्यर्थः ॥ ननु पुनस्तुपवायेऽपि प्राप्तिपूर्वक-  
ताभिनेवत्येव पूर्वं पुनश्च प्राप्य पश्चादुत्तरपक्षो वाच्यस्तत्र यथोक्तभारतिके भाष्यनारायण को हेतुरिति धृञ्छति

बुद्धिः कारकादिक्रियाफलोप्यारोपणात्मिकाऽविद्या निर्वर्तिता इत्येतां निर्वर्तितायां कामा-  
दिदोषानुपपत्तेरनात्मचिन्तानुपपत्तिः । पारिशेष्यादात्मचिन्तया तस्मात्तदुपासनमस्मिन्पक्षे  
न विधातव्यं प्राप्तत्वात् ।

नन्वविद्यायामपनीतायामेव रोगद्वेषादित्युद्वाहो-प्रवृत्तिरित्यसि हि विद्वद्विदुषोर्व्यवहारे कश्चिद्वि-  
शेषः पश्चादिभिन्नाविशेषादिति न्यायोदित आह—तस्यामिति । बोधितानुवृत्तिमात्रात् 'बोधो प्रवृत्तिर-  
बाधिताभिमानमन्तरेण तदयोगादिति भावः । विदुषः सुषुप्ततुल्यत्वं ध्यावन्तिपति—पारिशेष्यादिति ।  
श्रोतज्ञानात्पूर्वमपि सर्वासां चित्तवृत्तेनां जन्मनैवाऽऽरम्भतन्मयव्यञ्जकत्वात्प्राप्तमात्मज्ञानं श्रोते तु ज्ञाने  
नास्त्यनात्मेति स्फुरणमात्मज्ञानमेवेति नित्यप्राप्तिमभिप्रेत्याऽह—तस्मादिति । अस्मिन्पक्षे इति  
नित्यप्राप्तत्वपक्षोक्तिः ।

(उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो) '“(जैनक ने पूछा—बुद्धि आदि में आत्मा कौन है ?) जा यह  
विज्ञानमय है” (इत्यादि आत्मप्रतिपादक श्रुतियो से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसा ज्ञान  
उत्पन्न होने पर वही आत्मस्वरूप के ज्ञान से ही तद्विषयां अनात्माभिमानवृद्धि यानी कारकादि विद्या  
और फल की अध्यारोपरूपा प्रविद्या निवृत्त हो जाती है । उस प्रविद्या की निवृत्ति होने पर कामादि  
दोषों की कल्पना असम्भव होने से अनात्मचिन्तन की सम्भावना नहीं रहती । (इस प्रकार) आत्मचिन्तन  
ही परिशेष रह जाता है । इसलिए इस पक्ष में आत्मोपासना का विधान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह  
तो स्वयंप्राप्त है ।

१ विदुषा कर्तृत्वादिविधौस्तु बाधितानुवृत्त्येति भावः । २ विधिप्रयुक्ता । ३ चिद्व्याप्तत्वात् ।  
४ भावम् ।

—सिद्धान्तेति । प्रख्यात पञ्चादिति शेषः । पूर्वोत्तरपञ्चादित्यस्येति भाष्यवृत्तौऽभिप्रायमाह—सम्पत्तिरिति । पुण्यो  
हि समधिगतसिद्धान्तं मन्पूर्वोत्तरपञ्चादौर्बलावबन्धमाकलयितुमल तनाऽऽदौ सिद्धान्तवचनमविश्वमित्यर्थः ॥  
‘परासाक्षादित्येव प्राप्तत्वादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाह—‘निरत्यप्राप्तिमिहाऽऽनष्टे  
विद्यमानानुवृत्तयः । अप्राप्तात्प्राप्तत्वेन सर्व एव विधिर्वैत ॥ वाक्षिक्युपासनप्राप्तितया वेति च लिङ्गित ।  
विवक्षिता भाष्यकृते नित्यप्राप्तिरित्युच्यते’ इति ॥७१६-६०॥ ज्ञान विधिवन्निरासेच्छया तस्य नित्यप्राप्तिमत्र  
भाव्यकारो प्रबोधीत्यर्थः । नित्यप्राप्तत्वेऽपि ज्ञानस्य कथं विधिप्रयोगस्तथाऽह—अप्राप्तिः । अप्रियवदप्याय सर्वं  
एवैवेककारः । बोधो निरवप्राप्त ज्ञाने न कश्चिदपि विधिरिति शेषः । यत्साक्षादित्यादौ भाष्ये ज्ञानस्य नित्य-  
प्राप्तिर्विबोधिने कुतोऽप्यगम्यते तत्राऽह—प्राप्तिरिति । तिष्ठन् तावदित्यादौ भाष्ये नित्या वेतिप्रयोगमामध्यदि  
पूर्वभाष्येण ज्ञानस्य नित्यप्राप्तिर्विवक्षितेति भागीत्यर्थः ॥ इत्यत्र विदुषो न बोधो प्रवृत्तिरित्याहुस्ते—‘यदज्ञाना-  
त्प्रवर्तितं सज्जाने सति या कुत । न गीहापास्तनिद्रोऽपि सुषुप्तस्त्वप्यमोक्षते ॥ यदि मय्य भवो रूप म तत्रा-  
प्तावेषते । त्रिषां मोहिनिर्मितत्वात्पेक्षा कर्त्तव्यत्वात् ॥ न च समोहविद्यस्तौ यथावत्स्वव्यापत । ममैवमनस्य-  
स्याम क्रियाकारककल्पमिति ॥७१६-६१॥’ प्रत्ययज्ञानात्प्रवृत्ति प्रत्यक्षाने हेतुत्वात्तदनुवृत्तस्य दृष्टान्तमाह—  
न हीति । यथा लोके सुप्तो जनो निद्राद्रुपितमना स्वप्नानुच्चावपानुपसृजते न तथा जाग्रति निद्रारहित  
स्वस्वचेता स्वप्नाव्यया पश्यति तद्वदज्ञानात्प्रवृत्ति सति ज्ञाने न युक्तेत्यर्थः । ज्ञानार्थत्वेनाग्रस्य क्रियावज्ज्ञान-  
मोक्षेति तत्तद्व्याख्येन तत्त्वोक्ताराज्याने विध्यभावोऽपि तस्याममो स्यादित्याह—‘सा रि ब्रह्मास्त्येषां मोहोमोहार्थं  
वेति विरस्त्याऽऽनष्टेति—यदीति । आत्मस्वरूपत्वाद्ब्रह्मात्मस्तद्व्याप्ते त्रिगोपेक्षामावाध तत्राप्राप्तिरनुवृत्तियामो  
विधिरित्यत्र । आत्मनो ब्रह्म स्वाभाविक रूपं वेत्तव्यं तदप्राप्तिधीस्तत्राऽह—मोहेति । अप्राप्तेरिति शेषः ।

, , तिष्ठतु तावत्पाक्षिकब्रह्मोपासनप्राप्तिर्नित्या वेति । 'अपूर्वविधिः स्यात् ।' ज्ञानोपासनयोरेकत्वे सत्यप्राप्तत्वात् । न स वेदेति विज्ञानं । 'प्रस्तुत्याऽऽत्मेत्येवोपासीतेत्यभिधाना-

अपूर्वविधिवादी शङ्कते—तिष्ठतु तावदिति । सर्वेषां स्वभावतो विषयप्रवणानीन्द्रियाणि नाऽऽत्मज्ञानवार्तामपि मृष्यन्ते 'तद्वयन्ताप्राप्तत्वादात्मज्ञाने भवत्यपूर्वविधिरिति भावः । 'विशिष्टस्याधिकारिणः शाब्दज्ञानं 'शब्दादेव सिद्धमिति कथमप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानेति । न खल्वत्र शाब्दज्ञानं विवक्षितं किंतुपासनमुपासनं नाम मानसं । कर्म तदेव 'ज्ञानावृत्तिरुपराजज्ञानमित्येकत्वे सत्यप्राप्तत्वाद्विधेयमित्यर्थः । तयोरेकत्वं विदुषोति—नेत्यादिना । अनेन हीत्यादौ 'वेदशब्दस्यार्थान्तर-

( अपूर्वविधिवादी शङ्का करता है— ) आत्मोपासनप्राप्ति पाक्षिक है अथवा नित्य है—इसकी चर्चा अभी रहने दो । ( 'आत्मा है इस प्रकार ही उपासना करनी चाहिए' । ऐसी आत्मज्ञान में जो सुनी जाती है, वह ) यह तो अपूर्वविधि ही है । क्योंकि यहाँ ज्ञान और उपासना का अभिन्न अर्थ होने से वह स्वतः प्राप्त नहीं है । "वह नहीं जानता है" इस अतिवाक्य से ( निषेध-प्रतियोगीरूप से ) विज्ञान का आरम्भ करके "वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपासना करनी चाहिए" ऐसा कहने से ज्ञान और

- १ आत्मेत्येवोपासीतस्यात्मज्ञाने य. अत्र स । २ निषेधप्रतियोगितयति व्यवम् । ३ तस्मात् । ४ विशिष्टस्येति—विधितोऽप्रीतिस्वाध्यायस्मादधिगतपदपदार्थसङ्घटयत्यर्थः । ५ यत्साक्षादित्यादिभुक्ते । ६ विज्ञानीयानन्तरितप्रत्यक्षरूपत्वात् । ७ उपासनमिन्नज्ञानकार्यान्तरेत्यर्थः ।

मुक्त तर्हि स्वमते क्रियापेक्षा तत्राऽह—अपेक्षेति । यदुंत्वादे सोपादानस्यापह्नवो येन तस्मिन्ज्ञाने शुद्धिदोषोपसी क्रियापेक्षत्यर्थः । कल्पान्तर निराह—न चेति ॥ उत्पन्ने ज्ञाने तेनाज्ञानदाहात्प्रवृत्त्ययोगाच्च विधिनं वाजुस्यने तस्मिन्विधिषयमानावाप्त च ज्ञानसहायत्वेन क्रियायां विधिरसहायत्वात्समभाववित्युक्तम् । इदानीं तिष्ठतु तावदित्यादि स्यादित्यन्तराय भाष्यस्य तात्पर्यं वदन् शाब्दे ज्ञाने ज्ञानान्तर वा विधिरिति विकल्प्याऽऽह प्रत्याह—'स्वाध्यायाधीतिविधिना व्योतिष्ठतोमादिबोधवत् । सदा प्राप्ताऽऽत्मविद्याऽपि मातो विधिरिहेत्यने ॥ देहेन्द्रियमनो बुद्धिर्नर्व्यापारभासिनः । निष्कृतश्चावदेयत्वाच्च सभाष्यो विधिस्ततः ॥ तत्राऽहप्राययात्साक्षादात्मयायात्म्यनिश्चिते । असमवायसंप्राप्ते दृढो विधिरिहेत्यने ॥ नन्विहाऽऽत्मापसदृशाह प्रत्ययमन्यता । पाक्षिणीति ततोप्राप्तोर्नव-नैदमिको विधिः ॥ पाक्षिकी तावदत्राऽऽत्मापसदृशाह प्रत्ययमन्यता । ज्ञानस्य प्राप्तिरित्या वेत्यस्त्वपूर्वो विधि 'रूकट' इति ॥७६६-७७०॥ सदा स्वविषयविधि विनेति यावत् । विधितोऽप्रीतिस्वाध्यायस्याधिगतपदपदार्थसङ्घटयत्यर्थः शाब्दादेव नैदमिकज्ञानस्य विधिमन्तरेण प्राप्तेन शाब्दे ज्ञाने विधिरित्यर्थः ॥ किं च सप्ताश्रितोऽसप्ताश्रितो वाऽऽत्मनो ज्ञान विषेयमासेऽपि स नित्यानुप्रेयः प्रत्ययो वेति विकल्प्याऽऽह प्रत्याह—देहेति । देहादिष्वेष्टा प्रत्ययपूर्विका रिगिष्टेष्वेष्टात्वाद्वादिष्वेष्टावदित्यनुमानाद्देहादिव्यापारलिङ्गेन तदनुपपत्तेश्च सप्ताश्रितमिन्विषयाच्च तज्ज्ञाने विधिरित्यर्थः । ततः तत्रेति यावत् ॥ द्वितीय दूषणम्—तर्थाति । प्रत्ययस्ते मनीत्येतत् । इहेति सप्ताश्रितमपीष्टह । अहं प्राप्यमानाऽऽत्मन सप्ताश्रितयो वाच्यत्वात्प्रमादृताप्रमुखस्य वदुंत्वादिरूपस्य तत्प्रत्ययस्त्वप्येति निश्चितत्वात्तज्ज्ञानस्याप्राप्यभावाच्च तच्च विधिरित्यर्थः ॥ असप्ताश्रितमपीविधेरेति परामुत्पापगति—नन्विनि । अहमिति सप्ताश्रितमार्थज्ञानस्य सदाप्राप्तत्वेऽप्यहं वदुंत्वात्प्रत्ययत्वेन प्रत्ययस्यतत्प्राप्त-पाप्मादिगुणस्यासप्ताश्रितोऽन्यस्य ब्रह्मणो यद्वय पाक्षिक द्युष्टादिदोषोद्भवकामानियमात्तद्विस्तरगतमवाप्त-स्मादुपासीतेत्यसप्ताश्रितमपीविषयो नियमविधिरित्यर्थः ॥ साहज्यज्ञान विषेयमित्येतदङ्गीकृत्यापूर्वविधिराहाह—पाक्षिणीति । ऐक्यस्यावगाहिनो ज्ञानस्य पाक्षिकी निराह वा प्राप्तिरित्येतत्तावदात्मप्राप्तत्वात्तज्ज्ञाने य' रूकटो विधिरसावपूर्वोऽस्त्विति सङ्गः ॥

वेदोपासनशब्दयोरेकार्थताऽवगम्यते । “अनेन ह्येतत्सर्वं वेद” “आत्मानमेवावेत्” इत्यादि-  
श्रुतिभ्यश्च विज्ञानमुपासनम् । तस्य चाप्राप्तत्वाद्विध्यहत्वम् ।

न च ‘स्वरूपा’ न्वास्थाने पुरुषप्रवृत्तिरूपपद्यते । तस्मात्पूर्वविधिरेवायम् । कर्म-  
विधिसामान्याच्च । यथा “यजेत जुहुयात्” इत्यादयः कर्मविधयो न तैरस्य “आत्मेत्येवो-  
पासीत” “आत्मा वा अरे द्रष्टव्य” इत्याद्यात्मोपासनविधौ विशेषोऽवगम्यते । मानसक्रिया-  
त्वाच्च विज्ञानस्य । यथा यस्य देवतायं हविर्गृहीत स्यात्ता मनसा ध्यायेद्वपदकरिण्यस्त्रि-  
त्याद्या मानसी क्रिया विधीयते, तथा “आत्मेत्येवोपासीत” “मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः”

वियस्येवन्न स वेदेत्यत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनेनेति । उक्तश्रुतिभ्यो यद्विज्ञानं श्रुत  
तदुपासनमेवेति योजना । ‘स योऽत एकैकमुपास्ते’ इत्युपक्रमात् “आत्मेत्येवोपासीत” इत्युपसंहाराच्च  
न स वेदेत्यत्र तावद्वेदशब्दस्योपासनार्थत्वमेष्टव्यमन्यथोपक्रमोऽपसंहारविरोधात् । तथा चार्थवशतः  
संभवादुपासनमेव सर्वत्र वेदेन तत्तच्च सर्वथैवाप्राप्तमिति तस्मिन्पूर्वविधिः स्यादिति भावः ।

इतश्च “तस्मिन्नेष्टव्यो विधिरित्याह—न चेति । अतः प्रवर्तको विधिरूपेय इति शेषः ।  
स चात्यन्ताप्राप्तवियस्यत्वास्त्रियमादिरूपो न भवतीत्याह—तस्मादिति । आत्मोपासतिविधेयेत्यत्र  
हेत्वन्तरमाह—कर्मविधीति । कर्मात्मज्ञानविधौ, शब्दानुसारेणाविशेषमभिवधाति—यथेत्यादिना ।  
सप्रत्यर्थतोऽप्यविशेषमाह—मानसेति । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । यदि क्रिया विधीयते कथं

उपासना की एकाग्रता जात होती है । “इससे इन सबको जान लेता है”, “आत्मा को जाना” इत्यादि  
श्रुतियो से भी विज्ञान उपासना ही का नाम है । वह (विज्ञान से अभिन्न) उपासना अप्राप्त होने के  
कारण विधि की ग्रहंता रखता है ।

इसके प्रतिरिक्त स्वरूपमात्र कथन में पुरुष-प्रवृत्ति असम्भव है । इसलिए यह अपूर्वविधि ही  
है । कार्यविधि से इसका साम्य होने के कारण यही बात सिद्ध होता है । जिस प्रकार ‘यजन करे,  
सुवन करे’ इत्यादि कर्मविधियाँ हैं—उन इन आत्मोपासन विधियो में कोई विशिष्टता नहीं जान पड़ती;  
जैसे “आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे”, “अरी मेत्रयी । नि सन्देह यह आत्मा ही दशन के योग्य  
है” प्रादि । तथा विज्ञान भी मानसी क्रिया है । अतः ‘जिस दशता के लिए हवि ग्रहण की जाय,  
उसका ‘वपद’ सहित उच्चारण करते हुए मन से ध्यान करे’ इत्यादि कर्मकाण्ड में जिस प्रकार मानसी

१ विज्ञानाभिधोपासनस्य । २ स्वरूपमात्रकथने । ३ स्वरूपान्वास्थान इति । वेदान्तानां सिद्धांस्वरूप-  
पाववोधित्वमाने शास्त्रत्वमेव न स्याद्यत — प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुत्रा यनोपदिश्येत  
तच्छास्त्रमभिधीयते ॥” इत्यभिप्रायेति । ४ उपपद्यत इति । सप्तद्वीपा यमुनती राजासी यच्छतीत्यादि-  
स्वरूपमात्रकथने बुद्धिपूर्वकारिणां न प्रवृत्तिरालक्ष्यत यताञ्च प्रवर्तको विधिरूपेय इति शेषः । ५ वपदकरि-  
ण्यस्त्रिति—ऋग्वेदकर्मकारो ऋतिवक् स हि वपदुच्चरति । ६ उपसंहारविरोधादिति । उपत्रमासिना  
मध्यस्थवेदशब्दस्याप्युपासनार्थत्वेन अन्यथा वाक्यभेदप्रसक्तं सति सत्येव च न वाक्य भेदो युक्तमिति भावः ।  
७ तथा चेति—वेदोपास्तोरेकार्थं सति । ८ पूर्वोक्तवाक्येषु । ९ तच्चेति—ज्ञानाभिधमुपासनं  
चेत्यर्थः । ऐक्यज्ञान सर्ववैवाप्राप्तं तदभिधमुपासनमपि तथा । यस्याद्यादित्यादिवाक्यानां तत्प्रमाद्यविषयत्वेनपि  
महावाक्यत्वाभावात् तन्त्रयसप्तवैवाप्येव ज्ञानं तस्य महावाक्यैक्यं यत्वात्पूर्वोक्तवाक्यैस्तदप्राप्तमित्याशयः ।

इत्याद्या क्रियैव विधीयते ज्ञानात्मिका । तथाऽवोचाम वेदोपासनशब्दयोरेकार्थत्वमिति ।

भावनांशत्रयोपपत्तेश्च । यथा हि यजेतेत्यस्यां भावनायाः किं केन कथमिति भाव्याद्याकाङ्क्षापनयकारणमंशत्रयमवगम्यते, तथोपासीतेत्यस्यामपि भावनायां विधीयमानायां किमुपासीत केनोपासीत कथमुपासीतेत्यस्यामाकाङ्क्षायामात्मनमुपासीत मनसा त्यागब्रह्मचर्यशमदमोपरमति तिसृषादीतिकर्तव्यतासंयुक्त इत्यादि शास्त्रेणाव समर्थ्यतेऽशत्रयम् ।

ज्ञानात्मिकेति विशेष्यते तत्राऽह—सथेति ।

इतश्चाऽऽमोपासने विधिरस्तीत्याह—भावनेति । वेदान्तेषु भावनापेक्षितांशत्रयोपपत्तिविशदयितुं दृष्टान्तमाह—यथेति । भावनायां विधीयमानत्वे सतीति शेषः । प्रेरणाधर्मकग्रन्थद्वयापारः स्वज्ञानकरणकः स्तुत्यादिनामैतिकर्तव्यताकः पुरुषप्रयत्नमाध्यनिष्ठः शब्दभावनोच्यते । स्वर्गयोगेन प्रयाजादिरूपकृत्यं साध्यवेति, पुरुषप्रवृत्तिरर्थभावनेति विभागः । दृष्टान्तस्यमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—सथेत्यादिना । त्यागो निष्ठिकाभ्यवर्जनम् । उपरमो नित्यनैमित्तिकत्यागः । तितिक्षा इत्यादिषु समाधानादिसंग्रहार्थमित्यंशत्रयमिति संबन्धः । शास्त्रं ज्ञान्तो दान्त इत्यादि । उक्तप्रकारमंशत्रयमन्यवपि सुलभमिति, यत्तुमादिषु ।

क्रिया का विधान किया जाता है, इसी प्रकार "भारमा है, इस प्रकार उपासना करे", "(इसे आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) ध्वज करना चाहिये, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिये ।" इत्यादि रूप से, ज्ञानात्मिका क्रिया का विधान किया जाता है । तथा 'ज्ञानता' और 'उपासना' शब्दों की समानार्थता है, ऐसा पहले ही कह चुके हैं ।

इसके अतिरिक्त वेदान्त में भी भावना के (फल, करण और इतिकर्तव्यतारूप) तीनों भ्रश सम्भव होने के कारण भी यह विधिवाक्य है । जिस प्रकार "यजन करे" इसमें 'किसलिए, किसके द्वारा और किस प्रकार (यजन करे)' इत्यादि साध्यादिसम्बन्धी आकाक्षाओं की निवृत्ति के कारणभूत भावना के तीन भ्रश प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार 'उपासना करे' इस प्रकार विधान करने वाली भावना में भी किसकी, उपासना करे ? किसके द्वारा उपासना करे ? और किस प्रकार उपासना करे ? ऐसी आकाक्षा होने पर 'भारमा की ही उपासना करे, मन से उपासना करे; त्याग, ब्रह्मचर्य, शम-दम, उपरति तथा तितिक्षारूप इतिकर्तव्यता से युक्त होकर उपासना करे' इत्यादि शास्त्र से ही तीनों प्रशों का सर्वव्यव होता है ।

१. भावनेति । वेदान्तेष्वपि भावनापेक्षितांशत्रयोपपत्तिव्यामोपासने विधिरस्तीत्यर्थः । २. भाव्यादीति—साध्यादीत्यर्थः । साध्यसाधननिमित्तकैर्व्यतेति यावत् । ३. आत्मनो मुक्तिरूपेण साध्यत्वमुपेत्य किमसत्त्वमाह—आत्मनैमित्तिक । ४. प्रेरणेत्यादि—प्रेरणधर्मको यो लिङादिगन्धस्तदीयो व्यापार प्रेरणास्यः । स्वेति—स्व लिङादि । स्तुतीति—पूर्णाहुत्या 'सर्वेन' कामानाप्नोतीत्याद्यर्थवादशानैतिकर्तव्यताकः । पुरपेति—पुरुषप्रवृत्तिरूपोऽर्थभावनास्यो यः पुरुषप्रयत्नस्तदमाध्यक स्वर्गमित्यादि । स्वर्गादिमाध्यका यागादिवर्गिका प्रयाजादीतिकर्तव्यतायाः पुरुषप्रवृत्तिरूपोऽर्थभावना सादृशार्थभावनाभाष्यका लिङादिज्ञानवर्गिका स्तुत्यादिवर्गिकेतिकर्तव्यतायाः लिङादिधर्मप्रेरणास्या सादृशभावनेतिव्येयम् । ५. प्रयाजादिरूपमुपकरणं सपाद्य । ६. नित्यं सध्वोपासनानिहोत्रादि । नैमित्तिकं यादादीति श्रेयम् ।

यथा च कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासादिप्रकरणस्य 'दर्शपूर्णमासादिविध्युद्देशत्वेनोपयोगः ।  
'एवमौ'पनिषदात्मोपासनप्रकरणस्याऽऽत्मोपासनविध्युद्देशत्वेनोपयोगः ।'नेति नेत्यस्यूल-  
मेकमेवाद्वितीयमशनायाद्यतीत' इत्येवमादिवाक्यानामुपास्यात्मस्वरूपविशेषसमर्पणो'प-  
योगः । फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा ।

अपरे वर्णयन्त्युपासनेनाऽऽत्मविषयं 'विशिष्टं' विज्ञानान्तरं भावयेत्तेनाऽऽत्मा ताप-  
सोऽविद्यानिवर्तकं च तदेवं किंनाऽऽत्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति । एतस्मिन्नर्थे

विधियुक्तानां वेदान्तानां कार्यपरत्वेऽपि तद्धीनानां तेषां 'वस्तुपरतेत्याशङ्क्याऽऽह—यथा चेति ।  
विध्युद्देशत्वेन तद्वेद्यत्वेनेति यावत् । अस्यूलविवाक्यानामारोपितद्वैतनिषेधेनाह्वयं वस्तु समर्पयतां  
कथमुपास्तिविधिशेषत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । 'अहं वेदं ब्रह्मय भवति' 'तस्मिन् शोकमात्मवित्'  
इत्यादीनां फलार्थकत्वेनोपास्ति'विध्युपयोगमभिप्रेत्याऽऽह—फलं चेति । मोक्षो ब्रह्मप्राप्तिः ।

आत्मोपासनं विधेममिति 'पक्षमुक्त्वा पक्षान्तरमाह—अपर इति । 'तस्यानुपयोगमाशङ्क्याऽऽह—  
तेनेति । शाब्दस्य 'ज्ञानस्यासत्सृष्ट्यपरोक्षात्मविषयत्वाभावमिति शब्देन हेतुं करोति । ज्ञानान्तरं वेदान्तेषु

जिस प्रकार 'दर्शपूर्णमासादि सम्पूर्ण प्रकरण का दर्शपूर्णमासादिविषयक प्रधानविधिव्याप-  
योपस्वरूप उद्देश्य रूप से ही उपयोग है । उसी प्रकार उपनिषदों के आत्मोपासनसम्बन्धी प्रकरण का  
भी आत्मोपासन विधि के उद्देश्य से विनियोग है । "यह नहीं, यह भी नहीं", "बहु अक्षर, अस्यूल है"  
"(सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदबन्धु) एकमात्र अद्वितीय सत् ही या", "भूलप्प्यासादि से अतीत वह  
मात्मा है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों का विनियोग उपास्य आत्मा के विशेष स्वरूप को अभिलक्षित करने में  
है । तथा उसका फल अविद्यानिवृत्ति या मोक्ष है ।

१. दर्शादिविषयक प्रधानविधिव्यापयोपत्तेन । २ एवमिति । दर्शादिविषयस्य समस्तस्यैव प्रकरणस्य  
दर्शादिविधिशेषतया विनियोगवदित्यर्थः । ३ औपनिषदेति—उपास्तिविषयेऽपि तस्यैव तत्प्रकरणस्यैव  
सर्वस्यैव वाक्यस्य उपास्तिविधिशेषत्वेनैव विनियोग इत्यर्थः । विधिहीनमपि सर्वं वेदान्तवाक्यमात्मोपास्तिविधि  
शेषत्वेन विनियुज्यते इति भावः । तत्र तत्त्वबोधक देवतास्थानीयोपास्याप्यवत्वेन स्वमपपर च यजमान-  
स्थानीयोपासकवर्णकतया । महाशयश्च स्तावत्तथेतिवर्त्युत्तरात्वेन उपास्तिविधिशेष इत्यभिप्रायः ।  
४ विधिशेषत्वेन सम्बन्धः । ५. शाब्दज्ञानविधिविषयोऽप्ये । ६ शाब्दज्ञानाद्विलक्षणम् । ७ विज्ञाना-  
न्तरमिति । अन्तरशब्देन तस्य शाब्दज्ञानदेवाय विवक्ष्यते । तथा च विषयज्ञातताप्रतिरिक्तं अन्तोदास्य फल  
नियोगाधीनं तदुपेतं अगनादिसहितमात्मविषय विज्ञान वेदान्तेषु विधेममित्यर्थः । नियोपाधीनमित्यस्य नियोज्य-  
ज्ञानाधीनमित्यर्थः । ८. सिद्धवस्तु । ९ विधिशेषत्वम् । १० पक्षमिति—मुक्तिवस्तुशाब्दमात्मज्ञान-  
मुपासनस्य वेदान्तेषु विधीयत इति पक्षम् । ११. विधेयज्ञानान्तरस्माद्विचित्ररूपत्वम् । १२ ननु शब्दस्य  
मानवाद्यप्यविषयमसत्सृष्ट्यपरोक्षबोधित्वेऽप्यस्यमात्मत्वप्राप्तिरित्याशङ्क्य समाहितं वातिवे— "शब्दस्वभाव  
एवैव सत्सृष्ट्यार्थावबोधनम् । ब्रह्मासत्सृष्ट्यस्वरूपत्वान्नो नावगम्यते" ॥८०१॥ इति । बहिरङ्गापिनुगापदन्तरङ्ग-  
स्वरूपानुसारणमुचितमिति भावः । बहिरङ्गाप्यौ सोत्रिकाप्यौ । सोत्रे हि सत्सृष्ट्येवार्थं शब्दो बोधयतीति—वेदेऽपि  
तथा । शब्दस्य सत्सृष्ट्यपरोक्षबोधित्वे पणितमाह—बहोऽपि । तेन शाब्दज्ञानेनेति यावत् ।

किंनाऽऽत्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति । अत्र भाष्ये पञ्चवाक्यानि सन्ति । तत्राह—"न हि वाक्या-  
मुपेतं ब्रह्मावाक्यार्थरूपम् । विज्ञानेन परिच्छेदं प्राप्तये कर्मवत्त्वमिति ॥ आनापदार्थसमूहस्य शब्दादप्यवाक्ये ।



वचनान्यपि—“विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत” “द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः”  
 “सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः” इत्यादीनि ।

न, अर्थान्तराभावात् । न च “आत्मेत्येवोपासीत” इत्यपूर्वविधिः । कस्मात् ।

विधेयमित्यत्र मानमाह—एतस्मिन्निति ।

पक्षद्वये प्राप्ते प्रथमपक्षं प्रत्याह—नार्थान्तराभावादिति । ‘तत्र नञर्थमेव स्वयं व्याचष्टे—  
 न चेति । शाब्दज्ञानवतो ‘विययाभावात् विधि संभवत्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ स्वयं ‘कलावस्थ-  
 त्वाच्चेत्यर्थः । हेतुभागं प्रदनपूर्वकं विवृणोति—कस्मादित्यादिना । आत्मोपदेशो नानात्मनिषेधद्वारा

अग्न्य शाब्दज्ञानविधिविवादी कहते हैं कि उपासना के द्वारा आत्मविषयक शाब्दज्ञान से  
 विलक्षण विजातीय विज्ञान की भावना करना चाहिए । उससे आत्मज्ञान होता है, वही अविद्या निवृत्ति  
 करने वाला है, आत्मविषयक वेदवाक्यजनित विज्ञान उसकी निवृत्ति करने वाला नहीं है । इस अर्थ का  
 प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य भी हैं—“ (बुद्धिमान् ब्रह्मण की) ब्रह्म की जानकर उसी में बुद्धि  
 लगानी चाहिए”, “भरी मैत्रेयी । नि सन्नेह यह आत्मा ही दर्शन करने के योग्य है (इसे आचार्य तथा  
 शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिये, (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन करना चाहिए फिर निदि-  
 ध्यासन करना चाहिए”, “उसका अन्वेष्टन करना चाहिए और उसे जानने की इच्छा करनी चाहिए”  
 इत्यादि ।

(अपूर्वविधिविवादी की शङ्का “शाब्दज्ञान अनुष्ठेय है” इस प्रथम पक्ष का समाधान करते हैं—)  
 ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इस वचन का अर्थान्तर नहीं हो सकता । “आत्मा है—उसकी ही

१ विज्ञायेति । एषु वाक्येषु आत्मोपासनं तत्साक्षात्कारमुद्दिश्य विधीयते । तथा च धीरो धीमान् विज्ञाय आत्म-  
 विज्ञानाय प्रज्ञामुपासनां कुर्वीति वाक्यार्थः । २ शाब्दं ज्ञानं विषयमीपासनात् वा ज्ञानान्तरमिति  
 पक्षद्वयम् । ३ प्रतिज्ञाहेतुभागाद्यर्थमेव । ४ अनुष्ठेयाभावात् । ५ कलावस्थत्वाच्चेति । मुमुक्षोरिष्ट  
 पुमर्थरूपं यत्कैवल्यं ब्रह्म तस्य तत्स्वरूपत्वात् । अज्ञानमात्रव्यवहितत्वात् जन्मदेव तन्निवृत्ते तस्य च  
 वाक्ययत्वेन विष्यमधीनरादनृष्टमाभावात् विष्यसिद्धवैदान्तपु तदुक्तिरयुक्तति भावः ।

विज्ञानं तेनावाक्यार्थरूपं नैव च गम्यते ॥ शब्दस्वभाव एवैव ससृष्टार्थविबोधनम् । ब्रह्मसमृष्टरूपावातेनातो  
 नावगम्यते ॥ वाक्यं चातीन्द्रियार्थेषु प्रमाथमिति निश्चितम् । तस्याप्यविषयत्वात्तद्विज्ञानान्तराकारम् ॥  
 न चेदवाक्योत्पत्तिविज्ञानपरिच्छेदः तद्विध्यते । नाऽऽप्तायाथो भवेत्तर्हि नैव वेदार्थ एव हीति” ॥८०३-८०७॥  
 वाक्योपासनेनैव ब्रह्मण सिद्धत्वात्किं वैधजान्तराग्रेणेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—  
 कर्षवदिति । कर्षवदृष्टेते नाने पुति वेत्तव्य ॥ वाक्योत्पत्तिज्ञानावब्रह्मणोपरिच्छेदे हेतुमाह—ज्ञानेति ॥  
 ननु शब्दस्य मानत्वाद्यथाविषयमममृष्टपरोक्षबोधित्वमेष्टव्यमन्यथाऽप्रामत्वात्तरेरिति । तत्राऽह—शब्दति ।  
 बेहिदृष्टार्थानुसारान्तराद्वैधर्म्यरूपानुसङ्गमुचिर्नमिति भावः । शब्दस्य ससृष्टपरोक्षबोधित्वे कलितमाह—ब्रह्मेति ।  
 तेन शब्देन ज्ञानेनेति यावत् ॥ ब्रह्म शब्दनामव्यभिचारीद्रवत्वादेवैवदित्याशङ्क्याऽऽह—वाक्यं चेति ।  
 यत्पृथगीन्द्रार्थेषु धर्माद्येषु वाक्यं भानं ब्रह्म चातीन्द्रियं तथापि तस्याससृष्टपरोक्षस्य वाक्यविषयत्वा-  
 ज्ञानान्तराग्रेचरता तेन चाविद्यानिवृत्तिर्न सारवज्ञानेनेत्यर्थः । तदित्यससृष्टपरोक्षं ब्रह्मोच्यते ॥ ब्रह्मणो  
 वेदागम्यते तदर्थस्वाभोगादीपनिषदत्वविशेषणमनवकाशमिति शङ्कते—न चेदिति । वेदविहितोपायजन्यज्ञान-  
 गम्यत्वाद्देवार्थतत्त्वोपनिषदत्वमविद्वद्वदिति—नैवमिति ॥

आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मान-  
सस्य बाह्यस्य वाऽभावात् । तत्र 'हि विधेः साफल्यं यत्र विधिवाक्यश्रवणमात्रजनितवि-  
ज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिर्गम्यते । यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्ये-  
वमादौ ।

न हि दर्शपूर्णमासविधिवाक्यजनितविज्ञानमेव दर्शपूर्णमासानुष्ठानम् । तच्चाधिका-  
राद्यपेक्षानुभावि । न तु "नेति नेति" इत्याद्यात्मप्रतिपादकवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेण  
दर्शपूर्णमासादिष्वपुरुषव्यापारः संभवति । सर्वव्यापारोपशमहेतुत्वात्तद्वाक्यजनितविज्ञा-  
नस्य । न ह्युदासीनविज्ञानं प्रवृत्तिजनकमब्रह्मानात्मविज्ञाननिवर्तकत्वाच्च "एकमेवा-

वाक्योत्थज्ञानातिरेकेणेति यावत् । कर्तव्यान्तराभावेऽपि वाक्यजन्यविज्ञानमेव विधेयं स्यादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—तत्र हीति ।

दृष्टान्तेऽपि वाक्योत्थज्ञानातिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिरसिद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तदनुष्ठानं  
तर्हि वाक्यार्थज्ञानाद्योनमिति व्यर्थं विधित्तत्राऽऽह—तच्चेति । अधिकारो विधिपुरुषसम्बन्धस्तत्कृत-  
ज्ञानापेक्षमनुष्ठानमित्यर्थवान्निधिरित्यर्थः । तर्हि प्रकृतेऽपि वाक्योत्थज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषव्यापार-  
संभवाद्विधित्वाक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अथ विमत प्रवर्तक वैदिकज्ञानस्याद्विधिवाक्यो-  
त्थज्ञानवदित्याशङ्क्य "प्रवर्तकविषयत्वमुपाधिरित्याह—न हीति । मिथ्याज्ञानानिवर्तकत्वमुपाध्यन्तर-

उपासना करनी चाहिए" इस बचन में प्रपूर्वविधि नहीं है । किस कारण से नहीं है ? क्योंकि आत्म-  
स्वरूपकथन और अनात्मप्रतिषेधबचन से होने वाले विज्ञान से भिन्न इसका मानसिक या बाह्य कर्तव्य-  
सम्बन्धी कोई अन्य ग्रन्थ नहीं हो सकता । विधि की सफलता वही हाती है, जहाँ विधिवाक्य के श्रवण  
(सिद्धार्थबोधकवाक्य के ध्यावर्तन) मात्र से होने वाले विज्ञान के अतिरिक्त पुरुष के अनुष्ठान की  
कोई दूसरी प्रवृत्ति जानी जाए । जैसे "स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमासादि यागों द्वारा यजन  
करे" इत्यादि वाक्यों में हुमा करती है ।

उक्त वाक्य में दर्शपूर्णमाससम्बन्धी विधिवाक्यों से जनित विज्ञान ही दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान  
नहीं है । उक्त अनुष्ठान तो अधिकारी आदि की अपेक्षा के समान पोछे होने वाला है । किन्तु "नेति  
नेति" इन आत्मप्रतिपादक वाक्यों से होने वाले विज्ञान के अतिरिक्त दर्शपूर्णमासादि के समान पुरुष-  
व्यापार संभव नहीं है । इन वाक्यों से होने वाला विज्ञान समस्त व्यापार की निवृत्ति कर देता है ।  
इसलिए उदासीनविज्ञान प्रवृत्ति का जनक नहीं हो सकता । इससे अतिरिक्त "वह अद्वितीय सत् एक

१ विधिवादिना सप्रतिपत्त्यर्थो हिप्रबद्ध । वाक्योत्थज्ञानातिरिक्तस्यैव यावादे विधेयत्व संरिष्यते न  
तस्यैवेति भावः । २ मिदार्थबोधिकावयम्यावर्तनम् । ३ अनुष्ठानम् । ४ उक्तानुष्ठानम् ।  
५ अपेक्षावदिति यावत् । ६ अब्रह्मणि ब्रह्मज्ञान एवमुत्तरम् । ७ विधिपुरुषसम्बन्ध—नियोज्य-  
नियोजकभावत्वेन । तत्कृतज्ञानं चायं विधिः सा प्रवर्तयतीत्याचार बोध्यम् । ८ तर्हीति—पूर्वकाण्डे  
निरुक्तीत्यादि विधिशास्त्रे सतीत्यर्थः । ९ प्रकृतेऽपीति—वेदान्तवाक्येष्वपि । विचारव्यापारमपीति यावत् ।  
१० वेदान्तवाक्योत्थ ज्ञानम् । ११ प्रवर्तकं साध्यं तद्वि त्वद्विधार्थं पुरुषप्रवृत्तौ प्रयोजकं भवति ।  
तथा च साध्यविषयवरमुपाधिरित्यर्थः । प्रवर्तकविषयत्वमिति । प्रवर्तकं यदाक्यं तद्विधिवत् तज्जन्यत्वमित्यर्थः  
इत्याह ।

द्वितीयम्'- "तत्त्वमसि", -इत्येवमादिवाक्यानाम् । न च तन्निवृत्तौ प्रवृत्तिरूपपद्यते ।  
विरोधात् ।

वाक्यजनितविज्ञानमात्रात्माब्रह्मानात्मविज्ञाननिवृत्तिरिति चेन्न नृत्तत्त्वमसि"  
"नेति नेति" "आत्मवेदम्" "एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्मवेदममृतम्" "नान्यदतोऽस्ति ब्रह्म"  
"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इत्यादिवाक्यानां सिद्धादित्वात् । - द्रष्टव्यविधेर्विषयसमर्पकाप्येता-  
नीति चेन्न । अर्थान्तरमावादित्युक्तोत्तरत्वात् । आत्मवस्तुस्वरूपसमर्पकरेव वाक्यस्तत्त्व-  
मसीत्यादिभिः श्रवणकाल एव तद्दर्शनस्य कृतत्वादद्भष्टव्यविधेर्नानुष्ठानान्तरं कर्तव्यमित्युक्तो-  
त्तरमेतत् ।

माह—अब्रह्मेति । वाक्योत्पत्त्यज्ञानस्य तन्निवृत्तकत्वेऽपि प्रवर्तकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽहं-न चेति ।  
द्वितीयोपाधे साधनव्याप्तिं शङ्कते—वाक्येति । ब्रह्मात्मैक्यधीपरवाक्योत्पत्त्यज्ञानस्याज्ञान-  
तत्कार्यव्यैतित्वध्रोव्याप्तं साधनव्याप्तिरित्याह—नेत्यादिना । सिद्धादित्वाद्वस्तुपरत्वाविति वाच्यम् ।  
उक्तानां वाक्यानां विषयवैतित्वाद्यसमर्पकत्वेन तच्छ्रेयस्त्वं शङ्कितमनुभाषते—द्रष्टव्येति । सिद्धान्तो-  
पक्रमेण समाहितमेतदित्याह—नेति । तदेव स्पष्टयति—आत्मेति ।

ही-या", 'वही ब्रह्म तू है' इत्यादि श्रुतिवचन अब्रह्म मे ब्रह्मज्ञान और अनात्म मे आत्मविज्ञान  
सम्पादन करने वाले है । अब्रह्म और अनात्मविषयकविज्ञान की निवृत्ति हान पर प्रवृत्ति असम्भव है,  
क्योंकि अनात्मविज्ञाननिवृत्ति और पुरुषप्रवृत्ति मे विरोध है ।

(फिर शङ्का होनी है—) वाक्यजनितविज्ञान के विधिव्यावर्तकमात्र से ही अब्रह्म एव  
अनात्मविज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । (शङ्का परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं,  
क्योंकि श्रुतिवाक्य अनात्मविज्ञाननिवृत्ति का ही प्रतिपादन करने हैं—“तू वह है”, “यह सब कार्य  
आत्मा नहीं है यह कारण भी आत्मा नहीं है”, “यह सब आत्मा ही है”, “वह अद्वितीय एक ही सत्  
है”, “वह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही (सबके आगे है)”, “(हे मार्ग) । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है”,  
“जिससे बाणी प्रकाशित होती है) उसी का तुम ब्रह्म जानो” इत्यादि । (शङ्का होती है—) (“आत्मा  
वाऽरे द्रष्टव्य”) ये श्रुतिवचन तो द्रष्टव्यविधिविषय को समर्पण करने वाले हैं । (शङ्का परिहार  
किया जाता है—) ऐसा कहना उचित नहीं । क्योंकि इनका अर्थान्तर नहीं हो सकता—ऐसा उत्तर हम  
पहले दे चुके हैं । आत्मवस्तु के स्वरूप क समर्पक ‘तत्त्वमसि’ आदि महावाक्यों से ही उनके श्रवणकाल  
मे ही विधि के बिना आत्मसाक्षात्कार के सम्पन्न हो जाने के कारण द्रष्टव्यविधि से अनुष्ठानान्तर  
का कर्तव्य नहीं है—इस प्रकार उत्तर पहले ही दे चुक हैं ।

१. ज्ञानद्वारा वाक्यानां ज्ञानानामिति यावत् । २. विरोधादिति—प्रवृत्तिमिष्याज्ञाननिवृत्त्योपयोगि विरोधात् ।  
प्रवृत्तिमिष्याज्ञाननिवृत्तकवाक्योत्पत्त्यज्ञानयोर्वा विरोधात् सद्गानवस्थानादित्यर्थ । नहि मिष्याज्ञानमृते प्रवृत्ति ।  
न च तत्सम्पन्नत्वेन सद्गानवस्थानुपहित तन्निवृत्त्यत्वादिति भाव । ३. विधिव्यावर्तको मात्र ।  
४. निवृत्तिरिति । अतो विधिना ज्ञानमिति शेष । विधेयमेव ज्ञान तन्निवृत्तकमित्याशयः । ५. आत्मा  
वाऽरे द्रष्टव्य इति । ६. आत्मसाक्षात्कारस्य सम्पन्नत्वात् विधिं विनैव । ७. द्वितीयोपाधे साधनाव्या-  
पकत्वेऽपि प्रथमोपाधे साधनव्यापकत्वं किं न स्यादित्यर्थ । ८. नापि विषयवैतित्वात् भावः । ९. विषय-  
ज्ञानावहितविधयोपस्थापकत्वं । १०. उत्तरमाधानमेव ।

आत्मस्वरूपान्वाख्यानमात्रेणाऽऽत्मविज्ञाने विधिमन्तरेण न प्रवर्तत इति चेन्न ।  
आत्मवादिवाक्यश्रवणेनाऽऽत्मविज्ञानस्य जनितत्वात्किं भोः कृतस्य करणम् । तच्छ्र-  
वणेऽपि न प्रवर्तते इति चेन्न । अनवस्थाप्रसङ्गात् । यथाऽऽत्मवादिवाक्यार्थश्रवणे  
विधिमन्तरेण न प्रवर्तते तथा विधिवाक्यार्थश्रवणेऽपि विधिमन्तरेण न प्रवर्तिष्यत इति  
विध्यन्तरापेक्षा । तथा तदर्थश्रवणेऽपीत्यनवस्था प्रसज्येत ।

वाक्यजनितान्तात्मज्ञानस्मृतिसततेः श्रवणविज्ञानमात्रादर्थान्तरत्वमिति चेन्नार्थप्राप्त-

परोक्तमुद्भावयति—आत्मस्वरूपेति । कुत्र तर्हि विधिरात्मज्ञाने वा वाक्यश्रवणे वा तदर्थ-  
ज्ञानस्मृतिसंताने वा चित्तवृत्तिनिरोधे वा नाऽऽद्य इत्याह—नाऽऽत्मवादीति । द्वितीयं शङ्कते—  
तच्छ्रवणंऽपीति । 'अनिष्टार्थवादिवाक्यस्यासत्यादिलक्षणस्य विधिं विना श्रवणात्तदभावेऽपि तस्या इति  
श्रवणमविरुद्धमित्यभिप्रायः' दोषान्तरमाह—नेत्यादिना । तदभावादिश्रवणप्रयोजको "विधिरात्मनोऽपि  
प्रयुङ्क्ते श्रवणमिति चेन्नैवं स स्वल्पव्ययनविधिरन्यो वाऽऽद्ये "तदपेक्षया धृतस्य तत्त्वमस्यादे-  
"स्वार्थबोधित्वं कर्मवाक्यवदिति स्वार्थनिष्ठुस्वाविशेषो द्वितीये तस्या "प्रमाणत्वात्तदीयस्वपरनिर्वाहकत्व-  
बूरोत्तारितमित्यभिप्रेत्यानवस्था विवृणोति—यथेत्यादिना ।

सृतीयमाशङ्कते—वाक्यजनितेति । ततः सा विधेयेति शेषः । तस्या विधेयत्व वृणयति—नेति ।

(पुनः शङ्का होती है—) किन्तु विधि के बिना तो आत्मस्वरूप के अनुवादमात्र ॥ ही आत्म-  
विज्ञान में पुण्य को प्रवृत्ति नहीं होनी (इसलिए प्रवक्त के लिए विधि करनी चाहिए) । (सिद्धान्ती  
इसका खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं । आत्मविज्ञान तो आत्मप्रतिपादक श्रुतवाक्यों के  
श्रवणमात्र से ही हो जाता है । फिर किए हुए को करने में कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा ? पुण्य उसे  
श्रवण करने में भी प्रवृत्त नहीं होता—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि इससे अनवस्था दोष का  
प्रसङ्ग आ जायगा । जिस प्रकार विधि के बिना आत्मवादी वाक्यरूपायं श्रवण में प्रवृत्त नहीं होता,  
उसी प्रकार विधि के बिना विधिवाक्यरूपायं के श्रवण में भी प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिए एक दूसरी  
विधि की अपेक्षा होगी । उस विध्यन्तर के अर्थ श्रवण में फिर अन्य विधि के बिना प्रवृत्ति नहीं होगी—  
इस तरह अनवस्था का प्रसङ्ग आ जाएगा ।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) फिर भी वाक्यश्रवणविज्ञान मात्र से वाक्यजनित—आत्मज्ञान  
की स्मृति का प्रवाह तो इसका अर्थान्तर है (अतः उसका विधान करना चाहिए) । (इसका खण्डन

१ प्रवर्तते इति—पुमान्त प्रवक्तका विधिलेखे इति शेषः । २ किं प्रयोजनम् अविहितकरमित्यर्थः ।  
३ कृतस्य करणमिति । निरस्तसमस्तप्रतिबन्धस्वानुष्ठितसाधनस्वाधिकारिणो ज्ञानजन्मेव विधिकल तच्चेद्वाक्य-  
श्रवणात् सिद्ध विध्यनवयक स्पष्टमिति भावः । ४ तच्छ्रवण इत्यादि । यागादावनुष्ठानाय विध्यतिषेणा-  
प्रवृत्तिवत् वाक्यश्रवणायापि ॥ विना न प्रवर्तताता यागादाविव वाक्यश्रवणे विधिरित्ययम् । ५ पुमान् ।  
६ वाक्यरूपाय । ७ श्रवणत्वादि—वाक्यश्रवणमात्रात् । तदुत्पत्तिज्ञानमात्रान्न स्मृतिसततेरप्यन्तरत्वाद्भुक्त-  
दोषाभावे न तस्या स्फुट विषयतत्त्वम् । ८ विधेयत्वम् । ९ नष्टास्तीरे पञ्चकलानि सन्तीत्यादि-  
मिष्टावाक्यस्य । १० सवस्यापि वाक्यस्य विधे श्रवणमिति पक्ष इति शेषः । ११ स्वश्रवण स्वयमेव  
विधिरित्यर्थः । १२ तत्प्रयुक्त्या । १३ स्वार्थतात्पर्यवत्त्वम् । १४ अप्रमाणत्वादिति—अध्ययनविध्य-  
तिरिक्तस्य श्रवणविधेरभावात् द्रष्टव्य इत्यादीनामर्हार्थत्वादिति भावः ।

त्वात् । यदैवाऽऽत्मप्रतिपादकवाक्यश्रवणादात्मविषयं विज्ञानमुत्पद्यते तदैव तदुत्पद्यमानं तद्विषयं मिथ्याज्ञानं निवर्तयदेवोत्पद्यते । आत्मविषयमिथ्याज्ञाननिवृत्तौ च तत्प्रमदाः स्मृतयो न भवन्ति 'स्वाभाविवर्त्योऽनात्मवस्तुभेदविपर्यायाः' । अनर्थत्वावगतेश्च । आत्मावगतौ हि सत्यामन्यद्वैत्यनर्थत्वेन विगम्यते । अनित्यदुःखाशुद्धादिवहुदोषवत्त्वादात्मवस्तुनश्च तद्विलक्षणत्वात् ।

तस्मादनात्मविज्ञानस्मृतीनामात्मावगतेरभावप्राप्तिः । पारिशेष्यादात्मकत्वविज्ञान-स्मृतिसंततोरयंत एव भावान्न विधेयत्वम् । शोकमोहभयाशनायापिपासादिदुःखदोषनिवर्त-कत्वाच्च तत्स्मृतेः । विपरीतज्ञानप्रभवो हि शोकमोहाविदोषः । तथा च "तत्र को मोहः

अर्थप्राप्तिं विवृणोति—यदैवेति । अनात्मस्मृतिहेत्वज्ञाननिवृत्तौ सत्कार्यस्मृत्यनुपपत्तेः 'स्वभावबल-प्राप्तेर्वाऽऽत्मस्मृतिरित्युक्तमिदानीमनात्मस्मृतेर'नर्थत्वस्यान्यव्यतिरेकसिद्धत्वाच्चाऽऽत्मस्मृतिः स्वभाव-प्राप्तेरित्याह—अनर्थत्वेति । अनात्मनोऽनर्थत्वं मिथ्याच्च तदीयस्मृत्यनुपपत्तावितरस्मृतिर'र्थप्राप्तेरित्याह—आत्मावगताविति । आत्मनश्च 'परमेष्ठ्यायगमावयंप्राप्ता' तदीयस्मृतिरित्याह—आत्मवस्तुनश्चेति ।

अर्थप्राप्त्या विधेयत्वाभावाद्युपसंहरति—तस्मादिति । अनात्मस्मृतिहेत्वज्ञानाभावादिति तच्छब्दायः । अर्थतद्विधेयकत्वात्स्वभावयलादिति यावत् । दृष्टफलत्वाच्चाऽऽत्मस्मृतिर्न विधेयस्याह—शोकेति । मिथ्याज्ञानमेव, सा नियतंयति न शोकादीत्याशङ्क्याऽह—विपरीतेति । आत्मस्मृतेः शोकादिनिवर्तकत्वे मानमाह—तथा चेति ।

'किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उसकी प्राप्ति तो अर्थत है ही । जब भी आत्म-प्रतिपादक वाक्य के श्रवण से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय ही वह उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मविषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करत हुए उत्पन्न होता है । तथा आत्मविषयक मिथ्याज्ञान को निवृत्ति होने पर तत्तत्जनित आत्मज्ञानपक्ष अनात्मवस्तुभेदविषयक स्मृतियाँ भी नहीं होती । इसके अनतिरिक्त अनात्मवस्तुभेदविषयक स्मृतियाँ अनर्थफलक है । ऐसा वाद होने पर उनकी निवृत्ति नहीं होती । आत्मज्ञान हो जाने पर (अनात्मवस्तुओं में अनर्थत्वनिश्चय से) अन्य वस्तुओं में अनर्थत्वबुद्धि होने लगती है । क्योंकि अनात्म वस्तुएँ अनित्य, दुःख और प्रमुदतादिरूप बहुत दोषों से युक्त हैं । आत्मवस्तु तो (निरतिशय-आनन्दस्वरूप, विधि प्रयत्न के बिना सिद्ध) इससे विलक्षण है ।

इसलिए आत्मवोध हो जाने पर अनात्मविज्ञानजनित स्मृतियों का अभाव हो जाता है । अन्त में आत्मवत्त्वविज्ञानमव्यवधी स्मृति की भ्रमन्तति अर्थन ही प्राप्त होने से विधि वा विषय नहीं है ; क्योंकि आत्मस्मृति तो शोक मोह भय भूत-प्यासादि दुःख और दोषों की निवृत्ति करने वाली है । शोकमोहादि दोष तो विपरीतज्ञान में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार 'उस आत्मा में एकत्व देने वाले को

१. शास्त्रानुपपत्ता । २. निदेशात्सात्म्यरूपसाध्याप्राप्तेः । ३. अनर्थफलत्वस्य । ४. पारिशेष्यप्राप्तेत्यर्थः ।

५. निरतिशयानन्दरूपत्वावगमादित्यर्थः । ६. निविप्रयत्नमन्तरेण सिद्धा ।

कः शीको विद्वाभ्र विभेति कुतश्चन" "अमयं वै जनकं प्राप्तोऽसि" "मिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुतयः ।

निरोधस्तद्वा यन्तिरमिति चेत् । अथापि स्याच्चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्य-  
जनितात्मविज्ञानादयन्तिरस्त्वात् । तन्त्रान्तरेषु च कृतव्यतयाऽवगुतत्वाद्भिन्नेत्येवमिति चेत् ।  
"भोक्षसाधनत्वेनानवगमात्" । न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधन-  
त्वेनावगम्यते । "आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "ब्रह्मविद्याप्रोति परम्" "स यो ह  
वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "तस्य तावदेव चिरम्"  
"अमयं हि वै ब्रह्म भवति । य एवं वेद" इत्येवमादिश्रुतिशस्त्रेभ्यः ।

चतुर्थमुत्पापयति—निरोधस्तर्हीति । यदि वाषयोत्यज्ञानादेरविधेयत्वं तर्हि चित्तवृत्तिनिरोधो  
मुक्तिसाधनत्वेन विधीयतां तस्योक्तज्ञानादेरयन्तिरस्वादित्यर्थः । चोद्यमेव विवृणोति—प्रयापीति ।  
अयन्तिरस्वात्तस्य विधेयतेति शेषः । 'तस्य मुक्तिहेतुत्वेन विधेयत्वे योगशास्त्रं संवादयति—  
तन्त्रान्तरेष्विति । 'अथ योगानुशासनमिति' निःश्रेयसहेतुः समाधिः सूत्रितस्तस्य च लक्षणमुच्यते  
योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । तस्मिन्निरोधावस्थायां चाऽऽत्मनः स्वरूपप्रतिष्ठत्वं कैवल्यमाख्यातं तदा-  
ब्रह्मः स्वरूपेऽवस्थानमित्येवं योगशास्त्रे मुक्तिहेतुत्वेनेष्टो निरोधविधिरित्यर्थः । योगशास्त्रादपि  
बलवती श्रुतिमाश्रित्योत्तरमाह—नेत्यादिना ।

शोक मोह नहीं हो सकता", "उस ब्रह्म के आनन्द को न जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं  
होता ।" " (याज्ञवल्क्य ने कहा—) हे जनक ! तुम निःसन्देह अमय पद को प्राप्त कर चुके हो", " (जो  
कारणरूप से पर और कार्यरूप से अपर है, उस परापर ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार ही जाने पर इस  
जीव की) 'आत्मानात्माध्यासरूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है' इत्यादि श्रुतिवाँ इसमें प्रमाण हैं ।

(पुनः चौथी शङ्का होती है—) निरोध भी तो मोक्ष का साधन है अर्थात् वेदवाक्यजनि-  
त आत्मविज्ञान से अयन्तिर होने एवं शास्त्रान्तर मे (मोक्ष के लिए) कर्तव्यरूप से अवगत होने के कारण  
चित्तवृत्तिनिरोधकी विधिपरकता तो है ही । (शङ्का का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक  
नहीं । क्योंकि निरोध को मोक्ष के साधन के रूप में नहीं जाना जाता है । वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्मात्म-  
विज्ञान के अतिरिक्त परम पुरुषार्थ की उपलब्धि के लिए साधनरूप से अन्य किसी को स्योक्त नहीं दी  
गई है । "उसने अपने को ही जाना (मैं ब्रह्म हूँ)", "इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया", "ब्रह्मज्ञानी  
परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है", "लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान भेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता  
है", "यैसे ही इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत्य को जानता है", "उस सत्त्वन्तः के लिए निन्दे-  
कैवल्य प्राप्त करने में उतनी देर है, जब तक कि वह (प्रारब्धकर्म को भोग कर वतनान देहग्रन्थन से)

१. आहूयति शेषः । २. निरोधस्य । ३. आदिना "तमेव विदित्वेनादिबद्धः" । ज्ञानमेव बलवत् कैवल्यसाधन  
न निरोध. श्रुतिविरोधेन योगशास्त्रस्यावयकायत्वादिति भावः । ४. मनोनिरोधस्य । ५. आरभ्यते ।  
६. सूत्रेण । ७. अभिनवः ।

'अनन्यसाधनत्वाच्च निरोधस्य न ह्यात्मविज्ञानतत्स्मृतिसंतानव्यतिरेकेण चित्त-  
वृत्तिनिरोधस्य 'साधनमस्ति । अम्युपगम्येदमुक्तं 'न तु ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेणान्यन्मोक्ष-  
साधनमवगम्यते ।

आकाङ्क्षाभावाच्च भावनाभावः । यदुक्तं यजेतेत्यादौ किं केन कथमिति  
'भावनाकाङ्क्षायां फलसाधनेतिकतंव्यतामिराकाङ्क्षापनयनं यया' तद्वदिहाप्यात्मविज्ञान-  
विधाद्युपपद्यत इति । तदसत् । एकमेवाद्वितीयं तत्त्वमसि नेति नेत्यनन्तरमबाह्य-

चित्तवृत्तिनिरोधस्य मुक्तिहेतुत्वेऽपि न विधेयत्वं विधिं विना 'तस्मिद्धेरित्याह—अनन्यति ।  
न तावद्यथा'कथञ्चिन्निरोधो विधेयः सर्वस्यापि तत्सम्भावद्विधिवर्गव्याप्तापि 'सर्वात्मना तन्निरोधो  
विधेयो ज्ञानादेव तस्मिद्धेर्विध्यानवर्गव्याप्तिर्यथ' । नान्यं पन्था विद्यते ज्ञानादेव तु कथं न्यमित्यादि-  
शास्त्रमनुसरन्नुपेत्यबाध स्पष्टति—अम्युपगम्येति । निरोधस्य मुक्तिहेतुत्वमिदमा परामृष्टम् ।  
'योगशास्त्रमपि श्रुतिस्मृतिचिरोपे 'न प्रमाणम् । 'एतेन योग प्रत्युक्त' इति न्यायादिति भावः ।  
वेदान्तेषु विधेयाभावोक्त्या विधानिरस्त सप्रत्यक्षप्रययती भावना तेष्वस्तीत्युक्तं द्वययति—  
आकाङ्क्षेति । "तदेव स्फुटयितुमुक्तमनुवदति—यदुक्तमिति । आगमावपृष्टेन निराचष्टे—तदसदिति ।

मुक्त नहीं हो जाता', "जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो  
जाता है, इनमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं" इत्यादि सैंकड़ों धुनियाँ इस (ब्रह्मात्मविज्ञानमात्र साधन)  
मे प्रमाण हैं ।

चित्तवृत्तिनिरोध मे भी ज्ञान ही साधन होने के कारण आत्मविज्ञान एव उसकी स्मृति की  
समति के प्रतिरिक्त चित्तवृत्तिनिरोध का विधि आदि रूप दूसरा साधन नहीं है । यह केवल अम्युपगम-  
बाध ही है, सिद्धान्त नहीं है क्योंकि वस्तुतः (श्रुतियों और स्मृतियों मे) ब्रह्मविज्ञान के प्रतिरिक्त  
मोक्ष का कोई अन्य साधन नहीं जाना जाता ।

(अब अश प्रयवती भावना का खण्डन करते हैं—) आत्मविज्ञान मे किसी प्रकार की आकांक्षा न  
होने के कारण उमम भावना का भी अभाव है । जो तुमने कहा कि 'यजन करे' इत्यादि विधि मे 'किसका  
किसके द्वारा और किस प्रकार (यजन करे) ऐसी भावना की आकांक्षा होने पर जिस प्रकार फल,  
साधन और इतिवर्तव्यता द्वारा आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ आत्मविज्ञान-  
सम्बन्धी विधियों मे भी उसकी सम्भावना की जाती है—ऐसा तुम्हारा मत उचित नहीं ठहरता, क्योंकि  
"हे सोम्य !" नामरूपात्मक जगत् (सृजतीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय  
सत् ही था", 'हे श्वेतकेतु !' वही तू है, "ब्रह्म (सर्वोपाधिविशेष निरास द्वारा) नेति नेति है",  
'वह यह ब्रह्म जातिव्यतिहीन और अबाह्य है', "(सबका अनुभव करनेवाला) यह आत्मा ही ब्रह्म

- १ ज्ञानादप्युपगमनं नास्ति यस्य । २ विध्यादिरूपम् । ३ कस्मादम्युपगमबाधोऽयं सिद्धान्तं कुतो  
न स्यादित्यत आह—न त्विति । श्रुती स्मृती नेति शेषः । ४ भावनाया भाव्याद्याकाङ्क्षाया सत्याम् ।  
५ भवति । ६ जातिव्यतिहीनम् । ७ ज्ञानादेव चित्तवृत्तिनिरोधस्य सिद्धत्वादित्ययम् । ८ कादाचित्कम् ।  
९ सार्वदिकम् । १० ननु निरोधस्य मुक्तिहेतुत्वं तदा द्रष्टुं स्वल्पेऽवस्थानमित्यादौ योगशास्त्रे प्रसिद्धमित्यत  
आह—योगेति । ११ सति । १२ एतेनेति । कपिलमतनिरासनं पातञ्जलमतं निरस्तं वेदितव्यम् ।  
१३ ब्र सू २-१-३ । १४ सङ्ग्रहवाक्यमेव ।

मयमात्मा ब्रह्मेत्यादिवाक्यार्थविज्ञानसमकालमेव 'सर्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः । न च वाक्यार्थविज्ञाने विधिप्रयुक्तः प्रवर्तते । विध्यन्तरप्रयुक्तो चानवस्थादोषमवोचाम । न चैकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादिवाक्येषु विधिरवगम्यते । आत्मस्वरूपान्वाह्यानेनैवावसितत्वात् ।

'वस्तुस्वरूपान्वाह्यानमात्रत्वादप्रामाण्य'मिति चेत् । अथापि स्याद्यथा सोऽरोदी-  
च्छदरोवीतद्ब्रह्मस्य रुद्रत्वमित्येवमादौ वस्तुस्वरूपान्वाह्यानमात्रत्वादप्रामाण्यमेवमात्मार्थ-  
वाक्यानामपीति चेन्न । विशेषात् । न वाक्यस्य वस्त्वन्वाह्यानं क्रियान्वाह्यानं वा

विधिनन्तरेण वाक्यार्थज्ञाने प्रवृत्त्ययोगाद्विधमेव ज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।  
यथा कर्मकाण्डे स्वाध्यायविधेरथविधोषधेस्तत्त्वेन ज्योतिष्टोमाविधिष्यञ्ज्ञाने विध्यन्तरं नापेक्षते  
तथा ज्ञानकाण्डेऽपि स्यादित्यर्थः । तत्रापि वेदः 'कृत्स्नोऽधिगन्तव्य इति विध्यन्तरप्रयुक्तमेव  
वाक्यार्थज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—विध्यन्तरेति । 'श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गाच्च न विधिशेषत्वं  
वेदान्तानामित्याह—न चेति ।

'वेदान्ताः स्वार्थे न मानं सिद्धार्थवाक्यत्वात्सोऽरोदोदित्यादिवदित्यनुमानात्तेषां विधिशेषत्वं  
प्रामाण्यार्थमपेक्ष्यमिति शङ्कते—वस्तुस्वरूपेति । तदेवानुमानं प्रपञ्चयति—अथापीति । विधेरश्रुत-  
त्वेऽपीति यावत् । कल्पवृद्धिचतुर्ज्ञानजनकत्वमुपाधिरिति मन्वानः समापत्ते—न विशेषादिति ।

है ।"—इत्यादि श्रुतिवचनो के अर्थ का ज्ञान होने के माथ ही (कि, केन, कथरूपा) सब प्रकार की  
आकाक्षाएँ निवृत्त हो जाती हैं। और एक बात यह भी है कि अधिकारी वाक्यार्थज्ञान में विधि से  
प्रेरित होकर प्रवृत्त नहीं होता। विध्यन्तर का प्रयोग मानने से अनवस्था दोष होता है—यह पहले ही  
कह आए है। इसके अतिरिक्त "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में विधि का अर्थन नहीं  
होता, क्योंकि उनकी सफलता तो आत्मस्वरूप मात्र के अनुवाद में ही है।

(पुन शङ्का होती है—) चित् एकरस आत्मस्वरूप के अनुवाद मात्र होने से वेदान्तवाक्यों की  
अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। जैसे "वह रोया, जो रोया, वह रुद्र का रुद्रत्व है" इत्यादि वाक्यों में  
वस्तुस्वरूप का अनुवादमात्र होने से वह अप्रामाण्य है, वैसे ही आत्मविषयक वाक्य भी अप्रामाण्य हैं—  
ऐसा कहने में क्या हानि है? (इसका परिहार किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि  
आत्मविषयक वाक्यों की विशेषता है। वस्तु का अनुवाद अथवा त्रिया का अनुवाद ही वाक्य के

१. सर्वेत्यादि—कि केन वचनमित्याकाङ्क्षासु निरपेक्षहत्युक्तान तस्य वाक्योत्पत्त्युक्तानेन हानाप्रामाण्यवती  
भावना वेदान्तेषु समाप्यते अज्ञाने सत्येवाकाङ्क्षाद्वारातादृश्या भावनाया सप्रवाद्यतो न तेषु विधिरिति भाव ।  
तदुक्त वातिते—"सर्वाकाङ्क्षेकहेतोश्च प्रत्यग्विज्ञानहानत । न भावनेह सभाष्या मोहे सत्येव सा यत"  
इति ॥८५३॥ २ अधिकारी । ३ श्रूयते । ४. सफलत्वात् । ५. वस्तुवति चिदेकरसआत्मस्वरूपा-  
नुवादमात्रत्वादित्यर्थः । प्रवर्तननिवर्तकधीजननत्वाभावो मात्रसाम्यार्थः । ६. वेदान्तानाम् । ७ सायं ।  
८. श्रुतस्याविधिशेषत्वस्वाप्तन्यस्य हानिरश्रुतविषे वत्पत्त्या । ९ वेदान्ता इति । वेदान्तेषु विधिरिति—  
नारमस्वरूपमात्रवासाधित्वमुक्तमेतावता सप्रतीत्यादि ।



३८५  
प्रामाण्याप्रामाण्यकारणं किं तर्हि 'निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम्' ।- तद्यत्रास्ति-  
तत्प्रमाणं वाक्यं यत्र नास्ति तदप्रमाणम् ।

किंच भोः-पृच्छासस्त्वामात्मस्वरूपान्वाख्यानपरेषु वाक्येषु फलवन्निश्चितं च  
विज्ञानमुत्पद्यते न वा । उत्पद्यते चेत्कथमप्रामाण्यमिति । किंवा न पश्यस्य 'विद्याशो-  
कमोहमयादिसंसारबीजदोषनिवृत्तिं विज्ञानफलम्' । न शृणोषि, वा किं तत्र को मोहः  
कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । "मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मचित्सोऽहं, भगवः शोचामि तं  
मा भगवाञ्छोकस्य पार तारयतु" इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यज्ञानानि । एवं विद्यते किं-

नत्रयं स्पष्टयन्-न वाक्यस्येति । विशेषे व्याचष्टे-किं तर्हीति । तस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वमन्वय-  
व्यतिरेकान्मां दर्शयति-तद्यत्रेति ।

सामान्यन्यायं प्रकृते योजयन्पृच्छति-किं चेति । किं तेषु सादृज्ज्ञानमुत्पद्यते न वेति प्रश्नार्थः ।  
द्वितीयेऽनुभवविरोधः स्यादिति मर्यादा पक्षान्तरमनूय प्रत्याह-उत्पद्यते चेदिति । प्रामाण्ये हेतुसङ्गा-  
धात्माप्रामाण्यमित्यर्थः । निश्चितज्ञानजनकत्वेऽपि फलवत्त्वविशेषरूपमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह-किंचेति ।  
विद्वदनुभवफलभृतिसिद्ध विशेषणमिति भावः । 'दृष्टान्त विघटयितुं प्रदान्तरं प्रस्तौति'-एवमिति ।

प्रामाण्यं वा अप्रामाण्यं मे कारणं नही है । तो फिर क्या कारण है ? निश्चित फल वाले विज्ञान को  
उत्पन्न करना कारण है । यह जिसमें है, वह वाक्य प्रामाणिक है, जिसमें नहीं है, वह वाक्य  
अप्रामाणिक है ।

अच्छाजी तो हम तुमसे पछते हैं-आत्मस्वरूप के अनुवादपरक वाक्यों (के श्रवण) से  
फलयुक्त और निश्चित विज्ञान उत्पन्न होता है अथवा नहीं । यदि उत्पन्न होता है तो अप्रामाण्य कैसे  
हो सकता है ? अथवा क्या तुम अविद्या, मोह, मोह और भयादि मूलाज्ञान की निवृत्ति होना विज्ञान  
का ही फल है-ऐसा नहीं देखते हो ? और क्या तुमने श्रुतिवाक्य भी श्रवण नहीं किए हैं-"उस  
समय या उम आत्मा में एकत्व देखने वाले का क्या शोक और मोह हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो  
सकता (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं)", "ह भगवन् ! मैं केवल दार्ढ्यमात्र ही  
जानता हूँ, आत्मा को मैं नहीं जानता, (मैंने आप जैसे महापुरुषों से सुना है, आत्मज्ञानी शोक को  
पार कर जाता है) और हे भगवन् ! मैं तो शाक करता हूँ, एस मुझ शाकप्रस्त को शोक से पार कर  
देवें अर्थात् मुझे अभय प्राप्ति करा देवें"-इस प्रकार संकटों उपनिषद् वाक्य है । (पुनः पूर्वपक्षी से

१ निश्चितेति विम् ? 'योगो वा शीतगाम्निस्त्वादी' मा भूत् । तस्य सफलत्वऽप्युपासकस्त्वेवानिदमवात्मकत्वात् ।  
फलवदिति विम् ? 'सोऽरोदीदित्यत्र' मा भूत् । विज्ञानेति विम् ? हृषडादिसिद्धानां मन्त्राङ्गतया फलवत्त्वेन  
तत्र मा भूदिति ॥ अत्र "सोऽरोदीदित्यस्य बहिषि रजतं न दयमिति" वाक्यस्येयताऽवगन्तव्या । स-  
देवनिच्छोर्दोषि । २ अविद्याऽत्र कर्माविद्या अनित्यादिषु नित्यादिवुद्धिरूपा ग्राह्या । ३ बीजभूता दापो  
मूलाज्ञानम् । ४ विद्वदनुभवविरोधः पश्यतिविरोधश्च । ५ "सोऽरोदीदिति" दृष्टान्त निरसयितुमित्यर्थः ।  
उक्तानुमानाङ्गत्वं तस्य निरसयितुमिति यावत् ।

सोऽरोदीदित्यादिषु निश्चित फलवच्च विज्ञानम् । न चेद्विद्यतेऽस्त्व'प्रामाण्यम् । तदप्रामाण्ये सत्यपि फलवन्निश्चितविज्ञानोत्पादकस्य किमित्यप्रामाण्य स्यात् । तदप्रामाण्ये च दर्शपूर्णमासादिवाक्येषु को विश्रम्भः ।

ननु दर्शपूर्णमासादिवाक्यानां पुरुषप्रवृत्तिविज्ञानोत्पादकत्वात् प्रामाण्यम् । आत्मविज्ञानवाक्येषु तु न्नास्तीति । सत्यमेवम् । नैव दोषः । 'प्रामाण्यकारणोपपत्तेः ।

वेदान्तेष्वेति यावत् । किंवा नेति शेषः । 'आद्ये साध्यवत्कस्य मत्वा द्वितीयं रूपयति—न चेदिति । तर्हि तद्वद्व्याप्तेन तत्त्वमस्यादेरपि स्यादप्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तदप्रामाण्य इति । 'विमतं स्वार्थं मानं यथोक्तज्ञानजनकस्याद्दर्शादियावयपदिति भावः । विषये 'दोषमाह—तदप्रामाण्ये वेति ।

प्रवर्तकज्ञानजनकत्वमुपाधिरिति शङ्कते—निति । 'साधनव्याप्तिं धुनीते—आत्मेति । प्रवर्तकधीजनकत्व 'धर्मिणि नास्त्येवङ्गी करोति—सत्यमिति । 'तर्हि यथोक्तोपाधितद्वाबाबनुमाना-नुत्पत्त्यामिति याशङ्क्याऽऽह—'नैव दोष इति । 'न हि प्रवर्तकधीजनकरव प्रामाण्ये कारणं निषेधवाक्ये-ष्वप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न च निवर्तकधीजनकत्वमपि तथा विधावप्रामाण्यप्रसङ्गात् । नोभय प्रत्येकमु-

पूछत है—) क्या वह रोया—इत्यादि वाक्या म इसी प्रकार निश्चित और फलयुक्त विज्ञान है ? (हमारी यात का खण्डन करते हैं—) यदि (आत्मपरकवाक्यो से सफल और निश्चित विज्ञान) उत्पन्न नहीं होता है तो भले ही उनका अप्रामाण्य रहे । उनके अप्रामाण्य होने से फलयुक्त और निश्चित ज्ञान उत्पन्न करने वाले आत्मवाक्यो की अप्रामाणिकता क्या होगी ? और उस अप्रामाणिक मानने से दर्शपूर्णमासादि वाक्यों में विश्वास ही क्या होगा ?

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) दर्शपूर्णमासादि वाक्यो की प्रामाणिकता तो पुरुषप्रवृत्ति के प्रयोजक विज्ञान के उत्पन्न होने से है आत्मविज्ञान वाक्या म प्रवृत्ति धीजनकत्व नहीं है ।

- १ अप्रामाण्यमिति । 'तथा योक्तोपाधिमत्वाप्रनुमानं यातमिति भावः । २ को विश्रम्भः—वा विश्वासः । उक्तज्ञानजनकस्यापि तत्त्वमस्यादेरमानं विधिवाक्यमप्यमानं स्यात्तथा च मानव न क्वापि भवदिति भावः । ३ प्रवृत्तिविज्ञानमिति प्रवर्तकधीजनकत्वमिति भावः । ४ प्रामाण्यमिति—तथा च न दर्शादिवाक्यानां निश्चित फलवत्धीजनकता मान्यमिति तु प्रवर्तकधीजनकत्वेति भावः । ५ प्रवर्तकधीजनकत्वे । ६ प्रामाण्यकारणोपाधिरिति । विमतं मानं तत्कारणत्वात् समतत्त्वं इत्यर्थः । ७ आद्ये साध्यवत्कस्यमिति यथोक्तज्ञानसत्त्वे तत्र स्वार्थं मानत्पस्याभ्युपगन्तव्यरवधौ व्यादेव । तत्र स्वार्थं मानं वाभावात् साध्यस्याभावात् इत्यर्थः । ८ इत्यादि साध्यवत्कस्यमिति । यथोक्तज्ञानजनकत्वात् । तथा योपाधि साधनव्यापकत्वेति भावः । ९ यदान्तवाक्यम् । १० अनिप्रसङ्गरूपम् । ११ पूर्ववाद्युपाधे साधनव्यापकत्वं निरस्यति । १२ यत् । १३ तर्हि । १४ तर्हि—धर्मिणि प्रवर्तकधीजनकत्वाङ्गीकारे । दृष्टान्तं च तत्त्वस्याभ्युपगम इत्यर्थः । १५ किं च विमतमनुमानं वाक्यत्वं भवति प्रवर्तकज्ञानजनकत्वात् जरद्वयवादिवाक्यवदियमीष्टं (पूर्वपक्षमिमतं) व्यति-रूपं (सत्यनिष्पक्षत्वं) निराकरोते—नय इति । १६ न हि प्रवर्तकत्वादि—तथा च प्रवर्तकधीजनकत्वादीनां प्रामाण्यकारणत्वात् भवति तत्त्वस्य वाभावात् फलवन्निश्चितज्ञानजनकत्वस्यैव तथात्वादुदाहरणवत्साध्यवत्त्व-निश्चयात्तत्र च प्रवर्तकज्ञानजनकत्वस्यामानात् साध्याभ्यापनतया तत्त्वोपाधिवत्त्वेव न षट् इति भावः ।

‘प्राप्ताण्यकारणं च यद्योक्तमेव नान्यत् । अलंकारश्चायं यत्सर्वप्रवृत्तिबीजनिरोधफल-  
वद्विज्ञानोत्पादकत्वभात्मप्रतिपादकवाक्यानां नाप्राप्ताण्यकारणम् ।

यत्पूर्वतं विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिवचनानां वाक्यार्थविज्ञानव्यतिरेकेणोपास-  
नायत्वंमिति । सत्यमेतत् । किन्तु नापूर्वविध्ययंता पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैव ।

अयकारणत्वाभावेनाप्राप्ताण्याविति भावः । वेदान्तेषु प्रवर्तकधीजनकत्वाभावो न केवलमदोषः किन्तु  
पुण्य इत्याह—अलंकारश्चेति । आत्मानं चेदित्यादिभूतेरेतद्विषयव्यतिरेकस्याऽऽत्मज्ञानं कृतकृत्य-  
तानिदानम् । न च ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे तद्युक्तं प्रवृत्तीनां वृत्तेशालेपकत्वादतो यद्योक्तज्ञानजनकत्वं  
वाक्यानां भूषणमेवेत्यर्थः ।

शब्दोत्पत्तिं ज्ञानं विधेयमिति प्रतिस्तिष्य पूर्वोक्तपक्षान्तरमनुवदति—यत्पूर्वतमिति । उपासना-  
यत्वंमित्यात्मोपासनेन तत्साक्षात्कारं भावयेदित्येवमर्थत्वमित्यर्थः । “अभ्युपगमवादेन परिहरन्—  
सत्यमिति । यद्येवमेषु वाक्येष्व्वात्मोपासनं तत्साक्षात्कारमुद्दिश्य विधीयते चेत्प्रकृतेऽपि वाक्ये  
तत्संभवात्पूर्वविधिरिति प्रक्रमो “भज्येतेत्याशङ्क्याऽह—किंविति । कथं तर्हि विध्यङ्गीकारवाचो-  
पुक्तिरित्याशङ्क्याऽह—पक्षेति । यथा पक्षे प्राप्तस्यावघातस्य ग्रीहीनवहृतीति नियमरूपो “विधिर-  
ङ्गीकृतस्तत्पाऽऽत्मोपासनस्यापि पक्षे प्राप्तस्य तदेव कर्तव्यं नानात्मापासनमिति यो नियमस्तदर्थता  
प्रकृतवाक्यस्येति न प्रक्रमविरोधोऽस्तीत्यर्थः ।

(सिद्धान्तो समाधानं करता है—) यह सत्य है, हमे अङ्गीकार है, किन्तु इसमें कोई दोष नहीं  
है । क्योंकि (आत्मविषयक वाक्यो न भी) प्राप्ताण्य का कारण सिद्ध ही है । प्राप्ताण्य का कारण  
उपरोक्त ही है, अन्य नहीं । और यह तो धोना की बात है कि समस्त प्रवृत्ति के बीज का निवृत्तिफ-  
लक विज्ञान आत्मप्रतिपादक वाक्यो से उत्पन्न होता है, यह उसकी अप्राप्तिकता का कारण नहीं है ।

हमके प्रतिरिक्त जो यह कहा गया है कि “बुद्धिमान् ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर  
उसी में बुद्धि लगाना चाहिये” इत्यादि श्रुतिवचन ज्ञान से भिन्न होने से उपासना के लिए है । यह  
कहना ठीक है । किन्तु यह अपूर्वविधि के लिए नहीं हो सकते । वस्तु विवक्ष्य से प्राप्त उपासना का

- १ अत्रासिद्धिमाशङ्क्याऽह—प्राप्ताण्यति । २ अलंकारश्चायमिति । ३ वेदान्तानां मानस्वमुपार्जित  
तेषामेवोक्तसूत्रो यद्येवंप्रवृत्तीनां वाष्णीभूतमित्याज्ञानरागादिनिवृत्तिफलविज्ञानजनकत्वं वेदान्तानाम् अन्यथा  
विधिवेपत्वेन चन्तुनि प्राप्ताण्यासिद्धिरित्यर्थः । ३ निवृत्तिफलवेत्यर्थः । ४ शब्दोत्पत्तिज्ञानभिन्नत्वेन ।  
५ अप्राप्ताण्यादिति । न च विधी प्रवृत्तिजनकत्वं निषेधे च निवृत्तिजनकत्वं प्राप्ताण्यप्रयोजकं स्यादिति वाच्य  
प्रयोजकानुगुणे प्रथोक्तस्य प्राप्ताण्यस्थानानुगुणमात्रात् । अन्यतरत्वंमपि निरूप्यमाणं न प्रत्येकातिरिक्तमिति  
भ्येयम् । तद्धि वेदद्वयावच्छिन्नप्रतिमोविनभेदवत्स्वरूप प्रत्ययमेव पदवत्स्यतीति भावः । ६ “बुद्धिमान्  
स्यात्—” गी० । ७ ज्ञेयप्रयोजकत्वात् । ८ अत इति—प्रवर्तकज्ञानस्य कृतार्थताऽप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।  
९ पक्षं नित्यम् । १० उपासनाभिन्नं ज्ञानान्तरं विधेयमिति पक्षम् । ११ अभ्युपगमवादनि—  
साक्षादेव भाष्यकृता विवक्षितो नियमविधिरिति किं नेष्यत इत्याशङ्क्य संभावितं वार्तिके—“न कश्चिदपि  
समाध्या यद्योक्तव्याप्योत्वात् । विधिर्यतोऽभ्युपगमाग्नियोगोक्तिरियं तत” ॥६२२॥ इति । आत्मविधो  
निरप्राप्तत्वप्रापकव्याप्यस्य वस्तीमत्त्वादित्याह—यद्योक्तव्याप्योत्वादिति । अभ्युपगमादिति—विधिमभ्युपेत्यापि  
वेदान्तानां वस्तुपरत्वं यद्यपीत्येव विवक्षित्वा पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैवेत्येव नियमप्राप्तोक्तिरित्यर्थः ।  
१२ विरुध्यते । १३ अवघातेनैव युक्तविशेषः कर्तव्यो न नृवादिदत्तनाशित्वेत्वाकारो विधिनियमः ।



न त्वपूर्वा कर्तव्या प्राप्तत्वादित्यवोचाम । तस्मात्प्राप्तविज्ञानस्मृतिसंताननियमविध्यर्थानि विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वंतित्यादिवाक्यान्प्रत्यार्थासंभवात् ।

अनात्मोपासनमिदमिति शब्दप्रयोगात् । यथा 'प्रियमित्येतदुपासीतेत्यादौ न प्रियादि-  
गुण एवोपास्य किं तर्हि प्रियादिगुणवत्प्राणाद्येवोपास्यम् । तथेहापीति परात्मशब्दप्रयोगा-  
दात्मगुणवदनात्मवस्तूपास्यमिति गम्यते । 'आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्याच्च । 'परेण च  
वक्ष्यत्यात्मानमेव 'सोकमुपासीतेति । तत्र च वाक्य आत्मोपास्यत्वेनाभिप्रेतो 'द्वितीया-  
श्रवणादात्मानमेवेति । इह तु न द्वितीया श्रूयत इति पर 'आऽऽत्मशब्द आत्मेत्येवोपासी-

तच्छब्दार्थः । आदिपदं ब्रह्मचर्यशमदमाविसर्गायम् । चित्तायेत्यादिवाक्यानां नियमविध्यर्थत्वमु-  
पसंहरति—तस्मादिति । आदिपदेन प्रकृतमपि 'वाक्यं' संगृह्यते । तच्छब्दार्थमेव स्पष्टयति—  
अन्यार्थेति ।

"शाब्दज्ञानादिव पुमर्थसिद्धेस्तस्य" "तदावृत्तेर" तृतीयज्ञानस्य वा विधेयत्वाभावाद्देवान्ताः शुद्धे  
सिद्धेऽर्थे मानमियुक्तमिदानीमिति शब्दप्रयुक्तं चोद्यमुत्थापयति—अनात्मेति । आत्मशब्दादूर्ध्वमिति-  
शब्दप्रयोगात् आत्मशब्दार्थेऽप्युपास्यत्वेनाविहितत्वात्परमगुणकस्यानात्मनोऽप्युक्तशब्दितस्य प्रधानस्यो-  
पासनमस्मिन्वाक्ये विवक्षितमित्यर्थः । उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना । अनात्मोपा-  
सनमेवात्र विधित्सितमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—आत्मेति । तत्रैव" प्रपञ्चयति—परेणेति । ततो वैलक्षण्यं

से करनी पडती है, अपूर्वस्वरूप मे नहीं करनी पडती, क्योंकि आत्मज्ञान होने पर वह प्राप्त ही है, ऐसा  
हम कह चुके हैं । इसलिए "बुद्धिमान प्राज्ञ को उस ब्रह्म को जानकर उसी मे बुद्धि लगानी चात्रिये"  
इत्यादि श्रुतिवाक्य, प्राप्तविज्ञान की स्मृति सन्तति की नियमविधि के लिए हैं क्योंकि उनका दूसरा  
कोई अर्थ होता सम्भव नहीं है ।

(शङ्का होनी है—) ("आत्मा इत्येवोपासीत" मन्त्र मे) इति शब्द का प्रयोग होने से यह तो  
अनात्मोपासना है । जिस प्रकार "प्रियम इति एतद् उपासीत" इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे प्रियादि गुण  
उपास्य नहीं हैं । तो क्या उपास्य है ? प्रियादिगुणवत् प्राणादि ही उपास्य है । इसी प्रकार यहाँ भी  
"आत्मा" शब्द के बाद 'इति' का प्रयोग होने से आत्मा के समान गुण वाली अनात्मवस्तु ही उपास्य  
है । इसके प्रतिरिक्त आत्मोपासना सम्बन्धी वाक्यो से प्रकृत वाक्य की विलक्षणता है । वाक्यदोष मे  
कहेगे—"आत्मा की ही प्रकाशरूप से उपासना करे" । वहाँ उक्त वाक्य मे आत्मशब्द मे द्वितीया-  
विवक्षित का प्रयोग होने के कारण उपास्यरूप से आत्मा ही अभिप्रेत है । यहाँ द्वितीया का प्रयोग नहीं

१ वृ. उ ४.१३ । २ गम्यत इति । आत्मगुणवत् आत्मवत्त्वोपास्य किं न स्यादित्याशङ्क्य समाहित  
वाचित्ति— "आत्मैकगुणवत्त्वेन न तत्राऽऽत्मैव चित्तयते" ॥६३४॥ इति । एवञ्च गुणगुणिसाक्षात्प्रवात्  
आत्मगुणकमनात्मवत्त्वोपास्यमित्यर्थः । ३ प्रकृतवाक्यस्येत्यादि । ४ वाक्यदोषेण । ५ वृ. उ १-४-१५ ।  
६ प्रकाशरूपम् । ७ विवक्षितम् । ८ तत्र यथ्यन्तीति वाक्यादात्मोपासतेतिषेष्वात् पूर्वपरिवर्गोचनाना-  
त्मोपासितरेवावेति हेत्वन्तरमनुच्चयार्थव्यवहार । ९ "आत्मेत्येवोपासीतेति" वाक्यम् । १० याच्चेति ।  
दादयस्य ममृष्टपरोक्षबोधित्वानिमित्तात् (यथावस्तुप्रकाशवत्त्वात्) असमृष्टपरोक्षधियं शाब्दत्वोपपत्तेरित्यादि ।  
११. तस्य—शाब्दज्ञानस्य । १२ तदावृत्ते—तदाऽऽवर्तनस्य तत् स्मृतिसन्तानस्येति यावत् । १३ तृतीय  
ज्ञानम्—उपासनार्जविज्ञानान्तरम् । १४. वैलक्षण्यमेवोपपादयति ।

प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधादनुपास्यत्वमिति चेत् । यस्याऽऽत्मनः प्रवेश उक्तस्तस्यैव दर्शनं वार्यते तं न पश्यन्तीति । प्रकृतोपादानात् । तस्मादात्मनोऽनुपास्यत्वमेवेति चेन्न । 'प्रकृत्स्नत्वदोषात् । दर्शनप्रतिषेधोऽकृत्स्नत्वदोषामिप्रायेण नाऽऽत्मोपास्यत्वप्रतिषेधामिप्रायेण । प्राणनादिक्रियाविशिष्टत्वेन 'विशेषणात् । आत्मनश्चेदुपास्यत्वमनिप्रेतं प्राण-

स्मोपासनं विवक्षितमिति परिहरति—नेत्यादिना । हृत्स्व्य स्फुटयति—प्रत्ययनात् ।  
 आत्मनश्चेदुपास्यत्वं तदा प्रक्रमविरोधः स्यादिति शङ्कते—प्रविष्टस्येति । आत्मनो दशान-  
 प्रतिषेधं प्रकटयति—यस्येति । तस्येवेति नियमे हेतुमाह—प्रवृत्तेति । तच्छब्दस्य प्रकृतपरामशि-  
 त्वात्प्रविष्टस्य च प्रकृतत्वात्तस्य तेनोपादानादिति हेतुर्थः । पूर्वपक्षं निगमयति—‘तस्मादिति ।  
 प्राणनाविविशिष्टस्य परिच्छिन्नत्वात्तस्य हृष्टत्वेऽपि पूर्णस्य न हृष्टतेति नियेषश्रुतिर्पदसत्तानाम्प्रोप-  
 क्रमविरोधोऽस्तीति परिहरति—नेत्यादिना । ‘तदेव विश्ववर्षति—दशनेति । कथमयमभिप्रायमेव-  
 श्रुतेरवगम्यते तत्राऽह—प्राणनादीति । प्राणनेष्ट्यादिना क्रियाविशेषविशिष्टत्वेनाऽऽत्मनो विशेष-  
 णात्तस्य हृष्टत्वेऽपि नातो पारपूर्णो हृष्टः—‘स्यादिति श्रुतेराशयो लक्ष्यते केवलस्य तु तत्त्वोपास्य-  
 स्वमभिसहितमकृत्स्नत्वोपाभावादित्यर्थः । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन साधयति—आत्मनश्चेदिति ।

इत्यादि । (प्रक्रमविरोध होने से शङ्का होती है) किन्तु शरीर के भीतर प्रविष्ट आत्मा के दिखाई न देने से उसका अनुपास्यत्व सिद्ध होता है । जिस आत्मा का प्रवेश कहा गया है उसका दर्शन निषेध किया जाता है, जैसे ("त न पश्यन्ति") "उसे नहीं देखते हैं" इस श्रुति में 'त' पद के ग्रहण से दर्शन प्रतिषेध किया है । मत. आत्मा का अनुपास्यत्व ही स्वीकार करो । (शङ्का समाधान सिद्धान्ती करता है-- ) ऐसा कहना ठीक नहीं । वह तो अकूतस्वरूप दोष से है । अर्थात् आत्मा का न देख पाना तो उसमें अकूतस्वता दोष के अभिप्राय से है, आत्मा का उपास्यत्व प्रतिषेध का अभिप्राय से नहीं है । क्योंकि

१. उपपादितैकत्वस्यात् । २. वृ. उ. १.४.८ । ३. वृ. उ. १.४.१० । ४. इतीति । ५. आत्मानमेव प्रियमुपासीते । ६. स्मृपातनवाक्य । ७. अथ आत्मानमेव प्रियमुपासीत न हास्यति । ८. पलवाक्य । ९. तदनुगुणितिशब्दः । १०. पूर्णतया । ११. अहंत्वत्वदोषादिति । १२. अहंत्वत्वदोषदुष्टस्यात्मना दर्शनप्रतिषेधादोषकमवधारण इत्यर्थः । १३. पूर्णतया । १४. व्यावर्तनात् । १५. उपकारपरवर्हाणामनवाधान्स्यादिति । १६. विशक्तिरिति । १७. निरस्यति । १८. नार्हेति । १९. प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधात् । २०. उक्ततात्पर्यमेव । २१. इति । २२. उपास्य इतीति दोषः ।

नाद्येकं सक्रिया विशिष्टस्याऽऽत्मनोऽकृत्स्नत्ववचनमनर्थकं स्यादकृत्स्नो ह्येपोऽत एकैकेन भवतीति । अतोऽनेकं विशिष्टत्वात्मा कृत्स्नत्वादुपास्य एवेति सिद्धम् ।

यस्त्वात्मशब्दस्येतिपरः प्रयोग आत्मशब्दप्रत्यययोरुपात्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषय-  
त्वज्ञापनायम् । अन्यथाऽऽत्मानमुपासीतेत्येवमवश्यम् । 'तथा चार्थादात्मनि शब्दप्रत्य-  
यावेनुजातौ स्याताम् ।' 'तच्चानिष्टम्' 'नेति नेति' "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"  
"अविज्ञातं विज्ञातृ" "यतो याचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", इत्यादिश्रुतिभ्यः ।  
यस्त्वात्मानमेव लोकमुपासीतेति । तदनात्मोपासनप्रसङ्गनिवृत्तिपरत्वात् वाक्यान्तरम् ।—

'तस्यानुपास्यत्वात्' तद्वचनमर्थवदित्याशङ्क्य तदुपास्यत्वनिषेधस्याऽऽत्मोपास्यत्वे पर्यवसानमभि-  
प्रेषाऽह—'अतोऽनेकैकेति ।'

उपक्रमोपसंहाराभ्यामुपास्यत्वमात्मनो वक्षितमिदानीमिति शब्दप्रयोगादनात्मोपासनमिदमित्युक्तं  
प्रस्थाह—यस्त्विति । प्रयोगार्थं ब्रह्मादुपरिष्ठात्सत्त्वो ब्रह्मण्यः । इतिशब्दस्य यपोक्तार्थत्वाभावे  
बोधमाह—अन्यथेति । न चाऽऽत्मनः 'स्वातन्त्र्येणानुपास्यत्वाय'मिति शब्दोऽयं या "पूर्वापरवाक्यवि-  
रोधादिति ब्रह्मण्यम् । इतिशब्दमन्तरेण वाक्यप्रयोगे बोधमाह—तथेति । तस्य शब्दप्रत्यय-  
विषयत्वमिष्टमेवेति चेत्तत्राऽह—तच्चेति । आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्यादनात्मोपासनमेतदित्युक्तं  
तद्ब्रूयति—यस्त्विति ।

यहाँ प्राणनादि क्रिया-विशिष्टत्व से पूर्ण आत्मा का व्यावर्तन किया है । आत्मा का उपास्यत्व यदि  
भवान्छनीय होता, तो "अतएव इनमें से एक-एक की उपासना जो करता है, वह नहीं जानता, वस्तुतः  
वह असम्पूर्ण ही है ।" इस वाक्य से प्राणनादि एक-एक क्रिया से विशिष्ट आत्मा को 'असम्पूर्ण'  
घटाना व्यर्थ हो जाता । इसलिए यह सिद्ध होता है कि निखिलक्रियाध्यास का अधिष्ठान आत्मा  
कृत्स्नरूप होने से उपास्य है ।

और जो आत्मा शब्द के आगे "इति" शब्द का प्रयोग है, वह तो आत्मतत्त्व को परमार्थतः  
आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय से अधिषय ज्ञापन करने के लिए है । नहीं तो "आत्मा की उपासना  
करे" ऐसा श्रुति न कहा होता । ऐसे शब्द और शब्दाघटितस्वरूप आत्मा में शब्दधीगम्यत्व सम्भव  
होने के कारण आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय की प्रतीति हो जाती । जो कि "यह नहीं है, यह नहीं है",  
"अरी मेरेपा ! विज्ञाता को किमके द्वारा जाने", "बुद्धि का अधिषय होने से स्वयं अधिज्ञात होता हुआ  
मैं विज्ञातस्वरूप होने से विज्ञाता है", "जहाँ से मैं कहित वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है",  
इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अनभिमत सिद्ध होता है । और 'आत्म लोक की ही उपासना करे' ऐसी जो

- १ निखिलक्रियाध्यानाधिष्ठानम् । २ ज्ञापार्थ इति रधीयान् पाठ । ३ तथा चेति । उत्तशब्दस्येति  
शब्दाघटितत्वं वेत्यर्थः । ४ अर्थादिति—आत्मनि शब्दधीगम्यत्वसम्भवात्त्यर्थः । ५ अमुपगता ।  
६ अनभिमतम् । ७ न वाक्यान्तरमिति । अतवानभवेत्यादिवाक्यस्यानात्मोपासितनिवृत्त्यपत्तया पूर्ववाक्ये-  
नैकवाक्यत्वमेव तस्य प्रकृतवाक्याप्य वाक्यान्तरत्वं प्रकृतवाक्याप्यनुवादित्वादिति भावः । ८ विशिष्टस्य ।  
९ प्राणनाद्यन्यमक्रियविशिष्टस्यात्मनोऽकृत्स्नत्ववचनात् । १० स्वातन्त्र्येति—गुणगुणिभावपूर्यवेत्यर्थः ।  
गुणत्वनिर्वाणत्वस्यापि भावः । ११ पूर्वापरेति—आत्मेत्युपासीत तदेतत्तदनीयमित्यनयो पूर्वापरवाक्य-  
योर्विरोधस्योक्तत्वादित्यर्थः ।

अनिर्ज्ञातत्त्वमान्यादात्मा ज्ञातव्योऽनात्मा च । तत्र कस्मादात्मोपासन एव यत्न  
 आस्थीयत आत्मेत्येवोपासीतेति नेतरविज्ञान इति । अत्रोच्यते—तदेतदेव प्रकृतं पदनीयं  
 भगवनीयं नान्यदस्य सर्वस्येति निर्धारणार्थं ण्युी । अस्मिन्सर्वस्मिन्नित्यर्थः । यदयमात्मा  
 यदेतदात्मतत्त्वं किं न विज्ञातव्यमेवान्यन्न किं तर्हि ज्ञातव्यत्वेऽपि न पृथग्ज्ञानन्तरमपेक्षत  
 आत्मज्ञानात् । कस्मात् । अनेनाऽऽत्मना ज्ञातेन हि यस्मादेतत्सर्वमनात्मजातमन्यद्यत्तत्त्वं

‘आत्मेव ज्ञातव्यो नानात्मेति’ प्रतिज्ञायामत्र होत्यादिना हेतुरक्तः सप्रति तदेतत्पदनीयमित्या-  
 दिवाक्यापोद्ये बोधमुत्थापयति—प्रतिज्ञातत्वेति । उत्तरमाह—अवेति । निर्धारणमेव स्फोरयति—  
 अस्मिन्निति । नान्यदित्युक्तत्वादानात्मनो विज्ञातव्यत्वाभावश्चेदनेन होत्यादि ‘शेषविरोधः स्यादिति शङ्कते  
 —किं नेति । तस्याज्ञेयत्वं निषेधति—नेति । तस्यापि ज्ञातव्यत्वे नान्यदिति वचनमनवकाशमित्याऽह—  
 किं तर्हीति । तस्य सावकाशत्वं दर्शयति—ज्ञातव्यत्वेऽपीति । आत्मनः सकाशादानात्मनोऽर्थान्तरत्या-  
 त्तस्याऽऽत्मज्ञानाज्ज्ञातव्यत्वाद्योगाज्ज्ञातव्यत्वे ज्ञानान्तरमपेक्षितव्यमेवेति शङ्कते—कस्मादिति । उत्तर-  
 वाक्येनोत्तरमाह—अनेनेति । आत्मन्यात्मजातस्य कल्पितत्वात्तस्य तदतिरिक्तस्वरूपाभावात्तज्ज्ञानेनेव

श्रुति है, वह अनात्मोपासना प्रसङ्ग की निवृत्ति करने वाली होने से (पूर्ववाक्य से एकवाक्यता होने के  
 कारण) वाक्यान्तर नहीं है (प्रकृत वाक्याय का अनुवाद मात्र है) ।

किन्तु अनिर्ज्ञातत्व-सामान्य होने के कारण जिस प्रकार आत्मा ज्ञातव्य है, उसी प्रकार  
 अनात्मा भी ज्ञातव्य है । फिर इनसे “आत्मा इत्येव उपासीत” इस श्रुति के अनुसार आत्मोपासना में  
 ही (प्रतिज्ञातात्मज्ञान की हेतु द्वारा सिद्धिष्य) पुनः पुनः बल करना क्यों रह जाता है ? अनात्मो-  
 ही (प्रतिज्ञातात्मज्ञान की हेतु द्वारा सिद्धिष्य) पुनः पुनः बल करना क्यों रह जाता है ? अनात्मो-  
 पासना में क्या नहीं ? (सिद्धान्ती उक्त शका का परिहार करता है—) इस प्रकार हमारा कहना  
 यह है कि इन सबमें वह प्रकृत आत्मतत्त्व ही ‘पदनीयम्’ यानी ज्ञातव्य है, अन्य (अनात्म) नहीं ।  
 ‘अस्य सर्वस्य’ इन पदों में निर्धारणार्थक पठोद्वेग है । इसका अर्थ—(‘प्रसिद्धं सर्वस्मिन्’) ‘इन सबमें’  
 ऐसा है । ‘यदयमात्मा’ अर्थात् यह जो आत्म तत्त्व है । तो क्या अन्य ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है ? ऐसा

१ यत्न इति । यत्नत्वं नामात्र प्रतिज्ञातात्मज्ञानस्य हेतुना भाषणम् शक्याशक्ययो शक्योपादानस्य व्याख्या-  
 यनाभासतन्मय कर्म पावज्जीवादि श्रुत्युक्तमत्यान्वयमिति भाव पूर्ववादिन । २ श्रुत्या । ३ आत्मतत्त्वम् ।  
 ४ भगवनीयमिति—यस्मादनात्मना ज्ञातत्वाज्ञानत्वयोरभावात् (अज्ञानस्य चिदेवाश्रितत्वात्) तेभ्य सकाशादि-  
 द्भैवात्मतत्त्वं पर पदमज्ञात ज्ञातव्य तज्ज्ञाने सर्वेषा ज्ञेयाना पुरुषार्थानां च समाप्ति तस्मान्निरतिशयापुत्रार-  
 केतवस्त्वभावेन यथोक्तं तत्त्वत्वा तदेवावर्तयमित्यर्थ । अत एवाभासतन्मयेऽप्यात्मज्ञाने यत्नतिलेक श्रुतिरिति  
 शेष । ५ अस्मिन्निति । सर्वस्मिन् जगति प्रत्यङ्मात्रमेव ज्ञेयं नान्यदित्यर्थनिर्धारणाश्रुता तदर्थं पठोत्तर्यं ,  
 सम्बन्धसामान्ये पठ्यतिमते अस्य प्रत्यङ्मादि सन्निपातितस्य सर्वस्य जगत सम्बन्ध्यात्मतत्त्वं पदनीयमित्यर्थो  
 द्रष्टव्य । ६ अनात्मनाज्ज्ञेयत्वेनान्यदिति वचनमनवकाश निमित्तम् । ७ अनेन हि सर्वं वेदेति  
 वाक्येनेनेति तृतीया इत्यभूतलक्षणे । तथा च वातिकम् “अनेनेति तृतीयमित्यभूतार्थलक्षणा । इदपीशब्द-  
 गम्यस्य प्रत्यङ्मात्रसत्त्वत्वात्” ॥६६॥ इति । इत्यभूतमर्थम् इदमशङ्क्यमित्यर्थमिति हृदयजात प्रत्यङ्मात्रम्  
 इगमर्थं लक्षयति भगवतीति तथोच्यते । तत्र हनुमाह—इदमिति । इदमस्य सर्वस्यानुसन्धानप्रत्यङ्मात्र-  
 स्वभावत्वात् इत्यभूतलक्षणे युक्तं तृतीयेत्यर्थः । तथा च अनेन सर्वाभिन्नतया ज्ञातेनारम्भेत्तर्पणमिच्छेत्याह—  
 अनेनेति ॥ = शब्दप्रत्ययान्वय प्रत्यङ्मात्रस्यैवाश्रुत्यर्थम् । ८ आत्मेत्येवोपासीत इति वाक्यद्वयाविति

योगम् । १०. वाक्यशेषः ।



समस्तं वेद जानाति । नन्यन्यज्ञानेनान्यन्न ज्ञायत इति । अस्य परिहारं 'दुन्दुभ्यादिप्रत्ययेन वक्ष्यामः ।

॥ 'कथं पुनरेतत्पदनीयमिति । उच्यते—यथा ह वं लोके पदेन 'गवादिखुराङ्कितो ज्ञातव्यसिद्धेर्नास्ति ज्ञानान्तरापेक्षेत्यर्थः । 'लोकदृष्टिमाधित्यानेनेत्यादिवाक्यार्थमाक्षिपति—नन्विति । आत्मकार्यत्वादानात्मनस्तस्मिन्प्रतर्भावात्तज्ज्ञानेन ज्ञानमुचितमिति परिहरति—प्रत्येति ।

सत्योपायाभावादात्मतत्त्वस्य पदनीयत्वासिद्धिरिति शङ्कते—कथमिति । असत्यस्यापि श्रुत्या-  
श्चापदि'रर्पक्रियाकारित्य'संभवादात्मतत्त्वस्य पदनीयत्वोपपत्तिरित्याह—उच्यत इति । विविक्तं

बहुना ठीक नहीं ? तो अन्य अनात्मा भी क्या ज्ञातव्य है ?—ज्ञातव्यरूप होन पर भी उसे आत्मतत्त्वज्ञान से भिन्न किसी ज्ञानान्तर को अपेक्षा नहीं है । क्या अपेक्षा नहीं है ? 'प्रनेन' अर्थात् आत्मज्ञान होने पर 'हि' अर्थात् क्योंकि, यह 'सर्वम्' अर्थात् अन्य जो कुछ भी अनात्मज्ञात है, उस सभी को, पुरुष 'वेद' अर्थात् जान लेता है । किन्तु अन्य पदार्थ के ज्ञान से अन्य का ज्ञान तो हुआ नहीं करता ? इसका निराकरण (बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण के सातवें मन्त्र में) दुन्दुभ्यादि शब्द से आगे करेगे ।

यह आत्मा पदनीय (ज्ञातव्य) किस प्रकार है ? इस पर कहा जाता है । जिस प्रकार लोक

१. द. उ २-५-७ । २ कथामिति । आत्माज्ञानजनितत्वात्कल्पितस्तावदाचार्यद्विरुपायस्तेनाज्ञानतत्कार्यासिद्धौ सत्यं ब्रह्म न ज्ञातुं शक्यं मिथ्याविरोधादिति भावः । ३ गवादीति । यथाज्ञातखुराङ्कितदेहाहुः खुराङ्कितदेशज्ञानहेतुको वा नष्टे (अदृश्य) विविक्तं (अभिमत) गवादी वाधो जायत स च साम्यामस्पृष्टगवादिमात्र-विषय तथा नामरूपादि प्रपञ्चोपायहेतुकोऽप्रपञ्चात्मके भूमिं प्रतीचि बोध प्रकायत तथा च कायकारणा-संबन्धिप्रत्ययप्रत्ययर्थं यथा हेतुवादिदृष्टान्त इति द्रष्टव्यम् । यदा अवस्थाद्वये न वस्तुषी अज्ञानतत्कार्य-विरोधात् स्वावेष्टि न तद्वी अज्ञानप्रतिबन्धात्ततो मेवत्वासिद्धिरिति बोधापनुक्तये दृष्टान्तोऽयम् । अत्र पक्षेऽप्यमर्थं यथा गवादिखुराङ्कित दश दृष्ट्वा तदनुपेक्षन यतो गवादिकमन्वेयमाणो गवाद्यात्मना साक्षादगवादि-क समते तथा स्वमयस्य प्रतीक साधनम् मुमुक्षु प्रत्यगारम्भना ब्रह्म जानातीत्यर्थः । ४. अतप्रसिद्धम् । ५. अर्थनिरयति—उपायानामर्थक्रियाकारित्वरूप सत्यत्वं त्यक्त्वा परमार्थसत्यता नोपेयबोधनोपयोगिनी सत्सुपाये-ष्वर्थक्रियाकारिणु । ६ कार्यजनकत्वसंभवादित्यर्थः ।

॥ 'कथं पुनरित्यादीरमर्थ एतदन्तर्भाष्यगतबुद्धार्थविवेकरणपरार्थं पञ्चदशवाक्यानि सन्ति । तथाहि—'कथं पुनरबोधोक्त्यक्तुत्पोपादनं तत्परम् । गम्यते सत्यमित्यस्य परिहृत्ये परं च ॥ परमार्थात्मनाप्रत्यय पदं तदपि बोधकम् । स्वाथस्यैवधुणायत्तमस्यस्याऽऽत्मनोऽन्यताम् ॥ उपायसत्यतां मुक्त्वा गान्याहस्युपयुज्यत । सत्यतां ह्युपायानामुपेये किं तदपेक्ष्यत ॥ गवादिखुराङ्कितो वा पदमित्युपदिश्यते । अनन्वितायांसिद्धयर्थं दृष्टान्तोऽयं तथा सति ॥ गवादिबोधनिवृत्तिं पदोऽज्ञानहेतुतु । अनन्वितपदज्ञानपरिषिद्धं काव्यसामिनी ॥ यदैव नामरूपादि प्रपञ्चोपायहेतुतु । अप्रपञ्चात्मके भूमिं प्रत्यग्याध प्रकायत ॥ प्रमाणभूमावैकान्त्य विरोधात्प्रतीयत । ततोऽन्यथाप्रमेयत्वात्तदमावेष्टि नेदयत ॥ न हि वस्तुवात्पनैवाऽऽत्मनोऽहोवृत्तये क्वचित् । प्रमाणनिरुद्धे सदस्त्वन्न स्वप्रसिद्धये ॥ ससापन्नवतार स्यान्मानवैपत्यमेव च । इत्यतस्थेहि चोदस्य परिहाराय चातरम् ॥ यथा गवात्मना साक्षाद्वा विन्देद्गोपदानुग । प्रत्यवर्चतन्यसूत्यैव विन्देतत्परमं पदम् । प्रत्यक्षता यदाभाति ह्यागमापिमाधित । देहेन्द्रियमनोषीपु चैतन्याभासरूपकम् ॥ जडव्यकमनेवेयु कूटस्थ क्षणभङ्गिणु । अनात्ममु तथा चाऽऽत्मा सहतेष्वप्यसहन् ॥ तस्यावाक्यार्थरूपस्य पदमेतत्प्रवक्षत । पक्षतेऽनेन तदहमात्तनेन पदमुच्यते ॥ स्वमहिर्ननं वेतिस्थेदुपाय परमार्थवत् । स्वत सिद्धेन मिथ्यात्व तस्य स्यात्परमार्थवत् ॥ परमार्थादभिन्नरथेति-

देशः पदमित्युच्यते तेन पदेन 'नष्टं विवित्सितं पशुं पदेनान्वेषमाणोऽनुविन्देत्तमेतं । एव-  
मात्मनि 'तद्ये सर्वमनुसमत' इत्यर्थः । नन्वात्मनि ज्ञाते सर्वमन्यज्ज्ञायत इति ज्ञाने प्रकृते

तद्युमिष्टम् । 'अन्वेषणोपायत्वं दर्शयितुं पदेनेति पुनरुक्तिः । अनेनेत्यत्र वेदेति ज्ञानेनोपक्रम्यानु-  
विन्देदिति लाभमुक्त्वा कीर्तितमिषादिश्रुतो पुनर्ज्ञानार्थेन विविनोपसंहारादनुविन्देदिति श्रुतेरपक्रमोप-  
संहारविरोधे' स्यादिति शङ्कते—नन्विति । 'शङ्कितं विरोधं निराकरोति—नेति । कथं तयोरंकारस्य

व्यवहार मे गो ग्रादि के खुर से अंकित देश को "पद" ऐसा कहा जाता है । अदृश्य एव जिसको प्राप्त करना अभीष्ट है; ऐसे पशु को 'पदेन' अर्थात् पद से ढूँढता हुआ 'अनुविन्देत्' अर्थात् प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार (कल्पित श्रुत्यादि के द्वारा) आत्मप्राप्ति से सबकी प्राप्ति हो जाती है (यानी पुरुष है, इसी प्रकार (कल्पित श्रुत्यादि के द्वारा) आत्मप्राप्ति से सबकी प्राप्ति हो जाती है (यानी पुरुष सब कुछ जान लेता है) यह इसका अर्थ है । (यह शका होती है—) क्योंकि 'आत्मज्ञान होने पर अन्य सबका ज्ञान हो जाता है' इस प्रकार यहाँ ज्ञान का प्रकरण होने से ('वेद' श्रुतिवाक्य कहकर फिर

१ अदृश्यम् । २ कल्पितश्रुत्यादिना । ३. जानाति । ४ अन्वेषणमेवोपायोऽस्येति दर्शयितुम् ।  
५. आभ्या सह विरोधः ।

नरामन्पातमत्ता । इत्यादिपूर्वमुक्त यदनुसर्पेयमत्र तदिति" ॥१६१-१००५॥ व्याख्येयं चोद्यमनूय यथा हेत्यादि-  
वाक्यमवतारयति—कथमिति । आत्माज्ञानजनितत्वात्कल्पितस्तावदाचार्यादिश्रुत्यास्तेनान्विधातुं वासमृष्ट तस्य  
प्रज्ञा न जानु शक्य मिषो विरोधादिति चोद्य परिहर्तुं यथा हेत्यादिवाक्यमित्यर्थः ॥ तद्व्याचरोति—परमार्थेति ।  
गवाब्दादिविवर्णात्मक पद ईदृश्या कल्पितमपि स्वार्थस्य श्रोतृत्वादेर्बोधक नहि तदकल्पित क्रमवत्ता वर्णानां  
तद्भावात्क्रमस्य च तेष्वारोप विनाशयोगात् न हि नित्या विप्रबोधे वर्णां स्वार्थस्य क्रमयत्तत्तायाऽऽनन्व्यादि-  
श्रुत्याचार्यादेस्तद्वाच्योपायस्य द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ वि बोधायनामर्थक्रियाकारित्वं सत्यत्वं स्वत्वा परमार्थसत्यता  
नार्थबोधनोपयोगिनी तत्र तथा तादृशी सत्यतेत्याह—उपायेति । अत्र उपेयबोधने । सत्युपायेऽर्थक्रियाकारिणु  
तदीयपरमार्थमत्यरवाभावापराधेनानुपायत्वात्पुनस्तस्मादिति हिशब्दाश्च । कार्योत्पत्तावनुपधोमिषत्वं परमार्थसत्यताया  
व्यनक्ति—उपेय इति ॥ ननु गवादिपद स्वार्थं बोधयदध्यस्तमित्यसिद्धं तस्य त बोधयतस्तेनास्ति सगतिस्तथा  
श्रुत्यादेरपि ब्रह्मबोधकत्वेन सगति स्थायतस्तदसङ्गत्वहानिरित्यासङ्गं पदशब्दस्यापार्थक्यमाह—गवादीति ।  
तदीयखुरबिम्बरश्चेन तर्कचूतो देगो गृह्यते । तद्यार्थं कथमुपायेन श्रुत्यादिना सत्यमानं ब्रह्मज्ञमङ्गीकृतुं  
शक्यमित्यासङ्गाऽऽह—अनन्वितेति । गवादित्प्राप्तिरुक्ते देशे पदशब्देन सति कार्यं कारणासत्त्वप्रत्ययार्थरूपस्य  
यथा हेत्यादिदृष्टान्त इत्यर्थः ॥ विवक्षितार्थसिद्धये दृष्टान्तं विदधीति—गवादीति । यथा ज्ञातसुराङ्गि-  
देशहेतुवस्तुहेतुको वा मट्टे विवक्षितं गवादी बोधो ज्ञप्यत स च ताव्यामस्युष्टमवादिमानविषय इत्यर्थः ।  
नान्विते पदतुज्ज्ञाने येन बोधिपदेन तस्मिन्पर्यवसितेति यावत् ॥ दाट्यान्तिकमाह—एवमिति । गवादिपद  
त्रियायं । प्रत्यक्प्रतीचीति यावत् । प्रत्यगाकारत्वाद्वा प्रत्यगिति बोधो विशेष्यते ॥ कल्पितस्य ज्ञानसाधन-  
त्वमात्रनाय ब्रह्मणो द्वैतासंबन्धाय च यथा हेत्यादि व्याख्यातमिदानीमात्मैवेयोषोषासीतेतिमूनावतितारयियया  
प्रसञ्जितचोद्योत्तरत्वेन व्याकुलं चोद्यमनुव्रति—प्रमाणेति । अवस्थाद्वये न वस्तुधीरज्ञानतत्त्वार्थविरोधात्तदभावो  
मानाभाव स्वापस्तत्रापि न तदीरज्ञानप्रतिबन्धात्तस्मिन्प्रयासि सदा स्यादित्यासङ्गं सामान्यन्यायमाह  
स्वाज्ञानतज्जे निवर्तयिष्यति बोधात्मत्वात्तस्मादप्रतिबन्धात्तस्मिन्प्रयासि सदा स्यादित्यासङ्गं सामान्यन्यायमाह  
—न हीति । पुनरुत्पादितस्तुस्वरूपेणैव प्रमाणानपेक्षं सत्त्वाविधातज्ज्ञापनुपाये स्वज्ञाप्यते वा न क्वचिदपि  
देशादो यावत् दृष्टम् । किन्तु प्रमाणमपेक्ष्यैव यथोक्तनार्थाय वर्माप्तमित्यर्थः ॥ पुनरुत्पादो जडे मानापेक्षा-  
यामप्यात्मनि स्वप्रकाशे तदपेक्षा विना स्वरूपनोपादबोधादिष्वस्तिरित्यासङ्गं पाऽह—सद्योति । यदेत्याद्यु-

‘कथं लामोऽप्रकृत उच्यते’ इति । न । ‘ज्ञानलामयोरेकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात्’ । ‘आत्मनो ह्यलामोऽज्ञानमेव’ । ‘तस्माज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो लामो नानात्मलामभवदप्राप्तप्राप्तिलक्षण आत्मलामो लब्धुलत्वव्ययोर्भेदाभावात्’ ।

पामादो ‘तदेकत्वाप्रसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मन इति । ग्रामादावप्राप्ते प्राप्तिरेव लामो न ज्ञानमात्रं तयाऽनामि किं न’ इत्यादिप्राशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना ।

लामार्थक ‘अनुविन्देत्’ इति श्रुतिवाक्य का) जिसका प्रकरण नहीं है, उस लाम की बात क्यों वही जाती है? ऐसा कहना ठीक नहीं श्रयोकि (वेद) ज्ञान और (अनुविन्देत्) लाम शब्द एकार्थत्व की विवक्षा करते हैं । (आत्मा में लाम का ज्ञानमात्ररूप होना दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—) आत्मा का अज्ञान ही लाम है । उक्त दृष्टान्त से (नित्यसत्त्वेनस्वरूप) आत्मा का ज्ञान ही (अपने कठामरण की तरह) लाम है, अनात्मलाम के समान अप्राप्त की प्राप्ति होना आत्मलाम नहीं है । (प्रत्यक्षरूप में अभेद होने पर) प्रापक और प्राप्य वस्तु में भेदाभाव होने के कारण ज्ञान से भिन्न कोई लाम नहीं होता है ।

१ कथमिति । वेदेति ज्ञानार्थे शब्दे प्रकृतं सति मध्य विन्देदिति लामार्थे न शब्दनात्वा पुनरप्येव वदति ज्ञानार्थेन शब्देन कथमुपसङ्गित इति शङ्कितुं शक्यम् । २ शब्दलामापरवृत्तयोः । ३ नास्तद्विषय इति शेषः । ४ ज्ञातमि लामम ज्ञानमात्रत्वं दृष्टान्तेन साधयति—आत्मन इति । ५ उक्तदृष्टान्तात् । ६ नित्यसत्त्वेनस्वरूपस्य स्वकठामरणवत् । ७ प्रत्यक्षरूपो । ८ नहि प्रत्यक्षरूपानारभेद ज्ञानादव्यो लामस्तज्ज्ञातार्थः । ९ एकार्थत्वानुपलम्भात् ।

सत्यत्वेनाऽऽवृत्ते—इत्येवमिति । पूर्वोक्तस्य सौपत्यारम्भनूदितस्य चोद्यस्यात्र परिहारापानन्तरवाक्यमित्यर्थः । तस्योक्तार्थेन वक्ष्यमाणार्थस्य समुच्चयमवधारणम् ॥ परिहारं स्पुटयितुं वाक्यं व्याचष्टे—यथेति । नवादिषु-राङ्गित देशे दृष्ट्वा तदनुष्ठेन कृती वामनिष्पद्यमाशस्तद्वेषेणाध्यक्षतो लभते तथा प्रत्यक्षैतयस्य त्वमर्थस्य सूर्या बोधनया तद्वेषेण मुमुर्षुबद्धा जानातीत्यर्थः ॥ त्वमर्थं विविध्याऽऽह—प्रत्यक्षयेति । देहादिषु बाह्येष्वामात्मन्यवस्तु यत्तत्सत्यत्वेन तत्साक्षित्वेन चान्तराध्यक्षित्वेनाभ्या भवति तदेतत्प्रत्यक्षमिति लब्धम् । साक्षित्वे विद्यामासस्य द्वापरव्योतनार्थं विनिर्णयिते—वैतयेति ॥ साध्यावैतसाध्ये नच साक्षित्वे तत्राऽह—जडैरिति । जजकमित्यप्याह— । तथाऽपि निमित्ते देहादिवदसाक्षित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । सत्रिमत्वेनासाक्षित्वमाशङ्क्याऽह—कूटस्थमिति । प्रत्यक्षतया वदामातीत्युक्तं प्रत्यक्षं व्यनक्ति—अनात्मसिद्धिः । साक्षदत्वादे-हादिवदप्रत्यक्षत्वमाशङ्क्याऽह—सहोदयेति ॥ शोभितं त्वमर्थमुक्त्वा तस्य दर्शयति प्रति पदव्य प्रतिजानीते—तस्येति । ब्रह्मणस्तदयस्याखण्डस्य प्रत्यक्षत्वं शोधितं प्रत्यक्षैतयं हेतुमित्यर्थः । नच त्वमपस्तदयस्य पदमि-त्याशङ्क्या वरगम्युत्पत्त्येवाह—पद्य इति । शोधितेन हि त्वमर्थेन तदयं स्वरूपतया ज्ञायतं पदयज्ञात्माभि-नत्वाद्वाच्यार्थज्ञानस्येत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षचित्तो ब्रह्मधीहतायामाध्यवसायार्थादपि तद्विहितोस्तद्वाच्यं तमिध्यात्वं मुक्तमित्याशङ्क्याऽऽचार्यादि स्वतोऽप्यतो वा सिध्यतीति विवक्त्याऽऽत्ममनुबद्धति—स्वमहिम्नेति । तदा रवत सिद्धे स वैतन्यवन्न जड इत्यादिति दूययति—परमाद्यवदिति । परतं मिदो तस्य मिध्यात्वं स्यादाध्यात्मिक-सत्त्वादेतेत्या तदसिद्धेरिति द्वितीय प्रत्याह—मिध्यात्वमिति । किं चोपाय परमाद्यैरिति मिदो वा नाऽय इत्याह—परमार्थवचिति । स्वरूपेणोपायस्य त्वया सत्यत्वेऽतदभिप्रायमाच्येति सत्यतः सत्यार्थमाशङ्क्य-त्वाभावाच्च तद्वचमिति भावः ॥ न द्वितीयो भेदस्याप्राप्ताधिक्यत्वाच्च न नुबद्धोऽनुवर्ततचोपायत्वमते सर्वस्योपायस्याद्वये विद्यात्मनि कथितत्वमप्याह उचिचारयाऽनुवर्ततचोपायसत्यत्वं हेतुत्वेन ज्ञेयमित्याह—इत्यादीति ॥



ज्ञानमात्रमेव विपरीतज्ञानव्यवधानापोहार्यत्वाज्ज्ञानस्य । एवमिहाप्यात्मनोऽलामोऽविद्यामा-  
त्रव्यवधानम् । 'तस्माद्विद्यया तदपोहनमात्रमेव लामो नान्यः कदाचिदप्युपपद्यते । 'तस्मा-  
दात्मलाभे 'ज्ञानादर्थान्तरसाधनस्याऽऽनर्थक्यं वक्ष्यामः । तस्माद्विराशङ्कमेव ज्ञानलामयो-  
रेकार्यत्वं विवक्षमाह—'ज्ञानं प्रकृत्यानुविन्देदिति । विन्दतेर्लभार्यत्वात् ।

'गुणविज्ञानफलमिदमुच्यते—यथाऽयमात्मा नामरूपानुप्रवेशेन 'ह्याति गत आमे-  
त्यादिनामरूपाभ्यां प्राणादिसंहति च श्लोकं प्राप्तवानित्येवं यो वेद स कीर्ति ह्याति  
श्लोकं च संघातमिष्टैः सह विन्दते समते । 'यद्वा यथोक्तं वस्तु यो वेद मुमुक्षूणामपेक्षितं  
कीर्तिशब्दितमं वक्ष्यज्ञानं तत्फलं श्लोकशब्दितं मुक्तिमाप्नोतीति मुख्यमेव फलम् ॥७॥

तस्मादिति । अविरोधमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना । तयोरेकार्थत्वेऽपि कथमनुविन्देदिति नध्ये  
प्रयुज्यते तत्राऽऽह—विन्दतेरिति ।

आदिमध्यावसानानामविरोधमुक्त्वा कीर्तिमित्यादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—गुणेत्यादिना ।  
इतिशब्दावुपरिष्ठाद्यर्थस्य संबन्धः । 'ज्ञानस्तुति'श्चात्र विवक्षिता 'ज्ञानिनामोदफलस्यानभिलषित-  
त्वादिति द्रष्टव्यम् ॥७॥

से प्रतिरेक होने से) इसलिए विद्या से उस (प्रविद्या) को दूर कर दना ही आत्मलाभ है, इसके  
प्रतिरिक्त और किसी का लाभ होना कदापि सम्भव नहीं है । इसलिए आत्मलाभ में ज्ञान से भिन्न  
दूसरे साधन की अनर्थकता हम बतलाएंगे । (प्रदर्शित रीति से साध और ज्ञान में एकता होने से)  
इसलिए 'ज्ञान' और 'लाभ' इन दोनों शब्दों की एकार्यता में कुछ भी शरा नहीं है—इसी को बतलाने  
की इच्छा से श्रुति ने ज्ञान का उपक्रम करके "अनुविन्दत्" (प्राप्त करे) यह कहा, क्योंकि 'विद्'  
'पातु लाभार्थक है ।

इस गौण विज्ञान का यह फल बतलाया जाता है । जिस प्रकार यह आत्मा नाम और रूप के  
अनुप्रवेश द्वारा ह्याति को प्राप्त हुआ है, एव आत्मा इत्यादि नाम और रूपों के कारण प्राणादिसंहति-

१. आत्मलाभस्याज्ञानान्तिरेकात् । २ प्रदर्शितरीत्या ज्ञानलाभयोरैवत्वात् । ३ शब्दयोः । ४ ज्ञान  
प्रकृत्येति । अनेन हीति ज्ञानार्थेन विदिनोपक्रम्य अनुविन्देदिति लाभार्थेन विदिना मध्ये लाममुक्त्वा भूगोफल-  
त्वे ज्ञानार्थेन विदिनोपसंहृतिमाहति योग्यम् । ५ इव गौण विज्ञानस्य फलम् । ६ ह्याति गत इति ।  
इत्तं वातिके—'अप्रस्थातो यथैवाऽऽत्मा व्याकृत ह्यातिमेयिषान् । एव तदवबोधान्न ह्यातिमेत्यभिरुच्यते ॥  
याऽऽत्मा सहति प्रापद्वाहृत करणादिभिः । एव विद्वानवाप्नोति पुत्रायात्यादिसंहतिम्" ॥१०२०-१०२१॥  
ति । अभ्याहृते नामरूपाभ्यामप्रस्थातोऽपि व्याकृत जगति ताम्यामाह्वानस्तथा यथोक्तात्तज्ज्ञानादधिष्ठो नरो  
नल्पसिद्धो ह्यातिमेतीत्यर्थः । ७ न हि सचवत्या मुख्यपनोत्थी स्तुतिकल्पना युक्तेत्यभिप्रेत्याह—  
द्वेति । ८ उपमाय । ९ ननु उक्तं फलमात्मज्ञानानुवृत्त तस्य निरतिशयपत्तोपायत्वादित्यत आह—  
ज्ञानस्तुतिरिति । तदुक्तं वातिके—'उक्तज्ञानप्रवृत्त्यर्थमर्थवाद्योऽयमिष्यते" ॥१०२२॥ इति । १०. फलवाक्ये ।  
११ ननु ब्रह्म वेदेत्यादिवत् फलविवक्षयेवाय वाह किं न स्यादत आह—ज्ञानिनामिति । तदुक्तम्—'निरियणानो  
नेदपि ससार श्रविज्ञासताम् । फल युक्त प्रवृत्त्यङ्गमथवादो भवेदतः" ॥१०२३॥ इति । एषानात्रयविनिर्मुक्तानां  
तदन्तस्य ससार त्यक्तुमिच्छतां तदन्तर्भूत ह्यात्यादिफल मोचितमित्यर्थः । फलविक्षाप्रयोगे वाक्यस्य  
ज्ञानस्तुत्यर्थत्वं एकतीत्याह—प्रवृत्तीति ॥

वह यह आत्मतत्त्व (लोकप्रसिद्ध प्रिय) पुत्र से अधिक प्रिय है। सुवर्णादिरूप से अधिक प्रिय है और लोक में प्रियरूप से प्रसिद्ध अन्य सभी वस्तु से भी प्रियतर है, क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अत्यन्त समीपवर्ती है। वह जो आत्मा को प्रिय देखने वाला है, यदि आत्मा से भिन्न भनात्मा को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि "तेरा प्रिय नष्ट हो जाएगा" तो वेसा ही हो जाएगा, क्योंकि वह ऐसा कहने

आत्मनः पदनीयत्वे 'तस्यैवाज्ञातवत्तभवो हेतुस्तोऽधुना तत्रैव हेत्वन्तरत्वेनोत्तरवाक्यम-  
वतारयति—कृतश्चेति । 'अन्यद्वान्तेति यावत् । 'विरक्तस्य पुत्रे प्रीत्यभावात्कथमात्मनस्तस्मात्प्रिय-

रूप श्लोक को प्राप्त हुआ है, इस प्रकार जो ऐसा जानता है, वह 'कीर्तिम्' अर्थात् ब्रह्माति 'ब्रह्मोक्तम्' अर्थात् इष्टजनों से मिलन को 'विन्दते' अर्थात् प्राप्त करता है। अथवा जो उपर्युक्त वस्तु को जानता है, वह मोक्षकामी अवेक्षित कीर्तिरूप से कथित ऐक्यज्ञान तथा उसके फल श्लोकशब्द से कथित मुक्ति

[illegible]

तथैव--स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य  
आत्मातमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं  
प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

मे समर्थ है। अतः (सम्पूर्ण, अनात्मवस्तु का परित्याग कर) आत्मरूप प्रिय की ही उपामना करे। जो पुरुष आत्मरूप प्रिय की उपासना करता है अर्थात् आत्मा ही प्रिय है, अन्य लौकिक पदार्थ प्रिय होने पर भी अप्रिय ही हैं। ऐसा निश्चय करके चिन्तन करता है, उसका अत्यन्त प्रिय मरणशील नहीं हो सकता ॥८॥

पुत्रात् । 'पुत्रो हि लोके प्रियः प्रसिद्धस्तस्मादपि, \*प्रियतरमिति निरतिशयप्रियत्वं दर्शयति । तथा वित्तादिरप्यरत्नादेस्तथाऽन्यस्माद्यल्लोके प्रियत्वेन प्रसिद्धं तस्मात् सर्व-

तरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पुत्रो ह्येति । प्रियतरमात्मतत्त्वमिति शेषः । लोकदृष्टिमेवावष्टभ्याऽऽह—  
तथेति । वित्तपदेन मानुषवित्तवद्देवं वित्तमपि गृह्यते । विशेषाणामानन्त्यात्प्रत्येकं प्रदर्शनमवश्य-

को प्राप्त करता है। अर्थात् उसे मुख्यफल प्राप्त हो जाता है ॥७॥

और हेतुन्तर से अन्य सबका अनादर करके आत्मतत्त्व ही श्रेय है, इस पर श्रुति कहती है—  
'तदेतत्' अर्थात् वह यह आत्मतत्त्व, पुत्र से 'प्रिय' अर्थात् प्रियतर है। क्योंकि लोकदृष्टि में पुत्र

१ पुत्रो हि लोके प्रिय इति तथा च लोकदृष्ट्याऽऽग्र्यामस्तस्मात् प्रियतरत्वमुक्तं न तु धीतराममुमुसुहृदपेक्षार्थं ।

२ गृह्यते इति । ननु मानुष वित्त पदादि वचनफलकत्रवित्तपदेन गृह्यतां देव वित्त ध्यामास्य मुक्तिफलकं तेन ब्रह्ममिति चेन्न । यथा पुत्रकर्मणोर्मेनुष्यतोऽपि पितृलोकत्रयं फलमेव देवलोकोऽपरविद्यान्वदैववित्तस्यापि फलं विद्यायां देवलोक इति श्रुतेनैव मुक्तिस्तत्फलं प्रतिषेधश्रुतेस्तत्तदपि ब्रह्मम् । तदुक्तं नातिके—'देवलोकं फलं यस्मादैवस्यापि न तत्त्वमिति' ॥१०३२॥ इति ।

३ प्रियतरमिति । नातिकाचार्यस्त्वतीयमु प्रत्ययस्य समर्थकत्वमाहुस्तथाहि—'इयमुस्तमर्थं स्यात्पुत्रादीनां बहुत्वम् । छादसत्त्वात्प्रियतमस्येवाऽऽत्मा सप्रवर्धयतीति' ॥१०३०॥ बहूनामेवस्य निर्धारणे तमसो विधाना-  
दात्मनश्च प्रियत्वे पुत्रादिभ्यो बहुभ्योऽतिशयस्य विवक्षितत्वादिति हेतुमाह—पुत्रादीनामिति । ननु द्विषधन-  
विमर्ग्योपपदे तद्वीचमुना'विति स्मरणात्तमवयवत्व तस्यामुक्तं तत्राऽह—छादसत्त्वादिति । इयमुस्तस्या  
समाचार्यैवस्मृतावयवस्य बहुयोगतत्त्वात्साधयविवक्षित्वा तमवयवत्वमेष्टव्यमित्यर्थः । छादसत्त्वेऽपि किमित्यस्या-  
तिशयमात्रादाय तमवयवतेष्टा मुख्यसमये लक्षणायोगादित्याशङ्क्य प्रियतमत्वस्यैवाऽऽत्माति सप्रवादस्य  
सादृशोऽभावात्तस्मिन्तीयमुक्तमवयवत्वमेवेत्याह—प्रियतम इति । अपरिवचारेण । आत्मैव प्रियतमो न  
तथाऽऽत्मा तस्मिन्प्रियतमत्वमेव सम्भवति पुत्राद्यनकापेक्षया प्रियत्वादिति योजना ॥

४ सर्वस्मादिनि । अन्त्यात्मनि प्राणादौ च प्रीते सत्त्वात् वचनारम्भे प्रियतमत्व तत्राहुर्वातिकाचार्या—

"प्रीतिसाधनो हेतुत्वात्प्राणादौ प्रीतिरिष्यते । कन्धकोप्रीतिर्यमुल्या नैवान्तरमसु युज्यते ॥ व्याध्याद्युपप्लुतो

यस्मादपि निर्विण्णमानसः । अयं मरणं येन यम दुःखाद्विनात्मनः ॥ प्रतीति निनिमित्तं च सर्ववर्था-

स्वपीत्यने । प्रीतिरमुष्णः सत्त्वादात्मा प्रेयान्तरात्मनः" ॥१०३३-१०३४॥ इति । उत्तासो मानसः

प्रीतिस्तस्मात् साधनमुत्पादनं तत्र हेतुत्वादिति यावत् । वयंकी वारयमिता । यथैकीति पाठे ॥ यथैकी अक्षरी





नेनैवेतरहानं क्रियते न विपर्यय इति । उच्यते—स यः 'कश्चिदन्यमनोऽत्मविशेषं पुत्रादिकं प्रियतरमात्मनः सकाशाद्ब्रूवाणं ब्रूयादात्मप्रियवादी । किम् । प्रियं त्वामिमं पुत्रादिलक्षणं रौतस्यत्यावरणं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति 'विनङ्क्ष्यतीति । 'स कस्मादेवं ब्रवीति । यस्मादोश्वरः समर्थः पर्याप्तोऽसावेवं वक्तुं ह' यस्मात्तस्मात्तयैव स्याद्यत्तेनोक्तं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति । यथाभूतवादी हि सः । तस्मात्स ईश्वरो वक्तुम् । ईश्वरशब्दः 'भिप्रवाचीति केचित् । भवेद्यदि प्रसिद्धिः स्यात् । तस्मादुज्झित्वाऽन्यत्प्रियमात्मानमेव प्रियमुपासीत ।

संधानमिति विभागः । 'युक्तिनेत्रं दर्शयितुमनन्तरवाक्यमवतारयति—उच्यते इति । यः कश्चिदात्म-प्रियवादी स 'तस्मादन्यं प्रियं ब्रूवाणं प्रति ब्रूवादिनि संबन्धः । वक्तव्यं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—किमित्यादिना । आत्मप्रियवादित्वेनैव वदत्यपि पुत्रादिनास्तत्त्वाख्यायो नियतो न सिध्यतीत्याशङ्क्य परिहरति—स कस्मादित्यादिना । शब्दोऽवधारणार्थः समर्थपदादुपरि संबध्यते । तस्मादेवं वक्तोति शेषः । उक्तं सामर्थ्यमनूद्य कलितमाह—यस्मादिति । अथाऽऽत्मप्रियवादिना यद्योक्तं सामर्थ्यमेव कथं लब्धमित्याशङ्क्याऽह—यथेति । अतोऽन्यदार्तं 'मित्यनात्मनो विनाशित्वादिनाशिनश्च बुद्ध्यात्मकत्वात्-प्रियत्वस्य भ्रान्तिमात्रत्वादात्मनस्तद्वैपरीत्यान्मुष्या शीतिस्तत्रैवानात्मन्यमुष्येति भावः । 'पक्षान्तर-मनूद्य बृद्धप्रयोगाभावेन ब्रूयति—ईश्वरशब्द इति । अनात्मन्यमुष्या शीतिरिति स्थिते कलितमाह—

से अन्य प्रिय पदार्थों को उपलब्धि होने पर आत्मरूप प्रिय पदार्थ को प्राप्त करके अनात्मपदार्थ का त्याग किया जाता है इसके विपरीत नहीं होता । इस पर श्रुति कहती है—वह यह आत्मप्रियवादी (आत्मप्रियवादित्व की दुर्लभता प्रदर्शन के लिए) 'अन्यम्' अर्थात् किसी दूसरे पुत्रादि-अनात्मविशेष को आत्मा की अपेक्षा प्रियतर बनाने वाले से कहे । क्या कहे ? 'प्रियम्' अर्थात् पुत्रादिरूप तुम्हारा अभीष्ट पदार्थ 'रौतस्यति' अर्थात् आवरण या प्राणसंरोध को प्राप्न हो जाएगा अथवा विनाश को प्राप्त हो जाएगा । वह किस सामर्थ्य से ऐसा कहना है ? क्योंकि वह ऐसा कहने में 'ईश्वर' अर्थात् समर्थ यानी पर्याप्त है । क्योंकि वह ऐसा है, इसलिए वैसा ही होगा जैसा उसने कहा है, वह प्राणसंरोध को प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि वह यथाभूतवादी है, इसलिए वह ऐसा कह सकता है । किन्तु के मत में ईश्वर शब्द शीघ्रतावाचा है (यानी शीघ्र विनाश हो जाएगा) । किन्तु यदि इस अर्थ को प्रसिद्धि होती तो ऐसा अर्थ हो सकता था । इसलिए (अनात्मप्रीति के शोण होने से) अन्य प्रिय पदार्थों को छोड़कर

- १ आत्मप्रियवादित्वस्य दोषऽन्वयोन्यायम् । २ विनङ्क्ष्यतीति । स आत्मनोऽन्य, प्रियतयाऽभीष्टो विनश्यन् सन् तद्बुद्धसङ्गोवेति ध्येय । ३ यस्मात्सामर्थ्यात् । ४ भिप्रवाचीति । तत्सर्वे ईश्वरो रौतस्यतीति सिप्र विनङ्क्ष्यतीत्यर्थः । तदुक्तम् नातिवे—यस्ते प्रियतयाऽभीष्टः सोऽचिरादपि सङ्गच्छेत् । यतो नहस्यति स सिप्र नश्यत्वामुक्तवृत्तिप्रय" ॥१०४८॥ इति । प्रियस्य नश्यतो बुद्धिरस्य प्रसिद्धिमिति वक्तुं शक्यम् । ५ अनात्मप्रीतमौलत्वात् । ६ युक्तिः भ्रान्तिमिति—आत्मवत्त्वाऽऽत्मनाऽधानपेक्षत्वादनारमनश्चाऽऽत्मापेक्षत्वात् सोऽन्तरतम इति गृहणी युक्तिरपि द्रष्टव्या तथा चोक्तं नातिवे—'प्रत्यक्षाऽन्यापेक्षा हि तदव्यवहारपेक्षाया । यतोऽन्तरतम प्रत्यक्षत्वादेवावगम्यत" ॥१०४९॥ इति । अपेक्षणीयत्वस्य समनो हिणदार्थः । अनात्मनाऽना-त्मात्वादेव स्वातन्त्र्यायोगः । प्रत्यक्षत्वस्याऽऽत्मनि स्वाभावित्वत्वे कलितमाह—यत्त इति । ७ आत्मन । ८ भुत्वा । ९ ईश्वरशब्दार्थत्वे पक्षान्तरम् ।



तदाहुयद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या  
मन्यन्ते । किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभव-  
दिति ॥ ६ ॥

(उसके विषय मे ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मण ने) यह कहा है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य "हम सबरूप हो जायेंगे" ऐसा मानत है । उसके विषय मे यह प्रश्न होता है कि उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिस विज्ञान से वह ब्रह्म सबरूप हो गया ? ॥ ६ ॥

ॐ सूत्रिता ब्रह्मविद्याऽऽत्मैवेवोपासीतेति' यदर्थोपनिषत्कृत्स्नाऽपि तस्यैतस्य सूत्रस्य व्याचिह्न्यासुः प्रयोजनाभिधित्सयोपोज्जिघासति-तदिति वक्ष्यमाणमनन्तरवाक्या-

तदाहुरित्यादिगतेन ग्रन्थेन सबन्धवत्तु वृत्त कीर्तयति-सूत्रितेति । तस्या प्रमाणमाह-यदर्थेति । तर्हि सूत्रव्याख्यानेनैव सर्वोपनिषदर्थसिद्धेस्तदाहुरित्यादि वृत्तेत्याशङ्क्याऽऽह-तस्येति । विद्यासूत्र व्याख्यातुमिच्छन्तो भूति सूत्रितविद्याविवक्षितप्रयोजनाभिधानाद्योपोद्घात चिकीर्षन्ति । प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ सगृह्य तादर्थ्येनार्थात्तरोपवर्णनस्य 'तथात्वाच्चिन्ता प्रकृतसिद्धधर्मापुपोद्घात प्रचक्षत इति' न्यायावित्यर्थः । यद्ब्रह्मविद्येत्यादिवाक्यप्रकाश्य बोध तच्छब्देनोच्यते 'प्रकृतसंबन्धासम्भाव-

जिसकी बोधीभूत समस्त उपनिषद् है उस ब्रह्मविद्या का भूति न वह आत्मा है-इस प्रकार 'उपासना करे' इस वाक्य से सूत्ररूप से व्याख्यान दिया है । उस इस सूत्र का व्याख्यान करने की इच्छुक भूति उसका तात्पर्य बतलाने की इच्छा से उपक्रम करना चाहती है । (मूल मन्त्र मे) 'तत्' इस

१ किन्विति-धृतौ किञ्च दमायस्य बोधद्वयमुदीरयेत् । कि तद्ब्रह्मैत्येवमेक किमर्थेति चापरम्' इति वातिकसारे ॥ २ इति वाक्येनेत्यर्थः । ३ यदर्थेति । यच्छेपोभूतस्य । सूत्रितब्रह्मविद्याजनकत्वेनोपनिषदस्तद्वैतमिति ज्ञेयम् । ४ तर्हि-सर्वस्या उपनिषद् सूत्रितविद्यापेक्षामुपगम इत्यर्थः । ५ अभिमतस्य । ६ उपोद्घातत्वत् । ७ स्मृते । ८ पूर्वोपक्रान्तेन सह मन्त्रस्यस्य ।

ॐ सूत्रित्याद्युपोपासीतसतीत्यन्तर्भाष्याभिप्रायविकरणपरान्वि पदवातिकानि मन्ति । तथाहि-आत्मैत्येनैव वाक्येन ब्रह्मविद्यासूत्रिता । यदर्थोपनिषत्कृत्स्ना वृत्तिस्तस्या भविष्यति ॥ आत्मैत्येनैव सूत्र कीर्तकाद्वयमेव वा । अध्यायो वा समस्तो यमध्यायद्वयमेव वा ॥ अध्याहृतध्याकरणप्रभृतीन्परे विदुः । पञ्चव किं सूत्राणि तदाऽपीष्टं न वाच्यत ॥ अध्याहृतं स एव तदाऽऽर्हति चापरः । पदनीयं तथा प्रथमं पदाया पञ्च सूत्रिता ॥ यद्योक्तानां च सूत्राणामा शास्त्रस्य समापनात् । वृत्तं स्यादुत्तरो ग्रन्थस्तत्र तथा समाप्तत्वात् ॥ व्याचिह्न्यासुरपक्षानी सूत्रार्थाऽभ्युतिरञ्जना । प्रयोजनाभिधित्वाया उपादधात प्रवर्तते ॥ १०६३ १०६४ ॥ इति । उपसूत्रितेति । विद्यासूत्रस्य तात्पर्यादुपगम्य सूत्रितायाजान्त्वोपनिषदस्तच्छब्दमाह-यदर्थेति । तर्हि सूत्रव्याख्यानेनैव सर्वोपनिषदर्थसिद्धेस्तदाहुरित्यादिवृत्त्याशङ्क्याऽऽह-वृत्तिरिति । तदाहुरित्यादयो ग्रन्थो भविष्यत्यसौ सूत्रिताया विद्याया वृत्तिरिति योजना ॥ आत्मैत्येवोपासीतस्येत्यस्य सूत्रमुत्तरं तर्हि तद्विवरणमित्युक्तमनुवदति-आत्मैत्येकमिति । तद्वत्तथा कण्डिका तदादियपरा तदुभय सूत्रमपरमस्य विवरणमित्याह-कण्डिकेति । तृतीयाध्याय सर्वोद्येव सूत्रमुत्तरं प्रपञ्चस्तस्ययाह-अध्यायो वति । तृतीयाध्यायस्यतुर्थाध्यायस्य सूत्रमुत्तरं विवरणमित्याह-अध्यायति ॥ स्वाधीष्टा सूत्रवृत्तिं विवस्वद्वाराकत्वा भट्ट प्रपञ्चेष्ट तद्विभागमाह

वद्योत्यं' वस्त्वाहुर्ब्राह्मणा' ब्रह्म विविदिषवो जन्मजरामरणप्रबन्धचक्रभ्रमणकृतायास्त-  
दुःखोदकापारमहोदधिप्लवभूतं गुरुमासाद्य तत्तीरमु'त्तितीर्थवो' धर्माधर्मसाधनतत्फललक्षणा-  
त्साध्यसाधन'रूपाग्निविष्णास्तद्विलक्षणनित्यनिरतिशयश्रेयः प्रतिपित्सवः । किमाहुरित्याह-

दित्याह—तदिति । ब्राह्मणमात्रस्य' चोद्यकृत्'त्वं व्यावर्तयति—ब्रह्मेति । 'उत्प्रेक्षया ब्रह्मवेदनेच्छावत्त्वं  
व्यावर्तयितुं तदेव विशेषणं' विभजते—जन्मेति । जन्म च जरा च मरणं च तेषां प्रबन्धे प्रवाहे  
षड्वदमवरत भ्रमणेन कृतं यदायासात्मकं दुःखं तदेवोदकं यस्मिन्नपारे संसाराख्ये महोदधौ तत्र  
प्लवभूतं तरणसाधनमिति यावत् । तत्तीरं तस्य संसारसमुद्रस्य तीरं परं ब्रह्मेत्यर्थः । तेषां  
विविदिषायाः साफल्यार्थं 'तत्प्रत्यनीके संसारे वैराग्यं दशयति—धर्मेति । 'निर्वेदस्य निरङ्कुशत्वं  
धारयति—तद्विलक्षणेति । उत्तरवाक्यमवसानं व्याचष्टे—किमित्यादिना । अथ परा यया तदक्षरम-

पद से वक्ष्यमाण अनन्तरवाक्य प्रकाश्यवस्तु का ग्रहण हाता है । ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्म की जानने की इच्छा  
वाले हैं, जन्म-वृद्धावस्था-मरणरूप प्रवाह में चक्र की तरह अनवरत भ्रमण से उत्पन्न आयासात्मक-  
वाले हैं, जैसे, ऐसे अपार संसाररूपी महासमुद्र को तरण के लिए नौकारूप गुरु की धारण  
दुःखरूपी जल है जिसमें, ऐसे अपार संसाररूपी महासमुद्र को तरण के लिए नौकारूप गुरु की धारण  
में जाकर उस समुद्र के तीर को पार पारन के इच्छुक धर्माधर्म साधन और फल वाले साध्यसाधनरूप  
से जाकर उस समुद्र के तीर को पार पारन के इच्छुक धर्माधर्म साधन और फल वाले साध्यसाधनरूप  
संसार से वैराग्य धारण करने वाले और उससे विलक्षण नित्य निरतिशय श्रेय के जानने वाले उन ब्रह्म-  
जिज्ञासुओं ने ऐसा कहा । क्या कहा ? इस पर कहते हैं । "यद्विद्वद्ब्रह्मविद्या" इस पद में ब्रह्म परमात्मा  
का नाम है, वह जिससे जाना जाता है, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं । उस ब्रह्मविद्या के द्वारा, "सर्वम्"  
का नाम है, वह जिससे जाना जाता है, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं । उस ब्रह्मविद्या के द्वारा, "सर्वम्"  
अर्थात् निरवशेष मोक्षरूप "अविष्यन्त" अर्थात् हो जायँगे, इस प्रकार मनुष्य जिसे मानते हैं । "मनुष्य"

१ अद्योत्यं वस्तिवति । ब्रह्मणी सर्वात्मत्वे हेतुरित्यत्र मुमुक्षवो विविदिषवा मुमुक्षनिर्घो यन्वोद्यमाहृतदनन्तर-  
वाक्यप्रकाश्यमत्र यच्छब्दितमित्यर्थः । २ ब्रह्मजिज्ञासवः । ३ नेप्सद । ४ धर्मादिरूप यत्साधन तत्फल  
स्वर्गादि तद्गुणात्संसारम् । ५ पुण्यस्यैव विवरणमिदम् । ६ जातिमात्रविक्षिप्तम् । ७ निर्मूलकल्पना ।  
८ विषुगोति । ९ विविदिषाप्रतिद्वन्द्विनि । १० निर्वेदस्यानि—सर्वार्थदिव मोक्षादपि वैराग्य स्यात्  
फलवक्ष्योद्यमवशादित्याशङ्क्यस्यादि । निरङ्कुशत्वम्—असङ्कुचितत्वम् ।

—अध्याकृतेति । उक्तमिदं तस्य तदीयमप्रदायावगतत्वद्योगनाथं किरमुक्तम् । अस्यापि कल्पनायां नैक्य-  
जानान्मोक्षस्य न क्षतिरित्यङ्गीकार सूत्रविभागस्य भूययति—तथाश्रीति ॥ तायेव परोक्तसूत्राणि प्रदर्शयति  
—अध्याकृतमिति । एषेहेति च्छान्दस्या प्रक्रियया सन्धिरनादृत । अज्ञातमात्मतत्त्वं जगती निदान तदेव सृष्टे  
जगति प्रविष्ट तदेव चानात्मनो हित्वा ज्ञातव्य तस्यैव ज्ञातव्येन पदनीयत्वं तदेव च प्रियतममिति पदाय-  
पञ्चकमत्र सूचितमित्यर्थः ॥ उत्तरप्रबन्धोक्तसूत्रवास्तत्त्वं प्रवृत्तिमाह—यथाज्ञानमिति । सूनिताध्याहृता-  
दीनामुत्तरप्रबन्धे सम्पन्नगुणैरिति हेतुमाह—सन्नेति । ज्ञतं च—एतेषां गुणोपपन्नस्तानां वृत्तिस्थानीय उत्तरो  
प्रबन्ध आरभ्यत आ परिमत्वाये आस्त्यस्यति ॥ स्वपरपक्षयो सूत्र विभक्त्यै स्वपक्षे तदाहुरित्यादस्तात्पर्यमाह  
—व्यावृत्त्यागुरिति । सूत्रप्रवृत्तेरनन्तरमवसरे सत्यात्मत्वादिमूत्रार्थमात्मज्ञान तत्प्राप्तनानपि विवेनादीनु-  
पायभेदान्जज्ञा व्याख्यामुमिच्छन्ती श्रुति सूत्रितज्ञानकनकनयानयोपेक्षा 'विन्ता प्रहृतिदिषयानुपेक्षा  
प्रपन्नते' इत्युक्तलक्षणं नरातीत्यर्थः । अथेति सूत्रविभागावस्थानन्तर्भाति । आदौ सूत्रं ततो वृत्तिरिति प्रमाण-  
मिदानीमित्युक्तम् । सूत्रभेदे तदने च तदवज्ञानेनयसि तत्र तत्र उदुकिर्वाक्याभेद इष्ट्वा बहुक्तिरिति  
इष्टव्यम् । इच्छापक्षविवक्षितः ॥

यद्वह्यविद्याया ग्रह्य परमोत्तमा 'तद्यथा वेद्यते स ग्रह्यविद्या तथा ग्रह्यविद्याया 'सर्वं निरवशेषं भविष्यन्तो भविष्याम इत्येवं मनुष्या यन्मन्यन्ते । मनुष्यग्रहणं 'विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थम् । मनुष्या एवं 'हि विशेषतोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृता इत्यभिप्रायः । यथा 'कर्मविषये फलप्राप्तिं ध्रुवां कर्मभ्यो मन्यन्ते तथा ग्रह्यविद्यायाः सर्वात्मभावफलप्राप्तिं ध्रुवामेव मन्यन्ते । 'वेदप्रामाण्यस्योभयत्राविशेषात् ।

धिगम्यत, इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—तद्येति । मनुष्या यन्मन्यन्ते "तत्र विरुद्धं" वस्तु भातीति शेषः । मनुष्यग्रहणस्य कृत्यसाह—मनुष्येति । ननु देवादीनामपि विद्याधिकारो "देयताधिकारणव्याप्तेन वक्ष्यते तत्कुतो मनुष्याणामेवाधिकारज्ञापनमित्यत आह—मनुष्या इति । विशेषतः सर्वाविस्वादेनेति यावत् । "तथाऽपि किमिति "ते ज्ञानान्मुक्तिं "सिद्धवद्भुवन्तोऽस्याङ्गुष्ठाऽऽह—यथेति । उभयत्र कर्म-ग्रह्यणोरिति यावत् ।

यद का ग्रहण सर्वाविस्वावरूप से ज्ञान और कर्म का अधिकार ज्ञापन करने के लिए है । आकाशय रह है कि अभ्युदय और नि श्रेयससिद्धि के लिए ज्ञान और कर्माभ्युदयनो मे विशेषत मनुष्यो का ही अधिकार है । जिस प्रकार कर्मकाण्ड मे कर्मों से होने वाली फलप्राप्ति को अव्यभिचारी मानते है, उसी प्रकार ग्रह्यविद्या से सर्वात्मभावफलप्राप्ति को भी अव्यभिचारी ही मानते हैं । (दूसरा हेतु यह है कि) वेद के प्रामाण्य मे दोनो ही के विषय मे समानता है ।

१. तद्यपि । यथा बुद्ध्या तद्ग्रहणं मन्त्रिदानन्दाख्य प्रत्यक्षत्वेन साक्षाद्वद्यत सा वाक्योत्था बुद्धिर्वाति ग्रह्यविद्या तथा ग्रह्यविद्याया सर्वं कृत्स्न भविष्याम इति यन्मनुष्या मन्यन्ते सभावयन्ति तत्र (समाहितेऽर्थे) विद्याफल-मधिकृत्य विरोध बोधयामो इति । अहं वस्तुनि यदप्रमाणं तत्परिणोचनार्थं मुमुक्षूणां चोद्य इष्टव्यम् ।
- २ मोक्षरूपम् । ३ विशेषतः—सर्वाविस्वादान । अधिकांशेति—ज्ञानकर्मणोरिति शेषः । ४ तेषामेव वेदार्थेऽधिकारिरिति पूर्ववाक्ये प्रदर्शितमिति हिद्यार्थाः । ५ ज्ञानकर्माख्ये । ६ अभिप्राय इति—अत्र मनुष्यग्रहणस्य कृत्यान्तरमाहर्वातिने । तथाहि—'दृष्टान्तो वा विद्याया मनुष्यग्रहणं कृतम् । तावन्मात्रो-ऽधिकाराय नानिहोऽधिकारवत् ॥ प्रत्युक्त्यत यो यस्तदिति चोर्ध्वं प्रवदति । नात कर्माधिकारं च दृष्टार्थ-त्वादपश्यत ॥ १०८५-१०८६ ॥ इति । विद्याया शीवादिनाशाख्यदष्टपत्तत्वात्कामो सर्वोऽपि साधारणा-धिनारितक्षणान्तोऽत्र विद्यायामधिकारी न त्वन्मिहोऽधिकारिवारिवियमवदत्र तन्नियमोऽस्तीति वक्तुमेव मनुष्यास्तिरित्यर्थः ॥ कर्माधिकारिवद्भागे नापेक्षितो विद्याधिकारोऽधिकारीत्यत्र मानमाह—प्रत्येति । प्रवदतीति—विद्याधिकारनियममिति शेषः । मनुष्यग्रहणं विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थमित्यादिभाष्ये तर्हि षड्भिः साङ्ख्य वाक्योपनिषोऽष्टाङ्गस्येतित्याह—नाह इति । अतो दृष्टान्तरादिति सवन्धः । कर्माधिकारी तद्विद्याधिकारो-ऽधिकारीत्यर्थः । अत्रेति विद्यायामिति त्वर्थः ॥ ७ कर्मकाण्डे । ८ अव्यभिचारित्वम् । ९ एवेति—उभयत्र साधनत्वशक्त्यविशेषादित्यर्थः । १० हेत्यन्तरमाह—वदति । ११ मनुष्ययते । १२ मोक्षारूपत्वम् । १३. देवताधिकारणम्—तदुपर्यपि वादरायणं सभावात् (प्र. सू. १।३।२६) इत्येवमादि । देवताधिकारणमिति प्रमाणान्तरमवादविस्वादाभावे गति तत्र मन्त्रादौ विग्रहादिरूपोऽत्र मिश्र्यति स देवताधिकारणव्याप्यः । यथा 'वद्यहस्तं पुरन्दरं शयनं तात्पर्याविषयोभूतमपि ( ऐन्द्राक्षप्राणस्यविषयत्वात्तात्पर्यस्य ) देवताविग्रहस्य वज्रहस्तस्य च सिध्यति तथा 'यो यो देवानामित्यदिभूतितात्पर्यस्य ग्रह्यविदस्तद्वापत्तिविषयत्वेऽपि तदभियमभूतोऽपि देवादीनां विद्याधिकारं लिख्यतीति । १४ मनुष्यग्रहणस्योक्ततात्पर्यवत्त्वेऽपि । १५ ब्राह्मणा । १६ निश्चित्यन्त इव ।

उत्तराश्वयुजादन्ते—तत्रेति । मनुष्याणां मते तच्छब्दार्थः । वस्तुशब्देन ज्ञानात्फलमुच्यते ।

[illegible]

किंतु (ज्ञान मनुष्य द्वारा सम्भावित अथ) मे है, उसमे कलात्मक वस्तु मोक्ष है) यह वान विद्वत् 'सी प्रतीत होती है। इसलिये हम पूछते हैं—वह ब्रह्म क्या है, जिसको जानने से 'सर्वरूप हो जायेंगे' ऐसा मनुष्य मानते हैं? उसने क्या जाना, जिसके जानने से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया? ब्रह्म का स्वरूप (तत्त्वाभाव) होना सुना जाता है। वह ब्रह्म यदि कुछ भी न जानकर सर्वरूप हुआ है, तो फिर दूसरो के लिए भी यही बात होनी चाहिए। ऐसे मे ब्रह्मविद्या से क्या प्रयोजन है? और यदि जानकर वह ब्रह्म सर्वरूप हुआ तो विज्ञानसाध्य होने से उसकी सर्वरूपता कमफल ब्रह्मसमान ही है, इससे ब्रह्मविद्या के फल की सर्वरूपता मे अनित्यत्व का प्रसंग आता है। वह ब्रह्म अपने से भिन्नप्रदार्थ को जानकर सर्वरूप हुआ, इससे पहले भी वह ब्रह्म किसी अन्य को जानकर सर्वरूप हुआ था—इस प्रकार अनवस्था

[illegible]

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तात्मानमेवावेत् ।  
 अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो  
 यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभव-  
 त्तयर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धेतुपश्यन्-

उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था । उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया । उसे देवताओं में मे जिम् जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया । ऐसे ही ऋषियो प्रौर मनुष्यों में से भी (जिस जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्म-रूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना । 'मैं ही मनु प्रौर सूर्य भी हुमा था', हम प्रकृतब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार से जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो वह इस

ततः पूर्वतरमप्यन्यद्विज्ञायेति । न तावदयिज्ञाय सर्वमभवत् । शास्त्रार्थवैरूप्यदोषात् । फला-  
 नित्यत्वदोषस्तहि, नैकोऽपि दोषोऽयंविशेषोपपत्तेः ॥६॥

यदि किमपि विज्ञायैव तद्ब्रह्म सर्वमभवत्पृच्छामः किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वम-

न तावदिति । अज्ञात्वं ब्रह्मणः सर्वभावोऽस्मदादेस्तु ज्ञानादिति 'शास्त्रार्थवैरूप्यम् । न चास्मदादेरपि' तदन्तरैरेण तद्भावः शास्त्रानर्थक्यात् । ज्ञानाद्ब्रह्मणः सर्वभावपक्षे स्थोक्तं दोषमाक्षेप्ता स्मारयति-  
 फलेति । 'स्वतोऽपरिच्छिन्नं ब्रह्माविद्यातत्कार्यसम्बन्धात्परिच्छिन्नवद्भाति 'तत्रि'वृत्त्योपाधिकं सर्वभावस्य साध्यत्वं न चानवस्था ज्ञेयान्तरानङ्गीकाराच्चापि 'क्रियाविरोधो 'विययत्वमन्तरैण वाक्यीयबुद्धिवृत्तौ स्फुरणादिति परिहरति-नैकोऽपीति । 'एतेन विद्यावैयर्थ्यमपि परिहृतमित्याह-अर्थेति । यद्यपि ब्रह्मापरिच्छिन्नं नित्यसिद्धं तथाऽपि तत्राविद्यातत्कार्यस्वरूपस्यार्थविशेषस्य ज्ञानादुपपत्तेर्न तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥६॥

इदानीं प्रश्नमनुष्य तदुत्तरत्वेन ब्रह्मत्याविधुतिमवतारयति-यदीत्यादिना । 'तत्र वृत्तिकृतां मतानुसारेण ब्रह्मशब्दार्थमाह-ब्रह्मेति । तस्य परिच्छिन्नरवाज्जानेन सर्वभावस्य साध्यत्वसंभवाविति

दोष आ जाता है । किंतु वह बिना जाने तो सर्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि इससे शास्त्र की अनर्थकता सिद्ध होने लगेगी । तो फिर (ज्ञान से सर्वभावप्राप्तिरूप) फल की अनित्यता का दोष बना रहा ? नहीं, ऐसा नहीं कह सकते । विशेषार्थ की सिद्धि होने से एक भी दोष नहीं रहेगा ॥६॥

यदि वह ब्रह्म कुछ जानकर ही सर्वरूप हुआ तो हम पूछते हैं कि उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिससे

१. तर्हीनि । ज्ञानात्सर्वभावावमुपपन्न इत्यर्थः । २. तर्हि । ३. शास्त्रार्थवैरूप्यमिति-सर्वभावपक्षे
- शास्त्रार्थ. कस्यविज्ज्ञानजन्यः कस्यचित्च तदजन्य इति तत्र विरुद्धधर्मवत्त्व वैरूप्यमित्यर्थः । ४. ब्रह्मण
- इत्येवमपि शब्दार्थः । अज्ञात्वं किंचिद्ब्रह्मण सर्वभावोऽस्मदादेस्तु ज्ञानादिति भावः । ५. स्वरूपतः ।
- परिच्छिन्नपारिच्छिन्नत्रिययमात्र बोधमपवादति-स्वत इति । ६. ज्ञात्वा सर्वमभवदिति पक्षोक्तमाशेषं प्रतिदिशति-
- तत्रिवृत्त्योपाधिकमिति । ७. कल्पितपरिच्छेदनिवृत्तिप्रयुक्तम् । ८. क्रियाविरोध इति-एवस्या क्रियावामेक-
- मैव धर्मत्ववृत्तिविरोध इत्यर्थः । ९. फलविषयत्व विना । १०. वदयमाणेन । ११. श्रुतिपटवमिति भावत ।

विश्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभव सूर्यश्चेति ।  
तद्विदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स  
इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या  
ईशते । आत्मा ह्येषा स भवति अथ योऽ-  
न्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति

विज्ञान से सर्वरूप हो जाता है । ऐसे तत्त्ववेत्ता के पराभव करने में द्योतनशील देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा हो जाता है । यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह भ्रज्जानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता । जैसे लोक में भारवाही पशु होता है, वैसे ही वह भेदवादी देवताओं का पशु है । जैसे

भवदिति । एवं चोदिते 'सर्वदोषानागन्धितं प्रतिवचनमाह—'ब्रह्मापरं सर्वभावस्य साध्यत्वोपपत्तेः । न हि परस्य ब्रह्मणः सर्वभावापत्तिविज्ञानसाध्या । विज्ञानसाध्यां च सर्वभावापत्तिमाह, तस्मात्तत्सर्वमभवदिति । 'तस्माद्ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यपरं ब्रह्मे ह भवितुमर्हति । 'मनुष्याधिकाराद्वा तद्भावी ब्रह्मणः स्यात् । सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या

हेतुमाह—सर्वभावस्येति । 'सिद्धान्ते पयोक्तृहेत्वनुपपत्तिं बोधमाह—न हीति । सा तर्हि विज्ञानसाध्या मा भूदित्यत आह—विज्ञानेति । हिरण्यगर्भस्य नोपदेशजन्यज्ञानाद्ब्रह्मभावः 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इति स्मृतेः स्वाभाविकज्ञानवत्त्वात्तत्सर्वमभवदिति चोपदेशाधीनधीसाध्योऽस्ती श्रुतो न चाऽऽसीदित्यतीतकाला-  
'वच्छेदश्चिकित्से' तस्मिन्नुच्यते । 'समवर्ततेति च जन्ममात्रं श्रूयते । कालात्मके तत्संबन्धस्य 'स्वाभय-  
पराहृतत्वान्मनुष्याणां प्रकृतत्वाच्च नापरं ब्रह्मे ह ब्रह्मशब्दमित्यपरितोपाद्भूतिकारमतं हित्वा ब्रह्मेति 'ब्रह्माभावी पुरुषो निर्विशय इति भर्तृ प्रपञ्चोक्तिमाश्रित्य 'तन्मतमाह—मनुष्येति । 'तदेव प्रपञ्चयति

वह सर्वरूप हो गया ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति इस प्रकार उत्तर देती है, जिसमें लेशमात्र भी दोष का स्पर्श नहीं है ।—ब्रह्मशब्द अपरब्रह्म यानी हिरण्यगर्भ का बोधक है, क्योंकि (ज्ञान द्वारा) सर्वभाव का साध्यत्व संभव है । परब्रह्म की सर्वभावापत्ति विज्ञानसाध्य नहीं है । इसी से वह ब्रह्म सर्वरूप हो ही गया' इस श्रुतिवाक्य से सर्वभावापत्ति विज्ञानसाध्य बतलाई गयी है । (परब्रह्म की सर्वभावापत्ति में विद्या की अपेक्षा न होने से) इसलिए 'वह ब्रह्म ही आदि मे था' इस श्रुतिवाक्य में 'ब्रह्म'शब्द अपरब्रह्म

१. उपोदभातोक्तसर्वदोषानुपपत्तिम् । २. हिरण्यगर्भः । ३. परब्रह्मणः सर्वभावापत्तेर्विज्ञानपेक्षत्वात् । ४. विद्याया मनुष्यस्यैवाधिकारात् । ५. मनुष्यः । ६. ब्रह्मशब्दार्थः । ७. परस्यैव ब्रह्मशब्दार्थत्वपत्तेः । ८. ज्ञानादिचतुष्टयम् । ९. सम्बन्धः । १०. विज्ञानस्वरूपे । ११. ननु "हिरण्यगर्भः समवर्ततामे" इति कातसम्बन्धोपेक्षे तत्र श्रूयत इत्याशङ्क्याऽह—हिरण्यगर्भं इति । १२. आत्माश्रयदोषेण निरस्तत्वात् । १३. इदानीमब्रह्माणि भाविष्यन्त्या । १४. तन्मतमिति—ज्ञानात्प्राग्वस्तुतोऽब्रह्मैव जीवो नानाद्ब्रह्मभूयं भवतीति तन्मतम् । १५. तन्मतमेव ।



न स वेद यथा पशुरेव<sup>७</sup> स देवानाम् । यथा  
ह वै ब्रह्मः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः  
पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमा-  
नेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न  
प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

लोक में बहुत से पशु जीविका प्रदाता का भार वहन करते हुए पालन करते हैं, वैसे ही हविष्यान्न प्रदान कर एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। उनमें से एक पशु का भी अपहरण किये जाने पर मनुष्य को अप्रिय जान पड़ता है, फिर भला बहुतों के अपहरण किये जाने पर तो कहना ही क्या ? । अतः यह देवताओं को सर्वथा प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जानें ॥१०॥

मन्यन्ते 'इति हि मनुष्याः प्रकृतास्तेषां चाभ्युदयनिःश्रेयससाधने' विशेषतोऽधिकार इत्युक्तम् । न परस्य ब्रह्मणो नाप्यपरस्य प्रजापतेः । अतो द्वैतकत्वापरब्रह्मविद्या कर्म-सहितयाऽपरब्रह्मभावमुपसंगमो मोज्यादपावृत्तः सर्वप्राप्त्योच्छिन्नकामकर्मबन्धनः पर-ब्रह्मभावी ब्रह्मविद्याहेतोर्ब्रह्मैत्यभिधीयते । दृष्टञ्च लोके भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य शब्द-

—सर्वमित्यादिना । द्वैतकत्वं सर्वजगदात्मकमपर हिरण्यगर्भात्स्य ब्रह्म तस्मिन्विद्यां हिरण्यगर्भोऽह-मित्यहंप्रहोपास्तिस्तथा सृष्टिचिन्ता तद्भाविहैवोपगतो हिरण्यगर्भपक्षे यद्भोऽर्थे ततोऽपि दीपवशना-द्विरक्तः 'सर्वकर्मफलप्राप्त्या निवृत्तकामादिनिगडः साध्यान्तराभावादिद्यामेवायंमानस्तद्भावाद्ब्रह्मभावी ओवोऽस्मिन्वाक्ये ब्रह्मशब्दाय इति कलितमाह—अत इति । कथं ब्रह्मभाविनिं जीवे ब्रह्मशब्दस्य

का बोधकता हो सकता है । अथवा विद्या में मनुष्य का ही अधिकार होने से ब्रह्मशब्द से ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला मनुष्य हो सकता है । 'हम सर्वरूप हो जाएंगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं ।' इस वाक्य से यहाँ मनुष्यो का प्रकरण है क्योंकि उन्हीं का अभ्युदय निःश्रेयसरूप ज्ञान-कर्म के साधनों में विशेषरूप से अधिकार है—ऐसा पहले कहा गया है । परब्रह्म या अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ का नहीं । परिशेषतः कर्म-सहित द्वैतकत्वरूप अपरब्रह्मविद्या द्वारा अपरब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ । भोगों से निवृत्त सर्वकर्मफल की प्राप्ति होने से जिसके काम और कर्मरूप बन्धन क्षीण हो गये है वह परब्रह्म को प्राप्त होने वाला मनुष्य

१ यथा हेति—यथा पशुरित्यनेनैवष्टमिदो किं यद्यत्यादिवाक्येन चैत्ररूपभोगैवादिर्ब्रह्मस्य दर्शयितुमिति गृहाण । तदुक्तम् वातिके—'एवैवस्वाविको लोके यवादि पशुरिष्यन् । ततोऽप्यतिशयं पुनः सर्वलोकोपरा-रितति' ॥१५७२॥ २ इतिवाक्यम् । ३ ज्ञानामणो । ४. सर्वावित्तवादन । ५. ननु परापरब्रह्म-गोरूपतरङ्गणामिदं कुतो न स्मृत्योरपि मनुष्यसम्प्रयोगसम्भवान् (पुरुषशब्दप्रयोजनत्वात्) अत आह—नेति । परस्य अपरस्य वा भ्रमानाश्रित्यवादप्रशङ्कत्वाच्च नात्र यद्व्यभिचिन्तयते भावः । किञ्च तद्यो को देवानामित्यादिना सर्वेषामविशेषतः पुरुषायेहेतुतया ब्रह्मविद्योता न हि हिरण्यगर्भादिमात्रस्य तथा 'च वाक्ययोपादेयं ब्रह्मशब्दो न तदाचीत्यपि दृष्टव्यम् । ६ यादित्येव्यात् । ७ ब्रह्मविद्यारूपादेतो । ८ द्वैतकत्वमिति—द्वैतरूपम-द्वैतरूप च । मानारामित्यर्थः । ९ सूत्रपदप्राप्त्या ।

प्रयोगो यथोदन् पंचतीति, शास्त्रे च परिव्राजकः सर्वभूतामयं दक्षिणामित्यादिस्तथेहेति केचिद्ब्रह्म ब्रह्ममांधो पुरुषो ब्राह्मण इति व्याचक्षते ।

तत्र, सर्वभावापत्तेरनित्यत्वदोषात् । न हि सोऽस्ति 'लोके परमार्थतो' यो निमित्तं त्वं शास्त्रावान्तरमापद्यते नित्यश्चेति । तथा ब्रह्मविज्ञाननिमित्तकृता चेत्सर्वभावापत्तिरनित्या चेति विरुद्धम् । अनित्यत्वे च कर्मफलतुल्यतेत्युक्तो 'दोषः । अविद्याकृता सर्वत्वनिवृत्तिरिति चेत्सर्वभावापत्तिरब्रह्मविद्याफलं मन्यसे ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्था स्यात् ।

प्राग्ब्रह्मविज्ञानादपि सर्वो जन्तुर्ब्रह्मत्याश्रित्यमेव सर्वभावापन्नः परमार्थतोऽविद्याया

प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टश्चेति । आदिशब्देन 'गृहस्थः' 'सहस्रौ भार्यां किञ्चेत्त्यादि गृह्यते । इहेति प्रकृतवाक्यकथनम् ।

अतुं प्रपञ्चव्याख्यानं दूषयति—तन्नेति । ब्रह्मशब्देन परस्मादर्थान्तरस्य ग्रहे तस्य सर्वभावापत्तेः साध्यत्वादनित्यत्वापत्तेर्न तन्मतमुचितमित्यर्थः । साध्यस्यापि मोक्षस्य 'नित्यत्वमाशङ्क्य' 'प्रकृतकं तदनित्यमिति न्यायमाश्रित्याऽऽह—न होति । सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—तथेति । अस्तु सर्वभावापत्तेरनित्यत्वं का हानिस्तत्राऽह—अनित्यत्वे चेति । किंच जीवस्याब्रह्मत्वं तवाविद्याकृतं पारमार्थिकं वेति विकल्प्याऽऽद्यमनूय दूषयति—अविद्याकृतेति ।

"तत्रानुवादभागं विभज्यते—प्रागित्यादिना । ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्थेत्युक्तं व्यक्ती करोति

ब्रह्मविद्यारूपं तनु से "ब्रह्म" इमं शब्द से कहा जाता है । अविध्यवृत्ति को आश्रित करके लोकव्यवहार में भी शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे "भात पकाता है" इस वाक्य में (पकते हुए चावली को भात कहा जाता है) तथा शास्त्र में भी 'संन्यासी समस्त प्राणिमो को भ्रमपरूप दक्षिणा दे (कर संन्यास ग्रहण करे)' इत्यादि वाक्य में ऐसा ही प्रयोग है । उसी प्रकार यहाँ भी कुछ लोग "ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला मनुष्य ही ब्रह्म है" ऐसी व्याख्या करते हैं ।

(उक्तं अतुं प्रपञ्च के मत का राण्डन करने हे—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इससे सर्व-भावप्राप्तिरूप मोक्ष में अनित्यत्व दोष आ जायगा । लोक या गाम्ग्र में ऐसा कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है जो किसी कारणवश भावान्तर को प्राप्त हो और नित्य भी हो । ऐसे ही यदि सर्वभावापत्ति भी ब्रह्म है तो किसी कारणवश भावान्तर को प्राप्त हो और नित्य भी है—ऐसा कहना युक्तिसंगत न होगा । यदि उसे अनित्य कहा जाय तो कर्मफलतुल्यता होती है । यह अप्रसिद्धान्तरूप दोष पहले बतला चुके हैं । यदि तुम अविद्याकृत असर्वत्वनिवृत्ति को ब्रह्मविद्या का सर्वभावप्राप्तिरूप फल मानते हो तो ब्रह्मीभूत मनुष्य की कल्पना करना व्यर्थ है ।

- १ तत्पुत्रं पचतीति प्रवृत्तये । वाकानन्तरभावितादादनस्य । २ दक्षिणामिति दद्यादिति शेषः । दक्षिणादानान्तरं हि परिव्रजनमिति भावः । ३ ताके इति शासस्याप्युपलक्षणम् । ४ प्रथमान्तात्तसि । ५ दोष—अप्रसिद्धान्तरूपः । ६ गृहस्थ इत्यादि—गार्हपत्यस्य भार्यात्वस्य विवाहानन्तरभाविस्त्वेषि प्राग्व्यवहारः । ७ सहस्रीमिति—सादृश्यं प्रति निश्चयगोचरत्वकुलीनत्वादिति बोध्यम् । ८ मोक्षस्य । ९ शान्तातिरिक्तसाध्यस्यानित्यत्वमिति भावः । १० यत्कृतकमिति—न च ज्ञानातिरिक्तसाध्यत्वमुपाधिरिति वाच्यम् । तर्हि ज्ञानसाध्यविभक्तत्वं तदा पक्षेतरत्वेव । यदि तु ज्ञानातिरिक्ते न साध्यत्वरूपं तदा प्रादिसा-न्तेऽविद्यादी साध्याव्यापकमिति । ११ तथेति—अविद्याकृतेत्यादिपूर्वोक्तो । अनुवादभागं मन्यसेत्यन्तम् ।

त्वब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाध्यारोपितं यथा श्रुक्तिकायां रजतं व्योम्निवा 'तलमलवत्त्वादि तथेह ब्रह्मण्यध्यारोपितमविद्ययाऽब्रह्मत्वमसर्वत्वं च ब्रह्मविद्यया निवर्त्यत इति मन्यसे यदि तदा युक्तं यत्परमार्थत आसीत्परं ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थभूतं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्मिन्वाक्य उच्यत इति वक्तुम् । 'यथाभूतार्थवादित्वाद्वेदस्य' । न त्वियं कल्पना युक्ता ब्रह्मशब्दार्थविपरीतो ब्रह्मभावी पुरुषो ब्रह्मेत्युच्यत इति । श्रुतिहान्यश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वात् ।

महत्तरे प्रयोजनान्तरेऽसत्यविद्याकृतव्यतिरेकेणाब्रह्मत्वमसर्वत्वं च विद्यत एवेति

—तदेति । तस्मिन्पक्षे यद्ब्रह्मज्ञानात्पूर्वमपि परमार्थतः परं ब्रह्माऽऽसीत्तदेव प्रकृते वाक्ये ब्रह्मशब्देनोच्यत इति युक्तं वक्तुं तद्वि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमात्मन्वनमिति योजना । 'गौर्वाहीक इतिवदभु-  
स्वार्थोऽपि ब्रह्मशब्दो 'निर्बहोत्पाशाङ्गुपाऽह—यथेति । निरतिशयमहत्त्वसंपन्नं वस्तु ब्रह्मशब्देन श्रुतमश्रुतस्तु ब्रह्मभावी पुरुषः श्रुतहान्यश्रुतकल्पना न 'न्यायवती तस्मात्तत्कल्पना न युक्तेति "ध्यावर्त्यमाह—न त्विति ।

"प्रतिरधीते"श्रुवाकमित्यादौ श्रुतहान्यश्रुतोपादानं दृष्टमित्याशङ्क्याऽह—महत्तर इति । तत्रानिशब्दस्य मुख्यार्थत्वे सत्य"न्विताभिधानानुपपत्त्या वाक्यार्थासिद्धेस्तज्ज्ञाने प्रयोजने श्रुतमपि हित्वाऽश्रुतं गृह्यते प्रकृते त्वसति प्रयोजनविशेषे श्रुतहान्याविर्न युक्तिमतीत्यर्थः । मनुष्याधिकारं

ब्रह्मविज्ञान होने से पूर्व भी सभी प्राणी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण पारमाधिक दृष्टि से नित्य ही सर्वभाव को प्राप्त है—अब्रह्मत्व और असर्वत्व तो अविद्या के द्वारा अध्यस्त हैं । जिस प्रकार सोप में चाँदी और आकाश में तलमलिनतादि दोष आरोपित है उसी प्रकार यहाँ ब्रह्म में अविद्या से अध्यारोपित अब्रह्मत्व और असर्वत्व की ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति हो जाती है । यदि ऐसा तुम मानते हो, तब तो यह कहना ठीक है कि जो परमार्थत ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थभूत परब्रह्म है वही "ब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व विद्यमान था" इस श्रुतिवाक्य में कहा गया है । क्योंकि वेद मुख्यार्थवादी है । अतः यह कल्पना करनी युक्तिसंगत नहीं है कि ब्रह्मशब्द में ब्रह्मशब्द के अर्थ से विपरीत ब्रह्म होने वाला मनुष्य कहा गया है । क्योंकि श्रुतार्थ का त्याग करना और अश्रुतार्थ की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है ।

दूसरे किसी महान् प्रयोजन के बिना भी यदि कहो कि अनाविद्यक अब्रह्मत्व और असर्वत्व है—तो

- १ तलम्—इन्द्रनीलकण्ठाह्वयता । २ ब्रह्मेति—तदित्यादि । ३ मुख्यार्थवादित्वात् । ४ यथाभूतार्थ-  
वादित्वाद्वेदस्येति । ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थोऽस्ति न वाऽह्ये अमुख्य तदग्रपेयम् योषमुख्य-वायात् । ५ हि क्वचिदज्ञ-  
मुख्ये नवि सति बाहीकमालभते । द्वितीये असति मुख्ये नास्ति गौणमित्युक्तं वातिके—'मुख्य ब्रह्म न  
वेदसि गोण स्यात्तद्विना कुत । मुख्यमग्निं विना योष न लोकोऽप्यवगच्छतीति' ॥१०६२॥ परीक्षकसमु-  
च्चयार्थोऽपि शब्दः । ६ अनाविद्यकमिति यावत् । ७ प्रतिपाद्यम् । ८ गौर्वाहीक इति । बहिर्भवे  
वाहीक जाङ्गलिको जन प्राणी इति यावत् । ९ स भी अनडवान् इति ध्ववहित्यते नागरिकं ।  
८ स्वापसंपर्को भवति । ९ श्रुतहान्येति—श्रुतहानिपूर्विकाश्रुतनल्पनेत्यर्थः । १० युक्तिसहिष्णुः ।  
११ व्यावर्त्यमिति—वेदस्य यथाभूतार्थवादित्वोक्तिप्रयोजनमित्यर्थः । यदा व्यावर्त्य—पूर्वोक्तानुवादप्रत्यन व्यावर्त्य  
खण्डयमसमित्यर्थः । १२ गोष्पा माणवक । १३ ऋक्समुदायोऽनुवाक । १४ अन्वितेति—मिथोऽन्विता-  
नामग्यादिपदार्थानां कथनानुपपत्त्येत्यर्थः ।

चेन्न । तस्य 'ब्रह्मविद्यायाऽपोहानुपपत्तेः । न हि स्वचित्साक्षाद्वस्तुधर्मस्यापोढी दृष्टा कर्त्री वा ब्रह्मविद्या । अविद्यायास्तु सर्वत्रैव निवर्तिका दृश्यते । तथेहाप्यब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाविद्याकृतमेव निवर्त्यतां ब्रह्मविद्याया । न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितुं वाऽर्हति ब्रह्मविद्या । तस्मादव्यर्थेव' श्रुतहान्यश्रुतकल्पना ।

ब्रह्मण्यविद्यानुपपत्तिरिति चेन्न । ब्रह्मणि 'विद्याविद्यानात् । न हि शुक्तिकायां रजताध्यारोपणेऽसति शुक्तिकात्वं ज्ञाप्यते चक्षुर्गोचरापन्नायामिमं शुक्तिका न रजत-

निर्वोदुं ब्रह्मभाविपुण्यकल्पनेत्याशङ्क्य महत्तरविशेषणम् । यद्ब्रह्मविद्येति<sup>१</sup> परस्यापि तुल्यमधि-  
कृतत्वं तस्य चाविद्याद्वाराऽधिकास्तिष्वभिच्छेदमित्यग्रे भविष्यतीति भावः । द्वितीय कल्पमुत्थापयति  
—अविद्येति । 'ब्रह्मविद्यावेक्यम्यं प्रसङ्गान्मवमिति ब्रूयति—न तस्येति । अनुपपत्तिमेव साधयति—  
न हीति । साक्षादारोपमन्तरेणेति यावत् । वस्तुधर्मस्य परमार्थभूतस्य पदार्थस्येति<sup>२</sup> । विद्यायास्तहि  
कथमर्थवत्त्वं तत्राऽऽह—अविद्यायास्त्विति । सर्वत्र शुक्त्यादाविति यावत् । 'विमतमविद्यात्मकं  
विद्यानिवर्त्यत्याव्रजताविषदित्यभिप्रेत्य बाष्पान्तिकमाह—तथेति । 'विमतं' न कारकं विद्यायाच्छुक्ति-  
विद्यावदित्याशयेनाऽह—न त्विति । अत्र ह्यत्वादेवस्तिवत्त्वायोगादप्युक्ता ब्रह्मभाविपुण्यकल्पनेत्युपसहरति  
—तस्मादिति ।

ब्रह्मण्यविद्यानिवृत्तिविद्याकलाऽत्यत्र बोधयति—ब्रह्मणीति । न हि सर्वज्ञे प्रकाशंकरसे  
ब्रह्मण्यज्ञानमादित्ये समोऽदुपपन्नमिति भावः । तस्या'ज्ञातत्वमज्ञत्वं'<sup>३</sup> वाऽऽभिप्यते नाऽऽद्य इत्याह—  
न ब्रह्मणीति । न हि तत्त्वमसीति विद्याविधानं विज्ञाते ब्रह्मणि युक्तं पिष्टपिष्टप्रसङ्गात् । 'अतस्तत्त्व-  
ज्ञातमेष्टुमिति<sup>४</sup> । ब्रह्मात्मैक्यमज्ञातं ज्ञात्वेन ज्ञाप्यते तद्विषयं च भवणादिव विधीयते<sup>५</sup> तेन

ऐसा कहना ठाक नहीं क्योंकि उसकी ब्रह्मज्ञान द्वारा निवृत्ति असम्भव है<sup>१</sup> । ब्रह्मविद्या के द्वारा आरोप  
के बिना साक्षात् ही किसी परमाथभूत पदार्थ के धर्मों का लोप या प्रादुर्भाव हुआ हो—ऐसा नहीं देखा  
जाता । किन्तु वह ब्रह्मविद्या अविद्या की सदा ही निवृत्ति करती हुई देखी जाती है । लोकव्यवहार के  
समान ब्रह्म में भा जो अविद्याकृत अब्रह्मत्व और असत्त्व है, उसकी ब्रह्मविद्या से निवृत्ति कर देनी  
चाहिये । ब्रह्मविद्या पारमार्थिक वस्तु को उत्पन्न या विनष्ट करने में समर्थ नहीं है । इसलिये श्रुतार्थ-  
त्याग और अश्रुताथवर्जना प्रयुक्त ही है ।

— किन्तु ब्रह्म में अविद्या का रहना तो युक्तिसंगत नहीं है । ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है ।  
क्योंकि ब्रह्म में ब्रह्मविषयक विद्या का उपदेश किया गया है । यदि सोप में चौंदा का अध्यास न हो तो  
उसके चक्षु—इन्द्रिय क विषय होने पर 'यह सोप है, चौंदा नहीं है' इस प्रकार शुक्तित्व का ज्ञान न कराया

१. ब्रह्मविद्येति । अब्रह्मत्वादवस्तुत्व ज्ञानाच्च ध्वस्तियतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तनमित्युच्यते<sup>१</sup> उपायान्तरमावाच्य  
तन्निवृत्तिरत्र न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । २. लोकवत् ब्रह्मणि । ३. एकयुक्तैव । ४. ब्रह्मविषयविद्या-  
पदेशात् । ५. इतिवाक्यावगतमिति शेष । ६. इतिवाक्यावगतमधिकृतत्वं तत्त्वस्यापि तुल्यमित्यन्वयः ।  
७. परस्य । ८. अब्रह्मत्वादिकम् । ९. ब्रह्मज्ञानम् । १०. न कारकमिति—कारकनिरूप्य तु नित्यनिवृत्तस्व-  
रूपत्वेन न तन्निवर्तकत्वं वस्तुतः कारकत्वमिति भावः । ११. अज्ञानविषयत्वम् । १२. अज्ञानाद्यप्यम् ।  
१३. विद्यापदशान्त्ययाऽनुपपत्तेः । १४. शास्त्रज्ञानाज्ञातब्रह्मविषयकश्रवणादिविधानेन ।

मिति । तथा सदेवेदं सर्वं ब्रह्म वेदं सर्वमात्मवेदं सर्वं नेदं द्वैतमस्त्यग्रहोति ब्रह्मण्येकत्व-  
विज्ञानं न विद्यातत्त्वं ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणायामसत्याम् । न ब्रूमः शुक्तिकायामिव  
ब्रह्मण्यतद्वर्माध्यारोपणा नास्तीति किं तर्हि न ब्रह्म स्वात्मन्यतद्वर्माध्यारोपनिमित्तम-  
विद्याकर्तृ चेति ।

भवत्वेव नाविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म । किन्तु नैवाब्रह्माविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽप्य-  
इष्यते । “नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता” “नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ” “तत्त्वमसि” “आत्मान-  
मेवावेत्” “अहं ब्रह्मास्मि” “अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद” इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

तस्मिन्नज्ञातत्वे हेतुर्न्यस्त्युक्तमर्थं दृष्टान्तेन साधयति—न हीति । ‘मिथ्याज्ञानस्याज्ञानाव्यतिरेका-  
द्ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणया शुक्तो ह्यप्यारोपणं दृष्टान्तमिति द्रष्टव्यम् । कल्पान्तरमालम्ब्यते—  
न ब्रूम इति ।

ब्रह्माविद्याकर्तृ न भवतीत्यस्य यथाश्रुतो वाऽर्थस्तदव्यस्तदाश्रयोऽस्तीति वा तत्राऽऽद्यमङ्गी-  
करोति—भवत्विति । ‘अनादित्वादविद्याया’ कर्त्रपेक्षाभावाद्भिना च द्वारं ब्रह्मणि भ्रान्त्यनभ्युपग-  
मादित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—कित्विति । ब्रह्मणोऽप्यश्वेतनो नास्तीत्यन श्रुतिस्मृतौऽदाहरति—

जाता । ऐसे ही यदि ब्रह्म में अविद्या का अध्यास न होता तो ‘यह सब सत् ही है’, ‘यह सब ब्रह्म ही है’  
‘यह सब आत्मा ही है’, ‘यह अब्रह्मरूप द्वैत नहीं है’—इन श्रुतिवाक्यों के अनुसार ब्रह्म में एकत्वविज्ञान  
का उपदेश नहीं किया जातू । इस पर पुन दाढ़ा होती है—सीप में चाँदी के समान ब्रह्म में अज्ञातत्वादि  
घनों का अध्यास नहीं है—ऐसा हमारा मत नहीं है । तो क्या है ? हमारे मत में (सर्वज्ञ होने के कारण)  
ब्रह्म अपने में अब्रह्मयमों के आरोप का निमित्त और अविद्या का कर्ता नहीं है ।

(दाढ़ा का समाधान दिया जाता है—) ऐसा तो हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त  
नहीं हो, किन्तु (अनादि) अविद्या का कर्ता अन्य कोई अब्रह्म भ्रान्त चेतन है—ऐसा मानना इष्ट नहीं है ।  
जैसा कि “जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानता है”, “और न इससे भिन्न  
कोई विज्ञाता ही है”, “वह तू है”, “उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ”, “वह आराध्यदेव  
भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी

१. उपदेष्टव्यम् । २. अज्ञातत्वमिति यावत् । ३. अतदर्थो भ्रान्तत्वम् । तदारोपे च निमित्त भवत्वज्ञत्व-  
तद्ब्रह्मणि ॥ ब्रह्म न भ्रान्तमिति यावत् । ४. अविद्याकर्तृ चेति—न ब्रह्म स्वात्मन्यन्यत्र आविद्या करोति  
सर्वज्ञत्वादित्यर्थः । ननु सर्वकर्तृत्वात्तदविद्यामपि करिष्यत्यन्यथा तदव्योपादित्वाभावाद्भाऽहं वातिके—  
“न हि धीपूर्ववर्ती गच्छिरोपानर्थादमिनीम् । प्रतीत्यविद्यां विगृहेत्वाऽन्यत्राऽपि न कान्यते” ॥२२१६॥ इति ।  
प्रतीचि—स्वात्मनि । विवृजेत्—नुर्यात् परमात्मेत्यर्थः । ५. ननु दृष्टान्ते शुक्तो मिथ्याज्ञानमारोप्यते न तु  
तद्वैतज्ञानम् । दाष्टान्तं ब्रह्मणि तु अज्ञानारोपणमिष्टं न नु मिथ्याज्ञानमतो विषयमोऽहं दृष्टान्त इत्यत आह—  
मिष्येति । ६. अनादित्वादिति । तस्या ॥ कार्यत्वे कारण याच्य निष्कारणकार्ययोर्भावात् न चार्था तथा  
कोटस्यात् न चार्थात्वे तथा एकत्रकार्यकारणत्वायोगात् । तद्वेदस्य चासिद्धत्वात्ततोऽज्ञान्यत्वात्तस्या ब्रह्म न तां  
करोतीति । ननु तस्या ब्रह्मातिरेकात् कार्यत्वमिति चेन्न अनिर्वचनीयत्वात्ततिरेकोऽस्तीति । ७. अज्ञात्वरूपं द्वारम् ।

स्मृतिभ्यश्च—“समं सर्वेषु भूतेषु” “अहमात्मा गुडाकेश” “शुनि, चैव, श्वपाके च,”  
“यस्तु सर्वाणि भूतानि” “यस्मिन्सर्वाणि भूतानि” इति च मन्त्रवर्णान् ।

नन्वेवं शास्त्रोपदेशानर्थक्यमिति । बादमेवम्, अवगतेऽस्त्वेवाऽनर्थक्यम् । अवगमा-  
नर्थक्यमपीति चेत् । अनवगमनिवृत्तेर्दृष्टत्वात् । तन्निवृत्तेरप्यनुपपत्तिरेकत्वं इति चेत् ।

नान्योऽनोऽस्तीत्यादिना । ब्रह्मणोऽन्योऽचेतनोऽपि नास्तीत्यत्र मन्त्रद्वयं पठति—परित्यजति ।

ब्रह्मणोऽन्यस्यासत्त्वाभावे दोषमाशङ्कते—नन्विति । किमिदमानर्थक्यमवगतेऽनवगते, वा  
चोद्यते तत्राऽऽद्यमङ्गी करोति—वाङ्मति । द्वितीये नोपदेशानर्थक्यमवगमार्थत्वादिति द्रष्टव्यम् ।  
उपदेशश्रवणमस्यापि स्वप्रकाशे वस्तुनि नोपयोगोऽस्तीति शङ्कते—अवगमति । भवुभवमनुसृत्य परिहरति  
—नानवगमेति । सा वस्तुनो भिन्ना चेत् द्वैतहानिरभिन्ना चेत् ज्ञानाधीनत्वातिद्विरिति शङ्कते—तन्निवृत्त-  
रिति । अनवगमनिवृत्तेर्दृष्टयामतया स्वरूपापलापायोगात्प्रकारान्तरासम्भावत्वं “पञ्चमप्रकारत्वेनेह—

परमार्थतत्त्व को नहीं जानना” इत्यादि श्रुतियों से एव “जो सम्पूर्ण प्राणियों में मूढ़ समभाव से देखता  
है”, “हे अर्जुन ! मैं आत्मा हूँ”, “कुते और चाण्डाल से जानी समदृष्टि वाले हाते हैं” “जा समस्त  
प्राणियों को अपने में देखता है” इत्यादि स्मृतियों से और “जिस काल मैं भगवा जिन आत्मा में  
(परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये” इत्यादि मन्त्र-  
वर्ण से भी यही सिद्ध होता है ।

फिर तो ऐसे (अनर्थनिवृत्ति प्रयोजन न होने पर) शास्त्र की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती ।  
(सिद्धान्ती इसे स्वीकार करते हुए समाधान करता है—) यह सत्य ही है तत्त्वज्ञान होने पर शास्त्रा-  
रम की व्यर्थता तो है ही । (यका होती है—) ऐसे में तो तत्त्वज्ञान की भी अनर्थता सिद्ध होने लगेगी ।  
(समाधान दिया जाता है—) ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान का अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रयोजन

१ इति च मन्त्रवर्णानिति—“पुरुष एवेद सर्वम्” “ब्रह्मैव सर्वम्” “अस्यैवेद सर्वं” पितृपितृभ्योऽनु-  
चकार । एतेन ब्रह्मण सर्वज्ञत्वेनाऽऽगमोक्तद्वयदक्षमिति पक्षो मानविरोधेन विरुद्धः । तथा च वार्तिके—

“तानुभूत प्रमाणाद्वा तदयमद्वैतु सम्भवे” ॥१२२५॥ इति । न हि ब्रह्मणोऽन्यदस्त्वनुभूतेरवगम्यते तथाभूतानु-

भूतेरप्रसिद्धत्वाभावि माना तदा तदोपदेशोऽन्यदज्ञातत्वाभावेन मानवृत्त्युपयोगात् (अज्ञात हि प्रवर्तमान मान

सकल मानत्ववच्च) अतो न तदयमद्वैतसमीक्षितं तत्त्वं । २ अनर्थक्यमिति—न च ब्रह्मण्यन्यदनुभूत्यनु-

देशोऽन्यदनु तस्य नियममुक्तत्वात् । अन्यस्यासम्भवे मानयुक्तिरपि सम्भवात् । अतः शास्त्रादपि वैषम्यं कथित-

मिराशयः । ३ सत्यमेव । ४ अद्वैतवादे । ५ शास्त्रावधारणार्थक्यरूप दोषम् । ६ स्वप्रकाशे ब्रह्मणि ।

७ आत्मन । ८ अद्वैतहानिरिति—सा च न सती ब्रह्मवज्जाकसाप्यनयोपाद् अद्वैतहानेनैव नाप्यसती

सपुण्यवज्ज्ञानताप्यस्यासम्भवाद् अनिवचनीया ज्ञाने सत्त्वास्त्वयोरभावेन तत्त्वतियोगिकनिवृत्तौ सत्त्वास्त्व-

योरसम्भावत्वं ताप्यमस्त्वासादसदात्मकत्वस्वैक्यविरोधनासम्भावदुक्तोपापविहाराच्च । ताप्यनिर्वचनीया भ्रजाना-

तिरिक्ता निर्वचनीयस्याज्ञानाधीनसत्ताकतयाऽज्ञानस्थितिमन्तरा तन्निवृत्तेरनिवचनीयत्वायोगात् तत् स्थितौ च

तन्निवृत्तिव्याघातादिति भावः । ९ ज्ञानाधीनत्वासिद्धिरिति—वस्तुस्वरूपाया अज्ञाननिवृत्तिरप्यसिद्धत्वेन

ज्ञानसाक्ष्यत्वात्तुपपत्तिरित्यर्थः । १० प्रकारान्तरासम्भवादिति । प्रवर्तमानोपाकारकतुष्ट्यादौगोपविषयः ।

११ पञ्चमेति—सा हि न भिन्ना नाभिन्ना यथोक्तदोषाद् भिन्नाभिन्नत्व नैवैव विरुद्धं भिन्नाभिन्नविनशात्त्व

चातिर्वचनीयमर्थम् । विद्यामन्तरेण निवृत्तयो निरुक्तप्रकारपुण्यद्विधिलक्षणप्रकाररूपम् ।

दृष्टविरोधात् । दृश्यते ह्येकत्वविज्ञानादेवानवगमनिवृत्तिः । दृश्यमानमप्यनुपपन्नमिति  
 भूवतो दृष्टविरोधः स्यात् । न च दृष्टविरोधः केनचिदप्यभ्युपगम्यते । न च 'दृष्टेऽनुपपन्नं  
 नाम दृष्टत्वादेव । 'दर्शाननुपपत्तिरिति चेत्तत्राप्येवैव युक्तिः ।

“ पुण्यो च पुण्येन कर्मणा भवति ” “ तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते ” “ मन्ता  
 बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ” इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः परस्माद्विलक्षणोऽप्यः  
 संसार्यवगम्यते । तद्विलक्षणश्च परः “ स एष नेति नेति ” “ अज्ञानायाद्यत्वेति ” “ य

व्यमिति मत्वाऽऽह—न दृष्टेति । दृष्टमपि युक्तिविरोधे त्याज्यमित्याशङ्क्याऽह—दृश्यमानमिति ।  
 दृष्टविरोधमपि कुतो नेष्यते तत्राऽह—न चेति । ‘अनुपपन्नत्वमङ्गीकृत्योक्त तदेव नास्तीत्याह—न  
 चेति । युक्तिविरोधे दृष्टिराभासो भवतीति शङ्कते—दर्शनेति । दृष्टिविरोधे युक्तेरेषाऽभासत्वं स्यादिति  
 परिहरति—तत्रापीति । अनुपपन्नत्वं हि ‘सर्वस्य दृष्टिबलादिष्टं दृष्टस्य स्वनुपपन्नत्वे न किञ्चिन्नि-  
 मित्तमस्तीत्यर्थः ।

ब्रह्माविपुरुषकल्पना निराकृत्य स्वपक्षे शास्त्रस्यार्थवत्त्वयुक्तं संप्रति प्रकारान्तरेण ‘पूर्वपक्षमिति  
 —पुण्य इति । आविद्यादेन ‘योऽयं विज्ञानमयः प्राप्तेषु’ इत्याद्या श्रुतिगृह्यते । ‘कुर्वन्मैव तस्मात्त्वम्’  
 इत्याद्या स्मृतिः । न्यायो मिथो विरुद्धयोरेकत्वायोगः । विसर्गत्वमन्यत्वे हेतुः । जीवस्य परस्माद्व्य-  
 त्थेऽपि न तस्य ततोऽन्यत्वमित्याशङ्क्याऽह—तद्विलक्षणश्चेति । परस्य तद्विलक्षणत्वं श्रुतितो दर्शयित्वा

देखा जाना है । (शका—) किन्तु ब्रह्मैतवाद मे अविद्यानिवृत्ति मानना भी असंगत है । (समाधान—) ऐसा  
 कहना उचित नहीं । अविद्यानिवृत्ति तो देखी जाती है, उसमे विरोध ग्रहने लगेगा । लोकव्यवहार मे  
 देखा जाता है, ब्रह्मैतविज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है । देखी जाने वाली वस्तु को भी असंगत  
 मानने से दृष्टविरोध दोष उपस्थित होगा । दृष्टविरोध को कोई भी नहीं मानता । कोई भी वस्तु अनु-  
 भूत होने पर दृष्ट होने मात्र से असिद्ध नहीं हो सकती । यदि कहो (युक्तिविरोध होने पर) दर्शन की  
 भी अनुपपत्ति हो सकती है, तो उसमे भी यही युक्ति है ।

(इस पर शका करते हैं—) “पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है”, “उस समय इसके साथ-  
 साथ ज्ञान, कर्म (और पूर्वानुमेषजन्य संस्कार) जाता है”, “यही (देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने  
 वाला, सूँघने वाला, चखने वाला), मनन करने वाला, जानने वाला और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है”

- १ अनुभूते । २ युक्तिविरोधे सतीत्यादि । ३ विद्याकर्मणी—उपासनकर्मणी । पूर्वप्रज्ञा चेति श्रुतिशेषः ।  
 ४ मूलम् । समन्वारमेते अनुगच्छत । पूर्वप्रज्ञा वाचना । ५ बुद्धिप्रधानो जीवः । ६ निषेधाभिधानम् ।  
 ६ न दृष्टविरोधादित्यादिना यदुक्तं तत्प्रज्ञाननिवृत्तेरनुपपन्नत्वमभ्युपगमयादेन । इदानीमनवगमनिवृत्तेरनुपपन्नत्वमेव  
 नास्ति दृष्टित्वादानुपपत्तिनिरासादित्याशयेनाह—अनुपपन्नत्वमिति । ७ अकिञ्चित्करी भवति । ८ सर्व-  
 निष्ठम् । ९ पूर्वपक्षमतीति—ननुकरीत्या पूर्वपक्षस्याक्षिप्तत्वात् पुनस्तदुद्धातवनमपसमिति चेत् ब्रह्माधी  
 जीवो ब्रह्मेतिपस्यनिरासस्ये दादर्थीयं पुनरपि पूर्वपक्षाय यत्नः । न च तस्मिन्नासौ यथा युक्त्या दृढी भवति सर्व-  
 व्याप्या । निरस्तपक्षोपापन्नं स्वकिञ्चित्करीमिति बान्ध्यम् । ब्रह्ममाणवाक्यानि जीवपरमोर्मेदपराणीत्युपपन्नम-  
 निवृत्तये निरस्तस्यापि तस्योत्पापन्नं बाधोपसम्यगर्थे विज्ञानमूर्ता बुद्धिस्थैर्मे तात्पर्यादिति भावः ।

आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः ” एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने ” इत्यादिश्रुतिभ्यः । कणादाक्षपादादितर्कशास्त्रेषु च ससारिविलक्षण ईश्वर उपपत्तिः साध्यते । संसारदुःखापनयार्थत्वप्रवृत्तिर्दर्शनात्सुकुटुम्बन्यत्वमीश्वरात्ससारिणोऽवगम्यते । “अवाक्यनादरः” “न मे पार्यास्ति” इतिश्रुतिस्मृतिभ्यः । “सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः” “तं विदित्वा न लिप्यते” “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” “एकधैवानुद्भूतव्यमेतत्” “यो वा एतदक्षरं गार्ग्यं विदित्वा” “तमेव धीरो विज्ञाय” “प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते” इत्यादिकर्मकर्तुं निर्देशाच्च ।

तत्रैवोपपत्तिमाह—कणादेति । श्रुत्यादिकमुपसंघिमत्कर्तुं कर्मस्त्वाद्ब्रह्मवदित्याद्योपपत्तिः । तयोन्मियो भेदे हेतुस्तरमाह—ससारेति । जीवस्य स्वगतदुःखध्वसे दुःख मे मा भूविद्यार्थत्वेन प्रवृत्तिर्दुष्टा नैशस्य साऽस्ति दुःखाभाववदतो भेदस्तयोरित्यर्थः । इतश्चेश्वरस्य न प्रवृत्तिर्हेतुफलयोरभावादित्याह—अवाकीति । निषो भेदे श्रुति लिङ्गान्तरमाह—सोऽन्वेष्टव्य इति ।

इत्यादि श्रुति, स्मृति और ग्याय से ससारी जीव परमात्मा से भिन्न जाना जाता है । उससे विलक्षण परमात्मा “वह यह ‘नेति नेति’ बतलाया गया (आत्मा अगह्य है)”, “वह आत्मा क्षणादि से रहित है”, “जो आत्मा धर्म अधर्मादिरूप पाप से रहित, वृद्धावस्था से रहित व मृत्यु से रहित है (उसकी खोज करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये)”, “(हे गार्गी ! ) इसी अक्षर के प्रशासनमे (सूर्य चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित है)”, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है । महर्षि कणाद और महर्षि गौतम आदि के ग्याय-वैशेषिक दर्शनों मे ससारी जीव ईश्वर से विलक्षण है—ऐसा युक्ति द्वारा सिद्ध किया है । समारदुःख के ध्वस के लिये जीव की (स्वाभाविक) प्रवृत्ति देखने से परमात्मा से जीवात्मा की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है । जैसा कि “(वह ब्रह्म) वाणी-रहित आत्मकाम होने से अभ्रान्त है”, “हे अर्जुन ! (तीनों लोकों मे) मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है” इत्यादि श्रुति स्मृतियों से सिद्ध होता है । “उसे (शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से) खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये”, “उसे जानकर मनुष्य धर्माधर्मरूप बन्म से लिप्त नहीं होता” “ब्रह्म को जानने वाला परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है”, “(आचार्य उपदेश के बाद ) उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-वाह्य धृत्य) एवमात्र विज्ञानधनरूप से ही देखना चाहिये”, “पर हे गार्गी ! जो इस अक्षर को जानकर (इस लोक से मरकर जाता है, वह संसारबन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है”, “बुद्धिमान् ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर (उसी मे बुद्धि लगानी चाहिये)”, “ओंकार धनुष है, सोपाधिव आत्मा वाण है, और अक्षरब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है” इत्यादि श्रुति-वाक्यों से जीव और ब्रह्म मे कर्तृत्व और कर्मत्व बतलाये जाने से भी उनमे भेद सिद्ध होता है ।

१ अवगम्यत इति—अभेदे क्वचित्प्रवृत्तिरन्यत्र नेति वैधर्म्ययोगादिति भावः । २ अवाकीति—वागुपलक्षितसकलेन्द्रियशून्य अनादर इति । आदरः—सम्रसतन्त्रकृत्य इत्यर्थः । अज्ञात इति यावत् । ३ लिप्यते कर्मणा पापवनेनेति धीपः । ४ एतदप्रमय द्रुवमिति युतिषेपः । ५ कर्मकर्तुं निर्देशाच्चेति—कर्मकर्तृभेदेन जीवैश्वरयोर्निर्देशादित्यर्थः । निरुक्तयुक्तिस्त्वित्यायकक्षणे प्रायो जीवस्य कर्तृत्वेनेत्यस्य च बन्मत्वेन निर्देशान्निविदेकः । ६ उपसंघिमत्कर्तृत्वमिति । ज्ञानवत्कर्तृत्वमित्यर्थः । न च जीवानामेवाहृत्यद्वारा श्रुत्यादिकर्तृत्वत्वेनाहेतुपकरणोपादानादिसाक्षात्कारविरहितत्वात् ससारिणो विलक्षणत्वतर्कतो भावः ।





‘तद्विज्ञानस्यैव चित्पुरुषार्थसाधनेऽविनियोगात्संसारिणः’ एवाहं ह्यारमीति ब्रह्मत्वसंपादनार्थं उपदेश इति चेत् । अनिज्ञाति हि ब्रह्मस्वरूपे किं संपादयेदहं ब्रह्मास्मीति । निज्ञातिलक्षणे हि ब्रह्मणि शक्या संपत्कर्तुम् । “नायमात्मा ब्रह्म” “यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म” “य आत्मा” “तत्सत्यं स आत्मा” “ब्रह्माविदाप्नोति परम्” इति प्रकृत्य “तस्माद्वा एतस्मादात्मनः” इति सहस्रशो ब्रह्मात्मशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वमेवेत्यवगम्यते । अन्यस्य ह्यन्यत्वे संपत्किंयते “नैकत्वे ।” “इदं सर्वं यदयमात्मा” इति च

विधिशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशोऽर्थवानिति चेत्तत्र किं कर्मविधिशेषत्वेनोपास्तिविधिशेषत्वेन वा तदर्थं स्वमिति, विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—तद्विज्ञानस्येति । अपिनियोगाद्विनियोजकश्च यदाद्यावाविति शेषः । कल्पान्तरमादत्ते—संसारिण इति । उपदेशस्य ज्ञानार्थत्वं तदनपेक्षत्याश्च “संपत्तेस्तस्य कथं तादर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—” अनिज्ञाति हीति । व्यतिरेकमुक्त्वाऽवयवमाचष्टे—निज्ञातिति । पदयोः सामानाधिकरण्येन जीवब्रह्मणोरभेदावगमाच्च संपत्पक्षः संभवतीति समाधत्ते—नेत्यादिना । कथमेकत्वे गम्यमानेऽपि “संपदोऽनुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यस्य हीति । एकत्वे हेत्यन्तरमाह—इदमिति ।

संसारी जीवात्मा के बोध से ही सर्वात्मभावरूप फलप्राप्ति होने से परब्रह्म के उपदेश की निश्चय हो अनर्थता सिद्ध हुई ।

(इस पर शङ्का होती है)— ब्रह्मज्ञान का कहीं कहीं अग्निहोत्रादि में पुरुषार्थरूप स्वर्गसाधन में सम्बन्ध न होने से संसारी जीव को ही ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ऐसा ब्रह्मत्वसम्पादन के लिये (सत्य, ज्ञान, अनन्त वह ब्रह्म है) यह उपदेश हो तो ? ब्रह्म के स्वरूप के सम्यक्ज्ञान बिना ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इससे जीवात्मा क्या निश्चय कर सकता है ? क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होने पर ही ब्रह्मभाव का सम्पादन किया जाना संभव है । (इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है—) ऐसा यहना ठीक नहीं है । “यह आत्मा ही (सब का अनुभव करने वाला) परमात्मा है”, “जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है (और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो)”, “जो आत्मा धर्माधर्मादिरूप पाप से रहित है” “(एतद्रूप ही सम्पूर्ण जगत् है) वह सत्य है, वही आत्मा है”, “ब्रह्मज्ञानो परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है”—यहाँ से प्रकरण आरम्भ कर “उस इस उक्तलक्षण धाने आत्मा से ही (सर्वप्रथम शब्दगुण वाला

१. तत्-ब्रह्म । २. क्वचित् अग्निहोत्रादी । ३. स्वर्गसाधने । ४. असंबन्धात् । ५. उपदेश इति—जीवे एवाह ब्रह्मास्मीत्येवं यद्ब्रह्मत्वसम्पादनं तदर्थं एव मत्पक्षानादिवाक्येन ब्रह्मज्ञानोपदेश इत्यर्थः । ६. स्वल्पे । ७. अपर्यं । ८. यजुः । ९. सामः । १०. तस्माद्वा एतस्मादात्मन इति—ब्राह्मणमन्त्रप्रतिपादितार्थः । आत्मनः प्रतीचः । अत्र तदेतच्छब्दाभ्यां मन्त्रब्राह्मणोच ब्रह्म परामृश्य आत्मन इति प्रत्यनसामानाधिकरण्येनाभिहितमिति तयोत्प्रेद इति भावः । ११. नैकत्वे इति—अन्यत्वे मनोगतनादावन्यस्य ब्रह्मणः संपदहृष्टा नत्वद्वये निष्पन्नञ्चे ब्रह्मणि सा युक्तेत्यर्थः । १२. मन्त्रद्वयमेवासिद्धं सामानाधिकरण्यस्य वेदाः प्रमाणमितिवदन्त्यासिद्धेरस आह—इदमिति । १३. इति चेति । इत्यान्तर्धर्षकारः । “आत्मा वा अरे इन्द्रिय” इति प्रकृतारमनो ब्रह्मत्ववर्दि सर्वमिति धृतिरद्वयत्वमाह । अतः संपदनवर्गादित्यर्थः । १४. श्रुतिस्तिष्ठादि-प्रमाणमावात् । १५. संपदुपास्तेः । १६. ब्रह्मज्ञानाभावे ब्रह्मत्वसंपत्तेरभाव इति व्यतिरेकमाहेत्यर्थः । १७. संपदुपास्तेः ।

प्रकृतस्त्वेव द्रष्टव्यस्याऽऽत्मन एकत्वं दर्शयति । तस्मान्नाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वसंपदुपपत्तिः ।

न चाप्यन्यत्प्रयोजनं ब्रह्मोपदेशस्य गम्यते "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "अमयं वं जनक प्राप्तोऽसि" "अमयं हि वै ब्रह्म भवति" इति च तदापत्तिश्रवणात् । 'संपत्तिश्चेत्तदापत्तिर्न स्यात् । नह्यन्यस्यान्यभावे' उपपद्यते । वचनात्सपत्तेरपि तद्भावापत्तिः स्यादिति चेन्न । संपत्तेः प्रत्ययमाश्रयत्वात् । विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेके शाकारकत्वमित्यवोचाम । न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्यजनकम् । ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति

एकत्वे कलितमाह—तस्मादिति ।

'किंच सपत्तिपक्षे तदापत्तिः, 'फलमन्यद्वेति विकल्प्य द्वितीय प्रत्याह—न चेति । आद्यं वृथयति—सपत्तिश्चेदिति । त यथा यथेत्यादिवाक्यमाश्रित्य शङ्कते—वचनादिति । सपत्तेरमानत्वात् तद्वलादित्यस्यान्यत्वमित्याह—नेति । तस्या मानत्वेऽप्येव "मानस्याकारकत्वात् । न च सूत्राद्यास्त-नाबन्धनस्यान्यात् "स्वित्तस्य नष्टस्य वा" उपपत्तेः । "श्रुतिश्च न पूर्वसिद्धं सूत्रादिभाषाभिधायिनी "तत्सादृश्यात्प्या तद्भावोपचारादतो ब्रह्मभाव स्यत सिद्धो न सापादिक इत्याह—विज्ञानस्येति । अथान्यस्यान्यभावे यथोक्त वचनमेव" शब्दाभाषायाकमित्याशङ्क्याऽह—न चेति । ब्रह्मोपदेशानर्थक्य-

आकाश उत्पन्न हुआ)" इत्यादि सहस्रो श्रुतियो म 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्दों का समानाधिकरण होने से एक ही अर्थ है—यह बात सिद्ध होती है तथा (मन गगनादि) एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ से भिन्न होने पर ही (उसकी अद्वितीयता का) सम्पादन किया जाता है, एक हान पर नहीं। "ये सब जो कुछ है, एकमात्र आत्मनस्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छाड़कर कुछ इनकी उपलब्धि नहीं होती है)" यह श्रुतिवाच्य प्रवृत्त द्रष्टव्य आत्मा का हा एकत्व सिद्ध करता है । इसलिए आत्मा के लिए ब्रह्मत्व सम्पादन युक्तिसंगत नहीं है ।

इसके प्रतिरिक्त ब्रह्मव्याख्यान का दूसरा प्रयोजन भी विवक्षित नहीं होता है । "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है", 'हे जनक' । तू निश्चय ही अमय पद को प्राप्त हुआ गया है', "(जो कोई उक्त आत्मा को अमय ब्रह्म समझता है) वह अमय ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सवह नहीं" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म की प्राप्ति सुनी गयी है । यदि आत्मा की संपत्ति पक्ष का आशय लिया जायगा तो उसे ब्रह्मत्वप्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि एक वस्तु का अन्यभाव हो जाना सिद्ध नहीं

- १ सपत्त्यश्वेदाधीन्येति । २ उपपद्यते इति । ३ अ-व-ज सपदुपास्तवित्तमुद्धिनात्रफलकत्वादिति भावः ।
- ४ हिरण्यममभावापत्तिवदिति दृष्टान्ताभ्यां । ५ शास्त्राणामादित्यवदर्थज्ञापरत्व सर्वसंप्रतिपत्तिमिति हितव्यार्थः । ६ ब्रह्मस्मनोरेकत्वादित्यर्थः । ७ तथोक्तमेतदपि प्रेद कल्पयित्वा संप्रत्यवर्ततामिवावायेन दाह्यते—किंचेति । ८ ब्रह्मत्वापत्तिः । ९ ब्रह्मोपदेशस्य फलम् । १० एवमिति—अन्यस्यान्यत्वाभावः । ११ ज्ञापकं हि मान कारकम् । १२ उपासितुम् । १३ गूत्रत्वानुपपत्तेः । १४ 'त यथा यथेति' श्रुतिः । १५ पूर्व-सिद्धवृत्ति—उपास्यमानवर्तमानमूनव्यक्त्यश्रयविधायिनी नेत्यर्थः । तथाविधाने हि स्यादित्यस्यान्यत्वम् । १६ मूर्तरूपता । १७ यथा तद्वि तदेव भवतीति तथाऽह—तत्सादृश्येति । तथा च, तत्सदृशो भवतीत्येव तदयम् । तत्सदृशाकारत्वं चास्मिन्नेव कल्पे तत्सोक्तवासिन नल्पांतरादो वा हिरण्यममभाविन स्ति भावनात्तत्सम्मानुसारेण कल्पनीयमिति भावः । १८ 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति वचनं 'त यथा यथे'त्यादिकमेव वा युक्तम् ।

स्थितिः । स एष इह प्रविष्ट इत्यादिवाक्येषु च परस्परं प्रवेश इति स्थितम् । तस्माद्ब्रह्मेति न ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना साध्या ।

‘इष्टार्थबाधनाच्च सैन्धवघनघननन्तरमवाहमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयितोऽर्थः काण्डद्वयेऽप्यन्तेऽवधारणादवगम्यत इत्यनुशासनमेतावदरे’ खल्वमृतत्वमिति । तथा सर्वशास्त्रोपनिषत्सु च ब्रह्म कत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः । तत्र यदि संसारी ब्रह्मणोऽन्य आत्मानमेवावेदिति कल्पेत, इष्टस्यार्थस्य बाधनं स्यात् । तथा च

प्रसङ्गात् ब्रह्मभाविपुरुषकल्पनेत्युक्त्वा तत्रैव हेत्यन्तरमाह—स एष इति ।

ब्रह्मोपदेशस्य संपच्छेपत्वे दोषान्तरमाह—इष्टार्थेति । ‘तदेव विष्णुश्चिदमयं माचष्टे—सैन्धवेति । यथोक्तं वस्तु तात्पर्यगम्यमस्यामुपनिषदीत्यत्र हेतुमाह—काण्डद्वयेऽपीति । मधुकाण्डावसानगतमवधारणं वक्ष्यति—इत्यनुशासनमिति । मुनिकाण्डान्ते उपस्थितमुदाहरति—एतावदिति । न केवलमुपदेशस्य संपच्छेपत्वे बृहदारण्यकविरोधः किं तु सर्वोपनिषद्विरोधोऽस्तीत्याह—तथेति । इष्टमर्थमित्युक्त्वा तद्बाधनं निगमयति—तत्रेति । ननु बृहदारण्यके ‘ब्रह्मकाण्डिकायां जीवपरयोर्भेदोऽभिप्रेत उपसंहारे त्वमेव इति व्यवस्थाया सद्विरोधः शक्यः समाधातुमित्यत आह—तथा चेति ।

होना । (यहा शङ्का हाता है—) श्रुतिवाक्यो से सपत्ति से भी (हिरण्यगर्भाभावापत्ति के समान) ब्रह्मरूपता की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा मान लिया जाय तो ? (समाधान देते हैं—) ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सपत्ति ता केवल प्रतीतिमान की होनी है । ज्ञान तो भ्रविद्या की निवृत्ति करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता—ऐसा हम पहले बतला चुके हैं । (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है) श्रुतिवचन किसी वस्तु में सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला नहीं होता क्योंकि शास्त्रों का (आदित्य के समान) अर्थज्ञापक होना सर्वत्र सिद्ध है, कारक होना नहीं । “बहु यह ब्रह्म इसमें प्रविष्ट हुआ” इत्यादि श्रुतिवाक्यो में परमात्मा का ही प्रवेश होता है, यह सिद्ध हुआ । इसलिए (जब सिद्धान्त के विरोध से) “ब्रह्म” यह शब्द ब्रह्मभावी पुरुष का वाचक है—ऐसा कल्पना करना उचित नहीं है ।

इसके अतिरिक्त अभिमत अर्थ का बाध होने के कारण भी ब्रह्मभावी पुरुष की कल्पना करना अनुचित है । लवणखण्ड के समान ब्रह्म अवच्छिन्न, अबाह्य और एकरस है—यह विज्ञान ही समस्त उपनिषदों द्वारा प्रतिपादन करना अभिमत है । “यही अनुशासन है”, “यही अमृतत्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं है” इन श्रुतिवाक्यो से मधुकाण्ड एवं याज्ञवल्क्यकाण्ड के घ्नत से निगम करने से भी यही शात होता है । इसी प्रकार समस्त शास्त्रों के उपनिषदों में भी ब्रह्म कत्व-विज्ञान ही निर्णीत अर्थ है । वही यदि ‘ब्रह्म से अन्य संसारों जावात्मा में अपने को जाना’ ऐसी कल्पना को जाए, तो अभिमत अर्थ का बाध हान लग जायगा । इसके अतिरिक्त उपपन्न और उपसंहार में विरोध होने के कारण शास्त्र में अस्ति कल्पना हान लग जायगी । (ब्रह्मविद्या) सज्ञा की अनुपपत्ति होने से भी वैसा नहीं

१. मिद्वान्तितम् । २. उत्तमिद्वान्तवियेषाद् । ३. अभिमतार्थबाधापत्तेः । ४. इत्यसंबंधोपदेशः ।

५. सस्यासामान्यज्ञानम् । ६. वृ. उ. ४-५-१५ । ७. अमृतत्वसाधनम् । ८. तत्रेति—सर्वोपनिषत्सु

ब्रह्मैकत्वविज्ञानस्यैव सर्वोपनिषदोऽर्थः । ९. तथा चेति—उपक्रमोपसंहारयोस्त्वविच्छेदया भिन्नार्थत्वनप्यवधारण

चेत्यर्थः । १०. वाचनमेव । ११. तात्पर्यविययः । १२. ‘ब्रह्म वा इदमग्र’ इति ब्रह्मकण्डिकायांमात्रार्थः ।

शास्त्रमुपक्रमोपसंहारयोर्विरोधादसमञ्जस कल्पित स्यात् । व्यपदेशानुपपत्तेश्च । यदि चाऽऽत्मानमेवावेदिति संसारी कल्प्येत, ब्रह्मविद्येतिव्यपदेशो न स्यात् । आत्मानमेवावेदिति 'सत्सारिण एव वेद्यत्वोपपत्तेः ।

१ । आत्मेति वेदितुरन्यदुच्यत इति चेन्न । अहं ब्रह्मास्मीति 'विशेषणात् । अन्यद्वेदे द्वेद्यः स्यादयमसाधिति वा विशेष्येत नत्वहमस्मीति । अहमस्मीति विशेषणादात्मानमेवावेदिति चायधारणाभिहितमात्मैव ब्रह्मेत्यवगम्यते । तथा च सत्युपपन्नो ब्रह्मविद्याव्य-

ब्रह्माभाविपुरुषवत्पनाममुपदेशानर्थक्यमिष्टायंघाघश्चेत्युक्तमिदानीं ब्रह्मेत्यादिवाक्ये ब्रह्मशब्देन परस्याग्रहणे तद्विद्याया ब्रह्मविद्येति सत्तानुपपत्ति दोषान्तरमाह—व्यपदेशानुपपत्तेश्चेति ।

'अथोक्तब्रह्मशब्दार्थद्वैतुर्जोषादन्यस्तदात्मानमित्यत्राऽऽत्मशब्देन परो गृह्यते तद्विद्या च ब्रह्मविद्येति सत्तासिद्धिरिति शङ्कते—आत्मेतीति । वाक्यशेषविरोधान्नैवमित्याह—नाहमिति । तदेव प्रपञ्चयति—अन्यद्वेदिति । 'यद्योक्तावगमे 'कल्पितमाह—तथा च गतीति । अतएतन्नेदे व्यपदेशो-

हो सकता । "उमने आत्मा को ही जाना" यदि इस श्रुतिवाक्य में जातने वाता, समारी जीव माना जाय, तो इस विद्या की ब्रह्मविद्या सज्ञा नहीं होगी । क्योंकि 'अपन को ही जाना' इस श्रुतिवाक्य में ससारी जीव का वेद्य होगा सिद्ध होता है ।

यदि कहो, 'आत्मा' इस शब्द से प्रतिपादित वेद्य, वेत्ता में मिन ब्रह्म गया है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य में उमने ब्रह्मरूप से विद्योपनि किया गया है । यदि जानने योग्य वस्तु और जानने वाला भिन्न होते, तो उम यह भयवा 'ब्रह्म' शब्द से विद्योपनि किया जाता ? 'मैं (ब्रह्म) हूँ'—ऐसा कह कर नहीं । 'मैं (ब्रह्म) हूँ' इस विद्योपण से अपने को ही जाना' ऐसा निणय होने से यह नि सन्देह सिद्ध होता है कि स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है । ऐसा (परस्पर अत्यन्त भेद) होने

- १ असमञ्जसमिति—अविबुद्धाद्यनिष्ठवर्गैकत्वावयवस्य समवति मति विबुद्धार्थे निष्ठतया तद्वेदेव रूपममु-  
क्तमतरचोपमहारवतापुत्रमेव्यद्वयवस्तुप्रतिपाद्यमिति याव । २ सत्तारिण एविति—ननु सात्तादिमिति  
गोणव्यवधीवसाने ब्रह्मविद्यापदस्य कदिरिस्त्वत्यागदुष्पादश्च वार्तिके—“नापि” इतिस्त्वत्यागिधद्वयवहारमा-  
दिबुद्धवेदिति ॥ १२६६॥ ब्रह्मज्ञानादयस्मिन्ब्रह्मज्ञानाने ब्रह्मविद्यापदस्य न इतिस्त्वत्यागिधद्वयवहारमा-  
दिस्त्वय । अवकर्णशब्द आत्मलिखत इद ॥ ३ विगणपादिति—अत्र वाक्य प्रतीचो ब्रह्मणा  
विगणपादित्यर्थः । ननु ब्रह्माऽऽत्मा अवतारश्च ततोऽय सपस्य रज्ज्वभेदेऽपि (सत्तपस्य रज्जुदश एव  
सत्त्वात्) रज्जोत्तदयसदृष्टे (सपव्यति नेणापि रज्ज्वास्त्वत्वात्) इति चेन्न परस्परविगणन तात्पर्यात् ।  
शङ्कत वार्तिके—“प्रतीचो ब्रह्मवत्प्रत्यक्षब्रह्मणोऽपि विशेषणमिति ॥ १२७०॥ तयोन्मोऽयविशेषणत्वान्मो-  
ज्यावकत्वमुक्तं तत्रैव । तथाहि—ब्रह्मा न मदयत्र वीटरस्यामम नाशितु । ब्रह्मणे नापत प्रत्यक्षा-  
सात्ताद्ब्रह्मवस्तुन ॥ १२७१॥ इति । ब्रह्मणमस्यात्यनि दृष्टे वीटरस्याममस्य आत्मा ब्रह्म तदमस्या-  
ऽऽपरोक्षस्य पत्तासादिति । ब्रह्मणि श्रुतेब्रह्माऽऽत्मेत्यर्थः ॥ अयोयाभेदे नि सामायाविशेष ब्रह्म मिष्यति  
तत्सिद्धौ च तद्विद्याया ब्रह्मविद्येत्युक्तिर्मुल्या स्थापितो भेदे तु न ब्रह्मशब्दो मुख्या नापि व्यपदेशस्तथेति  
फलितमुक्तं तत्रैवेति द्रष्टव्यम् ॥ ४ अत्र प्रवृत्तवर्णितवायाम् । ५ तयोन्मोऽयविशेषणत्वान्मो निदिष्टे ।  
६ विद्वदमर्षमिति यावत् ।

पदेशो नान्यथा । ससारिविद्या ह्यन्यथा स्यात् । न च ब्रह्मत्वावहेति ह्येकेऽप्येवमेव  
परमार्थतस्तत्प्रकाशाविव भानो विरुद्धत्वात् ।

न चोभयनिमित्तत्वे ब्रह्मविद्येति निश्चितो व्यपदेशो युक्तस्तेषां ब्रह्मविद्या ससारि-  
विद्या च स्यात् । न च वस्तुनोऽर्ज्वरतीयत्वं कल्पयितुं युक्तं । तत्त्वेज्ञानविबुधायाम् ।  
श्रोतुं सशयो हि तथा स्यात् । निश्चितं च ज्ञाने पुरुषार्थसाधने निमित्येते यस्य स्यादहो

मुपपत्तिं विशदयति—ससारोति । जीवब्रह्मणो भेदाभेदोपपत्तिभेदेन ब्रह्मविद्येति व्यपदेशः सेत्यतो-  
त्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

स्यातो वा ब्रह्मात्मनो भेदाभेदौ स्यादपि भिन्नाभिन्नविद्यायां ब्रह्मविद्येति नियतो व्यपदेशो  
न स्यादित्याह—न चेति । निमित्त विषय । भिन्नाभिन्नविषया विद्या ब्रह्मविषयाऽपि भवत्येवेति  
व्यपदेशसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—तदेति । उभयात्मकत्वाद् वस्तुनस्तद्विद्याऽपि तथेति समुच्चयमाशङ्क्याऽऽह—  
न चेति । अस्तु तद्ब्रह्म वास्तु ब्रह्म वा वैकल्पिकमित्याशङ्क्याऽऽह—श्रोतुरिति ।  
सशयितमपि ज्ञानं वाक्यादुत्पद्यते चेत्तावत्तस्य पुरुषार्थं श्रोतुं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—निश्चितं चेति ।

परं ब्रह्मविद्या का नाम मार्थकं सिद्धं हाता है, अन्य किसी तरह नहीं । प्रथया मानन स यह ब्रह्मविद्या  
न होकर ससारी विद्या कहवाने लय जायगी । जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश परस्पर विरोधी  
स्वभाव होने होने के कारण भूय व धर्म नहीं हो सकते, उसी प्रकार एक ही आत्मा का ब्रह्मत्व और  
अब्रह्मत्व ये दोनों धर्म परमाव्यत सिद्ध नहीं हो सकते ।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान के ससारोविद्या और ब्रह्मविद्या दोनों विषय स्वतन्त्र कर लिए  
जायें तो फिर ब्रह्मविद्या यह निश्चयपूर्वक व्यपदेश संभव नहीं है । एत म ता (कभी) ब्रह्मविद्या  
और (कभी) जादविद्या कहलायेगी । ब्रह्मात्मवस्तु ससार भी है और अससारा भी है, एसा अद्यत्तरतीय  
समुच्चय तत्त्वज्ञान व निरूपण करते समय अभिमत नहीं है । क्याकि वस्तु के द्वयत्व होने में मुनने  
व न हो सहाय हा जायना और पुरुषार्थ का साधन तो निश्चितज्ञान माना जाता है । (ये दह स मंकर  
या गमन करन पर इसा ब्रह्म का प्राप्त होऊँगा—) एसा जिसका निश्चय है और जिस इस विषय में

१ आत्माभिन्नव्योक्तिवदिति दुष्टाते हि गच्छ । २ प्रतीय । ३ परमाव्यत इति । यत्र प्रतीय  
परमार्थता धर्ममात्रमेवात्मनादिभूत्याभ्यास्त तत्र युती विरुद्धभेद भेदधर्मवत्त्व तथा चाभेदात् सशराधन-

समुत्तमिति भावः । ४ उभयेति—द्वयविषय ज्ञान स्वीकृत्यैव व्यपदेशी न घटत तयोभिन्नाभिन्नरत्न  
द्वयोविद्याविषयस्य प्रत्यक्षिणि प्रत्यक्षेण विद्यायां विरोधत्वमागादियः । ५ द्वयविद्यारविवयत्वाविशयात्

कदाचिद्ब्रह्मविद्या कदाचिज्जीवविद्येति व्यपदेशा विरल्लिप्त स्यादित्यर्थः । ६ एत्त्वज्ञानेति । ब्रह्मात्मवस्तु

ससारि चाससारि चेति समुच्चये न हि युक्त तत्त्वज्ञानस्य विपक्षितत्वात् विरुद्धत्वात्पालादित्यर्थः ।

७ श्रोतुरिति—निश्चयादनुना दृष्टान्तवत्त्वे तदाम्नात् सशयं स्यात् दह वा ब्रह्म वा वृषयारमक वा  
वर्तित्वेति सवाम्नायस्य वाच्यस्य सदायत्नवत्त्वं प्रसिद्धमिति वक्तुं हि गच्छ । = निश्चितज्ञानस्य जनवत्त्वे

श्रुति प्रमाणवति—यस्येति । अज्ञात्प्रमाणं ब्रह्मणः । ८ तयोऽप्युभय व्यपदेशं वागुपेक्षादि ।

१० अभेदाभावात् । ११ ससारवत्त्वमात्रवत्त्वस्य । १२ उभयस्याः । १३ विरुद्धा समुच्चयानुत्तरवः ।  
१४ प्रत्यक् । १५ कदाचिद्ब्रह्म कदाचिज्जीववत्त्वस्य ।

नं विविकित्साऽस्ति", "संशयात्मा विनश्यति" इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । अतो न संशयितो वाक्यार्थो वाच्यः परहितायिना ।

ब्रह्मणि 'साधकत्वकल्पनाऽस्मदादिष्विवापेशला' तदात्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवदिति चेन्न । शास्त्रोपासम्मात् । न ह्यस्मत्कल्पनेयं शास्त्रकृता तु तस्माच्छास्त्रस्यायनुपालम्भः । न च - 'ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया 'स्वार्थपरित्यागः कार्यः ।

श्रोतुर्निश्चितज्ञानस्य कस्यचित्पि वस्तुः संशयितमर्थं वदतो न काचन हानिरित्याशङ्क्याऽह— अत इति । निश्चितस्यैव ज्ञानस्य पुनर्यसाधनत्वं न संशयितस्येत्यतःशब्दार्थः ।

जीवपरयोरान्यतमेदस्य भेदाभेदयोश्चायोगात्परमेव ब्रह्म ब्रह्मशब्दवाच्यं न जीवस्तद्वा-  
धीत्युक्तं संप्रत्यत्यन्ताभेदपक्षे दोषमाशङ्कते—ब्रह्मणोति । तदात्मानमेवावेदिति ज्ञातृत्वं ब्रह्मण्युच्यते  
तदमुक्तं तस्य ज्ञानमूर्तत्वात् एव न तत्त्वमस्त्वमपि । न च स्वकर्तृकर्मकज्ञानान्मुक्तिः परस्य  
क्रियाकारककलबिलसत्त्वाद्भतो न परं ब्रह्म ब्रह्मशब्दितमित्यर्थः । शास्त्रं ब्रह्मणि साधकत्वावि-  
वर्शयति तच्चापीदमेवमर्थं नोपलम्भाहं तथाच तस्मिन्नाविष्टं साधकत्वादिविदुर्मिति समाधत्ते—  
न शास्त्रेति । स चायुक्तस्तस्यापीदमेवमर्थेनासांभावितदोषत्वादिति श्रेयः । ननु ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वप-  
रिरक्षणार्थं शास्त्रमनुपालम्यते नेत्याह—न चेति । शास्त्राद्वि ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वं गम्यते साधकत्वावि-  
च तस्य तेनैवोच्यते न 'चार्यजरतीयमुचितं' तथाच वास्तवं नित्यमुक्तत्वं कल्पितमितरदित्याशयेभ्यम् ।  
यदि तस्य नित्यमुक्तत्वायं सर्वथैव साधकत्वादि नेष्यते तदा स्वार्थपरित्यागः स्यात्साधकत्वाविना  
विनाऽभ्युदयनि श्रेयसयोरसंभवात् । न च ब्रह्मणोऽप्यचेतनोऽचेतनो वाऽस्ति 'नान्योऽतोऽस्ति ब्रह्मा'  
'ब्रह्म' वेद सर्वम्' इत्यादिभूते'तस्माद्योक्ता व्यवस्थाऽऽशयेत्यर्थः ।

किञ्चित् भी मन्त्रह नही है (उसे भवश्यमेव ईश्वर की प्राप्ति होती है)", "(हे भर्जुन ! इतना निश्चय जानो) सदायालु जीव विनष्ट हो जाता है" इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों से यही सिद्ध होता है । इस-  
लिए श्रोता दिव्य के हित के लिए समयमुक्त वाक्यार्थ नहीं कहना चाहिए ।

(प्रब अत्यन्ताभेद पक्ष में दोष की आशङ्का होती है—) किन्तु "उमने अपने को ही जाना;  
अतः वह सर्वरूप हो गया" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार हम लोगों की तरह ब्रह्म में जिज्ञासुत्व की  
कल्पना करना असोमनीय है । (समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यह  
उपालम्भ शास्त्र के लिए है । यह कल्पना हमारी नहीं है; बल्कि शास्त्र द्वारा की हुई है । इसलिए  
(ब्रह्म में साधकत्वादि कल्पना शास्त्रीय होने से) यह उपालम्भ शास्त्र का ही है । अतोऽपि परिपालन

१. सदायस्यापि निश्चयवत्फलजनकत्वमाशङ्क्याऽह—संज्ञेति । २. श्रोतृनिश्चहितायिना । ३. जिज्ञासुत्व-  
कल्पना । ४. अशोभना । ५. ब्रह्मणि साधकत्वादिकल्पनाया शास्त्रीयत्वात् । ६. ब्रह्मण इष्टमित्यादि—  
ब्रह्मणिष्ट नित्यमुक्तत्व परिपालयता । ७. स्वार्थं अभ्युदयनि श्रेयसर्थः । ८. तत्र ज्ञातृत्वादि कल्पनाऽप्योगात् ।  
९. उपालम्भाहंमित्यर्थः । १०. अर्थजरतीयमिति—शास्त्रोक्तमर्थं तु मन्तव्यं नित्यमुक्तत्वादि, अर्थं च न  
मन्तव्यं साधकत्वादीत्येवमर्थजरतीयं न न्याय्यमित्यर्थः । ११. नित्यमुक्तत्वसाधकत्वादेः शास्त्रीयत्वे ।  
१२. तस्मादिति—उक्तव्यवस्थायाः सर्वथा निर्दोषत्वादित्यर्थः ।

न 'चेतावत्येवास्मा युक्ता भवतः । सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव "एक-  
धैवानुद्रष्टव्यम्", "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "एकमेवाद्वितीयम्"  
इत्यादिवाक्यशतेभ्यः । सर्वो हि लोकव्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन्नित्यल्प-  
मिदमुच्यत इयमेव कल्पनाऽपेशेति ।

'तस्माद्यत्प्रविष्टं स्रष्टुं तद्ब्रह्म । वंशब्दोऽवधारणार्थः । 'इवं शरीरस्थं' यद्गृह्यतेऽप्रे  
'प्राक्प्रतिबोधादपि ब्रह्मैवाऽऽसीत्सर्वं चेदम् । कित्वप्रतिबोधादब्रह्मास्म्यसर्वं चेत्यात्मन्य-

किञ्च सर्वस्यापि ससारस्य ब्रह्मण्यविद्याऽध्यासात्तदन्तर्भूतं साधकत्वाद्यपि तत्राध्यस्तमित्य-  
भ्युपगमे काऽनुपपत्तिरित्याह—न चेति । तस्य तस्मिन्कल्पितत्वं कुतोऽवगतमित्याहाङ्गुपाऽह—  
एकधेति । उक्तश्रुतिसात्पर्यं 'सकलयति—सर्वो होति । सर्वस्य द्वैतव्यवहारस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वे  
प्रकृतबोध्यस्याऽऽभासत्वं' फलतोत्याह—इत्यल्पमिति ।

"परपक्ष" निराकृत्य "स्वपक्षं दर्शयति—तस्मादिति । "तद्व्यतिरेकेण जगन्नास्तीति सूचयति—  
वंशब्द इति । तत्पदार्थमुपत्वा त्वंवाचं कथयति—इदमिति । "तयोर्वस्तुतो मेवं" शङ्कित्वा पदान्तरं  
व्याचष्टे—प्रागिति । "तस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—सर्वं चेति । कथं तर्हि विपरीतधीरित्याहाङ्गुपाऽह—

करने की इच्छा वाले ब्रह्मनिष्ठ नित्यमुक्त पुरुष को वास्तव के अर्थ से विपरीत कल्पना करके अभ्युदय-  
नि श्रेयस्तरूप स्वार्थ का परित्याग नहीं करना चाहिए ।

साधकत्वकल्पनामात्र निमित्ता असहिष्णुता आपके लिए उचित नहीं है । सम्पूर्ण नानात्व  
ब्रह्म मे ही कल्पित है । "आचार्य उपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-बाह्य  
शून्य) एकमात्र विज्ञानधनरूप देखना चाहिये", "उस ब्रह्म मे नाना कुछ भी नहीं है (किर भी जो  
इसमे नाना के समान देखता है, अज्ञान के कारण उसे बार-बार मरना पड़ता है)", "जिस प्रविद्या  
अवस्था मे (परमार्थतः द्वैत ब्रह्म) मे द्वैत सा प्रतीत होता है (वहाँ अन्य अन्य को जानता है)",  
"उत्पत्ति से पूर्व सृजामीय-विनामीय स्वगतभेद शून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।" इत्यादि  
शतश श्रुतिवाक्य इसमे प्रमाण है । क्योंकि यह समस्त लोकव्यवहार ब्रह्म मे ही कल्पित है, परमार्थतः  
सत् नहीं है । अतः यह कल्पना अवोभनीय है, यह तो तुम तुच्छ बात कहते हो ।

उक्त न्याय से (ब्रह्मभावी जीव के "ब्रह्म" शब्दार्थक न होने से) जो स्रष्टा ब्रह्म प्रविष्ट हुआ  
था, वही यह ब्रह्म है । "वै" शब्द (अपरिच्छिन्न ब्रह्म का) निवचयार्थक है । ('प्रमानादि-साक्षित्वं' पद  
से लक्ष्य) यह जो शरीर मे स्थित (अपरोक्ष) प्रतीत होता है, 'अग्रे' अर्थात् तत्त्वज्ञान उदय होने के  
पूर्व भी ब्रह्म ही था, तथा यह सर्वरूप था । किन्तु अविद्यावस्था मे मैं अवब्रह्म हूँ, असर्व हूँ ऐसा आरोप

- १ एतावतीति—निमित्तशक्तयो । तथा च साधकत्वकल्पनामात्रनिमित्तेत्यर्थं । अथानाप्रसिद्धान्ता । २ एकधैव—  
अद्वैतरूपेणैव । नानात्वस्य कल्पितत्वं एवाद्वैतरूपेण दर्शनं भटत इति । ३ उत्त-यायेन ब्रह्मभावितो जीवस्य  
ब्रह्मशब्दार्थत्वाभावात् । ४ सर्वं जगद्ब्रह्मैव न सदन्तत् ब्रह्मोति यावत् । ५ अपरिच्छिन्न प्रमानादि-  
साक्षि त्वपदलक्ष्यम् । ६ अपरोक्ष प्रतीयते । ७ तत्त्वज्ञानोदयात् । ८ निष्कृष्य दर्शयति । ९ अनुपपन्नत्वं  
तुच्छत्वमिति यावत् । १० परेष्ट ब्रह्माविविक्तब्रह्मशब्दाभ्याम् । ११ भर्तृप्रपञ्चपदानिरासेनैव तुल्यरोपया  
श्रुतिस्वरूपशोऽपि निरस्त एवेतिप्रतीत्याह—परपक्ष निराहृत्यति । १२ रेष्ट सत् । १३ पूर्वोक्त ब्रह्म ।  
१४ तत्पदार्थयो । १५ त्वमर्थस्य ।



ध्यारोपात्कंतिर्हि क्रियावान्फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी संसारीति स्वाध्यारोपयति । परमार्थतस्तु ब्रह्मं च तद्विलक्षणं सर्वं च तत्कथंचिदाचार्येण दयालुना प्रतिबोधितं नास्ति संसारीत्यात्मानमेवायं तस्मात्माधिकम् । अविद्याध्यारोपितं विशेषवजितमित्येवशब्दस्यार्थः ।

ब्रूहि कोऽज्ञावात्मा स्वामाधिको यमात्मानं विवितवद्ब्रह्म । ननु न स्मरस्वात्मानं दर्शितो ह्यसौ य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानिति । नन्वसौ गौरसावश्व इत्येवमसौ व्यपविश्यते भवता नाऽऽत्मानं प्रत्यक्षं दर्शयति । एवं तर्हि इष्टा श्रोता भन्ता विज्ञाता स आत्मेति ।

कित्विति । यथाप्रतिभासं कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वमाज्ञाद्वयं शास्त्रविरोधात्संभवमित्याह—परमार्थतस्त्विति । तद्विलक्षणमध्यस्तसमतसन्नाररहितमिति यावत् । किमु तद्व्युत्पत्तिं चोद्य पश्चित्य एकं तद्वेदिति षोडशान्तरं प्रत्याह—तत्कथंचिदिति । पूर्ववाक्योक्तमविद्याविशिष्टमधिकारिभेदेन व्यपस्थितं ब्रह्म नास्ति समारोप्याचार्येण दयावता कथंचिद्विबोधितमात्मानमेवावेदिति संवन्धः आत्मैव प्रमेयं स्त-  
ज्ज्ञानमेव प्रमाणमित्येवमर्थत्वमेवकारस्य विवक्षणाह—प्रविद्येति ।

"प्रकृतमात्मशब्दार्थं" विविक्ष्य वक्तुं पृच्छति—ब्रूहि । स एव इह प्रविष्ट इत्यत्राऽऽत्मानो दर्शितस्वात्प्राणनादिलिङ्गस्य तस्य स्वयंभानुसंघातं शक्यत्वाभास्ति वक्तव्यमित्याह—नन्विति । आत्मानं प्रत्यक्षयितुं पृच्छतस्तत्परोक्षवचनमनुत्तरमिति शङ्कते—नन्वसाविति । आत्मानं चेत्प्रत्यक्ष-  
यितुमिच्छति तर्हि प्रत्यक्षमेव तं ब्रह्मापीत्याह—एवं तर्हीति ।

आत्मा मे करने से मैं करना हूँ, मैं क्रियावान् हूँ, मैं कलौ का भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, समारी हूँ ऐमा अध्याम कर जेता है । परमार्थन वह उससे विलक्षण ब्रह्म श्रीग सर्वम्वरूप ही है । तब किसी तरह जसने बारुणिक आचार्य द्वारा ज्ञत्वज्ञान कराये जाने पर "तू संसारी नहीं है" ऐसे पारमाधिक आत्म-  
तत्व को ही जाना । 'आत्मा को ही जाना' इसमें 'एव' शब्द का अर्थ है कि उसने अविद्या द्वारा ध्वस्त कर्तृत्वादिविषय से रहित आत्मा को जाना ।

(वेद्यस्वरूप से उपश्रित आत्मशब्दार्थ को अनात्मा से पृथक् करके शङ्का होती है—) कृपया दत्त-  
भाइये, वह पारमाधिक आत्मतत्त्व कौन ना है जिसे ब्रह्म ने जाना ? (उत्तर देते हैं—) क्या तू उस आत्मा का स्मरण नहीं करता जिसे "जो यह शरीर में प्रविष्ट होकर (जड भी जिसमें) सत्ता से) प्राण, अपान, इन्द्रिय, उदान श्रीग सभान की चेष्टाएँ करता है" इस प्रकार दिखाया गया था ? (पुनः शङ्का होती है—) किन्तु 'वह गौ है, वह अश्व है' इस प्रकार तू उसका व्यपदेश ता करते हो, आत्मा का

१ पारमार्थिकम् । २ कर्तृत्वादौ । ३ प्राणित्येति—प्राणादयो जडा अपि यत्तत्तया चेष्टे त इति यावत् ।

४ नन्वसाविति—यथा कश्चिद्वदमानमेव वा प्रत्यक्ष दर्शयामीत्युक्त्वा यद्वचनमसौ यो यो वाक्यमावश्व इति

चतनोदितं कथंचिदिति । एवमात्मानं प्रत्यक्ष दयामीत्युक्त्वा प्राणनादिलिङ्गं स्वात्माया व्यपदिष्टत इति

प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थानम् । आत्ममित्यस्याह । ५ प्रतीत्यनुसंधात् । ६ स्वप्नमव्युद्धा । ७ किन्तु

शब्दमनून्य विदामन्दनरत ब्रह्मवाति । ८ व्यातिरिक्तकारणाभावन । ९ आत्मैवति—आत्माज्ञानमेवा-

नात्माज्ञानम् । आत्मज्ञानमेवात्मानज्ञानम् । अतो नाज्ञात्माऽऽमव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । स्पष्ट चेतनतिने ।

१० नाज्ञात्मा । ११ वेद्यत्वेनोपस्थितम् । १२ अनात्मना पृथक्त्वम् ।

तत्त्वत्रापि दर्शनादिक्रियाकर्तुः स्वरूपं न प्रत्यक्षं दर्शयति । न हि गमिरेव गन्तुः स्वरूपं छिदिवा छेतुः । एव-तर्हि दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेविज्ञाता स आत्मेति ।

तन्वत्र को विशेषो द्रष्टरि । यदि दृष्टेर्द्रष्टा यदि वा घटस्य द्रष्टा सर्वथाऽपि द्रष्टव्यं द्रष्टव्य एव तु भवान्विशेषमाह दृष्टेर्द्रष्टेति । द्रष्टा तु यदि दृष्टेर्यदि वा घटस्य द्रष्टा द्रष्टव्यं न, विशेषोपपत्तेः । अस्त्यत्र विशेषो यो दृष्टेर्द्रष्टा स दृष्टिश्चेन्नूवति नित्यमेव पश्यति दृष्टि न, कदाचिदपि दृष्टिर्न दृश्यते द्रष्टा तत्र द्रष्टुर्दृष्ट्या नित्यया भवितव्यम् ।

नेव प्रतिज्ञानुरूपं प्रतिवचनमिति चोदयति—नन्वेति । प्रत्यक्षत्वादर्शनादिक्रियायास्तत्कर्तुः स्वरूपमपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीनि । यदि दर्शनादिक्रियाकर्तुः स्वरूपोक्तिमात्रेण जिज्ञासा नोपशान्त्यति तर्हि दृष्ट्यादिसाक्षित्वेनाऽऽत्मोक्त्या तुल्यतु भवामित्याह—एव तर्हि दृष्टेरिति ।

पूर्वस्मात्प्रतिवचनादस्मिन्प्रतिवचने द्रष्टृविषयो विशेषो नास्तीति शङ्कते—नन्वेति । विशेषाभाव विशदयति—यदीत्यादिना । घटस्य द्रष्टा दृष्टेर्द्रष्टेति विशेषे प्रतीयमाने सदाभावोक्ति-र्याहतेत्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टव्य एवेति । तथा द्रष्टर्यपि विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टा त्विति । वृत्तिमदन्त करणावच्छिन्न सविकारो घटद्रष्टा कृतस्य चिन्मात्रस्य भावः सनिधिसत्तामात्रेण युद्धितद्रूपत्वात् द्रष्टेति विशेषमङ्गीकृत्य परिहरत—नेत्यादिना । एतदेव स्पृहयति—अस्तीति । सप्तमी द्रष्टारमधिकरोति । दृष्टेर्द्रष्टुस्तावद्व्यवहृतिरेकाभ्यां विशेष विशदयति—यो दृष्टेरिति । भवतु दृष्टिसङ्ख्या द्रष्टुः सदा तद्रद्रष्टृत्वं तथाऽपि कथं कृतस्य दृष्टित्वनित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति ।

प्रत्यक्षदर्शनं तो कराते नही । ( इसका समाधान दते हैं— ) ( प्रत्यक्षदर्शन करना हो ) तो ऐसा समझो वह आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है ।

किन्तु प्रत्युत्तर मे भी तो तुम दर्शनादिक्रिया के कर्ता का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाते । गन्ता का गमनक्रिया ही एव छेत्ता का छेदनक्रिया ही स्वरूप नहीं है । ( उत्तर दते हैं— ) तो फिर जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता एवं विज्ञप्ति का विज्ञाता है, उस ही आत्मा समझो ।

( पूर्वपक्षी शङ्का करता है— ) तो इस से द्रष्टा क विषय मे क्या विशेषता हुई ? चाहे दृष्टि का द्रष्टा रहे, चाहे घट का द्रष्टा, वह तो सब प्रकार से द्रष्टा ही ठहरा । दृष्टि का द्रष्टा इस प्रकार कहने से तो आप केवल द्रष्टव्य म ही विशेषता बतलते हैं । द्रष्टा चाहे दृष्टि का हो अथवा घट का, द्रष्टा द्रष्टा ही है । ( सिद्धान्ती समाधान करता है— ) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि दोनों मे विशेषता समव है । द्रष्टा म एक विशेषता होती है, जो दृष्टि का द्रष्टा है, वह दृष्टि हागे पर नित्य ही देखता है । ऐसा नहीं होता कि द्रष्टा को कभी दृष्टि न भी दिखाई पड़े । द्रष्टा के साक्षाद्दृष्टि व द्रष्टृत्व होने पर द्रष्टा की दृष्टि नित्य होनी चाहिये । यदि द्रष्टा की दृष्टि अवित्य हागी, तब दुःखा-

१ प्रतिवचने । २ द्रष्टरि । ३ नित्यमेवेति—दृष्टिसत्ताभाव इति यावत् । तथाच यदा दृष्टिरतया दृष्टेत्यन्वय उक्त । अग्रे व्यतिरेकः । ४ द्रष्टुः साक्षाद्दृष्टिद्रष्टृत्वे सति । ५ द्रष्टव्यवत् । ६ सङ्ख्यानम् । ७ घटादिद्रष्टृप्रमातृत्वासाक्षित्वेन । ८ स्वरूपभूतदृष्टेर्नोदस्य वचम् ।

अनित्या चेद्दृष्टदृष्टिस्तत्र 'दृश्या या दृष्टिः सा कदाचिन्न दृश्येतापि यथाऽनित्यया दृष्ट्या घटादि वस्तु । न च 'तद्वद्दृष्टेर्दृष्ट्या कदाचिदपि न पश्यति दृष्टिम्' ।

किं द्वे दृष्टौ द्रष्टुं नित्याऽदृश्याऽनित्या दृश्येति । बाढम् । प्रसिद्धा तावद् अनित्या दृष्टिरन्यानन्धत्वदर्शनात् । नित्येव चेत्सर्वोऽनन्ध एव स्यात् । द्रष्टुं नित्या दृष्टिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेरनुमानाच्च । अन्धस्यापि घटाद्यामासविषया स्वप्ने दृष्टिरूपलभ्यते । सा 'तर्हीतरदृष्टिनाशे न नश्यति सा द्रष्टुर्दृष्टिस्तयाऽविपरिलुप्तया नित्यया दृष्ट्या स्वरूपभूतया स्वयंज्योतिःसमाख्ययेतरामनित्या दृष्टि

नित्यत्वमुपपादयति—अनित्या चेदिति । उक्तपक्षपरामर्शायां सप्तमी । कादाचित्के द्रष्टुर्दृश्यत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । घटादिवद्दृष्टिरपि कदाचिदेव द्रष्टा दृश्यते न सर्वदेवनिष्ठापत्यभावमाहाङ्गुष्पाऽह—न चेति । विकारिणश्चित्तस्याद्रष्टृत्वं 'क्रमद्रष्टृत्वमन्यथा द्रष्टृत्वं च दृष्टं तत्सालिणो व्यावर्तमानं तस्य निर्विकारत्वं गमयतीति भावः ।

दृष्टिद्वयं प्रमाणाभावाददिलष्टमिति शङ्कते—किमिति । तदुभयमङ्गी करोति—बाढमिति । तत्रानित्या दृष्टिमनुभवेन साधयति—प्रसिद्धति । उक्तमयं युक्त्या व्यक्ती करोति—नित्येवेति । संप्रति नित्या दृष्टि श्रुत्या समर्थयते—द्रष्टुरिति । तत्रंबोपपत्तिमाह—अनुमानाच्चेति । तदैव विवृणोति—अन्धस्यापीति । जागरिते चक्षुरादिहीनस्यापि पुंसः स्वप्ने वासनामयघटादिविषया दृष्टिरूपलब्ध्या या च सा तस्मिन्काले चक्षुरादिविहीनतद्वदभावेऽपि स्वयमविनश्यत्यनुभूयते सा द्रष्टुः स्वभावभूता दृष्टिनित्येव दृष्ट्या । 'विमतं नित्यमव्यभिचारित्वात्परेष्टात्मावदिति प्रयोगोपपत्तेरित्यर्थः । नन्वात्मा दृष्टिस्वभावश्चेत्कथं दृष्टेर्दृष्टेऽप्युक्तमत आह—तथेति । नित्यत्वे हेतुः—अविपरिलुप्तयेति । नित्यद्वयं परिहर्तुं स्वरूपभूतयेत्युक्तम् । तस्या दृष्ट्यन्तरापेक्षां धारयति—स्वयमिति । उक्तमविपरिलुप्तत्वं व्यनक्ति—इतरामिति । आत्मा दृष्टेर्दृष्टेति स्मृते, कलितमाह—

दृष्टि कभी नहीं देखी जायगी, जंसे अनित्य दृष्टि से घटादि वस्तु । किन्तु घटादि के समान दृष्टि का द्रष्टा कभी दृष्टि को देखता नहीं—ऐसा कहना ठीक नहीं ।

(दृष्टिद्वय मे कोई प्रमाण न होने के कारण पूर्वपक्षी सङ्का करता है—) 'तो क्या द्रष्टा को दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं, एक स्वरूपभूता और अदृश्या, दूसरी अनित्या और दृश्या । (सिद्धान्ती इसे स्वीकार करता है—) ऐसा ही है, लोकव्यवहार मे अन्धत्व और अनन्धत्व दोनों देखे जाने' से अनित्या दृष्टि प्रसिद्ध हो है । यदि नित्या दृष्टि ही होती तो कोई भी नेत्रविहीन न होता । किन्तु "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता" इस श्रुतिवाक्य द्वारा एव अनुमान द्वारा 'द्रष्टा की दृष्टि तो नित्य है', यह सिद्ध होता है । अन्ध पुरुष की भी स्वप्न मे घटादिरूप मिथ्यावस्तुविषयक दृष्टि देखी जाती है । वह दृष्टि स्वप्न के समय इतरदृष्टि के विनष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती । वह द्रष्टा की दृष्टि है, उसे विलुप्त न होने

१. द्रष्टुः दृष्टेरनित्यत्वे । २. घटादिवत् । ३. स्वरूपभूता । ४. अनित्येति—नश्यतीत्यन्धत्वम् । ५. घटादिरूपमिथ्यावस्तुविषया । ६. स्वप्नसमये । ७. द्रष्टुर्दृष्टेरनित्यत्वपक्षे । ८. घटदर्शनात् न पटदर्शनामिति त्रयिक तद्दर्शनं वृत्त्या । ९. विमतमिति—द्रष्टव्यादीनां द्रष्टादिरूपं प्रवृत्त बह्वात्मतत्त्वम् । नित्यत्व त्रिकालावस्थित्यम् । अव्यभिचारित्व सर्वानुगतत्वम् ।

स्वप्नबुद्धान्तयोर्वसनाप्रत्ययरूपां नित्यमेव पश्यन्दृष्टेर्द्रष्टा भवति । एवं च सति दृष्टिरेव स्वरूपमस्याग्नौष्ण्यवन्न काणादादीनामिव दृष्टिव्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो द्रष्टा ।

तद्ब्रह्माऽऽत्मानमेव नित्यद्रूपमध्यारोपितानित्यदृष्ट्योर्विवर्जितमेवावेदितवत् । ननु विप्रतिपिद्यम् । “न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः” इति श्रुतेर्विज्ञातुर्विज्ञानम् । न, ‘एवं विज्ञानान्न विप्रतिषेधः । ‘एवं दृष्टेर्द्रष्टेति विज्ञायत एव । अन्यज्ञानानपेक्षत्वाच्च । न च द्रष्टुर्नित्यं दृष्टिरित्येवं विज्ञाते द्रष्टृविषयां दृष्टिमन्यामाकाङ्क्षते । निवर्तते हि द्रष्टृविषयदृष्ट्याकाङ्क्षा तदसंभवादेव । न ह्यविद्यमाने विषय आकाङ्क्षा

एव चेति । ‘अन्यश्चेतनोऽचेतनो वेति शेषः ।

नित्यदृष्टिस्त्यभावमात्मपदार्थः<sup>१</sup> परिक्षोध्य अत्यक्षराणि योजयति—तदग्रहोति । यावदक्षेप-विरोधं चोच्यते—नन्विति । किं कर्मत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानं विरूप्यते किं वा साक्षित्वेनेति वाच्यं नाऽऽद्योऽन्युपगमादित्याह—नेति । न द्वितीय इत्याह—एवमिति । “तदेव स्पष्टयति—एव दृष्टेरिति । “तहि तद्विषय ज्ञानान्तरमपेक्षितव्यमिति कुतो विरोधो न प्रसरतीत्याशङ्क्याऽह—अन्यज्ञानेति । न विप्रतिषेध इति पूर्वेण सन्धः । सगृहीतमर्थं विवृणोति—न चेति । नित्यं स्वरूपमूतेति शेषः । विज्ञातत्वं वाक्योपबुद्धिवृत्तिव्याप्यत्वम् । अन्या दृष्टि स्फुरणलक्षणम् । आत्मविषयस्फुरणाकाङ्क्षाभावं प्रतिपादयति—नित्यं हीति । आत्मनि स्फुरणरूपे स्फुरणस्यान्यस्यासंभवेऽपि कुतस्तवाकाङ्क्षोपशान्तिरित्याशङ्क्याऽह—न हीति । किं च द्रष्टरि दृश्योऽदृश्य वा दृष्टिरपेक्ष्यत नाऽद्य

बालो स्वयज्योतिसज्जिका स्वरूपभूता नित्यदृष्टि से स्वप्न मे प्रतिभासिकी जाग्रत् अवस्था मे व्यावहारिकी अनित्यदृष्टि को नित्य हो देखते रहने के कारण वह दृष्टि का द्रष्टा है । ऐसा हान स अग्नि की उज्जता के समान इस आत्मा का स्वरूप है । काणाद मत क समान दृष्टि से व्यातिरिक्त कोई अन्य चेतन (या अचेतन) द्रष्टा नहीं है ।

(अधिकारिरूप मे स्थित) उस ब्रह्म ने, जो अध्यारोपित अनित्यदृष्टि आदि से परे है उस नित्य स्वरूप आत्मा का ही ‘अवेत् अर्थात् जाना । (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) “तुम बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता का नहीं जान सकते ।” इस श्रुतिवाक्य द्वारा विज्ञाता आत्मा का जानना सा विरुद्ध बात जान पड़ती है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा बहना ठीक नहीं । इस प्रकार (साक्षिरूप) जानने से कोई विरोध नहीं होता । उक्तविधि से ‘वह दृष्टि का द्रष्टा है’ ऐसा जाना ही जाता है । इतरज्ञान को अपेक्षा न होने से भी विरोध नहीं है । ‘द्रष्टा की दृष्टि नित्य ही है’—इस प्रकार जान लेने पर द्रष्टाविषयिणी अन्यदृष्टि की आकाङ्क्षा नहीं रहती, अपितु द्रष्टाविषयिणी दृष्टि की आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसका ज्ञान समझ ही नहीं है । असंभावित विषय क लिए

- १ वासनेति—स्वप्ने वासनारूपा प्राणिभासिकीम् । बुद्धान्त जाग्रति प्रत्ययरूपां व्यावहारिकीमित्यर्थः ।
- २ अधिकारितया नियमम् । ३ साक्षित्वेन । ४ उत्तविषया । ५ द्रष्टा । ६ तदनन्त्यादिनि—
- तस्मिन् स्फुरणरूप आत्मनि स्फुरणान्तरासंभवरहित्यर्थः । ७ असंभाविते । ८ अदृष्टमे विदचिद्रूपाद्यत्मन-चेतन इत्युक्तं नैयामिममत अचेतनतायाच्चेतन इति । ९ त्वमर्थम् । १० निर्णयः । ११ एव ज्ञानम् ।
- १२ आत्मनि साक्षित्वेनापि विज्ञानस्वीकारः । १३ फलरूपम् ।

कस्यचिदुपजायते । न च दृश्या दृष्टिर्द्रष्टारं 'विषयीकर्तृमुत्सहते । यतस्तामाकाङ्क्षते । न च स्वरूपविषयाकाङ्क्षा स्वस्यैव । 'तस्मादज्ञानाध्यारोपणनिवृत्तिरेवाऽऽत्मानमेवावेदित्युक्तं नाऽऽत्मनो विषयीकरणम् ।

तत्कथमवेदित्याह—ग्रहं—'दृष्टेर्द्रष्टाऽऽत्मा ब्रह्मास्मि भवामीति । ब्रह्मेति यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्माऽज्ञानायाद्यतीतो नेति नेत्यस्थूलमनषिवत्येवमादितक्षरां 'तदेवाहमस्मि नान्यः संसारी यया भवानाहेति । तस्मादेवं विज्ञानात्तद्ब्रह्म' सर्वमभवत् । अग्रह्याध्यारोपणापगमात्तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्त्या सर्वमभवत् । 'तस्माद्युक्तमेव

इत्याह—न चेति । आदित्यप्रकाशस्य रूपादेस्तत्प्रकाशकत्वाभावादिति भावः । न द्वितीय इत्याह—न चेति । आत्मनो वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाङ्गीकरणान्न वाक्यज्ञोपविरोधोऽस्तीत्युपसंहरति—तस्मादिति ।

'वाक्यान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—तरक्यमिति । तदक्षराणि व्याचष्टे—दृष्टेरिति । इतिपदमवेदित्यनेन सवध्यते । ब्रह्मशब्दं व्याचष्टे—ब्रह्मेतीति । ब्रह्माहुंपदार्थयोर्मिथो दिशोपदिशेप्यभायमभिप्रेत्य वाक्यार्थमाह—तदेवेति । आचार्योपदिष्टेऽपि स्वस्य निश्चयं दर्शयति—पथेति । इतिशब्दो वाक्यार्थज्ञानसमाप्यर्थः । इदानीं फलवाक्यं व्याचष्टे—तस्मादिति । सर्वभावमेव व्याकरोति—अब्रह्मेति । 'ब्रह्म'वाविधया संसरति विद्यया च मुच्यत इति पक्षस्य निर्दोषत्वमुपसंहरति—

आकाङ्क्षा किमी को नहीं हुआ करती । हमके अनावा दृश्यभूता दृष्टि द्रष्टा को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, जिसमें उसकी आकाङ्क्षा की जाय । और अपने स्वरूप के विषय में अपने को ही आकाङ्क्षा नहीं हुआ करती । इसलिए (आत्मा के स्व व इतरज्ञान में अनपेक्ष होने के कारण) 'आत्मा को ही जाना' इस श्रुतिवाक्य से अज्ञान के अ-याम की निवृत्ति हीं कही गयी है, आत्मा का विषयीकरण नहीं बताया गया ।

उस ब्रह्म ने किस प्रकार जाना ? इस पर श्रुति कहती है—“अहम्” अर्थात् चाक्षुषीवृत्ति का साक्षी आत्मा मैं, ब्रह्म है—ऐसा जाना । 'ब्रह्म' अर्थात् जो मग्धात् अपरोक्ष, सर्वान्तर आत्मा क्षुधादि से प्रतीत, नेति नेति, अस्थूल, अनण् इत्यादि लक्षणों वाला है, यही मैं हूँ, मैं अन्य ससारी नहीं हूँ जैसा

- १ प्रकाशयितुम् । २ आत्मन् स्वेतज्ज्ञानापेक्षत्वात् । ३ चाद्युप्या वृत्ते । ४ साक्षी । ५ 'अहं ब्रह्मास्मीत्यत्रात्मनिपदमहंब्रह्मण्ययो सामानाधिकरण्यायम् । तथाहि—अस्मीनि वर्तमानापदेदात् ऐक्यस्य सदा सत्त्वमुच्यते नाभूतमवयवम् यस्यैवादत्ता शिशुप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेवाध्यै सामानाधिकरण्यामिति न्यायेनाहंब्रह्मपरोधोरेववृत्तितया तस्मिदुपचयमिदपदमिति । तदेव दर्शयति—तदेवाहमस्मीति । ६ ब्रह्म सर्वमभवदिति । ब्रह्म ब्रह्मं वाक्यमवेदित्यर्थः । अतो ब्रह्मं वाविधातत्कार्याभ्यामब्रह्मत्ववभिमत विद्यया तन्निवृत्ती स्वामागिन् ब्रह्मं वाक्यमवेदित्यर्थः । सर्वेन्द्रियस्य ब्रह्मपर्यायत्वादब्रह्मभाव एव ज्ञानफलमुच्यते । यथा रज्जवदिद्या-जनितामृजज्जायोना रज्जुवे तत्त्व तथा ब्रह्माविद्याप्रभूतप्रपञ्चस्य ब्रह्माप्रतया प्रपञ्चविषय सर्वशब्द-ब्रह्मावदस्य पर्याय इति । ७, ब्रह्मविद्याया सर्वार्थभावापत्तिफलत्वात् । ८ 'अहं ब्रह्मास्मीति'वाक्यम् । ९ 'ब्रह्म वा इदं'मित्यनया श्रुत्या सर्वत्रैक एव जीवो विवक्षित इत्येवजीववादस्यैव श्रोतस्य सूचयत्वाह—ब्रह्मेति ।

मनुष्या मन्थन्ते यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं मविष्याम इति । यत्पृष्ट किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मा-  
त्तत्सर्वमभवदिति तन्निर्णीतं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तत्वात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति  
तस्मात्तत्सर्वमभवदिति । ; - । - । - । - । - । - ।

तत्तत्र यो यो देवाना मध्ये प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवानात्मानं ययोक्तेन विधिना स  
एव प्रतियुद्ध आत्मा तद्ब्रह्मामवत्तथर्षीणा तथा मनुष्याणा च मध्ये । देवानामित्यादि  
'लोकदृष्ट्यपेक्षया न ब्रह्मात्वबुद्ध्युच्यते । पुरः पुरुष आविशदिति सर्वत्र ब्रह्मवानुप्र-  
विष्टमित्यवोचाम । अतः शरीराद्युपाधिजनितलोकदृष्ट्यपेक्षया देवानामित्याद्युच्यते ।

तस्माद्युक्तमिति । वृत्त कोतयति—यत्पृष्टमिति ।

यथाग्निहोत्रादि मनुष्यत्वाविजातिमत्तमविस्त्वाविशेषणवत् साधिकारिणमपेक्षते न तथा  
ज्ञानमिति 'वक्तुं तद्यो यो देवानामित्यादिवाक्य तदक्षराणि व्याचष्टे—तत्तत्रेति । ययोक्तेन  
विधिनाऽऽज्यवादिभूतपदार्थपरिबोधनादिनेत्यर्थः । ज्ञानादेव मुक्तिर्न साधनात्तरादित्येवकारार्थः ।  
विवक्षितमधिकार्यनियम प्रकटयति—तथेत्यादिना । यो य प्रत्यबुध्यत स एव तदभवदिति पूर्वेण  
सवन्धः । ब्रह्मवाविद्यया ससरति मुच्यते च विद्ययेत्युक्तत्वाद्देवादीना विद्याविद्याभ्या बन्धनोक्तोक्ति-  
रित्येवकारार्थः । अतः देवानामित्यादीति । तत्त्वदृष्ट्येव भेदबन्धने का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—  
पुर इति । आविशक भेदमनुप्र- तत्तत्वात्माना स्थितब्रह्मचर्यमन्त्रं विद्याविद्याभ्या बन्धनोक्तोक्तेन

किं आप कहते है । 'तस्मात् अर्थात् ऐसा जानने में 'तत्' अर्थात् वह ब्रह्म सर्वरूप हा गया । अग्रह्यरूप  
अध्यापार के बाध से उमक कायभूत असत्त्व का निवास हा जान स वह सर्वरूप हा गया । इसलिए  
(ब्रह्मविद्या के सर्वप्रथमभावापत्तिरूप फल बाला हाने स) मनुष्य ठीक ही मानते है कि ब्रह्मविद्या स हम  
सर्वरूप हा जायगे । यह जा पूछा वा कि 'उम ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्वरूप हो गया ?' उसका  
निर्णय 'उत्तति से पहले यह नामरूपात्मक जगत ब्रह्मरूप हो था । उमने अपने को ही जाना कि  
'मैं ब्रह्म हूँ इसा विज्ञान स वह सरूप हा गया ।' इस श्रुतिवाक्य द्वारा कर दिया गया ।

'तत् अर्थात् दहा दवताओं के मध्य म जिम जिसने 'प्रत्यबुध्यत' अर्थात् ययोक्त प्रकार से  
आत्मा को जाना, वही प्रातियुद्ध आत्मा ब्रह्म हा गया । इसी प्रकार ऋषियो श्री मनुष्यो मे हुमा ।  
'दयनामो म' इत्यादि जा कहा गया है, वह अज्ञानादृष्टि को अपेक्षा से है, तत्त्वदृष्टि से ऐसा नहीं  
कहा जाता । क्यावि पुरुष न पुर म प्रवेश किया इस वाक्य म सवत्र ब्रह्म वा ही अनुप्रवेश हुमा,

- १ अज्ञानलोकदृष्ट्यात् यावत् । २ तत्त्वदृष्ट्या । ३ सर्वत्र ब्रह्मण एव प्रवृत्तात् । ४ जगत्प्रधानवत्तम् ।
- ५ अपित्यादीनि । अर्थां दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मत्तिमान् कुर्ममुक्तोपधिकारीति स्वाराज्यमिदमुक्तानि  
विशदणानि वदितव्यानि । ६ अविस्त्वादिविशेषणस्य साधारणत्वेऽपि मनुष्यत्वादिविशेषणमनियतमिति  
वक्तुमित्यर्थः । ७ साधनात्तराभावात् ज्ञानादेव मुक्तिरित्याशयेनह—न साधनति । कर्मोपासनादिक  
समाविद्यकमिति न मोक्षसाधनमविद्याकायस्याविद्या-विद्याभ्यासमवापुषीत्युक्तान्तस्या इवेवकारामध्य-  
प्रविचिन्तम् । ब्रह्मविद्यायास्तत्त्वाविद्यकत्वस्य विषयतामप्यदिवाविद्यानिवतकत्वेन मोक्षसाधनत्व निरुपाय्यकरे ।  
= एतस्यैव ब्रह्मणो जीवत्व दवादिभेदानुपपत्तिरित्यर्थः । ८ तथाच तात्त्विकभेदे उक्तश्रुतिविरोध एव हानि ।  
अनिष्टमिति यावत् । १० देवादिभेदम् ।

परमार्थतस्तु तत्र तत्र ब्रह्म वाग्र आसीत्प्राक्प्रतिबोधाद्देवादिशरीरेष्वन्यथैव 'विभाव्यमानम् । तदात्मानमेवावेत्तयैव च सर्वमभवत् ।

अस्या ब्रह्मविद्यायाः सर्वभावापत्तिः फलमित्येतस्यार्थस्य 'द्रष्टिन्ने मन्त्रानुदाहरति श्रुतिः' । कथम् । तद्ब्रह्म तदात्मानमेवाहमस्मीति पश्यन्नेतस्मादेव ब्रह्मणो दर्शनाद्वि-  
र्वानदेवात्यः प्रतिपदे ह प्रतिपन्नवाङ्मिल । स एतस्मिन्नब्रह्मात्मदर्शनेऽवस्थित एतान्मन्त्रा-  
न्वदर्श—अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादीन् । तदेतद्ब्रह्म पश्यन्निति ब्रह्मविद्या परामृश्यते ।

पूर्वापरविरोधोऽस्तीति फलितमाह—अत इति । अविद्यादृष्टिमनुद्य तत्त्वदृष्टिमन्वाद्यष्टे—परमार्थ-  
तत्त्वस्थिति । प्रबोधात्प्रागपि तत्र तत्र देवादिशरीरेषु परमार्थतो ब्रह्म वाऽऽसीत्चेदौपदेशिकं 'ज्ञानमन-  
र्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यथैवेति । 'नानाजीववादस्य तु नावकाशः' प्रक्रमविरोधादित्याशयेनाऽऽह  
—तदिति । तथैवेत्युत्पन्नज्ञानानुसारिस्त्वपरामर्शः ।

'तद्वैतवित्पाविवाक्यमवतार्य व्याकरोति'—अस्या इति । मन्त्रोदाहरणश्रुतिमेव प्रश्नद्वारा  
व्याचष्टे—कथमित्यादिना । ज्ञानान्मुक्तिरित्यस्यार्थवादोऽप्यमिति द्योतयितुं क्लेश्युक्तम् । आविपर्व  
समस्तवामदेवसूक्तग्रहणार्थम् । 'तत्रावान्तरविभागमाह—तदेतदिति । शत्रुप्रत्ययप्रयोगप्राप्तमर्थ

ऐसा हम पहले बना चुके हैं । इसलिए शरीरादि-उपाधिजमित अज्ञलोकदृष्टि को लेकर "देवताओं मे से" इत्यादि श्रुतिवाक्य कहा गया है । तत्त्वदृष्टि से तो उन उन देवशरीरों में ज्ञान होने में पूर्व अन्यरूप से अभ्यस्त किया जाता हुआ ब्रह्म हो था । 'उसने अपने को ही जाना और इसी प्रकार वह सर्वरूप हो गया ।'

इस ब्रह्मविद्या का फल सर्वभावापत्ति है । इसी अर्थ की वृत्ता के लिए श्रुति मन्त्र उद्धृत करती है ? 'तत्' अर्थात् उस ब्रह्म को 'एतत्' अर्थात् अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' देखने वाले, इसी प्रकार ब्रह्म के दर्शन से वामदेव नामक ऋषि को 'प्रतिपदे ह' अर्थात् ज्ञान हुआ । वह इसी ब्रह्मात्मदर्शन में प्रतिष्ठित

१ विभाव्यमानमिति—अध्यस्तसमस्तानात्मधर्मविशिष्टतयैव प्रतीयमानमित्यर्थः । २ ननु ब्रह्मविद्या सर्व-  
भावापत्तिक्लेशि श्रुत्यर्थे श्रुतेरेव निश्चायकत्वात्किं मन्त्रैरित्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टिन्ने इति । ज्ञान देवादीप्राधिकरोति  
विहितसाधनत्वात्कर्मादिवदित्याशङ्क्य मन्त्रब्राह्मणविरोधान्मैवमित्यतिशेयत्वाह—अन्तरास्ति । ३ ब्राह्मणवाक्यम् ।  
अतो मन्त्रोदाहृतिर्यथेति भावः । तदुक्तं भातिके—'श्रुत्युक्तार्थस्य वा स्थेप्ते मन्त्रोदाहृतिरित्यने ।  
प्रमाणान्तरसमादात्पुषा विश्वासपीर्यतः' ॥१४४४॥ इति । ४ प्रदर्श्यते ॥ ५ ज्ञानं विनापि ब्रह्मात्मादेव ।  
६ 'तद्यो यो देवानामिति' जीवानां बहुत्वावयवमाशानाजीववाद एव श्रुति म्यादित्याशङ्क्यामपनुदब्राह्म—  
नानाजीवति । ७ "ब्रह्म वा इदमथ आसीद"त्येवत्वनैवोपपन्नादेक एव जीव । ८ प्रक्रमविरोधादिति—  
"तद्यो यो देवानामि"त्यादेस्तत्त्ववादत्वं मन्त्रस्य उपसहारादीकाया वक्ष्यत इति भावः । ९ तद्वैतदिति ।  
यथार्जिनोऽत्रादिकर्म मनुष्यात्वादिजातिमित्तमधिकारिणमपेक्षते न तथा ज्ञानयिति पूर्वैश्च निर्णतिमिवानी विमत  
विशिष्टादिकार्यपेक्ष विशिष्टपुण्यहेतुत्वात् कर्मवदित्याशङ्क्यामपनुदमित्यादि । १० अस्या इतीति ।  
जन्मान्तरानुष्ठितान्तरज्जबहिरङ्गसाधनसंस्कृतबुद्धेर्बोमदेवस्य यथोक्तसंस्कारात् ब्रह्मज्ञान आत्मतो न तस्य  
मनुष्यादिवानिमदधिकार्यपेक्षेति भाव इति शेषः । ११ तत्रेति—प्रकृतवाक्ये । अवान्तरविभाग निविच-  
मवान्तरविभागमित्यर्थः ।

अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादिना सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं परामृशति । पश्यन्सर्वात्मभावं फलं प्रतिपेद इत्यस्मात्प्रयोगाद्ब्रह्मविद्यासहायसाधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति । भूञ्जानस्तु-  
प्यतीति पठत् ।

सेयं ब्रह्मविद्या सर्वभावापत्तिरासीन्महतां देवादीनां वीर्यातिशयान्नेदानीमदंयु-  
गीनानां विशेषतो मनुष्याणामल्पवीर्यत्वादिति स्यात्कस्यचिद्बुद्धिस्तद्व्युत्थापनायाऽऽह—  
तदिवं प्रकृतं ब्रह्म यत्सर्वभूतानुप्रविष्टं 'दृष्टिक्रियादिलिङ्गमेतद्' तस्मिन्नपि वर्तमानकाले  
यः कश्चिद्ब्रह्मवृत्तवाहोत्सुक्य आत्मानमेवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति अपोहोपाधिजनित-  
तन्त्रान्तिविज्ञानाध्यारोपिता न्यशेषान्संसारधर्मानागन्धितमनन्तरमबाह्यं ब्रह्म बाह्यमस्मि

कथयति—पश्यन्ति । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा० सू० ३।२।१२६) इति हेतोः शत्रुप्रत्ययविद्या-  
नाम्नैरन्तर्यं च सति हेतुत्वसंभवात्प्रकृते च प्रत्ययवत्तावृद्ध्याविद्याबोधोर्नैरन्तर्यं प्रतीतेस्तथा साधनान्त-  
रानपेक्षया लभ्यं मोक्षं दर्शयति श्रुतिरित्यर्थः । 'अथोदाहरणमाह—भूञ्जान इति । भुजिक्रियामा-  
त्रसाध्या हि तृतिरत्र प्रतीयते तथा पश्यन्नित्यादावपि ब्रह्मविद्यामात्रसाध्या मुक्तिर्भातीत्यर्थः ।

तद्वत्तदित्यादि व्याख्याय तद्विदमित्याद्यवतारमित्युक्तं शङ्कते—सेयमिति । ऐवंयुगीनानां कलिकाल-  
वर्तिनामिति यावत् । उत्तरवाक्यमुत्तररथेनावतारं व्याकरोति—तद्व्युत्थापनायेति । तस्य 'तादृश्यं  
धारयति—यत्सर्वभूतेति । प्रविष्टे प्रमाणमुक्तं स्मारयति—दृष्टीति । व्यावृत्तं बाह्येषु विषयेषुत्सुकं  
आभिलाषं मनो यस्य स तथोक्तः । एवंशब्दाद्यंमेवाऽऽह—ग्रहमिति । तदेव ज्ञानं विधुषोति—  
'अपोहो'ति । यद्वा मनुष्योऽहमित्यादिज्ञाने परिपन्थिनि कथं ब्रह्माहमिति ज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—  
'अपोहो'ति । ग्रहमित्यात्मज्ञानं सदा सिद्धमिति न तदर्थं प्रयतितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—संसारेति ।

होकर इन मन्त्रों का द्रष्टा हुआ—"मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था" इत्यादि । (अपि वामदेव ने)  
"उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना" इससे ब्रह्मविद्या प्रदर्शित की गई है । "मैं ही मनु  
और सूर्य भी हुआ था" इत्यादि वाक्य से ब्रह्मविद्या का फल सर्वभावापत्ति प्रदर्शित किया गया है ।  
'उस तत्त्व को देखने वाले ऋषि को सर्वात्मभाव फल का ज्ञान हुआ' इस वाक्य के प्रयोग से श्रुति मोक्ष  
को ब्रह्मविद्यारूप ग्रन्थसाधन से साध्य दिखाती है; जैसे तृप्ति भोजनक्रियामात्र साध्य है ।

विशेषसामर्थ्य वाले महामहिम होने से देवताओं को ब्रह्मविद्या द्वारा यह यह सर्वभावापत्ति  
हो गयी थी । किन्तु अब कलियुगी जीवों को और उसमें भी विशेष कर अल्पशक्ति वाले मनुष्यों को  
उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि ऐसा कोई सोचे तो उसका खण्डन करते हुए श्रुति कहती है;  
'नदिदम्' अर्थात् इस प्रकृत ब्रह्म को जो सर्व प्राणियों में अनुप्रविष्ट है, तथा दृष्ट्यादिक्रिया से ज्ञाप्य  
है, 'एतद्' अर्थात् इस वर्तमान समय में भी "यः" अर्थात् जो कोई भी बाह्य विषयों में उत्सुकता से  
मुक्त होकर अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है, भ्रजानरूप उपाधिजनित मिथ्याज्ञान से

१. ब्रह्मविद्यारूपं यदसहायसाधनम् इतरान्पेक्षं साधनं तत्तात्पर्यम् । २. दृष्टिर्ब्रवेति—'दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः  
श्रोते'त्येवं दृष्ट्यादिक्रियाज्ञाप्यं दृष्ट्यादिसाधनमिति यावत् । ३. व्यावृत्तेः—अत्र टीरानुरोपाद्रुपा-  
वृत्तवाहोत्सुक इत्येव पाठ्यम् । ४. उपाधिरज्ञानम् । ५. वृत्त्यादीन् । ६. हेतुफनयोर्व्यवधानाभावे ।
७. प्रत्यभिप्रवम् ।



केवलमिति । सोऽविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तेश्च ब्रह्मविज्ञानादिवं सर्वं भवति । न हि महावीर्येषु वामदेवादिवु हीनवीर्येषु वा वार्तमानिकेषु मनुष्येषु ब्रह्मणो विशेषस्तद्विज्ञानस्य वाऽस्ति ।

वार्तमानिकेषु पुरुषेषु तु ब्रह्मविद्याफलेऽनैकान्तिकता शङ्क्येन इत्यत आह—  
तस्य 'ह ब्रह्मविज्ञातुर्यथोक्तेन विधिना देवा महावीर्यश्चेनाप्यभूत्या श्रमवनाय ब्रह्मसर्वभावस्य नेशते न पर्याप्ताः किमुतान्ये ।

ब्रह्मविद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादय ईशत इति 'का शङ्को'ति । उच्यते—  
देवादीन्प्रति ऋणवत्त्वान्मर्त्यानाम् । "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति हि जायमानमेवरां वन्तं पुरुष वशयति श्रुतिः । पशुनिवर्शनाच्चायो अयं

केवलमित्यद्वितीयत्वमुच्यते । ज्ञानमुक्त्वा तत्फलमाह—सोऽविद्यति । यत्तु देवादीना महावीर्यत्वा-  
द्ब्रह्मविद्याया मुक्ति सिध्यति नास्मदादीनामल्पवीर्यत्वादिति तत्राऽऽह—न हीति ।

येयासि बहुविघ्नानीति प्रसिद्धिमाश्रित्य शङ्कोते—वार्तमानिकेष्विति । शङ्कोत्तरत्वनोत्तर-  
वाक्यमावाय व्याकरोति—अत आहत्यादिना । ययोक्तेनान्बवादिना प्रकारेण ब्रह्मविज्ञानुरिति  
सङ्गम । अपिशब्दार्थं कथयति—किमुतेति । अल्पवीर्यस्तत्र विघ्नकरणे पर्याप्ता नेति किमुत  
वाच्यमिति योजना ।

अप्राप्तप्रतिषेधायोगमभिप्रेत्य चोदयति—ब्रह्मविद्यति । शङ्कानिमित्त वशयन्नुत्तरमाह—  
उच्यत इति । अथमर्णानिवोत्तमर्णा देवादयो मर्त्या प्रति विघ्न कुर्वन्तीति शेष । कथं देवादीन्प्रति  
मर्त्यानामृणित्वं तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्येणेति । यथा पशुरेव स देवानामिति मनुष्याणा पशुतादृश्य-  
भयणाच्च तेषा पारतन्त्र्याद्देवावयस्तान्प्रति विघ्न कुर्वन्तीत्याह—पद्विति । 'अथो अथ वा "आत्मा  
सर्वेषा भूतानां "तोव' इति च तेषा सर्वप्राणिभोग्यत्वभूतेश्च सर्वं तद्विघ्नकरा भवन्तीत्याह—

अध्यारोपित कर्तृत्वादिविशेषो का बाधकर ससारी घर्षों की गन्ध स रहित अन्तरबाह्यगून्ध में  
शुद्धब्रह्म ही है—ऐसा अनुभव करता है, वह अविद्यावृत्त असर्वत्व की निवृत्ति हाने से ब्रह्मविद्या का द्वारा  
सबलप हो जाता है । महामहिम वामदेवादि अथवा अल्पमहिम कलियुगी मनुष्या मे (सर्वत्र एकरूपता  
से प्रविष्ट) ब्रह्म अथवा उसके विज्ञान का कोई अन्तर नहीं है ।

बलिमुगवामी मनुष्या मे तो ब्रह्मविद्या-उत्पत्ति म भी उसके फल म व्यभिचार की शङ्का होती  
है, इस पर श्रुति कहती है । निदचप ही उस ब्रह्मविज्ञानी को 'अभूत्या' अर्थात् सर्वभाव न होने देने का  
सामर्थ्य, उक्त प्रकार के महामहिम देवता भी 'नेशते' अर्थात् नहीं रखते, फिर दूसरा की तो बात ही  
या है ।

ब्रह्मविद्या के फल का प्राप्ति म विघ्न करन म दवता आदि अपने महत्व का उपयोग करते हैं ।

१ ब्रह्म इति—ब्रह्मणः सर्वः सत्त्वैव प्रविष्टत्वादिति । २ विशेषोपज्ञावपि । ३ तत्फल व्यभिचार  
इत्यपि । ४ अवधारण । ५ जनत्यप्यथकमव्ययम् । ६ वा शङ्कोतीति । विद्याफलप्राप्तौ देवता विघ्न  
कृत्वन्तीत्युक्ता शङ्का कारणाभावादतोऽप्राप्तप्रतिषेध श्रुत्या क्रियत इत्यर्थः । ७ ब्रह्मचर्यपूर्वदेवाध्यय-  
ननेत्यर्थः । ८ ऋषिभ्य इति—अनूनी भवतीति शेष । ९ श्रुतिरिति—'जायमानो वे ब्रह्मणस्त्रि-  
भिर्ऋणेऽङ्गवान् जायत इति श्रुतेरपि मनुष्या देवादी प्रति ऋणिनो गम्यन्त इति । १० विद्याफलप्राप्तौ ।  
११ जीव । १२ भोष्य ।

वा इत्यादिलोकश्रुतेरचाऽऽत्मनो 'वृत्तिपरिपिपालयिष्याऽवमर्णानिव' देवाः परतन्त्रान्मनुष्यान्प्रत्यमृतत्वप्राप्तिं प्रति, विघ्नं कुर्युरिति न्याय्यंवेषा शङ्का ।

'स्वपशून्स्वशरीराणीव च रक्षन्ति देवाः । महत्तरा हि वृत्ति कर्माधीनां दर्शयिष्यति देवादीनां बहुपशुसमतयैकैकस्य पुरुषस्य । "तस्मादेयां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः" इति हि वक्ष्यति । "यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे" सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति" इति च । ब्रह्मवित्त्वे 'पारार्थ्यनिवृत्तेर्न' 'स्वलोकत्वं' पशुत्वं चेत्यभिप्रायोऽप्रियारिष्टिवचनाभ्यामवगम्यते । 'तस्माद्ब्रह्मविदो ब्रह्मविद्याफलप्राप्तिं प्रति

प्रयो इति । लोकभूत्यभिप्रेतमर्थं प्रकटयति—आत्मन इति । यथाऽवमर्णान्प्रत्युत्तमर्णा विघ्नमाचरन्ति तथा देवादयः स्वस्थितिपरिरक्षणार्थं परतन्त्रान्कामिषा प्रत्यमृतत्वप्राप्तिमुद्दिश्य विघ्नं कुर्वन्तीति तेषां तात्प्रति विघ्नकर्तृत्वशङ्का सावकाशचेत्यर्थः ।

पशुनिदर्शनेन विवक्षितमर्थं विवृणोति—स्वपशूनिति । पशुस्थानीयानां मनुष्याणां देवाविभो रक्ष्यत्वे हेतुमाह—महत्तरामिति । इतश्च देवादीनां मनुष्यान्प्रति विघ्नकर्तृत्वममृतत्वप्राप्तौ सभावितमित्याह—तस्मादिति । इतश्च तेषां तात्प्रति विघ्नकर्तृत्वं भातीत्याह—यथेति । स्वलोको वेहः । एयवित्त्वं सर्वभूतभोग्योऽहमिति कल्पनावस्वम् । क्रियापदानुपप्लायश्चकारः । ब्रह्मवित्त्वेऽपि मनुष्याणां देवादिपारतन्त्र्याविद्यातात्किमिति ते विघ्नमाचरन्तीत्याशङ्क्याऽह—ब्रह्मवित्त्वे इति । देवादीनां मनुष्यान्प्रति विघ्नकर्तृत्वे शङ्कामुपपादितामुपसंहरति—तस्मादिति ।

(कारणाभाव से) यह शङ्का क्यों होती है ? इस पर कहते हैं, क्योंकि ससारी जीव देवतादिको के ऋणी होते हैं । जैसा कि "ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से ऋषिऋण से मुक्त हो जाते हैं, यज्ञ सम्पादन से देवऋण की मुक्ति होती है सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण का शोधन होता है" यह श्रुति जन्म-समकाल में ही पुरुष को ऋणी प्रदर्शित करती है । तथा "यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप आत्मा है (वह समस्त जीवों का भाग्य है)" इस श्रुति से मनुष्य को पशुरूप से निदर्शन किया है । जिस प्रकार ऋण देने वाला ऋण लेने वाले को वृष्ट देना है, उसी प्रकार देवता भी अपनी स्थितिस्थापना के लिए परतन्त्र मनुष्यों के प्रति अमृतत्वप्राप्ति में विघ्न करे—यह शङ्का करना उचित ही है ।

देवता इन पशुस्थानीय मनुष्यों को अपने शरीर की भांति रक्षा करते हैं । एक-एक पुरुष को अपनेको पशुओं से तुलना करके श्रुति उसे देवताओं की महत्तर कर्माधीन स्थिति प्रदर्शित करेगी और "अतः यह देवताओं को रुबंथा प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जाने" यह और "जैसे लोक में सभी अपने शरीर का नाश नहीं चाहते हैं, वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव अविनाशीरूप से देखना चाहते हैं" यह श्रुतिवाक्य आगे कहेंगे । किन्तु ब्रह्मज्ञान हो जाने पर परतन्त्रतानिवृत्ति होने से स्वनिष्ठ भूतभोग्यत्व और पशुत्व नहीं रहते, यह तात्पर्य उपरोक्त अग्रिय और अविनाशी-

१ वृत्ति स्थिति । जीविका इति यावत् । २ उत्तमर्णा । ३ पशुस्थानीयान् मनुष्यान् । ४. यथा ह वा इति । स्वाय लोकाय—स्वीयदेहाय । अरिष्टिम्—अविनाशम् । हैवंविदे—सर्वभूतभोग्योऽहमिति निरूपयत इत्यर्थः । ५ पारार्थ्यं—पारतन्त्र्येत्यर्थः । पारतन्त्र्यस्याज्ञानवृत्तत्वात् आनादज्ञाननिवृत्तौ तन्निवृत्तेरित्यभिप्रायः । ६. स्वनिष्ठ भूतभोग्यत्वम् । ७ उत्तहेतुजातात् । ८. वक्ष्यतीतिप्रियापदेत्यर्थः ।

कुपुंरेव विघ्नं देयाः । प्रभाववन्तश्च हि ते ।

नन्वेवं सत्यन्यास्वपि कर्मफलप्राप्तिषु देवानां विघ्नकरणं 'पेयंपानसमम् । 'हन्त तर्ह्यविस्त्रम्भोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनानुष्ठानेषु । 'तदेवमस्याचिन्त्यशक्तित्वाद्विघ्नकरणे प्रभुत्वम् । तथा 'कालकर्मनन्त्रोपधितपसामेयां हि फलसंपत्तिविपत्तिहेतुत्वं शास्त्रे लोके च प्रतिष्ठम् । अतोऽप्यनाश्वासः 'शास्त्रार्थानुष्ठाने ।

न केवलमुक्तहेतुबलादेव किं तु सामर्थ्याच्चेत्याह—'प्रभाववन्तश्चेति ।

सामर्थ्याच्चेद्विद्याफलप्राप्ते सेवा विघ्नकरणं तर्हि कर्मफलप्राप्तावपि स्यादित्यतिप्रसङ्गं शङ्कते—नन्विति । भवतु सेवा सर्वत्र विघ्नाचरणमित्यत आह—हन्तेति । अविस्त्रम्भो विदवासाभावः । सामर्थ्याद्विघ्नकतृत्वेऽनप्रसक्त्यन्तरमाह—तथेति । अतिप्रसङ्गान्तरमाह—तथा कालेति । विघ्नकरणे प्रभुत्वमिति पूर्वेण संबन्धः । ईश्वरादीनां यथोक्तकार्यकरत्वे प्रमाणमाह—एषा हीति । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति । 'कर्म ह्येव 'नदूबतुर्त्वादिवाक्यं शास्त्रशब्दायः । देवादीनां विघ्नकतृत्वबोद्धवरादीनामपि तत्संभवाद्देवार्थानुष्ठाने विदवासाभावात्तदप्रामाण्यं प्राप्तमिति फलितमाह—अताऽपीति ।

निरूपक श्रुतिवाक्यो से ज्ञात हाता है । इसी कारण से देवता ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मविद्या-फलप्राप्ति में विघ्न करेंगे ही, क्योंकि वे मांहमा स युक्त हैं ।

(पूवपक्षी शङ्का करता है—) ता फिर विद्याफल स मित्र कमफल प्राप्ति में विघ्न करना भी देवताओं के लिए जलपान करने की भांति भासान है । तब तो अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्ति के साधनों में अविश्वास होने लग जायगा । इसलिये देवताओं के समान अनन्तशक्तिसम्पन्न परमेश्वर भी विघ्न करने में समर्थ हो जायेंगे । इसी प्रकार शास्त्र एवं लोकव्यवहार में काल, कर्म, मन्त्र, ओपधि और तप की भी फल-प्राप्ति या अप्राप्ति में हेतुता प्रसिद्ध ही है । इसलिये भी शास्त्रोक्त ज्ञान, कर्म और उपासना के अनुष्ठान में अविश्वास ही रहेगा ।

१ विद्याफलान्निष्प्राप्तुः । २ पयस्य जलादे पानसमं सुकरमिति यावत् । ३ हन्तत्यनुमती भवदित्यर्थः । ४ देवार्थवत् । ५ कालकर्मत्वादि । कालेति—प्रयागस्तनानाद्येकस्मिन्कर्मणि सन्नान्यादिकालवृत्तफल-वैचित्र्यम् । कर्मेति—एकराशुसुखप्राप्ता कालसाम्येऽपि कर्मवैचित्र्याफलवैचित्र्यम् । अन्वेति—इन्द्रशत्रुवर्धस्वति मन्त्रस्य यजमानहिनस्त्वस्वस्वरोपात् । तथाहि—इन्द्रस्याभिचारं स्वप्ना (श्रुतिविशेषेण) आरब्धं तत्रेन्द्रशत्रुवर्धस्वेति । मन्त्र ऊहितं तत्र इन्द्रस्य शातमिता शर्मयिता भवेति क्रियाशब्दोऽत्र शत्रुशब्द आश्रितः । न तु ह्रदिशब्दं तदाश्रये बहुव्रीहानुरूपयोरभिधेः तत्रेन्द्राभिचारत्वे सिद्धेऽपि इन्द्रस्यशत्रुवर्धस्वत्यर्थं प्रतिपाद्येऽन्तोदात्तत्वे प्रयोक्तव्य आनुदात्तः । श्रुतिजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातमिता सम्पन्नः । तदुक्तं "मन्त्रो हीनः स्वस्वतो वर्णतो वा मित्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वस्वतोऽपराधात् ।" इन्द्रशत्रुर्नस्ति—इन्द्रशत्रुशब्द इत्यर्थः ॥ औपधीति—यथा गुरो राज्याश्रय-भक्षणेनान्धीभूताय कस्मैर्धान्छायाय अविद्यम्या सद्रसाधनमूतमपूप दत्तं राहोर्वाभूतपानाच्छिद्विद्रियाफलस्य मरणस्य निरोधः । तपसामिति—यथा योगादीनां तपसा च धृतजीवनश्रुत्युक्तापुरादिविषयजननत्वमित्यादि द्रष्टव्यम् । ६ ज्ञानकर्मोपासनानुष्ठाने । ७ ते हि अकारणमपि तथा कुर्वन्ति । ८ षोडशोऽं ३-६० । ९ दं ० उं ३-२-१३ । १०. याज्ञवल्क्यार्थभाषी । ११ अननुष्ठानरूपमप्राप्त्यर्थम् ।

न, सर्वपदार्थानां नियतनिमित्तोपादानाज्जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च । स्वभावपक्षे च तदुभयानुपपत्तेः । सुखदुःखादिफलनिमित्तं कर्मत्येतस्मिन्पक्षे स्थिते वेदस्मृतिन्यायलोकापरिगृहीते देवेश्वरकालास्तावन्न कर्मफलविपर्यासकारकाः । कर्मणा काङ्क्षितकारकत्वात् । कर्म हि शुभाशुभं पुण्यापां । देवकालेश्वरादिकारकमनपेक्ष्य जगद्वैचित्र्यं प्रति लभते । लब्धात्मकमपि फलदानेऽसमर्थम् । क्रियाया हि कारकाद्यनेकनिमित्तोपादानस्य भाव्यात् । तस्मात्किमानुगुणा हि देवेश्वरादय इति कर्मसु तावन्न फलप्राप्तिं प्रत्यवित्मन् ।

किमिदमवैदिकस्य चोद्यं किं वा वैदिकस्येति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । दूषयाद्युत्पिपादाधिवया दूषयाद्यावानदर्शनाप्राप्तिनां सुखदुःखादितारतम्यदृष्टेः स्वभाववादे च नियतनिमित्तोपादानवैचित्र्यदर्शनयोरनुपपत्तेस्तद्वयोपात्तकर्मफलं जगद्वैचित्र्यमित्यर्थः । द्वितीयं प्रस्थाह—सुवेति । "कर्म ह वै" इत्याद्या भूतिः । "कर्मणा बध्यते" जन्तुः इत्याद्या स्मृतिः । जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिश्च न्यायः । "कर्मणा भेतायता देवादीनां कर्मफले विघ्नकर्तृत्वाभावस्तत्राऽऽह—कर्मणेति । कथं हेतुतिद्धिरित्याशङ्क्य कर्मणः स्वोत्पत्तौ देवाद्यपेक्षो व्यतिरेकमुखेन (ण) दर्शयति—कर्मं हीति । स्वफलेऽपि तस्य तत्तापेक्षस्वमस्तोऽस्याह—लब्धेति । निष्पन्नमपि कर्म पूर्वोक्तं कारकमनपेक्ष्य स्वफलदाने शक्तं न भवतीत्यर्थः । कर्मणः स्वोत्पत्तौ स्वफले च कारकतापेक्षत्वे हेतुमाह—क्रियाया हीति । कारकादीनामनैकेषां निमित्तानां मुपादानेन "स्वभावो निष्पद्यते यस्याः सा तपोक्ता तस्या भावः कारकाद्यनेकनिमित्तोपादानस्वभाव्यं तस्मात्" कुभयत्र परतन्त्रं कर्मैत्यर्थः । देवादीनां कर्मापेक्षितकारकत्वे फलितमाह—तस्मादिति ।

(सिद्धान्तो घटत शङ्का का क्रमशः खण्डन करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सभी पदार्थों के निश्चितनिमित्तो का उपादान किया जाता है, तथा ससार में सुखदुःखादि-वैचित्र्य देखा जाता है । स्वभाववाद स्वीकार करने पर ये दोनों बातें संभव नहीं होगी । "कर्म सुखदुःखादिफल का कारण है"—वेद, स्मृति, मुक्ति और लोकव्यवहार से गृहीत इस पक्ष के निश्चय होने पर यह सिद्ध होता है कि वेद, ईश्वर और काल ती कर्मफल का विपर्यास नहीं कर सकते, क्योंकि देवता कर्मानुष्ठान के लिए अपेक्षित शरीरादि के सम्पादक हैं । मनुष्यों का शुभाशुभ कर्म, देव, काल और ईश्वरादि कारकों की, बिना अपेक्षा किए अपने आप निष्पन्न नहीं हो सकता । यदि निष्पन्न हो भी जाए तो वह फलमम्पादन के लिए ही होगा । क्योंकि क्रिया का स्वभाव है कि वह कारकादि अनेक निमित्तों का उपादान नहीं करती । इसलिए (देवता आदि विघ्नकारक न होने के कारण) देवता और ईश्वरादि कर्म के गुण का अनुसरण करने वाले ही हैं; अतः कर्म में फलप्राप्ति के प्रति अविश्वास नहीं होता ।

१. मुक्तिरित्यर्थः । २. सोकेति । उक्तं च कामसूत्रे—“पुरुषकारपूर्ववत्त्वात्तत्र प्रवृत्तीनामवश्यमाविनाश्व-  
पेक्षोपायपूर्ववत्त्वादेव न निष्पन्निना भद्रमस्तीति ।” ३. प्रमिते । ४. कर्मणा बाधितति—देवानां  
कर्मापेक्षितशरीरादिउपादकत्वादित्यर्थः । ५. कर्मणैव स्वसिद्ध्यर्थं तेषां क्रोडोद्भूतत्वादिति यावत् । ६. कर्मस्वरूप-  
सिद्धिहेतुत्वेन तत्फलप्राप्त्यावनुकूलत्वेन च देवादीनां विघ्नकरत्वाभावात् । ७. स्वभावादेव सर्वं जायत इति  
स्वभाववादिनः । ८. स्वभाववादास्यामुक्तत्वात् । ९. तद्वचुः । १०. “पुण्यो वै पृथगेन कर्मणेति” ।  
११. जन्तुरिति—विशया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतः पारदर्शनं इति स्मृतिरेव ।  
१२. स्वोत्पत्तौ स्वफलदाने च । १३. स्वोत्पत्तौ स्वफलदाने च । १४. स्वोत्पत्तौ स्वफलदाने च ।

कर्मणामप्येषां 'वशानुगतं' 'वचि'त्स्वसामर्थ्यस्याप्रणोद्यत्वात् । कर्मकालदेवद्रव्यादि'स्वभावानां' गुणप्रधानभावस्त्वनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य । कर्मैव कारकं नान्यत्फलप्राप्ताविति 'केचित् । देवमेवेत्यपरे । काल इत्येके । द्रव्यादिस्वभाव इति 'केचित् । सर्वे एते 'संहता एवेत्यपरे' । "तत्र कर्मणः प्राधान्यमङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः" "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इत्यादयः । यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचित्प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधान्यशक्तिस्तन्मस्तथाऽपि न कर्मणः

"इतोऽपि कर्मफले नाविभ्रमोऽस्त्योत्याह—कर्मणामिति । एषां देवादीनां वचिद्विघ्नलक्षणो कार्ये कर्मणां वशवर्तित्वमेष्टव्यं प्राणिनकर्मपेक्षामन्तरेण विघ्नकरणोऽतिप्रसङ्गादतोऽन्यत्रापि "सर्वत्र तेषां तदपेक्षा वाच्येत्यर्थः । तत्र तेषां कर्मवशवर्तित्वे हेत्वन्तरमाह—स्वसामर्थ्यस्येति । विघ्नलक्षणं हि कार्यं दुःखमुत्पादयति । न च दुःखमृते पापादुपपद्यते । दुःखविषये पापसामर्थ्यस्य शास्त्राधिगतस्या- "प्रत्याक्ष्येयत्वात्तस्मात्प्राणिनामदृष्टवक्षादेव देवादयो विघ्नकारणमित्यर्थः । देवादीनां कर्मपारतन्त्र्ये कर्म तत्परतन्त्रं न स्यात्प्रधानगुणभाववैपरीत्यायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मैति । 'इतश्च नानोपां नियतो गुणप्रधानभावोऽस्त्योत्याह—दुर्विज्ञेयश्चेति । इतिशब्दो हेत्वर्थः । यतो गुणप्रधानकृतो मतिविभ्रमो लोकस्योपलभ्यते तस्मादतो दुर्विज्ञेयो न नियतोऽस्तीति योजना । मतिविभ्रमे वादिविप्रतिपत्ति हेतुमाह—कर्मवैत्यादिना । कर्म "तहि निश्चयस्तत्राऽऽह—तत्रेति । वेदवादामुदाहरति—पुण्यो वा इति । आदिपदेन 'धर्मरज्ज्वा व्रजेद्वर्ध्वं' इत्यादयः स्मृतिवादा गृह्यन्ते । सूर्योदयवाहसेचनादौ "कास्त्वलनसलिलादेः प्राधान्यप्रसिद्धेन, कर्मैव प्रधानमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । अनेकान्तिकत्वम-

इसके प्रतिरिक्त कर्मो कभी कभी वस्तुगुण शक्ति दुर्वा होने के कारण इन देवता प्रादि का विघ्न करना कर्मों के प्रधीन है (एक दूसरे की अपेक्षा स्वतन्त्र न होने से विघ्नकर नहीं हैं—यह भाशय है) । कर्म, काल, देव और द्रव्यादि स्वरूपों का गौण और मुख्यभाव अनियत और दुर्विज्ञेय है; इसी से सासारिक लोकव्यवहार में उनके कारण मोह हो जाता है । किन्हीं (भीमासको) के मत में फलप्राप्ति में कर्म ही कारक है, अन्य कोई नहीं । दूसरे (देवताकाण्डीय उपासक) देव को ही हेतु मानते हैं । कुछ (ज्योतिर्विद) काल को हेतु मानते हैं । कुछ (चार्वाक-एकदेशी स्वभाववादी) द्रव्यादिस्वभाव को ही हेतु मानते हैं । अन्य (वेदान्ती) मानते हैं कि उपरोक्त सब मिलकर कर्मफलप्राप्ति के हेतु हैं । कर्मफलप्राप्ति में कर्म की प्रधानता स्वीकृत करके ही "पुण्य पुण्यकर्म से धर्मराम होता है और पाप कर्म से पापाराम होता है" इत्यादि वेद एवं स्मृतिवचन प्रवृत्त होते हैं । यद्यपि अपने अपने विषय में

१. एवमन्योन्यापेक्षतयाऽस्वातन्त्र्याद्विघ्नकरत्वमिति भावः । २. वस्तुगतशक्तेर्दुर्वारत्वात् । ३. स्वरूपाणाम् ।

४. पदार्थानाम् । ५. भीमासकाः । ६. अपर इति—"देवमेव पर मन्ये पौरुष तु निरर्थकमिति" ।

देवताकाण्डीया उपासका इत्यर्थः । ७. ज्योतिर्विद । ८. चार्वाकिकदेशिस्वभाववादिनः । ९. वेदान्तिनः ।

१०. कर्मफलप्राप्तौ । ११. प्रवृत्ताः । १२. यथा कर्म देवाद्यपेक्षमेवं तदपि कमपेक्षामतो न तत्फले

तस्य विघ्नकर्तृत्वमिति हेत्वन्तरात् । १३. धरदानादौ । १४. अपरिहर्त्यत्वात् । १५. विषयकः ।

१६. तदनियतत्वे । १७. 'पापरज्ज्वा व्रजेद्व' । इत्युत्तरार्थम् । १८. प्रातःकालेति यावत् ।

फलप्राप्तिं प्रत्यनैकान्तिकत्वम् । शास्त्रेन्यायनिर्धारितत्वात्किमप्राधान्यस्य ।  
 नै, अविद्यापेगममात्रत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । यदुक्तं ब्रह्मप्राप्तिफलं प्रति देवा विघ्नं  
 कुर्युरिति तत्र न देवानां विघ्नकरणे सामर्थ्यम् । केसमात् । विद्याकालानन्तरितत्वा-  
 द्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य । कथम् । यथा लोके द्रष्टुञ्चक्षुष आलोकेन संयोगो यत्कालस्तत्काल  
 एव रूपानिव्यक्तिः । एवमात्मविषयं विज्ञानं यत्कालं तत्कालं एव तद्विषयाज्ञानतिरोभावः  
 स्यात् अतो ब्रह्मविद्यायां सत्यामेविद्यां कार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य । तत्केन

प्रधानत्वम् । तत्र हेतुमाह—शास्त्रेति । अतिस्मृतिलक्षणे शास्त्रमुदाहृतम् । जगद्विद्यानुपपत्तिर्याय ।

कर्मफले देवादीनां विघ्नकर्तृत्वं प्रसङ्गागतं निराकृत्य विद्याफले तेपा तदाशङ्कितं निराकरोति  
 —नाविद्येति । तत्र नश्रयमुक्तानुवादपूर्वकं विज्ञदयति—यदुक्तमिति । तत्र प्रश्नपूर्वकं पूर्वोक्तं हेतुं  
 स्फुटयति—कस्मादिति । आत्मनो ब्रह्मप्राप्तिरूपाया मुक्तेरज्ञानमध्यस्तिमात्रत्वात्तस्याश्च ज्ञानेन सुल्य-  
 कालत्वात्तस्मिन्सति तस्य फलस्याऽऽवश्यकत्वाद्देवादीनां विघ्नाकरणे नावकाशोऽस्तीत्यर्थः । उक्त-  
 नेवायमाकाङ्क्षापूर्वकं ह्युन्तेन समर्थयते—कथमित्यादिना । ब्रह्मविद्याफलयोः समानकालत्वे फलित-

हनेन स क्रिसी-किमी की प्रधानता का उदय होता है । और उम समय होने वाली प्रत्ये कारकी की  
 प्राधान्यशक्ति का अवरोध हा जाता है, तथापि फलप्राप्ति में कम का व्यभिचारित्व नहीं है, क्योंकि  
 शास्त्र और व्याय से कम वा प्रधानता सिद्ध है ।

ब्रह्मविद्या के फल में देवता विघ्नवर्ती नहीं है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति का फल केवल अविद्या की  
 निवृत्ति हा है । पूर्वग्रन्थ से जो यह कहा कि ब्रह्मप्राप्तिरूप फल में देवगण विघ्न करगे, यह उसमें विघ्न  
 करने की देवताओं में सामर्थ्य नहीं है । क्या नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिरूपफल तो ज्ञान होते ही हो  
 जाता है । किस प्रकार ? जिस प्रकार लाकव्यवहार में द्रष्टा के नेत्रों का प्रकाश के माथ जिस समय  
 संयोग होता है, उसी समय रूप की अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार जिस समय आत्मविषयक ज्ञान  
 होता है, उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हा जाती है । इसलिये (विद्या और फल के समकाल  
 में होने से) जैसे दीप की उपस्थिति में अन्धकार का कार्य नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या की  
 अवस्था में अविद्या एवं उसका कार्य रहना असम्भव है । इसलिये देवता किस कारण स किसे विघ्न

१ व्यभिचारिणम् । २ कथं फलप्राप्तिरप्राप्तिश्चेत् यद्यत । सादगुणविगुणत्वान्मा सा त्यागमर्ग  
 एव तु ॥१४६१॥ इति धातुके । क्वचित्कारीयादिफलव्यभिचारसङ्कापनोपपत्तम् । ३ विद्याफल्योस्तम-  
 कालत्वात् । ४ तत् । ५ तत्केनति । तत्—तस्मिन् अविद्यानकार्याभावात् । केन ह्युक्ता । विघ्नं विदुषो  
 विद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादीनां शक्तिरेव नास्ति । तदुक्तं धातुके—“देवादीन्देवविषयव्यतिरागन्तरहेतुत्वं ।  
 वैश्वानामुत्पाद्य उद्युत्ता ईश्वरा अपि नम्रत ॥ ईशोऽनित्यमवयव प्रत्यगज्ञानहेतुज । तत्प्रज्ञानात्तमोघ्यस्तावी-  
 श्वराणामपीश्वर ॥१४६४-१४६५॥ इति । विद्या नातरीपयत्तेनाभिनिवेश—(अहमस्मि जीव ईशपामव  
 दस्यात्तावह—) ह्युत्तमोघ्यस्तौ देवादीन्देवविषयमभिनिवेश स्थितत्वाद्दिदुषो विरोधाभावात् त विघ्नवर्तार  
 इति भाव । देवादीनामीश्वरत्वमाधित्योक्तं उदेनद्विद्विषय नास्तीत्याह—ईशेति । न चैतावता नदेवयं  
 शिष्यत तस्यायत्र तावताशक्तस्य वन्द्यमाणात्वादिति भाव ॥ ६ फलप्राप्तौ कमप्राधाय । ७ सङ्ग्रहाय-  
 स्थपदसमुदायमर्थ । ८ विद्यासमकालाज्ञानमध्यस्तिरिति ।

कस्य विघ्नं कुर्युर्देवाः । यत्राऽऽत्मत्वमेव देवानां ब्रह्मविदः ॥  
 तदेतद्वाह—आत्मा स्वरूपं ध्येयं यत्तत्सर्वशास्त्रैर्विज्ञेयं ब्रह्म हि यस्मादेवां  
 देवानां स ब्रह्मविद्भवति ॥ ब्रह्मविद्यासमकालमेवाविद्यामात्रव्यवधानापगमाच्छुक्तिकाया  
 इव रजतामासायाः शुक्तिकात्वमित्यवोचाम । अतो नाऽऽत्मनः प्रतिकूलत्वे देवानां  
 प्रयत्नः संभवति । यस्य ह्यनात्मभूतं फलं देशकालनिमित्तान्तरितं तत्रानात्मविषये  
 सफलः प्रयत्नो विघ्नाचरणाय देवादीनाम् । न त्विह विद्यासमकालः आत्मभूते  
 देशकालनिमित्तान्तरितेऽवसरानुपपत्तेः ।

माह—अत इति । देवादीनां ब्रह्मविद्याफले विघ्नकर्तृत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—यत्रेति ।  
 यस्यां विद्यायां सत्यां ब्रह्मविदो देवादीनामात्मत्वमेव तस्यां सत्या कथं ते तस्य विघ्नमाचरेयुः स्वविषये  
 तेषां प्रातिकूल्याचरणानुपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्तं सर्वे समन्तरवाक्यमुक्त्याप्य व्याचष्टे—तदेतद्वाहेति । कथं ब्रह्मविद्यासमकालमेव ब्रह्मवि-  
 द्देवादीनामात्मा भवति तत्राऽऽह—अविद्यामात्रेति । यथेद रजसमिति रजताकारायाः शुभ्रिकायाः  
 शुभ्रिकात्वमविद्यामात्रव्यवहितं तस्यां ब्रह्मविदोऽपि सर्वस्मत्त्वे तन्मात्रव्यवधानात्तस्याश्च विद्योदये  
 "मान्तरीयकत्वेन निवृत्तैर्युक्तं विद्यातत्फलयोः समानकालत्वम् । "उक्तं चैतत्प्रतिवचनदशायामित्यर्थः ।  
 "उक्तस्य हेतोरपेक्षितं यद्वन्नब्रह्मविदो देवाद्यात्मत्वे फलितमाह—अत इति । केवल्ये तेषां विघ्नकर्तृत्वे  
 कुत्र तत्कर्तृत्वेत्याशङ्क्याऽह—यस्य हीति । "तेषां निष्कुशप्रसरत्वं वारयति—न त्विति । सफलः  
 प्रयत्न इति पूर्वोप संक्षेपः । "तस्य निरवकाशत्वादिति हेतुमाह—अवसरति ।

करेण जबकि ब्रह्मज्ञानी देवताओं के आत्मत्व को ही प्राप्त हो जाता है ?

इसी को ही श्रुति प्रतिपादित करती है—क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानी (उपासक द्वारा) ध्येय अर्थात्  
 जो वह समस्त शास्त्रों के द्वारा विज्ञेय ब्रह्म है; वही देवताओं की आत्मा हो जाता है । क्योंकि रजत-  
 रूप भासने वाली शुभ्रिक के शुभ्रिकात्व या ज्ञान होने के समय ही जैसे भ्रमजनित रजतत्वबुद्धि की  
 निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने के समय ही अविद्यामात्रव्यवधान की निवृत्ति हो जाती  
 है—ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । इसलिए (विद्वानों के देवात्मरूप होने से) आत्मा की प्रतिकूलता  
 के लिए देवताओं का प्रयत्न संभव नहीं है । जिस साधन के देश, काल और निमित्त से अन्तरित  
 अनात्मभूतफल होता है, उस अनात्मरूप फलप्राप्ति में विघ्न करने के लिए देवताओं का प्रयत्न सफल  
 हो सकता है । यहाँ (विद्याफल में) देश, काल और निमित्त में अव्यवहित और विद्योत्पत्ति काल में ही

१. उपासकं । २. विद्वद्भिः । ३. विदुषो देवाद्यात्मत्वाद् । ४. साधनस्य । ५. भर्मादितत्फलयो-
- मिश्रदेशकालत्वात् । ६. अनात्मरूपफलप्राप्त्यावित्यर्थः । ७. विद्याफले केवल्य । ८. विद्याया विदुष-
- सर्वस्मत्स्वरूपेऽपि । ९. इत्येव रजतरूपेण प्रतीयमानाया । १०. समानवासीनत्वेन । ११. उक्त
- चैतत्प्रतिवचनदशायामित्यर्थ इति—आत्मनः स्वरूपतया नित्यलब्धत्वात् तत्रालम्बत्वबुद्धिः स्यादिति चोद्य-
- समाधानादमरे एतदुक्तम् २४१मित्युपपत्त्यर्थं "नित्यलब्धस्वरूपत्वेऽपीत्यादि"भाष्योक्त्यर्थः । प्रतिवचन-
- दशायामित्यनेनैतस्या भाष्योक्ते सिद्धान्तस्वरूपं सूचितं पूर्वपक्षरूपमपि हि भवति भाष्यमिति । १२ उक्तस्य
- हेतोरिति—विद्याफले देवादीनां विघ्नकर्तृत्वाभावे उक्तस्य विदुषो देवाद्यात्मस्वरूपहेतोरित्यर्थः ।
१३. देवादीनाम् । १४. प्रयत्नस्य ।

एवं तर्हि । विद्याप्रत्ययसंतत्यभावाद्विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादन्त्ये  
एवाऽऽत्मेप्रत्ययोऽविद्यानिवर्तको न तु पूर्व इति । न प्रथमेनानेकान्तिकत्वात् । यदि हि  
प्रथम आत्मविषयः प्रत्ययोऽविद्यां न निवर्तयति तयाऽन्त्योऽपि तुल्यविषयत्वात् ।

‘एवं तर्हि संततोऽविद्यानिवर्तको न विच्छिन्न इति । न । जीवनादौ सति संतत्य-  
नुपपत्तेः । न हि जीवनादिहेतुके प्रत्यये सति विद्याप्रत्ययसंततिरुपपद्यते विरोधात् । अयं

ज्ञानस्यानन्तरफलत्वात्तत्फले देवादीनां न विघ्नकर्तृतेत्युक्तमुपेत्य स्वपुन्यः शङ्कते—एव  
तर्हीति । ज्ञानस्यानन्तरफलत्वे न तदज्ञानं निवर्तयेदज्ञानामिव तत्त्वज्ञानामपि ब्रह्मास्मीति ज्ञानसंत-  
त्यभावात् । न चाऽऽत्मेनैव ज्ञानमज्ञानध्वंसि प्रागिवोर्ध्वमपि रामादेस्तत्कार्यस्य च दृष्टत्वात् । ‘अतो  
वेहपातकालीनं ज्ञानमज्ञानं निवर्तयतीति कुतो जीवन्मुक्तिरित्यर्थः । अन्त्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वं  
‘तत्संततेर्वा प्रथमे तस्यान्यत्वादात्मविषयत्वाद्वा तद्ध्वंसितेति विकल्पोभयत्र’ । ‘दृष्टान्ताभावं मत्वा  
द्वितीये ‘होयान्तरमाह—न प्रथमेनेति । तदेवानुमानेन स्फोरयति—यदि होति ।

‘कल्पान्तरं शङ्कयति—एव तर्हीति । अविच्छिन्ना ज्ञानसंततिरज्ञानं निवर्तयतीत्येतद्वृण्वयति—  
नेत्यादिना । जीवनादिहेतुर्कः प्रत्ययो बुभुक्षितोऽहं भोक्ष्येऽहमित्यादिसंज्ञः । तस्य ‘बुभुक्षाद्युपपन्नस्य  
ब्रह्मास्मीत्यविच्छिन्नप्रत्ययसंततेश्च विरुद्धतया योगपद्यायोगे हेतुमाह—विरोधादिति । प्रत्ययसंततिमुप-

देवताभ्यो के आत्मत्व को प्राप्त हो जाने वाले ब्रह्मज्ञानी के प्रति (विघ्न करने में उनका प्रयत्न सफल)  
नहीं होता क्योंकि इसके लिए उन्हें अवसर मिलना ही असम्भव है ।

(वेदान्त्येकदेशी शङ्का करता है—) यदि ऐसी बात है तो विद्यावृत्ति के सजातीयप्रवाह का  
अभाव होने से तथा विपरीतवृत्ति और उसका कार्य देखा जाने से मरणकालीन आत्माकारवृत्ति ही  
अविद्या को निवृत्ति करने वाली हो सकती है, पूर्व की नहीं । (सिद्धान्तरी समाधान देता है—) ऐसा  
कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम आत्मप्रत्यय की तरह मरणकालीनप्रत्यय भी व्यभिचारी हो सकता है ।  
यदि आत्मविषयक प्रथमप्रत्यय अविद्या को निवृत्ति नहीं करता, तो अन्तिमप्रत्यय भी नहीं करेगा,  
क्योंकि दोनों का विषय समान है ।

उक्त रीति से चिराभ्यस्त प्रत्यय ही अविद्या का निवर्तक हो सकता है, विच्छिन्न नहीं । (इस  
का समाधान करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि जीवनादिके रहते हुए आत्माकारवृत्ति का

१ सजातीयप्रवाहहेतुर्वा । २ मरणकालीन । ३ प्रथमेनेति—आद्यज्ञानमाद्यम हेतोरनेकान्तिकत्वादित्यर्थः ।  
अन्त्याया बुद्धेरविद्यानिवर्तकत्वमाद्यापारमु नेति अद्यस्थायमात्मविषयत्वहेतोरप्यबुद्धाद्यनेकान्तिकत्वेति भावत् ।  
४ तथान्त्योऽपीति—तान् निवर्तयतीति शेषः । तथायाम् प्रयोग विमतोऽविद्यानिवर्तक आत्मविषयत्वाद्  
माद्यप्रत्ययवदिति । ५ एवं तर्हीति—उक्तरीत्याऽन्त्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वेऽपीत्यर्थः । सततं चिराभ्यस्त  
प्रत्ययः । ६ वेदान्त्येकदेशी । ७ अनन्तरफलकज्ञानम् । ८ तत् तन्निवर्तयतीत्युक्तवन्तं प्रति आद्यमन्य  
वेति विमत्स्याऽन्त्य स्वीकुर्वन्नाऽऽह दूषयति—न चेति । ९ प्रवृत्त्यादेः । १० पारिदोष्यात् । ११ अन्त्य-  
ज्ञानप्रवाहस्य । १२ अन्त्यात्मात्मविषयत्वयोः । १३ दृष्टान्ताभावमिति—न चान्त्यज्ञानत्वहेतुर्ज्ञानमाने  
रजतभ्रमवतो निपनकासीनं क्षुत्तिज्ञानमुदाहरणं तस्य ससाक्ष्येवज्ञानानिवर्तकत्वात् । न चैव ब्रह्मज्ञानाद-  
ज्ञाननिवृत्तौ दृष्टान्तासिद्धिं बाधमात्रसिद्धौ क्वचित्तदुपन्यासस्य तु साक्ष्यदृष्ट्यनुसारित्वादिति द्रष्टव्यम् ।  
१४ अज्ञानानिवर्तकत्वात्वाद्य दावान्तरम् । १५ सन्ततिपक्षम् । १६ बुभुक्षादिभोक्ष्यस्य ।



जीवनादिप्रत्ययतिरस्करणेनैवाऽऽमरणान्ताद्विद्यासंततिरिति श्लेषः । प्रत्ययेऽप्यसंताना-  
नवधारणाच्छास्त्रार्थनिवधारणदोषात् । इयतां प्रत्ययानां सततिरविद्यायां निवर्तिकेत्य-  
नवधारणाच्छास्त्रार्थो नावधिष्येत् । तन्नानिष्टम् ।

संततिमात्रत्वेऽवधारित 'एवेति' चेत्, न, आद्यन्तयोरविशेषात् । प्रथमा विद्या-  
प्रत्ययसंततिभरणकालान्ता चेति विशेषाभावाद्यन्तयोः प्रत्यययोः पूर्वोक्तो दोषो

पादयप्रादाङ्गुले—प्रयेति । उक्तरीत्या प्रत्ययसंततिमुपेत्य वृणयति—नेत्यादिना । समेव दोषं विहायति  
—इयतामिति । शास्त्रार्थो ज्ञानसंततिरज्ञान निवर्तयतोऽत्येवमात्मकः ।

आत्मेत्येवोपासतेति श्रुतेरात्मज्ञानसंततिमात्रसद्भावे सतो विद्याद्वाराऽविद्याध्वस्तिरिति शास्त्रार्थ-  
निश्चयतिद्विरित्याह—सततोति । आत्मधोसंततेः सत्त्वेऽपि न साऽऽत्मविषयस्याविद्याद्वाराऽविद्यां निवर्त-  
यति । 'आद्या'द्विप्रिक्षणस्यात्मधोसंततो व्यभिचारादिति परिहरति—नाऽऽद्यन्तयोरिति । पूर्वस्मिन्प्रत्यये  
नाविद्यानिवर्तकत्वमन्त्ये तु तथेत्युक्ते तस्यान्त्यत्वात्तथात्वं चेद्दृष्टान्ताभावः । आत्मविषयत्वात्तथात्वे  
प्रथमप्रत्यये व्यभिचारः स्यादित्युक्तौ दोषो । 'आद्या सततिर्नाविद्याध्वसिनो । अन्त्या तु तथेत्यङ्गीका-  
रेऽपि विशेषाभावादन्त्यत्वात्तस्या निवर्तकत्वे दृष्टान्ताभावः । आत्मविषयत्वात्तद्भावे त्वनैकान्तिकत्वमि-  
त्येतावेव दोषौ स्यातामित्युक्तं" विवृणोति—प्रथमेति । अन्त्यप्रत्ययस्य तत्संततेऽप्यविद्यानिवर्तकत्वा-

प्रवाह सम्भव नहीं है । जीवनादि की कारणभूता वृत्ति के रहते हुए बोधवृत्ति की अविच्छिन्नता सम्भव  
नहीं है, क्योंकि उसमें विरोध है । यदि कहें, कि जीवनादि का हेतुभूता वृत्तियों के तिरस्कार करने से  
ही, मरणपर्यन्त विद्यासन्तति रहेगी—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि वृत्तियों की सख्या का निश्चय  
न होने से शास्त्रार्थ-अनिर्णय शेष आ जायगा । अर्थात् इतनी वृत्तियों का प्रवाह विद्या का निवर्तक  
है—ऐसा निर्णय न होने के कारण शास्त्रार्थ निश्चित नहीं होगा और यह अभिमत नहीं है ।

सन्तति मात्र में शास्त्रार्थ निश्चित ही है—ऐसा माने तो ? ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि  
आदिसन्तति और अन्तिमसन्तति में कोई अन्तर नहीं है, बोधवृत्ति की प्रथमसन्तति ही अथवा मरण-  
काल में उत्पन्न अन्तिमसन्तति हो, इन प्रथम और अन्तिम वृत्तियों में कोई अन्तर न होने के कारण

१. सख्या । २. निश्चिते । ३. ईदमी (इयत्सख्याका) सततिज्ञानद्वाराऽज्ञानव्यवसिनीति शास्त्रार्थनिश्चये का  
सतिरित्याह—आत्मज्ञानमात्रप्रसंसिखित्याह—तच्चानिष्टमिति । शास्त्रार्थनिवधारण च न कस्याप्यभि-  
मतमित्यर्थः । ४. निश्चित एव शास्त्रार्थ इत्यर्थः । ५. मरणकाले जाता या अन्तिमा । ६. अवधारित  
इति । ७. द्विप्रिक्षणस्यात्मधोसंततो व्यभिचारादिति परिहरति । ८. आद्याद्विप्रिक्षणेत्यत्र आद्याद्विप्रिक्षणेत्यत्र युक्तं पठितुम् ।

९. दृष्टान्ताभाव इति—न च दृष्टान्ताभावेऽपि व्यतिरव्याप्या यथोक्तश्रुत्यामन्यधमेन विवक्षित साध्यमनु-  
मेयमिति वस्तु युक्तमात्मविषयज्ञानत्वस्य तथाविधज्ञानसततित्वस्य च विषयवृत्तित्वादन्त्यज्ञानत्वस्य तथाविध-  
सततित्वस्य धारिदे । तदुक्तं—'मरणेऽपि न विद्याया हिंसाभावव्यतिरिक्तः । अनिसततिनिष्पत्तौ ततोमात्र-  
समाप्तिः" ॥११२०॥ इति । हिंसाकादिमरणाव्यभिचारविह्वलतोऽतिनिविदे तयोपपत्तेः मन्त्यादवश्यभाविनि  
मरणेऽपि न निश्चय (मरिष्याम्यवहमित्यर्थः न भवत्यवगम मूर्च्छाप्रसृतत्वात्) आत्मधीतस्ततो तु का  
वर्तते भावः ॥ १०. प्रत्ययपक्षोक्तौ दोषौ सततिपक्षेऽपि तुल्यावित्याशयेनाऽह—आद्या सततिरिति ।

११. आद्यन्तयोरिति सङ्ग्रहवाक्येनोक्तमर्थम् ।

प्रसज्येयाताम् । एवं तर्ह्यनिवर्तक एवेति चेन्न, “तस्मात्तत्सर्वमभवत्” इति श्रुतेः ।  
“मिद्यते हृदयग्रन्थिः” “तत्र को मोहः” इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

अर्थवाद इति चेन्न । सर्वशास्त्रोपनिषदामर्थवादत्वप्रसङ्गात् । एतावन्मात्रार्थत्वो-  
पक्षीणा हि सर्वशास्त्रोपनिषदः । प्रत्यक्षप्रमितस्त्वविषयत्वादस्त्येवेति चेन्न । ‘उक्तपरि-  
हारत्वात् । अविद्याशोकमोहमयादिदोषनिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वादिति ‘चोक्तः परिहारः ।  
‘तस्मादाद्योऽस्त्यः संततोऽसंततश्चेत्य-चोद्यमेतत् । अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलावसानत्वा-

संभवे प्रथमस्यापि शाखाद्यनुवृत्त्या तदयोगाज्ज्ञानमज्ञानानिवर्तकमेवेति चोदयति—एव तर्हीति । श्रुति-  
विरोधेन परिहरति—न तस्मादिति ।

तासामर्थवादत्वेनाविबक्षितत्वं शङ्कते—अर्थवाद इति चेदिति । अतिप्रज्ञेन ब्रूयति—  
न सर्वेति । यथोक्तश्रुतीनामर्थवादत्वेऽपि कथं सर्वशास्त्रोपनिषदा तत्त्वप्रसदितरित्याशङ्क्याऽह—  
एतावदिति । एतावन्मात्रार्थत्वमात्मज्ञानात्तदज्ञाननिवृत्तिरित्येतावन्मात्रार्थस्य सङ्गाव । “ग्रहधोग्रमे  
प्रतीचि तासां प्रवृत्ते संवादविसवाद्याम्या मानस्वायोगादस्त्येयार्थवादतेति प्रसङ्गस्येष्टत्वं शङ्कते—  
प्रत्यक्षेति । प्रमातुरहंभीगम्यता नाऽऽत्मनस्तत्त्वमसिगणस्तस्य वेदान्ता ग्रहात्वं बोधयन्तीति न संवादा-  
विशङ्क्येयाह—नोक्तेति । विद्वदनुभवमाभिस्यापि फलश्रुतेरर्थवादत्वं समाहितमित्याह—अविद्येति ।  
आत्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वे स्थिते परमतस्य निरवकाशत्वं फलतीत्याह—तस्मादिति । चोद्यस्यान-  
वकाशत्वमेव विशदयति—अविद्यादीति ।

पूर्वोक्त दोनो दोषो को प्रसक्ति होगी । तब तो आत्मकारवत्ति अविद्या की निवृत्ति करती ही नहीं,  
ऐसा कहे तो । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि “बहु सर्वरूप हो गया”  
इस श्रुति से तथा “हृदयग्रन्थि टट जाती है”, “उस अवस्था में मोह कहाँ रहा ?” इत्यादि श्रुतियो  
से (ज्ञान द्वारा अविद्यानिवृत्ति) सिद्ध होती है ।

यदि कहो कि ये श्रुतिगर्भ अर्थवादपरक हैं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसे में तो  
समस्त शास्त्राद्यो की उपनिषदों के अर्थवाद होने का प्रसंग हो जाएगा । समस्त शास्त्राद्यो की उपनिषदें  
इतना मात्र बोधन कराने में तात्पर्य वाली है । प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मविषयक होने के कारण उग्रा  
अर्थवादत्व है ही—ऐसा कहना नहीं बनता, क्योंकि इसका परिहार पहले ही किया जा चुका है । अविद्या  
शोक, मोह-भयादि दोषो की निवृत्ति विद्वानो द्वारा अनुभवसिद्ध है, इससे उसका परिहार बहु श्रुते

- १ आत्मज्ञानादित्यर्थ । २ श्रुतिभ्यस्त्वेति—विद्वदनुभवविरोधमनुवृत्त्यार्थवकार । तदुक्तम्—“न शानिर्वर्त-  
ज्ञान प्रत्यहमोहस्य मुच्यते । स्वानुभूतिविरुद्धत्वादिनाहादिबोधवत्” ॥१३२३॥ इति । अगिनं दाहरो जलं  
न शीतलमित्यादिप्रयोगे अग्नेर्दीहकत्वमग्नेः शीतलत्वमित्यादिप्रमाणानुबन्धादेव बोधवत्तदर्थमपिगीतिनि  
गीतिवदनुभवविरुद्धेत्यर्थः ॥ ३ एतावन्मात्रार्थत्वबोधकत्वेनैव चरितार्था एतावत्येव तात्पर्येण्य इति यावत् ।  
४ २७२तमे पृष्ठे उक्तम् । ५ विद्वदनुभवसिद्धत्वात् । ६ २००तमे पृष्ठे उक्तम् । ७ उक्तमृतिर-  
पस्याचलत्वात् । ८ चोद्यावकाश । ९ स्वावितार्थकत्वम् । १० अक्षीगम्य इति—नक्षत्र प्र-  
प्रत्यक्षविषयताप्रामाण्यवत्त्वम् । ग्रहात्वाद्ये तु तस्यैव विसवादि विरोध । प्रमाणविरोध इति न मान्यमिति  
११ प्रमातृसाक्षिण ।

द्विधायाः वि-य' एवाविद्यादिवोपनिवृत्तिफलकृतप्रत्यय आद्योऽन्त्यः संततोऽसंततो वा स एव विद्येत्यभ्युपगमात् चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति ।

यत्तुक्तं विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादिति । न, तच्चेदप्रस्थितिहेतुत्वात् । येन कर्मणा शरीरमारब्धं तद्विपरीतप्रत्ययदोपनिमित्तत्वात्तस्य तथाभूतस्यैव 'विपरीत-प्रत्ययदोपसंयुक्तस्य' फलदाने सामर्थ्यमिति यावच्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगाङ्गत्वात् विपरीतप्रत्यय रागादिवोपं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव । मुक्तेषु वृत्तप्रवृत्तफलत्वात्तद्वेतुकस्य कर्मणः ।

ज्ञानसत्तेरन्यज्ञानस्य बाधज्ञानध्वसित्वासिद्धेराद्यमेव ज्ञान तथेयुक्तं, संप्रति परोक्षतममुवदति - यत्तुक्तमिति । दर्शनाद्वाऽऽद्यं ज्ञानमज्ञानध्वंसोति शेषः । प्रारब्धकर्मशेषस्य सिद्धिर्हेतुस्थितिहेतुत्वाद्दि-  
दुषोऽपि यावदारब्धकर्म रागाद्याभासाविरोधात्तस्यैव च देहाभासजगदाभासयोरभावाद्वाऽऽद्यज्ञानस्या-  
ज्ञाननियतकत्वानुपपत्तिरित्युत्तरमाह—न तच्चेदपेति । तदेव प्रपञ्चयति—येनेत्यादिना । तद्वत्स्या-  
ऽऽक्षिपतोऽनेन सबन्धः । आलेपकत्वेनियम साधयति—विपरीतेति । मिथ्याज्ञानेन रागादिवोपेण च  
'निमित्तेन प्रवृत्तत्वाविति यावत् । तथाभूतस्येत्यस्य विवरणं विपरीतप्रत्ययेत्यादि । कर्मैव यद्युच्चा  
विशेष्यते । तावन्मात्रं प्रतिभासमाशरीरम् । प्रारब्धकर्मणोऽप्यज्ञानजन्यत्वेन ज्ञाननियतस्यैव ज्ञानि-  
मस्ततो देहाभासादि संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—मुक्तेषुवदिति । यथा प्रवृत्तवैगम्येष्वा'देवैगम्यतादेवा'  
प्रतिबद्धस्य क्षयस्तथा भोगादेवाऽऽरब्धक्षयो 'भोगेन स्थितरे क्षययित्वा संपद्यते' इति न्यायात्, ज्ञानादि-  
त्यर्थः । तद्वेतुकस्य विपरीतप्रत्ययाविप्रतिभासकार्यजनकस्येति यावत् ।

है । इसलिए (उक्त युक्तिबलाप के सुस्थिर होने से) प्रथम हो, चरम हो, सतत हो अथवा असतत हो, उसके विषय में शङ्का करने का कोई अवकाश ही नहीं है । क्योंकि अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल में ही विद्या का तात्पर्य है । जो भी वृत्ति अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फलप्रदाता है, वह प्रथम, चरम, सतत या असतत हो, वही विद्या है—ऐसा मानने से शङ्का करने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता ।

और यह जो कहा गया कि विपरीत-प्रत्यय और उसका कार्य देने जाने से आत्मज्ञान अविद्या-  
ध्वंसक है, वह कहना ठीक नहीं । क्योंकि वह तो प्रारब्धशेष के विद्यमान रहने का कारण है । जिस कर्म से प्रेरित होकर शरीर का आरम्भ हुआ है वह विपरीत-प्रत्यय और दोषयुक्त होने के कारण उसके तथाभूत होने से ही विपरीत-प्रत्यय और (जन्मान्तरीय) रागादिसंस्काररूप दाप से संयुक्त रहकर ही फलसम्पादन में सामर्थ्य है, इसलिए जब तक मृत्यु नहीं आती तब तक फलोपभोग भी प्रयोज्यतारूप से उतना मात्र तो विपरीत-प्रत्यय और रागादिदाप ही होता है । क्योंकि (तरकस से) छाड़े गये

१ जन्मान्तरीयरागादिसंस्काररूपदापसहजुक्तस्य । २ प्रयाजकतया । ३ येन विना यदनुपपन्नमिति न्यायात् । ४ हेतुत्वमेव । ५ नियममिति—आक्षिपत्यवयवकारगम्य नियममित्यर्थः । ६ फलरूपेण निमित्तनेत्यर्थः । ७ आदिना बुलालचन्द्रादि । ८ कुड्यादिप्रतिबन्धमृत्युस्य । ९ भोगेन स्थितरे क्षययित्वेति—सकृत्कर्मणा ब्रह्मज्ञानेन नाश उक्तः । इतर आरब्धकार्ये पुण्यपापे तु भोगेन क्षययित्वा विद्वान् ब्रह्म सम्पद्यते । अथ सम्पत्तये संपत्त्यते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्यतीत्यादिभ्युत्थित्य इत्यर्थः ।

१० मु० उ० ४-१-१६ ।

तेन न तस्य निवर्तिका विद्याऽविरोधात् । किं तर्हि स्वाभयादेव स्वात्मविरो-  
ध्यविद्याकार्यं यदुत्पत्सु तत्तिरुणद्धच नागतत्वादतीतं हीतरत् ।

किंच नेच विपरीतप्रत्ययो विद्यावत् उत्पद्यते । निविषयत्वोत् । अनवधूतविष-  
यविशेषस्वरूपं हि सामान्यमात्रमाश्रित्य विपरीतप्रत्ययोऽवभासमान उत्पद्यते । यथा

ननु ज्ञानमनारब्धकर्मवदारब्धमपि कर्म कर्मत्वाविरोधात्प्रवर्तयिष्यति नेत्याह—तेनेति । अवि-  
द्यालेखेन सहाऽऽरब्धस्य कर्मणो विद्या निवर्तिका न भवतीत्यत्र हेतुमाह—अविरोधादिति । न हि  
ज्ञानादारब्धं कर्म क्षीयते तदविरोधित्वाद् विद्यात्वेनाह—तदेव स्थितेरन्यथा जौबन्मुक्तिशस्त्रविरोधा-  
दिति भावः । आरब्धस्य कर्मणो ज्ञानानिवर्त्यत्वे ज्ञानं कर्मनिवर्तकमिति कथं प्रसिद्धिरित्याह—किं  
तर्हीति । प्रसिद्धिविषयमाह—स्वाश्रयादिति । ज्ञानविरोधि यदज्ञानकार्यं नारब्धं कर्म ज्ञानाभ्यपममा-  
श्रयाभ्यावज्ञानात्फलात्मना जन्माभिमुख तत्तिवर्तकं ज्ञानमिति प्रसिद्धिरित्येवमर्थः । विमतं न ज्ञान-  
निवर्त्यं कर्मत्वादारब्धकर्मवदित्यनुमानादनारब्धमपि कर्म न ज्ञाननिरस्यमित्याशङ्क्याह—अनागत-  
त्वादिति । अनारब्धं कर्म फलरूपेणाप्रवृत्तत्वात्प्रवृत्तेन ज्ञानेन निवर्त्यम् । आरब्धं तु कर्म फलरूपेण  
जातत्वात्सद्भोगादते न निवृत्तिमर्हति । अनुमानं त्वागमापवाधितमप्रमाणमित्यर्थः ।

नन्वनारब्धकर्मनिष्ठत्वापि विदुषश्चेदारब्धकर्म न निवर्तते तथाच प्रधानं विपरीतप्रत्ययादि-  
प्रवृत्तेर्विद्वद्विद्विद्विषयो न स्यान्न आह—किंचेति । हेतुसिद्धयर्थं विपरीतप्रत्ययविषयं विशदयति—  
अनवधूतेति । संप्रति विद्वद्विषये विद्यमानावात्विपरीतप्रत्ययस्यानुत्पत्तिमुपगम्यति—स चेति । आश्रय-

बाण के समान शरीर आरम्भककर्म फलप्रदान में प्रवृत्त हो चुका है ।

अत आरब्धकर्मस्थापक अविद्यालेश के साथ आरम्भक-कर्म की विद्या-निवर्तिका नहीं है  
क्योंकि उसके साथ उसका विरोध नहीं है । तो वह किसे निवृत्त करती है, स्वाश्रित होने के कारण जो  
ज्ञानस्वरूप का विरोधी अविद्या का कार्य उत्पन्न होने वाला होता है, उसे ही वह रोकता है, क्योंकि  
वह अनागत है और आरब्ध तो अतीत है ।

इसके प्रतिरिक्त, विद्वान् को विपरीतप्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें विपरीतप्रत्यय के  
विषय का अभाव रहता है । अनवधारण विषय वाले विशेषस्वरूप का धर्मस्वरूप मात्र को आश्रित  
करके उत्पन्न होने वाला विपरीतप्रत्यय ही उत्पन्न होता है, जैसे धुनित में रंजद । और जिस विषय के  
अह्वारमंक्यरूप विशेष का निश्चय हो गया है, उसे सम्पूर्ण विपरीतप्रत्यय के, आश्रय का बाध होने के

१. तेनेत्यादि । तेन—आरब्धकर्मस्थापकेनाविद्यालेखेन सह, तस्य—आरब्धस्य कर्मणः । २. अविरोधादिति—  
फलरूपेणाऽऽरब्धकर्मणो जातत्वात्प्रवृत्तस्य रूपाभावाच्च न तन्निवर्तकं ज्ञानमित्यस्य द्रष्टव्यम् । तदुक्तम्—  
“अतीतत्वाच्च तद्वान्यं नासमात्मावबोधनम्” ॥१५३०॥ इति । अतीतत्वाद् फलरूपेण परिणततया  
कर्मत्वविगमादिति यावत् । ३. ज्ञानस्वरूपविरोधि । ४. अनागतत्वादिति—अनेन तस्य ज्ञानकाले पदभाज्य  
समवो दक्षिण इति बोध्यम् । ज्ञानोत्तरकालीन त्वागमिषुष्पापात्मक कर्म न ज्ञानावरोध्यमविरोधात् ।  
फलं तु तदीयं विद्वत्तत्वावकिन्दकानां प्रवर्तयति बोध्यम् । ५. विदुषि, विपरीतप्रत्ययविषयभावात् ।  
६. अनवधारणविषयो विशेषस्वरूप यस्य । ७. धर्मस्वरूपमात्रम् । ८. ज्ञानस्य । ९. विशेषवृत्ति-  
प्रमाणात् । १०. सचितम् ।

शुक्तिकायां रजतमितिः<sup>१</sup> च विषयविशेषावधारणवतोऽज्ञेयविपरीतप्रत्ययाशयस्योपम-  
दितत्वात् पूर्ववत्संभवति । शुक्तिकादौःसम्यक्प्रत्ययोत्पत्तौ पुनरवशानात् ।<sup>२</sup>  
यच्चित्तु<sup>३</sup> सिद्धायाः । पूर्वोत्पन्नविपरीतप्रत्ययजनितसंस्कारेभ्यो<sup>४</sup> विपरीतप्रत्य-  
यावभासाः स्मृतयोऽजायमाना विपरीतप्रत्ययभ्रान्तिमकस्मात्कुर्वन्ति । यथा विज्ञात-  
दिग्विभागस्याप्यकस्माद्विग्विपर्ययविभ्रमः ।

सम्यग्ज्ञानवतोऽपि चेत्पूर्ववद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते, सम्यग्ज्ञानेऽप्यद्विग्विभ्रमाच्छा-  
स्त्रार्थविज्ञानादौ प्रवृत्तिरसंभवा स्यात्सर्वं च प्रमाणभ्रममाणं संपद्यते । प्रमाणा-

स्यागृहीतविशेषस्य सामान्यमाश्रयाऽऽलम्बनस्येति यावत् । आश्रयस्येति पाठेऽप्ययमेवार्थः । विदुषो  
विपरीतप्रत्ययादिप्रतिभासेऽपि न यथापूर्वं तत्सत्त्वं यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वमित्यादिप्रायविरोधा-  
दिति मत्त्वोक्तम् न पूर्ववदिति । तत्रानुभवं प्रमाणयति—शुक्तिकादाविति ।

यथाऽज्ञानवतो विपरीतप्रत्ययभावोऽनुभूयते तथा तद्वतोऽपि बवच्चिद्विपरीतप्रत्ययो दृश्यते  
तथा च कथं तद्वानुभवविरोधो न प्रसरेदित्याशङ्क्य परोक्षज्ञानवति विपरीतप्रत्ययसत्त्वेऽपि नापरोक्ष-  
ज्ञानवति तदाह्यमित्यभिप्रेत्याऽह—वचित्विति । परोक्षज्ञानाधारः सप्तमर्थः । पञ्चमी त्वपरोक्ष-  
ज्ञानार्था । अकस्मादित्येतेनोतिरिक्तबलप्रमाणभावोक्तिः ।

विदुषो मिथ्याज्ञानोन्नीयमुक्त्वा विपक्षे दोषमाह—सम्यगिति । तत्पूर्वकम् मुष्टानमादिशेवार्थः ।  
सम्यग्ज्ञानाद्विग्विभ्रमे दोषान्तरमाह—सर्वं चेति । ज्ञानावज्ञानध्वंसे तदुत्थमिथ्याज्ञानस्य तद्विषयस्य

कारण उसका पूर्ववत् होना संभव नहीं है । जैसे शुक्तिकादि में, उनका सम्यक्प्रत्यय हो जाने पर फिर  
भ्रमवृद्धि नहीं होती ।

परन्तु बहीन्कही (परोक्षज्ञान वाली) विद्या से पूर्वोत्पन्न विपरीतप्रत्ययजनित संस्कारों से  
विपरीतप्रत्ययाकार की तरह भासने वाली स्मृतियाँ उत्पन्न होकर अचानक विपरीतप्रत्यय की भ्रान्ति  
पैदा कर देती हैं । जैसे दिशा विभाग जानने वाले को भी अचानक दिशा की भ्रान्ति हो जाती है ।

यदि सम्यक्ज्ञान-श्रुति पुरुष को भी पूर्ववत् विपरीत-प्रत्यय हो जाए तो सम्यक्ज्ञान में भी  
अविश्वास हो जाने पर शास्त्रार्थविज्ञान (तत्पूर्वक अवगणकानुष्ठान) आदि से प्रवृत्ति होनी असंभव  
हो जाए और तब तो साक्षी, प्रमिति, अप्रमिति हो जाए । क्योंकि (उभयस्थान में अविश्वास की समानता

१. ब्रह्मात्मैक्य विशेषः । स्वरूपमात्र तु सामान्यम् । २. परोक्षज्ञानवति । ३. प्रत्ययाकारः ।

४. प्रमितिः । ५. अप्रमितिः । ६. उभयत्राविश्रम्भस्य तुल्यत्वात् । ७. विषयस्य । ८. भवत्सदादेरिव  
विदोऽपि रोगादिनुवर्तते तत्कार्योदोषदयनादित्याशङ्क्याऽह—विदुषः इति । तथाच चातिकम्—“आपमाद्वेद  
चेद्वैद्वद्वा ब्रह्म भवेतीति हि । पलायकस्य च सत्तुता रागादिसंयुतिः” ॥१२४०॥ इति । प्रह्लादभरमतीति

युतेर्ज्ञानतो ब्रह्माभावस्याऽऽनयनत्वादब्रह्मभूतस्य शमाचसत्पदार्थं तस्य यथापूर्वं तत्कार्यमस्तीत्यर्थः ॥

९. अनुवर्तमानत्वम् । १०. यस्य तु यथापूर्वमिति—उक्तं ह्यतच्चतु मूर्तीभाष्योपान्ते भगवता भाष्यवृत्ता

“तस्मात्तद्विगतब्रह्मात्मैक्यं यथापूर्वं ससारिवत् । यस्य तु यथापूर्वं ससारिव नासावगतब्रह्मात्मभाव  
इत्यनवदमिति पञ्चदशतममन्त्रटीकासम्यक् ब्राह्मणस्थस्य । ११. विदुषि विपरीतप्रत्ययाद्यनुत्पत्तौ ।

१२. ज्ञानवतोऽपि । १३. विदुषि विपरीतप्रत्ययवत्त्वे । १४. न कस्मादपि बवतीत्यनस्मात् परोक्षज्ञानि-  
न्यप्यज्ञानं तु नास्ति सदतिरिक्तकारणाभावस्योक्तोज्ञस्मादिति । १५. अवगादे ।

तस्य 'कर्तृत्वाद्युपपत्तेः' । यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदिति हि वक्ष्यति ।  
 'अनन्यत्सद्वस्त्वात्माह्यं' यत्राविद्याया सत्यामन्यदिव स्यात्तिमिरकृतद्वितीयचन्द्रवत्तत्राविद्या-  
 कृतानेककारकापेक्षं दर्शनादिकर्मं तत्कृतं फलं च दर्शयति तत्रान्योऽन्यत्पश्येदित्यादिना ।  
 यत्र पुनविद्याया सत्यामविद्याकृतानेकत्वभ्रमप्रहाणं तत्केन कं पश्येदिति कर्मसंभवं  
 दर्शयति । 'तस्मादविद्यावद्विषय एव ऋणित्वं कर्मसंभवान्नेतरत्र ।

'एतच्चोत्तरत्र' व्याचिह्न्यासिष्यमाणरेव वाक्येविस्तरेण प्रदर्शयिष्यामः । तद्यथेहैव

यत्रेति । वक्ष्यमाणवाक्याय 'प्रकृतोपयोगित्वेन कथयन्ति—अनन्यदिति । ऋणित्वं विदुषो नेत्युक्तं ध्यत्की-  
 कृतं तस्य नास्ति कर्तृत्वादीत्यत्रापि प्रमाणमाह—यत्र पुनरिति । विद्यायां सत्यामविद्यायास्तत्कृताने-  
 कत्वभ्रमस्य च प्रहाणं यत्र संपद्यते तत्र तस्मादेव 'कारणातत्केनेत्यादिना कर्मदिरसंभवं दर्शयतीति  
 योजना । प्रमाणसिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति ।

अविद्याविषयमृणित्वमित्येतरप्रपञ्चप्रविद्यासूत्रमवतारयति—एतच्चेति । तद्वृणित्वमविद्या-  
 विषयं यथा स्फुटं भवति तस्याऽयं योऽयामित्यादायनन्तरग्रन्थ एव कथ्यते प्रथममित्यर्थः । तद्वक्षराणि

होता ।", "(मैंने शुभकर्म क्यों नहीं किया और पापकर्म क्यों किया) इस प्रकार की चिन्ता केवल  
 इस विद्वान् को सतप्त नहीं करती " "(उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला) विद्वान् भयभीत नहीं  
 होता ।" इत्यादि श्रुतियों और "ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है" इत्यादि स्मृतियों से भी  
 यही सिद्ध होता है ।

यह जो कहा कि (विद्वान् विद्याफलप्राप्ति में देवादि-) ऋणो से बँधा हुआ है । ऐसा कहना  
 ठीक नहीं है, क्योंकि ऋण अविद्या की तरह विषय है । ऋणो वही अनुप्य है, जो अविद्यायुक्त है,  
 क्योंकि उसीमें कर्तृत्व (भोक्तृत्व) आदि अभिमान सम्भव है । "जिस जाग्रत् या स्वप्न अवस्था में  
 आत्मा से भिन्न अन्य चीजस्तु होती है, वहाँ ही अन्य, अन्य को देखता है" ऐसी श्रुति भी है । सर्वाभिन्न,  
 त्रिविधभेदशून्य, सत ऋणु आत्मा है, वह तिमिररोग से भासनेवाले द्वितीय चन्द्र के समान, जहाँ  
 अविद्यावस्था में अन्य के समान होती है, वही, "अन्य अन्य को देखता है" इत्यादि वाक्य से श्रुति  
 अनेक कारणों की अपेक्षावासी दर्शनादिक्रिया और उससे होने वाले कर्तृत्वादिवत्त को भी दिखाती  
 है । किन्तु जहाँ अविद्यावस्था में अविद्याजनित नानात्वभ्रम का नाश हो जाता है, वहाँ "किससे  
 किसको देखे" यह श्रुति क्रम की अनुपपत्ति दिखाती है । हमारे द्वारा कहा गया अर्थ प्रामाणिक  
 होने के कारण अविद्वान् ही ऋणित्व है, क्योंकि उसी के द्वारा कर्म सम्भव है, विद्वान् से नहीं ।

इसी बात को, (ऋणित्व का अविद्यावद्विषयत्व होना) जिन श्रुतिवाक्यों की व्याख्या करने  
 की हमारी इच्छा है, उनसे निस्तारपूर्वक दिखलाएंगे ।

जिस प्रकार यहाँ यह बात कही गयी है कि जो ब्रह्मज्ञानविहीन अन्य अपने से भिन्न जिस  
 किसी देवता की उपासना करता है; स्तुति, नमस्कार, याग, बलि, उपहार, भक्ति और ध्यानादि के

१. कर्तृत्वाद्यभिमानोपपत्तेः । २. सर्वाभिन्नम् । ३. त्रिविधभेदशून्यम् । ४. त्रिया । ५. कर्तृत्वादिति ।

१. भस्मदुक्तापस्य प्रामाणिकत्वात् । २. ऋणित्वस्याविद्यावद्विषयत्वम् । ३. अविदुषि कर्तृत्वादिसाधकत्वेन ।

६. काले । १०. अविद्यातत्कार्याभावात् ।

तावत्—अथ यः कश्चिदब्रह्मविदन्त्यामात्मनो व्यतिरिक्तां यां कांचिद्देवतामुपास्ते स्तुति-  
नमस्कारयोगे बल्युपहारप्रणिधानध्यानादिनोपास्ते तस्या गुणभावमुपगम्याऽस्ते । अन्यो-

ध्याकरोति—अथेत्यादिना । विद्यासुप्रानन्तर्यमविद्यासुप्रत्यया (स्था) पञ्चम्याः । यागो गन्धमुष्पादिना  
पूजा । बल्युपहारो नैवेद्यसमर्पणम् । प्रणिधानमंकाग्रणम् । ध्यानं तत्रैवानन्तरितप्रत्ययप्रवाहकरणम् ।  
आदिपदं प्रदक्षिणादिग्रहणाद्यम् । भेददर्शनमत्रोपासनं 'न आखीयमित्यभिप्रेत्यंतदेव' विवृणोति—

द्वारा उसकी उपासना करता है अर्थात् उसके दास्यभाव को प्राप्त होकर रहता है, वह उपास्य देवता  
अन्य धनात्मा मुझसे पृथक् है, तथा उपासना का अधिकारी मैं इससे भिन्न हूँ, मुझे ऋणी के समान  
इसका प्रत्युपकार करना चाहिए । इस प्रकार भेदबुद्धि से अभिनिविष्ट चित्तवाला यह उपासना करता

१. अथेति—विद्याप्रकरणादविद्याप्रकरणस्य विभागं चोक्तमित्युक्तव्यम् । तदुक्तं वातिवे—“प्रवृत्तकाम्यविद्याया  
भ्युत्थानायापगीरियम् । न हि सगच्छते विद्याविद्यायोगं विरोधतः ॥१५१६॥ इति । विरोधमो निवर्त्य-  
निवर्तकभावादित्यर्थः ॥ २ दास्य प्राप्य । ३ न आखीयमिति—न स वेद इति वाक्ययोपादित भावः ।  
अपि तु लोकिवमेवेति शेषः । ४ उपासनस्यो लोकिभेददर्शनं न प्रयुज्यत इति वाच्यं राजानमुपास्ते इत्यादौ  
दर्शनादिति भावः । ५ उपासनमेव । ६ स्पष्टयति ।

अथपर्यादि । अत्र वातिकानि चत्वारि सन्ति । तत्राहि—विज्ञासं प्रति नेषाना यदि देवादयो मता ।  
कस्मिन्विषय ऐतर्क्यं तेषां स्वात्सीधुनोच्यते ॥ प्रामाण्यं कर्मकारणस्य यस्मिन्विषय इत्यते । अविद्याविषय  
साक्षादर्थं योऽप्यामितीयेते ॥ सम्यग्ज्ञानसमुत्पत्तौ कर्मकार्यसमाप्तिरिति । आपेक्षा कर्मकारणे स्यात्तत्प्राप्ता-  
प्यवृत्तार्थतः ॥ प्रवृत्तकाम्यविद्यायां भ्युत्थानायापगीरियम् । न हि सगच्छते विद्याविद्यायोगं विरोधतः ॥  
१५१६-१५१९ ॥ इति । मनुष्याणां पशुलोकरवश्रवणेषुपि देवादिभिस्तद्विद्याकले भुक्तां प्रतिवन्धो न शक्यते  
कतुं विद्या चाऽऽसीदविद्याध्वसिन्मन्यायास्तत्सन्तरेव तदयोगाद्विदुषो राधादिदृष्टेयव्याऽऽभासत्वात्सत्कलमान-  
स्यकमित्युक्तमिदानीं देवादीनां पिदुष्यत्वात्तन्म्ये कुत्र स्वातन्त्र्यमिति पृच्छति—विज्ञासमिति । अथ योऽप्यामि-  
त्याद्यवतारयति—सोऽप्युनेति । अब्रह्मविदि निग्रहानुग्रहस्वातन्त्र्यं देवादीनां प्रपञ्च्यतेऽनन्तरात्वात्पेतेत्यर्थः ॥  
आदिवे साध्यसाधनत्वाद्वा कर्मश्रुतेर्मानस्य चोच्यत तेनैवेत्यर्थान्तरमाह—प्रामाण्यमिति । प्रत्यक्षादेरागमेतर-  
प्रमाणस्याविद्याविषये प्रामाण्यवदितिदृष्टान्तचोदयार्थं साक्षादित्युक्तम् ॥ नन्वाविद्ये कर्मदो न तत्प्राप्ताप्य  
विदुषोऽपि कर्मपिअरवात्र हि कश्चिरक्षणमपीत्यादिसमूहे व्युत्पन्नसि तन्मुच्यत ज्ञानं मुक्तिहेतुमाहुस्तत्राह—  
सम्यगिति । ऐक्यज्ञाने स्वयदिर्बाधितत्वात्कर्मकारणे तदर्थं वा विदुषो नास्त्यपेक्षा कृत्याभावाज्ज्ञानात्प्रागेव  
तत्प्राप्ताप्यस्य व्यावहारिकस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अथवा सति ज्ञाने कर्मकार्यस्य बुद्धिशुद्धेस्तद्वेतोराधादेव  
सम्भत्वात्सत्कर्मकारणप्रामाण्यस्य अतितापत्वाच्च पुनस्तस्मिन्पेक्षा मुक्ता कर्ममानयोराधाजननकादेस्तु बाधित  
कर्मं प्रदीक्षत 'न मे निचन दहते' इत्यादिसमूहे । त्वदुक्तस्मृतित्वविविधया 'तस्य कार्यं न विद्यत' इति च  
वक्ष्यति—'कुर्याद्विद्वानिति' चात्र प्रवर्तयितुमेवोक्तं 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इत्यादिसंनानां समुच्चयवचनानि च  
क्रमसमुच्चयार्थानि अन्यथा 'नान्यं पन्था' 'न कर्मणे'त्यादिनिषेधश्रुतिविरोधो भवेत्तस्मादाविद्ये कर्मदो  
सादिव्युत्पन्नत्वेनैवमित्याह—तदिति । स्यादधिभुक्तुं न ज्ञानमविद्या चेदं सह अत्र इत्युपगमादिति द्रष्टव्यम् ॥  
अब्रह्मविदि देवादिस्वातन्त्र्यमाविद्ये च कर्मदो नमंनान्द्रागाम्यमित्यर्थेद्वयं बल्युत्पन्नं वाक्यमिति तात्पर्य-  
मुपत्वाज्पञ्चदशमाह—प्रकृतेति । प्रकृतादुत्तरस्य 'विच्छेदेवरणे हेतुमाह—न हीति' । विरोधतः इति  
निवर्त्यनिवर्तकभावादित्यर्थः ॥

'ऽसौवनर्त्तिमा मुत्तं-पृथगन्योऽहमस्म्यधिकृता' मयाऽस्मा ऋणिवत्प्रतिकर्तव्यमित्येवंप्रत्ययः  
सन्नुपास्ते 'न स' इत्यप्रत्ययो 'त्वेदं' विजानाति तत्त्वं न स केवलमेवंभूतोऽविद्वानविद्या-  
दोषवानेव किं तर्हि यथा पशुर्गवादिर्वाहनदोहनाद्युपकाररूपमुच्यते एव स इज्याद्यनेको-  
पकाररूपमोक्तव्यत्वादेकंकेन देवादीनाम् । अतः पशुरिव सर्वायं कर्मस्वधिकृत इत्यर्थः ।

एतस्य ह्यविदुषो वर्णाश्रमादिप्रविभागवतोऽधिकृतस्य कर्मणो 'विद्यासहितस्य  
केवलस्य च शास्त्रोक्तस्य' कार्यं मनुष्यत्वादिको ब्रह्मान्तो 'उत्कर्षः' । शास्त्रोक्तविपरीतस्य  
च 'स्वानाविकस्य कार्यं मनुष्यत्वादिक एव स्थावरान्तोऽपकर्षः' । यथा चैतत्तथाऽप्यत्रयो-

ग्रन्थोऽसाविति । "तस्य भूलमाह—न स इति । वाक्यान्तरमवताय व्याचष्टे—न स केवलमिति । सोऽवि-  
द्वानेवमुक्तदृष्टान्तवशात्पशुरिव देवानां भवति तेषां मध्ये तस्यैकंकेन बहुभिन्नपकारभोग्यत्वादिति  
योजना । पशुसाम्ये सिद्धमर्थं कथयति—अत इति ।

अथानेनाविद्यासूत्रेण किं 'कृतं' भवतीत्यपेक्षायामविद्यायां सत्कारहेतुत्वं सूत्रितमिति बह्वनुम-  
विद्याकार्यं कर्मफलं सक्षिपति—एतस्येत्यादिना । कर्मसहायभूता विद्या देवताध्यानात्मिका । शास्त्रीय-  
वत्स्वाभाविककर्मणोऽपि 'द्वैविध्यं सूचयितुं चशब्दः । "तत्र तु सहकारिणी विद्या नमन्वीर्शनादि-  
रूपेति भेदः । कथं यथोक्तं कर्मफलमविद्यायतं स्यादित्याशङ्क्याऽह—यथा चेति । सूत्रं द्वैविध्यसि-

है । ऐसी बुद्धिवाला प्राग्माथिक तत्त्व को नहीं जानता । वह ऐसा भ्रजानी केवल अविद्या स हाने वाल  
(ब्राह्मणादि) भ्रमिमानरूप दोष से युक्त नहीं है, तो फिर कैसा है ? जिस प्रकार गाय, बैल आदि पशु  
वाहन और वाहनादि उपकारो से काम में लिए जाते हैं, उसी प्रकार वह यागादि घनेको उपकारा क  
कारण एक-एक दवादि का उपभोग्य होने से उनका पशु ही है । देव के उपभोग्य होने का कारण वह  
पशु के समान सब प्रकार के फल देने वाले कर्मों का अधिकारी है ।

इस वर्णाश्रमादि विभागवान कमादि में अधिकृत भ्रजानी की उपासनासहित केवल शास्त्रोक्त  
कर्मों का फल मनुष्यत्व से लेकर ब्रह्मत्वपर्यन्त उत्कृष्टदेह की प्राप्ति होती है । तथा शास्त्रोक्त स  
विपरीत जो शास्त्रानाथय जन्मान्तरीय कम है उसका कार्य मनुष्यत्व से लेकर म्यावर मोनियों तक  
अपकृष्टदेह की प्राप्ति होना है । यह जिस प्रकार है उसका ह्रम अग्रिम ब्राह्मण (सोलहवें भन्त्र) में  
प्रध्याय के अन्त में 'मनुष्यलोक, पितृलोक और दवलोक—यही तीन लोक हैं' इत्यादि वाक्य से  
सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन करेंगे । विद्या का फल सर्वात्मभावापत्ति है, यह बात सक्षपत्त दितलाई

- १ उपास्यो देव । २ अदधीयोगासने । ३ प्रत्युपचतव्यम् । ४ भेदाभिविष्टभेता । ५ न स इति—  
अनुभवसिद्ध निरस्तजगज्जन्म चिदव्यस्तभगानमव तमूलमिति भावः । ६ इत्यमित्यादि—भेदाभिवि-  
विष्टमितिर्न जानात्युपास्योपासकयो पारस्परिक तत्त्वमित्यर्थः । ७ आविद्यब्राह्मणाद्यभिमानयान् ।  
८ किं तर्हि—पशुसहयोगि भवतीति शेषः । पशुसहयोग दर्शयन् वाक्याक्षराणि व्याकरोति—यथेति ।  
९ देवोपभोग्यत्वात् । १० कर्मादी । ११ उपासना । १२ फलम् । १३ उत्कृष्टदेह ।  
१४ स्वभावविकस्येति—स्वभाव शास्त्रानाथयो जन्मान्तरीय सत्कारः तत्प्रयुक्तयत्नः । १५ वृ० उ०  
१५-१६ । १६ भेदस्थानस्य । १७ उत्तम् । १८ केवलं विद्यासहितत्वं च । १९ स्पष्टनादि-  
स्वानाविकस्येति । २० विद्याभूताविद्याभूतमिति भावः ।



वाव लोका इत्यादिना यस्यामः कृत्स्नेन वाध्यायुक्षेपेण । विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावा-  
पत्तिरित्येतत्संक्षेपेन दर्शितम् । सर्वो हीयमुपनिषद्विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन बोधक्षीणा ।  
यथा चोपोऽयं कृत्स्नस्य शास्त्रस्य तथा प्रदर्शयिष्यामः ।

यस्मादेवं तस्माद्विद्यावन्तं पुरुषं प्रति देवं ईशत एव विघ्नं कर्तुमनुग्रहं  
चेत्येतद्दर्शयति—यथा ह वै लोके बहवो गोश्वादयः पशवो मनुष्यं स्वामिनमात्मनो-  
ऽधिष्ठताम् । भुञ्ज्युः पालयेयुरेवं बहुपशुस्थानीयं । एककोऽविद्वान्पुरुषो देवान्देवानिति  
पदे पित्राद्युपलक्षणाय भुनक्ति पालयतीति । इमं इन्द्रादयोऽन्ये मत्तो ममेशितारो भूत्यं  
इवाहमेव । स्तुतिनमस्कारेऽप्यादिनाऽऽरोधनं कृत्वाऽभ्युदयं निःश्रेयसं च तत्प्रति फलं  
प्राप्स्यामीत्येवमुभिसंधिः ।

तत्र लोके बहुपशुमतीऽपि ययंकस्मिन्नेव पञ्चावादीयमाने व्याघ्रादिनाऽपह्नियमाणे  
महदप्रियं भवति तथा बहुपशुस्थानीय एकस्मिन्पुरुषे पशुभावाद्भ्युत्पत्तिष्ठत्यप्रियं भवतीति

उपयं विद्यामन्त्रार्थमनुज्ञामिति विद्यायाश्चेति । सूत्रान्तराशङ्क्यं वारयति—सर्वा हीति । कथमेतदव-  
गम्यते तत्राऽह—यथेति ।

मनुष्याणामविद्यायां देवपशुत्वे स्थिते फलितमाह—यस्मादिति । तत्र प्रमाणत्वेनोत्तरं वाक्य-  
मुत्थापयति—एतदिति । किमिदमविद्यावन्तो देवादिपालनमिद्याशङ्क्यं वाक्यतात्पर्यमाह—इमं इन्द्रा-  
दय इति । अभिसंधिरविद्यावतः पुरुषस्येति शेषः ।

एकस्मिन्नेवेत्यादि वाक्यमावाप्य व्याचष्टे—तत्रेति । मनुष्याणां पशुभावाद्भ्युत्पत्तिष्ठानमप्रियं

गई है । सम्पूर्ण उपनिषदों का पर्यवसान विद्या और विद्या के विभागप्रदर्शन करने में है । समस्त  
शास्त्रों का जिस प्रकार यह अर्थ है, उसे अग्रिम ब्राह्मण में कहेंगे ।

जिसप्रकार उक्त विधि से मनुष्यों का पशुत्व होना सिद्ध हुआ, उसी प्रकार श्रुति दिललाती है  
कि अविद्वान् पुरुष के प्रति देवता विघ्न अथवा अनुग्रह करने में समर्थ हैं । जिस प्रकार लोकव्यवहार में  
गो-श्व-वादि बहुत से पशु अपने स्वामी अधिष्ठाता मनुष्य का भरण-पोषण करते हैं, उसी प्रकार अनेक  
पशुस्थानीय एक-एक प्रजानों पुरुष देवताओं का भरण-पोषण करता है । “देवान्” यह पद पितृगणदि  
का भी बोधक है । मनुष्य से पृथक् इन्द्रादि मेरे शासक हैं, मैं परिचारक के समान । स्तुति, नमस्कार  
एवं यागादि से इनकी आराधना करके इनके लिए हुए भोग और मोक्ष सब फल प्राप्त कर लूंगा—  
अज्ञानों पुरुष की ऐसी कल्पना होती है ।

किसी वृद्ध स्थानों के बीचों-बीच में जिस प्रकार किसी वृद्ध से पशुओं के मालिक पुरुष के एक पशु के भी  
‘आदीयमाने’ सर्वार्थ व्याघ्रादि के द्वारा हरण कर लिये जाने पर उसे बहुत दुःख होता है, उसी प्रकार  
किसी गृहस्थों के बहुत से पशु चुरा लिये जाने के समान अनेक पशुस्थानीय एक भी पुरुष के पशुभाव से

१. फलम् । २. विद्याविद्याविभागप्रदर्शनायः । ३. अग्रिमब्राह्मणे । ४. एवमिति—उक्तविधया  
५. मनुष्याणां देवपशुत्वम् । ६. हीनदुःखितम् । ७. अनुवर्तते । ८. विद्यापूत्राविद्यासूत्राभ्यामन्यस्तुतीयस्तम् ।

९. अनेक देवानां निग्रहानुग्रहस्वातन्त्र्ये । १०. किं फलं किमाकारं च । ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

किं-चित्रं देवानां बहुपक्षवपहरण इव 'कुटुम्बिनः । तस्मादेयां देवानां तन्न प्रियं-किं तद्यवेतद्ब्रह्मात्मतत्त्वं, कथंचन मनुष्या विद्युर्विजानीयुः । तथा च स्मरणमनुगीतासु भगवतो व्यासस्य—

“क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकाः समावृताः ।

न चेतद्विष्टं देवानां मर्त्यैरुपरि-चर्तनम्” ॥इति॥

अतो देवाः पशूनिव व्याघ्रादिभ्यो ब्रह्मविज्ञानाद्विघ्नमाचिकीर्यन्ति । अस्मदुप-  
भोग्यत्वात्मा व्युत्तिष्ठेयुरिति । यं तु भुमोचयिष्यन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति-विपरीतम-  
श्रद्धादिभिः । तस्मान्मुमुक्षुर्वैवाराधनपरः श्रद्धामक्तिपरः 'प्रणयो'ऽप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्ति

देवानामिति स्थिते । 'तदुपायमपि' तत्त्वज्ञानं तेषां देवा विद्विष्यन्तीत्याह—तस्मादिति । तत्त्वविद्याया  
दीर्घम्यत्वं (स्थं) कथंचनेत्युक्तम् । मनुष्याणामुत्कर्षं देवा न मुष्यन्तीत्यत्र प्रमाणमाह—तथा चेति ।  
तेषां ब्रह्मविद्याया कंबल्याभिः सुतरामनिष्टेति भावः ।

देवादीनां मनुष्येषु ब्रह्मज्ञानस्याप्रियत्वेऽपि किं स्यादित्याशङ्क्याह—अत इति । तेषां  
विघ्नमाचरतामभिप्रायमाह—अस्मादिति । "तर्हि" देवादिभिरुपहतानां मनुष्याणां मुमुक्षवं न संपद्येते-  
स्याशङ्क्याह—य त्विति । उक्तं हि—

“न देवा दण्डमादाय रसन्ति पशुपालवत् ।

यं हि रक्षितुमिच्छन्ति "बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्" इति ।

"तर्हि किमिति सवर्गिव देवा नानुगृह्णन्तीत्याशङ्क्याह—विपरीतमिति । देवतापराङ्मुखा-  
भुमोचयितमिति यावत् । संप्रति देवाप्रियवाक्येन(ण) ध्वनितमर्थमाह—तस्मादिति । अविद्वत्सु  
मनुष्येषु देवादीनां स्वातन्त्र्यं तच्छब्दार्थः । श्रद्धादिप्रधानस्तदाराधनपरः सन्देवादीनां प्रियः स्यात्तद्वि-  
पक्षस्य" मुमुक्षावैकल्यादित्यर्थः । तत्प्रीतिविवयश्च तत्प्रसादासादितवैराग्यः सर्वाणि कर्माणि सन्त्यस्य  
विद्याप्रापकभक्त्यादिकं प्रत्येकाग्रमनाः स्यादित्याह—अप्रमादिति । अवणाविकमनुतिष्ठन्निषि घर्णाधमा-

ऊपर को स्थिति पहुँचने पर यदि देवताओं को कष्ट होता है, तो इसमें क्या आश्चर्य ? इसलिए इन  
देवताओं को इसमें प्रसन्नता नहीं होती । किसमें ? यही कि ये मनुष्य इस ब्रह्मात्मतत्त्व को 'विद्युः'  
अर्थात् प्राप्त करें । उसी को भगवान् व्यास की अनुगीता में स्मरण किया गया है ।

“हे कुन्तीपुत्र भर्जुन ! स्वर्गलोक कर्ममार्गी पुरुषों से प्रतिष्ठित है । देवताओं को यह प्रिय  
नहीं कि मनुष्य उनसे ऊपर जाएँ अर्थात् ब्रह्मविद्या द्वारा कंबलप्राप्ति करे ।”

अतः देवता, यह साचकर कि हमारे उपभोग्य अर्थात् पशुभाव हान के कारण मनुष्य हमसे  
ऊपर न उठ सकें, पशुओं के व्याघ्रादि से दूर रखने के समान मनुष्यों को ब्रह्मविज्ञान से दूर रखने के

१. गृहस्थस्य । २. मर्त्यलोकेपशुभावात् । ३. बली । ४. व्यवहारिषु मन समार्षांनधैर्यप्रमाद ।

५. विद्याया. प्राप्तिव्यस्यच्छवणोदेत प्रति । ६. पशुभावव्युत्थानसाधनम् । ७. मोक्षारूपफलवदिति-

इष्टान्ताप्योषि । ८. पशुभावव्युत्थानम् । ९. मनुष्याणां का दितिः स्यात् । १०. देवादीनामुत्ता-

मिप्रायवत्ये । ११. सर्वोत्थना देवादीनानाम् । १२. श्रद्धादियुत्तया बुद्ध्या । १३. अनुग्रहस्वातन्त्र्ये ।

१४. विरोधिनः पराङ्मुखस्य ।

प्रति विद्या प्रतीति या कावर्चस्तत्प्रदर्शितं भवति देवाप्रियवाक्येन ॥१०॥—

‘सूत्रितं शास्त्रार्थं आत्मेत्येवोपासीतेति । तस्य च व्याचिह्न्यासितस्य सार्थवादेन तदाहुयंद्ब्रह्मविद्यपेत्यादिना सबन्धप्रयोजने अमिहिते । अविद्यायाश्च ससाराधिकार-कारणत्वमुक्तमथ योऽन्या देवतामुपास्त इत्यादिना । तत्राविद्यानुष्ठी पशुवद्देवाविकर्म-कर्तव्यतया परतन्त्र इत्युक्तं किं पुनर्देवाविकर्मकर्तव्यत्वे, निमित्तं वर्षा आश्रमाश्च तत्र के

चारपरो भवेद’न्या विद्यास्तक्षणे फले प्रतिबन्धतन्मयावित्याशयेनाऽऽह—विद्या प्रतीति । भवादिनिमित्ता इवमेविकृति काकुच्यते । यथाऽऽह—‘काकु स्थियां विकारो य शोकोभोत्यादिभिष्वने’ इति । तदा कावरा काण्वधुते स्वरकम्पेन(श) भयमुपलभ्य देवादिभजने कल्प्यते तात्पर्यमित्याह—काववति ॥१०॥

अह्यकण्डिकामित्य व्याख्याय ब्रह्म वा इदमित्यादिवाक्यस्या‘तीतेन सबन्धं वस्तु वृत्तं कोतयति—सूत्रित इति । शास्त्रार्थं शब्दो ब्रह्मविद्याविषय । ‘तदाहुरित्यादिनोक्तमनुवदति—तस्य चेति । ‘अर्थवाद-स्तद्यो यो देवानामित्यादि । सबन्धो ज्ञानस्य सर्वात्मिकत्वेन साध्यसाधनत्वमधिकारिणाऽऽश्रयाश्रय-त्वमन्वयेन विषयविषयित्वमिति विभाग । अविद्यासूत्रं वृत्तं कथयति—अविद्यायाश्चेति । ससारास्या-धिकारं प्रयुक्तिरूपतिरिति यावत् । यथा पशुरित्यादिनोक्तमनुभाष्यते—‘तन्नति । अविद्याधिकार’ सप्तम्यर्थं । ‘तत्राविद्याकार्यं प्रपञ्चयितुमध्यायशेषप्रवृत्तिरिति सम्बानोऽविद्या’विधत्तं चाहुर्व्यसृष्टिप्रकट-नायं ‘तदेतद्ब्रह्म’त्यस्मात्प्राक्तनं वाक्यमित्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—किं पुनरिति । ब्रह्म वा इदमित्यादि-

लिए विघ्न प्रस्तुत करने की इच्छा करते हैं । जिस वे भवबन्ध से छुड़ाना चाहते हैं उसे श्रद्धादि साधनों में लगते हैं जिस मुक्त करना नहीं चाहत उसे श्रद्धादि में उलझाये रहते हैं । देवताओं का अप्रिय बतलाने वाली काकु उक्ति द्वारा सिद्ध होता है कि मुमुक्षु को भगवदचीपरायण श्रद्धाभक्तिपरायण, देवताओं का प्रियपात्र, विद्याप्राप्ति के साधनों एवं ज्ञान के प्रति सावधान रहना चाहिये ॥१०॥

‘आत्मा है—ऐसे उसकी उपासना करनी चाहिये इस धृतियावय से शास्त्र का तात्पर्य संक्षिप्त रूप में कहा गया । फिर व्याख्या के लिए अगोष्ठ्य समवाद से तदाहुयंद् ब्रह्मविद्या इत्यादि मन्त्र द्वारा उस शास्त्रार्थ के सबन्ध शीघ्र प्रयोजन बतलाये गये । अथ योऽन्या देवतामुपास्ते (क्योंकि ब्रह्म तत्त्व ज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा ही हो जाता है) इत्यादि वाक्य से ससार की उत्पत्तिहेतुरूपा होना अविद्या का स्वरूप है । अब्रह्मविद् ऋणी होता है अर्थात् पशु के समान देवकर्मों की कर्तव्यता से मुक्त होने के कारण पराश्रित होता है ऐसा वहाँ कहा गया है । किन्तु क्या बात है कि देवता मनुष्यों से कम करवाते हैं ? वण और आश्रमके कारण ऐसा होता है । वंश कौनसे है ?—ऐसी विविकितता होनेपर आचारम्भ किया जाता है । जिस वणरूप निमित्त से सम्बद्ध कर्मों में इस पराश्रित ससाराजीव का ही अधिकार

१ देवदेवब्रह्मादिना प्रसादनम् । २ ससपेणोक्त । ३ अविद्यास्वरूपनमुखायक च । ४ मयेष्टवेष्टये ।

५ आह—अमर इति शेषः । ६ अथवाभ्यगमइति पूर्वोक्तवाक्यम् । ७ तदाहुरिति—ननु ॥ सम्बन्धो ब्रह्मविद्याया किं न कल तस्या इत्याशङ्क्यतयादि । ८ एवजीववादेऽप्याविद्यायाऽप्युपमासम्बन्धाधित्याऽऽह—अथवादस्तद्यो यो देवानामित्यादिरिति । ९ अविद्याप्रकरण । १० अविकार प्रकरणम् । ११ अविद्यातत्काययो सूत्ररूपेण बोधितव्ये सति । १२ परिणामेत्पर्यं । १३ बृ० उ० १४।१५ ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सत्त्वं व्यमवत् ।

तच्छेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रां क्षत्रा-

णीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान

भारम्भ में यह प्रदिनीय ब्रह्म ही था । वह अकेला क्षत्रियादि पान्ननर्ता के न होने में विभूति-युक्त कर्म करने में समर्थ न हो सका । तब उस ब्रह्म ने ( मैं ब्राह्मण हूँ—मेरा यह कर्तव्य है, ऐसी विशेषता से ) 'क्षत्र' इस प्रशस्तरूप की रचना की अर्थात् देवताओं में वे जो क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र,

वर्णा इत्येत इदमारभ्यते । यन्निमित्तसंबन्धेषु कर्मस्वयं परतन्त्र एवाधिकृतः संसरतीत्ये-  
तस्यैवायस्य प्रवशंनायाग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो नोक्तः । अग्नेस्तु सर्गः प्रजापतेः सृष्टि-  
परिपूरणाय प्रदर्शितः । अयं चेन्द्रादिसर्गस्तत्रैव द्रष्टव्यस्तच्छेयत्वात् । इह तु स एवा-  
भिधीयतेऽविदुषः कर्माधिकारहेतु प्रवशंनाय ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्यदग्निं सृष्ट्वाऽग्निरूपापन्नं ब्रह्म ब्राह्मणजात्यभिमानाद्-

वाक्यनिवृत्त्या परामृश्यते । वर्णानि विज्ञानिष्ठ—यन्निमित्तति । यन्निमित्तब्राह्मणादिभिः संबन्धेषु कर्म-  
स्वयमविद्वानधिकृतः पशुरिव संसरतीति पशुनिवशंनभूतो प्रसिद्धं तानि निमित्तानि दर्शयितुमुत्तरं वाक्यं  
प्रवृत्तमित्यर्थः । अथेतन्मन्थदित्यत्रानुपाहकदेवतासर्गं प्रकन्यान्नेरेव सृष्टिरुक्ता नेन्द्रादीनामत्र त्वविद्या  
प्रस्तुत्य तेषां सोच्यते तत्र कः श्रुतेरभिप्रायस्तत्राऽह—एतस्येति । पूर्वमग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो  
वाच्योऽपि नोक्तः । फलाभावात् । इह त्वविदुषस्तत्कार्यवर्णाद्यभिमानिनः कर्माधिकृतिरित्येतस्यायस्य  
प्रवशंनाय 'तवाविद्यत्त्वविवक्षया स व्युत्पाद्यत इत्यर्थः । अग्निसर्गोऽपि तर्हि तद्वन्नैव वाच्यो विशेषाभा-  
वादित्याशङ्क्याऽह—अग्नेस्त्विति । प्रजापतेः सृष्टिपूर्वमेव चेदग्निसृष्टिस्तत्रोक्ता 'हन्तेन्द्रादिसर्गोऽपि  
तत्रैव वाच्योऽयस्या तदपूर्तेरित्याशङ्क्याऽह—अयं चेति । तर्हि तत्रोक्तस्य कस्मादत्रोक्तिः पुनरुक्तेरित्या-  
शङ्क्य तस्यैवायस्येत्यत्रोक्तं स्मारयति—इह त्विति ।

"संगतिमुक्त्वा वाक्यमादाय व्याचष्टे—ब्रह्मेति । अपेक्षितसर्गात्पूर्वमिति यावत् ।

है । इसी अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए अग्निसर्ग के अनन्तर इन्द्रादिसर्ग का वर्णन नहीं किया गया ।  
अग्निसर्ग को तो प्रजापति की सृष्टि की परिपूर्णता के लिए वही प्रदर्शित किया गया था । प्रजापतिसृष्टि-

१. तत्रैव । २. प्रजापतिसृष्टिप्रक्रियामग्रेव । ३. हेतु—आविद्यात्वात्प्राप्त्यभिमानः । ४. प्रवशंनायेति—  
न आविद्याकार्यत्वसिद्धयर्थमिन्द्रादिसर्गवर्णनसर्गमपीहेवाभवात् तत्र सृष्टिपूर्वसंयुक्तसहित्यतामिति वाच्यम् ( गुणो-  
पसंहारन्यायेन तत्र वाच्यताम् ) अग्निसृष्टेरपि तत्रानुक्तो सङ्ग्राहवाभावानुपसङ्गह्यहासिदो प्रजापतिसृष्टेरपूर्ति  
प्रसङ्गात् । न चैवमिन्द्रादिसृष्टिं नत्र सृष्ट्वा तत्राग्निसृष्टिरुत्पत्त्यतामिति युक्तम् अग्निप्राधान्यस्य वेदयमाण-  
तया तेनेतरोपसक्षणस्यामुक्तत्वादिति द्रष्टव्यम् । ५. अग्निं सृष्ट्वेति । "आत्मेवेदमग्र आसीदिति"त्यत्र यदात्म-  
वादेनोक्तं स्रष्टुं ब्रह्म तदग्निं सृष्ट्वा तद्रूपापन्नं ब्राह्मणत्वजात्यभिमानादस्मिन् वाक्ये ब्रह्मवादेनोच्यते क्षत्रादि-  
सर्गात्पूर्वं तावन्मात्रं मवृत्तमित्यर्थः । ६. नृ० उ० १।४।६ । ७. अविद्याकार्येत्यर्थः । ८. इन्द्रादिसर्गस्या-  
विद्याकार्यत्वविवक्षयेति भावः । ९. पतमुद्दिश्य सृष्टेर्वक्तव्यत्वे । १०. हन्तेत्यनुगतौ । ११. अनुप्राहानु-  
पाहकसृष्टिप्रतिपादकग्रन्थयोस्तस्यैव श्रवणम् ।



परमतां गच्छति ब्रह्म<sup>१</sup>वान्तत उपनिश्चयति स्वां योनिं  
य उ एन<sup>२</sup> हिनस्ति स्वा<sup>३</sup> स योनिमृच्छति स पापी-  
यान्भवति यथा श्रेया<sup>४</sup> स<sup>५</sup> हि<sup>६</sup>सित्वा ॥११॥

क्षत्रिय की योनि है । अतः यद्यपि राजा उत्पट्टता का प्राप्त होता है, फिर भी गजसूय यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेना है । अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण को पीटा पहुँचाता है, वह मानो अपनी योनि का ही मार बरता है । जैसे घेष्ठपुरुष की हिंसा करने से वह पापी होता है, वैसे ही वह पुरुष भी पापी होता है ॥ ११ ॥

देवेषु क्षत्राणीति । जात्याख्यायां पक्षे बहुवचनस्मरणाद्व्यक्तिबहुत्वाद्वा भेदोपचारेण बहुवचनम् ।

कानि पुनस्ताम्रीत्याह तत्राभिप्रेक्ता एव विशेषतो निर्दिश्यन्ते । इन्द्रो देवानां राजा । वरुणो पादसाम् । सोमो ब्राह्मणानाम् । रुद्रः पशूनाम् । पर्जन्यो विद्युदादीनाम् । यमः पितॄणाम् । मृत्यू रोगादीनाम् । ईशानो भासामित्येवमादीनि देवेषु क्षत्राणि । तदन्विन्द्रादिक्षत्रदेवताधिष्ठितानि मनुष्यक्षत्राणि सोमसूर्यवंश्यानि पुरुरवःप्रभृतीनि सृष्टान्येव द्रष्टव्यानि । तदर्थ एव हि देवक्षत्रसर्गः प्रस्तुतः ।

मित्याशङ्क्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' ( पा० सू० १ । २ । ५८ ) इति स्मृतिमाश्रित्याऽऽह—जातीति । बहुवचनेत्यन्तरमाह—व्यवतीति । तासां बहुत्वाद्भातेश्च तदनेदाक्षत्राणि भेदमुपचर्य बहुक्तिरित्यर्थः । क्षत्राणीति बहुवचनमिति सबन्धः ।

तेषां विशेषतो प्रहरणं क्षत्रस्योत्तमत्वं ख्यापयितुमिति मन्वानः सप्ताह—कानि पुनरित्यादिना । मनु किमिति देवेषु क्षत्रसृष्टिरुच्यते ब्राह्मणस्य कर्मानुष्ठानसामर्थ्यसिद्धयर्थं मनुष्येष्वेव तत्सृष्टिरुपदेष्टव्येत्याशङ्क्याऽऽह—तदन्विति । तेषां विवक्षिता सृष्टिर्भूततो वक्तव्येत्याशङ्क्योपोद्घातोऽप्यमित्याह—तदर्थ इति ।

से अथवा भेदोपचार से इन्द्रादि व्यक्तियों के अनेक होने के कारण भी यहाँ 'क्षत्राणि' यह बहुवचन का प्रयोग है ।

वे कौन हैं ? इस पर श्रुति बतलाती है । यहाँ पूजनीय देवों का ही विशेषरूप से वर्णन किया गया है । देवताओं का राजा इन्द्र, जलचरो का राजा वरुण, ब्राह्मणों का राजा सोम, पशुओं का राजा रुद्र, विद्युदादि का नियन्ता मेघ, पितरों का ईश यम, रोगादि का अधिष्ठाता देवता मृत्यु; प्रभा का अधिष्ठाता ईशान इत्यादि देवताओं में क्षत्रिय हैं । उनके पीछे इन्द्रादि क्षत्रिय देवताओं से अधिष्ठित पुरुरवा आदि सोम और सूर्यवंशी मनुष्य क्षत्रिय रचे गये—ऐसा समझना चाहिये । उन्हीं के लिए (मनुष्यों में क्षत्रसृष्टि के अभिप्राय से) ही देवक्षत्रसृष्टि को प्रस्तुत किया गया है ।

१. पूर्या । २. यमदूत । ३. प्रभाणाम् । ४. मनुष्येषु क्षत्रसृष्ट्यभिप्रायत एव । ५. इन्द्रादिरूपेण ।

६. अर्थात् उत्तरदेवस्य । ७. शब्दतः ।

यस्माद्ब्रह्मणाऽतिशयेन सृष्टं क्षत्रं तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति ब्राह्मणजातेरपि नियन्तु । तस्माद्ब्राह्मणः कारणभूतोऽपि क्षत्रियस्य क्षत्रियमधस्ताद्व्यवस्थितः सन्नुपरि स्थितमुपास्ते । यव । राजसूये । क्षत्र एव तदात्मीयं यशः स्यातिरूपं ब्रह्मेति दधाति स्थापयति । राजसूयामिदिव्यतेनाऽऽसन्ध्यां स्थितेन राजाऽऽमन्त्रितो ब्रह्ममिति ऋत्विक्पुनस्तं प्रत्याह त्वं राजं ब्रह्मासीति । तदेतदभिधीयते क्षत्र एव तद्यशो दधातीति ।

सैषा प्रकृता क्षत्रस्य योनिरेव यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां राजसूयामिदमेकगुणं गच्छत्याप्नोति ब्रह्मं च ब्राह्मणजातिमेवांस्ततोऽन्ते कर्मपरिसमाप्तावुपनिश्चयत्पाश्रयति स्यां योनिं पुरोहितं पुरो निधत्त इत्यर्थः । यस्तु पुनर्बलाभिमानात्स्वां योनिं ब्राह्मणजातिं ब्राह्मणं य उ एनं हिनस्ति हिसति न्यग्भावेन पश्यति स्वामात्मीयामेव स

“तस्मादित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति । क्षत्रस्य नियन्तृत्ववदुत्कर्षं हेतुवन्तरमाह—तस्मादिति । ब्रह्मेति प्रसिद्धं ब्राह्मणकार्यमिति यावत् । उक्तमेव प्रपञ्चयति—राजसूयेति । प्रासन्ध्यां मञ्जिकायाम् । क्षत्रे स्वकीयं यशः समर्पयतो ब्राह्मणस्य निष्कर्षमाशङ्क्याऽऽह—सैपेति । तयोर्ब्राह्मणत्वस्य तुल्यत्वात्कृतोऽयान्तरभेदः क्षत्रमपि क्रतुकाले ब्राह्मण्यं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । क्षत्रस्य ब्रह्माभिभवे दोषश्रयणात् तस्य तदपेक्षया तद्गुणत्वमित्याह—यस्तिविति । प्रमादावपीति वक्तुमुशब्दः । य उ एनं हिनस्तीति प्रतीकग्रहणं यस्तु पुनरित्यादि व्याख्यानमिति भेदः । ईयन्तुनस्तरवर्षस्य प्रयोगे

क्योकि ब्रह्म ने क्षत्रियजाति की अतिशयरूप से सृष्टि की है, इसलिए क्षत्रियजाति के सिवाय ब्राह्मणजातिका नियामक दूसरा कोई नहीं है । इसलिए (बलमे क्षत्रिय उत्तम होनेके कारण) क्षत्रियजाति का कारणभूत होने पर भी ब्राह्मण गृध्री में बैठकर मञ्च में बैठे हुए क्षत्रिय की उपासना करता है । कहाँ ? राजसूय यज्ञ में । उस समय यह क्षत्रिय ने ही ‘तद्’ अर्थात् अपने ‘ब्राह्मणत्व’ इस नामरूप यश कहाँ ? राजसूय यज्ञ में । उस समय यह क्षत्रिय ने ही ‘तद्’ अर्थात् अपने ‘ब्राह्मणत्व’ इस नामरूप यश को ‘दधाति’ अर्थात् स्थापित करता है । राजसूय यज्ञ में अभिषिक्त मञ्चस्थ राजा के द्वारा ‘ब्रह्मन्’ इस प्रकार पुकारे जाने पर ऋत्विक् उत्तर में उससे कहता है—‘हे राजन् ! तुम ब्रह्म हो’ इसी से यह कहा जाता है कि ‘वह क्षत्रिय ने ही अपना ब्राह्मणत्वरूप यश स्थापित करता है’ ।

यह जो है, वह ब्राह्मणजाति प्रकृत क्षत्रिय का उत्पत्तिकारण ही है । इसलिए यद्यपि राजा ‘परमताम्’ अर्थात् राजसूयामिदमेकरूप ब्रह्मत्वगुण को ‘गच्छति’ यानी प्राप्त हो जाता है, अपने उत्पत्ति कारण ‘ब्रह्मैव’ अर्थात् ब्राह्मणजाति को ही ‘अन्तत’ यानी अन्त में कर्मपरिसमाप्ति के अवसर पर ‘उपनिश्चयति’ अर्थात् आश्रय लेता है, अर्थात् आगे ले जाता है । तथा जो शक्ति के अभिमान से अपने

१. अग्यत् । २. क्षत्रस्य बलवन्तेनोत्तमत्वात् । ३. गृध्रिव्याम् । ४. मञ्चे । ५. उपासनामाह—क्षत्र इति । ६. ब्राह्मणत्वरूपम् । ७. ब्राह्मणोऽसीत्यर्थः । ८. ब्राह्मणजातिः । ९. उत्पत्तिकारणम् । १०.

इति । ११. ब्राह्मणत्वरूपम् । १२. अन्तत इति—एतेन राजसूयवत्पुनःपुनः कालेन तस्य क्षत्रस्य पुरोहिताधीनत्वात् । १३. ब्रह्मत्वरूपम् । १४. अन्तत इति—एतेन राजसूयवत्पुनःपुनः कालेन तस्य क्षत्रस्य पुरोहिताधीनत्वात् । १५. ब्रह्मत्वप्राप्तिर्न तु ततः प्रागुच्यते चेति ध्वनितम् । सापि प्रागुक्तरीत्या ब्राह्मणप्रयुक्तं न तु रवत इति ध्येयम् ।

१६. तियं गृह्यत्वा १७. तस्मादिति—कथं क्षत्रस्योत्तमत्वं सतोऽपि ब्राह्मणस्योत्तमत्वं पारितोष्येन द्रष्टव्यम् । १८. निष्कर्षमिति पाठ साधु । १९. तस्येत्यादि—तस्य क्षत्रस्य । तदपेक्षया ब्राह्मणाधीनतया । तद्गुणत्वम्

ब्राह्मण्यगुणवत्त्वमित्यर्थः ।

त नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि

देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्र।

आदित्या विश्वे देवा मरुत इति ॥१२॥

(घनोपाजर्ज करने वाले वा अभाव होने के कारण) वह प्रह्व विभूतियुक्त वरुण करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने वैश्यजाति की उत्पत्ति की। जो ये वस्तु रुद्र, आदित्य, विद्वेदेव और मरुत इत्यादि देवगण एक-एक गणरूप में बहे जाते हैं, इन्हे उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

योनिमृच्छति एवं प्रसवं विच्छिनत्ति विनाशयति । स एतत्कृत्वा पापीयान्पापतरो भवति । पूर्वमपि क्षत्रियः पाप एव कृत्वा वात्मप्रसवहिंसया सुतराम् । यथा लोके श्रेयासं प्रशस्ततरं हिंसित्वा परिभूय पापतरो भवति तद्वत् ॥११॥

क्षत्रे सृष्टेऽपि 'स नैव व्यभवत्कर्मणो ब्रह्म तथा न व्यभवद्विक्तोपाजर्जयितुरभावात् । स विशमसृजत कर्मसाधनविक्तोपाजर्जनाय । कः पुनरसौ विद् । यान्येतानि देवजातानि स्वार्थे निष्ठा, य एते देवजातिभेदा इत्यर्थः । गणशो गणं गणमाख्यायन्ते कथ्यन्ते । गणप्राया हि विशः । प्रायेण संहता हि विक्तोपाजर्जने समर्था नैककशः । वसवोऽष्टसंख्यो

हेतुमाह—पूर्वमपाति । ब्राह्मणाभिभवे पापीयस्त्वमित्येतदुदाहरणेन बुद्धावारोपयति—यथेति ॥ ११ ॥

'कर्तुर्ब्राह्मणस्य नियन्तुश्च क्षत्रियस्य सृष्ट्यारिकृत्' तरेणेत्याशङ्क्याऽऽह—क्षत्र इति । 'तद्व्याप्यते—कर्मण इति । ब्रह्म ब्राह्मणोऽस्तेत्यभिमानो 'पुरुषः । तथा क्षत्रसर्गात्पूर्वमिवेति यावत् । कथं "तहि लौकिक" सामर्थ्यसंपादनद्वारा कर्मनुष्ठानमत आह—स विशमिति । देवजातानीत्यत्र तकारो निष्ठा । गण गण कृत्वा किमित्याख्यान विशामित्याशङ्क्याऽऽह—गणेति । विशां समुदायप्रधानत्वमद्यापि प्रत्यक्षमित्याह—प्रायेणेति ॥१२॥

उत्पत्तिकारण ब्राह्मणजाति की 'हिनस्ति' अर्थात् हिंसा करता है, उसे हेय दृष्टि से देखता है, वह अपनी ही योनि का नाश करता है अर्थात् अपने ही प्रभव का विच्छेद या विनाश करता है । वह ऐसा करके 'पापीयान्' अर्थात् बड़ा पापी होता है । नृशस होने के कारण क्षत्रिय पापी तो पहले भी था, अब अपने प्रभव को हिंसा करने से और भी पापी होता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में 'श्रेयामम्' अर्थात् अधिक प्रशंसनीय का "हिंसित्वा" अर्थात् पराभव करके पुरुष बड़ा पापी होता है; उसी तरह उसे भी पाप लगता है ॥११॥

क्षत्रिय जाति की सृष्टि हो जाने पर भी 'स' अर्थात् वह सृष्टिकर्ता परमात्मा "नैव व्यभवत्" अर्थात् अनेक जातियुक्त व्यक्तिसाध्य कर्म करने के लिए घनार्जन-अभाव के कारण समर्थ नहीं हुआ । उस परमात्मा ने कर्म के साधनभूत घन का उपाजर्ज करने के लिए वैश्यवर्ण की सृष्टि की । वह वैश्य

- १ प्रभवमित्यर्थः । २ सृष्ट्या परमात्मा । ३ अनेकजातिमद्वयक्षितसाध्य कर्म कर्तुम् । ४ कालाघनपेक्ष-भावमाने । ५ समुदायबहुला । ६ यागदे कर्तुं । ७ वैश्याविसर्गय तद्व्यवस्थेन च । ८ पूर्ववाक्यम् । ९ अभिपुरुष । १० सामर्थ्याभावे । ११ द्रव्यादि ।



स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं  
वं पूषेय७ हीद७ सर्वं पुष्यति यद्विदं किंच ॥१३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदे-

(सेवक के न गहने से फिर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्तकर्म करने में समर्थ नहीं हुआ । अतः उसने शूद्रवर्ण को रचा । पूषादेव शूद्रवर्ण है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है; उस सबका यही पोषण करती है ॥१३॥

(चारों वर्णों को रचकर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ । तब उसने

गणस्तयैकादश ददा द्वादशाऽऽदित्या विश्वे देवा दश विद्वाया अपत्यानि सर्वे वा देवा  
मरुतः सप्त सप्त गणाः ॥१२॥ -

स परिचारकाभावात्पुनरपि नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत शूद्र एव शौद्रः  
स्वार्थेऽपि वृद्धिः । कः पुनरसौ शूद्रो वर्णो यः सृष्टः । पूषणं पुष्यतीति पूषा । कः  
पुनरसौ पूषेति विशेषतस्तन्निर्दिशति—इयं पृथिवी पूषा । स्वयमेव निर्वचनमाह—  
इयं हीदं सर्वं पुष्यति यद्विदं किंच ॥१३॥

स चतुरः सृष्ट्वाऽपि वर्णान्नैव व्यभवदु प्रत्याक्षतस्यानियताशङ्कया तच्छ्रयो-

कर्तृपालयितुधनार्जयित्वा सृष्ट्वात्कृन् वर्णान्तरसृष्ट्येत्याशङ्क्याऽऽह—स परिचारकेति ।  
शौद्रं वर्णमसृजतस्यश्रोकारो वृद्धिः । पुष्यतीति पूषेत्युक्तवात्प्रश्नस्यानयकाशत्वंमाशङ्क्याऽऽह—  
'विशेषत इति । पूषशब्दस्यार्थान्तरे प्रसिद्धत्वात्कथं पृथिव्या वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वयमेवेति ॥१३॥  
ननु चातुर्वर्ण्ये सृष्टे तावतैव कर्मानुष्ठानसिद्धेरल धर्मसृष्ट्येत्यत आह—स चतुर इति । अनिय-

कौन थे ? यह जो देवजात हैं । यहाँ कालादानपेक्ष भावमात्र में 'वत्' प्रत्यय है । यह जो देवजाति के भेद हैं—यह अर्थ हुआ । 'गणश' अर्थात् एक-एक गण से 'आख्यायन्ते' अर्थात् बड़े जाते हैं । क्योंकि वैश्यजाति समुदाय-बहुल होती है । प्रायः इकट्ठे होकर घन बमाने में समर्थ होते हैं, एक-एक करके नहीं । वसु अष्टसंख्या का गण है, ऐसे ही रुद्र ग्यारह तथा आदित्य बारह हैं । विश्वेदेव दस हैं, ये सभी विश्वा की सन्तान हैं, अथवा सम्पूर्ण देवगण भी, विश्वेदेवकथन का अभिप्राय है । मरुदगण उनका स है ॥१२॥

परिचर्याकर्म करने वाले का अभाव होने से फिर भी वह विभूतियुक्त नहीं हुआ । उसने शूद्रजाति की रचना की । यहाँ स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय एवं आदिवृद्धि होने के कारण शूद्र ही शौद्र है । किन्तु यह जो उत्पन्न किया, वह शूद्रवर्ण कौन था ? "पूषणम्" अर्थात् जो पोषण करता है;

१ प्राणिजातम् । २ धर्ममिति—अथ धर्मशब्देन धर्मोऽहमस्मीत्यभिमानिनी श्रुत्यादिप्रमिता धर्माधिष्ठात्री चेतना देवताभिमतता न तु प्रसिद्धोऽनुवर्त्तितो ब्रूतेतनोऽर्थो विवक्षित तस्या चेतनत्वेन क्षत्वादिनिर्णयामकत्वायोगादित्यस्य विस्तर । ३. तम् । ४ जोक्षायाम् । ५ पूषशब्दवाच्य देवशूद्रम् । ६ चतु संख्याकम् । ७ क्षत्रस्य क्रूरतया तत्तदीयनियामकाभावे तदनियत स्यादित्याशङ्क्येत्यर्थः । ८ पोषणकर्तृरन्यस्यापि सम्भवात् ।

तत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मत्पिपरं नास्त्ययो  
 अवलीयान्वलीयाऽसमाशंसते धर्मेण यया  
 राज्ञं यो व स धर्मः सत्यं च तत्तस्मात्सत्यं

विशेषता से कल्याणप्रदरूप धर्म को उत्पन्न किया। यह जो श्रेयरूप धर्म है, यही क्षत्रिय का भी नियामक है। अतः धर्म से भेष्ट कुछ नहीं है। अतएव जेमे राजा की सहायता से (साधारण कुटुम्बी पुरुष) अपने से अधिक बलवान् को पराभव करना चाहता है, वैसे ही धर्म के द्वारा दुर्बल पुरुष भी बलवान्

रूपमत्यसृजत किं तद्धर्मं तदेतच्छ्रेयोरूपं सृष्टं क्षत्रस्य क्षत्रं क्षत्रस्यापि नियन्तु ।  
 उपादप्युग्रम् । यद्धर्मो यो धर्मस्तस्मात्क्षत्रस्यापि नियन्तृत्वाद्वर्मात्परं नास्ति ।  
 तेन हि नियम्यन्ते सर्वे । तत्कथमिति । उच्यते—अथो अप्यवलीयान्दुर्बलतरोऽपि  
 बलीयांसमात्मनो बलवत्तरमप्याशंसते कामयते जेतुं धर्मेण बलेन । यया लोके कश्चिद्राजा  
 सर्वबलवत्तेनापि कुटुम्बिक एवं तस्मात्सिद्धं धर्मस्य सर्वबलवत्तरत्वात्सर्वनियन्तृत्वं ।

साशङ्कया नियामकाभावे तस्यानियतवसंभावनयेति यावत् । तच्छब्दः लप्द्वद्वाधिवयः । कुतो धर्मस्य  
 सर्वनियन्तृत्वं क्षत्रस्यैव तत्प्रसिद्धेरित्याह—तत्कथमिति । अनुभवमनुसृत्य परिहरति—उच्यते इत्यादिना ।  
 तदेवोवाहरति—यथेति । राजा स्वर्धमान इति शेषः । धर्मस्योक्तपृष्टवेन नियन्तृत्वे सत्यादभिन्नत्वं

वह पूपा है। फिर यह पूपा कौन है? इन विशेषरूप से धृति बतलाती है—यह पृथ्वी पूपा है। फिर उसी की निरुक्ति कर कहती है। क्योंकि यह जो कुछ प्राणिजात है; उन सब का यही पोषण करती है ॥१३॥

वह परमात्मा चारों वर्णों की सृष्टि करके भी इस आशङ्का से विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ कि उपस्वभाव वाला क्षत्रियजाति नियन्त्रण में नहीं रह सकनी। तब उसने अतिशयता से श्रेयरूप उत्पन्न किया। वह कौन है? धर्म श्रेयरूप है। वह इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ श्रेयरूप धर्म 'क्षत्रस्य क्षत्रम्' अर्थात् क्षत्रियजाति का नियमनकर्ता है। उप्र से भी उप्र है; 'यद्धर्म' अर्थात् जो धर्म है, 'तस्मात्' अर्थात् क्षत्रियजाति का भी नियामक होने के कारण उस धर्म से भेष्ट कोई नहीं है, क्योंकि उसी के द्वारा सब का नियन्त्रण होता है। वह कैसे? इस पर कहते हैं—जो 'अवलीयान्' अर्थात् अधिक निर्बल होता है, वह 'बलीयासम्' अर्थात् अपने से बलवान् को धर्मरूपी बल से 'आशंसते' अर्थात् जीतना चाहता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में सबसे अधिक बलशाली राजा की सहायता से साधारण गृहस्थी भी अपने से बलवान् को जीतना चाहता है। उसी प्रकार वह धर्मबल हेतु है। अतः सर्वाधिक बलशाली होने के कारण धर्म ही सबका नियामक है; यह सिद्ध हुआ। वह जो लौकिक पुरुषों द्वारा अनुष्ठित यागोदिव्यवहाररूप धर्म है, 'सत्यं वं सत्' अर्थात् वह प्रसिद्ध ही है। शास्त्र द्वारा जेय अर्थ को ही सत्य कहते हैं। उसी का अनुष्ठान करना धर्म है। शास्त्र के तात्पर्यरूप से उसका ज्ञान होने

१. धर्मस्य प्रशास्त्रत्वे हेतुमाह—उपादपेति । न हि बलवदपि क्षत्र मर्यादाभित्तिनामिति धर्मेण नियमितत्वादिति भावः । २. प्रसस्तम् । ३. उक्तानुववात् । ४. अनुभवम् । ५. स्वर्धमान इति—धर्मतिकबलाश्रयात् । भूपं जेतुमुत्सहते एव तथाऽप्यत्रापि धर्मस्योत्कर्षसिद्धिरिति शेषः ।

परस्परम् । ११ सत्यमनसः । १२ तत्त्वप्रशङ्गे ।  
 प्रति हेतुल तावदुपपादयति—आत्मार्थसंज्ञा इति । सत्यप्रशङ्गे सतीत्यर्थः । १३ अथा चान्ये, गृह्यकृतौ । बन्धो  
 माणस्ये केचिरे भेषे मुक्ते मित्रो विष्णावाविति” व ह्यैग । किट्टि सुकर । १४ ज्ञवति । १५ अपुना सत्यस्य  
 धर्मं प्रति हेतुलमुपपादयति—धर्मसंज्ञाय इति । १६ चेत्य जैनमन्दिरं सहवता वा तद्बन्दने धर्मत्वमपाठ्याग्नि-  
 होत्रादेर्धर्मत्वनिश्चय आत्मार्थान्वयीति । १७ नृलोपपत्तिः । ~~~~~ ॥ ११ ॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं, विद्शूद्रस्तदग्निर्नैव देवेषु ब्रह्मा-  
भवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु, क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन  
वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते  
ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां<sup>१७</sup> हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् ।

वे ये ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं । इनका स्रष्टा ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्मणजाति, हुमा । यही ब्रह्म मनुष्यों ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण, क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हो गया । इसीलिए अग्नि में ही देवताओं के बीच में कर्म करते हुए 'कर्मफल' की इच्छा करते हैं, क्योंकि इन्हीं अग्नि तथा ब्राह्मण दोनों रूपों से ब्रह्म प्रकट हुआ था । जो भी कोई पुरप

संवनिव 'नियमयति' । तस्मात्स क्षत्रस्यापि क्षत्र्यमतस्तदभिमानोऽविद्वान्स्त्रिद्विषोपा-  
नुष्ठानाय ब्रह्मक्षत्रविद्शूद्रनिमित्तविशेषमभिमन्यते । तानि च निसर्गत एव कर्माधि-  
कारनिमित्तानि ॥१४॥

'तदेतच्चानुवर्ण्यं सृष्टं ब्रह्म क्षत्रं विद्शूद्र इत्युत्तरार्थ उपसहारः । यत्तत्सृष्टं ब्रह्म  
सदग्निर्नैव नान्येन रूपेण देवेषु ब्रह्म ब्राह्मणजातिरभवद्ब्राह्मणो ब्राह्मणस्वरूपेण

धर्मस्य सत्यादभेदे कलितमाह—'तस्मादिति । तस्य सर्वनियन्तृत्वेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—'तस्मात्स  
इति । तर्हि यथोक्तधर्मवशादेव कर्मानुष्ठानसिद्धेर्वर्णाभिमानस्याकिञ्चित्करवन्मिथ्याशङ्क्याऽऽह—  
'अत इति । धार्मिकत्वाद्यभिमानो ब्राह्मण्याद्यभिमान पुरोधायानुष्ठापकश्चेत्तदभिमानोऽपि तथैवाभि-  
मानान्तर पुरस्कृत्यानुष्ठापयेदित्याशङ्क्याऽऽह—'तानि चेति । न खल्वविद्युयो धार्मिकस्य ब्राह्मण्यादिवि-  
निमित्तेषु सत्सु कर्मप्रवृत्तौ निमित्तात्तरमपेक्ष्यते प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥ १४ ॥

पुनश्चक्षिर्वाप्यमाशङ्क्योक्तम्—उत्तरार्थ इति । 'पूर्वत्र देवेषु दक्षितस्य वर्णविभागस्य मनुष्ये-  
षुत्तरार्थेन योजनार्थं इति यावत् । सृष्टवर्णचतुष्टयनिविष्टमवान्तरविभागमभिधातुमारभते—यत्तदिति ।  
नाथेन देवान्तररूपेण सृष्ट्यादिविकारमन्तरेणेति यावत् । विकारान्तरमग्निब्राह्मणरूपम् । क्षत्रि-

का भी नियामक है । अतः उस धार्मिकत्व का अभिमान रखने वाला अब्रह्मवित् पुरूपे उसके धर्मविशेष  
रूप का अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्म- क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्ररूप निमित्तविशेष में करने लगता है ।  
ये ब्राह्मणादिवर्ण स्वभावतः ही कर्मप्रवृत्ति में निमित्त हैं ॥१४॥

इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सृष्टि की, यह उपसहार

- १ नियमतः प्रवर्तयति । २ धार्मिकत्वाभिमान । ३ बृहस्पतिसत्त्वादिधर्मविशेष । ४ एतन्निमित्तविने-  
पमित्यर्थः । ५ अभिमन्यते इति—तथा च धार्मिकत्वाभिमानमात्रं न कर्मानुष्ठानप्रयोजकमपि तु वर्णाश्रमाद्य-  
भिमानपूषकमतो न तस्या किञ्चित्करवन्मिति भावः । ६ देवम् । ७ अग्निरूपेण । ८ तयोर्भेदात् ।  
९ धर्मस्य क्षत्रक्षत्रत्वे । १० धर्मस्य सर्वनियन्तृत्वात् । ११ तस्य सर्वनियन्तृत्वे । १२ तस्य क्षत्रस्यापि  
नियन्तृत्वात् । १३ ब्राह्मणादीनि निमित्तानि । १४ पूर्ववृत्ति—अथेत्यभ्ययनदित्यभिनिर्गोक्तव्यपनेस्तत्र  
ब्राह्मण्यं नोक्तमिति तद्वचनाभायमुपसहार इत्यपि द्रष्टव्यम् । १५ अग्न्यात्मकब्राह्मणतत्त्वम् ।

अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्व, लोकमदृष्ट्वा प्रति  
स एनमविदितो न भुनक्ति यथा, वेदो वाऽननुक्तो-  
ऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अथनेव विन्महत्पुण्यं कर्म  
करोति तद्वत्स्यान्ततः क्षीयत एवाऽऽत्मानमेव लोक--

भारमा का जाने बिना ही इस लाक में चला जाता है, वह इस प्रज्ञात आत्मलोक का शोकादिनिवृत्ति के द्वारा पालन नहीं करता, जिस अध्ययन के बिना स्वरूपतः वेद, या अनुष्ठान के बिना स्वरूपतः कोई अन्य कर्म, पुरुष का पालन नहीं करता वैसे ही आत्मा का न जानने वाला पुरुष यदि इस लाक में कोई महान् पुण्य करता भी हो ता घन्त में उसका वह सुकृत नष्ट हो ही जाता है। अतः जो आत्म

मनुष्येषु ब्रह्मात्मवदितरेषु वर्णेषु 'विकारान्तर प्राप्य क्षत्रियेण क्षत्रियोऽनवद्विन्नादिवेवता-  
धिष्ठितो' वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः । 'यस्मात्क्षत्राविषु विकारापन्नमनो ब्राह्मण एव  
चाविकृतं स्रष्टुं ब्रह्म तस्मादभावेव देवेषु देवानां मध्ये लोक कर्मफलमिच्छन्त्यग्निसंबद्ध  
कर्म कृत्वेत्यर्थः' । तदर्थमेव हि तद्ब्रह्म 'कर्माधिकरणत्वेनाग्निरूपेण व्यवस्थितम् ।  
तस्मात्क्षत्रिभ्यो नो' कर्म कृत्वा तत्फलं प्रार्थयन्त इत्येतदुपपन्नम् ।

यैरेत्यत्र विवक्षितमर्थमाह—इन्द्रादिवेवताधिष्ठित इति । वैश्येनेति वस्त्राद्यधिष्ठितस्वमुच्यते । शूद्रेणेति  
पूषाधिष्ठितत्वम् । अग्नादिभावमापन्नस्य क्षत्रादिभावो न तु क्षत्रादिभावमापन्नस्याग्न्यादिभाव  
इत्येतावन्मात्रेण ब्रह्मणो विकृतत्वाविकृतत्वमग्निब्राह्मणस्तुत्यर्थेन कृतमित्यभिप्रेत्य तस्मादित्यादि व्या-  
चष्टे—यस्मादिति । यथोक्तप्रार्थनायाः प्राप्त्यैव साधयति—तदर्थमेवेति । कर्मफलदानार्थमिति यावत् ।

अग्निम ग्रन्थ से सम्बन्धद्योतन के लिए है । वह जो सृष्टिकर्ता ब्रह्म था वह अग्निरूप से ही देवताओं  
में ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणजाति हुआ किन्तो अग्निरूप में नहीं । वह ब्रह्म मनुष्या में ब्राह्मण 'अर्थात्'  
अग्निरूप से ब्राह्मण हुआ । इसी प्रकार अन्य वर्णों में अग्नि की अपेक्षा विकारान्तर को प्राप्त होकर  
क्षत्रिरूप में इन्द्रादि देवताओं से अनुगृहीत क्षत्रिय हुआ तथा वैश्यरूप से वैश्य प्रीरशूद्ररूप से  
शूद्र हुआ । क्योंकि आकाशादिरूप में अविकृत सृष्टिकर्ता ब्रह्म क्षत्रियवि में विकार को प्राप्त हो  
गया है, केवल अग्नि और ब्राह्मण में स्थित हो वह विकारशून्य है इसलिये लोकव्यवहार में देवों  
में अग्निदेवता में ही अग्निस्वम्बन्धी कर्म वरके कर्मफल की इच्छा करते हैं । उसी निमित्त से वह  
ब्रह्म होमादिकर्म में अग्निरूप अग्निरूप से स्थित है । इसलिये उस अग्निनिमित्तक कर्म को  
करके मनुष्य उसके फल की प्रार्थना करते हैं यह उचित ही है ।

१ अग्न्यपेक्षा । २ निर्गन्तव्यमनुगृहीतवत् । ३ यस्मादिति—यस्मादात्मनोऽप्यग्न्या विकृतमपि स्रष्टुं ब्रह्म  
क्षत्रादिरूपेण विकृतमेव अग्नौ ब्राह्मण च स्थितमित्यत्र तु अग्न्यादात्मनाविकृतेमेव तस्मादित्यर्थः । ४ होमादि ।  
५ निमित्त । ६ एतावन्मात्रेण—न तु सर्ववैवाविकृतं स्रष्टुं ब्रह्मणि ब्राह्मणभावापन्नमाकाशादिरूपेण तु  
पूर्वं विकृतत्वादित्यर्थः ।

मुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य  
कर्म क्षीर्यते । अस्माद्धवेवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते  
तत्तत्सृजते ॥१५॥

लोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म नष्ट नहीं होता । इस आत्मा से ही पुरुष जिस-जिस को चाहता है, उस-उस को बना लेता है ॥१५॥

ब्राह्मणे मनुष्येषु मनुष्याणां पुनर्मध्ये कर्मफलेच्छायां नाग्न्यादिनिमित्तक्रियापेक्षा किं तर्हि जातिमात्रस्वरूपप्रतिसम्भेनैव पुरुषार्थसिद्धिः । यत्र तु देवाधीना पुत्रपार्थसिद्धिस्तत्रैवाग्न्यादिसंबद्धक्रियापेक्षा । स्मृतेश्च—“जप्येनैव तु ससिध्येद्ब्राह्मणो नान्न संशयः । कुर्यादन्पन्न वा कुर्यान्मित्रो ब्राह्मण उच्यते” इति ॥

मनुष्याणां मध्ये कमपि मनुष्यमवलम्ब्य कर्मफल-भोगापेक्षायामधिकरणसंप्रदानभावेनावस्थिता-  
मोन्वादिनिमित्तक्रियापेक्षा नास्ति किंतु ब्राह्मणजातिप्राप्तिमात्रेण तत्संबद्धं जप्यादि कर्मोद्दिश्यंभाषीति”  
सन्मात्रेण पुरुषार्थं सिध्यतीति प्रतीकप्रहणपूर्वकमाह—मनुष्याणामिति । कुत्र तर्हि ययोक्तक्रियापेक्षेति  
तत्राऽऽह—यत्र त्विति । देवानां मध्येऽग्निसंबद्धमेव कर्म कृत्वा पुरुषार्थलाभो मनुष्याणां मध्ये तु  
ब्राह्मण्यप्रयुक्तजप्यादिमात्रेण तत्प्राप्तिरित्यत्र प्रमाणमाह—स्मृतेर्देवेति । जप्यप्रहणं जातिमात्रप्रयुक्त-  
कर्मोपलक्षणार्थम् । अन्यदग्निसंबद्धं कर्म । कोऽयं ब्राह्मणो नाम तत्राऽऽह—मित्र इति । सर्वपु-  
त्रभूतेष्वभयप्रदो विशिष्टजातिमानिति यावत् । ननु ययोक्तस्मृतेर्ब्राह्मण्यप्रतिसम्भमात्रावबन्धुदत्तानेऽपि

‘ब्राह्मणे मनुष्येषु’ अर्थात् मनुष्यों के मध्य कमफल को इच्छा होने पर अग्न्यादिनिमित्तक कर्म की अपेक्षा नहीं है, तो क्या है ? वहाँ ब्राह्मणजातिमात्र का स्वरूप उपलब्ध हो जाने से पुरुषार्थ-  
सिद्धि हो जाती है । जहाँ पुरुषार्थसिद्धि देवाधीन होती है, वही अग्न्यादि से सम्बन्ध रखने वाली  
क्रियाओं की अपेक्षा होती है । यही बात स्मृति भी प्रतिपादित करती है—“ब्राह्मण अग्न्यादि  
अन्य कर्म करे अथवा न करे, सर्वभूतों को अभयप्रदान करने से अशेष सद्गुणा से विशिष्ट, ‘मित्र’ कह-  
लाता है, जपारमक मानसकर्म द्वारा वैराग्य, संन्यास व ब्रह्मलोक प्राप्ति के क्रम से नि श्रेयस को प्राप्त  
कर लेता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है ।”

इसके प्रतिरिक्त कर्मकाण्डी ब्राह्मण के लिए संन्यास का विधान होने से भी मनुष्यलोक में  
उसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है । अतः मनुष्यों में ब्राह्मण होने पर ही ‘लोकम्’ यानी कमफल की इच्छा

१ अस्मादिति—स आरंभोपायक यद्यदित् कामयते, अस्मादेवात्मलोकं ज्ञातात्तत्तदित् सूत्रे उत्पादयते प्राप्नोति  
न साधनान्तरमपेक्षत इत्यर्थः । तथा च यातिके—“यद्यत्कामयते कामी कर्मभूताववस्थित । अस्मादेवाऽऽत्म-  
विज्ञानासत्तत्सुखमुपासनुते ॥ १६८६ ॥ इति । २ जप्येनेति—जपारमकमानसकर्मणा । ससिद्धयेत्—वैराग्य-  
संन्यासब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण नि श्रेयसं संप्रोतेत्यर्थः । जप्यस्य नि श्रेयसापनिबर्हणत्वादित्यर्थः । ३ सपाद-  
नेच्छायाम् । ४ जप्यादि विना ब्राह्मण्यमात्रवाद् । ५ मनुष्यसाध्यपुरुषार्थेऽग्न्यादिसाध्यक्रियानपेक्षत्वे ।  
६ विशिष्टेति—सर्वाभूताभयप्रदत्वावशेषसद्गुणविशिष्टा या ब्राह्मणत्वजातिस्त्वदनेव जप्यमात्रसिद्धये  
ब्राह्मणो नामित्यर्थः ।



परलोकनिवृत्त्ययंत्वात् । 'स्वत्वेन चाव्यभिचारात्परमात्मलोकस्य ।' अविद्याकृतानां च स्वत्वव्यभिचारात् । अथोति च कर्मकृतानां व्यभिचारं क्षीयत एवेति । १ । १ । १ । १ ।

ब्रह्मणा सृष्टा वर्णाः कर्मयन्म् । तच्च कर्म धर्माख्यं सवनिव कर्तव्यतया नियन्तुं पुरुषार्थसाधनं च । 'तस्मात्तेनैव चैतकर्मणा स्वो लोकः परमात्मास्योऽविदितोऽपि प्राप्यते किं तस्यैव 'पदनोयत्वेन क्रियत' इत्यत आह—'अथेति पूर्वपक्षविनिवृत्त्यर्थः । यं कश्चिद्ब्रह्म वा अस्मात्सासारिका'त्पिण्डग्रहणलक्षणादविद्याकामकर्महेतुकादन्यधीनकर्माभिमानतया वा ब्राह्मणजातिमात्रकर्माभिमानतया 'वाऽऽगन्तुकाद'स्वरूप'भूता' लोकात्स्य' लोकमात्मा-

नोच्यते चेत्तत्तदवयवेऽपि तेन नासायुष्येत" विशेषाभावादित्याशङ्क्य विशेषणसामर्थ्यान्वयमित्याह—स्वत्वेन चेति । 'कर्मफलविषयत्वेनापि विशेषणस्य नैव शक्यत्वात् विशेषाद्विदित्याशङ्क्याऽह—अविद्येति । तेषां स्वरूपव्यभिचारे वाच्यज्ञेय प्रमाणयति—अथोति चेति ।

उत्तरवाक्यव्याख्यं पूर्वपक्षमाह—ब्रह्मणति । 'तत्पुनरचेतनमकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याऽह—तच्चेति । सर्वैरेव वर्णैः 'स्वस्य कर्तव्यतया नात्र प्रति नियतं भूत्वेति योजना । 'तस्य पुनर्योपायव्यप्रसिद्धिमादाय कलितमाह—तस्मादिति । अविदितोऽपीति च्छेदः । "देवतागुणं कर्म मुक्तिहेतुरिति पक्षप्रतिषेधेऽप्युत्तरं वाक्यमुत्थापयति—अत आहति । ज्ञानादेव मुक्तिर्न कर्मलोपायमप्रतिषिद्धमिति निपातयोरर्थः । "तत्र निमित्तमुपादानं चेति द्वयं संक्षिपति—अविद्येति । निमित्तं विवृणोति—अन्यधीनेति ।

परमात्मलोकं व्यभिचारी नही है, केवल अविद्याकृत लोकों का व्यभिचार है । कर्मजनित लोकों का परमात्मलोक से 'क्षीयत एव' इस वाक्य में अति व्यभिचार बतलायी है ।

ब्रह्म ने वर्णधर्मादि सृष्टि कर्म करने के लिए की थी । वह कर्म धर्मनाम वाला है, जो वर्णव्य-रूप से सभी का नियन्ता एव परमार्थ का साधन है । अत यदि उसी ही कर्म द्वारा स्वर्ग या परमात्मलोक अज्ञात होने पर भी प्राप्त हो जाता है, तो उपलब्धरूप से उसी के लिए और क्या करने की आवश्यकता है ? इस पर श्रुति कहती है । "अथ" यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है । 'य' अर्थात् जो कोई भी 'हूँ व अस्मात्' इस अविद्या कामकर्मजनित एव अग्नि व अधीन कर्माभिमान के कारण अथवा ब्राह्मणजातिमात्र व कर्माभिमान के कारण उत्पन्न, आरापित सासारिक (ब्रह्ममाभिमानरूप) पिण्डग्रहण से, आत्मरूप से गृहीतदह से आत्मसंशक्त लोक का, जो आत्मस्वरूप होने से

- १ स्वत्वेनेति—स्वत्व प्रत्यक्ष तत्त्वव्यभिचारित्व परमात्मलोकस्य तस्य सर्वप्रत्यक्षमस्मात् । २ अनात्मनस्तु काम वाक्यस्य परा च तद्व्यभिचारित्वमिति स्फुटमस्मात्—अविद्येति । ३ ब्र० उ० १।४।१५ । ४ आध्यात्मिकवर्णमोक्षसाधनमिदं वर्णाद्विद्वत्कथाव कर्मानुष्ठानयोगेष्वात् । ५ चेतनात्मकम् । ६ कर्मण पुनर्योपायवत्त्वात् । ७ ननु तदवति कथमविश्रयते ज्ञानस्यापि तत्र हेतुत्वमव्यादित्याशङ्क्य समुच्चय (ज्ञान-कर्मणो) निरासितुं विनिश्चितं अविदितोऽपीति । ८ अथैव हि संसिद्धिं पितृवादिसूतो निरपेक्षस्यैव कर्मण । ९ सिद्धिद्वयमित्ये मोक्षं साधकत्वत्वमवादिष्य । ८ ज्ञातव्यत्वेन । ११ यदुक्तं तन्नेत्येवमन्ये । १० आरो-पितात् । ११ ब्रह्ममाभिमानरूपात् । १२ उत्पन्नात् । १३ उत्पत्तिनिनाशमास्त्वदेव वस्तुतोऽनात्मन । १४ आत्मत्वेन गृहीतात् । १५ देहात् । १६ प्रत्यक्षम् । १७ मन्वे । १८ अनात्मलोकप्रतिपादक-विन । १९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१००-१०१-१०२-१०३-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९-११०-१११-११२-११३-११४-११५-११६-११७-११८-११९-१२०-१२१-१२२-१२३-१२४-१२५-१२६-१२७-१२८-१२९-१३०-१३१-१३२-१३३-१३४-१३५-१३६-१३७-१३८-१३९-१४०-१४१-१४२-१४३-१४४-१४५-१४६-१४७-१४८-१४९-१५०-१५१-१५२-१५३-१५४-१५५-१५६-१५७-१५८-१५९-१६०-१६१-१६२-१६३-१६४-१६५-१६६-१६७-१६८-१६९-१७०-१७१-१७२-१७३-१७४-१७५-१७६-१७७-१७८-१७९-१८०-१८१-१८२-१८३-१८४-१८५-१८६-१८७-१८८-१८९-१९०-१९१-१९२-१९३-१९४-१९५-१९६-१९७-१९८-१९९-२००-२०१-२०२-२०३-२०४-२०५-२०६-२०७-२०८-२०९-२१०-२११-२१२-२१३-२१४-२१५-२१६-२१७-२१८-२१९-२२०-२२१-२२२-२२३-२२४-२२५-२२६-२२७-२२८-२२९-२३०-२३१-२३२-२३३-२३४-२३५-२३६-२३७-२३८-२३९-२४०-२४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४-२५५-२५६-२५७-२५८-२५९-२६०-२६१-२६२-२६३-२६४-२६५-२६६-२६७-२६८-२६९-२७०-२७१-२७२-२७३-२७४-२७५-२७६-२७७-२७८-२७९-२८०-२८१-२८२-२८३-२८४-२८५-२८६-२८७-२८८-२८९-२९०-२९१-२९२-२९३-२९४-२९५-२९६-२९७-२९८-२९९-३००-३०१-३०२-३०३-३०४-३०५-३०६-३०७-३०८-३०९-३१०-३११-३१२-३१३-३१४-३१५-३१६-३१७-३१८-३१९-३२०-३२१-३२२-३२३-३२४-३२५-३२६-३२७-३२८-३२९-३३०-३३१-३३२-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७-३३८-३३९-३४०-३४१-३४२-३४३-३४४-३४५-३४६-३४७-३४८-३४९-३५०-३५१-३५२-३५३-३५४-३५५-३५६-३५७-३५८-३५९-३६०-३६१-३६२-३६३-३६४-३६५-३६६-३६७-३६८-३६९-३७०-३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६-३७७-३७८-३७९-३८०-३८१-३८२-३८३-३८४-३८५-३८६-३८७-३८८-३८९-३९०-३९१-३९२-३९३-३९४-३९५-३९६-३९७-३९८-३९९-४००-४०१-४०२-४०३-४०४-४०५-४०६-४०७-४०८-४०९-४१०-४११-४१२-४१३-४१४-४१५-४१६-४१७-४१८-४१९-४२०-४२१-४२२-४२३-४२४-४२५-४२६-४२७-४२८-४२९-४३०-४३१-४३२-४३३-४३४-४३५-४३६-४३७-४३८-४३९-४४०-४४१-४४२-४४३-४४४-४४५-४४६-४४७-४४८-४४९-४५०-४५१-४५२-४५३-४५४-४५५-४५६-४५७-४५८-४५९-४६०-४६१-४६२-४६३-४६४-४६५-४६६-४६७-४६८-४६९-४७०-४७१-४७२-४७३-४७४-४७५-४७६-४७७-४७८-४७९-४८०-४८१-४८२-४८३-४८४-४८५-४८६-४८७-४८८-४८९-४९०-४९१-४९२-४९३-४९४-४९५-४९६-४९७-४९८-४९९-५००-५०१-५०२-५०३-५०४-५०५-५०६-५०७-५०८-५०९-५१०-५११-५१२-५१३-५१४-५१५-५१६-५१७-५१८-५१९-५२०-५२१-५२२-५२३-५२४-५२५-५२६-५२७-५२८-५२९-५३०-५३१-५३२-५३३-५३४-५३५-५३६-५३७-५३८-५३९-५४०-५४१-५४२-५४३-५४४-५४५-५४६-५४७-५४८-५४९-५५०-५५१-५५२-५५३-५५४-५५५-५५६-५५७-५५८-५५९-५६०-५६१-५६२-५६३-५६४-५६५-५६६-५६७-५६८-५६९-५७०-५७१-५७२-५७३-५७४-५७५-५७६-५७७-५७८-५७९-५८०-५८१-५८२-५८३-५८४-५८५-५८६-५८७-५८८-५८९-५९०-५९१-५९२-५९३-५९४-५९५-५९६-५९७-५९८-५९९-६००-६०१-६०२-६०३-६०४-६०५-६०६-६०७-६०८-६०९-६१०-६११-६१२-६१३-६१४-६१५-६१६-६१७-६१८-६१९-६२०-६२१-६२२-६२३-६२४-६२५-६२६-६२७-६२८-६२९-६३०-६३१-६३२-६३३-६३४-६३५-६३६-६३७-६३८-६३९-६४०-६४१-६४२-६४३-६४४-६४५-६४६-६४७-६४८-६४९-६५०-६५१-६५२-६५३-६५४-६५५-६५६-६५७-६५८-६५९-६६०-६६१-६६२-६६३-६६४-६६५-६६६-६६७-६६८-६६९-६७०-६७१-६७२-६७३-६७४-६७५-६७६-६७७-६७८-६७९-६८०-६८१-६८२-६८३-६८४-६८५-६८६-६८७-६८८-६८९-६९०-६९१-६९२-६९३-६९४-६९५-६९६-६९७-६९८-६९९-७००-७०१-७०२-७०३-७०४-७०५-७०६-७०७-७०८-७०९-७१०-७११-७१२-७१३-७१४-७१५-७१६-७१७-७१८-७१९-७२०-७२१-७२२-७२३-७२४-७२५-७२६-७२७-७२८-७२९-७३०-७३१-७३२-७३३-७३४-७३५-७३६-७३७-७३८-७३९-७४०-७४१-७४२-७४३-७४४-७४५-७४६-७४७-७४८-७४९-७५०-७५१-७५२-७५३-७५४-७५५-७५६-७५७-७५८-७५९-७६०-७६१-७६२-७६३-७६४-७६५-७६६-७६७-७६८-७६९-७७०-७७१-७७२-७७३-७७४-७७५-७७६-७७७-७७८-७७९-७८०-७८१-७८२-७८३-७८४-७८५-७८६-७८७-७८८-७८९-७९०-७९१-७९२-७९३-७९४-७९५-७९६-७९७-७९८-७९९-८००-८०१-८०२-८०३-८०४-८०५-८०६-८०७-८०८-८०९-८१०-८११-८१२-८१३-८१४-८१५-८१६-८१७-८१८-८१९-८२०-८२१-८२२-८२३-८२४-८२५-८२६-८२७-८२८-८२९-८३०-८३१-८३२-८३३-८३४-८३५-८३६-८३७-८३८-८३९-८४०-८४१-८४२-८४३-८४४-८४५-८४६-८४७-८४८-८४९-८५०-८५१-८५२-८५३-८५४-८५५-८५६-८५७-८५८-८५९-८६०-८६१-८६२-८६३-८६४-८६५-८६६-८६७-८६८-८६९-८७०-८७१-८७२-८७३-८७४-८७५-८७६-८७७-८७८-८७९-८८०-८८१-८८२-८८३-८८४-८८५-८८६-८८७-८८८-८८९-८९०-८९१-८९२-८९३-८९४-८९५-८९६-८९७-८९८-८९९-९००-९०१-९०२-९०३-९०४-९०५-९०६-९०७-९०८-९०९-९१०-९११-९१२-९१३-९१४-९१५-९१६-९१७-९१८-९१९-९२०-९२१-९२२-९२३-९२४-९२५-९२६-९२७-९२८-९२९-९३०-९३१-९३२-९३३-९३४-९३५-९३६-९३७-९३८-९३९-९४०-९४१-९४२-९४३-९४४-९४५-९४६-९४७-९४८-९४९-९५०-९५१-९५२-९५३-९५४-९५५-९५६-९५७-९५८-९५९-९६०-९६१-९६२-९६३-९६४-९६५-९६६-९६७-९६८-९६९-९७०-९७१-९७२-९७३-९७४-९७५-९७६-९७७-९७८-९७९-९८०-९८१-९८२-९८३-९८४-९८५-९८६-९८७-९८८-९८९-९९०-९९१-९९२-९९३-९९४-९९५-९९६-९९७-९९८-९९९-१०००-१००१-१००२-१००३-१००४-१००५-१००६-१००७-१००८-१००९-१०१०-१०११-१०१२-१०१३-१०१४-१०१५-१०१६-१०१७-१०१८-१०१९-१०२०-१०२१-१०२२-१०२३-१०२४-१०२५-१०२६-१०२७-१०२८-१०२९-१०३०-१०३१-१०३२-१०३३-१०३४-१०३५-१०३६-१०३७-१०३८-१०३९-१०४०-१०४१-१०४२-१०४३-१०४४-१०४५-१०४६-१०४७-१०४८-१०४९-१०५०-१०५१-१०५२-१०५३-१०५४-१०५५-१०५६-१०५७-१०५८-१०५९-१०६०-१०६१-१०६२-१०६३-१०६४-१०६५-१०६६-१०६७-१०६८-१०६९-१०७०-१०७१-१०७२-१०७३-१०७४-१०७५-१०७६-१०७७-१०७८-१०७९-१०८०-१०८१-१०८२-१०८३-१०८४-१०८५-१०८६-१०८७-१०८८-१०८९-१०९०-१०९१-१०९२-१०९३-१०९४-१०९५-१०९६-१०९७-१०९८-१०९९-११००-११०१-११०२-११०३-११०४-११०५-११०६-११०७-११०८-११०९-१११०-११११-१११२-१११३-१११४-१११५-१११६-१११७-१११८-१११९-११२०-११२१-११२२-११२३-११२४-११२५-११२६-११२७-११२८-११२९-११३०-११३१-११३२-११३३-११३४-११३५-११३६-११३७-११३८-११३९-११४०-११४१-११४२-११४३-११४४-११४५-११४६-११४७-११४८-११४९-११५०-११५१-११५२-११५३-११५४-११५५-११५६-११५७-११५८-११५९-११६०-११६१-११६२-११६३-११६४-११६५-११६६-११६७-११६८-११६९-११७०-११७१-११७२-११७३-११७४-११७५-११७६-११७७-११७८-११७९-११८०-११८१-११८२-११८३-११८४-११८५-११८६-११८७-११८८-११८९-११९०-११९१-११९२-११९३-११९४-११९५-११९६-११९७-११९८-११९९-१२००-१२०१-१२०२-१२०३-१२०४-१२०५-१२०६-१२०७-१२०८-१२०९-१२१०-१२११-१२१२-१२१३-१२१४-१२१५-१२१६-१२१७-१२१८-१२१९-१२२०-१२२१-१२२२-१२२३-१२२४-१२२५-१२२६-१२२७-१२२८-१२२९-१२३०-१२३१-१२३२-१२३३-१२३४-१२३५-१२३६-१२३७-१२३८-१२३९-१२४०-१२४१-१२४२-१२४३-१२४४-१२४५-१२४६-१२४७-१२४८-१२४९-१२५०-१२५१-१२५२-१२५३-१२५४-१२५५-१२५६-१२५७-१२५८-१२५९-१२६०-१२६१-१२६२-१२६३-१२६४-१२६५-१२६६-१२६७-१२६८-१२६९-१२७०-१२७१-१२७२-१२७३-१२७४-१२७५-१२७६-१२७७-१२७८-१२७९-१२८०-१२८१-१२८२-१२८३-१२८४-१२८५-१२८६-१२८७-१२८८-१२८९-१२९०-१२९१-१२९२-१२९३-१२९४-१२९५-१२९६-१२९७-१२९८-१२९९-१३००-१३०१-१३०२-१३०३-१३०४-१३०५-१३०६-१३०७-१३०८-१३०९-१३१०-१३११-१३१२-१३१३-१३१४-१३१५-१३१६-१३१७-१३१८-१३१९-१३२०-१३२१-१३२२-१३२३-१३२४-१३२५-१३२६-१३२७-१३२८-१३२९-१३३०-१३३१-१३३२-१३३३-१३३४-१३३५-१३३६-१३३७-१३३८-१३३९-१३४०-१३४१-१३४२-१३४३-१३४४-१३४५-१३४६-१३४७-१३४८-१३४९-१३५०-१३५१-१३५२-१३५३-१३५४-१३५५-१३५६-१३५७-१३५८-१३५९-१३६०-१३६१-१३६२-१३६३-१३६४-१३६५-१३६६-१३६७-१३६८-१३६९-१३७०-१३७१-१३७२-१३७३-१३७४-१३७५-१३७६-१३७७-१३७८-१३७९-१३८०-१३८१-१३८२-१३८३-१३८४-१३८५-१३८६-१३८७-१३८८-१३८९-१३९०-१३९१-१३९२-१३९३-१३९४-१३९५-१३९६-१३९७-१३९८-१३९९-१४००-१४०१-१४०२-१४०३-१४०४-१४०५-१४०६-१४०७-१४०८-१४०९-१४१०-१४११-१४१२-१४१३-१४१४-१



ह्यमात्मत्वेनाव्यभिचारित्वाददृष्टत्वाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रीतिः 'अपते १; स यद्यपि स्वो लोकोऽविदितोऽविद्यया व्यवहितोऽस्य इवाज्ञात एनं संख्यापूरण इव लौकिक आत्मानं न भुनक्ति न पालयति शोकमोहमयादिदोषापनयेन ।

यथा च लोके वेदोऽनूक्तोऽनधीतः कर्माद्यवबोधकत्वेन न भुनक्त्यन्यथा लौकिकं कृष्ट्यादि कर्माकृतं स्वात्मनाऽनमिव्यञ्जितमात्मीयफलप्रदानेन न भुनक्त्येवमात्मा स्वो लोकः स्वेनैव नित्यात्मस्वरूपेणानमिव्यञ्जितोऽविद्यादिप्रहासेन न भुनक्त्येव ।

ननु किं स्वलोकदर्शननिमित्तपरिपालनेन कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्याविष्टफलनिमि-

आत्माह्यस्य लोकस्य 'सत्ये हेतुमाह—आरामत्वेनेति । अहं ब्रह्मास्मीत्यदृष्टत्वेति संबन्धः । यः परमात्मानमविदित्वं चिन्तये तन्मेनं परमात्मा न पालयतीति योजना । परमात्मनः स्वरूपत्वादविदितस्यापि पालयितृत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽहं—स यद्यपीति । लोकशब्दादुपरिष्ठास्यतीति श्रुत्यम् । अविदित इत्यस्य व्याख्यानमविद्येति । परमात्मास्यो लोको नाज्ञातो भुनक्तीत्यत्र कर्मफलभूत लोको 'वैद्यमहृष्टास्तया दर्शयति—अस्य इवेति । अज्ञातस्यापालयितृत्वे 'साधर्म्यहृष्टान्तमाह—सत्येति । यथा लौकिको व्रतमो व्रतमोऽस्मीत्यज्ञातो न लोकादिनिवर्तनेनाऽऽत्मानं भुनक्ति तथा परमात्माऽपीत्यर्थः ।

'तत्रैव श्रुत्युक्तं दृष्टान्तद्वयं व्याचष्टे—यथा नेत्यादिना । अविद्यादीत्यादिशब्देन तदुत्थं सर्वं संगृह्यते ।

यद्विहेत्यादिवाक्यमोहं चोद्यमुत्थापयति—नेति । नन्वनिष्टफलनिमित्तस्यापि कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्यात्कर्मणो मोक्षः सेत्स्यति तत्राऽहं—इष्टेति । बाहुल्यमश्वमेधादिकर्मणो महत्तराव-

अव्यभिचारी है, "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार न जानकर "प्रीति" अर्थात् मग्न जाता है; यद्यपि वह लौक प्रत्यरूप है तथापि 'अविदित' यानी, अविद्या से व्यवहित अप्रत्यक्ष के समान अज्ञात रहने पर 'एनम्' लौकिक दृष्टान्त में वृत्तम सख्यापूर्ति के समान इस आत्मा-का 'न भुनक्ति' अर्थात् शोक, मोह एवं भय आदि दोषों की निवृत्ति द्वारा पालन नहीं करता ।

जिस प्रकार लोभ-मोह-हृष्टार में 'अनूक्त' अर्थ विना अध्ययन बिना हुआ वेद, कर्मादि के अवबोधरूप से पालन नहीं करता, अथवा अन्य कृषि आदि लौकिक कर्मों का अज्ञातम् अर्थात् स्वरूप से अनुष्ठित न होने से अपने फल प्रदान के द्वारा पालन नहीं करता, उसी प्रकार प्रत्यरूप आत्मा अपने नित्य आत्मस्वरूप से अभिव्यञ्जित न होने के कारण अविद्यादि के विनाश के द्वारा पालन नहीं करता ।

यहाँ शङ्का उत्पत्ती है, तो फिर आत्मलोक के ज्ञान के कारण होने वाले परिपालन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? कर्मफलप्राप्ति के अक्षय होने से मोक्ष के कर्मफल-होने से इष्टफल के हेतुक

१ प्रियत इति—ज्ञानदज्ञाननिवृत्तिविदुषो भरणम्, स्वाज्ञानात्म सर्वज्ञात्तस्य भरण सधातामिमानपरिपालन-पुरसर (स्युनदेहत्यागप्रयत्नम्) अज्ञानपरवशत्वमिति यावदिति विवेकः । यो हि परमात्मानमात्मत्वेनाविदित्वा-ऽऽमादात्मत्वन गृहीतादनात्मभूताद्देहान्निग्रथ्यतेऽप्रजामति तदपिमानं परित्यजन्विद्यापरवदोजवस्य भवतीति चार्थः । २ प्रत्यरूप । ३ तथापि । ४ दशत्वसंख्यापूरक । ५ कर्मफलप्राप्तेरक्षयत्वात् कर्मफल-त्वादेव मोक्षस्येति यावत् । ६ स्वेत्यर्थः । ७ व्यतिरेकिदृष्टान्ततया । ८ अन्यविदृष्टान्तम् । ९ अज्ञातस्यारदास्त्वे ।

तस्यं चे' कर्मणो बाहुल्यात्तन्निमित्तं पालनमक्षयं भविष्यति । तन्न १० कृतकस्य क्षयवत्त्वा-  
दित्येतदाह—यदिह वै ससारं श्रुभुतवत्कश्चिन्महात्माऽप्यनेवंवित्स्वं लोकं ययोक्तेन विधि-  
नाऽविद्वान्महद्ब्रह्मदशमेधादि पुण्यं कर्मैष्टफलमेव नैरेन्तर्येण करोत्यनेनैवाऽऽनन्द्यं मम  
भविष्यतीति । तत्कर्म हास्याविद्यावर्ततोऽविद्याजनितकामहेतुत्वात्स्वप्नदर्शनविभ्रमोद्भूत-  
विभ्रतिर्बदन्ततोऽन्ते फलोपभोगस्य क्षीयत एव । तत्कारणयोरविद्याकामयोश्चलत्वात्कृत-  
क्षयध्रौव्योपपत्तिस्तस्मान्न पुण्यकर्मफलपालनानन्त्या जाऽस्त्येव ।

अतः "आत्मानमेव" स्वं "लोकमात्मानमिति स्व लोकमित्यस्मिन्नर्थे" स्वं लोकमिति

"तद्धि बुरितमभिभूय मोक्षमेव संपादयिष्यतीत्यर्थः । यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायमाश्रित्य परिहरति—  
तन्नेत्यादिना । सप्तम्यर्थं संसार इति निपातार्थं सूचयति—अद्भुतवदिति । अनेव विस्वं व्याकरोति—स्व  
लोकमिति । ययोक्तो विधिः—एवमप्यतिरेकादि । पुण्यकर्म—किञ्चिद्रेपु बुरितप्रसक्तिं निवारयति—नैरेन्तर्ये-  
णति । तथा पुण्यं सविध्यतोऽभिप्रायमाह—अनेनेति । प्रकान्त्यवच्छेदापेक्षितं कथयति—तत्कर्मिति ।  
"प्रागुक्तग्यायद्योती हेति निपातः । कारणत्वेण कार्यस्य ध्रुवत्वमाशङ्क्याऽह—तत्कारणयोरिति ।

मुक्तेरनित्यत्वदोषसमाधिस्तर्हि" केन प्रकारेण स्वादित्याशङ्क्याऽह—अत इति । आत्म-  
शब्दार्थमाह—स्व लोकमिति । "तदेव स्फुटयति—आत्मानमिति । आत्मशब्दस्य प्रकृतस्वलोककवियत्त्वे

कर्म स्वभावतः अधिक होने से, उसके कारण स्वका पालन ( मोक्षार्थ ) प्रक्षय हो जायगा ।  
( जो कृतक है, वह अनित्य है, इस न्याय का अनुसरण कर समाधान दते हैं—) ऐसा कहना  
ठोक नहीं क्योंकि किया हुआ कर्म क्षीण हो जाता है । इसे ही कहते हैं—"यदि ह वै" जा कोई अद्भुत-  
तुल्य महात्मा भी इस ससार में 'अनेववित्' यानी आत्मलोक को उपर्युक्त विधि से न जानने वाला  
अब्रह्मविद्, इस धारणा से कि "मुझे अनन्त फल की प्राप्ति होगी", निरन्तर बहुत से इष्टफल देनेवाले

- १ मोक्षार्थम् । २ प्रसादेनापि पापमनाचरतो नैरेन्तर्येण च पुण्यमनुतिष्ठतीत्यति दुर्लभत्वमभिप्रेत्योक्तम्—  
अद्भुतवदिति । आश्चर्यतुल्य इत्यर्थः । ३ अव्ययभावेन । ४ अक्षयमोक्षरूपम् । ५ दशानुरूपो विभ्रमः ।  
६ क्षीयत एवेति—कमसाध्यत्वे मुक्तेरन्तर्वत्त्वं स्यात्तत्साध्यस्य गृहादेस्त्वसिपयत्वा 'तच्छेदे' कर्मजितो लोक-  
क्षीयत' इत्यादिश्रुतेरिति भावः । ७ कर्मकारणयोरित्यर्थः । ८ क्षयित्वाद् । ९ कमकमेत्यर्थः । १०  
कमसाध्यस्यानित्यत्वाद् । ११ फलरूपं यत्पालनं रक्षणं च । १२ कृतकस्यानित्यत्वाद् । १३ आत्मा-  
नमेवेति—प्रत्यगभिन्न परमात्मानमशेषानामहृष्टिपरिहारेणानिधमनुसंधीतः । आत्माज्ञाना मोक्षे तन्निमित्तता  
सिध्यति । मोहापिधानहानमात्रस्य ज्ञानाधीनत्वादिति भावः । सर्वस्य कार्यकारणत्वमनोऽर्जयस्य तद्दृष्टेश्च निवृ-  
त्यर्थं प्रत्यक्षानन्ददृष्टिरेष्टव्या तदर्थमेव वदम् । तदुक्तं पातिका—'नि शेषानात्मसदृष्टिनिराकरणमिदम् । एवेत्य-  
वमुक्तिज्ञाया प्रत्यक्षमात्रेणैवायं ॥ १६८४ ॥ इति । परागदृष्ट्यपेक्षया प्रत्यग्दृष्टौ पुरुषार्थवृत्तं विशेषं दर्शयितुं  
तुल्यम् । १४ स्वरूपश्रुतम् । १५ परमात्मानम् । १६ प्रयुक्तम् । १७ अवयवभादिकर्म । १८  
अन्यव्यतिरेकेति—परमात्मलोकस्य स्वलेनाप्यभिचारोऽन्वयः । अनात्मलोकस्य तत्त्वेन व्यभिचारो व्यतिरेकपदा-  
पशोयनादिशब्दादिगन्धार्थः । १९ सधिषु । २० यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायद्योती । २१ ज्ञानेनापि तु तस्या  
ताम्यत्वे सति । २२ बाहेति—स्वत्यक्षापि मोक्षस्य साम्यत्वादनित्यतति बोधोत्तरत्वेन वाक्यमवतारणमिति ।  
२३ सद्ब्रह्मवाक्यम् ।

प्रकृतत्वादिह<sup>१</sup> च स्वशब्दस्याप्रयोगादुपासीत । स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते । तस्य 'किमित्युच्यते—न हास्य कर्म क्षीयते । कर्माभावादेवेति' नित्यानुवादेः । यथाऽविदुषः कर्मक्षयलक्षणं संसारदुःखं संततमेव न तथा तदस्य विद्यत इत्यर्थः ।<sup>२</sup> मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचनेति यद्वत् ।

स्वात्मलोकोपासकस्य विदुषो विद्यासंयोगात्कर्मैव न क्षीयते इत्यपरे वर्णयन्ति ।

हेत्वन्तरमाह—इह चेति । प्रयोगे तु पुनरुक्तिभयादयन्तरविषयत्वमपि स्यादित्यर्थः । विद्याफलमाकाङ्क्षाद्वारा निक्षिपति—सम इति । कर्मफलस्य क्षयित्वमुक्त्वा कर्मलोकाश्रयत्वं वदतो ग्याहतिमाशङ्क्याऽह—कर्मैति । वाक्यस्य विवक्षितमर्थं वेधम्यदृष्टान्तेन व्याचष्टे—यथेति । अविदुष इति च्छेदः । 'कर्मक्षयेऽपि' वा विदुषो दुःखाभावे दृष्टान्तमाह—मिथिलायामिति ।

आत्मानमित्यादि केवलज्ञानानुक्तिरित्येवंपरतया व्याख्यातं संप्रति "तत्र भर्तृप्रपञ्चव्याख्या-मुत्थापयंति—स्वात्मेति । आत्मलोकोपासकस्य कर्माभावे कथं तदक्षयवाचो" युक्तिरित्याशङ्क्य कर्मा-

अक्षयवेधादि पुण्यकर्म भी करे; तो भी उस अग्रहावित् का अविद्याजनितकामहेतुक वह कम स्वप्न में सोखने वाले भ्रमित-ऐश्वर्य के समान कैलोपभोग के बाद क्षीण हो ही जाता है; क्योंकि कर्म के कारण अविद्या और काम क्षयत्वभाव वाले हैं; इसलिए उस कर्मफलविनाश की निश्चितता उचित ही है । इसलिए कर्मसाध्या के अनित्य होने के कारण पुण्यकर्मफल के द्वारा अनन्तकाल तक रक्षण की आशा तो है ही नहीं ।

उत्पन्न सभी पदार्थों के अनित्य होने के कारण 'आत्मानमेव' यानी प्रत्यगभिन परमात्मा की ही धर्मात् स्वरूपभूत परमात्मा की ही उपासना करे । 'स्व लोकम्' इस अर्थ में 'आत्मानम्' यह पद प्रयुक्त हुआ है । क्याकि यह प्रकरण "स्व लोकम्" यहाँ से प्रारम्भ होता है और यहाँ "स्व" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । वह जो आत्मलोक की उपासना करता है, उसको क्या होता है ? इस पर कहते हैं, उसका कर्म क्षीण नहीं होता क्योंकि यह नित्यसिद्ध कर्माभाव का अनुवाद है । भावाय यह है कि जिस प्रकार अग्रहावित् के लिए कर्मक्षयरूप ससारदुःख निरन्तर ही रहता है, उस प्रकार विद्वान् के लिए नहीं होता । जैसे अग्रहावित् विदेह राजा जनक के उद्गार है—"मिथिलापुरी के जल जाने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता" इत्यादि ।

(भर्तृप्रपञ्चमत्तानुयायी आदि) कुछ अन्य दार्शनिकों का विचार है कि स्वात्मलोक के विद्वान् उपासक का कर्म विद्यासाहचर्य होने के कारण क्षीण नहीं होता । वे ज्ञानकर्म के समुच्चय के अनुष्ठान-

१. वाक्ये । २. किं फल प्रवर्तते जिज्ञासायामिदमुच्यते इत्यर्थः । ३. नित्येति—कर्माभावादेवास्य कर्म न क्षीयते इति नित्यसिद्धस्यैव कर्माभावस्यायमनुवाद इत्यर्थः । ४. निरन्तर अवति । ५. विदुषः । ६. यथेति । ७. अमुपगतेऽपि वा कर्मक्षये । ८. ननु 'क्षीयन्ते वास्य कर्माणि', 'ज्ञायन्ति सर्वकर्माणि भरमसा-कुस्त' इति विदुषोऽपि कर्मक्षय प्रमाणसिद्धस्ततो 'न हास्य कर्म क्षीयते' इति विरुद्धमित्याशङ्क्याऽह—कर्मक्षयेऽपि इत्यादि । ९. वाक्यम् । १०. वाक्ये । ११. वचसो युक्तत्वम् ।

लोकशब्दार्थं च 'कर्मसमवायिनं द्विधा परिकल्पयन्ति किल, एको व्याकृतावस्थः 'कर्मश्रियो लोको हिरण्यगर्भादयस्तं कर्मसमवायिनं लोकं 'व्याकृतं परिच्छिन्नं य उपास्ते तस्य किल परिच्छिन्नकर्ममदर्शिनः कर्म क्षीयते । तेमेव कर्मसमवायिनं लोकमव्याकृतावस्थ कारण-रूपभाषाद्य यस्तुपास्ते तस्यापरिच्छिन्नकर्ममदर्शित्वात्तस्य कर्म न क्षीयत इति ।

भवतीत्यं शोभना कल्पना न तु श्रौती । स्वलोकशब्देन प्रकृतस्य परमात्मनोऽभिहितत्वात् । स्व लोकमिति प्रस्तुत्य स्वशब्दं विहायाऽऽत्मशब्दप्रक्षेपेण पुनस्तस्यैव प्रति-

भावस्यासिद्धिमभिसंधाय 'कर्मसाध्य लोक व्याकृताव्याकृतरूपेण भिनसि'—लोकशब्दार्थं वेति । 'भौमे-क्षिकी कल्पना न तु श्रौतीति' यत् किलेत्युक्तम् । 'तत्राऽऽद्य लोकाव्याकृतमनूद्य तदुपासकस्य दोषमाह—एक इति । परिच्छिन्न कर्मात्मा "तत्साध्यो व्याकृतावस्थो "लोकस्तस्मिन्नुपपासकस्येति भावः । किलशब्दस्तु पूर्ववत् । त्रितीय लोकशब्दाद्यनूद्य तदुपासकस्य लाभ दर्शयति—तमेवेति । यथा कुण्डला-वेरन्तर्बहिरन्वेषणं सुवर्णातिरिक्तरूपानुपसम्भातश्रुतेरास्य "नित्यत्व तथा कर्मसाध्य हिरण्यगर्भादिलोकं कार्यत्वादव्याकृत कारणमेव यद्विज्ञेय यस्तस्मिन्नुपपास्योपास्ते "तस्यापरिच्छिन्नकर्मसाध्यलोकानोपासकत्वाद्बहुवित्त्व कर्मत्व च घटते "तस्य ज्ञत्वात्मेव कर्म तेन तस्य तन्न क्षीयते । य पुनरुक्तावस्थामुपास्ते तस्याऽऽत्मैव कर्म भवतीति हि भूतं प्रपञ्चवैकल्यमित्यर्थः ।

आत्मानमित्यादिसमुच्चयपरमिति प्राप्त पक्ष प्रत्याह—भवतीति । श्रौतत्वाभावे हेतुमाह—स्वलोकैति । स्व लोकमदृष्ट्वेत्यत्र स्वलोकशब्देन 'परस्य प्रकृतस्याऽऽत्मानमेवेत्यत्र प्रकृतहान्याप्रकृत-प्रक्रियापरिहायमुक्तत्वाभावात्" लोकद्विविध्यकल्पनां युक्तेत्यर्थः । लोकशब्देनात्र परमात्मपरिग्रहे हेतु-

रूप फल की कम से सम्बद्ध 'लोक' शब्द का अर्थ दो प्रकार से कल्पना करते हैं । उनमें एक तो वायु रूप से स्थित ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठान साध्य हिरण्यगर्भावस्थाका है, उस नामरूपाभिव्यक्त और परिच्छिन्न कमसम्बन्धी लोक की जो उपासना करता है, उस परिच्छिन्न कर्ममदर्शी का कम क्षीण हो जाता है । अब जो उस व्याकृतरूप में स्थित कमसम्बन्धी लोक को अव्याकृतावस्था वाला अर्थात् कारण रूप निश्चय करके उपासना करता है, उस अपरिच्छिन्न कर्ममदर्शी का वह कम क्षीण नहीं होता ।

उनकी यह कल्पना सुन्दर तो है, परन्तु शास्त्रसम्मत नहीं है । क्योंकि प्रस्तुतप्रकरण में 'स्वलोक' शब्द के द्वारा श्रुति परमात्मा का ही प्रतिपादन करती है । 'स्व लोकम्' यहाँ से उपक्रम करके

- १ कर्मसमवायिनं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलम् । २ वायवित्त्वम् । ३ ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानसाध्यम् । ४ नामरूपाभिव्यक्तम् । ५ व्याकृतावस्थमेव । ६ निश्चितम् । ७ कर्मसाध्यम्—सूत्रोपास्तिसहित यन्त्रित्यादिकर्मं तत्साध्यम् । लोकफलम् । ८ तर्कमूलिका । ९ द्वयोर्मध्ये । १० ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यम् । ११ हिरण्यगर्भम् । १२ यदा कुण्डलादि उत्पद्यते विनश्यति च तदा कनकं तु तथैव तिष्ठतीति तस्मिन् । १३ अपरिच्छिन्न कर्म साध्यो व्याकृतावस्थो लोकस्तस्मिन्नुपपासकत्वात्परिच्छिन्नकर्ममदर्शित्वम् । १४ ननु कृतकस्य साध्यो व्याकृतस्य कर्म क्षीयत इत्युक्तमन बाह—तस्येति । कर्मात्मिका द्वैतावस्थामद्वैतात्मना पश्यतस्तस्य कर्म न क्षयमासादयति कर्मणो वस्तुमात्रेण पर्यवसानादित्यर्थः । वस्तुमात्रेणैति स्वरूपमात्रतया । १५ परस्येति—कर्मफलमूललोकाव्याकृतस्य स्वशब्दार्थविशेषणेन लोकशब्दावस्थ विशेष्यतया सङ्गदशनादिति भावः । १६ वाक्ये ।

निर्देशाद्भातमानमेव लोकमुपासीतेति । तत्र 'कर्मसमवायिलोककल्पनाया अनवसर एव ।  
 परेण च केवलविद्याविषयेण विशेषणात्किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमा-  
 त्माऽयं लोक इति । पुत्रकर्मापरविद्याकृतेभ्यो हि लोकेभ्यो विशिनष्ट्ययमात्मा नो  
 लोक इति । "न हास्य केनचन 'कर्मणा लोको भूयते' एषोऽस्य परमो लोकः" इति  
 न । तैः "सविशेषणैरस्यैकवाक्यता युक्ता । इहापि स्वं लोकमिति विशेषणदर्शनात् ।  
 अस्मात्कामयत इत्युक्तमिति चेद्विह स्वो लोकः परमात्मा तदुपासनात्स एव

प्रत्ययमाह—स्वं लोकमिति । यथा लोकस्य स्वशब्दार्थो विशेषणं तदाऽऽत्मानमित्यत्र स्वशब्दपर्याया-  
 त्मशब्दाप्येतस्य विशेषणं दृश्यते न च 'कर्मफलस्य' मुख्यभावरूपवतो लोकशब्दोऽत्र परमात्मैवेत्यर्थः ।  
 प्रकरणाद्विशेषणाच्च सिद्धमर्थं दशयति—"तत्रेति ।

परस्यैव लोकशब्दार्थत्वे हेतुन्तरमाह—परेणेति । "उक्तमेव प्रवेक्ष्यति—पुत्रेति । अथ परेषु  
 वाक्येषु परमात्मा लोकशब्दार्थः प्रकृते तु कर्मफलमिति व्यवस्थेति चेन्मयमेकवाक्यमस्त्वन्मये तद्वदस्या-  
 न्याय्यत्वाद्विद्याह—तत्रेति । एकवाक्यत्वसंभावनामेव दशयति—इहापीति । यद्योत्तरत्राऽऽत्मादिशब्देन  
 लोको विशेषितस्तथाऽऽत्मानमित्यत्रात्माशब्देन विशेष्यते । पूर्ववाक्ये च स्वं लोकमदृष्ट्वेति स्वशब्दे-  
 नाऽऽत्मावाचिना तस्य विशेषणं दृश्यते । तथा च पूर्वोपरालोचनायामेकवाक्यत्वमिति द्विरित्यर्थः ।  
 प्रकरणेन परस्य लोकशब्दादर्थत्वमुक्तं "तिङ्गुविरोधादिति चोदयति—अस्मादिति । "तदेव

किं स्वशब्द का त्याग कर उसके स्थान में आत्मशब्द का प्रयोग करके उसी को 'आत्मानमव लोक-  
 मुपासीते' इस प्रकार पुनः निर्देश किया है । इसलिये यहाँ कर्मानुष्ठानफलभूत सूत्रास्य लोक की कल्पना  
 का अवसर ही नहीं है ।

इसके प्रतिरिक्त "उनका निश्चय था कि हम मोक्षानिलापियों को तो यह आत्मलोक प्राप्त  
 करना ही अभीष्ट है; हमें प्रजा से क्या लेना है ।" इस अग्रिम श्रुति से, उसे केवल ज्ञानविषयकवाक्य  
 से विशिष्ट कहा गया है । 'अयमात्मा नो लोकः' यह कहकर श्रुति उसे पुत्र, कर्म और अपरा विद्या  
 द्वारा प्राप्त लोकों से पुष्टक बतलाती है । तथा यह भी श्रुति बतलाती है कि "इसका यह आत्मलोक  
 किसी भी पापकर्म से नष्ट नहीं होता; यह इसका परमलोक है" । उन विशेषणघटित वाक्यों से  
 इस श्रुतिवाक्य की एकवाक्यता हीनो चाहिए क्योंकि यहाँ भी 'स्वं लोकम्' ऐसा विशेषण देखा जाता है ।  
 यदि कहाँ "इससे कामना करता है", ऐसा कहना ठीक नहीं है । भावार्थ यह है कि 'यहाँ

१. कर्मानुष्ठानफलभूतसूत्रास्यलोककल्पनायाः । २. परेणेति—पाठे 'स वा एष महान्तः' इत्यादिविद्याप्रकरणे  
 'येषां नोऽयमात्मनो लोकः' इति केवलविद्याविषयेण परेणात्माना लोकाशब्दार्थस्य कर्मफललोकव्यावृत्त्यर्थं विशेषण  
 द्विविधत्वमात्रव्यवहकरणमात्राणि परमात्मनो लोकोऽग्न्या पूर्वापरविरोधादित्यर्थः । संदिग्धस्य वाक्यविशेषाद्विनिर्णयं  
 भवतीति त्वय्यं धोतवितुं चशब्दः । ३. वृ० उ० ४।४।२२ । ४. व्याख्येयं । ५. अपरोक्षः । ६  
 स्वयंप्रभः । ७. न हास्येति—कोपीतिकिंवाहणे एवैवं पाठो दृश्यते । तथाहि—"नास्य केन च कर्मणा लोकं  
 भूयते" ३-१ । इति । ८. पाप्मेन । ९. हिस्यते नश्यतीति यावत् । १०. वृ० उ० ४।३।२२ । ११  
 विशेषणघटितः । १२. सूत्रस्य । १३. हेतुभ्यां परमात्मनि लोकशब्दार्थं स्थिते सतीत्यर्थः । १४. हेतुन्तर  
 मेव । १५. प्रकरणेनैव तिङ्गुस्य बलत्वादर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तिङ्गुम् । १६. सङ्गृहीतमेव ।

भवतीति स्थिते यद्यत्कामयेते तत्तदस्मादात्मनः सृजत इति तदात्मप्राप्तिव्यतिरेकेण फल-  
वचनं मयुक्तमिति चेन्न । स्वलोकोपासनस्तुतिपरत्वात् । स्वस्मादेव लोकात्सर्वमिष्टं संप-  
द्यत इत्यर्थो नान्यदतः प्रार्थनीयमाप्तकामत्वात् । “आत्मतः प्राण आत्मत आशा” इत्यादि  
श्रुत्यन्तरे यथा । “सर्वात्मभावप्रदर्शनार्थो वा पूर्ववत् ।

‘यदि हि पर एवाऽऽत्मा संपद्यते तदा युक्तोऽस्माद्वचोवाऽऽत्मन इत्यात्मशब्दप्रयोगः’

विवृणोति—इहेत्यादिना । अयंवादस्थं लिङ्गं न प्रकरणाद्वलवदिति मत्वा समापत्ते—नेत्यादिना ।  
स्तुतिमेव स्पष्टयति—स्वस्मादेवेति । लोकाज्जातादिति शेषः । यथा छान्दोग्ये स्तुत्यर्थमात्मनः स्रष्टृत्व-  
मुच्यते तथाऽनाध्यात्मलोकं स्तोतुमेतत्फलवचनमित्याह—आत्मत इति । भवतु वा मा वा भूदस्माद्वचो-  
वेत्यादिरयंवादः तथाऽपि तस्य सर्वात्मत्वप्रदर्शनायत्वाद्युक्तमत्र । लोकशब्देन परमात्मग्रहणमित्याह—  
सर्वात्मेति । तस्मात्परत्वंमभवदिति वाक्यं दृष्टान्तयति—पूर्ववदिति ।

किंचाऽऽत्मशब्दस्य त्रिधापरिच्छेदशून्यार्थवाचिताया यच्चाऽऽप्नोतीत्यादिन्यायेन सिद्धत्वात्स-  
मानाधिकरणलोकशब्दस्यापि तदर्थत्वात्परस्यैवात्र लोकत्वमित्याह—यदि हीति । किं च यदि लोक-  
शब्देन परं हित्वा ‘सर्वविशेषणं वाक्यं स्यादन्यथा’ स्व लोकमिति प्रकृतपरमात्म-  
लोकस्य स्वत्वक्षेपेन तदोक्तव्यक्तग्रहणलोकस्य च “व्यावृत्त्ययोगात् । न चात्र” सर्वविशेषणं “वाक्यं दृष्टमतः

स्वलोक परमात्मा है, उसकी उपासना करने से पुरुष तद्रूप ही हो जाता है । ऐसा हो जाने पर “उससे  
जो-जो कामना करना है, उसी-उसी की सृष्टि कर लेता है” । इस प्रकार परमात्मप्राप्ति से मित्रफल  
वतलाना उचित नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह श्रुतिवाक्य स्वलोक उपासना की  
स्तुति करने वाला है, तात्पर्यप्रतिपादक नहीं । ‘आत्मलोक मे ही सारी इष्टसिद्धि हो सकती है’—  
यह इसका अर्थ है । इसे छोड़कर कोई दूसरी वस्तु चाहने योग्य नहीं है क्योंकि आत्मवेत्ता पूर्णकाम  
होता है । “आत्मा ही से प्राण है, आत्मा हा से आशा है” इत्यादि अन्य श्रुति द्वारा सिद्ध होता है  
अथवा आत्मवेत्ता का सर्वव्युत्पन्न प्रदर्शित करने के लिए “तस्मात्सर्वमभवत्”, यह पूर्ववत् ग्रन्थ है ।

यदि लोकशब्द से परमात्मा ही अभिलक्षित होता है, तभी तो “अस्माद्वचोवात्मन” इस  
प्रकार श्रुतिवाक्य में आत्मशब्द का प्रयोग करना उचित होगा । ‘इस स्वरूपभूत प्रकृत आत्मलोक से’

१ परमात्मेत्यर्थः । २ अयुक्तमिति—अत्र लोकशब्देन परस्य ग्रह ‘अस्माद्वचोवेत्ययुक्तम्’ । तत्र हि लोकशब्दा-  
र्थात्मिन फलोत्पत्ति श्रुता न च परस्य कारणत्वपूर्वमनपरमित्यादिश्रुत । न चार्थिण्या तत्त्वम् स्वत्यसे विद्या-  
प्रकरणे तदयोगात् । अस्य विद्यासूत्रैकवाक्यत्वस्वीकारात् । अतो लिङ्गेन प्रकरणे वाच्यमिति भावः । ३  
तथा च न तत्र तात्पर्यम् । ४ “सर्वं नमिलितं पार्थ ज्ञाने परिलभाम्यतः” इति भावः । अस्ति महत् । ५  
ग्रन्थः । ६ परमात्मैव लोकशब्दार्थोऽभ्युपगम्यते विज्ञायत इति वार्थः । ७ लोकशब्दार्थे इति शेषः । ८  
वाक्यस्य । ९ वाक्ये । १० अर्थात्तदमिति—परापराभ्यामन्तरालावस्थप्रव्याकृतास्य कर्मानुष्ठानफलभूत-  
मिति यावत् । ११ सर्वविशेषणमिति—अव्यावृत्तावस्थादस्मादित्येव सर्वविशेषणे भाव्य वाक्येनेत्यर्थः । १२  
सर्वविशेषणत्वानभ्युपगमे । १३ व्यावृत्त्ययोगादिति—न हि स्वया परमात्मामसृष्टिरिष्टा (कामत सृष्टि-  
यच्छेच्छ सृष्टि) तस्या पूर्ववद्विशुद्धिसिद्धत्वात् । नापि ब्रह्मलोकत्वात् वायत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थे विशेषणमवश्यं वाच्य-  
मित्यर्थः । १४ बृहदारण्यके । १५ ‘अस्माद्वचोवेति’ वाक्यम् ।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जु-  
होति यद्यजते, तेन, देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन  
ऋषीणामथ यत्पितॄभ्यो निषृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन

यह जो (कर्माधिकारी अज्ञानी बृहत्स्वरूप) आत्मा है, वह समस्त जीवों की भोग्य है । वह जो होम, यज्ञ करता है, उससे देवताओं का वह भोग्य बन जाता है, जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियों का, जो पितरों के लिये पिण्ड देता है तथा सन्तान को चाहता है, उससे पितरों का, जो मनुष्यों को

स्वस्मादेव प्रकृतावात्मनो लोकादित्येवमर्थः । 'अन्यथाऽव्याकृतावस्थात्कर्मणो' लोकादिति  
सविशेषणमवश्यतः प्रकृतपरमात्मलोकव्यावृत्तये व्याकृतावस्थाव्यावृत्तये च । न ह्यस्मिन्प्रकृते  
विशेषितेऽभूतान्तरालावस्था प्रतिपत्तु शक्यते ॥ १५ ॥

अथो अयं वा आत्मा । अत्राविद्वान्ब्रह्मविद्याभिमानो धर्मो नियम्यमानो 'देवा-  
दिकर्मकर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्र इत्युक्तम् । कानि पुनस्तानि कर्मणि यत्कर्तव्यतया पशु-  
वत्परतन्त्रो नवति । के वा ते देवादयो येषां कर्मभिः पशुवदुपकरोतीति तदुभयं प्रपञ्चयति—

अथो इत्ययं 'वाक्योपन्यासाथः । अयं यः 'प्रकृतो गृही कर्माधिकृतोऽविद्वान्छरी-

स्वं लोकमिति प्रकृत परमात्मवानपि लोक इत्याह—अन्यथेति । विशेषण विनंवास्मादित्यत्र परापरा-  
न्यामर्थान्तरं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । स्व लोकमिति प्रकृते परमात्मन्यात्मानमेवेति  
विशेषिते' व्याकृतावस्था परापराभ्यामन्तरालावस्था न प्रतिपत्तु शक्यते तस्याः श्रुतत्वाभावा-  
दित्यर्थः ॥ १५ ॥

कण्डिकान्तरमवतार्य वृत्तमनुयाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं तात्पर्यमाह—अथो इत्यादिना । अत्रेत्यविद्या-  
वस्था पूर्वग्रन्थो वा गृह्यते । अविनिर्वायस्याद्योऽवस्थासंगतिमाऽऽशङ्क्य व्याकरोति—अथो इतीति । पर-

यह इसका अर्थ है । अन्यथा लोकशब्द के अर्थान्तरं अभीष्ट होने पर इस प्रकरण में परमात्मलोक और  
व्याकृतावस्था की व्यावृत्ति के लिए 'अव्याकृतरूप से स्थित कर्मानुष्ठानफलभूत लोक' इस प्रकार  
श्रुति विशेषणपूर्वक उल्लेख करती । यहाँ "स्व" यह प्रकरणस्थ विशेषण रहते हुए अश्रुत पर और  
अपर ब्रह्म के मध्य की अत्राकृतावस्था अवस्था को ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

"यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी बृहत्स्वाभिमानी आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य में वर्णाश्रमादि  
का अभिमानी, धर्म से निर्पञ्चित अग्रहान्वित पुरुष देवादि-उद्देश्यक कर्म की कतव्यता से पशु के समान  
परतन्त्र है—ऐसा कहा गया है । जिन कर्मों के करने से मनुष्य पशु के समान परतन्त्र होता है, वह  
कर्म कौन से हैं, और जिनका वह कर्मों के द्वारा उपकार करता है वे देवादि कौन से हैं ? ऐसी  
विचिकित्सा होने पर श्रुति उन दोनों का निरूपण करती है ।

१ अन्यथेति—लोकशब्देनान्तरस्याभिप्रेतत्वे । २ कर्मानुष्ठानफलभूतात् । ३ इदं मया कर्तव्यमित्येव  
देवाद्युद्देश्यकमर्थम् । ४ अत्रस्य पशुवत्परतन्त्रस्य वाक्यप्रदर्शनार्थम् । ५ विचारविषय । ६ गृहस्थो-  
ऽहमित्यभिमानी । ७ सति । ८. मत्वा । -

पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति  
तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन  
पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाऽस्या पिपीलिकाभ्य

निवासस्थान और भोजन देता है, इससे मनुष्यों का, एवं जो पशुओं को तृण-जलादि देता है, उससे पशुओं का भोग्य हो जाता है। अतः इस मुमुक्षु के घर में कुत्ते बिल्ली आदि जो श्वापद पक्षी और चीटीपर्यन्त जीवजन्तु उसके आश्रित होकर जीते हैं, इसी से यह उनका भोग्य होता है। जैसे लोक में

रेन्द्रियसघातविशिष्टः पिण्ड आत्मेत्युच्यते। सर्वेषां देवादीनां पिपीलिकान्तानां भूतानां लोको भोग्य आत्मेत्यर्थः। सर्वेषां वर्णाश्रमादिविहितैः कर्मभिरुपकारित्वात्।

कं पुनः कर्मविशेषैरुपकुर्वन्केषां भूतविशेषाणां लोक इत्युच्यते—स गृही यज्जुहोति यदजते। यागो देवतामुद्दिश्य स्वत्वपरित्यागः। स एवाऽऽसेचनावधिको होमस्तेन होमया-गलक्षणौन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन देवानां पशुवत्परतन्त्रत्वेन प्रतिबद्ध इति लोकोऽयं यद-

स्यापि प्रकृतत्वात्ततो विशिनष्टि—गृहोति। गृहित्वे हेतुरविद्वानित्यादि। इतरपर्युदासार्यं कर्माधिकृत इत्युक्तम्। कथमुक्तस्याऽऽत्मन सर्वभोग्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषामिति।

तदेव प्रश्नद्वारा प्रकटयति—कं पुनरिति। यजति जुहोत्योस्त्वामार्यत्वेनाविशेषात्पुनरुक्तिपाश-ङ्कूप 'यजति चोदना' इत्येव देवताक्रियासमुदाये कृतार्थत्वादिति ग्यायेनाऽऽह—याग इति। आसेचन प्रत्येव। उक्तं च जुहोतिरासेचनावधिकः स्यादिति।

मूल श्रुतिवाक्य में 'अयं' यह पद अग्रहृवित् की पशु के समान परतन्त्रता वाक्यप्रदर्शन करने के लिए है। यह जो अग्रहृवित् कर्माधिकारी गृहस्थरूप शरीरेन्द्रियसघातविशिष्ट प्रकृतपिण्ड है, वह आत्मा कहा जाता है। वह 'सर्वेषाम' अर्थात् देवादिको त लेकर पिपीलिकापर्यन्त सभी प्राणियों का 'लोक' अर्थात् भोग्य आत्मा है, यह अर्थ है क्योंकि वर्णाश्रमादिविहित कर्मों के द्वारा वह सबका उपकारक है।

वह किन विशिष्ट कर्मों के द्वारा एवं किन विशिष्टभूत प्राणियों का उपकारक होने के कारण उनका भोग्य होता है। इस पर कहा जाता है—वह गृहस्थी जा होम और याग करता है, बेवत्ता के प्रीत्यर्थ स्वत्वत्याग करना याग है, उसी में जब "आहुति बना" कर्म बढ जाता है, तो उस होम कहते

- १ तत्तादात्म्याध्यामी। २ सघात। ३ इत्येवप्रकारेण। ४ तथा भोग्य। ५ इतर विद्वान्। ६ यजतीत्यादि—(जै० सू० ४।२।२७) यजतिचोदना—यजतिशब्द इत्यादिमुदाय वर्तते तद्वाचीत्यर्थः। इत्या-पत्वात्तत्र नैराकाङ्क्षयात्। तावदुक्त्यैव चरितापत्त्यादित्यर्थः। यजति ददाति जुहोतीति श्रुत्यागादीनां भेदोऽस्ति न चेति सहाये रत्यागात्मकत्वेनाविशेषात् भेदो नेति प्राप्ति देवतोद्देशेन इत्याद्यागस्य यागत्वात्सर्वैव प्रत्येपाधिकस्य होमत्वात् परस्वीनारूप्यन्तस्य च दानत्वाद्भेदोदत्तेषामिति स्थितं पूर्वतन्त्रे। ७ इत्येति—अत्र इत्येवदेवताक्रिय-मिति पूर्वतन्त्रे पाठो दृश्यते। ८ जै० सू० ४।२।२७। ९ 'तदुक्तं अथवाजुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्' (जै० सू० ४।२।२८) इतिभूतमभिप्रेत्याऽऽह—उक्तं चेत्यादि।



उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोका-  
यारिष्टिमिच्छेदेव हवविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टि-  
मिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं भीमा<sup>१</sup>सितम् ॥१६॥

सभी अपने शरीर का नाश नहीं चाहते हैं; वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव भविनाशरूप से देखना चाहते हैं। उस इस ब्रह्म की नित्य अनुष्ठेयता पंचमहायज्ञ प्रसंग से ज्ञात होती है, तथा भवदान-प्रकरण में इसकी व्याख्या की गयी है ॥ १६ ॥

तूयूते स्वाध्यायमधीतेऽहरहस्तेन ऋषीणां लोकोऽय यत्पितृभ्यो निपृणाति प्रयच्छति पिण्डो-  
दकादि । यच्च प्रजामिच्छते प्रजायमुद्यमं करोतीच्छा चोत्पस्युपलक्षणार्था प्रजां चोत्पाद-  
यतीत्यर्थः । तेन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन पितॄणां लोकः पितॄणां भोग्यत्वेन परतन्त्रो  
लोकः । अथ यमनुष्यान्वासयते भूम्युदकादिदानेन गृहे यच्च तेभ्यो वसद्भूषोऽवसद्भूषो  
धार्ज्यभ्योऽशनं ददाति येन मनुष्याणाम् । अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति लभ्ययति तेन  
पशूनाम् । 'यदस्य गृहेषु भ्वापवा वयांसि च पिपीलिकाभिः सह' कणबलिमाण्डक्षालना-  
द्युपजीवन्ति तेन तेषां लोकः ।

यस्माद'यमेतानि कर्माणि कुर्वन्नु'पकरोति देवाविभ्य'स्तस्माच्चथा ह वै लोके स्वाय

यथोक्तहोमादिभिर्देवादीनामनुष्ठापकुर्वतो गृहिणो विद्या प्रतिग्रहसंभवासत्तुपकारित्वेष्ट्याहुतिरि-  
त्याशङ्क्याऽऽप्त—यस्मादिति । पूर्वेषामथशब्दानामभिप्रेतमयमनुष्ठानमनन्तरवाक्यमवधार्य तदर्थमाह—  
तस्मादिति । 'देवादीनां कर्माधिकारिणि कर्तृत्वादपेरिपालनमेव परिरक्षणमिति विवक्षित्वा पूर्वेष्वितं

है, उस होमयागरूप कर्म की अपरिहार्यता के कारण पुरुष पशु के समान देवताओं के अधीन होने से  
बँधा हुआ है, इसलिए उनका भोग्य है । 'अथ यदनुवृते' अर्थात् तथा जो नित्यप्रति स्वाध्याय करता  
है, उसके कारण वह ऋषियों का लोक है । जो पितृगण की 'निपृणाति' अर्थात् पिण्डदान तर्पणादि  
करता है और जो 'प्रजामिच्छति' अर्थात् सन्तति के लिए प्रयत्न करता है, यहाँ 'इच्छा'पद उत्पत्ति  
का उपलक्षण कराने के लिए है, प्रजा उत्पन्न करता है, यह भाव है, उस कर्म के द्वारा अवश्यकर्तव्यता  
के कारण वह पितृलोक, पितरों के भोग्यरूप से उनका परतन्त्र लोक होता है । यह जो स्थान और  
जलपानादि के द्वारा घर में मनुष्यों को ठहराता है, तथा घर में रहने और न रहने वाले भी  
भोजनार्थी मनुष्यों को भोजन देता है, इससे वह मनुष्यलोक है । तथा जो पशुओं को घास और पानी  
प्राप्त कराता है, उससे वह पशुओं का लोक है । एवं जो इस कर्मकाण्डी के घरों में मार्जारदि स्वापद,  
पक्षी एवं चीटीपर्यन्त जन्तु तद्भूतारूप कण, बलि तथा पात्रों के धोवन के आश्रित होते हैं; उस जीवन-  
सम्पादकरूप कर्म से यह उनका लोक है ।

१ नमिण । २ मार्जारादयः । ३ तद्भूतारूपबलि । ४ आश्रयति । ५ तज्जीवनसम्पादककर्माणां ।  
६ गृही । ७ उपकरोतीति—कर्मनिष्ठानयोग्यावस्थाया विद्योत्पत्तेरसम्भवेन प्रतिबन्धव्योपदिष्ट भावः । ८.  
तस्मादिति—सर्वदाप्रय देवाद्युपकारकत्वादित्यर्थः । जगन्नेव पूर्वेषामथशब्दानामर्थो बोध्यः । ९. कर्तरि षष्ठी ।

लोकाय स्वस्मे देहायारिष्टमविनाशं स्वत्वभावाप्रच्युतिमिच्छेत्स्वत्वभावप्रच्युतिमयात्पो-  
पररक्षणदिभिः सर्वतः परिपालयेदेवं हैवविदे सर्वभूतभोग्योऽहमनेन प्रकारेण मयाऽव-  
श्यमृणिवत्प्रतिकर्तव्यमित्येवमात्मानं परिकल्पितवते सर्वाणि भूतानि देवादीनि यथोक्ता-  
न्यरिष्टमविनाशमिच्छन्ति स्वत्वाप्रच्युत्ये, सर्वतः संरक्षन्ति कुटुम्बिन इव, पशूस्तस्मादेयां  
तत्र प्रियमित्युक्तम् । तद्वा एतत्तदेतद्यथोक्तानां कर्मणामृणवदवश्यकर्तव्यत्वं पञ्चमहायज्ञ-  
प्रकरणे विदितं कर्तव्यतया भीमांसितं विचारितं चावदानप्रकरणे ॥ १६ ॥

आत्मवेदमग्न आसीत् । ब्रह्म विद्वांश्चेत्तस्मात्पशुभावात्कर्तव्यताबन्धनरूपात्प्रति-  
मुच्यते । केनायं कारितः कर्मबन्धनाधिकारेऽवश इव प्रवर्तते न पुनस्तद्विभोक्षणोपीये

स्मारयति—तस्मादिति । यद्योक्तं कर्म कुर्वन्त्यद्यपि देवादीन्प्रत्युपकरोति तथाऽपि न तत्कर्तृत्वमावश्यकं  
मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वा इति । भूतयज्ञो "मनुष्ययज्ञः" "पितृयज्ञो" "देवयज्ञो" "ब्रह्मयज्ञश्चेत्येवं  
पञ्च महायज्ञाः । ननु धृतमपि विचारं विना नानुष्ठेयं न हि" रुद्रोदनादि "धृतमित्येवानुष्ठीयते तत्रा-  
ऽऽह—भीमांसितमिति । तदेतद् "अवयते यद्यजते स यदग्नी जुहोतीत्याद्यवदानप्रकरणम् । "ऋणं ह वाव  
जायते जायमानो योऽस्तीत्यादिनाऽयंवादेनेति शेषः ॥ १६ ॥

वाक्यान्तरमावाय व्याख्यातुं पातनिकां करोति—आत्मवेत्त्यादिना । कर्मैव बन्धनं तत्राधिका-  
रोऽनुष्ठानं तस्मिन्निति यावत् । विद्याधिकारस्वरूपपाये श्रवणादौ प्रवृत्तिस्तत्रेतर्यः । यथोक्ताधिकारिणो

व्यक्ति यह गृहस्थी इन कर्मों को करता हुआ देवादिकों का उपकारक है, इसलिए जिस प्रकार  
लोकव्यवहार में मनुष्य अपनी देह के लिए 'अरिष्टिम्' अर्थात् अविनाश यानी स्वत्वाभाव की अप्रच्युति  
चाहता है । तथा स्वत्वाभावाप्रच्युति के भय से उसका पोषण-रक्षण द्वारा सर्वविध परिपालन करता है ।  
इस प्रकार 'हैवविदे' अर्थात् "मैं सर्वभूतप्राणिनों का भोग्य हूँ, इन यागादिकर्मों का मुझे ऋणी के समान  
प्रत्युपकार करना चाहिये" इस प्रकार सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा मानने वाले का उपर्युक्त देवादि  
विनाश नहीं चाहते हैं । अपनी स्थिति के लिए वे उसी प्रकार उसकी सब ओर से रक्षा करते हैं,  
जैसे कोई गृहस्थ अपने पशुघन की रक्षा करता है । इसी से कहा गया है—"अत देवताभ्यो को यह प्रिय  
नहीं है (कि वे आत्मतत्त्व को जानें)" । 'तद्वा एतत्' अर्थात् पूर्वोक्तकर्मों का ऋण के समान अवश्य-  
कर्तव्यत्व पञ्चमहायज्ञप्रकरण में कर्तव्यरूप से विदित है, एवं अवदानप्रकरण में 'भीमांसितम्' यानी  
इस पर विचार किया गया है ॥ १६ ॥

१. ममत्वसंभूतस्थितिम् । २. यागादिना । ३. प्रत्युपकर्तव्यम् । ४. अविनाशमिति—तत्त्वं च ब्रह्म  
विद्याधीनपशुत्वव्यावृत्तिराहित्यम् । कर्तृत्वादिरिपालनमिति यावत् । ५. सरथान्तीति—स्वदेहवदिति शेषः ।  
तथा चोक्तं बार्तिके—"स्वकर्माजितसमोपदायित्वेऽस्ति न न चचन । देवादीनां विशेषोऽत्र गृहस्थत्वात्मदेह्योरिति"  
॥ १०० ॥ स्वकर्माजितत्वे स्वसमोपदायित्वे चेति यावत् । देवादिवृषयप्रयुक्तभोगाविशेषादित्यर्थः ॥ ६.  
तस्मादिति—देवानां मनुष्यपशुभावप्युत्पानस्याप्रियत्वादित्यर्थः । ७. स्मार्ते । ८. प्रेरित इति यावत् ।  
९. भूतवलिः । १०. आतिथ्यादि । ११. याज्ञादि । १२. वैश्वदेववलि । १३. स्वाध्यायाध्ययनम् ।  
१४. सोऽजोदीत् । १५. धृतत्वमात्रेण । १६. इन्द्रादिभ्यो विभाग्येन वदतीत्यर्थः । १७. ऋणवानिति  
यावत् ।

विद्याधिकार इति । ननुक्तं देवा रक्षन्तीति । वाढम् । कर्माधिकारस्वगोचरारूढानेव तेऽपि रक्षन्ति । अन्यथाऽऽकृतान्यागमकृतनाशप्रसङ्गात् । न तु सामान्यं पुरुषमात्रं विशिष्टाधिकारानारूढम् । तस्माद्भूवितव्यं तेन येन प्रेरितोऽवश एव बहिर्मुखी भवति स्वस्माद्धोकात् । नन्वविद्या साऽविद्यावान्हि बहिर्मुखीभूतः प्रवर्तते । साऽपि नैव प्रवर्तिका । वस्तुस्वरूपावरणात्मिका हि सा । प्रवर्तकबीजत्वं तु प्रतिपद्यतेऽन्यत्वमिव गर्तादिपतन-

देवादिभ्यो रक्षणं प्रवृत्तिमार्गे नियमेन प्रवर्तकमिति शङ्कते—नन्विति । उक्तमङ्गी करोति—वाढमिति । तर्हि प्रवर्तकागतरं न वक्तव्यं तत्राऽह—कर्माधिकारेति । 'कर्मस्वधिकारेण' 'स्वगोचरत्वं प्राप्तानेव देवा-दयोऽपि रक्षन्ति न सर्वाग्रिमसाधारणं' ब्रह्मचारिणं मतोऽस्य कर्ममार्गं प्रवृत्तौ देवादिरक्षणस्याहेतुत्वाद्ब्रह्मचारिणो निवृत्तिर्यवस्था प्रवृत्तिपक्षपाते कारणं वाच्यमित्यर्थः । मनुष्यमात्रं कर्मण्येव ते बलात्प्रवर्तयति तेषामभिन्यशक्तित्वादित्याशङ्क्याऽह—अन्यथेति । स्वगोचरारूढानेवेत्येवकारस्य व्यावर्त्यं कीतयति—न त्विति । विशिष्टाधिकारो गृहस्थ्यानुष्ठेयकर्मसु "गृहस्थस्येन स्वामित्वं तेन देवगोचरतामप्राप्तमित्यर्थः । 'देवादिरक्षणस्याकारणत्वे कालतमाह—तस्मादिति । प्रत्यावविद्या यथोक्ताधिकारिणो नियमेन प्रवृत्त्यनु-रागे हेतुरिति शङ्कते—नन्विति । तदेव स्फुटयति—अविद्यावानिति । तस्याः स्वरूपेण प्रवर्तकत्वं रूप-यति—साऽपीति । अविद्यायां"स्तर्हि "प्रवृत्त्यन्यवर्त्यतिरेको कथमित्याशङ्क्य कारणकारणत्वेनेत्याह—

(स्त्रीमन्वन्ध होमै से पूर्व) पहले यह एक देहेन्द्रियसघातरूप आत्मा ही था । यदि ब्रह्म को

जानने वाला पुरुष कर्तव्यताबन्धनरूप पशुभाव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तो कर्मबन्धन की अधिकत-  
व्यता में किससे प्रेरित होकर विवशतापूर्वक फैसला है, तथा उससे छूटने के उपायरूप ज्ञान की  
अधिकतव्यता में प्रवृत्त नहीं होता ? इस पर शङ्का हाती है—देवता उसकी रक्षा करते हैं, यह तो पहले  
ही कह चुके हैं । सिद्धान्ती इसे स्वीकार करते हुए कहता है, कर्मों के अधिष्ठाता देवता होने के कारण अपने  
धरणापन्न लोगों की ही वे रक्षा करने हैं, अन्यथा अकृतकर्म की प्राप्ति और कृतकर्म के नाश होने का  
प्रसंग उपस्थित हो जाएगा । वे गृहस्थानुष्ठेय कर्मों में देवगोचरताको अप्राप्त सामान्य पुरुष यानी नैतिक  
ब्रह्मचारी आदि की रक्षा नहीं करते । देवादिरक्षण की नियमत प्रवृत्ति राग में कारण न होने से ऐसा  
होना चाहिये, जिससे वह विवश होकर आत्मनाक से बहिर्मुख हो जाता है । (पूर्वपक्षी शङ्का करता  
है—) अच्छा तो वह अविद्या है क्योंकि अविद्यावस्था में ही पुरुष बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है । (इस  
पर कहते हैं—) वह भी प्रवृत्ति का कारण नहीं है क्योंकि वह अविद्या वस्तु ॥ आचरणमात्र यानी  
मिथ्याज्ञान उत्पन्न करती है । जिसप्रकार अन्यत्वं गर्तादिपतनानुकूल अप्रवृत्ति अमागमन का हेतु है,

१ अन्यथेति—मनुष्यमात्रस्य कर्मण्येव नियमनरक्षणाय देवादिरक्षाया इतनाशादि स्यात्तथा तत्रापि शक्त-  
त्वात्तस्य च कर्मणाऽह प्राप्तमण्यवादिनाऽनिष्टत्वादिति भावः । २ नैष्ठिकादिसव्यवसाधारणम् । ३  
देवादिरक्षणस्य नियमेन प्रवृत्तिरावेहेतुत्वात् । ४ वस्तुस्वरूपेति—अविद्याया वस्त्वचरणमात्रत्वाद् वस्तुनि-  
मित्थाज्ञानजनकत्वमेव न तु स्वरूपेण प्रवर्तकत्वं स्वापादावहेत्येति भावः । ५ गर्तादिपतनिति—गर्तादिपतनानु-  
कूलाप्रवृत्तिरमार्गमन स च यथाऽन्यत्वं हेतुर्भवति तद्वदित्यर्थः । ६ प्राप्तस्वामित्वेन । ७ स्वयं दास्यम् ।  
८ ब्रह्मचर्यावान्तरनैष्ठिकादिभेदवन्तमित्यर्थः । ९ देवादे सर्वोग्रमस्य साधारण प्रति रक्षणत्वाभावात् ।  
१० गृहस्थोऽहमित्यभिमानवत्त्वेन । ११ देवादीनि—मनुष्यमात्रस्य कर्ममार्गप्रवृत्तिवित्यादि । १२ तर्हीति—  
अविद्याया प्रवर्तकत्वान्मनुष्यम इत्यर्थः । १३ सत्यामविद्याया प्रवृत्तिर्न तदभाव इति ।

आत्मवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे  
स्यादथ प्रजायेयाय वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीषेत्ये-  
तावान्वं कामो नेच्छ'श्चनातो भूयो विन्देत्तस्माद-

(स्त्रीमन्वन्ध होने से) पहले यह एव देहेन्द्रियमघातरूप आत्मा हो या । उमने (भविष्याजनिन वासना से युक्त होकर) वासना की, कि कर्माधिकार की हतुरूपा स्त्री मुझ कर्मा की प्राप्त हावे अर्थात् कर्माधिकार की प्राप्ति के लिये मुझे स्त्री मिले फिर मैं प्रजास्त्व मे द्यध ही उत्पन्न होऊँ तथा मुझे गवादिरूपधन हो । फिर मैं (अभ्युदय एव वस्याण ता साधनरूप) कर्म करूँ । वम इन्न त्रिपथ मे परिच्छिन्न ही काम है । इच्छा करने पर हमसे अधिक कोई नहीं पाता । अतएव अब भी अवेत्ता पुण्य

प्रवृत्तिहेतुः । एव तद्वृत्त्यता कि तद्वृत्तिहेतुरिति । 'तदिहामिधीयत एषणा कामः सः',  
"स्वामाविषयामपिच्छाया वर्तमाना बाला पराचः कामाननुयन्ति" इति काठकधृतौ ।

प्रवर्ततेति । 'सत्यन्यस्मिन्कारणोऽकारणाविद्याप्रवृत्तेरिति' चेत्तत्राऽह—एव तर्हीति । उत्तरवाचयमुत्तर-  
त्वेनावतार्य तस्मिन्निवक्षित प्रवर्तक 'सक्षिपति—तदिहामिधीयत इति । 'तत्रार्थत श्रुत्यन्तर सवादयति

उसी प्रकार यह प्रवर्तकबीजरूपता को प्राप्त होती है । उक्तरीति मे अविद्या के प्रवृत्तिप्रयोजक के अभाव होने से तुम्ही बताओ कि प्रवृत्ति का कारण क्या है ? (सिद्धान्ती प्रतिपादन करता है—) वह यहाँ बतलाया जाता है । एषणा काम का पर्याय है, वह काम प्रवर्तक है । "अनादिसिद्ध अविद्या म रहने वाले अनात्मज्ञ, बाह्य अनात्मभूत दृष्ट और अदृष्ट विषया का सेवन करत है" ऐसी वृत्ति है । श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीमुखवचन है—"यह काम है, यह क्रोध है" । अनुस्मृति मे भी निर्णय लिया गया है कि सारी प्रवृत्ति काममूलक है । यहाँ से लेकर प्रथम अध्याय की समाप्तिपर्यन्त इसी का विस्तार से

१ अनोऽप्यर्थक । २ एव तर्हीति—उक्तरीत्याविद्याया प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभाव इत्यथ । ३ तदिहत्यादि—तत्प्रवर्तकम् । इह उत्तरवाच्ये । एषणा काम एषणापरपर्याय काम इत्यथ । ४ कामान प्रवर्तक । ५ स्वामाविषयामपिच्छाया—अनादिसिद्धायांमविद्याया वर्तमाना बाला पराचः कामाननुयन्ति इति कामाननुयन्ति इत्यथ । ६ नन्वविद्याया आवरण-  
मात्रस्वभावत्वे मा प्रवर्तकमपि जनयितुं नात तथा आविद्याया अभावमेव किंचित्प्रवर्तकं स्वादित्यागच्छाऽह—  
सत्यन्यस्मिन्निधिति । अविद्याया अकार्यभूते कारणेऽमुपगते सत्यविद्याप्रवृत्तेरकारणमेव परम्परयाऽपि कारण न  
स्यादित्यर्थ । तथा च तस्या प्रवृत्त्यन्यव्यतिरेकी विरुध्येयानामिति भाव । ७ तत्राऽहेति—इत्यमविद्याया  
कारणकारणत्वस्यावश्यकत्वे शङ्किते सति बोधयतीत्यथ । वस्तुतस्तु सतीत्यादेर्यथेवायंस्तथाहि—अविद्यानिमित्त  
तत्त्वार्थमेव किंचित्प्रवृत्ति प्रति साक्षात्कारण न त्वविरोध्येव चेत्सिद्धातिमोच्यते तत्र पृच्छतीति । ८ सक्षिपती-  
ऽभिधत्ते । ९ तत्रेति—आविद्यकामस्य प्रवर्तकत्वे । कामहेतुरविद्यैव प्रवृत्तिं करिष्यति विमान्तरासिनेन  
कामेनेत्यागच्छापेत्यादि । तथा च वार्तिके—'अविद्योद्भूतकाम सप्रयो खन्विति च श्रुति' । १० ११ ॥ इति ।  
अविद्योद्भूतकाम—सन् पुमान् प्रवर्तते कर्मण्येवेति शेष । चकार उक्तञ्चानुनिवृत्त्यर्थं । अथो लब्धाह काममय एवाय  
पुरुष इत्यादियुतितस्तस्य प्रवृत्तौ प्राप्ता यमाहेति वार्तिकार्थ ।

प्येतद्द्वौकाकी कामयते, जाया-मे स्यादथ प्रजायेयाथ

वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं

न प्राप्नोत्यकूत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कूत्स्नता

पहले यही कामना करता है कि मुझे स्त्री मिले, फिर मैं सत्तान्तर्य से उत्पन्न होऊँ और धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। यह जब तक इनमें से एक-एक को प्राप्त नहीं कर लेता; तब तक वह अपने को भूरा ही मानता है, उसकी पूर्णता इस प्रकार कही गयी है। (बाह्य साधन के अभाव में) मनुष्य

स्मृतो च—“काम एव क्रोध एव” इत्यादि। मानवे च सर्वा प्रवृत्तिः कानर्हेतुव्येवेति। स एपोऽर्थः सविस्तरः प्रदर्श्यते इहाऽऽध्यायपरिसमाप्तेः।

आत्मवेदमग्न आसीत्। आत्मैव स्वाभाविकोऽविद्वान्कार्यकरणसंघातलक्षणो

—स्वाभाविक्यामिति। तत्रैव भगवतः संमतिमाह—स्मृतौ चेति। ‘अथ केन प्रपुत्रमोऽयम्’ इत्यादि-प्रश्नस्योत्तरम्—“काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः” इत्यादि। ‘अक्रामतः क्रिया काचिद्बुद्धयते नैह’ कस्यचित्। ‘मद्यद्वि कुरुते जगुस्तत्सत्कामस्य चेष्टितम्॥ इति वाक्यमाश्रित्याऽहं—मानवे चेति। एवेति वक्षितमिति शेषः। उक्तेऽर्थे ‘तृतीयाध्यायसोऽयमपि प्रमाणमिति—स एपोऽर्थ इति।

‘एवं तात्पर्यमुक्त्वा प्रतीकभावात् पदानि व्याकरोति—आत्मैवेत्यादिना। वर्णो द्विजत्वद्योतको

व्याख्यान किया गया है।

(स्त्रीसम्बन्ध होने से पूर्व) पहले यह एक देहेन्द्रियसंघातरूप आत्मा ही था। अनादि प्रविद्या से विशिष्ट प्रविद्वान् देहेन्द्रियसंघातलक्षण ब्रह्मचारी ही ‘अग्रे’ अर्थात् स्त्रीसम्बन्ध होने से पूर्व था। यही (कामकरणसंघातरूप) आत्मा कहा गया है। उस आत्मा से पृथक्भूत काम्य स्त्री आदि विषय नहीं था; वह एक ही था। जायादि एवणा की वाञ्छा अविद्या स युक्त वह एकाकी ही था। अपने में कर्मादिकारक, क्रिया एव फलात्मकता के अध्यास लक्षण वाला अनादिसिद्ध प्रविद्या क संस्कार से संस्कृत उसने “अक्रामयत” अर्थात् कामना की।

१ तस्यो कूत्स्नतेत्यादिवाक्य व्याख्यातुं पातनिकामाहुर्वीतिकावापस्तम्बादि—“आत्मनायाप्रजावित्तविद्याभि यञ्चभि कृतम्। कर्म पाङ्क्त अवेदेव पाङ्क्तेन षण्दसा मितम्॥ बाह्यस्य कर्मणस्तथाकारमाह पाङ्क्तोदिता। तेष्वस्तत्त्वय पाङ्क्तत्वरूपमुच्यतेऽध्यात्मकर्मणः॥ बाह्याध्यात्मिकभेदेन कर्मतदुभयात्मकम्। पाङ्क्तं यथा तद्वृत्ति तथैतद्विषयीयते”॥ १८४०-१८४२॥ इति। यञ्चत्वसंख्यायोगमुपजीव्योपासनोपयोगित्वेन यञ्चाक्षरा पङ्क्ति-रिति धृतिमनुसरामाह—एवमिति॥ कर्ममात्रस्य पाङ्क्तत्वमुक्त्वा तस्येत्यादिवाक्यस्य विषयपरिधेयार्थं सोऽक्राम-यतेत्यादिना सिद्धमनुवर्तते—बाह्यत्वेति। जायाविष्वत्तत्वाध्यात्मिक ध्यानकर्मणं कथं पाङ्क्तत्वमित्यपेक्षामा-तस्येत्यादादत्ते—तेत्विति। प्रामुक्त्यद्वाद्योतनायोऽयञ्च॥ तदेव प्रपञ्चयितुं कर्मैर्देविष्यमाह—बाह्योति। तद्बाह्यं कर्म यञ्चभि कृतत्वाद्यथापाङ्क्तं तथैतदाध्यात्मिकध्यानकर्म पाङ्क्तमभ्युच्यते तस्येत्यादिनेत्याह—पाङ्क्त-मिति॥ २ अहिमन्वेव व्याख्यातवानेऽध्याये। ३ स्वभावोऽनाद्यविद्यस्तद्विशिष्टः। ४ कर्मभूतो। ५ अक्रामत इत्यादिना स्वार्तिरेकमभिधायान्वयमाह—गद्यदिति। ६ तृतीयसंख्येयव उपनिषदस्य प्राथमिकत्वैर्ग्री-ष्मं तार्तीयिकत्वात्। ७ उक्तरीत्या।

मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मनुषं  
वित्त चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्र देव<sup>१७</sup> श्रोत्रेण हि  
तच्छृणोत्यात्मवास्य कर्माऽऽत्मना हि कर्म करोति स

इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, क्योंकि मनरूप स्वामी का अनुकरण वाणीरूप स्त्री ही करती है। प्राण सतान है और नेत्र मानुषवित्त है, क्योंकि वह पुरुष नेत्र से ही गवादि मानुषवित्त को जानता है। श्रोत्र देववित्त है, क्योंकि श्रोत्र से ही वह पुरुष देववित्तरूप वर्म को सुनता है। शरीर ही इसका कर्म है,

वर्ण्ये प्राग्दारसबन्धावात्मेत्यभिधीयते । तस्मादात्मनः पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेद-  
रूप नाऽऽसीत्<sup>१</sup> एवंक आसीज्जायाद्येवणाबीजभूताविद्यावानेक एवाऽऽसीत् । स्वाभा-  
विख्या स्वात्मनि कर्मादिकारकक्रियाफलात्मकताध्यारोपलक्षणयाऽविद्यावासनया वासित-  
सोऽकामयत कामितवान् ।

कथम् । जाया कर्माधिकारहेतुभूता मे भव कर्तुं स्यात्तया विनाऽहमनधिकृत एव  
कर्मण्यत कर्माधिकारसपत्तये भवेज्जाया । अथाह प्रजायेय प्रजारूपेणाहमेवोत्पद्येय ।

ब्रह्मचारीति यावत् । कथं तर्हि हेत्वभावे तस्य कामित्वमपि स्यादित्याशङ्क्याऽह—जायादीति ।  
सशब्द व्याकुर्वन्नुत्तरवाच्यमादायावशिष्टं व्याचष्टे—स्वाभाविकयति ।

कामनाप्रकार प्रश्नपूर्वक प्रकटयति—कथमिति । कर्माधिकारहेतुत्व तस्या साधयति—  
तयेति । प्रजा प्रति जायाया हेतुत्वद्योतकोऽप्यशब्द । प्रजाया मानुषवित्तान्तर्भावमभ्युपेत्य द्वितीयोऽप-

किस प्रकार कामना की ? 'जाया' अर्थात् कर्माधिकार म हेतुभूता स्त्री 'मे' अर्थात् मुझ कर्ता  
को प्राप्त हो, उसके बिना मेरा कर्म करने में अधिकार नहीं बनता । इसलिए कर्म म अधिकारप्राप्ति  
के लिए मुझे स्त्री की प्राप्ति हो । 'अथ प्रजायेय' अर्थात् फिर मैं प्रजारूप से स्वयं ही जाया में उत्पन्न  
होऊँ । 'अथ वित्त मे स्यात्' अर्थात् तथा कर्म मे सहायकभूत गवादिरूप धन मेरे पास हो 'अथ कर्म  
कुर्वीय' यानी फिर मैं अभ्युदय नि श्रेयस का साधनरूप कर्म करूँ, जिससे मैं शृण से विमुक्ति पाकर

१ आत्मेत्यभिधीयत इति—आत्मैवेदमत्र आमीदित्यन्त्रात्मगर्भेन स्वाभाविक्याऽविद्याया युक्तं वायवरणमघात-  
विशिष्टो ब्रह्मचाप्युच्यत इत्ययम् । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तस्मादिति । अत्र प्राग्दारसबन्धादिव प्रसिद्ध दारा-  
दिजात ब्रह्मचार्यामैवैव आसीद्वासीत्तत् पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेदजातमित्येव । २ स एवंक इति—  
एक एवेत्यस्यार्थो शोकप्रसिद्धा प्रदणितो वातिने । तथाहि—' विस्तारितबुद्धम् स वस्मेचित्त्वचित्तित्वे ।  
व्याचष्टे कामभूत पुत्रपौत्रादिविस्तरम् । प्राग्वारोदहनात्कृत्स्न कुटुम्बं यत्प्रपश्यसि । आत्मैवैव पुमानासीत्प्रा-  
ज्जोत्पुनादि चिन्तनम् । आत्मप्रत्ययनिर्वाहं केवलं प्राग्भूतदिम् । पुत्रपौत्रादिविस्तरं बुद्धम् यत्प्रपश्यसि ॥  
१८१६ ॥ १८२१ ॥ इति । त ब्रह्मचारिणमुक्तविशेषण दारसग्रहादूर्ध्वं समीपे दृष्ट्वा वचित्त्वत्समैचिद्विद्याकरोतीति  
योजना ॥ ३ अनादिसिद्ध्या । ४ आविद्यसत्स्वरामस्तुत । ५ अथेति—पुत्रसाधनीभूतजायासत्पत्यनन्तर-  
मित्यर्थः । अहमेवेति—स्वकाम्येय स्वमुक्तेरुच्यमपि पुत्रद्वारा वत् सद्गुणेन पितृव जायते स पुत्रर्णवात्मित्वोके  
प्रतिष्ठितोतीति श्रुतेरित्यर्थः । ६ जायाम् । ७ सहीति—प्राग्दारसम्बन्धात्तस्यकामित्वे इत्यर्थः ।

एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः  
पाङ्क्तमिदं<sup>१७</sup> सर्वं यद्विदं किञ्च तद्विदं<sup>१८</sup> सर्वमाप्नोति  
य एव वेद ॥१७॥

॥ इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

कयोषि दारोरुत्पन्ना आत्मा से ही यह ब्रह्म करता है। यह यह यज्ञ, पाङ्क्त है; मन, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों से सम्पादित ब्रह्म को पाङ्क्त कहते हैं। पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है, विद्येय क्या यह कर्म का साधन और फल सभी पाङ्क्त हैं। 'सभी पाङ्क्त हैं' जो कोई ऐसा जानता है, (भादना करता है) वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मरूप से प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

'अथ वित्तं मे स्यात्कर्मसाधनं' गवादिलक्षणमयाहमभ्युदयनिःश्रेयससाधनं, कर्म कुर्वीय । येनाहमनुणी भूत्वा देवादौनां लोकांग्राप्नुयां तत्कर्म कुर्वीय ।

काम्यानि च पुत्रवित्तस्वर्गादि साधनान्येतावान्वै - 'काम एतावद्विषयपरिच्छिन्न इत्यर्थः । 'एतावानेव हि कामयितव्यो विषयो यदुत जायापुत्रवित्तकर्माणि साधनलक्षणा एषणा । 'लोकाश्च त्रयो मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति फलभूताः साधनैषणा-

शब्दः । वृत्तोपस्तु वित्तस्य कर्मानुष्ठानहेतुत्वविवक्षयेति विभागः । कर्मानुष्ठानफलमाह—येनेति ।

तत्किं नित्यनैमित्तिककर्मणामेवानुष्ठानं नेत्याह—काम्यानि चेति । क्रियापवमनुकट्टं चशब्दः । कामशब्दस्य 'यथाभूतमर्थं गृहीत्वा तान्यादिवाक्यस्याभिप्रायमाह—साधनलक्षणेति । अस्या साधनै-

देवादि के लोको को प्राप्त कहें, ऐसा कर्म करें ।

काम्यकर्म पुत्र, धन और स्वर्गादि के साधन है। "एतावान्वै" अर्थात् इतने विषय से परिच्छिन्न ही अभिलाषा है। (भावव्युत्पन्न कामशब्द की अभिलाषा अर्थ में व्याख्या कर अथ कर्मव्युत्पन्न अभिलषित अर्थ में उसका विवेचन करते हैं—) ये जो स्त्री, पुत्र, वित्तकर्म है, यही अभिलषित विषय हैं, यह साधनलक्षणा एषणा है। ये तीनों मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इस साधनैषणा के फलस्वरूप हैं। इन्हीं लोको के लिए जाया पुत्र वित्तकर्मरूपा साधनैषणा होती है। इसलिये वह जोकैषणारूप एक ही एषणा है। एक होने पर भी वह एषणा साधन की अपेक्षा से दो प्रकार की है। इसलिए धृति यह प्रतिपादन करेगी कि "ये दोनों एषणाएँ ही हैं" ।

१ अर्थेति—मानुषवित्तान्तर्गतपुत्रसंपत्त्यनन्तरमित्यर्थः । २ गवादीति—जादिना दैव वित्तम् । अर्थेति—वर्मानुष्ठानहेतुभयविश्ववित्तसंपत्त्यनन्तरमित्यर्थः । ३ अभिलाषा । ४ भावव्युत्पन्न कामशब्दमभिलाषायां व्याख्याय ब्रह्मव्युत्पन्न तमभिलषितार्थं व्याख्यास्येतावान्वै हीति । ५ साधनविषया । ६ साधनैषणां प्रदर्श्य साधनैषणा प्रदर्शयति—लोकाश्चेति । ७ साधनैषणारूपम् ।

याश्चास्याः । 'तदर्थं हि जायापुत्रवित्तकर्मलक्षणा साधनं पणा । 'तस्मात्सर्वकंपणा या लोकंपणा संकैव सत्पेपणा 'साधनापेक्षेति द्विधाऽतोऽवधारयिष्य'त्युभे ह्येते एपणे एवेति ।

फलार्थत्वात्सर्वारम्भस्य 'लोकंपणाऽर्थप्राप्तोक्तैवेत्येतावान्वा 'एतावानेव काम इत्यवधिष्यते । भोजनेऽभिहिते तृप्तिर्न हि पृथगभिधेया । तदेवंत्वाद्भोजनस्य । ते एते एपणे साध्यसाधनलक्षणे कामो येन प्रयुक्तोऽविद्वानवश एव कोशकारवदात्मानं वेष्टयति कर्ममार्गं एवाऽऽत्मानं प्रणिदधद्बहिर्मुखीभूतो न स्वं लोकं प्रतिजानाति । तथा च तैत्तिरीयके—“अग्निमुग्रधो ह्येव धूमतान्तः स्व लोकं न प्रतिजानाति” इति ।

पणायाः फलभूता इति सबन्धः । 'द्वयोरेवणास्वमुक्त्वा लोकंपणा परिशिनष्टि—तदर्थं हीति । कथं तर्हि साधनंपणोक्तिरित्याशङ्क्याऽह—संकेति । 'एतेन वाक्यशेषोऽप्यनुगुणीभवतीत्याह—अत इति ।

"साधनवत्फलमपि "काममात्रं चेत्कथं तर्हि श्रुत्या साधनमात्रमभिधायैतावान्"वधिष्यते तत्राऽह—फलार्थत्वादिति । उक्ते 'साधने साध्यमाधिकमित्यत्र दृष्टान्तमाह—'भोजन इति । 'सापेक्षोक्तौ साध्यस्यापार्थावृत्तेरेतावानिति द्वयोरेववादेऽपि कथमेवपणार्थं कामशब्दस्तत्र प्रयुज्यते नहि "लो पर्यायो न च "तदवाध्यत्वे तयोरे"नयंतेत्याशङ्क्य पर्यायत्वमेवपणाकामशब्दयोरेवपणाऽह—ते एत इति । वेष्टनमेव" स्पष्टयति—कर्ममार्गं इति । अग्निमुग्रधोऽग्निरेव होमादिद्वारेण सम श्वेय साधनं नाऽऽत्मज्ञानात्मविमान-बाध्यमतातो धूमेन ज्ञानिमीपन्नो धूमता वा ममान्ते देहावसाने भवतीति मन्यमानस्ते 'धूममभिसं-भवन्तीति श्रुते । स्व लोकमात्मानम् ।

सभी उद्यम फल के लिए हात हैं, अतः अर्थत प्राप्त फलंपणा का वर्णन कर दिया । "एतावान्वा" इस पद से इतना ही काम है, ऐसा निश्चय किया जाता है । भोजन की चर्चा कर देन पर तृप्ति की पृथक् चर्चा नहीं की जाती, क्योंकि भोजन ता तृप्ति के लिए ही होता है । वह पद साध्यसाधनलक्षण एपणा ही काम है, जिससे प्रयुक्त हुए अवस्थावत्, रेशम के कोट के समान परवश होकर अपने को लपेट लेता है । तथा अपने को कममार्ग में उसभाये रख, वहिर्मुखो हाकर आत्मलाक को नहीं जान पाता । इसी भाशय का प्रतिपादन तैत्तिरीय उपनिषत् में किया है—“जो पुरुष अग्निहोत्रादिकर्मों में आसक्त है, उसका पर्यवसान धूममार्ग ही है, वह आत्मलोक को नहीं जान पाता ।

अभिलाषार्थं अनन्त है, फिर अभिलाषाश्रो की एतावत्ता कैसे सिद्ध होती है । असौम कामनाएँ हैं, इसका कारण श्रुति निरूपण करती है । 'इच्छन्' अर्थात् चाहते हुए भी पुरुष इस फलसाधनलक्षणा

- १ सर्वयत्नेन तदात्मिकैव । २ साधनंपणाया फलंपणात्मकत्वात् । ३ साधनापेक्षति—साध्यात्वादव साधनबद्धत्वेन तदतिरेकेणयोगात् सा सावदाक्षिप्तसाधना साधनंपणापि साध्यबद्धत्वादाक्षिप्तसाध्याऽतोऽभिहिते साधने साध्यमपार्थाभिहितमित्येतावानित्युभयमनूद्य तस्य कामशब्देनानर्थत्वमुक्तमिति नूदाभिमतधिरिति ध्येयम् । ४ धृति । ५० उ० ३।१।१, ५० उ० ४।४।२२ । ५ फलंपणा । ६ प्रवतयत् । ७ अनात्मप्रवण । ८ साध्यसाधनयोः । ९ एपणाद्वैविध्यम् । १०. साधनंपणावत् फलंपणापि । ११. कामशब्दवाच्यमन-यार्थकम् । १२ इति । १३ एपणाकामशब्दो । १४ कामशब्दावाच्यत्वे । १५. अनर्थक्यता दुःखार्थ-कतेति यावत् । १६ एपणो । १७ ५० उ० ६।२।१६ ।



कथं पुनरेतावत्स्वमवधार्यते कामानामनन्तत्वादनन्ता हि कामा इत्येतदाशङ्क्य<sup>१</sup>  
हेतुमाह—'यस्मान्नेच्छश्ननेच्छन्नप्यतोऽस्मात्फलसाधनलक्षणाद्भूयोऽधिकतरं न विन्देन्न  
लभेत । न हि लोके फलसाधनव्यतिरिक्तं दृष्टमदृष्टं वा लब्धव्यमस्ति । लब्धव्यविषयो'<sup>२</sup>  
हि कामस्तस्य चेतद्व्यतिरेकेणाभावाद्युक्तं यत्तुमेतावान्वै काम इति<sup>३</sup> । एतदुक्तं भवति—  
'दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा साध्यसाधनलक्षणं विद्यावत्पुरुषाधिकारविषयमेवणाह्य कामोऽतो-  
ऽस्माद्विदुषा व्युत्पातव्यमिति । -

यस्मादेवमविद्वानात्मा कामी पूर्वः, । कामयामास तथा पूर्वतरोऽप्येषा 'लोक-  
स्थितिः । प्रजापतेश्चैवमेव सर्गं ब्रासीत्सोऽविभेदविद्यया ततः कामप्रयुक्त एकाक्षरममा-

यावधान्तरमुत्पाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना । तस्मादेतावत्स्वमवधार्यते तेषामिति शेषः ।  
उक्तमेवार्थं लोकदृष्टिमद्यद्वयं स्पष्टयति—न हीति । लब्धव्यान्तराभावेऽपि काममित्यव्यान्तरं स्यादित्या-  
शङ्कयाऽऽह—लब्धव्येति । एतद्व्यतिरेकेण साध्यसाधनातिरेकेणेति यावत् । तयोर्द्वयोरपि 'कामत्वविधा-  
यिभूतेरभिप्रायमाह—एतदुक्तमिति । कामस्यानर्थत्वात्साध्यसाधनयोश्च<sup>४</sup> तावन्मात्रत्वात्सर्गादौ  
पुनर्यथाविभासं त्यक्त्वा स्वजलाभितुल्याभ्यस्तिसृभ्योऽप्ये<sup>५</sup> वानस्यो भ्युत्थानं सन्यासात्मकं कृत्वा  
काङ्क्षितमोक्षहेतुं ज्ञानमुद्दिश्य ध्वणाद्यावत्तयेदित्यर्थः ।

तस्मादधीत्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति । 'प्राकृतस्थितिरेषा न बुद्धिपूर्वकारिणामिव वृत्तनि-  
त्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतेद्वेति । 'तत्र हेतुत्वेन पूर्वोक्तं स्मारयति—सोऽविभेदित्यादिना । 'तत्रैव

कामना से अधिक कुछ भी नहीं 'विन्देत्' यानी पा सकता । लोकव्यवहार में फलसाधन से व्यतिरिक्त  
कोई भी दृष्ट या अदृष्ट लब्धव्य पदार्थ नहीं है । 'प्राप्त करने योग्य विषय की ही अभिलाषा होती है'  
और इसके व्यतिरिक्त वह है भी नहीं, इसलिए 'एतावान् वै काम' बस इतना ही काम है—यह कहना  
उचित ही है । भाव यह है कि दृष्टार्थ या अदृष्टार्थ वाला साध्यसाधनरूप तथा अन्नह्रस्वित् पुरुषों द्वारा  
सेवनीय जो एषणाद्वय है, वही काम है । अतः एषणाद्वयारम्भ काम से विद्वान् को सन्यास लेकर ज्ञान  
के लिए श्रवणादिसाधनों में प्रवृत्त होना चाहिये ।

क्योंकि उक्तविधि से वह श्रविद्वान कामी पहले इसी प्रकार इच्छा करता था, उससे पूर्व के  
अविद्वान् ने भी इसी प्रकार कामना की होगी क्योंकि लोकप्रवृत्ति कामपूर्विका है । प्रजापति की सृष्टि भी

१ एतावत्वावधारणे । २ यस्मादिति—यतोऽस्मात्फलसाधनलक्षणादधिकतरमित्यन्नपि नास्मादयदंशो लभते  
साधनाव्यतिरिक्तदृष्टादृष्टलाभाभावाद्यतो युक्तमवधारणमित्यर्थः । यस्मात्साधनासन्त्यकाममित्यव्याभावात्तस्मादधि-  
द्यावत्सर्गात् तत्संपात्तमात्राज्ञस्य पूणतमि भावः । तदुक्तं—तस्मादविद्याभूमिष्ठं वृत्तं एतावता भवेदिति ।  
॥ वा० १८३७ ॥ ३ दृष्टार्थं दृष्टार्थरूपमदृष्टार्थफलम् । ४ अविद्यावत्पुरुषनि—अविद्यावत्पुरुषवृत्तिरधि-  
कार एषणास्वामित्वं तद्विषयोऽधिकरणं यद्व्येषणाद्वयस्य तत्तथा एतादृशाधिकाराधिकरणविकरणव्यतिरि-  
अविद्यावत्पुरुषनिष्ठमिति यावत् । कामः अखिलजीवाद्यन्यहेतुः । अतः—अन्यहेतुत्वादित्यर्थः । ५ एषणा  
द्वयारम्भकालकामात् । ६ उक्तविधया । ७ कामपूर्विका लोकप्रवृत्तिः । ८ एवमिति—कामप्रयुक्त इत्यर्थः ।  
९ कामत्वबोधीत्यर्थः । १० एषणयोः । ११ लोकपुत्रवृत्तिपणाम्यः । १२ कामपूर्वकं पानरावरणं  
न समीक्ष्यकारिणाम् । १३ प्रजापतिसर्गस्य प्रजापतेर्वा कामप्रयुक्तत्वे । १४ उक्तार्थः ।

एोऽरत्युपघाताय स्त्रियमच्छतां समभवत्ततः सर्गोऽयमासीदिति ह्युक्तम् । तस्मात्तत्सृष्टावे-  
तह्येतस्मिन्नपि काल एकाकी सन्प्राग्दारक्रियातः कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाय  
वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्युक्तार्थं वाक्यम् । स एवं कामयमानः संपादयंश्च जायादीन्या-  
वत्समस्तान्स एतेषा यथोक्तानां जायादीनामेकंकमपि न प्राप्नोत्यकृत्स्नोऽसंपूर्णोऽहमित्येव,  
तावदात्मानं मन्यते । पारिशेष्यात्समस्तानेवंतान्संपादयति यदा तदा तस्य कृत्स्नता ।

यदा तु न शक्नोति कृत्स्नतां संपादयितुं तदाऽस्य 'कृत्स्नत्वसंपादनायाऽऽह—  
तस्यो तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः कृत्स्नतेयमेवं भवति । कथम् । अयं कार्यकरणसंघातः  
'प्रविभज्यते तत्र 'मनोनुवृत्ति हीतरत्सर्वं कार्यकरणजातमिति मनः प्रधानत्वादात्मेवाऽऽत्मा ।  
यथा जायादीनां कुटुम्बपतिरात्मैव 'तदनुकारित्वाज्जायादिचतुष्टयस्य । 'एवमि'हापि मन

कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति—तस्मादिति । स यावदित्यादिवाक्यमादाय ध्याद्यच्छे—स एवमिति ।  
पूर्वः सशब्दो 'वाक्यप्रदर्शनायः । द्वितीयस्तु व्याख्यानमन्यपातोत्पत्तिविरोधः । 'अयंसिद्धमर्थमाह—  
पारिशेष्यादिति ।

तस्यो कृत्स्नतेत्येतदवतायं ध्याकरोति—यदेत्यादिना । अकृत्स्नत्वाभिमानिनो विरुद्धं कृत्स्नत्व-  
मितिमाह—कथमिति । विरोधमन्तरेण कात्स्न्यार्थं विभाग दर्शयति—अयमिति । विभागे प्रस्तुते मनसो  
यजमानत्वकल्पनाया निमित्तमाह—तत्रेति । 'उक्तमेव ध्यनक्ति—यथेति । तथा मनसो यजमानत्वकल्प-

कामप्रयुक्त है, अधिष्ठा के द्वारा पहले उसे भय हुआ, फिर काम के वश होकर अकेले रमण न कर पाने  
के कारण रतिसुख अनुभव के लिए उसने स्त्री की इच्छा की, उससे वह मिथुनीभूत हुआ, फिर यह  
सृष्टि हुई—एसा वणन किया जा चुका है । इसलिए इस समय भी इस सृष्टि में विवाह से पूर्व एकाकी  
मनुष्य चाहता है कि मेरी पत्नी हो और सन्तान हो, मेरे पास धन हो और फिर मैं कर्म करूँ । इस  
प्रकार यह पूर्वोक्त अर्थप्रतिपादक वाक्य है । इस प्रकार इच्छा करके स्त्री आदि विषयो को सम्पादन  
करने वाला यह पुरुष जब तक पूर्वोक्त समस्त विषयो में एक-एक को भी प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक  
वह अपने को 'अकृत्स्न' मर्यात् अरूण मानता है । परिणामस्वरूप जब वह इन सब को जुटा लेता है,  
तभी उसकी पूर्णता होती है ।

किन्तु जब वह पूर्णता सम्पादन नहीं कर पाता, तब उसकी पूर्णतासम्पादन में श्रुति इस प्रकार  
बहती है । उस अकृत्स्नत्व के अभिमानों का यह पूणता इस प्रकार होती है । किम प्रकार ? उसका  
यह रूपकरणसंघान विभाग स प्रदर्शित किया जाता है, उसमें अन्य समस्त कार्यकरणसंघात मन के  
अधीन है । मनके उसमें आत्मा क ममान प्रधान होने के कारण वह आत्मा है । जैसे जाया, पुत्र, धन  
व, कर्म चारो के अनुकूल हान के कारण कुटुम्ब का स्वामी जायादिचतुष्टय का आत्मा होता है । उसी

१. विभागेन प्रदर्शयत । २ मनोऽधेनम् । ३ तदनुकूलत्वात् । ४ उपासाप्रवरणे । ५ अनुमानमिति  
—प्रजापतिवर्कभूताज्जननतो दारदिपण्डोऽभिभाष कारणपूर्वकं कार्यत्वादधट्टादिवदित्याकारकम् । ६ प्रतीक-  
स्थानीय । ७ अयंसिद्धमिति — अर्थात् प्रदर्शितव्यतिरेकात् सिद्ध निष्पन्नम्, अर्थम् अन्वयरूपमित्यर्थः । ८  
मनस आत्मत्वम् ।

आत्मा परिकल्पते कृत्स्नतायै । तथा वाग्जाया मनोनुवृत्तित्वसामान्याद्वाचः ॥ वागिति शब्देश्चोदनादिलक्षणो मनसा श्रोत्रद्वारेण गृह्यतेऽवधार्यते प्रयुज्यते चेति मनसो जायेव वाक् ।

ताभ्यां च वाद्मनसोभ्यां जायापतित्स्थानीयोभ्यां प्रसूयते प्राणः 'कर्मोपमिति' प्राणः प्रजेय । तत्र प्राणचेष्टादिलक्षणं कर्म चक्षुष्टवित्तिसाध्यं भवतीति 'चक्षुर्मानुषं वित्तम्' । तद्विधं वित्तं मानुषमितरच्चातो 'विशिन्त्येतरवित्तनिवृत्त्यर्थं मानुषमिति । गवादि हि मनुष्यसंबन्धिवित्तं चक्षुर्ग्राह्यं 'कर्मसाधनं' 'तस्मात्तत्स्थानीयम्' । तेन संबन्ध-

मावदित्यर्थः । वाचि जायात्वकल्पनायां निमित्तमाहु—मन इति । वाचो मनोनुवृत्तिरस्वस्वल्पकथनपुरःसरं स्फोरयति—वागिति ।

प्राणस्य प्रजात्वकल्पनो साधयति—ताभ्यां चेति । कथं पुनश्चक्षुर्मानुषं वित्तमित्युच्यते पशुहिरण्यादि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । आत्मादित्रये सिद्धे सतीति यावत् । आदिपदेन कायचैष्ट्या गृह्यते । मानुषमिति विशेषणस्यायं वस्वं समर्थयते—तद्विधमिति । सप्रति चक्षुषो मानुषवित्तत्वं प्रपञ्चयति—गवादीति । तत्पदपरामृष्टमेवार्थं 'ध्यायन्ते—तेन सवन्धाविति । तस्स्थानीयं मानुषवित्तस्था-

प्रकार उपासनाप्रकरण मे यहाँ भी पूर्णता के लिए 'मन आत्मा है'—ऐसा (दृष्टि की) कल्पना की गई है । तथा (जाया के यजमान के अधीन होने के समान वाक् भी मन के अधीन होने के कारण) वाक् जाया है, क्योंकि वाणी मन का अनुवर्तन करती है, इसलिए स्त्री से उसको तुलना की जाती है । 'वाक्' यह पदार्थ उपदेशात्मकविधिशब्द है, जो श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा मनसे गृहीत, निश्चित एवं प्रयुक्त होता है, इसलिए वाक् मन की जाया के समान है ।

उन पत्नी और पतिस्थानीय वाक् और मन से बाह्यकर्मसम्पादन के लिए प्राण की उत्पत्ति होती है, इसलिए प्राण उनको सन्तान के समान है । वहाँ इन्द्रियचेष्टादिरूप कर्म नेत्रप्राण वित्तसाध्य है, इसलिए नेत्र दर्शनक्रिया के समान मानुषवित्त है । मानुष और अमानुष भेद से वित्त दो प्रकार का होता है, 'मानुषवित्त' ऐसा विशेषण अमानुषवित्त की निवृत्ति के लिए है । क्योंकि गी आदि मनुष्यसम्बन्धीवित्त चक्षु इन्द्रिय से माझातु करने योग्य एवं कर्म का माधन है । इसलिए वह मानुषवित्त स्थानीय है । उनसे सम्बद्ध नेत्र मानुषवित्त है क्योंकि नेत्र से ही मनुष्य गवादि मानुषवित्त को

१ परिकल्पत इति—देहमधिष्ठत्य यो यज्ञ तत्र मनसि यजमानदृष्टिं कार्या यथा जवादीना पञ्चाना मध्ये कुटुम्बपतिपारमं प्रधानं तदनुकारित्वा जायादिमनुष्यस्य तथा वागादीना पञ्चाना मध्ये मनस प्राधाय मनोऽनुकारित्वाद्वागादिमनुष्यस्येत्यर्थः । २ तथा वागिति—जायाया यजमानाधीनत्ववद्वाचो मनोऽधीनत्वमभिप्रेत्याऽऽह—मनोऽनुवृत्तित्वेति । 'य मनसा ध्यायति तद्वाचा न्यतीति' श्रुत । ३ उपदेशात्मकविधिशब्दो वाक्यवार्थः । ४ ताभ्यां चेति—प्राण प्रति वाद्मनसयोर्मातापितृत्वप्रसिद्धि हेतुर्कतुं चेष्टयुक्तम् । ५ प्राण इति—मनसा विषय निश्चिन्त्य तत्र विषये निरुक्तरूपया वाचा तदेव मनोऽतिशयेन चेष्टते सा उभयनिवर्त्या चेष्टाऽत्र प्राणशब्दाय इति बोध्यम् । ६ बाह्यक्रियार्थम् । ७ इन्द्रियचेष्टेत्यर्थः । ८ दर्शनक्रियावच्चक्षु । ९ सत् । १० भवति । ११ वर्यमाणहेतो । १२ वाच । १३ हेतुरूपम् । १४

चक्षुर्मानुषं वित्तम् । चक्षुषा हि यस्मात्मानुषं वित्तं विन्दते गवाद्युपलभत इत्यर्थः । किं पुनरितरद्विती श्रोत्रं देवं देवविषयत्वाद्भिज्ञानस्य । विज्ञानं देवं वित्तं तद्विह श्रोत्रमेव संपत्तिविषयम् । कस्मात्, श्रोत्रेण हि यस्मात्तद्वै वित्तं विज्ञानं शृणोति । अतः श्रोत्राधीनत्वाद्विज्ञानस्य श्रोत्रमेव तद्विति । किं पुनरेतैरात्मादिवित्तान्तरिह निर्वर्त्य कर्मेत्युच्यते—आत्मैवाऽऽत्मेति शरीरमुच्यते । कथं पुनरात्मा कर्मस्थानीयोऽस्य कर्महेतुत्वात् । कथं कर्महेतुत्वम् । आत्मना हि शरीरेण यतः कर्म करोति । तस्याकृत्स्नत्वात् निमानि एव कृत्स्नता संपन्ना । यथा बाह्यजायादिलक्षणैवम् । तस्मात्स एव पाङ्क्तः पञ्चमिनिवृत्तः पाङ्क्तो यज्ञो दर्शनमात्रं निवृत्तोऽकर्मिणोऽपि ।

नीयं तेन मानुषेण वित्तं तेनैवेत्येतत् । संबन्धमेव साधयन्—चक्षुषा हीति । तस्माच्चक्षुर्मानुषं वित्तमिति शेषः ।

आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमुपावसे—किं पुनरिति । तद्व्याचष्टे—देवेति । "तत्र हेतुमाह—कस्मादित्यादिना । यजमानादिनिर्वर्त्य कर्म प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं पुनरित्यादिना । इहेति "संपत्तिपक्षोक्तिः" । शरीरस्य कर्मत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथं पुनरिति । अस्येति यजमानोक्तिं हिंसावर्थां यत इत्यत्रोच्यते । तस्यो कृत्स्नतेर्युक्त्युपसंहरति—तस्येति । उक्तरीत्या कृत्स्नत्वे सिद्धे कलितमाह—तस्मादिति ।

देवता है ।

तो फिर दूसरा अमानुषवित्त क्या है ? 'श्रोत्रं देवम्' अर्थात् उपासना के देवविषयक होने से श्रोत्रं देववित्त है । उपासना देववित्त है, यहाँ उस उपासना को संपत्ति का विषय श्रोत्र ही वह देववित्त है, ऐसा क्यों ? क्योंकि उस उपासनारूप देववित्त को पुरुष श्रोत्र से सुनता है । अतः विज्ञान श्रोत्र के अधीन होने के कारण श्रोत्र ही देववित्त है । किन्तु आत्मा से लेकर वित्तपर्यन्त पाँच साधनों से निष्पन्न होने वाला यहाँ कौन सा कर्म है ? इस पर श्रुति कहती है—आत्मा ही इसका कर्म है, 'आत्मा' शब्द से यहाँ शरीर का ग्रहण हुआ है । आत्मा कर्मस्थानीय क्यों है ? क्योंकि यह यजमानशरीर के कर्म का हेतु है, यह कर्म का हेतु किम प्रकार है ? क्योंकि शरीर के द्वारा ही वागादिष्वेष्टा अन्तःकरणेष्वेष्टादि कर्म करता है । जायादिरूपा बाह्य अपूर्णता के समान उस अपूर्णता के अभिमानी की इस प्रकार कृत्स्नता संपन्न होती है । इस प्रकार कृत्स्नत्व के सिद्ध हो जाने पर यह उपासनारूप आध्यात्मिकयज्ञ पाङ्क्त है अर्थात् पाँच के द्वारा निष्पन्न होने वाला है । बाह्यकर्मशून्य द्वारा भी यह आध्यात्मिक उपासनामयी दृष्टिमात्र से निष्पन्न होता है ।

१ वित्तम् । २ उपसनस्य । ३ तद्वित्त्वादि । तत् देव वित्तम् । इह उपासनद्वयमध्ये । ४ श्रोत्रमेव संपत्तिविषयमिति—तस्यैवोक्तवित्तसंपादनाधिभक्षणत्वादुक्तवित्तत्वेन चिन्तनीयत्वादित्यर्थः । ५ अत इति—श्रोत्रस्य श्रयणद्वारा विज्ञानहेतुत्वात्तस्मिन्प्रध्यात्मविषये देववित्तदृष्टिरित्यर्थः । ६ पञ्चमिनि साधनम् । ७ यजमानशरीरस्य । ८ शरीरेण यत कर्म करोतीति—वागादिष्वेष्टा अन्तःकरणेष्वेष्टाश्च शरीरेणैव करोत्यतः कर्महेतुत्वस्य युक्तैवेत्यर्थः । ९ एव कृत्स्नत्वस्य सिद्धत्वात् । १० उपासनरूप आध्यात्मिकयज्ञः । ११ निवृत्तं अध्यात्ममुपासनमात्रेण सिद्धम् । १२ अकर्मिणः बाह्यकर्मशून्यस्य । १३ तत्र हेतुमाहेति—श्रोत्रस्यैव देववित्तसंपादनविषयत्वे । आकाङ्क्षापूर्वकं हेतुं दर्शयतीत्यर्थः । १४ संपदुपासनापक्ष इत्यर्थः ।

(अथ प्रथमाध्यायस्य पञ्चम ब्राह्मणम्) ~ ~ ~

‘यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽऽजनयत्पिता । एकमस्य  
साधारणम् । द्वे देवानभाजयत् । त्रिण्यात्मनेऽकुसुत । पशुस्य

प्रजापति मे विज्ञान तथा कर्म से जिन सात ग्रन्थों को सृष्टि को है, उनमें से यथादिरूप एक ग्रन्थ इसका साधारण है, यर्थात् यह सभी प्राणियों का आत्म्य है ।—(हुन और प्रवृत्तरूप) दो ग्रन्थ उसने

१। कथं पुनरस्य पञ्चत्वसंपत्तिमात्रेण यज्ञतश्च, उच्यते—यस्माद्वाहोऽपि यज्ञः पशुपुरुषसाम्यः, स च पशुः पुरुषश्च पाङ्क्त एव । यथोक्तमनम्रादिपञ्चत्वयोगात् । तदाह—पाङ्क्तः पशुर्गर्वादिः पाङ्क्तः पुरुषः ‘पशुत्वेऽप्यधिकृतत्वेनास्य विशेषः पुरुषस्येति पृथक्पुरुषग्रहणम् । किं बहुना पाङ्क्तमिदं सर्वं कर्मसाधनं फलं च यदिदं किञ्च यत्किंचिदिवं सर्वमेवं पाङ्क्तं यज्ञमात्मानं यः संपादयति स तदिदं सर्वं जगदात्मत्वेनाऽऽप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

इति गृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अस्मेति दर्शनोक्तिः । पशोः पुरुषस्य च पाङ्क्तत्वं तच्छब्दार्थः । पुरुषस्य ‘पशुत्वा’ विशेषात्पृथक्ग्रहणमपुक्तमित्याहुः प्राङ्ङु—पशुत्वेऽपीति । न केवलं पशुपुरुषयोरेव पाङ्क्तत्वं किं तु ‘सर्वस्येत्याहुः—किं बहुनेति । तस्मादाव्याप्तिरूपं दर्शनस्य यज्ञत्वं पञ्चत्वयोगादविरुद्धमिति ज्ञेयम् । संपत्तिफल इत्यकरोमि—एवमिति । आख्यातार्थं वाच्यमनुबन्धमाहणमुपसंहरति—य एव वेदेति । साध्यं साधनं च पाङ्क्तं सूत्रात्प्रतीतिः ज्ञात्वा ‘तच्छब्दाऽऽत्मत्वेनानुसंधयमानस्य तदामिरेव फलं सत्कृत्युपायादित्यर्थः ॥१७॥

इति गृहदारण्यकभाष्यटीकायां प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

किन्तु पञ्चत्व के संपत्तिमात्र से इस उपासना का यज्ञत्व कैसे सिद्ध होता है ? इस पर कहते हैं—क्योंकि अन्तर यज्ञ के पाङ्क्तत्व होने पर बाह्य यज्ञ भी पशु और पुरुष से साध्य है, और वह पशु और पुरुष भी पूर्वोक्त मन आदि पञ्चत्व के सम्बन्ध से पाङ्क्त हो है । यही बात श्रुतिवाक्य में कही गयी है । गौ आदि पशु पाङ्क्त हैं, पुरुष पाङ्क्त हैं, पाङ्क्तस्वरूप से पशुत्व विशेषता न होने पर भी पुरुष को अधिकारी होने से विशेषता है, इसलिए इसे पृथक् ग्रहण किया है । अधिक क्या ? यह कर्मसाधन और फल सभी पाङ्क्त हैं । ‘यदिदं किञ्च’ यर्थात् जो कुछ भी है, सभी पाङ्क्त है । इस प्रकार जो अपने को ‘मैं पाङ्क्त यज्ञस्वरूप हूँ’ इस प्रकार चिन्तन करता है, साध्यसाधनरूप पाङ्क्त

१. “जीवत कर्मकृतुं त्वल्लक्षणोऽन्यथ ईरित । मृतस्याऽविदुष कर्मफलस्यैव ह्योच्यते ॥ पूज्यजन्मन्पुण्याय कर्मोपास्ती अनारमवित् । जगत् सप्ताक्षरूपेण सृजत्पुनरजन्मनि ॥ चतुर्थब्राह्मणोक्तं यद्यपि जावकमणो । फल तदादि वैपन्यमस्ति जीवेशरूपत ॥ उत्पृष्टज्ञानकर्मम्या वैराज पदमाप्य यत् । जगत् सृजति तत्प्रोक्त चतुर्थब्राह्मणे पुरा ॥ निरुष्टज्ञानकर्मम्या मनुष्यादिषद यत् । स्वभोग्य सृजत यत्तत्पञ्चमेऽस्तिमनुवीर्यत ॥ वृथा सा १-२ ॥ इति ।
- २ उपासनस्य । ३ अनिरास्तत्पश्यस्य पाङ्क्तत्वे कैमुतिकत्वघोनीत्यवयवम् । ४ पाङ्क्तत्वेन पशुत्वाविशेषादि ।
- ५ पाङ्क्तत्वज्ञस्वरूपोऽहमिति चिन्तयति । ६ पाङ्क्तत्वनाविशेषात् । ७ पशुत्वाविशेषादि—तथा च श्रुति । “पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्चेति” अथर्व १५।२ टीकायाम् । ८ सर्वमिति—चत्वारण्यस्य वाञ्छनीति-कत्वेन पाङ्क्तत्वमित्यर्थः । ९ पाङ्क्तं सूत्रम् ।

एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति  
यच्च न । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा ।  
यो वंतामक्षिति वेद । सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवा-  
नपिगच्छति स ऊर्जमपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

देवताओं को विभाग करके दे दिया है । तीन अन्न उमने अपने लिये रखे । दुग्धम्प एक अन्न पशुओं को दिया । उम पशु अन्न में वे सभी प्रतिष्ठित हैं, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं । ये अन्न सदा सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते ? जो कोई इस अन्न के अविनश्वरभाव को जानता है, वह मुन्यस्य प्रतीक के द्वारा अन्न खाता है । वह देवताओं को प्राप्त होता है तथा अमृत का जीवनार्थ आश्रय लेता है । इस विषय में ये मन्त्र हैं ॥१॥

यत्सप्ताह्नानि मेधया । अविद्या प्रस्तुता । तत्राविद्यान्या 'देवतामुपास्तेऽन्योऽसाव-  
न्योऽह्यस्मीति' 'सर्वार्थश्रमामिमान कर्मकृत्यतया' 'नियतो जुहोत्यादिकर्मभिः' 'कामप्रयुक्तो  
देवादीनामुपकुर्वन्सर्वेषां भूतानां' 'लोक इत्युक्तम्' । यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वभूतैरसौ  
'लोको भोज्यत्वेन सृष्टः । एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभिः सर्वाणि भूतानि' 'सर्व

ब्राह्मणान्तरमवतार्य सगतिं वक्तुं वृत्तं वर्तयति—यत्सप्ताह्नानीत्यादिना । तत्रैवतिज्ञानतन्नाह-  
श्लोक्ति । उपास्तिशब्दित भेददर्शनमविद्याकार्यमनेनानूद्य न स वेदेति तद्वैतुरविद्या पूर्णं प्रस्तुतेति  
योजना । अन्यो अयमित्यश्लोक्तमनुवर्तते—सर्वार्थश्रमामिमाने इति । आत्मवेदमत्र आसीदित्यादावुक्त  
स्मारयति—कामप्रयुक्त इति । वृत्तमनूद्योत्तरप्रथमवतारयितुमपेक्षितं पूरयति—यथा चेति । गृहीणो  
अगतश्च परस्पर स्वकर्मोपाजितत्वमेतद्व्यमन्ययाऽन्यमुपकारकत्वायोगादित्यर्थः । ननु सूत्रस्यैव जगत्क-

को आत्मस्वरूप से जानता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूपत्वेन प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

द्वय प्रकार बृहदारण्यक भाष्य के हिन्दीभाषानुवाद में प्रथमाध्याय का  
पुरुषविधानामक चतुर्थ ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

“(प्रजापति ने) विज्ञान (तथा कर्म) से जिन सात अश्वों की सृष्टि की है” इत्यादि मन्त्र से  
सप्ताप्रसञ्जक पञ्चम ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है । यहाँ अविद्या को प्रस्तुत किया गया है । वहाँ  
(पिछले ब्राह्मण में) भवहावित ‘यह देवता अन्य है और मैं अन्य हूँ’ इस भावना से अन्य देवता की  
उपासना करता है । अविद्या के कार्य से विशिष्ट वह वर्णायामाभिमानो पुरुष कर्म की वक्तव्यता के अधीन  
होकर यागादि कर्मों द्वारा देवतादि का उपकार करने के कारण समस्त भूतों का भोग्य है, ऐसा कहा  
जा चुका है । जिस प्रकार एक एक करके सभी मनुष्यों ने अपने कर्मों द्वारा कर्मानुष्ठानों को भोग्यरूप  
से उत्पन्न किया है । उसी प्रकार उस कर्मानुष्ठानों ने यागादि पाङ्क्तकर्मों द्वारा समस्त प्राणियों को

१ अविद्यानिति पदेनाविद्यावैशिष्ट्यमभिधाय तत्कार्यवैशिष्ट्यमभिधायति—सर्वमेति । २ कर्माधीना इति  
यावत् । ३ भोग्य । ४ कर्मानुष्ठाना । ५ कर्मकृत्योपेक्षित । ६ सर्वं चेति—स्वकर्मानाजितस्य  
भोग्यत्वायोगाद्भोक्तृत्वा सर्वं भोज्यमवितमित्यर्थः ।



यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि  
 तपसाऽजनयत्पिता । एकमेस्य साधारणमितीदमेवास्य  
 तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स  
 पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत् । द्वे देवानभाजय-  
 दिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुष्टवति च प्र च  
 जुष्टवत्ययो आहुर्दशपूर्णमासाविति । तस्मान्नेष्टि-  
 याजुकः स्यात् । पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः ।

यह बात प्रसिद्ध है कि पिता ने ज्ञान और कर्म के द्वारा ही मन्वान्न की सृष्टि की । उनमें से एक अन्न उसका साधारण है जोकि यह खाया जाता है, यही इसका साधारण अन्न है । जो इस साधारण अन्न की उपासना करता है, वह पाप से दूर नहीं होता क्योंकि यह अन्न समस्त प्राणियों का मिला जुला है । उस परमेश्वर ने हुत और प्रहुतरूप वा अन्न देवताया का विभाग करके दिया । इसीलिये गृहस्थ पुरुष देवताओं के लिये वहन और बलि भेंट करते हैं । कुछ लोगों ने दश और पूर्णमास को देवताओं के दो अन्न कहे हैं । इसलिये सकाम इष्टिया के यजन में प्रवृत्त न हो । वह दुग्ध नामक एक

यत्सप्तान्नानि यदजनयदितिक्रियाविशेषण मेधया प्रज्ञया 'विज्ञानेन तपसा च  
 'कर्मणा ज्ञानकर्मणी एव हि मेधातपःशब्दवाच्ये तयोः 'प्रकृतत्वान्नेतरे मेधातपसी अप्रक-  
 रणात् । पाङ्क्त हि कर्म जायादिसाधन य एव वेदेति चान्तरमेव ज्ञान प्रकृतम् ।  
 तस्मान्न प्रसिद्धयोर्मेधातपसोराशङ्का कार्या । अतो यानि सप्तान्नानि ज्ञानकर्मण्या जनितवा-  
 'न्पिता तानि प्रकाशयिष्याम इति वाचयशेषः । तत्र मन्त्राणामर्थस्तिरोहितत्वात्प्रायेण

तत्राऽऽद्यमन्त्रभागमावाय व्याचष्टे—यत्सप्तान्नानीति । अजनयदितिक्रियाया विशेषण यदिति  
 पदम् । तथा च 'तद्युक्त पितृत्वादिति शेषः । प्रथार्थधारणशक्तिर्मेधा, कुच्छ्वान्द्रायणादि तप, तं  
 कस्मादत्र न गृह्यते तत्राऽऽह—ज्ञानकर्मणी इति । तयोः प्रकृतत्व प्रकटयति—पाङ्क्त हीति । इतरयो-  
 रप्रकृतत्वं हेतुकृतमनुद्य फलितमाह—तस्मादिनि । ज्ञानकर्मणो प्रकृतत्वमुक्त हेतुमादाय वाच्य पुरयति  
 —अत इति । यत्सप्तान्नानीत्यादिमन्त्रभाग व्याख्याय आह्वयवाच्यमनुदायतात्पर्यमाह—तत्रेति ।

अप्राकरणीक होने से प्रत्यार्थावधारणशक्ति मेधा और कुच्छ्वान्द्रायणादि तप इनके वाच्य नहीं है ।  
 यहाँ 'जायादिसाधन' वाले पाङ्क्तकर्म का, इसका वाद जो इस इस प्रकार जानना है 'इस वाच्य से  
 प्रसिद्ध वाचनिक अर्थ मेधा और तप की आशङ्का नहीं करनी चाहिये । इसलिए ज्ञान और कर्म के द्वारा  
 जिन सात अन्नों को ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ पिता ने उत्पन्न किया, उन्हें हम विस्तारपूर्वक बहेंगे,  
 यह तात्पर्य है । वहाँ वेदो में मन्त्रभाग का छिपा हुआ अर्थ होने का कारण प्रायः उसका समझना



पयो ह्येवाग्नें मनुष्याश्च । पशवश्चोपजीवन्ति तस्मा-  
त्कुमारं जातं घृतं वैवाग्नें प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनु-  
घापयन्त्यथ वत्स जातमाहुरतृणाद इति । तस्मिन्सर्वं  
प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीद<sup>७</sup>  
सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहु  
सवरसरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा  
विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं

अन्न पशुभ्यो यो दिया । अतः मनुष्य और पशु पहले दुग्ध के ही आश्रय जीते हैं । इसीलिये सद्योजात<sup>१</sup>  
वालवको घृत चटाते हैं या स्तन्यपान कराते हैं, इसीसे उत्पन्न हुए बछड़ेको भी तृणभक्षण न करने वाला  
कहा करते हैं । जो प्राणनश्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं, वे सब पशवन्त दुग्ध में ही प्रतिष्ठित  
हैं । अतः एक वष तक दुग्ध से हवन करने वाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है—ऐसा नहीं समझना  
चाहिये, तथ्य तो यह है कि यह जिस दिन दुग्ध से हवन करता है, उसी दिन अपमृत्यु को जीत लेता  
है, एक वर्ष तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती । इस प्रकार की उपासना करने वाला पुरुष देवताओं को

दुर्विज्ञेयो भवतीति तदर्थं व्याख्यानाय ब्राह्मणं प्रवर्तते । तत्र यत्सप्ताध्वानि<sup>२</sup> मेधया तपसा-  
ऽजनयत्पितेत्यस्य कोऽर्थ उच्यते इति<sup>३</sup> 'हिंशब्देनैव व्याचष्टे प्रसिद्धार्थवद्योतकेन । प्रसिद्धो  
ह्यस्य मन्त्रस्यार्थ इत्यर्थः । यदजनयदिति चानुवादस्वरूपेण मन्त्रेण प्रसिद्धार्थैव  
प्रकाशिता । अतो ब्राह्मणं मन्त्राद्भूयं वाऽह—मेधया हि तपसाऽजनयत्पितेति ।

मन्त्रब्राह्मणात्मको ग्रन्थ सप्तम्यर्थः । मेधया हीत्यादिब्राह्मणमाकाङ्क्षापूर्वकमुक्त्यावयति—तत्र यदिति ।  
प्रकृतमन्त्रसमुदाय सप्तम्या परामृश्यते । व्याख्यानमेव सगृह्णाति—प्रसिद्धो हीति । न केवलं हिंशब्दा-  
न्मन्त्रस्य प्रसिद्धार्थत्वं किं तु मन्त्रस्वरूपालोचनायामपि वतिष्यतीत्याहु—यदिति । मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वे  
‘मन्त्रस्यानुगुणत्वं हेतुकृत्य फलितमाहु—अत इति ।

कठिन होता है, अतः उसके अर्थ की व्याख्या के लिए ब्राह्मणभाग प्रवृत्त होता है । उपरोक्त ‘यत्सप्ता-  
ध्वानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता’ इत्यादि मन्त्र का क्या अर्थ है ? प्रसिद्ध अर्थ के द्योतक “हि” इस  
शब्द से (ब्राह्मण) व्याख्या करता है । इस मन्त्र वा अर्थ प्रसिद्ध ही है—ऐसा इसका भाव है । ‘जो उत्पन्न  
किया’ इस अनुवादस्वरूप मन्त्र से इसके अपने प्रसिद्ध अर्थ का प्रकाश होता है । इसलिए ब्राह्मण सशय-  
रहित होकर कहना है—“ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने विज्ञान और कर्म से सृष्टि की ।

१ हिंशब्देनेति—ज्ञानकर्मातिरिक्तमृष्टिहेतुवभावात्सम्यै तत्र हेतुत्वप्रसिद्धेर्मेधया हीत्याद्या श्रुतिस्तेनैव पितु  
स्रष्टृत्वं हिंशब्देन सत्त्वादाहेत्यर्थः । प्रसिद्ध ह्युक्तार्थकमेवातपसोर्बलकारणत्वम् । २ स्वस्य । ३ अत-  
शयेनैव । ४ मन्त्रस्वरूपस्य ।

विद्वान्सर्वं<sup>१</sup> हि देवेभ्योऽन्नाद्यं<sup>२</sup> प्रयच्छति । कस्मात्तानि  
न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति<sup>३</sup> पुरुषो वा अक्षितिः स  
होदमन्नं पुनः पुनर्जनयते । यो वैतामक्षितिं वेदेति  
पुरुषो वा अक्षितिः स होदमेन्नं<sup>४</sup> धिया धिया जनयते  
कर्मभिर्यद्वैतं कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमक्षितिः प्रतीकेनेति  
मुख प्रतीकं मुखेनेत्येतत् । स देवानपिगच्छति स  
ऊर्जंमुपजीवतीति प्रशंसा ॥२॥

सम्पूर्ण भक्ष्य प्रदान करता है । फिर सदा खाये जाने पर भी वे अन्न नष्ट क्या नहीं हाते ? इसका  
एकमात्र यही कारण है कि इसका जनक पुरुष अविनाशी है । अतः वही बारम्बार आवश्यकतानुसार  
उसे उत्पन्न कर देता है । अन्न क इस अविनाशीभाव को जो भी जानता है अर्थात् पुरुष हा अविनाशी  
है, वही इस अन्न को जान एव कम से उत्पन्न कर देता है । यदि वह पुरुष इस उत्पन्न नहीं करता  
तो वह अन्न भक्षण किये जाने पर नष्ट हो जाता । ऐसा जो जानता है वह मुख्य रूप प्रतीक क द्वारा  
अन्न भक्षण करता है । वह देवताओं को प्राप्त होता है और अमृत क आश्रित जाता है । ऐसी फलश्रुति  
प्रशंसा मात्र को लिये है ॥२॥

ननु कथं प्रसिद्धता<sup>१</sup>ऽस्यार्थस्येति, उच्यते—जायादिकर्मान्तानां लोकफलसाधनानां  
पितृत्वं तावत्प्रत्यक्षमेव, अभिहितं च जाया मे स्यादित्यादिना । तत्र च देव वित्त विद्या  
कर्म पुत्रश्च फलसूतानां लोकानां साधनं लब्धत्वं प्रतीत्यभिहितम् । वक्ष्यमाणं च प्रसिद्ध-  
मेव । तस्माद्युक्तं वक्तुं भेधयेत्यादि ।

तत्प्रसिद्धिमुपपादयितुं पृच्छति—नन्विति । साध्यसाधनात्मके जगति पितृत्वमविद्यावतो  
भावि तत्प्रत्यक्षत्वात्प्रसिद्धं मनुभूयते<sup>२</sup> हि जायादि सपादयप्रविद्वानित्याह—उच्यते इति । श्रुत्या च  
प्रागुक्तत्वात्प्रसिद्धमेतदित्याह—अभिहितं चेति । यच्च भेधात्पुत्राभ्यां लब्धत्वं मन्त्रब्राह्मणयोरेव तदपि  
प्रसिद्धमेव विद्याकर्मपुत्राणां साधने लोकफलोत्पत्त्यनुपपत्तेरित्याह—तत्र चेति । पूर्वोक्तैरप्य सप्तम्यर्थः ।  
‘पुत्रैर्लंघाय लोको जग्य इत्यादी वक्ष्यमाणत्वाच्चास्यास्य प्रसिद्धतेत्याह—वक्ष्यमाणं चेति । मन्त्रार्थ-  
स्येत्य प्रसिद्धत्वे मन्त्रस्य प्रसिद्धाद्यविषयं ब्राह्मणधुपपद्ममित्युपसंहरति—तस्मादिति ।

अविद्या से युक्त जगत के जनकरूप से मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ को प्रसिद्धार्थता कैसे है ? इसपर  
कहते हैं—स्त्री से लेकर कर्मान्त लोकरूप फल और माधनो का जनकत्व तो प्रत्यक्ष ही है । यह बात  
मुक्त स्त्री प्राप्त हो इत्यादि श्रुतिवाक्यों से कही गई है । यह भी बतलाया जा चुका है कि देव वित्त,

१ अविद्यावतो जयजनकत्वस्य मन्त्रप्रतिपाद्यत्वात्स्येत्यर्थः । २ लोकरूपफलैति भावः । ३ प्रसिद्धि  
मेवाभिनिधाय—मनुभूयते इति । ४ पितृत्वेनेति शेषः । ५ शृ० उ० १।५।१६ । ६ मन्त्रार्थस्य  
प्रसिद्धत्वात् ।

एषणा हि फलविषया प्रसिद्धं च लोके । एषणा च जायादीधुक्तपेतावाङ्म  
काम इत्यनेन । ब्रह्मविद्याविषये च 'सर्वकल्पात्कामानुपपत्तेः । एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोर्गा  
स्वभावाविकार्या जगत्सृष्ट्यनुत्पत्तमेव भवति ।

स्याचरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात् । विवक्षितस्तु शास्त्रीय एव  
साध्यसाधनभावो ब्रह्मविद्याविधित्तया तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात् । सर्वो<sup>१</sup> ह्ययं 'गमस्त-

प्रकारादन्तरेण मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वमाह—एषणा हीति । फलविषयत्वं तस्याः स्वानुभवसिद्धमिति यत्नं हि शब्दः । तस्या लोकप्रसिद्धत्वेऽपि कथं मन्त्रार्थस्य प्रसिद्धत्वमत आह—एषणा चेति । जायाद्यात्मकस्य कामस्य संसारारम्भकत्वबन्धोक्तोऽपि कामः संसारमारभेत कामत्वविशेषादित्यतिप्रसङ्गमाशङ्क्याऽह—ग्रह्यादिचेति । तस्या विषयो मोक्षः । तस्मिन्प्रद्वितीयत्वाद्वाद्यादिपरिषिन्धित कामापरपर्यायो रागो नावकल्पते । ॥ हि मिथ्याज्ञाननिदानो रागः तस्यैवज्ञानाधिगम्ये मोक्षे संभवति । अथा तु तत्र भवति 'तस्यैवोपाधोनतया संसारविरोधिनी' तन्न संसारानुपकिर्मुक्तावित्यर्थः । शास्त्रीयस्य आपादेः संसारहेतुत्वे कमदि'शास्त्रीयस्य कथं तद्धेतुत्वमित्याशङ्क्याऽह—एतेनेति । अविद्योत्पत्त्य कामस्य संसारहेतुत्वोपपन्ननेनेति यावत् । स्वाभाविकाम्यामविद्याधोनकामप्रयुक्ताभ्यामित्यर्थः ।

इतश्च 'तद्योजगत्सृष्टिप्रयोजकत्वमेष्टव्यमित्याह—स्यावरात्तत्त्वेति । यस्तप्राप्तानीत्यादिमन्त्र-  
पदस्य मेधया होययादिब्राह्मणस्य चात्रोत्पन्नं न तु कदा तात्पर्यायमाह—विवक्षितस्त्विति । 'शास्त्रपरवश-  
स्य 'शास्त्रवशादेव साध्यसाधनभावादवशास्त्रीयाद्यष्टमुक्त्यर्थमवाह तस्यात्र विवक्षितस्यमित्यर्थः । शास्त्रो-  
यस्य साध्यसाधनभावस्य विवक्षितत्वे हेतुमाह—ग्रहेति । 'तदेव प्रपञ्चयति—सर्वो होति । दुःखयतीति

ज्ञान, वरम और पुत्र अपने फलभूत लोको के संप्रत्यक्ष में साधन हैं; (पुत्र से यह लोक जय्य है—)  
वक्ष्यमाण बात भी प्रसिद्ध ही है। इसलिए “भेयगा” इत्यादि कथन ठीक ही है।  
इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय होती है, यह बात लोकव्यवहार से सिद्ध है। ‘एतावान्’

एषणा भी किसी फल के लिए ही होती है, यह बात लोक-अवधार से सिद्ध है। 'एतावान् काम' (इतना मान ही काम है—) इस वाक्य से जाया भावि ही एषणा है यह प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मविद्या का जो विषय है, उसमें सब अद्वैत हो जाने के कारण कामना का होना संभव नहीं है। इससे यह कथन सिद्ध हो जाता है कि अशास्त्रीय एवं स्वाभाविक ज्ञान ब कर्मों के द्वारा समार की सृष्टि होती है।

१ अद्वैतत्वात् । २ भवतीति—नहि सप्ताश्रयस्यो शास्त्रीय एव प्रज्ञातपक्षी विनिश्चित भवतो नियमद्वारापि तयोस्तदेवोपस्थेष्टत्वादिति भावः । ३ वायुकारणत्वं । ४ नन्वेव मुमुक्षाया अश्वत्थेनाधिकार्यभावात्साध- साधने ज्ञानेऽधिकारिण प्रवर्तकस्य तद्विज्ञानार्थं स मुमुक्षायाभिन्नच्छेदित्वादिशास्त्रस्याऽन्यथस्य स्यादित्याशङ्क्याऽह—अत्राह त्विति । पुनश्चो यथोक्तचोदव्यावृत्त्यर्थं । मुमुक्षास्यानीया अद्वैतस्य । अस्मिन्मन्त्रे विवहादीनि प्रीण्यवा- चिवारिविशेषणानि इति न किञ्चिदवयवमिति भावः । ननु कामवृत्त्यर्थात् तत्र ससारजनयदेव अद्वैतात्मनोर्मनं प- रिणामत्वाविशेषोपादित्याशङ्क्याऽह—तत्त्वबोधेति । भावित्यसारखरिविषयत्वज्ञानानुकूलतया ससारविरोधमिति भावः । तयोर्मनं परिणामत्वाविशेषोपपन्नं यथोक्तश्रद्धाया सात्त्विकपरिणामत्वात्ससारखरिविषयत्वमिति भावः । १ तत्त्व- ज्ञानजनकतया । २ मोक्षे रागाऽनभयात् । ३ तिष्ठित्यर्थः । ४ अशास्त्रीयमेवज्ञातपक्षोः । ५ शास्त्रेऽ- ऽन्यन्तश्रद्धावत्तदनुकूलचरणस्येत्यर्थः । १० पुनः । ११ विवक्षितवैराग्यमेव ।

व्यक्तलक्षणः संसारोऽशुद्धोऽनित्यः साध्यसाधनरूपो दुःखोऽविद्याविषय इत्येतस्माद्विरक्तस्य ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्येति ।

तत्राज्ञाना विभागेन 'विनियोग उच्यते—एकमस्य साधारणमिति, मन्त्रपदं तस्य व्याख्यानभेदमेवास्ति तत्साधारणमन्त्रमित्युक्तमस्य भोक्तृसमुदायस्य, किं-तद्यदिमद्यते भुज्यते सर्वे प्राणिमिरहन्त्यहनि तत्साधारणं सर्वभोक्तृत्रयमकल्पयत्पिता सृष्ट्वाऽन्नम् ।

स य एतत्साधारणं सर्वप्राणभृत्यधिकरं भुज्यमानमन्नमुपास्ते तत्परो भवतीत्यर्थः । उपासनं हि नाम तात्पर्यं, दृष्टं लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इत्यादौ । तस्माच्छरीरस्थित्यर्थान्नोपभोगप्रधानो नादृष्टार्थकर्मप्रधान इत्यर्थः । स एवभूतो न पाप्मनोऽधर्माव्यावर्तते न विमुच्यत इत्येतत् । तथाच मन्त्रवर्णः—“मोघमन्नं विन्दते” इत्यादि । स्मृतिरपि—“नाऽऽत्मायं पाचयेदन्नम्” “अप्रदायंभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव

दुःस्तद्धेतुरिति यावत् । प्रकृतमन्त्रब्राह्मणव्याख्यासमाप्ताविति शब्दो विवक्षितार्थप्रदर्शनसमाप्तौ वा । मन्त्रब्राह्मणयोः श्रुत्यर्थाभ्यामर्थमुक्त्वा समनन्तरग्रन्थमवतारयति—तत्रेति । तत्रविधेऽने सृष्टे सतीति यावत् । व्याख्यानमेव विवृणोति—प्रत्येत्यादिना ।

साधारणमन्नमसाधारणोक्तुर्वतो दोष दर्शयति—स य इति । तत्परो भवतीत्युक्तं विवृणोति—उपासनं हीति । ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्रं प्रमाणयति—तथा चेति । मोघं विफलं देवाद्यनुपभोग्यमन्नं यदि ज्ञानदुर्बलो लभते तदा 'स यद्य एव सत्येति साधारणाप्रस्थासाधारणोत्तरणं निन्दितमित्यर्थः । तत्रैव स्मृतीव्वाहरति—स्मृतिरपीति । 'न बुधा घातयेत्पशुम् । न श्वं स्वयमश्नीयाद्विधिवर्जं न 'निर्वपेत्'

प्रशास्त्रीय मेधा श्रीर तप के सृष्टिप्रयोजक होने से स्थावरपयन्त सभी अनिष्टफल, कर्म और विज्ञान से होने वाला है । किन्तु यहाँ साध्यसाधनभाव ही विवक्षित है क्योंकि ब्रह्मविद्या का विधान करने की इच्छा से उसमें वैराग्य बतलाना इष्ट है । यह सभी कार्यकारणरूप ससार दोषयुक्त, अनित्य, साध्यसाधनरूप, दुःखात्मक और अविद्याजन्य है । अतः इससे विरक्त हुए पुरुष के लिए ब्रह्मविद्या का आरम्भ करना चाहिये ।

वहाँ प्र नो का विभागपूर्वक उपकार बतलाया जाता है । एकमस्य साधारणम् यह मन्त्रपद है, जिसका अर्थ है कि 'यही उसका साधारण अन्न है' ऐसा कहा गया है । 'अस्य' अर्थात् इस भोक्तृ-समुदाय का साधारण अन्न है, वह कौन सा है ? 'यदिमद्यते' अर्थात् यह जो कुछ समस्त प्राणियों द्वारा प्रतिदिन खाया जाता है, उसे ज्ञानवर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने अन्न की सृष्टि करके, उसे समस्त भोक्ताओं के निमित्त साधारण अन्न कल्पित कर दिया ।

'स य एतत्' अर्थात् वह जो समस्त प्राणियों का पालन, पोषण और स्थितिकारक एव उनसे

१ सदीप । २ अविद्याजन्य । ३ उपवाग उपकार । ४ तत्रिष्टम् । ५ उपासनस्योक्तायत्वात् । ६ मोघमिति—अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि यद्येदमस्य नार्थमन्नं पुष्यति नो सखायं केवलापो भवति केवलादीति शेषः । ७ सद्यस्तात्पर्याभ्यां लब्धमर्थम् । ८ उत्तामलाभः । ९ निर्वपेदिति—अध्वयुः पवित्रवर्यामनि-होतृहवया ( सन्नेषेदितहवनसाधनीभूतध्रुवादिरूपपात्रविशेषे ) सृष्टिमात्रं ब्रीह्यादिकं निषाय तथा सृष्टं तमुष्टिमात्रं ब्रीह्यादिकं प्रक्षिपति इत्येतत्तन्निर्वापपदव्याच्यम् ।



कस्मात्पुनः पाप्मनो न व्यावर्तते । 'मिश्रं ह्येतत्सर्वेषां हि स्वं तदप्रविभक्तं' तत्प्राणिभिर्भुज्यते । सर्वमोज्यत्वादेव यो मुखे प्रक्षिप्यमाणोऽपि प्राप्तः परस्य पीडाकरो दृश्यते ममेद स्यादिति हि सर्वेषां तत्राऽऽशा प्रतिबद्धा । 'तस्मान्न परमपीडयित्वा प्रसितुमपि शक्यते । "दुष्कृतं हि मनुष्याणामग्नमाश्रित्य तिष्ठते । यो हि यस्याग्नमश्नाति स तस्याश्नाति किंत्विषम्" इत्यादिस्मरणाच्च ।

गृहिणा बन्धदेवाह्वयमन्नं यदहन्त्यहनि निरुप्यत इति केचित् । तन्न, सर्वभोगतृसा-

आकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमवसायं व्याकरोति—कस्मादित्यादिना । सर्वभोज्यत्वं साधयति—यो मुखे इति । परस्य अन्नमार्जारादेरिति यावत् । पीडाकरत्वे हेतुमाह—ममेदमिति । प्रागुक्तदृष्टिफलमाचष्टे—तस्मादिति । साधारणमन्नसाधारणकुर्वाणस्य पापानिमृत्तिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—दुष्कृतं हीति । यदा हि मनुष्याणां दुष्कृतमग्नमाश्रित्य तिष्ठति तदा तदसाधारणकुर्वन्तो महत्तरं पापं भवतीत्यर्थः ।

एकमस्येत्यादिमन्त्राह्वययोः स्वपक्षमुक्त्वा भर्तुं प्रपञ्चपक्षमाह—गृहिणेति । यदन्नं गृहिणा प्रत्यहमग्नौ बन्धदेवाह्वयं निर्वर्त्यते तत्साधारणमिति भर्तुं प्रपञ्चवर्तकमित्यर्थः । साधारणपदानुपपत्तेर्न युक्तमिव व्याह्वयनमिति दूषयति—तन्नेति । बन्धदेवस्य साधारणत्वमप्रामाणिकमित्युक्तमिदानीं

भोजन करता है, वह चोर ही है", "अपनी देह की पुष्टि के लिए अन्न खाने वाले को भ्रूणहत्या करने वाला अपने पाप दे देता है" इत्यादि स्मृतिवाक्य भी इसमें प्रमाण हैं ।

वह पाप से क्यों नहीं छूट पाता ? क्योंकि मनुष्यो द्वारा जो अप्रविभक्त यानी साधारण अन्न खाया जाता है, वह अन्न सर्वप्राणियों के लिए साधारणरूप से है, यानी सभी का घन है । सभी देवधारियों का भोज्य होने के कारण ऐसे अन्न का मुख में दिया हुआ प्राप्त दूसरे को कटकर होने वाला

१ सर्वप्राणिसाधारणम् । २ साधारणम् । ३ प्राप्तमात्रस्यापि परपीडाजनकत्वात् । ४ पीडाकरणदर्शनफलमित्यर्थः । ५ देवादिवञ्चकार्यमग्नौ सम्पाद्यते साध्यत इत्यर्थः ।

याज्जनवानाद मुक्तो भवति विमुखो भवतीति यावत् । प्रमुक्त इति पाठे तु स्वयमेव भोजने प्रकर्षेण मुक्तो भवति न स्वतिथये ददाति स स्तेन इत्युच्यते । विमर्त्यन्त स स्तेन उच्यत इत्यत आह—यावदिति । यावदनुत्सकरो न भवति—दास्त्रवाक्यं तदनुसारिलोकवाक्यं च श्रुतं तद्विरुद्धमनुत्सक्यं सकर प्रचारी यावन्न भवति । तथाच दास्त्रीरित्यादिदुस्त्रियते तावत्स स्तेन एव वक्तुमर्हं । दास्त्रमर्थादाज्जम्पुपणमे तु स भेष्टिवरेष्य एवोच्यतामित्यर्थः । स भ्रूणहा तत्रैवमार्जनानन्तरमनेनाविमिवृत्तकल्प्य संप्रति अभित उभयत उभावन्नाद स्व च दासति धन्योऽग्न्य महागृह्यवर्चस्वीयोऽमध्यमपि मदनं जग्वा पाप्मानाज्जसृष्टस्तिष्ठति अहमप्येवमसादमहिम्ना सपूत सन् स्वसर्माजान्तं प्रविष्टो धन्योऽस्मीति । प्रमुक्तो राजतन् स्तेनश्चोरो यावदनुत्सकद्वय सत्यवादीत्यर्थः । स्वीकृतस्वनिषिद्धाचरण इति यावत्तावद्वाजनि क्षमया हस्तच्छेदादिदण्डदानप्रमुक्तप्रत्यवायभीत्या घनलोमानुरोधादिना वा दण्डार्हमप्यप्रदास्योपेक्षितयति ब्रह्मज्यायकार्षिणं नृपती स्नीयमेनो माष्टि । प्रमुक्त इति पाठे यथोक्तराज्ञोपेक्ष्यमाणोऽप्राप्तिसर्वेव परित्यक्त इति यावत् । "अन्नादे भ्रूणहा माष्टि परतो भार्यापचारिणी । पुरो शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किंत्विषम्" ॥ म० स्म० ८।३।३७। "अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डधारिण्यप्यदण्डयन् । अयशो महदानोति नरकं चैव गच्छति" ॥ म० स्म० ८।१२८ ॥—इत्यादिस्मृतिभ्यः स्तेनो राजाश्वस्य दण्डनीय इति भावः । इति स्मृतिपादत्रयस्यापरा व्याख्या स्वमनसमुप्ये इति ।



यदि हि 'तन्न गृह्यते साधारणशब्देन पित्रासृष्टत्वाविनियुक्तत्वे, तस्य; प्रसज्येया-  
ताम् । 'इष्यते हि तत्सृष्टत्वं तद्विनियुक्तत्वं च सर्वस्यान्नजातस्य । न-च, वैश्वदेवात्यं  
शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वतः पाप्मनोऽविनिवृत्तिर्युक्ता' । न च, तस्य; प्रतिषेधोऽस्ति । न च  
मत्स्यबन्धनादिकर्मवत्स्वभावजुगुप्सितमेतच्छ्रष्टनिर्वर्त्यत्वादकरणे च प्रत्यवायश्रवणादि-  
तरत्र च प्रत्यवायोपपत्तेः । "अहमन्नमन्नमदन्तमधि" इति मन्त्रवर्णात् ।  
हे देवान्माजयदिति मन्त्रपदं ये द्वे अन्ने सृष्ट्वा देवान्माजयत् । के ते द्वे इत्यु-

विपक्षे बोधमाह—यदि हीति । प्रसज्येयेष्ट्वं निराचष्टे—इष्यते हीति । परपक्षे वाक्यशेष-  
विरोधं बोधान्तरमाह—न चेति । 'इयेनादितुल्यत्वं तस्य व्यावर्तयति—न च तस्येति । अनिषिद्धस्यापि  
तस्य स्वभावजुगुप्सितत्वासत्तन्व्याधिनः पापानिवृत्तिरित्याशङ्क्याऽह—न चेति ।

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चंवाहुत हविः ।

इत्यकरणे वैश्वदेवस्य प्रत्यवायश्रवणाच्च तदनुष्ठायिनो न पाप्मलेऽज्ञोऽस्तीत्याह—प्रकरणे चेति ।  
सर्वसाधारणाग्रहे तु तत्परस्य निश्चायचनमुपपद्यते तेन तदेव ग्राह्यमित्याह—इतरनेति । 'तत्रैव  
श्रुत्यन्तरं संभावयति—ग्रहमिति । अयिभ्योऽविभज्यान्नवरत्वा स्वयमेव भुञ्जान नरमहमन्नमेव भक्षयामि  
समनर्थभाज करोमीत्यर्थः ।

मन्त्रान्तरमाद्यामाऽऽकाङ्क्षाद्वारा ब्राह्मणमुत्पाप्य व्याचष्टे—द्वे देवानित्यादिना । हुतप्रहुतयोर्-

ब्राह्मणवाक्य ठीक ही घट जाता है ।

तथा यदि साधारण शब्द से सर्वप्राणिसाधारणान् का ग्रहण नहीं किया जाता, तो "पिता द्वारा  
सृष्टि घोर विनियोग न होने की" उसम प्रसवित हो जायेगी । किन्तु हम यह अभीष्ट है कि वह समस्त  
अन्न की सृष्टि घोर विनियोग करना है । इसके अतिरिक्त वैश्वदेव नामक शास्त्रविहित नर्म करने-  
वाले पुरुष का पापी बना रहना युक्तिसङ्गत नहीं है । तथा वसिष्ठदेव कर्म को करने के लिए शास्त्र  
में कहीं निषेध भी नहीं है । मछली पकड़ने आदि कर्मों के समान यह स्वाभाविक गृहित नहीं है क्योंकि  
यह शिष्ट मनुष्यों द्वारा अनुष्ठेय है । इसके न करने पर प्रत्यवाय होता है—"ऐसा भी मुना गया है ।  
तथा "किन्तु स्वयं अन्न भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करना है ।" इस श्रुतिवाक्य क  
अनुसार वैश्वदेव अन्न से अतिरिक्त अन्नभक्षण करने में ही प्रत्यवाय लगता है ।

द्वे देवान्माजयत् यह श्रुतिवाक्य का पद है अर्थात् जिन दो अन्नो को सृष्टि कर (ज्ञानकर्मा-

- १ सर्वप्राणिसाधारणमन्नम् । २ मुक्तेति—साधारणशब्देन वैश्वदेवान्प्रहृतत्परस्य पाप्मना न आवृत्तिरिति  
वचनविरोधोऽनिरूपितः शास्त्रीयवर्णानुष्ठानात् पापस्यस्यैव मुक्तत्वादिति हतुं मनसिदृश्योक्तं शास्त्राक्तमिति । न  
च वैश्वदेवाख्य कर्म केवलं किंचिदेव पाप निवर्तयनं सर्वम् । अतः स्तोत्रपापव्यतिरिक्तं वाक्यमिति वाच्यम् ।  
श्रुतहानिरधुनिकल्पनाऽप्युक्ता स्यात् । तदुक्तं वार्तिके—अल्पीयं पापहानिश्च नापि शब्दात्प्रतीयते । न च  
पाप्मान् इत्यस्मादधुना न च गृह्यते ॥ ३१ ॥ इति । ३ शिष्टानुष्ठेयत्वात् । ४ वैश्वदेवातिरिक्तम् । ५  
साधारणशब्देन सर्वप्राणिभिरुपभोग्यमाना नस्त्यपरिग्रहे । ६ मनु ज्येनादिवर्णानुष्ठानवद्वैश्वदेवकर्मनुष्ठानात् पाप्मनो  
न व्यावर्तते तन्न वाक्योपविरोध इत्याशङ्क्याऽह—इयेनादीति । ७ वैश्वदेवाख्यमण । ८ स्वशरीर-  
स्थित्यर्थमन्नोपभोगप्रधानम् । ९ निश्चायवत्स्वराख्येन । १० साधारणान्ग्रहे ।



च्येते—हुतं च प्रहुतं च । हुतमित्यग्नी हवनम् । प्रहुतं हुत्वा बलिहरणम् । यस्माद्दे एते अग्ने हुतप्रहुते देवानभाजयत्पिता । तस्मादेतह्यपि गृहिणः काले देवेभ्यो जुह्वति देवेभ्य इदमन्निमस्मानिर्दोषमन्नमिति मनवाना जुह्वति प्रजुह्वति हुत्वा बलिहरणं च कुर्वत इत्यर्थः । अथो अप्यन्य आहुते अग्ने पित्रा देवेभ्यः प्रस्ते न हुतप्रहुते किं तर्हि दर्शपूर्णमासाविति । द्वित्वथ्यदणो विशेषादत्यन्तप्रसिद्धत्वाच्च हुतप्रहुते इति प्रथमः पक्षः ।

यद्यपि द्वित्वं हुतप्रहुतयोः सम्भवति तथाऽपि श्रौतयोरेव तु दर्शपूर्णमासयोर्देवान्नास्ते प्रसिद्धतरं मन्त्रप्रकाशितत्वात् । गुरुप्रधानप्राप्तौ च प्रधाने प्रथमतराऽवगतिः । दर्शपूर्ण-

मास्रत्वे संप्रतिहतमनुष्ठानमनुकूलयति—यस्मादिति । पश्चान्तरमुपपत्त्यर्थं व्याकरोति—अथो इति । यदि दर्शपूर्णमासो देवान्ने कथं तर्हि हुतप्रहुते इति पक्षस्य प्राप्त्यस्तत्राऽह—द्वित्वेति ।

तर्हि द्वे देवानिति श्रुतद्वित्वस्य हुतप्रहुतयोरपि संभवाच्च प्रथमपक्षस्य पूर्वपक्षव्यमत आह—यद्यपीति । प्रसिद्धतरत्वे हेतुमाह—मन्त्रेति । ‘मन्त्रये जुष्टं निर्वपाम्यग्निमिदं हविर्जुषत’ इत्यादि-मन्त्रेषु दर्शपूर्णमासयोर्देवाणां प्रत्ययस्य ‘प्रनिपत्यदिति’ यावत् । इतश्च दर्शपूर्णमासयोरेव देवान्नास्त्विति वक्तुं सामान्यन्यायमाह—गुणेति । गुणप्रधानयोरेकत्र साधारणशब्दात्प्राप्ती सत्यां प्रथमतरा प्रधाने भवत्यवगतिर्गौणमुत्पद्योर्मुक्ते कार्यसंप्रत्यय इति न्यायादित्यर्थः । अस्त्येव ‘प्रस्तुते किं जातं तवाह—

धिकारी क्षेत्रज्ञ) पिता मे देवताभ्यो को वितरित किया । ये दो कौन से हैं? इस पर कहते हैं—हुत और प्रहुत । अग्नि मे होम करना “हुत” है, होम करके देवताभ्यो को बलि प्रदान करना “प्रहुत” है । क्योंकि क्षेत्रज्ञ ने “हुत और प्रहुत” ये दो अन्न देवताभ्यो मे वितरित किए थे, इसलिए इस समय भी गृहस्थी देवताभ्यो के निमित्त अग्नि मे हवन करते है अर्थात् ‘यह अन्न हमारे द्वारा देवताभ्यो के उद्देश्य से दिया जाता है’ ऐसी धारणा करते हुए हवन करते है । ‘प्रजुह्वति च’ अर्थात् हवन करके देवताभ्यो के लिए बलि प्रदान करते है । तथा किन्ही दूसरो का ऐसा भी मत है कि पिता के द्वारा देवताभ्यो को वितरित किए हुए दो अन्न “हुत और प्रहुत” नही है, तो कौन से है? दर्श और पूर्णमास । “द्वे देवान्” इस श्रुतिवाक्य मे द्वित्वथ्यवण मे सगानता होने से एव अत्यन्त प्रसिद्ध होने से वे दो अन्न “हुत और प्रहुत” है—ऐसा प्रथम पक्ष है ।

यद्यपि हुत और प्रहुत मे द्वित्व सम्भव है, तो भी इनकी अपेक्षा श्रुतिसम्मत दर्श और पूर्णमास का ही ‘देवताभ्यो वा दो अन्नरूप मे होना’ अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि श्रुतिमन्त्रो मे इसी का प्रकाश हुआ है । इसके अतिरिक्त गौण और प्रधान कार्यों की एकत्र उपस्थिति होने पर पहले प्रधान अर्थ की प्राप्ति होगी, हुत और प्रहुत की अपेक्षा दर्श और पूर्णमास की प्रधानता है । अतः “द्वे देवानभाजयत्”

१ हवनान्तर देवेभ्यो बलिप्रदानम् । २ देवानुद्दिश्याग्नौ हवनं कुर्वते । ३ द्वित्वेति—द्वे देवानित्यत्र द्वित्वमात्र श्रुत तच्च हुतप्रहुतयो दर्शपूर्णमासयोरेकविशिष्टमत पूर्वपक्षप्रवृत्तिं बल्यन्तप्रसिद्धत्वाच्चेति । साधारणशब्देन सर्वान्नित्यं प्रधानमिन्नाद्यत्वेन स्थातुमिन्नान्तर्भावात् तदनन्तरं द्वे देवानिति देवान्नयोक्तत्वात् तयो स्मार्तत्वं हुतप्रहुतात्मना स्यादिति चकारार्थं । ४ तर्हीति—उक्तरीत्या प्रथमपक्षस्य प्राप्त्येव सतीत्यर्थः । ५ निर्वपामीति—अग्निमुद्दिश्याग्निस्वामिकं द्रव्यविशेषमाग्नेयप्रावविशेषे प्रतिपामि स्थापयामीति यावत् । ६ अनुपत जुपतमित्यर्थः । ७ निश्चितत्वात् । ८ कार्यं । ९ देवान्ने ।

मासयोश्च प्राधान्यं द्रुतप्रवृत्तापेक्षया । तस्मात्तयोरेव ग्रहणं युक्तं द्वे देवानभाजपदिति ।

यस्माद्देवायमेते पित्रा प्रयत्नं दशपूर्णमासाख्ये अन्नेऽतस्मात्तयोर्देवार्थत्वाविद्याताय  
नेष्टियाणक इष्टियजनशीलः । इष्टिशब्देन किल काम्या इष्टयः 'शातपथीयं प्रसिद्धिस्त-  
च्छीत्यप्रत्ययप्रयोगात्काश्चेष्टियजनप्रधानो न स्यादित्यर्थः ।

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति यत्पशुभ्य एकं प्रायच्छत्पिता किं पुनस्तदन्नं तत्पयः ।  
कथं पुनरवगम्यते पशवोऽस्यान्नस्य स्वामिन इत्यत आह—पयो ह्यग्रे प्रथमं यस्माभ्य-

दशपूर्णमासयोश्चेति । तयोर्निरपेक्षश्रुतिदृष्टतया 'सापेक्षस्मृतिमिदं हुताद्यपेक्षया प्राधान्यं सिद्धं तथा च  
प्रधानयोस्तयोरितरयोश्च गुणयोरेकत्र' प्राप्तो प्रधानयोरेव द्वे देवानिति मन्त्रेण प्रहो युक्तमनित्यर्थः ।

दशपूर्णमासयोर्देवाप्रत्ये समनस्तरनियेषवाक्यमनुकूलयति—यस्मादिति । इष्टियजनशीलो न  
स्यादिति सबन्धः । ननु तद्यजनशीलत्वाभावे कुतो दशपूर्णमासयोर्देवार्थत्वं न हि तावद्विपश्यन् तदर्थ-  
वित्पाशङ्क्याऽह—इष्टिशब्देनेति । किं पुनरस्मिन्वाक्ये काम्येष्टिविषयत्वमिष्टिशब्दस्येत्यत्र नियामकं 'तत्र  
किलशब्दसूचितां 'पाठकप्रसिद्धिमाह—शातपथीति । काम्येष्टीनामनुष्ठाननियेयं 'स्वर्गकामवाक्यविरोधः  
स्यादित्पाशङ्क्याऽह—ताच्छीत्येति । तत्र विहितस्योक्तप्रत्ययस्यात्र प्रयोगात्काम्येष्टियजन'प्रधानत्व-  
मिह निधिष्यते "तत्तु" द्वे प्रधानयोर्दशपूर्णमासयोरवश्यानुष्ठेयत्वसिद्धयर्थं न तु ताः स्वतो निधिष्यन्ते  
तत्र स्वर्गकामवाक्यविरोधोऽस्तीत्यर्थः ।

पश्वन्नविषयं मन्त्रपदमादाय अन्नपूर्वकं तदर्थं कथयति—पशुभ्य इति । पशूना पयोऽन्नमित्येत-  
दुपपादयितुं पृच्छति—कथं पुनरिति । पयो हीति प्रतीकमुपादाय व्याकरोति—अय इति । 'पशवो  
द्विपादभ्रतुपादभ्र' इति श्रुतिमाधिरस्य मनुष्याश्चेत्युक्तम् । उचितं होत्यत्र शिष्यस्तस्मादर्थं यस्मादि-

इस वाक्य से दश और पूर्णमास का ग्रहण करना उचित है ।

क्योंकि ये दश और पूर्णमाससंज्ञक अन्न क्षेत्रज्ञ ने देवताओं के लिए रचे हैं, "तस्मात्" अर्थात्  
उनकी देवार्थता का विघात न करने के लिए "नेष्टियाणुक" अर्थात् इष्टि यजनशील नहीं होना  
चाहिये । "इष्टि" शब्द से यहाँ दशपूर्णमासादि काम्य-इष्टियाँ समझनी चाहिये । ऐसा शातपथब्राह्मण  
से सिद्ध होता है । "इष्टियाणुक" इस पद में ताच्छीत्य अर्थ में 'उकञ्' प्रत्यय के प्रयोग होने से  
"प्रधानतया सकाम मजो का यजन आत्मार्यत्वेन देवार्थत्वं व्याहृति से नहीं करना चाहिये" यह इसका  
सावार्थ है ।

"पशुभ्य एक प्रायच्छदिति" यहाँ ज्ञानकर्माधिकारी क्षेत्रज्ञ ने पशुओं के लिए जो अन्न दिया  
था, वह अन्न कौनसा है ? वह दुग्ध है । किन्तु पशुओं को इस अन्न का स्वामी कैसे जाना जाता है ?  
—इस का समाधान करते हैं । क्योंकि 'अग्रे' अर्थात् प्रारम्भ में मनुष्य और पशु दूध पीकर ही जीवन

- १ दशपूर्णमास । २ शातपथीनि—इष्टिशब्द प्राय काम्येष्टिविषय इतीयं शातपथीप्रतिष्ठित्यर्थः । ३  
सकामहृतस्वात्मार्यत्वेन द्वावर्गस्वव्याहृतनिर्दिष्टोप । ४ जन्मानन्तरम् । ५ मापेक्षेति—श्रुति-विषयः ।  
स्मृतिस्त्वग्रामाण्ये श्रुतिविषयेने न श्रुतिरित्यर्थः । ६ देवान्तरं । ७ अग्नि-यजन वनमण्डितो तो  
दशपूर्णमासी । ८ इष्टिशब्दस्य काम्यप्रत्ययः । ९ तत्राग्राह्यत्वस्यैव पाठ्यनीत्यर्थः । १० स्वर्गकामो  
दशपूर्णमासाम्ना यजेतेति । ११ परत्वम् । १२ निषेधनम् । १३ न तु कामप्रधानयो ।



यज्ञाग्रे जातकर्मादौ घृतमुपजीवन्ति यच्चेतरे पय एव 'तत्सर्वथाऽपि पय एवोपजीवन्ति' । घृतस्यापि पयोविकारत्वात्पयस्त्वमेव । कस्मात्पुनः सप्तमं सत्पश्वन्नं चतुर्थत्वेन व्याख्यायते । 'कर्मसाधनत्वात् । कर्म हि पयःसाधनाश्रयमग्निहोत्रादि । तच्च कर्म साधनं 'वित्साध्यं' दक्ष्यमाणस्याग्नत्रयस्य साध्यस्य । यथा दर्शपूर्णमासौ पूर्वोक्तावन्ने । अतः 'कर्मपक्षत्वात्कर्मणा सह 'पिण्डीकृत्योपदेशः ।

साधनत्वादिशेषादर्थसंबन्धादानन्तर्यमकारणमिति च । व्याख्यानप्रतिपत्तिसौकर्यञ्च । सुखं हि नैरन्तर्येण व्याख्यातुं शक्यन्तेऽङ्गानि व्याख्यातानि च सुखं प्रतीयन्ते ।

ननु "येषामग्रे घृतोपजीवितमुपलभ्यते पयस्ते नोपजीवन्ति घृतपयसोर्भेदादतः" पश्वन्नत्वं पयसो भागासिद्धमत आह—यच्चेति । ननु घृतमुपजीवन्तोऽपि पय एवोपजीवन्तीत्युक्तं तद्धूदस्योक्तत्वात्त्राऽऽह—घृतस्यापीति । मन्त्रपाठक्रममतिक्रम्य पश्वन्ने व्याख्याते प्रत्यवतिष्ठते—कस्मादिति । द्वे देवानभाजयदिति व्याख्याते साधने साधनत्वाविशेषात्पयोऽपि बुद्धिस्थमित्यर्थक्रममाश्रित्य परिहरति—कर्मणि । तदेव स्पष्टयति—कर्म हीति । यद्यपि पयोऽपि साधनमाश्रित्य कर्म प्रवृत्तं तथाऽपि दर्शपूर्णमासानन्तर्यं कथं पयसः सिध्यति तत्राऽऽह—तच्चेति । वित्तेन पयसा साध्यं कर्मान्नत्रयस्य साधनमित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । पूर्वोक्ते दर्शपूर्णमासौ द्वे देवान्ने दक्ष्यमाणस्याग्नत्रयस्य यथा साधनं तथा पयसोऽप्यग्निहोत्रादिद्वारा तत्साधनत्वात्कर्मकोटिनिविष्टत्वात्तद्व्याख्यानानन्तर्यं पयोव्याख्यानस्य युक्तमित्यर्थः ।

पाठक्रमस्तर्ह कर्ममित्याशङ्क्यार्थक्रमेण तद्व्याख्यानमभिप्रेत्याऽह—साधनत्वेति । अत्रानन्तर्यं पाठक्रमः । प्रकारणत्वमविवक्षितत्वम् । पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्सेनेतरस्य व्याख्यत्वमित्येतत्प्रथमे" तत्राग्रे स्थितमित्यभिप्रेत्याऽह—इति चेति । पश्वन्नस्य चतुर्थत्वेन व्याख्याने हेत्वन्तरमाह—व्याख्यानेति । व्याख्यानसौकर्यं साधयति—सुख हीति । प्रतिपत्तिसौकर्यं प्रकटयति—व्याख्यातानीति । चत्वारि साधनानि त्रीणि साध्यानीति विभज्योक्ते बवतुधोत्रोः सौकर्येण धोर्भवति ततश्च पाठक्रमातिक्रमः श्रेयानित्यर्थः ।

क्योकि दूध का विकार होने से घृण भी दूधरूप ही है । किन्तु पशु अन्न सातवां होने पर भी यहाँ (आहुणवाक्य मे) चतुर्थरूप से क्यों कहा गया है ? क्योंकि दुग्धकर्म का साधनभूत है । अग्निहोत्रादिकर्म दुग्धरूप साधन के ही आश्रित है, तथा वह कर्मरूप साधन आगे है कहे जाने वाले साध्यरूप तीन अन्नो का पय माध्य होना सुनिश्चित है, जिस प्रकार दर्श और पूर्णमासरूप पूर्वप्रतिपादित दो अन्न हैं । इसलिए (दूध के अन्नत्रयसाधन होने से) कर्म के अन्न पाती होने से कर्म के भाष मिलाकर उसका उपदेश किया गया है ।

१. घृतत्वेन पयस्त्वेन च । २. उपमुञ्जते । ३. पयस इति शेषः । ४. स्पष्टम् । ५. पय साध्यम् । ६. अत इति—पयसोर्भेदादिकर्मद्वारा दक्ष्यमाणान्नत्रयसाधनत्वादित्यर्थः । ७. कर्म-त पाठितत्वात् । ८. मेलयित्वा । ९. साधनात्मकानि । १०. द्विपदम् । ११. घृतोपजीवितुं पय उपजीवित्वाभावात् । १२. प्रथमे तत्रे—जैमिनीय "अर्थाच्च" १५।१२। इति सूत्रे । तत्र एवोक्ते "अग्निहोत्र जुहोतीति यवाधू" पचतीति च । क्रमः पाठादर्थतो या पाठात्सर्वत्र दर्शनात् । होमद्रव्यसमुत्पत्त्यै पूर्वपावोऽवगम्यते । यवाग्वेति श्रुता होमद्रव्यता-ज्योर्गन्त प्रमः" ॥ इति ।

तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेत्यस्य कोऽयं इत्युच्यते—तस्मिन्पञ्चने  
पयसि सर्वमध्यात्माधिभूताधिदैवतक्षरणं कृत्स्नं जगत्प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति प्राणचेष्टा-  
वद्यच्च न स्यावरं शलादि । तत्र हिशब्देनैव प्रसिद्धावद्योतकेन व्याख्यातम्—

कथं पयोद्वयस्य सर्वप्रतिष्ठात्वम् । कारणत्वोपपत्तेः । कारणत्वं चाग्निहोत्रादि-  
कर्मसमवायित्वम्\* अग्निहोत्राद्याहुतिविपरिणामात्मकं च जगत्कृत्स्नमिति श्रुतिस्मृतिवादाः\*

पञ्चस्य तर्थाधिष्ठानस्वविषयं मन्त्रमवतार्यं प्रश्नपूर्वकं तदीयं ब्राह्मणं व्याचष्टे—तस्मिन्नित्या-  
दिना । मन्त्राद्भेदो ब्राह्मणे न प्रतिभातोत्पाशङ्कुचाऽऽह—तत्रेति । पयसि होति ब्राह्मणे हिशब्दस्य  
प्रसिद्धावद्योतकत्वमस्ति । तेन च हेतुना हिशब्देन तस्मिन्नित्यादिकं मन्त्रपदं व्याख्यातमिति योजना ।

मन्त्रार्थस्य लोकप्रसिद्धयभावात् प्रसिद्धावद्योतिना हिशब्देन व्याख्यानं युक्तमिति शङ्कुने—  
कथमिति । कार्यं कारणे प्रतिष्ठितमिति न्यायेन षड्विकीं प्रसिद्धिवादाय समाधत्ते—कारणत्वेति ।  
पयसो द्वयव्ययमाश्रयः कुतः सयं जगत्कारणत्वमित्याशङ्कुचाऽऽह—कारणत्वं चेति । तत्समवायित्वेऽपि  
कुतो जगत्कारणतेत्याशङ्कुचाऽऽह—अग्निहोत्रादीति । 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्ष-  
माविशतः' इत्यादयः श्रुतिवादा एव जगत्कारणत्वादिदिक्रमेणाग्निहोत्राहुत्योर्भाकारप्रसिद्धिं दर्शयन्ति ।

“अग्नीं प्रास्ताऽऽहुनिः सम्यगवित्यमुपतिष्ठते ।

आवित्याह्नायते वृष्टिबुध्देरग्नं ततः प्रजाः”

साधन मे समानता हुने के कारण इसका उनसे, अर्थ का सम्बन्ध होने के कारण पाठक्रम मे  
मे अनन्तय हुने से अर्थक्रम मे कोई अन्तर नहीं आ सकता । इस प्रकार का व्याख्यान अर्थावबोध के  
लिए सरल पड़ता है । साधनात्मक अग्ना को व्याख्या निरन्तर प्रनायास की जा सकती है और इस  
प्रकार व्याख्या होने पर सुगमता से उसके अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।

“जो प्राणनक्रिया करता है और जो नहीं करता है, वह यह सभी उसमे प्रतिष्ठित है” इस  
श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है ? इस पर बतलाया जाता है—‘तस्मिन्’ अर्थात् पञ्चन्नरूप दूध मे ‘सयंन्’  
अर्थात् अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवात्मक समस्त जगत् प्रतिष्ठित है । ‘यच्च प्राणिति’ अर्थात् जो  
प्राणचेष्टा से युक्त है, न कि पर्वतादि की तरह जड़ है । श्रुतिवाक्य मे ‘हि’ शब्द प्रसिद्धि की लक्षित  
करता है, उससे इसकी व्याख्या की गई है ।

१. जलनामि । २. आविशत इत्यन्तरम् । 'ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वति वायुं सभिष मरीचीरेव घुस्नामा-  
हुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामत इत्याद्येवमेव पूर्ववद्विदं तर्पयतस्ते तत आबर्हते इमां पवित्र्य तपयित्वा  
पुरुषमाविशतस्तत स्त्रियमाविश्य ताम् प्रत्युत्पायी भवतीति विशेष । अर्बन्ते छान्दोग्यभाष्ये (५.४.१) द्रष्टव्य ॥  
३. आदिना पुरुषयोगित्वे । ४. अद्याहुतेरेव तत्तदात्मना परिणामो विवक्षितो द्रष्टव्य ।

अग्निहोत्राद्याहुतिपरिणामात्मकं च जगत्कृत्स्नमिति । ननु सवस्य जगतोऽग्निहोत्राद्याहुतपरिणामत्वेऽपि पय परि-  
णामत्वाभावात्तत्र पयः स सर्वजगत्कारणत्वमिति चेन्नाग्निहोत्राद्याहुतिमाश्रयः पयोऽप्येवमात्तया च वातिके—  
“आहुतिं पय एव स्यादाज्यं वा पय एव वा । पय एताऽऽहुतिं सर्वमित्येतच्च श्रूयते ॥ अथैवाऽऽज्यवाहुतिर्यज्ञे  
यद्विदं सर्वरूपकम् । पशुश्रवाण्याज्येदेवैतत्करीर्योत्पापि चागमः ॥ आज्याभिषातस्कारात्तद्वर्धयेव पयो इति ।  
पयस्येव जगत्कृत्स्नमग्निहोत्रे प्रतिष्ठितम् ॥ ते वा एते इति तथा परिणामोऽस्ति जगत् । अग्निहोत्राऽहुतेः

शतशो ध्यवस्थिताः । अतो युक्तमेव हिशब्देन व्याख्यानम् ।

यत्तद्ब्राह्मणान्तरेष्वेवमाहुः—सर्वत्सरं पयसा जुह्वदप्य पुनर्मृत्युं जयतीति ।  
सर्वत्सरेण किल त्रीणि पण्डितशतान्याहुतीनां सप्त च शतानि विंशतिश्चेति 'याजुष्मती-

इत्यादि स्मृतिवादा । पयसि होत्यादि ब्राह्मणमुपसहरति—अत इति । पयसः सर्वजगदापा-  
रत्वस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वादिनि यावत् ।

सर्वं पयसि प्रतिष्ठितमिति विधित्सित'दर्शनस्तुत्ये' शास्त्रान्तरीयमत निन्दितुं द्वादशमिति—  
यत्तदिति । न वेद्यत्वेन यमया मृत्युजय किं तु दर्शनसहितेनेति दर्शयितुमग्निहोत्राहुतिषु संप्रदाय कथ-  
यति—सर्वत्सरेणेति । उक्ताहुतिसरयायां सर्वत्सरावच्छिन्नायामग्निहोत्रादिना संप्रतिपत्त्यर्थं किलेष्टमृत्युत्तम ।  
ननु प्रत्यहं सायं प्रातश्चेत्प्रागुती द्वे दिक्षेते एत्कथम'हुतीनां पृथक्पृथक् त्रीणि शतानि सप्तत्सरेण  
भयन्ति तत्राऽऽह—सप्त चेति । 'प्रत्येकमहोत्राद्यच्छिन्नाहुतिप्रयोगाणामेव'स्मिन्सर्वत्सरे पूर्वास्ता सरया  
'तत्रैव प्रयोगार्थानां विंशत्यधिका सप्तशतत्वा सत्येति सिद्धमित्यर्थः । आहुतीनां संख्यामुपस्थाप्य तासु  
याजुष्मतीनामिष्टकानां दृष्टिमाह—याजुष्मतीतीति । तासामपि पृथक्पृथक् त्रीणि शतानि सत्यया

किन्तु दूधरूपद्रव्य से सब की प्रतिष्ठा किस प्रकार है ? क्योंकि कार्य कारण से प्रतिष्ठित है,  
ऐसा सर्वत्र सिद्ध है । (दूध के द्रव-द्रव्यमात्र होने से उसका सर्वजगत्कारणत्व कैसे सिद्ध हुआ ?) अग्नि-  
होत्रादिकर्म से सम्बन्ध होना ही उसका कारणत्व है, अग्निहोत्रादि की आहुतियों का विपरीतात्मक  
ही सारा जगत है, इस विषय में सैकड़ों श्रुति-स्मृतिवचन प्रमाण है । इसलिए 'हि' शब्द से उसकी  
व्याख्या करना उचित ही है ।

दूसरे ब्राह्मणग्रन्थों में जो इसप्रकार कहा गया है कि एक वर्ष पर्यन्त दूध से हवन करने वाला  
पुरुष अन्नमृत्यु को जीत लेता है, सो यहाँ सर्वत्सर से तीन सौ साठ अथवा सात सौ बीस आहुतियाँ इष्ट

१ यमसर्वाचमी । २ उपासनत्यय । ३ मृत्युय इति—न दर्शनान्तरनिन्दा तनिपेक्षार्था किन्तु प्रस्तुत-  
दर्शनस्तुत्यर्थं न हि निन्दा निन्द्य निन्दितुमपि विषयस्तुत्य इति न्यायादिति भावः । विषये स्तोतुम् । ४  
अनुवदति । ५ प्रत्येनाहा प्रत्यर्थः । ६ तत्रैवति—सर्वत्सरावच्छिन्नाहुतिमाह इत्यर्थः । अत्र श्रुति 'तस्य ह वा  
एतस्याग्निहोत्रस्य सप्त च शतानि विंशतिश्च सर्वत्सरे सायमाहुतयः सप्त चैव शतानि विंशतिश्च सर्वत्सरे  
प्रातराहुतयः' इति ।

साक्षाच्छ्रुतावेव स्मरितमिति । ११ १५-१६ ॥ यदाज्य पयो वाऽऽहुतिमय तस्मै पय एव क्वादिनि योजना ।  
सर्वाहुते पयस्त्व श्रुत्या निरादर्यति—पय एवति । आहुत्यात्मकमाज्यादि सर्वं पय एवत्येतद्गम्यते । घृताहुति  
वा पय आहुति वा अभयन्तेत्यस्य एवति श्रुतिमानादित्यर्थः ॥ तत्रैव श्रुत्यन्तरप्राहणनि । अथराश्वो यज्ञारम्भार्थः ।  
आज्याहुतेस्तावत्पयस्त्व तद्विकारत्वात् यच्च यज्ञ स्वरूपक चरपुरोडाशाद्यात्मक हविर्यदच पशुरेतस्मैमाज्यमेवा-  
भिप्रायस्त्वरारात्त्वोति पुरयो न हि चर्वाद्याज्यानिगधारित होम्य पयश्चाऽऽज्यमिति सर्वस्य पयस्त्वमित्यागमशास-  
नमित्यर्थः । अपि चेति पूर्वश्रुत्या समुच्चयोज्या श्रुत्युच्यते ॥ अत्यर्थमुपसहरति—आज्यति । तथापि कथं  
सर्वस्य पयसि प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—पयसीति ॥ अग्निहोत्रे यत्तु पया हृत्य तस्मिन्पूर्वात्मके सर्वं जगत्प्रतिष्ठि-  
तमिति प्रतिशतेष्वै प्रमाणमाह—ते वा इति । सर्वमपि जगत्पयसि स्थितमित्यस्यानुसारेण ते वा एते आहुती हुते  
उत्क्रामतस्ते अतस्त्वमाविशत इत्यादिश्रुतावग्निहोत्राहुते पयोक्षपाया परिणामोऽप्येव जगदिति साक्षादीरितमिति  
भोजना ॥

‘रिष्टका अभिसंपद्यमानाः संवत्सरस्य चाहोरात्राणि । संवत्सरर्नाम प्रजापतिमाप्नुवन्ति ।  
एयं कृत्वा सवत्सरं जुह्वदपजयति पुनर्मृत्युमितः प्रेत्य देवेषु संभूतः पुनर्न म्रियत  
इत्यर्थः ।

इत्येयं ब्राह्मणवादा आहुनं तथा विद्यान् तथा द्रष्टव्यम् । यदहरेव जुहोति तदहः  
पुनर्मृत्युमपजयति न संवत्सराभ्यासमपेक्षत ‘एवं विद्वान्सन् । यदुषतं पयसि हीवं सर्वं  
प्रतिष्ठितं पयश्चाहुतिविपरिणामात्मकत्वात्सर्वस्येति । तदेकेनैवाह्ना जगदात्मत्वं प्रतिपद्यते ।

‘भवन्ति तयाच प्रत्यामाहुतीरभिनिपद्यमानाः संख्यासामान्येन याजुष्मतीरिष्टकाश्चाहमेदित्यर्थः ।  
आहुतिमयीनामिष्टकानां संख्यासामान्येन याजुष्मतीरिष्टकाः संख्यासामान्येन दृष्टिमन्याचष्टे—संवत्सरस्येति ।  
तान्यपि पश्यन्निपद्यमानां त्रीणि क्षणानि प्रविष्टानि ‘तयाच तेषु यद्योक्तेरिष्टकादृष्टिः श्लिष्टेयर्थः ।  
चित्प्रेक्षणी, संवत्सरात्मप्रजापतिदृष्टिमाह—संवत्सरमिति । यः संवत्सरः प्रजापतिस्तं चित्पमनि  
विद्वांसः संपादयन्ति । ‘अहोरात्रेष्टकाद्वारा तयोः संख्यासामान्यादित्यर्थः ।

‘दृष्टिमनूद्य कलं दधंयति—एवमिति । उक्तसंख्यासामान्येनाग्निहोत्राहुतीरन्यवयवभूतया-  
जुष्मतीसंज्ञकेष्टकाः संपाद्य तद्वरेणाऽऽहुतीर्घ्याश्चाहुतिमयीश्चेष्टकाः संवत्सरावयवाहोरात्राणि तेनैव  
संपाद्य ‘पुरुषमाहीस्यसंख्यासामान्येन तन्नाडीस्तान्येवाहोरात्राण्यापाद्य सद्रूपेणाऽऽहुतीरिष्टका नाडी-  
आनुसंधातो नाड्यहोरात्रयाजुष्मतीद्वारा पुरुषसंवत्सरचित्यानां समत्वमापाद्याहमग्निः संवत्सरात्मा  
प्रजापतिरेवेति ‘ध्यायन्निहोत्रं पयसा सवत्सरं जुह्वद्विद्यया सहितहोमवशात्प्रजापतिं संवत्सरात्मकं  
प्राप्य मृत्युमपजयतीत्यर्थः ।

एकीयमतमुपसंहृत्य तन्निष्ठापूर्वकं मत्तान्तरमाह—इत्येवमित्यादिना । एवं विद्वानियुवतं ध्यत्वी  
करोति—यदुषतमिति । तत्तयैव विद्वानेकाहोरात्रावच्छिन्नाहुतिमात्रेण जगद्रूपं प्रजापतिं प्राप्य मृत्युमपज-

हैं । और वे सनत्सर के दिन-रात यज्ञसम्बन्धी ( पववमृत्युषडविशेष ) इष्टका रूप होकर स्थित हैं ।  
उम सवत्सररूप चित्याग्नि प्रजापति को वे प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार वी भावना करके एक वर्ष पर्यन्त हवन करने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है ।  
यहां से जाकर देवयोनि में जन्म लेकर पुनः अमरत्वप्राप्ति करता है, यह भावार्थ है ।

इस प्रकार शास्त्रान्तर्ग ब्राह्मणवाक्य कहते हैं कि ‘न तथा विद्यात्’ अर्थात् ऐसा नहीं समझना  
चाहिये । क्योंकि मनुष्य जिस दिन भी वृष से आहुति देकर हवन करता है, उसी दिन से पुनर्मृत्यु को  
जीत लेता है; इसके लिए एक वर्ष तक अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं है । इस प्रकार जानकर यानी

१. पववमृत्युषडविशेषान् । २. कथं तर्हीत्यत आह—यदहरेवेति । ३. एवमिति—पयसीद सर्वं प्रतिष्ठित-  
मित्युक्तप्रकारेण पयस्यतर्हि त विश्वमिति विद्वान्सन्नित्यर्थः । ४. भवन्तीति—‘तयत्योऽग्नेर्याजुष्मत्य इष्टका’  
इति ध्युते । ५. इष्टकाहोरात्रयो संख्यासामान्ये च । ६. अहोरात्रेति—संवत्सराहोरात्रवत् चित्याग्नीष्टकयो-  
रवयवावयविभाजदित्यभिप्रायः । ७. देहानिमानि साधकस्य एवो नाड्यवश्च देहपारम्योदभेदे तद्विभागे  
न च पूर्वोक्तसंख्यावस्यो भवन्तीत्यभिप्रेत्याह—पुरुषेति । ‘त्रिणीत पष्टिष्ठानि त्रिणीतस्तानि सप्ताविशतिष्ठानि  
भवन्तीति’ ध्युते । ८. ध्यायन्निहोमकाले ध्यायन्नित्यर्थः ।

तदुच्यतेऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा विद्वान्छरीरेण वियुज्य सर्वात्मा भवति न पुनर्मरणाय परिच्छिन्नं शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ।

कः पुनर्हंतुः सर्वात्माप्त्या मृत्युमपजयतीति । उच्यते—सर्वं समस्तं हि यस्माद्देवेभ्यः सर्वेभ्योऽन्नाद्यमन्नमेव तदाद्यं च सायंप्रातराहुतिप्रक्षेपेण प्रयच्छति । तद्युक्तं 'सर्वमाहुतिमयमात्मानं कृत्वा सर्वदेवान्नरूपेण सर्वदेवैरेकात्मभाव गत्वा सर्वदेवमयो भूत्वा पुनर्न भ्रियत इति । अथेतदप्युक्तं ब्राह्मणेन—ब्रह्म च स्वयंभु तपोऽतप्यत तदेक्षत न च तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहं भूतेष्व्वात्मानं जुह्वानि भूतानि चाऽऽत्मनीति तत्सर्वेषु भूतेष्व्वात्मानं हुत्वा भूतानि चाऽऽत्मनि सर्वेषां भूयाना श्रेष्ठं स्वाराज्यमाधिपत्यं पश्येदिति ।

यतीत्याह—तदेकेनेति । उच्यतेऽर्थं श्रुतिमयतायं व्याचष्टे—तदुच्यत इति ।

सर्वं होत्यादिहेतुवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्पाप्य व्याकरोति—क पुनरित्यादिना । यथोक्तवशं वशादेक्येवाऽऽहुत्या मृत्युमपजयतीत्यत्र ब्राह्मणान्तरं सवादयति—अथेति । यथा सशस्तरमित्याद्युक्तं 'तथा यदहरेवेत्याद्यपि ब्राह्मणान्तरे सूचितमित्यर्थः । ब्रह्म हिरण्यगर्भभावी जीव स्वयंभु परस्यैव तवात्मनाऽवस्थानात्तपोऽतप्यत कर्मान्वतिष्ठत् । यत्कृतं तव नित्यमिनि न्यायेन कमनिन्वाप्रकारमाह—तदेक्षतेति । कर्मसहायभूतामुपासनामुपदिशति—हन्तेति । उपासनामनूय समुच्चयफन कथयति—तत्सर्वेष्विति । श्रेष्ठत्वेऽपि राजकुमारवदस्वातन्त्र्यमाशङ्क्याऽऽह—स्वाराज्यमिति । 'अधिष्ठाय पालयितृत्वाधिपत्यम् ।

जो ऊपर कहा है कि दूध में ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है क्योंकि यह सब कुछ दूध की आहुतियों का परिणाम है, विद्वान् पुरुष एक ही दिन आहुति प्रदान करने से जगत् के आत्मा को प्राप्त हो जाता है । इसी बात को श्रुति प्रतिपादित करती है, "पुनर्मृत्युम्" यानी दूसरी बार मरना समाप्त कर देता है, मरकर वह विद्वान् तत्काल ही शरीर से वियुक्त हो सर्वात्मस्वरूप हो जाता है, फिर मरने के लिए परिच्छिन्न शरीर को ग्रहण नहीं करता ।

निन्तु किस कारण से वह सर्वात्मभावप्राप्ति के द्वारा मृत्यु को जीत लेता है ? इसका समाधान किया जाता है । हि अर्थात् क्योंकि 'अन्नाद्यम्' यानी सायं प्रातः आहुतिप्रदान के द्वारा सम्पूर्ण अन्न और आद्य 'देवेभ्य' यानी समस्त देवताओं को देता है । इसलिए सर्व जगत् अपने को आहुतिमय करके सम्पूर्ण देवताओं के अन्नरूप में समस्त देवताओं के साथ एकात्मभाव को प्राप्त होकर वह सबदेवमय होकर पुनर्मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहना ठीक ही है । ब्राह्मणान्तर में ऐसा भी सवाद है कि स्वयम्भु ब्रह्मा ने तपस्वरूप वम का अनुष्ठान किया । उसने विचारा कि निश्चय ही तप करने से नित्यत्व-लाम नहीं हाता । अच्छा हो कि मैं अपने को भूतों में और भूतों को अपने में देखूँ । अतः उसने समस्त भूतों में अपने को और अपने में समस्त भूतों को देखकर समस्तभूतों का अष्टत्व, स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया ।

- १ प्रतिज्ञायामित्यर्थः । २ प्रक्षेपेति—पथमो जगदात्मया दशनात्तदाहुत्या अन्नाद्यरूपं सर्वं जगद्देवेभ्यः प्रयच्छत्यात्मना गतं आत्मनोऽपि जगदन्तर्गतात्पान्तिवादित्यर्थः । ३ जगत् । ४ भूतान्मनोरेक्यं पर्यायीत्यर्थः । ५ भाष्यस्याप्यशब्दार्थोऽयं तथेति । ६ सर्वं स्वाश्रितं कृत्वत्यर्थः ।



कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति । यदा पित्राऽन्नानि सृष्ट्वा सप्त पृथक्पृथग्भो-  
वत्सृज्यः प्रत्तानि तदा प्रभृत्येव तैर्भोवत्भिरद्यमानानि । तन्निमित्तत्वात्तेषां स्थितेः । सर्वदा  
नैरन्तर्येण । कृतक्षयोपपत्तेश्च युक्तत्वेष्टां क्षयः । न च तानि क्षीयमाणानि जगतोऽविभ्रष्ट-  
रूपेणावावस्थानदशनात् । भवितव्यं चाक्षयकारणेन । तस्मात्कस्मात्पुनस्तानि न क्षीयन्त  
इति प्रश्नः ।

तस्येवं प्रतिवचनम्—पुरुषो वा अक्षितिर्यथाऽसौ<sup>१</sup> पूर्वमन्नानां कृष्टाऽसौत्पिता  
'मेधया जापादिसंबन्धेन च पादकृतकमंशा भोक्ता च तथा येभ्यो वत्ताग्यन्नानि तैऽपि  
तेषामन्नानां भोक्तारोऽपि सन्तः पितर एव मेधया तेषां जनयन्ति ताग्यन्नानि ।

पश्वने व्याख्याते प्रश्नस्य मन्त्रप्रबन्धादस्ते—वस्मादिति । ननु चत्वार्यन्नानि व्याख्यातानि  
श्रीणि व्याचिह्नयित्तानि तेषां व्याख्यातेषु वस्मादित्यादिप्रश्नः कस्मादित्यादिशङ्क्य साधनेष्वस्तेषु तावद्या-  
नामपि तेषामर्थवृत्तत्वमस्तीत्यभिप्रेत्य प्रश्नऽवृत्तिं मन्वानो व्याचष्टे—यदेति । सर्ववैयस्य व्याख्या  
नैरन्तर्येणेति । अन्नानां रूढा भोवत्भिरद्यमानाये हेतुमाह—तन्निमित्तत्वादिति । भोक्तृणां स्थितेऽन्न-  
निमित्तत्वात्तैः सदाऽद्यमानानि तानि यदपूर्वगुणसुलवद्भूदन्ति क्षीणानीत्यर्थः । किञ्च ज्ञानकर्मफलत्वाद्-  
न्नानां याकृतकं तवनिष्पत्तिमिति ध्यायेन क्षयः सम्भवतीत्याह—वृत्तेन । अतु सहि तेषां भयो नेत्याह—  
न चेति । भवतु सहि 'स्वभावादेव सप्तान्नात्मकस्य जगतोऽसौणस्य नेत्याह—भवितव्य चेति । स्वभाव-  
बाहस्या'तिप्रतङ्गित्वादित्यर्थः । प्रश्न निगमयति—तस्मादिति ।

प्रतिवचनमावाप व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । तेषां पितृत्वे हेतुमाह—मेधयेति । भोगकालेऽपि  
विहितप्रतिपिठज्ञानकर्मसंभवात्प्रवाहरूपेणाग्राह्य संभवतीत्यर्थः । 'नर प्रनिज्ञाभागमुपावायाकराणि

"फिर सदा खाये जाने पर भी वे अन्न नष्ट क्यों नहीं होते ? इस श्रुतिवाक्य की व्याख्या की  
जाती है । जब क्षेत्रज्ञ के द्वारा अन्न की सृष्टि करके सातों अन्न अलग-अलग भोक्ताओं की बंटी गये थे,  
तभी से लेकर वे 'सर्वदा' अर्थात् निरन्तर उन भोक्ताओं द्वारा खाये जा रहे हैं, क्योंकि उन अन्नो के  
कारण ही उनकी सत्ता है । उपपन्न वस्तु का क्षय होना सिद्ध ही है, अतः उनका भी क्षय होना युक्ति-  
संगत है । किन्तु वे क्षीयमान नहीं हैं क्योंकि ससार अविनश्यत्वरूप में स्थित ब्रह्म पड़ता है । इसलिए  
उसके विनश्यत्स्वभाव वाला होने का कोई न कोई कारणान्तर होना चाहिये । इसलिए वे क्षीण क्यों  
नहीं होते ? यह प्रश्न है ।

उसका उत्तर इस प्रकार है कि पुरुष अविनश्यत्स्वभाव वाला है जिस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ  
में ज्ञानवर्माधिष्ठित यह क्षेत्रज्ञ पिता उपासना और जायादि के सम्बन्ध से होने वाले पादकृतकमं द्वारा  
अन्नो का रचयिता एवं भोक्ता था, उसी प्रकार अन्नग्रहीता भी उन अन्नो का भोक्ता होते हुए भी  
उनके पिता ही हैं, क्योंकि वे भी उपासना और कर्म के द्वारा उन अन्नो को उत्पन्न करते हैं । इसी  
(भोक्ता के पितृत्व-उपपादन करने) से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष, जो अन्नो का भोक्ता है,  
वह 'अक्षिति' अर्थात् अविनश्यत्व का हेतु है । उसका अक्षितित्व किसलिए है ? इस पर कहा जाता है,

१ अविनश्यत्वरूपेत्यर्थः । २ क्षेत्रज्ञी ज्ञानकर्माधिष्ठित । ३ सर्गादौ । ४ उपासनया । ५ कर्मणा ।  
६ कारणमन्तरैः । ७ सर्व सर्वत्र स्वादित्यतिप्रसङ्ग । ८ हेतुप्रतिज्ञाभागायामध्ये ।

'तदेत'दनिधीयते पुरयो ये योऽन्नानां भोक्ता सोऽक्षितिरक्षयहेतुः । कथमस्याक्षितित्वमित्युच्यते—स हि यस्मादिदं भुज्यमानं सप्तविधं 'कार्यकररक्षण' क्रियाफलात्मकं पुनः पुनर्भूयो भूयो जनयत उत्पादयति धिया धिया तत्तत्कालनाविग्या तथा तथा प्रज्ञया कर्ममिश्र चाङ्मनःकाय'चेष्टितैर्यद्यदि ह यद्येतत्सप्तविधमन्नमुक्तं क्षणमात्रमपि न कुर्यात्प्रज्ञया कर्ममिश्र ततो विच्छिद्येत भुज्यमानत्वात्सातत्येन क्षीयेत 'ह' । 'तस्माद्यववायं पुरुषो भोक्ताऽन्नानां नैरन्तर्येण यथाप्रज्ञं यथाकर्म च करोत्यपि । तस्मात्पुरयोऽक्षितिः सातत्येन कर्तृत्वात् । 'तस्माद्भुज्यमानान्यप्यन्नानि न क्षीयन्त इत्यर्थः ।

अतः प्रज्ञाक्रियालक्षणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः साध्यसाधनलक्षणः क्रियाफलात्मकः

व्याचष्टे—तदेतदिति । हेतुभागमुत्थाप्य विभजते—वयमित्यादिना । 'तस्मात्सर्वक्षयः सम्भवति 'प्रवाहात्मनेति शेषः । उक्तहेतुं स्वतिरेकद्वारोपपादयितुं यद्वैतदित्यादि वाक्यं तद्व्याचष्टे—यदिति । अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध हेतुं निगमयति—तस्मादिति । तथा यथाप्रज्ञमिति पठितव्यम् । साध्यं निगमयति—तस्मादिति । अस्यहेतोः सिद्धे कलितमाह—तस्माद्भुज्यमानानोति ।

धिया धियेत्यादिभूतेः स हीदमित्यत्रोक्तं परिहारं प्रपञ्चयन्त्याः सप्तविधमन्नस्य कार्यत्वात्प्रतिक्षणध्वंसित्वेऽपि पुनः पुनः क्रियमाणत्वात्प्रवाहात्मना तबबलं मन्दा पदवन्तीत्यस्मिन्नर्थे तात्पर्यमाह—अत इति । 'प्रज्ञाक्रियाभ्यां हेतुभ्यां लक्ष्यते व्यावर्त्यते निष्पाद्यते यः प्रबन्धः समुदायस्तदादृष्टतदात्मकः सर्वो लोकश्चेतनाचेतनात्मको द्वैतप्रपञ्चः साध्यत्वेन साधनत्वेन च वर्तमानो ज्ञानकर्मफलभूतः क्षण-

क्योंकि वह 'इदम्' अर्थात् साधे जाने वाले स्थूलसूक्ष्म एव साध्यसाधनरूप सात प्रकार के अन्ना को 'पुन पुन' यानी बार-बार 'जनयते' अर्थात् उत्पन्न करता है 'धिया धिया' अर्थात् तत्तत्काल में होने वाली तत्तद्वृद्धि द्वारा 'कर्मभि' अर्थात् वाणी, मन और शरीर की चेष्टाओं से उत्पन्न कर देता है । यदि वह उपर्युक्त सप्तविध अन्न को उपासना और कर्म के द्वारा क्षणमात्र भी उत्पन्न न करे, तो निरन्तर खाये जाने के कारण वह 'क्षीयेत ह' नष्ट ही हो जाय । इसलिए (कर्तृत्व और भोक्तृत्व का एक दूसरे से सम्बन्ध होने के कारण) जैसे वह पुरुष अन्ना का निरन्तर भाक्ता है, वैसे ही अपनी प्रज्ञा और कर्म के अनुसार उन्हे उत्पन्न भी करता है । अतः सदा-सर्वदा वर्ता होने के कारण पुरुष अविनाशी है । अतः ( भक्षयहेतुके होने से ) निरन्तर उपभोग करने पर भी वह अन्न नष्ट नहीं होते हैं, यह इसका अर्थ है ।

- १ उपपादितम् । २ भोक्तु पितृत्वम् । ३ स्थूलसूक्ष्मरूपम् । ४ साध्यसाधनरूपम् । ५ चेष्टितै-  
रिति—विमतोऽन्नभोक्ता अन्नास्यहेतु तद्भूतकालेऽपि सातत्येन तज्जनकत्वात् मप्रतिपन्नयदित्यवयव, यत्र भोक्तृत्वे  
सति तज्जनकत्वाभाव तत्र तदक्षयत्वाभाव इति व्यतिरेकः । ६ एव । ७ कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्मध्ये बद्धत्वात् ।  
८ भक्षयहेतोः सत्त्वात् । ९ अनामानाद्यत्वात् । १० तस्मादिति—आस्थीयासास्थीयज्ञानकर्मसमूहेनावि-  
दुष पुरुषस्य भोगावस्थाधामनि सर्वान्नसम्पत्त्वसम्भावित्यर्थः । ११ प्रवाहात्वेनेति—तथाहि उपाजितज्ञान-  
धर्मज्ञो मुखादिसाक्षात्काराख्य पञ्च तत्त्व स्मृतज्ञानोपविषयकरागाद्युत्पादक तत्पुन धुमाधुमे कारयति ते च  
वर्ततेरि फल जनयत इति प्रवाहरूपेणेत्यर्थः । १२ ज्ञाननर्म्भ्याम् ।

संहतानेकप्राणिफर्मवासनासंतानावष्टब्धत्वात्क्षणिकोऽशुद्धोऽसारो नदीस्रोतः प्रदीपसंतान-  
कल्पः कदलीस्तम्भवदसारः फेनमायामरीच्यम्भ-स्वप्नाविसमस्तदात्मगतदृष्टीनो भविकीर्य-  
माणो नित्यः सारवानिव लक्ष्यते । तदेतद्वैराग्यायमुच्यते—‘धिया धिया जनयते  
कर्मनिर्पद्वैतश्च कुर्यात्क्षोपेत हेति । विरक्तानां ह्यस्माद्ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्या चतुर्यप्रमुखेने-  
(रो)ति ।

यो वंतामक्षितिं वेदेति बक्ष्यमाणान्यपि त्रीण्यभ्रान्यस्मिन्नवसरे व्याख्यातान्येवेति  
कृत्वा तेषां यायात्म्यविज्ञानफलमुपसंह्रियते—यो वंतामक्षितिमक्षयहेतुं यथोक्तं वेद

कोऽपि नित्य इव लक्ष्यते । तद्य हेतु —सहतेति । सहतानां मित्र सहायत्वेन स्थितानामनेकेषां प्राणिना-  
मनन्तानि कर्माणि वासनाश्च तत्सतानेनादृष्टत्वाद्बृहद्वैकृतत्वादिति यावत् । प्रातीतिफनेव ससारस्य  
स्यैर्यं न तात्त्विकमिति वक्तुं विशिनष्टि—नदीति । असारोऽयं सारवद्भूतोत्यत्र दृष्टान्तमाह—कदलीति ।  
अशुद्धोऽपि शुद्धबद्धातीत्यत्रोवाहरणमाह—यायेत्यादिना । अनेकोवाहरण ससारस्यानेकरूपत्वघोत-  
नार्यम् । केषां पुनरेव समारोऽप्यथा भावीत्यपेक्षया “ससाराय परानृशामिति न्यायेनाऽऽह—तदामेति ।  
क्षितिमिति प्रतिक्षणप्रध्वंसि जगदिति श्रुत्योच्यते तत्राऽऽह—तवेतदिति । वैराग्यमपि कुत्रोपपुज्यते  
तत्राऽऽह—विरक्तानां हेति । इति वैराग्यमर्थवदिति शेषः ।  
पुरुषोऽन्ननामक्षयहेतुरित्युपपाद्य “तज्ज्ञानमनूद्य तत्फलमाह—यो वंतामित्यादिना । यथोक्तमनु-

मतः (प्रश्नो के अक्षय होने के कारण) प्रज्ञा और कर्म से लक्षित समुदाय पर ब्राह्म साध्य-  
साधनलक्षण एव त्रियाफलात्मक यह समस्त जगत् क्षणिक, अशुद्ध, सारविहीन, नदी के प्रवाह और  
प्रदीप की ज्योति के समान (चञ्चल) कदलीस्तम्भ की तरह असार, भ्रूतदृष्ट, जल की फेन व स्वप्न  
की तरह असत्य होकर भी, जिनकी दृष्टि ससार के स्वरूप में आसक्त है, उन बहिर्मुखी जीवों को  
अविशीर्यमाण, नित्य और सारयुक्त सा दिखायी पड़ता है, क्योंकि समष्टिरूप से अनेक प्राणियों के  
अनन्त कर्म और उसकी वासना की परम्परा से सम्बद्ध हो सुस्थिर जान पड़ता है । यथोक्त जगत से  
वैराग्य के लिए श्रुति ऐसा बहती है—“तत्तत्काल मे होने वाली तत्तदबुद्धि वाणी, मन और शरीर  
को चेष्टाओं से उत्पन्न कर देता है । वह उत्पन्न न करे तो नष्ट ही हो जाय” इत्यादि । जो इस  
जगत् के प्रति रागद्वेष है, उन्हीं के लिए बृहदारण्यक के चौथे अध्याय की (बृहदारण्यकोपनिषद् के  
द्वितीय अध्याय की ब्रह्मविद्या प्रारम्भ करनी है ।

“जो इसे अविनाशी जानता है” इस श्रुतिवाक्य से आगे कहे जाने वाले तीन अंशों की इस  
प्रसंग में व्याख्या कर दी गई है ऐसा समझकर उनके यायात्म्यविज्ञान के फल को प्रदर्शित किया

१ कामादिदुष्ट । २ स्रोत इव । ३ प्रदीपसंतान इव च । ४ ससारस्वरूपगतदृष्ट्याम् । ५ अविशी-  
र्यमाण । ६ यथोक्त जगत् । ७ विरक्तानामिति—न हि जगति रागवता मोक्षामेता दृष्टेति भावः । ८  
चतुर्धाव्याप्तेनत्वर्थः । चतुर्थैव च बृहदारण्यकपेक्षया उपनिषदपेक्षया च द्वितीयत्वम् । ९ साधनभूतान्ते व्याख्याते  
साध्यभूताग्रमप्यर्थाद्व्याख्यातमेवेति कृत्वा मध्ये फलवचनमिति ध्येयम् । १० प्रदर्श्यते । ११ तदुक्तं वातिके-  
‘अपामागतत्वेनायं निरुद्धफलदो भवः । प्रत्यगृहा विमोक्षायेत्यदि’ निषादी ब्रह्मम् ॥ १४२७॥ १२ पुरप-  
निष्ठाप्राक्षयहेतुत्वज्ञानम् ।

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुता-  
यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति  
'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पे  
विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्होर्मोरित्येतत्सर्वं

उस पिता ने तीन अन्न अपने लिये बनाया अर्थात् मन, वाणी और प्राण इन्हे प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रखा । मेरा मन वही अन्य था, अतः मैं देख न सका । मेरा मन अन्यथा था, इसीलिये मैं सुन न सका । मनुष्य को इस उचित से यही निश्चय होता है, वह मन से ही देखता है और मन से

पुरुषो वा अक्षितिः स होदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्वंदं कुर्यात्कीयेत हेति ।  
सोऽन्नमस्ति प्रतीकेनेत्यस्यार्थ उच्यते—मुखं मुख्यत्वं प्राधान्यमित्येतत् । 'प्राधान्येनैवान्नाना  
पितुः पुरुषस्याक्षितित्वं यो वेद सोऽन्नमस्ति' नान्नं प्रति गुणभूतः सन्ययाऽज्ञो न तथा  
विद्वानन्नानामात्मभूतो भोक्तृव भवति न भोज्यतामापद्यते । स देवानपिगच्छति स ऊर्ज-  
मुपजीवति देवानपिगच्छति देवात्मभाव प्रतिपद्यत ऊर्जममृत चोपजीवतीति' यदुषते' सा'  
प्रशंसा 'नापूर्वार्थोऽन्योऽस्ति ॥ २ ॥

वदिति—पुरुष इति । कलविषयं मन्त्रपदमुपादाय तदीय ब्राह्मणमवतार्य व्याकरोति—सोऽन्नमित्यादिना ।  
यथोक्तोपासनवतो यथोक्तं फलम् । प्राधान्येनैव सोऽन्नमस्तीति सवन्धः । विबुधोऽन्नं प्रति गुणत्वाभावे  
हेतुमाह—अन्नानामिति । उक्तमर्थं सगृह्णाति—भोक्तृवेति । 'प्रशस्तिरिदमे 'प्रपश्यति—स देवानित्या-  
दिना ॥ २ ॥

जाता है । जो भी इस 'अक्षितिम्' अर्थात् उपरोक्त ग्रन्थ व हेतु को, कि "पुरुष ही अविनाशी है,  
वही तत्तत्काल में होने वाली तत्तदवृद्धि और यमों से इस अन्न को उत्पन्न कर देता है, यदि वह  
उत्पन्न न करे तो विलकुल क्षीण ही हो जाय—ऐसा जानता है (वह प्रतीक के द्वारा अन्न को खाता है)  
'सोऽन्नमस्ति प्रतीकेनेति इस श्रुतिवाक्य का अर्थ कहा जाता है । 'मुखम्' मुख्य या प्रधान का नाम  
है । जो अन्नो के स्रष्टा को अविनाशी जानता है वह मृत्युवृत्ति से अन्न का भक्षण करता है,  
गोणवृत्ति से नहीं करता है । जिस प्रकार अनात्मवित अन्नो का अनात्मभूत होता है, वैसे विद्वान् नहीं  
होता । वह भाक्ता ही रहता है, भोज्यता को प्राप्त नहीं होता । "स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुप-  
जीवति" इस श्रुतिवाक्य में 'देवानपिगच्छति' यानी देवात्मभाव को प्राप्त होता है, 'ऊर्जम्' अर्थात् अमृत

१ मनसा ह्येवेति—अत्र मनस एव ज्ञानमात्र प्रत्यसाधारणकारणत्वेन कारणत्व विवक्षितं न तु नैयायिकानामिव  
साधारणकारणत्वम् । चतुःपदीन्द्रियाणां तु तत्तद्व्यतिरिक्तमात्रम् । अन्यत्रमना अभूवमित्यादिनेव साधारणकारणत्व-  
साधेर्षेण पुनर्मनसा ह्येवेत्याद्युक्तं रिति ध्येयम् । २ मुख्यवृत्त्या । ३ नान प्रतीनि—अन्न प्रति गुणत्व तदर्थं  
देव्यानुभवः । तद्भोज्यत्व वा अधिकाशने हि अन्नेन मुज्यते पुमान् रोषोत्पादद्वारेति प्रसिद्धम् । ४ मन्त्रेण ।  
५ फलम् । ६ उपास्ते । ७ नापूर्वति—सोऽन्नमस्तीत्यनेन देवभावादे सिद्धेपूर्वार्थान्नाभाद्रियास्तुतिरेवेत्यर्थः ।  
८ उपास्ते । ९, मन्त्रार्थं वचयति ।

मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजा-  
नाति यः कश्च शब्दो वागेव सा'। 'एषा ह्यन्तर्मायत्तंषा  
हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्ये-  
तत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो  
मनोर्मयः प्राणमयः ॥३॥

ही सुनता है। काम, सकल्प, सशय, आस्तिक्य, बुद्धि, यद्धा, तद्विपरीत अथद्धा, धारणशक्ति, अघृति, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही है। इसीलिए पृष्ठभाग म स्पर्श किये जाने पर मानव मन से जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है, यह वाक्स्वरूप ही है, क्योंकि वह अपने वाच्य अर्थ के सम्यक्साधन से अनुगत है। इसीलिए वह प्रकाश्य नहीं है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान और अन ये सब प्राण ही हैं अर्थात् प्राण के ही पात्र भेद हैं। यह धारणरूप आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है ॥३॥

पाङ्क्तस्य कर्मणः कलभूतानि यानि त्रीण्यन्नान्युपक्षिप्तानि तानि कार्यत्वाद्विस्ती-  
र्णविषयमात्रं पूर्वोक्तोऽनेन्य 'पृथगुत्कृष्टानि तेषा व्याख्यातार्थं उत्तरो ग्रन्थ आ ब्राह्मणपरि-  
समाप्ते । त्रीण्यात्मनेऽकुर्वतेति । कोऽस्यार्थ इत्युच्यते—मनोवाक्प्राणा एतानि त्रीण्यन्नानि  
तानि मनो वाक् प्राण 'वाऽऽत्मने आत्मार्यमकुर्वत कृतवान्सृष्ट्वाऽऽदौ पिता ।

तेषा मनसोऽस्तित्व स्वरूपं च प्रति सशय इत्यत आह—अस्ति तावन्मनः श्रोत्रादि-

साधनात्मकमन्त्रवतुष्टमन्त्राभ्यकारणमभितित्वगुणप्रक्षेपेण पुरुषोपासनस्य कल चोक्तमिवा  
नीमा ब्राह्मण समाप्तेरुत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—पाङ्क्तस्यत्यादिना । ब्राह्मणशेषस्य तात्पर्यमुक्त्वा  
मन्त्रपदमूलाऽऽकाङ्क्षाद्वारा ब्राह्मणमुत्पाद्य श्रावणे—त्रीणीत्यादिना । ज्ञानकर्मणा सत्पन्नानि  
सृष्ट्वा चत्वारि भोक्तृभ्यो विभज्य त्रीण्यात्मार्यं कल्पादौ पिता कल्पितनानित्यर्थः ।

अन्यत्रत्यादि वाक्यमुपादत्ते—तेषामिति । पृष्ठी निर्धारणार्थः । 'तत्र मनसोऽस्तित्वनादौ  
साधयति—अस्ति तावदिति । 'अस्मेतिद्वयाथतानिध्ये सत्यपि कदाचिदेवाथधीर्मानाना हे वन्तर

का उपजीवी होता है ऐसा जा कहा है वह उपासना की प्रशंसा है विद्य स्तुति क अनिरिक्त कोई अन्य  
अपूर्व अर्थ नहीं है ॥२॥

श्रुतिवाक्य म पाङ्क्तमने फलभूत त्रिन तीन अन्ना ना ऊपर कथन किया गया है वे कायत्व  
और विस्तीर्णविषयत्व होने के कारण पूर्वोक्त अन्नों से पृथक् किए गए हैं। उनको चारथा के लिए  
इन पञ्चम ब्राह्मण की समाप्तिपर्यंत य अग्रिम ग्रन्थ (का आरम्भ किया जाता) है। आत्मात्मनऽकुर्वत नि

१ एषा हि वाक् अतमायता अधिधायवमानमनुगता । अथनिर्णय प्राप्ता । अथप्रकाशिकेति वाक्य । एषा हि न  
स्वयं चैवा वाक् ॥ वागनरूपवायेत्यर्थः । २ अत्र कथितानि । ३ पुनस्तुतानि । ४ इतरचतुष्टयवि  
निर्णय दृष्टान्तयितुं चकार । ५ आलोचन । ६ विभज्येति दत्त्वा तानि तेषु विनियुज्येत्यर्थः । ७ अस्ति  
त्वत्स्वरूपयोर्मध्ये । ८ आत्मा प्रमातृ चित् ।

बाह्यकरणव्यतिरिक्तम् । यत एवं प्रसिद्धं 'बाह्यकरणविषयात्मसंबन्धे सत्यप्यभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति किं दृष्टवानसीदं' रूपमित्युक्तो वदत्यन्यत्र' मे 'गतं मन आसीत्सोऽहमन्यत्रमना आसं नादशम् । तथेदं श्रुतवानसि मदीयं वच इत्युक्तोऽन्यत्रमना अभूवं नाश्रीयं न श्रुतवानस्मीति । तस्माद्यस्यासंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतश्चक्षुरादेश स्वस्वविषयसंबन्धे रूपशब्दादिज्ञानं न भवति । यस्य च भावे नेत्रति तदन्यवस्ति मनो नामान्तःकरणं सर्वकरणविषययोगीत्यवगम्यते । तस्मात्सर्वो हि लोको मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति तदुच्यते दर्शनाद्यभावात् ।

माक्षिपति न चादृष्टादि तदिति पुनरं तस्य 'दृष्ट्यंवादिदेवा' तस्मादर्थानिष्ठे ज्ञानकादाचित्कत्वाद्युपपत्तिर्न न साधिकेत्यर्थः । 'लोकरप्रतिद्विरपि तत्र प्रमाणमित्याह—यत इति । प्रतोऽस्ति बाह्यकरणव्यतिरिक्तं विषयमिति करणमिति शेषः । तामेव प्रसिद्धिमुदाहरणनिष्ठतपोदाहरति—किं दृष्टवानित्यादिना । 'तत्रैवान्वयव्यतिरेकाद्युपपत्त्यस्यति—तस्मादिति । यद्युक्तं यत्तिलोकरप्रतिद्विवशादिति यावत् । विमतमात्माद्यतिरिक्तापेक्षं तस्मिन्सरयपि कादाचित्कत्वाद्दृष्टवदित्यनुमानं च 'तच्छ्रुदायं । तस्माद्यनुमानादिमानादप्यवस्ति मनो नामेति संबन्धः । रूपादिग्रहणमर्थस्यापि सत इति प्रमातोऽप्यते । अन्तःकरणस्य चक्षुरादिभ्यो धैलक्ष्ण्यमाह—सर्वेति । समन्तरबाधयं कलितार्थविषयत्वेनाऽऽवसे—तस्मादिति । तच्छ्रुदेनोक्तं हेतुं स्पष्टयति—तद्व्यप्यते इति ।

इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है ? इसे बतलाया जाता है । मन, बाह्य और प्राण ये तीन भिन्न हैं ; उन मन, प्राण और वाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में पिना ने प्रथम उत्पन्न कर उन्हें 'आत्माने' यानी अपने लिए 'कुर्वन्' अर्थात् कल्पित किया ।

उनमे मन के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में सन्देह है, इसलिए श्रुति प्रतिपादन करती है । मन श्रोत्रादि-बाह्येन्द्रियो से भिन्न है, क्योंकि लोकव्यवहार में यह प्रसिद्ध है कि पुरुष बाह्येन्द्रिय, विषय और आत्मा का सम्बन्ध होते हुए भी अपने सामने होने वाले विषयों को ग्रहण नहीं करता । तथा 'क्या तुमने इस रूप को देखा है' ऐसा पूछे जाने पर कह उठना है 'मेरा मन कहीं दूसरी जगह था, प्रतः अन्यत्रमना होने से मैंने इसे नहीं देख पाया' । एवं यह पूछे जाने पर कि 'क्या तुमने मेरी बात सुनी है' तो कहता है, 'मैं अन्यत्र मन वाला था, इसलिए 'नाश्रीयम्' यानी नहीं सुनी ।' इसलिए जिसकी सन्निधि के अभाव में, रूपादिग्रहण में समर्थ नेत्रादि के होते हुए भी उन्हें अपने अपने विषय का सम्बन्ध होने पर रूप एवं शब्दादि का ज्ञान नहीं होता । जिसकी सन्निधि होने पर वह होता है ; वह उन नेत्रादि-इन्द्रियों से भिन्न, समस्त इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखने वाला मननामक अन्तःकरण है, ऐसा सिद्ध होना है । इसलिए सभी मनुष्य मन से ही देखते हैं और मन से ही सुनते हैं क्योंकि उसके अन्यत्र लगा हुआ होने पर दर्शनस्पर्शनादि क्रिया नहीं होती ।

१. बाह्येति—विमत (ज्ञान) आत्मादिप्रतीतिरिक्तासाधारणकारणपूर्वकं सत्यपि तस्मिन्कादाचित्कत्वादिति परिशेषानुमानान्मनोऽस्तित्वमिह बोध्यम् । २. त्वत्समीपे गच्छद्राजाद्यात्मक वस्तु । ३. इष्वादी । ४. व्यापृतम् । ५. सन्निधिसत्त्वे । ६. अन्यत्रव्यापृतत्वे । ७. आदिना स्पर्शनादि । ८. अन्यथासत्यां सामग्र्यां ज्ञानकादाचित्कत्वाद्युपपत्तिरिति शेषः । ९. अदृष्ट हि सामग्रीरूपदृष्टार्थं सम्पादयति न तु साक्षात्कार्य जनयति । १०. परिशेषात् । ११. इयुकारप्रसिद्धिः । १२. मन-सत्त्व एव । १३. तस्मादित्यस्यार्थः ।

'अस्तित्वे सिद्धे मनसः स्वरूपार्थमिदमुच्यते—कामः स्त्रीव्यतिकरामिलापादिः ।' 'संकल्पः प्रत्युपस्थितविषयविकल्पनं शुक्लनीलादिभेदेन । विचिकित्सा संशयज्ञानम् । अद्वाऽदृष्टार्थेषु फलस्वास्तियबुद्धिर्देवतादिषु च । अश्रद्धा तद्विपरीता बुद्धिः । धृतिर्धरणां देहाद्यवसाद उत्तममनम् । अधृतिस्तद्विपर्ययः । ह्रीर्लज्जा । धीः प्रज्ञा । भीभयमित्येतदेवमादिर्' 'सर्वं मन एव मनसोऽन्तःकरणस्य रूपाण्येतानि । मनोस्तित्वं प्रत्यन्यच्च कारणमुच्यते । "तस्मान्नमनो नामास्त्यन्तःकरणम् । यस्माच्चक्षुषो ह्यगोचरे पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः केनचिद्धस्तस्याय स्पृशो जानोरयमिति" "विवेकेन प्रतिपद्यते । यदि विवेककृन्मनो नाम

कामादिवाक्यमन्तर्यामिण्युक्तं न स स्वरूपं प्रति सगमं निरस्यति—अस्तित्व इति । अश्रद्धादिविषयकामादिरपि विवक्षितोऽनेति मत्वा "मनोयुद्धयोरेकत्रपुषेत्योपसहरति—इत्येतदिति । "द्वैतप्रवृत्त्युत्पन्नं मनो भोक्तृकर्मवशात्तानार्थकारेण "विवर्तते इत्यभिप्रेत्यानन्तरवाक्यमवतारयति—मनोस्तित्वमिति । तदेवाव्यक्ताकारेण स्फोरयति—यस्मादिति । तस्मादस्ति विवेककारणमन्तःकरणमिति सम्यक् । अक्षुरतमयोगात्तेन "स्पर्शविशेषादर्शनेऽपि "सप्रयुक्त्या रज्ज्वा विनाऽपि मनोविशेषदर्शनं स्यादिति ।

इस प्रकार (धर्मी के होने पर ही तद्वतधर्म संभव है, इस न्याय से) मन का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसके स्वरूप के विषय में कहा जाता है 'काम' यानी स्त्री-सम्पर्क की अभिलाषादि, 'संकल्प' अर्थात् उपस्थित विषय की शुक्ल-नीलादि भेद से विकल्पना करना, 'विचिकित्सा' अर्थात् संशयज्ञान, 'अद्वा' अर्थात् अदृष्ट-स्वर्गादिफलक कर्मों एवं देवतादिकों में प्रास्तिक्य भावना, 'अश्रद्धा' अर्थात् पूर्वोक्त से विपरीत भावना, 'धृति' अर्थात् धारणा यानी देहादि के क्षीय होने पर स्थिति बनाए रखना, 'अधृति' अर्थात् पूर्ववर्णित से विपरीत होना, 'ह्रीः' अर्थात् लज्जा, 'धी' यानी निश्चयज्ञान, 'भी' यानी भय अर्थात् पूर्ववर्णित से विपरीत होना, 'मन ही है । ये सभी 'मनस' अर्थात् अन्तःकरण के रूप हैं । मन के अस्तित्व के विषय में इत्यादि सभी मन ही हैं । ये सभी 'मनस' अर्थात् अन्तःकरण के रूप हैं । मन के अस्तित्व के विषय में एक प्रौर भी कारण यतलाया जाता है । इससे (वक्ष्यमाण हेतु से) भी भगवान्मक अन्तःकरण की सत्ता है क्योंकि क्षेत्र के सामने न जाने पर भी किसी के द्वारा पीठ पर स्पर्श किये जाने पर मनुष्य विभाग से यह जान लेता है कि यह हाथ का, यह जानु का स्पर्श है । यदि विवेक करने वाला मन न हो तो तबचा यह जान लेता है कि यह हाथ का, यह जानु का स्पर्श है । यदि विवेक करने वाला मन न हो तो तबचा मात्र से ऐसा विभागपूर्वक निश्चय किस प्रकार हो सकता है ? जो उस विवेकनिश्चय का हेतु है, वही मन है ।

१ अस्तित्वे सिद्ध इति—सति धर्मिण धर्माणां चिन्तेति आवादिति शेषः । कामदयश्च मनसो धर्मो अपि तत्परिणामतया तत्स्वरूपम् । २ स्मृतिरिक्तविषयानिलापगाहक आदिशब्दः । ३ संकल्प इति—सामान्यतो दृष्टस्य विशेषतोऽवधारण काममूल संकल्प इत्यर्थः । ४ अदृष्टस्वर्गादिफलवेषु । ५ धारणमिति—धारण च धृतिविशेषतोऽवधारण काममूल संकल्प इत्यर्थः । ६ प्रज्ञा—सामान्यो बुद्धयोपासस्य वस्तुनः" ॥१३॥ इति वातिके । चकारेण देहाद्युत्पन्नमवधिं संप्रदीतम् । ७ प्रज्ञा—सामान्यो बुद्धयोपासस्य वस्तुनः" ॥१३॥ इति वातिके । चकारेण देहाद्युत्पन्नमवधिं संप्रदीतम् । ८ मन एवेति । न च निमित्तनिमित्तकत्वेन सामानाधिकरण्यं कुलासादावदृष्टत्वादिति तादात्म्यं तयोर्ग्राह्यम् । ९ रूपानि पृथक् भूतितद्वतोऽभेदादिति भावः । १० यदवगमहेतोः । ११ उत्तरविशेषम् । १२ विभागः । १३ भूत्याद्यभावोक्तयेव कामाद्यभावोक्ते तद्विना तदसम्भवादिति भावः । १४ ननु बुद्धिं हित्वा मनसा तादात्म्यं कामादे किमुच्यते । तत्राह—मनोयुद्धयोरेति । १५ द्वैतेति—ननु सर्वं मनोमात्रं चेदं देहेन्द्रियावैविध्यं भोक्तृमोगवैविध्यमपि न स्यादित्याशङ्क्येत्यादि । १६ परिणमते । १७ चक्षुषा । १८ सन्निकृष्ट्या ।

नास्ति तर्हि त्वङ्मात्रेण कृतो 'विवेकप्रतिपत्तिः स्यात् । यत्तद्विवेकप्रतिपत्तिकारणं तन्मनः ।

'अस्ति तावन्मनः स्वरूपं च तस्याधिगतम् । श्रोत्रप्रज्ञानीह' फलभूतानि 'कर्मणां मनोवाक्प्राणाख्यान्यध्यात्ममधिभूतमधिदेवं च व्याचिख्यासितानि । तत्राऽऽध्यात्मिकानां वाङ्मनःप्राणानां मनो व्याख्यातम् । अथेदानीं वाग्वक्तव्येत्यारम्भः—यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्तत्त्वादिव्यङ्ग्यः प्राणिभिर्वर्णादिलक्षण इतरो वा वादित्रमेधादिनिमित्तः सर्वो ध्वनिर्वागिव सा ।

'इदं तावद्वाचः स्वरूपमुक्तम् । अथ तस्याः कार्यमुच्यते—एषा वाग्धि यस्मादन्त-

त्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । त्वङ्मात्रस्य 'स्पर्शमात्रप्राहित्वेन' 'विवेकव्यायोगादित्यर्थः । विवेकके कारणान्तरे सत्यपि कुतो मनःसिद्धिस्तत्राऽऽह—यत्तदिति ।

"बुद्धं कीर्तयति—अस्ति तावदिति । उत्तरप्रत्ययवतारयितुं भूमिकां करोति—त्रीणीति । एवं भूमिकामारब्ध्याऽऽध्यात्मिकवाग्व्याख्यापनाय यः कश्चेत्यादि वाक्यमादाय व्याकरोति—अथेत्यादिना । शब्दपर्यायो ध्वनिर्द्विविधो वर्णात्मकोऽवर्णात्मकश्च । तत्राऽऽद्यो व्यवहृतुं भिस्तात्वादित्यनव्यङ्ग्यो द्वितीयो मेधादिकृतः । स सर्वोऽपि प्रकृता वागेवेत्यर्थः ।

प्रकाशकमात्रं वागित्युक्तम्—तत्र प्रमाणमाह—इदं तावदिति । तस्मादभिधेयनिर्णायकत्वात्—ता-

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि मन है और उसका स्वरूप भी ज्ञात हो गया । यहाँ ब्रह्म के फलभूत मन, वाक् और प्राणसंज्ञक अध्यात्म अधिभूत और अधिदेव तीन ब्रह्मों की व्याख्या करनी है । उनमें से प्राध्यात्मिक वाक्, मन और प्राणों में से मन को व्याख्या तो कर दी । अब इसके बाद वाक् का निरूपण करना है, इसलिए उसका उपक्रम किया जाता है । लोचव्यवहार में जो कुछ भी मनुष्यों द्वारा तालु आदि से व्यक्त होने वाला वर्णादिसंज्ञक शब्द यानी ध्वनि है तथा वादक यन्त्र मेधादि-निमित्तक ध्वनि है, सभी वाक् ही है ।

यह तो वाक् का स्वरूप बतसाया गया । अब उसका कार्य बतलाते हैं । यह वाक् ही 'अन्तम्'

- १ विवेकेन निश्चयः । २ अधिगतमिति- विमतमसाधारणनारणकरणजन्य विशेषज्ञानवाङ्मनसिद्धिप्रमाणेन विज्ञातमित्यर्थः । तदनन्तरं च तस्मादित्यादिना देहन्द्रियादि महतिषामाश्रयत्वनाश्रित्येवपि इष्टम्भम् । ३ व्याख्याधिकारे । ४ उपागम्युपलक्षणम् । ५ यः कश्चेत्यादि इत्यत्रिशेषेण ध्वनिमात्रं ततो निश्चयम् यदन् वागेत्यस्यापमाह—तात्त्रादीनि । मान्यादिना कोष्ठमतवायो मयोऽतत्प्रमुक्तिल प्राणिभिरुक्तवाग्व्याख्याध्वन्यपरपर्यायो वा कश्चन शब्द अभिधेयप्रज्ञात्मात्रमिति यावत् । ६ प्रकाशकमात्रं शब्दमात्रान्यध्यात्मिक वातिकतोऽवश्यम् । ७ यस्यादिनि—यनोऽभिधेयनिश्चयपर्यन्तं वाक् प्रकृताऽतोऽभिधेयज्ञानं तस्यागम् । ८ विशेषणशब्द-व्यावर्तको मात्रः । ९ विवेकव्यायोगादिति—यद्यपि चक्षुर्यत् त्वज्जो द्रव्यमाहृत्यास्तद्विषयपरमात्मत्वा ज्ञातुं शक्य-स्तथापि असमाहितस्य हस्तादिना स्पृष्टव्यं स्पर्शमात्रमात्रे प्रनिपद्य तद्विशेषमात्रतोऽव्यावृत्तयतो मनसैव तदधिगति-रिति भावः । १० अन्वयेत्यादिना मन एतैव नेनोक्तमनुवदतीत्यर्थः । ११ तद्विस्तृत्येवापि न प्रमाणमाहेत्यर्थः । १२ नासाविति—तथा चाभिधेयनिश्चयाध्ययानुपपत्तिरेव तस्या अस्तित्वं मानम् ।



मभिधेयावसानमभिधेयनिर्णयमायत्ताऽनुगता । एषा पुनः स्वयं नाभिधेयवत्प्रकाश्याऽभि-  
धेयप्रकाशिकैव प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपादिवत् । न हि प्रदीपादिप्रकाशः प्रकाशान्तरेण  
प्रकाशयते तद्वद्वाक्प्रकाशिकैव स्वयं न प्रकाशयेत्यनवस्थां श्रुतिः परिहरत्येषा हि नेति न  
प्रकाश्या प्रकाशकत्वमेव वाचः कार्यमित्यर्थः । अथ प्राण उच्यते—प्राणो मुखनासिकासंचार्या हृदयवृत्तिः प्रणयनत्प्राणः । अपन-  
यनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्तिरानामिस्थानः । व्यानो व्यायमनकर्म व्यानः प्राणपानयोः  
संधिवीर्यवत्कर्महेतुश्च । उदान उत्कर्षोऽर्ध्वगमनादिहेतुरापादतत्तमस्तकस्थान ऊर्ध्ववृत्तिः ।

सावपलापाहंति शेषः । वाचोऽपि प्रकाशयत्वात्कथं प्रकाशकमात्रं वागित्युक्तमित्याशङ्क्याह—एवेति ।  
दृष्टान्तं समर्थयते—न हीति । प्रकाशान्तरेण सजातीयेनेति शेषः । प्रकाशिकाऽपि वाक्प्रकाश्या चेत्तत्रापि  
प्रकाशकान्तरमेष्टव्यमित्यनवस्था स्यात्तस्मिन्नासांशमेवा हि नेति श्रुतिः प्रकाशकमात्रं वागित्याह ।  
स्वपरनिर्वाहकस्तुशब्दः । तस्मात्प्रकाशकत्वं कार्यं यत्र हृदयते तत्र वाचः स्वरूपमनुगतमेवेत्याह—  
तद्वदित्यादिना ।

प्राभ्यात्मिकप्राणविषयं वाहयमवतार्य व्याकरोति—अथेति । मुखादौ संचार्या संचरणाहं  
हृदयसंबन्धिनो वा वायुवृत्तिः, तत्र प्राणसम्बन्धवृत्तौ निमित्तमाह—प्रणयनादिति । पुरतो निःसरणादिति  
वायवत् । हृदयावधोदेशे वृत्तिरस्येत्यधोवृत्तिरानामिस्थानो हृदयादारंभ्य नाभिपर्यन्तं वर्तमान इति  
वायवत् । व्यायमनं प्राणपानयोर्निमग्नं कर्मस्येति तथोक्तः । वीर्यवत्कर्मरूप्यामन्युत्पादनादि ।  
उत्कर्षो वेहे पुष्टिः । आदिपदेनोक्तान्तिरुक्ता । प्राणवृद्धेनानशब्दस्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—अन इत्ये-

धर्मात् अभिधेयावसान या अभिधेय-निर्णय के 'आयत्ता' अर्थात् अधीन है । यह अभिधेय के समान स्वय-  
प्रकाश्य नहीं है, यह तो अभिधेय को प्रकाशित करने वाली ही है, क्योंकि प्रदीपादि के प्रकाश के  
समान यह प्रकाशस्वरूपा ही है । प्रदीपादि का प्रकाश प्रकाशान्तर से प्रकाशित नहीं होता है । उसी  
प्रकार वाक् भी प्रकाशिका ही है, वह स्वयं किसी के द्वारा प्रकाश्या नहीं है, इस प्रकार अनवस्था दोष  
को श्रुति निवृत्त करती है क्योंकि यह वाक् प्रकाश्या नहीं है । इसका भाव यह है कि प्रकाशकत्व ही  
वाक् का कार्य है ।

अथ (वाक् और मन का व्याख्यान कर उनके विचारक) प्राण का प्रतिपादन किया जाता है ।  
"प्राण" अर्थात् मुख और नासिका से संचरित हृदयपर्यन्त जो वायुवृत्ति है, वह सामने निःसरण होने  
के कारण प्राण कहलाती है । मल मूत्र अथ निःसरण करने के कारण नाभिप्रदेशतक रहने वाली वायु  
को अधोवृत्ति अपान है । प्राण और अपान के निःसरण का नियमन करने वाला तथा प्राण और अपान  
का मध्यस्थ वीर्यवान् कर्मों का हेतुक व्यान है । देह की पुष्टि और उत्थान्ति आदि का हेतु, तथा जिसकी  
पादतल से लेकर मस्तकपर्यन्त स्थान एव ऊर्ध्ववृत्ति है, वह उदान है । खाये एवं पीये गए पदार्थों को  
सम करने के कारण अन्न को पचाने वाला उदरस्थ वायु समान है । वायुसामान्य 'अन' यह इन विशेष-

१ अथेति—प्राणमनयोः प्रविभागश्च सम्यग्व्याख्यानानन्तरं तयोर्विचारक प्राणो व्याख्यायत इत्यर्थः । २  
प्राणपानयोर्मध्यस्थः । ३ वाक् प्रकाशकमात्रत्वात् । ४ सूर्यादौ । ५ निःसरणे निमग्नम् ।

समानः समं नयनादभुक्तस्य पीतस्य च कोष्ठस्यानोऽन्नपक्ता । 'अन्न इत्येषां वृत्तिविशेषाणां सामान्यभूता सामान्यदेहचेष्टामिसंबन्धिनी वृत्तिः । एवं यथोक्तं प्राणादिवृत्तिजातमेतत्सर्वं प्राण एव ।

'प्राण इति वृत्तिमानाध्यात्मिकोऽन्न उक्तः । कर्म चास्य वृत्तिभेदप्रदर्शनेनैव व्याख्यातम् । व्याख्यातान्याध्यात्मिकानि मनोवाक्प्राणाख्यान्यन्नान्येतन्मय' एतद्विकारः प्राजापत्यैरेतैर्वाङ्मनःप्राणैरारब्धः । कोऽसावयं कार्यकरणसंघात आत्मा 'पिण्ड आत्मस्वरूपत्वेनाभिमतोऽब्रिवेकिभिः । अविशेषेणतन्मय इत्युक्तस्य विशेषेण 'वाङ्मयो मनोमयः प्राणमय इति स्फुटीकरणम् ॥३॥

यामिति ॥ ३ ॥

'तथाऽपि 'तृतीयस्य प्राणशब्दस्य 'ताम्या पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्राण इतीति । 'साधारणासाधारणवृत्तिमान्प्राण इत्यपीनरुक्त्यमित्यर्थः । मनसो दर्शनादिवद्वाचोऽभिधेयप्रकाशनवच्च प्राणस्यापि कार्यं वृत्तम्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्म चेति । एतन्मय इत्यत्र मयटो विकारार्थत्वं वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं कथयति—व्याख्यातानीति । आध्यात्मिकानां बागादीनामारम्भकत्वं धारयति—प्राजापत्यैरिति । आरब्धस्वरूपं प्रश्नपूर्वकमनन्तरबाधयेन(श) निर्धारयति—कोऽसाविति । कार्यकरणसंघाते कथमात्मशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मस्वरूपत्वेनेति । वाङ्मय इत्यादिवाक्यस्य पूर्वेण पीनरुक्त्यभाशङ्क्याऽऽह—अविशेषेणेति ।

वृत्तियो की सर्वानुगत तथा देह की सामान्य चेष्टा से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति है । इस प्रकार यह उपरोक्त प्राणादि वृत्तिसमुदाय है, यह सब कुछ प्राण ही है ।

'प्राण' इस शब्द से वृत्तिमान् आध्यात्मिक वायुसामान्य कहा गया है । इसके कर्म की व्याख्या तो इसके वृत्तिभेद के प्रदर्शन से ही कर दी गई । इस प्रकार मन, वाक् और प्राणसंज्ञक आध्यात्मिक अन्तो का प्रतिपादन किया गया । (अब पूर्वोक्त बागादिसमुचित स्वरूप को कहते हैं) "एतन्मय" अर्थात् इनका विकार इन प्राजापत्य वाक्, मन और प्राणों से आरम्भ किया हुआ है । यत्र (अपरोक्ष) कौन है ? यह जो कार्यकरण का संघात आत्मा यानी नामरूप कर्मों का समूह है, एव अविशेषियो द्वारा

१ वायुसामान्यम् । २ सर्वानुगता । ३ यदा इत्येतत्सर्वं प्राण एवेत्यत्र प्राणशब्दस्य प्रकृतवृत्तिविशेषपराभिशिक्तस्य सत्त्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्यानन्तरौक्तान्विषयत्वमाश्रित्याऽह—प्राण इति । तथा चोक्तम्—'प्राणशब्द पुरा प्रोक्तो वृत्तिमात्राभिधायकः । अन्ते वृत्तिमदर्थं स्यात्सर्वं प्राण इतीरणादिति' ॥१५१॥ न हि वृत्तिरूपस्य सर्वस्य सर्वत्वमतः साधारणस्यान्यद्व्योक्तस्य प्राणशब्देन परामुच्य सर्वत्वविधिरित्यर्थः ॥ ४ व्याख्यातमिति—वृत्तिविशेषाणां यत्नस्य तदेवावश्यं नम्युत्तितद्वतोरभेदादिति भावः । ५ उक्तानां बागादीनां समुचित स्वरूपमाह—एतन्मय इति । ६ अपरोक्षः । ७ नामरूपकर्मणा नमूहः । ८ वाङ्मय इति—वच्यमेकस्य देहस्थानिकवागादिविकारत्वमिश्रित्याशङ्क्य समादधुर्वाक्ये—'नामात्रं वाङ्मयं सर्वं ह्येव मनोमयम् । तद्वत्प्राणमयं कर्म देहस्यास्त्वेव सग्रहः' ॥१५४॥ इति । ९ तथापीति—मनप्राणशब्दयोः सामान्यविशेषरूपत्वेनापार्थक्यत्वेऽपीत्यर्थः । १० तृतीयस्येति—अन्नप्राणशब्दाभ्यां तृतीयस्य । ११ अन्नप्राणशब्दाभ्याम् । १२ सामान्यविशेषरूपवृत्तिपट्टकवान् ।

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्ष-  
लोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः  
सामवेदः ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः  
प्राणो मनुष्याः ॥६॥

पिता माता प्रजंत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः  
प्रजा ॥७॥

भू भुव प्रीर स्व नाम के यही तीनो लोक हैं । उनमें वाणी ही यह वाक है, मन अन्त-  
रिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है ॥४॥

यही तीनो वेद हैं, वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥५॥

देवता पितृगण और मनुष्य भी यही हैं । वाक् देवता है, मन पितृगण है, और प्राण मनुष्य  
है ॥६॥

पिता, माता तथा प्रजा भा यही हैं । वाक् माता है, मन ही पिता है और प्राण प्रजा है ॥७॥

तेयामेव प्राजापत्यानामन्नानामाधिभौतिको विस्तारोऽभिधीयते-

त्रयो लोका भूर्भुवः स्वरित्याख्या एत एव वाङ्मनःप्राणास्तत्र विशेषो वागेवायं  
लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

तथा त्रयो वेदा इत्यादीनि वाक्यानि ऋज्वर्थानि ॥५॥६॥७॥

वागादीनामाध्यात्मिकविभूतिप्रदर्शनात्मन्तरमाधिभौतिकविभूतिप्रदर्शनायुत्तरप्रथमवतारयति  
—तेषामेवेति । तत्रैतमुक्तं 'सामान्य परामृशति ॥ ४ ॥

त्रिलोकीवाक्यमदुस्तर 'वाक्य विनाताविवाक्यवत्प्राक्तन नैतन्मयमित्याहुः—तथेति ॥५॥६॥७॥

आत्मस्वरूप से माना गया है । सामान्यतया 'एतन्मय' इस प्रकार कहे हुए का ही विशेषरूप से  
"वाङ्मय मनोमय एव प्राणमय" ऐसा कहकर स्पष्ट किया गया है ॥ ३ ॥

उन्हीं प्राजापत्य मन्त्रों का आधिभौतिक विस्तार प्रतिपादित किया जाता है । भू भुव  
और स्व नामक ये ताना लाक—वाक मन और प्राण ही हैं । उसमें निश्चितता यह है कि वाक् हा  
यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह स्वर्गलोक है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार त्रयो वेदा— इस श्रुतिमन्त्र से सातवें मन्त्र तक सभी श्रुतिवाक्य सारतः त्रय  
वाले हैं ॥ ५-७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं  
वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥  
यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं  
मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥९॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात भी यही हैं। जो कुछ विस्पष्टरूप से ज्ञात है, वह वाक् का रूप है ( प्रवाचक होने के कारण ) वाक् ही विज्ञाता है। ( इस प्रकार वाक् की विशेषता को जानने के लिए फल बतलाया गया है ) इस जानने वाले की रक्षा वाक् विज्ञात होकर करती है ॥८॥

जो कुछ विस्पष्टरूप से जानने योग्य अभीष्ट है, वह सब मन का रूप है क्योंकि ( मन ही सगंध-रूप होने के कारण ) विजिज्ञास्य है। मन के इस विभूति का जानने वाले की रक्षा मन ही विजिज्ञास्य होकर करता है ॥९॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव 'तत्र विशेषो यत्किंच विज्ञातं विस्पष्टं ज्ञातं वाचस्तद्रूपम् । तत्र स्वयमेव हेतुमाह—वाग्धि विज्ञाता प्रकाशात्मकत्वात्कथमविज्ञाता मवेद्याऽन्यानपि विज्ञापयति वाचा वं सन्नाड्वन्धुः प्रज्ञायत इति हि 'वक्ष्यति । वाग्विशेष-विद इवं फलमुच्यते—वागेनं यथोक्तवाग्धिमूर्तिविदं तद्विज्ञातं भूत्वाऽवति पालयति 'विज्ञातरूपेणैवास्यान्नं' भोज्यता प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥८॥

तथा यत्किंच विजिज्ञास्यं विस्पष्टं ज्ञातुमिष्टं विजिज्ञास्य तत्सर्वं मनसो रूपं मनो

विज्ञातादिवाक्यमादाय तद्गत विशेष दक्षयति—विज्ञातमिति । विज्ञात सर्व वाचो रूपमिति प्रतिज्ञातोऽर्थः सप्तम्यर्थः । प्रकाशकत्वेऽपि कथं वाचो विज्ञातस्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कथमिति । प्रकाशात्मकत्वात्मेन कुतो वाच मिदमित्याशङ्क्याऽऽह—वाचेति । वाग्विशेषस्तद्विभूति ॥ ८ ॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। उसमें जो कुछ विशिष्टता है, वह यह है कि जो कुछ 'विज्ञातम्' यानी विस्पष्टरूप से ज्ञान है, वह वाक् का ही रूप है। उसमें श्रुति स्वयं ही कारण बतलाती है। प्रकाशात्मक होने से वाक् ही विज्ञाता है। जो अन्य लोग को विज्ञापित करती है, वह स्वयं किस प्रकार अविज्ञात हो सकती है। इसे आगे श्रुतिवाक्य से प्रतिपादन किया जाएगा "हे सन्नाड् । वाणी से ही बन्धुत्व को जाना जाता है" इत्यादि। वाक् के विशेषज्ञ के लिए यह फल बतलाया जाता है। 'एनम्' अर्थात् वाक् की पूर्वोक्त प्रकार से विभूति जानने वाले वा वाक् ही उसकी विज्ञाता होकर "अवति" अर्थात् पालन करती है या विज्ञातरूप से वही इसके वाक् रूप अन्न को यानी भोज्यता को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार जो कुछ 'विजिज्ञास्यम्' अर्थात् विस्पष्टरूप से जानने के लिए अभीष्ट है, वह सब

## यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का ही रूप है क्योंकि प्राण ही अविज्ञात होकर अपनी विभूति को जानने वाले की रक्षा करता है ॥१०॥

हि यस्मात्संदिह्यमानाकारत्वाद्विज्ञातस्यम् । पूर्ववन्मनोविभूतिविदः फलं मन एनं तद्वि-  
जिज्ञास्यं भूत्वाऽवति विजिज्ञास्यस्वरूपेणैवाग्नस्वमापद्यते ॥६॥

तथा यत्किंचाविज्ञातं विज्ञानाद्योच्चरं न च 'संदिह्यमानं' प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यवि-  
ज्ञातोऽविज्ञातरूपो हि यस्मात्प्राणोऽनिरुक्तभूतेः । विज्ञातविजिज्ञास्याविज्ञातभेदेन' वाङ्-  
मनःप्राणविभागे स्थिते त्रयो लोका इत्यादयो' वाचनिका एव । 'सर्वत्र विज्ञाताविरूपदर्श-  
नाद्वचनादेव' नियमः 'स्मृतं व्यः' । प्राण एनं तद्भूत्वाऽवत्यविज्ञातरूपेणैवाप्त्य प्राणोऽन्तं

संदिह्यमानाकारत्वात्संकल्पविकल्पात्मकत्वादिति यावत् । तस्मात्सर्वं विजिज्ञास्यं मनोरूप-  
मिति संबन्धः । पूर्ववद्वाग्मिभूतिविदो यथा फलपुत्रं तद्वदिति यावत् ॥ ६ ॥

'अनिरुक्तभूतेरविज्ञातरूपो यस्मात्प्राणस्तस्मादविज्ञातं सर्वं प्राणस्य रूपमिति योजना ।  
विज्ञाताविरुपातिरैकेण लोकवेदाद्यभावाद्विज्ञाताविरूपत्वाभिधानेनैव वागादीनां लोकाद्यात्मत्वे तिष्ठे  
किनर्पे त्रयो लोका इत्यादिवाक्यमित्याशङ्क्य तथैव ध्यानार्थमित्याह—विज्ञातेति । भूरादिव्येकैकत्र  
विज्ञातादित्थं"दृष्टेर्वागादेश्च व्यवस्थितत्वात्कुतो विज्ञातादेर्वागाद्यात्मकत्वं निपत्यु शक्यमित्याशङ्क्या-  
ऽऽह—सर्वत्रेति । प्राणविभूतिविधे संप्रति फलं कथयति—प्राण इति । लोके विज्ञातस्यैव "भोज्यत्वोपल-

मन का रूप है क्योंकि मन का आकार भी विज्ञातामय होने से वह विस्पष्टरूप से जानने योग्य है ।  
पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य के समान मन भी विभूति जानने वाले का फल बतलाया जाता है । मन उसका 'तद्'  
यानी विजिज्ञास्य होने पर उसका रक्षा करता है अर्थात् वह विजिज्ञास्यरूप से ही अमरत्व को प्राप्त  
होता है ॥ ६ ॥

जो कुछ भी 'अविज्ञातम्' अर्थात् विज्ञान का अविषय है, जिनास्यमान नहीं है वह प्राण का  
रूप है । प्राण ही अविज्ञात है क्योंकि (छान्दाग्य उपनिषद क) अव्यक्त श्रुतिवाक्य के अनुसार प्राण  
अविज्ञातरूप ही है । इस प्रकार विज्ञान, विजिज्ञास्य प्रौर अविज्ञातरूप वाक, मन और प्राण के विभाग  
का निर्णय हो जाने पर भूरादि तीनों लोक केवल नियमार्थ हैं । भूरादि लोको में सबत्र विज्ञानादि का

- १ विज्ञास्यमानम् । २ रूपेण । ३ चत्वारि पर्याया वाचनिका भूराद्यात्मना वागादयो ध्यया इति निय-  
मार्थ एवेत्यर्थः । ४ भूरादियुः । ५ नियम—भूरादयो वागादय एवेति नियमः । वातिके यथा—भूलोका-  
दियु सर्वेषु मनोवाक्प्राणसक्षणम् । यथासन्नवगाद्योऽप्येवैकस्मिन्त्रय प्रत्यम् ॥१६०॥ इति । अत्रापि सप्तमीद्वय  
निर्धारणार्थं तथा च सर्वेषु भूरादिलोकेषु मध्ये एकैकस्मिन्नेव यथानुभवविज्ञातादित्रयमनतिक्रम्य मनोवाक्प्राण-  
सक्षण त्रय त्रयमाद्योऽप्यमिति योजना । ६ यथासम्भवं नेयः । ७ निषेधसंशयान्नवत्वात् । ८ अनिरुक्त  
अप्यत्र (छा० उ० १-१३-३) । ९ आदिना देवादिः । १० दर्शनात् । ११ उपवाक्यस्तेत्यर्थः

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तथा-

वत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

(प्रजापति के अन्नरूप में प्रस्तुत हुए) उम वाक् का पृथिवी बाह्य आधार और पृथिवी का आधेयस्वरूप यह पार्थिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक कारण है उनमें जितने पश्चिमवासी (अध्यात्म और अधिभूत भेदवाली) वाक् है, उतनी ही उमके आधाररूप में व्यग्रवित पृथिवी है और उतना ही उस पृथिवी में ज्योतिरूप में अनुप्रविष्ट आधेय एव कारण यह अग्नि है ॥११॥

भवतीत्यर्थः । शिष्यपुत्रादिभिः संदिह्यमानाविज्ञातोपकारका अप्याचार्यपित्रादयो दृश्यन्ते । तथा मनःप्राणयोरपि संदिह्यमानाविज्ञातयोरन्नत्वोपपत्तिः ॥१०॥

व्याख्यातो वाङ्मनःप्राणानामाधिभौतिको विस्तारोऽध्यायमाधिदैविकार्थ आरम्भः— तस्यैतस्या वाचः प्रजापतेरन्नत्वेन प्रस्तुतायाः पृथिवी शरीरं बाह्य आधारी ज्योतीरूपं प्रकाशात्मकं करणं पृथिव्या आधेयभूतमयं पार्थिवोऽग्निः । द्विष्टा हि प्रजापतेर्विकार्यमाधारोऽप्रकाशकः करणं चाऽऽधेयं प्रकाशस्तदुभयं पृथिव्यग्नी वागेव प्रजापतेः ।

अत्राद्विज्ञातादिरूपेण प्राणादेनं भोज्यत्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—शिष्येति । शिष्यैरपिदेकिभिः संदिह्यमानोपकारा अपि गुरुवस्तेषां भोज्यतामापद्यमाना दृश्यन्ते पुत्रादिभिश्चातिवासरविज्ञातोपकाराः पित्रादयस्तेषां भोज्यत्वमापद्यन्ते तथा प्रकृतेऽपि संभवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

वृत्तमनूद्य तस्यै वाचः पृथिवीत्याद्यवतारयति—व्याख्यात इति । आधिदैविकार्यंस्तद्विभूतिप्रदं शान्त्यर्थं इति यावत् । समनन्तरसदर्थस्य तात्पर्यमुक्त्वा वाक्याक्षराणि योजयति—तस्या इति । कथमाध्यायधेयभावो "वाचो निर्दिश्यते तत्राऽऽह—द्विरूपा हीति । "उक्तमर्थं सतिष्य निगमयति—तदुभयमिति ।

का ही रूप देखा जाता है । ('भूरादि में वागादि को देखना चाहिये') श्रुतिवचन से यह नियम यथा-सम्भव ले लेना चाहिये । "प्राण एन नद भूत्वाऽवति" अर्थात् प्राण अविज्ञातरूप से इसका अन्न होता है । अविवेकी शिष्य एव अतिमूलं पुत्रादि को, जिनके उपकार के विषय में सन्देह और अज्ञान रहता है, ऐसे गुरु और पिता भी लोकाव्यवहार में देखे जाते हैं । इसी प्रकार जिज्ञास्यमान और अविज्ञान मन एव प्राण का भी अन्न होना सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

इस प्रकार वाक्, मन और प्राण के आधिभौतिक विस्तार की व्याख्या तो कर दी गई । अब क्रमप्राप्त आधिदैविक अर्थ के लिये यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । "तस्यै" अर्थात् प्रजापति के

१ क्रमप्रतिपत्त्यर्थोऽयमन्वयः । क्रमप्राप्त इत्यर्थः । २ तस्या इति । तथा च वातिके—'अध्यात्ममधिभूत च यस्या रूप पुरोदितम् । अधिदैवविवसाया तस्या वाच इदं वयु' ॥१६६॥ इति । ३ आधिदैविकया । ४ बाह्य इति—करणरूपाधेयापक्षया कार्यरूप आधारो बाह्य इत्यर्थः । ५ पार्थिव इति—आधारभूतायां पृथिव्यामाधेयरूपेण वर्तमान पृथिवीसम्बन्धीति यावत् । ६ प्रकाशकम् । ७ कार्यकरणरूप प्रकाश्यप्रवाणवरूपम् । ८ आदिना जिज्ञास्यमिति । ९ आदिना मन इति । १० एवस्या एवेति शेषः । ११ उक्तमर्थमिति—आधिदैविकया वाच आधारआधेयभावेन द्विविधरूपमित्यर्थः ।

अथंतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्त-

द्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ\* मिथु-

न<sup>१</sup> समंतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो

तथा प्राजापत्य अन्नरूप स कहे हुए इस मन का चुलोक शरीर (आधार) है । ज्योतिरूप वह आदित्य है । वहाँ पर जितना मन है, उतना ही आदित्य है । वे आदित्य और अग्नि परस्पर सत्तर्ग को

तत्तत्र<sup>१</sup> यावत्येव यावत्परिमाणं बाध्यात्माधिभूतभेदभिन्ना सती वागभवति तत्र सर्वज्ञाऽऽधारत्वेन<sup>२</sup> पृथिवी व्यवस्थिता तावत्येव भवति कार्यभूता तावानयमग्निराधेयः कारणरूपो ज्योतीरूपेण पृथिवीमनुप्रविष्टस्तावानेव भवति समानमुत्तरम् ॥११॥

अथंतस्य 'प्राजापत्याक्षोक्तस्यैव मनसो द्यौर्दुलोक' शरीर कार्यमाधारो ज्योतीरूप

अध्यात्ममधिभूत च या वाक्परिच्छिन्ना तस्यास्तुत्यपरिमाणत्वमाधिदैविकवागशब्दादवाशिनेश्च तादात्म्यात्तया सह दर्शयति—तत्तत्रेति । तावानयमग्निरिति प्रतीकमादाय व्याकरोति—आधेय इति । समानमुत्तरमित्यस्यायमर्थोऽध्यात्ममधिभूतं च मन प्राणयोराधिदैविकमन प्राणाशब्दात्तादात्म्याभिप्रायेण तुल्यपरिमाणत्वमुच्यते । तथा च 'वाचा समानं प्राणादाबुत्तरवाक्ये कथ्यमान समानपरिमाणत्वमिति ॥ ११ ॥

आधिदैविकवाग्विभूतिव्याख्यानान्तर्यमथशब्दार्थः । मनसो इन्द्रस्यमुक्त्वा व्याप्तिमभिधत्ते—

अन्नरूप स प्रस्तुत हुए उस आधिदैविक वाक् का पृथिवी 'शरीरम्' यानी बाह्य आधार है, तथा "ज्योतीरूपम्" अर्थात् पृथिवी का आधेयभूत प्रकाशात्मक कारण यह पार्थिव अग्नि है । प्रजापति की वाक् दो प्रकार की है । प्रथम कार्य आधार और अप्रकाशकरूप द्वितीय कारण, आधेय और प्रकाशकरूप । ये दोनों कार्यकरणरूप प्रकाशप्रकाशकरूप पृथिवी और अग्नि प्रजापति की वाक् ही है । (वाक् के अध्यात्मिकादि तीन भेद होने पर) उनमें 'यावत्येव' अर्थात् जितने परिणामवाली अध्यात्म और अधिभूत भेदों से विशिष्ट आधिदैविक वाक् है उन भेदों में सर्वत्र आधाररूप से व्यवस्थित कार्यभूता

१ तत्रेति—वाचोऽध्यात्मादिभेदन त्रैविध्ये सतीत्यर्थः । २ आधिदैविकी । ३ तत्रति—अध्यात्माधिभूताधिदैवभेदेदित्यर्थः । ४ प्रजापतराजत्वेन प्रस्तुतस्य । ५ तादात्म्येन व्याप्तत्वमिति यावत् । ६ अध्यात्मादित्यर्थः । ७ तथा चेति—तुल्यपरिमाणत्वकथनस्य तादात्म्याभिप्रायवत्येव चेत्यर्थः । ८ वाचा समानमिति—यथाऽध्यात्मादिपरिच्छिन्ना वागाधिदैविकवागगतिता तथेत्यर्थः । एवोऽत्र पृथ्वीदेवताग्निरध्यात्मादौ तत्तद्रूपेण व्यवसितं इति सर्वप्रवरणात् ।

एकं तो मिथुन समंतामिति । अत्र वातिके—'मनसश्च द्रवावी हि सवत्र श्रूयते स्फुट । तस्याऽऽदित्येन सम्बन्ध नस्मादत्राभिधीयते ॥ विवांशतत्वाद्वेकस्य मनानुद्धरोक्त श्रुति । आदित्येनैव सधत्त मनश्चन्द्रमसा न तु ॥ प्रसवाधिकृतेश्चात्र साधित्र प्रसवस्ततः । सवित्रेवासिन्मन्त्रो मनसस्तेन सस्यते ॥ अनुग्रहव्यपेक्षायां मनसश्च द्रमा भवेत् । अधिदैव तथाऽऽदित्यश्चक्षुषो देवता मता ॥ १८० १८३ ॥ इति । ज्योतीरूपमसादित्य इत्यादित्यमनसोरेकममुक्त्वा तो मिथुन समंतामित्यन्त्यादित्ययोर्वाहमनोरूपमोग्निमुनवचन श्रुत्य तद्विरुद्धमिति शङ्कते—मनस इति । सर्वत्र चन्द्रमा मनसो जातश्च द्रस्तव्याधिदैवतमिति त्यादावित्यर्थः । उक्तं च—सर्वत्र हि मनश्चन्द्रो

## द्वितीयो वै सपत्नो नास्य 'सपत्नो भवति य एवं वेव ॥१२॥

प्राप्त हुए । उससे प्राण उत्पन्न हुआ । वह इन्द्र है और वायुहीन है क्योंकि धपने से भिन्न ही वायु हुआ करता है । जो इस रहस्य को जानता है, उस विद्वान् का कोई प्रतिपक्षी नहीं होता ॥१२॥

करणभाषेयोऽसावादित्यः । तत्तत्र वायवपरिमाणमेवाध्यात्ममधिभूतं वा मनस्तावती तावद्विस्तारा तावत्परिमाणा मनसो ज्योतीर्यस्य करणस्याऽऽधारत्वेन द्यवस्थिता ह्योस्तावानसावादित्यो ज्योतीर्यं करणभाषेयं तावन्मादित्यो वाङ्मनसे आधिदैविके मातापितरौ मिथुनं मेषुग्यमितरेतरसंसर्गं समंतां समगच्छेताम् । मनसाऽदित्येन प्रसूतं

तत्तत्रेति । मन एवास्याऽऽज्ञा वाग्माया प्राण प्रजेयध्यात्म मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजेय-  
धिभूतं च वाङ्मनसयोः प्राणस्य प्रजावामुक्तं तयाऽपिदैवैऽपि तस्य तत्प्रजात्वं वाच्यमित्यभिप्रेत्यऽऽह—  
ताविति । कथमादित्यस्य मनसः प्राण प्रति पितृत्वं याचो वाङ्मेर्मातृत्वं तत्राऽऽह—मननेति । सावित्र  
पाकमानेयं च प्रकाशमुने 'कार्यसिद्धयदशं तावयो सिद्धं जनकत्वमित्यर्थः । कर्तृशब्देन 'कार्यमुच्यते

पृथिवी भी उतनी ही—है । तथा "तावानयमग्नि" है प्रयात ज्योतिरूप मे पृथिवी मे धनुप्रविष्ट  
भाषेय और करणरूप अग्नि उतनी ही है । वक्ष्यमाण उत्तरवाक्य मे प्रध्यात्म और अधिभूत मे भी मन  
और प्राण का समानपरिमाण सममना चाहिये ॥ ११ ॥

"अयैतस्य" अर्थात् प्राजापत्य घनरूप स प्रस्तुत किये गये इस मन का "द्यौः" यानी द्युलोच,  
'शरीरम्' अर्थात् कार्य या आधार है और वह आदित्य ज्योतिरूप करण यानी प्राधेय है । (मनके अध्या-  
त्मावि तीन भेद होने के कारण) उनमे जितना परिमाण वाला अध्यात्म और अधिभूत मन है, 'तावती'

१ प्रतिपक्ष प्रतिकूल इति वावत् । २ मनसोऽध्यात्मपरिभेदेन वैविध्ये सति । ३ चतुर्ग्राहणे इदम् ।  
४ कार्यसिद्धयदशमादिति—प्रकाशव्याप्यवितरणेन न विविद्गुण जायते जन्मनाऽभिभव्यति स्वरूपस्य च प्रकाशो-  
द्भिरेव न च जायमानानां विशेषण्यसि पादाहत पाकस्य कालात्मकाविरपहस्तत्तत्त्वादाय यावद्व्यतिमिता सर्वोत्प-  
त्तिरिति भावः । तदुक्तम् वातिके— अग्निरेव यत सर्वं प्रकाशो जगतीत्यतः । कृपायां प्रविभासश्च स्वधृष्टाव-  
निर्वाचन ॥ १५४ ॥ इति । १ जगद्रूपम् ।

भवतीति । एतदेव भाष्य विवक्षित्वा हीतुं कम् । मनसश्चन्द्रभावस्य वाचनित्यं यन् रज्जु इति विशेषणम् ।  
पूर्यन्त रविश्च चक्रमहानुचितमिति फलितमाह—तस्येति ॥ मनोबुद्धधोरभेदेनाऽऽत्मभूतत्वादिति  
भर्तृ प्रश्नभाषेय परिहरेति—विवक्षितत्वादिति । अस्मिन्प्रकरणे मनोबुद्धधोरभेदं विषयित तयोश्च प्रधान  
बुद्धिनिश्चयात्मत्वाद्वातो बुद्धिदेवतयैवाऽऽदित्येन मन सद्यते धुतिर्न तु चन्द्रमसा तदभेदमभिपद्यते सवितो  
बुद्धिदेवतेति हि गायत्रीविदा अवधेति भावः ॥ आदित्यनेवात्र मन सम्बन्धे हेतुवन्तमह—प्रसवति । तत्  
प्राणोऽजायतेति प्राणस्य मनसो जन्मोच्यते । तच्च सर्वं सवितुर्गुण सवितुर्गुणस्य सर्वप्राणिप्रसवहेतो  
प्रवृत्ते जलदेनैव मनमस्तादात्म्येन सवितिरित्यर्थः ॥ तर्हि चन्द्रमसा मनसश्चन्द्रमसुखरूपस्यैव सत्त्व धवादिवान्माना  
का गतिरित्यामकुषाऽऽह—अनुग्रहेति । यथाऽऽह—यत्र हि मनस्य बुद्धिश्च भेदेन विवर्णते । तत्र कामसक्त्या-  
विविधयस्य ममसचन्द्रया देवताऽऽह पुनर्यदा क्रियाप्रसवतिषु व्याप्रियत तदा प्रमववर्गं व्याप्युगमन सवितुर्देवत  
भवतीति ॥



पित्रा वाचाऽग्निना मात्रा प्रकाशितं कर्म करिष्यामीत्यन्तरां रोदस्थोः । ततस्तयोरेवं संगमनात्प्राणो वायुरजायत परित्स्पन्दाय कर्मणे । यो जातः स इन्द्रः परमेश्वरो न केवलमिन्द्र स्यात्सपत्नोऽविद्यमानः सपत्नो यस्य कः पुनः सपत्नो नाम द्वितीयो वै प्रतिपक्षत्वेनोपगतः स द्वितीयः सपत्न इत्युच्यते । तेन द्वितीयत्वेऽपि सति वाङ्मनसे न सपत्नत्वं भजेते प्राणं प्रति गुणभावोपगते एव हि ते 'अध्यात्ममिव' । तत्र प्रासङ्गिकासपत्नविज्ञानफलमिदं—नास्त्य विदुषः सपत्नः प्रतिपक्षो भवति य एवं यथोक्तं प्राणमसपत्नं वेद ॥१२॥

तत्करिष्यामिति प्रत्येकनभिसिधिवृत्तकमादित्याग्न्योर्छायापृथिव्योरन्तरासे सगातरासीदित्वाह—कर्मति । संगतिकार्यमभिप्रायानुसारि दर्शयति—तत इति । 'वायोरिन्द्रत्वासपत्नत्वगुणविशिष्टत्वासात्ममभिप्रेत्याऽह—यो जात इति । द्वितीयस्य सपत्नत्वे यागादेरपि तयात्वं स्यादित्याशङ्क्याऽह—प्रतिपक्षत्वेनेति । यथोक्तसपत्नस्याख्यानफलमाह—तेनेति । असपत्नगुणकप्राणोपासने फलवाच्यं प्रमाणयति—तत्रेति । प्राणस्यासपत्नत्वे सिद्धे शतीति यावत् । प्रासङ्गिकत्वं प्रजोत्पत्तिप्रसङ्गावागस्तत्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थात् उन्ने विस्तार या परिमाण वाला मन के ज्योतिरूप कारण के आधाररूप से शुलोक व्यवस्थित है । तथा उतने ही परिमाण वाला वह ज्योतिरूप करण या आधेय आदित्य है । 'तौ' अर्थात् वे आधिदैविक वाक् और मनस्य अग्नि और आदित्य माता-पिता हैं, वे दोनों 'मिथुनम्' एक दूसरे के साथ सम्पर्क को 'समनाम्' अर्थात् प्राप्त होते हैं । 'पितारूप मे विराजमान आदित्यरूप मन से प्रसूत और मातारूप से स्थित अग्निरूप वाणी से प्रकाशित कर्म करूँगा' इस विचार से अभिप्रेत पृथिवी और शुलोक के बीच उन दोनों का समागम हुआ जिससे अन्तरिक्ष गमन कर्म के लिए प्राणवायु उत्पन्न हुआ । जो उत्पन्न हुआ, वह 'इन्द्र' परमेश्वर था । वह केवल इन्द्र ही नहीं था । 'असपत्नः' अर्थात् जिसका कोई सपत्न न हो, ऐसा था । सपत्न का क्या भाव हुआ ? 'द्वितीय' जो प्रतिपक्ष या प्रतिकूल भाव को प्राप्त हो, वह दूसरा व्यक्ति ही सपत्न कहलाता है । अतः वाक् और मन के द्वितीय होने पर भी वे उसके सपत्नभाव को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे तो अध्यात्म वाक् और मन के समान प्राण के प्रति अनुकूलरूप से उपस्थित हैं । प्रसङ्गत सपत्नविज्ञान का वहाँ फल यह है कि जो कोई पूर्वोक्त प्राण को इस प्रकार असपत्न जानता है, उस विद्वान् के प्रति कोई प्रतिकूल नहीं होता ॥१२॥

अग्नी निर्दिष्ट प्रजा रूप प्राण का न होकर 'अर्थतस्य' अर्थात् तथा इस प्रसङ्गात् प्राप्त निरूप्य प्रजापति के अग्ररूप प्राण का "आप" अर्थात् जल 'शरीरम्' यानी कार्य है, करण का आधार है ।

१ एवमिति—अग्न्यादित्याग्न्या सर्वजनेति स्थिते सतीत्यर्थः । अत्र चोच्यमानजन्मा प्राणो वायु प्रजापते प्राणरूपो यथाऽध्यात्म प्राणस्तथा व्यष्टिधात्मा न त्वप्रान्तर्गत प्राणरूप तस्य समष्टिधात्मन प्रजापतिरूपतया कारणत्वेनान्यादित्यकार्यत्वात्सम्भवादिति बोध्यम् । २ अन्तरिक्ष गमनाय । ३ इन्द्रत्वमसपत्नत्वेन साधयति—नेति । ४ प्रतिकूलत्वेन सनिहित । ५ अनुकूलत्वेनोपस्थित । ६ अध्यात्ममिवेति—यथाऽध्यात्मे देहे वाङ्मनसे प्राणाधीने तथाऽधिदैवे देहेऽपि ते तदधीने न तु स्वतन्त्रे प्रतिकूले चेत्यर्थः । प्रजाभूतप्राणस्याधिदैविकप्राणपञ्चापतित्वात्तदनुकूलमयोर्वाङ्मनसयोस्त्वदनुकूलत्वेति भावः । तयो प्राणाधीनत्वे 'यदनेनाग्रमपि तेनैतास्तृप्यन्ति' 'तस्मादेत एतेनैवाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति' इत्यादिवाक्य प्रमाणयितव्यम् । तदुक्तम् वातिके—'प्राणस्यैव यतो वृत्ति उक्ते वाङ्मनसे अपि । प्राणस्याऽतोऽद्वितीयत्व ततश्चैन्द्रत्वमेव च' ॥१६१॥ इति । ७ प्रजाभूतस्य ।

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्त-

द्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते

एव इतः प्राण का, जल शरीर (आधार) है, वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है। वहाँ पर प्राध्यात्मिक भेद से जितने परिणाम वाला प्राण है, उतना ही परिणामवाला आधेयमृत जल भी है। एव उतना ही

अथैतस्य प्रकृतस्य प्राजापत्याग्नस्य प्राणस्य न प्रजोक्तस्यानन्तरनिर्दिष्टस्याऽऽपः शरीरं कार्यं करणाधारः पूर्ववज्ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तत्र यावानेव प्राणो यावत्परिमाणोऽध्यात्मादिभेदेषु तावद्व्याप्तिमत्य आपस्तावत्परिमाणास्तावानसौ चन्द्रोऽयाधेयस्तास्वस्वनुप्रविष्टः करणभूतोऽध्यात्ममधिभूतं च तावद्व्याप्तिमानेव । तान्येतानि पित्रा पाड्यतेन कर्मणा घृष्टानि त्रीण्यन्नानि वाङ्मनःप्राणाह्यानि । अध्यात्ममधिभूतं च जगत्समस्तमेतैर्व्याप्तं नैतेभ्योऽन्यदतिरिक्तं किंचिदस्ति कार्यात्मकं करणात्मकं वा । समस्तानि त्वेतानि प्रजापतिस्त एते वाङ्मनःप्राणाः सर्वे एव समास्तुत्यव्याप्तिमन्तो यावत्प्राणिगोचरं साध्यात्माधिभूतं व्याप्य ध्वस्तस्थिता अत एवानन्ता यावत्ससारमाविनो हि तेन हि कार्य-

आधिदैविकयोर्वाङ्मनसयोर्विभूतिनिर्बंशानन्तरमथेत्युक्तम् । नन्वेतस्येतच्छब्देन प्रजावैनीकस्य प्राणस्य किमिति न ग्रहणं तत्राऽऽह—न प्रजैति । अत्रत्रयस्य समप्रधानत्वेन प्रकृतत्वादेतच्छब्देन प्रधानपरामर्शोपपत्ती नाप्रधानं परामृश्यत इत्यर्थः । पूर्ववद्वाचो मनसश्च पृथिवी द्यौश्च शरीरं यथा तथेत्यर्थः । ईदृक्ष्ये प्राणस्योक्ते व्याप्तिमवशिष्टा व्याचष्टे—तत्रेति । तावानित्यादि प्रतीकमादाय व्याचष्टे—चन्द्र इति । वाङ्मनःप्राणानामाधिदैविकरूपेणोपासनं विधातुं वृत्तं कीर्तयति—तानीति । एतेभ्योऽतिरिक्तमधिष्ठानमस्तीत्याशङ्क्य विद्वानिति—कार्यात्मकमिति । प्रजापतिरेतेभ्योऽतिरिक्तोऽस्तीत्याशङ्क्य प्राऽह—समस्तानीति । 'तोपस्करं वृत्तमनूय धान्यमादाय व्याचष्टे—त एव इति । तुल्या व्याप्तिमेव व्यनक्ति—यावदिति । सायबशेष जगद्व्याप्येति योजना । तुल्यव्याप्तिमस्त्वमुपजोव्याऽह—अत एवेति । तेषां

यह चन्द्रमा भी पूर्ववत् ज्वातिस्वरूप है। वहाँ 'यावानेव प्राण' यानी अध्यात्मादि भेदों में। जितने परिणाम वाला प्राण है, 'तावत्य आप' अर्थात् उतनी व्याप्ति वाला यानी परिणाम, वाला जल है। 'तावानसौ चन्द्र' अर्थात् जल के आधेय उनम प्रविष्ट उसका करणभूत अध्यात्म और अधिभूत चन्द्रमा भी उतनी ही व्याप्ति वाला है। ये ही वे पिता के द्वारा पाड्यत कर्म के द्वारा उत्पन्न किये हुए वाक्, मन और प्राणसत्रक तीन अन्न हैं। सम्पूर्ण अध्यात्म और अधिभूत जगत् इनसे व्याप्त है, इनसे मिश्र कार्यात्मक अथवा करणात्मक कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं है। ये सभी प्रजापति हैं। जो पूर्व में अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेवरूप से बहे गये हैं, वे ये वाक् मन और प्राण सभी तुल्यव्याप्ति वाले ही हैं। अध्यात्म और अधिभूत के सहित जितना भी प्राणोगोचर है, ये सब

१ निरूप्यमाणस्य । २ ॥ पूर्वमध्यात्ममधिभूतमधिदैव बोधार्थे । ३ यत्परिमाणम् । ४ अनेन सापेक्ष नित्यत्वमेतेषामुक्तम् । ५ ओपस्करणं साङ्गोपाङ्गं बोधपरिहारसमस्तद्वृत्तमिति यावत् । ६ हेतुत्वेनाधित्यम् ।

सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत् उपा-  
स्तेऽन्तवन्तः स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानु-  
पास्तेऽनन्तः स लोकं जयति ॥१३॥

यह चन्द्रमा है । वे ये (याक, अन्न और प्राण) सभी समान हैं और सभी (ससार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले होने में) अनन्त हैं । जो कोई इन्हें परिच्छिन्न समझकर उपासना करता है, वह परिच्छिन्नलोक पर विजय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है ॥१३॥

‘करणप्रत्यापानेन संसारोऽवगम्यते । कार्यकरणात्मका हि त इत्युक्तम् । त यः ‘कश्चि-  
द्धं नम्रजापतेरात्मभूतानन्तवतः परिच्छिन्नानध्यत्मरूपेण बाधिमूलरूपेण बोधास्ते स च  
तदुपासमानुरूपमेव फलमन्तवन्त लोकं जयति परिच्छिन्न एव जायते नन्तेयामात्मभूतो  
भयतोत्पत्त्यः । अथ पुनर्यो हैताननन्तान्सर्वात्मकान्सर्वप्राण्यात्मभूतानपरिच्छिन्नानुपास्ते  
सोऽनन्तमेव लोकं जयति ॥१३॥

पिता पाङ्क्तेन कर्मणा सप्ताग्रानि सृष्ट्वा त्रीण्यन्त्यात्मार्थमकरोदित्युक्तं  
तान्येतानि पाङ्क्तकर्मफलभूतानि व्याख्यातानि । ‘तत्र ‘कथं पुनः पाङ्क्तस्य कर्मणः

यावत्संसारभाषित्वमभिध्यनन्ति—न होति । कार्यकरणयोर्यावत्संसारभाषित्वेऽपि ‘प्राणानां किमायातमत  
आह—कार्येति । तेषु परिच्छिन्नत्वेन ध्याने दोषमाह—स य इति । एवं पातनिकां कृत्वा विवक्षितमुपा-  
सनमुपदिशति—प्रयेति ॥ १३ ॥

अन्नये फलवद्धानविषये व्याख्याते वक्तव्यमावात्किमुत्तरप्रयेनेत्याशङ्क्य वृत्तं कीर्तयति  
—पितेति । तेषां तत्फलत्वे प्रमाणभाष्यमादाय शङ्कते—तत्रेति । ‘प्रकृतः पास्तान् गन्म्यर्थः । कार्य-

उसको व्याप्त करके स्थित हैं इसलिये ये अनन्ता’ अर्थात् ससार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले  
(सापेक्षान्तिम्) हैं, क्योंकि कार्य और करण के बिना ससार अन्य कुछ भी नहीं जाना जाता । एवं  
इनके बारे में ‘ये कार्यकरणात्मक हैं’, यह कहा जा चुका है । अधिकृतजनो में जो कोई ‘हैतान् अर्थात्  
प्रजापति के स्वरूपभूत इन सबको ‘अन्तवत्’ यानी परिच्छिन्न समझकर अध्यात्म या अधिभूतरूप  
से उपासना करता है, वह उस उपासना के अनुरूप फल अन्तवान लोक में ही ‘जयति’ अर्थात् आत्मभूत  
नहीं होता । तथा जो इन्हें ‘अनन्तान् अर्थात् सर्वात्मक या सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मभूत, अपरिच्छिन्न-  
रूप से उपासना करता है, वह अनन्त लोक को जीत लेता है ॥१-॥

पिता ने पाङ्क्तकर्म द्वारा सात अश्वों को उत्पन्न कर, तीन अपने लिए निषिद्धा न्रिये, यह  
पूर्व श्रुतिवाक्यों में कहा जा चुका है । पाङ्क्तकर्म के फलभूत उन अश्वों का प्रतिपादन ७२ दिया गया ।

१ कार्यकरणे बिना । २ अधिकृतानामप्य । ३ तत्रेति—अन्नप्रव्याख्याने तेषां पाङ्क्तकर्मफलभूतत्व  
कथमुक्तम् । ४ कथमिति—माताभावन तेषु पाङ्क्तत्वानुभवाभावादिनि भाव । ५ बाध्मन प्राणानामि-  
त्यर्थः । ६ अन्नप्रव्याख्यानम् ।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय  
एव पञ्चदश कला ध्रुववास्य षोडशी कला स  
रात्रिभिरेवाऽऽ च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याः

वह यह तीन अन्नरूप मवत्सर प्रजापति सोलह बनाओ बाना है। उनकी रात्रियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं। तथा उस प्रजापति की सोलहवीं कला कभी भी क्षीण नहीं होने से नित्य ही है। वह सवत्सर प्रजापति रात्रियों से ही शुपलपक्ष में बढ़ता है तथा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है। अष्टादश्या की रात्रि

फलमेतानीति । उच्यते । यस्मात्तेष्वपि त्रिष्टव्येण पाङ्क्तताऽवगम्यते । वित्तकर्मणोरपि  
'तत्र' संभवात् । तत्र 'पृथिव्यग्नी माता । 'द्विवादित्यौ पिता । योऽयं मनयोरन्तरा' प्राणः  
स प्रजेति व्याख्यातम् । तत्र वित्तकर्मणो संभावयितव्ये 'इत्यारम्भः—

स एष संवत्सरो योऽयं त्र्यम्नात्मा प्रजापतिः प्रकृतः स एष संवत्सरात्मना विशेष-  
पतो निर्दिश्यते । षोडशकलः षोडश कला अवयवा अन्त्य सोऽयं षोडशकलः संवत्सरः

लिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन्नुत्तरमाह—उच्यते इति । अनुमानमेव स्फुटयितुमनेषु पाङ्क्ततावर्गति  
वर्णयति—यस्मादिति । "तस्मात्तत्कारणमपि सादृशमिति शेषः । कथं पुनस्तत्र पाङ्क्तत्वघोरित्याशङ्क्या-  
ऽऽह—वित्ति । "प्रात्मा"जाया "प्रजेति त्रय संग्रहीतुमपि सन् । उक्तं हेतुं व्यक्तीकुर्वन्नुक्तं स्मारयति  
—तत्रेति । अन्नत्रय सप्तम्यर्थं । "तथाऽपि कथं पाङ्क्तत्वमित्याशङ्क्यान्तरग्रन्थमवतारयति—तत्र  
वित्ति । सप्तमी पूर्ववत् । अवतारितं ग्रन्थ व्याचष्टे—योऽयमित्यादिना । कथं प्रजापतेस्तिथिभिरापूर्व-

किन्तु वे पाङ्क्तकर्म के फल किस प्रकार है ? इसे कहा जाता है । अन्नत्रय में वित्त और कर्म की  
संभावना है क्योंकि उन तीनों अन्नों में भी पाङ्क्तता देखी जाती है । वहाँ पृथिवी (वाक्) और  
ग्नि माता है, द्यूलोक (मन) और प्रादित्य पिता है । इन दोनों द्यूलोक और पृथिवीलोक के बीच  
अन्तरिक्षगमनशील जो यह प्राण है, वह प्रजा है—इसकी व्याख्या की जा चुकी है । उनमें वित्त और  
कर्म की संभावना हाती है, इसलिए अग्रिम ग्रन्थ का समारम्भ होता है ।

'स एष सवत्सर' इस श्रुतिमन्त्र में अन्नत्रयस्वरूप जिस प्रजापति का प्रसङ्ग है, उसी का  
वैशेषतया सवत्सररूप से प्रतिपादन किया जाता है । 'षोडशकल' अर्थात् षोडशकला या अवयवों वाला  
कालस्वरूप सवत्सरात्मा प्रजापति षोडशकल है । 'तस्य' अर्थात् कालस्वरूप प्रजापति की 'रात्रय'

१. तेष्वपीति—पूर्वोक्ताप्रचतुष्टय दृष्टान्तयितुमपि शब्द । २ अन्नत्रये । ३ संभवादिति—अत्राय प्रयोग  
विमत पाङ्क्तकर्मफल अन्नत्रय पाङ्कन पाङ्क्तसंभावनाऽऽस्पदत्वात् साधारणायप्रचतुष्टयवदिति । ४  
वाक् । ५ मन । ६ द्यावापृथिव्यो । ७ अन्तरिक्षग । ८ आरम्भ इति—कार्यानुसूत्यात्  
कारणस्य कार्यं पाङ्क्तत्वाभावे कारणेऽपि तदमिदं फलस्य पाङ्क्तत्वार्थं विलादिवकनुमुत्तरो ग्रन्थ आरम्भ्यत  
इत्यर्थः । ९ कालात्मना । १० विमतमन्नत्रय स्वसदृशकारणफल कार्यत्वात् शुक्लपटवदित्यनुमानमभिप्रेत्याह  
—तस्मादिति । त्रिष्टव्येण पाङ्क्ततावगमात् पाङ्क्ताप्रत्ययकारण कर्माणि पाङ्क्तमेवेत्यर्थः । ११ मन ।  
१२ वाक् । १३ प्राण । १४ मानुषीपृष्ठजाना सत्त्वेऽपि ।

रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभूदनुप्रविश्य  
 तः प्रातर्जायते तस्मादेता रात्रि प्राणभूतः प्राणं  
 । विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया  
 अपचित्यं ॥१४॥

मे वह सवत्सररूप प्रजापति इस सोलहवी कला से इन समस्त प्राणियों में अनुप्रवेश कर फिर दूसरे दिन प्रातः काल द्वितीय कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रि में किसी प्राणी के प्राण-विच्छेद न करें। यहाँ तक कि इस सवत्सररूप देवता की पूजा के लिए इस अमावस्या की रात्रि में गिरगिट को भी न मारे (अमङ्गलरूपी पापों गिरगिट को स्वभाव से लोग मार डालते हैं। इसे मारने का भी निषेध इस रात्रि में किया जाता है) ॥ १४ ॥

सवत्सरात्मा कालरूपः । 'तस्य च कालात्मनः प्रजापते रात्रय एवाहोरात्राणि' तिथय इत्यर्थः । पञ्चदश कलाः । ध्रुवं नित्यं व्यवस्थिताऽस्य प्रजापतेः षोडशी षोडशानां पूरणी कला । 'स रात्रिभिरेव तिथिभिः कलोक्तामिरापूर्यते चापक्षीयते च । प्रतिपदाद्याभिह चन्द्रमाः प्रजापतिः शुक्लपक्षं प्रापूर्यते कलाभिरुपचीयमानाभिर्बंधते यावत्संपूर्णमण्डलः पूर्णमास्याम् । तामिरेयापचीयमानाभिः कलाभिरुपक्षीयते कृष्णपक्षे यावद्भ्रुवैका कला व्यवस्थिताऽमावास्यायाम् ।

'स प्रजापतिः कालात्माऽमावास्याममावास्यायां रात्रि रात्रौ वा व्यवस्थिता ध्रुवा मागत्यमपक्षीयमानत्वे च तत्राऽह—प्रतिगदायाभिरिति । बुद्धेर्वर्षा वर्षायति—यावदिति । अपक्षस्य मर्यादामाह—यावद्भुवैति ।

अवशिष्टाऽमावास्यायां निविष्टा कला प्रपञ्चयन्वृत्तीयकलोत्पत्ति शुक्लप्रतिपदि दर्शयति—स अर्थात् दिन और रातें यानी तिथियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं। 'अस्य' अर्थात् इस प्रजापति की 'षोडशी' अर्थात् सोलहवीं सख्या की पूर्ति करने वाली कला 'ध्रुवं' नित्यव्यवस्थित ही है। वह 'रात्रिभिरेव' यानी कलारूप से उक्त तिथियों से ही पूर्ण और अपक्षीय होता है। क्योंकि वह चन्द्रमा प्रजापति शुक्लपक्ष में प्रतिपदा आदि तिथियों से बँधता है, वह पूर्णमासी को पूर्णमण्डलान्तर होने तक अपनी बँधनी हुई कलाओं से बँधता रहता है। तथा कृष्णपक्ष में क्षीण होती हुई उन्ही कलाओं द्वारा तब तक क्षीण होता रहता है, जब तक अमावस्या में एक ध्रुवा कला ही शेष रह जाय।

'स' वह उपचय अपचय कर्मकान् कालस्वरूप प्रजापति अमावास्या रात्रिम् अर्थात् अमावस्या

१ ता एव षोडशकला आह—तस्य चेति । २ अहोरात्रसंबन्धिन्य । ३ एतासां कलानां वितरूपत्वं वक्तुं तत्साधर्म्यमाह—स इति । प्रजापतिश्चन्द्रात्मा उक्तवत्साधारणभित्तिधिभिरेवत्यर्थः । उपचयापचयरूपत्वाच्चन्द्रमसि पञ्चदशतिथ्यात्मककलानां वित्तादित्त्वमिदञ्चमर्थेव प्रजापतेश्चन्द्रात्मनोक्तिरिति ब्रह्मण्यम् प्रजापतिविराट्पुक्तो सोमकालदेवतात्मजोऽप्यगतस्तरय लोकानविद्वत्तयात्रयात्यकस्तावदास्मोक्तस्तस्यैव कालमभिरुच्य य आत्मा स च द्वादशमना वक्तव्य इति प्रजापतेश्चन्द्रात्मनः सवत्सरपदे नोपादानमित्यन्यत्रोक्तं द्रष्टव्यम् । ४ एव कलानां वित्तत्वे सिद्धे नदुपचयापचयो कर्मोक्तिप्रमाणमाह—स इति ।

कलोर्वेततया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभूतप्राणिजातमनुप्रविश्य यदपः पिवति यञ्चो-  
पधोरश्नाति तत्संयमेवोपध्यात्मना सर्वं व्याप्यामावास्यां रात्रिमवस्थाय ततोऽपरेष्टः  
प्रातर्जायते 'द्वितीयया कलया संयुक्तः । 'एवं पाङ्क्तात्मकोऽसौ प्रजापतिः । दिवादित्यौ  
मनः पिता । पृथिव्यग्नी वाग्जाया माता । तयोश्च प्राणः प्रजा । 'चान्द्रमस्यस्तिथयः कला  
वित्तमुपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तवत्तासां च कलानां कालावयवानां 'जगत्परिणामहेतुत्वं  
कर्म । एवमेव कृत्स्नः प्रजापतिर्जाया मे स्यादय प्रजायेयाय वित्तं मे स्यादय कर्म कुर्वमित्ये-  
षणानुरूप एव पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतः 'संवृत्तः । कारणानुविधायि' हि कार्यमिति  
लोकोऽपि 'स्थितिः ।

प्रजापतिरिति । प्राणिजातमेव विशिनष्टि—यदप इति । स्थावर जङ्गम चेत्यर्थः । औपध्यात्मनेत्युपलक्षणं  
जलात्मनेत्यपि द्रष्टव्यम् । फलभूते प्रजापतौ पाङ्क्तत्वं षण्णुपपन्नान्त तदद्यापि नोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह  
—एवमिति । 'तदैव पाङ्क्तत्वं व्यनक्ति—विवति । कलानां वित्तवद्वित्तत्वे हेतुमाह—उपचयेति ।  
पाङ्क्तत्वनिर्देशेन लब्धमर्थमाह—एवमेव इति । सप्रति कृत्स्नस्य प्रजापतेरुपक्रमानुसारिणो दशांशेति—  
जायेति । भवतु प्रजापतेरुत्तराद्या पाङ्क्तत्वं तयाऽपि कथं पाङ्क्तकर्मफलत्वं तत्राऽऽह—कारणेति ।

मे रात के समय जो उपरोक्त एक ध्रुवा कला व्यवस्थित रहती है, उस पाङ्क्षी कला के द्वारा 'प्राणभूत'  
यानी इन समस्त प्राणधारियों मे 'अनुप्रविश्य' अर्थात् जो जल पीता है और जो औपधि खाता है,  
उन सभी औपधिरूप से व्याप्त होकर अभावस्था की रात्रि मे स्थिर रहकर 'ततः' यानी दूसरे दिन  
प्रातः काल द्वितीया कला से समुक्त होकर उत्पन्न होता है । इस प्रकार यह प्रजापति पाङ्क्तस्वरूप है ।  
द्युलोक, आदित्य और मन-पिता है । पृथिवी, अग्नि और वाक्, जाया यानी माता है । उन दोनों  
माता और पिता की प्रजा प्राण है । चन्द्रमा की तिथियाँ या कलाएँ हैं क्योंकि वे वित्त के समान वृद्धि और  
क्षीण स्वभाव वाली है, तथा उन काल के अवयवस्वरूप कलाओं का जगत् के परिणाम मे हेतु होना  
कर्म है । इस प्रकार वह समग्र प्रजापति 'मेरे यहाँ' जाया, हो फिर मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ, मेरे  
यहाँ घन हो, फिर मैं कर्म करूँ' इसी एषणा के अनुरूप ही पाङ्क्तकर्म का फलभूत हो जाता  
है । लोकव्यवहार मे भी ऐसी ही स्थिति है कि कार्य कारण का अनुवर्ती होता है ।

क्योंकि इस रात्रि मे यह सोमात्मा प्रजापति अपनी ध्रुवा कला के सहित समस्त प्राणी  
समुदाय मे अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहता है, इसलिए अभावस्था के ग्रहोरात्र मे "प्राणभूत"  
यानी प्राणी के 'प्राण न विच्छिन्द्यात्' प्राण का विच्छेद न करे अर्थात् प्राणीहिंसा न करे । यहाँ तक

१ द्वितीयया कलया संयुक्तो जायते इति सम्बन्ध । तथा च प्रतिपदि द्विचलश्चन्द्रः कथमन्यथा पौर्णमास्या षोडश-  
कलत्वं तस्योपपद्येतति भावः । २ चन्द्रनिर्बर्त्ता । ३ जगदिति—भूतल्यको विराडात्मकवच काल-  
तत्तद्विषयस्य भूत्वा जगदात्मपरिणाममादधन्माहाप्रलयपर्यन्तं स्थितः । तथा च तस्य जगत्परिणाममित्युक्तं  
कर्मपर्यं । यदा स हि पश्चादेतिष्यादनस्य बर्माणो नैरन्तर्येण कर्ता तेन चन्द्रमसि तन्निर्माणस्य बर्मेति बोध्यम् ।  
तथा चोक्तं यातिके—“पश्चादासत्तुवधिरे स कर्ता बर्माणोऽनिरुद्धमिति” ॥ २०८ ॥ ४ कृत्स्नं संवृत्तं इत्यन्वयः ।  
५. अनुरूपम् । ६ प्रसिद्धिः । ७ पूर्वोक्तम् ।

यस्मादेव 'चन्द्र एता रात्रि सर्वप्राणिजातमनुप्रविष्टो ध्रुवया फलया वर्तते तस्मा-  
द्वेतोरेताममावास्यां' रात्रि प्राणभूतः प्राणिनः प्राणं न विच्छिन्नात्प्राणिन न  
'प्रमापयेदित्येतदपि कृकलासस्य । कृकलासो हि पापात्मा स्वभावेनैव हिंस्यते प्राणिमिदं होऽ-  
प्यमङ्गल इति कृत्वा । ननु प्रतिषिद्धं व प्राणिहिंसा न हिंस्यात्सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य  
इति । 'बाढ प्रतिषिद्धा तथाऽपि' नामावास्याया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचनं हिंसायाः  
'कृकलासविषये वा "किं तह्येतस्या." सोमदेवताया अपचित्यै पूजार्थम् ॥ १४ ॥

पाङ्क्तकर्मफलत्वं प्रजापतेरुक्तत्वा "प्रासङ्गिकमर्थमाह—यस्मादिति । अपि कृकलासस्येति कुतो  
विशेषोक्तिरित्याशङ्क्याऽह—कृकलासो हीति । कुतस्तस्य पापात्मत्वं तत्राऽह—इदोऽपीति । "विशेष-  
नियेषस्य शेषानुज्ञापरत्वाद्विरोध सामान्यशास्त्रेण स्यादिति शङ्कते—नन्विति । तीर्थशब्द शास्त्रवि-  
हित "प्रदेशविषय । "साधारण्येन सर्वत्र निषिद्धाऽपि हिंसा विशेषतोऽमावास्याया निषिध्यमाना  
सोमदेवतापूजार्थां ततः शेषानुज्ञाभावात् "सामान्योक्तिविरोधोऽस्तीति परिहरति—बाढमिति ॥१४॥

किं उस काल में गिरगिट वे भी प्राण न ले क्योंकि गिरगिट पापात्मा है, देखने में भी अमङ्गलरूप  
है—ऐसा सोचकर प्राणी स्वभाव से इसे मार डालते हैं। यहाँ शङ्का हाती है—परन्तु "यज्ञभूमि आदि  
पवित्र तीर्थप्रदेशों में प्राणीमात्र की हिंसा न करे" इस छान्दोग्यश्रुति के अनुसार हिंसा तो  
सामान्यतया निषिद्ध ही है। (फिर उसके अलग प्रतिषेध का विधान क्यों किया गया?) (इसका  
समाधान करते हैं—) यह सत्य है कि छान्दोग्यश्रुति में प्रतिषिद्ध है, तथापि यहाँ जो श्रुति का कथन  
है, वह अमावस्या से निम्न समय में प्राणीसामान्य अथवा केवल गिरगिट की हिंसा का अभ्यनुज्ञा  
करने के लिए नहीं है, तो फिर किस लिए है? इस सोम देवता को "अपचित्यै" अर्थात् पूजा के  
लिए यह कथन है ॥१४॥

जो भी पौडश कलाओं वाला सवत्सर प्रजापति परोक्षरूप से कहा गया है, उसे अत्यन्त  
परोक्ष ही नहीं मानना चाहिए क्योंकि 'अयमेव स' अर्थात् वह ( उपासनाविषय में ) प्रत्यक्ष सिद्ध

१ चन्द्रास्मा प्रजापति । २ रात्रिश्चन्द्रोऽहोरात्रपर । उक्त हि—'रात्रय एवाहोरात्राणीति' । ३.  
हिंस्यात् । ४ सत्यम् । ५ साधारण्येन सर्वहिंसानियेषेऽपि । ६ प्राणभूत प्राण न विच्छिन्नादित्यनेन  
प्राणिसामान्यविषयाया हिंसाया अमावास्यातिरिक्ते कालेऽभ्यनुज्ञाऽन्यस्यते । अपि कृकलासस्य—किं वा कृकलास-  
स्येत्यर्थस्तथा चानेन कृकलासविषयाया हिंसाया एव वाऽमावस्यातिरिक्ते कालेऽभ्यनुज्ञा प्रतीयते तदेतदुभय  
नियेषति—नामावास्याया इति । ७ अभ्यनुज्ञास्यम् । ८ हिंसाया—प्राणिसामान्यविषयाया इत्यर्थः ।  
९ कृकलासविषये वेति—कृकलासविषयाया वा हिंसाया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचन नेत्यन्वयः । अपिरागदस्त्वत्र  
केमुत्पद्योत्येतिवैयर्थ्यमयम् । १० विशेषेण नियेषस्य शेषानुज्ञापरत्वाभावे तत्प्रयोजनं शृच्छति—किं तर्हीति ।  
११ तत्प्रयोजनं दर्शयति—एतस्या इति । १२ प्राजापत्यक्रान्तविहितपाङ्क्तकर्मसंज्ञातीत्यनेन स्मृतस्य  
हिंसात्मकनिषिद्धकर्मण उपेक्षानर्हत्वं प्रथमं तस्मादमतः प्रासङ्गिकममावास्यारात्रौ प्राणिहिंसावर्जनरूपमप्यनित्यम् ।  
१३ विरोधेति—अमावास्याकालाधिकरणककृकलासार्थकहिंसानियेषश्चास्त्वस्य । उत्तरतिरिक्ते का हिंसानुज्ञा-  
परत्वादित्ययः । अनुमतिवाक्यकत्वान्न हिंस्यादिति सामांयविरोधः स्यात् । १४ यज्ञभूम्यादि । १५.  
सर्वदा प्राणिमात्रविषयत्वेन । १६ सामान्यशास्त्रेत्यर्थः ।

यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽय-  
मेवंवित्पुरुषस्तेस्य' वित्तमेव पञ्चदश कला आत्म-  
वास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽ च पूर्यतेऽप च

जो भी वह सोलह कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति है, वह यही है। जो इस प्रकार अन्न  
त्रयरूप प्रजापति को जानने वाला पुरुष है; वित्त ही उसकी पन्द्रह कलाएँ हैं तथा शरीर ही उत  
रहस्यवेत्ता की सोलहवीं कला है। वह चन्द्रमा वं समान गौ-म्रदवादि वित्त में ही बढता है और क्षीण

यो वै परोक्षामिहितः संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः स नैवात्यन्तं परोक्षो  
मन्तव्यो यस्मादयमेव स प्रत्यक्ष उपलभ्यते । कोऽसावयं यो यथोक्तं श्रमन्नात्मकं प्रजापति-  
मात्मभूतं वेत्ति स एवंवित्पुरुषः केन सामान्येन प्रजापतिरिति तदुच्यते—तस्यैवंविदः  
पुरुषस्य गवादिवित्तमेव पञ्चदश कला उपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तसाध्यं च कर्म । तस्य  
कृत्स्नताया आत्मेव पिण्ड एवास्य विद्युः षोडशी कला ध्रुवास्थानीया स चन्द्रवद्वित्ते-

'परपूर्वमाधिदैविकश्रमन्नात्मकप्रजापत्युपासनमुक्तं तवहमस्मि प्रजापतिरित्यहग्रहेण कर्तव्यमित्याह  
—यो वा इति' प्रत्यक्षमुपलभ्यमान प्रजापति प्रश्नद्वारा प्रकटयति—कोऽसाविति । 'तस्य प्रजापतित्व-  
मप्रतिद्विमिस्त्राशङ्क्य परिहरति—केनेत्यादिना । कलानां जपद्विपरिणामहेतुत्वं कर्मैश्वर्यं वित्तेऽपि  
'कर्महेतुत्वमिति' तेन 'तत्र कलाशब्दप्रवृत्तिरिति तेत्याह—वित्तेति । यथा चन्द्रमाः कलाभिः शुक्लकृष्ण-  
पक्षयोरुपपूर्यतेऽपक्षीयते च तथा स विद्वान्वित्तेनैवोपक्षीयमानेनाऽऽपूर्यतेऽपक्षीयमानेन चापक्षीयते । "एतन्न

होता है। वह यह कौन है जो पूर्वोक्त अन्नत्रयात्मक आत्मभूत प्रजापति को जानता है, वह इस  
प्रकार जानने वाला पुरुष किस सादृश्य से प्रजापति है? इसका प्रतिपादन किया जाना है। उस इस  
प्रकार जानने वाले पुरुष की, गवादि वित्त ही पञ्चदश कलाएँ हैं क्योंकि उनका उपचय अपचय धर्म  
वाला होना लोकसिद्ध है और कर्म भी वित्त से ही साध्य है। उसकी पूणता के लिए 'आत्मेव' यानी  
पिण्ड ही या प्राणादिविशिष्ट वह ही 'अस्य' यर्थात् इस विद्वान् की ध्रुवास्थानीया 'सोलहवीं कला  
है। वह चन्द्रमा के समान वित्त से ही बढता और घटता है—यह बात लोक में प्रसिद्ध है।

१ तस्य वित्तमेवत्यादि क्षीयत इत्यन्तः प्रयेनैतदुक्तं भवति प्रजापतश्चन्द्रमसो वा पञ्चदशकलास्ता मे गवादि-  
वित्तमेव यत्तस्य जगत्परिणामरूपं कर्म तन्म वित्तस्य हान्युपचयावय याज्य ध्रुवा षोडशीकला सा मे प्राणादिवि-  
शिष्टो देह एव तदेव साधर्म्यात् षोडशकल प्रजापतिरहमस्मीत्युपासीनस्तद्भावमाप्नोतीति प्रजापतेरात्मनोन्वत्तेऽपि  
तदात्मत्वध्यानात् तद्भाव स यथा गय्यादि श्रुते प्रतिभादावीश्वरनुदया पन्तटप्रेक्षेति ॥ २ यो हि न  
षदात्मपरोक्षी भवति माज्यन्त परोक्ष । अयं तु न तथा उपास्तिस्त्रिदावपराशक्त्यादिति । ३ सादृश्येन ।  
४ सूत्रयोपासनस्य च साधर्म्यं प्रजापतित्वारोपणम् । ५ प्राणादिविशिष्टो देह । ६ परपूर्वमिति—त एते  
सर्व एव समा इत्यत्र ध्यानस्थोत्तरत्वात् किं पिष्टपेषणेन (उत्तरध्यानेन) इत्याशङ्क्येत्यादि । उत्तरध्यानात्प-  
र्यन्तरं तु कतिपे इत्येवम् । ७ उपासनस्य । ८ यागादिर्मतेत्यर्थः । ९ कर्महेतुत्वसाधर्म्येन । १०  
वित्ते । ११ वित्तोपचयादिप्रयुक्त पूर्णत्वादिति ।



क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिवित्तं तस्माद्यद्यपि  
सर्वज्यानि जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादि-  
त्येवाऽऽहुः ॥ १५ ॥

होता है । यह जो शरीर है वह रथचक्र की नाभिरूप है और वित्त रथचक्र के बाहर का घेरारूप नेमि है । घत, सर्वस्व नष्ट हो जाने के कारण यदि पुरुष हीन हो जाय, पर शरीर से जीवित रहे तो यही कहते हैं कि केवल प्रधि (नेमि) से ही क्षीण हुआ है अर्थात् घनाभाव होजाने पर भी जीवित पुरुष पुनः घन को प्राप्त कर सुखी हो जाता है ॥ १५ ॥

नैवाऽऽपूर्यते चापक्षीयते च । तदेतन्नलोके प्रसिद्धम् । तदेतन्नभ्यं 'नाभ्यं' हितं नभ्यं नाभिं वाहतीति । किं तद्ययं योऽयमात्मा पिण्डः प्रधिवित्तं परिवारस्थानीयं 'बाह्यं' चक्रस्येवारनेम्यादि । तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानि सर्वस्वापहरणं जीयते हीयते 'ग्लानिं' प्राप्नोत्यात्मना चक्रनाभिस्थानीयेन चेद्यदि जीवति प्रधिना बाह्येन परिवारेणापमगात्क्षीणोऽयं यथा चक्रमरनेमिविमुक्तमेयमाहुर्जीवन्मरनेमिस्थानीयेन वित्तं पुनरपधीयत इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

लोकप्रसिद्धत्वात् प्रतिपादनसापेक्षमित्याह—स चन्द्रवदिति । आत्मेव ध्रुवा कलेत्युक्तं तदेव रथचक्र-  
पुण्ड्रेण स्पृष्टव्यमिति—तदेतदिति । 'नाभिश्चक्रपिण्डिका' 'तस्स्थानीयं वा नभ्यं' 'तदेव प्रद्वारा स्फोरयति'—किं तदिति । शरीरस्य चक्रपिण्डिकास्थानीयत्वमुक्तं 'परिवारावर्तनादित्याशङ्क्याऽऽहुः'—प्रधिरिति । शरीरस्य रथचक्रपिण्डिकास्थानीयत्वे फलितमाह—तस्मादिति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—जीवन्चेदिति ॥ १५ ॥

"तदेतन्नभ्यम्" अर्थात् जो नाभि के लिए हितकारक या नाभि के लिए योग्य हो, उसे नभ्य कहते हैं । वह क्या है ? 'यदयमात्मा' अर्थात् जो यह प्राणादिविशिष्ट देह है । 'प्रधिवित्तम्' यानी वित्त वाह्य परिवाररूप है, जैसे पहिये के अंदर और नेमि इत्यादि । इसलिए यद्यपि 'सर्वज्यानिम्' अर्थात् सर्वस्व अपहरण होने से 'जीयते' यानी पुरुषहीनता या ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, तथापि यदि वह चक्र की नाभिस्थानीय अपने प्राणादिविशिष्ट देह से जीवित है तो कहा जाता है कि यह 'प्रधिना' यानी बाह्य परिवार से 'अगता' अर्थात् क्षीण हो गया; जिस प्रकार कि अंगे और नेमि से विहीन चक्र । अभिप्राय यह कि यदि वह जीवित रहता है तो रथ की नेमिरूप घन से फिर भी वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

१. उपासकस्य देह एव ध्रुवास्थानीया पोद्भी कलेति यदुक्तं तत् । २. इदं तु व्युत्पत्तिप्रदर्शनमात्रम् । ३. जायादिरूपम् । ४. बाह्यं वित्तमित्यन्वयः । ५. शरीरस्य नाभिस्थानीयत्वात् । ६. सर्वस्वापहरणनिमित्तात् । ७. घतत्वं क्षीणत्वम् । ८. गम्यस्या । ९. अपमगार्थो निर्वासितः । १०. अभिमर्तं नभ्यशब्दाच्चम् । ११. अरनेम्यावर्तनात् ।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको 'देवलोक

इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक यही तीन लोक हैं। उनमें से वह यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्म से नहीं। तथा कर्म से पितृलोक और उपासना से

एवं पाङ्क्तन देववित्तविद्यासंयुक्तेन कर्मणा अयन्नात्मकः प्रजापतिर्भवतीति व्याख्यातमनन्तरं च जायादिवित्तं परिवारस्यानीयमित्युक्तम्। तत्र पुत्रकर्मपरिविद्यानां लोकप्राप्तिसाधनत्वमात्रं सामान्येनावगतं न पुत्रादीनां लोकप्राप्तिकलं प्रति विशेषसंबन्ध-नियमः। सोऽयं पुत्रादीनां साधनानां 'साध्यविशेषसंबन्धो वक्तव्य इत्युत्तरकण्डिका प्रणीयते-

अथेति वाक्योपन्यासायः। त्रयो वावेत्यवधारणायः। त्रय एव शास्त्रोक्तसाधनार्हा लोका न भ्यूना नाधिका वा। के त इत्युच्यते—मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।

अत्रत्रयात्मनि प्रजापतावहग्रहोपासनस्य सफलस्योक्तबाहुक्तव्याभावादुत्तरप्रत्यक्षं यथैर्मित्या-शाङ्क्य तद्विषयं वस्तु वृत्तमनुववति—एवमिति। साधनोक्त्यैव फलमुवत तयोमिषोबद्धत्वात्प्रजापत्यं च फलं प्रागेव वक्षितं तस्मिन्नुत्तरप्रत्येनेत्याशङ्क्य 'सामान्येन' तत्प्रतीनाधयोदमस्येति 'विशेषो' 'नोक्तस्तदुक्त्यर्थमुत्तरा श्रुतिरित्याह—तत्रति। पूर्वप्रत्यक्षं सप्तम्यर्थः। नियमो नावगत इति संबन्धः। उपन्यासः प्रारम्भः। पाङ्क्तस्यैवायमारण्यरूपमयं विवृणोति—त्रय एवेति। तत्रैव लोकत्रय प्रदनद्वारा स्फोरयति—के त इत्यादिना। जयो नाम पुत्रेण मनुष्यलोकस्यातिश्रमः इति 'केचित्ताग्रत्याह—साध्य

इस प्रकार देववित्त और विद्यासंयुक्त पाङ्क्तकर्म के द्वारा प्रजापति अन्नत्रयात्मक है, इसकी व्याख्या की जा चुकी। इसके बाद परिवारस्यानीय जायादिवित्त का वर्णन किया गया। वहाँ पुत्र, कर्म और प्रपरविद्या का सामान्यतया लोकप्राप्ति में साधनमात्र होना सिद्ध होता है, पुत्रादि का लोकप्राप्तिरूप फल के प्रति विशिष्टसंबन्ध होने का नियम नहीं सिद्ध होता। वह सम्बन्ध पुत्रादि-साधनो का साध्यविशेषो के साथ बतलाना है, इसलिए आगे की कण्डिका का प्रणयन किया जाता है।

'अथ' यह शब्द वाक्योपक्रम के लिये है। 'त्रयो वाव' यहाँ 'वाव' निश्चयार्थक है। शास्त्रोक्त साधन तीन ही लोक हैं, न इससे कम हैं, न ही अधिक हैं। वे कौन से हैं? इस पर कहा जाता है, मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। उनमें वह यह मनुष्यलोक पुत्ररूप साधन के द्वारा 'जय्य' अर्थात् जीतने योग्य यानी साध्य है। इस प्रकार आगे हम बतलाएँगे। किसी अन्यकर्म अथवा विद्या से नहीं,

१ ब्रह्मलोक। २ इत्युक्तमिति—तथा च जायावित्तोपलक्षितसाधनान्येव न श्रुति अवधीत तु तत्साध्यं तदुक्त्यर्थं परा श्रुतिरिति शेषः। ३ व्यवहरण्या लोचन्यसव च। ४ साधनमाध्या। ५ फलत्वेन। ६ फलप्रतीतो। ७ विशिष्टफलसंबन्धः। ८ साधनोक्तिमात्रेण नोक्त स्यादित्यर्थः। ९ अतिश्रम इति—समुल्लघनम् अत्यय इति यावत्। १० पुत्रादिविश्विभिरिव मनुष्यादिलोके त्रयोपलक्षितस्य सकारण्यं व्यस इति भर्तृप्रपञ्चादीनां भाव इत्यन्यत्र विस्तरः। १० भर्तृप्रपञ्चादयः।

कर्मणा, पितृलोको विद्यया, देवलोको वं लोकानां

श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

देवलोक जीते जा सकते हैं। इन लोकों में देवों को ही श्रेष्ठ है। इसीलिए देवलोकप्राप्ति के साधनभूत विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

तेषां सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव साधनेन जग्यो जेतव्यः साध्यो यथा च पुत्रेण जेतव्यस्त-  
थोत्तरत्र' वक्ष्यामो नान्येन कर्मणा विद्यया चेति वाक्यशेषः । कर्मणाऽग्निहोत्रादिलक्षणो

इति । पुत्रेणास्य साध्यत्वमसिद्धमिष्टाशङ्क्याऽह—यथा चेति । द्विविधो हि मनुष्यलोकजय 'कर्तव्यशे-  
यानुष्ठानं भोगश्च । तत्राऽऽद्यामाश्रयान्ययोगवच्छेदमेवकारार्थं वक्ष्यति—नान्येनेति । द्वितीये  
'त्ययोगवच्छेदस्तदर्थो 'ज्योतिषेयं लोक जयतीति साधनान्तरेणापि मनुष्यलोकजयधृतेरिति भावः ।  
पूर्ववाक्यस्यैवकारमुत्तरवाक्ययोरनुपपत्तमुपेत्य वाक्यद्वयं व्याचष्टे—कर्मणेत्यादिना । साधनद्वयापेक्षया

यह वाक्यशेष है। अग्निहोत्रादिरूप केवल कर्म से पितृलोक जीतने योग्य है, पुत्र अथवा विद्या से नहीं। तथा उपास्तिरूप विद्या से देवलोक प्राप्त होने योग्य है, पुत्र अथवा कर्म से नहीं। दोनों लोकों

१ अग्निहोत्रादिकायां । २ पितुरग्राह्ययनादिकर्तव्यशेषानुष्ठानम् । ३ पुत्रेणापि जग्य एव । ४ ज्योतिष्येति ।

॥ पूर्ववाक्यस्यैवकारमुत्तरवाक्ययोरनुपपत्तमुपेत्य वाक्यद्वयं व्याचष्टे—इत्थं वाक्यद्वयव्याख्यानं वार्तिककारा-  
सम्मतम् तथाहि—'विद्यया देवलोकप्राप्ति श्रुतत्वादेव कारणात् । नैवकाराभिसंबन्धादेवेत्यत्र न तपति ॥ २५५ ॥  
पुनश्चैवतु शिष्टं स्यात्लोकस्तेनैव जीयते । नान्येन कर्मणाऽग्राह्यो नृलोकजयसिद्धये ॥ पुनस्त्यैवावधृत्य एवकारो  
भवेदयम् । पितृदेवलोकसंप्राप्ति श्रुतेर्ह्याग्नैश्च साधनैः ॥ व्याख्यानमिदमेवान् विदोष दोषवत्परम् । इमेव  
ततो प्राह्य न तु बर्होषवन्मतमिति" ॥ २५६-२८१ ॥ इति । पूर्ववाक्यस्यैवकार विद्याकर्मैवाक्ययोः प्रक्षिप्य  
—भाष्यकृतो व्याख्यानमनुक्तमित्याह—विद्ययेति । तथा देवलोकस्य कर्मणा पितृलोकस्य च प्राप्तिसूक्तं तयोस्तत्सा-  
धनत्वधृतेन तयोरेवकारसंबन्धाद्विद्यया देवलोकस्य कर्मणैव पितृलोकस्य प्राप्तिरिति युक्तं तत्तत्त्वा (देवपितृलो-  
कादौ) साधनान्तरापीनत्वस्यापि श्रुतेरतो विद्यादादेवकारसङ्कतिरसङ्कतस्य ॥ साधनान्तरापीनत्वमेव तस्यां  
—वर्णयन् यत्रैवकार श्रुतस्तत्रैवाभाविति साधयति—पुनश्चेति । अत्र मनुष्यलोके । द्विविधो हि मनुष्यलोकजय  
पितुरग्राह्ययनादिकर्तव्यशेषानुष्ठानं भोगश्च तत्र पुनर्जितलोकजयबुद्ध्या पितृभिः सोऽनुमिष्टदेवेति तत्रैवार्थो जयो  
न हि यथोक्तलोकजयार्थं कर्मणो विद्यायां वा कर्मिणोऽप्यपीनस्तदर्थं पुनस्त्यैवोपायत्वात्तत्त्वधारणार्थमेवकारो युक्तः  
—तस्यान्वययोगव्यवच्छेदादर्थवत्त्वात् द्वितीयस्तु जयो हेत्यन्तरेणापि स्याज्ज्योतिषेयं लोक जयतीति धृतेरप्रत्यक्षोपपत्ति-  
—च्छेदस्तदर्थ इति भावः ॥ उत्तरवाक्ययोस्तु तत्सम्बन्धो न युक्तिमानित्याह—पितृदेवेति । न हि पितृलोकजयो  
नित्यादिकर्मनिमित्त सकल्पदेव तु तच्छ्रुते (बृ ४.४.८) इतिन्यायविरोधात्प्रापि विद्यया देवलोकजय सत्यासा-  
दब्रह्मण स्थानमित्यादिविरोधादतो लोकद्वयजयस्य हेतुत्वात्तत्त्वसम्बन्धादकार प्रक्षिप्य वाक्ययोर्व्याख्या न  
युक्तेत्यर्थः ॥ एवकारो यत्र श्रुतस्ततोऽप्यत्र नेत्येतदेव श्रुत्यादिसम्बन्धवान् निर्दोष वाक्यद्वयेभ्येवकारानुपपत्तिरिति तु  
श्रुत्यादिसम्बन्धत्वात् सदोष तस्मादस्मद्व्याख्यानेनैव विद्वद्भिन्नं न आशङ्क्यरीयमिति फलितमाह—इदमिति ।  
अथ कर्मणेत्यादि वाक्ये । एकस्य विदोषत्वमपरस्य सदोषत्वमिति स्थितं फलितमाह—इदमिति ॥

अथातः संप्रतिर्यदा 'प्रंध्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म  
त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं  
यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्म-

प्रथम इमके बाद संप्रति कर्म कहा जाता है । (मरण-चिन्ह को देखकर) जब पिता यह समझता है कि प्रथम मरने वाला हूँ, उस समय पुत्र को बुना कर कहता है 'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है' इस प्रकार पिता से शिक्षा प्राप्त कर वह पुत्र प्रत्युत्तर में कहता है मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ,

'केवलेन पितृलोको जेतव्यो न पुत्रेण नापि विद्यया ।' विद्यया देवलोको न पुत्रेण नापि कर्मणा । देवलोको वै लोकानां त्रयाणां श्रेष्ठः प्रशस्यतमः । तस्मात्तत्साधनत्वाद्विद्यां प्रशसन्ति ॥ १६ ॥

एव साध्यलोकत्रयफलभेदेन-<sup>१</sup> विनियुक्तानि पुत्रकर्मविद्याख्यानि श्रीणि साधनानि । जाया तु 'पुत्रकर्मार्थं त्वाहं पृथक्साधनमिति पृथङ्नामिहिता । वित्तं च कर्मसाधनत्वाच्च पृथक्साधनम् । विद्याकर्मणोर्लोकजयहेतुत्वं स्वात्मप्रतिलोभनेनैव भवतीति

फलद्वारकमुत्कर्षं विद्यायां दक्षयति-देवताक इति ॥ १६ ॥

वृत्तमनुब्रूयति-एवमिति । पुत्राविद्यज्ञायावित्तयोरपि प्रकृतस्वात्फलविशेषे विनियोगो 'वक्तव्य इत्याशाङ्क्याऽह-जाया वित्ति । न पृथक्पुत्रकर्मभ्यामिति शेष । न 'पृथक्साधन कर्मण सकाशादिति प्रष्टव्यम् । भवत्येव साधनत्रयनियमस्तथाऽपि विद्याकर्मणो हित्वा समनन्तरप्रथमे किमिति पुत्रनिरूपण-

मे देवलोक ही 'श्रेष्ठ' यानी सबसे अधिक प्रशसनीय है । अतः उसका साधन होने से विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

इस प्रकार पुत्रकर्म और विद्यासंज्ञक तीन साधनों का उनके साध्य लोकत्रयरूप फल के भेद से विनियोग किया गया । जाया तो पुत्र और कर्म के लिए ही होने के कारण कोई पृथक् साधन नहीं है, इसलिये उसका अलग वर्णन नहीं किया गया । वित्त भी कर्म का साधन होने के कारण स्वतन्त्र साक्षात् साधन नहीं है । विद्या और कर्म स्वरूपलाभमात्र के द्वारा लोकजय के हेतु होते हैं, यह प्रसिद्ध है । पुत्र के अक्रियात्मक होने से वह किसप्रकार लोकजय का हेतु होता है, यह नहीं जाना जाता । अतः उसे बतलाना है, इसलिये अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । 'संप्रति' सम्प्रदान का नाम है । 'संप्रति' यह

- १ प्रीत्यभित्यस्य प्रजिज्म्यभित्यर्थान्तरं वातिकोक्तमनुसंधेयम् । २ इतरसहइतेन । ३ विद्येति-उपा-
- नितिरूपयेत्यर्थः । देवलोकप्राप्तिफलकव्यवशाभावात् भुख्या विद्या । विस्तरस्तु वातिके । ४ विरोधेण सह ।
- ५ सर्वविधतपोक्तानीत्यर्थः । अनेनायसद्वयार्थं सूचितः । ६ उभयार्थत्वात् । ७ स्वतन्त्र साक्षात्साधनम् । ८
- स्वरूपलाभमात्रेणैव । ९ तयो क्रियारूपत्वात् । १० वक्तव्य इति-अन्यथा तयो पुरुषार्थत्वान्वयिरव
- नोपपद्येतेति भावः । ११ पुत्रकर्मणोरेव जायावित्तयोरन्तर्यात्वात् तयो सिद्धेऽपि फलसम्भवे तदन्तर्भूतयोस्त-
- योरपि तत्सिद्धेस्तयोर्न स्वात् श्रेण पला वयानुकीतनमपेक्षितमिति भावः ।

त्येकता । ये वै के च यज्ञस्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता

ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकततावद्वा

इदं सर्वमेतन्मा सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात्पुत्र-

मै लोक है । ( इन तीनों वाक्यों की व्याख्या स्वयं श्रुति करनी है ) जो कुछ भी प्रनूत स्वाध्याय है, उस सबकी 'ग्रह' यह एकता है । जो कुछ भी न किया हुआ यज्ञ है, उन सबकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी ज्ञातव्यलोक है, उन सबकी 'लोक' यह एकता है । वयं ! यह हमना ही गृहस्थपुरुष था । सम्पूर्ण पालनीय कर्तव्य है । ( फिर पिता यह समझता है कि ) मेरे अधीन इस सम्पूर्णभार को

प्रसिद्धम् । 'पुत्रस्य त्वक्रियात्मकत्वात्केन प्रकारेण लोकजयहेतुत्वमिति न 'ज्ञायतेतस्तद्वत्क-  
व्यमित्यथानन्तरमारभ्यते—संप्रतिः संप्रदानम् । संप्रतिरिति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो

मित्याशङ्क्याऽह—विधाकर्मणोरिति । ऋषयोक्ते चोद्ये पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञानापनार्थं संप्रतिवाक्यमि-  
त्याह—अत इति । प्रपात इति पदद्वयं व्याख्याय संप्रतिपदं व्याचष्टे—संप्रतिरिति । किमिव संप्रदानं

प्रागे कहे जाने वाले कर्म का नाम है । पिता पुत्र में स्वदेहसुखाद्याध्ययनादिव्यापार का इस प्रकार  
से सम्प्रदान करता है, इसलिए यह कर्म "संप्रति" नाम वाला है । उसे किस समय करना चाहिए ?  
इस पर श्रुति कहती है । वह पिता 'यदा' यानी जिस समय, 'प्रेष्यन्' अर्थात् मरणकाल समीप देखकर

१ सप्तममिति—शिष्टोऽयं मे पुत्र । २ पुत्रस्तु मनुष्यलोकवयं न तथा हेतुर्गृह्यत्वाद् वहि क्रियामाविष्ट  
साधनं दृष्टमस्तस्य लोकजये कथं साधनतयाभिप्रेत्याह—पुत्रस्येति । ३ यतो न ज्ञाप्येऽनस्तज्ज्ञापनाममुत्तर  
वाक्यमिति ध्रुवनाश शब्दाद्यो व्याख्यात । तथा चायात संप्रतिरिति वाक्यस्यावयवम् । अत पूर्वोक्तात्मोपास-  
नयोरनुष्ठानात् । अथ जननरमेव आरम्भावसाने कर्मोपास्यो कसार्थं कसाङ्कत्वेन संप्रतिनामकं कर्म विधीयत  
इति । ४. पुत्रादिज्ञापनात् साध्यविशेषवचनं यथानन्तरमिति ।

१. ऋषयोक्ते चोद्ये पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञानार्थं संप्रतिवाक्यमिति वाक्यिकाकार्यस्तु संप्रतिवाक्यस्य सम्प्रदानात्तस्माद्-  
स्तमादि—“नीत्वा समापि कर्माणि वसवस्त्यक्तानि च ॥ बुद्धयौ ब्रह्मजेष्वर्वाङ्गिरक्त कर्मणा कलात् ॥  
इत्यनुक्रमस्यार्थे संप्रतिपदविषयते ॥ योऽनुकमेवेति तथा श्रुती स्पष्टमिव वचः ॥ अतनुक्रमस्यार्थे न संप्रतिविश-  
यत । पुत्रे मरणे वा यस्मादास्त्यसौ ज्ञाचारिणः ॥ यत्पुत्र इति वचः समवे सति युक्तिमात् । निरस्तद्वारमन्त्रे  
न तु स्यादब्रह्मचारिणः ॥ ब्रह्मचर्यादेवत्वादिवक्तव्यानि अतश्च श्रुती । श्रूयन्ते तु ऋणवचो विरोधात्स्यादपस्मृतिः ॥  
यदाहमितिभ्रमोक्तेस्तमेवैववधारणात् । निषेधाग्राम्य इत्युक्तेन युक्ति सुतज्जमतः ॥ न उच्ये दक्षिणा मयि  
विशेष्ये तदाप्यते ॥ इति न्याय्य श्रुतवचोप करमाशङ्क्यतेऽञ्जसा ॥ तयासमेवोपक्रम्य संप्रति श्रूयते श्रुती ।  
यथाऽन्यत्र तथेहाणि कस्मात्प्राग्भुगमम्यते ॥ सर्ववर्गनिष्पत्तिर्हि जीवतोऽत्र विधीयते । एकमेव अतमिति सन्नामित्येव  
युक्तिमात् ॥ २६२ ७१ ॥ इति । सन्नमित्यात्मधारणस्य ॥ ब्रह्मोति वचोऽववत् । तदा स्यात्सर्वकर्माणि यदि  
सन्त्यस्य तिष्ठति ॥ सर्वात्मिकायिचयपुत्रसकामितत्वात् । न चेत्तत्स्थिति सर्व प्रतिप्रवचयोगवत् ॥ नौपीतकि-  
श्रुती तद्वद्गृहस्थस्यैव जीवत । न्यास श्रूयत स्पष्ट पुत्रैक्ये मुख वसेत् ॥ सन्त्यस्य सर्वकर्माणि सबदोपानया-  
—गुदम् । इत्यादि मनुनाश्रुत तद्विषय च भण्यते ॥ उपास्तिकलमेवास्व पितृयुद्धद्विद्वेयते । प्रतिप्रमूयते

मनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदववि-

दस्माह्लोकात्प्रत्यर्थमिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति ।

स यद्यनेन किंचिदक्षयाऽकृतं भवति तस्मादेन

यह अपने ऊपर लेकर इस लोक से जाने पर मेरा पालन करेगा । अतः इस प्रकार उस अनुशासन किए हुए पुत्र को लोकप्राप्ति में हितकर होने से 'लोक्य' कहते हैं । इसी से पिता उसको शिक्षा देता है । ऐसे विज्ञान वाला वह पिता जब इस लोक से जाता है, तो अपने उन्ही प्राणों के साथ पुत्र में व्याप्त हो

'नामधेयम् । पुत्रे हि स्वात्माव्यापारप्रदानं करोत्यनेन' प्रकारेण पिता तेन संप्रतिसज्ज-  
कमिदं कर्म । तत्कस्मिन्काले कृतं व्यमित्याह—स पिता यदा यस्मिन्काले प्रेष्यन्मरिष्य-

नाम तदाह—संप्रतिरिति । तदेव कर्म विशदयति—पुत्रे हीति । अनेन प्रकारेणेति वक्ष्यमाणप्रका-

'अथ' में मल्लेगा' ऐसा अरिष्ट उपस्थित हुआ समझता है, उस समय पुत्र को बुलाकर इस प्रकार कहता है—'तू ब्रह्मा है, तू यज्ञ है, तू लोक है' इस प्रकार कहे जाने पर वह पुत्र उत्तर में कहता है । वह शिक्षित होने के कारण पहले से ही जानता है कि मुझे यह करना चाहिए, इसलिए कहता है—

- १ नामधेयमिति—तदुक्तं यातिके 'संप्रतिरिति नामैतदात्मसंस्कारकम्' ॥ २८५ ॥ इति । स्नानादिबन्धुप्राप्तितु स्वगतमस्कारकमेव संप्रतिसज्जैत्यर्थः । संप्रति संप्रदान विसर्जनं निक्षेप इति यावत् । २ स्वदेहसंवाधाय—यनादिव्यापारसम्प्रदानमिति । ३ वक्ष्यमाणेन ।

- कस्मात्प्राणिहोत्रादिकं तथा ॥ ३०७-३११ ॥ "तन्मध्यम्यसात्त्विकफलो भावनाज्ञानकर्मणि" । सत्यस्तौषधकर्म सन्ध्याभ्यनेऽज्ञातशत्रुणा ॥ नामरूपक्रियादेह सर्वोऽस्मीत्यभिमानवान् । अतत्त्वज्ञोऽधिकार्यत्र विद्याया उपपद्यते । अथ लोकश्च पुत्रेण यादृशेन च जीयते । हाह्वयुक्तोऽत्र वक्तव्य इत्याख्योत्तरा श्रुति ॥ मुनिकर्मापरज्ञानमुपनिमर-सोक्त । व्याख्यातो नियमोऽन्योन्य फलसाधनसमये ॥ पुत्रकर्मार्ययात्रत्वात्त पृथक्संसाधनात्तरम् । जाया मानुषवित्त च कर्मकार्यत्वकारणत्वात् ॥ देवहपसामनाभेन साधनसर्वं निवच्छेत् । कर्मज्ञाने सुतस्तस्य साधनस्य व्रजेत्ययम् ॥ १ इत्येवमसिम्बन्धो वक्तुर्भाष्यवृत्त स्पृष्ट । अस्मिदुक्ताविरोधीति तेन नेहातिरयत्येते ॥ ३७२-२७८ ॥ "कर्मम्य प्रव्रजिष्यन्ता प्रेष्यप्रित्यभिधीयते । यातुपसर्वयोग्यस्तथाऽर्थाऽभ्याधितो भवेदिति" ॥ २८६ ॥ अथात संप्रति-रित्यादेस्तात्पर्यमहि—नीत्वेति । क्रमसन्वासाङ्गत्वेन संप्रतिरित्यत्र बाधक्युति सवादयति—य इति । यथा क्रमसेयासाङ्गं संप्रतिस्तथा योजुक्रमेण सत्यस्यति स यस्तो भवति । कोऽयं स यास उच्यते यथ स यस्तो भवतीत्यु-पक्रम्य य आत्मानं (श्रवणादिभिः) त्रियाभिः सुगुप्तं करोतीत्यादितेविकर्तव्यताज्ञातमुक्त्वा स शिक्षा केशाभि-रुन्ध्य विमुच्य मजोपवीतं निष्क्रम्येति सत्यास विधाय पुत्रं दृष्ट्वा एव यदा (वेद) एव यस्तस्य लोकस्त्व सर्वमित्युपनिषीतेति रश्मिद संप्रतिष्यो दृष्टं तदेवा स्यात्क्रमसन्वासाङ्गमित्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि स यासमानस्यैव संप्रतिरङ्गं नेत्याह—अननुक्रमेति । ब्रह्माचारिणोऽनुकृतास्तस्य संप्रत्ययोगातस्यास्तत्सन्वासाङ्गत्वेत्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि गृहस्थमात्रसत्यासाङ्गं सेत्याशङ्क्य पुत्रिगृहस्थयासाङ्गं चेति वक्तुमपुत्रिणोऽपि तस्य सत्यासं भाषयति—यदीति । यद्यपुत्रो भवत्यत्मानमेव सर्वं ध्यात्वाऽनपेयमाणं प्राचीमुदीची वा दिशः प्रव्रजेत्यादिवाक्यमपुत्रस्यापि गृहिणः सत्याससम्बन्धे षट्ते नाम्नेत्यर्थः । नेदमपुत्रिगृहस्थिपयं विन्तु ब्रह्माचारिणस्याससाधकमित्याशङ्क्याऽह—

सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवा-  
स्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता  
आविशन्ति ॥ १७ ॥

जाता हे । किसी असावधानी से उस पिता के द्वारा कोई कर्तव्यकर्म पूरा नहीं हुआ होता तो उस कम से उसका पुत्र उसे मुक्त कर देता है । उनका पुत्र नाम इसीलिए है, क्योंकि अपूर्णकर्म की पूर्ति के द्वारा वह पिता का प्राण करता है । वह पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित होता है । फिर उस पिता में ये वागादि हिरण्यगर्भसम्बन्धी, अमररूपधर्मी प्राण प्रवेश करते हैं ॥१७॥

अमरिष्णामीत्यरिष्टादिविशनेन मन्यतेऽथ तदा पुत्रमाहूयाऽह—स्व ब्रह्म त्व यज्ञस्त्व लोक  
इति । स एवमुक्त पुत्र प्रत्याह स तु पूर्वमेवानुशिष्टो जानाति मयैतत्कर्तव्यमिति  
तेनाऽऽहाह ब्रह्माह यज्ञोऽह लोक इति । एतद्वाक्यत्रयम् ।

शक्ति । अरिष्टादीत्यादिपदेन तु स्वप्नादिसंग्रह । प्रत्याह वाक्यत्रयमिति सबन्ध । पुत्रस्याह  
ब्रह्मेत्यादिप्रतियचने हेतुमाह—स त्विति । मया कार्यं यदध्ययनादि तदेवावशिष्टं स्वयां कामयितुं  
पुत्रस्य प्रागनुशिष्टाभाये प्रतियचनानुपपत्तिरित्यर्थः ।

‘मै ब्रह्म हूँ, मैं मज्ज हूँ, मैं लोक हूँ । यह वाक्यत्रय है ।

‘इन्ने वाक्यो का अर्थ गूढ़ है ऐसा समझते हुए श्रुति इसकी व्याख्या करने के लिए प्रवृत्त होती  
है । ‘मै किञ्च’ अर्थात् जो कुछ भी अवशिष्ट ‘अनूक्तम अथात’ अध्ययन किया हुआ और अध्ययन

१ कथं मुक्तिर्ज्ञानमित्यत्राह—अरिष्टादीति । अरिष्टं भरणविह्वलम् । २ एतदिति—पितुरन्नाध्ययनादिकव्या  
वशिष्टमित्यर्थः । ३ तेनेति—मकार्याध्ययनादिशेषस्त्वया काय इति निश्चितत्वेनेत्यर्थः । ४ पूर्वमेव  
निश्चितत्वं तस्य श्रुतिरेकमुक्तेनाह—मयैवादिता ।

निरस्तेति । यद्यपुत्र इति प्राप्तनिवृत्त्यादप्राप्तनिवृत्त्यागतिकृतत्वादब्रह्मचारिण्यप्राप्ते गृहस्थे च प्राप्तेन  
ब्रह्मचारिविषयमेतदित्यर्थः ॥ ऋणापाकरणस्मृतं सपुत्रस्यापुत्रस्य वा गृहस्थस्यैव सयासो नान्यस्तेत्याद्युपास्य  
—ब्रह्मचर्यादिति । प्रत्यक्षयुतिविरोध स्मृतेष्वामाज्यं सब्रह्मचरिकं साधितमिति भावः ॥ पुत्रोत्पत्त्यादिहेतोरिव  
मुक्तिसिद्धयर्थं सयासेन तत्साध्यज्ञानेन वेदाद्युपास्य—वेदेति । वेदादहेतु पुरुष मिथारस्य तमेव विद्वान्मृत  
इह भवतीति वाक्यं तत्रैव विदित्वाऽर्जितमृत्युमेतौ त्यक्त्वा भ्रात्रा पत्या विद्यतेत्यनपत्तिं निषेधाच्च ज्ञानादेव  
मुक्तिरित्यर्थः ॥ तत्रैव वाक्यान्तरमाह—नेति । दक्षिणास्तत्प्रधाना कर्मिणो दक्षिणार्थागं गामिन इत्यर्थः । केवल्य  
तदा परामुष्टमविद्याव्यतिर्मुक्तिं च सा विद्या विना निरसितुं शक्या तयोरेव विरोधादतो विद्यातो मुक्तिं मुक्ततो  
(साक्षात्) यदवब्राम्य न्यायवदशब्दं हातुमित्याह—इति न्याय्यमिति ॥ तनु पुत्रिणो गृहस्थ सयासाङ्ग सप्रति  
सप्रतिवाक्योक्तेत्यमुक्तं न हीह तदङ्गत्वेन सोऽन्ये किं तूपस्थितमृतेरुपासकस्योपास्यङ्गत्वेन सा विधीयते तत्राऽह  
—सन्वाप्तमिति ।—अथ योज्यक्रमेणत्यादौ । सबवेदा तत्प्रत्यय यायादुपनिषदन्तरसिद्धमिहाप्यविषयमादेयमिति

एतस्यार्थस्तिरोहित इति मन्वाना श्रुतिर्व्याख्यानाम् 'प्रवर्तते-यद्वै किंच यत्किंचावशिष्टमनुक्तमधीतमनधीते' च तस्य सर्वस्यैव ब्रह्मेत्येतस्मिन्पद 'एकतर्कत्वं योऽध्ययन-

यद्वै किंचेत्यादिवाक्यानां पुत्रानुगमन्त्रणवाक्यैरर्थमेवाभावात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽह—एतस्येति । यद्वै किंचेत्यादिवाक्ये वाक्यार्थमाह—योऽध्ययनेति । त्व ब्रह्मेति वाक्यवत्त्वं यत् इति वाक्यमपि शक्यं

नही किया हुआ है, 'उस सभी की 'ब्रह्म' इस पद में एकता है । तात्पर्य यह है कि जो वेदविषयक अध्ययन कार्य इतने समय तक मेरे द्वारा करने योग्य था, वह आज से 'त्व ब्रह्म' यानी तू उनका करने वाला हो । तथा 'ये वे के च यज्ञा' अर्थात् मेरे द्वारा अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी अनुष्ठित और

१ एकार्थत्वमिति यावत् । २ आदिना एव ब्रह्मेति मन्त्रवाक्यम् । चट्टवर्य सत्तन्मयं । वाक्यार्थं सन्निधितार्थं विवक्षितार्थमिति यावत् ।

भाव ॥ वाक्ययोपाख्याय सन्यासविधिरित्याह—सर्वेति । एवमेव वृत्त चरेदिरयत्र जीवत सर्वकर्मनिवृत्तिविधीयते तच्च व्रत सन्यासित्येव घटतेऽतोऽत्र तद्विधिरित्यर्थः । विधीयमानव्रतस्य सर्वकर्मनिवृत्तौ पर्यवसानादिति हिसम्बन्धः । एव ब्रह्मेत्यादि वाक्यमपि कृतसंप्रतिकस्य सन्याससाधकमित्याह—संक्रामितेति । यदि पिता वृत्त-संप्रतिको यावज्जीवति तावत्कर्मणि सर्वाणि सन्यसेव तिष्ठति तर्हि पुत्रे सम्पत्तायकतत्त्वतात्परात्स्यापि पितृ-स्त्व ब्रह्मेत्यादि पुत्र प्रति वाक्यमर्थवद्भवत्यतो यथोक्तवाक्यादपि प्रवृत्ते सन्याससिद्धिरित्यर्थः ॥ अथ सन्यासे शक्येव वाक्यस्यार्थवत्त्वं तत्राऽह—संक्रामितेति । अतिपर्यवर्त्यतेऽपि नाग्निहोत्रादित्यागोऽत्र विवक्षित इत्याशङ्क्याऽह—न चेदिति । संप्रतिवाक्ये सर्वकर्म एवमुक्तं नेष्ट चेत्तत्संप्रतिकेनाप्येतत्कार्यमिति वाक्य स्यात् अ तदस्यत सर्वकर्मत्यागोऽनेष्ट इत्यर्थः ॥ कर्मसन्यासे संप्रतिवाक्यवत्त्वात्कर्मवृत्तौ योजनकमेवेत्याद्युक्तवाक्यवच्च ब्रह्मचारी वैदमधीत्य वेदी वेदान्ता चरितब्रह्मचर्यौ चारुमाहृत्य पुत्रानुत्पाद्यान्मिमांषाया यथापत्तिं यज्ञैरिष्ट्वा ताननुष्पाति-भूतिभिः सवित्रज्य तस्य सन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्येत्युपन्यस्यात् कर्त्तव्यमनमनमपि प्रवेदन महाप्रस्थान वृद्धाश्रम वा गच्छेत्युपदेश्ये वा वक्षेदिति कौपीनभिरनुतापि जीवतो गृहस्यैव सन्यासो नि सदित्यर्थः अथोक्तोऽपि न तद्वत्त्व इत्याह—कौपीनकीति । ता श्रुतिमेव तसिप्याऽह—मुचेति । प्रवृत्तसन्यासे स्मृतिरपि मानविरयाह—सन्यस्येति । 'श्रुतिं ताना दमोऽस्तेन धौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीविद्या सत्यप्रकोषो ददाक धर्मसंलग्नम् ॥ दशतक्षणानि धर्मस्य ये विभ्रा समधीयते । अधीत्य बानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ दशतक्षणक धर्ममनुतिष्ठन् हि भानवः । वेदान्तान्निग्रिवन्तु त्वा सन्यसेदनुमो दिव ॥ सन्यस्य सर्वकर्मणि सर्वेद्योषानपानुदम् । नियतो वैदमभ्यस्य पुनैरथर्वं कुल गतेः ॥ एव सन्यस्य कर्मणि स्वकार्यपरमोऽनुहः । सन्यासेनापहस्येन प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ इति कुवता मनुनापि क्रमसंयासोऽङ्गीकृतः । यदि वृत्तसंप्रतिकस्यापि कार्यमग्निहोत्रादीत्याग्रहस्तदा श्रुतिस्मृतिवि-रोध इत्यादित्याह—तद्विरुद्ध चेति ॥ अत्रापि श्रुतिस्मृत्योरग्निहोत्रादित्यागो विवक्षितस्तथापि नात्र तद्विषयानि-मित्तमस्तीत्याशङ्क्य न चेति त्वक्षितमित्युक्तं प्रपञ्चयति—उपास्वीति । यथा कृतसंप्रतिकर्माद्योपास्तिकतमेव पृथिव्यै चैतमित्यादावुच्यते न कार्यान्तरं तथा सर्वकर्मसन्यास संप्रतिवाक्येनाविवक्षितस्त्वेदमग्निहोत्रादपि तस्यान-न्तरवाक्ये प्रतिप्रयुक्तेनात्र च तदभावात्सन्यासो विवक्षित इत्यर्थः ॥ किं च शार्थं सर्वं कर्म सन्यस्याज्जातचतुमुप-गतो विद्याधर्मिति चतुर्थे व्युत्प्रेरज तद्विधिरस्तीत्याह—सत्येति ॥ ननु बालके सन्यासित्यपि तद्विद्यजातचतुमुपगतेन हि सन्यासित्वे राजोपमतिर्बुद्धेनेत्याशङ्क्योक्तमेव प्रपञ्चयति—नामेति । अत्र बालस्य जातचतुमुपगतेः सन्यासिनो ब्राह्मणस्य राजोपमस्यैवार्थेऽपि तदनुग्रहा यवणादि मुक्तमाधुनिकनियच्छ यस्मिन्तो ज्येष्ठसन्त्यासिनस्तद्विरुद्धेरेति भावः ॥ संप्रतिवाक्यस्य स्वमतेन सर्वकर्ममुक्त्वा भाष्योक्तमनुवर्तति—अयमिति । अस्मादिनां पितृषोकादिविदिति



व्यापारो मम कर्तव्य आसीदेतावन्तं कालं वेदविषयः स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वत्कर्तृकोऽ-  
स्त्वित्यर्थः । तथा ये वै के च यज्ञा अनुष्ठेयाः सन्तो मयाऽनुष्ठिताश्चाननुष्ठिताश्च तेपा सर्वेपा  
यज्ञ इत्येतस्मिन्पद एकतत्कर्तृत्वं मत्कर्तृका यज्ञा य आसस्त इत ऊर्ध्वं त्वं यज्ञस्त्वत्कर्तृका  
भवन्त्वित्यर्थः । ये वै के च लोका मया जेतव्याः सन्तो जिता अजिताश्च तेपा सर्वेपा लोक  
इत्येतस्मिन्पद एकता । इत ऊर्ध्वं त्वं लोकस्त्वया जेतव्यास्ते । इत ऊर्ध्वं मयाऽध्यय-  
नयज्ञलोकजयकर्तव्यं क्रतुस्त्वयि समर्पितोऽहं तु मुक्तोऽस्मि कर्तव्यतावन्धनविषयात्कृतो ।

व्याख्यातुमित्याह—तथेति । 'ब्राह्मणाय संगृह्णाति—मत्कर्तृका इति । त्वं लोक इत्यस्य व्याख्यानं  
ये वै केचेत्यादि । तत्र पदार्थानुवत्या वाक्यार्थमाह—इत इति । किमिति त्वत्कर्तृकमध्ययनादि मयि  
समर्प्यते त्वयैव किं नानुष्ठेयते तत्राऽह—इत ऊर्ध्वमिति । कर्तव्यतया बन्धनं तद्विषयं क्रतुं सकल्प-

अननुष्ठित यज्ञ ये, उन सब की 'यज्ञ' इस पद में एकता है । तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ अब तक मैं  
किया करता था, वे अब तेरे द्वारा किये जाने वाले हों । 'ये वै के च लोका' तथा 'जो कोई भी लोक  
मेरे द्वारा जीतने योग्य होकर जीते गये अथवा नहीं जीते गये, उन सब लोकों की 'लोक' पद में  
एकता है । अब से 'तू लोक है, अर्थात् वे लोक तेरे द्वारा जीते जाने योग्य हैं । आज के बाद अध्ययन,  
यज्ञ और लोकजयात्मक कर्तव्य का सकल्प तुझे सौंप दिया, अब मैं इनकी कर्तव्यता के बन्धनविषयक  
सकल्प से छूट गया । सुशिक्षित होने के कारण उस पुत्र ने यह सभी उसी प्रकार से निश्चय कर  
लिया ।

१. ब्रह्मचर्यादारभ्याद्यर्पयन्तम् । २ सकल्प । ३ मन्त्रोपनयनम् ।

॥ ११

प्रथमचकारार्थं । कर्मबद्धिर्वाच्येति वक्तुं द्वितीयचकार । सप्तमी निर्धारणे ॥ तथैव संबन्ध साधयितुं वृत्तम्—  
पुत्रवति—पुत्रेति । पुत्रादित्रयस्य लोकप्रवेशं यथाकर्म फलसाधनत्वमित्यन्वोऽयमस्यतेनियमो व्याख्यात इति  
योजना । पुत्रादिब्रह्मजायाविसयीरपि प्रकृतत्वप्रकलविशेषे विनिर्बोधो वाच्योऽपि नोपपत्तेः चेन्न पुत्रपार्षत्त्वान्विरव  
तयोऽप्यपद्यत इत्याशङ्क्याऽह—पुत्रेति । साधनान्तरं स्वतन्त्रं साधनं चकारात्सर्वमणो न पुत्रमिति सर्वम् ॥  
पुत्रकर्मणोरेव जन्माविसयीरन्तर्भावात्तयो सिद्धेऽपि फलसंबन्धे तदन्तर्भूतयोस्तयोऽपि तत्संबन्धस्य सिद्धेस्तयोर्न  
स्वातन्त्र्येण फलान्वयानुकीर्तनमपेक्षितमित्यर्थः ॥ नन्वेव साधनत्रयनियमोऽपि शिक्षाकर्मणो हित्वा किमिति, पुत्रनि-  
रूपणमित्याशङ्क्याऽह—स्वरूपेति । साधनत्वं लोकद्वयस्येति शेषः । क्रियारूपत्वादित्यर्थः । पुत्रस्तु मनुष्यलोक-  
जये न तथा हेतुर्दृश्यत्वात् हि दृश्यं क्रियाज्जाविष्टं साधनं दृष्टमतस्तस्य लोकजये कश्च साधनतेति पृच्छति—मुत्र  
इति । तस्य मनुष्यलोकस्येत्यर्थः ॥ एव बोधे पुत्रस्य लोकहेतुत्वज्ञानार्थं सप्रतिबन्धनमित्याह—इत्येवमिति ।  
नायं साधनं सूचितोऽपि तु मुमुक्षोर्दक्षित इति वक्तुं स्फुटं इति, विशेषणमयं सबोधोऽगदुक्तसंबन्धविरोधित्वात्त-  
द्व्युक्त इत्याह—अस्मदिति । कमसान्धासाङ्गं सप्रत्युक्तिरित्यमुदुक्तसम्बन्धस्तस्याव आप्योक्तं साधनो न विरोधी  
शान्धासकाले सप्रत्युत्तुठाने पुत्रेणैतल्लोकजयसिद्धेस्तेन आप्योक्ते सर्वन्धे न यत्पते दूषणावति शेषः । आपाततोऽयं  
न दोषोऽस्तीति द्योतनार्थमतीत्युक्तम् ॥ कमसान्धासाङ्गत्वेन सप्रतिविधिपक्षे प्रीष्यन्नित्यस्यार्थमाह—कर्मस्य इति ।  
आप्योक्तं पक्षमपेत्यात्रातिशयमाह—धात्विति । प्रीष्यन्नित्यस्य पारिजात्येज्यं सति धातोरिणो गत्यर्थस्य प्रोपसर्ग-  
स्य च मुख्योऽयं स्वीकृत स्यात्प्रकरणं कर्मस्यो निर्गमिण्यात्तस्मीति हि तदाऽर्थो भवेत्तथा चेयमेव व्याख्या  
युक्तेत्यर्थः ॥

स च सर्वं तथैव 'प्रतिपक्षेवेन्पुत्रोऽनुशिष्टत्वात् । तत्रेति यथोक्तानुशासनोक्तिः । एतन्मा सर्वमित्यादि प्रतीकभावाय व्याचष्टे—सर्वं हीति । अनद्यन्ते भूतेऽयं विहितस्य लघो भविष्यदर्थे च कथमित्याशङ्क्याऽह—छन्दसीति । पुत्रानुशासनस्य फलवत्त्वमाह—यस्मादित्यादिना ।

कृतसप्तसिक्तं सम्प्रिता किं करोतीत्यपेक्षायामाह—स पितेति । कीदृशं प्रवेशो न हि विशिष्टस्य

स पिता यदा यस्मिन्काल "एवमित्युत्तरसप्तपितृकतंव्यताक्रतुरस्माल्लोकार्प्रं"ति श्रियतेऽथ

स्तस्मादिति यावत् । स पुत्र "इत्यादेस्तात्पर्यमाह—स चेति ।

तत्रेति यथोक्तानुशासनोक्तिः । एतन्मा सर्वमित्यादि प्रतीकभावाय व्याचष्टे—सर्वं हीति । अनद्यन्ते भूतेऽयं विहितस्य लघो भविष्यदर्थे च कथमित्याशङ्क्याऽह—छन्दसीति । पुत्रानुशासनस्य फलवत्त्वमाह—यस्मादित्यादिना ।

कृतसप्तसिक्तं सम्प्रिता किं करोतीत्यपेक्षायामाह—स पितेति । कीदृशं प्रवेशो न हि विशिष्टस्य

यहाँ श्रुति पिता का भूमिप्राय दृष्टिपथ में रखते हुए यह बात कहती है । गृहस्य पुरुष के लिए जो कर्तव्य है, वह 'एतावत्' भर्षात् इतना ही है कि वेदों का अध्ययन करना चाहिए, यज्ञों का पजन करना चाहिए और लोको पर जय प्राप्त करनी चाहिए । 'एतन्मा' सर्वं सप्तयम्' इस श्रुति का भाव यह है कि यह पुत्र सब कुछ होकर मेरे ऊपर रहने वाले इस समग्र भार का मुझ से लेकर मुझे स्वाधीन-कर्तव्य वाला करके इस लोक से जाने पर 'मा अभ्यनजत्', भर्षात् मेरा पालन करेगा (इस भूमिप्राय से पिता ने उसके प्रति 'एव ब्रह्म' इत्यादि वाक्य कहे) । यहाँ 'यूद्' के भर्ष से 'लह्' लकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि वेद में काल का ( विकरण आधिक्य ), नियम नहीं है । क्योंकि इस प्रकार सुविधित हुआ पुत्र पिता को इस लोक से कर्तव्यतावन्धन से मुक्त करा देगा । इसलिए ब्राह्मणसमुदाय

१- निश्चितत्वात् । २- उक्तानुशासने । ३- कर्मिणा । ४- कर्तव्यस्वैतावत्स्वमेव दर्शयति—यदुतेति । ५- सप्तयमश्च व्याचष्टे—आरामिनि । तथा च कोऽ—यदादवस्थापि दल समवायश्च संप्रवायिति समवाय समुदाय । स एवात्र भारः । सन् अवसिति वा च्छेदः । ६- स्वाधीनकर्तव्यताभावात्तत्पथ । ७- इतीति—इत्यभिप्रायः । भाषितान् एव ब्रह्म इत्यादिवाक्यमुक्तवानिति सम्भवः । ८- कालनियमाभावादिति—विकरणनियमाभावात्पुनरुक्त-धीयस्तेन विकरणविषयमित्यवयवेष् । ९- अनुशिष्टः । १०- पुत्रकल प्रति-यन्त कर्मिणः । ११- अत अनुशिष्टस्य लोकपरत्वात् । १२- अद्यतना अपि । १३- एवमिति—अथात्मा प्रजापतिरस्मीत्युपासीन साशात्कृतत्वात् इत्यर्थः । अहमस्म्यन्तवाङ्मन प्राणात्मा इति ज्ञानात् इति यावत् । १४- मात्रावयवस्य । १५- न हि विशिष्टमेवेति—अथ भाव उपाधेरुपहितस्य प्रतीचो वा मुस्या सक्रातिर्वाऽऽद्योप्यस्यविरोधात् न हि पितृगत धारीपादि पुत्रे सकान्तमुपलभ्यते । न द्वितीय सवितुजले सक्रातिवदुपहितस्य पितुरपि स्वकार्यसंस्वरस्य । पुत्रे अपंगरूपाभावात् (प्रतिविम्बात्) तत्र स्वप्रवेशभ्रमहेतोः सकान्त्युक्तेः अयाहशसकान्तेरध्यमविरुद्धत्वात् न तृतीय प्रतीच कृत्यत्वादिति ।

तदेभिरेव प्रकृतं ब्रह्म मनःप्राणः । पुत्रमाविशति पुत्रं व्याप्नोति । अध्यात्मपरिच्छेदे हेतुवपगमा-  
त्पितुर्ब्रह्म मनःप्राणाः स्वेनाऽऽधिदैविकेन रूपेण पृथिव्यग्न्याद्यात्मना भिन्नघटप्रदोषप्रकाश-  
वत्सर्वमाविशन्ति । तैः प्राणैः सह पिताऽप्याविशति ब्रह्म मनःप्राणासाममावित्वात्पितुः ।  
अहमस्म्यनन्ता ब्रह्म मनःप्राणा अध्यात्मादिभेदविस्तारा इत्येवं आवितो हि पिता ।  
तस्मात्तत्प्राणानुवृत्तित्वं पितुर्भवतीति युक्तमुक्तमेभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशतीति ।  
सर्वेषां ह्यसावात्मा भवति पुत्रस्य च । एतदुक्तं भवति—यस्य पितुरेवमनुशिष्टः पुत्रो भवति ।  
सोऽस्मिन्नेव लोके वर्तते पुत्ररूपेण नैव मृतो मन्तव्य इत्यर्थः । तथा च श्रुत्यन्तरे—

केवलस्य वा विते संप्रत्यप्रवेशः संभवत्यत आह—अध्यात्मेति । हेतुमिच्छाज्ञानादिः । वागाविष्वाविष्टे-  
ष्वपि कुतोऽप्यान्तरस्य पितुराधेनाधिरित्याशङ्क्याह—वागिति । तद्वावित्वमेव स्फोरयति—अहमिति ।  
भावनाफलमाह—तस्मादिति । 'पुत्रविशेषणात्परिच्छिन्नत्वं पितुस्तदवस्थमित्यशङ्क्याह—सर्वेषां  
हीति । मृतस्य पितुरितो लोकादध्यावृत्तस्य कथं 'पयोक्तृत्वं मित्याशङ्क्याह—एतदुक्तमिति ।  
पुत्ररूपेणात्र स्थितिमेव विभजते—नैवेति । मृतोऽपि पिताऽनुशिष्टपुत्रात्मनाऽत्र वर्तते नास्मादवग्रन्तं  
व्यावृत्तः कलरूपेण च परत्रेति भावः । उपरोक्तं ऐतरेयश्रुतिं संवादयति—तथा वेति । पृष्ठीप्रथमान्या  
पितापुत्रा उच्येते ।

इस प्रकार सुशिक्षित पुत्र को पिता के लिए 'लोकयम्' अर्थात् लोक में हितकर बतलाते हैं । इसलिए  
पितृयण (भ्राज भो) इस पुत्र को अपने लिए लोक में हितकर होने का उपदेश करते हैं ।

'स' यानी वह पिता, 'यदा' यानी जिस समय इस प्रकार जानने वाले पुत्र को अपनी कर्तव्यता  
का सकल्प सौंपकर इस लोक से 'व्रति' अर्थात् मरता है, तब 'एभि' यानी इन प्रकृत वाक्, मन और  
प्राणों से ही पुत्र में 'आविशति' यानी व्याप्त हो जाता है । अध्यात्मपरिच्छेदरूप हेतु की निवृत्ति हो  
जाने के कारण पिता के वाक्, मन और प्राण अपने गृथिवी, अग्नि आदि आधिदैविकरूप से कूटे हुए  
घड़े में शीपक के प्रकाश के समान सब में व्याप्त हो जाते हैं । क्योंकि पिता भी तो वाक्, मन और  
प्राण का स्वरूपभूत ही है; इसलिए वह पिता भी उन प्राणों के साथ सब में व्याप्त हो जाता है ।  
पिता इस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित रहता है कि "मैं ही अव्यक्तादिभेद विस्तार वाले अनन्त  
वाक्, मन और प्राण हूँ" । अतः पिता के उन प्राणों की अनुवृत्ति होती है । ऐसे में वह उचित ही  
कहा है कि 'वह इन प्राणों के साथ ही पुत्र में व्याप्त होता है' क्योंकि वह सभी का और पुत्र का भी  
आत्मा हो जाता है । इससे सिद्ध होता है कि जिस पिता का इस प्रकार सुशिक्षित पुत्र होता है, वह  
पुत्ररूप से इसी लोक में रहता है । भाव यह हुआ कि उसे मरा हुआ नहीं समझना चाहिए । अन्यत्र  
श्रुतिवाक्य में भी कहा गया है । "उसका (स्वदेह, पुत्रदेहरूप द्विविध आत्मा में) यह पुत्रदेहरूप दूसरा

१ सह । २ पुत्रमाविशतीति—सर्वस्य मत्तत्त्वस्य पुत्रे समर्पितत्वात् । यथोक्तप्राणात्मनोऽपि सकल्पसंवेका-  
वशिष्टत्वात्तत्सकल्पसंस्कृतेष्वर्थादिभिर्देवैर्जवंत्रं प्रविशन्ति" यह पिता प्रविशन् पुत्र प्रविशतीति अर्थद्वयस्य  
इत्यभिप्रेत्याह—पुत्रं व्याप्नोतीति । ३ इत्येव आवित—उक्तप्रकारवत्वासनावासितचित्त । ४ आधिदैविक-  
प्राणानुगतत्वम् । ५ पुत्रं प्रविशतीत्युक्ते । ६ पुत्रात्मत्वम् । ७ जनेति—कर्तव्यसेपसिद्धये अथाशक्त्य-  
मुत्तिष्ठति शेष । ८ मनुष्यलोकात् । ९ उच्येते इति पाठ ।

“सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते” इति ।

अथेदानीं पुत्रनिर्वचनमाह-स पुत्रो यदि कदाचिदनेन पित्राऽक्षया 'कोणच्छिद्र-  
सोऽन्तराऽकृतं' भवति कर्तव्यम् । तस्मात्कर्तव्यतांरपात्पित्राऽकृतात्सर्वसंगालोकप्राप्तिप्रति-  
बन्धरूपात्पुत्रो मुञ्चति मोचयति तत्सर्वं स्वयमनुतिष्ठन्पूरयित्वा । तस्मात्पूरणेन त्रायते स

स यद्येत्यादिद्वयमवतारं ध्याकरोति-अथेत्यादिना । कृतात्मकतादिति च द्वादशः । तस्मा-  
दिति प्रतीकमात्राय व्याकरोति-पूरणेनेति । सर्वे प्रपञ्चयति-इदं तदिति । पुत्रप्राप्तिपृथक् निगमयति

आत्मा पुण्यकर्मों के लिए प्रनिधि बना दिया जाता है ।” इत्यादि ।

(पिता के पुत्रप्रवेशनिरूपण के पश्चात्) अब पुत्रगन्ध की निरुक्ति की जाती है-‘स’ यानी वह पुत्र, ‘यदि’ यानी कदाचित् ‘अनेन’ उसके इस पिता द्वारा ‘अक्षया’ अर्थात् असावधानी या प्रमाद से कोई कर्तव्यकर्म अननुष्ठित हो रह जाना है, ‘तस्मात् सर्वस्मात्’ यानी, पिता द्वारा अननुष्ठित लोकप्राप्ति के प्रतिवन्धरूप, उस सबका कर्तव्यरूप से पुन स्वयं अनुष्ठान करते हुए उसको पूरा करके

१ सोऽस्येति-आवाप्तानी भवत स्वदेह पुत्रदहस्वेति तयोर्मध्येऽप्य पितुः स पूर्वोक्तं अप्य प्रयत्न आत्मा पुत्रदेह पुण्येभ्य शास्त्रोक्तभ्य कर्मभ्योऽभिहोत्रादिभ्य तन्निष्पादनार्थं प्रतिधीयत पित्रा यत्कर्तव्यं तत्प्रकरणमि प्रतिनिधित्वेन स्वगृहे स्थाप्यत इत्यर्थः । २. पितुः पुत्रप्रवेशनिरूपणानन्तरम् । ३ कोणेति-अस्मिन्निर्दिष्ट-  
मैकदेशे । कर्तव्यविस्मृत सकृत् भवतीत्यभिप्रेत्याह-अन्तराऽकृतमिति । प्रमादतोऽननुष्ठितं भवतीति यावत् ।

४ उक्तपुत्रत्वम् । ५ अनुशिष्टत्वरूपम् ।

अथेत्यादि चैनमित्यादीत्यन्तमाध्यायसंग्राहकाणि दश वानिकानि प्रदर्शयन्ते-पुत्राधिकारानुत्पत्त्यर्थमयद्वन्द्वं प्रयुज्यते ॥ कृतमप्रतिष्ठा देवा प्राणा वागदय समम् । पितरं सविशन्त्युक्तां सदात्तं प्रावभाषितम् ॥ पृथिव्यै चैनमित्यादि तद्व्याचष्टे यथा तथा । हेत्वर्थो नाऽपराधोऽयं यस्मात्प्रतिष्ठापितम् ॥ तद्विधोपादतो देवा आर्षि-  
शान्तिं यथोदिताः ॥ श्रुतिस्तथा या हि वाक् तस्या पञ्चमीय परा भवेत् । ततो तस्यात्मसोमाया प्रथमा जन्महन्तुः ॥ वाक् ससृष्टु वाक् तस्या विभुते भावनामयीम् । उपादानमतं श्रीती स्यादानीं भावनामयम् ॥ न हि वस्तु स्वतः सिद्धमन्यत्स्यात्परमात्मनः । सदेवेत्यादिकं शास्त्रं वाधितं स्यात्तथा सति ॥ धिया धियेति नार्थः इत्येतत् जगत् स्वयम् । श्रुत्यै स्पष्टमाख्यातं नातोऽभिधायिकारिष्यते ॥ आर्षेयुदेव प्राणादि वाचास्मरणशास्त्रेन । नाऽऽमव-  
त्स्यात्स्वतः सिद्धमुत्सवादिभ्युदेस्तथा ॥ कर्तुं हि क्रियते तस्माद्भावनामानकर्मभिः । व्यस्रात्मकमिदं विश्वं नातोऽभि-  
धायिकारिष्यते ॥ ब्रह्म वेदं तथार्थं यं पुरुषस्वेति चाऽऽजम् । एव सत्यं वाक् स्यादन्यथा स्यादनर्थकम् ॥ ३२४ ॥ इति । अनुशिष्टपुत्रेणैतल्लोकजयिनं पितरमधिकृत्यार्थेनमित्यादिवाक्यं तत्रायशब्दार्थमाह-पुत्रेति । पुत्रस्य प्रकृतत्वादेनमिति तन्निर्देशे कश्चित्ते तन्निवृत्त्यर्थं यत्पुत्रमित्यर्थः ॥ प्रकरणविच्छेदाद्यमयशब्द इति व्याख्यातमिदा-  
नीमेनमित्यादेर्यमाह-कृतेति । तेषां मध्यं कस्याऽऽसी प्रवेशं वक्ष्ये वा पश्चादित्यपेक्षायामाह-सममिति । उक्ता इत्यमृतत्वोक्तिः अन्यस्या यत्नं विरुद्धमित्याशङ्क्याऽह-सदेति । दैवेषु सौत्रेषु प्राणेष्वामभावभावितमित्यर्थः ॥ एनं प्रविशन्तीत्युक्तं तत्प्रकारं बुभुक्षायामाह-पृथिव्यै चेति । तदिति प्रवेशस्वरूपं परामुच्यते । अथेनमित्यादौ-  
यशब्दस्य प्रकरणविच्छेदत्वमुत्सवाभिर्निरमाह-हेत्विति । हेतुरूपमर्थं स्फोरयति-यस्मादिति ॥ हेतुमनुयेन-  
मित्यादेरर्थं निगमयति-तदिति । कर्तव्यतासकृत्परतच्छब्दार्थः । यथोदिता इति अप्रधाना प्राणानां परामर्शः ॥ यत्तमानस्मृतदेहं हित्वा स्थितमुपासकं देवा प्राणा आविशन्ति तत्प्रकारं च पृथिव्यै चेति व्यावरोतीत्युक्तमिदानीं

पितरं यस्मात्तस्मात्पुत्रो नाम । इदं तत्पुत्रस्य पुत्रत्वं यत्पितुश्छिद्रं पूरयित्वा त्रायते । स पितृवविधेन पुत्रेण मृतोऽपि सन्मृतोऽस्मिन्नेव लोके प्रतिष्ठित्येवमसौ पिता पुत्रेणोमं मनुष्यलोकं जयति । न तथा विद्याकर्मभ्यां देवलोकपितृलोकौ स्वरूपलोकमात्रमात्रेण ।

—स पितेति । पुत्रेणेतल्लोकजयमुपसहरति—एवमिति । यथोक्तात्पुत्राद्विद्याकर्मणोर्विशेषमाह—न तथेति । अप्य 'तर्हि ताम्बां पिता तौ जयति तत्राऽऽह—स्वरूपेति । "तदेव स्फुटयति—न हीति । अनुशि-

पिता को मुक्त करा देता है । क्योंकि पिता के अवशिष्ट कर्तव्य की पूर्ति कर पिता का त्राण करता है । इस विधेयन से उसका नाम पुत्र पड़ा । पुत्र के पुत्रत्व होने में यही कारण है कि वह पिता की मृति को, छिद्रप्रमुक्तप्रत्यवाय से पूरा करके उसकी रक्षा करता है । इस प्रकार के मुशिक्षित पुत्र से वह पिता मृत होकर भी अमृत हो जाता है, उसकी इसी लोक में प्रतिष्ठा होती है । इस प्रकार के सुशिक्षित पुत्र के द्वारा पिता इस मनुष्यलोक पर विजय प्राप्त करता है । विद्या और कर्म के द्वारा पुत्र की तरह वह देवलोक और पितृलोक पर उनके स्वरूपलोक की सन्नामात्र से विजय प्राप्त नहीं करता । विद्या और कर्म (द्वे पितृलोक के) स्वरूपलोक के सिवा पुत्र की तरह किसी व्यापारान्तर की अपेक्षा से लोकजय के कारण नहीं होते । फिर जिसने सप्रसन्नता से किया है, ऐसे (स्थूल से छूट करे

१ त्रुटिम् । २ छिद्रप्रमुक्तप्रत्यवायात् । ३ अनुशिष्टेन । ४ अनुशिष्टेन । ५ पुत्रवत् । ६ तर्हीति ।  
—तयो पुत्रवत्लोकजयहेतुत्वात्तन्मुपगमे । ७ तदेवति । तयो स्वरूपलोकमात्राण लोकाजयहेतुत्वादेवेत्यप ।

पुत्रवत्पुत्रादेव देवतापुत्रादयमेवैव पञ्चमी प्रथमा चेत्वाङ्गुपाऽऽह—मृतिस्थेति । वा शुनिदृष्टा प्राकृतेऽप्यास्त्री-  
यजनैराह्वा वाक्पूजसिद्धौपमवभूतस्या तस्या परतत्पुत्रिण्या अनरिति वापादानपञ्चमी । भाषारामप्रभु-  
पादवसूत्रबाधुपादपादानात्प्राप्तप्रकृतोपासकफलभूतवाच परतत्पुत्रिणी वापिति प्रथमेत्यथ । मनोवत्सूमीभूतवाचो  
प्राणवच्चोपासकप्रसिद्धिबिषयत्वं वक्तुं हिशब्द । अथ सूत्रवाचो नमस्तत्फलभूतोपासकवाच सिध्यति तत्राऽऽह—  
जमेति ॥ अथ प्राप्त आत्मलाभस्वरूपतद्भावो यथा यस्या वाचा तथा तस्या सकाशात्परा प्रथमा जनेत् ।  
उपासकवाच सूत्रवाचो जन्मासिद्धिमात्राङ्गुपाऽऽह—वाचमिति । वाचमीमा सोमी वाच वाचपादेव ज्ञात्वा अन्ना-  
दन्नाद्विभक्त्युपसक्तं पानकले वाचं जित्नुजं धृतित्यस्य ध्येयसूत्रादयुपसक्तं ध्यातृवाचो ध्वनीरे ध्यातृसिद्धि-  
अप्राप्तभावमुपासक कारण कार्यवाङ्मात्रावापिति कारणे वाचविशेष्य मुक्तवाचित्यर्थ । ननु सूत्रस्य स्वतः सिद्धे-  
स्तद्वागपि तथेति ध्यातृवाचोऽपि तदभिप्राया जन्माभावाद्भिन्नपददीपदीपितवद्व्यावर्तोपाधिबलस्या वाचो व्यति-  
मानमिरमाशङ्क्य सूत्रादे स्वतः सिद्धं रूपमिति—न हीति । सूत्रादि न स्वतः सिद्धमनात्स्वात्पदादिबलित्यर्थ ।  
सूत्रादेरात्मवद्विद्यमानत्वे सदेव सोमप्रदिमादिमास्त्रविरोध स्यादिति विपक्षे दोषमाह—मदिति ॥ तस्य स्वतो-  
ऽसिद्धत्वे हेत्वन्तरमाह—धियति । सत्पानात्मन समस्तस्य जगतो धिया धिया जनयते कर्ममिति श्रुत्या स्वय-  
मेव कायस्य भुक्तो दक्षित जगदात्मन च सूत्रमतो न तत्स्वतः सिद्धं कायत्वाद्व्यवहित्यर्थ । सूत्रादे स्वतः सत्त्वा-  
भावे ध्यातृवाचोऽपि तदभावात्तस्या न व्यतिरेकं किन्तु सूत्रवागधीनत्वं जयेति फलितमह—मिति ॥ वागादे स्वतोऽसिद्धत्वे हेत्वन्तरमाह—आर्तति । प्राणादि न स्वतः सिद्ध स्यादिति सवच ॥ स्वतोऽसिद्धत्वे सिद्धमपमाह  
—ननु भिरिति । सूत्रवाचो ध्यातृवाचो व्यक्तधनमनुपगममुपसहरति—नात् इति ॥ आत्मैव स्वतः सिद्धो न  
सूत्रादिरित्यनेवालेनममानुग्रहं दधयति—ब्रह्मेति । पुरुष एवेदं सर्वमित्यस्य पूर्वमिमा समुच्चयापदचकार ।  
द्वितीयस्तु हेत्वन्तरमुच्यते । नोऽस्माकम् । अन्यथा कस्यचिदनात्मनोऽपि स्वतः सिद्धत्वे सति ॥

पृथिव्यं चैनमग्नेश्च देवी वागाविशति सा वै देवी  
वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

इस संप्रति कर्म करनेवाले में पृथिवी और अग्नि से आधिदैविक वाक् का आवेग होता है, क्योंकि पृथिवी और अग्निरूपा देवी वाक्, समग्र वाक् की उपादान भूता है । अतः वही देवी वाक् है, जिससे पुरुष जो भी बोलना है; वह अमोघरूप से वंसा ही हो जाता है ॥ १८ ॥

न हि विद्याकर्मणी स्वरूपलामव्यतिरेकेण पुत्रवद्वधापारान्तरापेक्षया लोकजयहेतुत्वं प्रतिपद्यते । अथ कृतसंप्रतिक, पितरमेनमेतं वागादयः प्राणा देवा हिरण्यगर्भा अमृता अमरणधर्माणि आविशन्ति ॥ १७ ॥

कथमिति वक्ष्यति पृथिव्यं चैनमित्यादि । एवं पुत्रकर्मपरविद्यानां मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाध्यायंता प्रदर्शिता श्रुत्या स्वयमेवात्र 'केचिद्वावदूकाः श्रुत्युक्तं विशेयार्थानिमित्ताः सन्तः पुत्रादिसाधनानां मोक्षार्थतां वदन्ति । तेषां मुख्यापिधानं श्रुत्येवं' कृतं जाया

ष्टुमेणेतल्लोकजयितं पितरमधिकृत्यायैनमित्यादि वाक्यं तद्व्याकरोति—अथेति । "पुत्रप्रकरणविश्लेषा-र्थोऽयमशब्दः ॥ १७ ॥

आवेशप्रकारदुभुत्तायामुत्तरवाक्यप्रवृत्तं प्रतिजानीते—अथमित्यादिना । पृथिव्यं क्षेत्रादिवा-क्यस्य व्यावर्त्य 'यत्नं' वृत्तानुवादपूर्वकमुत्थापयति—एवमिति । अत्रेति वैदिकाभिधायितुं सप्तमी । बहुवचनशीलत्वे हेतुः श्रुत्युक्तेति । मोक्षार्थतां मृणापाकरणश्रुतिस्मृतिभ्यां वदन्तीति शेषः । भीमांसकपक्षं प्रकृतश्रुतिविरोधेन वृणयति—तेषामिति । "कथमित्याशङ्क्य श्रुतेरादिमध्यावसानालोचनया पुत्रादेः

स्थित) उस पिता 'ने ये वागादिदेव "प्राणा अमृताः" हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमरणधर्मा प्राण युगपत् प्रविष्ट होते हैं ॥ १७ ॥

प्राण किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, उसे यह "पृथिव्यं चैनम्"—इत्यादि श्रुति बतलायेगी । इस प्रकार श्रुति ने, स्वयं ही, पुत्र, कर्म और अपराविद्या की मनुष्यलोक, पितृलोक, एवं देवलोक की साध्यायंता दिखलाया । वैदिकी में कुछ भीमांसक श्रुत्युक्त विशिष्टतात्पर्य से अन्भिन्न पुत्रादिसाधनो की मोक्षार्थता बतलाते हैं । परन्तु श्रुति ने भीमामकी का मुख बन्द कर दिया है, क्योंकि 'मेरी, पत्नी ही' इत्यादि पाङ्क्तकाम्यकर्म से उपक्रम करके श्रुति पुत्रादिकी का साध्यविशेष में द्विनियोगरूप उपसहार करती है । इस से निष्कर्ष निकला कि ऋणत्रयश्रुति का अधिकारी अज्ञानी विषयी है,

१. स्थूल हित्वा स्थितम् । २. युगपत् । ३. वैदिकेषु मध्ये । ४. भीमांसका । ५. तात्पर्येत्पर्यं । ६.

अनेन वक्ष्यमाणप्रकारेणेति यावत् । ७. पुत्रेति—पुत्रस्य प्रकृतत्वादेनमिति तद्विशिष्टे शङ्किते तद्विषयस्यमथेत्युक्त-

मित्यर्थः । ८. पूर्वपक्षम् । ९. ऋणेति—"जायमानो वै ब्रह्माणस्त्रिमिच्छन्ते ऋणवान् जायत" इति श्रुत्या

मनुष्या देवादीन्प्रति ऋणिनो गम्यन्ते । अजानरणेति—"ब्रह्मर्षयर्गणिम्यो यजेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य" इति

श्रुते । अत्रानृणीभवतीति शेषः । "ऋणानि त्रीप्पपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो

ब्रजत्ययः" ॥ इति स्मृतेः । १०. प्रकारमेवाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—कथमिति ।

मे स्यादित्यादि' पाङ्क्तं काम्यं कर्मैत्युपक्रमेण पुत्रादीनां च साध्यविशेष'विनियोगोपसंहा-  
रेण च । तस्माद्गणश्रुतिरविद्वद्विषया न । 'परमात्म'विद्विषयेति सिद्धम् । 'वक्ष्यति' च—किं  
प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ।

केचित् पितृलोकदेवलोकजयोऽपि पितृलोकदेवलोकाम्यां व्यावृत्तिरेव । 'तस्मा-  
त्पुत्रकर्मपरविद्याभिः, समुच्चित्यानुष्ठितामिस्त्रिम्य एतेभ्यो लोकेभ्यो व्यावृत्तः परमात्म-  
विज्ञानेन मोक्षमधिगच्छतीति' परम्परया मोक्षार्थान्येव पुत्रादिसाधनानीच्छन्ति । तेषामपि  
मुखापिधानायेमेव श्रुतिरुत्तरा 'कृतसंप्रतिसकस्य पुत्रिणः कर्मिणस्त्यज्ज्ञातमविद्याविदः फल-

संसारफलत्वावगमात् मुक्तिफलतेत्याह—जायेद्यादिना । पुत्रादीनां चेतिचकारादेतावान् काम इति  
मध्यसंग्रहः । यदुक्तमृणापाकरणधृतिस्मृतिभ्यां पुत्रादेर्मुक्तिफलतेति तत्राऽऽह—तस्मादिति । पुत्रादेः श्रुतं  
संसारफलत्वं पराज्ज्ञात्वा तच्छब्दः । श्रुतिशब्दः स्मृतेरुपलक्षणार्थः । श्रुतिस्मृत्योरपि रवतविययत्ये  
वावयशेषमनुकूलयति—वक्ष्यति चेति ।

मीमांसकपक्षं निराकृत्य भर्तृप्रपञ्चसमुत्थापयति—केचित्स्विति । मनुष्यलोकजयस्ततो  
व्यावृत्तियथेत्येतर्यः । पुत्रादिसाधनाधीनतया लोकत्रयव्यावृत्तावपि कथं मोक्षः संपद्यते न हि पुत्रादी-  
न्येव मुक्तिसाधनानि । 'विरक्तत्वविरोधादित्यांशुद्ध्याऽऽह—तस्मादिति । पुत्रिण्यं चेत्याद्योत्तरा श्रुतिरेव  
मीमांसकमतवद्भर्तृप्रपञ्चमतमपि निराकरोतीति वृण्वति—तेषामिति । कथं सोऽयं सन्मतं निराकरोती-  
त्याशङ्क्य श्रुतिं विशिनष्टि—कृतेति ।

विरक्तं नही । "जिनके लिए आत्मा ही लोक है; ऐसे हम, प्रजा का क्या करेंगे?" इत्यादि वाक्यों  
को श्रुति चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादन करेगी ।

किन्हीं (भर्तृप्रपञ्चादि वादियों) का मत है कि पितृलोक, और देवलोक, पर-विजय भी  
पितृलोक, और देवलोक से निवृत्ति ही है । (पुत्रादिको से लोकत्रय से निवृत्तिप्रयोजक होने से)  
इसलिए समुच्चय-पूर्वक मनुष्ठित पुत्र, कर्म और अपराविद्या द्वारा इन तीनों लोकों से निवृत्त हुआ  
पुरुष परमात्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर-लेता है । इसलिए उनको विचार में पुत्रादिसाधन भी  
परम्परा से मोक्ष के ही लिए हैं । उनके मत का निराकरण करने के लिए यह भाग्य की श्रुति, जिसने  
पुत्र को भार संक्रामित कर दिया है; उस पुत्रवान्, कर्मकाण्डी एवं अज्ञातमविद्या के ज्ञाता को प्राप्त,  
फल बतलाने के लिए प्रवृत्त होती है !

१. इत्यादि—सर्वमपि पाङ्क्तं काम्यं कर्मैत्युपक्रमेण । २. विनियोगः सम्बन्धः । ३. परमात्मेति—विदित-  
वेद्यस्य पुत्रादिविषये निरपेक्षत्वात्तद्विषया श्रुणुत्यादयः कथं स्युरिति भावः । ४. परमात्मविदिति—विरक्तेति  
भावः । ५. वृ० उ० ४।४।२२ । ६. तस्मादिति—पुत्रादीनां लोकत्रयव्यावृत्तिप्रयोजकत्वादित्यर्थः । ७.  
परम्परयेति—पुत्रादिवशां लोकत्रयव्यावृत्तिद्वारा देहद्वयध्वस्तौ वक्ष्यध्वस्तौ रिति श्रमेण तेषां मोक्षफलत्वमिति भावः ।  
८. पुत्रसंक्रामितभारस्य । ९. फलेति—अज्ञातमोषासितुस्तथापि फलं पुत्रिण्यं चेत्यादि मोक्ष्यते । तथा च  
कृतसंप्रतिसकस्य पुत्रिणः कर्मिणस्तदुपरत्वा उद्धृत्यधृतिविरुद्धं भर्तृप्रपञ्चमतमिति भावः । १०. विरक्तत्वेति—  
वैराग्यसंन्यासप्रतिपादकश्रुतिविरोधादित्यर्थः ।

प्रदर्शनाय प्रवृत्ता ।

न चेदमेव फलं मोक्ष इति शक्यं यत्कुम् । १ अथसंवन्धान्मेधातपःकार्यत्वाच्चादाना पुनः पुनर्जनयत' इति दर्शनात् । यद्वैतज्ञं कुर्यात्सोयेत हेति' च क्षयश्रवणाच्छरीरं ज्योती- रूपमिति च, कार्यकरणत्वोपपत्तेस्त्रयं वा इदमिति च नामरूपकर्ममिदमेवोपसंहारात् । न, चेदमेव साधनत्रयं संहनं सत्कस्यचिन्मोक्षार्थं कस्यचित्प्रज्ञात्मफलमित्यस्मादेव वाक्या- दवगन्तुं शक्यं पुत्रादिसाधनानां प्रज्ञात्मफलदर्शनेनैवोपक्षीणत्वाद्वाक्यस्य । २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

प्र-प्रज्ञात्मनोपासितुस्तदास्तिवचनविरुद्धं परमतमित्युक्तं तदाप्तेरेव मुषितत्वादित्याशङ्क्याऽह-  
नचेति । तथाऽपि कथं यथोक्तं फलं मोक्षो न भवति तत्राऽह-मेवेति । प्रज्ञात्मनो ज्ञानकर्मजन्यत्वे  
हेतुमाह-पुन पुनरिति । सूत्राप्तेरमुषितत्वे हेत्वन्तरमाह-यदेति । कार्यकरणवत्त्वत्तेरपि सूत्रभावो  
न मुषितरित्याह-शरीरमिति । अविद्यातदुत्पत्तस्य प्रज्ञात्मकत्वेनोपसंहारात्तदात्मसूत्रभावो वग्यान्तर्भूतो  
न मुषितरिति युक्त्यन्तरमाह-त्रयमिति । नन्वविरक्तस्याज्ञस्य सूत्रातिफलमपि कर्मादि विरक्तस्य  
विदुषो, मुषितफलमिति, उपपत्तिरिति नारमाह-न चेदमिति । न हि पृथिव्यं चेत्यादिवाक्यस्यैकस्य  
संकुच्छ-तस्यानेकार्थत्वम् । भिद्यते हि 'तथा वाक्यमिति व्यापारविर्यः । -

पृथिव्यं चेत्यादिवाक्यावगम्येन पक्षद्वय प्रतिक्षिप्य तदक्षराणि व्याचष्टे-पृथिव्या इति ।  
एनमित्युक्तमनूय व्याकरोति-एनमिति । कथं पुन सूत्रात्मभूता वागुपासकमाविशति तत्राऽह-सर्वपा

तथा यह प्रज्ञात्मसूत्राप्तिरूप फल ही मोक्षफल है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि इसका  
अन्वय से सम्बन्ध है और अन्न मेधा और तप का कार्य है, श्रुतिवाक्यानुसार "वह इन्हें बार-बार  
उत्पन्न करता है", "यदि वह इन्हें उत्पन्न न करे तो यह क्षीण हो जाय" इस प्रकार इनका नाश होना  
भी सुना गया है । ( जो कृतक है, वह भ्रान्ति है, उनकी आप्ति मोक्ष नहीं हो सकती ) । एव शरीर  
और ज्योतिरूप बतलाकर इनमे कार्यत्व और करणत्व की सम्भावना दिखलायी गयी है । और (पट्ट  
ब्राह्मण के प्रथम मन्त्र मे) "त्रयं वा इदम्" ऐसा कहकर नाम-रूप-कर्ममिदमिति से इनका उपसंहार  
किया है । इस वाक्य का ऐसा भी अर्थ नहीं जाना जाता कि ये साधनत्रय मिलकर भी किसी के मोक्ष  
के लिए होते हैं और किसी के लिए प्रज्ञात्मरूप फल वाले होते हैं क्योंकि पुत्रादिसाधनो का प्रज्ञात्म-  
फल दिखाते हुए ही यह वाक्य समाप्त होता है ।

"पृथिव्यं चैनमग्नेश्च" यानी पृथिवी और अग्नि के साथ (पुत्रसन्नामितभाररूप) संप्रति-  
कर्म करने वाले मे 'देवो' अर्थात् आधिदेविकी वाक् का आवेश होता है । (आधाराधेयभूत) पृथिवी

१. प्रज्ञात्मसूत्राप्तिरूपम् । २. जनयत इति-यदि कृतकस्य मोक्षत्वमनित्यत्वप्रसंगमिति भाव । ३. इति  
चेति-इति वाक्येन प्रज्ञात्मनो जगद्रूपस्य विनाशश्रवणात् च न तत्रापिभूतिरित्यर्थ । ४. पुं० उ० १।६।१ ।
५. पृथिव्यं चेत्यादिवाक्यात् । ६. पृथिव्या अग्नेश्च सकाशादित्यर्थ । आधाराधेयभूतपृथिव्यनिरूप-  
सूत्रवागुपादानिकेति यावत् । ७. मुक्तिरित्यादि-तदेतुकमस्ति तदेतुतेति कृतत्वसाधित्ववचनविरुद्ध परमतमिति  
शेष । ८. आदिना विवापुत्रो । ९. एतस्यानेकार्थत्वे ।



दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्धै देवं  
मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १६ ॥

शुलोक और आदित्य से इस पुरुष में देव मन का आवेश होता है । स्वभाव से निर्मल होने के कारण देव मन वही है, जिस मन से वह सुखी होता है और कभी शोक नहीं करता ॥ १६ ॥

सर्वेषां हि वाच उपादानभूता देवी वाक्पृथिव्यग्निः स एषा । सा ह्याध्यात्मिका सद्वादिदोष-  
निरुद्धा विदुषस्तद्दोषापगम आवरणमङ्ग इवोदकं प्रदीपप्रकाशवच्च व्याप्नोति । तदेतदुच्यते  
पृथिव्या अग्नेश्च न देवी वागाविशतीति । सा च देवी वागनृतादिदोषरहिता शुद्धा यया  
वाचा देव्या यद्यदेवाऽऽत्मनै परस्मै वा वदति तत्तद्वच्यमोघाऽप्रतिबद्धाऽस्य वागभवती-  
त्यर्थः ॥ १६ ॥

तथा दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति । तद्धै देवं मनः स्वभावनिरमलत्वात् ।  
येन मनसाऽऽनानन्द्येव भवति मुख्येव भवत्यथो अपि न शोचति शोकादिनिमित्ता-  
स्योगात् ॥ १६ ॥

होति । तर्हि तयोरभेदादविदुषोऽपि व्याप्तैव वागिति विदुषि विशेषो नास्तीत्याशङ्क्याऽह-सा हीति ।  
देव्या वाचि दोषविगममुत्तरवाक्येन (प) सापयति—सा चेति । विद्वद्वाचं स्वरूपं संक्षिपति—  
अमोघेति ॥ १६ ॥

वाचि वीक्षितन्यायं मनस्यतिदिशति—तथेति । यन्मन स्वभावनिरमलत्वेन देवमित्युक्तं तदैव  
विशिनष्टि—येनेति । असाविति विद्वदुक्ति । येन मनसा विद्वान्न शोचत्यपि तद्धैवभावात्तद्धैवमिति  
पूर्वेण संबन्धः ॥ १६ ॥

और अग्निरूपा देवीवाक् सभी की वाणी की उपादानभूता है । वह आधिदैविकी वाक् (प्रविद्वानो मे)  
आध्यात्मिक आसक्ति आदि दोषों से आवृत है । विद्वान् के उस आसक्तिरूप दोष के निवृत्त हो जाने पर  
वाक् उसी प्रकार आविष्ट हो जाती है, जैसे आवरण में नाश हो जाने पर जल और प्रदीप का प्रकाश  
वाक् उसी प्रकार आविष्ट हो जाती है, जैसे आवरण में नाश हो जाने पर जल और प्रदीप का प्रकाश  
व्याप्त हो जति है । इसी से (यथोक्त व्यापकत्व) यह कहा है कि इसमें पृथिवी और अग्नि के साहचर्य  
से देवी वाक् का प्रवेश होता है । अब वह देवीवाक् असत्य आदि दोषों से विमुक्त और शुद्ध होती है,  
जिस देवी वाक् से वह अपने या दूसरे के लिए जो-जो कहता है, वही-वही हो जाता है । अर्थात् इस  
विद्वान् की वाणी निष्फल न जाने वाली और अमोघ होती है ॥ १६ ॥

शुलोक और आदित्य से इसमें देव मन प्रविष्ट हो जाता है । स्वभाव से ही निर्मल देव मन  
वही है, जिस मन से 'आनन्द्येव भवति' अर्थात् सुखी ही होता है और शोकादिकों के हेतुओं का समोग  
न होने से कभी शोक भी नहीं करता ॥ १६ ॥

अद्वैत्यश्चन्तं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स-वं  
दैवः प्राणो यः संचरश्चासंचरश्च-न व्ययतेऽथो  
न रिप्यति स एवंविस्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथंया

जल और चन्द्रमा से इस पुरुष में दैव प्राण आविष्ट होता है। सुप्त-दुःसादि से मुक्त होने के कारण वही दैव प्राण है। (जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियो में) संचार करता हुआ और संचार न करता हुआ व्ययित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जानने वाला पुरुष समस्त

तथाऽद्वैत्यश्चन्तं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति । स-वं दैवः प्राणः किलक्षण इत्युच्यते—यः संचरश्चासंचरश्चासंचरश्च-न व्ययतेऽथो न रिप्यति न विनश्यति न हिसामापद्यते । स यो यथोक्तमेवं वेत्ति श्र्यग्रात्मदर्शनं स सर्वेषां भूतानामात्मा भवति सर्वेषां भूतानां प्राणो भवति सर्वेषां भूतानां मनो भवति सर्वेषां भूतानां वाग्भवतीत्येवं सर्वभूतात्मतया सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । सर्वकृत् । यथंया पूर्वसिद्धा हिरण्यगर्भदेवतैवमेव नास्य सर्वज्ञत्वे सर्वकृत्त्वे वा वचिप्रतिपातः । स इति वार्ष्टान्तिकनिर्देशः । किंच यथंतां

मनस्युक्तं न्यायं प्राणोऽतिविशति-त्येति । तमेव दैवं प्राणं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति-स वा इति । एवंविदित्वादि व्याघट्टे—स य इति । विविरत्र ताभार्यः । न केवल यथोक्तमेव विद्याफल किंतु कलान्तरमप्यस्तीत्याह—किंचेति ।

जल और चन्द्रमा से हममें दैव प्राण का प्रवेश हो जाता है। उस दैव का सामान्यस्वरूप क्या है, इसकी विवेचना की जाती है। जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियो में सञ्चार और असञ्चार करता हुआ अथवा चेतन में सञ्चार करता हुआ और जड़ में संचार न करता हुआ 'न व्ययते' अर्थात् दुःखनिमित्तक भय से युक्त नहीं होता, 'अथो न रिप्यति' अर्थात् विनाश या हिंसा को प्राप्त नहीं होता। जो इस उपरोक्त श्र्यग्रात्मदर्शन को जानता है; वह समस्त भूतों का आत्मा हो जाता है। (आत्मा शब्द के अर्थ को ही कहते हैं—) वह समस्त भूतों का प्राण हो जाता है, समस्त भूतों का मन हो जाता है, समस्त भूतों का वाक् हो जाता है। भाषाशय यह है कि वह इस प्रकार सर्वभूतात्मरूप से सर्वज्ञ हो जाता है, तथा सब का कर्ता भी हो जाता है। जिस प्रकार यह पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ देवता है, उसी प्रकार इसके सर्वज्ञत्व और सर्वकृत्त्व में भी कभी व्याघात नहीं होता। श्रुतिवाक्य में 'स' यह दार्ष्टान्तिक निर्देश है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इस हिरण्यगर्भ

१. आत्मशब्दार्थमेवाह—सर्वेषां भूतानां प्राणो भवतीति । २ न केवल विद्वान् प्राण एव सर्वभूतानामपि तु मन बाह्यरामपि इत्याह—मन इति । वाङ्मनसे श्रोत्रादीनामुपलक्षणाभ्यं । ३ सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मत्वमुक्त्वा तत्पुन सर्वत्रत्वादिकमाह—सर्वज्ञ इति । ४ प्रत्युपोनास्ते कलान्तरमाह—त्येति । ५ पूर्वोक्ति—पूर्वज-ग्याभिविर्वाता अग्यान्तरयैवजनकर्मफलभूता सर्वादी सत्यलोक एव देवमाद्यमुपगतति यावत् ।

‘देवतं व<sup>१</sup>स यथैतां देवता<sup>२</sup>सर्वाणि । भूतान्यवन्त्येव<sup>३</sup> ।  
हं वं विद<sup>४</sup>सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किंचेमाः  
प्रजाः शोचन्त्यमं वाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं  
गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥ २० ॥

प्राणियो का आत्मा होता है । जैसा यह हिरण्यगर्भ देवता है, वंसा हो वह अपरिच्छिन्न हो जाता है । जैसे समस्त प्राणी इस हिरण्यगर्भ देवता का पालन करते हैं, वैसे ही इस उपासक का पालन सभी भूत करते हैं । ये प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं; वह शोकजग्यदुःख इन प्रजाओं के साथ ही रहता है । उस विद्वान् को तो पुण्य हो प्राप्त होता है क्योंकि देवताओं के पास पाप नहीं जाता ॥ २० ॥

हिरण्यगर्भदेवतामिज्यादिभिः सर्वाणि भूतान्यवन्ति पालयन्ति पूजयन्त्येवं हं वं विदं सर्वाणि भूतान्यवन्तीज्यादिलक्षणां पूजां सततं प्रयुज्जत इत्यर्थः ।

अथेदमाशङ्क्यते—सर्वप्राणिनामात्मा भवतोत्पुक्तं तस्य च सर्वप्राणिकार्यं करणात्मत्वे सर्वप्राणिमुखदुःखैः संबध्यतेति । तन्न । अपरिच्छिन्नबुद्धित्वात् । परिच्छिन्नात्मबुद्धीनां ह्याक्रोशादो दुःखसंबन्धो दृष्टोऽनेनाहमाकुष्ट इति । ‘अस्य तु सर्वात्मनो य आक्रुश्यते यथाऽऽक्रोशति तयोरात्मत्वबुद्धिविशेषमायास्य तन्निमित्तं दुःखमुपपद्यते’ ।

सर्वभूतात्मत्वे तद्दोषयोगात्प्राजापरत्यं पदमनादेयमित्युत्तरवाक्यव्यावर्तनाशङ्कामाह—अथेति । सर्वप्राणितुल्यबुद्धिरित्यस्मादूर्ध्वं मशब्दोऽप्याहृत्यः । सर्वात्मके विदुष्येकैकभूतनिष्ठदुःखयोगो नास्तीत्युत्तरमाह—तन्नेति । ‘तदेव प्रपञ्चयति—परिच्छिन्नेति । अपरिच्छिन्नधर्मत्वेऽपि सूत्रात्मके विदुषि

देवता का समस्त प्राणी ‘अवन्ति’ यानी यागादि के द्वारा पालन या पूजन करते हैं, इसी प्रकार ऐसी पूजा करने वाले का समस्त प्राणी “अवन्ति” यानी यागादिरूप पूजा का सर्वभोगों के द्वारा उपयोग करते हैं ।

यहाँ यह शङ्का होती है—पूर्व श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित किया गया है, वह समस्त प्राणियो का आत्मा हो जाता है । इस प्रकार तो समस्त प्राणियों के देह और इन्द्रियरूप हो जाने से उनका सब भक्तों के सुख-दुःख से सम्बन्ध होने लगेगा (यह अनर्थ होने लगेगा) । (इस शङ्का का समाधान किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वह अपरिच्छिन्नबुद्धि वाला है । जिनकी परिच्छिन्न आत्मबुद्धि होती है, उन्हीं को दुर्वचनादि कहने पर ‘इससे मैं दुर्वचन कहा गया हूँ’ दुःख-सम्बन्ध होते देखा

१ प्रयुज्जत इति—पूर्वसिद्धदेवतामिव तद्व्यवसायात्कारवन्तमपि पुरुष सर्वावस्थासु सर्वाणि भूतानि सर्वभोगं भवन्तीति भावः । २ संबध्यतेति—तथा चैव वित्ताजन्यायैव स्यादिति शेषः । ३ शब्दः । ४ विदुषः । ५ उपपद्यते इति—सर्वात्मके विदुषि नैकैकभूतास्थसुखदुःखाविसंबन्ध इति भावः । ६ अपरिच्छिन्नबुद्धित्वप्रयुक्तदुःखादिसमं राहित्यमेव ।

मरणदुःखवच्च निमित्ताभावात् । ययो हि कस्मिंश्चिन्मृते कस्यचिद्दुःखमुत्पद्यते ममासौ पुत्रो आता चेति पुत्रादिनिमित्तम् । तन्निमित्ताभावे तत्परणुदाशिनोऽपि नैव दुःखमुपजायते । तथैव रस्याप्यपरिच्छिन्नात्मनो ममतवर्तीद्विदुःखनिमित्तमिध्याज्ञानादिदोषाभावात् नैव दुःखमुपजायते । तदेतदुच्यते—यद् किंच यत्किंचेना प्रजा शोचन्त्यमेव सहैव 'प्रजाभिस्तच्छोकादिनिमित्तं दुःखं' समुक्तं मर्त्यतासां प्रजानां परिच्छिन्नबुद्धिजनितत्वात् । सर्वात्मनस्तु केन सह किं समुक्तं भवेद्वियुक्तं या । अमु तु प्राजापत्ये पदे वर्तमानं पुण्यमेव

सर्वभूतान्तर्भावात्तद्वदुःखादियोग स्यादेवेत्याशङ्क्य जठरकुहरविपरिवर्तिक्रिमिदोषरस्माकमससर्ग-वत्प्रकृतेऽपि स भवा नैवमित्यभिप्रेत्याशङ्क्य—मरणेति । नोपपद्यते विदुषो दुःखमिति पूर्वोक्तं सङ्ग-दृष्टान्तं विवक्ष्यते—यथेति । मैनस्य स्वहस्ताद्यभिमानवतस्तद्वदुःखादियोगवद्विदुषु सूत्रात्मन स्वाश-न्नतसर्वभूताभिमानिनस्तद्वदुःखादिससर्गस्यादित्याशङ्क्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । ममतवर्तादीत्यादि-पदेनाहुताग्रहणं तदेव दुःखनिमित्तमिध्याज्ञानम् । आदिशब्देन रागादिरुक्तं । 'उक्तं स्य' अतिमुक्तायं व्याचष्टे—तदेतदिति । शुभमेव गच्छतीति सङ्ग- । कलशपेण वर्तमानस्य कथं कर्मसंबन्धे स्यादित्या-

गुण्य है । इस विद्वान् सर्वात्मा को ता, जिसे दुर्वचन कहा जाता है, प्रथवा जो दुर्वचन बहता है, उन दोनों के प्रति आत्मत्वबुद्धि में कोई विशेषभेद न होने का कारण उस तन्निमित्तवदुःख होना सिद्ध नहीं होता । जिस प्रकार निमित्त के अभाव में मरणदुःख भी नहीं होता । जिस प्रकार लोभव्यवहार में किसी के मर जाने पर किसी को यह मेरा पुत्र है यह मेरा भाई है" इस प्रकार चिन्ता कर पुत्रादि-निमित्तक दुःख उत्पन्न होता है । मदायत्व के निमित्त बिना उसके मरण के दखने वाले को भी कभी दुःख नहीं होता । उसी प्रकार अपरिच्छिन्नस्वरूप ईश्वरीभूत विद्वान् को भी भ्रमता-सवतादि दुःख के निमित्त और मिध्याज्ञानादि दोष के अभाव से कभी भी दुःख नहीं होता । उक्त 'युक्तिरसाप' को हृदय में रखते हुए श्रुति कहती है । इसके प्रतिरिक्त जो कुछ भी ये प्रजाएँ (त्रिविध दुःखप्रयुक्त) शोक करती हैं वह शोकादिजनित दुःख उन स्वात्मा प्रजामा के साथ समुक्त रहता है, क्योंकि वह दुःख इन प्रजामा को परिच्छिन्न बुद्धि से उत्पन्न होता है । किन्तु जो सर्वात्मा है, वह उस दुःख के लिए किसके साथ समुक्त रहेगा और किसके साथ विमुक्त रहेगा ? इस प्राजापत्य पद पर विद्यमान विद्वान् को तो

१ मदीय वेति यावत् । २ अपरिच्छिन्नस्वरूपस्य ईश्वरीभूतस्य विदुषः । ३ दायाभावादिति—ननु मैनहन्तान् मृतभूतस्य विदुषोऽपि स्वाशन्नतसर्वभूताभिमानिन्यमुक्तमिति चेत् । तस्य कृत्स्नाभिमानित्वात्मात्मनो भाभिमानता । न च तस्य कृत्स्नाभिमानित्वं कृत्स्नदुःखादि तादवस्थमिति आन्यम् । ईश्वरत्वाच्च तस्यास्मद्दुःखेन स्यात् समागमः । च तस्य चरितेऽयमसाद्यभिमानित्वादस्मादिवदुःखादिसां स्यादेवेति वाच्यम् । अत्रा-नुमानेजीवरत्तस्य उपाधित्वात् । अस्माकं दुःखसंप्राप्तिरनव्यवहृतेषु हि । इति नेत्तोपाध साध्याध्यापकत-त्वात् यत्र विस्तृतः । ४ तदेतदुच्यते इति—उत्तयुक्तिरसाप हृदि निधाय श्रुत्योच्यते इत्यर्थः । प्रजागतदुःखस्य प्रजा-पतिरूपे विदुषि प्रतिपद्यकमिदं वाक्यमिति यावत् । ५ त्रिविधदुःखप्रयुक्तमवमीदन्ति । ६ स्वात्मभिः । ७ समुक्तमिति—प्रजाभिः स्वगत दुःख स्वात्मन्येवमुच्यते इति यावत् । अथवा कृतनापादिप्रसंग स्यादित्यवधार-णाय । ८ दुःखमेति शेषः । ९ दोषा दुःखादयः । १० उक्तेष्वेति—प्रजागतं दस प्रजापतिरूपे विदुषि न समुच्यते इत्युक्तेर्न इत्यर्थः ।

अथातो ब्रतमीमांसा १, प्रजापतिर्हः कर्माणि, ससृजे-  
तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पृधन्त, वदिष्याम्येवाहमिति,  
वाग्दधे, द्रक्ष्याम्यहमिति, चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति, श्रोत्र-  
मेवमन्यानि, कर्माणि, यथाकर्म तानि, मृत्युः, श्रमोः

अब यहाँ से ब्रत का विचार किया जाता है। प्रजापति ने कर्म के साधनमूल वेदादि करणों की सृष्टि की। सृष्टि हो जाने पर वे सभी कर्म परस्पर स्पृध करने लगे। वाक् ने ब्रत लिया कि मैं बोलती हूँ रहूँगी। मैं वेष्टता हूँ रहूँगा, ऐसा, नेत्र ने ब्रत लिया और मैं सुनता हूँ रहूँगा, ऐसा श्रोत्र ने ब्रत लिया। ऐसे ही अपने-अपने कर्मानुसार अन्य सभी इन्द्रियो ने भी ब्रत लिया। सब सबके मारक मृत्यु ने परिश्रम

श्रममेव फलमभिप्रेतं पुण्यमिति । निरतिशय हि तेन पुण्यं कृतं तेन तत्फलमेव गच्छति न-  
ह वं देवान्पापं गच्छति पापफलस्यावसरमावात्पापफलं दुःखं न गच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता इत्यविशेषेण वाङ्मनःप्राणानामुपासनमुक्तं-  
नान्यतमगतो विशेष उक्तः । किमेवमेव प्रतिपत्तव्यं किं वा विचार्यमाणं कश्चिद्विशेषो

शङ्क्याऽऽह—फलमिति । उक्तमेव व्यनक्ति,—निरतिशयमिति ॥ २० ॥

अथेवादिवाक्यस्य वक्तृदेशोवाभावादानर्थक्यमाशङ्क्य 'व्यवहितोपापाननुवावेन तद्वज्रत-  
विधामार्यमुत्तरं लोक्यमित्यनर्थक्यं परिहरति—त एत इत्यादिना । अस्मित्यवधानमुद्देश्यं कर्मचिन्ते ।  
जिज्ञासयाः सत्यमत-शब्दार्थ । उपासनोक्त्यान्तर्यमथशब्दाद्यं कथयति—अनन्तरमिति । विचारणामेव

'पुण्यमेव' अर्थात् शुभ ही प्राप्त होता है। पुण्यफल अभाष्ट है, न कि कर्म। इसलिये उसने आपन्न-  
पुण्य किया हुआ होता है, जिसका उसे फल प्राप्त होता है। 'न न वै देवान्पापं गच्छति' अर्थात् पापफल-  
रूप अहममभिमान के अवसर क अभाव से पापफल यानी दुःख प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

'ये ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं' इस प्रकार अनन्तत्व तुलना द्वारा वाक्, मन और प्राण की उपासना वतलायी गयी, उनमें एक-एक की कोई विनिष्टता नहीं बताई गयी। सो क्या इस तरह ही अवबोध करना चाहिए अथवा विचार करने पर किसी विशेष ब्रत-उपासना के लिए ज्ञान होना शक्य है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है।

'अथातो' अर्थात् उक्त जिज्ञासा होने के पश्चात् ब्रतमीमांसा अर्थात् उपासना कर्म विचार की प्रवृत्ति होती है। इन प्राणों में से किम प्राण के कर्म की ब्रतरूप ये धारण करना चाहिए, इनकी मीमांसा

१ न तु कर्मत्वम् । २ अवयवमावादिति—अहं समाश्रयिमानाभावादिति यावत् । ३ दुःखं नति—न

हि शैत्यमग्निं स्पृशति तस्मिन्वात्वाभाव्यात् तथा पाप्मनी देवता न स्पृशति तस्या मुमुक्षुफलत्वादिति भावः ।

४ अनन्तत्वतीत्येन । ५ किमेवमेवेति—त एत इत्यादिवाक्याद् वाङ्मनःप्राणानां सामान्यित्वेन वागारीणां

विकल्पेन ध्याते प्राप्ते किं प्रथमं तत्तुल्यं ध्येयं किं वा विचार्यं प्राप्य एव प्राधान्येन ध्येयं इति निश्चेतुमुत्तरं

वाक्यमित्यर्थः । ६ उक्तमेवेति—सूत्रीभूतं विद्वान् शुभमेव आप्नोति न वै दुःखमित्युक्तमेवार्थमित्यर्थः ।

७ पूर्वव्यवहितेति यावत् ।

मृत्योपयेमे तान्याप्नोतान्याप्त्वा मृत्युरवारुण्य  
तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्र-  
मयेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं  
दधिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचर०श्चासंच-  
र०श्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव

होकर उन्हें पकड़ लिया और उनमें व्याप्त हो गया । उनमें व्याप्त होकर मृत्यु ने उनका अवरोध किया  
अर्थात् अपने-अपने कर्माँ से च्युत कर दिया । इसीलिये आपण में प्रवृत्त हुई यह वाणी श्रान्त हो जाती  
है । देखने में प्रवृत्त हुआ नेत्र श्रान्त होता ही है और शब्द सुनने में श्रोत्र भी श्रान्त हो जाता है । पर  
यह जो मध्यम प्राण है, केवल इसी में वह मृत्यु व्याप्त न हो सका । इस अद्भुत घटना में इन्द्रियो ने  
कभी न धकने वाले उस प्राण को जानने का निश्चय किया । निश्चय हम सब में यही श्रेष्ठ है, जो  
संचार करता हुआ और न करता हुआ कभी थकता नहीं और न क्षीण ही होता है । अस्तु हम सब भी

व्रतमुपासनं प्रति प्रतिपत्तुं शक्यत इत्युच्यते—

‘अथातोऽनन्तरं व्रतमीमांसोपासनकर्मविचारणेत्यर्थं । एषां प्राणानां कस्य कर्म

स्फोरयति—एवमिति । प्रवृत्तायां मीमासायां प्राणव्रतमभ्यस्तत्वेन धारणीयमिति निर्धारणार्थमाख्यायिका

प्रारम्भ की जाती है । प्रवृत्त मीमासाविषयक आख्यायिका में प्रजापति ने निश्चय ही प्रजा की सृष्टि  
कर ‘कर्माणि’ वागादिकरणो की ‘सृजे’ यानी सृष्टि की । यहाँ ‘ह’ शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में है । कर्म  
प्रयोजक एव वागादि के करण होने के कारण उन्हें ‘कर्म’ कहा गया है । पुनः उन उत्पन्न इन्द्रियो ने

१. इत्युच्यत इति—अथेत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यान्तरमुक्तं वाचिषे । तथाहि—“सर्वारम्भमसंन्यासात्प्राप्ते नैवकर्म-  
रूपके । प्राणव्रतविधानार्थं परो ब्रह्मोऽवतामते ॥३६५॥ इति । सप्रतिकल्पे सर्वस्य सकार्यस्य व्रतस्य वागादि-  
वाणि प्राप्ते प्राणोपास्त्रयङ्गस्य प्राणव्रतस्य प्रतिप्रसवाद्यमुत्तरं वाक्यमित्यर्थं । कृतसप्रतिकोऽपि जीवेष्वेतदोपास-  
नस्य स्वतत्त्वैरपि तदङ्गभूतमिदं प्राणव्रतं तु पुनरप्युपादेयमित्यर्थं ॥ ननु स्वतन्त्रस्यैव प्राणव्रतस्य विधायकमिदं  
वाक्यं न प्राणोपास्त्रयङ्गस्य प्राणवागावादिनि चेन्नेत्याह—“बहूक्त्यैव तु सर्वेषां सिद्धं पूर्वमुपासनम् । स यो हैता-  
निति ततो नैव पूर्वमपेक्षत” ॥३६५॥ बहूक्त्येति । प्राणव्रतस्य स्वातन्त्र्यवाङ्मनिरासार्थस्तु शाब्दं । स यो हैता-  
नन्तानिति बहुवचनाद्वागादिप्रयोपासनं सिद्धे तेनैव प्राणोपासनस्यापि सिद्धत्वात्प्राणोपासकं प्रति प्राणव्रतवाक्यं स  
यो हैतानिस्मादिपूर्ववाक्यमपेक्षतेऽतो नास्य स्वतन्त्रव्रतविधायितेतत्तु प्राणव्रतविधानमयं (अङ्गं) विध्यमेतदित्यर्थं ॥  
नैव यद्योक्तमेव प्रतिविधायकम् [इदं व्रतविधायकं (तद्विधायित्वे नाभिमतं) वाक्यं यद्योक्तमेव न यथा स्वयोक्त  
तर्पेव नैत्यर्थं । प्राणोपासकं प्रति प्रयोपास्त्रयङ्गस्य प्राणव्रतस्य विधायकमेव नैति यावत्] बाङ्मनसयोरुपास्यत्व-  
निवृत्तिरस्वादित्याद्यङ्गप्राङ्गं यत्रैव वाचिके—“वासवान्तयो-स्वरूपोक्तिर्बोधेन स्थातुरोदिता । तयोपासन-  
नो चेत्प्राणवस्यादिवक्षितमिति” ॥३६६॥ वाचिनि । प्राणोपासनेनैव तयोर्ध्यानमुपेयमन्यथा तदुक्तिर्वैश्वर्या-  
दित्यर्थं ॥ २ उत्तजिज्ञासायां धत्वात् । ३ प्रवर्तत इति शेषः । ४ निर्धारणार्थं ।

सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवत्<sup>१</sup>स्तस्मादेत  
 एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमा-  
 चक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हंवविदा  
 स्पधन्तेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हवान्ततो म्रियत इत्यध्या-  
 त्मम् ॥ २१ ॥

इस ज्येष्ठ प्राण के रूप हो जायें । ऐसा निश्चय कर के वागादि सभी इन्द्रियों इसी मुख्यप्राण के रूप हो गयी । इसीनिये ये इसी के नाम से “प्राण” ऐसा कहने जाते हैं। अतएव जो कोई ऐसा जानता है, वह विद्वान् जिस कुल में उत्पन्न होता है; वह कुल उस विद्वान् के नाम से पुकारा जाता है और जो इस विद्वान् से संघर्ष करता है; वह सूख जाता है और सूखकर अन्त में भर जाता है। यही अध्यात्म प्राणदर्शन है ॥ २१ ॥

व्रतत्वेन धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तते । तत्र प्रजापतिर्हं ह्रशब्दः कितार्थे प्रजापतिः किल प्रजाः सृष्ट्वा कर्माणि करणानि वागादीनि कर्माणि हि तानीति कर्माणीत्युच्यन्ते ससृजे सृष्टवान्वागादीनि करणानीत्यर्थः । तानि मुनः सृष्टान्यन्योन्येनेतरैतरमस्पधन्त स्वर्धा संघर्षं चक्षुः । कथम् । यदिष्याम्येव स्वव्यापाराद्वदनादनुपरतंवाहं ध्यामिति वाग्नतं दध्ने धृतवती । यद्यन्योऽपि मत्समोऽस्ति स्वव्यापारादनुपरन्तुं शक्तः सोऽपि ह्रशयत्वात्मनो

प्रजापति—तत्रेत्यादिना । कथं वागादिषु करणेषु कर्मेश्वरप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽह—कर्माणीतीति । तबीयसृष्टेरेवयोगमुपदर्शयितुं भूमिकां करोति—तानीति । स्वर्धाप्रकारं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कथमित्यादिना । यथाकर्म स्वोयं स्वयं व्यापारमनुसृत्य व्रतं बध्निरे वागादीनि करणानीत्यर्थः ।

‘अन्योन्येन’ अर्थात् एक दूसरे से ‘अस्पधन्त’ यानी स्वर्धा या संघर्ष किया । स्पधं किस तरह की ? वाक् ने ऐसा व्रत ‘दध्ने’ यानी धारण किया कि ‘यदिष्याम्येव’ अर्थात् मैं अपने उच्चारणरूप व्यापार से विमुक्त होऊँगी ही नहीं । भाव यह है कि यदि मेरे समान कोई दूसरा भी अपने व्यापार से अविमुक्त रहने की सामर्थ्य रखता हो, तो वह भी अपना पराक्रम दिखलावे । तथा ‘मैं देखता हूँ दृष्ट्वा’ ऐसा चक्षु इन्द्रिय ने, और ‘मैं सुनता हूँ श्रुत्वा’ ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय ने व्रत धारण किया । इसी प्रकार अन्य ‘कर्माणि’ यानी इन्द्रियों ने भी ‘यथाकर्म’ अर्थात् जिसका जो-जो कर्म था, उसी के अनुसार व्रत धारण किया । ‘तानि’ यानी उन इन्द्रियों को ‘मृत्यु’ यानी मारक यम ने ‘धमः’ अर्थात् धमरूपी होकर ‘उपप्रेमे’ अर्थात् पकड़ा यानी अपने कर्मों से प्रच्युत किया ।

यम ने किस प्रकार पकड़ा ? ‘तानि’ अर्थात् अपने-अपने व्यापार से प्रवृत्त उन इन्द्रियों को

१. तत्रेति—प्रवृत्तमीमांसानियमायात्यायिकामाहेत्यर्थः । तामेव दर्शयति—प्रजापतिर्हति । आख्यायिकाञ्च-घोती हेति निपातः इत्यभिप्रेत्याह ह्रशब्द इति । कितार्थे ऐतिहाय्यं । २. उपयोचं वदनादिव्यापारद्विसत्तिरूपं कथम् । ३. भूमिकामिति—तदुपयोग्यं कथयति ।

वीर्यमिति । तथा- द्रव्याभ्युहमिति चक्षुः श्रोत्राभ्युहमिति श्रोत्रमेव मन्यानि कर्माणि करणानि यथाकर्म यद्यद्यस्य कर्म यथाकर्म तानि करणानि मृत्युमारकः । अमः अमरूपो भूतयोपयेम संज्ञग्राह स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः ।

कथम् । तानि करणानि स्वव्यापारे प्रवृत्तान्याप्नोच्छमरूपेणाऽऽत्मानं दर्शितवानापवा च तान्यवाह्यावरोध कृतवान्मृत्यु स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः । 'तस्मादद्यत्वेऽपि बबने स्वकर्मणि प्रवृत्ता वाक्श्राम्यत्येव अमरूपिणा' मृत्युना संपुक्तो स्वकर्मतः प्रच्यवते । तथा आभ्यति चक्षुः । आभ्यति श्रोत्रम् । 'अथेममेव मुख्यं प्राणं नाऽऽप्नोम' प्राप्तवान्मृत्युः अमरूपो योऽयं मध्यमः प्राणस्तम् । 'तेनाद्यत्वेऽप्यध्वान्त एव स्वकर्मणि प्रवर्तते' तानीतराणि करणानि त आतुं दधिरे धृतवन्ति मनः । अयं वै नोऽस्माक

प्रजापतेर्वागादिषु अमद्वारा स्वकर्मप्रच्युतिरासौदित्यत्र 'कार्यलिङ्गकमनुमान प्रमाणयानि—तस्मादिति' । वागादीनां भग्नव्रतनिर्धारणान्तर्गम्यशब्दार्थः । प्राजापत्ये प्राणे मृत्युप्रेतत्वाभावे कार्यलिङ्गकमनुमान सूचयानि—तेनेति । प्रवर्तते प्राण इति सबन्धः । 'तथाऽपि कथं प्राणस्यैव व्रतं धार्यमित्यपेक्षायामाह—तानीति । ज्ञानार्थमनुसंधानप्रकारमेव दर्शयति—अयमिति । तस्य श्रेष्ठत्वे

'माप्नोत्' व्याप्तं किया यानी अमरूप से अपने को प्रदर्शित किया । उन्हें व्याप्त करके मृत्यु ने उनका 'अवाह्य' अर्थात् अवहट्ट किया । अपने अपने कर्मों से गिरा दिया, यह इसका अर्थ है । इसलिये (प्रजापतिवाक् के अमविद्ध होने में) आजकल भी प्रजापतों की वाक् उच्चारणरूप स्वकर्म में लगी हुई 'आभ्यति' अमरूपी मृत्यु से संयुक्त होती है अपने कर्म से स्वलित हो जाती है । इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी अपने कर्म से व्युत्पन्न होती है, तथा श्रोत्रन्द्रिय भी अपने कर्म से स्वलित होती है । 'अयं' यानी वागादिकों के व्रतभग होने पर 'इममेव' अर्थात् इसी मुख्यप्राण को जो यह शरीर के मध्य में गाण है, उसे अमरूपी मृत्यु ने 'नाऽऽप्नोत्' यानी प्राप्त नहीं किया । इसलिए (प्राजापत्यप्राण के मृत्यु से ग्रस्त न होने के कारण) आज तक भी वह अध्वान्त ही अपने कर्म में लगी रहता है । (इसलिये प्राण का ही व्रत धारण करना चाहिए) 'वानि' अर्थात् उन दूसरी इन्द्रिया ने उसे जानने के लिए दधिरे' यानी मन में धारणा की । निश्चय ही यह 'न' अर्थात् हम सब में 'अच्छ' यानी अत्यधिक प्रणमनीय है, क्योंकि जो सञ्चरण करते हुए और सञ्चरण न करत हुए भी व्यथित नहीं होता, इसलिए हिंसित नहीं होता । 'हन्त' यानी अच्छा अब हम सभी इस प्राण को ही रूपमसाम आत्मभाव ये विनिश्चय करें । इस प्रकार विनिश्चय हो जाने पर ये सब इस प्राण का स्वरूप हो गयी, आत्मभाव से प्राण-

१ यम । ३ प्रजापतिवागादे अमविद्धत्वात् । ३ प्रजानां वाक् । ४ वागादिषु भग्नव्रतषु सन्तु ।

५ शरीरमध्यभव । ६ प्राजापत्यप्राणस्य मृत्युवशस्तत्वेन । ७ तस्मान् प्राणस्यैव व्रतं धारयमिति शेषः । ८

प्रजावागादिगत् अम शरीरणक वाग्यन्तत्वात् घटादिगतरूपादिवदित्याह । ९ अनुमानमिति—प्रजापतिप्राण यमाभाववान् प्राणत्वात् प्रजाप्राणवत् । यदा अमरहितप्रजा प्राणकार्यवत्त्वादिति हेतुः । यो यद्रहितवाक्यः स तद्रहित नीतादिरहितघटादिवर्ग्यं कथमादिबर्दि । १० प्राणस्य मृत्युप्रेतत्वाभावेऽपि ।



मध्ये श्रेष्ठः प्रशस्येतमोऽग्न्यधिको<sup>१</sup> यस्माद्यः<sup>२</sup> संचरन्<sup>३</sup> प्राणस्य च न च्यतः<sup>४</sup> न रिण्यति  
हृत्तेदानीमस्येव प्राणस्य सत्त्वं च यः रूपमसाम प्राणमात्मवेन प्रतिपद्येमहि<sup>५</sup> एवं विनि-  
श्चित्य त एतस्यैव सर्वे रूपमभवत्प्राणरूपमेवाऽऽत्मत्वेन प्रतिपद्यः प्राणवतमेव दधि-  
रेऽस्मद्वतानि न मृत्योर्वारणाय पर्याप्तानीति ।

यस्मात्प्राणरूपेण रूपयन्तीतराणि करणानि चलनात्मना स्वेन च प्रकाशात्मना ।  
न हि प्राणादग्न्यत्र चलनेतमेवोपपत्तिः<sup>६</sup> । चलनव्यापारपूर्वकाण्येव हि सर्वदा स्वव्यापारेषु  
लक्ष्यन्ते<sup>७</sup> । तस्मादेते वागादय एतेन प्राणातिधानेनाऽऽख्यायन्तेऽभिधीयन्ते प्राणा इत्येवम् ।  
य एवं प्राणात्मता सर्वकरणानां वेत्ति प्राणशब्दामिधेयत्वं च तेन ह वाच तेनैव विदुषा  
तत्कुलमावक्षते लौकिकाः । यस्मिन्कुले स विद्वाञ्जातो भवति तत्कुलं विद्वांस्येव प्रथितं

फलितमाह—हृत्तेति । इतिशब्दं व्याकरोति—एव विनिश्चित्येति । यस्माकं वागादीनां वतानि  
मृत्योर्वारणाय न पर्याप्तानीति विनिश्चित्य दधिरे प्राणवतमेवेति सवन्धः ।

प्राणरूपत्वमुक्त्या करणानां तन्मात्मत्वमाह—यस्मादिति । यस्मादित्यस्य तस्मादिति व्यग्रहितेन  
सवन्धः । प्राणरूपं चलनात्मत्वमिति कुतो निश्चीयते तत्राऽऽह—न हीति । तर्हि करणेषु प्रकाशात्मक-  
त्वमेव न चलनात्मत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—चलनेति । संप्रति विद्याफलमाह—य एवमिति । तदेव

रूपता को प्राप्त हो गयी । तथा यह सोच कर कि हमारे व्रत मृत्यु का अवरोध करने में समर्थ नहीं है,  
उन्होंने आत्मरूप से प्राणव्रत को धारण किया ।

बयोकि दूसरी इन्द्रियाँ प्राण के चलनात्मकरूप एवं अपने प्रकाशात्मकरूप से रूपवाली हैं ।  
कारण यह है कि प्राण के प्रतिरिक्त दूसरी इन्द्रियो में चलनात्मकसिद्धि नहीं हो सकती । और (मन-  
सहित ये एकादश) इन्द्रियाँ भवदा चलनव्यापारपूर्वक ही अपने व्यापारी में प्रवृत्त दिखाई देती हैं ।  
इसी से ये वागादि इन्द्रियाँ इस प्राणनाम से ही कहकर 'आख्यायन्ते' अर्थात् पुकारी जाती हैं । इस  
प्रकार जो समस्त इन्द्रियों की प्राणात्मभावरूपता एवं 'प्राण' शब्द द्वारा पुकारा जाना जानता है,  
'तेन ह वाच' उनी के द्वारा ही व्यवहार में लौकिक पुरुष उसके कुल को पुकारते हैं । जिस कुल में  
जो विद्वान् उत्पन्न होता है, वह कुल उम विद्वान् के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है कि यह कुल प्रमुक्त  
का है । जिस प्रकार (कुर्वश में तपती की अपत्य का) तापत्यवश प्रसिद्ध है । जो कोई इस प्रकार  
का है । जिस प्रकार (कुर्वश में तपती की अपत्य का) तापत्यवश प्रसिद्ध है । जो कोई इस प्रकार  
का है । जिस प्रकार (कुर्वश में तपती की अपत्य का) तापत्यवश प्रसिद्ध है । जो कोई इस प्रकार  
का है । जिस प्रकार (कुर्वश में तपती की अपत्य का) तापत्यवश प्रसिद्ध है । जो कोई इस प्रकार

१ निश्चिनुयाम । २ तदात्मत्वेन तद्वतवत्त्व तयाम् । ३ चलनात्मना प्राणरूपेण प्रकाशात्मना च स्वीय-  
रूपेणेत्यन्वयः । ४ चलनेति—मन सहितेषु एवाग्नेन्द्रियेषु त्रिया प्रजावशक्तिमस्तु परिरूपन्दो पावानस्ति  
तावाचलनस्वभावस्य प्राणस्यैवावसेय वागादीनां स्ववियेषु नमं चक्षुरादीनामर्थेषु प्रकाशने च विज्ञेयम् । एका-  
दशेन्द्रियेषु साधारणचलनस्य प्राणात्मत्वात् तेषां प्राणरूपता तन्मात्मता चेति भावः । ५ पूर्वोक्तमेव ।

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निदैवध्रे तस्याम्यह

मित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमग्न्या देवता

अब आगे देवता विषयक दर्शन कहा जाता है। अग्नि ने व्रत लिया कि मैं जलता ही रहूँगा। सूर्य ने नियम किया कि मैं तपता ही रहूँगा तथा चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित होता ही

नवत्यमुप्येवं कुतमिति । यथा तापस्य इति । य एवं यथोक्तं वेद वागादीनां प्राणरूपतां प्राणात्पत्वं च तस्यैतत्फलम् । किञ्च यः कश्चिद् 'हैवंविदा प्राणात्मदर्शना स्पृधंते तत्प्रतिपक्षी' सन्तोऽस्मिन्नेव शरीरेऽनुशुष्यति 'शोषमुपगच्छति' । अनुशुष्य हैव' शोषं गत्वं वाग्ततोऽन्ते 'म्रियते न सहसाऽनुपद्रुतो म्रियत इत्येवमुक्तम्' ध्यात्मं प्राणात्मदर्शनमि'त्युक्तोप-संहारोऽधिदैवत'प्रदर्शनायः ॥ २१ ॥

अथानन्तरमधिदैवतं देवताविषयं दर्शनमुच्यते । कस्य देवताविशेषस्य व्रतधारणं

स्पष्टयति—यस्मिन्निति । "तपती सूर्यमुता तस्या" वंशस्तापस्य । कस्येव फलमित्युक्ते पूर्वोक्तमेव स्फुटयति—य एवमित्यादिना । न केवलं विद्याया यथोक्तमेव फल किंतु फलान्तरमप्यस्तौत्याह—किञ्चेति ।

"प्राणविदा सह स्पर्धा न कर्तव्येति भावः । इत्यध्यात्ममित्यस्याऽऽनपेक्ष्यमाशङ्क्याऽऽह—इत्येवमिति ॥ २१ ॥

अध्यात्मदर्शनमुक्त्वाऽधिदैवतदर्शनं वस्तुमन्तरवाक्यमवतारयति—अथेति । "तर्हि ज्वलिष्या-

ईप्यां करता है, वह इसी शरीर में 'अनुशुष्यति' यानी असह्य क्लेश को प्राप्त होता है। 'अनुशुष्य हैव' अर्थात् दीर्घकाल तक असह्य क्लेश को प्राप्त होकर अन्त में मर जाता है, वह बिना किसी उपद्रव के सहसा नहीं मरता। इस प्रकार यह अध्यात्मसंघात प्राणात्मदर्शन कहा। अध्यात्मदर्शन का श्रुत्यनु-कूल उक्त उपसंहार अधिदैवदर्शन का (प्रकरणविच्छेद) प्रदर्शन के लिए है ॥ २१ ॥

'अथ' यानी इसके बाद अब 'अधिदैवतम्' अर्थात् देवताविषयक दर्शन कहा जाता है। किस देवता विशेष का व्रतधारण करना श्रेष्ठ है?—यह निर्णय करने के लिए पूर्ववत् व्रतमीमांसा आरम्भ की जाती है। अध्यात्मवागादि के समान यहाँ भी अधिदैव-अग्न्यादि का धर्मित होना, व्रतभङ्ग होना आदि सब कुछ समझ लेना चाहिए। अग्नि ने व्रत धारण किया कि मैं जलता ही रहूँगा, इसी प्रकार आदित्य ने व्रत धारण किया कि मैं तपता ही रहूँगा, चन्द्रमा ने व्रत लिया कि मैं प्रकाशित होता ही रहूँगा। इसी प्रकार अपने-अपने व्यापार के अनुसार अन्य विद्युदादि देवताओं ने व्रत धारण किया। उन वागादि-अध्यात्मप्राणों में जिस प्रकार शरीर के मध्यभाग में रहने वाला मध्यमप्राण, मृत्यु से अनभिभूत,

१ अमुप्येति—"प्राणरूपाभिधानाभ्यां क्वाता वागादयो यथा । प्राणवित्तज्ञायां क्वाति याति विद्वत्कुल तथा" ॥

या ३७४। २ अथि । ३ ईष्यति । ४ अवलोकनेन प्राप्नोति । ५ दीर्घकालम् । ६ म्रियत इति

—यथाऽऽज्ञाज्ञात्मरूपो मृत्यु प्राण प्राप्य प्रभवसते तद्विदित्यर्थः । ७ सघाते । ८ उक्तस्वोपसंहारः ।

९. प्रकरणविच्छेदार्थ इति यावत् । १० तपनी सूर्यसुतेति—सा च सवर्णराजपत्नी कुरोव मातेति

महाभारते प्रसिद्धम्, तथा च कुरुवंश एव तापत्यवंश इति भावः । ११ कुरुवंश । १२ उपासके स्पर्धमानस्य

प्रत्यवायवाचेतद्वाक्यस्य तात्पर्यमाह—आणधेति । १३ अधिदैवतोपासनस्य वक्तव्ये ।

यथादेवतं स यथेषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमे-  
तासां देवतानां वायुर्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः  
संघाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

रहूँगा, ऐसा ही अपने अपने व्यापारानुसार अन्य देवताओं ने भी व्रत किया । जैसे इन वागादि-प्राणों में मध्यम प्राण है, वैसे ही इन देवताओं में मध्यम वायु है, क्योंकि अन्य देवता भ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु वायु भ्रष्ट नहीं होता । यह जो वायु देवता है, वह कभी भी भ्रष्ट न होने वाला देवता है ॥ २२ ॥

श्रेय इति 'मीमांस्यते । 'अध्यात्मवत्सर्वं, ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्वध्रे । तत्प्याम्यहमित्या-  
दित्यः । आत्मात्म्यहमिति चन्द्रमाः । एवमन्या देवता यथादेवतम् । सोऽध्यात्मं वागादीना-  
मेपां प्राणानां मध्ये मध्यमः प्राणो मृत्युनाऽनाप्तः स्वकर्मणो न प्रचयावितः स्वेन  
प्राणव्रतेनाभग्नव्रतो यथैवमेतासामन्यादीनां देवतानां वायुरपि । लोचन्त्यस्तं यन्ति  
स्वकर्मभ्य उपरमन्ते यथाऽध्यात्मं वागाद्योज्या देवता अग्न्याद्या न वायुरस्तं याति  
यथा मध्यमः प्राणोऽतः संघाऽनस्तमिता देवता यद्वायुर्योज्यं वायुः । एवमध्यात्ममधिदैवं  
च मीमांसित्वा निर्धारितं प्राणवाग्धात्मनोव्रतमभग्नमिति ॥ २२ ॥

अयं तस्यैवार्थस्य प्रकाशक एव श्लोको मन्त्रो भवति । यतश्च यस्माद्वायोऽवेत्युक्त-

मीत्यादि किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह—कस्येति । ब्रह्मिण्यामीत्यादायुषतः ध्यास्यानमिहापि द्रष्टव्यमित्याह—  
अध्यात्मवदिति । यथादेवतं स्व स्व देवताऽप्यारमन्तित्कस्यान्या देवता विद्युदाद्या बध्निरे व्रतमित्यर्थः ।  
स यथेत्यादि व्याचष्टे—सोऽध्यात्ममिति । वायुरपि मृत्युनाऽनाप्तः स्वकर्मणो न प्रचयावितः स्वेन  
वायुव्रतेनाभग्नव्रत इति शेषः । 'तदेव साधयति—लोचन्तीति । ब्राह्मणोक्तमर्थमुपसहरति—  
एवमिति ॥ २२ ॥

ब्राह्मणार्थवाङ्मयं मन्त्रमवतार्यं उपाकरोति—अथेत्यादिना । सूर्योऽग्निदेवमुदयकाले वायोऽक्षरग-

अपने कर्म से व्युत्पन्न नहीं किया गया, प्राणव्रत से उसका (श्रमित होकर) व्रतभङ्ग नहीं हुआ उसी  
प्रकार अग्निदेवत में, इन अग्न्यादि देवताओं में वायु रहा, क्योंकि वागादि-अध्यात्मप्राणों के समान  
स यथेत्यादि व्याचष्टे—सोऽध्यात्ममिति । वायुरपि मृत्युनाऽनाप्तः स्वकर्मणो न प्रचयावितः स्वेन  
वायुव्रतेनाभग्नव्रत इति शेषः । 'तदेव साधयति—लोचन्तीति । ब्राह्मणोक्तमर्थमुपसहरति—  
एवमिति ॥ २२ ॥

१ इति निर्णेतु पूर्ववत् प्रणमीमानाऽऽनयत इत्यर्थः । २ अध्यात्मवत्सर्वमिति—अध्यात्म वायु दन इवादि-  
देवमन्याद्येषां व्याधियमाणा अध्यात्मवत्सर्वमिति च श्रमार्थमृत्युव्रतवदस्तं च भग्नव्रतं जाता इत्यादि  
सवमित्यर्थः । ३ अनभिभूतः । ४ अविनाशितता । ५ वागेति वायो प्राणाच्च अनेनाग्निदेवत  
सूर्योऽध्यात्मं यद्वा प्रातः काले पुरुषप्रबोधकाले च क्रमशः उदतीति योग्यम् । ६ अभग्नव्रतं ब्रह्मिण्यामेव ।

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र  
च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति त  
देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽ-

इसी अर्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है। "जिस वायुदेव से सूर्य उदित होता है और जिसमे वह सूर्य अस्त होता है" इत्यादि। यह प्राण से ही उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है। उस धर्म को देवताओं ने धारण किया अर्थात् अध्यात्म और अधिदैव ने क्रमशः प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण

कृति सूर्योऽध्यात्मं च चक्षुरात्मना प्राणादस्तं यत्र वायौ प्राणे च गच्छत्यपरसंध्यासमये स्वापसमये च पुरुषस्य तं देवास्तं धर्मं देवाश्चक्रिरे धृतवन्तो वागादयोऽन्यादयश्च प्राण-  
व्रतं वायुव्रतं च पुरा विचार्य स एवाद्येवानो ओऽपि भविष्यत्यपि कालेऽनुवर्ततेऽनुवर्तिष्यते  
च देवैरित्यभिप्रायः। तत्रेवं मन्त्रं संक्षेपतो व्याचष्टे आहारणम्। 'प्राणाद्वा एष सूर्यं उदेति

कृति 'तत्र चापरसंध्यासमयेऽस्तं गच्छति।' 'स एव आध्यात्मं प्रबोधसमये चक्षुरात्मना प्राणादुदेति पुरुषस्य स्वापसमये च तस्मिन्नेवास्तं गच्छतीति यतश्चे'त्याद्यो 'विभागः। श्लोकस्योत्तेराधं प्राणदित्या-  
दिवाहणव्यवहितं श्लोके पूर्णताज्ञापनार्थं प्रथमं व्याचष्टे—त देवा इति। धारणस्य प्रकृतत्वात्सामान्येन  
विशेषः' नक्षयित्वाऽह—धृतवन्त इति। स एवेति धर्मपरात्मसं। तत्रेति सप्तमी संपूर्णमन्त्रमधिकरोति।

इसी ही अर्थ का प्रकाशक यह 'श्लोकः' अर्थात् मन्त्र भी है। क्योंकि 'यतश्च' यानी जिस वायु से 'उदेति' यानी सूर्य उदय होता है तथा जिस अध्यात्मप्राण से वह चक्षुरूप से उदय होता है, जहाँ वायु और प्राण में सायकालीन संध्या के समय एव पुरुष की मुपुतिके समय वह अस्त हो जाता है, उस (प्राण और वायु के) धर्म को देवताओं ने 'चक्रिरे' अर्थात् धारण किया अर्थात् वागादि इन्द्रियो और अग्न्यादि-देवताओं ने प्राचीनकाल में विचार कर प्राणव्रत और वायुव्रत धारण किया। वही प्राण-

१ अथ शाब्दोपपत्त्यर्थं। २ अत्र वानिकहृद्भिः प्राणाद्वा इत्यादिवाहणवाक्यमुत्तरत्वेनाभ्युपगम्य यतश्चोदेती-  
त्यादि मन्त्रस्य पूर्वार्धं प्रनखेन व्याख्यातमिति बोध्यम्। ३ उमाशब्दोऽप्यर्थः। ४ ओऽपि। ५ धर्ममिति  
—अध्यात्मं प्राणस्य वागादित्रातधारित्ववदधिदैव वायोऽग्न्यादिगणधारित्वात्प्राणस्य वायोश्च व्रत धर्ममागमिवा  
विदुरित्यर्थः। करोतर्धारणार्थत्वे प्रवरणं नियामकमभिप्रेत्याह—धृतवन्त इति। तदुक्तं वार्तिके—'वागादिगण-  
धारित्वाद्धर्मं वायुव्रतं विदुः। चक्रिरे दध्निरे धर्मं धारणं प्रकृतं यतः' ॥३८२॥ इति। ६ प्राणवायुव्रतसंज्ञो  
धर्मः। ७ अनुष्ठितो भवतीति यावत्। ८ प्राणाद्वा एष इति—नान्वादित्यायुस्तत्तिलपहेतुत्वं प्रसिद्धप्राणस्य  
कथमुपगम्यतो तस्यानपगतित्वादित्याजकृद्वा समाहितं वार्तिके—'आत्मैव प्राणशब्दं स्यात्प्राणव्यननवाक्यतः' ॥  
३८०॥ इति। अज्ञातात्मनोऽत्र प्राणशब्दत्वे नियामकमाह—प्राणंति। तत्र मन शब्देन तदुपाधिको जीवो गृह्यते।  
न च स प्राणाणां धारयिता मुख्ये प्राणं स्थातुमर्हत्यतो जीवात्मनः प्राणशब्द परशेव बहूः तथाऽप्राणीत्यर्थः। अत्र  
ष वानिद्वयम्—'यदा वै पुरुषं वेत्ते प्राणमप्येति वाक्यदा। चक्षुः श्रोत्रं मनस्तद्वज्जायते तत एव च ॥ ८ अपि-  
दैवतमध्येव वायोऽग्न्यादिसंभवः। अप्ययवच यथाऽध्यात्मं यथाऽप्राणस्ततोऽयम्' ॥३७८-३७९॥ इति।  
९ वायादेव। १० सूर्यं। ११ मन्त्रे। १२ विवेकः। १३ कृतात्वर्थेन। १४ धृतात्वर्थेन।

मुह्यं धियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्माकदेमेव व्रतं  
चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा प्राप्मा मृत्युराप्नु-  
वदिति यद्य् चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्य देवताय  
सामुज्य<sup>१</sup> सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

इति प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

किया, वही आज भी चल रहा है और कल भी रहेगा । देवताओं ने उस समय जो व्रत को धारण किया था, वे वही कार्य आज भी कर रहे हैं । अतः प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्रत का आचरण करे । प्राणन और श्वानन व्यापार करे । इन्द्रियों की भाँति मुँह भी कहीं बापी मृत्यु दबोच न डाले, इस भय से इस व्रत का आचरण प्रारम्भ करे, तो इसे समाप्त करने की इच्छा रखे । इससे यह व्रत करने वाला उस देवता के माथे सामुज्य और सलोक्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

प्राणोऽस्तमेति ।

तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्च इत्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते । 'यद्वा एते व्रतममुह्यं भुविमङ्काले' वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं चाग्निमन्त तदेवाद्यापि कुर्वन्त्यनुव्रतं तेऽनुवर्तिष्यन्ते च व्रतं तैरभग्नमेव । यत्तु वागातिव्रतमग्न्यादिव्रतं च तद्व्रतमेव । 'तेषामस्तमनकाले स्वापकाले च वायी प्राणे च निम्नुक्तिदर्शनात् ।

इहं मन्त्रमिति पूर्वार्पणं ।

उत्तरार्धस्य ब्राह्मणमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य द्याघष्ठे—तमित्यादिना । तैरभग्नं देवैरभग्नत्वेन सीमासितं तेऽनुव्रतं तैरर्थम् । 'विशेषणस्यार्थवरणं सापमिति—गृह्यति ।

वायुवन का लक्षणरूप धर्म ही आज इस समय अनुष्ठान किया जाता है और प्राणे नविव्रकाल में भी देवताओं द्वारा उसी का अनुष्ठान किया जायगा यह इसका अग्रिभाग है । यहाँ ब्राह्मण इस मन्त्र की ससेप से व्याख्या करता है कि प्राण से ही सूर्य का उदय होता है और प्राण में ही विलय होता है ।

"तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्च" इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है ? ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कहा जाता है । इन वागादि और अग्न्यादि ने उग (भीमासावन्धिष्ठ) भूतकाल में क्रमशः जिन प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया था, उन्हीं वे आज भी धारण करते हैं, उन्हीं का वे अनुष्ठान करते हैं और उसी का अनुष्ठान करेंगे । उनका यह व्रत भङ्ग नहीं हुआ है । किन्तु जो वागादि और अग्न्यादि वा व्रत हैं, वह तो भङ्ग ही है । उन वागादि और अग्न्यादि का भावमग्न्या एव गुपुति के समय वायु और प्राण में विलय होना देखा जाता है ।

'अयं तदन्यत्रोक्तम्—“यदा वं पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं मनः प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रबुध्यते प्राणदेवाधि पुनर्जायन्त इत्यध्यात्ममथाधिदेवतं यदा वा अग्निरनुगच्छति वायुं तर्ह्यनूदाति तस्मादेनमुदवासीदित्याहुर्वायुं ह्यनूदाति यदादित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायो दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते” इति ।

यस्मादेतदेव व्रतं वागादिष्वग्न्यादिषु चानुगतं यदेतद्वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकत्वं सर्वदेवैरनुवर्त्यमानं व्रतम् । 'तस्यावग्योऽप्येकमेव व्रतं चरेत् । किं तत्प्राण्यात्प्राणनव्यापारं कुर्यादपान्यादपाननव्यापारं च । न हि प्राणापानव्यापारस्य प्राणनापाननलक्षणस्योपरमोऽस्ति । 'तस्मात्तदेवैक व्रतं चरेद्वित्वेन्द्रियान्तरव्यापारं नेन्मा 'मां पाप्मा मृत्युः

उक्त 'हेतुमग्निरहस्यमाश्रित्य विशदयति—अयेति । यथाऽत्रेत्युपमायाँऽप्यशब्दः । अनुगच्छति शान्त्यतीत्येतत् । वायुमुत तदधीन एव तस्मिन्काल उद्वात्यस्तमेति । उदवासीवस्तं गत इत्यर्थः । इति-शब्दोऽग्निरहस्यवाक्यसमाप्त्यर्थः ।

अध्यात्मं प्राणव्रतमधिदेवं च वायुव्रतमित्येकमेव व्रतं धारयामि मन्त्रब्राह्मणान्यां प्रतिपाद्य तस्मादिति व्याघष्टे—यस्मादिति । न हि वागादयोऽग्न्यादयो वा परिस्पन्दविरहितः स्यादनुमर्हन्ति तेन प्राणादिव्रतं तैरनुवर्त्यत एवेत्यर्थः । एकमेवेति नियमे प्राणव्यापारस्याभग्नत्वं हेतुमाह—न हीति । तदनुपरमे फलितमाह—तस्मादिति । ननु प्राणनाद्यभावे जीवनासंभवात्तस्याऽऽपि कत्वात्तदनुष्ठानमविधेयमित्याशङ्क्य वकारलभ्यं नियमं दर्शयति—'हित्वेति । नेदित्यादिवाक्यस्याक्षरार्थमुपस्था तात्पर्या-

प्राण से आदित्यादि को उदय और अस्त होने वाली यह बात अन्यत्र भी श्रुति द्वारा प्रतिपादित की गई है । जब यह पुरुष मोता है, तो उस समय वाक्-इन्द्रिय प्राण में लीन हो जाती है तथा मन, चक्षु एव श्रोत्र भी प्राण में लीन हो जाते हैं । जिस समय यह पुरुष उठता है, उस

१ प्राणादादित्यादेरुदयास्तमयत्वम् । २ प्राणाधिष्ठिता एव आयन्त इत्यर्थः । ३ उपामनोऽपि नैरन्तर्येण यावज्जीवमेकमेव व्रतं चरेदित्यर्थः । ४ प्राणव्रतस्याभग्नत्वात् । ५ हित्वेति—ननु कथं वागादिव्यापारं हित्वा प्राणव्यापारार्थवानुष्ठयस्वमित्याशङ्क्य समाहितं वाचित्वे—“अन्नमर्तो यतोऽमीषा श्रोत्रादीन्द्रियकमणाम् । प्राणवर्मणि तेनैतदेवमेव व्रतं चरेत् ॥ प्राणात्मनैव वागादिज्जानान्यपि चरन्मदा । प्राणापानात्मकं यस्माद्व्रतं व्रतं प्राणैककर्तृकम् ॥ प्राण्यादपान्याच्च ततो नित्यमा मरणादनुष” ॥३८६-३८८॥ इति । एकमेवेत्यवधूतवर्गादि-व्रतस्य स्थितत्वात्तदुक्तिरन्येवेत्याशङ्क्यान्तर्भावदित्यश्रोत स्मारयति—प्राणात्मनैरेति । वागादीनामुपसर्जनत्वात्प्राणस्य प्रधानत्वादप्यप्राणमित्यर्थः ॥ प्राणोपासिनुरपास्यप्राणात्मनस्तद्व्रतमेव वाचमित्यत्र हत्वन्तरमाह—प्राणापानात्मकमिति । नित्यं निरन्तरम् । नृप सर्वेषु वागादिव्यापारेषु प्राणव्यापारदृष्टिस्तदुपासितेति यावत् । ६ उपासकम् । ७ निम्नुक्तिदर्शनादित्युक्तं हेतुम् । ८ तस्य प्राणनादे, आधिक्यत्वात् जीवनान्यथानुपपत्त्यैव सन्धत्वादिति । ९ ननु भवं प्राणिना प्राणादिव्यापारस्य स्वार्थिकत्वाद्विच्छेद्या तदनुष्ठानमुपपत्त्यत्वात्स्थ तत्र विधिदित्याशङ्क्य आहुतुत्तुतिवाक्यवत् व्यापारान्तरनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य भवमित्याह—हित्वेति । इत्यवतरणान्तरम् ।

श्वमरूप्याप्नुवदाप्नुयात् । नेच्छद्भुतः परिमये । यद्यहमस्माद्व्रतात्प्रच्युतः स्यां शस्त एवाहं मृत्युनेत्येव व्रस्तो<sup>१</sup> धारयेत्प्राणव्रतमित्यभिप्रायः<sup>२</sup> । यदि कदाचिद् घरेत्प्रारमेत् प्राणव्रतं समापिपयिष्येत्समापयितुमिच्छेद्यदि ह्यस्माद्व्रतादुपरमेत्प्राणः परिभूतः स्याद्देवाश्च<sup>३</sup> । तस्मात्समापयेदेव ।

तेन<sup>४</sup> तेनानेन व्रतेन प्राणात्मप्रतिपत्त्या सर्वभूतेषु वागादयोऽन्यादयश्च मदात्मका एवाहं प्राण आत्मा सर्वपरिस्पन्दकृदेवं तेनानेन व्रतधारणेनैतस्स्या एव प्राणदेवतायाः सायुज्यं सयुरभावमेकात्मत्वं सलोकतां समानलोकतां वैकस्थानत्वं<sup>५</sup> यमाह—यद्यहमिति । प्राणव्रतस्य सकृदनुष्ठानमाशङ्क्य सर्वेन्द्रियव्यापारनिवृत्तिरूप संन्यासमाभरणमनुवर्तयेदित्याह—यदीति । विपक्षे दोषमाह—यदि हीति । प्राणादिपरिभवपरिहारार्थं नियमं निगमयति—तस्मादिति ।

विद्याफलं वक्तुं भूमिकां करोति—तेनेति । व्रतमेव विशिनष्टि—प्राणेति । प्रतिपत्तिमेव प्रकटयति—सर्वभूतेष्विति । संप्रति विद्याफलं कथयति—एवमिति । कथमेकस्मिन्नेव विज्ञाने फलविकल्पः स्यादित्याशङ्क्य विज्ञानप्रकल्पेन सायुज्यं तन्मिकवपेक्ष च सालोक्यमित्याह—

समय ये सभी प्राण से अधिष्ठित होकर उत्पन्न होते हैं, यह अध्यात्मदृष्टि है । अब अधिदैवदृष्टि बतलायी जानी है, जब अग्नि दान्त होने लगती है तो उस समय वह वायु के अधीन होकर ही विलीन होती है । इसीलिए “यह इसमें विलीन हो गया” ऐसा कहते हैं । जब सूर्य अस्त होता है, तो वह वायु में ही विलीन हो जाता है, यानी वायु में ही प्रविष्ट हो जाता है, वायु में ही चन्द्रमा, ग्रीर दिशाएँ भी वायु में प्रतिष्ठित हैं, एव वायु के आश्रित होकर ही वे पुन उत्पन्न होती हैं” इत्यादि ।

क्योंकि वागादि और अन्यादि में यही व्रत अनुगत है अर्थात् वायु और प्राण का जो परिस्पन्दन-रूप धर्म है, वही सभी देवताओं द्वारा अनुष्ठान किया जाने वाला व्रत है । इसलिए उपामक को भी निरन्तर जीवन भर एक ही व्रत का आचरण करना चाहिए । वह अद्वितीय व्रत क्या है ? ‘प्राण्यात्’ अर्थात् प्राणन व्यापार करे और ‘अपान्यात्’ यानी अपानन व्यापार करे, क्योंकि प्राणन और अपानन लक्षणरूप प्राण और अपान के व्यापार की कभी निवृत्ति नहीं होती । इसलिए (प्राणव्रत के भङ्ग न होने के कारण) इस भय से कि कहीं मुझ उपामक को श्वमरूपी पापी मृत्यु वरण न कर ले, इन्द्रियो के अनन्तर व्यापार की छोड़कर इसी एक ही व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये । श्रुतिमन्त्र में ‘नेत्’ शब्द परिभय ग्रथ में है । भावाशय यह है कि यदि मैं इस व्रत से स्थलित हो जाऊँगा तो मृत्यु का आस वन जाऊँगा । इस पर भयगीत हुआ प्राणव्रत को धारण करे । यदि कभी प्राणव्रत का आचरण प्रारम्भ करे तो उसे ‘समापिपयिषेत्’ यानी समाप्त करने की इच्छा रखे । क्योंकि यदि उसे इस व्रत से उपरामता हो जायगी तो अनुष्ठानता को प्राण और देवताओं का परिभव हो जायगा । इसलिए (प्राणादि का परिभव इष्ट न होने के कारण) इस व्रत को समापिपयन्त अनुष्ठान करना ही चाहिए ।

‘तेन उ’ अर्थात् उसी इस प्राणात्म की उपसन्धिरूप व्रत से ममस्त भूतो में वागादि और

१ सन् । २ वागाद्यासङ्गवत्समा पाप्मा प्रापदासुर इत्यवमभिसन्धि सन् विद्वान्प्राणव्रत घरेत् । ३ तद्व-  
तानुष्ठानि । ४ प्राणादिपरिभवात्प्राणिहत्यात् । ५ एव । ६ सर्वव्यापारकृत् । ७ भूमिकाकरणा-  
न्तरम् ।

(१) अथ प्रथमाध्यायस्व पठ्य ब्राह्मणम् । ॥ १ ॥

'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' तेषां 'नाम्नां' वागि-  
त्येतदेवा'भुव्यमतो हि 'सर्वाणि नामान्युति-

नाम, रूप और कर्म यह तीन वा समुदाय है और यही त्रय है । उन नामों को 'वाक्' यह उक्त्य अर्थात् कारण है, क्योंकि सम्पूर्ण नाम इसी वाक् से उत्पन्न होते हैं । यह वाक् ही इन नामों का साग है (क्योंकि देवदत्त यज्ञदत्तादि नामविशेष इसीसे विभक्त होते हैं) यही मन्त्र

विज्ञानमान्यापेक्षमेतज्जयति प्राप्नोतीति ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

देवदत्तविद्यारविषयस्येन प्रस्तुत साध्यसाधनलक्षणं व्याकृतं जगत्प्राणात्मप्राप्त्य-  
स्तोत्कर्षवदपि फलम् । या चैनस्य व्याकरणात्प्रागवस्थाऽव्याकृतशब्दवाक्या वृक्षबीज-

विज्ञानेति ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकायां प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

'प्रपञ्चित'स्याविष्कारार्थस्य संश्लेषेणो'पसंहारार्थं ब्राह्मणान्तरमवतारयति-यदेतदिति । प्लुतमपि  
ज्ञानकर्माणोरुक्तविशेषणवद्यदेवतप्रस्तुतिरिति संबन्धः । "प्रव्याकृतप्रक्रियायामुक्त स्मारयति—या चेति ।

ग्रन्थादि मेरे ही स्वरूप है, मैं प्राणरूप आत्मा सब व्यापार करने वाला हूँ, इसलिये इस व्रत को धारण करने से इसी प्राणदेवता के 'सायुज्यम्' अर्थात् साहचर्य या एकात्मकता को तथा 'सलोक्तताम्' यानी विज्ञान को मन्दता को अपेक्षा से समानलोकता या स्थानकता को 'जयति' अर्थात् प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद में प्रथमाध्याय का  
समाप्तसञ्ज्ञक पञ्चमं ब्राह्मण पूरा हुआ ॥ ५ ॥

यह जो साध्यसाधन लक्षण व्याकृत जगत् और प्राणात्मप्राप्ति पर्यन्त अविद्या-विषयक उत्कर्ष-  
रूप फल प्रस्तुत किया गया तथा वृक्ष-बीज के समान जो 'अव्याकृत' शब्द से कही जाने वाली इस  
जगत् की व्याकृत होने से पूर्व की अवस्था है, वह सब त्रय है । वह 'त्रय' क्या पदार्थ है ? इस के  
निर्णय के लिए कहा जाता है । नाम रूप और कर्म यह अनात्मा ही वह त्रय है, जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म

- १ जगत्कर्ममेव । अविद्यामूत्राभारम्भ सार्धब्राह्मणवर्णितम् । विद्यामूत्रात्पुनरेकं च जगत्सद्विषयं वर्णयति ॥
- वत्पत्ये मति तत्तयाग सभावयति धीर्नु'णाम् । पण्डे'स्मिन् ब्राह्मणे तेन जगत् सतिपति श्रुति ॥' (बु०बा०सा० १६ १-२) २ यथोक्तव्याकृतव्याकृत जगत् । ३ त्रयाणां मध्ये । ४ देवदत्तादिनामविशेषणम् । ५ शब्दसामान्यम् । ६ उपादानधारणम् । ७ जगत् । ८ प्रेति-ननु सूत्रिताया अविद्याया विवृतत्वा-  
दविद्याप्रकरणे ब्रह्मणाभावाद्यव्यापकसाप्तिरेव मुक्तेर्यावाङ्मुचेत्यादि । ९ व्याख्यातस्य । १० उपसंहारार्थ-  
मिति—अव्याकृतवाक्ये साभासा प्रत्यगविद्या सकार्यां सूत्रिता तस्याभिवाच्य योग्यामित्यत्राहृष्टाया गतेन सदर्थेण  
धर्म्यं प्रपञ्चित तस्य सहैतोरुपसंहारयोत्तरं ब्राह्मणमित्यर्थः । सक्षेपविस्तरो च सुप्रतिपत्त्यर्थमिष्टाविति भावः ।
- ११ सट्टे वट्टे व्याकृतमासीदित्यत्र प्रकरणे ।





“पराञ्चि खानि<sup>१</sup> ध्येतृणत्स्वयं भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति<sup>२</sup> नान्तरात्मने<sup>३</sup> ।  
कश्चिद्दोरेः प्रत्यगात्मानमक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्<sup>४</sup>” इत्यादि ॥

कथं पुनरस्य व्याकृताव्याकृतस्य क्रियाकारकफलात्मनः संसारस्य नामरूप-  
कर्मात्मकत्वं न पुनरात्मत्वमित्येतत्संभावयितुं शक्यत इति । ‘अत्रोच्यते—तेषां  
नाम्नां यथोपन्यस्तानां वागिति शब्दसामान्यमुच्यते । यः कश्च<sup>५</sup> शब्दो वागेव सेत्युक्त-  
त्वाद्वागित्येतस्य शब्दस्य योऽर्थः शब्दसामान्यमात्रमेतदेवां नामविशेषाणामुक्तं कारणा-  
मुपादानं सन्धवलवणकराणामिव सन्धवाचलस्तदाहातो ह्यस्मां श्रामसामान्यात्सर्वाणि  
नामानि यज्ञदत्तो देवदत्त इत्येवमादिप्रविभागान्युत्तिष्ठन्त्युत्पद्यन्ते प्रविभज्यन्ते  
लवणाचलादिव लवणकणाः । कार्यं च कारणेनाव्यतिरिक्तम् । तथा विशेषाणां च  
सामान्येऽन्तर्भावात् ।

प्रत्यगात्मधीस्तत्राऽऽह—कश्चिदिति ।

“उपसंहारस्येयं सफलत्वेऽपि सर्वस्य जगतो नामादिमात्रत्वं प्रमाणाभावाद्भुक्तमिति शङ्कते—  
कथमिति । अनुमानैः ‘संभावना दर्शयति—अत्रेति । ‘तत्र कार्यत्वेहेतुकमनुमानमाह—तेषामिति ।  
वागत्येतिबुधमिति संबन्ध । इन्द्रियव्यापुष्यं वाक्पदार्थमाह—शब्देति । सगृहीतमर्थं विवृणोति—  
य कश्चेत्यादिना । उक्त्यस्त्वमुपादयितुमुत्तरं वाक्यमित्याह—तदाहेति । “कार्यकारणभावेऽपि “किमाया-  
तमत आह—कार्यं चेति । सर्वं “नामविशेषास्तस्मात्प्र”त्तएवतो न भिद्यन्ते तत्कार्यत्वाद्यद्यत्कार्यं तत्ततो  
न भिद्यते यथा मूढो घट इत्यर्थं । “सर्वं नामविशेषास्तस्मात्सामान्ये कल्पिता प्रत्येकं “तदनुविद्धत्वा-  
द्ब्रज्जिवदमंशानुविद्धमर्पाविवदित्यनुमानान्तरमाह—तथेति । कार्याणां कारणेऽन्तर्भाववदिति यावत् ।

किन्तु इह व्याकृत और अव्याकृत क्रिया-कारक-फलरूप जगत की नामरूप और कर्मात्मकता  
ही क्यों है ? आत्मरूपता क्यों नहीं है ? ऐसी सम्भावना की जा सकती है । ऐसी शङ्का होने पर उक्तका  
समाधान दिया जाता है—‘तेषां नाम्नां’ यानी (देवदत्त इत्यादि) लोकप्रसिद्ध जिन नामों का उपरोक्त  
वर्णन है, उन नामों का ‘वाक्’ यह शब्दसामान्य कहा जाता है । क्योंकि (पंचम ब्राह्मण के तृतीय मन्त्र

१ पर्यतीति—न हि विषयधीराद्यवत्त्वेन (विषयत्वेन) आत्मानमावेदयितुमसं तस्या विषय (विशेष्य) मात्रा-  
वतामित्यादौ विरोधस्तद्विधोरिति भावः । २ अत्रेति—अस्मिन्चोद्ये समाधानमुच्यते । उक्तं च वातिवे—  
“नामाद्यात्मवर्तवस्य ग्रहादे स्थावरावये । न तु वस्त्वन्तरं तत्स्याद्यथा तदिह वण्यते” ॥ इति ॥ ३ देवदत्त  
इत्यादीनां लोकप्रसिद्धानाम् । ४ वृ० उ० १५३ । ५ शब्दसामान्यात् । ६ अन्तर्भावाद्द्विशेषा  
अपि न सामान्यातिरिक्ता इति शेषः । ७ अनात्मबोधनेन जगतः । ८ जगतस्त्रयात्मवत्त्वसमाधानम् । ९  
त्रिध्वनुमानेषु मध्ये । १० सामान्यविशेषयोः । ११ किं फलं निष्पन्नम् । १२ वाक्छन्दितशब्दसामान्य-  
मात्रात् । १३ बान्धनिकजेद व्यावर्तयितुमिदम् । १४ इत्यर्थं इति—कार्यकारणयोरविभागस्य मूढघटादौ  
दृष्टत्वात् प्रवृत्ते च कार्यकारणभावस्तत्वात् तावत्तत्त्वदर्शनात् वाचारम्भण विकार इति च कार्यान्तर्भावोक्ते शब्द-  
सामान्यमन्तरेण न तद्विशेषा यस्तुत गन्तीति भावः । १५ एतदेकान्तं रानुमानेन सूचयति—सर्वं इति ।  
१६ तदनुविद्धत्वात्—नामसामान्यव्याप्तत्वात् ।



अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेवामुक्तमतो हि सर्वाणि  
रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेवा<sup>१७</sup> सामतद्वि सर्वे रूपः सममे-  
तदेवां ब्रह्मतद्वि सर्वाणि रूपाणि विभति ॥२॥

अथ शुक्लनीलादि, रूपो का सामान्य चक्षु है। यह उपादान कारण है। इसी चक्षु से समस्त रूप उत्पन्न होते हैं। यह चक्षु ही उन रूपों का साम है क्योंकि यह समस्त रूपों का प्रकाशक होने से उनमें सम है। यह चक्षु ही इन नीलादि रूपा का धात्मा है क्योंकि यही समस्त रूपों का धारण करता है ॥ २ ॥

'तत्प्रतिपादयत्येतच्छब्दसामान्य हि यस्माच्छब्दविशेषान्तर्वाणि नामानि विभति धारयति स्वरूपप्रदानेन । एव कार्यकारणत्वोपपत्तेः सामान्यविशेषोपपत्तेः'रामप्रदानोपपत्तेश्च नामविशेषाणां शब्दमात्रता सिद्धा । एवमुत्तरयोरपि सर्वं योज्यं यथोक्तम् ॥१॥

अथेदानीं रूपाणां सितासितप्रभृतीनां चक्षुरिति चक्षुर्विषयसामान्यं चक्षुःशब्दाभिधेयं 'रूपसामान्यं प्रकाशयमानमभिधीयते । अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेवा<sup>१७</sup> व्याचष्टे—तद्विश्यादिना । 'तस्मात्'तन्मात्रात्तद्विशेषाणामात्मलाभ इति वाक्यशेष । प्रथमकण्डिकया तद्विषयमुपसहरति—एवमिति । उपपत्तिरयमुत्तरवाक्यद्वयेऽपि मुख्यमित्यादिशति—एवमुत्तरयो-रिति ॥ १ ॥

'तत्र व्याख्यानसापेक्षाणि यदानीं व्याकरोति—अथेत्यादिना । नामव्याख्यानात्तत्पर्यमपशब्दायं । चक्षुरवयमिति सम्बन्धः । चक्षुरिति चक्षुःशब्दाभिधेयं चक्षुर्विषयसामान्यमभिधीयते तच्च रूपसामान्यं

शब्दविशेषरूप सम्पूर्ण नामो को अपना स्वरूप प्रदान कर "विभति" अर्थात् धारण करता है। इस प्रकार कार्यकारणत्व, सामान्यविशेषत्व और आत्मीयोपपत्ति होने से नामविशेषों की शब्दमात्रता सिद्ध होती है। इसी प्रकार इन ब्राह्मण में आगे वर्णन किये गये दो श्रुतिवाक्यों में भी उपरोक्त सम्बन्ध लगा लेना चाहिये ॥ १ ॥

१ तद्विति—विशेषाणां सामान्यादात्मलाभत्वमित्यर्थः । २ आत्मात्मीयत्वोपपत्तः । ३ रूपसामान्यमिति—रूपाणां चक्षुर्विषयमित्यत्र रूपविशेषाणां कार्यत्वं चक्षुः कारणत्वमिति (कार्यकारणभाव)सम्बन्धेददानात् रूपसामान्यं चक्षुःमुपेत प्रतिष्ठाच्छब्दशुभो रूपविशेषानुत्पत्तं रूपसामान्याच्च तद्विशेषोत्पत्तिरुच्यते । चक्षुषो रूपमात्र-तेजोविकारत्वेन रूपारम्भत्वान्चक्षुःशब्देन रूपसामान्यग्रहणमिति भावः । चक्षुषो रूपारम्भत्वमुपपादितं वातिके—यद्यद्वि रूप्यते विचिच्छब्दम्प्रादिकं विधा । तत्तद्रूपमिति ज्ञायं तैजसत्वाविशेषतः ॥ त्वाष्टमेव हि तत्र तजो रूपवित्तमस्यम् । तस्माद्विषयसामान्यं चक्षुःशब्देन अभ्यतः ॥ १६ २० ॥ इति । बुद्ध्या रूप्यमाणेश्च रूपशब्दप्रवृत्तौरोच्यद्योतनाशौ हि शब्दः । रूप्यमाणकार्यमात्रस्य रूपत्वे हेतुमाह—तैजसत्वेति । कार्यमात्रस्य तैजसत्वाविशेषात्तस्य च रूपारम्भत्वस्वीकारादित्यर्थः ॥ कच वायमात्रस्य तैजसत्वं तदाह—त्वाष्टमिति । सर्वं हि कार्यं सावित्रेण तेजसा पच्यमानमात्मानं लभते तथाच तदेव तदित्यर्थः । चक्षुःपस्तैजसत्वेन रूपारम्भत्वमुक्त्वा फलितमाह—तस्माद्विति । एतेन प्रकाशमात्रमिति भाष्यं व्याख्यातम् । ४ धारणरत्वात् । ५ तत्सामान्यात् । ६ उत्तरवाक्यद्वये ।

अथ कर्मणामात्मेत्ये'तदे'षामुक्त्यमतो हि सर्वाणि  
कर्मण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषा<sup>१</sup> सामंतद्वि सर्वैः कर्मभिः  
सममेतदेषां ब्रह्म<sup>२</sup> तद्वि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति तदे-  
तत्त्रय<sup>३</sup> सदेकमय<sup>४</sup> भात्माऽऽत्मी<sup>५</sup> एकः सन्नेतत्त्रयं

तथा चलन, दर्शन, मननादि सम्पूर्ण कर्मों का सामान्य शरीर है। यही उन क्रियाओं का उपादान कारण है, इस शरीर से ही सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह शरीर इसका साम है क्योंकि यह समस्त कर्मों में समान होने से सम है। यह शरीर उन कर्मों का आत्मा है क्योंकि यही समस्त कर्मों को धारण करता है। वह यह नाम, रूप और कर्म तीन होते हुए भी सपातरूप

सामंतद्वि सर्वैः रूपैः सममेतदेषां ब्रह्म<sup>२</sup> तद्वि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति ॥२॥

अपेदानां सर्वकर्मविशेषाणां मननदर्शनात्मकानां चलनात्मकानां च क्रिया-  
सामान्यमात्रेऽन्तर्भाव उच्यते । कथं, सर्वेषां कर्मविशेषाणां भात्मा<sup>५</sup> शरीरं सामान्यभात्मा-  
ऽऽत्मनः कर्मैर्युच्यते । आत्मना हि शरीरेण कर्म करोतीत्युक्तम् । शरीरे च 'सर्वं कर्माभि-

तश्चि "प्रकाशमात्रमिति योजना ॥ २ ॥

रूपप्रकरणानन्तर्यमप्युच्यते । क्रियाविशेषाणां क्रियामात्रेऽन्तर्भावं प्रश्नद्वारा स्फोरयति—  
कथमित्यादिना । आत्मशब्देनात्र शरीरनिर्वर्त्यकर्मग्रहणे 'पुरुषविषयाहाणशेषमनुकूलयति—भात्मना  
हीति । "तत्रैवोपपत्तिमाह—शरीरे चेति । "तयाऽपि कथमात्मशब्दः शरीरनिर्वर्त्यं कर्म ब्रूयादित्याशङ्क्य

'अथ' यानी इसके बाद 'रूपाणाम्' अर्थात् शुक्ल-कृष्ण आदि रूपों का 'चक्षु' अर्थात् चक्षु  
सामान्य है। चक्षु के विषयभूत रूपों का सामान्य चक्षुशब्द से कहा जाने वाला रूपसामान्य अथवा  
कार्यमात्र कहा जाता है। इसलिए सारे रूप उत्पन्न होते हैं, यह इनका साम है क्योंकि यह समस्त रूप  
से विशेष द्वारा प्रनुमत है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही सब रूपों को धारण करता है ॥ २ ॥

अत्र इसके बाद मनन दर्शनात्मक एवं चलनात्मक समस्त कर्मविशेषों की क्रियासामान्यमात्र में

१ कर्मसामान्यम् । २ वमविशेषाणाम् । ३ शरीरम् । ४ उज्ज्वलऽन्तर्भाव । ५ क्रियासामान्यैकमित्यर्थः ।

६ ननु कथमात्मा कर्मणामुक्त्यमिति विशेषतो व्यपदिश्यते तस्य सर्वोपादानत्वादित्याशङ्क्यारम्भशब्दाप्रमाह—  
कारमा शरीरमिति । शरीरविषयात्मशब्देनात्र तन्निर्वर्त्यं कर्ममात्राय लक्ष्यते इति प्रतीकोपादानपूर्वकमाह—  
आत्मेति । तत्रा च नातिकम्—'वाक्यशु' शब्दो यद्वद्गृह्णते विषयस्तथो । आत्मनो विषयस्तद्गृहात्मशब्देन  
गृह्यते ॥ २४ ॥ इति । ७ शरीरस्य = ब्र० उ० १।४।१० । ८ सर्वं कर्मति । तदुक्तं नातिके—  
'सर्वेन्द्रियपरित्यागो व्यग्रज न शरीरके । शरीरविषयस्त्वेष्टादात्म्यप्राप्तिषोते ॥२६॥ इति । शरीरविषय-  
जन्त्यपरिस्पन्द इति यावत् । अत्र प्रकृतवाक्य ॥ १० वाक्यमात्रम् । ११ चतुर्विधाहणे । १२ तत्रैवेति  
—अथात्मशब्दतदेहनिर्वर्त्यकर्ममात्रमाह इत्यर्थः । १३ शरीरस्य कर्मनिर्वर्तकचेष्टि ।

तदेतदमृत<sup>७</sup> सत्येन ऋन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे

सत्य तास्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

इति प्रथमाध्यायं षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

बृहदारण्यकक्रमेण तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

से एव आत्मा (शरीर) है और यह कार्यकरणसघातरूप आत्मा एक होते हुए तीन है। वह यह अमृत शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम, रूप सत्य में अच्छादिन है। यहाँ पर प्राण ही अमृत है और नाम रूप सत्य है इनमें यह अविनाशी प्राण अप्रकाशित है। (यहाँ तक अविद्या के विषय समार का स्वरूप दिखलाया गया। अब विद्या के विषय आत्मा को बहेगे) ॥ ३ ॥

व्यज्यते । अतस्तात्पर्यात्तच्छब्दं कर्म कर्मसामान्यमात्रं सर्वेषामुपव्यमित्यादि पूर्ववत् ।

तदेतद्यद्योक्तं नाम रूपं कर्म अयमितरेतराश्रयमितरेतराभिर्व्यक्तिकारणमितरेतर-

लक्षणयस्याह—अत इति ।

'सक्षेपस्यापि सक्षेपान्तरमाह—तदेतदिति । तदेतत्त्रयं त्रिदण्डविष्टम्भवत्संहनं, सदेकमिति संबन्ध । क्रय स्रष्टारवमत आह—इतरेतराश्रयमिति । 'रूपं विषयमाश्रित्य नामकर्मणो सिध्यत, ज्ञातारश्चेन

एकता वतलायी जाती है। किस प्रकार यह एकता है ? सभी कर्मविशेषों का 'आत्मा' यानी शरीर सामान्य आत्मा है। अथवा शरीर का कर्म होने से यहाँ कर्म को आत्मा कहा जाता है। (चतुर्थं ब्राह्मण के सतरहवें मन्त्र में) पहले कह चुके हैं कि "आत्मा ही से यामी शरीर से कर्म करता है", शरीर में ही सभी कर्मों का परित्पन्दन होता है। इसलिए (आत्मशब्दित शरीर के सर्व कर्मों के जनक होने के कारण) आत्मस्थ कर्म को उसी शब्द से कहा जाता है, वह कर्म सामान्यमात्र आत्मा समस्त कर्मों का उपादान कारण है इत्यादि पूर्ववत् अन्य की तरह समझ लेना चाहिए।

वे ये उपरोक्त नाम, रूप और कर्म तीनों एक दूसरे के आश्रित, एक एक दूसरे की अभिव्यक्ति के कारण है, एक दूसरे में लय को प्राप्त होने वाले और परस्पर सम्मिलित हुए तीन दण्डों के समूह के समान (आश्रय-आश्रयी भाव से रहने के समान) एक है। उनकी किस प्रकार एकरूपता है ? इसका प्रतिपादन किया जाता है। इस आत्मा, कार्यकरणसघातरूप पिण्ड तथा अन्नत्रय के प्रकरण में "वह यह आत्मा एतन्मय है" इस श्रुति से व्याख्या की गई है। यह जो नाम, रूप और कर्म है वह इतना ही बस

१ अत इत्यादे । आत्मशब्दितदेहस्य सर्ववमजननत्वात् सर्वकर्मणामात्मशब्दितदेहस्यत्वात् । अजहल्लक्षणयाऽऽत्मशब्दित कर्म । तदपि कर्मसामान्यमात्रमित्यर्थः । २ सक्षेपस्यापीति—नामरूपकर्मालम्बना सक्षिप्तस्यापि जगतः पुन सक्षेपान्तरमित्यर्थः । ३ इतरेतराश्रयमिति विशेषणस्य तात्पर्यं नदत्त नामकर्ममाश्रित्य रूपस्य प्रदर्शयति—रूपमिति । तदुक्तं बार्तिने—'रूपमेव प्रतिष्ठा स्यात्सर्वदा नामकर्मणो । न हि रूपमनाश्रित्य विद्यते नामकर्मणी' ॥३०॥ इति । सर्वदा दैहिकयोर्द्वयो सत्त्वावच्छिन्नत्वात् । एव युक्तिमाह—न हीति । तयोस्त्वातन्म्यादित्यर्थः ॥



तदेतद्वक्ष्यमाणम् । अमृतं सत्त्वेन च्छन्नमित्येतस्य वाक्यस्यार्थमाह—'प्राणो वा अमृतं करणात्मकोऽन्तरूपष्टम्मक आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशो । नामरूपे सत्त्वं कार्यात्मके शरीरावस्थे क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरूपष्टम्मको बाह्याभ्यां शरीरात्मकाम्यामुपजनापयार्थमभ्यां 'मर्त्याभ्यां छन्नोऽप्रकाशोक्तः । 'एतदेव 'संसारसतत्त्वम'विद्याविषयं प्रदर्शितम् । अत ऊर्ध्वं विद्याविषय आत्माऽधिगन्तव्य इति चतुर्थं आरभ्यते ॥३॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति श्रीगोविन्दमगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशंकरभगवतः

कृतौ बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

एकस्मिन्नपि संपाते 'कार्यकरणरूपेणावान्तरविभागमाह—तदेतदिति । आत्मभूतस्तत्त्वोपाधि-  
त्वेन स्थित इति यावत् । अविनाशो स्थूलदेहे गच्छत्यपि यावन्मोक्षं न गच्छतीत्यर्थः । सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं  
भूतपञ्चकं तदारमके नामरूपे इत्याह—नामेति । करणयायात्मकं कथयति—क्रियात्मकस्त्विति ।  
पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मकं तत्कार्यं सर्वं सत्त्वं स्वस्वेति ध्युत्सते । सत्त्वं वैराजं शरीरं कार्यमपञ्ची-  
कृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मककरणरूपसप्तदशकलिङ्गस्य सूत्राख्यस्याऽऽयतन सत्त्वंवाऽऽच्छादकं "तत्त्वत्व-  
नात्माऽपि स्थूलदेहचक्षुर्ज्ञत्वाद्बुद्धिज्ञानं" तेनापि "चक्षुर्नं प्रत्यग्वस्तु गुतरामिति तज्ज्ञानेऽयहितं भाष्यमिति  
भावः । इदानीमविद्याकार्यप्रपञ्चमुपसंहरति—एतदिति । "अविद्याविषयविवरणस्य "वक्ष्यमाणोपयोग-  
मुपसंहरति—अत इति । प्रपञ्चिते सत्यविद्याविषये ततो विरक्तस्याऽऽत्मानं विविदियो"स्तज्ज्ञापनार्थं  
चतुर्थं प्रमुखं संवर्धो भविष्यति । "तस्मादविद्याविषयविवरणमुपयोगीति भावः ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकाया षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगुडानन्दपूज्यपादशिष्येण भगवानन्दनामेन

कृतया बृहदारण्यकोनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रुतिवाक्य का अर्थ किया जाता है । लिङ्गात्मप्राण ही अमृत है । जो इन्द्रियस्वरूप, शरीर के भीतर  
धारकरूप से विद्यमान, आत्मस्वरूप है, वह प्राण ही अमृत है यानी अविनाशी है तथा शरीरावस्थित  
कार्यात्मक नाम और रूप सत्य हैं, उन (नाम और रूप) का आधारभूत क्रियात्मक प्राण बुद्धि और  
क्षणशील, बाह्य, शरीररूप विनस्वर नामरूपों से 'छन्न' अर्थात् अप्रकाशित किया हुआ है ।  
(स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय आत्मा से उपसंहृत है) यही अविद्या का कार्यभूत संसार का स्वरूप  
प्रदर्शित किया गया है । इसके बाद अग्रिम ग्रन्थ में विद्या का विषयभूत आत्मावधार करना चाहिए—  
इतीति एतदुत्तरं अध्याय (उपनिषत् क्रम से द्वितीय अध्याय) का प्रारम्भ किया जाता है ॥३॥

इस प्रकार बृहदारण्यकभाष्य के हिन्दीभाषानुवाद में प्रथमाध्याय का षष्ठं ब्राह्मण पूर्ण हुआ ॥६॥

१. प्राणात्मक सौम शरीरमित्यर्थ । २. निङ्गायैव । ३. अन्तः सन् धारक । ४. नामरूपयोः । ५. विनस्वरनामरूपाभ्याम् । ६. देहद्वयात्मनोपसंहृतमेव । ७. संसारस्वरूपम् । ८. अविद्याकार्यम् । ९. कार्यकरण इति यावत् । १०. आत्मनः । ११. सूक्ष्मशरीरम् । १२. अप्रत्यक्षम् । १३. अविना स्थूल-  
समुच्चयः । १४. अविद्याकार्यप्रपञ्चनस्य । १५. वक्ष्यमाणे सत्त्वज्ञाने य उपपन्नस्तद्वदयति । १६. आत्मयायात्म्यबोधनार्थम् । १७. सत्यादित्यादि—प्रपञ्चिताविद्याकार्यस्यात्मज्ञानोपयोगिवैराग्यप्रतियोगित्वा-  
सत्तार्यप्रपञ्चनमात्मज्ञानोपकारकमित्यर्थः ।



## अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

‘आत्मेत्येवोपासीत तदन्वेषणं च सर्वमन्विष्टं स्यात्तदेव चाऽऽत्मतत्त्वं सर्वस्मात्प्रेय-  
स्त्वादन्वेष्टव्यम् । आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्यात्मतत्त्वमेकं विद्याविषयः । यस्तु  
‘भेददृष्टिविषयः सोऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदेत्यविद्याविषयः ।

“एकधेवानुद्वष्टव्यं” “मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” इत्येव-  
मादिभिः प्रविभक्तौ विद्याविद्याविषयो सर्वोपनिषत्सु । तत्र चाविद्याविषयः सर्व एव

‘तृतीयोऽध्याये सूत्रितविद्याविद्ययोरविद्या प्रपञ्चिता, संप्रति विद्यां प्रपञ्चयितुं चतुर्थमध्यायमारभमाणो  
वृत्तं कीर्तयति—आत्मेति । किन्तुत्यर्थातरेषु सत्त्वात्मतत्त्वमेवानुसंधातव्यं तत्राऽऽह—तदन्वेषणे चेति ।  
तत्संख्यान्वेष्टव्यत्वे परप्रेमाहपदत्वेन परमानन्दत्वं हेत्वन्तरमाह—तदेवेति । आत्मतत्त्वज्ञानस्य सर्वाति-  
कतत्वाच्च तदेवाऽष्टवृत्तिमाह—आत्मानमिति । उक्त्या ‘परिपादया ‘सिद्धमर्थं संगृह्णाति—आत्म-  
तत्त्वमिति । उक्तमर्थान्तरमनुवदति—यस्त्विति । सोऽविद्याविषय इति संबन्धः । कथं भेददृष्टिविषय-  
स्याविद्याविषयत्वं तत्राऽऽह—अन्योऽसाविनि । यो भेददृष्टिपर स न वेदैत्यविद्या तद्दृष्टिमूलं सूत्रिता  
“तेन” तद्विषयो भेददृष्टिविषय इत्यर्थः ।

कथं यथोक्तौ “विद्याविद्याविषयो” वसकोर्णवयसात् शरयेते तत्राऽऽह—एकधेति । सप्ताक्षब्राह्मणे  
वृत्तमर्थं कथयति—तत्र चेति । विद्याविद्याविषययोरिति यावत् । आविष्य साध्यसाधना“वान्तरभेद-

‘आत्मा है’ इस प्रकार (शब्दप्रत्यय से अगम्य आत्मा की) उपासना करे । उसका अनुसन्धान  
कर लेने पर (यह सब एक हो जाते हैं, इससे) सब का अनुसन्धान हो जाता है और वह आत्मतत्त्व  
सब से प्रिय होने के कारण अनुसन्धान करने योग्य है । “उसने (सधात में अधिकाररूप से स्थित  
ब्रह्म कर्ता) आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ”, इससे ज्ञान का विषय केवल आत्मतत्त्वे ही है । जो  
भेददृष्टि (अनात्मप्रपञ्च) का विषय है —“वह यह अन्य है, मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो सोचता है,  
वह नहीं जानता” ऐसा कहना अज्ञान का कार्य है ।

“विज्ञानघन, एकरसत्वक्षण आत्मा को एक ही रूप से देखना चाहिए”; “जो यहाँ तानाब-  
बैलता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है” इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों द्वारा विद्या और प्रविद्या।

१ आत्मेति—आत्मन शब्दविद्ययोरविषयत्वद्योतक इतिशब्दः । यस्यात्मन स प्राण-नेत्र प्राणो नाम भवतीति प्राणा-  
दिविद्योपगम्युत्तानि यद्व तां धर्वाण्यान्ब्रह्मात्मेत्युच्यते तमात्मेत्येवोपासीत न केनचिद्विशेषणेन विशिष्टतया ।  
शब्दप्रत्ययान्गम्यमात्मानमनुसंधायतीति यावत् । २ तदनुसन्धाने । ३ “अत्र ह्येते सर्वे एक भवन्ती”ति वाक्य-  
वोपात् । ४ सधातेऽधिकारितया स्थित ब्रह्म कर्तृरूपम् । ५ अनात्मप्रपञ्चः । ६ अज्ञानकार्यमिति  
यावत् । ७ एनधेति—विज्ञानपत्राकरसत्त्वसंज्ञानेनैकेनैव रूपेणेत्यर्थः । ८ उपनिषत्प्रथमे । ९ उक्तवृत्ता-  
नुवादेनेति यावत् । १० उक्तक्रमेण । ११ इत्युक्त्या । १२ अविद्याया भेददृष्टिमूलत्वेन । १३  
अविद्याविषयः । १४ आत्मानात्मानौ । १५ विविक्तौ । १६ ब्रह्मान्तरभेदशब्दाप्यात्मादि । सूत्रमवि-  
ष्यदादित्येति बोध्यम् ।

साध्यसाधनादिभेदविशेषविनियोगेन व्याख्यात आ तृतीयाध्यायपरितमाम्नेः । स च व्याख्यातोऽविद्याविषयः सर्वे एव द्विप्रकारः । अन्तःप्राण उपप्लव्यमको गृहस्येव स्तम्भादि-  
लक्षणः प्रकाशकोऽमृतः । बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशक उपजनापायधर्मस्तृणकुशमृत्तिका-  
समो गृहस्येव सत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः । तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहृतम् ।

स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेष्वनेकधा विस्तृतः । प्राण एको देव इत्युच्यते ।

सप्रहारम् । यद्योक्तो भेद एव विशेषः । तस्मिन्विनियोगो व्यवस्थापन तेनेत्यर्थः । उपसंहारब्राह्मणान्ते-  
बृहन्मनुभाष्ये—स चेति । अयद्योक्तो विद्याविद्याविषयो कथमसंकीर्णो मन्तव्याविद्याशङ्काऽऽह—  
एकचेति । 'तत्रोत्तरप्रत्यस्य विषयपरिदोषार्थं पुरुषविद्यं ब्राह्मणशेषपराम्बोषं दर्शयति—तत्र चेति ।  
'तहि समाप्तत्वादविद्याविषयस्य कथमविदुषो गार्थस्य प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य 'तदर्थमवागन्तरविभागमनुवदति  
—स चेति । तावैव प्रकारो दर्शयन्नादौ सूक्ष्म शरीरमुपगम्यत्वमिति—अन्तरिति । "तस्य बाह्यकरणद्वारा  
स्थूलेषु विषयेषु प्रकाशस्त्वममृतत्व" च स्थूपाविति । द्वितीय प्रकारमाचक्षाल्य स्थूलं शरीरं दर्शयति  
—बाह्यत्वेति । "तस्य कयाऽपि विद्यायां सूक्ष्मदेहं प्रत्यप्रकाशकत्वादप्रकाशकत्वम् । आगमापायित्वेनाव-  
हेत्यर्थं सूचयति—उपजनेति । यथा "गृहस्य तृणादि बहिरङ्गं तथा सूक्ष्मस्य देहस्य स्थूलो देह" इत्यादि  
तृणादि विना गृहस्य व्यवहाराद्योग्यत्वव्यतिरिक्त्यापि स्थूलदेहं विना न तद्योग्यत्वमिति मरवाऽऽह—  
तृणेति । "तस्य पूर्वब्राह्मणान्ते नामरूपे सम्यग्मित्रप्र प्रस्तुतत्वमस्तीत्याहुः—सत्येति । सर्वथा बाधवैधुर्म  
सत्यत्वमिति शङ्का निरसितुं विशिनष्टि—मर्त्य इति । तस्य कार्यं दर्शयति—तेनेति ।

बृहन्मनुजाज्ञातशब्दाह्वयमवतारयति—स एवेति । "आदित्यचन्द्रादयो बाह्याधारभेदा  
अनेकधात्वमितिष्ठा भूतैर्यादिविषयमागुणवशाद्ब्रह्मण्यम् । कथं तहि तस्यैकत्वं सत्राऽऽह—प्राण इति ।

के आत्म और अनात्मविषयो को समस्त उपनिषदों में पृथक्-पृथक् कर दिया है । उन (विद्या और  
अविद्या विषयो) में माध्यमाधनादि भेदविशेष के विनियोग द्वारा अविद्या के सभी विषयो (कार्य)  
की (ब्राह्मणक्रम से) तृतीयाध्याय (उपनिषत्क्रम से प्रथमाध्याय) की समातिपर्यन्त व्याख्या कर दी  
गई है । एवं वह व्याख्या किया गया मन्तव्य अविद्या का कार्य (स्थूलसूक्ष्मदेहात्मक सघातरूप) दो  
प्रकार का है । पहला, घर के स्तम्भ के समान स्थूलशरीर को धारण करने वाला स्थूलदेह के अन्तर्गत  
प्राण है जो प्रकाशक और अमृत है ; दूसरा, बाह्य कार्यरूप प्रपञ्च है जो अप्रकाशक, वृद्धि और  
क्षरणशील, घर के तृण, कुश और मृत्तिका के समान मरणस्वभाव वाला 'सत्य' शब्द वाच्य है,  
उससे अमृतशब्दवाच्य प्राण आवृत है—ऐसा पहले उपसंहार कर आये हैं ।

१. स्थूलसूक्ष्मदेहात्मक सघातरूप इति यावत् । २ अन्तर्गत स्थूलस्य । ३ स्थूलस्य धारक । ४. सूक्ष्मदेह । ५ तृतीयाध्याये । ६ तत्रेति—विद्याविद्याविषययोरसंकीर्णत्वेनावगमो । ७ उत्तरप्रत्यस्येति—उत्तरप्रत्यस्य अनुर्वाध्यायस्य यो विषयो विद्यारूपस्तस्य परिदोषो विवेचन तदर्थमित्यर्थः । ८ दोषिरूपमिति यावत् । ९ सत्प्राणब्राह्मणम् । १० सर्वाविद्याविषयस्य व्याख्यातत्वे । ११ तत्प्रवृत्तिप्रदर्शनायम् । १२ प्राणस्य सिद्धदेहत्वेति यावत् । १३ आनमृतेऽनामृतत्वम् । १४ स्थूलदेहस्य । १५ आकाशविशेष-कारमस्य । १६ ननु तद्वद्वत्त्वाभावात्कथमन्तरङ्गत्वमिति आह—तथापीति । तद्वद्वत्त्वमाभावेऽपीत्यर्थः । १७ स्थूलस्य । १८ बध्यमाणा । १९ अनेकत्वे ।

तस्यैव 'वाह्य' 'पिण्ड' एकः 'साधारणो विराड्वैश्वानर' आत्मा 'पुरुषविधः' प्रजापतिः को हिरण्यगर्भ इत्यादिभिः 'पिण्डप्रधानैः' शब्दैराख्यायते 'सूर्यादिप्रविभक्तकरणः' । 'एक' 'चानेक' च ब्रह्म तावदेव नातः परमस्ति प्रत्येकं च शरीरभेदेषु परिसमाप्तं चित्नावत्कृतं भोवतु चेत्प'विद्याविषयमेवाऽऽत्मत्वेनोपगतो गार्ग्यो ब्राह्मणो वक्तोपस्थाप्यते । तद्विपरीतात्महृग-जातशत्रुः श्रोता ।

एवं हि यतः । पूर्वपक्षसिद्धान्ताख्यायिकारूपेण "समर्प्यमाणोऽयं श्रोतुश्चित्तस्य" "यशमेति । विपयं हि तर्कशास्त्रवत्केवलार्थानुगमवाचयः समर्प्यमाणो दुर्विज्ञेयः स्यादत्यन्त-

प्राणस्य नानात्वमेकत्वं चोक्तं तत्रैकत्वं विबुधोक्ति—तस्यैवेति । प्राणस्यैव "स्वभावमृतोऽनात्मलक्षणः पिण्डः समष्टिरूपो हिरण्यगर्भविशब्देन्याधिविषयस्तत्र तत्र श्रुतिस्मृत्योच्यते । स च "अग्निर्नृपं चक्षुषी चन्द्रसूर्याः" इत्यादिभूतैः सूर्यादिभिः प्रविभक्तः करणरूपेण भवतीत्यर्थः । यद्वद्ब्रह्म "समस्तं ध्यस्तं च तद्विदं हिरण्यगर्भमाश्रमेव न तस्मादधिकमस्तीति हिरण्यगर्भं स्तौति—एक चेति । एकत्वं यिशावीकृत्य प्राणस्य नानात्वं विज्ञदयति—प्रत्येकं चेति । गोत्वादिसामान्यतुल्यत्वं व्यावर्तयति—चेतनावदिति । "केवलभोवतुल्यपक्षं वारयति—कर्मति । यक्ता पूर्वपक्षवादीति यावत् । तस्मादनुष्ठ्याद्-ब्रह्मणो विपरीतं मुख्यं ब्रह्म तस्मिन्नात्महृष्टो राजा श्रोता सिद्धान्तवादीत्यर्थः ।

किमिति वक्तुं प्रोक्तृख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—एव हीति । एवंशब्दार्थमेव स्फुटयति—पूर्वपक्षेति । अतो भवितव्यमाख्यायिकेयि नैषः । आख्यायिकानङ्गीकारे दोषमाह—विपयमे हीति । यथा तर्कशास्त्रेण समर्प्यमाणोऽर्थो ज्ञातुं न शक्यते "श्रोत्रेऽसिक्तकर्णा" "निरदकुशात्पातया केवलमर्थो-  
"ऽनुगम्यते प्रश्नप्रतिपचनभावरहितवैक्यमेतैः समर्प्यमाणोऽपि दुर्विज्ञेयोऽयं स्याद्यद्याख्यायिका नानुभूयते  
"तेन सा मुखप्रतिपत्त्यर्थमनुसर्तव्येत्यर्थः । कुतो दुर्विज्ञेयत्वं तत्राऽऽह—अत्यन्तेति । यथोक्तस्य यस्तु नो

बही प्राण (सूक्ष्मदेह), वाह्य आचार भेदो से अनेक प्रकार से फैला हुआ है और "प्राण एक ही देव है" ऐसा (पूर्व अध्याय में) कहा गया है । उसी का अनारूप रूप बाह्यदेह-समष्टिरूप एक है, जिसके सूक्ष्मविरूप अन्तर्गण करण , जो विराट्, वैश्वानर, प्रात्या, पुरुषविध, प्रजापति, क और हिरण्यगर्भ इत्यादि देहविषयक शब्दों से पुकारा जाता है । समष्टि और व्यष्टि ब्रह्म—बस इतना ही है, इसके प्रतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह प्रत्येक शरीरभेदो में परिसमाप्त होने वाला चैतन्य-रूप, कर्ता और भोक्ता है । इस प्रकार अविद्या के कार्य प्राण को ही प्रात्सरूप से समझने वाला गार्ग्य ब्राह्मण यहाँ वक्ता रूप में प्रस्तुत किया जाना है, तथा इसके विपरीन (सिद्धान्तवादी) आत्मद्रष्टा राजा अज्ञानशत्रु श्रोता है ।

क्योंकि इस प्रकार (यस्या और श्रोता द्वारा) पूर्वपक्ष और सिद्धान्तरूप आख्यायिका द्वारा उपदिश्यमान विषय श्रोता के चित्त में प्रवेश कर जाता है । इसके विपरीन (कपोलकल्पित) तर्क-

- १ अनात्मरूप । २ देह । ३ समष्टिरूप । ४ देहविषय । ५ सूर्यादिरूप । ६ समष्टिरूपम् । ७ व्यष्टिरूपम् । ८ चैतन्यरूपम् । ९ अविराकार्य प्राणम् । १० उपदिश्यमान । ११ चित्तमार्गो-  
हति । १२ स्वरूपम् । १३ समष्टिव्यष्टिरूपम् । १४ साक्षात् । १५ कपोलकल्पितानाम् । १६ स्वतन्त्रत्वात् । १७ अवबुध्यन्ते । १८ आख्यायिकामृतैर्ग्रन्थ दुर्विज्ञेयत्वेन ।

सूक्ष्मत्वाद्वस्तुनः । तथा च काठके—“श्रवणायापि बहुनिर्यो न लभ्यः” इत्यादिवाक्ये-  
सुसंस्कृतदेवबुद्धिगम्यत्वं सामान्यमात्रबुद्धधगम्यत्व च सप्रपञ्चं दर्शितम् । “आचार्य-  
वानुद्गो वेद” “आचार्यदिधेव विद्या” इति च च्छान्दोग्ये । “उपदेशयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन-  
स्तत्त्वदर्शिनः” इति च गीतासु । इहापि च शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादेनातिगह्वरत्वं महता  
संरम्भेण ब्रह्मणो वक्ष्यति । तस्माच्छ्रुति एवाऽऽख्यायिकारूपेण पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपमापाद्य  
वस्तुसमपरायणं आरम्भः ।

आचारविधियुपदेशार्थं । एवमाचारवतोर्वस्तुश्रोत्रोत्तराख्यायिकानुगतोऽर्थोऽवगम्यते ।

दुवित्तेत्येव श्रुतिस्मात्संज्ञा दर्शयति—तथा चेति । सुसंस्कृता परिशुद्धा देवबुद्धिः सात्त्विकी बुद्धिः ।  
सामान्यमात्रबुद्धिस्तान्मसौ राजसी च बुद्धिः । अतिगह्वरत्वमुत्पन्नगम्भीरत्वम् । संरम्भस्तत्पर्यम् ।  
ब्रह्मणो बुवित्तेत्येव फलितमाह—तस्मादिति ।

आख्यायिकाया मुखप्रतिपत्त्यर्थेवमुक्त्याऽपरान्तरमाह—आचारेति । उत्तमावधमेन प्रणिवातो-  
पतदनादिद्वारा विद्या प्राप्ता । अथमात्तमेन तद्व्यतिरेकेण अद्यादिमात्रेण सा सम्येत्याचारप्रकार-  
ज्ञापनार्थं आचारमन्त्र इत्यर्थः । आख्यायिकाया यथोक्तेऽर्थेऽन्वितत्वं कथयति—एवमिति ।  
वस्तुश्रोत्रोर्म्ये यथोक्ताचारवता श्रोत्रा विद्या लब्धव्या । वक्ष्या च तादृशेन सीपदेष्टव्येऽर्थोऽस्या-  
भाष्यायिकायामनुगतो गम्यते । तस्मादाचारविशेषं दर्शयितुमेवाऽऽख्यायिका युक्तेत्यर्थः । आगमानुसा-  
रिगुहस्तप्रदायादेव नक्षत्रोऽवगम्यते । यस्तु “केवलस्तर्कसदृशज्ञानेन बुद्धिः सिध्यति ।” तथा च

शास्त्र के समान केवल वस्तु का बोध कराने वाले वाक्यों से तो उपदिश्यमान विषय सरलता से समझ में नहीं आता क्योंकि आरम्भतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है । इसी बात को कठोपनिषद् में समझित किया गया है—“जो बहुतो को सुनने पर भी प्राप्त नहीं होता” इत्यादि श्रुतिवाक्यों में आरम्भतत्त्व परिशुद्ध, सात्त्विकबुद्धिगम्य, तामसी और राजसीबुद्धि से न प्राप्त होने योग्य है, ऐसा विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है । “आचार्य की शरणापन्न हुआ पुरुष इसे जानता है” तथा “आचार्य से ही विद्या फलीभूत होती है” इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् में एवं “तत्त्वद्वष्टा ज्ञानी लोग तुम्हें आरम्भतत्त्व का उपदेश करेंगे” इस स्मृतिवाक्य श्रीमद्भगवद्गीता में भी ऐसा ही कहा है । इस बृहदारण्यक उपनिषद् में भी शाकल्य-याज्ञवल्क्यसंवाद द्वारा बड़ी उत्परतापूर्वक (प्रत्यक्षादि के भविष्य) ब्रह्मतत्त्व की अत्यन्त गम्भीरता को कहा जाया । इसलिए (आरम्भतत्त्व के अत्यन्त सूक्ष्म होने से सरलता से समझ में न आने के कारण) आख्यायिकारूप से पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष के स्वरूप का वर्णन करके आरम्भतत्त्व बोध के लिए (ग्रन्थ का) आरम्भ करना उचित ही है ।

अपरान्तरूप से आचारविधि का उपदेश करने के लिये भी ग्रन्थारम्भ की उपादेयता है । इस प्रकार के आचार वाले वस्ती और श्रोता के हाने पर ही आख्यायिका द्वारा प्रस्तुत विषय का ज्ञान होता

१. श्रोतुमपि । २. अस्मिन्नेत्यन्तसूक्ष्मत्वेन दुवित्तेत्येवात् । ३. बोधनाय । ४. प्रत्यक्षाद्यविषयत्वम् । ५. सत्परात्वम् । ६. आदिना बुद्ध्या । ७. आदिनाश्रुतानुमरणादि । ८. सम्बद्धत्वम् । ९. आगमा-  
नुमरणादीनां गुरुणा परम्परात् एव । १०. आगमासहस्रतत्त्वद्विष्टो वा । ११. केवलतर्कस्य  
तत्त्वबुद्धयप्रयोजनत्वे च ।

ॐ ॥ दृष्टवालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस सं होवाचा-  
जातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणोति स होवाचाजातशत्रुः

विस्ते कालविशेष मे गार्ग्यगोश्रीय गर्वीता बालाकि नामक बृहन्न बोलने वाला था । वह कामोराज भ्रजानशत्रु के पास जाकर वाला, मैं तुम्हे ब्रह्म का उपदेश करूँ ? इस पर भ्रजानशत्रु ने कहा—इस माङ्गलिक वचन के लिए मैं आपकी सहृदय गोएँ देता हूँ । लोग जनक-जनक ऐसा कह कर

केवलतर्कबुद्धिनिषेधार्थं चाऽऽख्यायिका । नैवा तर्कं मतिरापनेया । न तर्कशास्त्रदग्धा-  
येति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । श्रद्धा च ब्रह्मविज्ञाने परमं साधनमित्याख्यायिकार्यः । तथा हि  
गार्ग्यजातशत्रोरतीव श्रद्धालुता दृश्यत आख्यायिकायाम् । “श्रद्धावांस्तमते ज्ञानम्” इति  
च स्मृतिः ।

‘तत्र पूर्वपक्षवाद्यविद्याविषयग्रह्यबुद्धिदृष्टवालाकिर्हन्तो गार्ग्यतोऽमम्याग्रह्यवित्त्वा-

केवलतर्कप्रयुक्ता तत्त्वबुद्धिरितिसंभायनानिषेधार्थं चाऽऽख्यायिकेति पक्षान्तरमाह—केवलेति । केवलेन  
तर्केण तत्त्वबुद्धिर्न तिष्ठतीत्यत्र श्रुतिस्मृतौ दर्शयति—नैवेति । ‘मतिं दद्यादिति शेषः । ‘प्रकारान्तरेणा-  
ऽऽख्यायिकामवतार्य तत्राऽऽख्यायिकानुगुण्यं दर्शयति—तथा हीति । श्रद्धा ब्रह्मज्ञाने परमं साधनमित्यत्र  
भगवतोऽपि संमतिमाह—श्रद्धावानिति ।

आख्यायिकार्यं बहुधा स्थिते तद्वक्षराणि व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । पूर्वपक्षवादित्ये हेतुमाह—  
अविद्याविषयेति । गार्ग्यतये हेतुमाह—असम्पत्तिरिति । इयमेव तु वाङ्निमित्तमित्यत्रापि कस्मादित्यनुष-

है । यह आख्यायिका केवल तर्कबुद्धि का निषेध करके के लिए भी है । ‘स्वस्वरूपनामात्र से ही तत्त्वबुद्धि  
नहीं प्राप्त होती’, ‘तर्कशास्त्र से दग्धबुद्धि वाले का आत्मज्ञान नहीं होता’ इत्यादि धृति-स्मृतिभ्यां से  
यही निश्चिन्त हाता है । ब्रह्मविज्ञान में श्रद्धा ही चरम साधन है, यह इस आख्यायिका का भाव है । इसी-  
लिए इस आख्यायिका में गार्ग्य और भ्रजानशत्रु की अतीव श्रद्धा देली जाती है । स्मृति भी इसका  
समर्थन करती है, “श्रद्धावान् साधकं पुष्टं ही ब्रह्मज्ञानं यो प्राप्तं करोति” इत्यादि ।

इहाँ किसी समय में अविद्या के कार्य प्राणादि की ब्रह्म जानने वाला, गोत्र से गार्ग्य पूर्वपक्षवादी दत्त-  
वालाकि जो ब्रह्म का पर्यायस्वरूप न जानने के कारण ‘दत्त’ यानी अभिमानी था और बलाका को सन्तान  
होने के कारण वालाकि कहलाता था, इस प्रकार दत्त और बालाकि होने के कारण जो दत्तबालाकि

१ स्वस्वरूपनामात्रेण । २ टीक्ष्णैर्वायम् । ३ पूर्वपक्षवादीति । तदुक्तं श्रीमद्व्याख्यानश्रीमिथुं हदारण्य-  
कवाचिकमारे—“योऽध्यारोपस्तृतीयतत्त्वचतुर्थेऽप्यपेक्षते । विद्यासुखं तत्त्वयमयव्यञ्जं निरूप्यते । सति पद-  
ब्राह्मणान्तरं प्रथमं ब्राह्मणत्रयम् । अत्रादयश्चान्तरं मद्ब्रह्मन्तत्त्वनिरूपणम् ॥ चतुर्थे स्वात्मनूयस्य साक्षात्तत्त्व-  
विस्तृतिः । कलानुसारी साक्षात्तत्त्वनिर्माणं पञ्चमे स्मृतं ॥ विद्यावशस्य विद्यारो ज्ञेयार्थं षष्ठं इति ।  
जपादमुह्यन्तुमुह्य विद्या प्राप्नोति मुञ्चिषाम् ॥ अत्रादयश्चान्तरं मद्ब्रह्मन्तत्त्वयमयव्यञ्जं निरूप्यते । तत्राऽऽद्येऽतमता  
साक्षात्प्राणादीनामपेक्षते ॥ अतः प्राणादयश्चान्तरं वानादि पूर्वपक्षयुक्तं । ब्रह्मात्मतत्त्वविद्यायां सिद्धान्ती  
प्रतिवर्ति तम्” ॥१-६॥ इति । ४ अविद्याकार्यप्राणादि । ५ ब्रह्मविषयम् । ६ श्रद्धाव्येन ।

सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वं जना  
धावन्तीति ॥१॥

उसो के पास दौड़ जाते हैं (लोक में यह प्रसिद्ध है, जनक बड़ा दानी और बड़ा श्रोता है, ये दोनों बातें आपने अपने इस मातृलोक वचन से मुझे अत्यन्त मुलम कर दी है। अतएव मैं आपको हजार गोएँ देता हूँ) ॥ १ ॥

देव बलाकाया अपत्यं बालाविहंतश्चासौ बालाकिश्चेति हृष्टबालाकिहंशब्द ऐतिहास्यं  
प्राण्यायिकायाम'मूचानोऽनुवचनसमर्थो वक्ता वाग्मी गार्ग्यो गोत्रत आस यमूव बवचि-  
त्कालविशेषे स होयाच्चाजातशत्रुमजातशत्रुनामानं काश्यं काशिराजमभिगम्य ब्रह्म ते  
ब्रवाणीति ब्रह्म' ते तुभ्यं ब्रवाणि कथयानि । स एवमुक्तोऽजातशत्रुवच-सहस्र' गवां दध्म

ज्यते । अतो ब्रह्म ते ब्रवाणीति यागेष सहस्रदाने निमित्तमिति शेषः । अग्नि व्याचष्टे—जनक इति ।

नाम से प्रसिद्ध था, वह 'अनूचानः' अर्थात् अनुवचन में समर्थ 'वक्ता' यानी बोलने वाला था ।  
प्राण्यायिका में 'ह' शब्द परम्परागत उपदेशार्थक है । उसने 'अजातशत्रुम्' अर्थात् अजातशत्रु नामक  
'काश्य' यानी काशिराज से, उसके पास जाकर कहा । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् तुम्हें मैं निरुपाधिक,  
सत्यादिलक्षण बाने ब्रह्म का निरूपण करता हूँ । इस प्रकार कहे जाने पर वह अजातशत्रु बोला—

१. परम्परागतोपदेशार्थक । २ 'परम्पर्यापदेशे स्यादेतिह्यग्निं हाव्ययमि त्वमर । चकार शेष । ३  
अनूचान साङ्गवेदाध्यायी । 'अनूचान प्रवचने साङ्गोऽधीतीत्यवर' 'अनूचाना विनीत स्यात्साङ्गवेदविषक्षण'  
इति च विद्व । ४ निरुपाधिक सत्यादिलक्षणमेवान् ब्रह्म ब्राह्मम् 'यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्द्रव्या-  
पूर्वमनपरमि'त्यादिभूते । ५ आहान्तरम् ।

ब्रह्म ते ब्रवाणीति जन वातिकानि सप्त सन्ति तथाहि—'नापृष्ट इति नन्वेतद्विद्वन्मकरोहिपि । यद्ब्रह्म ते  
ब्रवाणीति अपृष्ट काश्यमब्रवीत् ॥ दर्पादिदर्शनान्मूच वेत्यहत्तात्पर्यमनम् । इत्यन्तरार्थमतोऽप्राक्षीत्काश्य प्रजा-  
समन्वितम् ॥ अथाभ्युपेक्षारी यो विज्ञाभुविनयान्वित । अपृष्टेनापि वक्तव्या तस्मै विद्या विपश्चिता । धर्माधो'  
यत्र न स्याता शुश्रूषा वापि तद्विद्या । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभ वीजमिधोपरे । धर्माधो' यत्र च स्याता  
शुश्रूषा वापि तद्विद्या । वक्तव्या तत्र विद्येति निषेधादेव तिङ्गच्छते ॥ गृह्यारबन्धपरवक्तव्याय  
चाऽऽश्रित्य भूमिपम् । ग्राह भानुपवित्तादेष देववित्समन्वितम् ॥ वित्तद्वयेन सपत्नी यतोऽपिप्रकियत नरः । सर्वक-  
मैस्वतोऽप्रादीद्वालाकि काश्यमन्तिनादिति ॥ ३३-३६ ॥ इति । "नापृष्ट कस्यचिद्द्रव्यान्न चान्यायेन पृच्छत ।  
जानन्नपि हि मेधावी जडवत्सोऽनमाचरेत्" ॥ इति स्मृतिविरद्वमुपिबेष्टिनमिति शङ्कते—नेत्यादिना । काश्यस्य  
गार्ग्यं प्रति प्रथमतो न प्रश्नोऽप्रतीतिप्रसिद्धधर्षो हिशब्द । यच्छब्दो यस्मादर्थं तदभिप्रेत्यार्थं हीत्युक्तम् ॥  
ब्रवाणीत्येतत्पृच्छानोत्यर्थं धातुतामनेकार्थत्वात्तत्र स्मृतिविरोध इत्येकदेश्याह—दर्पादीति । अथित्वादिप्रहार्थमादि-  
पदम् । अहस्तात्मदण्डेन स्वात्मान गार्ग्यो वेतीति शेष । इत्यन्तार्थं पूर्ववस्तुविज्ञानार्थमित्यर्थः । त प्रति सम्प्र-  
गानार्थं प्रत्यस्य प्रवृत्तिरुचितेति सूचयितुं प्रज्ञेत्यादिविशेषणम् । अत्र श्रुतेरनाञ्जस्मादपानुनमादाय स्वपक्षमाह-  
अदालुरिति । अधिकांस्त्वसिद्धधर्षानि विशेषणानि विपरिच्येति भक्तुस्तदधिगतियोग्यतोक्ता—'अधर्मण तु यः



स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्संव-  
दिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो आदित्य में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। इस पर उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं; इस सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो सबका अतिक्रमण करके स्थित है, यह ममस्त भूतो वा मस्तक है एव दीप्तिमान् है। इसी

‘एवं राजानं शुभ्रपुममिमुखीभूतं स होवाच गार्ग्यः । य एवासावादित्ये चक्षुषि चकोऽभिमानो चक्षुदरिणो हृदि प्रविष्टोऽहं भोक्ता कर्ता चेत्ययंस्थितः । एतमेवाहं ब्रह्म पश्याम्यस्मिन्कार्यकरणसंघात उपासे । तस्मात्तमहं पुरुषं ब्रह्म तुभ्यं ब्रवीम्युपास्त्वेति । स एवमुक्तः प्रत्युवाचाजातशत्रुर्मा मा मा मेति हस्तेन विनिवारयन् । एतस्मिन्ब्रह्मसि विज्ञेये मा संवदिष्ठाः । मा मेत्यावाधनार्थं द्विवचनम् । एवं समाने विज्ञानविषय आद्ययो-

‘हृदि प्रविष्टो भोक्ताऽहमित्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणयति—ग्रहमिति । ‘दृष्टिकलं नैरन्तर्याम्यासं दर्शयति—उपास इति । ‘तावता मम किमायातं तवाह—तस्मादिति । मा मेति ‘प्रतीकमावाप्यासा-स्पर्यभाह—मा मेति । विनिवारयन्प्रत्युवाचेति सम्बन्धः । एकस्य मादौ निवारकत्वमप्यस्य “संवादेन संगतिरिति विभागे संभवति कुतो द्विवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—मा मेत्यावाधनार्थमिति । “तदेव स्फुटयति

अतः इससे आपने वह सब मेरे लिए सम्भव कर दिया ॥ १ ॥

इस प्रकार सुनने के इच्छा वाले श्रीर आपने प्रति अभिमुख हुए राजा से उस गार्ग्य ने कहा—“यह जो मूर्ध में श्रीर चक्षु में उनका एक ही अभिमानी चक्षु के द्वार से यहाँ हृदय में प्रविष्ट होकर मैं भोक्ता हूँ श्रीर मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार प्रतिष्ठित है, उसी को मैं ब्रह्म देखता हूँ, इस कार्यकरणसंघात में मैं उसकी उपासना करता हूँ। इसलिये (मेरा वह उपासक होने के कारण) उस पुरुष को ही मैं पुनः ब्रह्मरूप से बतलाता हूँ, उसी की तुम उपासना करो। इस प्रकार कहे जाने पर उस अजातशत्रु ने “नहीं, नहीं” इस प्रकार हाथ से निषेध करते हुए कहा—‘एतस्मिन्’ अर्थात् इस विज्ञेयब्रह्म के

१. श्रौतकाम राजान प्रति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कीदृशहोतवानित्याशङ्क्य य एवाजाविवादेर्यं वक्तुमुपक्रमते—एवमित्यादिना । २. हृदि प्रविष्टस्य प्रभातुदृष्टत्वस्य चक्षुद्वारकत्वमभिप्रेत्याह—चक्षुदरिणेत्यादि । ३. मम तदुपासकत्वात् । ४. न तूपास्य इति भावः । विज्ञेये अविवक्षितव्यान् पानिनि विज्ञेये उपास्ये इति यावत् । स्पष्ट चेत्तत् वृ० उ० २।१।१४ भाष्ये । ५. संवाद मा मायी । ६. आवाधये चेति सूत्रेण पीडया चोत्थामा द्वित्वमित्यभिप्रेत्याह—आवाधनार्थमिति । गार्ग्यस्येयद्वाधनार्थमित्यर्थः । तथाहि गार्ग्यो हि विना स्वोपदेश राजा ज्ञातस्य ब्रह्मण प्रवदनगीतोऽनस्तस्येयद्वाधित्यनुत्तया राजा निषेधोऽप्यस्त (निषेधार्थं द्वित्व बोध्यम्) तेन मुख्य ब्रह्म प्रतिज्ञाय तदनुने प्रतिज्ञाहानिरूपो बाध इत्यर्थः । ७. हृदि प्रविष्टे आत्मनीत्यर्थः । ८. अध्यात्माधिदेवतयोरेतत्वे प्रत्यक्ष प्रमाणयनीत्यर्थः । ९. यथोक्तब्रह्मदर्शनफलकम् । १०. यथोक्तत्वदी-योपासनेन । ११. लब्धम् । १२. यदायात तत् । १३. द्विकने । १४. क्रियापदेन । १५. सम्बन्धः । १६. द्विवचनस्येयद्वाधनार्थत्वमेव ।



अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां  
भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥

प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ । जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सभी भूतों का अतिक्रमण करने स्थित हो समस्त प्राणियों का मस्तक और राजा हो जाता है (क्योंकि जैसे गुण वाले की उपासना की जाती है, वैसा ही फल मिलता है) ॥ २ ॥

रस्मानविज्ञानयत इव दर्शयता बाधिताः स्यामास्तो मा संवदिष्ठा मा संवादं कार्षीर-  
स्मिन्नह्नि । अन्यत्वेज्जानासि तद्वत्तु यस्तुमहंसि न तु यन्मया ज्ञायत एव । अन्य  
चेन्मन्यसे जानीये त्वं ब्रह्ममात्रं न तु तद्विशेषणोपासनफलानीति । तत्र मन्तव्यं यतः  
सर्वमेतदहं जाने यद्व्यवोपि । कथम्, अतिष्ठा अतीत्य भूतानि तिष्ठतोत्यतिष्ठाः । सर्वेषां च  
भूतानां मूर्धा शिरो राजेति च राजा दीप्तिगुणोपेतत्वावेतं विशेषणं विशिष्टमेतद्वत्सा-

—एवमिति । श्वदुस्तेन प्रकारेण यो विज्ञानविषयोऽस्तस्मिन्नावयोविज्ञानसाम्पादेव समानेऽपि,  
विज्ञानवस्त्रे सत्यस्मानविज्ञानवत् इव स्योक्त्य तमेवायंमस्मान्प्रत्युपदेशेन ज्ञापयता भवता यय बाधिता,  
स्यामेति योजना । "तथाऽपि" गार्ग्यस्य कथमोपब्रूवाधनं तत्राऽह—अत इति । अतिष्ठा सर्वेषामित्यादि  
वाक्यं शङ्काद्वाराऽवतार्यं ध्याकरोति—प्रयेत्यादिना । एतं पुरुषमिति शेषः । इतिशब्दो गुणोपास्तिसमा-

विषय म संवाद मत कगे । 'मा-मा' यह द्विरुक्ति (गार्ग्य की उक्ति का) सम्बन्ध बाधन करने के लिए  
है । क्योंकि इस प्रकार हम दोनों के विज्ञान का विषय समान होने पर भी हमें अविज्ञात सा देखने  
वाले तुमसे हम बाधित (अज्ञानवान्) हो जायेंगे, इसलिए संवाद मत करो (मुख से) इस विज्ञात  
ब्रह्म का कथन न करो । यदि तुम किसी दूसरे ब्रह्म को जानते हो, तो उसका कथन करो, जिसे मैं  
जानता हूँ, उसका वर्णन न करो । पक्षान्तर में यदि तुम यह मानो कि तुम तो ब्रह्ममात्र को जानते हो,  
उसके गुणों की उपासना के फल को तो नहीं जानते, ऐसा तुम्हें नहीं मानना चाहिये क्योंकि तुम जो  
कहते हो, वह तो सब कुछ मैं जानता हूँ । किस प्रकार ? 'अतिष्ठा' यानी क्योंकि यह समस्त  
प्राणियों का अतिक्रमण करके स्थित है इसलिए 'अतिष्ठा' यानी प्रधान है । समस्त प्राणियों का  
'मूर्धा' अर्थात् मस्तक है यानी पूज्य है, 'राजेति' अर्थात् दीप्तिगुण से विशिष्ट होने से वह राजा है ।  
इन (प्रधानत्व, पूज्यत्व और दीप्तिगुण) विशेषणों से विशिष्ट इस ब्रह्म की जो कार्यकरण सघात में  
कर्ता और भोक्ता है, इसको भी निरन्तर देखता हूँ । इस प्रकार विशेषणा से युक्त ब्रह्म को देखने वाले  
को फल भी वैसा मिलता है । जो इस पुरुष को इस प्रकार (त्रिगुणविशिष्ट) उपासना करता है,

१ बाधिता—अनदुक्ताविज्ञानवन्त । २ अत—मया त्वत्सासनमृतेऽपि यथोक्तब्रह्मणो ज्ञातत्वात् । ३  
कथनम् । ४ मदिज्ञाते । ५ ज्ञायत एवेति—उद्वयतुमहंसीति पूर्वेण सम्बन्ध तथा आपूर्वार्थविज्ञान  
प्रतिज्ञाय तदनुतेर्गार्ग्यस्येववाच इति भावः । ६ पक्षान्तरे । ७ गुणेत्यर्थः । ८ सर्वाणि । ९  
प्रधान । १० पूज्य । ११ प्रधानत्वपूज्यत्वराजत्वस्थगुणं राजत्व दीप्तिः । १२ राशो बाधितत्वेऽपि ।  
१३ आवाधे चेत्यत्राह ईषदर्थत्वमाश्रित्य बाधनं प्रयोक्तृगतं श्रोतृगतं वेत्वनियमं चाभ्युपेत्याह—तथाशीत्यादि ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्सर्वदिष्टा  
बृहन्पाण्डरवासाः 'सोमो राजेति वा अहमेतमुपास  
इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो चन्द्रमा में पुरुष स्थित है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इसके सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म की मैं भी जानता हूँ)। यह तो महान् है, सुबल यस्त्रधारी सोम राजा है। मैं इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करना है, उमने लिए प्रतिदिन सोमसुत और प्रसुत-

स्मिन्कार्यकरणासंघाते क्तुं भोक्तुं चेत्यहमेतमुपास' इति फलमध्येव विशिष्टोपासकस्य ।  
स य 'एतमेव'मुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा 'राजा भवति । यथागुणोपासनमेव हि  
फलम् । "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ॥ २ ॥

'संवादेनाऽऽदित्यब्रह्मणि' प्रत्याख्यातेऽजातशत्रुणा चन्द्रमसि ब्रह्मागतरं 'प्रतिषेदे

पर्ययं । पूर्वोक्तरीत्या त्रिभिर्गुणैर्विशिष्ट ब्रह्म तदुपासकस्य फलमपि जानामीत्युक्त्वा कलयाक्यमुपादत्ते  
—स य इति । किमिति बोधोक्त फलमुच्यते तथाऽऽह—यथेति ॥ २ ॥

मनसि चेति धकाराद्बुद्धौ चेत्ययं । य एक पुरुषस्तमेवाह ब्रह्मोपासे त्व चेत्यमुपास्तेत्युक्ते

वह सभी का प्रधान, पूज्य और दीप्त होता है। (इस में हेतु प्रदर्शन करते हैं—) जिस प्रकार वे गुणों से युक्त उपास्य की उपासना की जाती है, वैसा फल मिलता है। इसी बात की सङ्गति श्रुति द्वारा प्रवर्धित की जाती है। "उस (निरुपाधिक ब्रह्म) की जो जिस भाव से उपासना करता है, वह तादात्म्यरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

(ज्ञातशापनरूप) सवाद के जब द्वारा राजा अजातशत्रु ने आदित्यब्रह्मविषयक उपदेश का निषेध कर दिया, तो गार्ग्य ने चन्द्रमण्डलान्तर्गत दूसरे ब्रह्म का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया। यह जो चन्द्रमा और मन में एक ही पुरुष कर्ता और भोक्ता है, इसके, पिछले यन्त्र में कथित विशेषण समझ लेने चाहियें (सूर्यमण्डल से द्विगुण विस्तार होने के कारण) वह बृहत् अर्थात् महान् है,

१ सोमो राजेति—सोम सोमत्वकारणान् । तदुक्तं वातिवे— ज्योत्स्नया राजतेऽपर्यं सोमो ब्राह्मणराजत । सोमो राजत्यतो वक्ति तदुपासनिधित्वया ॥ ८१ ॥ सोमो ब्राह्मणानां राजेतिश्रुतिमाभित्य ब्राह्मणराजत इत्युक्तं राजत्वादित्ययं । गुणवतुष्टयोक्तिफलमाह—तदुपासेति । तथा च सोमत्व मनोज्ञत्व गुणो बोध्य ॥ २ अनवरतं पशामीत्ययं । ३ पुरयम् । ४ त्रिगुणविशिष्टम् । ५ दौघ । ६ संवादेन—ज्ञातशापनरूपेण मति-सवादोपेक्षेणेत्ययं । उक्तञ्च—'वेत्तो मनिसादो भवदुक्तिर्मात्रवत् । न त्वपूर्वार्थविज्ञानं प्रतिपातं यथा त्वया' ॥ ४५ ॥ इति । अवज्ञाप्रति ब्रह्मणि सवादं यत्तुमेवोपकल्पं मयेति चेन्नेत्याह—प्रतिज्ञातमिति ॥ ७ आदित्यब्रह्मविषयोपदेष्टे । ८ वक्तुमुपचक्रे ।

नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति, पुरुषो एतमेवाहं

रूप होकर उपस्थित होता है अर्थात् प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यज्ञानुष्ठान में उसे सामर्थ्य प्राप्त होता है तथा उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो विद्युत् में पुरुष है, मैं उसकी ही ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।

गार्ग्य । य एवासौ चन्द्रे मनसि चंकः पुरयो भोक्ता कर्ना चेति पूर्ववद्विशेषणम् । बृहन्म-  
हान्पाण्डर शुक्ल वासो यस्य सोऽय पाण्डरवासा अशरीरत्वात्प्राणस्य । सोमो राजा  
चन्द्रः । यश्चाब्रभूतोऽभिपूयते सतात्मको यज्ञे तमेकीकृत्येतमेवाह ब्रह्मोवासे 'यथोक्तगुण  
य उपास्ते तस्याहरह' सुतः सोमोऽभिपुतो भवति यज्ञे प्रसुतश्च विकारेष्वन्न चास्य न  
क्षीयतेऽक्षात्मकोपासकस्य ॥ ३ ॥

तथा विद्युति त्वचि हृदये चंका देवता तेजस्वीति विशेषण तस्या स्तत्फल तेजसो

मा मेवाविता प्रत्युवाचेत्याह—इति पूर्ववदिति । भानुमण्डलतो 'द्विगुणं चन्द्रमण्डलमिति प्रसिद्धिमा-  
धित्वाऽऽह—महानिति । कथं पाण्डर वासश्चन्द्राभिमानिन 'प्राणस्य सभवंतीत्याह—पाण्डर-  
अशरीरत्वादिति । पुरयो हि शरीरेण वाससेव वेष्टितो भवति पाण्डरत्वं चापा प्रसिद्धमापो वास  
प्राणस्येति च श्रुतिरतो युक्त प्राणस्य पाण्डरवासस्त्वमित्यर्थः । न केवल सोमशब्देन चन्द्रमा गृह्यते कि  
तु सताऽपि 'समाननामधमत्वादित्याह—यद्वेति । त चन्द्रमस सतात्मकं बुद्धिनिष्ठं च पुरुषमकीकृत्याह-  
ग्रहेणोपास्तिरित्यर्थः । सप्रत्युपास्तिफलमाह—यथोक्तेति । यज्ञशब्देन प्रकृतिरुक्ता । विकारशब्देन  
विकृतयो गृह्यन्ते । यथोक्तोपासकस्य प्रकृतिविकृत्यनुष्ठानसामर्थ्यं 'सोमया लभ्यमित्यर्थः । श्रुताक्षयस्यो-  
पासनानुसारित्वाद्युपपन्नत्वमभिप्रेत्योपासकं विशिनष्टि—यश्चात्मकः ॥ ३ ॥

'सवाबधोपेण चन्द्रे "ब्रह्मयपि प्रत्याख्याते ब्रह्मान्तरमाह—तथेति । कथमेकगुपासनं मनैकफल-

'पाण्डरवासा' यानी शुक्ल वस्त्रा वाला है क्योंकि चन्द्राभिमानी प्राणमजलमयशरीर से युक्त है ।  
'सोमो राजेति' यानी सोम राजा चन्द्रमा है तथा जो यज्ञ में केव अन्न के रूप में उपकाया जाता है,  
वह सोमलता भी सोम ही है । उस चन्द्र एवं सतात्मकपुरुष का अद्वैत रूप मान कर इन गुणों से

१ कण्ठघट । २ गुणचतुष्टयेन पुरुषम् । ३ कृतकण्ठव । ४ यद्यपि तेजस्वित्वं पूर्वोक्तादित्यादाव-  
प्यस्ति तथापि तत्तेजसो जलदादिभिर्जलमावृत्याद्विद्युत्तेजसश्चातयात्वादनैव तदुक्तमिति ध्येयम् । ५ उपासन-  
फलम् । ६ द्विगुणमिति—नववायनसाहस्रो विष्कम्भं सवितु स्मृत । द्विगुणस्तस्य विस्तारो मण्डलस्य  
प्रमाणतः ॥ द्विगुणं सूचयित्वा रात्रिस्तारं चात्रिणं स्मृत ॥ इति पुराणप्रसिद्धिः । अत्र विष्कम्भं विस्तारं,  
प्रमाणतः परिमाणतः, सवितुः अभिमानिपुरुषस्य मण्डलस्य तदाश्रयस्य पुरुषोपवेशना द्विगुणविस्तारं मण्डलमिति ।  
७ पुरुषस्य । ८ समाननामधमत्वादिति—सोम इत्यभिधानस्य बृद्धिहासार्थमस्य सोमयज्ञं समत्वा-  
त् पुरुषस्य । ९ 'समा'नामधमत्वादिति—सोम इत्यभिधानस्य बृद्धिहासार्थमस्य सोमयज्ञं समत्वा-  
त् पुरुषस्य । १० 'यथोक्त'प्राणात्मकमेवेति प्राणात्मनेकीकृत्येत्यर्थः । ११  
प्रकृताख्ययज्ञः । १२ अनायासेव । १३ ज्ञातज्ञापकत्वेन प्रतिब्राह्मणिरूपेण । १४ चन्द्र उपदेशे ब्रह्मविष-  
यक इत्यर्थः । १५ स्वस्तिं प्रजाया जेत्यनेकवृत्तित्वमेव फलस्य बाहुल्यमिति ध्येयम् ।

ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्संवदि-  
ष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स ॥ एतमेव-  
मुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा  
भवति ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्संव-

तब भजातशत्रु ने कहा—नहीं नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (इसे मैं जानता हूँ) और इसकी तो मैं तेजस्वीरूप से उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्वी होती है (विद्युत् के बाहुल्य से इस उपासक का प्रजाबाहुल्य भी सम्भव है) ॥ ४ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो आकाश में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस भजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (मैं जानता हूँ) और इसकी उपासना

ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति । विद्युतां बहुत्वस्याङ्गीकरणादात्मनि प्रजायां च फलबाहुल्यम् ॥ ४ ॥

तथाऽऽकाशे हृदाकाशे चैका देवता पूर्णमप्रवर्तति चेति विशेषणद्वयं पूर्णत्व-

मित्याशङ्क्याऽह—विद्युतामिति ॥ ४ ॥

विशिष्ट ब्रह्म की मैं उपासना करता हूँ। जो पुरुष उपरोक्त गुणचतुष्टय से युक्त ब्रह्म की उपासना करता है, उसके लिए नित्यप्रति 'सुप्त' यानी यज्ञ में सत्तात्मक सोम उपस्थित रहता है और विकृति-यज्ञ में 'प्रसृत' अधिक प्रमाण में सोम (प्रनायास ही) प्राप्त हो जाता है। तथा ब्रह्म की इस प्रकार अन्नात्मक उपासना करने वाले का अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

(ब्रह्मविषयक चन्द्र उपदेश में भी दोष आने पर) इसी प्रकार विद्युत्, स्वक् और हृदय में भी एक ही देवता है। (यद्यपि आदित्य चन्द्रमा में भी तेजस्विता है, परन्तु मेघ आदि के द्वारा उनके तेज के परिमल हो जाने के कारण) विद्युत् का तेजस्वी यह विशेषण दिया गया है। (जो कोई विद्युत् के तेजस्वी रूप की उपासना करता है) इसकी उपासना का फल यह है कि वह तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है। विद्युत् की अनेकता अङ्गीकार की गई है, इसलिए अपने और प्रजा के लिए (उपास्यबाहुल्य होने से) फल का बाहुल्य सम्भव है ॥ ४ ॥

दिष्टाः 'पूर्णमप्रवर्तीति वा' अहमेतमुपास इति स य  
एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माहोका-  
त्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायो पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्संवदिष्टा  
इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास

पूर्ण तथा अप्रवर्तितरूप से करता है । जो कोई इस आकाश की इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा  
और पशुमा से पूरा होता है तथा इस लोक में उसको प्रजासत्तति का विच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

उन गार्ग्य ने कहा—यह जो वायु में पुरुष है, ब्रह्मरूप से मैं इसी की उपासना करता हूँ । उस  
प्रजातयागु ने कहा—नहीं नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो, इसे मैं जानता हूँ । इसकी तो मैं  
परमेश्वर, वैकुण्ठ और अपराजिता सेनारूप से उपासना करता हूँ (मरुतो का एकरूप होना प्रसिद्ध

विशेषणफलमिदं पूर्यते प्रजया पशुभिरप्रवर्तितविशेषणफलं नास्यास्माहोकात्प्रजोद्वर्तत इति  
प्रजा सत्तानाविच्छिन्तिः ॥ ५ ॥

तथा वायो प्राणे हृदि चैका देवता तस्या विशेषणमिन्द्रः परमेश्वरो 'वैकुण्ठो'ऽप्र-  
सह्यो न परंजितपूर्वाऽपराजिता सेना मरुता गणत्वप्रसिद्धोऽपासनफलमपि । जिहृगुहं

'अप्रवर्तितस्वमप्रवर्तकत्वमक्रियावत्त्वं वा ॥ ५ ॥

कयमेकस्मिन्वायावपराजिता सेनेति गुण सम्भवति तत्राऽह—मरुतामिति । विशेषणप्रत्यय  
फलप्रत्यय क्रमेण श्रुत्प्रादपति—जिष्णुरित्यादिना । अन्यतस्त्यानामन्यतो 'मातृतो जातानाम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार आकाश, हृदयाकाश और हृदय में भी एक ही देवता है । (उसके घटादि के  
समान अप्रवर्तक) पूर्ण और अक्रियात्व (स्वयं का अप्रवृत्तत्व होना) ये दो विशेषण हैं । पूर्णत्व विशेषण  
(वासे ब्रह्म की उपासना) का फल यह है कि वह प्रजा और पशुयो से पूर्ण होता है तथा अक्रियात्व  
विशेषण का यह फल है कि इस लोक से उसकी 'प्रजाद्वर्तते' यानी प्रजा का सन्तानविच्छेद नहीं  
होता ॥ ५ ॥

इसी प्रकार वायु, प्राण और हृदय में भी एक ही देवता है । उसके विशेषण है, 'इन्द्र' अर्थात्  
परमेश्वर, "वैकुण्ठ" यानी आनन्दरहित या अजित स्वभाव वाला, "अपराजिता सेना" यानी जो  
सेना किसी दूसरे से पहले कभी पराजित न हुई हो, ऐसे अपराजितसेनात्व गुण वाला । मरुत्

१ पूर्णत्व घटादिबद्धविशक्तत्वम् । दृष्टान्तो व्यतिरेके विभक्तोऽप्यन्यतो जगदीश्वरम् । २ कुण्ड मन्त्रिका  
बालस्य तद्वद्वि स्वाधेऽहम् । ३ अजितस्वभाव इत्यर्थः । ४ अपराजितसेनात्व गुणः । ५ स्वयमप्रवृत्त-  
त्वमिति यावत् । ६ मातृ सपत्नीतो जातानाम् ।

इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हपराजिष्णुर्भवत्यन्यत-  
स्त्यजायी ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा भंतस्मिन्संव-  
दिष्ठा विपासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य  
एतमेवमुपास्ते विपासहिर्ह भवति विपासहिर्हस्य  
प्रजा भवति ॥ ७ ॥

है) । जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, तो वह जयनशील, दूसरे से कभी न हारने वाला  
और शत्रुओं का विजेता होता है ॥ ६ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो अग्नि में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।  
उस प्रजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में चर्चा न करो । (इसे मैं जानता हूँ और) इसकी  
मैं विपासहि (दूसरो को सहन करने वाले) रूप से उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार  
उपासना करता है, नि सन्देह वह स्वयं विपमहि होता है और उसकी प्रजा भी विपासहि होती है ॥ ७ ॥

जयनशीलोऽपराजिष्णुर्न च परैर्जितस्वभावो भवति । अन्यतस्त्यजाप्यन्यतस्त्यानां सपत्नानां  
जयनशीलो भवति ॥ ६ ॥

अग्नौ वाचि हवि चैका देवता तस्या विशेषणं विपासहिर्भर्पयिता परेषाम् ।  
अग्निबाहुल्यात्फलबाहुल्यं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

यद्विबिध्यते सिध्यते तत्सर्वं भस्मीकरणेन सहते तेनाग्निविपासहिः । यथा पूर्वं विद्युतां  
बाहुल्यात्तस्मिन् प्रजायां च फलबाहुल्यमुक्तं तथाऽग्न्याप्यग्नीनां बहुलत्वाद्युपासकस्याऽऽत्मनि प्रजायां च  
दोष्ताग्नित्वं सिध्यतीत्याह—अग्नीति ॥ ७ ॥

देवताओं का भी गणत्व (समूह या सचरूप) होना प्रसिद्ध है । ब्रह्म के इन गुणों की उपासना का  
फल इस प्रकार है—वह “जिष्णुर्ह” अर्थात् जयनशील होता है, “अपराजिष्णुर्भवति” यानी दूसरो के  
द्वारा कभी पराजित न होने के स्वभाव वाला होता है तथा “अन्यतस्त्यजायी” अर्थात् विरोधी या  
शत्रुओं को जीतने के स्वभाव वाला होता है ॥ ६ ॥

अग्नि, वाक् और हृदय एक ही देवता है । उसका गुण है—“विपासहि” अर्थात् दूसरो की  
सहन करने वाला । पूर्व मन्त्रों की तरह उपास्य अग्नि की बहुलता होने के कारण उसके फल की भी  
बहुलता है ॥ ७ ॥

१ विध्यते सिध्यते इति विष हवि तद् आसहते इति विपासहि । यदा विरोधेन सहते इति तथा । २ गुण ।  
३. फलोक्तिरियम् । ४ बाहुल्यादिभेदतः ।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सं-  
वदिष्ठाः-प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य  
एतमेवमुपास्ते प्रतिरूप<sup>१</sup> हवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूप-  
मथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शं पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा  
रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो जल में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ । तब  
उम अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इस सम्बन्ध में बात न करो । इसकी मैं (श्रुति, स्मृति के  
अनुकूल) प्रतिरूप से उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास  
प्रतिरूप ही आता है, उसके विपरीत नहीं आता और उससे प्रतिरूप सतति उत्पन्न होती है ॥ ८ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दर्पण में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।  
इस पर अजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इसकी चर्चा न करो, इसकी तो मैं दीप्तिशालीरूप से उपासना  
करता हूँ । जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, नि मन्देह वह दीप्तिस्वभाव<sup>२</sup> वाला हो जाता

अप्सु रेतसि हृदि चैका देवता तस्या विशेषणं प्रतिरूपोऽनुरूपः श्रुतिस्मृत्यप्रतिकूल  
इत्यर्थः । फलं प्रतिरूपं श्रुतिस्मृतिशासनानुरूपमेवैनमुपगच्छति प्राप्नोति न विपरीतमन्य-  
क्षास्मात्तथाविध एयोपजायते<sup>३</sup> ॥ ८ ॥

आदर्श प्रसादस्वभावे चान्यत्र खड्गादी हावै च सत्त्वशुद्धिस्वभावाद्ये चैका देवता

प्रतिरूपत्वं प्रतिकूलस्वमित्येतद्व्यावर्तयति—अनुरूप इति । अग्न्यच्च फलमिति सवन्धः ।  
अस्मादुपामितुरित्यर्थः । तथाविध श्रुतिस्मृत्यनुकूल इति यावत् ॥ ८ ॥  
हादं चेयेतदेव स्पष्टयति—मत्त्वेति । सर्वत्रकेति विशेषणस्य देवतेति विशेष्यतया संबध्यते ।

जल, वीर्य और हृदय में एक ही देवता है । उसका गुण है—“प्रतिरूप” अर्थात् अनुरूप  
अथवा यूँ कहो कि श्रुति स्मृति के अनुकूल होना । ब्रह्म के इस गुण की उपासना का फल है—  
“प्रतिरूपम्” यानी श्रुति-स्मृति के अनुकूल पदार्थ ही उपासक को “उपगच्छति” यानी प्राप्त हो जाता  
है, इसके विपरीत नहीं । इसके अतिरिक्त उससे वंसा ही पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

स्वाभाविक निर्मल दर्पण और खड्गादि अन्य पदार्थों में तथा सत्त्वगुणयुक्त स्वाभाविक शुद्ध

मुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हस्य प्रजा भवत्यथो  
 यः संनिगच्छति 'सर्वा'स्तानतिरोचते ॥६॥  
 स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येत-  
 मेवाहं, 'ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मि-  
 न्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य  
 एतमेवमुपास्ते सर्व'हंवास्मिंल्लोक आयुरेति ननं पुरा  
 कालोत्प्राणो जहाति ॥१०॥

है और उसकी प्रजा भी दीप्तिशाली होती है। तथा जिनमें उसका समागम होता है, उन सभी से बढकर दीप्तिमान् होकर चमकता है ॥ ६ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—जाते हुए वायु के पीछे जो यह शब्द होता है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस भ्रजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इसके विषय में बात न करो। इसकी मैं प्राणरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसको इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण प्रायु प्राप्त करता है और नियत समय से पूर्व इसे प्राण नहीं छोड़ता ॥ १० ॥

तस्या विशेषणं रोचिष्णुर्दीप्तिस्वभावाः फलं च तदेव 'रोचनाधारबाहुल्यत्फलबाहुल्यम् ॥६॥

यन्तं 'गच्छन्तं य एवायं शब्दः पश्चात्पृष्ठतोऽनूदेत्यध्यात्मं च जीवनहेतुः प्राणस्त-  
 मेकीकृत्याऽऽहामुः' प्राणो जीवनहेतुरिति गुणस्तस्य फलं सर्वमायुरस्मिंल्लोक एतीति ।

तदेव रोचिष्णुस्वमित्यर्थं ॥ ६ ॥

आहृतमेवाहमित्यादीनि शेष । तस्य गुणवदुपासनस्येत्यर्थं । सर्वमायुरित्येतद्व्याचष्टे—

बुद्धि वाले हृदय में एक ही देवता है। उसका गुण है, "रोचिष्णु" यानी प्रकाशमान् स्वभाव वाला। उस गुण की उपासना का फल भी वही है। दीप्ति के आधारबाहुल्य होने से फल की भी बहुलता हो जाती है ॥ ६ ॥

"यन्तम्" यानी माग में जाते हुए के "पश्चात्" यानी पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, और जो अध्यात्म दृष्टि से जीवन का हेतुरूप प्राण है, उसकी यहाँ एक करके कहा है। उस शब्द-

१ सर्वभ्योऽतिरोचते । २ बहू पिपा ध्यायामि । ३ रोचना दीप्ति । ४ अचन धावन्तम् । ५ अनुदेति—उत्पद्यते । तत्र कारणम् बातिके— "पुनोऽभिधावतस्तूष्णं देहदेशं समाहृत । प्राणो वृत्तिविशेषो बहिर्वत्कुण्ठे ध्वनिम्" ॥७५॥ इति । वृत्तिविशेषण गतिभेदेनेति यावत् । यद्वा प्राणनादिवृत्तीत्युक्त्या वृत्त्यन्त-  
 रेजेत्यर्थं ॥ ६ शाब्दगुरुपक्षामुनिरिति विशेषण तस्यायमर्थ उपासना प्राणनादिवृत्तीनामेव बाह्यादेन त्यागात्स प्राणाना अनुगुणक इति । तदुनं बातिके— वृत्तिविशेषादनुगुणमायुपक्षं तदायति ॥७६॥ अस्मिंल्लोकम् ।



स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मो-  
पास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मंतस्मिन्संवदिष्टा  
द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एत-  
मेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥११॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो दिशाओं में पुरुष है इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ । तब उस अजातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो । इसकी तो मैं द्वितीय और अनपगम (पृथक् न होने वाले) रूप से उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता है और उससे गण का विच्छेद नहीं होता ॥ ११ ॥

यथोपासं कर्मणाऽऽयुः कर्मफलपरिच्छिन्नकालात्पुरा पूर्वं रोगादिभिः पीड्यमानमप्येनं प्राणो न गहाति ॥ १० ॥

दिक्षु कर्णयोर्हं वि चंका देवताऽश्विनौ देवाव विव्युक्तस्वभावौ गुणस्तस्य द्वितीयवस्व-  
मनपगतत्वमविव्युक्तता चान्योन्यं दिशामश्विनोश्चैवं धर्मित्वाप्तदेव च फलमुपासकस्य गणा-  
विच्छेदो द्वितीयवस्व च ॥ ११ ॥

यथोपासमिति ॥ १० ॥

का पुनरसावेका देवता तथाऽऽह—अश्विनाविति । तस्य देवस्येति यावत् । यथोपासं गुणद्वयमु-  
पपादयति—दिशामिति । द्वितीयवस्व साधुभूत्यादिपरिवृतत्वम् ॥ ११ ॥

पुरुष का “असु” यानी जीवनहेतुकप्राण गुण है । उसकी उपासना का फल यह है कि वह उपासक इस लोक में पूर्ण आयु लाभ करता है, उसके कर्मफल से परिच्छिन्न समय से पहले, रोगादि से पीडित होने पर भी उसे प्राण परित्याग नहीं करता ॥ १० ॥

दिशा, कर्ण और हृदय में एक ही देवता अश्विनी है, (युगल होने पर भी) अविव्युक्त स्वभाव होने पर एक ही है । उसके गुण है—द्वितीयत्व और अनपगतत्व यानी अविव्युक्तता, क्योंकि दिशाएँ और अश्विनीकुमार ये परस्पर (द्वितीयत्व और अविव्युक्तत्व) ऐसे ही स्वभाव वाले हैं । उसकी उपासना का फल यह है कि इससे उपासक का सदा पुत्रादिगण-सन्तानस्पर्ध होता है और दूसरे से युक्त होता है ॥ ११ ॥

१ अतएव द्वयोरेकेयुक्ति । २ एवधर्मित्वम्—स द्वितीयत्वम् । परस्परमविव्युक्तत्व च दिशा सद्वितीयत्व तु यातिके—“दु सम्भाज्या हि पूर्वा दिक्षुमुत्वाऽऽर्शा पश्चिमा जनैरिति” ॥७७॥ ३ “पुत्रादिगणसन्तानस्पर्धमेव सदा भवेत्” ॥७८॥ इति यातिकम् ।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं  
ब्रह्मोपास-इति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्संव-  
दिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य-एतमेव,  
मुपास्ते सर्वं७ हंवास्मिंल्लोक आयुरेति ननं पुरा  
कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो छाया में पुरुष है, इसकी ही मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।  
तब उस भजातशत्रु ने कहा—नही-नही, इस सम्बन्ध में बात न करो । इसकी मैं मृत्युरूप से उपासना  
करता हूँ । जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण प्राप्ति प्राप्त करता है  
और नियत समय से पहले इसके पास मृत्यु नहीं आता ॥ १२ ॥

उस गार्ग्य ने कहा—यह जो बुद्धि में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ ।

छायाया बाह्ये तमस्यध्यात्मे चाऽऽवरणात्मकेऽज्ञाने हृदि चैका देवता विशपरा  
मृत्युः फलं सर्वं पूर्ववन्मृत्योरनागमनेन रोगादिपीडानावो विशेषः ॥ १२ ॥

आत्मनि प्रजापती बुद्धौ हृदि चैका देवता तस्या विशेषणमात्मन्य्यात्मवानिति

शब्दब्रह्मोपासकस्येव तमोब्रह्मोपासकस्यापि फलमित्याह—फलमिति । फलमेवाभावे  
कथमुपासनमेवः स्यादित्याशङ्क्याऽह—मृत्योरिति ॥ १२ ॥

ॐध्यस्तानि ब्रह्माण्डपुण्यस्य समस्तं ब्रह्मोपदिशति—प्रजापतामिति । आत्मवत्त्वं, वक्ष्यात्मक-

शरीरछायारूप बाह्य अन्धकार, शरीर के अन्दर आवरणरूप अज्ञान और हृदय में भी  
एक ही देवता है । इसका गुण मृत्यु है । उसकी उपासना का फल है कि मृत्यु के आगमन से पूर्व रोगादि-  
पीडा का भी अभाव रहता है, यही विशिष्टता है ॥ १२ ॥

१. शरीरछायारूपे । २. मुखोपबसनात्प्राक् रोगादिपीडानां अन्धभाव इति यावत् । ३. चित्तानि ।  
४. हृदयदेवे । ५. वक्ष्य आत्मा विद्यतेऽस्याऽज्ञायात्मन्वी स्वतन्त्र इति यावत् । तथाह—आत्मवत्त्वमिति ।  
६. तत्तुल्यम् । ७. व्यष्टिरूपाणि । ८. समष्ट्युपासकम् ।

ॐध्यस्तानि ब्रह्माण्डपुण्यस्य समस्तं ब्रह्मोपदिशतीति । अत्र वार्तिकानि चत्वारि सन्ति । तथाहि—“व्यस्तानां  
पूर्वमुद्देश समस्तानां त्विहोदित । विवक्षाऽप्रतिगतिर्गोपिता सत्युपपद्यते ॥ प्रत्याख्यातोपदेश सन् सवादेन पुनः  
पुनः । ब्रह्माण्डपुण्यस्य दण्डकालमन्वीत्यन्तमावरात् ॥ विद्योपाध्यामनन्तत्वात्समाप्तं ब्रह्म सोऽजदत् ॥ तस्मिन्प्रति निवि-  
ड्येऽयं तूष्णीं गार्ग्यो बभूव ह ॥ यत्कृत्स्नं ब्रह्म पूर्वोक्तं तदेवेदमविद्यया । एनघाऽनेनघा मूढं नत्यते रज्जुवर्ष-  
वत्” ॥८१-८५॥ इति । पूर्वोक्तपरमार्थेऽज्ञानर भेद दर्शयति—व्यस्तानामिति । उद्देशो ध्येयत्वेनोक्तिरित्यर्थः ।  
अन्ते पश्यि समस्तोपदेशे नियामकमाह—विषयेति । तथा सति समस्तव्यस्तोपदेशे सति ॥ गार्ग्यसंबन्धिनी

ब्रह्मोपास इति— स होवाचाजातशत्रुर्मा, नैत-  
स्मिन्संवदिष्ठा, आत्मन्वीति वा, अहमेतमुपास,  
इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह, भवत्या-  
त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति । स ह तूष्णीमास  
गार्ग्यः ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्न ३ इत्येतावन्द्वीति नैतावता  
विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा  
यानीति ॥ १४ ॥

तब उस अज्ञातशत्रु ने कहा—नहीं-नहीं, उसके विषय में बात न करो । इसकी तो मैं आत्मन्वीरूप से  
उपासना करता हूँ । जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है, वह नि शब्दह आत्मवान् होता है  
और उसकी प्रजा की सन्तति भी बुद्धिमती होती है । इसके बाद वह गार्ग्य चुप हो गया (क्योंकि ब्रह्म  
का इससे अधिक ज्ञान उसे था नहीं) । यत वह नतमस्तक हो गया ॥ १३ ॥

उस अज्ञातशत्रु ने कहा—क्या इतना ही तू जानता है ? गार्ग्य ने कहा—हाँ, मुझे इतना ही  
ब्रह्म विदित है । अज्ञातशत्रु ने कहा—इतना जानने से तो ब्रह्म विदित नहीं होता । तब उस गार्ग्य ने  
कहा—मैं आपकी शरणापन्न हूँ, मुझे आप ब्रह्म का उपदेश करें ॥ १४ ॥

विशेषार्ण फलमात्मन्वी ह भवत्यात्मवाग्भवति । आत्मन्विनी हास्य प्रजा भवति बुद्धि-  
बहुलत्वात्प्रजायां संपादनम् । स्वयं परिज्ञातत्वेनैव क्रमेण प्रत्यास्थितेषु ब्रह्मसु स गार्ग्यः  
क्षीणब्रह्मविज्ञानोऽप्रतिभासमानोत्तरस्तूष्णीमवाविशरा आस ॥ १३ ॥

त्वम् । फलस्याऽऽत्मगामित्वात् प्रजाया तदभिधानमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धीति ॥ १३ ॥

“आत्मनि” यानी विराट् प्रजापति, बुद्धि और हृदय देश में एक ही देवता है । उसका गुण  
है, “आत्मन्वी” अर्थात् आत्मवान् या स्वतन्त्र होना । इसकी उपासना का फल है, वह आत्मन्वी अर्थात्  
आत्मा का वश में कर लेता है । उसका प्रजा भी आत्मा की वश में कर लेती है । उपासना की बहुलता  
से वस्तुतः वाचनिक फलबहुलता होने से प्रजा में उस फल का सम्पादन होता है, यह इसकी विशेषता  
है । स्वयं परिज्ञात होने का कारण इस प्रकार उपदेश किये हुए आदित्य ब्रह्मविषयक प्रत्यास्थान होने

१ उपासनाबहुल्यात् वस्तुतस्तु वाचनिक फलबहुल्यम् । २ आदित्यब्रह्मविषयोपदेशेषु । ३ उपासक-  
गामित्वोचित्यात् ।

१३

वक्तव्यं च परिश्रमादि रूपयुक्तं तस्मात्प्रतिषेध प्रकटयति—प्रत्यास्थासि । ब्रह्मोपदेशप्रत्योष्ठ्यान्तर्गतमज्ञान-  
देव गार्ग्यो विवक्षार्थोऽहोऽबूदित्यर्थः ॥ कनिषथविशेषानुक्तवा सर्वोक्तहार विना ऽप्ये समस्तब्रह्मोक्तिरित्या-  
शङ्क्याऽऽह—विशेषाभाषितः । अनन्तत्वात्प्रत्येक वस्तुगुणव्यत्यादिनि शेष । तत्र सर्वान्तर्भावान्चेति भावः ।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चंतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रिय-  
मुपेयाद्ब्रह्म, मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा 'ज्ञपयिष्यामीति  
तं पाणावादापोत्तस्थौ तौ ह पुरुष<sup>१</sup> सुप्तमाजगमतु-

उस अज्ञानशत्रु ने कहा—यद्यपि यह विपरीत बात है कि क्षत्रिय ने प्रति ब्राह्मण । इस उद्देश्य से जावे कि यह क्षत्रिय मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, (इस प्रतिलोमविधि का शास्त्रो में निषेध किया गया है) तो भी मैं तुम्हें उस ब्रह्म का बोध कराऊँगा ही । उसके बाद वह अज्ञातशत्रु उस गार्ग्य ब्राह्मण के हाथों को पकड़कर उठ खड़ा हुआ और वे दोनों एक सोये हुये पुरुष के पास आये । वहाँ

ज्ञातव्यमस्तीति दर्शितं भवति । तस्मानुपसन्नाय न यत्तव्यमित्याचारविधिज्ञो गार्ग्यः  
स्वयमेवाऽऽहोप त्वा यानीत्युपगच्छान्तीति त्वा यथाऽन्यः शिष्यो गुरुम् ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं विपरीतं चंतत्किं तद्यद्ब्राह्मण उत्तमवर्ण आचार्य-  
त्वेऽधिकृतः सः क्षत्रियमनाचार्यस्वभावमुपेयादुपगच्छेच्छिष्यवृत्त्या 'ब्रह्म मे वक्ष्यतीत्येतदा-  
चारविधिशास्त्रेषु निषिद्धम् । तस्मात्तिष्ठ त्वमाचार्य एव सन् । 'विज्ञपयिष्याम्येव

मन्वावयमुत्पाप्य व्याचष्टे—तच्चेति ॥ १४ ॥

“ ब्राह्मणादध्ययनमापत्कासे विधीयते ।  
अनुव्रज्या च शुभ्रया यावदध्ययनं गुरो ॥  
नाब्राह्मणे गुरो शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्”

इत्यादीन्याचारविधिशास्त्राणि ।

का द्वार है, इसलिये यह कहना उचित ही है कि 'इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ।' अविद्यावस्या से ब्रह्म विज्ञेयरूप और नामरूपकर्मत्मक है । यह बात तृतीय अध्याय ( उपनिषत् के प्रथम अध्याय ) में प्रदर्शित की जा चुकी है । इसलिये “इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता” ऐसा कहकर यह सिद्ध किया गया है कि अभी इससे पूर्णब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है । उस निरुक्तब्रह्म का उपदेश जो शरणापन्न न हो, उसे नहीं करना चाहिये । अत आचारविधि को जानने वाला गार्ग्य स्वयं ही कहता है, “उप त्वा यानीति” अर्थात् जैसे कोई दूसरा शिष्य अपने गुरु के शरणापन्न होता है, उसी तरह मैं भी तुम्हारे शरणापन्न होऊँ ॥ १४ ॥

१ ज्ञपयिष्यामीति । वर्णतो गार्ग्यस्याधिक्यादुपसत्यभावेऽपि विद्यातो राज्ञो वैशिष्ट्यात्तत्तदग्रहो (विद्याग्रहो) मुक्तः । न हायनर्न पलितेन वितर्नेन च बन्धुभिः । ऋषयश्चकिरे धर्मं भोजनूचान स नो महानिति स्मृते । धर्मं धमनिर्णयम् । २ निरुक्त ब्रह्म । ३ उपसीदामि । ४ निषिद्धम् । ५ तथा च विद्यार्थमेवोपगमनं निषिद्धं न तु योग्योपाचार्यमिति सूच्यते । ६ मत्तत्त्वोत्तमत्वात् । ७ अनुपसन्नेव शिष्यवृत्त्या विज्ञापनमात्रं करिष्यामि न त्वाकार्येवदुपदेश्यामि ब्रह्म । ८ ब्राह्मणे भाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमांमिति शेषः (—मनु) । अनुचानं साङ्गवेदाध्यायी ।

स्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम  
राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेधं बोधयांच-  
कार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

पर हे बृहन् । हे पाण्डरवास । हे सोम-राजन् । इन नामों से अज्ञातशत्रु ने उस सुप्त पुरुष को पुकारा, किन्तु वह सोया हुआ पुरुष न उठा । तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबा कर उस सुप्त पुरुष को जगाया, इससे यह उठ बैठा ॥ १५ ॥

इवामहम् । 'यस्मिन्विदिते ब्रह्म विदितं भवति यत्तन्मुख्यं ब्रह्म वैद्यम् । त गार्ग्यं सप्तज्जमालक्ष्यं विश्वभ्रमजननाय पाणी हस्त आदाय गृह्तेवोत्तस्यायुस्त्युत्तवान् ।' तो ह गार्ग्याजातशत्रु पुरुषं सुप्तं राजगृहप्रदेशे क्वचिदाजगमतुरागतौ । तं च पुरुषं सुप्तं प्राप्यैतैर्नामभिर्बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्नित्येतैरामन्त्रयाचक्रे । एवमामन्त्र्यमाणोऽपि स सुप्तो नोत्तस्थौ । तमप्रतिबुध्यमानं ऋषारिणाऽऽपेयमापिष्याऽपिष्य बोधयाचकार

आदित्यादिब्रह्मस्यो विशेषमाह—यस्मिन्निति । प्राणस्य व्याप्रियमाणस्यैव संबोधनायं प्रयुक्तनामाश्रयणादापेयणाकबोत्थानात्तस्याभोवतृत्वं सिध्यतीति कलितमाह—तस्मादिति ।

उस राजा अज्ञातशत्रु ने कहा—यह तो "प्रतिलोभ" यानी निषिद्ध है कि उत्तमवर्ण मे उत्पन्न ब्राह्मण आचार्यत्व का अधिकारी होकर "क्षत्रियम्" अर्थात् जिसका आचार्य होना स्वभाव नहीं है, उस क्षत्रिय के प्रति "उपेयात्" अर्थात् शिष्यभाव से शरणापन्न हो, इस प्रयोजन से कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह आचारविधिपरक शास्त्रों मे निषिद्ध माना है (क्योंकि विद्या के लिए क्षत्रिय के पास जाना निषिद्ध है, योगक्षेम के लिए उसके पास जाने मे कोई दोष नहीं) । इसलिए (मेरे से तुम उत्तम होने के कारण) तुम ही आचार्यपद को अलंकृत किये रहो । फिर भी (क्षत्रिय होने पर) जिसका ज्ञान होने पर ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार जो मुख्यब्रह्म

१ यस्मिन् मुख्ये ब्रह्मणि । २ आदित्यादिमुख्य ब्रह्म । ३ ईदृश्यत् । ४ माद्विज्ञेताज्ञी नम मामुपदि-  
शेत्तस्मिन्निवन्निश्वासपरिजिहीषू राजा । ५ आजगमतुरिति—'नार्योत्तब्रह्माभोवतृत्वं तथाऽमीयामनात्मताम् ।  
बालाकबोधपिष्यामीत्यत सुप्तमवाप्तुं ॥ वा २७ ॥ ६ उक्तार्थानि विशेषणानि । ७ पुन पुनश्चातपित्वा ।  
८ वदमग्रे मुख्ये ब्रह्मणि । ९ अनात्मत्वम् ।

ऋषाग्निनेत्यादि स होत्तस्यावित्यता तथा च वातिकम्— पाणिनाऽऽपिष्य बहुष सुप्त कारयेज्यबोधयत् । आपेधोद्भूतसप्तसोमस्ततोऽग्नौ प्रत्यबुध्यत ॥ कारणानामिदं वृत्तं यन्निमित्तान्तराद्यथात् । स्वात्मकार्यसमुद्भूतिर-  
म्बरादभूतिवत् ॥ आपेयात्स्तीनबुद्ध्यादिसमुत्पत्तौ परात्मानं । घटाकाशवदुत्पत्तिर्नान्तरात्स्वसं सदा दृशेरिति ॥  
१७८—१८० ॥ उत्थानकर्तृत्वात्प्राप्त्यन स्वात् आत्कृतस्तत्त्वक्षणत्वात्किं पेय्यादिनेत्याशङ्क्याऽहं—कारणाना-  
मिति । ज्ञानाश्रमप्रोद्भूतिकारणमपि पुरोवातात्पेयसते तथाऽऽप्रोत्थानकर्तापि पेय्यात्पेयिष्यते कारकात्तरा-  
प्रयोज्यस्य तत्प्रेयोक्तु कर्तृत्वादित्यथ ॥ ननुत्थानमात्मन मुत्प्रेरुद्बोधस्तस्य स्वरूपत्वेनानुत्पत्तेर्न हेत्वपेयत्वा-

प्रतिबोधितवान् । तेन स होतस्थो । तस्माद्यो-गार्ग्येणामिप्रेतो, नासावस्मिञ्छरीरे कर्ता भोक्ता ब्रह्मेति ।

कथं पुनरिदमवगम्यते सुप्तपुरुषगमनतत्संबोधनानुत्थाननार्ग्याभिमतस्य ब्रह्मणो-  
ऽब्रह्मत्वं जापितमिति । जागरितकाले यो गार्ग्याभिप्रेतः पुरुषः कर्ता भोक्ता ब्रह्म संनिहितः  
करणेषु यथा तथा जातशब्दभिप्रेतोऽपि तत्स्वामी भूत्येष्टिव राजा संनिहित एव । किं  
तु भूत्यस्वामिनोर्गार्ग्याजातशब्दभिप्रेतयोर्द्विवेकावधारणकारणं तत्संकीर्णत्वाद् नवधा-

१. 'तौ ह' सुप्तमित्यादिसुप्तपुरुषगत्पुक्तिमाक्षिपति-ब्रह्ममिति । गार्ग्येणार्ग्याभिमतयोरुभयोरपि  
जागरिते करणेषु संनिधानाविशेषासंज्ञेव "किमिति विवेको न दक्षित इत्यर्थः । जागरिते करणेषु द्वयोः  
संनिधानेऽपि "सार्क्याद्भुत्करं विवेचनमिति परिहरति-जागरितेति । ब्रह्मशब्दादूर्ध्वं सशब्दमध्याहृत्य  
भोजना । "सहि स्वामिभूत्यन्यायेन तयोर्विवेकोऽपि सुकरः स्यादित्याशङ्क्याऽह-किं स्विति । किं

वेष है, उसका जान मैं तुम्हें कराऊँगा ही-हो, आचार्य को, तरह उपवेश, नहीं करूँगा) । उस (ब्राह्मण),  
गार्ग्य को लज्जित देखकर उसे विश्वास दिलाने के लिए वह राजा उसका हाथ पकड़कर खड़ा हुआ,  
तथा वे दोनों गार्ग्य और राजा अजातशत्रु राजभवन के भीतर कहीं-सोए हुए पुरुष के पास "माजगु,"  
यानी आये । उस सोये हुए पुरुष के पास जाकर राजा ने उसे: 'हे बृहन् !-हे पाण्डुरवास ! हे सोम !  
राजन् ! इन नामार्थक विशेषणों से पुकारा । इस प्रकार बुलाये जाने पर भी वह सोया हुआ पुरुष  
न उठा, तब नहीं सुनने वाले उस पुरुष को हाथ से "धापेप" यानी पुन पुन: हिलाकर "बोधयाम्ब-  
कार" यानी जगामा; "उससे वह उठ बैठा । अतः जिस प्राणदेवता को गार्ग्य ब्रह्म मानता था, वह  
इस शरीर में कर्ता भोक्ता ब्रह्म नहीं है ।

किन्तु फिर यह कैसे सिद्ध होता है कि सोए हुए पुरुष के पास जाने, उसे पुकारने और उसके

- १-१. टीकास्तार्थम् । २-२. नासाविति-गार्ग्याभिमतप्राणदेवताविरक्त एवास्मास्मिञ्छरीरे कर्ता भोक्ता न प्राण  
इति निश्चीयतेऽन्यथाच्छ्वासनि श्वासरूपेण व्याप्रियमाणस्य प्राणस्य बृहन्नित्यादि प्राणात्मन्नादिरयादिनामभि,  
संबोधनाध्वनमनुधान च ॥ स्वात् । अलेपणेन च सषातो भोक्ता नेति निर्णयितम् अन्यथा स्वस्थमात्रेणाप्युत्पन्न  
स्वाविति भावः । ३ जापित राजति शेष । ४ प्राणात्मा । ५ आत्मनो । ६ भेदनिश्चयप्रयोजकम् ।  
७ अनिश्चितस्वरूपम् । ८ पुरुषम् । ९ विमिति-सुप्तपुरुषगमनमित्याशेष । १० साध्यसाक्षिरूपयो-  
पुष्टयो । ११ विमिति न दक्षित इति-संनिहित इतिव्या व्यबहितयनरयुक्तत्वात् स्वापे सर्वव्यापारतोपे  
न सद्गततरनर्थत्वात् आपति सर्वस्याप्युपदिष्ट (उपदेष्टव्य)स्यास्य विविच्य वस्तु शक्यत्वाच्चेति भावः ।  
१२ क्षीरनीरवत् । १३ जाग्रति द्वयोःसंनिहितत्वे ।

शङ्क्याऽह-आपेयादिनि । स्वापे प्रतीच्यजात सोमस्य बुधयादेर्जायदंतुर्कर्मादिना परस्मादुत्पत्तो बोधोद्यो-  
व्यवह्रियते घटाश्चत्ती तदाकाशोत्पत्तिवत् साक्षादेव तदुत्पत्तिरित्यत्र हेतुमाह-सदेति । "तस्मादप्रतिबोधेन  
प्राणोभोक्तेति गम्यताम् । पुनस्तु प्रतिबोधेन भोक्तृत्वानमीयते ॥ अदाहकाना दग्धत्वं यथा दाहकसंगते ।  
भोक्तृत्वयोगतस्तददभोक्तृत्वं देवतात्मन ॥ १८-१-१८२॥ पुरुषस्यैव भोक्तृत्वं चेत्तस्य प्राणदेवतायास्तत्प्राप्तिदि-  
स्तत्राह-अदाहकानामिति ॥



'नैव' निर्णयः स्यादिति । न, 'निर्धारितविशेषत्वाद्गार्ग्याभिप्रेतस्य । 'यो हि' सत्येन च्युन्नः प्राण आत्माऽमृतो वागादिष्वनस्तमितो 'निम्नोच्यतु' यस्याऽऽपः शरीर पाण्डुरवासा यश्चा'सपत्नत्वाद्'बृहन्श्च सोमो राजा 'योऽशकलः' स स्वध्यापाराहृदो यथानिर्जात एवानस्तमितस्वभाव आस्ते । न चान्यस्य' कस्यचिद्द्व्यापार'स्तस्मिन्काले गार्ग्येणानिप्रेयते "तद्विरोधिनः । "तस्मात्स्वनाममिरामन्त्रितेन "प्रतिबोद्धव्यं न च "प्रत्यबुध्यत । तस्मात्पा-

भिस्तच्छब्दं धोष्यति नाचेतनस्तथाऽपि "नेष्टृविवेकसिद्धिर्गार्ग्यकाश्याभीष्टात्मनोऽ"दित्यतिसंशयविति शाङ्कते-नन्विति । सशयं निराकरोति-नेत्यादिना । विशेषवाधारणमेव विज्ञाव्यति-यो हीत्यादिना । स्वध्यापार'स्तुमुलशब्दादि । यथानिर्जातो ययोश्च'विशेषणरूपसत्य' रूपमनतिक्रम्य वर्तमान । प्राण-स्योक्तविशेषणवत् स्वायेऽवस्थानेऽपि तस्य 'सदा भोगाभाव'स्तत्र "भोक्त्रन्तराभ्युपगमादित्या-शाङ्क्याऽह-न चेति । तस्यैव भोक्तृत्वे फलितमाह-तस्मादिति । अस्तु तस्य प्राप्तशब्दध्वणं तत्राऽह-न चेति । परिशेषसिद्धमर्थमाह-"तस्मादिति ।

(उक्त शाङ्का का समाधान करते हैं-) ऐसा कहना ठाक नहीं है । क्योंकि गार्ग्य से अभिमत ब्रह्म का विशिष्टरूप (अभोक्ता) निश्चित कर दिया गया है । गार्ग्याभिमत नामरूपादिरूप विराडात्मा स्थूलदेह से आच्छादित प्राणात्मा मोक्षपर्यन्त नाश न होने वाले वागादि के अस्त होने पर भी अस्त

१ निर्वाप्तिविशेषवदिति-गार्ग्येष्टस्य प्राणस्य कायपटारव्यन सर्वाचाद्यो विशेष सदा व्यापृतत्वं तस्य प्रबोधात् प्राणपि प्रमितत्वात् प्राणोत्पत्तेः शब्दाध्वनायोगात् पाणिपेयानुपपत्तेः स न भोक्तेत्यर्थः । २ गार्ग्याभिमत प्राणात्मा । ३ नामरूपापरमपिण विराडात्मकसूक्ष्मदेहः । ४ आमोक्षमनासी । ५ अस्तमित्यु । ६ नन्वनस्तमितस्य काशयेष्टस्यात्मन्यक्षतमित्याशाङ्क्य विशेषणान्तरमाह-यस्येति । ७ प्रतिपक्षमाभावात् । ८ महात् । ९ योऽशकल इति-शाब्द कलाखण्डोऽप्यचतुर्धाध्याये सत्यकामविद्यायामुक्ता । तथाहि-'प्राची-दिक्कला । प्रतीची । दक्षिणा । उदीची । पृथिवीकला । अन्तरिक्षम् । यो । समुद्र । अग्नि । कला । सूर्य । चन्द्र । विष्णुः । प्राणकला । चक्षुः । श्रोत्रम् । मन ।" इति ऋषभायुपनिषदा ग्राह्या ॥ १० प्राणमिन्नस्य । ११ स्वाये । १२ प्राणविराजिन इत्यर्थः । १३ प्राणस्यैव भोक्तृत्वादभिमतत्वात् । १४ प्राणेन । १५ अक्षीपीत्य शब्दमित्यर्थः । १६ पुनः साक्षित्वमेव प्राणस्य साक्ष्यत्वमेवेत्याकारभेदे विवेकः । १७ उक्तात्मनो वा उल्लिख्य इति सशयः । १८ तुमुलत्वं जागरापेक्षया सुप्तो प्राणशब्दस्याधिक्यादबोध्यम् । १९ विशिष्टम् । २० स्वाये । २१ स्वाये । २२ जागरे प्राण एव भोक्ता सुप्तो चान्व इति गार्ग्याभिप्रायात् । २३ स्वनामाप्रतिबोधनात् ।

स्वाये संबोधनशब्दाध्वनाप्रभाक्कृतत्यमुक्त प्राणचन्द्रमसोर्भेदात्तस्य च द्रव्याभि संबोधनादप्रतिबोधो नाचेतनत्वादित्याशाङ्क्याऽह-प्राणस्येति । अथप्राणविष्कृती अर्थतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीर ज्योतीरूपमनो चन्द्र इत्यादा-दित्यर्थः ॥ अथापि कुतश्च द्रव्याभिर्भवेन संबोधन प्राणस्य सर्वात्मस्त्वादित्यादिनामभिरपि तत्सम्भवादित्याश-ङ्क्याऽह-बृहत्तीति । इह संबोधनवाक्ये । अतस्तेरपि संबोधितवानिति शेषः । यद्वा संबोध्यमानप्राणस्य मूर्त-क्यात्सामर्थ्यादनुक्तमूत्राद्यवादित्यादिनाम्नो च द्रव्यामवद्रुहात्तेरपि संबोधितवानित्याह-सामर्थ्यादिति ॥ चन्द्र-नामाभि संबोधन प्रत्याप्य तच्छब्दाध्वनात्तदभोक्तृत्वं यथा जागदवस्थायामित्यत्रोक्तमुपसहृति-यदीति । स वेत्ताश्रोष्यश्च भोक्ता स्यादिति योजना ॥



रिशोष्पाद्गार्ग्याभिप्रेतस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मणः ।

'भोक्तृत्वभावश्चेद्भुञ्जीतैव स्व विषयं प्राप्तम् । न हि दग्धत्वभावः प्रकाशयितु-  
स्वभावः सन्वह्निस्तृणोलपादि दाह्यं स्वविषयं प्राप्तं न वहति, प्रकाश्यं वा न प्रकाशयति ।  
न चेद्बृहति प्रकाशयति वा प्राप्तं स्व विषयं नासी बह्निर्दग्धा प्रकाशयिता वेति निश्चीयते ।  
तथाऽसौ प्राप्तशब्दादिविषयोपलब्धस्वभावश्चेद्गार्ग्याभिप्रेतः प्राणो बृहन्पाण्डरवाप्त इत्येव-  
मादिशब्दं स्व विषयमुपलभेत । यथा प्राप्तं तृणोलपादि बह्निर्दग्धे प्रकाशयेन्नाव्यभिचारेण  
तद्वत् । तस्मात्प्राप्तानां शब्दादीनामप्रतिबोधादभोक्तृत्वभाव इति निश्चीयते । न हि यस्य  
यः स्वभावो निश्चितः स तं व्यभिचरति कदाचिदपि । अतः सिद्धं प्राणस्याभोक्तृत्वम् ।

प्राणस्याभोक्तृत्वं व्यतिरेकद्वारा साधयति—भोक्तृत्वभावश्चेदिति । न च 'भुङ्क्ते तस्मादभो-  
क्तैति शेषः । 'उक्तमर्थं हृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीत्यादिना । उक्तं वास्तव्यम् । 'विषये शेषमाह—  
न चेदिति । 'उक्तमर्थं सक्षिप्याऽह—यथेरयादिना । प्राणस्याभोक्तृत्वमुक्तमुपसंहरति—तस्मादिति ।  
यद्यपि प्राण. स्वाये शब्दादीनां प्रतिबुध्यते तथाऽपि भोक्तृत्वभावो भविष्यति । नैराह—न हीति ।  
संशोधनशब्दाभरणमतःशब्दार्थः ।

नही होता । जिसका जल क्षीर है, इसलिये जो पाण्डरवाप्त है तथा जो प्रतिपक्ष के अभाव होने के  
कारण महान् है और जो सोलह कलाभो वाला सोम राजा है, वह अपने व्यापार में भारूढ हुआ,  
पहले जिन विशेषणों से विशिष्ट जाना गया है, उसी के अनुसार अनस्तस्वभाव वाला है । इसके  
अतिरिक्त प्राणविरोधी (प्राणमित्र) किसी अन्य का व्यापार गार्ग्य को सुपुष्टि के समय अभीष्ट नहीं  
है । (प्राण के ही भोक्तृत्व इष्ट होने से) इसलिए अपने नामों से पुकारे जाने पर (प्राण के द्वारा)  
उसे जागना चाहिये किन्तु वह ( शब्द सुनकर ) जागा नहीं । इसलिए परिशेषतः गार्ग्य से अभिनत  
ब्रह्म का भोक्तृत्व (अचेतनत्व) ही सिद्ध होता है ।

यदि वह भोक्तृत्वभाव वाला होता तो अपने को प्राप्त विषय का उपभोग करता । दाहक  
और प्रकाशकत्वभाव वाला अग्नि अपने में अपने हुए तृण और फूस आदि दाह्य पदार्थों को न जलाये,  
प्रकाशित होने वाली वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करे, यह नहीं हो सकता । यदि वह अपने में प्राप्त  
पदार्थों को जलाता या प्रकाशित नहीं करता तो वह अग्नि जलाने या प्रकाशित करने वाला है—ऐसा  
निश्चय नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार यदि गार्ग्य द्वारा यमियत प्राणतमा अपने को प्राप्त हुए  
शब्दादिविषय को ग्रहण करने के स्वभाव वाला है तो अपने लिए प्रयुक्त 'बृहन्, पाण्डरवाप्त' इत्यादि  
शब्दों को ग्रहण कर लेता । जिस प्रकार अपने को प्राप्त घास-फूस आदि को अग्नि, निश्चय ही दग्ध  
और प्रकाशित कर देता है, उसी तरह यहाँ भी अर्थ समझ लेना चाहिये । इसलिए अपने को प्राप्त  
हुए शब्दादि का ज्ञान न होने से यह निश्चय होता है कि प्राणों का भोक्तृत्वस्वभाव नहीं है । क्योंकि  
जिसका जो स्वभाव होता है, उसका वह कभी त्याग नहीं करता । इससे प्राण का भोक्तृत्व

१ प्राण उपलब्धस्वभावश्चेदिति 'बृहन् पाण्डरवाप्त' इत्येवमादिशब्द सहीय विषय प्राप्तमुपलभेतैवेत्यर्थः ।

२ श्रुतीति । ३ प्राप्ते विषय शक्तस्य कार्यकस्वरूपम् । ४ प्राप्त विषये शक्तस्यापि कार्यकरत्वं ।

५ अभावतृत्वम् ।

सबोधनार्थनामविशेषेण सवन्धाग्रहणादप्रतिबोध इति चेत् । स्यादेतत् । यथा वहुष्वासीनेषु स्वनामविशेषेण संवन्धाग्रहणान्मामय सबोधयतीति शृण्वन्नपि सबोध्यमानो विशेषतो न प्रतिपद्यते, तथेमानि बृहन्नित्येवमादीनि मम नामानीत्यगृहीतसवन्धत्वात्प्राणो न गृह्णाति सबोधनार्थं शब्दं न त्वविज्ञातृत्वादेवेति चेत् । न । देयताभ्युपगमेऽग्रहणानुपपत्तेः । यस्य हि चन्द्राद्यभिमानिनी देवताऽध्यात्म प्राणो भोक्ताऽभ्युपगम्यते तस्य तया सव्यवहाराय विशेषनाम्ना सवन्धोऽवश्यं ग्रहीतव्योऽन्यथाऽऽह्वानादिविषये 'सव्यवहारोऽनुपपन्न स्यात् ।

'व्यतिरिक्तपक्षेऽप्य'प्रतिपत्तेरयुक्तमिति चेत् । यस्य च प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता 'तस्यापि बृहन्नित्यादिनामभि सबोधने बृहत्त्वादिनाम्ना तदा तद्विषयत्वाप्रतिपत्तिर्युक्ता ।

"तस्य स्वनामाग्रहण सवन्धाग्रहणकृत नानात्मत्वकृतमिति शङ्कते—सबोधनार्थेति । शङ्कामेव विशदयति—स्यादेतदित्यादिना । देवताया सवन्धाग्रहणमयुक्त सर्वज्ञत्वादित्युत्तरमाह—न देवतेति । "तदेव प्रपञ्चयति—यस्य होत्यादिना । तथेति ग्रहणकर्तृनिर्देश । अद्वयमिति सूचितानुपपत्तिमाह—प्रत्ययेति । आदिपदेन यागस्तुतिनमस्कारादि गृह्यते । सव्यवहारो"ऽभिज्ञाभोगप्रसादादि । सबोधननामाग्रहस्तत्कृतानात्मत्वदोषश्च स्वविष्टारमनोऽपि मुख्य इति शङ्कते—व्यतिरिक्तेति । सगुणीय बोध विवृणोति—यस्य चेति । तदा नुपुसिञ्जाया प्रतिपत्तिर्युक्तेति सवध । तद्विषयत्वादित्य "तिरिक्तात्मविषयत्वादिनि यावत् । अस्त्येवानिरिक्तस्याऽऽग्रहण सवोधनशब्दभङ्गमिति चेनेत्याह—

(अचेतनत्व) ही सिद्ध होता है ।

(यहाँ शङ्का होती है कि) सम्बोधन के लिये प्रयुक्त नामाविशेष से ग्रहण सम्बन्ध ग्रहण न करने के कारण प्राण का प्रतिबोध रहा हो तो ? यदि ऐसा कही हो कि जिस प्रकार बैठ हुए बहुत से पुरुषा म अपने नामविशेष से सम्बन्ध ग्रहण न करने कारण 'यह मुझ ही बुलाता है' ऐसा न ममत्व सकने से, पुकारे जाने पर मुनते हुए भी कोई पुरुष विशेषरूप से नहीं समझता, उसी प्रकार 'ये बृहन्न आदि मेरे नाम हैं' ऐसा सम्बन्ध ग्रहण न करने के कारण प्राण अपने को सम्बोधन करने के लिये प्रयुक्त शब्दों को ग्रहण नहीं करता अविज्ञाता होने के कारण ही नहीं । (समाधान देते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि देवता स्वीकृत किये जाने के कारण (इसके सर्वज्ञत्व होने से) उसका ग्रहण न करना सिद्ध नहीं होता । जिस वादी के मतः स चन्द्रमा आदि वा अभिमानि देवता अध्यात्मप्राण भोक्ता स्वीकृत किया जाता है उसे उस देवता के सम्यक्व्यवहार के लिए उसे अपने विशेष नाम से अवश्य सम्बन्ध ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा स्वनाम का शक्तिग्रह न होने पर आह्वानविषयक सव्यवहार असम्भव होने लगेगा ।

(पुन शङ्का होती है—) प्राणातिरिक्त आत्मपक्ष में भी सम्बन्ध की प्रतिपत्ति से अभोक्तृत्व में

- १ सामायेन । २ विरोध । ३ वादिनो मते । ४ देवतया । ५ स्वनाम्नि शक्तिग्रहानुपगमे । ६ विषयम् । ७ प्राणातिरिक्तात्मपक्ष । ८ सबोधनाप्रतिपत्तेरभोक्तृत्वे कारणत्वं न युक्तमित्यर्थ । ९ तव मते । १० तवापि आत्मनो वा । ११ प्राणात्मन । १२ अग्रहणानुपपत्त्यमेव । १३ बोध ।

न च कदाचिदपि बृहत्त्वादिशब्दः संबोधितः प्रतिपद्यमानो दृश्यते । तस्मादकारणमभो-  
वतृत्वे संबोधनाप्रतिपत्तिरिति चेत्- । न । तद्वत्स्तावन्मात्राभिमानानुपपत्तेः । यस्य  
प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता स प्राणादिकरणवान्प्राणी तस्य न प्राणदेवतामात्रेऽभिमानो यथा  
हस्ते । तस्मात्प्राणनामसंबोधने कृत्स्नभिमानिनो युक्तत्वाप्रतिपत्तिः । न तु प्राणस्या-  
साधारणनामसंयोगे ।

‘देवतातत्त्वानभिमानाच्चाऽऽत्मनः’ । ‘स्वनामप्रयोगेऽप्यप्रतिपत्तिदर्शनादयुक्तमिति

न च कदाचिदिति । त्वदिष्टात्मनः संबोधनशब्दाप्रतिपत्तावपि भोक्तृत्वाङ्गीकारस्तच्छब्दार्थः ।  
अभोवतृत्वे प्राणत्वेति शेषः । यथा हस्तः पादोऽङ्गुलिरेत्यादिनाभोक्ता संबो नोतिष्ठति सर्वदेहाभिमा-  
नित्वेन तन्मात्रानभिमानित्वादेवं काश्येष्टात्मनः सर्वकार्यकरणाभिमानित्वाद्गुलित्वात्प्राणमात्रे  
तदभावात्तन्मात्राग्रहणं न त्वचेतनत्वादिति परिहरति—न तद्वत् इति । ‘तदेव स्फुटमिति—यस्येति ।  
प्राणमात्र प्राणादिकरणयतोऽभिमानाभावे फलितमाह—तस्मादिति । चन्द्रस्यापि प्राणैकदेशत्वा-  
‘‘सप्तमभिः संबोधने कृत्स्नाभिमानो ‘‘स नोतिष्ठति । ‘‘अत्राप्यङ्गुलिरेत्यादिनापेपत्तिरित्याद्यङ्गुल्याऽह-  
—न त्विति । शीतवयं तस्य सर्ववस्तुषु । ‘‘समाप्तेरहमिति सर्वत्राभिमानसंभवाच्चन्द्रनामोक्तावपि  
नाप्रतिपत्तिर्युक्तेत्यर्थः ।

प्राणवच्चिदात्मनोऽपि पूर्णतया सर्वात्माभिमानसिद्धेर्बोधाबोधो तुल्यादित्याद्यङ्गुल्याऽह—देव-  
तेति । ‘‘विशिष्टस्याऽऽत्मनो ‘‘देवतायामात्मत्वाभिमानाभावा‘‘वितरस्य च कूटस्थमितिमात्रत्वेन ‘‘सवयो-

कारण होना उपयुक्त नहीं है । तुम्हारे मत में भी भोक्ता प्राण से अतिरिक्त है, आत्मा को भी जब  
बृहन् इत्यादि नामों से पुकारा जाय तो उस उसका ज्ञान होना चाहिये क्योंकि उस समय ‘बृहन्’  
आदि शब्दा से बुलाये जाने पर शरीर भी बोध हाते हुए नहीं दिखाई देता । इसलिए सम्बोधन को  
न जान पाना, यह अभोवतृत्व में कारण नहीं हो सकता । (सिद्धान्तों समाधान करता है—) ऐसा  
कहना ठीक नहीं है क्योंकि कार्यकरणसंघातवान् प्राणातिरिक्त आत्मा को प्राणमात्र का अभिमान  
होना संभव नहीं है । हमारे मत में भोक्ता प्राण से भिन्न है । वह प्राणादि इन्द्रियों वाला प्राणी है ।  
जिस उस आत्मा को (अथवा मुझे) प्राणदेवतामात्र में (आत्मा का) अभिमान नहीं हो सकता । जिस  
प्रकार हाथ वाले को हस्त में अभिमान नहीं हो होता । इसलिये (संघातवान का केवल एक देशमात्र में  
अभिमान होने से) समग्र शरीर के अभिमानी को प्राण नाम लेकर पुकारे जाने पर उसमें श्रवण न हो  
पाना उचित ही है, किन्तु प्राण का उसके किसी असाधारण नाम से संयोग होने पर श्रवण न हो पाना

१. कार्यकरणसंघातवान् प्राणातिरिक्तात्मन प्राणमात्राभिमानित्वानुपपत्ते । २. भय मते । ३. आत्मन  
ममेति वा । ४. संघातवत् एकदेशमात्रनभिमानित्वात् । ५. अथवणम् । ६. अप्रतिपत्तिर्युक्तेत्यन्वय ।  
७. प्राणदेवताया नामत्वाभिमान । ८. आत्मनः चित । ९. अभिमानाभावात् । १०. सप्रह्लास्यमेव । ११. चन्द्र-  
नामभि । १२. प्राणः । १३. प्राणेष्वपि । १४. प्राणस्य । १५. प्रत्येकम् । १६. व्याप्ते ।  
१७. संघाताभिमानिन । १८. प्राणे । १९. स एवात्मा मुख्यो नान्योऽप्रीत्याशङ्क्यऽह—उतस्य संघात-  
साक्षिण । जलस्यादित्यान्मुख्यादित्यवत् चैतन्याभावात् कूटस्थबोधोऽन्योऽप्रीतिनि भाव । २०. कुत्राप्यभि-  
मानसंभवात् ।

चेत् । सुषुप्तस्य दल्लौकिकं देवदत्तादि नाम तेनापि संबोध्यमानः कदाचिन्न<sup>१</sup> प्रतिपद्यते सुषुप्तस्तथा भोक्ताऽपि संप्राणो न प्रतिपद्यत इति चेत्, न । आत्मप्राणयोः सुप्तासुप्तत्वविशेषोपपत्तेः । सुषुप्तत्वात्प्राणग्रस्ततयोपरतकरण आत्मा स्वनाम प्रयुज्यमानमपि न प्रतिपद्यते । न तु तदसुप्तस्य प्राणस्य भोक्तृत्वं उपरतकरणत्वं संबोधनाग्रहणं वा युक्तम् ।

अप्रसिद्धनामभिः संबोधनमयुक्तमिति चेत् । सन्ति हि प्राणविषयाणि प्रसिद्धानि प्राणादिनामानि । तान्यपोह्याप्रसिद्धं बृहत्त्वादिनामभिः संबोधनमयुक्तं लौकिकन्याया-

गाम्यं सत्येत्यर्थः । प्रकारान्तरेण प्राणस्याभोक्तृत्वं वारयन्नाशङ्कते<sup>२</sup>—स्वनामेति । अयुक्तं प्राणैतरस्य भोक्तृत्वमिति शेषः । 'तदेव विद्युर्गति—सुप्तस्येति । 'विशेषं ब्रह्मयन्तुत्तरमाह—नाऽऽमेति । काश्या-भोगात्मनः सप्तत्वविशेषप्रयुक्तं' फलमाह—सुषुप्तत्वादिति । प्राणस्यापि 'संहृतकरणत्वात्स्वनामाग्रहणं' नित्याशङ्क्य तस्यासुप्तत्वकृतं 'कार्यं कथयति—न त्विति । न हि करणत्वाभिनि व्याप्रियमाणे करणोपरमः 'संभवति' तस्य चानुपरतकरणस्य स्वनामाग्रहणमयुक्तमित्यर्थः ।

'प्राणनामत्वेना'प्रसिद्धनामभिः संबोधना'तदनुत्थानं नानात्मत्वादिति शङ्कते—अप्रसिद्धेति । 'तदेव स्पष्टयति—सन्ति हीति । 'प्रसिद्धमनूद्याप्रसिद्धं विधेयमिति लौकिको न्यायः । अप्रसिद्धसंज्ञाभिः

ठीक नहीं है ।

क्योंकि आत्मा अथवा चित्त को प्राणदेवता में आत्माभिमान नहीं होता । (यहाँ शङ्का होती है—) अपने नाम का प्रयोग करने पर भी देखा जाता है कि बोध नहीं होता । इसलिए उपरोक्त कथन ठीक नहीं । सुषुप्त पुरुष का लोकोप्यवहार में देवदत्तादि नाम होता है, उसके द्वारा बुलाये जाने पर भी कभी कभी सोया हुआ पुरुष नहीं सुनता है । इसी प्रकार भोक्ता होते हुए भी प्राण को उसका बोध नहीं होता । (समाधान देते हैं—) तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा और प्राण में सुप्त और असुप्त का भेद सम्भव है । सुषुप्त पुरुष का इन्द्रियसमुदाय प्राण में विलीन होने के कारण उपरत हो जाता है । इसलिये उसे अपने नाम के प्रयुक्त किये जाने पर भी श्रवण नहीं होता । किन्तु असुप्त प्राण में भोक्तृत्व मानने पर उनमें उपरतकरणत्व और सम्बोधन के न सुनने की सिद्धि नहीं हो सकती ।

(पुनः शङ्का होती है—) किन्तु अप्रसिद्ध नामों से सम्बोधन करना तो ठीक नहीं है । प्राणविषयक प्रसिद्ध नाम तो प्राणादि हैं, उन्हे ध्याय कर अप्रसिद्ध बृहन् आदि नामों से सम्बोधन करना उचित नहीं है क्योंकि इससे लौकिक मार्ग का भी ध्याय होता है, इसलिये भोक्ता होने पर भी प्राण को उसकी जानकारी न हुई । ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है क्योंकि वह सम्बोधन देवता का नियेध करने के

- १ प्रतिपद्यते—गुणोति । अत्रापि भोक्ता यथेति शेषः । २ वरणग्रामस्य प्राणविलीनतया । ३ गाम्यं । ४ सगृहीतचोद्यम् । ५ जात्यप्राणयोः । ६ नवभोक्तृत्वादिति भावः । ७ फलम् । ८, संभवतीति । 'नामात्मा' भेदेति यस्माद्वाजि स्वामिनि जाग्रतीति' वातिके ॥१३०॥ प्राणस्य प्राधान्यञ्च तर्पेवोक्तम्—'धोत्रा-देर्गुणभूतत्वात्प्राण प्रति सर्वदा । तस्मिञ्जाग्रति जाग्रति सुप्ते स्वपिति तद्व्यात् ॥ नेत्रियाणा भवेत्स्वापो यदि प्राणप्रधानेत्येति' ॥१२६-१३०॥ गुणस्य प्रधानावर्तितत्वादिति भावः । ९ प्राणश्च । १० प्राणवाचकत्वेन । ११ गृह्प्रियादिष्वदे । १२ प्राणेति यावत् । १३, सगृहीतचोद्यम् । १४ प्राणस्येदं नामेत्येवम् ।



सत्येन चक्षुः प्राणो वा भ्रमृतमिति च प्राणवाहस्यान्यस्यानभ्युपगमाद्भोक्तुः । 'एष उ ह्येवं सर्वे देवाः' कतम एको देव इति प्राण इति च । सर्वदेवानां प्राण एवैकत्वोपपादनाच्च ।

तथा 'करणभेदेष्वानाशङ्का । 'देहभेदेऽपि स्मृतिज्ञानेच्छा'दिप्रतिसंधानानुपपत्तेः । न ह्यन्यदृष्टमन्यः स्मरति 'ज्ञानातोच्छति' 'प्रतिसंधाति' वा । 'तस्मान्न करणभेदविषये भोक्तृत्वाशङ्का विज्ञान'मात्रविषया वा कदाचिदप्युपपद्यते ।

—अरुनाभोति । न देवतान्तरस्य भोक्तृत्वं गार्व्यस्य स्वयंशक्तिरोधादिति शेष । सर्वभूतिव्यत्युक्तताः सत्त्वपतो दर्शयति—एष इति । "कति देवा याम्नयत्वयेत्यादिना सत्त्वविस्तराभ्यां सर्वेषां देवानां प्राणात्मन्येवैकत्वमुपपाद्यते । "अतो न देवनाभेदोऽस्तीत्याह—सर्वदेवानामिति । प्राणात्पृथगनूतस्य देवस्या"ऽऽत्मातिरेके "सत्यसत्या"पत्तेश्च प्राणान्तर्भावः सर्वदेवताभेदस्येति वदतु चशब्दः ।

'करणानामभोक्तृत्वे हेत्यन्तरमाह—सत्यति । देवताभेदेऽपि सति यावत् । अनाशङ्का भोक्तृत्वस्येति शेष । "तत्रोवाहरण"न्तरमाह—देहभेदपि सति । "न हि हस्तादिषु प्रत्येकं भोक्तृत्वं शङ्कते । तथा ओषधेर्वादिष्वपि न भोक्तृत्वाशङ्का युक्ता । "तेषु स्मृतिरूपज्ञानस्येष्टाया योजनरूपमद्राक्ष—स ज्ञानं शृणोमीत्यादिप्रतिसंधानस्य चाभोगादित्यर्थः । अनुपपत्तिमेव स्फुटयति—"न हीति । क्षणिकविज्ञानस्य "निराश्रयस्य भोक्तृत्वाशङ्काऽपि प्रतिसंधानासम्भवादेव प्रसुप्तेत्याह—विज्ञानेति ।

प्रारम्भ कर "आत्मन्वी ह भवति" इत्यादि । अन्वयपर्यन्त त्रिनेत्र विशेष गुणो से युक्त देवता का भेद प्रदर्शित किये जाने के कारण उपरोक्त कथन ठीक नहीं । ( सिद्धान्ती कहता है—) ऐमा कहना ठीक नहीं क्योंकि सभी श्रुतिवाक्यों में अर और नाभि के इष्टान्त द्वारा उस देवताभेद का प्राण में ही एकत्व स्वीकृत किया गया है । "(नामरूपात्मक विराट्स्वल्देह) मत्स्य से आच्छादित है, (सूत्रात्मा) प्राण ही भ्रमृत है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्राण के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता स्वीकृत नहीं किया गया, तथा "यही समस्त देवता है", 'वह एक देव कौन है ? प्राण है' इस श्रुतिवाक्य से भी (अग्नि की अपेक्षा वायु की प्रधानता होने से) प्राण में ही समस्त देवताओं के एकरूप का सम्पादन किया गया है ।

- १ नामरूपात्मक विराट्स्वल्देह । २ सूत्रम् । ३ वृ० उ० १४६ । ४ वृ० उ० ३१६ । ५ अग्न्याद्यपेक्षायां वायो प्राणाय सर्ववैद्यामां प्रसिद्ध तथा च तदात्मक (वाय्वात्म) प्राणातिरेकेण नास्ति देवतेति चशब्दाद्य । ६ वरणविशेषः । ७ देहावयवेषु हस्तादिष्विव । ८ आदिना इति । ९ अनुव्यवस्थिति । १० प्रतिसंधातीति—न ह्यन्यदृष्टमन्यस्तत्त्वसंपादनाय यतत इत्यपि द्रष्टव्यम् । ११ प्रतिसंधानाद्यसम्भवात् । १२ मात्रज्ञादभिष्टानं व्यावर्तयति । १३ वृ० उ० ३६१ । १४ प्राणभेदापपादनात् । १५ आत्मातिरेक इति—आत्मन्येव त्वस्मत्पदसिद्धिरिति भावः । १६ असत्त्वापत्तेरिति साधकमानाभावादिति भावः । १७ अनात्मत्वादिति भावः । १८ सिद्धान्तोक्तन्यायेन । १९ करणानामभोक्तृत्वे । २० देवतोवाहरणादित्यत् । २१ करणानां प्रत्येक भोक्तृत्वं तत्समुदायस्य वेति विकल्प्याऽऽह दूषयति—न हीत्यादिना । २२ करणेषु । २३ न हीति—प्रतीकान्तरम् न द्वितीय । यथा समुद्राय समुदायिभ्यो भेदाभेदाभ्यामयुक्त (अनिर्वाच्य) तथा चेतनाद्विप्रस्य करणप्राप्तस्य घटादिवज्जडत्वाद्यभोक्तृत्वं विद्वन्मय च भोज्यत्वाच्च भोक्तृत्वमुभयपक्षतोरसं साधारणी युक्तिर्द्रष्टव्येति शेषो द्रष्टव्यः । २४ निरभिष्टानस्य ।



सिद्धम् ।

संहतत्वाच्च पाराध्योपपत्तिः प्राणस्य । गृहस्य स्तम्भादिवच्छरीरस्यान्तरूप'ष्टम्भकः प्राणः शरीरादिभिः 'संहत इत्यवोचाम' । अरनेमिवच्च । नाभिस्थानीय एतस्मिन्सर्वमिति च । 'स्तम्भाद्गृहादिव'त्स्वावयवसमुदायजातीयव्यतिरिक्तार्थं संहन्यत इत्येवमवगच्छामः ।।

'स्तम्भकुड्यतृणकाष्ठादिगृहावयवानां स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्य-

देहादेरनात्मत्वमुक्त्वा प्राणस्यानात्मत्वे 'हेत्वन्तरमाह—सहत्वाच्चेति । हेतु साधयति—गृहस्येति । यथा नेमिरराश्रमिष सहन्यन्ते तथैव प्राणस्य सहतिरित्याह—अरनेमिवच्चेति । किं च प्राणे 'नाभिस्थानीये' सर्वं समपितमिति 'भूयते' 'सद्युक्त तस्य सहतत्त्वमित्याह—नामिति । संहतत्वफलमाह—तस्मादिति ।

प्राणस्य गृहादिव 'पाराध्योऽपि' 'सहतशेषित्वमेवित्यं गृहादेस्तथा' 'दशनादित्याशङ्क्याऽह—, स्तम्भेति । 'स्वात्मना स्तम्भादीनां जन्म उपोपचयापचयश्च विनाशश्च नाम चाऽऽकृतिश्च कार्यं चेत्येते धर्मस्तन्निरपेक्षतया लब्धा सत्ता स्फुरणं च येन स च तेषु "स्तम्भादिषु विषयेषु द्रष्टा च श्रोता च मग्ना च विज्ञाता च तदवयवत्वेना" 'तत्सघातस्य च दृष्ट्वा प्राणादीनामपि सत्ताव भवितुमर्हतीति मन्यामह

होते हुए के समान देह से मानो कही से आकर उसे सुप्तादि अवस्था से विलक्षण बोध, चेष्टा एवं प्राकृति विशेषादि से युक्त कर दिया । वह गान्धर्व के द्वारा उपदिष्ट बहो से भिन्न है, ऐसा सिद्ध होता है ।

सहत् होने के कारण भी प्राण की परायत्ता सिद्ध हो जाती है । गृह के स्तम्भ आदि के समान शरीर के अन्दर बतमान होते हुए धारक प्राण शरीरादि से सम्मिलित है—ऐसे (द्वितीय अध्याय के उपक्रम में) हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं । तथा जिस प्रकार अरे और नेमि सहत है, उसी प्रकार देह और प्राण मिले हैं एवं नाभिस्थानीय प्राण में सब इन्द्रियाँ समपित हैं (ऐसा छान्दोग्यश्रुति कहती है) इसलिए सहत् होने के कारण वह गृहादि के समान अपने (स्तम्भादि) अवयव-समुदाय की जाति वाले पदार्थों में भिन्न आत्मा के लिए सहत् हुआ है—ऐसा हम समझते हैं ।

गृह के स्तम्भ, दीवार, तृण एवं काष्ठादि अवयवों के जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, प्राकृति

१ अतवतमान सन् धारक । २ समिलित । ३ द्वितीयाध्यायोपक्रमे । ४ सहत्वात् । ५ स्वावयववति—स्वस्य गृहादेरवयवस्तम्भादित्येव समुदायोऽवयवी स्वयमेव गृहादिस्तत्सजातीयम-यद्गृहादि-सदृषातिरिक्तस्यासहत्त्वात् भोम्य यथा गृहादि तथा प्राणोऽपि सहत्त्वात्स्वासहत्स्य भोग इत्यर्थः । ६ स्तम्भेति । वार्तिके यथा—स्वात्मनादिष्वजातीयविविक्तफलरूपवत् । सहत्त्वात्तथा प्राणोऽसहत्तामोप-भोग्यवृत् । १६० । इति । स्वात्मनो गृहादेरश-स्तम्भादिरणो स्वयमेव गृहादि-एभ्यो विवित्तस्यासहत्स्य भोम्य गृहादि तथा प्राणोऽपि सहत्त्वात्स्वामहतस्य भोम्य इत्यर्थः । ७ मिहायलोक्तमन्यायम् । ८ चत्रनाभि-स्थानीये । ९ सर्वं समपितमिति श्रूयत इति—तथाहि 'प्राणो वा आशाया भूयान्यया वा अरा नाभौ समपिता एवमस्मिन् प्राण सर्वं समपित' मित्यादि (छा उ ७ १५ १) । १० छां० उ० ७।१५ । ११ तस्मात् । १२ आत्मापत्वेऽपि । १३ सघातः । १४ सहत्तस्तम्भादिनोपित्वदर्शनात् । १५ एव गृह तदवयवतया तद्रूपाणाम् । १६ सदृशेषु चेत्यपि बोध्यम् । १७ स्तम्भादिमघातस्य गृहस्य ।



धर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं दृष्ट्वा मन्यामहे 'तत्संघातस्य च तथा प्राणाद्यवयवानां तत्संघातस्य च स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्म-  
निरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं भवितुमर्हतीति ।

'देवताचेतनावत्त्वे समत्वादगुणभावानुपगम इति चेत् । प्राणस्य विशिष्टं नाम-  
मिरामन्त्रणदर्शनाच्चेतनावत्त्वमभ्युपगतम् । चेतनावत्त्वे च पाराध्यापगमः समत्वादनुपपन्न  
इति चेन्न । निरुपाधिकस्य केवलस्य विजिज्ञापयिषितत्वात् ।

'क्रियाकारकफलात्मकता ह्यात्मनो नामरूपोपाधिजनिताऽविद्याध्यारोपिता ।  
'तन्निमित्तो लोकस्य क्रियाकारकफलानिमानलक्षणः ससारः ॥ निरुपाधिकात्मस्वरूपविद्याया

इति सवन्धः । प्राणादिः स्वातिरिक्तद्रष्टृशेषः सहनत्वाद्बृहद्विषयानुमानासत्ताया प्रतीती च  
प्राणादिविक्रियानपेक्षतया सिद्धो द्रष्टा निश्चिकारो युक्तस्तस्य विकारवत्त्वे हेत्यभावादिति भावः ।

प्राणदेवतापाराध्यानुमानं ध्याप्यन्तरविरुद्धमिति शङ्कते—देवतेति । प्राणदेवतायाश्चेतनत्वमेव  
कथमभ्युपगतं तत्राऽऽह—प्राणस्येति । 'तथाऽपि प्रकृतेऽनुमाने कथं ध्याप्यन्तरविरोधस्तत्राऽऽह—  
चेतनावत्त्वे चेति । यो येन समः स तच्छ्रेयो न भवति । यथा दोषो दीपान्तरेण तुल्यो न तच्छ्रेय इति  
व्याप्तिविरोधः स्यादित्यर्थः । नाय विरोधः समापातभ्यः । 'शेषशेषिभावस्या'त्रा'प्रतिपाद्यत्वादिति  
परिहरति—न निरुपाधिकस्येति ।

'तदेव स्फुटयति—क्रियेत्यादिना । उपनिषदारम्भो निरुपाधिकं स्वरूपं ज्ञापयितुमित्यत्र

ग्रीर कार्यरूप से निरपेक्ष रहकर जिसने सत्ता उपलब्ध की है, वही इन विषयो (स्तम्भादि ग्रीर उनके  
धर्मों) का द्रष्टा, श्रोता, मन्ता ग्रीर विज्ञाता है । तथा सघातरूप घर के स्तम्भादि अवयवों की स्थिति  
को देखकर हम मानते हैं कि प्राणादिसघात अवयवों का ग्रीर उनके सघात को भी उसी के लिये होना  
चाहिये—जिसने इनके जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश, नाम, आकृति ग्रीर कार्यरूप धर्म से निरपेक्ष रहकर  
सत्तादि उपलब्ध की हो और जा इन प्राणादि विषयों का द्रष्टा, श्रोता, मन्ता ग्रीर विज्ञाता भी हो ।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) प्राणदेवता के चेतन होने के कारण आत्मा के तुल्य होने के कारण  
उसका गौणत्व होना स्वीकृत नहीं किया जा सकता । प्राण का विशिष्ट नामा द्वारा ग्रामन्त्रण देखे  
जाने से उसका चेतन होना स्वीकृत किया गया है । इसलिए चेतन होने के कारण आत्मा के तुल्य ही  
होने से उसको पदार्थ मानना उचित नहीं है । (सिद्धान्ती उक्त शङ्का का समाधान करता है—) ऐसा  
कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यहाँ केवल निरुपाधिक अक्षेपविक्षेपशून्य आत्मा का ज्ञान कराना इष्ट है ।

'आत्मा की क्रियाश्रयता, कारकरूपता, फलभोक्तृता तो नाम और रूप के निमित्तहोने के कारण

- १ तेषां स्तम्भाद्यवयवानां सघातरूपगृहस्य । २ सघातावयवानां प्राणादीनामित्यर्थः । ३ प्राणदेवताया-  
श्चेतनत्वे । ४ आत्मतुल्यत्वात् । ५ शेषशेषित्वावशेषविक्षेपशून्यस्येत्यर्थः । ६ क्रियाश्रयता कारक-  
रूपता फलभोक्तृतेत्यर्थः । ७ निमित्तेति यावत् । ८ अविद्यापादनिर्गता । ९ अविद्याप्रयुक्त । १०  
प्राणदेवतायाश्चेतनत्वेऽपि । ११ गुणप्रधानभावस्य । १२ अत्र—अस्माभ्युपनिषदि । १३ तात्पर्यादिवय-  
त्वात् । १४ यद्योक्तात्मनो विजिज्ञापयिषितत्वमेव ।

निवर्तयितव्य इति तत्स्वरूपविजिज्ञापयिष्योपनिषदारम्भः । ब्रह्म ते यवाणि नैतावता विदितं भवतीति चोपक्रम्येतावदरे खल्व'मृतत्वमिति' चोपसंहारात् । न चातोऽप्यदन्तराले 'विवक्षितमुक्तं' वाऽस्ति । 'तस्मादनवसरः समत्वाद्गुणभावाच्चानुपगम इति चोद्यस्य ।

विशेषवतो हि सोपाधिकस्य 'व्यवहारार्थो' 'गुणगुणिभावो न' 'विपरीतस्य । 'निरुपाख्यो हि विजिज्ञापयिषित सर्वस्यामुपनिषदि । 'स एव नेति नेतीत्युपसंहारात् । 'तस्मादादित्यादिव्रह्मस्य एतेभ्योऽविज्ञानमयेभ्यो विलक्षणोऽभ्योऽस्ति' विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम् ॥ १५ ॥

गमकमाह—ब्रह्मेति । 'हे वाव ब्रह्मस्यो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेत्यादिदर्शनावस्यामुपनिषदि सोपाधिकमपि ब्रह्म विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । 'द्वित्ववाक्यस्य कस्मिन्विषयत्वान्नेति नेतीति' निर्विशेष-वस्तुसमर्पणादतोऽप्यदन्तराले 'चोक्तेरत्र निरुपाधिकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यमिति भावः । शेषशेषिभावस्या- 'प्रतिपाद्यत्वे फलितमाह—तस्मादिति ।

किमर्थं 'तहि शेषशेषिभावस्तत्र' तत्रोक्तस्तत्राऽह—विशेषवतो हीति । सोपाधिकस्य शेषशेषिभावो विवक्षितस्तत्र च 'स्वामिभूत्यन्यायेन विशेषसंभवादसिद्ध समत्वमित्यर्थः । न विपरीतस्य निरुपाधिकस्य शेषशेषित्वमस्तीत्यर्थः हेतुमाह—निरुपाख्यो हीति । शेषशेषित्वाद्यशेष-विशेषान्नस्य इत्यर्थः । पाणिनेयवाक्यविचारार्थं 'सक्षिप्योपसहरति—आदित्यादीति ॥ १५ ॥

अविद्या की उपादानिका है । उसके अविद्या से प्रयुक्त होने के कारण पुरुष को क्रिया, कारक एवं फलभिमानरूप ससार की प्राप्ति हुई है । उसे अक्षयविशेषगुण आत्मस्वरूप के ज्ञान से निवृत्त करना है । इसलिये उसके स्वरूप का ज्ञान कराने की इच्छा से ही इस उपनिषद् का आरम्भ हुआ है । क्योंकि 'मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ 'इतना मात्र जानने से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता' इस प्रकार उपक्रम करने 'अरे' निश्चय ही इतना मात्र अमृतत्व है' इस प्रकार उपसंहार किया गया है । बीच में भी इस निरुपाधिक स्वरूप से भिन्न कोई भी और तात्पर्य का विषय व्याख्याता द्वारा नहीं बतलाया गया । इसलिये (शेषशेषिभाव के प्रतिपाद्य न होने से) 'तुल्य होने के कारण इसका गौणत्वभाव स्वीकृत नहीं किया जा सकता—ऐसा बहना नहीं बतता ।

विशेषवान से सोपाधिक का ही कर्तृत्वाद व्यवहार के लिए शेषशेषिभाव होता है । इससे विपरीत (निरुपाधिक) का नहीं । और मगस्त उपनिषदों में निरुपाधिक ब्रह्म का ज्ञान कराना इष्ट

- १ अमृतत्वमात्र ज्ञानम् । २ बृ० उ० ४।१।१५ । ३ चतुर्थाध्याये । ४ निरुपाधिकस्वरूपात् । ५ मध्ये । ६ तात्पर्यविषयम् । ७ केनापि व्याख्यात्रा तात्पर्यविषयतया नोक्तमित्यर्थः । ८ अत्र शेषशेषि-भावस्याप्रतिपाद्यत्वात् । ९ कर्तृत्वादिव्यवहारार्थम् । १० गणनयिभावः । ११ निरुपाधिकस्य । १२ निरुपाधिकः । १३ बृ० उ० ४।४।२२ । १४ प्रागुक्तयुनिस्मृतिपुक्तिवशात् । १५ बुद्धिप्राप्य । १६ बृ० उ० २।३।१ । १७ सोपाधिकब्रह्मस्येत्यर्थः । १८ बृ० उ० २।३।६ । १९ बृ० उ० ३।४।२ । २० तात्पर्यविषयत्वे । २१ तदविवक्षितत्वे । २२ प्रपटत्वे । २३ द्वयोश्चेन्नत्वे तुल्येऽपि स्वामिभूत्य-योग्या न समत्वं तथा प्राणदेवताऽऽत्मनोऽप्यर्थः । २४ विनार्थसिद्धमर्थम् ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष' , एतत्सुप्तोऽभूद्य एष  
विज्ञानमयः पुरुषः 'कवैष तदाऽभूत्कुत' एतदागादिति  
तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

(इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करके गार्ग्य से) उस भूजातशत्रु ने कहा—हाथ से दबाकर जगाने से पूर्व जब यह विज्ञानमय पुरुष सोमा हुआ था, उस समय वह कहाँ था और यह कहाँ से आया ? इस प्रश्न का उत्तर गार्ग्य ने जान सका और न ही बतला सका ॥१६॥

स एवमजातशत्रुर्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं प्रतिपाद्य गार्ग्यमुवाच । यथा यस्मिन्काल  
एष विज्ञानमयः पुरुष एतत्स्वप्न सुप्तोऽभूत्प्राक्पाणिपेयप्रतियोधात् । विज्ञानं विज्ञाप्यतेऽने-  
नेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते तन्मयस्तत्प्रायो विज्ञानमयः । किं पुनस्तत्प्राप्यत्वम् । तस्मिन्नु-

युक्तमनुद्यानन्तरप्रथममवतारं ध्याचष्टे—स एवमित्यादिना । 'एतत्स्वप्न यथा भवति तथेति  
यावत् । यत्रैतुक्तं कालं विशिनष्टि—प्राणिति । तदा क्यामुदिति सम्बन्ध । विज्ञानमय इत्यत्र विज्ञानं परं  
ब्रह्म तद्विकारो जीवस्तेन विकारायै मयडिति केचित्ताभिराकरोति—विज्ञानमिति । अन्तःकरणप्राय-  
स्त्वमात्मनो न 'प्रकल्प्यते तस्यासङ्गस्य' तेनासङ्गस्यादित्याक्षिपति—किं पुनरिति । असङ्गस्याप्या'विद्यं

है । क्योंकि 'यह यह कार्य नहीं है, कारणरूप नहीं है' ऐसा श्रुतिमन्त्रों द्वारा उसका उपसंहार किया  
गया है । इसलिये (पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और मुक्ति के कारण) यह सिद्ध हो जाता है कि इन  
अविज्ञानमय आदित्य आदि ब्रह्म से विज्ञानमय (बुद्धिप्राय) भिन्न और विलक्षण है ॥ १५ ॥

उम भूजातशत्रु ने इस प्रकार (देह इन्द्रिय मन व बुद्धि से) व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व  
प्रतिपादन करके गार्ग्य से कहा—'यत्र अर्थात् जिस समय यह विज्ञानमय पुरुष हाथ से हिलाने पर  
जागने से पूर्व साया हुआ था जिससे विशेषरूप से जाना जाता है, उस अन्तःकरण या बुद्धि को

१ यद्यप्यमात्मा स्वापे स्थितोऽप्रवर्तमानः (स्वकृपात्) यदि वाऽऽगती ततोऽयस्मादागतस्तदा क्रियाकारकतत्त्वव्यवहारो  
वास्तव्य एवात् । स्थित्वागमनी च स्वयमेवावधिर्नान्यस्वेतदा आनोऽय व्यवहार स्यादेकत्र तदनुपपत्तेरित्यभि-  
प्रायेण प्रदत्तादिति द्रष्टव्यम् । क्रिया आगमनम् । कारक तत्कर्ता । फल जापरस्थित्यादि । अवधिसम्बोधिकरणा-  
पादानोभयपरो द्रष्टव्य । २ कस्मिन् स्वागम्य । ३ कीदृशिवशात्स्वकृपात् प्रच्युत सन् । ४ व्यतिरिक्तेति  
—देहेन्द्रियमनोवीर्यो विविच्योऽऽद्यानमेतत्तम् । भोक्तारं दण्डित्वाद्यं राजा गार्ग्यमपृच्छत । वा० १८३ ॥  
विवेकात्तर वदयमाणप्रसन्नमावकाशं दद्यमित्तमथेत्युक्तम् । ५ तत्प्रच्युतस्तत्प्राधान इति यावत् । प्राच्यं मयत् ।  
६ अन्तःकरणे बुद्धौ । ७ एतत्स्वप्नमिति—विप्रवृष्टस्वप्नव्यावृत्तये एतदिति विशेषणम् । एतत्प्रकृतस्वप्न-  
भिन्नस्वप्नविशिष्टो यथा भवति तथेत्यर्थः । ८ विकारस्त्ववदिति द्रष्टव्यम् । ९ अन्तःकरणेन । १०  
भिन्नस्वप्नविशिष्टो यथा भवति तथेत्यर्थः । ११ 'स्वभावासवदविद्योत्पन्नबुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात् । तदात्मत्वाभिमानित्वादिज्ञान-  
मयतारमन' ॥ १८७ ॥ इति । प्रत्यगाभासवती याऽविद्या तदुत्पन्नबुद्ध्यादिव्याप्तिकृतं भ्रममेव व्याकरोति—  
तदारमत्वेति । भ्रान्तफलमाह—विज्ञापेति ॥

पलभ्यत्वं तेन चोपलभ्यत्वमुपलब्धत्वं च । कथं पुनर्मयटोऽनेकार्थत्वे प्राप्यार्थतवावगम्यते ।  
 'स वा श्रयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय इत्येवमादौ प्राप्यार्थ एव प्रयोगदर्शनात्परविज्ञान-  
 विकारत्वस्याप्रसिद्धत्वाच्च एष विज्ञानमय इति च प्रसिद्धवदनुवादादवयवोपमार्थयोश्चा-  
 श्रासंभवात्पारिशेष्यात्प्राप्यार्थतैव । 'तस्मात्सकल्पविकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं' 'तन्मय  
 इत्येतत्' । पुरुषः पुरि शयनात् ।

बुद्ध्यादिसर्वव्यमुपैत्य परिहरति—तस्मिन्निति । 'तत्साक्षित्वाच्च तत्प्राप्यत्वमित्याह—उपल-  
 ब्धत्वं चेति । 'नियामकाभावः शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना । 'एकस्मिन्नेव वाक्ये पृथिवीमय  
 इत्यादौ 'प्राप्यार्थत्वोपलब्धभाविज्ञानमय इत्यत्रापि तदर्थत्वमेव मयटो निश्चितमित्युक्तमिदानीं जीवस्य  
 परमात्मरूपविज्ञानविकारत्वस्य श्रुतिस्मृत्योरप्रसिद्धत्वाच्च प्राप्यार्थत्वमेवेत्याह—परिति । अप्रसिद्धमपि  
 विज्ञानविकारत्व 'श्रुतिवशादिव्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—य एष इति । य एष विज्ञानमय इत्यत्र विज्ञान-  
 मयस्येव इति "प्रसिद्धवदनुवादादप्रसिद्धविज्ञानविकारत्व" सर्वनामवृत्तिविशदमित्यर्थः । जीवो ब्रह्मा-  
 वयवस्तत्सदृशो वा तथार्थो मयडित्याशङ्क्याऽऽह—अवयवेति । ब्रह्मणो निरवयवत्वभूतेस्तस्यैव जीवरूपेण  
 प्रवेशश्रवणाच्च प्रकृते वाक्ये मयटोऽवयवाद्यर्थयोगा" निर्विषयत्वात्सम्भवाच्च पारिशेष्यात्पूर्वोक्ता  
 प्राप्यार्थतैव सत्यं प्रत्येत्येत्यर्थः । विज्ञानमयपदार्थमुपसहरति—तस्मादिति ।

विज्ञान कहते हैं । जो बुद्धिमय या बुद्धिप्राय हो, वह विज्ञानमय है । किन्तु आत्मा की विज्ञानमयता  
 क्या है ? जो उम अन्तःकरण या बुद्धि में प्राप्त किया जा सकता है तथा जो उपलब्ध है, उसे विज्ञान-  
 मय कहते हैं । किन्तु 'मयट' प्रत्यय के अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने पर यहाँ (प्रचुर या प्रधानरूप) प्राय  
 अर्थ कैपे समझा जाता है ? "वह यह आत्मा है—ब्रह्म विज्ञानमय है ।" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में भी  
 'प्राय' अर्थ में ही इसका प्रयोग देखा जाने से परब्रह्मरूप विज्ञान का विकार अर्थ प्रसिद्ध न होने से  
 "जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में "यह" इस प्रकार विज्ञानमय का प्रसिद्धवत् अनुवाद  
 करने से तथा (मयट प्रत्यय का) अवयव और उपमारूप अथ सम्भव होने से परिशेषित इसका 'प्राय'  
 अर्थ ही सिद्ध होता है । इसलिए सकल्प-विकल्पादिरूप अन्तःकरण विज्ञानप्रधान आत्मा है—यह

- १ बु० उ० ४४।५। २ विज्ञानादस्य करणव्युत्पन्नात्वात् मयटोऽर्थान्तरासम्भवाच्च । ३ विज्ञानम् । ४  
 तत्प्रधान इति यावत् । ५ पुरुष पुरि शयनादिति । दानिकाचार्यन्तु—'अन्तर्मनो मतोऽप्राप्यत्वत्पितृत्ववादक-  
 त्वित । पुरुष पुरुष प्रत्येक पादोन् रसवा यथा ॥ व्युत्पत्तिरित्येवमात्र तात्पर्यस्य समीक्षणात् ॥ वा इति ह्युप-  
 क्रम्य नैनन्त्यादौ निष्पद्यते ॥ १६२-१६३ ॥ इत्याह । अथ स वाऽयं पुरुष सर्वोऽमुं पृथिव्युपक्रम्य पुरुष नैनं  
 विचिन्वानं ब्रूमि मित्याद्याऽसहारात्तत्पूज्यत्वं निर्णयित इति वाक्ययोगेणात्रापि तथा । सदिगम्य वाक्ययोगेण निर्णयो  
 भवतीति द्विर्वाक्य । ६ बुद्ध्यादि । ७ मयट प्राप्यार्थकत्वे । ८ एवस्मिन्निति—'विज्ञानमय इत्युक्त्वा  
 पृथिव्यादिमयाश्रित । पक्षविकारनिषेधाच्च प्राप्यार्थतैव समञ्जसम्" ॥ वा० १६१ ॥ न हि पृथिव्यादिविकारत्व  
 प्रतीतोऽस्म्युपगतम् । तथाच समप्रियाहाराद्विज्ञानमयत्वमपि न विकारत्वमित्यर्थः । ९ प्राप्यार्थत्वोपपन्नमिति—  
 न हि पृथिव्यादिविकारत्वमङ्गीकृतं समगति च तथाच समप्रियाहाराद्विज्ञानमय इत्यत्रापि प्राप्यार्थत्वमेव मयट  
 इत्यर्थः ॥ १० प्रकृतश्रुतीत्यर्थः । ११ प्रसिद्धम्यानुवादोऽथ मत्वपूर्वम् । १२ एष इति सर्वनामश्रुति ।  
 १३ निरर्थकत्वात्सम्भवात् ।



स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैव' एतत्सुप्तोऽभूद्य एय'  
 विज्ञानमयः पुरुषस्तदेया' प्राणाना विज्ञानेन विज्ञान-  
 मादाय 'य' एपोऽन्तं हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि

उस अजातशत्रु ने कहा—यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय अन्त करण उपाधि में अभिव्यक्ति आभासस्वरूप विज्ञान के द्वारा इन वागादिप्राणा के विषय विज्ञान को ग्रहण कर, यह जो हृदय में आवास है, उगमे मोता है। जिस समय यह विज्ञान को ग्रहण कर लेता है अर्थात् शरीर और इन्द्रिया का अध्यक्षता छोड़ देता है। उस समय यह पुरुष 'स्वपिति'

आत्माऽभूत्प्राक्प्रतिबोधाद्यतश्चैतदागमनमागात्तदुभय न द्युत्पेदे यत्तु वा प्रष्टुं वा गायो  
 हु न मेने न ज्ञातवान् ॥ १६ ॥

स होवाचाजातशत्रुविवक्षितार्थसमर्पणाय । यत्रैव एतस्मोऽभूद्य एय विज्ञानमय  
 पुरुष क्वेव तदाऽभूत्कुत एतदागादिति यदपृच्छाम तच्छृणूयमान यत्रैव एतस्मो-

'तत्र क्रियापदयोर्व्याक्रम यत्तु प्रष्टुं वेत्याभ्या सबन्ध ॥ १६ ॥

कूटस्थचिदेकरसोऽयमात्मा 'तत्र क्रियाकारकफलव्यवहारो यस्तुतो नास्तीति' विवक्षितोऽर्थ-  
 स्तस्य प्रकटीकरणार्थं प्रस्तुत प्रश्नद्वयमनुवर्तते—यत्रिति । उपाधिरन्त करण तस्य स्वभावस्तदुपादान-  
 मज्ञान तेन जनितमन्त करणगतमभिव्यक्त विशेषविज्ञान चतन्वाभासलक्षण तेन करणेनेत्यय ।

की थी। इस प्रकार बोधित किये जाने पर जहाँ यह आत्मा जागने से पहुँचे था और जहाँ से यह आया है' इन दोनों बातों को गायन न समझ सका इहे कहने और पूछने का उसे ज्ञान न हुआ ॥ १६ ॥

उस अजातशत्रु ने विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के लिए कहा। यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय यह कहाँ था कहाँ से आया?—इस प्रकार जो हमने पूछा था उसका उत्तर देते हैं—सुनो। जिस समय वह सुप्त था उस समय (अन्त करणस्वरूप) उपाधि के स्वभाव से जनित विज्ञान यानी अन्त करणस्थ अभिव्यक्ति-विशेषविज्ञान से (चतन्वाभास लक्षणरूप करण द्वारा) वागादि प्राणा के विज्ञान को अपने अपने विषयों में प्रकाशनसामर्थ्य को ग्रहण कर 'एपोऽन्तं हृदये' अर्थात् यह जो हृदय के मध्य में आकाश है, जो यह आकाशशब्द से अपना प्रत्यगात्मा

१ यत्र काले सुप्तोऽभूत् विवेकविज्ञानरहितोऽभूत् स्वनामामन्त्रणचन्निमिषि नाश्रीषोदिति यावत् । २ तत् तदा । ३ एयम्—प्रत्यगात्मचिदाभासकरणाना मध्ये वागादिप्राणाना स्वविषयप्रकाशनसामर्थ्य विज्ञानेन चैतयाभासलक्षण आदाय गतीत्वेति योजना । ४ य वेदान्तप्रतिष्ठ । एय चिदनुभवमिदम् । ५ य एय इति—स्वप्रकाशतत्त्वार्थो यच्छ्रुत्वा स एव प्रत्यभूत् एतच्छब्दात् । ६ एतदिति—विप्रहृष्टभूतभाववन्नुपस्थि तागमनव्यावर्तये प्रकृतोपस्थितसमीपतरय यमिन्नोपस्थापकमेतदिति विवेचन तयाच प्रहृतागमनमभिप्रागमन कृतवानित्यर्थः । ७ तच्छृणूयमानमिति—पृष्टानापि न विज्ञात भवता तेदिव मया । उच्यमान यथा तत्त्व सम्यक्त्व धीतुमहति ॥ वा २१३ ॥ इत्यर्थः । ८ व्याख्येयभाष्य । ९ यथोक्तारमणि । १० पूत्रवाक् ।



गृहीत्वा य एषोऽन्तर्मध्ये हृदये हृदयस्याऽऽकाशो 'य आकाशशब्देन' पर एव स्व आत्मोच्यं  
तस्मिन्स्व आत्मन्याकाशे शब्दे स्वाभाविकसंसारिके न केवल आकाश एव श्रुत्यन्तर  
सामर्थ्यात्सता सौम्य सदा संपन्नो भवतीति । लिङ्गोपाधिसंबन्धकृत विशेषात्मस्वरूप  
मुत्सृज्याविशेषे 'स्वाभाविक आत्मन्येव केवले वर्तत इत्यभिप्राये' ।

व्याचष्टे—मध्य इति । आकाशशब्दस्य भूताकाशविषयत्वमाशङ्क्याऽऽकाशोऽर्थांतरत्वादित्यप्ये  
वादितां व्याप्तेनाऽऽह—आकाशशब्देनेति । सद्रूपे ब्रह्मण्येव सुषुप्तस्य शयने भूताकाशे तु न भवतीत्य-  
च्छान्दोग्यधृतिसंमतिमाह—श्रुत्यन्तरेति । 'कोहमत्र शयनं विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—लिङ्गेति  
स्वाभाधिकारे स्वाभाविकत्वमविद्यामात्रसंमिश्रितत्वं 'सति संपद्य न' 'विदुः' इत्यादिश्रुतेरिति  
प्रवृत्त्यर्थम् ।

हैं—'हे शोभ्य'—उत्स-समय यह सत्-वस्तु मे युक्त हो-जाना है । 'सूक्ष्मशरीर' को 'उपाधि' के-सम्बन्ध  
से होने-वाले 'अपने' 'केतु' 'स्वादि'विशेष' आत्मस्वरूप को छोड़कर 'अशेष'विशेषणार्थ निमित्त 'आत्म'  
मे ही वह विद्यमान रहता-है, यह इसका-अभिप्राय है ।  
जब यह शरीर और इन्द्रियो को अव्यवस्था छोड़ देता है, उस समय यह कैसे जाना जाता है

१ अन्तर्मध्ये हृदय इति । 'अनन्यबोधप्रत्यक्षो य एष इति श्रूयते । तस्य सम्प्रतिपत्त्यर्थमन्तर्हृदयकीर्तनम् ।  
तात्पर्याद्ब्रह्मशब्देन बुद्धिरनाभिधीयते । ऐवात्म्यप्रतिपत्त्यर्थं क्षेत्रप्रपञ्चमात्मनोरिति' । वातिके आह ॥ २३३,  
२३६ ॥ य एव इति पदयोर्वर्माह—अनन्येति । स्वप्रकाशतत्पदायो य इत्युक्त स एव प्रत्यभूत एवमशब्दोक्त  
इत्यर्थः । अन्तरिक्षादेस्तात्पर्यमाह—तस्यति । प्रतीचो हृदय स्थान तदेव ब्रह्मणोऽपीत्युक्तं सति तयोरेक्यसिद्धितस्य  
साम्यप्रतिपत्त्यर्थं हृदयशब्दोक्तिरिति ब्रह्मणो हृदयस्थानत्वात्किमस्य ॥ अतर्हृदय इत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह—  
तात्पर्यादिति । पुण्डरीकाक्षरमामपिण्डस्यैव हृदयत्व किं ॥ स्यात्तत्र नष्टवन्म्य मुखरवादिस्थाशङ्काह—  
ऐक्यमित्येति । जीवस्य विज्ञानमगदितस्य बुद्धिस्थानप्रमिद्वैराग्याशब्दितस्यापि सतिष्ठत्वोक्तौ तयोरेक्यं निधायति  
तदर्थं हृदयशब्देन बुद्धिग्रहणमित्यत्र । २ एष । ३ पर एवति । 'बुद्धेरनाभिधीयते' । प्रतीचोऽन्यो नाभं समाभ्यत  
यत् । तस्मादाकाशशब्देन प्रत्यगात्मनाभिधीयत' ॥ २४१ ॥ यद्यपि भूताकाशस्यापि तदन्तर्भवत्वं सम्भवति  
सर्वगतत्वात् तत्पाप्याऽऽकाशशब्दोक्तस्यास्मादात्मनः श्रुत्युत्तरत्र (ब० २०) आत्मशब्दादुक्तस्य प्राणादिजन्महेतुत्व-  
श्रुतेर्ब्रह्मवाक्काशशब्दितमन्यथा वाक्यशेषवर्तिष स्यात् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूताभ्यामावादेव समुत्पन्नानि'  
इति च श्रुते । तस्यापि वाक्यस्य भूताकाशविषयत्वे तु ('आकाश इति' ब० सू० १।३।४१) भूतविशेष स्यात् ।  
४ उक्तविशेषनिमित्तं भूताकाशे । ५ सूक्ष्मशरीरोपाधिप्रयुक्ततृत्वादिविशेषात्मस्वरूपम् । ६ अशेष-  
विशेषभूत्यर्थः । ७ निमित्तम् । ८ प्रत्यक्षवैतन्ये निद्रात्मकप्रसिद्धिनायानुपपत्तेरिति ध्येयम् । ९ वृद्धपति  
भावः । १० आशङ्क्येति । तथा च 'तस्या ब्रह्मार्थत्वात् प्रत्यक्षं ब्रह्मणोरेक्यधी ॥' ११ आकाश इति  
—(ब० सू० १।३।४१) 'आकाशो वै नायरूपजनिर्वहता ते यदन्तरा तदब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० उ०  
४।१।१) इत्यत्र परमेव ब्रह्माकाशशब्दः कस्मात् अथान्तरत्वादिव्यपदेशात् त यदन्तरेति-नायरूपास्यामर्थान्तर-  
त्पदेशात् । ते नामरूपे यस्मादन्तरा—भिन्ने । इति सूत्रार्थः । १२ सत्संप्रदामह इति शेषः ।

यान्तरत्वाकारान्नैवमित्याह—प्रत्यगिति । अनुभवात्मना सहोर्जगत महारोञ्ज विविशितोऽत्र स्वमहिमि  
तिष्ठत्यात्मेत्यर्थः ॥



यदा शरीरेन्द्रियाध्यक्षतामुत्सृजति तदाऽस्ती स्वात्मनि चित्तं इति कियमवगम्यते ।  
 नामप्रसिद्ध्या । काऽसौ नामप्रसिद्धिरित्याह—तानि वागादीनि विज्ञानानि यदा  
 यस्मिन्काले गृह्णात्यादत्तेष्य तदा हेतुपुरषः स्वपिति नाम । एतन्नामास्य पुरुषस्य  
 तदा प्रसिद्धं भवति योग्यमेवास्य नाम भवति स्वमेवाऽऽत्मानमपीत्यपि गच्छतीति स्वपि-  
 तोत्युच्यते । सत्यं स्वपितोतिनामप्रसिद्ध्याऽऽत्मनः संसारधर्मविलक्षणं रूपमवगम्यते न  
 स्वप्न युक्तिरस्तोत्याशङ्क्याऽह—तत्तत्र स्वापकाले गृहीत एव प्राणो भवति ॥ प्राण इति  
 प्राणोन्द्रियं वागादिप्रकरणात् । वागादिसवर्णं हि सति तदुपाधित्वादस्य संसारधर्मत्वं

तानि यदैवादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—यदेत्यादिना । विज्ञानानि तत्साधनानोच्येतत् ।  
 पुरुष इति प्रथमा पुरुषेति । स्वपिति—अस्य पुरुषस्येति । अर्थकर्णदिनाम्नो विशेषमाह—  
 योग्यमेवेति । "योग्यं व्युत्पाद्यति—स्वमेवेति" । "नाम्नोऽर्थधर्माभिचारस्यापि दृष्टत्वात् तद्वशात्स्वापे  
 स्वस्यावस्थानमिति शङ्कामनूय तद्गृहीत एवेत्यादि वाक्यमुत्पाप्य आचष्टे—सत्यमित्यादिना । का  
 पुनरात्मनः स्वापायस्यायामसत्तारित्वरूपेऽवस्थानमित्यत्र युक्तिरिहोक्ता भवति तत्राऽह—वागादीति ।

किं यह स्वात्मा मे विद्यमान रहता है ? नाम की प्रसिद्धि से। (विद्यमान रहता है) — । वह नाम की  
 प्रसिद्धि क्या है ? इस पर श्रुति कहती है । "तानि" उन वागादि विज्ञानों को "यदा" जिन समय यह  
 "गृह्णाति" स्वीकार करता है, "प्रथ" यानी उस समय 'स्वपिति' नाम होता है । यह 'स्वपिति' नाम  
 इस पुरुष का प्रसिद्ध होता है, योगिव श्रुद्ध नाम इसका होता है । 'स्व' इस योगिक शब्द आत्मा को  
 ही 'प्रपीति' अर्थात् प्राप्त हो जाना है, इसलिये स्वपिति कहा जाना है । यह सच है कि "स्वपिति"  
 इस नाम की (आत्मा के लिए) प्रसिद्धि हो जाने पर आत्मा का रूप 'सामारिक' धर्मों से विलक्षण  
 प्रतीत होता है । परन्तु इसके (स्वप्न में सामारिक धर्मों से विलक्षणस्वरूप) होने में कोई युक्ति  
 नहीं है । ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है । उस समय उस सुषुप्ति अवस्था में प्राण लीन हो  
 जाता है । वागादि इन्द्रियों का प्रकरण होने से "प्राण" शब्द से प्राण इन्द्रिय का ग्रहण करना  
 चाहिये । क्याकि (जाग्रत् आदि अवस्था में) वागादि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर ही इनका समुपे-  
 होना देखा जाना है । उस समय (स्वप्नावस्था में) उन वागादिका का वह उपसहार ही पर होता  
 है । किस प्रकार सम्बन्धाभाव हो जाता है ? उस समय वाक् भी लीन हो जाता है, चक्षु भी लीन हो  
 जाता है, श्रोत्र भी लीन हो जाता है और मन भी लीन हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि  
 वागादिकों के लय हो जाने पर क्रिया, कारक और फलरूपता का अभाव हो जाने से आत्मा अपने

१ योगिक नः शब्दे । २ स्वमेवेति । ३ तत्साधनानामवस्थानात्स्वात्मनि चित्तमिति ॥ दा० २५८ ॥  
 समाख्या योगिक शब्द । ४ स्वापे संसारधर्मविलक्षणस्वरूपे । ५ आहृति—अनन्तरवाक्येन युक्तिरपि  
 तत्रोच्यत इत्यर्थ । ६ उपसहृत लीन इति यावत् । ७ करणप्रकरणात् । ८ प्रकरणत् । ९ स्वविषयप्रकाश-  
 नादनीयस्य मुख्ये प्रोणस्य तदा प्रत्यक्ष एवानुपसहार इति ध्येयम् । १० जागरादौ । ११ स्वविषयप्रकाश-  
 साधनानि । १० वक्ति । ११ सात्वदुद्यवाचिन । १२ योगिकत्वम् । १३ अवधारणदिनाम्न ।  
 १४ "स्वमपीतो भवति" इति च्छान्दोग्यश्रुतिवशात् ।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव ।

महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतैवोच्चावचं

यह प्रकृत आत्मा जब दर्शनरूपा स्वप्नवृत्ति से व्यवहार करता है, उस समय इससे वे कर्मफल उदित होते हैं। वहाँ भी यह महाराज-सा होता है या महाब्राह्मण होता है या ऊँची-नीची देव-यसुरादि

लक्ष्यते । बागादयश्चोपसंहृता एव तदा तेन । कथम् । गृहीता बागगृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः । तस्मादुपसंहृतेषु बागादिषु क्रियाकारकफलात्मताभावात्स्वात्मस्य एवाऽऽत्मा भवतीत्यवगम्यते ॥ १७ ॥

ननु 'दर्शनलक्षणायां' स्वप्नावस्थायां कार्यकरणवियोगेऽपि 'संसारधर्मित्वमस्य' दृश्यते । यथा च जागरिते सुखी दुःखी बन्धुवियुक्तः शोचति मुह्यते च । 'तस्माच्छोक-

तदा सुषुप्त्यवस्थायां तेनाऽऽत्मना चेतन्याभासेन 'हेतुनेत्यर्थः' । स्वापे करणोपसंहारं विवृणोति—  
कथमित्यादिना । तदुपसंहारफलं कथयति—'तस्मादिति ॥ १७ ॥

"अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बागाद्युपाधिकमात्मनः संसारित्वमुक्तं" तत्र व्यतिरेकासिद्धिमाशङ्कते—  
नञ्विति । व्यतिरेकासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति । स्वप्नस्य रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वेन "वस्तुधर्मत्वाभावा-

स्वरूप मे ही प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ १७ ॥

( पूर्वपक्षी शङ्का करना है— ) किन्तु ( वासनाप्रयुक्त ज्ञानाधिकाररूपा ) दर्शनरूपा सुषुप्ति व जाग्रत अवस्था से भिन्न स्वप्नावस्था में तो शरीर और इन्द्रियो का अभाव होने पर भी इसका ( सुखादिमत्त्व ) ससारी स्वभाव देखा जाता है । जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में सुखी, दुःखी, बन्धुओं से वियुक्त होता है, शोक करता है एवं माहित होता है, उसी प्रकार ससारी स्वभाव वाला होता है । इसलिए ( व्यतिरेकव्यभिचार होने से ) यह शोकमाह रूप धर्म वाला है । इसके शोकमोहादि और सुख दुःखादि, देह और इन्द्रियो के संयोग से जनित भ्रान्ति से आरोपित नहीं है । ( सिद्धान्ती उक्त शङ्का का समाधान करता है— ) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न ( रज्जुसर्प की तरह ) मिथ्या है । "स" अर्थात् वह प्रकृत आत्मा "यत्र" अर्थात् जिस समय "स्वप्न्यया" यानी दर्शनलक्षणा स्वप्न-वृत्ति से "चरति" यानी वर्तता है, उस समय उसके वे कर्मफल उदित होते हैं । वे कर्म कौन से हैं ?

- १ एतदिति क्रियाविशेषण विप्रकृष्टव्यावृत्तये । २ उपसंहृता एवेति—तथा च स्वापे बागादिसंबन्धभावात् कर्तृत्वा-  
द्यसंबन्धो जागरादौ च तत्संबन्धात्स्ववृत्त्याद्यतत्तदुपाधिकमेवेति निश्चितमिति । ३ स्वप्ने करणोपसंहारं  
नासंसार इति व्यभिचारोपाच्छ्रयः तत्र वासनात्मना करणसत्त्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । ४ वासनाप्रयुक्तज्ञानाधि-  
करणरूपायाम् । ५ सुषुप्तिव्यावृत्तये विशेषण जागरव्यावृत्तये सत्र प्रयुक्तान्तम् । ६ सुखादिमत्त्वम् । ७  
सदृशम् । ८ व्यतिरेकव्यभिचारात् । ९ कर्त्रा । १० करणेन । ११ स्वापे बागाद्युपसंहारात् । १२  
बागादिसंबन्धे संसारसदभाववन्ति । १३ अन्वयव्यतिरेकयोः । १४ वस्तु आत्मा ।

निगच्छति स यथा महाराजो जानंपदान्गृहीत्वा स्वे  
जनपदे यथाकामं परिवर्तते बभेवेष एतत्प्राणान्गृहीत्वा  
स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥१८॥

गति को प्राप्त होता है । जैसे कोई महाराजा अपने प्रजाजनो को स्वाधीन कर स्वेच्छापूर्वक अपने देश में विचरता है ; वैसे ही यह स्वप्नपुरुष कल्पित प्राणो को ग्रहण कर अपने देह में यथेच्छ विचरता है ॥१८॥

मोहग्रमंवानेवायं नास्य शोकमोहादयः सुखदुःखादयश्च कार्यकरणसंयोगजनितभ्रान्त्याऽध्या-  
रोपिता इति । न मृषात्वात् स्वप्नस्य । स प्रकृत आत्मा यत्र 'यस्मिन्काले दर्शनलक्षणया  
'स्वप्न्यया स्वप्नवृत्त्या चरति वर्तते तदा ते हास्य लोकाः कर्मफलानि । कै ते । तत्प्रतीतापि  
महाराज इव भवति । सोऽयं 'महाराजत्वमिवास्य' 'लोको न महाराजत्वमेव जागरित  
इव । तथा 'महाराह्ण इवोताप्युच्चावचमुच्चं च वेयत्वाद्यवचं च तिर्यक्त्वादुच्चमिवावचमिव  
च निगच्छति ।

मृष्यं महाराजत्वादयोऽस्य लोका 'इवशब्दप्रयोगाद्व्यभिचार'दर्शनाच्च । 'तस्माच्च

ज्ञाऽऽत्मन सत्सारित्वमित्युत्तरमाह—न मृषात्वादिति । 'तदुपपादयन्नादौ न यत्रेत्यादौग्यकाराणि  
योजयति—स प्रकृत इत्यादिना ।

"अथाय" स्वप्नस्थभावो निदिश्यते न तस्य मिथ्यात्व कथ्यते तत्राऽऽह—मृष्येवेति । स्वप्ने दृष्टानां  
महाराजत्वादीनां जाग्रत्यनुवृत्तिराहित्यं व्यभिचारदर्शनम् । स्वप्नस्य मिथ्यात्वे तद्व्यमर्शमाह—

तव उस समय वह महाराज के समान हो जाता है । आत्मा का वह लोक (कर्मफल) महाराजत्व के  
समान हो जाता है, जागरित अवस्था के समान महाराजत्व ही नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता के  
समान होता है अथवा 'उच्चावचम्' अर्थात् दबत्वादि ऊँची एवं तिर्यक्त्वादि नीची गतियों को प्राप्त  
होता है ।

इस आत्मा के ये महाराजत्वादिलोक मिथ्या ही हैं क्योंकि दृष्टधर्म के साथ "इव" शब्द का

१ स्वप्नयोगकाले । २ स्वप्नवति काष्णशाखापाठ । स्वप्न्यवेति माघ्यदिनशाखापाठ स्वप्ने भवा स्वप्न्या-  
तयेत्याद्येनाऽह—स्वप्नवत्येति । ३ आत्मन । ४ कर्मफलम् । ५ ब्रह्मवेत्ता । ६ इवेति—  
कर्मफलभूतमहाराजत्वादीनां मिथ्यात्ववैकल्याय स्पष्ट दृष्टधर्ममिव शब्देनोच्यते इति यावत् । ७ स्वप्नो  
मिथ्या व्यभिचारित्वाद्ब्रह्मसुषुप्तत्वं । ८ स्वप्नस्य मृषात्वात् । ९ स्वप्नमिथ्यात्वम् । १० अथ ननु ।  
११ अथ—वाक्ये ।

वन्धुवियोगाद्विज्जितशोकमोहादिभिः— स्वप्ने, प्रसवव्यता एव ननु जाग्रत्या जागरिते जाग्रत्कालाव्यभिचारिणो लोका एव स्वप्नेऽपि तेऽस्य महाराजत्ववाद्यो लोकाः स्वप्नकालमाविनः स्वप्नकालाव्यभिचारिण आत्मभूता एषु न त्वविद्याध्यारोपिता इति । 'ननु च जाग्रत्कार्यकरणात्मत्व देवतात्मत्वं चाविद्याध्यारोपितं न परमायत इति व्यतिरिक्त-विज्ञानमयात्मप्रदर्शनेन प्रदर्शितम् । तत्कथं दृष्टान्तत्वेन स्वप्नलोकस्य, मृत, इवोष्णीविष्य-प्रादुर्भविप्रति । सत्यं विज्ञानमये । व्यतिरिक्ते कार्यकरणदेवतात्मदर्शनमविद्याध्यारोपितं शुक्तिकायामिव रजतववर्शनमित्येतसिध्यतीति व्यतिरिक्तात्मास्तिस्वप्रदर्शनन्यायेनैव न

तस्मादिति । विमता लोका मे निष्ठा तत्कालाव्यभिचारित्वादिप्रसङ्गादिति शङ्कते । ननु नयेति । साध्यवैकल्यः—यस्तु सिद्धमिति पारिषेयवाक्योक्त स्मारयति—ननु चेति । जाग्रद्विषय मित्यादि फलितमाह—तत्कथमिति । प्रादुर्भवि जाग्रद्विषय, कतुर्व-आकर्षणकमेष्टम् । तत्र-सुषुप्तादी-दृष्टान्त साधयति—सत्यमित्यादिना । अन्वयव्यतिरेकादयो न्याय । देहदृष्ट्याऽऽत्मनश्च विवेकमात्र प्रागुक्त न तु प्राधान्येनाऽऽत्मनः शुद्धिर्देवतेति विभागमङ्गीकृत्य वस्तुतोऽस्तमपि दृष्टान्तं सन्तु कृत्वा तेन स्वप्नसत्यत्वमाशङ्क्य तत्तिरासेनाऽऽत्यन्तिको बुद्धिरात्मनः स्वप्रकाशमेतौच्यते । तयो च जाग्रतोऽपि तथा

प्रयोग किया गया है और रजसर्प की तरह स्वप्न का मिथ्याव्यभिचार भी देखा गया है । इसलिये (स्वप्न के मृदा होने से) स्वप्नावस्था में वन्धुवियोगादिजनित शोक-मोहादि से सम्बन्ध होना ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है । (इस पर पूर्वपक्ष शङ्का करता है—) किन्तु जिस प्रकार जागरित अवस्था के कमफल जाग्रत अवस्था में व्यभिचारित होने वाले हैं, उसी प्रकार वे स्वप्नावस्था में होने वाले आत्मा के महाराजत्व आदि कमफल स्वप्नावस्था में प्रत्यभिचारी और धातमस्वरूप ही होने हैं, 'अविद्या' से प्रभुत्व नहीं होते । (प्रत्युत्तर-म-सिद्धान्ती आक्षेप करता है—) लज्जित जाग्रदवस्था का भी देह-इन्द्रिय, प्राणमत्व और देवतामत्व भी अविद्या से प्रभुत्व है, 'वस्तुतः नहीं है । यह मत (पहले ही) विज्ञानमय आत्मा को प्राणादि से भिन्न सिद्ध करके प्रदर्शित कर दिया गया है । तो—वह पुनः जीवित होने वाले मृत के समान स्वप्नगत कमफल के दृष्टान्तरूप से किस प्रकार उपस्थित हो सकता है, (उक्त अनुमान में पूर्ववादी आक्षेप करता है—) ठीक है, आत्मा प्राणादिव्यतिरिक्त है इसे प्रदर्शित करते म-प्रयुक्त 'अन्वयव्यतिरेक' न्याय से ही विज्ञानमय के व्यतिरिक्त सिद्ध होने । पर शरीर-इन्द्रिय-देवतात्म

- १ ननु चेति—निपातसमुदायो विरोधात् । यदि स्वप्नस्य मिथ्यात्व मन्थसे तर्ह्यनुमानविरोध इत्यादित्य । ननु च स्वाद्विरोधोक्तमित्यमरः । निपातद्वयस्य समाहारद्वे तद्विरोधमेवाह—यथेति । २ ननु चेति—अत्र ननुशब्द प्रयुक्तत्वात्तौ वा बोध्य । 'नन्वाभये परिश्रमे प्रत्युक्तानवधारण । नान्यारम्भेऽप्यनुयाय्यमन्त्रणादनुयोरपि' नि हेम । ३ भवित्यतीति—आप्रलोक इति वचनं प्रकरणाल्लभ्यत इति टीकाद्वय । ४ स्वप्ने कर्मफलानि । ५ अनुमानप्रसंगादागतम् । ६ अनुमान । ७ तत्पदद्वयेन । ८ इति विभागमिति—उत्तत्रिवेकात्मविशुद्धयोर्दमित्यर्थः । ९ पारिषेयवाक्योक्तविके सिद्धे सति शब्तोऽहं दृष्टितोऽहमित्याद्यात्मनस्योत्पादिविधित्येति जाग्रमिथ्यात्वस्याधिकत्वाच्च स्वप्नलोकादमिथ्यात्वे जाग्रद्विषय दृष्टान्तत्वमित्यभिप्रेत्याह—वस्तुतः इति । १० स्वप्नसत्यत्वचोपे निरस्ते सति च ।



चोपसंहृतकरणस्य रूपादिमतो दर्शनमुपपद्यते । न च देहे देहान्तरस्य तत्तुल्यस्य 'संभवोऽस्ति'  
'देहस्यस्यैव हि स्वप्नदर्शनम्' ।

—'ननु पर्यङ्के शयानः पथि प्रवृत्तमात्मानं पश्यति 'न बहिः स्वप्नान्पश्यतीत्येतदाह  
—'स महारोजो जानपदाञ्जनपदे मवान्राजोपकरणभूतान्भूत्यान्ग्याश्च गृहीत्वोपादाय  
स्व स्नात्मीय एव जयादिनोपाजिते जनपदे यथाकामं यो यः कामोऽस्य यथाकाममिच्छातो  
यथा परिवर्ततेत्यर्थः । एवमेवैष विज्ञानमय एतदिति क्रियाविशेषणं प्राणान्गृहीत्वा जाग-  
रितस्यानेन्य उपसंहृत्य स्वे शरीरे स्व एष देहे न बहिर्यथाकामं परिवर्तते । कामकर्म-  
न्यामुद्भासिताः पूर्वानुभूतवस्तुसदृशोर्वासना अनुभवतीत्यर्थः । "तस्मात्स्वप्ने नृपाऽध्यारो-

वेशसिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—देहस्यस्येति ।

"एतदेव साधयितुं शङ्कयति—नन्विति । तत्र स यद्येत्यादिवाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य व्याचष्टे—  
न बहिरित्यादिना । यथाकामं तत्तं काममनतिक्रम्येत्यर्थः । एतदिति क्रियाया प्रह्लास्य विशेषण"मेत-  
दुपहृतं यथा भवति तथेत्यर्थः । परिवर्तनमेव विबुधोति—कामेति । योग्यदेशभावे सिद्धे सिद्धमर्थं  
बोधयति—तस्मादिति । स्वप्नस्य मिथ्यात्वे तद्ब्रह्मन्तेन जडत्वादिहेतुना "जागरितस्यापि तयास्वं शक्यं

मान्-घटादिपदार्थ का दर्शन नहीं हो सकता । देह के अन्दर उसके समान किसी अन्य देह का होना  
भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वप्न दर्शन देहस्य जीव को ही होता है ।

किन्तु पल्लव में सोने वाला देह ही तो अपने को मार्ग में ही चसता हुआ देखता है, ऐसी बात  
भी नहीं है, वह शरीर के बाहर तो स्वप्न नहीं देखता । इसी बात को श्रुति प्रतिपादित करती है ।  
इष्टान्तस्वरूप बहु सार्वभौम महाराज जनपद में होने वाले जानपद राजा के अमात्य-भृत्य भोगोपकरण  
को "गृहीत्वा" अर्थात् लेकर "स्वे जनपदे" अर्थात् विजयादि द्वारा प्राप्त किये हुए अपने देश में "यथाकाम  
परिवर्तते" यानी जो जो इसे इच्छा होती है, उसे पूरा करता हुआ यथेच्छा स विचरता है, यह इसका  
अर्थ है । इसी प्रकार "एष" यह विज्ञानमय 'प्राणान्गृहीत्वा' अर्थात् प्राणों को जागरित विषयो से  
हटाकर "स्वे शरीरे" अर्थात् अपनी देह में इच्छानुसार विचरता है, बाहर नहीं । काम और

१ घटादे । २ संभवोऽस्तीति—बधुरादीना बाह्यार्थदर्शनकरणानी देहमध्यस्थावैषण न च प्रामाणिकम् । नापि  
तद्विषयमहापरिमाणद्विमवदादीनामत्यल्पपरिमाणे हृदि संभवाऽस्तीति शेषः । ३ देहस्यस्यैविति । यातिके यथा—  
"नापि देहाद्भिन्निक्रम्य पर्वतादीन्समीक्षते । देहं विना नयमवाप्यति साधनवर्जितः ॥ अन्तराणां देहादीस्तत्कार्यं  
चेत्करोत्ययम् । व्यर्थं देहानुपादानमस्य प्राप्नोत्यसययम् ॥ २६६-३०० ॥ इति । ४ नन्विति । यातिके  
यथा—"ननु पर्यङ्के शरीरानि गच्छन्निविविचया ययम् । वेगमतो बहिरात्मानं पश्यतीति न लघतः ॥ ३०१ ॥ इति ।  
देहान्तस्वप्नोक्तिरनुभवविरहेत्यर्थः ॥ ५ स्वप्नो मिथ्याऽन्तरपलम्भमानत्वात्पूर्वपादन्तरपलम्भमाननगरादिव-  
दित्यत्र विवक्षित प्रयोगः । ६ इष्टान्तः । ७ सार्वभौम स्वदेहास्य एवेति शेषः । ८ भोगोपकरणी-  
भूतान् । ९ उद्बोधिता । १० योग्यदेशवालाचभावात् । ११ देहान्तरेव स्वप्नदर्शनम् । १२  
मरणादिकालीनप्रहणव्यावृत्त्यर्थम् । १३ जागरित मिथ्या जडत्वादिन स्वप्नवत् ।

## अथ यदा सुषुप्तो भवति ॥ यदा न कस्यचन वेद हिता

इसके बाद जिस समय वह सो जाता है यानी जब वह किसी विषय में कुछ भी नहीं जानता

पिता एवाऽऽत्मभूतत्वेन 'लोका अविद्यमाना एव सन्तस्तथा जागरितेऽपीति प्रत्येतव्यम् ।  
'तस्माद्विशुद्धोऽक्रियाकारकफलात्मको विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम् । यस्माद्दृश्यते प्रष्टुर्विषय-  
भूताः क्रियाकारकफलात्मकाः कार्यकरणलक्षणा लोकास्तथा स्वप्नेऽपि । 'तस्मादन्योऽसौ  
दृश्येभ्यः स्वप्नजागरितलोकेभ्यो द्रष्टा विज्ञानमयो विशुद्धः ॥१८॥

'दर्शनवृत्तौ स्वप्ने वासनाराशेऽदृश्यत्वाद्'तद्धर्मतेति विशुद्धताऽवगताऽऽत्मनस्तत्र  
यथाकामं परिवर्तत इति कामवशात्परिवर्तनमुक्तम् । द्रष्टुर्दृश्यसंबन्धश्चास्य स्वाभाविक  
'इतश्चुद्धता शङ्क्यते'तस्तत् विशुद्धचर्यं वाह—

निश्चेतुमित्याह—त्येति । द्वयोर्मध्यात्वे प्रतीको विशुद्धिः सिद्धेत्युरसहरति—तस्मादिति । अक्रियाका-  
रकफलात्मक इति विशेषणं समर्थयते—यस्मादिति । जागरितं दृष्टान्तोद्भूतं वाष्पान्तिकमाह—त्येति ।  
द्रष्टुर्दृश्यभावे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । अन्यत्वकनं कथयति—विशुद्ध इति ।

वृत्तानुवाचपूर्वकमुत्तरभूतिनिरस्यामाशङ्कामाह—दर्शनवृत्तादित्यादिना । तत्रेति स्वप्नोक्तिः ।  
कामादिसंबन्धकारार्थः । निवर्त्यशङ्कातद्वावाप्तिवर्तकानन्तरभूतिप्रवृत्तिं प्रतिजानीते—मत इति ।

कर्मों से उद्बोधित पूर्वानुभूत वस्तुओं के सृजन वासनाओं का अनुभव करता है । मन्त्र में "एतत्"  
शब्द क्रियाविशेषण है । अतः योग्य देशकालादिके होने से आत्मधर्मरूप से अविद्यमान ही होने के  
कारण स्वप्नावस्था में जो कर्मफल है, वे मिथ्या ही अर्थात् वह है—इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी वे  
मिथ्या ही अर्थात् वह है, ऐसा जानना चाहिये । इसलिए (दोनों के मिथ्या सिद्ध होने के कारण) यह  
सिद्ध होता है कि क्रिया कारक और फलरूपता से भिन्न विज्ञानमय विशुद्ध हो है । क्योंकि क्रिया,  
कारक एवं स्वरूप कार्यकरणरूपतात्मक कर्मफल द्रष्टा के विषयभूत ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार वे स्वप्न  
में भी होते हैं । इसलिए (विषय और विषयी के द्रष्टा और दृश्य होने से) इन स्वप्न और जागरित के  
दृश्यभूत कर्मफलों से विज्ञानमय द्रष्टा भिन्न और विशुद्ध है ॥ १८ ॥

वासनाप्रयुक्त ज्ञानाधिकरण में स्वप्नावस्था वासनाराशि दृश्यरूप होने के कारण अनात्म-  
धर्मता है, इससे आत्मा की विशुद्धता ज्ञात होती है । उस स्वप्नावस्था में वह इच्छानुसार विचरना  
है, इस प्रकार उसका यथेच्छ विचरण बतलाया गया । किन्तु इस द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध

१. आत्मधर्मत्वेन । २. कर्मफलता । ३. द्वयोरपि मिश्रत्वात् । ४. विषयविषायाणां द्रष्टुर्दृश्यभावात् ।

५. वासनानुयुक्तज्ञानाधिकरणे । ६. अनात्मधर्मता । ७. दृश्यादिसंबन्धस्य द्रष्टुः स्वाभाविकत्वात् । ८.

निवर्त्यशङ्कातद्वावाप्तिवर्तकानन्तरभूतिप्रवृत्तिं प्रतिजानीते । ९. आत्मविशुद्धचर्यं शङ्कितं विशुद्धिनिवृत्त्यर्थमिति वाच्यं ।

अथवा न कस्यचन केचित्भूतिभाष्याभिप्रेतार्थविचरणरूपानि चानिर्वाण प्रदर्शयन्त— 'न वेदेत्यात्मन अथा  
कर्तृत्वं प्रतिपद्यते । पश्यन्त्यां यत् प्राज्ञो कौटस्थश्च प्रपश्यति ॥ अथ यो वेदेति तथा ज्ञातृमाश्रितत्वात् । प्रती-

नाम नाड्यो द्वाप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीतत-

है, उस समय उस हिता नाम की नाडी द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह देह में व्याप्त होकर सोता है ।

'अथ यदा सुषुप्तो भवति तदा स्वप्न्यया चरति तदाऽप्ययं विशुद्ध एव । अथ

स्वप्नेऽपि शुद्धिरुक्ता किं गुणुतिपदेहेत्येत्याशङ्क्याऽह—यदेति । गतो भवति तदा सुतरामस्य शुद्धि-

स्वाभाविक है, इसलिये उसकी अशुद्धता पर शङ्का की जाती है । अतः श्रुति उसकी विगुद्धि के लिए कहती है ।

"अथ यदा सुषुप्तो भवति" अर्थात् जिस समय (अवस्थाद्वयदृष्टा) स्वप्नावस्था में वर्तता है, उस समय भी यह विशुद्ध ही होता है । इसके अनन्तर दर्शनवृत्ति-स्वप्न में "यदा" अर्थात् जिस समय

१ आशस्त्वन्त आत्मनो व्यतिरेकशुद्धयो कथनान्तरम् । २ अवस्थाद्वयदृष्टा ।

बोझारकत्व न सर्वत्र प्रतिपाद्यते ॥ क्वचित्प्रभासुवित्सादी क्वचित्प्रत्ययवित्पर । क्वचिद्वाह्यायविच्चा-  
ऽऽत्मा तत्त्वतुल्य निगम्यते ॥ परप्रयुक्त वेतुल्य मदस्य प्रत्ययपरमन । सन घञत्वात्तस्यात कस्येत्यत्राभिधीयते ॥  
कर्मात्यत्वात्प्रमादोस्तत्तये क्षयवन्तत । पट्टीय कमणि न्याय्या ह्यावाक्यविवक्षया ॥ अप्यर्थे चनतदोऽयम-  
भावस्यापि वारक । दोषोपपत्तिरोभावे सुषुप्तिरिह भव्यते" ॥ (३१३-३१८) इति । यदेत्यादी न ददेत्यस्यार्थ-  
माह—नेति । तथा ज्ञानकर्तृत्वमात्मनो न निषेद्ध युक्त तस्य साक्षित्वेन तत्कर्तृत्वादित्याशङ्क्याऽह—पर्याप्ति ।  
अतो निषेधश्रुतिरिच्छेति दोषः । ज्ञानकर्तृसाध्यात्मा न तत्त्वतस्तस्य श्रुत्यन्तरमाह—अयति । स्वमथपरिग्रहचन-  
प्रारम्भाधोऽयमवद । इह जिघ्राणीति स्थित आतार यो वेद स आत्मेरयादिश्रुतावममुक्तानुमारेणाऽऽत्मनो ज्ञातु-  
साक्षि बोक्तेन कर्तृत्वैव ॥ किंच कर्माप्यस्य सवभूताधिवास साक्षीत्याद्युपनिषत्तु कृत्स्नपदेनाद्वयविचित्रात्त्व-  
प्रतीको मुमुक्षु प्रत्युच्यते तस्य तस्य कर्तृत्वमाह—प्रतीच इति ॥ आनुमासीनिविशेयणइत सकोचमाहङ्क्याऽह—  
क्वचिदिति । कदाचित्कर्वाचक्रुन्चित्प्राधायाऽपि सवसाक्षित्वमक्षत चर य न वेदेतिनिषधीतिस्तत्राऽह—तदिनि ।  
कस्यपि पट्टीमवतारयति—परति । विषयसवधाप्रतीचा यद्वनृत्वं तस्यास्माद्विषयसङ्गम्यज्जवाद्धतोरत्र सन धे-  
कस्येति पट्टीरप्य ॥ ता विधेय योजयति—कर्मति । एषा पट्टी हि कमप्यव न्याय्या मात्रादे कर्मकायत्वा-  
कमण मुनो ह्य तज्जस्यापि तत्र क्षयात्सर्वद्वितीयाभावाभिप्रायेण न विचिदपि मात्राद्यनुभवतीत्यस्यार्थस्य  
विशक्षितत्वादित्यथ ॥ चनेत्यस्य पदद्वयत्वं व्यावर्तयति—अप्यथ इति । अपिवाग्दस्य विशक्षितमाह—अभाव-  
स्येति । स्वापे अगद्वारवत्तदब्रह्मोऽपि निगम्यत इत्यथ । भावनिषयस्यभावा न निगम्यस्ताद्व्यायेऽपि स्वापावि-  
रोधादित्याशङ्क्याऽह—दोषति । दोषोऽभावागुणत्वाच्छेदीभाव प्रधानत्वात्तथास्तरोभावा विरोपज्ञानाभावा-  
जोऽभावस्यापि स्वापे निषय भाव्यामित्यर्थः । इह पुरुष । अशुद्धता शङ्क्यत इति । तथा च धातिवद्—ननु  
कामवशादस्य स्वयमेव परिवर्तनम् । द्रष्टृदृश्यदिभावश्च कथं शुद्धस्तथा सति ॥ यैव स्वतोऽवबुद्धत्वात्तुतोऽज्ञानेन  
सगति । अज्ञानसगति मुक्त्या न स्यात्तज्ज्ञेन सगति ॥ एव यस्मात्स्वत शुद्धो द्वितीयासगतेरप्यम् । आत्मा  
तस्मात्स्वतो मुक्त कृत्स्नप्रतिमात्रतः ॥ न यथा श्रोत्रविज्ञान रूपेणैति शमायमम् । सवारेण तथैवाऽऽत्मा  
बौद्धस्यानैति सगतिम् ॥ इत्ययस्यावबोधार्थं परो श्रयोऽवतायत । विगुद्धि व्यतिरेक च स्वप्नमापदवस्थयो ।  
उक्त्याऽऽत्मनोऽद्वयं च सुषुप्तज्याघनोच्यते ॥ (३०७-३१२) इति । स्वप्नादिभिर्ग्राह्यत्वेन तद्द्रष्टृ शुद्धता-  
मुक्त्याऽयं यदेत्याद्यवतारिगुणुक्त शुद्धत्वमाक्षिपति—नन्विति । अस्तेति स्वप्नहर्णो निर्देह । चकारेणोक्त-  
पदानुवृत्ति मूच्यत । आदिना श्रोतव्यादिभावो गृह्यते । कामादिसम्बन्धे द्रष्टृत्वं शुद्धतति फलितमाह—  
कथमिति ॥ आत्मनो न कामादियाभोजनोत्थाह—यैवमिति । तत्र हेतुमाह—स्वत इति । बोधैकरसस्याज्ञाना-



मभिप्रतिष्ठन्ते \*ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते

जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर स्थित हैं । जैसे कोई बालक या

पुनर्यंदा हित्वा दर्शनवृत्तिं स्वप्नं यदा यस्मिन्काले सुषुप्तः 'सुष्ठु सुप्तः संप्रसारं' 'स्वामाव्यं' भवति सतिलमिवान्यसंबन्धकालुष्यं हित्वा स्वामाव्येन प्रसीदति । कदा सुषुप्तो भवति ।

सिध्यतीति शेषः । तमेव सुषुप्तिकालं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कदेति । विकल्पं ग्यावतंयति—पूर्व

"सुपुत्र." अच्छी तरह सोया हुआ अर्थात् सम्प्रसाद या स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हुआ होता है यानी जल के समान ग्रन्थ वस्तु के सम्बन्ध से प्राप्त मलिनता को त्यागकर स्वस्वरूपब्रह्म का अवस्था से प्रसन्न

१ विशेषज्ञानविक्षेपामावेन संप्रसन्न । २ स्वस्वरूपत्रह्यं वयम् ।

तद्वन्धेऽपि कामादिसम्बन्धः स्यादिति चेन्नेतवाह—अत्रातेति ॥ इष्टुः जानतज्जसम्बन्धे कथितमाह—एवमिति ॥  
उक्तरीत्या द्वयोयोगादामां भवतः स्वतो मुक्तं कृत्स्नचिन्मात्रो भवतीत्यर्थः ॥ प्रवर्मायं त्वि ॥  
आत्मनः कामादिसम्बन्धाभाव इहातन्त स्पष्टयति—नेत्यादिना ॥ तत्र मानस्वेनप्येवाविवाक्यमादत्ते—  
इत्यर्थस्येति ॥ उक्तमनुष्टायेत्यादि व्याकृते—विशुद्धिमिति ॥ अवस्थाद्वये विबुधपादिक्रयनानन्तर स्वप्ने  
अनीचोद्भयब्रह्माख विवक्षितमित्यर्थः ॥

प्रतीचोद्भयब्रह्मस्य विवक्षितमित्यर्थः ॥  
 कृताभि प्रत्यवसृज्य पुरीतसि येत इति । अत्र कातिकानि—“स्वात्मा-भोगानवेष्टेयं भूत्वा स्वप्रक्रियास्ये ।  
 तानिरेवोपसहृज्य प्राप्नो यानि मुपुत्ताम् ॥ जाग्रत्स्वप्नविक्रियोद्भूतान्भूत्वा भोगानवेष्टेत । इन्द्रियाण्युप-  
 सहृज्य सैत तादीभिरारमन्ति ॥ सायामग्रप्रया देह तव्याप्यान्तरेहि श्रमात् । इत्यन्त्यरमं स्थानमारवाञ्छन्ति  
 मुपुत्ताम् ॥” ३३०-३३२ इति । तानिरित्यादेर्यमाह—स्वात्मानिति । बसन्तारमयानि वरजानीति शेषः ॥

मुपुताताम्" ॥३३०-३३३॥ इति ॥ तामास्यादित्यनाह—एतावन्महामुनिः—  
स्वप्नभोगातःकर्मजयेऽपि कर्म करणसहाराद्य स्वापो जानयस्यापि सप्रवादित्यामुपहाह—जाग्रदिति ॥  
मनु स्वप्नजागृति कर्मणा गच्छति न स्वाप नहि तत्कृता ब्रह्माप्तिस्तत्स्वप्न मुप्तिस्तथाऽह—तामान्वदति ॥ यथा  
यदेनो भ्रान्त आन्तः स्वप्नीकमासाय निर्वृणति तथाऽप्या स्थानद्वयवतिकृतभान्तिष्वस्त्यै विदोपबृद्धिं हित्वा  
साधारण्या बिम्बाप्रप्रज्ञया स्वदेह स्थापयिष्येदन्तर्बहिः सत्याप्य प्रत्यक्त्वेन ब्रह्मा शब्दा सद्रूपेणासङ्गादासीनगमेती-  
त्यर्थः ॥ "स यथा कुमारे वा महाराजो वा महाराष्ट्रगो वाऽतिष्णीमानन्दस्य शब्दा शयीतेति" ॥ अत्रापि  
वार्तिकानि प्रदर्शयन्ते—"स्तनस्यो यथा शाली पाण्ड्रेऽपिबन्धति ॥ तत्त्वमावाहिकुर्वन्ति चेतो न विषया सदा ॥  
वार्तिकानि प्रदर्शयन्ते—"स्तनस्यो यथा शाली पाण्ड्रेऽपिबन्धति ॥ तत्त्वमावाहिकुर्वन्ति चेतो न विषया सदा ॥  
वार्तिकानि प्रदर्शयन्ते—"स्तनस्यो यथा शाली पाण्ड्रेऽपिबन्धति ॥ तत्त्वमावाहिकुर्वन्ति चेतो न विषया सदा ॥

अप्रहृष्टेन्द्रियवाञ्छां रामद्वेषाद्यस्त्युति । मृदुकण्ठकवचटोनाव बद्धं स्वगोचरात् ॥ तत्तन्मात्रं ह्यहोरात्रं ।  
विधेयप्रकृतिरवतः । राजा वाग्दतिमुखी लोके प्रहृष्टेन्द्रियवानपि ॥ विज्ञाताऽश्वेततत्त्वो वा ब्रह्मण कृतकृत्यतः ।  
आनन्दस्य परां काष्ठागमतिनीमित्तं निर्वृत ॥ बालादिनयमभ्यस्तवेको हृष्टान्त इष्यते । बालमौडिकमशङ्क-  
स्वनिवृत्त्यर्थं तथोच्यते ॥ बालस्य निर्विकेकात्वात्सर्विकेक क्षितीश्वरः । तन्मदभ्यन्निपेक्षार्थं महाब्राह्मण-  
उच्यते” ॥३४४-३४६॥ इति । कुमारहृष्टान्त व्याकुलबन्ध्यादेव तस्य रामाद्यभावमाह—स्तनपय इति । स्तन-  
पयति पिबतीत्यन्तजिब्युरिति यावत् । दाष्टान्तिवत्स्थेवशब्देन यथाशब्दस्य सम्बन्धः । रामाद्यमावकमाह—  
तदभावादिति ॥ बालस्य वास्यमिव रामाद्यभावे हेतुस्तरमाह—अप्रहृष्टेति । तथापि बालस्य बुद्धेर्विषय-  
प्रवणत्वात्कुतो रामादिरहित्यमवत आह—मृद्धिति ॥ महाराजहृष्टान्त व्याचष्टे—सर्वत्रेति । तत्र हेतुमाह—  
विधेमेति । पुनश्चमाहृष्टाद्यमाह—प्रहृष्टेति ॥ महाब्राह्मणहृष्टान्त विभजते—विज्ञातेति । ब्रह्मणो

स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽति-

ज्जीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवंप एतच्छेते ॥१६॥

महाराज्। अथवा महाब्राह्मण आनन्द की दुःखविनाशक अवस्था को प्राप्त हो, सो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह सा जाता है ॥ १६ ॥

यदा यस्मिन्वाले न कस्यचन 'न किंचनेत्यर्थो' वेद विजानाति । कस्यचन वा 'शब्दादेः संबन्धि वस्त्वन्तरं' किंचन न वेदेत्यध्याहार्यम् । पूर्वं तु न्याय्य 'सुप्ते तु विशेषविज्ञानानामवस्था विवक्षितत्वात् ।

एवं तावद्विशेषविज्ञानाभावे सुषुप्तो भवतीत्युक्तम् । केन पुनः क्रमेण सुषुप्तो भवतीत्युच्यते—हिता नाम 'हिता इत्येवनाम्न्यो नाड्यः' शिरा देहस्यान्नरसविपरिणामभूतास्ताश्च दासप्रतिः सहस्राणि द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि ता दासप्रतिः सहस्राणि

त्विति ।

वृत्तमनूद्य प्रश्नपूर्वक 'सुषुप्तिगतिप्रकार' दर्शयति—एव तावदिति । हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वाद्ब्राह्म्यो हिता उच्यन्ते । तासां देहस्यद्वानामन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्नरसधिकरात्यमाह—धनेति । तासामेव 'मध्यमसख्यां' कथयति—तावदिति । तासां च हृदयसंश्लेषेणोना ततो निर्गत्य' देहस्याप्या

होता है। सुषुप्तक होता है ? "यदा" जिस समय "न कस्यचन" अर्थात् कुछ भी नहीं, "वेद" यानी जानता । अथवा किसी शब्दादि के सम्बन्ध वाली किसी अन्य वस्तु को नहीं जानता, ऐसा अध्याहार करना चाहिये क्योंकि सोये हुए पुष्प में विज्ञान का अभाव विवक्षित है, इसलिए पहला अर्थ ही उचित है ।

इस तरह विशेषविज्ञान के अभाव में पुरुष सुषुप्तावस्था में होता है । पुनः किस क्रम से वह सुषुप्तावस्था में होता है ? इस पर श्रुति कहती है । "हिता" यानी (हितफलप्राप्तिनिमित्तक) हिता नाम

१. कर्माणां पक्षीत्यासनं व्याचष्टे—न किंचनेति । सब पक्षीपक्षमाश्रित्याऽह—कस्यचन वेति । २ प्रमात्रादिभ्यः । ३ गुणस्याविरक्षणमावाशादिद्वयम् । ४ स्वस्मात् । ५ न कस्यचनेत्यस्य न किंचनेति पूर्वोक्तार्थो न्याय्य इत्यत्र हेतुमाह—सुप्ते त्विति । ६ हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वात् । ७ कदम्बकुसुमोदभूत-विशरसमा । ८ सुषुप्तिं प्रति समन्यकारम् । ९ अनेन ७२७२१०२०१ इत्युत्तमा १०१ इत्यधमापि सख्या न हेतुसूचि ।

विशिष्ट सन्धान यस्य बाष्ठा पगमस्य कृत्रं यो निर्मुत शयीति सबन्ध ॥ दृष्टान्तश्रुतेरक्षरार्थमुक्त्वा विवक्षितमाह—वाग्येति । यदेतद्वालादियस्य दृष्टान्तत्वेनान्न सन्न तथा किंत्वयो महाब्राह्मणो दृष्टान्त इत्यर्थः । अविस्तद्धागनमिता नञ्मनुकपति । दृष्टान्तपु त्रिषु शीनपु किमिति द्वयपुण्येभ्यस्तत्राऽह—बालेति । बालस्य मोक्ष राज्ञो मदध्यमिनिदोषद्वयपनुत्त्ययमत्यदृष्टान्तग्रहणमित्यर्थः ॥ द्वतीयमुपपादयितुं बाल त्यक्त्वा राज्ञो अद्दे हेतुमाह—बालस्यति । दृष्टान्तत्वेनोच्यत इति सबन्ध । पुनश्च दोषे राज्ञो ग्रहस्तत्रापि दोष सन्निधानमहाब्राह्मणग्रहान् म एव दृष्टान्त इत्याह—उदिति ॥

हृदयाद्दृश्यं नाम 'मासपिण्डस्तस्मान्मासपिण्डात्पुण्डरीकाकारात्पुरीतत 'हृदमपेरिवेष्टनमा-  
चक्षते तदुपलक्षितं शरीरमिह पुरीतच्छब्देनाभिप्रेतं पुरीतत 'मभिप्रतिष्ठन्त इति शरीरं कृत्स्नं  
व्याप्नुवत्योऽभ्युपगन्तव्यं इव बहिर्मुख्यं प्रवृत्ता 'इत्यर्थः ।

तत्र बुद्धेरन्तःकरणस्य हृदयं स्थानं तत्र बुद्धितन्त्राणि चेताराणि बाह्यानि करणानि ।  
'तेन बुद्धिः कर्मवशाच्छ्रोत्रादीनि तानिर्नाडीमिर्मत्स्यजालवत्कर्णशङ्कुत्यादिस्थानेभ्यः'  
'प्रसारयति प्रसार्यं 'चाधितिष्ठति 'जागरितवाले । ता विज्ञानमयोऽभिव्यक्तत्वात्मचैत-  
न्यावनासतया 'व्याप्नोति । "सकोचनकाले च "तस्या अनुसंकुचति । "सोऽस्य विज्ञानमयस्य

"बहिर्मुखत्वमाह—हृदयादिति ।

तानिर्नाद्यादि व्याकर्तुं सूचिका करोति—तत्रति । शरीरं सप्तम्यर्थं । शरीरे करणानां  
बुद्धितन्त्रत्वे किं स्यात्तबाह—तेनेति । "तथाऽपि जीवस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—ता विज्ञानमय इति ।

वाली नाडियां (कदम्ब कुसुम से उद्भूत पराग के समान) अघ्नरस की परिणामभूता देह की शिराएँ  
हैं। वे द्वाभिमति सहस्राणि अर्थात् बहुतर हजार हैं 'हृदयात्' यानी हृदय नाम का जो कमल के  
आकार के समान मासपिण्ड है उससे 'पुरीततमभिप्रतिष्ठते' यानी सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त होकर  
स्थित है। 'पुरीतत्' हृदयपरिवेष्टन का नाम है। यहाँ उससे उपलक्षित शरीर 'पुरीतत्' शब्द से  
अभिप्रेत है। सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करती हुई बहिर्मुख होकर प्रवृत्त है, जैसे पीपल के पत्तों की तसें  
बाहर की ओर व्याप्त है।

शरीर में बुद्धि या अन्न कारण का हृदय स्थान है उसमें स्थित बुद्धि के अधीन दूसरी बाह्य  
इन्द्रियाँ हैं। इसी से बुद्धि कर्मवशात् श्रोत्रादि इन्द्रियो को मछली पकड़ने के लिए जाल के समान उन  
नाडियो के द्वारा वणरन्धादि स्थानों से बाहर फैलाती है। तब उन्हें फलाकर जाग्रत् अवस्था के  
आरम्भ में उनकी ग्रन्थि होकर स्थित रहती है। इस (पूर्वोक्त) बुद्धि को विज्ञानमय आत्मा अनामृत

१ मासपिण्ड इति—आ नाभितत्तया कृष्णहृदयं ग्रन्थितं स्थितम् । सनाल पचकोष्ठान् पञ्चच्छिन्नमघानु  
खमिति वातिकम् ॥ ३२० ॥ २ अभिनि मरन्ति । ३ इत्यस्य इति । अभिप्रतिष्ठत इत्यस्य तात्पर्यमाह  
वातिके—स्वल्पकमसमुद्भूता वासना या हृदि स्थिता । नाडीभिस्ता वितयाऽऽत्मा स्वप्नापश्यति वामत  
॥ ३२६ ॥ इति । स्वप्नव्रम—स्वप्नभोगप्रद व्रम तनोदवाधिता इत्यर्थः । ४ तत्र तेषां तत्तन्त्रयेन । ५  
मत्स्यवचनाजालवत् । ६ वहि । ७ प्रसारयतीति—बुद्धिः स्वाधीनकरणानि जाग्रदनुव्रमणा नाडीद्वारा  
विषयभिमुखानि करोतीति यावत् । ८ अधितिष्ठतीति—वर्णाद्युत्पादितस्थानानि धीवृत्तिद्वाराणि भरणातीति  
नेप । ९ एतदारम्भे । १० यथोक्ता धियम् । ११ अनावृत्तेत्यर्थः । १२ व्याप्नातीति—यतो बुद्धिः  
मरणानां च बहिर्गमनं तत्र स्वतन्त्रवयवोऽक्रियोप्यात्मा स्वाज्ञानविशिष्टो व्यक्तचैतयामात्मव्यविनेपयुतधी  
सहितं श्रोत्रादिद्वारा सर्वानर्थान् व्याप्नोति रश्मिद्वारा मयव्यापकसत्विनृवदिव्यम् । १३ एवमात्मनो जाग्रदु-  
पेऽपि वयं सुषुप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सद्विवेकनाल इति । १४ धिय । १५ पीतरीचमनुसन्नेषनाम्न ।  
१६ सूर्याद्रश्मीनामिव । १७ तथापि—बुद्धिरिन्द्रियाणां च सावयवसक्रियत्वाम्नां बहिर्गमनोऽपि निरवयवस्य  
आत्मनो न तदुक्तमिति यावत् ।

‘स्वापः । जाग्रद्विकासानुभवो भोगः । बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि ते चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी । तस्मात्तस्या बुद्धेर्जाग्रद्विषयायास्तामिर्नाडोभिः प्रत्यवसर्पणमनु प्रत्यवसृष्य पुरीतति शरीरे शेते तिष्ठति तन्मिव लोहपिण्डमविशेषेण संव्याप्याग्निव’च्छरीरं संव्याप्य वर्तत इत्यर्थः । स्वाभाविक एव स्वात्मनि वर्तमानोऽपि कर्मानुगतबुद्ध्यनुवृत्ति-त्वात्पुरीतति शेते इत्युच्यते । न हि सुषुप्तिकाले शरीरसंबन्धोऽस्ति । ‘तीर्णो’ हि तदा ‘सर्वाञ्छोका’ नृदयस्येति हि ‘चक्षति ।

भोगशब्दो जागरविषयः । बुद्धिविकासमनुभवस्तस्मात् जागर्तोऽप्युच्यते तत्सकोचं धानुभवस्त्वपितीत्यत्र हेतुमाह—बुद्धीति । बुद्ध्यनुविधायित्वं ‘परामृश्य तामिरित्यादि व्याचष्टे—तस्मादिति । प्रत्यवसर्पणं ध्यावर्तनम् । पदायमुदत्त्वा बाधपार्यमाह—तप्तमिवेति । कर्मत्वे देहस्य कर्तृत्वे चाऽऽत्मनो हृष्टाग्तयम् । ‘हृदयाकाशे ब्रह्मणि शेते विज्ञानात्मस्युक्त्वा पुरीतति शयनमाक्षमाणस्य पूर्वपरविरोधः स्यादित्या-शङ्क्याऽऽह—स्वाभाविक इति । ‘श्रोत्रचारिकर्मव’ वचनमित्यत्र हेतुमाह—न हीति ।

स्वात्मचैतन्य प्रकाशरूप से व्याप्त कर लेता है । तथा सकुचित भवस्या मे उसी बुद्धि के साथ सकुचित हो जाता है । (धनुसकोच नामक) यह (धोसकोच) विज्ञानमय का सोना है, और जाग्रत्कालीन बुद्धि के विकास का अनुभव जाग्रत् विषय है । जिस प्रकार चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जलादि का धनुःकरण करने वाला होता है, उसी प्रकार वह विज्ञानमय बुद्धिरूप उपाधि के स्वभाव का धनुःकरण करता है । इसलिये उस जाग्रद्विषयिणी बुद्धि के वापिस लौटने के साथ-साथ वह उन नाडियों द्वारा लीन होकर ‘पुरीतति’ यानी शरीर में ‘शेते’ यानी रहता है । भावाशय यह है कि नष्ट लोहपिण्ड में अग्नि के समान वह शरीर में सामान्यरूप से व्याप्त होकर प्रतिष्ठित है । वह स्वस्वरूप ब्रह्मत्व में स्थित रहते हुए भी कर्मानुगत बुद्धि का धनुःकरण करने के कारण ‘शरीर में शयन करता है’ ऐसा कहा जाता है । ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि सुषुप्ति भवस्या मे उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता । आगे बृहदारण्यक श्रुति में भी कहा जायगा ‘उस समय विज्ञानमय हृदय के सारे शोको को पार कर

१ स्वाप इति । ‘ता एकेन्द्रियवृत्ति स्वावर्तित्यसंचिता यदा । सप्रयच्छति प्रतीच्यातया त्वपितीति तदोच्यते’ ॥ वा० १३७ ॥ इति । स्वश्रोत्रेन्द्रियवृत्तीनां जाग्रदभ्युपगमहेतुना चैतन्याभासव्याप्त्यानां प्रतीच्युपसहारे सुषुप्ति-रित्यर्थः ॥ २ जाग्रत्कालीनधीविकासानुभव प्रतीक्षो जाग्रतः । ३ बुद्धीति—‘बुद्ध्युपायानुरोधेन प्रतीक्ष प्रभवाम्ययौ । विशेषसयहीनस्तु स्वतः कृमजगत्पर’ ॥ ३३८ ॥ स्वाभाविकस्वात्मनस्तौ प्रभवाम्ययौ जाग्रत्सुप्तौ किं न स्यातां तत्राऽह—विलोपेति । ४ अनुकरणशीलः । ५ विज्ञानमयः । ६ उपसहृतीमुखः । ७ शरीरं संव्यापेति । देहेन्द्रियाणां स्वापे सहारात्सुत शरीरं व्याप्य शयनमित्याशङ्क्य समादुर्वातिवे—‘स्वहेतु-मात्रया स्यान्मिर्द्रवाणां न कार्यतः । यतोऽन्यत्रिभिर्नैव व्याप्ति स्यात्तारणात्मना’ ॥ ३४० ॥ स्वहेतुमात्रया कारणात्मना इति संबन्धः । देहेन्द्रियाणां न स्वापे स्वरूपेणावस्थितिं नित्यं कारणात्मनाऽस्तदात्मकदेहादेशिचदा-भासव्याप्तिसम्भवाद्देह व्याप्य स्वापे स्वात्मनि शयनं युक्तमित्यर्थः ॥ ८ तत्र मानमाह—तीर्णं इति । नन्वत्र शोकसम्बन्धो वार्यते न शरीरादिबन्धस्तत्राह—हीति । तत्र शब्देनात्र ‘पिताऽपिता भवतीति’ सर्वसम्बन्धवारण-श्रुतिवचनं सूचिन्धुः । ९ विज्ञानमयः । १० वृ० उ० ४।३।२२ । ११ भवति । १२ चतुर्धाध्यायः । १३ अनुसंधाय हेतुत्वेन । १४ वृ० उ० २।१।१७ । १५ गीणयः ।



प्रसिद्धत्वात् । न तेषां स्वाप् एवामिप्रेतः । स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन विवक्षितत्वा-  
द्विशेषाभावाच्च । विशेषे हि सति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदः स्यात् । तस्मान्न तेषां स्वापो  
दृष्टान्तः । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्त एष विज्ञानमय एतच्छ्रयनं शेत इत्येतच्छब्दः क्रिया-  
विशेषणार्थः । एवमयं स्वाभाविके स्व आत्मनि सर्वसंसारवर्णातीतो वर्तते स्वापकाले  
इति ॥ १६ ॥

वयं तदाऽभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनमुक्तम् । अनेन च प्रश्ननिर्णयेन विज्ञान-

न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न तेषामिति । तत्स्वापस्य दृष्टान्तत्वमस्मत्स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वमिति  
विभागमाशङ्क्याऽऽह—विशेषाभावादिति । वयं तदाऽभूदिति प्रश्नस्योत्तरमुपपादितमुपसंहरति—  
एवमिति ॥ १६ ॥

स यथेत्यादेः संगतिं यत्तु वृत्तं संकीर्तयति—वयं इति । किं पुनराद्यप्रश्ननिर्णयेन फलति

यहाँ केवल उनकी सुपुत्रावस्था का ग्रहण करना इष्ट है क्योंकि सुपुत्रावस्था तो दार्ष्टान्तिकरूप से विवक्षित  
की गई है और उनमें भेदाभाव भा है । भेद के रहने पर ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का भेद रह  
सकता है, इसलिए (प्रभेदापत्ति होने से) उनका सुपुत्रि दृष्टान्त सभव नहीं है । इसी प्रकार जैसे यह  
दृष्टान्त है, “यह विज्ञानमय ‘एतच्छेते’ यानी इसमें श्रयन करता है” । यहाँ ‘एतत्’ शब्द क्रिया-  
विशेषणार्थक है । इस प्रकार यह विज्ञानमय सुपुत्रावस्था में अपने स्वाभाविक ब्रह्मक्यस्वरूप से सब  
सासारिक धर्मों से अतीत होकर रहता है ॥ १६ ॥

१ प्रसिद्धत्वादिति । “इन्द्रियव्याप्प्रसङ्गात् स्वेष्टप्राप्तविवेकः । नीरागाणा बलराजब्राह्मणानां कामानुमम् ॥  
दुल रागद्वेषजम् तदभावं सुखं स्वतः । इति श्रुतिगोहीत्यर्थं ब्रह्मदृष्टान्तवचनम् ॥ वा० मा० ११५.११६ ॥  
इति श्रीमद्भगवत्पादावामाश्रयः । २ भेदाभावात् । ३ कुमारदिक्पास्य दृष्टान्तसंज्ञमत्स्वापस्य  
दार्ष्टान्तिकत्वे चाम्युपकते तयोर्विशेषाभावेनाभेदापत्ते भेदे सत्त्वेन लघोर्युक्तत्वात् । ४ ए विज्ञानमय —  
सर्वमनारधमहीत एतच्छ्रयनं यथा श्रुतत्वा चेति सुपुत्री ब्रह्मात्मना वर्तत इत्यर्थः । शङ्करादिभिर्गोष्ठ आत्मा-  
ज्ञातेन ब्रह्मणा सादारम्य स्वापे प्राप्नोतीत्येव भाषाद्ब्रह्मरूपेण स्थितिस्त्वय लयनमित्यर्थः । तदानीं कतिनामीप्या-  
देव न केवलं ब्रह्मं नि सान्निध्यतिलयस्यापि ज्ञानविरोधित्वदर्शनात्क्रान्तादिति ध्येयम् । ५ विज्ञानमय ।  
६ तयोर्विधा शुद्धिरवभाषि श्रुतिवाक्येण प्रविदेति प्रथमचकारेण नूयत । ७ भेदम् ।

भूमिक्षता । रागादिष्वेव दुःखसायादभूयस्त्व सुखस्थत्येव मानमाह—उत्तरेति । स एवो मानुष आनन्द इत्यारम्भ  
॥ एवो ब्रह्मण आनन्द इत्यन्तयुतो पूर्वपूर्वभूमे अतस्तमुणीरूपेणोत्तरोत्तरभूमी वृद्ध्या ब्रह्मभूतत्वात्स्वादात्मान-  
मुच्यत तत्र शान्तिमय चानामहेत्यस्य श्रुतं सहेन रागादिष्वामत्त्वात् दुःखस्थत्वा सुखब्राह्मणमित्तिरित्येव ॥  
आनन्दस्य परा निष्ठा ब्रह्मणीत्यत्र श्रुत्यन्तर स्यादयमिति—अव्यावृत्तेति । सर्वत्रैव गते प्रतीच्यमानात्तत्रैवाऽऽनन्दस्य  
निष्ठेति मत्वा यो वै भूमा तत्सुखमित्यादिवाक्यमित्यर्थः ॥ आनन्दस्य भूमि निष्ठेत्युक्तेरानन्दमत्त्वमामोदमाग-  
च्छुधाऽह—आनन्द इति । तस्याऽऽत्मना जियात्स्ववर्त्तनीतोत्पलवद्वा सम्प्रतिरित्यागच्छुधाऽह—भेदेति । आत्मान-  
न्दैरवस्थे पलितमाह—दु मेति । अनिष्ठीमानन्दस्य निष्ठामिति शेषः । अस्याद्वयवचनोपपन्नमद्वयवचनार्थ-  
करणस्य विनैव ज्ञानमेषा निष्ठाऽऽनन्देनो युक्त पुनर्लघ्वानमिति मत्वाऽह—अतः स्वतः इति ।

मयस्य स्वभावतो 'विशुद्धिरसंसारित्वं' चोक्तम् । कुत एतदागादित्यस्य प्रश्नस्यापा-  
करणार्थ आरम्भः । ननु यस्मिन्ग्रामे नगरे वा यो भवति सोऽन्यत्र गच्छतत एव  
ग्रामान्नगराद्वा गच्छति 'नान्यतः' । तथा सति क्वैष तवाऽभूदित्येतावानेवाम्तु प्रश्नो  
यत्राभूतत एवाऽऽगमन प्रसिद्ध स्यान्नान्यत इति कुत एतदागादिति प्रश्नो 'निरर्थक एव ।  
किं श्रुतिरुपालम्ब्यते भवता । न, किं तर्हि द्वितीयस्य प्रश्नस्यार्थान्तर' श्रोतुमिच्छाम्यत  
ग्रानर्थक्यं चोदयामि ।

'एवं तर्हि कुत इत्यपादानार्थता न गृह्यते ।-अपादानार्थस्ये हि पुनरुक्तता

त्वपदार्थशुद्धिरित्याह—अनेनेति । शुद्धिद्वारा ब्रह्मत्व अ तस्योक्तमित्याह—असंसारित्व चेति । उत्तर-  
ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—कुत इति । पूर्वोत्तरस्य गतायत्वं शङ्कते—नन्विति । 'स्थित्यवधेरेव निर्धारित-  
त्वाद्वा' गत्यवधेर्निर्धारमपि या 'प्रश्ने प्रतिषेधन सावकाशमित्याशङ्क्याऽऽह—तथा सतीति । अपादयेयी  
धृतिरशेषदोषशून्यत्वाद् 'नतिशङ्कनीयेति सिद्धान्तो गूढाभितयिराह—किं द्युतिरिति । न भुतिराक्षिप्यते  
निर्दोषत्वादिति पूर्ववाद्याह—नेति । श्रुतेरनाक्षपत्वे त्वदोष चोद्य निरवकाशमित्याह—किं तर्हीति ।  
तस्य सावकाशत्वं पूर्ववादी साधयति—द्वितीयस्येति ।

पूर्ववादिन्यपादानार्थान्तरे पञ्चम्या शुभ्रपमासे सत्येकदेशी ब्रवीति—एव तर्हीति । कथमन्या-

"वह कहीं गया था ?" इस प्रश्न का उत्तर बतला दिया गया । इस प्रश्न के निर्णय से ही  
विज्ञानमय आत्मा की (माह से उत्पन्न सम्पूर्ण कार्यो से असंसर्गित्वरूपा) स्वभावतः विशुद्धि और  
असंसारिता कह दी गयी । इस प्रश्न के समाधान के लिए कि 'वह कहीं ने आया' आगे का ग्रन्थ  
प्रारम्भ किया जाता है । (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) (लोकव्यवहार म) जो पुरुष जिम ग्राम या  
नगर में जाना है, वह अन्यत्र जाते समय (स्थिति क अधिकरण) उसी ग्राम या नगर में जाता है (गति  
का अपादान वही स्थान होता है), दूसरे स्थान स नहीं जाता । इस प्रकार (स्थिति-आधार के  
निर्णय से ही गति का अर्थ निर्णीत हो जाने पर) 'उस समय वह कहीं था वम इतना ही प्रश्न हो,  
जहाँ वह था वही से आगमन प्रसिद्ध होगा दूसरी जगह स नहीं । इसलिये यह प्रश्न कि 'वह कहीं  
से आया उपयुक्त नहीं है । (सिद्धान्ती पूछता है—) क्या इस प्रकार आप भुति का उपालम्भन कर  
रहे हैं ? (पूर्ववादी कहता है—) नहीं । (सिद्धान्ता पूछता है—) ता फिर क्या कर रहे हैं ? (पूर्व-  
वादी कहता है—) मैं दूसरे प्रश्न का (आदान म) कोई अन्य ग्रन्थ सुनना चाहता हूँ इसीलिए  
(पुनरुक्तिदोष से) इसकी मनयकता की आशङ्का करता हूँ ।

तुम्हारी अर्थान्तर सुनने के इच्छा होने पर फिर "कुत" इस शब्द को अपादानायता ग्रहण नहीं

१ मोहीत्याशेषकामसंसर्गित्वरूपा । २ समाधानाय । ३ स्थित्यधिरणस्यैव त्वपदानत्व साते प्रविड-  
मिति भाव । ४ तथा सति—स्थित्याधारनिष्ठादेवापत्यवधिनिर्णीतत्वे मनोऽयम् । ५ निश्चय एवमिति—  
स्थित्यधिरणनिश्चयन तद्वन्मा देवा गत्यवधेरीनिश्चयसमवातादध्यन्तोत्तरव्यपारमान न युज्यते पीनरक्त्यादिनि  
भाव । ६ अपादानादयमप्यम् । ७ त्वमर्थान्तर श्रोतुमिच्छति मति । ८ बधिरणस्य । ९ अपा-  
दानस्य । १० प्रश्ने सत्युत्तरमावयनमिति भाव । ११ आशपानास्पदम् ।

नान्यार्थत्वे । अस्तु तर्हि 'निमित्तार्थः प्रद्वनः कुत एतदागात्किनिमित्तमिहा'ऽऽगमनमिति । न, 'निमित्तार्थताऽपि प्रतिवचनवैरूप्यात् । आत्मनश्च सर्वस्य जगतोऽग्निविस्फुलिङ्गादिववुत्पत्तिः प्रतिवचने श्रूयते । न हि विस्फुलिङ्गानां विद्रवणोऽग्निनिमित्तमपादानमेव तु सः । तथा परमात्मा विज्ञानमयस्याऽऽत्मनोऽपादानत्वेन श्रूयतेऽस्मादात्मन इत्येतस्मिन्वाक्ये । 'तस्मात्प्रतिवचनवैलोभ्यात्कुत इति प्रद्वनस्य 'निमित्तार्थता न शक्यते वर्ययितुम् ।

नन्वपादानपक्षेऽपि पुनरुक्ततादोषः स्थित एव । नैप दोषः । 'प्रश्नान्म्यामात्मनि क्रियाकारकफलात्मतापोहस्य विवक्षितस्यात् । इह हि विद्याविद्याविषयाद्युपन्यस्ती' ।

यत्वं तदाह—अस्त्विति । तर्हि तस्यामपादानार्थत्वेन पुनरुक्तवाक्यस्यायामित्यर्थः । एकदेशिनं पूर्ववादी वृण्वति—नेति । अपादानार्थतावदित्यपेक्षयः । तदेव स्फुटयति—आत्मनश्चेति । जगतः सर्वस्य चेतनस्याचेतनस्य चेति वस्तुं चक्ष्म्यः ।

'तर्हि भयत्वपादानार्था पञ्चमीत्याशङ्क्य पूर्ववादी पूर्वोक्तं स्मारयति—नन्विति । सर्वाविद्या-तद्वनिर्मुक्तं प्रत्यगद्वयं ब्रह्म प्रद्वनद्वयध्याजेन प्रतिपिपादयित्वमिति न पुनरुक्तिरिति सिद्धान्ती स्वभिसन्धिमुद्घाटयति—नैप दोष इति । यथावत् यस्तु प्रश्नान्म्या विवक्षितमिति कुतो ज्ञातमित्याशङ्क्य तद्वक्तुं 'तार्तायमयमनुवदति—इह होति । विद्याविषयनिराण्यस्य कर्तव्यत्वमत्र' न प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽह

की जाती क्योंकि पुनरुक्तिदोष अपादान धर्म करने पर ही होता है, अन्य धर्म ग्रहण करने पर नहीं । अच्छा तो इस प्रद्वन को निमित्तायक माना जाय कि "कुत एतदागात्" (मुखरूप ब्रह्म में स्थित रहकर दु खबहुल शरीर में) यहाँ किस निमित्त ने आया ? (सिद्धान्ती समाधान करता है—) इस (पञ्चमी विभक्ति) की निमित्तार्थता भी नहीं । ने मवती क्योंकि ऐसा मानने से उत्तर प्रद्वन के अनुरूप हो जायगा । प्रत्युक्ति में अग्नि में विस्फुलिङ्ग आदि के समान आत्मा में ही ममन्त जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है । चिनगारियों का ऊपर गमन अग्निनिमित्तक नहीं है, वह तो अपादान ही है । उसी प्रकार "इस आत्मा में" इस श्रुतिवाक्य में परमात्मा विज्ञानमय आत्मा के अपादानरूप से सुना जाता है । इसलिए प्रत्युक्ति से विरोध आने के कारण 'कुत एतदागात्' इस प्रद्वन की निमित्तार्थता वर्णन नहीं की जा सकती ।

(पूर्वपक्षी आक्षेप करना है—) किन्तु पूर्वोक्त प्रद्वन में अपादानपक्ष को स्वीकार करने पर भी पुनरुक्तिदोष तो ज्यों का त्यों बना रहता है । (सिद्धान्ती अपना मत प्रस्तुत करता है—) इसमें दोष की

१ ब्रह्मणि स्थितस्य मुखरूपे दु खभूयिष्ठ शरीरे । २ पञ्चम्या । ३ प्रत्युक्तिविराधात् उत्तराननुत्पत्त्या-प्रद्वनस्यति यावत् । उत्तर ह्यग्निमवाक्यऽपादानत्वमाधित्य दत्तं भाति । ४ उद्वेगवत् । ५ दशोक्तप्रतिवचन-विरोधात् । ६ अज्ञानतत्वाद्यविनिर्मुक्त शुद्धस्त्वमर्थ प्रथमप्रद्वनन विवक्षित । अव्यावृत्ताननुगत (अजाति-व्यक्ति) पूर्ण प्रत्यङ्मानैकयायात्म्य ब्रह्मविवक्षित द्वितीयप्रद्वननेत्यभिप्रेत्याऽह—प्रश्नान्म्यादिति । ७ अति-क्रान्ताभाष्ये । ८ तथाहोति शेष । ९ तर्हि—प्रत्युक्ति निमित्ता प्रतीतिपुण्ये श्रुतप्रयोगस्यायंवत्ता नियमोपान्तरस्य चाभावे इत्यर्थः । १० उपनिषदि प्रथमाध्यायगतम् । ११ आह्वाने ।



"तत्र यत्र भवति तदधिकरणं यद्भवति तदधिकर्तव्यं तयोश्चाधिकरणाधिकर्तः-

—तन्निर्णयाम चेति । "अन्यथा" प्रक्रमभङ्गः स्यादिति भावः । किं तद्यापात्स्य तदाह—तस्य चेति ।  
कथं "यद्योक्त्यापात्स्यव्याख्यानोपयोगित्वं प्रश्नयोरित्याशङ्क्य तयोः "श्रीतमयमाह—तत्रेति ।

उठाती है।  
 उन दोनों प्रश्नों में, जहाँ रहता है, वह अधिकरण होता है और जो रहता है, वह अधिकृतम्

१ वृ०उ० १४७ । २ वृ०उ० १४१० । ३ वृ०उ० १४१५ । ४ आत्मा । ५ साराया-  
विद्यासूत्रमातृतीयसमाप्तौष्यस्थितात्म् । ६ विद्याविषयस्त्विन । दार्ताके यथा— 'अविद्याप्रतिपत्त्या विद्याया  
विषयोऽधुना । प्रवृत्तव्योऽस्तदयोग्यो प्रश्नो द्वौ समुदाहृतौ । हेतुस्वरूपकार्याणि विरोधीनि परस्परम् । अविद्या-  
विषयोऽस्यास्तदयोग्यप्रश्नमोत । ॥३७५-३७६॥ विद्यासूत्र न प्रपञ्चितमतस्तादर्थ्येन प्रश्नोक्त्यापानमित्याद-  
यथाभिप्राय ॥ कथमविद्याप्रतिपत्त्या विद्योति तत्राह—इति । अविद्याज्ञापकोऽविवक्षामादिविद्यायाऽनूत्ता-  
दशो ज्ञापकविवेकवैराग्यादिस्तद्वैतस्वरूप प्रकाशोऽव्यापारय कार्य बन्धनप्रवृत्तिर्ज्ञेयानि मिथो रिच्छा  
तस्मादविद्याप्रतिपत्तौ विद्याव्याख्यानयोग्यप्रश्नद्वयप्रवृत्तिरित्यर्थः । ७ पुष्ट । ८ विद्याविषयस्य प्रज्ञानत्वात् ।  
९ विद्याविषयब्रह्मण । १० यथोक्त्यापारम्यव्याख्यानानुवृत्ती । ११ प्रज्ञानमेष्य । १२ भावधेति—  
विद्याविषयनिर्गमस्य न तस्यैवतानमुपगमे । १३ प्रज्ञानवारेक निर्वापयेत् च त्वेति । १४ विद्याविषय-  
स्मात्तमेन । १५ श्रुत्याभिप्रेतम् ।

व्ययो'भेदो दृष्टो लोके । 'तथा यत् आगच्छति तदपादानं य आगच्छति स कर्ता' तस्मा-  
 दंग्यो दृष्टः । 'तथाऽऽत्मा क्वाप्यभूदन्यस्मिन्नन्यः' कुतश्चिदागादन्यस्मादन्यः केनचिद्भिन्नेन  
 साधनान्तरेणेत्येवं लोकवत्प्राप्ता 'बुद्धिः सा 'प्रतिवचनेन निवर्तयितव्येति । 'नायमा-  
 त्माऽन्योऽन्यत्राभूदन्यो वाऽन्यस्मादागतः' साधनान्तरं वाऽऽत्मन्यस्ति । 'किं तर्हि 'स्वात्म-  
 न्येवाभूत्' "स्वमात्मानमपीतो भवति सता सोम्ये तदा संपन्नो भवति 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना'  
 संपरिवृत्तः पर आत्मनि 'संप्रतिपुते" इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एव नान्योऽन्यस्मादा-  
 गच्छति । तच्छ्रुत्यैव प्रदर्शयतेऽस्मादात्मन इति । आत्मव्यतिरेकेण 'वस्तुवन्तराभावात् ।

"प्रश्नप्रवृत्तिमुक्त्वा प्रतिवचनप्रवृत्तिमाह—सेति । निवर्तयितव्येति "तत्प्रवृत्तिरिति शेषः । संप्रति  
 प्रतिवचनयोस्तात्पर्यमाह—नायमिति । स्वमात्मान्येवाभूदित्यत्र प्रमाणमाह—स्वमात्मानमिति । गुप्तो  
 स्वात्मन्येव स्थितिरित्यन्वयः । प्रबोधवशायामात्मन एवाऽऽगमनापादानत्वमित्यत्र मानत्वेनानन्तर-  
 श्रुतिमुत्थापयति—तच्छ्रुत्येवेति । स्थित्यागत्योरात्मन एवा"बधित्वमित्यन्योपपत्तिमाह—आत्मेति ।

होता है । लोकव्यवहार में अधिकरणों और अधिकर्तव्यों का भेद देखा जाता है । (अब द्वितीय प्रश्न  
 का अर्थ समग्र करते हैं—) इसी प्रकार जहाँ से आता है, वह अपादान होता है, और जो आता है,  
 वह कर्ता अपादान से भिन्न देखा जाता है । इसी प्रकार आत्मा किसी अन्य में उससे भिन्नरूप में या  
 और किसी अन्य स्थान से उससे भिन्नरूप से अथवा किसी दूसरे साधन के द्वारा आया है, ऐसी लोक-  
 व्यवहार की तरह बुद्धि प्राप्त होती है । इसका आत्मयाथात्म्य-सम्यग्ज्ञानजनक प्रत्युत्तिबाक्य से  
 समाधान करना है । (तात्पर्य यह है कि) यह आत्मा न ता अन्यरूप से किसी अन्य स्थान में अथवा  
 न यह अन्यरूप से किसी अन्य के पास से आया है और न आत्मा में (अश्वविस्थानीय) कोई अन्य  
 साधन हो है । तो फिर क्या विवक्षित है ? यह अपने स्वरूप में ही था । "वह अपने परमार्थरूप को  
 प्राप्त हो जाता है", "हे सोम्य ! उस समय यह मत् से युक्त हो जाता है", "प्राज्ञ आत्मा से भली भाँति  
 मिला हुआ रहता है", "परमात्मा में सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से यही  
 सिद्ध होता है । इसलिए अन्य आत्मा किसी अन्य के पास से नहीं आता । यह बात "इस आत्मा से"  
 इत्यादि श्रुतिमन्त्र से भी सिद्ध हो जाती है क्योंकि आत्मा से भिन्न वस्तु की गुप्तुति में तो सत्ता ही  
 नहीं है ।

१ भेद इति—अनेन सर्वोऽन्यत्रागच्छत्यव्यवहार स्वसत्ताकारेऽविद्या-पद्य एवेति ध्वनितम् । २ आद्यप्रश्नस्य  
 श्रुत्यभिप्रायस्य सतिष्ठति द्वितीयप्रश्नस्य तदभिमतमर्थं समुह्यति—तथेति । ३ अपादानात् । ४ बुद्धिरिति ।  
 धार्मिके यथा— क्रियाकारकभेदात् सा लोक- शेषोपी त्वभूत् । यथास्थितात्मायाथात्म्यसम्यग्ज्ञानेन बाध्यते ॥३७६॥  
 द्वैतधीविद्या संसारमाधिया बाध्यते तस्मात्तद्विगुणादनाय तन्निवर्तयविद्याविषयो प्रश्नाविति भावः । ५  
 प्रतिवचनेनेति । उक्त्यात्मायाथात्म्यसम्यग्ज्ञानजनकप्रतिवचनवाक्येत्यर्थः । ६ अस्मादिस्थानीयम् । ७ किं  
 तर्हि—आपादापेक्षयाप्राप्तोपादाननृणाववचाविषयित्वेति तर्हि विवक्षितमित्यर्थः । ८ स्वात्मन्येवेति—  
 आत्मविद्याद्वारा नि शेषात्माविद्याबाधवशोऽत्र विवक्षितः प्रश्नप्रतिवचनवाक्ययोरभेदव्यतिरेकाभ्यां (भेदा-  
 भेदाभ्यां) भेदेहोतोरज्ञानस्य प्रतिषेधेन तत्तत्प्राप्त्यापेक्षादेनियमादिति भावः । ९ (छा० उ०) स्वीयपरमार्थरूपम् ।  
 १० नृ० उ० ४।३।२१ । ११ गुप्तो । १२ प्रवृत्त्यभिप्रायमिति यावत् । १३ प्रतिवचनप्रवृत्तिः ।  
 १४ क्रमादधिकरणत्वमपादानत्व चेत्यर्थः ।

ऋतन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं, न, प्राणादेस्तत एव निष्पत्तेः ।

तत्कथमिति १, उच्यते—

वस्त्वन्तराभावस्यासिद्धिं शङ्कित्वा दूययति—नन्वित्यादिना । क्रियावतो मृदादेर्घटाद्युत्पत्ति-  
दर्शनाद्वह्मणोऽक्रियत्वात्ततो न प्राणाद्युत्पत्तिरिति शङ्कते—तत्कथमिति । सृष्टेर्मायामयत्वमाश्रित्य

किन्तु (पूर्वपक्षी के मत में) आत्मा से भिन्न प्राणादि भी तो वास्तव में है । (समाधान में  
सिद्धान्ती कहता है—) नहीं, क्योंकि प्राणादि की निष्पत्ति तो आत्मा से ही होती है । वह किस

१. वास्तवमिति भावः । २. नेति । “नाऽऽत्मन्येव तदध्यामाच्छुक्तिकारजतादिवत्” ॥ वा० ३८२ ॥

ऋतन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमित्यादिप्राणार्थाविष्करणपरतणि नववार्तिकानि प्रदक्ष्यन्ते । मृदादि-  
दृष्टान्तर्यां सृष्टिर्नानाविधोपदिष्टा स सर्वोऽनुपदेशप्रकारो जीवपरयोरेकत्वज्ञानोत्पत्तय उपायो भवति ।  
सृष्ट्यादिप्रयुक्तो भवेत्तु न कथमपि सम्भवतोत्पत्त्यर्थः । ‘तनु प्राणादिभिः सद्भिः कथं निर्मदन्तारमनः । नाऽऽत्मन्येव  
तदध्यामाच्छुक्तिकारजतादिवत् ॥ कथं तदिति दृष्टान्ते ऋणान्ध्याविच्छेद्यत । वास्तवं वृत्तमापेक्ष्य न त्विदं  
सृष्टिरात्मनः ॥ नासतो जन्मना योग सतः सत्त्वात् चेध्यते । कूटस्थे विज्ञिया सति तस्मादज्ञानतो धनिः ॥  
पुष्टबोधप्रसिद्धयर्थं सृष्टिभ्याजोऽयमुच्यते । बौटस्थ्यात्वात्मनः सृष्टिर्न कथंचन युज्यते ॥ निःशेषदेवसिद्धान्त-  
विद्भिर्द्विरपि भाषितम् । गौडाचार्यैरिदं वस्तु यथाऽन्मात्रं प्रपञ्चितम् ॥ मृत्वाहविस्कुलिङ्गाः सृष्टिर्या  
चोदितोऽन्यथा । उपायः मोक्षतराय नास्ति भेद कथंचन ॥ सृष्टावन्पराया तु न चोद्यस्याति सम्भवः ।  
दृष्ट्याश्रयमुत्पत्तिरविरल चेत्मात्रवयम् ॥ नि साधनं च कार्याणि यथं कुर्यादनेकथा । विश्वरूपसमुत्पत्ति-  
रूपरूपाश्च भवेत् ॥ इत्येवमादिचोद्याना पुष्टभावाणुरोच्यते । परिहारावचः धीतं न च वस्त्वनुरोधतः ॥ ३८२-  
३९० ॥ इति आत्मनो निर्मदस्त्वभाक्षिपति—नन्विति । तैस्तस्य भेदादिति शेषः । न प्राणादीना सत्त्वं शुक्त्वादी  
३९० ॥ इति आत्मनो निर्मदस्त्वभाक्षिपति—नन्विति । तैस्तस्य भेदादिति शेषः । न प्राणादीना सत्त्वं शुक्त्वादी  
रजतादिनदामन्यारोपादिति परिहरति—नात्मनोति ॥ तत्र तेषां कल्पितत्वमप्राप्तमिति मित्याह—कथमिति ।  
तत्रोत्तरत्वेन यथेत्याद्यवतारयति—दृष्टान्त इति । अथ न दृष्टान्तेन प्राणादेरात्मनो वास्तवी सृष्टिरुच्यते न  
तस्य तस्मिन्प्रध्यासस्तद्बोधोकाभावानेत्याह—वास्तवमिति । कूटस्थासद्भावाद्यभावरूपमपेक्ष्य प्राणादिसृष्टेर्योगात्  
कल्पितैव तैर्यथं ॥ किं च प्राणादेरमतः सतो वा जन्म माद्य इत्याह—नासत् इति । न द्वितीय इत्याह—सत्  
इति । अन्यस्वरूपलोचनया जन्मायां गमुक्त्वा जनकस्वभावालोचनयापि तदयोगमाह—कूटस्थ इति । आत्मना-  
जनेस्तर्हि का गतिस्तत्राऽह—तस्मादिति ॥ सृष्टिरवास्तवी चेत्किमर्थं कथ्यते तत्राऽह—पुष्टप्रबोधेति ।  
सृष्टिरपेक्षकवती तर्हि वास्तव्यं किं न स्यात्तत्राऽह—बौटस्थ्यादिति ॥ आयापय्या सृष्टेरामनानार्थत्वे  
धृष्टसमतिमाह—नि शेषेति ॥ तदेवानुवदति—मृदिति ॥ सृष्टिभूतेरन्यपरतया सृष्ट्यादेरप्राप्तमिदं प्रदर्शय  
तदन्यपरतये फलितमर्थोत्तरमाह—सृष्टाविति । किं तदसम्भावितं चोद्य तदाह—कूटस्थादिति । क्रियावतो  
मृदादेर्घटाद्युत्पत्तये ब्रह्मणोऽनिकारित्वात् ततो विश्वोत्पत्तिरित्यर्थः । निच सात्त्वस्थे हेतुफलभावो दृष्टो न च  
चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मजगतोस्तदव्यक्तो न ततो जगज्जन्मेत्याह—अचित्त्वमिति ॥ ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वात्तु उपपत्ति-  
मुक्त्वा तस्मिन्मित्रत्वानुपपत्तिमाह—नि साधनं चेति । ब्रह्मत्वात्त्रि, साधनत्वमन्यस्त्वान्न वहाणो द्विधापि न  
हेतुतयाह—विदधेति । एतच्छब्दजगताममुक्तं सृष्टिभूतेरन्यपरत्वेन सृष्टेर्मायात्मनत्वादिति भावः ॥ सा चेन्माया-  
मयी तर्हि तत्परिहारार्थं स यथेत्यादि वचनित्याह—इत्येवमिति । वस्त्वनुरोधं विना केवलं पुनश्च द्रव्यसारेण  
पूर्वोक्तनीत्या भवता चोद्याना परिहारार्थं स यथेत्यादीत्यर्थः । एवञ्च प्रकृतवाक्यपरामर्शः । ईश्वरस्य न स्वार्था  
सृष्टिराप्तकामत्वात्प्राणार्थाऽस्त्येवमिति चोद्यमादिसन्दर्भः ॥

॥ ७७ ॥ स यथोर्णनामिस्तन्तुनोच्चरे\* द्ययाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा

व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः ॥१॥

सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्

लोक में जैसे मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे एक ही अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं; उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण लोक, सभी देवगण, सभी भूत अनेकरूप से उत्पन्न होते हैं। वह मय वा सत्य है, यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषत् है।

॥ 'तत्र दृष्टान्तः—'स यथा लोक ऊर्णनामिः । ऊर्णनामिलूताकीट एक एव प्रसिद्धः ।  
'संस्वात्माप्रविभक्तेन तन्तुमोच्चरेदुद्गच्छेत् । न चास्ति तस्योद्गमने स्वतोऽतिरिक्त'

अतः परितृणति—उच्यते इति । स्वात्माप्रविभक्त्येनेत्युक्तमन्वयं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—न चेति ।

प्रकार होती है ? इस पर कहते हैं—

उस (निष्क्रियब्रह्म) में प्राणादिप्रपञ्च की उत्पत्ति में एक दृष्टान्त है। सोव्यवहार में प्रसिद्ध जिस प्रकार जाल बनाने वाला कीड़ा होता है। "ऊर्णनाभि" यानी वह लूताकीट अकेला ही अपने सर्वथा अभिन्नतन्त्रुसा द्वारा "उच्चरेत्" अर्थात् ऊपर की ओर जाता है, उसके ऊपर जाने में अपने से प्रतिरिक्त कोई दूसरा कारक नहीं है, जिस प्रकार एक रूप वाली एक ही अग्नि से "क्षुद्रा"

१. अज्ञाताच्चेतनात् । २. अक्रियाद्वद्वाङ्मयं प्राणादिप्रपञ्चात्पत्ती । ३. प्रसिद्ध । ४. एक एवेत्यनेन-  
स्वातिरिक्तसाधनाभावमुक्त्वा स्वाध्यायातिरिक्तसाधनं नानकथां संप्रदत्तमाह—स्वात्पत्ति । असहाय एव सस्तत्त्वम्  
सृष्ट्या तन स्वाप्रतिभवेन गच्छतीत्यर्थः ।

अध्यायः शुद्धा विस्तृतिः इति । अत्र वातिकानि— विस्तृतिः यथा चान्नजित्प्रतिनिवृत्तिभावः । सुषुप्तादात्मनस्तद्व्याप्यादीनां समुद्भवः । सुषुप्तीदाहृतिर्येयं तया समुपलभ्यते । विश्वाभिभ्यस्तत् पूर्वं ब्रह्मवाना-  
मप्ययम् ॥ सर्वानुपनिषत्वेव कारणं नाम्यादात्मनः । श्रूयतस्तत् परात्म्यं जगतः कारणं परम् ॥ ब्रह्मण्यस्तमितोऽयं य-  
जगत्प्रतिप्रदेयतः । जगत्प्रसूती कीं हंतुस्तस्याव्यतिरिक्तम् ॥ अस्तीति चेत्तिरिक्तचेत्सोऽपि केन प्रवर्तितः ।  
जगत्प्रतिनिधुयादेतत्स्वनन्दम् सर्वदा न विम् ॥ ऐश्वर्यं पारतम्यं च नापि सम्भाव्यते मितं । नापि कार्यं विलीन-  
त्वात्स्वात्मोत्पत्ती प्रवर्ततः ॥ ३३४-३३८ ॥ इत्यादि विस्तरस्तु तत् एव इष्टम् । सुषुप्तादात्म्यादानात्सोऽपि-  
तिमुक्तं स्वानन्दमपि कारणतः शब्देनैव कथ्यते । अस्मादात्मन इति सुषुप्तादात्म्यादानात्सोऽपि-  
प्रानुपादाव्यक्तनामरूपमज्ञातं ब्रह्म लक्ष्यतः सत्तदेव कारणमित्यथ । किञ्चाज्ञातब्रह्मातिरिक्ते कारणे मानाभावा-  
त्तदेव तस्येहाह—सर्वान्विति । एवमित्यज्ञातब्रह्मपरमार्थं । प्रधानादि व्यावर्तयति—नात्यदिति । अत-  
श्चुपमाणादिति यावत् ॥ स्वप्नसमुत्सव स्वयुध्यं प्रत्याह—ब्रह्मणीति । सत्तत्त्वार्थं तमि । न हि सर्वात्मना  
सीनस्य पुनरदये ब्रह्मणोऽप्यो हतुरनिधेर्नापि ब्रह्मणोऽप्यदित्यर्थः । तदुपादानातिरेकेणेतस्य तदादिप्लुता-  
त्वाद्दुपादाने सीनस्यापि जगत्तद्व्याप्यमेति तदर्थसवरवाचाह—अस्तीति । न नावत्तदस्य मोक्षं प्रति माना-  
भावात्समपि स केनचित्प्रवर्तित स्वतो वा जगत्पुण्यादिति विवक्ष्यति—सोऽप्येति । द्वितीयमनूय दूषयति—  
स्वतद्वेदिति । आरंभे दोषमाह—ऐश्वर्यमिति । न हि द्वयमेकस्य प्रामाणिकं मिथो चितोपादित्यर्थः । काममेव  
स्वोत्पत्ती व्याप्यते न कारणोपेत्यति स्वभावावादिन प्रत्याह—नापीति । सीनस्यापि स्वोत्पत्ती व्यापारचेतत्वा-  
त्तानियतिस्त्वसाहृत्वादिषोऽपिदिति भावः ॥

‘सत्यस्य सत्यमिति प्राणा च सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥’

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य

प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

प्राण ही सत्य है और उन्ही के यह सत्यमय प्रपञ्च है ॥ २० ॥

इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥१॥

यथा चेकरूपादेकस्मादग्नेः क्षुद्रा प्रल्पा विस्फुलिङ्गास्त्रुटयोऽन्यथैवा व्युच्चरन्ति विविधं नाना वोच्चरन्ति । यथेमौ दृष्टान्तो कारकभेदाभावेऽपि प्रवृत्तिर्दर्शयतः, प्रावप्रवृत्तिश्च स्वभावत एव एकत्वमेवमेवास्मादात्मनो विज्ञानमयस्य प्रावप्रतिबोधाद्यस्त्वरूपं तस्मादित्यर्थः । सर्वे प्राणा वागादयः सर्वे लोका भूरादयः सर्वाणि कर्मफलानि सर्वे देवाः प्राणैर्लोकाधिष्ठातारोऽन्यादयः सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तत्त्वपर्यन्तानि प्राणिजगतानि सर्व एत आत्मान इत्यस्मिन्पाठ उपाधिसंपर्कजनितप्रबुध्यमानपिज्ञेयात्मान इत्यर्थो व्युच्चरन्ति ।

यस्मादात्मना स्थावरजङ्गमं जगदिदमग्निविस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरन्त्येति शं यस्मिन्मेव

‘प्रसहायस्य कारणात्वे दृष्टान्तमुक्त्वा कूटस्थस्य तद्भावे दृष्टान्तमाह—यथा चेति । ‘माध्यंदिनधृति-माश्रित्याऽऽह—सर्व एत इति ।

तस्मैत्याद्यवतारं ध्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । ननु प्रत्ययसूतस्य ब्रह्मणो वाचकेषु शब्दान्त-

प्रयात् छोटी-छोटी “विस्फुलिङ्गा” यानी चिनगारियाँ या अग्निकण “व्युच्चरन्ति” अर्थात् विविध या नानारूप से उड़ते हैं । जिसप्रकार ये दोनों दृष्टान्त कर्ता-अपादानादि कारकभेद न होने पर भी (प्रसर्पणादिरूपा) प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं और प्रवृत्ति से पूर्व वास्तविक एकता प्रदर्शित करते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा यानी बोध होने से पूर्व विज्ञानमय (हार्दकाशाख्य भ्रज्जातब्रह्म) स्वरूप से वागादि-सघात समस्त प्राण, भूरादि समस्त लोक, सम्पूर्ण ब्रह्मफल, प्राण और लोकों के मध्यस्थ अग्नि प्रादि समग्र देवतागण, ब्रह्मा से लेकर स्तम्भपर्यन्त समस्त प्राणीसमुदाय उत्पन्न होते हैं । गार्ग्यन्दिनवाक्ता के “सर्व एत आत्मान” इस पाठ का अर्थ है कि अन्त करणरूप उपाधि के समग्र के कारण जिनका विशेष कर्तृत्वादिविशिष्टस्वरूप अनुभव किया जाता है, वे अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं ।

अग्नि से निकली चिनगारियों के समान जिस आत्मा से यह चराचर जगत् निरन्तर उत्पन्न

१ प्राणीपलक्षितस्य जगत् । २ अनाद्यवधिष्ठानम् । ३ कारकेति—कर्त्तृत्वादानादिकारकभेदाभावेऽपीत्यर्थः । ४ अनेरेवाग्निवत्तेनोचरणापादानत्वम् । तस्यैव स्फुलिङ्गत्वेन कर्तृत्वमिति कारकभेदम् । ५ प्रसर्पणादिरूपा ।

५ हार्दकाशाख्यभ्रज्जातब्रह्म । ६ आदिना करणसघात । ७ उपाधीति—वत् करणादिसर्गजोऽनुभूयमानो विशेष कर्तृत्वादिविशिष्टस्वरूप यथा ते च त आत्मान जीवा इत्यर्थः । ८ परमात्मन । ९ तच्छास्त्रा-पठितप्रकृतश्रुतिम् ।

पादकवाक्येषु ब्रह्म विजिज्ञासूनां 'बुद्धिव्युत्पादनाय विचारयिष्यामः ।

न, तावदसंसारी परः 'पाणिपेष्णप्रतिबोधिताच्छब्दादिभुजोऽवस्थान्तरविशिष्टा-  
'दुत्पत्तिश्रुतेः । न 'प्रज्ञासिताऽज्ञानायादिवर्जितः 'परो विद्यते । कस्मात् । यस्माद्ब्रह्म  
ज्ञपयिष्यामीति प्रतिज्ञाय सुप्तं पुरुषं 'पाणिपेष्णं बोधयित्वा 'तं शब्दादिभोक्तृत्वविशिष्टं  
दर्शयित्वा 'तस्यैव स्वप्नद्वारेण सुषुप्त्यात्यमवस्थान्तरमुद्योय" तस्मादेवाऽऽत्मनः सुषुप्त्य-  
वस्थाविशिष्टादग्निविस्फुलिङ्गोर्णानामिदृष्टान्ताभ्यामुत्पत्तिं दर्शयति श्रुतिरेवमेवास्मादि-  
त्यादिना । न "चान्यो जगदुत्पत्तिकारणमन्तराले" श्रुतोऽस्ति । विज्ञानमस्यैव हि  
"प्रकटरणम् ।

"संशयादिना विचारकार्यतामघतायं पूर्वपक्षयति—न तावदिति । जगत्कर्ता हीम्बरो "विप्रक्षयते  
"प्रकृते च सुषुप्तिविशिष्टाऽजीवाऽजगज्जन्मोत्पद्यते तस्माद्वीम्बरो जीवादतिरिक्तो नास्तीत्यर्थः । 'तदेव  
प्रपञ्चयति—नेत्यादिना । "प्रकृतेऽपि जीवे जगत्कारणत्वमीम्बरस्यैवात्र" श्रुतिमित्याशङ्क्याऽह—न  
चेति । "तत्र प्रकरणविरोध हेतुमाह—विज्ञानेति ।

ब्रह्म है' इत्यादि परब्रह्म की एकता वा प्रतिपादन करने वाली श्रुति या वा विराध-हो जायगा—क्याकि  
ब्रह्म से भिन्न-किन्हीं सत्ता की सत्ता न होने के कारण उसका उपदेश निरर्थक होगा । इस प्रकार जिस  
का प्रत्युत्तर नहीं दिया गया है, उस ऐवात्म्यविचारविषयक प्रश्न का विषय लौकिक मण्डनो ने ज्ञेय भी  
अत्यन्त भ्रान्त का स्थान है । इसलिए ब्रह्मविज्ञानमुखा की वृद्धि को यथार्थतत्त्व में अवगाहन करने के  
लिए ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाले वाक्या भ प्रवक्तृ करने के लिए हम यथाशक्ति विचार करेंगे ।  
इतम से असंसारी परमात्मा तो जीव से भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि हाथ दवाने से उठे हुए  
शब्दादि के भोक्ता एव सुषुप्तिज्ञात अवस्थान्तर से विशिष्ट जीव से जगत् की उत्पत्ति सुनी गई है ।  
जीव से भिन्न क्षुत्पिपासादि से वर्जित परमेश्वर नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि "मैं तुम्हें ब्रह्म का  
ज्ञान कराऊँगा" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके मोए हुए पुरुष को हाथ से दवा दवा कर जगा करके उस  
प्रबोधावस्था वाले को शब्दादि भोक्तृत्वविशिष्ट दिखाकर, उसी प्रबोधावस्थायुक्त जीव की स्वप्न  
उपन्यास द्वारा सुषुप्तिज्ञात अवस्थान्तर को प्राप्त करा कर श्रुति "एवमेवास्मात्" इस मन्त्र ने  
सुषुप्ति-अवस्थाविशिष्ट उम आत्मा से ही अग्नि की चिनगारी और सूताकीट के दृष्टान्तों द्वारा  
संसार की उत्पत्ति दिखलाती है । यहाँ ( ब्रह्म से ब्रवाणि" से लेकर "एवमेवास्मादात्मन" इस श्रुति-

- १ विद्य यथातत्त्वमवगाहिनी कर्तुम् । २ असंसारी परमात्मा पर जीवभिधो नास्तीति प्रतिज्ञाते हेतुमाह—पाणीति । ३ उत्पत्तीति—एवमेवास्मादात्मन सर्वे प्राणा इति प्राणाव्युत्पत्तिप्रवणानुदानयोर्मध्यस्थेयमुप-  
निपदिति शङ्कैव नास्तीति बोधः । ४ परमेश्वर । ५ जीवान् । ६ पाणिनाऽऽपिष्याऽऽपिष्य । ७  
प्रबोधावस्थम् । ८ प्रबोधावस्थजीवस्य । ९ स यत्र स्वप्नया चरतीति वाक्येन स्वप्नोपन्यासद्वारा । १०  
प्राप्यम् । ११ जीवाद् । १२ ईश्वराख्य जीवेतर । १३ ब्रह्म से ब्रवाणीत्युपक्रम एवमेवास्मादात्मन  
इत्युपसंहारयोर्मध्ये । १४ अतो जीवस्यैव ब्रह्मशब्देन प्रवृत्तत्वमिति भावः । १५ सद्यप्रबोजनाभ्याम् ।  
१६ अभिमतः । १७ वाक्ये । १८ सग्रहवाक्यम् । १९ ब्रह्मशब्देन । २० प्रकरणे । २१ ब्रह्म तं  
ब्रवाणीति ।



भवतीत्युक्त्वा य एवाऽऽत्मा प्रियः प्रतिद्वस्तस्यैव द्रष्टव्यश्चोतव्यमन्तव्यनिदिध्यासितव्यतां दर्शयति । तथा च 'विद्योपन्यासकाल 'आत्मेत्येवोपासीत तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्-दात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्येवमादिवाक्यानामानुलोम्यं स्यात्परमावे । वक्ष्यति च-  
“आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः” इति ।

सर्ववेदान्तेषु च प्रत्यगात्मवेद्यतैव प्रदर्श्यतेऽहमिति न बहिर्वेद्यता शब्दादिवत्प्रद-  
श्यतेऽसौ ब्रह्मेति । तथा कौपीतकिनामेव “न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्”  
इत्यादिना वागादिकरणव्यापृतस्य कर्तुरेव वेदितव्यतां दर्शयति ।

अवस्थान्तरविशिष्टोऽसंसारीति चेत् । अद्यापि स्याद्यो जागरिते शब्दादिभुग्विज्ञान-  
मयः स एव सुषुप्ताख्यमवस्थान्तरं गतोऽसंसारी 'परः' प्रशासिताऽन्यः स्यादिति चेत् । न,

पूर्वोत्तरवाक्याना(णा)मानुकूल्यं हेत्वन्तरमाह—तथा चेत्यादिना ।

इतश्च जीवस्यैव वेद्यतेत्याह—सर्वेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—तथेति । स च वेदितव्य इत्यत्र”  
न स्पष्टं जीवस्य वेदितव्यत्वमिह तु स्पष्टमिति भेदः ।

स्वापावस्याज्जीवाज्जगज्जन्मभुतेस्तत्स्यैव वेद्यत्वहृद्वेत्तुं जगद्वेतुरीश्वरो वेदान्तवेद्यो मास्तीत्युक्ते  
शेखरवादी बोधयति—अवस्थान्तरेति । चोद्यमेव विवृणोति—अथापीति । उक्तोपपत्तिसत्त्वेऽपीति  
यावत्” । नावस्थाभेदाद्वस्तुभेदस्तथाऽननुभवावपराद्वागन्ताच्चेति परिहरति—नादृष्टत्वादिति । अवस्था-

आत्मतत्त्व को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ” इत्यादि श्रुतिवाक्यों की पराभाव में अनुकूलता हो सकती है ।  
आगे भी श्रुति इसे प्रतिपादित करेगी—“वह परमात्माख्य पुरुष मैं ही हूँ, इस प्रकार सत्त्वशुद्धि से  
किसी तरह आत्मा को जान जाय ।”

समस्त वेदान्तो मे ब्रह्म की “मैं ब्रह्म हूँ” इस रूप से प्रत्यगात्मभाव से वेद्यता प्रदर्शित की गयी है,  
शब्दादि के समान “वह ब्रह्म है” इस प्रकार बहिर्वेद्यता प्रदर्शित नहीं की गयी । इसी तरह कौपीतकी-  
शाखा वालों की श्रुति भी ‘बाणी को जानने की इच्छा न करे, बोलने वाले को जाने” इत्यादि  
वाक्य से वागादि-इन्द्रियों से भिन्न कर्ता की वेद्यता प्रदर्शित करती है ।

यदि कहो कि अवस्थान्तरविशिष्ट होने पर ईश्वर असंसारी हो जाता है अर्थात् यदि ऐसे कहो  
कि जागरित अवस्था में शब्दादि का भोक्ता विज्ञानमय है, वही सुषुप्तसन्नत अवस्थान्तर में जाने पर  
उससे भिन्न प्रशासक परमात्मा असंसारी हो जाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा देखा नहीं  
जाता । क्षणिकवादी मिथ्यान्त के सिवा और कहीं ऐसे घर्मवाला पदार्थ नहीं देखा गया । लोकव्यवहार  
में ऐसा नहीं देखा जाता कि गाय बैठते और चलते समय तो गाय रहे और साते समय वह भ्रष्टादि कोई

- १ तथैव । २ विद्यामुक्तोपवासकाले । ३ नृ० उ० १।४।७ । ४ नृ० उ० १।४।८ । ५ नृ० उ०  
१।४।१० । ६ आदिना आत्मानमेव सोममुपासीतेति । ७ नृ० उ० ४।४।१२ । ८ अहं ब्रह्मेति ।  
९ परमात्मा । १० पर इति—अवस्थाद्वयसम्बन्धी स्वतः ससायैवाऽन्य जीव स्वापाख्यमवस्थान्तरं गत परो  
भवतीति परमादेव जगज्जन्मभुत्येव्यत इति तदाशयः । ११ पूर्वभाष्योक्तकौपीतविवाक्य । १२ इति  
न पौनःपुन्यमिति भावः । १३ परमादेव जगज्जन्म स्यादिति शेषः ।



ग्रहष्टत्वात् । न ह्येवं धर्मकः पदार्थो दृष्टोऽन्यत्र 'वेनाशिकसिद्धान्तात् । न हि लोके गौस्तिष्ठन्गच्छन्वा गोभवंति शयानस्त्वन्वादिजात्यन्तरमिति' । न्यायान्च । यद्धर्मको यः पदार्थः प्रमाणेनावगतो भवति स देशकालावस्थान्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति । स चेत्तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति सर्वः प्रमाणव्यवहारो लुप्येत । 'तथा'च न्यायविदः सांख्यमीमांसकादयोऽसंसारिणोऽभावं युक्तिशतैः प्रतिपादयन्ति ।

संसारिणोऽपि जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानस्याभावादयुक्तमिति चेद्य-  
स्महता' प्रपञ्चेन स्थापितं भवता शब्दादिभुक्संसार्यभावस्थान्तरविशिष्टो जगतः कर्त्तृति ।  
तदसत् । यतो जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानशक्तिसाधनाभावः सर्वलोकप्रत्यक्षः

भेदाद्वस्तुभेदाभाय दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न होति । सर्वत्र हेतुवन्तरमाह—न्यायान्चेति । जागरादिविशिष्टस्यैव स्वापवैशिष्ट्यात्तस्य संसारित्वान्नेश्वरोऽन्योऽस्तीत्युक्त्वा 'तदभावे बाविसंमतिमाह—तथा चेति । आदिशब्दो लोकायतादिसमस्तनिरोधरथादिसंग्रहार्थः । युक्तिशतैरिति । 'तस्य देहिहृद्देहस्येवादि-  
गुल्यत्वा' 'तदभावे 'मुक्तयज्जगत्कर्तृत्वायोगाज्जीवानामेवादृष्टद्वारा तत्कर्तृत्वसंभवा' 'तत्प्राकिञ्चित्कर-  
त्वमित्यादिभिरित्यर्थः ।

जीवो जगज्जन्माविहेतुर्न भवति सत्तासमर्थत्वात्पापाणवत्सु संसारित्वाविति शङ्कते—  
संसारिणोऽपीति । ईश्वरस्यैवेत्यपेक्ष्यः । अप्रयुक्तं प्राणादिकर्तृत्वमिति शेषः । संग्रहवाक्यं विवृणोति—

अन्य जाति का पशु हो जाय । तथा यह न्यायसगत भी है कि जो पदार्थ प्रमाण द्वारा जित धर्मों वाला जाना जाता है; वह अन्य देश, काल अथवा अवस्थाओं में भी उन्ही धर्मों वाला होता है । यदि वह उन धर्मों का परित्याग कर दे तो सारे ही प्रमाण-व्यवहार का लोप हो जाय । उसी प्रकार ही सख्यवादी, मीमांसक और नैयायिकादि भी संकटों युक्तियों द्वारा अससारी परमेश्वर के अभाव का प्रतिपादन करते हैं ।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप क्रियात्रय के कर्तृत्व का विज्ञान न होने के कारण ससारी जीव को संसार का कर्त्ता मानना उचित नहीं है—यदि ऐसा माने तो जगत्कर्त्ता ईश्वर के निरास के लिए तुमने यह विस्तार से स्थापित किया है कि शब्दादि का भोक्ता अवस्थान्तरविशिष्ट ससारी जीव ही यहाँ जगत् का कर्त्ता है । यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ससारी जीव में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप क्रियात्रय के कर्तृत्वविज्ञान की शक्ति के साधनों का अभाव लोकव्यवहार में

- १ स्वरोऽन्यजातिविशिष्टो यमनशयनासवस्थाभेदाज्जात्यन्तरमाश्रयतीत्येतादृक् । २ लणिकवादिसिद्धान्त इति यावत् । ३ इतीति—दाष्टी-तावद्योतीतिशब्द । तथा च एवमारमन्थपि नावस्थाभेदात्स्वरूपभेद इत्यर्थः । ४ लुप्येति लुप्येति पाठान्तरम् । वातिके यथा—'स्वभावमपि ज्ञानान्चेदस्मि शीतो भवेद्भुवम् । सर्वप्रमाणकोपसर्व स्यादवशरोत्तरमिति' ॥४४०॥ यो भावो यद्धर्मको मितो नासी तद्धर्म व्यभिचरत्यतिप्रसङ्गादिति भावः । ५. तथैव । ६ उत्पत्त्यादिक्रियात्रयम् । ७ प्रपञ्चेन—जगत्कर्त्तृत्वविरतिरासक्युक्तिविरतिरेण महत्त्व युक्तिषु निर्दोषत्वम् तात्पर्यागमवत्सापत्न्यं च । ८. ईश्वरभावे । ९ ईमिति । १० देहाभावे । ११. मुक्तपुरवत् । १२. ईश्वरस्य ।





'आकाशस्तस्मिच्छेत्' इति । "सता सोम्य तदा संपन्नो भवत्यहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः पर आत्मनि संप्रतिष्ठते" इत्यादिश्रुतिम्य आकाशशब्दः पर आत्मेति निश्चीयते । 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति प्रस्तुत्य तस्मिन्नेवाऽऽत्मशब्दप्रयोगाच्च । प्रकृत एव पर आत्मा । "तस्माद्युक्तमेवमेवास्मादात्मन इति परमात्मन एव" "सृष्टिरिति । संसारिणः सृष्टिस्थितिसंहारज्ञानसामर्थ्याभावं चावोचाम ।

अथ चाऽऽस्तेत्येवोपासोताऽऽस्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्या प्रस्तुता । ब्रह्म-

इति । इतश्चाऽऽकाशशब्दस्य परमात्मविषयतेत्याह— दहरोऽस्मिन्निति । य आत्माऽप्यहत्तपाम्नेत्यात्मशब्द-प्रयोग । प्रतिषधने परस्याऽऽकाशशब्दवाच्यत्वे फलितमाह—प्रवृत्त एवेति । तस्य प्रकृतत्वे लब्धमर्थमाह—तस्मादिति । इतश्च परमादेव प्राणादिसृष्टिरित्याह—मसारिण इति । "यन्महता प्रपञ्चेनेत्यादाविति शेष ।

अस्तीश्वरो जगत्कारणं ब्रह्म "तदेव जीवस्य स्वरूप" तस्यैवमुपनिषदिति सिद्धान्तमाशङ्क्य हूयति—अत्र चेति । "तृतीयोऽध्यायः सप्तम्यर्थः । का पुनः सा ब्रह्मविद्येति तत्राऽह—ब्रह्मविषय चेति ।

उत्तने यह सोया करता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा आकाशशब्दवाच्य परमात्मा ही कहा गया है । "हे सोम्य ! सोते हुए वह सत् से पूर्ण रहता है", "प्रतिदिन वहाँ जानी हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं जानती है", "यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर (न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का)", "परमात्मा मे सम्यक् प्रकार से स्थित होती है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से आकाशशब्द से कहा जाने वाला परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय होता है । तथा "इसमें अन्तराकाश दहर है" इस प्रकार उपद्रम करके उसी अर्थ में "आत्मा" शब्द का प्रयोग भी किया गया है । इसलिये यहाँ परमात्मा का प्रकरण है । अतः "इसी प्रकार इस आत्मा से" इस श्रुतिमन्त्र द्वारा परमात्मा से ही सृष्टि होती है, यह कहना ठीक ही है । इनके अतिरिक्त अगत् को उत्पत्ति, स्थिति और संहार के ज्ञान की शक्ति का अभाव ससारी जीव में हम पहले ही कह चुके हैं ।

(पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) उपनिषद् के प्रथम अध्याय में भी "आत्मा है—उसकी इस रूप से उपासना बरे", "उत्तने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ"—इम श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्या का

१ आकाश इति—आवागमशब्दस्याब्रह्मत्वे प्रवृत्तज्ञानप्रकृतप्रक्रिये स्थाना ॥ हि धीपूर्वैर्कारिणोऽप्रवृत्तौक्तिर्युक्तेति भावः । वार्तिके यथा—'ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति प्रवृत्त्य ब्रह्मवोधनम् । अब्रह्माप्रवृत्तं दूयात् कथं राजातिपण्डितः ॥ ४४१॥ २ वाक्ये । ३ छा० उ० । ४ मुक्तौ । ५ किं च प्रतिषधनवाक्यस्याकाशशब्दस्य समारिपरत्वे श्रुत्यन्तरविरोध इत्याह—नतेति । अस्या अपि श्रुते सगारिविषयत्वमस्तिवति चेन्न सप्राम्ना ब्रह्मणोऽत्र विवक्षितत्वात् अगत्या सदवेत्यादिप्रथममङ्गादिति भावः । नयवस्थापययोगिप्रवृत्तावगास्य समारित्वमेव युक्तमित्याशङ्क्याऽह—अहरहरिति । ६ जानति । ७ बृ० उ० ४।३।२१ । ८ प्र० उ० ४।६ । ९ छा० उ० ८।१।१ । १० तस्मात्—प्रतिषधने परस्यैवाकाशशब्दवाच्यत्वेन प्रवृत्तत्वात् । ११ यकानात् । १२ प्राणादे । १३ बृ० उ० ४४५ पृष्ठभाष्ये । १४ नेश्वरस्तस्य इति भावः । १५ प्रत्यगभिधब्रह्मण । १६ उपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ।



शास्त्रमर्थवादो भविष्यति । सर्वतर्कशास्त्रलोकन्यायैश्चैत्रमविरोधः स्यात् ।

न । मन्त्रब्राह्मणवादेभ्यस्तस्यैव प्रवेशश्रवणात् । 'पुरश्चक्र इति प्रकृत्य पुरः पुरुष आविशदिति "रूपं 'हेपं' प्रतिरूपो बभूव 'तदस्य रूपं 'प्रतिचक्षणात्' " 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवद' न्येदास्ते" इति सर्वशास्त्रासु सहस्रशो मन्त्रवादाः सृष्टिकर्तुरेवासंसारिणः शरीरप्रवेशं दर्शयन्ति । तथा ब्राह्मणवादाः "तत्सृष्टा तदेवानुप्रा-  
विशत्" "स एतमेव सोनानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत्" "सेय देवतेमा" स्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्याद्याः । सर्वश्रुतिषु च ब्रह्मण्यारम्भशब्दप्रयोगादारम्भशब्दस्य च प्रत्यगात्माभिधायकत्वात् "एष सर्वभूतान्तरात्मा"

शास्त्रगतित्वाऽऽह—ब्रह्मेति । मुण्यर्थस्य संभवे किमित्यर्थवाददेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । संसारित्वा-  
संसारित्वादिना नियो विरुद्धयोगोऽप्येवमर्थः श्रोतोऽप्यवदं वयानुपपत्तिरन्यायः ।

विज्ञानात्मविषयत्वं तदस्थेश्वरविषयत्वं "द्योपनिषदो निवारयन्परिहरति—नेत्यादिना । परस्यैव "प्रवेशवादी मन्त्रब्राह्मणवादानुसारहरति—पुर इत्यादिना । यस्यहं ब्रह्मेति न गृहीयाविति तत्राऽऽह—सर्वश्रुतिषु चेति ।

जीव अससारी ब्रह्म की आत्मरूप से भावना नहीं कर सकता । आत्मा को ब्रह्मभाव से प्रतिपादन करने वाला शास्त्र भी अर्थवाद ही होगा । उनका अर्थवाद स्वीकार करने पर समस्त युक्ति, शास्त्र और लौकिक न्यायो से अवरोध हो जायगा ।

(सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का निरास करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणवाक्यों द्वारा उस परब्रह्म का प्रवेश सुना गया है । "परमात्मा ने दो पैरो वाले शरीर बनाये और चार पैरो वाले शरीर बनाये" इस प्रकार उपक्रम करके "(पहले वह पुरुष पक्षी होकर) शरीरो में प्रविष्ट हो गया", "वह रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया, इसका वह प्रतिविम्बरूप प्रकट करने के लिए है", "जो धीर सम्पूर्ण रूपों की उत्पत्ति करके उनके नाम रखकर उन्हीं के द्वारा बोलता रहता है" इस प्रकार सभी शास्त्राग्रां में महत्सो मन्त्रवाक्य सृष्टि के कर्ता अससारी ब्रह्म का ही शरीर प्रवेश प्रवर्णित करते हैं । इसी प्रकार "इमं जगत् की सृष्टि करके वह उसी में प्रविष्ट हो गया", वह इसी ही सोमा को विदीर्ण कर इसी के द्वारा प्रविष्ट हो गया", "उस इस देवता ने सघातात्मा द्वारा परिणत भूतत्रय को त्रिवृत्प्रक्रिया से देवताओं में जीवरूप से अनुप्रवेश करके", "मम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता" इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं । इसके अतिरिक्त समस्त श्रुतिवाक्यों में 'ब्रह्म' को विषय करके ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होने से तथा 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मा का बोधक होने से एव "यह परमात्मा समस्त भूतों का अन्तरात्मा है" इस मुण्डक श्रुति से परमात्मा से व्यतिरिक्त ससारी

१. एवम्—तेषामर्थवादवाक्याभ्युपगमे । २. वृ. उ. २।५।१८ । ३. वृ. उ. २।५।१६ । ४. उपाधिभूत देहम् । ५. प्रतिविम्ब । ६. प्रतिविम्बत्वम् । ७. स्वयायात्स्यप्रस्थापनाय । ८. महावाक्योपनिषदि तै. आ. च । ९. उत्पाद्य । १०. यत्—यः । ११. छा. उ. । १२. सघातात्मा परिणत भूतत्रयम् त्रिवृत्प्रक्रियात्वादिदम् । १३. परमात्मेति यावत् (मु० उ०) १४. सत्यस्य सत्यमिति नाम्ना । १५. सिद्धान्ती ।

इति च श्रुतेः परमात्मव्यतिरेकेण संसारिणोऽभावात् “एकमेवाद्वितीयम्” “ब्रह्मं वेदम्”  
“आत्मं वेदम्” इत्यादिश्रुतिभ्यो युक्तमेवाह ब्रह्मास्मोत्यवधारयितुम् ।

यदेवं स्थितः शास्त्रार्थस्तदा परमात्मनः ससारित्वम् । तथा च सति शास्त्रानर्थ-  
क्यमससारित्वे चोपदेशानर्थक्य स्पष्टो दोषः प्राप्तः । यदि तावत्परमात्मा सर्वभूतान्तरात्मा  
सर्वशरीरसंपर्कजनितदुःखान्यनुभवतीति स्पष्ट परस्य ससारित्वं प्राप्तम् । तथा च परस्या-  
ससारित्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरस्मृतयश्च सर्वे च न्यायाः । ‘अथ कथंचित्प्राणिशरीर-  
संबन्धजं दुःखं संबध्यत इति शक्य प्रतिपादयितुं परमात्मनः साध्यपरिहार्याभावादुपदेशा-

शास्त्रोपपत्त्येकत्वमनिष्टप्रसङ्गाच्च स्वीकृत्यमिति शङ्कने—यदेति । परस्य ससारित्वे तदर्थमा-  
रित्पशास्त्रानर्थक्यं फलितमाह—तथा चेति । ससारिणोऽन्यस्यापि परस्याससारित्वे ससारित्वा  
निमनोऽप्यससारोत्पदेशानर्थक्यं तं विनश्य मुक्तिसिद्धिरिति दोषांतरमाह—अससारित्वे चेति ।  
तत्राऽऽद्य दोषं विवृणोति—यदि तावदिति । ‘न लिप्यते, ज्ञोषु शेन ग्राह्य’ इत्याद्या श्रुतयः । ‘यस्य  
माहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते’ इत्याद्या स्मृतयः । “कूटस्थ्यासङ्गत्वावगो न्याया । द्वितीयं दोषं  
“प्रसङ्गमापाद्य प्रकटयति—अथेत्यादिना ।

जीव का अभाव होने के कारण (हे मोक्ष्य) उत्पत्ति से पूर्व यह दोखने वाला नामरूपात्मक जगत  
(सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् हो या, “यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही  
सबके प्रागे है”, “(विशेष क्या कहे) यह सब कुछ आत्मा ही है” इत्यादि श्रुतियों से “मैं ब्रह्म हूँ” ऐसा  
निर्णय करना उचित ही है ।

जब इस प्रकार उक्त रीति से शास्त्र का अर्थ अभेद में सिद्ध हो जाना है, तब परमात्मा का  
ससारी होना मान लिया जाता है । ऐसे में शास्त्र की अनर्थकता हो जाती है और यदि जीव को  
अससारी मान लिया जाय, तो उसे उपदेश करना व्यर्थ है, इस प्रकार स्पष्ट दोष प्राप्त हो जाता है ।  
तथा यदि परमात्मा ही सभा श्रुती का अनन्तरात्मा है तो सभी शरीरों से होने वाले दुःखों को अनुभव  
करना है, इस प्रकार परमात्मा की ससारित्व प्राप्ति स्पष्ट हो जाती है । परमात्मा के ससारित्व स्वीकृति  
होने पर परमात्मा को अससारित्व प्रतिपादक श्रुति स्मृति और युक्तियाँ बाधित हो जाती हैं । अब यदि  
किसी प्रकार परमात्मा को ‘प्राणिमय के शरीर से होने वाले दुःखों से सम्बन्ध न होना’ प्रतिपादित कर

१ छा उ । २ नु उ । ३ नु उ, छा उ च । ४ उत्तरोत्था । ५ अभेद । ६ तर्हीति  
शेष । ७ परस्य ससारित्वानुपपत्ति च । ८ अथेत्यमयगदो यदार्थक्यं । कथंचित् इति अतः सङ्गत्वादिश्रुति-  
मन्त्रेणेत्यर्थं । प्राणिशरीरेत्यत्र प्राणशरीरेति पाठांतरम् । ९ परमात्मन इति—परम् आत्मन इति च्छेद ।  
परशब्द परन्त्वर्थक्यं । आत्मन जीवस्य । तदेति शेषः । १० साध्येति—साध्यम् अससारित्वं परिहार्यं  
ससारित्वमुपदेशेन तदभावादित्यर्थः । ११ अससारोति—ससारिणा सहभेदस्याससारित्वप्रयोजकत्वं यतो  
दृष्टमीश्वरे इत्याशयः । १२ कूटस्थेति—कूटस्थत्वे नावगतस्य श्रुत्या अससारित्वानुपपत्ति । असङ्गस्य  
चेत्यविद्या न्याया इति द्विदास्य । यद्वा कूटस्थस्यासङ्गत्वादयं कूटस्थत्वेनासङ्गत्वसाधिका युक्त्य इत्यर्थः ।

नयन्यदोषो न शक्यते निवारयितुम् ।

'अत्र केचित्परिहारभावक्षते । 'परमात्मा न साक्षाद्भूतेष्वनुप्रविष्टाः स्वेन रूपेण । किं तर्हि विकारभावमापन्नो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपेदे । स च विज्ञानात्मा परस्मादभ्योऽनन्यश्च । येनान्यस्तेन संसारित्वसंबन्धो येनानन्यस्तेनाहं ब्रह्मेत्यवधारणाहं । 'एवं 'सर्वमविरुद्धं न विध्यतीति ।

तत्र विज्ञानात्मनो विकारपक्ष एता गतयः । पृथिवीद्रव्यवदनेकद्रव्यसमाहारस्य

दोषद्वये स्वयूप्यसमाधिसुत्यापयति—अत्रेति । कथं तर्हि तस्य कार्यं "प्रविष्टस्य जीवत्व तत्राऽऽह—किं तर्हीति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वेऽपि ततो भेदेनाहं ब्रह्मेति धीरभेदे ब्रह्मणोऽपि संसारित्वासाङ्गत्वाऽऽह—न चेति । "तथाऽपि कथं शङ्कितदोषाभावस्तत्राऽऽह—येनेति । एवमिति भिन्नाभिन्नत्वपरामर्शः । सर्वमित्युपदेशा"दिनिर्देशः ।

एकदेशिमत्तं निराकर्तुं विकल्पयति"—तत्रेति । एता गतय इत्येते पक्षा वक्ष्यमाणाः संभवन्ति न गत्यन्तरमित्यर्थः । यथा पृथिवीशब्दितं द्रव्यमनेकावयवसमुदायस्तथा सूतभौतिकात्मकानेकद्रव्यसमु-

भी लिया जाय तो भी असंसारित्व और संसारित्व उपदेश के अभाव होने के कारण जीव को अनर्थ-कतारूप दोष से विमुक्ति मिलनी असंभव है ।

कुछ लोग उपरोक्त प्रस्तुत किये हुए मत का इस प्रकार परिहार करते हैं । कार्य और करण का स्पर्श न हो सकने से ईश्वर का अपने अविकृतस्वरूप से साक्षात् अनुप्रविष्ट होना संभव नहीं है । तो फिर स्वरूपप्रवेश किस रूप में होता है ? ईश्वर ही विकारभाव को प्राप्त होकर जीवात्मत्व को प्राप्त हुआ है और वह जीवात्मा परमात्मा से भिन्न और अभिन्न भी है । जिस रूप से वह भिन्न है, उससे संसारित्व सम्बन्धी है और जिस हेतु से अभिन्न है, उससे "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार निर्णय की योग्यता रहता है । भेद और अभेद दोनों रूप स्वीकार कर लेने से असंसारित्व उपदेशादि की सार्थकता सिद्ध हो जायगी ।

(एकदेशीमतनिरास के लिए सिद्धान्ती विकल्प करता है—) उपरोक्त सिद्धान्त में जीवात्मा

१. अत्र बोधे एव प्रबोधिते सतीति यावत् । २ तस्य साक्षादप्रवेशे कार्यकरणास्पृष्टत्वं हेतुमाह—परमात्मेति । ३ अनुप्रविष्ट ईश्वर इति दोष । ४ अविकृतस्वरूपेण । ५ किं तर्हीति—स्वरूपेणाप्रवेशे किं केन रूपेणेत्यर्थः । ६ जीवात्मत्वम् । ७ प्रतिपेद इति—तथा चैश्वर्यविकार एव जीव इति भावः । "ममैवात्मा" इत्यादिवात् । ८ अन्योऽनन्यत्वेति—सर्वस्य वस्तुनो भिन्नाभिन्नत्वभावत्वात् (धृतराष्ट्रव्यादिना) जीवस्यापि वस्तुत्वादब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्व समुद्भूतरङ्गवदिति भावः । ९ रूपेण हेतुना वा । १० उक्तरीत्या व्यवस्थायां ब्रह्मणो न संसारित्व नाप्युपदेशवैयर्थ्यामिति फलितमाह—एवमिति । तथा च कालिके—'यद्योक्तदोषसंबन्धो नैव सति भविष्यति । इतोऽन्यथा कल्पनाया यतो दोषेणसमति " ॥४७२॥ इति । एवस्य भिन्नाभिन्नत्व विरुद्धत्वादनिष्टमित्याशङ्क्य समुद्भूतरङ्गादिन्यायेन भवमित्याह—इत इति । अत्यन्त भिन्नत्वे-भिन्नत्वं वा कल्पमाने उपदेशार्थकता नापि ब्रह्मणोऽसंसारिता तद्विप्राभिन्नता पारिदोष्यादित्यर्थः ॥ ११. एव भेदाभेदाभ्युपगमे । १२ प्रवेश इति पाठान्तरम् । १३ जीवस्य परभिन्नाभिन्नत्वस्य । १४ आदि असंसारित्वोपदेशसाधनस्पृक् । १५ सिद्धान्ती ।





विज्ञानात्मा संसारो तदाऽपि सर्वोवयवानुगतत्वादवयविन एवावयवगतो दोषो गुणो वेति विज्ञानात्मनः संसारित्वदोषेण परे एवाऽऽत्मा संवध्यत इतीयमप्यनिष्ठा कल्पना । क्षीरवत्सर्वपरिणामपक्षे सर्वश्रुतिस्मृतिकोपः, स चानिष्टः ।

१ "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" "दिव्यो ह्यमृतं पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतः" "न जायते म्रियते वा कदाचित्" "अव्यक्तोऽयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धा एते सर्वे पक्षाः । 'अचलस्य परमात्मन एकदेशपक्षे विज्ञानात्मनः' 'कर्मफलवद्देशसंस्तरणानुपपत्तिः । परस्य वा संसारित्वमित्युक्तम्" ।

स्यादिति प्रथमकल्पनावद्धितीयाऽपि कल्पना-मुच्येत्यर्थः । तृतीय प्रत्याह—क्षीरवदिति । "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्याद्या श्रुतयः । 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्याद्या स्मृतयः । श्रुत्या-विकोपस्यैवृत्त्वमाशङ्क्य वैदिक प्रत्याह—स चेति ।

श्रुतिस्मृती विवेचयन्पक्षत्रयसाधारणं दूषणमाह—निष्कलमित्यादिना । कूटस्थस्य निरवयवस्य काल्पनिकदेशाभ्या परिणामासंभवो न्यायः । जीवस्य परमात्मकदेशत्वे दोषान्तरमाह—अचलस्यति । एकदेशस्यैकदेशित्वतिरेकेणाभावाज्जीवस्य स्वर्गादिषु गत्यनुपपत्तिरित्युक्तमन्यथा । परस्यापि गति स्यान्नहि यदावयवेषु चलत्सु पटो न चलतीत्याह—परस्य वेति । उच्यते यदि तावत्परमात्मेत्या'बाविति शेषः ।

का ही सम्बन्ध सिद्ध होता है । इस प्रकार यह भी एक अनिष्ट कल्पना है । दुग्ध-मुवर्ण का दही-रचक के समान सम्पूर्णरूप में परमेश्वर का परिणाम मानने वालों के पक्ष में भी समस्त श्रुति-स्मृतियों से असंगति होती है, (वेद में विद्वांस की अभिव्यक्ति करने वालों के मत में) यह भी अनिष्ट-कल्पना है ।

"वह कला रहित है अतः क्रिया शून्य (असङ्ग-उदासीनरूप में स्थित) शान्त है", " (वह अक्षर ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण) निरवयव ही दिव्य आकार रहित, बाहर-भीतर अधिष्ठानरूप और कूटस्थ है", "वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है", "वही यह अजन्मा, अमरता, महान्, अजर अमर, अमृत एवं अमय ब्रह्मरूप है", "यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है", "वह अव्यक्त रूप में स्थित है" (आत्मा विमल व्योम के समान स्थित है ।) इत्यादि श्रुतिवाक्य यही सिद्ध करते हैं कि उक्त तीनों-विकल्प श्रुति, स्मृति और युक्ति के प्रतिकूल हैं (अतः प्रयत्न द्वारा उक्त सभी पक्ष रद्दावय है) । कूटस्थ ईश्वर के एकदेश में जीवात्मा है, इस विकल्प में जीवात्मा का कर्मफल वाले स्वर्गादि देशविशेष में जाना असंभव है, तथा परमेश्वर की संसारित्वप्राप्ति आपके द्वारा पहले ही

१ वेदे ब्रह्मवत्स्येति शेषः । २ 'अवे उ ६ १६ । ३ अतः । ४ असङ्गोदासीनतया स्थितम् । ५ अतः उ २२ । ६ बाह्याभ्यन्तराधिष्ठान । ७ कूटस्थः । ८ वृ उ ४।१।२४ । ९ विमल व्योमवस्थितम् । १० त्याग्यान्तेजः प्रयत्नतः । ११ कूटस्थस्य । १२ कर्मफलवन्तं देवं स्वर्गादिकं प्रति । १३ भवतिद्वारेति शेषः । १४ क उ १२ १८ । १५ 'एष महानज आत्मा' । १६ 'अविकार्योऽयमुच्यते' । १७ गत्यनुपपत्तिः । १८ वृ उ ४११ पृष्ठभाष्ये ।

परस्यैकदेशोऽग्निविस्फुलिङ्गवत्स्फुटितो विज्ञानात्मा संसरतीति चेत्तथाऽपि पर-  
स्यावयवरफुटनेन क्षतप्राप्तिस्तत्संसरणे च परमात्मप्रदेशान्तरावयवव्यूहे छिद्रताप्राप्तिरवश-  
त्त्वावयवविरोधश्च । आत्मावयवभूतस्य विज्ञानात्मनः संसरणे परमात्मशून्यप्रदेशाभावाव-  
यवान्तर'नोदनव्यूहनाभ्यां हृदयशूलेनेव परमात्मनो 'दुःखित्वप्राप्तिः । । ।  
अग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतेन दोष इति चेन्न । श्रुतेर्ज्ञापकत्वात् । न शास्त्रं

जीवस्य संसारित्वेऽपि परस्य तन्नास्तीति शङ्कते—परस्येति । परस्य निरवयवत्वश्रुतेरवयव-  
स्फुटनानुपपत्तिं मन्वानो वूययति—तथाऽपीति । 'यत्र परस्यावयव स्फुटति तत्र तस्य क्षत प्राप्नोति  
तदीयावयवसंसरणे च परमात्मनः प्रदेशान्तरेऽवयवानां 'व्यूहे सत्युपचयः स्यात्तथाच' परस्यावयवा-  
पतो निर्गच्छन्ति तत्र च्छिद्रताप्राप्तियंत्र च ते गच्छन्ति तत्रोपचय स्यादित्येकयमक्षणमशूलमनण्वहृत्स्व-  
मित्यादिवाक्यविरोधो भवेदित्यर्थः । परस्यैकदेशो विज्ञानात्मेति पक्षे दुःखित्वमपि तस्य दुर्वारमापते-  
दिति बोधान्तरमाह—प्राग्भावमयेति ।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिवशात्परस्यावयवा जीवाः सिध्यन्तीत्यतो जीवानां परं कदैश्वर्ये  
"नोक्तो दोषो" इत्यत्र तस्मिन् युक्तपक्षेऽपि शङ्कते—अग्निविस्फुलिङ्गादीति । शास्त्रार्थो  
युक्तिविरुद्धो न सिध्यतीति वूययति—न श्रुतेरिति । "न जयं विष्णुमिति—न शास्त्रमिति । हेतुभाग-

प्रतिपादित की जा चुकी है ।

यदि कहीं बि अग्नि से चिनगारी के समान परमात्मा का एकदेश रूप जीवारमा उससे विमुक्त  
होकर संसरण करता है, तो भी जीव के अवयव वै स्फुटित भ्रम होने से परमात्मा में क्षतप्राप्ति होगी,  
तथा उनके संसरण होने पर परमेश्वर के अग्न्य देशस्य अवयवसंघात में छिद्रता की भी प्राप्ति होगी ।  
"वह आत्मा सूक्ष्मगरी से रहित अक्षत है" इस ईश्वोपनिषद्वाक्य में विरोध आने अग्रेसर । परमेश्वर  
से शून्य देश का सर्वथा अभाव होने के कारण आत्मा के अवयवभूत जीवात्मा के संसरण होने पर  
अवयवान्तर के निर्गमन और ममूहन के कारण परमात्मा को हृदयशूल के समान दुःख की प्राप्ति होगी ।  
(यहाँ पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) किन्तु "अग्नि की चिनगारियों" आदि का दृष्टान्त प्रति-

१ परमादिमुक्त । २ तथापि—परमादात्मनोऽग्नेविस्फुलिङ्गवत् स्फुटितोऽग्नौ जीव तस्मै च गतिरिति  
वदुक्ताभ्युपगमेऽपि । ३ अनावयवणम् (ई उ ८) । ४ निवगसमूहनाभ्याम् । नोदनेति—'वारिणो  
भस्मसंचारे छिद्रसमयने यथा । भ्रमत्यु तद्वज्जीवेण प्राप्नुत परमात्मन ॥ वा ४८८ ॥ ५ दुःखित्वेति—  
जीवस्य संचरणमुपेत्यदमुक्त वस्तुतस्त्येव नास्तीत्याहुर्वातिकाचार्यास्तथाहि—'स्वकारणातिरेकेण वृत्ति कार्यस्य  
नान्यत ॥ परमात्मैव वृत्तिः तत्कृतो जीवस्य समूहः । स्वप्नसंचारवत्स्माज्जीवसंचार इत्येते ॥ ४८९ ॥ इति । उक्त  
महद्वदुक्त कष्टनादिषु देहिनाम् । परमात्मनो महद्वदुक्त जीवसंचारोऽप्यत ॥ ४९० ॥ इति । उक्त  
सामान्यन्याय प्रवृत्त योजयति—परमेति । कथं तर्हि तस्य संचरणधीर्प्रान्तेत्याह—स्वप्नेति ॥ तत्संचारो  
वस्तुतस्त्येव नेष्टश्चेन्मयाऽपि आत्मनोऽपेतस्तेन स्वात्मवस्ते ब्रह्मवदित्याहुश्चाऽह—स्यास्तनुजिविति । ६ आप-  
कत्व हि भवति प्रमाणस्य न वारकत्वम् । ७ यदेवावच्छेदेन । ८ समूहे । ९ परमात्मन क्षतोपचय-  
स्वीकारे च । १० लोभेरशाशित्वादे शास्त्रसिद्धत्वात् । ११ नोक्त—अन्यस्य परमात्मन इत्यारम्योक्त ।  
१२ नावतरति—तत्स्थितत्वादेरपि शास्त्र एव सिद्धेति भावः । १३ प्रतिज्ञाभावम् ।

'पदार्थानन्यथा 'कर्तुं' प्रवृत्तम् । किं 'तर्हि' यथाभूतानामज्ञातानां ज्ञापने । 'किञ्चातः । शृण्वतो येद्ववति । 'यथाभूता' भूतार्थानां पदार्थधर्मा लोके प्रतिद्वान्तदृष्टान्तोपादानेन तदविरोधेव वस्तुवन्तरं ज्ञापयितुं प्रवृत्तं शास्त्रं न लौकिकवस्तुविरोधज्ञापनाय लौकिकमेव दृष्टान्तमुपादत्ते । उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यादार्थान्तिकासंगतेः । 'न ह्यग्निः शीत आदित्यो न तपतीति वा "दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम् । "प्रमाणान्तरेणान्यथाधिगतत्वाद्वस्तुनः ।

माकाङ्क्षापूर्वकं विभजते—किं तर्हीति । स्मृत्यादिव्यावृत्त्यर्थमज्ञातानामित्युक्तम् । अस्तु शास्त्रमज्ञातार्थज्ञापकं तथाऽपि परस्य नास्ति सावयवव्यमित्यत्र किमायातमिति पृच्छति—किञ्चात इति । शास्त्रस्य यथोक्तस्वभावत्वे यत्परस्य निरवयवत्वं फलेति तदुच्यमानं समाहितेन श्रौतव्यमित्याहुः—शृण्वति । "तत्र प्रथमं लोकाविरोधेन शास्त्रप्रवृत्तिं दर्शयति—यथेति । आदिगदेन भावाभावादि गृह्यते । पदार्थत्वेव भवेत् "पारतन्त्र्याद्धर्मशब्दस्तेषां लोकप्रसिद्धपदार्थानां दृष्टान्तानामुपन्यासेनेति यावत् । तदविरोधि लोकप्रसिद्धपदार्थविरोधीत्यर्थः । वस्तुवन्तरं निरवयवादि दार्ष्टान्तिकम् । तदविरोधेवेत्येवकारस्य व्यावर्त्यमाह—न लौकिकेति । विषये दोषमाह—उपादीयमानोऽपीति । सामान्येनोक्तमर्थं दृष्टान्तविशेषनिदिष्टतया स्पष्टयति—न हीति । अग्नेरहणत्वमादित्यस्य तापकत्वमन्यथेष्टपृच्छते ।

पादन करने वाली श्रुति होने के कारण ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं (इसपर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुति के प्रमाणों की नकारात्मकता सिद्ध होती है । शास्त्र प्रत्यक्षादिप्रमाण से निश्चित हुए पदार्थों का अन्यथा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होता । तो फिर क्या करने के लिए प्रवृत्त होता है ? यथास्वरूप यथास्थित अज्ञात अर्थों का ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त होता है । शास्त्र के अज्ञातज्ञापन स्वभाव होने पर भी परमात्मा के निरवयवस्वरूप होने पर क्या उपलब्धि हुई ? इससे जो होता है, वह सुनिये । लोकव्यवहार में जिस प्रकार के स्थूल-सूक्ष्मादि पदार्थ यानी धर्म प्रसिद्ध हैं, उन्हें दृष्टान्त के द्वारा लोकप्रसिद्ध पदार्थ के विरोधी एक अन्य वस्तु को बतलाने के लिए शास्त्र प्रवृत्त होता है । वह लौकिक वस्तुओं का विरोध ज्ञापन करने के लिए लौकिक दृष्टान्तों को ही ग्रहण नहीं करता । दार्ष्टान्तिक से वैपम्य होने का कारण ऐसा दृष्टान्त ग्रहण किए जाने पर भी व्यर्थ ही होगा । अग्नि शीतस्वभाव वाली है, अथवा सूर्य तपनशील नहीं है, यह बात सैकड़ों अनुमानों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती है क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से वह वस्तु दूसरे प्रकार की जानी जाती है ।

एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से (लौकिक-वैदिक व्यवहार में) विरोध भी नहीं होता । जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं ज्ञात होती, उसी को दूसरा प्रमाण ज्ञात करवाता है । लौकिक पद और

१. प्रत्यक्षादिमाननिश्चितान् । २ तर्हि किं कर्तुं प्रवृत्तम् । ३ यथास्वरूपाणां यथास्थितानामर्थानाम् । ४. शास्त्रस्याज्ञातज्ञापनस्वभावत्वेऽपि परस्य निरवयवत्वे किं लब्धम् । ५. मादृशा । ६ स्थूलसूक्ष्माः । ७. पदार्था एव धर्मा । ८ उपन्यासेन । ९ लोकप्रसिद्धपदार्थाविरोधि । १०. असंगत्या—असाम्यात् । ११. वैपम्यादिति यावत् । १२. अनुमानशतेनापीति यावत् । १३. प्रत्यक्षादिना । १४. शास्त्रस्य यथोक्तस्वभावत्वे स्थिते सति । १५. पारतन्त्र्य हि धर्मनक्षणम् ।



'नैकत्वप्रत्ययाहं' । तत्रैवं सति विज्ञानात्मनः परमात्मविकारांशत्ववाचकाः शब्दाः 'परमात्म-  
 कत्वप्रत्ययाधितस्य' । उपक्रमोपसंहाराभ्यां च । सर्वासु ह्युपनिषत्सु पूर्वमेकत्व' प्रतिज्ञाय  
 'दृष्टान्तं' हेतुमिश्र परमात्मनो विकारांशादित्वं जगतः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसंहरति । तद्य-  
 'येहैव' तावदिव' सर्वं यदयमात्मेति प्रतिज्ञायोत्पत्तिस्थितिलयहेतु 'दृष्टान्तं' विकारविकारित्वा-  
 द्येकत्वप्रत्ययहेतून् प्रतिपाद्यो नन्तरमबाह्यम'यमात्मा ब्रह्मेत्यु'पसंहारिष्यति । 'तस्मादुपक्रमो-  
 पसंहाराभ्यामयमर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययब्रह्मन् उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि  
 वाक्यानीति । अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च ।

स्थिते बाष्पांतिकमाह—तत्रेति । परमात्मना सह जीवस्यैकत्वविषय "प्रत्ययमायातुमिच्छन्तीति  
 तपोक्ताः । "तयामेकत्वप्रत्ययावतारेहेतुत्वे हेतुवन्तर संगृह्णाति—उपक्रमेति । "तदेव स्फुटयति—  
 सर्वासु हीति । उत्क्रमयंपुबाहरणनिवृत्तया "विभजते—संशयेति । इहेति प्रकृतोपनिषदुक्तिः । आदि-  
 शब्देनाशाशित्वादि गृह्यते । विवृत सग्रहवाक्यमुपसंहरति—तस्मादिति । 'तैषां स्थाप्यनिवृत्ते दोषं  
 ब्रह्मेकत्वप्रत्ययार्थत्वे हेतुवन्तरमाह—अन्यथेति ।

उसी प्रकार अशी के साथ अश भी अभेदनिश्चय का विषय है । ऐसा समझ लेने पर जीवात्मा को  
 परमात्मा का विकार या अश ब्रतलाने वाले शब्द परमात्मा के साथ उसकी ऐकात्म्यप्रतिपत्ति बनाने  
 के लिए है । उपक्रम और उपसंहारपरक श्रुतिवाक्य से ऐकात्म्यप्रतिपत्ति सिद्ध होती है । ममस्त  
 उपनिषद्ग्रन्थो में पहले जीवात्मा और परमात्मा के एवत्व की प्रतिज्ञा कर बुद्धिमि आदि दृष्टान्त एवं  
 तज्जगत्त्वादिरूप हेतुओं के द्वारा जगत् को परमात्मा का विकार या अश्यादि बतलाकर पुन, उनके  
 ऐकात्म्य का उपसंहार किया है । जैसा कि यहाँ भी उपनिषत् में "यह जो कुछ है, यह सब एकमात्र  
 आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छोड़कर पृथक् इनकी उपलब्धि नहीं  
 होती है)" ऐसी प्रतिज्ञा कर उत्पत्ति, स्थिति एवं लयरूप ब्रह्म हेतु और दृष्टान्तों द्वारा उनके ऐकात्म्य-  
 प्रतिपत्ति के हेतुभूत विकार और विकारित्वादि का प्रतिपादन कर "यह यह ब्रह्म (कारणरहित,  
 कारणरहित, विजातीय द्रव्य) ससर्गशून्य और अबाह्य है", "यह आत्मा ही सब का अनुभव करने वाला  
 परमात्मा है" इस प्रकार उपसंहारात्मक श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन किया जाएगा । अतः, उपक्रम और  
 उपसंहार के द्वारा यह अर्थ निश्चित होता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का प्रतिपादन  
 करने वाले श्रुतिवाक्य परमात्मा के लिए उसकी ऐकात्म्यप्रतिपत्ति की दृढ़ता कराने के लिए है । ऐसा न  
 मानने से वाक्यभेद का प्रसङ्ग आ जायगा ।

सभी उपनिषदों में परमात्मा के साथ जीवात्मा के ऐकात्म्यज्ञान का उपदेश किया जाता है,  
 आगम के तात्पर्य जानने वालों को इसमें जरा भी संशय नहीं है । उत्पत्त्यादिवाक्यों की भी उम

- १ अभेदनिश्चयविषय । २ ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्थ इति यावत् । ३ जीवपरयो । ४ बुद्धिम्यादिभि ।
- ५ तज्जगत्त्वादिरूप । ६ अर्चनोपनिषदि । ७ वृ उ २।४।७ । = उक्तेः । ८, कार्यकारण-  
 जातिव्यतिरिक्तम् । १० अनेन प्रत्ययभेद प्रादजि । ११ वृ उ २।४।१६ । १२ आदिमध्यावसानेषु  
 - श्रुतेरैकरूपत्वात् । १३ निश्चयम् । १४ सृष्टिवाक्यानामेकात्म्यप्रतिपत्ती तात्पर्यवद्भव । १५, सगृहीत-  
 हेतुत्वमेव । १६ विवृणोति । १७ सृष्टिवाक्यानाम् ।

सर्वोपनिषत्सु हि विज्ञानात्मनेः परमात्मनैकत्वप्रत्ययो विद्योयत इत्यविप्रतिपत्तिः सर्वेषां मुपनिषद्वादिनाम् । तद्विषये कश्चिदप्ययमे च संभवत्युत्पत्त्यादिवाक्यानां वाक्यान्तरत्व-कल्पनायां न प्रमाणमस्ति । फलान्तरं च कल्पयितव्यं स्यात् । तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वप्रतिपादनपरः ।

अत्र च संप्रदायविद आख्यायिकां संप्रचक्षते—कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र

“समवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते” इति ग्यायेनोक्तं प्रपञ्चयति—सर्वोपनिषत्स्विति । किं तेषां स्वार्थनिष्ठत्वे भूतफलाभावात्फलान्तरं कल्पनीयम् । न चैकत्वप्रत्ययशेषतया “तत्फलं निराकाङ्क्षं तेषु तत्कल्पना युक्ता ।” इष्टे सत्यदृष्टकल्पनानेव कोशादिस्थाह—फलान्तरं चेति । उत्पत्त्यादिश्रुतीनां स्वार्थनिष्ठत्वात्संभवे कतिनमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यमवश्यपरं तत्त्वैवः सृष्ट्यादिवाक्यमित्युक्तेऽयं द्विडाचार्यसन्निमाह—अत्र चेति । “तत्र दृष्टान्तरूपाणां स्वायिका प्रपञ्चयति—कश्चिदिति । “जातमात्रे प्रागवस्थाधामेव राजा-ऽस्मोत्यभिमानाभिष्यक्तेरित्यर्थः । ताभ्यां तत्परित्यागे निमित्तविशेषस्थानि श्रितस्वद्योतमार्थं किलेस्यु-

“तत्त्वमसि” इत्यादि वाक्य के साथ ऐक्यविधि के साथ शेषशेषित्वभाव संभव होने पर उन्हें विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाला मानने में कोई प्रमाण नहीं है । इसके प्रतिरिक्त (“फनवत्सन्निधौ अफल तदङ्गम्” इस श्रुत्य के विरोध से) फलान्तर को कल्पना करना पड़ेगा । इसलिए उत्पत्त्यादि श्रुतिप्रां जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्यात्म्यज्ञान स्थापित करती है ।

(ब्रह्मात्मैक्य ही समस्त वेदान्तों का सार है, इस अमोघ अर्थ में) यहाँ साम्प्रदायिक लोग यह आख्यायिका कहते हैं—किसी राजपुत्र का, जन्मते ही माता-पिता द्वारा त्यक्त कर दिये जाने पर व्याध के घर में लालन-पालन किया गया । वह राजपुत्र अपनी राजा की स्वनिष्ठ वत्स-परम्परा को न जानने के कारण अरने को व्याधप्राप्ति का ही मानकर व्याधप्राप्ति के कर्मों का ही अनुशीलन करता था; “मैं राजा हूँ” ऐसा मानकर राजोचित किसी कर्म का भी अनुशीलन नहीं करता था । फिर जब परम कर्णालु पुरुष, जो राजपुत्र की राज्यलक्ष्मी-प्राप्ति को योग्यता जानता है, उस उसकी राजपुत्रता

१. उपदिश्यते । २. सर्वेषामिति । तथा चैक्यमेवामार्थोऽल्लख्यद्वयसमस्तत्त्वैरिति भावः । सर्वेषां वेदान्त-वाक्यानामस्य महात्म्येऽप्यवान्तरतत्त्वपर्येण सृष्ट्यादिरपि विवक्षितस्तत्त्वान्वयैरित्याहुः—तद्विधीति । ऐक्यविधितत्त्वमस्यादिवाक्यं तेषां कवाक्यत्वेन योग्य शेषशेषित्वं तस्मिन् संभवति सति सृष्ट्यादिवाक्यानां सृष्ट्याद्यर्थत्वकल्पना न युक्ता समवत्येकवाक्यत्वं तदभेदस्यान्याम्यत्वादिति भावः । ३. आगमनात्ययेविदाह । ४. किं च सृष्ट्यादिवाक्यानां स्वार्थनिष्ठत्वे मानं फलं वा कल्पकं नाऽऽह इत्याह—न प्रमाणमिति । ५. न द्वितीय—फलान्तरमिति । न च तत्कल्पयितुं तत्र फनवत्सन्निधौ अफल तदङ्गमिति न्यायविरोधादिति । ६. सत्त्वार्थः । ७. ब्रह्मात्मैक्ये सर्ववेदान्तान्वयानमित्यभिमतार्थः । ८. जानमाने जन्मनि सत्यवेति यावत् । ९. तत्रवातिशयाक्यमित्यर्थः । १०. सृष्टिवाक्यानाम् । ११. एवम् प्रतीयते येष्वन्यान्वैक्यप्रत्ययानि वाक्यानि तच्छेषतयेत्यर्थः । एवत्प्रत्ययकृतस्वमस्यादिवाक्यशेषतयेति यावत् । फनवत्सन्निधौ अफल तदङ्गमिति न्यायविरोधादिति भावः । १२. स्वार्थनिष्ठत्वज्ञेन स्वतन्त्रकले । १३. फलान्तरकल्पना । १४. श्रुतेः फने । १५. दृष्टान्तदाष्टान्तिकरूपास्याविक्रमयोग्ये । १६. वक्ष्यति । १७. जानमान इतीति पाठान्तरम् ।

एव मातापितृभ्यामपविद्धो व्याधगृहे संबधितः सोऽमुष्य 'वंश्यतामजानन्व्याधजातिप्रत्ययो व्याधजातिकर्माण्येवानुवर्तते न राजाऽस्मीति राजजातिकर्माण्यनुवर्तते । यदा पुनः कश्चिः स्परमकोरुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति न त्वं व्याधोऽमुष्य राजः पुनः कथंचिद्व्याधगृहमनुप्रविष्ट इति । 'स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपंतामहोभात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति' । तथा किलायं परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिव तज्जातिरेव विभक्त 'इह देहेन्द्रियादिगहने' प्रविष्टोऽसंसारी

क्तम् । व्याधजातिप्रत्ययस्तत्प्रयुक्तो व्याधोऽस्मीत्यभिमानो यस्य स तथा । व्याधजातिकर्माणि तत्प्रयुक्तानि मांसविक्रयणादिनि । राजाऽस्मीत्यभिमानपूर्वकं तज्जातिप्रयुक्तानि परिपालनादीनि कर्माणि । अज्ञानं तत्कार्यं बोधस्या ज्ञानं तत्फलं च बोधयति—यदेत्यादिना । बोधनप्रकारमभिनयति—न त्वमिति । कथं तर्हि शयनवेदमप्रवेशस्तत्राऽह—कथंचिदिति । राजाऽहमस्मीत्यभिमानपूर्वकमात्मनः पितृपंतामहो पदवीमनुवर्तते इति संबन्धः । दार्ष्टान्तिकरूपमाख्यायिकामाच्छेद—तथेति । जीवस्य परमात्मिभागे निमित्तमज्ञानं तत्कार्यं च प्रतिष्ठमिति द्योतयितुं क्लेशयुक्तम् । तज्जातिस्तत्त्वभावो बंस्तुतः परमात्मनो भवेति यावत् । इहेत्यपरोक्षानुभवगम्यतोक्तिः । गहनं गम्भीरं वनम् । संसारयमनुवर्तते हेतुमाह—

का बोध करा देता है और यह बतला देता है कि "तू व्याध की वशपरम्परा में नहीं हुआ, भ्रमुक राजा का पुत्र है जो कि किसी प्रकार व्याध के घर में तू आ गया है" ऐसा भावपुरुष का उपदेश है । वह इस प्रकार उस कथन के फल से ज्ञान प्राप्त कर व्याधजाति के प्रत्यय से होने वाले सभी कर्मों को छोड़कर "मैं राजा हूँ" ऐसा प्रत्यय करके (राज्याभिषेक प्रजापालनादि) अपने पिता-पितामहों की मर्यादा का अनुशीलन करने लगता है । उसी प्रकार अग्नि की चिमनारियो के समान परमात्मा से विभक्त यह जीव उसी परमात्मा के स्वरूप में ही यहाँ देह और इन्द्रियादिरूप गहनवन में प्रविष्ट होकर असंसारी होते हुए भी आत्मा-परमात्मा का ऐकान्त्यज्ञान न होने के कारण "मैं देह और इन्द्रियादि का सघातरूप, कुश, स्थूल, सुखी या दुःखी हूँ" ऐसा प्रत्यय होने के कारण देह और इन्द्रियादि सासारिक धर्मों का अनुशीलन करने लगता है । किन्तु "तू सघातात्मक रूप नहीं है, बल्कि असंसारी ब्रह्म ही है" इस प्रकार आचार्य द्वारा प्रतिबोधित कराये जाने पर यह एषणात्रय की अनुवृत्ति को छोड़कर "मैं ब्रह्म ही हूँ" ऐसा ज्ञान लेता है ।

१ त्यक्त । २ राज । ३ स्वनिष्ठम् । ४ इत्याप्तोपदेश । ५ अथ तत्फल स इति । ६ पदवीमिति—मिहसंनारोहप्रराज्याभिषेकप्रजासामनादिमार्गं (मर्यादा)मित्यर्थ । तथा च वार्तिके—  
"राज्याभिषेकमानीति प्राप्य मिहासनं पितु । अवाप्तं राजसमुत्पत्तात्प्राप्तौ नापि चेष्टते ॥ मोहाप्यस्तात्मव्याधत्पान्नोहृष्यतातिरेकत । राजपुत्रत्वतप्राप्तौ नान्यत्विचिदेषते" ॥३१३-३१६॥ इति । ननु सुचिरं शवर-सदने निवसतो राजसुतस्य पुनः राजपुत्रत्वाप्तौ ज्ञानात्प्रतिबन्धवशात् व्यापारान्तरमपक्षितं स्थानेत्याह—  
अवाप्तेति ॥ स्वतश्चैवाप्तं राजपुत्रत्वं कुतस्महि व्याधत्ववीस्तत्राऽह—माहनि । आरोपितव्याधत्वबोधेन राजराज्यस्य तज्ज्ञानमावर्तनीयमित्याहुः प्राप्ताऽह—मोहव्यसेति । तदुच्यते ज्ञानादेवेति नाऽत्रुत्तरबन्धवतीत्यर्थः ।  
७ प्रत्यय क्तम् । ८ जीव । ९ परस्वरूप एव । १० प्रत्यये । ११ वने ।



सन्देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते देहेन्द्रियसंघातोऽस्मि कृशः स्थूलः सुखी दुःखीति परमात्मतामजानन्नात्मनः । न त्वमेतदात्मकः परमेव ब्रह्मास्यसंसारीति प्रतिबोधित, आचार्येण 'हित्वंपणात्रयानुवृत्तिं च ब्रह्मा वास्मीति प्रतिपद्यते । १-१-१

अत्र राजपुत्रस्य राजप्रत्यपवद्ब्रह्मप्रत्ययो दृढो भवति विस्फुलिङ्गवदेव त्वं परस्माद्ब्रह्माणो 'अष्ट इत्युक्ते । विस्फुलिङ्गस्य प्रागग्नेर्भ्रादग्न्येकत्वदर्शनात् । तस्मादेकत्वप्रत्ययदाढ्याय 'सुवर्णमणिलोहाग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्ता नोत्पत्त्याविभेदप्रतिपादनपराः । सैन्धवघनवत्प्रज्ञप्त्ये 'करस' नैरन्तर्यामधारणादे 'कधैवानुद्वृष्टमिति च । यदि च ब्रह्मणश्चित्रपटवद्बुक्षसमुद्रादिवच्चोत्पत्त्याद्यनेकधर्मविचित्रता विजिग्राह्यपितैकरसं सैन्धवघनव-

परमात्मतामिति । उक्तविद्यातत्कार्यविरोधिनी ब्रह्मात्मविद्यां 'सम्भवति—न त्वमिति ।

राजपुत्रस्य राजाऽस्मीतिप्रत्ययवद्वाक्यादेवाधिकारिणि ब्रह्मास्मीति प्रत्ययश्चेकृतं विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुत्येत्याशङ्क्याऽह—अनेति । 'तथापि कथं ब्रह्मप्रत्ययदाढ्यं तत्राऽह—विस्फुलिङ्गस्येति । दृष्टान्तेश्चेकत्वदर्शनं तस्मादिति परामुष्टम् । उत्पत्त्यादि'भेदे नास्ति 'ज्ञात्रतात्पर्यमित्यत्र 'हेत्वन्तरमाह—सैन्धवेति । चकारोऽवधारणादिति पबमनुकल्पति । संगृहीतमर्थं विवृणोति—यदि

(श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्मज्ञान होने पर भी) यहाँ 'अग्नि से विस्फुलिङ्ग के समान तू परमेस्वर से विशिष्ट हूँ' राजपुत्र के इस राजप्रत्यय के समान उसका ब्रह्मीभावप्रत्यय दृढ हो जाता है । क्योंकि अग्नि से विशिष्ट होने से पूर्व विस्फुलिङ्ग की अग्नि के साथ एकता देखी जाती है । इसलिये सुवर्णपिण्ड, मणि, लोह एव अग्नि-विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त एकात्म्यज्ञान की दृढताप्रतिपादन के लिए हैं, उत्पत्ति आदि का प्रपञ्च प्रतिपादन करने के लिए नहीं है । इसके अतिरिक्त 'उसे एकरूप तो ही देखना चाहिए' इस श्रुतिवाक्य से लवणपिण्ड के समान उसे ज्ञानरूप एकरस से व्यवधानरहित परिपूर्ण भी सिद्ध किया गया है । यदि चित्र, पट अथवा वृक्ष या समुद्रादि के समान उत्पत्ति आदि अनेकधर्मों के कारण ब्रह्म की विचित्रता का ही ग्रहण करना इष्ट होता तो 'वह लवणपिण्ड के समान एकरस एव अन्तर-बाह्य से भूय है' इस प्रकार उपसहारात्मक श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन न किया जाता । तथा '(आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को) आकाश के समान अन्तर-बाह्यभूय एकमान विज्ञानघनरूप से ही देखना चाहिए' ऐसे आदेश का श्रोत 'जो इसमें नाना के समान देवता है, (उसे भोजन के कारण बारम्बार जन्म लेना पड़ता है)' ऐसे निन्दामूलक वचन का प्रयोग न होता ।

१. संघातात्मक । २. ओषदेशिकज्ञानफलमाह—हित्वेति । धातिवे यथा—'शम्यग्ज्ञानाग्निमप्युद्वृष्टप्रत्य-
- वत्तत्त्वमहात्मा । हित्वा मोहोत्थमखिल ब्रह्मैव ब्रह्म यात्यथ ॥ प्रत्यक्तत्त्वतोऽप्येवमव्यतिरेकेण मुक्त्ये । अपेक्षाने
- यतो गान्त्यन् किञ्चिन्तापन्नमन्धवि' ॥५२१-५२२॥ इति । अयस्यान्यत्रावीणमाशङ्क्याऽह—ब्रह्मैवेति । तद्वि
- ब्रह्म धातोः प्रत्ययमुक्तम् । स्वात्मनो गन्तव्यत्वाद्योपादित्यत आह—हित्वेति । ज्ञानतत्त्वत्वधोम्ये चार्थात्प्रावर्णाय-
- वृमयत्र आशङ्क्यो ॥ तत्र हेतुमाह—अत्यगिति । ३. यागयादब्रह्मप्रतिपत्तौ जातामपि । ४. विनिष्टः ।
५. सुवर्णपिण्ड । ६. प्रपञ्चेति यावत् । ७. वृ० उ० २०।५।१२ । ८. वृ० उ० २०।५।१३ । ९.
- अत्यवधानेनेत्यर्थः । १०. एकरूपेण (वृ० उ० २०।५।२०) । ११. प्रापयत्याचार्यः । १२. उक्तोत्तरादि ।
१३. प्रपञ्चे । १४. कृष्टिदास्त्रेति यावत् । १५. श्रुत्यन्तरविरोधात्प्यम् ।

'वनन्तरमर्वाहमिति नोपसमहरिष्यदेदधंवानुब्रष्टव्यमिति' च न प्रायोक्ष्यत । 'य इह नानेव पश्यतीति निन्दावचनं च ।

'तस्मादेकरूपैकत्वप्रत्ययदाढ्यायैव सर्ववेदान्तेषूपत्तिस्थितिलयादिकल्पना न 'तत्र-  
त्ययकरणाय । न च निरवयवस्य परमात्मनोऽसंसारिणः संसार्यैकदेशकल्पना न्याय्या  
स्वतोऽवेष्टत्वात्परमात्मनः । 'अदेशस्य परस्यैकदेशसंसारित्वकल्पनायां पर एव संसारीति  
कल्पितं भवेत् ।

अथ 'परोपाधिकृत एकदेशः परस्य घटकरकाद्याकाशवत् । न, "तदा "तत्र विवेकिनां

चेत्यादिना । निन्दावचनं च न प्रायोक्ष्यतेति सवन्ध ।

"एकत्वस्यावधारणफलमाह—तस्मादिति । "एकत्वस्य भेदसहत्वं "धारयितुमेकरूपविशेषणम् ।  
आदिशब्देन प्रवेश"नियमने गृह्यते । न तत्प्रत्ययकरणायेत्यत्र तण्डुलदेनोत्पत्त्यादिभेदो विवक्षितः ।  
"किंच परस्यैकदेशो विज्ञानात्मेत्यत्र तदेकदेश स्याभाविर्को वा स्यादोपाधिको वेति विकल्प्याऽऽद्यं  
ब्रूयति—न चेति । "विषये दोषमाह—अदेशस्यति ।

द्वितीयमुत्पादयति—अथेति । एकदेशस्योपाधिकत्वपक्षे परस्मिन्निवेकवर्तो तद्वैखण्ड्यबुद्धिभाजो  
तदेकदेशो वस्तुतः पृथग्भूत्वा व्यवहारालम्बनमिति नैव बुद्धिर्जायत ओपाधिकस्य स्फटिकसौहित्यव-  
न्निर्गन्धत्वादिषु तस्माह—न तदेति । ननु औवे कर्ताऽह भोक्ताऽहमिति परिच्छिन्नयोः 'सर्वेषामुप-

इत्युक्तौ समस्त वेदान्तवाक्यो मे जो उत्पत्ति, स्थिति एव सय आदि की कल्पना है। वह "मैं  
ब्रह्म हूँ" इस अभेदनिश्चय की छटा के लिए ही है, उन (उत्पत्त्यादि वाक्यो) के निश्चयप्रतिपादन  
कराने के लिए नहीं है। इसके अतिरिक्त निरवयव और अससारी परमात्मा मे संसारित्व एव एकदेश की  
कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि परमात्मा मे स्वत ही अवयवभाव है। निरवयव परमात्मा मे एक-  
देश व संसारीकल्पना करने से "परमात्मा ही संसारी है"—ऐसी कल्पना होने लग जायगी।

और यदि ऐसा माना जाय कि घटाकाश और मठाकाश आदि के समान किसी कल्पित उपाधि

१ न० उ० २।५।१६, ४।५।१४ । २ इति वेति—'यदावान्मुदितमि'त्यादिवाङ्मनसातीतत्व-  
प्रातपादकवचनसमुच्चयार्थस्वकार । तथा च समुद्रतरङ्गादेरिव ब्रह्मात्मके सृष्टिवाक्ये ब्रह्मणो वस्तुतोऽज्ञा-  
शित्वादीष्ट वेत्तदा तस्य बाङ्मनसातीतत्वमद्वितीयत्वं च तात्पर्येण श्रुतिन ब्रूयात्सर्वविशेषस्य तद्विषयत्वादित्यर्थः ।  
३ न० उ० ४।५।१६ । ४ उत्तानेकवाक्यविरोधेन सृष्ट्यादिवाक्यानां स्वार्थं तात्पर्याभावावधारणात् ।  
५ अहं ब्रह्मोत्येवमभेदनिश्चयः । ६ तद्विश्वयोत्पादनाय । ७ अवयवभावात् । ८ निरवयवस्य ।  
९ कल्पितोपाधिभूतः । १० एकदेशस्योपाधिवत्त्वावसरे । ११ परस्मिन्—तदभिन्ने विज्ञानात्मनीति  
यावत् । १२ एकत्वावधारणमेव फल विस्फुल्लिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतीनामित्यर्थः । १३ एकत्वस्य भेदसहत्वंमिति  
तादात्म्यरूपत्वमित्यर्थः । भेदसहत्वात्तदेव तादात्म्यत्वात् । किञ्चिदूषणे भेद किञ्चिदूषणाभेदः । १४  
भेदाभेदापनुत्पत्त्यर्थम् । १५ नियमन शासनम् । १६ ननु शास्त्रस्थाशयित्वादावतात्पर्यात्तदशास्त्रकल्पना  
भा भूतुपादानस्य भूतदे सावयवत्वं दृष्टे ब्रह्मणोऽपि जगदुपादानतया तत्पात्यमित्यादिन्वायास्तु भविष्यन्तीत्या-  
दाङ्क्याऽह—किञ्चेति । १७ विषये स्वतोऽवेष्टस्यापि तस्य संसार्यैकदेशात्पर्यनायोम् । १८ विवेका-  
विवेकताम् ।

परमात्मैकदेशः 'पृथक्सं व्यवहारमागिति बुद्धिरूपमस्ति । अविवेकिनां विवेकिनां चोपचरिता बुद्धिर्द्वन्द्वेति चेत् । न, अविवेकिनां मिथ्याबुद्धित्वात् । विवेकिना च 'सं व्यवहारमात्रा-  
लम्बनार्थत्वात् ।

यथा कृष्णो रक्तभ्राञ्जकाश इति विवेकिनमपि कदाचित्कृष्णता रक्तता चाञ्जका-  
शस्य सं व्यवहारमात्रा लम्बनार्थत्वं प्रतिपद्यत इति न परमार्थतः कृष्णो रक्तो वाञ्जकाशो

लभ्यते । सा च 'तस्य वस्तुतोऽपरिच्छिन्नब्रह्ममात्रत्वान्मञ्जक्रीडनधीवदु'पचरिता । तस्मादु'भयेषा-  
मुक्तान् 'बुद्धिर्द्वयं मा'त्परमात्मैकदेशत्वं जीवस्य दुर्वारमिति बोधयति—अविवेकिनामिति । 'तत्राविवेकिनां  
ययोक्ता बुद्धिरुपचरिता न भवत्यतस्मिन्स्तद्बुद्धित्वेना'विद्यात्वाविति परिहरति—नेत्यादिना । "तथाऽपि  
विवेकिनामोदृशी धीरुपचरितेति चेत्तत्राऽह—विवेकिना चेति । तेषां सं व्यवहारो'दभित्तामिवदनात्म-  
कतावन्मात्रस्याऽऽलम्बन'भाभासपूतो'ऽर्चरतद्विषयत्वात्तद्बुद्धेरपि मिथ्याबुद्धित्वात्'पञ्चरित्वासिद्धि-  
रित्यर्थः ।

विवेकिनामविवेकिना ब्राह्मणमपि परिच्छिन्नधीरुपसंवेद्येतावता न 'तस्य 'वस्तुतो'ब्रह्मा-  
शत्वावि सिध्यतीत्येतद्बुद्ध्यान्तेन साधयति—यथेति । अविवेकिनामिवेत्यपेक्षं । ब्रह्मणि वस्तुतोऽज्ञावि-

के कारण जीवात्मा परमात्मा का एकदेश है ता परमात्मा से अभिन्न विज्ञानात्मा मे विवेकी मनुष्यो  
को ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती कि परमात्मा का एकदेश "मैं जानता हूँ" इस पृथक् व्यवहार  
का विषय होने मे समर्थ है । यदि शङ्का करो कि परिच्छिन्न बुद्धि तो भ्रान्ती और ज्ञानी दोनों को  
होती हुई देखी जाती है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अविवेकियों की वह बुद्धि मिथ्या होती है  
और विवेकियों को "मैं जानता हूँ" ऐसे व्यवहारमान के आलम्बन करने के लिए होती है ।

जिन प्रकार (भ्रान्तियों की तरह) विवेकियों को भी कभी-कभी "प्राकाश काला या ज्ञान  
है" इस प्रकार भ्रान्ति की मलिनता या लालिमा व्यवहारमात्र के मिथ्या-विषयत्व की प्राप्ति हो जाती  
है किन्तु परमार्थतः प्राकाश मलिन अथवा लाल नहीं हो सकता, अतः विद्वानो को ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान  
के विषय मे, ब्रह्म के अग्र-अंश, एकदेश-एकदेशी अथवा विकार-विकारित्वादि की कल्पना नहीं करनी  
चाहिए क्योंकि समस्त श्रुतियों का तात्पर्य समस्त कल्पनाओं की निवृत्तिसार खतलाने मात्र मे है ।

१ जानामीति व्यवहारविषय । २ व्यवहारैति—कर्ता श्रोताह्मितादिरूपस्य व्यवहारमात्रस्य  
आलम्बनं स्वनिष्ठवृत्तादिरूपो मिथ्याभूतो मिथ्योऽर्थो विषयो यस्याविवेकिबुद्धे सा तथा तत्त्ववित्यर्थः । ३.  
मिथ्याविषयत्वम् । ४ जीवस्य । ५ उपचरितेति—उपचारो गुणस्तत्त्वयुक्ता मोक्षोत्पत्त्यं न तु मिथ्याभूतेति  
यावत् । प्रवृत्तेऽन्तःकरणलुपधिसमर्थ एव गुणो द्रष्टव्यः । मञ्जक्रीडनधियां तु क्रोडनवृत्तिसमं स । ६  
विवेकाविवेकताम् । ७ परिच्छिन्नधीरिति यावत् । ८ परमात्मैकदेशत्वं जीवस्येति उक्तधीविषयत्वमेव  
जीवस्य तच्च परिच्छिन्ने एव तत्त्वपरिच्छिन्ने ब्रह्मणीति परैकदेशस्यैव जीवत्वमनुभविकमिति भावः । ९  
उभयोरतगति वा । १० मिथ्यात्वाविति यावत् । ११ अविवेकिमिथ्यात्वेऽपि । १२ ज्ञानादप्रयो-  
गात्प्रसक्तः । १३ मिथ्याभूतः । १४ विषयः । १५ उपचरित्वासिद्धिरिति—उपचारात्म्येति हि मञ्जपादि  
सत्यमेव । १६ जीवस्य । १७ पारमार्थिकम् ।

सर्वोपनिषदा परमात्मैकत्वज्ञापनपरत्वेऽय 'किमर्थं' तत्प्रतिकूलोऽर्थो विज्ञानात्मभेद-  
परिकल्प्यत इति । कर्मकाण्डप्रामाण्यविरोधपरिहारायेत्येके । कर्मप्रतिपादकानि हि  
वाक्यान्त्येकक्रियाकारकफलमोक्तकर्त्राश्रयाणि । 'विज्ञानात्मभेदामावे ह्यससारिण एव पर-  
मात्मन 'एकत्वे' कथमिष्टफलासु क्रियासु प्रवर्तयेयुरनिष्टफलाभ्यो वा क्रियाभ्यो 'निवर्तयेयुः ।  
कस्य वा बद्धस्य मोक्षायोपनिषदारभ्येत । अपि च परमात्मैकत्ववादिपक्षे कस्मा  
उपदेश कस्य उपदेशः ग्रहणफलम् । बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशस्तदभाव उपनिषच्छा-  
स्त्र "निर्विषयमेव ।

न्यायागमस्या जीवेश्वरद्वयोरज्ञातितादिकल्पनां निराकृत्य वेदान्तानामवधारणपरत्वे स्थिते सति  
द्वैतासिद्धिं फलतोऽस्याह—सर्वोपनिषदामिति । एकत्वज्ञानस्य सनिबान्द्वैतध्वनिः 'ह्यवयवशब्दायः ।  
प्रकृतं ज्ञानं सत्त्वेन परामुदयते । इत्यद्वैतमेव सत्त्वमिति शेषः । किमर्थमिति प्रश्नं मन्वानो द्वैतिनां  
मतमुत्थापयति—कर्मकाण्डति । वेदान्तानामवधारणपरत्वेऽपि कथं तत्प्रामाण्यविरोधप्रसङ्गस्तत्राऽह—  
कर्मति । तथाऽपि कथं विरोधावकाशं स्यादित्याशङ्क्याऽह—विज्ञानात्मेति ।

"केवलाद्वैतपक्षे कर्मकाण्डविरोधमुक्त्वा तत्रैव ज्ञानकाण्डविरोधमाह—कस्य वेति । परस्य  
नित्यमुक्तवाक्यस्य "स्वतः परतो वा बद्धस्याभावाच्छ्रुत्याभावस्तथा "बाधिकापमाबाहुपनिषद-  
भ्नासिद्धिरित्यर्थः । कर्मकाण्डस्य काण्डान्तरस्य च प्रामाण्यानुपपत्तिविज्ञानात्मादिभेद कल्पयतीत्यर्था-  
पत्तिद्वयमुक्तं तत्र द्वितीयाध्यायार्धे प्रवक्ष्यति—अपि वेति । "का पुनरुपदेशस्यानुपपत्तिस्तत्राऽह—  
बद्धस्येति । तदभाव इत्यत्र तद्वद्बद्धमधिकरोति । निर्विषय निरधिकारम् । "किंच यद्यर्थापत्तिद्वय-

समस्त उपनिषदो का प्रयोजनं परमात्मा के एकत्वप्रतिपादनं न है फिर विज्ञानात्मा के भेद-  
रूप ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के प्रतिकूल विषय की कल्पना किसलिए की जाती है ? इस पर कुछ ब्रह्मवादी  
मीमांसकों का मत है कि यह कल्पना कर्मकाण्ड के प्रामाण्य के विरोध का परिहार करने के लिए है  
क्योंकि कर्म के प्रतिपादक श्रुतिवाक्य अनेक कर्ता और भोक्ताओं की क्रिया, कारक और फल का  
प्राश्रय करने वाले हैं । परमात्मप्रतियोगिक भेद न होने पर अससारी परमात्मा का अद्वैत रहते हुए,  
वे वाक्य लोगो को इष्टफलो वाली क्रियाओं में किस प्रकार प्रवृत्त करेंगे अथवा अनिष्ट फल वाली  
क्रियाओं से किस प्रकार निवृत्त करेंगे ?

तथा किस बद्ध जीव के मोक्ष के लिए उपनिषत् का प्रारम्भ किया जायगा ? इससे अतिरिक्त  
परमात्मा जीवात्मा का एकत्वप्रतिपादन करने वालों के मत में किसी का परमात्मा के ऐकारण्यज्ञान  
का उपदेश कैसे दिया जायगा और किस प्रकार उसके उपदेश का फल ज्ञान होगा ? क्योंकि बद्ध जीव

- १ तत्कल्पना न न्यायस्यास्य किञ्चिद । २ ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रतिकूल । ३ मीमांसका । ४ अनेके  
ये भोक्ताः कर्तार । ५ परमात्मप्रतियोगिकभेदाभावः । ६ अद्वैतत्व । ७ क प्रवर्तयेयुरिति यावत् ।  
८ वाक्यानीति शेषः । ९ निवर्तयेयुरिति—तथा बाधिकापमाभावप्रयुक्तप्रामाण्यमिति भावः । १० ज्ञानेति  
यावत् । ११ निर्विषयारिणम् । १२ वरकचनान् उपमिति यावत् । १३ द्वैताद्वैतभेदाद्वैतव्यावृत्तये  
केवलेति । १४ स्वभावतः । १५ उपाधितः । १६ शिष्याभावः च । १७ निरुपा । १८ गोचर-  
यति । १९. इह एवाग्रिमभाष्यावतरणं बोध्यम् ।



चेति ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणविप्रतिषेधाच्च । न केवलमुपनिषदो ब्रह्मकत्वं प्रतिपादयन्त्यः स्वार्थविधातं, कर्मकाण्डप्रामाण्यविधातं च कुर्वन्ति । प्रत्यक्षादिनिश्चितभेदप्रतिपत्त्यर्थ-प्रमाणैश्च विरुध्यन्ते । तस्मादप्रामाण्यमेवोपनिषदाम् । अन्यार्थता वाऽस्तु न त्वेव ब्रह्मकत्त्वप्रतिपत्त्यर्थता ।

न, उक्तोत्तरत्वात् । 'प्रमाणस्य हि प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं वा प्रमोत्पादनानुत्पादननिमित्तम् । अन्यथा चेत्तस्मादीनां प्रामाण्यप्रसङ्गाच्छब्दादौ प्रमेये । किंचातः ।

मित्युक्तमुपसंहर्तुमिति शब्दः ।

उपनिषदप्रामाण्ये हेतुवन्तरमाह—प्रत्यक्षादीति । प्रत्यक्षादीनि निश्चितानि भेदप्रतिपत्त्यर्थानि प्रमाणानि तैरिति विग्रहः । 'अध्ययनविध्युपादापिताना कुतस्तासामप्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽह—अन्यार्थता वेति ।

सिद्धान्तयति—नेत्यादिना । 'तदेव स्फुटयितुं' सामान्यन्यायमाह—प्रमाणस्येति । 'स्वार्थे प्रमोत्पादकत्वाभावेऽपि प्रामाण्यमिच्छन्तं प्रत्याह—अन्ययेति । यद्योक्तप्रयोजकप्रयुक्तं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वेत्येतस्मिन्पक्षे किं 'कसतोति पृच्छति—किंचेति । 'तत्र किमुपनिषदः स्वार्थं' बोधयन्ति न वेति

ऐसा नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त ऐकार्थ्यप्रतिपादक श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी विरोध है । ब्रह्म की ऐकार्थ्यप्रतिपादक श्रुतियों केवल स्वार्थविधात और कर्मकाण्ड के प्रामाण्य का ही विधात नहीं करती, अपितु निश्चितभेदज्ञान के प्रयोजक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनका विरोध भी करती हैं । इसलिए उपनिषदें अप्रामाण्य ही हैं अथवा उन श्रुतियों के अध्ययनकाल में जगदीश्वर अन्य प्रयोजन हो सकता है ; वे केवल ब्रह्मकार्थ्यज्ञान प्रतिपादन करने के लिए ही नहीं हो सकती ।

(मिथ्यान्ती उक्त आक्षेप का समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसकी प्रत्युक्ति पहले ही हो चुकी है । प्रमाण का प्रामाण्य या अप्रामाण्य प्रमा की उत्पत्ति करने या न करने के कारण होता है, अन्यथा स्वप्नमेव प्रमा की उत्पादकत्व का अभाव होने पर तो शब्दादि प्रमेय में तत्त्वादि के भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । (पूर्ववादी आक्षेप करता है—) तो इससे

- १ जगदीश्वर इत्यादि सामान्यवर्णनम् । २ बृ० उ० २२६ पृष्ठभाष्ये । उक्तंति—आवकाशं नापि नाप्यन्यदेष इति सम्बन्धप्रत्यादावुक्तमित्यर्थः । तथा च वार्तिके "ब्रह्मास्मीति विधौ जन्मसमवायाना विमुक्तता । यतोऽनुभूयते साक्षात्प्राप्तयेक्य भवेत्तत् ॥ वस्तुमात्रावसायित्वं सम्बन्धे प्रावप्रपञ्चितम् । यतोऽजो नोपनिषदामन्यार्थत्वं 'कथंचनेति" ॥५४१-५४२॥ ३ उक्त स्मारयित्वोपनिषत्प्रामाण्याय प्रमाणाप्रमाणलक्षण तावदाह—प्रमाणस्य हीति । ४. प्रमेति—प्रमोत्पादकत्वमन्तरं न प्रमाणत्वं घट्यदेरपि तत्प्रसङ्गात्प्राप्य तदनुत्पादकत्वं विनाऽप्रमाणत्वं घट्युपादेरपि रूपादौ तत् प्रसङ्गादिति भावः । ५. तथा सति वस्तुत्वस्यैव प्रमाणत्वत्वादिति भावः । ६. उपनिषद्वानुपनिषदुक्तं तव किं सिद्धम् । ७. भेदप्रतिपत्तिफलानि । ८. स्वाध्यायोऽध्यतृभ्यो द्विजातिभिः । ९. उक्तोत्तरत्वमेव । १०. प्रमाणाप्रमाणसामान्यलक्षणम् । ११. स्वप्नमेव । १२. वस्तुतः उपनिषदि किमापाति । १३. आनामानयोक्तलक्षणत्वे सति । १४. स्वप्नमेव प्रमा जनयन्ति न वा ।

यदि तावदुपनिषदो ब्रह्म कत्वप्रतिपत्तिप्रमाणं कुर्वन्ति कथमप्रमाणं भवेयुः । न कुर्वन्त्येवेति चेद्यथाग्निः शीतमिति स भवानेवं वदन्वक्तव्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थं भवतो वाक्य-मुपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधं किं न करोत्येवाग्निर्वा रूपप्रकाशम् । अथ करोति । यदि करोति भवतु तदा प्रतिषेधार्थं प्रमाणं, भवद्वाक्यमग्निश्च रूपप्रकाशको भवेत् । प्रतिषेध-वाक्यप्रामाण्ये भवत्येवोपनिषदा प्रामाण्यम् । अत्र भवन्तो ब्रुवन्तु कः परिहार इति ।

नन्वत्र प्रत्यक्षा 'महाक्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिरग्नौ' च रूपप्रकाशन-प्रतिपत्तिः प्रमा । 'कस्तर्हि भवतः प्रहेषो ब्रह्म कत्वप्रत्ययप्रमाणं प्रत्यक्षां कुर्वन्तीषूपनिषत्सूप-

धिकत्वाऽऽद्यमनूद्य' इत्यपि—यदि तावदिति । द्वितीयमुक्त्या निराकरोति—नेत्यादिना । अग्निर्वा शीतं न करोति तथोपनिषदोऽपि ब्रह्म कत्वे प्रमा न कुर्वन्तीति वदन्त' प्रति 'प्रतिबन्दिग्रहो न युक्तो- 'अनुभवविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । 'तर्हि स्वार्थं प्रमितिजनकत्वान्महाक्यस्य प्रामाण्यं स्वादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिषेधेति । उपनिषदप्रामाण्ये भवद्वाक्याप्रामाण्यं तत्प्रामाण्ये तूपनिषत्प्रामाण्यं दुर्यारमिति साम्ये प्राप्ते 'व्यवस्थापक, समाधिर्बलव्य इत्याह—अत्रेति ।

"उक्तमेवार्थं चोद्यसमाधिभ्या विशदयति—नन्वित्यादिना । प्रतिषेधमङ्गीकृत्योक्ता" "अथोक्तो-

क्या प्रयोजनं सिद्धं हुमा ? (इसका समाधान यह है कि—) यदि श्रुतिर्वा ब्रह्मज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न करती है, तो वे अप्रामाणिक किस प्रकार होगी ? किन्तु अग्नि शीतगुणवाला है, इस वाक्य के समान यदि श्रुतिवाक्य प्रमा उत्पन्न करते ही न, हो तो ? (पूर्ववादी से सिद्धान्ती पूछता है—) इस प्रकार यदि श्रुतिवाक्य प्रमा उत्पन्न करता है कि उपनिषत् के प्रामाण्य प्रतिषेध के लिए प्रवृत्त क्या आरोप करने वाले आप से हमें यह कहना है कि उपनिषत् के प्रामाण्य प्रतिषेध के लिए प्रवृत्त क्या आपका वाक्य उपनिषत्प्रामाण्य प्रतिषेध नहीं करता है, तथा क्या अग्निरूप के समान प्रकाशित नहीं करता है ? (पूर्ववादी कहता है—) प्रतिषेध तो करता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यदि वह उसका प्रतिषेध करता है, तो प्रतिषेध करने में आपका वाक्य प्रमाण हो सकता है, तथा अग्नि भी उसका प्रतिषेध करता है, तो प्रतिषेध करने में आपका प्रतिषेधवाक्य प्रामाणिक है तो उपनिषद्वाक्यो की रूप का प्रकाशक हो सकता है । अतः यदि आपका प्रतिषेधवाक्य प्रामाणिक है तो उपनिषद्वाक्यो की भी प्रामाणिकता होनी ही चाहिए । अब आप ही बतलाएँ कि इस का क्या समाधान हो सकता है ?

(पूर्ववादी कहता है—) यहाँ "उपनिषदं स्वप्नमेव मे प्रमा उत्पन्न नहीं करती" मेरे इस वाक्य में उपनिषत्प्रामाण्य के प्रतिषेध की बोधरूपा प्रमा एव अग्नि में रूपप्रकाशन की ज्ञानरूपा प्रमा तो प्रत्यक्ष ही है । (इस पर सिद्धान्ती पूछता है—) तुम्हारे वाक्य को उसी रूप में स्वीकार कर लिए

१. इत्यर्थे वाच्यम् । २. वक्ष्यन्ते यथा अर्थः । ३. उपनिषद स्वप्नमेव प्रमा न जनयन्तीति वाक्ये । ४. चक्षन्दीत्यर्थे यथायक । ५. स्वदाक्यस्य तत्वात्स्वीकारे । ६. तत्प्रामाण्यं रूपवति । ७. भाग्य । ८. प्रतिबन्दि तुल्यमुक्त्या दोषोद्भावनं तस्या बह्वङ्गुत्पत्तीत्यनेन स्वीकारः । ९. अनुभवविरोधादिति—प्रतिवादि-वाक्यस्योपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधकारणत्वाभावात्प्रमाणस्यानुभवविरोधादित्यर्थः । उपनिषदो ब्रह्मात्मकत्वे प्रमाणजनकत्वाभावादानुभवविरोधादिति यावत् । १०. महाक्यस्योत्पत्तिप्रतिषेधप्रमाणत्वे सति । ११. वाक्य-त्वाविधेयादिति भावः । १२. महाक्यमेव प्रमाणं तोपनिषदिति व्युत्पत्त्यकारः । १३. साम्यप्राप्तिरूपम् । १४. उक्तेति—प्रहेषानुपपत्तिरिति सम्बन्धः । तथा आम्नुपगमवादेन त्वदाक्यप्रतिषेधे स्वीकृत्य तोषित्वम् । अयमेति शेषः । १५. स्वप्नमेव प्रमा कुर्वदुपनिषद् ।

सम्यग्मानासु । 'प्रतिषेधांनुपपत्तेः । शोकमोहादिनिवृत्तिश्च 'प्रत्यक्षं फलं ब्रह्म' कत्वप्रति-  
पत्तिपारम्पर्यजनितमित्य' घोषाम । 'तस्मादुक्तोत्तरत्वादुपनिषद' प्रत्यप्रामाण्यशङ्का  
तावन्नास्ति ।

प्रज्ञोक्तं स्वार्थविघातकरत्वादप्रामाण्यमिति तदपि न । 'तदर्थप्रतिपत्तेर्वाधका-

पनिषदुपलम्भे सति 'तस्य निर्वकाशत्वात्प्रद्वेयानुपपत्तिरित्याह—प्रतिषेधेति । 'उपनिषदुत्थाया धियो  
धैर्यकल्यातासाममानतेत्याशङ्क्याऽऽह—घोषेति । एकत्वप्रतिपत्तिस्तत्त्वदाभातेन जायते । सा च 'विचारं  
'प्रयुज्य मननाविद्वारा हृद्ये भवति । 'सा पुनरशेषं शोकादिकमपनयतीति पारम्पर्यजनितं फलमिति  
ब्रह्मस्य । स्वार्थं प्रमाणनवत्वादुपनिषदां प्रामाण्यमित्युक्तमुपसंहरति—तस्मादिति ।

प्रामाण्यहेतुसङ्ख्यावाङ्मुनिषदां प्रामाण्यं प्रतिपाद्य तदप्रामाण्यं परोक्तमनुवदति—यच्चोक्त-  
मिति । कथं हि तासां 'स्वार्थविघातकत्वं किं ताभ्यो ब्रह्म' कमेवाद्वितीयं नैव चेति प्रतिपत्तिरुत्पद्यते  
किं वा काश्चिद्ब्रह्म कत्वप्रतिपत्तिमग्न्याश्रोपनिषदस्तत्प्रतिषेधं कुर्वन्तीति विकल्प्याऽऽहं ब्रूयति—

जाने पर ब्रह्म कत्वम्यज्ञान में प्रमा को प्रत्यक्ष करती हुई उपलभ्यमान उपनिषदों में ही आपका क्या द्वेष  
है? क्योंकि उनके प्रामाण्य का प्रतिषेध करना असंभव ही है । तथा यह भी कहा जा चुका है कि 'शोक-  
मोह आदि की निवृत्ति होना' यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की परम्परा से होने वाला प्रत्यक्ष फल है । इसीलिए  
इस का उत्तर पूर्व में दे दिए जाने के कारण उपनिषदों में अप्रामाण्य शङ्का के लिए कोई स्थान ही  
नहीं रह जाता ।

इसके प्रतिरिक्त यह जो कहा कि स्वार्थविघातकारक होने से उनकी अप्रामाणिकता है तो  
ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैकत्व प्रमा कां (विरोध नहीं होने से)

१. प्रत्यक्षमिति—यथामिदाहारप्रत्यक्ष स्फोटार्थं फल यथा च भग्नीपधाविप्रयुक्तया विषादिनिरासी यथा  
कोयकपानादजीर्णं तद्व्यतिरिक्तमस्मा तद्वदित्यर्थः । २. ब्र० उ० २२९ पृष्ठभाष्ये । ३. तदर्थेति—वेदान्त-  
प्रतिपाद्यब्रह्मात्मैकत्वप्रमाया वाधकाभावादित्यर्थः । विरोधाभावेनेति शेषः । वातिके यथा—“किमेकविषयत्वेन  
किंवा विषयभेदः । विरोधः स्वात्प्रमाणानामित्येतदभिधीयताम् ॥ मानान्तरेण संवादो यदि चेदनुवादितः ।  
विरोधी न तु मानाना सद्व्याप्यममागमे ॥ भिन्नप्रमेयताया च श्रोत्रादीनां यथा तथा । परस्परानपेक्षत्वान्नि-  
रामविषयता” ॥५५३-५५५॥ इति । मानानां विरोधस्य दुर्हृत्पादत्वान्न तेषु बाध्यबाधकतेति वस्तु विवक्ष्यति  
—किमिति ॥ तत्राऽऽद्यमनूय ब्रूयति—मानान्तरेणेति । यदि मानस्य मानान्तरेण संवादस्तुल्यविषयत्वं  
तदाऽनुवादितैव न विरोधस्येच्छदस्यावधारणार्थत्वादेकार्थोपनिषाते मानाना विरोधायोगादप्यस्या नैकाधैवं  
रूप्यतदभावादिधीष्वदृष्टत्वादित्यर्थः ॥ कत्वान्तर निराह—भिन्नेति । अर्थभेदे विरोधस्य वार्ताप्रपि नेत्याह—  
नित्यमिति ॥ ४. प्रतिषेधस्य । ५. उपनिषदिति—उपनिषदामनुत्पत्तिरित्या प्रामाण्याभावेऽतीत्यादिः ।  
द्विविधं ह्यप्रामाण्यं प्रमानुत्पत्तिप्रयुक्तम् । उत्पन्नाया अपि तस्या वैकल्प्यप्रयुक्तम् । ६. पारोक्ष्यात्मना अप्रा-  
माण्यज्ञानानास्कन्दितेति यावत् । ७. विचार यवणाख्यम् । ८. प्रयुज्य संपाद्य । ९. सा दृढीभूता अप्रा-  
माण्यज्ञानानास्कन्दितेति यावत् । १०. स्वार्थेति—वेदान्तात् 'स्वार्थविघातकरत्वं' वस्तु सामान्यतस्तावन्मानानां  
स्वार्थमाह्वीतिकाचार्यास्तथाहि—“स्वप्रमेयबोधो हि मानानां स्वार्थ उच्यते । तं चेतुर्वेति वेदान्ताः कुतस्ते-  
षाममाता” ॥५५०॥ इति । अत्र लौकिकपरीक्षकसंतिष्ठित्यर्थो हिमाह—उक्तस्वार्थवारिणो वेदान्ता न  
तद्विघातकास्ततो नाऽमानां तेषामित्याह—त चेदिति ॥



भावात् । न ह्युपनिषद्भ्यो ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं नैव चेति प्रतिपत्तिरस्ति । यथाऽग्निरप्यः  
शीतश्चेत्यस्माद्वाक्याद्विरुद्धार्थद्वयप्रतिपत्तिः । अम्युपगम्य चैतदवोचाम । न तु वाक्य-  
प्रामाण्यसमय एष न्यायो यदुक्तस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वम् । सति चानेकार्थत्वे स्वायंश्च  
स्यात्तद्विधातृकृच्च विरुद्धोऽन्योऽर्थः । न त्वेतद्वाक्यप्रमाणकानां विरुद्धमविरुद्धं चेकं  
वाक्यमनेकमर्थं प्रतिपादयतीत्येष समयः । अर्थैकत्वादध्यैकवाक्यता ।

तदपि नेति । तदेव प्रपञ्चयति—न हीति । एकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वमङ्गीकृत्य वैधर्म्योदाहरणमुक्त-  
मित्याह—अम्युपगम्येति । तस्याङ्गीकारवादेन हेतुमाह—न त्विति । उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा  
विवृणोति—सति चेति । भवत्वेकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं नेत्याह—न त्विति । कस्तर्हि तेषां समय-  
स्तत्राऽह—अर्थैकत्वादिति । तदुक्तं प्रथमे तन्त्रे—“अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे  
स्यादिति ।

बाधकाभावः है । उपनिषद्वाक्यो से यह ज्ञान-नहीं होता कि ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय भी है और नहीं  
भी है । जिस प्रकार “अग्नि उष्ण स्वभाववाला भी होता है और शीतल स्वभाव वाला भी होता है”,  
इस एक ही वाक्य से दो विरुद्ध अर्थों का ज्ञान होता है । ऐसा विचार कर ही हम पहले कह भाये है  
कि भीमासक के वाक्यप्रामाण्य के सिद्धान्त में एक ही वाक्य के अनेक अर्थ मानना उचित नहीं है ।  
अनेक अर्थों के मान लेने पर एक अर्थ स्वायंपरक होगा और दूसरा उसका विधातृक विरुद्ध अर्थ  
होगा और एक ही वाक्य विरुद्ध और अविरुद्ध अर्थविशेषणों का प्रतिपादन करता है वाक्य को  
प्रमाण मानने वाले भीमासको का यह सिद्धान्त नहीं है क्योंकि (जिस प्रकार एक वाक्य में अनेकार्थता  
का अभाव होता है, उसी प्रकार) अर्थ की एकता होने से एकवाक्यता होती है ।

१ तत्र वैधर्म्योदाहरणमाह—यथेति । २ भीमासकसिद्धान्ते । ३ नीतिः । ४ एतत्किमित्यत आह—  
वाक्येति । ५ भीमासकानाम् । ६ अर्थविशेषणे । ७ सिद्धान्तः । ८ अर्थैकत्वादिति—यथाऽयं  
हिंस्रश्च । यथैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वाभावस्तथाऽर्थैकत्वादेक वाक्यमित्येकवाक्यत्वक्षणं तर्जनीक्यते । सौनिकस्य  
वैदिकस्य वा एकस्यैव वाक्यस्य द्वयबोधित्वे तदुक्तनक्षणानात्रान्वमिति न तदैक वाक्य स्यादित्यर्थः । नातिने  
यथा—“अर्थैकत्वादिति तथा वाक्यत्वक्षणमुच्यते । अनेकार्थविबोधित्वं न स्यात्तदायवद्वयम्” ॥५६॥ इति ।  
६ बाधकाभावत्वमेव । १० एकवाक्यस्यानेकार्थत्वस्य । ११ एकवाक्यस्यानेकार्थत्वाभावरूपम् । १२  
अर्थैकत्वादिति—(जै० सू० २।१।४६) विभागे—विच्छिद्य पाठे सागाङ्क्षत्वे सति अर्थैकत्वं प्राप्नोति स्यात्ताव-  
देक वाक्यमित्यर्थः । यथा “देवस्य त्वा सविबुः प्रसवे” इति । अर्थैकत्वमाभेतौ “भगो वा विभजतु पूषा वा  
विभजतु” इत्यत्रापि विभागरूपार्थन्यायेन वाक्यता स्यादतः सागाङ्क्ष चेदिति । विभागे साकाङ्क्षत्वं “स्योनं ते  
सदनं वृणोमि धृतस्य धारया नुपेव नल्पयामि हस्मिन् सीदामुते प्रतिदिष्ट श्रीहीणा मेघसुमुनस्यमान” इत्यत्राप्यस्ति  
तच्छब्दस्य पूर्वसागाङ्क्षत्वात्तत्सद्वारणाथार्थैकत्वादिति । तत्र तु सदनसादनरूपायं देव इति नातिभ्याप्तिरिति ।

अथैकवाक्यत्वत्वक्षणान्धनरगूत्रम्—“अर्थैकत्वादेक वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे वेत्” जै० सू० २।१।४६ ।  
अथ प्रक्षिप्यपठितेषु यजुषु कथमवगम्यत, इत्येकं यजुरिति । यावता पदसमुद्भेजेत्यते तावता पदसमूह एक  
यजुः । कियता चेज्यते । तावता त्रियाया उपवारं प्रकाशयते तावद्वत्तत्वात् वाक्यमित्युच्यते तेनाभिधीयते—  
अर्थैकत्वादेक वाक्यमिति । एतस्माच्चेत्कारणदेववाक्यता भवति तस्मादेकार्थं । पदसमूहो वाक्यम् । यदि च



यम'र्थावबोधकम् । 'अतो नाग्निः शीत इत्य'नेनैकवाक्यता प्रमाणान्तरानुभवस्मारणेनैवो-  
पक्षीणत्वात् । यत्तु विरुद्धार्थप्रतिपादकमिदं वाक्यमिति 'मन्यते तच्छीतोष्णपदाम्यामग्निपद-  
सामानाधिकरण्यप्रयोगनिमित्ता भ्रान्तिर्न त्वेकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं, लौकिकस्य  
वैदिकस्य वा ।

यद्योक्तं कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकृदुपनिषद्वाक्यमिति तन्न, 'अह्य'क-  
त्वप्रतिपादनपरा ह्युपनिषदो नैष्टार्थप्राप्तौ साधनोपदेशं 'तस्मिन्वा' पुरुषनिर्गोणं वारयत्य-  
नेकार्थत्वानुपपत्तेरेव । न च कर्मकाण्डवाक्यानां स्वार्थं प्रमा नोत्पद्यते । 'असाधारणे

फलितमाह—अत इति । हेत्वर्थमुक्तमेव स्फुटयति—प्रमाणान्तरेति । शीतः 'संशितोऽग्निरित्येतद्वबो-  
धकमेव चेद्वाक्यं कथं "तहि तत्र लौकिकस्य विरुद्धार्थवोरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति ।

स्वार्थविघातकत्वाप्रामाण्यमुपनिषदामित्येतन्निराकृत्य चोद्यान्तरमनूद्य निराकरोति—  
यच्चेत्यादिना । तस्मिन्निर्गोणार्थप्रापकसाधनोक्तिः । ननुपनिषद्वाक्यं ब्रह्मात्मकत्वं "साक्षात्प्रतिपादय-  
द"र्थात्कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकमिति चेत्तत्र "तव"प्रामाण्यमनुरूपतिलक्षणं "विपर्ययसंभरणं" चेति  
विरुद्धाऽऽद्यमनूद्य दूषयति—न चेति । विदितपदतत्त्वसंगते "वाक्यार्थस्याप्यविदस्तदर्थं" प्रमोत्पत्तिदशना-

है । "अग्नि शीतलस्वभाव वाला है" यह एकवाक्य है, और "अग्नि उष्णस्वभाव वाला होता है"  
यह प्रमाणान्तर से प्राप्त अनुभव का स्मारक है; (अपूर्वं अर्थवाचक होने से अप्रामाणिक होने के कारण)  
स्वयं किसी अर्थविशेष का बोधक नहीं है । अतः (वक्ष्यमाण हेतु से) "अग्नि शीतलस्वभाव वाला  
है" इस (अपूर्वबोधक) वाक्य से उसको एकवाक्यता नहीं है क्योंकि वह प्रमाणान्तर से होने वाले  
अनुभव की स्मृति दिला कर ही समाप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त ऐसा जो प्रतीत होता है कि  
यह वाक्य विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाला है, वह शीत और उष्णपदों का अग्निपद की समाना-  
धिकरण प्रयुक्त भ्रान्ति है क्योंकि एक वाक्य के अनेक अर्थ तो न ही लौकिक वाङ्मय में हो सकते हैं,  
न ही वैदिक वाङ्मय में हो सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त जो यह कहा कि उपनिषद्वाक्य कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता के विघातक है;

१. अपूर्वार्थबोधकत्वेनाप्रमाणत्वात् । २. वक्ष्यमाणात् । ३. अनेक अपूर्ववाचकतदेकदेशेन । अग्निवक्ष्य
- इत्यनुवादकभागस्येति शेषः । ४. प्रतीयते । ५. उपनिषदाम् । ६. हेतुवाक्यं बिभ्रणीति ग्रह्यते ।
७. साधने । ८. पुरुषप्रवृत्तिम् । ९. प्रमाणान्तराविषये । १०. शीतान्तेस्मरति तत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—
११. शीतल इति । शिशिरार्तुभवः । तदा हि सेव्यमानेऽपि तस्मिन्नुपमावाप्रापनीयते शीत तदेव प्रयुज्यते
- हन्ताग्निरपि शीतायत इति शीत इति वा इति शीतानुपहारकत्वेन तस्य तत्त्वम् । यदा विद्युन्नेपादिप्रभवोऽपि
- विष्णोऽग्निवध्नः शीशरो विवक्षितः । पार्थिवस्तूष्णोऽग्निरिति बोध्यम् । १२. अग्निरग्निः शीतश्चेत्येकोक्तिः
- वदेकदेशोऽग्निरुष्ण इति तेनाप्यसिद्धोष्णान्यनुवादेन शीतोऽग्निरित्येकदेशान्तरेणापूर्वं शीशिरः शीतोऽग्नि-
- बोध्यते न धानुवादकबोधकयोर्विरोधोऽनुवदतत्त्वादित्यभिप्रेत्याऽह—तर्हीति । उक्तरीत्या यमोक्तवाक्यस्याविरुद्धत्वे
- इत्यर्थः । तत्र यमोक्तवाक्ये । १२. उक्त्या । १३. जीवस्य कर्तृत्वे ग्रह्यत्वे नानुपपत्तिरित्यर्थोपरया । १४.
- कर्मकाण्डेति यावत् । १५. स्वार्थं प्रमाजनवत्त्वाभावरूपम् । १६. अप्रमजनवत्त्वरूपम् । १७. वागवार्थ-
- वोधप्रक्रियाभिज्ञस्य । १८. वाक्यार्थः ।

चेत्स्वार्थे प्रामाण्यमुत्पादयति दास्यं कुतोऽप्येत विरोधः स्यात् ।

‘ग्रहणं कर्त्तव्ये निर्विषयत्वात्प्रमा नोत्पद्यत एवेति चेत् । न, ‘प्रत्यक्षत्वात्प्रमायाः । “दशंपूर्णमासाभ्यां ‘स्वर्गं कामो यजेत” “ब्राह्मणो न हेन्त्वप्य” इत्येवमादिदास्येभ्यः प्रत्यक्षा प्रमा जायमाना सा नैव भविष्यति यद्युपनिषदो ब्रह्मकत्वं बोधयिष्यन्तीत्यनुमानम् । न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते । तस्मादसदेवंतद्गतिं प्रमं च नोत्पद्यत इति ।

वित्यर्थः । स्वार्थे प्रामाण्यमुत्पादयति दास्यं मानान्नरविरोधादप्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—असाधारणे चेदिति । स्वर्गोचरद्वारत्वात्प्रमाणानामित्यर्थः ।

विमत कर्मकाण्डदास्यं न प्रमोत्पादकं ‘प्रमाणापहृतविषयावादानुष्णाग्निवादपवति शङ्कते—ब्रह्मेति । प्रत्यक्षविरोधादनुमानमनवकाशमिति परिहरति—नेत्यादिना ।

यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि उपनिषदों का अर्थ तो दूसरा ही है । ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन करने वाली उपनिषदें इष्ट अर्थ की प्राप्ति के साधन का उपदेश तथा उस साधन में पुरुष की प्रवृत्ति का निवारण नहीं करती क्योंकि उनके अनेक अर्थ होना असंभव है । इसके अतिरिक्त कर्मकाण्डपरक वाक्यों की स्वार्थ में प्रमा उत्पन्न न होती हो—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । यदि कोई वाक्य अपने (प्रमाणान्तर्भावय) असाधारण अर्थ में प्रमा उत्पन्न करता है तो उसका दूसरे वाक्य से विरोध कैसे होगा ?

(पूर्ववादी कहता है—) ब्रह्मात्मैक्यबोधक वेदान्तवाक्यों में तो कर्मकाण्डपरक वाक्यों का विषय ही नहीं रहता, इसलिए प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । अनुमान के उपजीव्य परमप्रमाण के प्रबल होने से उसके विरोध में अनुमान की अप्रवृत्ति होने से प्रमा होगी ही । “स्वर्ग की इच्छा वाला दशं और पूर्णमास यागों द्वारा मजन करे” (ऐसा विधिवाक्य है), “ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए” (ऐसा निषेधवाक्य है) इत्यादि विधিনিषेधपरक वाक्यों से प्रत्यक्षप्रमा उत्पन्न होती है । यदि उपनिषद्वाक्य ब्रह्मात्मैक्य का बोध कराएँगे, तो प्रमा नहीं होगी—यह अनुमान प्रमाण का स्वरूप है । प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होने से अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं हो सकती । इसलिए प्रमा के प्रत्यक्ष होने से यह कहना अनुचित ही है कि उनसे प्रमा उत्पन्न नहीं होती ।

इसके अतिरिक्त जो पुरुष अविद्या के द्वारा मन में आरूढ यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फल का आश्रय करने सामान्य इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार और उपाय में प्रवृत्त है, वह विशेष को नहीं

- १ ब्रह्मकत्व इति—ब्रह्मात्मैक्य वाचयता ब्रह्मवाक्येन (वेदान्तवाक्येन) कर्मवाक्याद्येभ्यः भेदस्यापहृतत्वात् न तद्वान्वात् प्रमोत्पत्तिरित्यर्थः ।
- २ प्रत्यक्षत्वादिति—अनुमानोपजीव्यस्याप्यस्य प्राबल्यात्तद्विरोधेऽनुमानाप्रवृत्तिरित्यर्थः ।
- ३ प्रत्यक्षप्रामाण्येव दर्शयति—दर्शयति ।
- ४ निधिवाक्यम् ।
- ५ निषेधवाक्यम् ।
- ६ अनुमानस्वरूपं दर्शयति—सा नैवेति ।
- ७ इत्यनुमानमिति—प्रत्यक्षविरोध निरवकाशमिति दोषः ।
- ८ प्रमाया प्रत्यक्षत्वात् ।
- ९ स्वविषयबोधनसमर्थत्वात् ।
- १० प्रमाणेति—उपनिषदप्रमाणेनापहृतो भेदात्मको विषयो यस्य तत्त्वात् ।

अपि च यथाप्राप्तस्यैवा'विद्याप्रत्युपस्थापितस्य क्रियाकारकफलस्याऽऽश्रयणे'ष्टा-  
निष्टप्राप्तिपरिहारोपायसामान्ये' प्रवृत्तस्य' । 'तद्विशेषमजानतस्तदाचक्षाणा श्रुतिः क्रिया-  
कारकफलभेदस्य लोकप्रसिद्धस्य सत्यतामसत्यतां वा नाऽऽच्छेद न च वारयति । इष्टानिष्ट-  
फलप्राप्तिपरिहारोपायविधिपरत्वात् ।

यथा काम्येषु प्रवृत्ता श्रुतिः 'कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वे सत्यपि 'यथाप्राप्तानेव  
कामानु'पादाय तत्साधनान्येव विधत्ते न तु कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वादनर्थरूपत्वं' चेति  
न विवधाति, तथा नित्याग्निहोत्रादिशास्त्रमपि मिथ्याज्ञानप्रभवं क्रियाकारकभेदं यथा-  
प्राप्तमेवा'ऽऽज्ञायेष्टविशेषप्राप्तिमनिष्टविशेषपरिहारं वा किमपि प्रयोजनं पश्यदग्निहोत्रादीनि  
कर्माणि विधत्ते नाविद्यागोचरासद्वस्तु' विषयमिति न प्रवर्तते । यथा काम्येषु । न च

इतश्च कर्मकाण्डस्य नाप्रामाण्यमिति बन्धितोऽपि प्ररजह—अपि चेति । यथाप्राप्तस्यैवस्यैव  
ब्राह्मणमविद्याप्रत्युपस्थापितस्येति । साध्यसाधनसंबन्धबोधकस्य कर्मकाण्डस्य न 'विषयो  
'मिथ्यार्थत्वेऽपि 'तत्सार्थक्रियाकारित्वसामर्थ्यान्पहारात्प्रामाण्योपपत्तेरिति भावः ।

ननु कर्मकाण्डस्य मिथ्यार्थत्वे 'मिथ्याज्ञानप्रभवत्वाद्'नर्थनिष्ठत्वेना'प्रचनं कर्त्तव्यप्रामाण्यमत  
ग्रह—यथेति । 'विमतनप्रमाणं मिथ्यार्थत्वाद्विप्रलम्भकवाक्यवदित्याशङ्क्य उपभिवारमाह—यथा  
काम्येष्विति । अग्निहोत्रादियु काम्येषु कममु मिथ्याज्ञानजनितं मिथ्याभूतं काममुपादाय शास्त्रप्रबुल-  
वस्तित्वेऽपि तेषु 'साधनमसदैवाऽऽदाय शास्त्रं प्रवर्तता 'तथाऽपि बुद्धिमन्तो न 'प्रवर्तित्यन्ते वेदान्ते-  
भ्य'स्तन्मिथ्यात्वादावनादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

जानता । तव विशेषप्रतिपादक वह श्रुति लोकप्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलभेद की सत्यता और  
असत्यता का न तो विधान ही करती है और न ही निषेध करती है क्योंकि वह तो इष्टप्राप्ति और  
अनिष्टपरिहार के उपाय का विधान करती है ।

जिस प्रकार काम्यकर्मों में प्रवृत्त हुई श्रुति विषयो के मिथ्याज्ञानजनित होने पर भी अविद्या  
से प्रत्युपस्थित विषयों का सकीर्तन करके उनके साधनो का ही विधान करती है । किन्तु विषय मिथ्या-  
ज्ञानजनित होने के कारण अनर्थरूप नहीं है—ऐसा हेतुविधान नहीं करती । इसी प्रकार अग्निहोत्रादि-  
नित्यकर्मों का प्रतिपादक शास्त्र भी मिथ्याज्ञानजनित अविद्याप्रत्युपस्थित क्रिया, कारक और फलरूप

१. अविद्या मनस्याहृत्य । २. इष्टेत्यादि—सुराजनकर्त्तावच्छिन्ने वैषम्यसामान्ये एव परिहारोपायसामान्य-  
मपि बोध्यम् । ३. पुनः । ४. तद्विशेषमिति—ज्योतिष्तामदि द्विर्गादिनिवृत्तिरपरिष्यं । ५. विषय-  
णाम् । ६. अविद्याप्रत्युपस्थितान् । ७. उद्दिश्य । ८. हेतोः । ९. उपजीव्य । १०. वयं । ११.  
विषयनिर्लक्षणमप्रामाण्यम् । १२. कल्पितकर्मादिविषयत्वेऽपि । १३. वर्मकाण्डस्य । १४. मिथ्याज्ञान-  
जनकत्वात् । १५. गुणसाधननिष्ठत्वाभावेन । १६. स्वविषय प्रवृत्तिर्ज्ञातव्याभावात् अप्रवर्तित्वतद्भा-  
वेनाप्रामाण्यम् । १७. नित्यकर्मवाक्यम् । १८. वेत्त्यासाधनमुपवकानति नापनेच्छा जनयतीति  
न्यायमभिप्रेत्य साधनमित्युक्तम् । १९. यथाप्राप्तं नाममुपादाय ज्ञानप्रवृत्तावपि । २०. तथा चाननुष्ठान-  
सहायमप्रामाण्यमिति भावः । २१. तव साधनादि ।

पुरुषा न प्रवर्तैरन्नविद्यावन्तो 'दृष्ट्वाद्यथा' कामिनः ।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेन्न । ब्रह्म कृत्वविद्यायां 'कर्माधिकारविरोध-  
स्योक्तत्वात् । एतेन ब्रह्म कृत्वे 'निविषयत्वादुपदेशेन 'तद्ग्रहणफलभावादोपपरिहार उक्तो  
वेदितव्यः ।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च । अनेका हि पुरुषाणामिच्छा रागादयश्च दोषा  
विचित्रास्ततश्च 'बाह्यादिपरागाद्यपहतचेतसो न शास्त्र निवर्तयितुं शक्तम् । नापि

अविद्यावतां कर्मसु प्रवृत्तिमाक्षिपति—विद्यावतामेवेति । इष्टदेवतादिज्ञानं वा ब्रह्म कृत्वज्ञानं  
वा कर्मसु प्रवर्तकमिति विकल्प्याऽऽत्मज्ञीकृत्य द्वितीय दूषयति—नेत्यादिना । कर्मकाण्डप्रामाण्यानुपप-  
त्तिरित्याद्या 'मर्यापत्ति निराकृत्य द्वितीयमर्यापत्तिमनिवेशेन निराकरोति—एतेनेति । कर्मकण्डस्याज्ञ  
प्रति सार्थकत्वोपपादनेनेति 'यावत् ।

ननु कर्मकाण्ड साध्यसाधनसम्बन्ध बोधयत्प्रवृत्ता विपरमतो "रागादिवशा" तदयोगाद्व्याप्त्रोप-  
प्रवृत्त्याविषयस्य द्वैतस्य "मत्स्यत्वमन्यथा" तद्विषयत्वानुपत्तिरित्यर्यापत्त्यन्तरमायातमिति तत्राऽऽह—  
पुरुषेच्छति । न प्रवृत्तिनिवृत्तौ "शास्त्रशारिणि शेष । तदेव "स्फुटयति—अनेका हीति । "शास्त्रमन्या-

भेद को उद्देश करके इष्टविशेष की प्राप्ति और अनिष्टविशेष के परिहाररूप किसी प्रयोजन को देख-  
कर अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करता है । इसकी, अविद्यागोचर असद्वस्तु कर्म से सम्बन्ध होने  
से प्रवृत्ति न होती हो—ऐसी बात नहीं है जैसा कि काम्यकर्मों के प्रसंग में देखा गया है । अविद्यावान्  
पुरुषों की उन कर्मों में प्रवृत्ति न होती हो—ऐसा भी नहीं है क्योंकि काम्यकर्मों के अनुष्ठान करने  
वाले पुरुषों के समान उनको भी प्रवृत्ति देखी गई है ।

विद्यावान् पुरुषों का ही कर्म में अधिकार है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म की एकता  
के ज्ञान में कर्म की विधि पुरुष और सम्बन्धादि-अधिकार वा विरोध तो पहले ही कहा जा चुका है ।  
इसमें उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान निराधिकारी होने से ब्रह्मात्मैक्य के उपदेश से उसका ज्ञानरूप  
कलाभाव दोष का परिहार बतलाया गया, ऐसा जान लेना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त पुरुषों की इच्छा एवं रागादि की विचित्रता होने के कारण भी उपदेश की

१ दृष्ट्वादिति—अतस्त्वविद्या प्रवृत्तदृष्ट्वात् प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थे । तत्प्रवृत्तौ प्रयोजक दर्शयति—  
मथानामिन इति । अज्ञाना प्रवर्तके कामकद्रावादिति भावः । त मयाकारो भवति 'अकामत क्रिया काचित्'  
इत्यादिभूतिसृष्टिर्भवति । कामनिमित्तं कर्मसु प्रवृत्तिरिति तत्त्वम् । २ कामपरमानुष्ठायिन । ३ जात्या  
सत्याम् । ४ कर्मति—अधिकारो विधिपुरुषसम्बन्धादि । विरोधस्तेति तदुक्तं वातिवे—“मर्याधिकारप्रघ्न-  
साधनं कृत्वात्माववाधिन । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा गुणभाव सदेप्यते” ॥५८॥ गुणभाव कर्तृत्वम् । ५  
सम्बन्धादौ नृ० उ० ६० पृष्ठभाष्ये । ६ निराधिकारत्वादुपनिषदात् । ७ ब्रह्मात्मैक्योपदेशेनेतज्ज्ञानफल-  
भाव दोषपरिहारः । ८ वैचित्र्यात् । ९ अर्यापत्तिद्वयमुक्तं प्राक् नृ० उ० १०६ पृष्ठटीकायाम् । १०  
तथा च उपनिषत्सार्थक्यमपि तमपिदृश्येवत्यर्थः । ११ आदिना निषिद्धनिवृत्ति । १२ तस्य तत्परत्वात् ।  
१३ प्रवृत्त्याद्ययोगात् । १४ तत्सत्त्वत्वान्भ्युपगमे । १५ द्वैतस्य शास्त्रविषयत्वानुपपत्तिरिति यावत् ।  
१६ शास्त्रस्यापराधत्वादिति भावः । १७ समुहीतमेव । १८ आपत्त्वमेव हि शास्त्रस्य ।



पुरुषा न प्रवर्तैरप्रविद्यावन्तो 'दृष्ट्याद्यथा' कामिनः ।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेन्न । ग्रहं कृत्यविद्यायां 'कर्माधिकारविरोध-  
स्योक्तत्वात् । एतेन ग्रहं कृत्ये 'निविद्ययत्वादुपदेशेन' तद्ग्रहणफलमायदोषपरिहार उक्तो  
वेदितव्यः ।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च । अनेका हि पुरुषाणामिच्छा रागादयश्च दोषा  
विचित्रास्ततश्च 'ग्राह्यादिपरागाद्यपहृतचेतसो न शारत्रं निवर्तयितुं शक्तम् । नापि

अविद्यायतां कर्मसु प्रवृत्तिमाप्तिपति—विद्यावतामेवेति । इत्थदेवतादिमानं या ब्रह्म कृत्यज्ञानं  
या कर्मसु प्रवर्तकमिति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं द्रवयति—नेत्यादिना । कर्मकाण्डप्रामाण्यानुप-  
तिरित्याद्यामर्थापत्तिं निराकृत्य द्वितीयमर्थपत्तिमनिवेशेन निराकरोति—एतेनेति । कर्मसु ब्रह्मत्याप्त  
प्रति सार्थकत्वोपपादनेनेति "यादत् ।

ननु कर्मकाण्ड साध्यसाधनसम्बन्ध बोधयत्प्रवृत्त्या विपरमतो "रागादियज्ञा"सदयोगादृष्टास्त्रीय-  
प्रवृत्त्यादिविपरस्य द्वैतस्य "नस्यत्वमन्यया" तद्विषयस्यानुपतिरित्यर्थोपपन्नतरमायातमिति तत्राऽह—  
पुत्पच्छति । न प्रवृत्तिनिवृत्तौ "शास्त्रयथादिति शेषः । तदेव "स्फुटयति—अनेका हीति । "शास्त्रग्रन्था-

भेद को उद्देश करके दृष्टविषय की प्राप्ति और अनिष्टविषय का परिहाररूप किसी प्रयोजन को देख-  
कर अग्निहोनादि कर्मों का विधान करता है । इसकी, अविद्यागोचर असद्वस्तु कर्म से सम्बन्ध होने  
से प्रवृत्ति न होती हो—ऐसी बात नहीं है जैसा कि काम्यकर्मों के प्रसंग में दखा गया है । अविद्यावान्  
पुरुषों की उन कर्मों में प्रवृत्ति न होती हो—ऐसा भी नहीं है क्योंकि काम्यकर्मों के अनुष्ठान करने  
वाले पुरुषों के समान उनकी भी प्रवृत्ति देखी गई है ।

विद्यावान् पुरुषों का ही कर्म अधिकार है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म की एकता  
के ज्ञान में कर्म की विधि पुरुष और सम्बन्धादि-अधिकार का विरोध तो पहले ही कहा जा चुका है ।  
इसने उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान निरधिकारी होने से ब्रह्मात्मैक्य के उपदेश से उसका ज्ञानरूप  
कलाभाव दोष का परिहार बतलाया गया । ऐसा ज्ञान लेना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त पुरुषों की इच्छा एवं रागादि की विचित्रता होने के कारण भी उपदेश की

१ दृष्ट्यादिति—अनन्तविद्या प्रवृत्तदृष्ट्यात् प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः । तत्प्रवृत्तौ प्रयोजक दर्शयति—  
यथाकामिन इति । अज्ञाना प्रवर्तके काममद्भवादिनि भावः । स यथाकामो भवति 'अकामत क्रिया बाचित'  
इत्यादिभ्युत्तिस्मृतिभ्यः । कामनिमित्तैव कर्मसु प्रवृत्तिरिति तत्त्वम् । २ काम्यमानुष्टायिनः । ३ जात्या  
सत्याम् । ४ अर्थेति—अधिकारो विधिपुरुषसम्बन्धादि । विरोधस्येति तदुक्तं वाक्ये—'सर्वाधिकारप्रब-  
सात्र वृत्तान्तरात्मबोधिनः । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा गुणभावः सदेष्ट्यते ॥५८०॥ गुणभावः कर्तृत्वम् । ५  
सम्बन्धादौ कृ० उ० ६० पृष्ठभाष्ये । ६ निरधिकारित्वादुपनिषदात् । ७ ब्रह्मात्मैक्योपदेशेन तज्ज्ञानफल-  
भावः दोषपरिहारः । ८ वैचित्र्यात् । ९ अर्थापत्तिद्वयमुक्तं प्राक् कृ० उ० ५० ६ पृष्ठटीकायाम् । १०  
तथा च उपनिषत्साधक्यमपि तमचिदृष्ट्यैवत्यर्थः । ११ आदिना निषिद्धनिवृत्तिः । १२ तस्य तत्परत्वात् ।  
१३ प्रवृत्त्याद्ययोगात् । १४ सत्यत्वत्वान्मुपपन्नमे । १५ द्वैतस्य शास्त्रविषयत्वानुपपत्तिरिति यावत् ।  
१६ शास्त्रस्याकारणत्वादिति भावः । १७ सगृहीतमेव । १८ आपनत्वमेव हि शास्त्रस्य ।



स्वभावतो बाह्यविषयविरक्तचेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं शक्तम् । किंतु शास्त्रादेतावदेव  
भवतीदमिष्टसाधनमिदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसंबन्धविशेषामिच्छाः । प्रदोषादिव-  
त्तमसि रूपादिज्ञानम् । न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलाच्चिवतंयति नियोजयति वा । दृश्यन्ते  
हि पुरुषा रागादिगौरवाच्छास्त्रमप्यतिक्रामन्तः ।

'तस्मात्पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसंवन्धविशेषाननेकधोपदिशति । 'तत्र पुरुषाः स्वयमेव यथाहञ्चि साधनविशेषेषु प्रवर्तन्ते शास्त्रं तु सवितृप्रदीपादिवदुस्त एव । तथा कस्यचित्परोऽपि पुरुषार्थोऽप्युपहार्यवदवभासते यस्य यथाऽवभासः स 'तथारूपं

कारकावाशप्रयत्नं कथाद्यभावमुक्त्वा 'तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—इत्यन्ते हीति ।

‘तर्हि शास्त्रस्य किं कृत्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । तत्र संबन्धविशेषोपदेशे सतीति यावत् । यथावच्चि पुत्रपाणां प्रवृत्तिश्चेत्परमपुरुषार्थं कैवल्यमुद्दिश्य सत्सङ्गज्ञानसिद्धये तदुपायश्वरणादिषु संन्यासपूर्विका प्रवृत्तिर्बुद्धिपूर्वकारिणामुचितेत्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । रागादिवंचित्र्यानुसारेणेति यावत् । उक्तं हि—

'अपि "बुद्धावने शून्ये सृगात्तत्वं स इच्छति ।  
'... इत्यादि ।

न तु निर्विपर्ययं मोक्षं गन्तुमर्हन्ति गौतम' इत्यादि ।

"तर्हि कथं पुरुषार्थं विधेयं कसिद्धिस्तप्राप्सह—यस्येति । पुरुषार्थं दर्शनं कार्यमाह—तत्पुरुषार्थोक्तिः ।

[illegible]

इमलिए पुरुषो की विभिन्ना बुद्धि को देखते हुए शास्त्र अनेक प्रकार से साध्य-माधनरूप सम्बन्ध-विशेषो को उपदेश करता है। (शास्त्र की उपेक्षा कर विषयो मे प्रवृत्ति होने के कारण) वहाँ पुरुष स्वय ही अपनी रचि के अनुसार (शास्त्र द्वारा ही निर्दिष्ट प्रदीप के समान) माधनविशेषो मे प्रवृत्त होते है। शास्त्र तो सूर्य और प्रदीपादि के समान तटस्थ ही रहता है। इस प्रकार किसी पुरुष को

१. किं लहि वरोति शास्त्रम् । तत्राह—शास्त्रादिति । २. वतिषयात् । ३. शास्त्रस्यावधारत्वेना-  
प्रवर्तकत्वात् । ४. कामस्य प्रवर्तकत्वं न शास्त्रस्येत्युपपन्नमिति—तत्रेति । ५. शास्त्रेकप्रदीपेयु । ६.  
अवयोप । ७. स्वाभिप्रायानुसङ्गम् । ८. शास्त्रप्रमुक्तप्रवृत्त्याप्रापये । ९. अवधारत्वेनाप्रवर्तकत्वे । १०.  
भक्तत्वात् । ११. रामादिर्वाच्यमानुरोधेन पुरुषार्थादिप्रतिमाने सति ।

शक्तत्वं विरुध्यत इत्यथ न विरुध्यते न 'तर्हि प्रत्यक्षविरोधः ।

यज्ञोक्तं प्रतिशरीरं शब्दाद्युपलब्धारो धर्माधर्मयोश्च कर्तारो' मित्रा अनुमीयन्ते तथाच' ब्रह्म'कत्वेष्वनुमानविरोध इति । मित्राः कंरनुमीयन्त इति प्रष्टव्याः ।

अथ यदि द्रव्युः सर्वैरस्मान्भिरनुमानकुशलैरिति । के यूयमनुमानकुशला इत्येवं

भूतस्यमेकमाकाशमित्यत्र' न शब्दादिभेदग्राहिप्रत्यक्षविरोधस्तथैकं ब्रह्म'स्य'त्रापि न 'तद्विरोधो'ऽस्तीत्याह—प्रयेति । 'तस्य कल्पितभेदविपर्ययादिति भावः ।

अनुमानविरोध परोक्तमनुवदति—यच्चेति । या चेष्टा सा प्रत्यक्षवस्तुवैक्ये'तायता ना'ऽऽत्मभेदः 'स्वप्रयत्नपूर्वकत्वस्यापि सम्भवादनुपलब्धिविरोधे स्थनुमानस्यैवानुत्थाना'स्त्ववेहेष्टायाः स्वप्रयत्नपूर्वकत्वव्यतिरिक्तदेहेष्टायास्तद्यत्नपूर्वकत्वे चा'ऽऽदावेव स्वपरभेदः सिध्येत्तच्च 'नाध्यक्षात्परस्मानध्यक्षत्वाभाष्यनुमानाबन्धोऽन्याध्यादित्याशयवानाह—मित्रा इति ।

दोषान्तराभिहितस्या शङ्कते—प्रयेति । अस्मदर्थं पृच्छति—के यूयमिति । 'स हि स्थूलदेहो

श्रोत्रादिकरणो से प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाले शब्दादि से ब्रह्मात्मैक्य का विरोध है, इस प्रकार बहने वाले भेदवादियो से अद्वैतवादियो को पूछना चाहिए, क्या शब्दादि के भेद से आकाश की एवता का विरोध है ? यदि विरोध नहीं है, तो (ब्रह्मात्मैक्य के दृष्टादिभेदग्राही) प्रत्यक्ष से विरोध नहीं हो सकता ।

इसके अतिरिक्त यह जो कहा कि प्रत्येक शरीरा में शब्दादि को उपलब्ध करने वाले तथा धर्माधर्म का अनुष्ठान करने वाले जीव भिन्न-भिन्न ही अनुमान किये जाते हैं और उनके भिन्न होने पर ब्रह्मात्मैक्य में अनुमानप्रमाण से विरोध होगा । जीव भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा अनुमान किनके द्वारा किया जाता है ? यह पूछा जाना चाहिए ।

इस पर यदि वे तार्किक उत्तर दें कि अनुमान करने में कुशल हम सभी के द्वारा जीवों की

१ शब्दादिभेदेन स्वयंकत्वस्य विरोधाभावः न ब्रह्मकत्वस्य शब्दादिभेदग्राहिप्रत्यक्षेण विरोधाऽस्ति । २ जीवाः । ३ तेषां मित्रास्ते च । ४ इत्युक्ती । ५ इत्युक्तावपि । ६ प्रत्यक्षविरोधः । ७ मित्र-विपर्ययादिति शेषः । ८ प्रत्यक्षस्य । ९ व्याप्तिमात्रेण । १० जीवभेदः । ११ स्वप्रयत्नपूर्वकत्वस्यापीति अत्र स्वयन्दानुपलब्धतां गृह्यते । पक्षीभूतवेष्टाया इत्यादी शेषः । तथा चार्थान्तरप्रसक्तमिति भावः । अर्थान्तरपरिहासप्रमाणद्वय निषेधनि—अनुपलब्धिबिरोधे त्विति । उत्तरेष्टानुकूलप्रयत्नस्य स्वस्मिन्ननुपलब्धेस्त-स्थूलकत्वस्य बाधाय तत्पूर्वकत्वं पक्षीभूतवेष्टाया अनुमितिविषय इति भावः । अनुत्थानादिति परप्रयत्नस्याप्यनुपलब्ध्यादिति भावः । तथा चानुपलब्धमानोऽपि परप्रयत्नो यथानुमानबलादास्थीयत तथैवानुपलब्धमानोऽपि स्वप्रयत्न एव तद्व्यवहारिक नाम्नीयत विनिगमनाविरहात् । न च स्वप्रयत्नानुपलब्धेर्धर्मोपपत्त्याऽभावविनिगमकत्वा-दनुमितिबाधकत्वं परप्रयत्नानुपलब्धेर्व्यवहारिकत्वात् तथात्वमित्यत्र विनिगमकमिति वाच्यं स्वव्यवहारस्य परसाधेयत्वेन तस्मिन्ने प्रागसम्भवादिति । १२ व्याप्त्यन्तरेण भेदानुमितिमात्रद्वय परिहरति—स्त्ववेहेति । देवदत्तशरीरे चेष्टा तदीयप्रयत्नपूर्विका मदीयशरीरवेष्टावत् । १३ आदावेवेति—अनुमिते प्रागेवेत्यर्थः । (तथा च सिद्धसाधनम्) ननु सिद्धं न समोहतमत आह—स चेति । परसिद्धौ व्याप्तिसिद्ध्या परानुमानम् अनुमिने च परस्मिन् व्याप्तिसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अन्योन्याध्यादिति । १४ धर्मप्रतियोगिप्रत्यक्षापेक्षा-त्वाद्भेदाभ्यसत्वेति भावः । १५ अनुमानवृत्तौ ।

'सा शरीरेन्द्रियमन' आत्मसाधनं 'कारकं रात्मकर्तृका' निर्यतं तत् द्वयेतत्प्रतिज्ञातम् । 'तत्र वयमनुमानकुशला इत्येवं वदद्भिः शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मनः प्रत्येकं' वयमनेक इत्यभ्युपगतं स्यात् । अहो अनुमानकोशलं 'दर्शितमपुच्छ' पृष्ठे गेस्ताक्किबलीवर्द्धः । यो ह्यात्मनिमेव न जानाति स कथं मूढस्तदगतं भेदमभेदं वा 'जोनोयात् ।

'तत्र 'किमनुमिनोति केन वा लिङ्गेन । न ह्यात्मनः 'स्वतो भेदप्रतिपादकं किंचिल्लिङ्गमस्ति येन लिङ्गेनाऽऽत्मभेद साधयेत् । यानि लिङ्गान्यात्मभेदसाधनाय नाम-

'एतेन देहादिष्वपि कारकत्वं' प्रत्युक्तमिति भावः । यस्मात्माऽऽत्मप्रतिषीधिकभेदवान्वस्तुत्वाद्बुधद्वयविति, 'तत्राऽऽत्मा' 'आतपन्नोऽप्रतिपन्नो वेति विरुद्धस्य द्वितीय प्रत्याह—यो हीति ।

प्रतिपन्नत्वपक्षेऽपि भेदेनाभेदेन वा तत्प्रतिपत्तिरभययाऽपि नानुमानप्रवृत्तिरित्याह—तत्रेति । 'इतश्चाऽऽत्मभेदानुमानानुत्थानमित्याह—केनेति । किञ्चरदस्याऽऽपेयायत्वं स्फुटयति—न हीति । ❀ 'जन्मादीनां प्रतिनियमादिलिङ्गवशादात्मभेद सेत्स्यति' चेन्नेत्याह—यानीति । आत्मन सजातायभेदे

अनुमानं नो प्रिया ही है । वह प्रिया शरीर, इन्द्रिय, मन व आत्मस्वरूप करणकारकमाधनो के द्वारा आत्मकर्तृक होकर सम्पादित होती है, ऐसी प्रतिज्ञा आप कर चुके हैं । उक्त प्रतिज्ञा के होने पर 'हम अनुमानकुशल हैं'—ऐसा कहकर आप यह मान लेते हैं कि हम प्रत्येक शरीर, इन्द्रिय और मनरूप साधन वाले जीवात्मा अनेक हैं । वाह जी वाह ! बिना सींग-पूँछ वाले आप तार्किक माँढो ने अच्छा

१ धात्वर्थत्वाद्भाट्टमते वा ज्ञानस्य क्रियात्वान्भ्युपगमादित्यथ । तथाप्ये तत्त्वमर्थमाह—सेति । २ आत्मस्य स्वरूपवचन । ३ करणकारकं । ४ उक्तप्रतिज्ञाया सत्याम् । ५ अनुमिनुयात् । ६ तत्रेति—भेदेनाभेदेन वा प्रतिपन्ने आत्मनि नानुमानप्रवृत्तिरिति भावः । आद्यनुमाने सिद्धमाधनता अन्तः आप इति गूढाभिसन्धिः । ७ आक्षेपे निम् । ८ अन्तरेणोपाधिम् । ९ आत्मस्युक्तं व्याय देहादावतिदिशति—एतेनेति । आत्मनि कारकत्वप्रत्युक्तिव्याप्येनेत्यर्थः । १० प्रत्युक्तिमिति—तथाहि देहादेरवान्तरप्रियाऽस्ति न वाऽन्तेऽकारकत्वमाद्ये प्रत्यकमनेकत्वं देहादेरवान्तरक्रिया किमनेककारकसाध्या न वेत्याद्युक्तीत्या द्रष्टव्यम् । ११ अनुमाने पक्षीभूत आत्मा । १२ जानोऽज्ञातो वा । १३ अनुमादुर्योनेऽनुमानानुत्थानमुक्त्वा तल्लिङ्गमपि दुर्बलमिति मन्वान साध्येऽजन्मादीनां प्रतिनियमादिलिङ्गं दूषयिषुमबतारयति—इतश्चेति । १४ जन्मादीनाम्—आदिपदेन मरण त्रयोदशकरणानि च गृह्यन्ते । तानि च महत्तत्त्वाहकारमनाति प्रीणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दधेति द्रष्टव्यानि । तेषां प्रतिनियमो व्यवस्था । आदिना अयुगपत्प्रवृत्तिर्त्रैगुण्यविषययो गृह्यते । उक्तहेतुवशादात्मभेद इत्यर्थः । तदुक्तं सास्याचार्यै—'जममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तश्च । पुरुषबहुत्व सिद्धं त्रैगुण्यविषययार्च्यवेति' । एकस्मिन्ज्जातन सर्वे जायन्ते इति जमप्रतिनियम एव मरणेऽपि करणप्रतिनियम एवस्याधत्वेन सर्वेषां तत्तात्वमिति । एकस्यधर्मेऽन्यस्याधर्मे प्रवृत्तिरित्ययुगपत्प्रवृत्तिः । एको राजसौज्यस्तामसोऽप्यट् सात्त्विक इति त्रैगुण्यवैलक्षण्याच्च पुरुषाणां नानात्वं सिद्धमित्यथ । (सा० का० १८) १५ इति ।

❀ 'जन्मादीनां प्रति नियमादिलिङ्गवशादात्मभेद इति । तदुक्तं सास्याचार्यै—'जममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तश्च । पुरुषबहुत्व सिद्धं त्रैगुण्यविषययार्च्यवेति' । पुरुषबहुत्व सिद्धं कस्माज्जन्ममरणकरणानां

रूपवन्त्युपन्यस्यन्ति तानि 'नामरूप'गतान्युपाधय एवाऽऽत्मनो घटकरका पवरकमृद्धिद्राणी-  
वाऽऽकाशस्य । यदाऽऽकाशस्य भेदलिङ्गं पश्यति तदाऽऽत्मनोऽपि भेदलिङ्गं, 'लभेत स ।

लिङ्गाभाव दृष्टान्तेन साधयति—यदेति । किञ्चोपाधिको वा स्वाभाविको वाऽऽत्मभेदः साध्यते नाऽऽद्यः

अनुमानकौशल दिखलाया है । जा आत्मस्वरूप को ही नहीं जानता, वह मन्दबुद्धि पुरुष उसके भेद या अभेद का किन प्रकार अनुमान कर सकता है ?

उक्त आक्षेप म वह क्या अनुमान करता है और किस लिङ्ग के द्वारा अनुमान करता है ? उपाधि के बिना आत्मा का अपने से भेदप्रतिपादन करने वाला कोई लिङ्ग तो है नहीं, जिस लिङ्ग के द्वारा आत्माओं का भेद सिद्ध कर लिया जा सके । वे (माख्यदर्शनानवलम्बी) जिन नामरूप लिङ्गों की आत्मभेदमिद्धि प्रस्तुत करते हैं, वह सब तो आकाश को उपाधि घट, कमण्डलु मठ और भूच्छिद्र के समान आत्मा की (अनात्मधर्मभूत) नामरूपगत उपाधियाँ ही हैं । यदि वादी आकाश के भेद का अनु-  
मापक लिङ्ग देखा है, तो आकाश के भेद का अनुमापक लिङ्ग भी प्राप्त कर सकता है । किन्तु उपाधि

१ साक्षात् । २ नामरूपमनालीति—नहि पुरुषबहुत्वसाधक जसादियुक्त नश्य तान्तात्मासद्विमित्तमा-  
त्मन्यवृत्तिरित्यर्थः । ३ अनात्मधर्मभूतानि । ४ अथकलो मठ । ५ वादी । ६ लभेत—  
“आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति” दृष्टान्तिरत्रादिति साव ।

प्रतिनियमात् निकामविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहे द्वयमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभि पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म न तु  
पुरुषस्य परिणाम तस्यापरिणामित्वात्तत्पात्रे च देहादीनामुपात्ताना परिणामो मरण न स्वात्मनो विनाश  
तस्य कूटस्थनित्यत्वात् । करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश तेषा जन्ममरणकरणाना प्रतिनियमो व्यवस्था सा  
खल्विय सर्वशरीरेष्वेकस्मिन्पुरुषे भोपपद्यते । तदा खन्वेकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्निप्रयमागे च निमिषेन चादौ  
चैकस्मिन्सर्वे एकान्धादयो विचित्रै चैकस्मिन्सर्वे एव विचित्रा स्फुरित्यव्यवस्था प्रति क्षेत्र पुरुषभेदे तु भवति  
व्यवस्था । न चैवस्यापि पुरुषस्य वेहोपाधानभेदादव्यवस्थेति युक्त एतिस्तन्नादि उपाधिभेदेनापि जन्ममरणादि-  
व्यवस्थाप्रसङ्गात् । नहि पाणी वृष्णे जाते वा स्तनादी महत्यवयवे युवतिर्जाता मृता वा भवतीति । इतरथ  
प्रतिक्षेत्र पुरुषभेद इत्याह—अमुगपत्प्रवृत्तश्च । प्रवृत्तिश्च प्रत्यक्षमक्षणा यद्यप्यन्तरेण ब्रह्मतिमी तयापि पुण्य  
उपचर्यते । तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने स एव सर्वशरीरेष्वत्र इति सर्वत्र प्रयतेत । तद्वत् सर्वत्रैव  
शरीराणि गुणप्रचलयेत्प्रधानत्वे तु माय दोष इति । इतरथ पुरुषभेद इत्याह—नैगुण्यविषयव्याप्यैरिति ।  
एवकारो मिश्रक्रम मिश्रमित्यस्यानन्तर इच्छन् मिश्रमेव नामिदमित्यर्थः । ययो गुणास्त्रैगुण्य तस्य विषयोऽप्य-  
धाभावः । चेचित्तत्पु सत्त्वनिवाया सत्त्वबहुला यथोदधरेतम, चेचिद्रजोबहुला यथा मनुष्या, चेचित्तमोहबहुला  
यथा तिम्रग्योनय । सोऽयमोहोऽस्त्रैगुण्यविषय्योऽयथाभावस्तत्पु तेषु सत्त्वनिवायेषु न भवेदमेव पुरुष-  
स्यातद्भेदे त्वमदोष इति । आत्मनो अनिविकारप्रमुक्तारिणामित्वाभावाद्योऽद्योतकरापायैरेत जन्ममरणमयाह—  
निकायविनिष्ठाभिरिति । निकायो देवमनुष्यादियथादीनामनोतरावर्धमावस्थितं सध्यास्तद्विनिष्ठाभिरित्यर्थः इति  
तात्पर्येटीकाया मिथा एव च मङ्गलं चानीतरावर्धम् (पा सु ३।३।४२) इति सूत्रेण निरायतनिष्ठाभिरिति  
दक्षितम् । यद्यपि महाभाष्याख्यापान्तात्प्राणिना समूह एव अत्र भूयै महत्पदेन गुह्यं न समूहमात्मन एव  
ब्राह्मणनिवास इतिवत्प्र प्रमाणनिवास इति प्रयुज्यतेऽपि तु प्रमाणनिवृत्त इति । तथापि प्राणिमर्वाचिवेन ब्र-  
ह्मनिवास प्राणिमसमूह सभाष्यनिवासप्रत्यययोगपरतिर्नेयः ॥ ननु देवदत्तो जात इति व्यवहारद्वयता मुच्यते

'न ह्यात्मनः' परतो 'विशेषमभ्युपगच्छद्भिस्तार्किकशतैरपि भेदलिङ्गमात्मनो दर्शयितुं शक्यते । स्यतस्तु 'दूरादपनीतमेवाविषयत्वादात्मनः ।

सिद्धसाध्यत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—न हीति । न द्वितीय इत्याह—स्वतस्त्विति ।

से भेद स्वीकार न करने वाले संघर्षो तार्किको द्वारा भी आत्मा के भेद का लिङ्ग नहीं दिखलाया जा सकता । स्वयं आत्मा में भिन्नत्व होना तो सर्वथा निराकृत कर दिया जाता है क्योंकि आत्मा किसी का विषय न होने के कारण अद्वितीय है ।

१ आनाशस्यवात्मन स्वतो भेदस्तु नैव समवतीत्वमिप्रेत्याह—न हीति । तथा च भेदप्रतीत्युपपत्तये परत एव भेदोऽभ्युपेय । एव च सिद्धसाधनमिति भाव । २. उपाधित । ३. भेदम् । ४. दूरानिस्त भिन्नत्वमिति शेष ।

घटादेरिवात्मनो जन्म न जायमानदेहादिसबन्धरूप भाक्तमिति तत्राऽऽह—न तु पुरुषस्य परिणाम इति । घटादेरिव मुख्य उत्पत्तिरूप परिणाम पुरुषस्य न चेत्यर्थ । अपरिणाधित्वात्प्राप्तमनो मुख्य जन्मेति यावत् । मरण तु यद्यपि मूढ प्राणत्याग इति स्वरणात्प्राणोपलक्षितदेहादीनां स्यामरूप मुख्यमेवास्मिन् सन्नवति तथापि घटादेरिव विनाशरूप मरणमत्र मा कश्चिद्व्यहोदिरमाद्येनाऽऽह—न तु विनाश इति । 'न जायते त्रियत वा विपरिचल' "अनो नित्यं द्वावबतोऽप्य पुराण" इत्यादियुत्याऽऽत्मनो जन्माविपरिणामशून्यत्वेन कूटस्थनित्यत्वाऽऽन्नानाप्राप्तमनो मुख्यी जन्मनिश्चनावित्यर्थ । मा नाम भूजगती मृत इति व्यवहारपक्षरणा व्यामोह इत्यनुकम्पावती ब्रह्मक्षरण्यकभूतिरपि 'स मा अयं पुरुषो जायमानं शरीरमभिसंपद्यमानं ॥ उत्तमान्निद्रयमानं' इत्येव स्वयमेव शरीरादिना सयुज्यमानत्वमेवात्मनो जायमानत्वं शरीरादुत्क्रमणमेव चारमनो त्रियमाणत्वमिति निराह । एव च देवदत्तो जात इत्यादिव्यवहारो भाक्त इत्यत्र फलितम् । एतच्च चराचरव्यपाराश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वादित्यादि ब्रह्मसूत्रभाष्ये व्यक्तम् । कयलोपपन्नत इति पृष्ठोज्जुपपत्ति स्पष्टयति—तदा क्त्विति । इदं चार्थापत्तिप्रदर्शनमात्रमन्यवादिन वेदान्तिन इति स्वमतं तु जन्मादिव्यवस्था वस्तुभेदनिबन्धना व्यवस्थात्वात् सम्मतवत् इत्यनुमानं मनसि निधाय तत्र तदा स्वत्वेकस्मिन्पुरुष इत्यादिना विपक्षबाधकत्वात् उच्यते इति ध्येयम् । ननु यथाऽऽकाशस्मैकत्वेऽपि घटाद्युपाधिभेदेनोपाधिक भेदमादाय व्यवस्थाऽऽभ्युपेयते तथाऽत्रापि देहोपाधिक भेदमात्माय व्यवस्थाऽऽस्वीयता किं गौरवशस्तेन पारमार्थिकेन भेदेन । तथा चाहु —यथैकस्मिन्पटाकाशे रजाधूमादिभिर्भुते न सर्वे सप्रभुज्यन्ते तथा जीवा सुखादिभिर्गतितीत्याङ्गान् निरस्यति—न वैकस्यापीति । तथा सति देहबद्धस्तनादीनां देहावयवानामनुपाधित्वेन भेदकत्वं स्यात्तथा च देहावयवोद्भवनिरोधाम्यामपि पुरुषस्य जन्ममरणादिव्यवहारः स्यादित्यभिप्रेत्यामुत्तत्वे हेतुमाह—पाणिस्तनादीति । प्रसङ्गस्येष्टत्वमाङ्गुल्यव्यवहारविरोधेन परिहरति—न हीति । अन्तरीत्यनेन चान्न स्वगोचरो व्यवहार स्वविषयक वा ज्ञानमुपलक्षणोपमेव हस्ते पतिते युवतिर्भूतेति स्तनादौ च जाते युवतिजातेति च न केनापि व्यवहित्यते नापि जायते इत्यर्थोऽत्र फलित । यद्यपि स्तनादौ जाते बाल्य विहाय युवत्वं प्राप्तं सङ्घातस्तथापि तदवच्छेदेन तदधिष्ठाभ्यां न जातत्वव्यवहारः । संवेदयमन्तेति प्रत्यभिज्ञानात् भवन्मते तु कामोपाधिजन्मना तदवच्छेदेनारम्यनि जातत्वव्यवहारवत्त्वादायवज्जन्मनाप्यात्मनि जातत्वव्यवहारः स्यादुपाधित्वाविशेषात्स च बाधित इति नोपाधिकभेदकरणनया निस्तार इति भाव । शरीराणि प्रतिशरीरं विभिन्नपुरुषाधिष्ठेयानि अयुर्गोपध्वंसितमरणाद्व्याधिवदित्याशयेन प्रवृत्त हेतवन्तर-

एतेनाऽऽगमविरोधः प्रत्युक्तः ।

यदुक्तं 'यह्य' कर्त्वे यस्मा उपदेशो यस्य चोपदेशग्रहणफलं तदभावादेकत्वोपदेशान-  
र्थययमिति । तदपि न, 'अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणां 'कश्चोद्यो भवति । एकस्मि-

देशेन निराकरोति—एतेनेति । औपाधिकभेदाश्रयत्वेन 'व्यवहारस्योपपन्नत्वोपदेशेनेति यावत् ।

प्रत्यक्षानुमानागमरहितस्याविरोधेऽपि स्वाद्विरोधोऽप्यपित्येति चेदत आह—यदुक्तमिति ।  
उपदेशो 'यस्मै' क्रियते यस्य चोपदेशग्रहणप्रयुक्तं फल 'ययोर्ब्रह्म' कर्त्वे सत्युपदेशानर्थययमित्यनुवादार्थः ।  
किं क्रियाणामनेककारकसाध्यत्वादेव चोद्यते किं वा ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वादिति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति  
—तदपीति । 'तासामनेककारकसाध्यत्वस्य प्रत्युदस्तत्वादिति भावः । यदि ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वाभिप्राये-  
णोपदेशानर्थय चोद्यते 'तत्र नित्यमुक्ते ब्रह्मणि जातेऽज्ञाते वा तदानर्थय चोद्यत इति विकल्प्याऽऽद्य-

एव प्रत्यक्षरूप है तथा ब्रह्म उनसे भिन्न है, अत आत्मा, अनुमान का विषय न होने के कारण, अनुमान  
से उसका विरोध किस प्रकार हो सकता है ? उक्त विवेचन से आगमविरोध का भी परिहार कर  
दिया गया ।

और जो ऐसा कहा कि ब्रह्म की एकता के पक्ष में जिसे उपदेश दिया जायगा एव जिसे उपदेश-  
ग्रहण का फल होगा, उन दोनों का अभाव होने के कारण ब्रह्म-कर्त्तव्य-उपदेश का आनर्थक्य ही सिद्ध  
होगा । ऐसा समझना भी उचित नहीं है, क्योंकि क्रियाओं के अनेक कारकों द्वारा संपादित होने के

१ ब्रह्म' कर्त्तव्यसे । २ अनेकेत्यादि—ब्रह्म' कर्त्तव्यम्युगम्य कथमुपदेश करोपीति यस्त्वया चोद्यत तदेतत्त्वयापि  
क प्रति चोद्यते त्वयसे क्रियाणामनेककारकसाध्यत्वे उपदेशकर्तृत्वस्य कस्यचिदनिर्णयार्थमिति भव्यापि श्रव्य  
चोदयितुमित्यर्थ इति स्थितस्य मति । अस्तुतस्तु अनेककारकसाध्यत्वादित्येवमुक्त पाठः । ३ कुचोद्य-  
मेतत् । ४ उपदेशादि-व्यवहारमिति यावत् । ५ व्यवहारो आत्मकामो अज्ञेयत्वादिकप ५०० पृष्ठभाष्ये ।  
६ यस्मै याम्येत्युभयत्र यच्छब्दार्थस्यैकत्वेऽपि पुनरुक्तिशङ्का नावतरति । ७ यस्मा इति यस्मै फलादेशस्यार्थः ।  
यत्फलमुद्दिशेति यावत् । तयो फलफलिनोत्यर्थः । 'लोने तथैवानुवादवर्त्तनात् लोभप्रसिद्धानुवादत्वेनेति'  
पाठः । ८ क्रियाणाम् । ९ द्वितीयश्लोके ब्रह्मणि वा ।

प्रमेयशब्द नाऽऽगमन स्तम्भकमृग्यम् ॥ ५६८ ॥ "अनुमानादनकर्त्तव्यमात्मनो य प्रचक्षत । तथा प्रत्यक्षमात्रेण बाधो  
निष्प्रविधौ भवेत् ॥ ५६९ ॥ इति । प्रतिवादविदेशाभ्युपगमात्तदात्मना तादात्म्यवन्मो जीव हेहृवाः समनवदित्यर्थः ॥  
वैद्वत्तत्वायमिन्द्रियादिव्यतिदिशति—यथिति । विमलानि प्रविशदिवीषसाधनानिन्द्रियात्वात्प्रविशदिवीन्द्रियवदेव  
भनोद्विद्विषयात्परोक्षानुमानादय तद्देहवदि प्रशोदिव्यवैवात्म्यमनुमानन योजयदित्यर्थः । भेदानुमानादया-  
नुमाविरोधवदध्यक्षद्विषयमाह—सर्वेति ॥ किं तत्प्रत्यक्ष तदाह—जायमिति । सर्वेषु चारचरशरीरव्याप्तात्मा स्वप्रका-  
शविचेदेकरस सदा विदुषाऽनुभूयत तद्विद्वदध्यक्षद्विषयानुमेत्यर्थः । अविवददट्टरनुमानगुणत्वात्तयैव ब्रह्मत्वा-  
दध्यक्ष बाध्यमित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । आत्मन स्वप्रकाशत्वे इत्यथेव च तद्वेगे मानतो न निष्प्रतीत्यु-  
क्तमिति भावः ॥ तदसिद्धिमेव प्रकटयति—अनयेति । यस्याऽऽत्मनो भेद साध्य स स्वप्रकाशो हृदयो वाऽऽहो  
तस्यामोचत्वात्तदभेदो न भानत सिध्यद्विद्विषये इत्यस्य स्तम्भादिवदनामत्वाद्यस्यमिद्वेस्तदभेदासिद्धिरित्यर्थः ॥  
अनुमानप्राहकाध्यक्षाभावश्च तेनाध्यक्ष बाध्य विदुः तेनैवानुमेत्युक्तमहरति—अनुमानादिति । एव प्रत्यक्षसत्तादि-  
ब्रह्मणो वेदान्तप्रमाणवत्स्य सत्यस्य सत्यमित्युपनिषदिति स्थितम् ॥

ब्रह्मसि निरुपाधिके 'नोपदेशो नोपदेष्टा न 'चोपदेशग्रहणफलम् । 'तस्मादुपनिषदां चाऽऽनर्थक्यमित्येतदभ्युपगतेमेव । अथानेककारकविषयानर्थक्यं चोद्यते । 'न, 'स्वतोऽभ्युपगमविरोधादात्मवादिनाम् ।

तस्मात्तार्किकचाटमटराजाप्रवेश्यमभयं दुर्गमिदमल्पबुद्धयगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च । "कस्तं 'मदामदं देवं मदभ्यो ज्ञातुमर्हति" "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" "नैषां तर्केण नतिरार्पणेया" "वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिर्वादेभ्यश्च । "तदेजति तन्नैजति तद्बूरे

मङ्गी करोति—एवस्मिन्निति । द्वितीयमुत्पाष्यति—अयेति । उपदेशस्तावदनेकेषां कारकाणां साध्यतया विषयस्तद्वानर्थक्यमज्ञाते नित्यपुनरेव ब्रह्मणि चोद्यते वेदित्यर्थः । सर्वैरात्मवादिभिरुपदेशस्य ज्ञानार्थमिष्टत्वात्सद्विरोधादज्ञाते ब्रह्मणि तदानर्थक्यचोद्यमनुपपन्नमित्याह—न स्वत इति ।

अहं ते विरोधान्तराभावेऽपि तार्किक'समयविरोधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽह—तस्मादिति । प्रमाण-विरोधाभावस्तच्छब्दायं । आर्यनर्यादां भिन्दानाश्चाटा विवरूपन्ते । भटास्तु सेवका निम्ब्याभाविणस्तैषां सर्वेषां राजानस्तात्किकारतैरप्रवेश्यमनाक्रमणीयमिदं ब्रह्मात्मकत्वमिति यावत् । शास्त्राविप्रसादशून्य-रगम्यत्वे प्रमाणमाह—कस्तमिति । देवैरादेवैरप्रसादेन लभ्यमित्यत्र "श्रुतिस्मृतिवादाः सन्ति तेभ्यश्च शास्त्रादिप्रसादहीनैरलभ्यं तत्त्वमिति निश्चितमित्यर्थः । शास्त्रादिप्रसादवत्तामेव तत्त्वं सुगममित्यत्र श्रुतं स्मृतं च "लिङ्गान्तर दर्शयति—तदेजतीति । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वे सर्वप्रकारविरोधाभावे फलित-

कारण यह दुरुत्तिमान है । निरुपाधिक एक ही ब्रह्म का ज्ञान ही जाने पर न उसमें उपदेश सम्भव है, न उपदेष्टा सम्भव है और न ही उपदेशग्रहण का फल ही सम्भव है । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सभी उपनिषदों की अनर्थकता सिद्ध हो जाती है, यह तो हम भी मानते ही हैं । तथा यदि अनेक कारकों के विषय-भूत उपदेश को व्यर्थ कहे तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि (उपदेश के ज्ञान के लिए इष्ट होने के कारण) इसका तो आत्मोपदेशक विद्वांसों के मत से भी विरोध है ।

इसलिए अल्पबुद्धि वाले पुरुषों के लिए अप्राप्य, द्वास्त्र तथा गुरुकृपा से रहित जाँचों द्वारा अगम्य यह (ब्रह्मात्मक ज्ञानरूप) अभय दुर्गम आयमर्यादा को तोड़ने वाले एवं मिथ्यावादियों के सिरनीर तार्किकों द्वारा अनाक्रमणीय है । " (यह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है) वह मद से युक्त और हर्ष से रहित है, उस देव को मेरे अतिरिक्त और कौन जान सकता है", "इस विषय में पहले देवताओं को सन्देह हुआ था (क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म परम् सरलता से जानने योग्य नहीं है)", "(हे प्रियतम ! तुम बड़े ही सत्य धैर्य वाले हो) तुम जिस बुद्धि

१. ज्ञाते सति । २. ब्रह्मणो ज्ञातत्वात् । ३. ज्ञानार्थक्यम् । ४. स्वस्य उपदेशस्य । ५. अगम्यम् । ६. विरुद्धभर्माध्यासाधिष्ठानमिति यावत् । ७. वरप्रसादेत्यादि—वरागाभिलाषिताय प्रसादोऽनुग्रह इष्ट-प्राप्तिप्रयोजकोऽनुग्रह इति यावत् । तेन सम्भवबोधका ये श्रुत्यादिवाक्यानि तेभ्य इत्यर्थः । ८. आत्मोपदेशानेविद्विद्धि । ९. विद्वदभ्युपगमविरोधात् । १०. मिदानीति यावत् । ११. श्रुतिस्मृतिवादा इति वादा वचांसि तानि च 'तृतीयं वर नचिषेते वृणीष्व', 'वौणीतविब्राह्मणे विषोदासपुत्र प्रतर्दनं प्रतीन्द्रवाक्यं यथा 'प्रतर्दनं वर ते ददानीति' । स्मृतिवादाश्च "ईश्वरानुग्रहादेव पुनामर्हतासना । महाभयवृत्ताणां द्विपाणांमुपजायते" । "दद्यामि बुद्धियोगं त वेन आमुपयान्ति ते" इत्यादयः । १२. विरुद्धपरमंस्वरूपम् ।

तद्वन्तिके" इत्यादि विरुद्धधर्म समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णभ्यश्च । गीतासु च "मत्स्यानि सर्वभूतानि" इत्यादि । तस्मात्परब्रह्मव्यतिरेकेण संसारी नाम नान्यद्वस्त्वन्तरमस्ति । तस्मात्सुष्ठूच्यते "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "तदात्मानमेवावेत्" "अहं ब्रह्मास्मीति" "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यं नामोपनिषत्परा ॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

### अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्

ब्रह्म जपयिष्यामीति प्रस्तुतम् । तत्र यतो जगज्जातं यन्मयं यस्मिन्नस्तीत्ये

नाह—तस्मादिति । संसारिणो ब्रह्मणोऽर्धाङ्तरत्वाभावे भूतानामनुकूल्यं दर्शयति—तस्मादिति । अद्वैते श्रुतिसिद्धे विचारनिष्पन्नमयंमुपसंहरति—तस्मात्परस्येति ॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

"वृत्तवर्तिष्यमाणयोः संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—ब्रह्मेति । ब्रह्म ते ब्रवाणीति प्रक्रम्य ध्येयत्वा जपयिष्यामीति प्रतिज्ञाय जगत्तो जन्मादयो यतस्तद्वितीयं ब्रह्मेति व्याख्यातमित्यर्थः । "जन्मादि-

को प्राप्त किये हो, यह स्वकल्पनामात्र से प्राप्त होने योग्य नहीं है" तथा वेवताग्रो के अभिलिखित वर और इष्टप्राप्तिप्रयोजक अनुग्रह में उसके बोधकत्व का प्रतिपादन करने वाले श्रुति और स्मृतिवाक्यों से एवं "वह आत्मतत्त्व (सोपाधिकरूप से) चलता है और (निस्पाधिकरूप से) नहीं भी चलता, वह (अत्यन्त) दूर में है और वही अत्यन्त निकट में भी है" इत्यादि ब्रह्म में विरुद्धधर्मों का आश्रयत्व-प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्ग्रन्थों से भी यही सिद्ध होता है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है— "सर्व भूत मुझमें स्थित हैं" इत्यादि । इसलिए परब्रह्म से पृथक् संसारी जीवनात्म की कोई वस्तु नहीं है । इसलिए "उत्पत्ति से पूर्व यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था । उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ (इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया) ", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं" इत्यादि संकष्ट श्रुतियों द्वारा ठीक ही कहा गया है । श्रुति अद्वैत के विचारनिष्पन्न होने के कारण "सत्य का सत्य है" यह परम गुह्य रहस्य नाम उपनिषत् परब्रह्म की ही है ॥२०॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् द्वितीय अध्याय के अज्ञातमनु नामक प्रथम ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ॥१॥

(दोनों ब्राह्मणों की संगति का निरूपण करते हैं—) "मैं तुम्हें उस ब्रह्म का बोध करारूपा ही" इस प्रकार राजा अज्ञातमनु ने गार्ग्य से प्रतिज्ञा की थी । यह प्रतिज्ञा करके "जिससे जगत् की

- १ अनेजदेकमित्यादिरादि । २ आश्रयत्वेति यावत् । ३ 'न च मत्स्यानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' ।
४. संसारिणो ब्रह्मतिरिक्तत्वात् । ५ श्रोताद्वैतस्य विचारनिष्पन्नत्वात् । ६ परम गुह्य रहस्य नाम ।
७. तस्मिन्नस्तुते सति । ८ स्थिती । ९ संवादम् । १० उक्तवक्ष्यमाणब्राह्मणयोः । ११ जन्मादिमन्त इति यावत् ।



तदेकं ब्रह्मेति विज्ञापितम् । किमात्मकं पुनस्तज्जगज्जायते लीयते 'च । पञ्चभूतात्मकम् । भूतानि च नामरूपात्मकानि । नामरूपे सत्यमिति ह्युक्तम् । तस्य सत्यस्य पञ्चभूतात्मकस्य सत्यं ब्रह्म । कथं पुनर्भूतानि 'सत्यमिति भूतमूर्तब्राह्मणम्' । भूतमूर्तभूतात्मकत्वात्कार्यकरणत्मकानि भूतानि प्राणा अपि सत्यम् । तेषां 'कार्यकरणात्मकानां भूतानां' 'सतत्त्वनिर्दिधारयिषया' 'ब्राह्मणद्वयमारभ्यते' 'संवेपनिषद्ब्याख्या' । कार्यकरणसत्त्वावधारणद्वारेण हि सत्यस्य सत्यं ब्रह्मावधार्यते । 'अत्रोक्तम् 'प्राणा च सत्यं तेषामेव सत्यम्'

विषयस्य जगतः स्वरूपं पृच्छति—किमात्मकमिति । विप्रनिपत्तिनिरासार्थं तत्स्वरूपमाह—पञ्चेति । कथं 'तर्हि' नामरूपकर्मात्मकं जगदित्युक्तं तत्राऽऽह—भूतानीति । तत्र गमकमाह—नामरूपे इति । भूतानां सत्यत्वे कथं ब्रह्मणः सत्यस्यवाचो' युक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उच्येति । 'तत्सत्यमित्यवधारणा-  
व्याख्येयु भूतेषु सत्यत्वासिद्धिरिति शङ्कयित्वा समापत्तं—कथमित्यादिना । सञ्च स्पञ्च सत्यमिति व्युत्पत्त्या भूतानि सत्यशब्दवाच्यानि विषययन्ते चेत्कथं तर्हि कार्यकरणसंघातस्य प्राणानां च सत्यस्य-  
भुषत् तत्राऽऽह—भूतंति । यथोक्तभूतरूपत्वात्कार्यकरणानां 'तदात्मकानि भूतानि सत्यानीत्यङ्गीका-  
रात्कार्यकरणानां सत्यत्वं प्राणा अपि 'तदात्मकाः सत्यशब्दवाच्या भवन्तीति प्राणा च सत्यमित्यविरुद्ध-  
मित्यर्थः । एवं पातनिका कृत्वोत्तरब्राह्मणद्वयस्य "विषयमाह—तेषामिति । "उपनिषद्ब्याख्यानाय ब्राह्मण-  
द्वयमि"त्युक्तिविशदमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—संवेति । कार्यकरणात्मकानां भूतानां स्वरूपनिर्धारणसंवेपो-  
निषद्ब्याख्येत्यत्र हेतुमाह—कार्येति । ब्राह्मणद्वयमेवम'वतार्यं त्रिषुब्राह्मणस्यावागन्तरसंगतिमाह—

सृष्टि हुई है, जिसमें यह जगत् स्थित है और जिसमें यह लीन हो जाता है, वह एक ही ब्रह्म है" ऐसा उपदेश किया गया । तो यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है, लीन होता है और स्थित होता है ? (संशयपरिहार के लिए जगत् का स्वरूप कहते हैं—) पञ्चभूतरूप से जगत् (उत्पन्न, लीन और स्थित) होता है । वे पञ्चमहाभूत नामरूपात्मक हैं और नाम व रूप सत्य हैं—ऐसा कहा जा चुका है । उस पञ्चभूतात्मक सत्य का ब्रह्म सत्य है । किन्तु वह पञ्चभूत सत्य किस प्रकार है, यह निर्धारण करने के लिए ही भूतमूर्त ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है । भूतमूर्त पञ्चभूतात्मक होने के कारण देह-इन्द्रियरूप भूत और प्राण भी सत्य हैं । उन देह-इन्द्रियरूप भूतों के स्वरूप की सत्यता निर्धारण करने की इच्छा से ये दो ब्राह्मण आरम्भ किये जाते हैं, यही इस ब्राह्मण की व्याख्या है क्योंकि देह और इन्द्रियों के स्वरूप की सत्यता निर्धारण से ही 'सत्य के सत्य' ब्रह्म का निश्चय होता है । सृष्टिवाक्य में कहा गया है कि "प्राण हो सत्य है और यह उनका भी सत्य है ।" सो प्राण कौन से है तथा प्राण ही अभिधेय विषय जिनका है, ऐसी उपनिषदें कितनी हैं और कौन-कौन सी हैं ? "सत्य के सत्य" इस

१. चात्तिष्ठति । २. भूतानां सत्यत्वनिर्धारणार्थमिति तिथ्यव्याख्य । ३. आरम्भ्यते इति शेष । ४. स्वरूपेति यावत् । ५. अस्मादात्मन सर्वे प्राणा इति प्राणैः प्रथमोऽर्थः सृष्टिप्रस्तावेऽत्र प्राण सम्बन्धा-  
च्छिष्यब्राह्मण भूतमूर्तब्राह्मणापेक्षया प्रथमं व्याख्यायत इति ध्येयम् । ६. सृष्टिवाक्ये । ७. जगतः पञ्चभूतात्मकत्वे सति । ८. वचनीक्षयम् । ९. छा उ ६।१।३। 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतेतो' इति शेषः । १०. कार्यकरणात्मकानि । ११. कार्यकरणभूतात्मकाः । १२. प्रतिपाद्यम् । १३. सत्यस्य सत्यमित्युपनिषद्ब्याख्यानाय । १४. वृ. उ ४।०।१।५। १५. उत्पाप्य ।

'यो ह वै शिशुं साधान सप्रत्याधानं सस्थूणं  
सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यान्वरुणद्वि । अयं  
'वाक् शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं  
प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥१॥'

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धनरज्जु के सहित शिशु को जानता है, वह अपने से द्वेष करने वाले शीर्षस्थ सात शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है । यह जो मध्यमप्राण है, वही शिशु है । यह वर्तमान देह ही उसका आधान है और द्वा प्रत्याधान है । प्राण स्थूणा (अन्न-पान-जनित शक्ति) है और अन्न बांधने की रस्सी के समान है ॥१॥

इति । 'तत्र के प्राणाः कियत्यो वा 'प्राणविषया उपनिषदः का इति च 'ब्रह्मोपनिषत्प्र-  
सङ्गेन करणानां प्राणानां स्वरूपमवधारयति । पथिगतकूपारामाद्यवधारणवत् ।

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद तस्येदं फलम् । किं तत् ।  
'सप्त सप्तसंख्याकाह द्विषतो द्वेषकतं भ्रातृव्यान्भ्रातृव्या हि द्विविधा भवन्ति द्विषन्तोऽद्वि-  
षन्तश्च तत्र द्विषन्तो ये भ्रातृव्यास्तान्द्विषतो भ्रातृव्यान्वरुणद्वि । सप्त ये शीर्षस्थाः

अत्रेत्यादिना । 'उपनिषदः काः कियत्यो वेत्युपसंख्यातव्यमित्याकाङ्क्षायामिति शेषः । ब्रह्म वेदवधार-  
यितुमिष्टं तर्हि तदेवावधारयति किमिति मध्ये करणस्वरूपमवधारयते तत्राऽऽह—पथीति ।

ब्राह्मणतात्पर्यमुक्त्वा तद्वशराणि योजयति—यो हेत्यादिना । विशेषणस्यार्थवत्त्वार्थं भ्रातृव्या-  
भिन्नति—भ्रातृव्या हीति । के पुनरत्र भ्रातृव्या विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—सत्तेति । कथं श्रोत्रादीनां सप्तत्वं

प्रकार ब्रह्मोपनिषत् के प्रसङ्ग से, मार्ग में पड़ने वाले कुर्रें, बगीचे आदि के निश्चय के समान श्रुति  
हिन्दियों और प्राणों के स्वरूप का निर्धारण करती है ।

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धनरज्जु के सहित शिशु को जानता है, उसे  
यह फल प्राप्त होता है । क्या फल मिलता है ? "सप्त ह द्विषतः" अर्थात् वह द्वेष करने वाले सात  
भ्रातृव्यों को अपने वश में कर लेता है । भ्रातृव्य दो प्रकार के होते हैं; द्वेष करने वाले और मैत्रीभाव  
करने वाले । उनमें जो द्वेष करने वाले भ्रातृव्य होते हैं; उन द्वेषयुक्त भ्रातृव्यों को वश में करता है ।  
(यहाँ भ्रातृव्य कौन है ?) द्वा में स्थित सात प्राण जो विषयानुभूति के द्वार हैं, उनसे होने वाले

१. एव प्राणा वै सत्यमित्यादि ब्राह्मणभाष्येन व्याख्यानमात्रा अप्युपनिषदो विशेषतोऽयं प्रकारकनाय ब्राह्मणद्वयम् ।
२. उक्तवान् । ३. प्राणाः विषया अभिषेया वासां ता उपनिषद अभिधानानि । ४. सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्मोपनिषत् । ५. यथा ग्रामाद्यद्विषयं गच्छन् पथि प्राप्य कूपरादिमध्यवधारयति तद्वदित्यर्थः । ६. सत्तेति—यन्मुद्रं प्राणद्वयश्रोत्रद्वयमुखारमकसत्त्वच्छिद्रायतनानि हिन्द्रियाणि विषयासत्त्वाद्द्विषतो भ्रातृव्यान् शत्रुन्वरुणद्वि जितेन्द्रियो भवतीत्यर्थः । ७. नामानि । ८. निर्णेतव्यम् ।

प्राणा विषयोपलब्धिद्वाराणि तत्प्रभवा विषयरामाः 'सहजत्वाद्भ्रातृव्याः । तेऽहस्ये' स्वात्मस्थां दृष्टिं विषयविषयां कुर्वन्ति तेन ते द्वेशारो भ्रातृव्याः । प्रत्यगात्मैक्षणप्रतिषेधकरत्वात् । काठके चोक्तम्—“पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्” इत्यादि । तत्र यः “शिश्वादीन्वेव तेषां याथात्म्यमवधारयति स एनान्भ्रातृव्यानवरुणद्वयपावृणोति विनाशयति ।

‘तस्मै फलश्रवणेनाभिमुखीभूतायाऽऽह—‘अयं वाच शिशु । कोऽसौ । योऽयं मध्यमः प्राणः शरीरमध्ये यः प्राणो लिङ्गात्मा यः पञ्चधा शरीरमाविष्टोऽध्वह्पाण्डरवासः सोम राजश्रित्युक्तः । यस्मिन्वाङ्मनःप्रभृतीनि करणानि विषक्तानि । पञ्चोशशङ्कु-

द्वारभेदादित्याह—विपयेति । कथं तेषां भ्रातृव्यत्वमित्याशङ्क्य विषयाभिलाषद्वादेशेत्याह—तत्प्रभवा इति । तथाऽपि कथं तेषां द्वेष्टृत्वमत आह—ते हीति । अथेन्द्रियाणि विषयविषयां दृष्टिं कुर्वन्त्येवाऽऽत्मविषयमपि तां करिष्यन्ति तत्र यथोक्तभ्रातृव्यत्व तेषामिति तत्राऽऽह—प्रत्ययिति । इन्द्रियाणि विषयप्रथणानि तत्रैव दृष्टिहेतवो न प्रत्यगात्मनोत्यत्र प्रमाणमाह—काठके चति । फलोक्तिमुपसंहरति—तत्रेति । “उक्तविशेषणेषु भ्रातृव्येषु सिद्धेऽपि विवक्षितं यावत् ।

प्राणो वागादीनां विषक्तस्य हेतुमाह—पञ्चोशेति । यथा “जात्यो ह्यश्वशूरोऽपि पादवन्धन-

विषयसम्बन्धी राग साध-साध जन्म लेने के कारण (भ्राता ही सहजज्ञान होने से) भ्रातृव्य हैं । वे ही हम अधिकारी की आत्मस्थ दृष्टि को विषयाभिलाषी करते हैं, इसीलिए वे द्वेषी भ्रातृव्य हैं क्योंकि वे प्रत्यगात्मदृष्टि के अपहारक हैं । कठोपनिषत् में भी कहा गया है—“स्वयम्भू (परमेश्वर) ने (शब्दादि विषयो को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियो को वह्निमुख करके उनका हनन कर दिया है । अतः (जो सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयो को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं” इत्यादि । यहाँ जो कोई इन शिशु आदि को गुणसहित जानता है अर्थात् उनका याथात्म्यज्ञान करता है, वह इन भ्रातृव्यो को “अवरुणद्वि” अर्थात् अपावृत्त यानी विनष्ट कर देता है ।

इस प्रकार फलश्रवण से (प्रलोभित होकर) अभिमुख होने वाले उस शिष्य (गार्ग्य) से (राजा अजातशत्रु) कहता है—निश्चय ही वही शिशु है । वह शिशु कौन है ? जो यह मध्यम प्राण है, जो यह शरीर के बीच में लिङ्गात्मा प्राण है, जो शरीर में पाँच प्रकार से प्रविष्ट होकर बहता, पाण्डरवास, सोम और राजन् इन नामों से कहा जाता है, जिसमें वाणी और मन आदि इन्द्रियाँ तादात्म्यरूप से आपन्न हैं । जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व परीक्षाक समय पर बांधने के खूंटों

१. भ्रातरो हि सहजज्ञव । २. अधिकारिण । ३. आत्मदृष्ट्यपहारकत्वादित्यर्थः । ४. सगुण शिशुम् । ५. एव फलेन प्रलोभित को वा शिखादिपदार्थ इत्युत्पत्तिज्ञास प्रति शिखादिपदार्थानाहृत्यभि प्रेत्याह—तस्मा इति । शिष्यायत्यर्थः । ६. यय वाच—अयमेव शिशु । शिशुर्वादिपदार्थानाहृत्य प्राण प्रेत्याह—तस्मा इति । शिष्यायत्यर्थः । ७. यय वाच—अयमेव शिशु । शिशुर्वादिपदार्थानाहृत्य प्राण प्रेत्याह—तस्मा इति । शिष्यायत्यर्थः । ८. तादात्म्यात्प्राणि । ९. वृ उ ६।१।१३ । १०. सहजत्वेऽपि । ११. शीघ्रं पण्यु द्वेष्टृत्व्यति वा । १२. प्रमास्तत्रातीयः ।

निदर्शनात् । स एष शिशुरिव विषयेष्वितरकरणवदनासक्तत्वात् । शिशुं साधान-  
मित्युक्तम् । किं पुनस्तस्य शिशोर्वत्सस्थानीयस्य करणात्मन आधानम् । तस्ये'दमेव  
शरीरमाधानं कार्यात्मकमाधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । तस्य हि शिशोः प्राणस्येदं शरीरम-  
धिष्ठानम् । अस्मिन्ह करणान्यधिष्ठितानि लब्धात्मकान्युपलब्धिद्वाराणि भवन्ति न तु  
प्राणमात्रे विपत्तानि । तथा हि दर्शितमजातशत्रुणा । उपसहृतेषु करणेषु विज्ञानमयो  
'नोपलभ्यते । शरीरवेद्येष्वप्येतेषु तु करणेषु विज्ञानमय उपलभमान उपलभ्यते । तच्च  
दर्शितं पाणिपेयप्रतिबोधनेन ।

कोलानपयमिणे'स्वाद्योत्कामति तथा प्राणो यागादीनीति निदर्शनवशात्प्राणो "विपत्तानि यागादीनि  
सिद्धान्तित्यर्थः । शरीरस्य प्राण प्रत्याधानत्वं साधयति—तस्य हीति । शरीरस्याधिष्ठानत्वं स्फुटयति—  
अस्मिन्हीति । "प्राणमात्रे विपत्तानि करणानि नोपलब्धिद्वाराणीत्यत्र प्रमाणमाह—तथा हीति । "देहा-  
धिष्ठाने प्राणो विपत्तानि तान्युपलब्धिद्वाराणोरित्यत्रानुभवमनुकूलयति—शरीरेति । "तत्रैवाजातशत्रुणा-  
हणसंवाद दर्शयति—तच्चेति । शरीराश्रिते प्राणो यागादिषु विपद्यतेऽप्युपलब्धिरुपलब्ध्यमानत्वमिति यावत् ।

को उल्लाह डालता है (वैसे ही मुख्यप्राण ने भी इन वागादिप्राणों को अपने स्थान से विचलित कर  
दिया) इत्यादि दृष्टान्त मे बतलाया है । वह यह प्राण (धृतिरेषि दृष्टान्तरूप) इनर इन्द्रियो की बतुर  
न होने के कारण शिशु के समान है । शिशु को आधानरहित जानने के लिए मग्न मे कहा गया है । तो  
फिर उस वत्सस्थानीय सूक्ष्मशरीरात्मारूप शिशु का आधान क्या है ? उसका यह कार्यात्मकशरीर  
ही आधान है (—ऐसा प्रसिद्ध है) । जिसम लिङ्गात्माप्राण प्रतिष्ठित किए जाएँ, उसे आधान कहते  
हैं । मत उस शिशु अर्थात् प्राण का यह शरीर अधिष्ठान है क्योंकि इस शरीर मे अधिष्ठित हाकर अपने  
स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयो की उपलब्धि का मार्ग बन जाती हैं, वे केवल प्राणमात्र  
मे तादात्म्यरूप से आपन्न नहीं होती । ऐसा ही राजा अजातशत्रु ने प्रदर्शित किया है । इन्द्रियो के  
उपसहृत हो जाने पर (प्राणकर्ता) विज्ञानमय की उपलब्धि नहीं होती । शरीरस्थान मे स्व-स्व  
गोलकसबद्ध इन्द्रियो मे तो (शब्दादि को) उपलब्ध करते हुए रूप मे ही विज्ञानमय की उपलब्धि होती  
है । गन्ध गान्द्र्य दबाकर जगा देने के द्वारा दिखायी गई है ।

यह शिर प्रत्याधान है । श्रोत्रादि चिह्नरूप प्रवेशविशेषों के प्रति इसमे प्रत्याधान किया जाता  
है, इसलिये यह प्रत्याधान है । प्राण "स्थूणा" अर्थात् अधिष्ठानजनित शक्ति है । प्राण शरीर बल ये  
पर्यायवाची शब्द हैं । वसाधीन स्थितिस्थापक इस शरीर मे प्राण ही है । वह यह आत्मा जब दुर्बलता

- १ व्यतिरेकिदृष्टान्त । २ सूक्ष्मशरीरात्मन । ३ प्रसिद्धम् । ४ लिङ्गात्मा प्राण । ५ शरीरे ।
- ६ ॥ त्विति—पक्षपा व्युत्पन्न विभज्य देहस्थितप्राणाधितानि करणानि त्रय्यकराणि न तु मूर्च्छादो प्राणमात्र-  
प्रस्तान्त्यत शरीर तत्साधानमित्यर्थः । ७ उपलब्ध्या । ८ नोपलभ्यते—न ज्ञायते शब्दादिज्ञानलिङ्गकानु-  
मितिविषयो न भवतीत्यर्थः । ९ स्वत्वगोलकसम्बद्धेषु । १० शब्दादीनि शेषः । ११ प्राणस्य  
परीक्षितु पादबन्धन कृत्वोपलब्धनादकाराहेण वशापात कृते सतीति शेषः । १२ प्राणाधीनदेहस्थितिकानीति  
यावत् । १३ मूर्च्छादो प्राणसामान्य त्यक्तापानादिवृत्तिक इति यावत् । १४ देहाश्रिते उपातपञ्चवृत्तिक  
इति यावत् । १५ यत्रानुभवानुस्यूमदर्शितः ।

इदं प्रत्याधानं शिरः 'प्रदेशविशेषेषु प्रति प्रत्याधीयत' इति प्रत्याधानम् । प्राणः स्थूणाऽघ्नपानजनिता शक्तिः प्राणो बलमिति पर्यायाः । 'बलावष्टम्भो हि प्राणोऽस्मिन् शरीरे । 'स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिवेति दर्शनात् । यथा वत्सः स्थूणावष्टम्भ एवम् । 'शरीरपक्षपाती वायुः प्राणः स्थूलोति केचित् । अन्नं वाम । अन्नं हि भुवत् त्रेधा परिणमते । यः स्थूलः परिणामः स एतद्द्वयं मूर्त्वेभ्योऽप्येति मूर्त्तं च पुरीषं च । यो मध्यमो रसः स रसलोहितादिक्रमेण स्वकार्यं शरीरं साप्तधातुकमुपचिनोति । स्वयोन्यन्नागमे" हि शरीरमुपचीयते"ऽन्नमयत्वात् । "विपर्ययेऽपक्षीयते पतति । यस्त्वणिष्ठो रसोऽमृतमूत्रप्रमाद्य इति च कथ्यते । स नामेरुध्वं हृदयदेशमागत्य हृदयाद्विप्रसृतेषु दाससति-

प्रत्याधानत्वं शिरसो व्युत्पादयति—प्रदेशेति । बलपर्यायस्य प्राणस्य स्थूणात्वं नमर्थयते—बलेति । अयं सुमूर्धुरात्मा यस्मिन्काले देहमबलभावं नीत्वा संमोहमिव प्रतिपद्यते तदोत्क्रामतीति "पठे दर्शनादिति यावत् । बलावष्टम्भोऽस्मिन्नेहे प्राण इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । भर्तृ प्रपञ्चपक्षं 'दर्शयति—शरीरेति । "उक्तं हि प्राण इत्युच्छ्वास"निद्रावातकर्मा वायुः शरीरः "शरीर"पक्षपाती गृह्यते । एतस्यां स्थूणायां शिशुः प्राणः "करणदेवता लिङ्गपक्षपाती गृह्यते । "स देवः प्राण एतस्मिन्बाह्ये प्राणो "बद्ध इति । "तद्ब्रह्माख्यातं भूमिकां करोति—अन्नं होति । स्वगसृङ्गांसमेदोमज्जास्थिशुक्रैः सप्तस्यो धातुस्यो

को प्राप्त हो, मानो सम्मूढता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । जिस प्रकार गोवत्स खूँटे के आश्रित रहता है, उसी प्रकार प्राण भी है । स्थूलशरीर का पक्षपाती वायु प्राण खूँटा है, ऐसा भर्तृ प्रपञ्च आदि का मत है । अन्न वन्धनरज्जु है क्योंकि खायी गया अन्न तीन प्रकार से विकार को प्राप्त होता है । उसका जो स्थूलविकार होता है; वह मल और मूत्र दो रूपों में परिणत होकर भूमि पर गिरता है । जो मध्यम विकार होता है वह सारभूत रस है जो कि रक्तादि के क्रम से अपने कार्यभूत सप्तधातुमय शरीर को पुष्ट करता है । क्योंकि शरीर अन्नमय है, इसलिए अपने कारणभूत अन्न के प्राप्त करने से शरीर भी पुष्टि व स्थिति होती है, अन्न के न प्राप्त होनेसे यह क्षीण हो जाता है एव गिर जाता है । तथा जो अणुतम रस होता है, वह अमृत, ऊर्क, अथवा प्रभाव ऐसा कहा जाता है, वह नाभि से ऊपर हृदयदेश में आकर हृदयप्रदेश में फली हुई बहुतर हजार नाडियों में प्रवेश कर प्रसिद्ध शिशुसजक इन्द्रियसप्ताधिरूप लिङ्गशरीर की स्थिति में

१. प्रदेशेति—प्रदेशविशेषेषु श्रोत्रादिच्छिद्रेषु प्रत्येकपाधीयत वर्णात्मा प्राणाऽस्मिन्निनि व्युत्पत्त्या मस्तक प्रत्याधानम् । वातिक यथा—"शिरोदेहाविशेषेषु प्रति प्रति स बाह्वित्" ॥१३॥ इति । २. अस्मिन् । ३. बलावष्टम्भ. बलाधीनस्थितिकः । ४. वृ० उ० ४।४।१ । ५. नितरामेत्य । ६. समुद्रतामिव । ७. स्थूलशरीरेति यावत् । ८. पृथ्वी पतति । ९. सारः । १०. प्राप्नोति । ११. लिप्यति । १२. अन्नाप्राप्नोति । १३. प्राणोत्क्रान्तेरतन्नायानुसारणे दर्शनादुक्तार्थ एव ज्यायात् । १४. इदमपि शक्याङ्गीकारमित्याशयेन । १५. भर्तृ प्रपञ्चः । १६. एतद्भाषापरः । १७. स्थूलोति यावत् । १८. पक्षपानो निवर्द्धितवत् । १९. अविच्छिन्ना । २०. एकमेव स्थूणावष्टम्भमया द्वेधा विभज्येदपिति बोध्यम् । २१. सबद्धः । २२. उत्सवाक्यम् ।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्तो-  
हिन्यो राजयस्ताभिरेन<sup>१</sup> रुद्रोऽन्वायत्तोऽय या  
अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तथाऽऽदित्यो

ये नेत्रस्य] सात अक्षितियां उस मध्यमप्राण शिशु का सदा स्तवन करती है। उनमें से जो ये अक्षि में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा 'रुद्र' इस मध्यमप्राण के अनुगत हैं तथा घूमादि से नेत्र में जो जल अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा 'मेघ' (उस मध्यमप्राण के अनुगत हैं) जो दशनशक्ति है, उसके द्वारा

नाडीसहस्रेष्वनुप्रविश्य 'यत्तत्करणसंघातरूपं लिङ्गं' शिशुसंज्ञकं तस्य शरीरे स्थितिकारणं भवति बलमुपजनयत्स्थूणाख्यं 'तेनाग्रमुभयतःपाशवत्सदाभवत्प्राणशरीरयोनिबन्धनं भवति ॥१॥

इदानीं 'तस्यैव शिशोः' प्रत्याधानं ऊढस्य अक्षुषि 'काश्चनोपनिषद उच्यन्ते—

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते । 'तं करणात्मकं प्राण शरीरे'ऽन्नबन्धनं अक्षुष्यु'ठमेता वक्ष्यमाणाः सप्त सप्तसंख्याका अक्षितयो'ऽक्षितिहेतुत्वाद्' उपतिष्ठन्ते । यद्यपि "मन्त्रकरणे

जातं साप्तधातुकम् । "तथाऽपि कथमग्रस्य दामस्यं तदाह—तेनेति ॥१॥

यो ह वै शिशुमित्यादौ सूत्रितशिक्षादिपदार्थान्वाख्यायानन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तर-  
वाक्यमुपादाय व्याकरोति—इदानीमित्यादिना । ननु यत्र मन्त्रेणोपस्थानं क्रियते तत्रैवोपपूर्वस्य तिष्ठते-  
रात्मनेपदं भवति । उक्तं हि—'उपात्मन्त्रकरणे' [पा० सू० १।३।२५] इति । दृश्यते चाऽऽदिरयं 'पाय-  
श्रयोपतिष्ठत इति । न चात्र मन्त्रेण किञ्चिद्विद्यते कित्वमन्त्रयहेतुत्वा'त्प्राणस्य सप्ताक्षितय "इत्युपनिषदो"

कारण होता है एवं स्थूणाख्य बल को उत्पन्न करता है । (मध्यम और अनुगत विकार द्वारा अन्न के देह-प्राण की स्थितिहेतुक होने में) हम प्रकार दोनों और पादा के सदृश एवं बन्धनरज्जु के समान अन्न, प्राण और शरीर का वधन है ।

अब प्रत्याधान (शिर) में आरूढ उसी करणात्मा शिशु के नेत्र में कुछ रुद्राभिधान की उपनिषदे बतलायी जाती है ।

ये नेत्रस्य सात अक्षितियां उस मध्यमप्राण शिशु की सदा स्तुति करती रहती है । शरीर में अन्नबन्धनरज्जु के कारण नेत्रस्थान में आरूढ उस शिशुसंज्ञक करणात्मा प्राण की ही ये वक्ष्यमाण 'सप्त'

१. प्रसिद्धम् । २. स्थूणाख्य बलमित्यन्वय । ३. तेन—अन्नस्य मध्यमाणिष्ठपरिणामद्वारा देहप्राणयो-  
स्थितिहेतुत्वेन । ४. करणात्मन । ५. विरति । ६. आरूढस्य । ७. रुद्राद्यभिधानानि । ८.  
शिशुसंज्ञम् । ९. अन्नदामस्यम् । १०. आरूढम् । ११. अथवेति यावत् । १२. उपासते । १३.  
स्तवन इति शेषः । १४. शिशो स्थितिकारणत्वेऽपि । १५. अक्षुषा । १६. स्तूयते । १७. प्राणस्यान्ने-  
रन्वयः । १८. पदेन । १९. अभिधानानि ।

यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयनं वर्तन्या  
पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्न क्षीयते य  
एवं वेद ॥२॥

‘आदित्य’, जो नेत्र में कृष्ण वर्ण है, उसके द्वारा ‘अग्नि’ और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र, इस मध्यमप्राण के अनुगत है, एवं नीचे के पलक द्वारा ‘पृथिवी’ तथा ऊपर के पलक द्वारा ‘द्युलोक’ इसमें अनुगत है । जो इस प्रकार इस मध्यमप्राण को जानता है, उसका अन्न कभी भी क्षीण नहीं होता ॥२॥

तिष्ठतिरूपपूर्वं आत्मनेपदी भवति । इहापि सप्तदेवताभिधानामि मन्त्रस्थानीयानि करणानि तिष्ठतेरतोऽवाप्यात्मनेपदं न विरुद्धम् । कास्ता अक्षितय इत्युच्यन्ते । तत्तत्र या इमाः प्रसिद्धा अक्षन्नक्षणि लोहिन्यो लोहिता राजयो रेखास्ताभिर्द्वारभूताभिरैनं मध्यमं प्राणं रद्वोऽन्वायत्तोऽनुगतः । अथ या अक्षन्नक्षण्यापो धूमादिसंयोगेनाभिर्यज्यमानास्ताभिरिद्विर्द्वारभूताभिः पर्जन्यो देवतात्माऽन्वायत्तोऽनुगत उपतिष्ठत इत्यर्थः । ‘स चान्नभूतोऽक्षितिः प्राणस्य । ‘पर्जन्ये वर्षयथानन्दिनः प्राणा भवन्ति’ इति श्रुत्यन्तरात् ।

विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—यद्यपीति । ‘मन्त्रेण कस्याचिदनुष्ठानस्य ‘करणे विवक्षिते तिष्ठतिरूपपूर्वं यद्यप्यात्मनेपदी भवति तथाऽप्यत्र सप्त देवादिदेवतानामानि मन्त्रवदवस्थितानि तैश्च करणरूपासनानुष्ठानान्यत्र क्रियन्ते । ‘अतस्तिष्ठतेरूपपूर्वस्याऽऽत्मनेपदमविरुद्धमिति योजना । लोहितरेखाभी रुद्रस्य प्राण प्रत्यनुगतेरनन्तरमित्यथशब्दार्थः । पर्जन्यस्यान्नद्वारा प्राणायामहेतुत्वे प्रमाणमाह—पर्जन्य इति । कथं पुनरेतेषां

अर्थात् सात सत्या वाली प्रक्षयहेतुक होने से अक्षितियाँ उपासना करती है । यद्यपि स्तवनकरण अर्थ में ‘उप’ पूर्वक ‘स्था’ धातु आत्मनेपदी होता है, यहाँ भी रुद्रादि सप्तदेवतासंज्ञक करण मन्त्र-स्थानीय ही है, इसलिए यहाँ भी ‘उप’ पूर्वक ‘स्था’ धातु में आत्मनेपद हाना असंगत नहीं है । वे ‘अक्षितियाँ’ कौन सी हैं ? वे वतलाई जाती हैं । “तथा इमा” अर्थात् वहाँ ये प्रसिद्ध जा “अक्षल्लो-हि-न्यो राजय” अर्थात् नेत्रस्थ रत्नवर्ण की रेखाएँ हैं, “ताभि” उन द्वारभूता रेखाप्रा के द्वारा “एन रुद्रोऽन्वामत्त” अर्थात् इन मध्यमप्राण के द्वारा रुद्र उपासित है । तथा “या अक्षन्” नेत्र में जो धूमादि के संयोग से अभिव्यक्त होने वाला जल है, “ताभि” उस द्वारभूत जल के द्वारा देवतात्मा पर्जन्य हमसे उपासित है । वह पर्जन्य प्राण का अन्नभूत अक्षिति है । जैसा कि दूसरी श्रुति में भी कहा गया है—‘मैघं वे वरसने पर प्राण आनन्दित हा जाते हैं’ । “या कनीनका” जो गोलक वृष्णतारा की दर्शनशक्ति है, उस कनीनका के द्वारा आदित्य मध्यमप्राण की उपासना करता है, नेत्र में जो कृष्णवर्ण है, उसके द्वारा अग्नि इसमें उपासित होता है, नेत्र में जो शुक्लवर्ण है, उससे इन्द्र तथा नीचे की

१ प्रकृते । २ मज्जम्बसित्तिपु मध्य । ३ अनुगत इति—उपनिषत्ते उपास्त इत्यर्थे । यातिवे यथा—  
“उपास्तेप्राणि प्राण रुद्राद्या सप्त देवता” ॥२३॥ इति । ४ पर्जन्य । ५. मन्त्रकरणकस्य । ६.  
कृतिविषयत्वे । ॥ यद्योतस्य कृतिविषयत्वेन विवक्षितत्वात् ।

तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्त-  
स्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्याऽऽसत् ऋषयः  
सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्विल-  
श्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विल-  
श्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति

इस अर्थ में यह मन्त्र है । नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है, उसमें अनेक रूपों वाला यश स्थित है । उसके तीरे पर सप्त ऋषिगण और वेद के द्वारा सवाद करने वाली आठवीं वाणी है । नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस क्या है ? वह शिर ही है क्योंकि यह मस्तक ही नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है । उसमें विश्वरूप निहित यश क्या है ? अध्यात्मवायु प्राण ही अनेकरूपों वाला यश इसमें निहित है ।

या कनीनका 'दृक्शक्तिस्तथा कनीनकया हारेणाऽऽदित्यो मध्यमं प्राणमुपतिष्ठते । यत्कृष्णं चक्षुषि तेनैनमग्निरुपतिष्ठते । यच्छ्रवणं चक्षुषि तेनेन्द्रोऽधरया वर्तन्या पक्षमर्णनं पृथिव्य-  
न्वायत्ताऽधरत्वसामान्यात् । द्यौरुत्तरयोर्ध्वत्वसामान्यात् । एताः सप्तान्मूताः प्राणस्य सततमुपतिष्ठन्त इत्येवं यो वेद तस्यैतत्फलं—नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

तत्तत्रतस्मिन्नर्थ एव श्लोको मन्यो भवति—अर्वाग्विलश्चमस इत्यादिः । तत्र

प्राण प्रत्यक्षितित्वं तद्वैवा सिध्यति तत्राऽऽह—एता इति । सप्रत्युशक्तिफलमाह—इत्येवमिति ॥२॥

रुद्रादिशिवानां देवताविषयत्वान्मन्त्रस्यापि तद्विषयतेत्याशङ्क्य 'चक्षुषि रुद्रादिगणस्योक्तत्वा-  
दिन्द्रियसंबन्धात्तस्य करणग्रामत्वप्रतीतिरेतद्विषय श्लोको न प्रविद्धदेवताविषय इत्यभिप्रेत्याऽऽह—

पलकस्यानीय चर्म द्वारा इसमें पृथिवी उपासित है, (धन्तरिक्ष की अपेक्षा पृथिवी की नीचे स्थिति होने में) दोनों में अथरत्वरूप समानता है, और ऊपर के पलक द्वारा इसमें द्यौलोक उपासित है क्योंकि ऊर्ध्वत्व में दोनों की एकरूपता है । ये भातों प्राण के अन्न होकर सतत उपासना करते रहते हैं, "य एव वेद" यानी जो इस प्रकार उपासना करता है, उसके अन्न का कभी भी क्षय नहीं होता, उसका यह फल है ॥२॥

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् वहाँ इस अर्थ में "अर्वाग्विलश्चमस" इत्यादि मन्त्र है । श्रुति अथ इस मन्त्र का व्याख्यान करती है । "नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है" इत्यादि । परन्तु नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर उठा हुआ चमस क्या है ? (प्राण के प्रति

१ मोनक इच्छताः । २ अथस्तन्या । ३ परमस्वानचर्मणेति यावत् । ४ अन्तरिक्षादपेक्षया पृथ्व्या  
अथरत्नम् । ५ उक्ता रुद्रादिदेवताप्राणोपभवात् वागाद्यात्मका एव सवृत्ता इति वागाद्य एवान् रुद्रादि-  
नाशानिषेधा इत्यभिप्रेत्याह—चक्षुषीनि । ६ रुद्रादिगणस्य । ७ करणगणविषयः ।



प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत्  
ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह  
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्यष्टमी ब्रह्मणा  
संविते ॥३॥

प्राणो के विषय मे ही (सात ओत्रादि और उनमे सात भागो मे विभक्त होकर फैला हुआ वायु यश है)  
ऐसा मन्त्र कहता है । उसक तीर पर सात ऋषि रहते हैं, यहाँ पर दीर्घस्य ओत्रादि सप्त प्राण हो  
ऋषि हैं क्योंकि प्राणो के विषय मे ही ऐसा मन्त्र कहता है । वाक् ही आठवी है क्योंकि वेद के द्वारा  
सवाद करने वाली यही है । यही वेद के द्वारा सवाद करती है ॥३॥

मन्त्रार्थमाचष्टे श्रुतिः—अर्वाग्विलश्रमस ऊर्ध्वबुध्न इति । कः पुनरसावर्वाग्विलश्रमस  
ऊर्ध्वबुध्नः । 'इदं तन्धिष्ठिरश्रमसाकारं हि तत् । कथम् । एष 'हर्वाग्विलो' मुखस्य  
विलरूपत्वाच्छिरसो 'बुध्नाकारत्वादूर्ध्वबुध्नः । तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति यथा  
सोमश्चमस एवं तस्मिच्छिरसि विश्वरूपं नानारूपं निहितं स्थितं भवति । किं पुन-  
स्तद्यशः प्राणाः वै विश्वरूपं प्राणाः ओत्रादयो वायवश्च मरुतः सप्तधा तेषु प्रसृता यश  
इत्येतदाह मन्त्रः । शब्दादिज्ञानहेतुत्वात् । तस्याऽऽसत् ऋषयः सप्त तीर इति प्राणाः

तत्रेति । मन्त्रस्य व्याख्यानसाधेतत्वं तत्रेत्युच्यते । शिरसश्रमसाकारत्वम् "स्पृष्टमित्याशङ्क्य समाधत्ते  
—कथमित्यादिना । बागष्टमीत्युक्तं तस्याः "सप्तमत्वेनोक्तत्वात् चैकस्या "द्वित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—  
ब्रह्मणेति । "शब्दराशिर्ब्रह्म, तेन सवादः सप्तमस्त गच्छन्तो शब्दराशिमुच्चारयन्ती वागष्टमी स्यादिति

प्रत्याधानरूप से युक्त) वह यह प्रसिद्ध शिर है क्योंकि वह चमस के आकार वाला है । यह चमसाकार  
किस प्रकार है ? क्योंकि यह नीचे की ओर स्थित छिद्र वाला है, मुख छिद्ररूप है और शिर गोलाकार  
होने के कारण यह ऊर्ध्वबुध्न है । उसमे अनेक रूपो वाला यश स्थित है । इसी प्रकार उस शिर मे  
"विश्वरूपम्" अर्थात् नाना रूपो वाला यश "निहितम्" अर्थात् स्थित है । वह यश क्या है ? प्राण ही  
अनेक रूपो वाला यश है । प्राण यानी सात ओत्रादि एव इन्द्रिय से उपाधिवृत्त सात मरुत् ही यश है,

- १ इदं तदिति—इदं प्रसिद्धं तत् प्राणं प्रति प्रत्यापगन्वेनोक्तम् । शिर एव अर्वाग्विलोर्जाश्मुख ऊर्ध्व-  
बुध्न ऊर्ध्वस्थं चमसं चमसापानमित्यादिप्रत्याह—चमसाकारमिति । २ कथं चमसाकारम् । ३ हि  
यस्मादेष शिरोलक्षणश्चमसोर्वाग्विलो अधस्थितस्यैव मुखस्य विलरूपत्वाच्छिरसा बुध्नाकारस्योपरि भागे  
दृश्यमानत्वाच्च ऊर्ध्वबुध्नस्तस्माच्छिर एवासलक्षणश्चमस इत्यर्थः । ४. गोलाकारत्वात् । ५ यशः ।  
६. इन्द्रियोपाधिवृत्तमरुता सप्तधात्वम् । ७. प्राणानेव यश इत्याह । ८. शब्दादिप्रमाणरूपसोऽनुमान-  
त्प्राणानाम् । ९. शिरश्चमसस्य । १०. शब्दादिदृष्टत्वात् । ११. पाद्वै । १२. वरुणायवा ।  
१३. अप्रसिद्धम् । १४. 'तत्त ये दीर्घण्या प्राणा' इत्यत्र नृ० उ० ५३० पृष्ठभाष्य । १५. द्विरूपत्वम् ।  
१६. वेदादि ।

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज  
इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं  
जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं  
कश्यपो वागेवात्रिवाचा ह्यत्रमद्यतेऽस्तिहं वै तामंतद्य-

ये दोनों थोत्र ही गोतम और भरद्वाज है । यह दक्षिण थोत्र ही गोतम है और यह वाम थोत्र ही भरद्वाज है । ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं । इनमें दक्षिण नेत्र ही विश्वामित्र है और वाम नेत्र ही जमदग्नि है । ये दोनों नासिकाछिद्र ही वसिष्ठ तथा कश्यप हैं । इनमें दक्षिणछिद्र ही वसिष्ठ है और वामछिद्र कश्यप है तथा वाक् ही अग्नि है क्योंकि वाग्निन्द्रिय द्वारा ही पुष्ट्य अन्न भक्षण

परिस्पन्दात्मकास्त एव च ऋषय प्राणानेतदाह सन्त्रः । वागष्टमी ग्रहणा संविदानेति । ग्रहणा संवादं कुर्वत्यष्टमी भवति । तदेतुमाह—आरध्यष्टमी ग्रहणा संवित इति ॥३॥

‘के पुनस्तस्य चमसस्य सीर प्राप्त ऋषय इति । इमावेव गोतमभरद्वाजो कर्णावि-  
प्रमेव गोतमोऽयं भरद्वाजो दक्षिणश्चोत्तरश्च विषयंयेण वा । तथा चक्षुषी उपदिशन्नु-  
वाचेमायेव विश्वामित्रजमदग्नी दक्षिणं विश्वामित्र उत्तरं जमदग्निर्विषयंयेण वा । इमावेव  
वसिष्ठकश्यपो नासिके उपदिशन्नुवाच । दक्षिणः पुटो भवति वसिष्ठः । उत्तरः कश्यपः

वाक् । तथापि तप्तमस्य विहाय कथमष्टमत्वं तत्राऽह—तदेतुमिति । वक्तृत्वानुत्पत्त्यभेदेन द्विषा  
वागिष्टा तत्र वक्तृत्वेनाष्टमी तप्तमी वास्तृत्वेनेत्यविरोधः । रसनं तृपत्यिहेतुरिति भावः ॥३॥

ऐसा श्रुति कहती है क्योंकि वे प्राण शब्दादि-प्रकाशनरूप यश के हेतु हैं । उसके शिर के पास में सप्त  
ऋषियों का (शब्दादिशब्दत्व होने के कारण) वास है । यह (कर्णाश्रय) प्राण परिस्पन्दनात्मक  
सप्तप्राण ही समझने चाहिये, वे ही ऋषि हैं । प्राणों के विषय में ही श्रुति ऐसा कहती है “वागष्टमी  
ग्रहणा संविदानेति” अर्थात् वेद के द्वारा संवाद करने वाली वाक् आठवीं है । वक्तृत्वरूप में अष्टम  
होने में हेतु करते हैं क्योंकि आठवीं वाणी ही वेद के द्वारा ससृष्टि कर्तृ है ॥३॥

किन्तु उस चमस के निकट किन ऋषियों का वास है ? यह प्रसिद्ध दोनों कर्ण ही गोतम और  
भरद्वाज हैं । ये दाहिने और बायें कर्ण ही गोतम और भरद्वाज हैं । अथवा दाहिने भरद्वाज और बायें  
गोतम हैं । इसी प्रकार नेत्रों के विषय में उपदेश करते हुए श्रुति कहती है कि ये ही विश्वामित्र और

१. सप्त वायव्य । २. प्रसिद्धार्थयत्वाद्वा । ३. वक्तृत्वानुत्पत्त्यभेदेन हेतुम् । ४. यस्मादष्टम्यव वाक्  
इत्यन्वयः । ५. समुच्चये । ६. पूर्वं प्राणत्वसामान्यमावृत्तपु विशेषतो ज्ञानायाम्य प्रश्नो नामधेयकः इत्यादि  
ना । ७. प्रसिद्धावयव । ८. वक्तृत्वविषय । ९. उच्चारणप्रियावत्वन । १०. ध्वनिक्रियावत्वन ।  
१०. अस्तृत्वेनेति—न च ध्वनस्य वाक्यायत्व मूले चवणानुपपत्ति गोलकवैशुष्यन वचनसतिप्रतिरोधेऽपि वाच-  
शब्दस्यनराप्रतिपातादियुक्तम् । १०. ननु वचनस्य वाग्निन्द्रियवर्त्यत्वेऽपि रसास्वादनस्य रसनकायत्वावयव  
वाचो द्विविध्यमित्याह कृपाऽह—रसनति । उपलब्धिर्गन्धुरत्वादिप्रत्यक्षम् ।

दत्त्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्न भवति य  
एवं वेद ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य

द्वितीय ब्राह्मणम् ॥२॥

करता है । जिसे अग्नि कहते हैं, नि मन्देह वह अग्निनाम वाला ही है । जो इसे (इस पूर्वोक्त प्राणि के मध्यायस्वरूप का) जानता है वह सबका भक्षण करने वाला हो जाता है, इसका सब भोग्य हो जाता है अर्थात् भोग्यवर्ग से निवृत्त हो जाता है ॥४॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

पूर्ववत् । 'धागेनात्रिरदनक्रियायोगात्सप्तमः । वाचा ह्यन्नमद्यते । तस्मादतिह वै प्रसिद्धं नामेतद्वत्त्वादत्त्रिरिति । अत्तिरेव सन्त्येवत्रिरित्युच्यते । परोक्षेण सर्वस्येतस्यान्नजातस्य प्राणस्योत्रिनिर्वेचनविज्ञानादित्ति भवति । अतएव भवति नामुत्तिमन्नेन पुन प्रतिपद्यत इत्येतदुक्त भवति सर्वमस्यान्न भवतीति । य एवमेतद्यथोक्त प्राणार्थाध्यायस्य वेद स एव

विषयं येन जेत्येतत्पूर्ववदित्युच्यते । अत्रि सप्तम इति सप्तम्य । अत्रित्वे हेतुरदनक्रियायोगादिति । हेतु साधयति—वाचा होति । 'साध्यमर्थं निगमयति—तस्मादिति । तर्हि कथमत्रिरिति व्यपविश्यतेत आह—अत्तिरेवेति । प्राणस्य यदन्नजातमेतस्य सर्वस्यात्ता भवत्यत्रिनिर्वेचनविज्ञानादिति सर्वथ । 'सर्वमस्येत्यादिवाच्यमर्थोक्तिपूर्वक प्रकटयति—अत्तिरेवेति । न केवलमत्रिनिर्वेचनविज्ञानकृतमेतत्फलं किन्तु प्राणयायासम्यग्बेदनप्रयुक्तमित्याह—य एवमिति ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मणम् ॥२॥

जमदग्नि है । इनम दक्षिण नेत्र विद्वामत्रि और बाया जमदग्नि है अथवा दक्षिण नेत्र जमदग्नि और बाया विद्वामत्रि है । नसिका के विषय से उपदेश करता है कि शक्ति केद्वारा है कि यह दोनो वसिष्ठ और कश्यप हैं बाया नासापुट वसिष्ठ है और बाया कश्यप है अथवा बाया नासापुट कश्यप है और बाया वसिष्ठ है । रसाभिग्न्यक्ति की हेतु चर्वणक्रिया वाली वाक् सप्तम अर्थात् पति ॥ क्योंकि वाक् से ही अन्न भक्षण क्रिया जाता है इसलिए उसके चर्वणक्रिया सम्पादन करने से प्रसिद्ध अत्ति नाम वाला है भक्षण करने वाला होने के कारण यह अत्ति है । (देवता पराक्षप्रिय है अत्यन्त से द्वेप करन वाले है, इस उक्ति के अनुसार) 'अत्ति' होते हुए भी परोक्षरूप से अत्रि कहा गया है । इस 'अत्रि' शब्द की

- १ रसाभिग्न्यक्तिहेतुचर्वणक्रियावती वागत्रि सप्तम । २ यस्मात् । ३ सन्त्याचर्वणक्रियावत्वात् । ४ तत् । ५ पराक्षप्रिया इव हि देवा । ६ उपासितफल वन्ति—मर्त्यमिति । ७ अत्तिरेवेति—उपासराग्ना-चमुष्मिन् परत्र (पर प्रतीति वाक्य) पुनरन्नेन (अन्नत्वेन) कर्त्तव्येन । प्रतिपद्यते अद्यत्वेन न प्राप्यत उपासितपदगोच्य तस्य त प्रति न गोकर्तृत्व किन्तु भीष्मत्वमेवमिति वाक्यत् । अमुष्मिन्नित्यस्य परोक्ष इति वाच्य । ८ इति न पीनकत्वम् । ९ यदर्थं हेतुप्रयोजकम् । १० सर्वमस्यति—पूर्ववाक्यनवतापतामात्रादुपस्थात् ।

( अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् )

‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चैवामूर्ते च मर्त्ये चामूर्ते  
च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥१॥

ब्रह्म के दो रूप हैं; मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्यावर और जगम, सत् और त्यत् ॥१॥

मध्यमः प्राणो भूत्वाऽऽधानप्रत्याधानगतो भोक्तव भवति न भोज्यं भोज्यादध्यावर्तत  
इत्यर्थः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

तत्र प्राणा वै सत्यमित्युक्तम् । याः प्राणानामुपनिषदस्ता ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन  
व्याख्याता एते ते प्राणा इति च । ते किमात्मकाः कथं वा तेषां सत्यत्वमिति च वक्त-  
व्यमिति पञ्चभूतानां सत्त्वानां कार्यकरणात्मकानां स्वरूपावधारणार्थमिदं ब्राह्मण-

‘संख्यं वस्तुं वृत्तं कीर्तयति—तत्रेति । अजातशत्रुब्राह्मणावसानं सप्तम्यर्थः । उपनिषदो  
वैद्याभिधानानि । शकारादुक्तमित्यनुषङ्गः । उत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—ते किमात्मका इति । ‘ब्रह्मणो

निष्क्ति का ज्ञान होने से ‘पुरुष’ इस सम्पूर्ण अन्नसमुदाय का अन्न होता है (यह उपासना का फल है) ।  
(इससे उपासक) अन्न का भोक्ता होता है, परलोक में “सर्वमस्यान्न भवति” अर्थात् पुनः अन्नस्वरूप  
से भक्ष्यत्व को प्राप्त नहीं होता है । “य एव वेद” जो इस प्रकार उपर्युक्त प्राण की यथावत् रूप से उपा-  
सना करता है, वह इस प्रकार मध्यमप्राण होकर आधान-प्रत्याधानगत भोक्ता ही होता है; भोज्य  
नहीं होता अर्थात् भोज्य से निवृत्त हो जाता है ॥४॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय के शिगुसञ्ज्ञक द्वितीय ब्राह्मण

में शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥२॥

पिछले ब्राह्मण में कहा गया है कि प्राण ही सत्य है । जो प्राणों की प्रतिपादक उपनिषदें हैं,-

१. “गायत्रिं ब्रह्म विष्णुय तन्निरासाय साम्प्रतम् । तृतीयब्राह्मणे ब्राह्म राजोक्त ब्रह्म विस्तृतम् ॥ प्रथमब्राह्मणे  
राजा ब्रह्म यद्यप्येतेषः । उवाचाऽप्यार्थि सत्यस्य सत्यता नहि विस्तृता ॥ सत्यस्य सत्यविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते ।  
निष्पपञ्चब्रह्मतरव तृतीयब्राह्मणे स्फुटम्” ॥१-३॥ इति वार्तिकसारे । २. सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्माभिधान-  
प्रसङ्गेन । ३. सत्यता सत्य आभास्य । ४. ते किमात्मकाः कथं वा तेषां सत्यत्वमिति—ते चेतनाः,  
स्युरचना वा द्वितीये कारणान्मनो विकारा वा न तावच्चेतना अनात्मत्वात् नापि कारणान्मानो जन्मभ्रुते,  
विकारस्ते वाधारमग्नत्वात् सत्या इत्याकांशाप्रकारानुवादार्थमिति शब्दः । इतोऽयं ब्राह्मणमारभ्यत इति सम्बन्धः ।  
५. ननु सन (प्रवृत्तब्राह्मणेन) प्राणानां स्वरूप सत्यत्व वा नोच्यते भूतानामेव निरूपणादित्यास्तुत्याऽऽ-  
पञ्चभूतानामिति । वाच्यत्वं स्वरूपाणि सत्यशब्दतानि भूतानि अतस्तदात्मना प्राणानां निरूपणात्तत्स्वरूपादिवक्तु-  
मुत्तरं वाक्यमविरटमित्यर्थः । ६. सत्यशब्दवाच्यानाम् । ७. स्थूलसूक्ष्मरूपाणाम् । ८. ब्राह्मणमिति—  
ब्राह्मणं देशभूतमथात आदेश इत्यतः प्राप्तं वाक्यमित्यर्थः । ९. पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः । १०. प्राणानां सत्य-  
शब्दितानां मत्स्याय ब्रह्म सत्यम् ।

मारभ्यते । 'यदुपाधिविशेषापनयद्वारेण नेति नेतीति ब्रह्मणः सत्त्वं निदिधारयिष्यितम् । तत्र द्विरूपं ब्रह्म पञ्चभूतजनित' कार्यकरणसंबद्धं भूतभूतस्थं मर्त्यामृतस्वभावं तज्जनित-वासनारूपं च सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सोपाख्यं भवति । क्रियाकारकफलरूपं च सर्वव्यवहारास्पदम् । तदेव ब्रह्म विगतसर्वोपाधिविशेषं सम्यग्दर्शनविषयमजरममृतमभयं वाङ्मन-सयोरप्यविषयमद्वैतत्वान्नेति नेतीति निदिश्यते । तत्र यद् 'पोहद्वारेण नेति नेतीति निदिश्यते ब्रह्म ते एते द्वे वाव वावशब्दोऽवधारणार्थः । द्वे एवेत्यर्थः । ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे रूप्यते याम्यामरूपं परं ब्रह्माविद्याध्यारोप्यमाणाम्याम् । के ते द्वे । मूर्तं चैव मूर्तमेव च ।

निर्धारणीयत्वात्किमिति सूतानां सत्त्वं निर्धार्यते तत्राऽऽह—यदुपाधीति । तेषामुपाधिसूतानां स्वरूपावधारणार्थं ब्राह्मणमिति' संबन्धः । सत्यस्य सत्यमित्यत्र यदुपगन्त' सत्यशब्दित हेयप्रथमारगत' सत्यशब्दितमादेयं 'तयोरोहस्वरूपो' वृत्त्यर्थं 'मथेत्यतः प्राक्तनं वाक्यं तद्वर्धमानं ब्राह्मणसमाप्तेरादेयनिरूपणार्थमिति समुदायार्थः । सविशेषमेव ब्रह्म न निविशेषमिति केचित्ताभिराकर्तुं 'विभजते—तत्रेति । ब्राह्मणार्थं पूर्वोक्तरीत्या स्थिते सतीति यावत् । 'द्वे वाव' इत्यादिभूते सोपाधिकं ब्रह्मरूपं विवृणोति—पञ्चभूतेति । शब्दप्रत्ययविषयत्वं सोपाख्यत्वम् । निरुपाधिकं ब्रह्मरूपं दर्शयति—तदेवेति । एव 'भूमिकामारव्याक्षराणि व्याकरोति—तत्रत्यादिना । द्विरूप्ये सतीति यावत् । 'अमूर्तं चेत्यत्र चकारादिचकारानुपपत्तिः ।

उनकी "ये सत्सख्या वाले श्रोत्रादि प्राण हैं" (सत्यस्य सत्यम्) ऐसा कहकर ब्रह्माभिधान-प्रसङ्ग से व्याख्या कर दी गई है । उनका सत्यत्वादि किस प्रकार है और चतन अथवा अचेतन कैसा उनका स्वरूप है ? इसलिए स्थूल और सूक्ष्मरूप सत्यशब्दवाच्य पञ्चभूतो के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए यह ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है । जिनकी उपाधिविशेष के निषेध द्वारा "नेति नेति" इत्यादि रूप से श्रुति को प्रहृतत्व निर्णय कराना इष्ट है । पञ्चभूतजनित स्थूल और सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध ब्रह्म के दो रूप हैं । वह मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत स्वभाव वाला है, कार्यकरणसघातजनित वासनारूप एव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् शब्दप्रतीति का विषय है । वह क्रिया, कारक और फलस्वरूप तथा

१ देशामुपाधिविशेषरूपाणामिति विग्रहः । २ सोपाधिकं निरुपाधिकमिति ब्रह्मणि द्वैविध्यं सिद्धवत्स्वरूप सोपाधिकस्यैव ब्रह्मणो द्वैरूप्यमाह—तत्रेति । 'रूपे वा ब्रह्मणो विद्यन्मूर्तमूर्तं सत्वात्ते । ब्रह्म ह्यप्यते ताम्या ब्रह्मदेव न हि रूपवत्' ॥ वा० ६॥ इति । अत्र बाह्यदर्शवार्थः । वासनारूप तृतीय रूपमाशङ्क्याऽह—सत्वात्ते इति । कथं तयोरोहस्वरूपत्वं तदाह—ब्रह्मैवेति । रूप्यते ज्ञाप्यते विवेचयतेति यावत् । चैतं यादिवत्तयोरोहस्वरूपत्वा-माशङ्क्य निरुपाधिकं ब्रह्म निपशित्वाऽह—ब्रह्मत्वमिति । स्वार्थो भावप्रत्ययोऽरूपादिभूतेत्यर्थः । ३ स्थूलसूक्ष्मशरीरसम्बद्धम् । ४ वासनारूप तृतीय रूपमाशङ्क्याऽह—तज्जनितेति । कार्यकरणसघातजनिते वासनारूप वासनारूपस्य सोपाधिकं एवान्तर्भावोद्वेदे एवेति भावः । ५ निरुपद्वारा । ६ मायामये रूपे । ७ कथं तयोरोहस्वरूपत्वमित्याशङ्क्याऽह—रूप्यत इति । ज्ञाप्यते ज्ञात इति वार्थः । ८ तथा च ब्रह्म ज्ञापके एवंतेन स्वरूपं ब्रह्मात्म्या रूपवत् । ९ स्वरूपम् । १० पूर्वमेति शेषः । ११ सस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चजाता प्राणा । १२ परं ब्रह्म । १३ मध्ये । १४ हेयस्वरूपप्रतिपादनार्थम् । १५ अजान इत्यत इत्यर्थः । १६ ब्रह्मस्वरूपम् । १७ सर्वश्रोति इत्यादि । १८ मन्वभूतमेव चेति कथं ज्ञाप्यम् । १९ एवकार-स्यामूर्तं चेत्यत्राश्रितेन आहामूर्तं चेत्यनेति ।

तदेतन्मृतं यदन्यद्विषयीचान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेत-  
स्थितमेतत्सत्तत्स्थितस्य मृतस्थितस्य मर्त्यस्थितस्य  
स्थितस्थितस्य सत एष रसो य एष तपति सतो  
ह्येष रसः ॥२॥

यह धातु अन्तरिक्ष इन दो भूतो से मिलने (पृथिवी, जल तथा तेज) है, वह मृत है। यह मर्त्य है। यह म्यावर है और चक्षुरादि से प्रतीत होने के कारण यह मृत उस इस मृत का; इस मर्त्य का, इस स्थित का और इस सत् का, यही रस है। जो यह अन्तरिक्ष में सवितृमण्डल तपता है, यह सद् रूप तीनों भूतों का ही सारतम रस है ॥२॥

तथाऽमृतं चामृतमेव चेत्तथैवः । अन्तर्णीतस्वात्मविशेषणे भूतमूर्तं द्वे 'एवेत्यवधार्यते । कानि पुनस्तानि विशेषणानि भूतमूर्तयोरित्युच्यन्ते—मर्त्यं च मर्त्यं मरणधर्म्यमृतं च तद्विपरीतं स्थितं च परिच्छिन्न गतिपूर्वकं यत्स्यास्तु यच्च यांतीति यद्व्याप्यं परिच्छिन्नं स्थितविपरीतं सच्च सवित्यन्धेभ्यो विशेष्यमाणासाधारणधर्मविशेषवत् । तच्च तद्विपरीतं त्ववित्येव सर्वदा परोक्षामिधानाहम् ॥१॥

"तत्र चतुष्टयविशेषणविशिष्टं भूतं तथाऽमृतं च । तत्र कानि भूतविशेषणानि

"विवक्षितब्रह्मणो रूपद्वयमवधारित चेन्मर्त्यत्वादीनि वक्ष्यमाणविशेषणान्यवधारणविरोधादमुक्तानी-  
"त्याशङ्क्याऽऽहु—अन्तर्णीतिति । भूतमूर्तयोरन्तर्भावितानि स्वात्मनि यानि विशेषणानि तान्याकाङ्क्षा-  
द्वारा वक्ष्यति—कानि पुनरित्यादिना । यद्गतिपूर्वकं स्यास्तु तत्परिच्छिन्नं स्थितमिति योजना ।  
विशेष्यमाणत्वं प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानत्वम् ॥१॥

तत्रैति निर्धारणार्था सप्तमी । तत्र प्रत्येक भूतमूर्तचतुष्टयविशेषणवत्त्वे सतीति यावत् । कथं

समस्त व्यवहार का भाष्य है । वही ब्रह्म सब प्रकार के उपाधिबिषयो से प्रतीत सम्यक्ज्ञान का विषय, जन्म, जरा, मरण व भय स रहित तथा बाणी और मन का अविषय एवं अद्वैत होने के कारण उसका 'नेति नेति' ऐसा निर्देश किया जाता है । वहाँ जिस ब्रह्म का निरास द्वारा 'नेति नेति' बणन किया जाता है "द्वे वाव" अर्थात् वे दो रूप उभ "ब्रह्मणः" अर्थात् परमात्मा के है । मन्त्र में 'वाव' शब्द

१. सार. कार्यम् । २. मण्डलमित्यर्थ । ३. भूतत्रयभूतद्वयात्मके । ४. रूपे । ५. मरणधर्मविनाशवर-  
तु प्राणयोगोऽत्र मरणमिति न पृथिव्यादावव्याप्ति । ६. मृतविरुद्ध प्रवृत्तिरिति यावत् । ७. व्यापि—  
अपरिच्छिन्नम् । ८. व्यक्तम् । ९. अयम् वाय्वाकाशेभ्य बह्वचनमवान्तरभेदापेक्षम् अन्यथावृत्तो य  
प्रत्यक्षोपलभ्यमानोऽसाधारणधर्मविशेषो गच्छादित्यद्वैतव्यर्थ । १०. तच्छब्दोपलभ्यस्थच्छब्द । ११. भूतत्रय-  
भूतद्वयात्मकपक्षद्वयमध्ये । १२. मूर्तादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टमिति यावत् । १३. भूतत्रयात्मक  
विशेष्यमित्यर्थ । १४. एवममृतं भूतद्वयम् । १५. भूतत्रयविशेषणानीति यावत् । १६. सोपाधिनेत्यर्थ ।  
१७. रूपद्वयमवधार्य भूतं चामृतं चेत्वेतावदेव वक्तुं घटते घट्टमधिक विरुद्ध स्यादवधारणतः ।

क्रान्तिं, चेतुराणीति विमज्ज्यते । तदेतन्मूर्तं मूर्च्छितावयवमितरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं  
संहतमित्यर्थः । किं तद्यदन्यत्कस्मादन्यद्वायोऽन्तरिक्षाच्च भूतद्वयात्परिषोपात्पृथिव्यादि-  
भूतत्रयमेतन्मूर्तं यदेतन्मूर्ताख्यं भूतत्रयमिदं मर्त्यं मरणार्थम् । कस्माद्यस्मात्स्थितमेतत् ।  
परिच्छिन्नं ह्यर्थान्तिरेण संप्रयुज्यमानं विरुध्यते । यथा घटः स्तम्भकुट्ट्यादिना तथा मूर्तं  
स्थितं परिच्छिन्नमर्थान्तरसंबन्धि-ततोऽर्थान्तरविरोधान्मर्त्यमेतत्सद्विशेष्यमाणासाधारणा-  
धर्मवत् । तस्माद्वि परिच्छिन्नं परिच्छिन्नत्वान्मर्त्यमतो मूर्तं मूर्तत्वाद्वा मर्त्यं मर्त्यत्वा-  
त्स्थितं स्थितत्वात्सत् । अतोऽन्योन्याव्यभिचारसमुत्पत्त्या धर्माणां यथेष्टं विशेषणविशेष्य-  
भावो हेतुहेतुमद्भावश्च दर्शयितव्यः । सर्वथाऽपि तु भूतत्रयं चतुष्टयविशेषणविशिष्टं, मूर्तं

स्थितत्वेऽपि मर्त्यत्वं तत्राऽह—परिच्छिन्नं हीति । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना । अतो  
मर्त्यत्वान्मूर्तमिति शेषः । मूर्तत्वमर्थवयोरन्यो-यहेतुमद्भावं द्योतयितुं वागव्यः । कथं पुनश्चतुष्टयं  
धर्मेषु विशेषणविशेष्यभावो हेतुहेतुमद्भावश्च निश्चेतव्यस्तत्राऽह—अन्योत्येति । रूपरूपिभावात्स्यापि  
इयमस्याभावाभावाद्वाऽह—सर्वथाऽपीति । तस्मैतस्मै रस इत्येव वक्तव्ये किमिति मूर्तत्वेत्यादिना

निर्धारणार्थकं है । जिस अविद्या अध्यारोप के द्वारा अरूपी ब्रह्म ओ जापित होता है (वे दो ही रूप हैं) ।  
वे दो रूप कौन से है ? “मूर्त चैवामूर्तं च” अर्थात् मूर्त तथा अमूर्त ही वे दो रूप हैं । जिनमे उनके अपने  
अन्य भूतत्रयात्मक विशेषणों का अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसे वे मूर्त और अमूर्त, दो ही ब्रह्म निर्धारित  
किए जाते है । वे मूर्त और अमूर्त के विशेषण कौन से है—इस पर श्रुति कहती है । वह ब्रह्म “मर्त्यं  
चामूर्तं च” यानी विनश्वरधर्मा और (ध्रुव) अविनाशी स्वभाव वाला है, “स्थित” यानी परिच्छिन्न या  
गतिपूर्वक स्थित रहने वाला, “यच्च” जो व्यापी अपरिच्छिन्न स्थितिग्रहित है, “सत्” अर्थात् दूसरो  
की अपेक्षा विशेषरूप से व्यक्त किए जाने वाले असाधारण धर्मविशेष वाला है, “त्यत्” यानी सत् से  
विपरीत अथवा “तद्” शब्द की तरह सदा अप्रत्यक्षरूप मे कहने योग्य है ॥१॥

इस प्रकार भूतत्रयात्मक मूर्त और भूतद्वयात्मक अमूर्त चार विशेषणों से युक्त है । उनमे मूर्त के  
विशेषण कौन से है, अमूर्त के कौन से है ? इसका विभाग किया जाता है । “तदेतन्मूर्तम्” अर्थात् वह  
यह मूर्त मूर्च्छित अवयवों वाला है यानी इसके अवयव एक दूसरे मे अनुप्रविष्ट घनीभूत एव एक दूसरे  
मे मिले हुए है । यह क्या है ? “मदन्यत्” अर्थात् जो अन्य है । किससे अन्य है ? वायु और अन्तरिक्ष  
इन दो भूतों से । अतः वचे हुए पृथिवी, जल और तेज तीन भूत ही मूर्त हैं । “एतन्मर्त्यम्” यह जो  
मूर्तनामा तीन भूत है, वह “मर्त्यम्” यानी विनश्वरधर्मा है । विनश्वरधर्मा क्यों है ? क्योंकि वे स्थित  
है यानी परिच्छिन्न वस्तु ही किसी अन्य पदार्थ के संयोग किए जाने से विनाश को प्राप्त हो जाता है ।  
मूर्त स्थित, परिच्छिन्न और अर्थान्तरसंबन्धी उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्तम्भ और दीवार आदि

१. भूतद्वयविशेषणनानीत्यर्थः । २. जिज्ञासायाम् । ३. तानीति शेषः । ४. भूतत्रय त्रिवृत्प्रक्रिया-  
ऽन्योन्य सममितताशक्तमित्यर्थः । ५. मर्त्यम् । ६. अन्याधितम् । ७. विनश्यतीति यावत् । ८.  
अर्थान्तरसंबन्धित्वा-मर्त्यमित्यन्वयः । ९. व्यक्तम् । १०. प्रत्यक्षगोपतम्यमानत्वात् । ११. स्थितत्वात् ।  
१२. परस्परभाववदवृत्तित्वात् परस्पर व्याप्यत्वादिति यावत् । १३. सर्वथाऽपीति—विशेष्यविशेषणभावा-  
दाविच्छिन्नत्वेऽपीत्यर्थः । १४. यथोक्तविच्छिन्नत्वमेव ।

रूपं 'ब्रह्मणः । 'तत्र चतुर्णामेकस्मिन्गृहीते विशेषण 'इतरद्' गृहीतमेव विशेषणमित्याह—  
तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सतश्चतुष्टयविशेषणस्य भूतत्रयस्येत्यर्थः ।  
'एष रस' सार इत्यर्थः । त्रयाणां हि भूतानां 'सारिष्ठ' सविता । 'एतत्सारणि' त्रीणि  
"भूतानि यत् एतत्कृतविमज्जमानरूपविशेषणानि भवन्ति । "आधिदेविकस्य कार्यस्येतद्रूप  
"यत्सविता "यदेतन्मण्डलं तपति" । "सतो भूतत्रयस्य हि यस्मादेव रस इत्ये"तद्" गृह्यते ।

विशेषणचतुष्टयमनूद्यते तत्राऽऽह—सन्नेति । सारस्य साधयति—त्रयाणां हीति । तत्र प्रतिज्ञामनूद्य  
हेतुमाह—एतदिति । "एतेन सवितृमण्डलेन कृतानि विमज्जमानान्यसकीर्णानि कृष्ण शुक्ल लोहितमि-  
त्येतानि रूपाणि विशेषणानि येषां पृथिव्यप्तेजसां तानि तथा । "ततो भूतत्रयकायमध्ये सवितृमण्डलस्य  
प्राधान्यमित्यर्थः । य एष नपतौत्यस्यार्थमाह—आधिदेविकस्येति । "हेतुयाक्यमावाप तस्य तात्पर्य-  
माह—सत इति । मण्डलमेवंतच्छब्दाय । मण्डलपरिग्रहे हेतुमाह—मूर्तो हीति । मूर्तप्रहरणस्योपलक्षण-

से घट । इसलिये (अर्धान्तरसम्बन्धी होने के कारण) अविनश्वरधर्मा का अर्धान्तर से विरोध है ।  
यह व्यक्त अर्थात् विशेष्यमाण असाधारण धर्म वाला है । इसलिये (प्रत्यक्ष प्रमाण से) उपलब्ध होने  
के कारण स्थित है, स्थित होने के कारण अविनश्वरधर्मा है, इसलिये मूर्त है । अथवा मूर्त होने के कारण  
स्थित है और स्थित होने से व्यक्त है । अतः इन चारों धर्मों के परम्पराभाव के समान वृत्ति न होने  
से यद्येष्ट विशेषणविशेष्यभाव और हेतुहेतुमद्भाव दिखलाना चाहिए । विशेषणविशेष्यभावादि में  
ऐच्छिक होने पर भी, चारों विशेषणों से विशिष्ट भूतत्रयात्मकरूपी ब्रह्म का मूर्त रूप है । इन चारों  
विशेषणों में से किसी एक को ग्रहण करने पर दूसरे विशेषण भी गृहीत हो ही जाते हैं—इसी बात को  
श्रुति कहती है । तस्यैतस्य' अर्थात् उस मूर्त भरणधर्मा का, इस स्थित का और "सत" यानी इस सत्  
का अर्थात् इन चारों विशेषणों से विशिष्ट भूतत्रय का एष रस' अर्थात् यह (सवितामण्डल) सार  
है । सविता तीनों भूतों का सारतम है । तीन भूतों का यही सार है क्योंकि वे इसी के द्वारा विभाजित

१ रूपिण । २ भूतत्रयस्य चतुर्विशेषणत्वे प्रमाणसिद्धं सति । ३ इतरद्गृहीतमेव विशेषणमिति—  
इतरद्विशेषणमेव गृहीतं स्यादित्यन्वयः । चतुर्विशेषणमध्ये एकस्य विशेषणस्य ग्रहणं अन्यस्यापि विशेषणस्यैव  
ग्रहणं स्यात्तन्मा भूदिति विशेषणचतुष्टयमनूद्यते तथा च मण्डलस्य अविशेषणकभूतत्रयकायत्वं न त्वेकैकविशे-  
षणकायतेति सिद्धम् । अविशेषणकभूतत्रयकायत्वात्स्वत्वम् । ४ गृहीतमेवति—अत्र अगृहीतमित्येव युक्तम् ।  
तथा आद्यमर्थ—तस्यैतस्येवभावमाशोकावयवबहिर्भूतस्य सटिप्पणस्यैव ग्रहणं भवदितरद्वागृहीतमेव  
भवेद्विशेषणं तथा च विशेषणचतुष्टयविशिष्टस्य कार्यं न सिध्यदिति सवधूतवृत्तिमिति । ५ सवितातमण्डल-  
मिति यावत् । ६ सारतमम् । ७ मण्डलम् । ८ बहुग्रीहि । ९ भूतद्वयापसजनानि मण्डलारम्भे  
त्रयाणां प्राप्तायात् मण्डलस्य च पञ्चककायत्वात् । १० त्रीणि भूतानीति भूतद्वयापसजनानि तमण्डलारम्भे  
स्वप्रधानानीति यावत् तस्यापि (मण्डलस्यापि) पञ्चभूतात्मकत्वादिति । ११ त्रयाणां भूतानामिति शेषः ।  
१२ शीतमेवपदं विवृणोति—सवितेति । १३ तस्य चेतनविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—यदतदिति । १४  
शश्वद्विषयमिति शेषः । १५ विशेषणात्तरोपलक्षणमिदम् । १६ एषशब्दस्य चेतनविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—  
एतदिति । १७ प्रत्यक्षमुपलभ्यत । १८ एतेन—भूतत्रयरूपाणां कृष्णादीनां सवितृमण्डलेऽसकीर्णतया  
प्रतीयमानत्वात् तस्य भूतत्रयसारत्वमिति भावः । १९ भूतत्रयरूपाणां स्वस्मिन् विशिष्टमादशकत्वात् ।  
२० एषशब्देन मण्डलपरिग्रहे यदुक्तवान्यतः ।



'भूतत्वाद्' स्थितमतोऽविरुध्यमानं केनचिद्भूतममरणधर्म्येतद्यत्स्थितविपरीतं 'ध्याप्य-  
परिच्छिन्नं' 'यस्मादेतन्न' न्येभ्योऽप्रविभज्यमानविशेषमतस्त्यदिति 'परोक्षामिधानाहमेव  
पूर्ववत् । तस्यैतस्याभूतस्यैतस्याभूतस्यैतस्य यत् एतस्य त्यस्य 'चतुष्टयविशेषणस्या' भूतस्यैय  
रसः । कोऽसौ । य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः "करणात्मको हिरण्यगर्भः प्राण इत्य-  
निधीयते । यः स एषोभूतस्य भूतद्वयस्य रसः पूर्ववत्सारिष्ठः । एतत्पुरुषसारं चामूर्तं  
भूतद्वयं "हिरण्यगर्भं" लिङ्गारम्भाय हि भूतद्वयामिव्यक्तिर"व्याकृतात्तस्मात्तावर्था तत्सारं.

अमूर्तत्वमुभयत्र हेतुत्वेन संयज्यते । अपरिच्छिन्नप्रत्ययविरोधे हेतुः । अमूर्तत्वादीनां नियो विशेषणविशेष्य-  
भावो हेतुहेतुमद्भावश्च यथेष्टं द्रष्टव्य इत्याह—पूर्ववदिति । पुनरुक्तिरपि "पूर्ववत् । य एष इत्यादि  
प्रतीकप्रमाणं तस्य व्याख्यानं करणात्मक इत्यादि । यथा भूतत्रयस्य मण्डलं सागिप्रमुखं तद्वद्व्याह—  
पूर्ववदिति । सारिष्ठत्वमनूय हेतुमाह—एतदिति । तादर्थ्याद्भूतद्वयस्य भूतत्रयोपसर्जनस्य "स्वयंप्रधानस्य  
हिरण्यगर्भारम्भाद्येति यावत् । भूतद्वयं "भूतत्रयोपसर्जनमिति दोषः । "हेतुमत्तायं व्याचष्टे—

के कारण वे प्रस्थित हैं, इसका किसी से विरोध न होने के कारण यह अमूर्त यानी अविनश्यरधर्मा  
है । "एतद्यत्" अर्थात् परिच्छिन्न विशेषण होने से स्थित है और इसके विपरीत अपरिच्छिन्न होने से  
व्यापी है क्योंकि, भूतद्वय पृथिव्यादि अन्य से अविभक्त विशेष है, इसलिए यह "त्यत्" है ('तत्'  
शब्दार्थ मे ही 'त्यत्' शब्द है) "त्यत्" इस शब्द मे परोक्षार्थामिधान की ही योग्यता है—इत्यादि  
व्याख्या पूर्व के समान समझनी चाहिये । उस इस अमूर्त का, इस अमूर्त का, इस चल का, इस त्यत्  
का यानी इन चारो विशेषणो वाले भूतद्वय अमूर्त का यह सार है । वह कीन मा है ? "य एष एतस्मिन्  
मण्डले" जो इस अन्तरिक्षमण्डल मे समाष्ट अन्तःकरणस्वरूप पुरुष हिरण्यगर्भं प्राण कहा जाता है,  
वही इस अमूर्त भूतद्वय का रस अर्थात् पूर्वमन्त्रोक्त सारतम भाग है । अमूर्त भूतद्वय इस पुरुषरूप सार  
वाले है क्योंकि हिरण्यगर्भं लिङ्गारम्भा के आरम्भ के लिए ही अव्याकृत (कारणादि ईश्वर) रूप से इन  
दोनों भूतों का अभिव्यक्ति होती है । इसलिए भूतद्वय उनके प्रयोजनभूत होने से उस पुरुषरूप सार

१. निरन्तरत्वात् । २. अपरिच्छिन्नमित्यर्थः । ३. तात्पर्यमभिधायोभयार्थमाहामूर्तमित्यादिना । ४. परिच्छिन्नविपरीतमिति यावत् । ५. व्यापीति च्छेदः (अपरिच्छिन्नत्वात्) । ६. भूतद्वयम् । ७. अन्येभ्य पृथिव्यादिभ्योऽप्रविभज्यमानो व्यावृत्तत्वेनाप्रत्ययितो विशेषोऽज्ञाधारणधर्मो यस्य व्याख्यादेस्तस्या पृथिव्यादीना मण्डलमित्य व्याकाशयोविशेषोऽभिव्यञ्जककार्याभावादिति भावः । तत्कार्यं हि कर्त्तव्यत्वात् स च न प्रत्यक्षो मण्डलान्तर्गतः । ८. तच्छब्दार्थस्तच्छब्दः । ९. बहुव्रीहिः । १०. भूतद्वयस्य । ११. समष्ट्यन्तःकरण- । १२. स्वरूपोऽन्तर्भावमपि चेतन इति ध्येयम् । १३. बहुव्रीहिः । १४. हेतुमुपपादयति—हेतुमेति । १५. लिङ्गात्मैतत्पर्यः । १६. कारणदीश्वरत्वात् । १७. तादर्थ्यादिति—मण्डनाधिष्ठातृपुरुषे (करणारम्भे) । १८. पूर्ववदिति—मण्डनाधिष्ठातृपुरुषे । १९. भूतद्वयस्य प्रागुक्तस्य पुनरुक्तिरिति किमिति वृत्तेत्युक्त मण्डलपुरुषस्य चतुर्विधविशेषणनभूतद्वयकार्यत्वं नैककार्यतमिति चतुः पुनरुक्तिरधिकोक्ततरधिकार्यत्वादित्यर्थः । २०. स्वयं प्रधानं यत्र समुदाये । २१. हिरण्यगर्भस्यापि पारुच्यभौतिकत्वादिति भावः । २२. हेतुमिति—एष लिङ्गारम्भा रमो भूतद्वयस्येत्यत्र त्यस्य हीत्यादि हेतुवाक्यमित्यर्थः ।

भूतद्वयम् । 'त्यस्य ह्येष रसो यस्माद्यो मण्डलस्यः पुरुषो मण्डलवन्न गृह्यते सारश्च भूतद्वयस्य । तस्मादस्ति मण्डलस्यस्य पुरुषस्य भूतद्वयस्य च साधर्म्यम् । तस्माद्युक्तं प्रसिद्धवद्वैतप्रावानं त्यस्य ह्येष रस इति ।

॥ रसः कारणं हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा चेतन इति केचित् । तत्र च किल हिरण्य-

त्यस्य हीति । पुरुषशब्दादुपरिष्ठात्सशब्दो ब्रह्मण्यः । अमूर्तत्वादिविशेषणचतुष्टयवशिष्टं साधर्म्यम् । 'तत्फलमाह—तस्मादिति' ।

'स्वमतमुक्त्वा भर्तुं प्रपञ्चमतमाह—रस इति । त्यस्य हीत्यादौ रसशब्देन भूतद्वयकारणमुक्तं न च तद्वैतमाह्वयत् । न च जीवः । 'तथाऽसामर्थात् । नापि परः कौटस्थ्यात् । 'तस्माच्चेतनः सूत्रक्षेत्रज्ञ' इत्येत्यर्थः । सोऽपि कथं भूतद्वयकारणमतमाह—तत्रेति । परकीयपक्षः सप्रम्यर्थः । तत्कर्मणस्तत्रा-

वाले ही हैं । त्यदादिविशेषण से विशिष्ट भूतद्वय का यह सार है क्योंकि यह जो मण्डलस्य पुरुष है, इसकी मण्डल के समान प्रत्यक्षप्रतीति नहीं होती । इसलिए यह भूतद्वय का सार है । अतः मण्डलस्य पुरुष और भूतद्वय का साधर्म्य है । यथोक्त साधर्म्य होने के कारण "यह त्यत् का ही सार है" इस प्रकार प्रसिद्ध के ममान हेतुसम्पादन करना उचित ही है ।

भर्तुं प्रपञ्च का मत है कि हिरण्यगर्भास्य विज्ञानात्मा (क्षेत्रज्ञ) चेतन है; वही रस होने से

१. त्यदादिविशेषणविशिष्टभूतद्वयस्य । २. प्रत्यक्ष नोपलभ्यते । ३. यथा मण्डलस्य भूतद्वयसारस्वे सतो हीति चतुर्गन्धयो हेतुपक्षः सतस्यानुक्तोपलक्षणार्थं ग्रहणम् । तथा तत्पुरुषस्य भूतद्वयसारस्वे चतुष्टयान्वयो हेत्वर्थः । त्यस्य च ग्रहणमनुक्तोपलक्षणार्थमित्याभिप्रेत्याह—साधर्म्यमिति । ४. यथोक्तसाधर्म्यात् । ५. त्यस्य हीति वाक्ये रसशब्देन हिरण्यगर्भास्य क्षेत्रज्ञचेतन उच्यते । तत्र हेतुमाह—कारणमिति । कारणत्वादिनि हेतुगर्भविशेषणम् । ६. साधर्म्यफलम् । ७. अमूर्तत्वात् इति शेषः । ८. कारणम् । ९. जीवपर्यो-भूतद्वयकारणत्वतश्चत्वात् । १०. कारणम् । ११. बाह्यन्तरिक्षयोः कारणत्वम् ।

॥ रसः कारणमित्यादि रस कारणमुच्यते इतीत्यन्तर्भाष्यव्यातिक्रान्तिं प्रदर्शयते । "हिरण्यगर्भक्षेत्रज्ञ रस केचित्प्रचक्षते । कारण रसशब्देन यस्मादन्नाभिधीयते ॥ यस्माद्विरण्यगर्भस्य वर्यं बाह्यन्तरिक्षाय । प्रयोजन-भ्यक्तयोस्तस्माद्रसः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ भूतद्वयरसो ज्ञेयो मण्डले चेतन पुमान् । त्यस्य ह्येष रस इति तत्तिद्धौ कारणाभिधा ॥ न्यायोचरेणैव सतिद्धेः प्रतिज्ञातस्य वस्तुन । क्षेत्रज्ञ कारण यस्मादित्यत्र न्याय उच्यते ॥ एतस्मिन्मण्डले योऽस्तविज्ञानात्सर्वव्यापक । अविद्याभावनाकर्महेतुतो नान्यवारणात् । तस्य यत्कर्मरूप तद्विद्वद्वायुप्रयोजकम् । स्वस्थस्य कर्मणस्तस्य मरुत्प्रत्यन्दरूपिणः ॥ बाह्यावाशप्रनादपैव तेजसः संप्रवस्तत । जज्ञाते तेजसो भूते जल च पृथिवी तथा ॥ कर्मणा पौरुषेणैव रमन्नेन मयव । बाह्यन्तरिक्षयोर्मस्माद्रमस्तेन पुमास्तयोः ॥ मेघया तपस्तेत्यादि तथाच प्रागुदाहृतम् । न्यायिनानेन पुण्यो रसशब्देन भव्यते ॥ त्यस्य ह्येष इति ह्युक्त्या न्यायः श्रुत्याऽयमुच्यते" ॥ ४६-५८ ॥ स्वमतमुक्त्वा भर्तुं प्रपञ्चमतमाह—हिरण्यगर्भेति । तत्र हेतुमाह—कारणमिति । त्यस्य हीत्यादौ रसशब्देन भूतद्वयकारणमुक्तं न च नृचेतनादन्वयं च जीवतत्वात्प्रागमर्थाप्रापि परः कौटस्थ्यात्तस्माच्चेतनः सूत्रक्षेत्रज्ञोऽत्र रस इत्यर्थः ॥ गाऽपि कथं भूतद्वयकारणमतमाह—यस्मादिति ॥ स स्वकर्मद्वारा कारणमस्त्वस्य बाह्यादेरित्युक्तं समर्थयितुं तन्वैतस्यामूर्तत्वेत्यादिवक्तव्यार्थं मदिष्याऽऽह—पुनः । हेतुवाक्यमादत्ते—त्यस्येति । तत्सार्थं न विवर्ति—तत्तिद्धाविति । मण्डलपुरुषस्य भूतद्वयकारणत्वप्रतिपत्ताविति

गर्भविज्ञानात्मनः कर्म वाद्यन्तरिक्षयोः 'प्रयोक्तु' 'तत्कर्म वाद्यन्तरिक्षाधारं सदन्येषां भूतानां प्रयोक्तु' भवति । 'तेन स्वकर्मणा वाद्यन्तरिक्षयोः 'प्रयोक्तेति' तयो रसः कारण-मुच्यत इति ।

तच्च, मूर्तरसेनातुल्यत्वात् । मूर्तस्य तु भूतत्रयस्य रसो मूर्तमेव मण्डलं दृष्टं भूतत्रयसमानजातीयं न; चेतनस्तथाभूतयोरपि भूतयोस्तत्समानजातीयेनैवामूर्तरसेन

साधारण्यमसंप्रतिपन्नमित्यभिप्रेत्य किलेत्युक्तम् । यथाऽऽहुः—'यो ह्येतस्मिन्मण्डले विज्ञानात्मन्येव सत्त्वविद्यामपूवंप्रज्ञापरिष्कृतो' 'विज्ञानात्मत्वमापद्यते' 'तदेतत्कर्मरूपं' 'विज्ञानात्मनस्तद्वाद्यन्तरिक्ष-प्रयोक्तु' भवतीति । ननु हिरण्यगर्भदेहस्य पञ्चभूतात्मकत्वाद्भूतद्वयोत्पत्तायपीतरभूतोत्पत्तिं विना कुतोऽप्यभोग सिध्यत्यत आह—तत्कर्मति । वाद्यन्तरिक्षाधारं तद्रूपपरिणतमिति यावत् । वाद्यन्तरिक्षयोर्मूर्तत्रयोपसर्जनयोरिति शेषः । प्रयोक्ता हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा ।

निराकरोति—तन्नेति । कथं मूर्तरसेन सह 'यथोक्तामूर्तरसस्यांतुल्यतेत्याशाङ्क्याऽह—मूर्तस्येति । अमूर्तश्चासौ रसश्चेत्यमूर्तरसस्तेनेति यावत् । अमूर्तरसस्य चेतनत्वे तु रसयोर्वैजात्यं स्यादिति भावः ।

कारण है । उस अवस्था में हिरण्यगर्भ क्षेत्रज्ञ का कर्म वायु और अन्तरिक्ष का प्रयोजक है, उस (क्षेत्रज्ञ) का कर्म वायु और अन्तरिक्षरूप आधार बाला होकर अन्य भूतों का प्रयोजक होता है; उस वायु-अन्तरिक्षात्मक परिणतिरूप से अपने कर्मद्वारा वायु और अन्तरिक्ष का जनक है, इसलिए (प्रयोजक होने के कारण) रसहेतुक कारण कहा जाता है ।

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मूर्त के सार से इसकी समानता नहीं है । मूर्त भूतत्रय का

१ प्रयोजकम् । २ भूतक्षेत्रज्ञस्य कर्म । ३ वाद्यन्तरिक्षात्मना परिणतम् । ४ जनक । ५ प्रयोक्तु-त्वात् । ६ अचेतनत्वेन । ७ तत्समानेति—भूतद्वयसमानजातीयनायेननेन अन्तःकरणैर्नैवेत्यर्थः । ८ सिद्धातविरुद्ध तत्त्वभाविनतम् । ९ भर्तृप्रपञ्चा । १० समिलित समवाये सुदृ । ११ जीवत्वम् । १२ यदर्थं तत् । १३ कर्मस्वरूपम् । १४ जनकम् । १५ कर्मद्वारा हिरण्यगर्भादुत्पत्ता-मित्यर्थः । १६ भद्रुत्पन्नस्य ।

यावत् ॥ श्रीनेत्रं हेतुनेत्याशाङ्क्याऽह—न्यायति ॥ न्यायमेव दर्शयति यो ह्येतस्मिन्मण्डले विज्ञानात्मनेति भर्तृप्रपञ्चभाष्यामहाह—एतस्मिन्निति । एष सत्त्वविद्यामपूवंप्रज्ञापरिष्कृतो विज्ञानात्मत्वमापद्यते इत्येत-दस्यानुवर्जनीयत्वप्राप्त्यमाह—यविद्यति । भूतक्षेत्रज्ञस्य भूतद्वयकारणस्य भूपाणस्तदेव तत्कर्मरूप विज्ञानात्मन-स्तद्वाद्यन्तरिक्षप्रयोक्तु भवतीत्यस्यार्थमाह—तस्येति । तद्देहस्य पञ्चभूतात्मनत्वादभूतद्वयोत्पत्तावपीतरभूतोत्पत्तिं विना न तस्य भोग इत्याशङ्क्यान्तरिक्षाधारस्य वायुपरिरूपस्य कर्मणो वाद्यन्तरिक्षद्वारेणैव तेजसः समवा-इत्यस्यार्थमाह—क्षरस्येति । तदाकाशमुत्पाद्य तद्रूपेण स्थित तस्य मन्त्रकार्यं तन स्पन्दोत्पत्त्या स्थितस्य द्वयद्वारा तेज एव कर्मणस्तयोस्तजसश्च जन्त्येत्यर्थः । तेजसे इतरे भूते इत्यस्यामहाह—जज्ञाते इति । तदस्मात्पौरुषेण कर्मणा रसभूतेनाऽऽविष्टयोर्वैद्यन्तरिक्षयोः प्रभुतिरित्येतद्व्याकुर्वन्तलितमाह—कर्मणेति । मेधया तपसाऽजन-यतिरिति ह्युत्तमित्यस्यामहाह—मेधयेति । जैवामिदमर्थं निगमयति—न्यायेनेति । श्रीतीत्यायोक्तिमुपसहरति—त्यस्मिन्ति । भूतत्रयस्यावसायनसाध्ययोतानां हिंसन् ।

युक्तं भवितुम् । वाक्यप्रवृत्तेरतुल्यत्वात् । यथा हि भूतमित्तं चतुष्टयधर्मवतो विभज्येते तथा रसरसवतोरपि मूर्तमित्तोरतुल्येनैव न्यायेन युक्तो विभागः । न चाध्वंशसम् । भूतं रसेऽपि मण्डलोपाधिश्चेतनो विवक्ष्यत इति चेत् । अत्यल्पमिव मुच्यते । सर्वत्रैव तु भूतमित्तयोर्वैह्यरूपेण विवक्षितत्वात् । पुरुषशब्दोऽचेतनेऽनुपपन्न इति चेत् । न । पक्ष-

अस्तु तयोर्वैजात्यं नेत्याह—यथा हीति । मूर्तं मर्त्यं मित्तं सदिति भूतस्य धर्मचतुष्टयमूलमभूत व्यापित्यदित्यभूतस्य विभजनमसकीर्णत्वेन प्रदर्शनं यथा रसवतो मूर्तमित्तयोस्तुल्यत्वमुक्तं तथा रसयोरपि तयोस्तुल्येनैव प्रकारेण प्रदर्शनमुचितं नत्वमूर्तरसश्चेतनो मूर्तरसस्त्यचेतन इति युक्तो विभागोऽध्वंजरतीपस्याप्रामाणिकत्वादित्याह—तथेति । अध्वंशसं परिहृत्य शङ्कते—मूर्तरसेऽपीति । अमूर्तरसवन्मूर्तरसशब्देनापि चेतनस्यैव ग्रहणो मण्डलापन्नस्य ग्रहणमित्येतद्वद्वयमिति—अत्यल्पमिति । मण्डलस्य चेतनकार्यतया चेतनत्वे सर्वस्य तत्कार्यतया तन्मात्रस्याद्रसयोश्चेतनतेति विशेषणानर्थक्यमित्यर्थः । मण्डलाधारस्य चेतनत्वं पुरुषशब्दभूतिवशादेष्टव्यमिति शङ्कते—पुरुषशब्द इति । अनुपपत्तिं

सारतो मूर्तं मण्डले ही प्रत्यक्ष है । भूतत्रय की की समानजाति वाले अचेतन का सार चेतन नहीं हो हो सकता । इसी प्रकार अमूर्त भूतो का भूतद्वय के समानजातीय अचेतन अन्तःकरण से ही अमूर्त रस होना चाहिए क्योंकि मूर्त और अमूर्त प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों की प्रवृत्ति में एकरूपता है । जिस प्रकार (भूतत्रय और भूतद्वयरूप) मूर्तमित्त का चार धर्मों से युक्त असकीर्णतया प्रदर्शन किया जाता है, उसी पद्धति से मूर्तमित्त रस का भी विभाग करना उचित है आधा नाश करना उचित नहीं है । (पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि मूर्तमण्डल रस में भी मण्डलोपाधिक चेतन की विवक्षा ही मानें तो ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) तुम्हारी यह बात बहुत थोड़े महत्व की है । वेदान्त में सर्वत्र ही भिन्नक्रम मूर्त और अमूर्त भूतमात्र ग्रहण से विवक्षित है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) पुरुषशब्द का अचेतन

१ मूर्तमित्तवाक्यया प्रवृत्तेरकल्पत्वात् । २ भूतत्रयभूतद्वयरूपे । ३ असकीर्णतया प्रवर्धते । ४ अन्तरावैरिति पाठ उचितः । ५ मण्डलेऽपि । ६ वदतपु एष भिन्नक्रमः । ७ पक्षमुच्छादिकविशिष्टस्यैवेति—एककारोऽप्यर्थः । अचेतनेऽप्यपि पक्षावयववैषम्येषु कीदृशेषु पुरुषशब्दप्रयोगदर्शनादिति यावत् । यत्तु सूत्रशत्रुजस्य स्ववर्गद्वारा कारणतेति तत्राहुर्वातिके—न ह्यात्मव्यतिरिक्तेण विचित्रकारणमित्यते । तेन तेन स्वरूपेण स्ववर्गद्वारा कारणतेति तत्राहुर्वातिके—न ह्यात्मव्यतिरिक्तेण विचित्रकारणमित्यते । तेन तेन स्वरूपेण प्रत्यगात्मैव कारणम् ॥ मण्डलात्मनि चाऽऽधार लिङ्गात्मैवावसीद्यत्वात् । कारणस्यैव तत्स्यत्वाद्भिन्नानामा हि लिङ्गम् ॥ अज्ञात पुरुषो यस्मात्कार्यकारणशब्दभाक् । अज्ञातविध्याविज्ञानरूपत्वात् तत्तत्पत्तम् ॥ ६९-७५ ॥ इति । परस्परैवाज्ञातस्य कारणताया वैधित्वादित्यर्थः । आकाशाद्याभिरित्यादावाकाधादेरेषि कारणत्व श्रुतिमत्याशाङ्क्याऽह—तमेति ॥ यत्तु पुरुषो मण्डलाधारो विज्ञानात्मेति तत्राऽह—मण्डलति । तत्र हेतुमाह—कारणमिति । यथा शोलवेषु कारणतामैवावतिष्ठत तथा मण्डलेऽपि तस्यैवावतिष्ठतिरित्यर्थः । तत्स्यत्वात्तद्विहितात् । परस्यापि कृत्स्नत्वात् कारणतति तत्राहाज्ञात इति । अज्ञातरूपत्व कारणत्वे तद्वच्छब्दभाक्त्वे मिथ्याज्ञानरूपत्व च कल्पशब्दभाक्त्वे हेतुरिति चेद । तस्मात्परस्मिन्कार्यादिभावस्याऽऽरापन्न नोऽस्यादिदो-रप्यमिति शेषः ॥ ८ भूतत्रयस्यैव । ९ भूतद्वयस्यैव । १० भूतत्रयभूतद्वयरूपयोश्चतुष्टयधर्म-त्वेन तुल्यम् । ११ अधिकरणपट्टयोः । १२ अचेतनत्वम तुल्यधर्मवत् । १३ मण्डलाभावापन्नस्य । १४ कारणत्वेन ।

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्त-  
रात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्स्येतस्य मूर्त-  
स्येतस्य मर्त्यस्येतस्य स्थितस्येतस्य सत् एष रसो .

यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

यव अध्याय मे मूर्तामूर्त का निरूपण किया जाता है । जो प्राण से भिन्न है तथा देहान्तर्गत आकाश से भिन्न है, यही शरीर मे मूर्त है, यही मर्त्य है, यही स्थावर है और यही सत् है । जो यह नेत्र है, यही इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एव प्रतीयमान सत् का सारतम रस है, यही सत् का सारतम रस है ॥ ४ ॥

पुच्छादिविशिष्टस्यैव 'लिङ्गस्य पुरुषशब्ददर्शनात् । न वा इत्थं सन्तः शक्यामः प्रजाः प्रजनयितुमिमान्सस पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान्सस पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्प्रिया-  
वावन्नरसमयादिषु च श्रुत्यन्तरे पुरुषशब्दप्रयोगात्' । 'इत्यधिदैवतमित्युक्तोपसंहारोऽध्या-  
त्मविभागीयत्वार्थः ॥३॥

अथाधुनाऽध्यात्मं मूर्तामूर्तयोर्विभाग उच्यते । किं 'तन्मूर्तमिदमेव । किंचिदं

परिहृरति—नेत्यादिना । तदेव व्याकरोति—न वा इति । इत्य विभक्ताः सन्तो नैव शक्यामो  
"व्यवहार प्रजनयितुमित्यालोच्य त्ववचक्षु श्रोत्रजिह्वाग्राखण्डान्मनोहृषानिमान्सस पुरुषानेकं पुरुषं  
सहत् लिङ्गं करवामेति च निश्चित्यामी प्राणाः सस पुरुषानुक्तानेकं पुरुषं लिङ्गात्मानं कृतवन्त इति  
श्रुत्यर्थः । आदिशब्देन 'लौकिकमपि दर्शनं समुह्यते । श्रुत्यन्तरे तैत्तिरीयकम् । पुरुषशब्दप्रयोगः स  
वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यादि । परकीयं व्याख्यानं प्रत्याख्याय प्रकृत भुतिव्याख्यानमनुवर्तयति—  
इत्यधिदैवतमिति ॥ ३ ॥

'चक्षुषो रसत्वं प्रतिज्ञापूर्वकं प्रकटयति—आध्यात्मिकस्येत्यादिना । चक्षुषः सारत्वे शरीरा-

ने प्रयोग तो अनुचित है । (सिद्धांशो उत्तर देता है—) ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । पुरुषशब्द से  
पस और पुच्छविशिष्ट लिङ्गशरीर का ही बोध होता है, ऐसा देखा गया है । "हम इस प्रकार  
पृथक् पृथक् रहकर सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकते, अतः इन श्रोत्रादि सात पुरुषों को एक कर  
द, ऐसा विचार कर उसने सात पुरुषों को एक पुरुष कर दिया" इत्यादि अन्यत्र भी श्रुतिवाक्या मे भी  
पुरुषशब्द अन्न-रसमयादि अर्थों का बोधक है । "यह अधिदैवत (देवताओं मे) मूर्तामूर्त विभाग है" ऐसा  
कह कर जो मन्त्र मे उपसंहार किया है, वह अध्यात्मविभाग की उक्ति प्रतिपादन करने के लिए है ॥३॥

१ शरीरस्य । २ न मण्डलापास्य चेतनत्वमपि तु करणात्मत्वमेवेति शेषः । ३ देवेषु मूर्तामूर्तयोर्विभाग-  
समाप्त इत्यर्थः । ४ अध्यात्मविभागीयत्ववर्धिकाप्यर्थः । ५ देहे । ६ अध्यात्मम् । ७ स्वस्वविषय-  
ग्रहरूप व्यवहारमिति यावत् । ८ लौकिकमपि दर्शनमिति—भेरी स्त्री इन्द्रुभि पुमानित्यादावप्यन्तरात्मनि  
शब्दादौ पुरुषशब्दप्रयोगदर्शनादिति । ९ अनुसरति । १० गीतकस्थः ।

यदन्यत्प्राणाच्च 'वायोर्ध्र्वायमन्तरभ्यन्तरे आत्मन्नात्मन्याकाशः' खं शरीरस्थश्च यः प्राण एतद्वयं वर्जयित्वा यदन्यच्छरीरारम्भकं भूतत्रयमेतन्मर्त्यमित्यादि समानमन्यत्पूर्वेण । एतस्य सतो ह्येष रसो यच्चक्षुरिति । आध्यात्मिकस्य शरीरारम्भकस्य 'कार्यस्यैष' रसः सारस्तेन हि सारेण 'सारवद्विदं शरीरं समस्तं यथाऽधिदेवतमादित्यमण्डलेन । प्राथम्याच्च । चक्षुषी एव प्रथमे संभवतः संभवत इति । 'तेजो रसो निरवर्तताग्निरिति लिङ्गात् । तैजसं हि चक्षुः । एतत्सारमाध्यात्मिकं भूतत्रयम् । सतो ह्येष रसः' इति

वयस्येष्टु प्राथम्यं हेत्वन्तरमाह—प्राथम्याच्चेति । "तत्र प्रमाणमाह—चक्षुषी एवेति । संभवतो 'जायमानस्य जन्तोश्चक्षुषी एव प्रथमे' 'प्रधाने संभवतो जायेते । शब्दं रेतसः सित्तस्य चक्षुषी एव प्रथमे संभवत इति हि ब्राह्मणमित्यर्थः । चक्षुषः सारस्वे हेत्वन्तरमाह—तेज इति । "शरीरमात्रस्याविशेषेण निष्पादकं "तत्र सर्वत्र संनिहितमपि "तेजो "विशेषतश्चक्षुषि स्थितम् । "धादिश्वश्चक्षुर्भूत्वाऽग्निर्वा प्राविशत्" इति श्रुतेः । "अतस्तेजःशब्दपर्यायरसशब्दस्य चक्षुषि प्रवृत्तिरविशद्वेति भावः । इतश्च तेजःशब्दपर्यायो रसशब्दश्चक्षुषि संभवतोऽयमाह—तैजस हीति । "प्रतिष्ठाप्यमुपसंहरति—एतत्सारमिति । "हेतुमवतायं तस्यायमाह—सतो हीति । चक्षुषो भूतत्वान्भूतंभूतत्रयकार्यं युक्तं

"अथ" यानी अथ अध्यात्म (देह) मे भूतभूतं विभाग का प्रतिपादन किया जाता है । वह अध्यात्म क्या है ? "इदमेव भूतम्" यानी यह भूत ही है । यह क्या है ? जो शरीर में रहने वाली उच्छ्वासात्मक प्राणवायु से भिन्न है, "यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः" अर्थात् जो इस शरीर के भीतर आकाश है, उससे भिन्न आकाश है, शरीरस्थ जो प्राण है; इन दोनों को छोड़ कर जो शरीर के आरम्भक तीन भूत है, वे ही मर्त्य है । अन्य व्याख्यान पूर्वमन्त्र के समान है । यह जो चक्षुगोलक है; वह सत् का ही सार है । आध्यात्मिक शरीरारम्भक भूतत्रय कार्य का यह चक्षुरूप रस ही सार है । उसी सार से यह सारा शरीर सौन्दर्यशाली है, जिस प्रकार अधिदेवत शरीर आदित्यमण्डल से सौन्दर्यशाली है । प्रथम होने के कारण भी चक्षु ही सार है । उत्पन्न होने वाली जीव के पहले नेत्र ही उत्पन्न होते हैं । "प्रजापतितैजस्वरस वाला अग्नि हुआ" यह इसमें प्रमाण भी है । चक्षुगोलक भी तैजस ही है । चक्षु आध्यात्मिक भूतत्रय सारवान् ही है । "सतो ह्येष रसः" यह कथन भूतत्रय सत् का चक्षु के

१. शरीरस्यादुच्छ्वासात्मकात् । २. शरीरे । ३. तदन्यदिति शेषः । ४. गोलकम् । ५. भूतत्रयस्य । ६. चक्षुरूपः । ७. सौन्दर्यशालीति यावत् । ८. शरीरम् । ९. तैजो रस इति—प्रजापतेस्तेजो रसः तेज एव रसोऽग्निः विराडभिमानो प्रजापतिश्चतुर्मुखब्रह्मवाक् । प्रथमशरीरी निरवर्तते उत्पन्न इत्यर्थः । अत्र हि तेजो रसयोः पर्यायत्व श्रूयते । चक्षुषस्तत्र तेजस्व प्रसिद्धमतस्तेजः पर्यायस्य रसशब्दस्य चक्षुषि प्रवृत्तिरिति भावः । १०. चक्षुः तद्वगोलकं तैजस तैजोरूपस्य चक्षुरिन्द्रियस्याधिपत्येण हीति प्रसिद्धम् । ११. इति वाक्यभागः चक्षुषो भूतत्रयसारस्वे यो हेतुस्तदर्थ इत्यर्थः । १२. प्राथमे ब्राह्मणवाक्यात्मिकम् । १३. गर्भाधमे उत्पद्यमानस्य । १४. अन्यवान्तरापेक्षया पूर्वमिति यावत् । १५. सर्वावयवस्य । १६. स्वनिष्पादितेषु शरीरेषु । १७. शरीरारम्भकभूतात्मकम् । १८. प्रकायरूपेण । १९. तत्तादात्म्यापन्न इति यावत् । २०. तेजस्तत्र विशेषतोऽवस्थानात् । २१. आध्यात्मिकचक्षुषो भूतत्रयसारस्वरूपम् । २२. सत् एव इत्येवमाद्येन चक्षुषः परिषदे यद्वेतुवाक्यं तदवतार्य ।

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मज्ञाकाश एतदमूर्तमे-  
तद्यदेतत्पत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत् एतस्य  
त्यस्यैव रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षगुरुपुस्त्यस्य ह्येव  
रसः ॥ ५ ॥

१ अथ अमूर्त का वर्णन किया जाता है । जो यह प्राण और शरीर के भीतर आकाश है । यह अमूर्त है, यह अमृत, है यह अपरिच्छिन्न है और यह त्यत् है । उस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का एव इस त्यत् का यही सारतम रस है । जो इस दक्षिणेनेत्र में पुरुष है, यह त्यत् का ही सारतम रस है ॥ ५ ॥

मूर्तत्रयसारस्वे हेत्वर्थः ॥ ४ ॥

अथाधुनाऽमूर्तमुच्यते । यत्परिज्ञेयितं मूर्तद्वयं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मज्ञाकाश एतदमूर्तम् । अन्यत्पूर्ववत् । एतस्य त्यस्यैव रसः सारो योऽयं दक्षिणेऽक्षगुरुपुस्त्यो दक्षिणेऽक्ष-  
मिति विशेषग्रहणं शास्त्रप्रत्यक्षत्वात् । 'लिङ्गस्य हि दक्षिणेऽक्षिण विशेषतोऽधिष्ठातृत्वं

ज्ञाधर्माद्देहावयवेण प्राधान्याच्च तस्याऽऽध्यात्मिकमूर्तत्रयसारस्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

कुतो विशेषोक्तिरित्याशङ्क्याह—दक्षिण इति । 'शास्त्रस्य तेन वा दक्षिणेऽक्षिण विशेषस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः । 'द्वितीयध्यायानामागत्य हेत्वर्थं स्फुटयति—लिङ्गस्येति' । 'हेतुमन्त्र तदर्थं

मूर्तव और सारस्वे मे हेतुफ है ॥ ४ ॥

(आध्यात्मिक कार्यात्मिक द्रष्टा के रूप को निरूपण कर) अब अमूर्त वा व्याख्यान किया जाता है । अवशिष्ट भूतद्वय प्राण और जो शरीरान्तर्गत आकाश है, वे अमूर्त हैं । अन्य अर्थ तो पूर्वमन्त्र के समान ही समझ लेना चाहिए । इस 'त्यत्' का वह साररूप रस है, जो यह दक्षिण नेत्रवर्ती पुरुष है । मन्त्र मे "दक्षिणेऽक्षन्" यानी यह दक्षिण नेत्रवर्ती विद्यापग्रहण वेद-उपवेद मे ईश्वर की अपरोक्षरूपता सिद्ध करने के लिए है । तदन्त पाती चक्षु-इन्द्रिय की विशेषरूप से दक्षिण नेत्र मे प्रतिष्ठा है, शास्त्र (और उसके उपदेश ईश्वर) का प्रत्यक्ष सर्वश्रुतिया द्वारा होना सिद्ध है । मन्त्र मे "त्यस्य ह्येव रस"

१ हत्वर्थ इति—मूर्तत्वसारस्वे इति हेतुवाक्यस्थापद्वयमित्यर्थः । २ आध्यात्मिककार्यात्मिकस्य ग्रहणो रूप निरूप्य करणात्मकस्य तत्कह—अर्थेति । आध्यात्मिक यत्कार्यं तद्वद्गुणो रूपमित्येवमिदं रूपान्तर तादृश यत्करण तद्वद्गुणो रूपमित्येवमिदं निरूप्यत इत्यर्थः । ३ तदन्त पातिचक्षुर्इन्द्रियस्य । ४. चक्षुर्मूर्त-  
प्रयोगोभूतत्वादिना साधर्म्यात् । ५. शरीरान्तर्गत इति । ६. शास्त्रस्य—बदोपदेष्टृरीश्वरस्येत्यर्थः । ७. शास्त्रेण वेत्यर्थः । ८. द्वितीयध्यायानामिति—शास्त्रेण प्रत्यक्षत्वादित्यतद्व्याख्यानमित्यर्थः । सर्वश्रुतिपु-  
ष्पा प्रयोगवर्गानामित्यनेन हि यथोक्तद्वितीयध्यायानस्यैव समर्थनादिति यावत् । ९. अवरोहणक्रमेण द्वितीय-  
टीकोक्त विग्रह प्रथमोक्त पट्टीविग्रहमिति यावत् । १०. हेतुवाक्यम् ।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं  
वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽर्ज्यचिथंथा  
पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत् सकृद्विद्युत्तेव हे वा  
अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदायात आदेशो नेति

उत्त इस लिङ्गशरीररूप पुरुष का वासनामय स्वरूप ऐसा है, जैसा हल्दी में रंगा हुआ वस्त्र, सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा बरसाती लोल रंग का कीड़ा, जैसे अग्निज्वाला, जैसा सफेद कमल और जैसी बिजली की चमक होती है। जा ऐसा जानता है, उसकी श्री विद्युत्चमक को भाँति एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अब उसके बाद 'नेति नेति' यह ब्रह्म का आदेश बतलाया जाता है। इस आदेश से बढ़कर

शोक्तस्य प्रत्यक्षं सर्वभूतिषु तथा प्रयोगदर्शनात् । तस्य ह्येव रस इति पूर्वबहिषेपतो-  
ऽग्रहणादमूर्तत्वसारत्वे हेत्वर्थः ॥५॥

ब्रह्मण उपाधिभूतयोर्मूर्तामूर्तयोः कार्यकरणविभागेनाध्यात्माधिदैवतयोर्विभागो  
व्याख्यातः सत्यशब्दवाच्ययोः । तथेदानीं तस्य हैतस्य पुरुषस्य करणात्मनो लिङ्गस्य

कायपति—त्यस्येति । यथा 'पूर्वत्र चतुषि मूर्तादिचतुष्टयदृष्ट्या तादृग्भूतत्रयसारतोक्ता तथाऽत्रापि  
'लिङ्गात्मन्यमूर्तत्वादिचतुष्टयस्य 'विशेषेणा'ग्रहणादमूर्तत्वाविना साधर्म्या' तथाविधभूतद्वयसारत्वं  
'तस्य शरीरे प्राधान्याच्च तत्सारत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

तस्य हेत्यादेवृत्तानुवादपूर्वकं संबन्धमाह—ब्रह्मण इति । विभागो विशेषः । तस्याधिदैवं  
प्रकृतस्यैतस्याध्यात्म संनिहितस्यामूर्तरसभूतान्त करणस्यैव रागादिवासनेति वक्तुं तस्यैतमादि

यानी 'यह त्वत् का सार है' यह व्याख्यान पूर्वमन्त्र के समान विशेषरूप से ग्रहण न होने के कारण  
(भूतद्वय ममूर्त) अमूर्तत्व और सारत्व हेतुवाक्य के अर्थद्वयसम्पादन के लिए है ॥५॥

सत्यशब्द के वाच्य ब्रह्म के उपाधिभूत अध्यात्म और अधिदैवत मूर्तामूर्त का कार्यकरणरूप से  
विभाग का व्याख्यान किया गया । अब उस अन्त करणरूप इन्द्रियात्मा पुरुष के वासनामय मूर्तामूर्त  
स्वरूप की वासना नामा रंगों के संयोग से बने पट एव दण्डादि से परावृत्त प्रकाश के संयोग से विश्रित

१ एव यमोक्त हिरण्यमर्भावासनारूपमुपास्ते अस्यापासकस्य सकृद्विद्युत्तेव विद्योतनमिव श्री स्थानिर्मवत्ये-  
वेत्यर्थः । २. तत्पुण्डरीकवरस्य । ३ प्रयोगदर्शनादिति—किं य न तत्र केवत् शास्त्रादेव विशेषो किमु  
विमतमतिशयवत् दक्षिणाङ्गत्वात् दक्षिणहस्तादिवदित्यनुमानाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । ४ हेत्वर्थ इति—  
अमूर्तसारत्वे इति हेतुवाक्यस्यार्थद्वयमित्यर्थः । ५ रूपेण । ६ अन्त करणस्येति यावत् । ७ अध्यात्म-  
कार्यत्मकस्य ब्रह्मणो रूपनिरूपणपथयि । ८ दर्शनात् । ९ आध्यात्मिककरणरूपमन्त्रब्रह्मणो रूपनिरूपणपथयि ।  
१०. पशुनिन्द्रिये इति यावत् । ११. विशेषणग्रहणादिनि—यमिषोऽस्त्यशब्देनामूर्तत्वादित्युच्यते ।  
तत्रानुमेयत्वादिति यावत् । १२. ग्रहणे सति मूर्तत्वं स्यादिति भावः । १३ विशेषणग्रहीता मूर्तत्वादिविशे-  
षणचतुष्टयविशिष्टेत्यर्थः । १४. लिङ्गात्मनः ।



‘न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेय<sup>११</sup> सत्य-  
स्य सत्यमिति प्राणा व सत्यं तेषामेव सत्यम् ॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये

तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

दूसरा आदेश है ही नहीं। ‘सत्य का सत्य’ यह उस ब्रह्म का नाम है। प्राण ही सत्य हैं। यह ब्रह्म उनका भी सत्य है (क्योंकि इस ब्रह्म का सत्यत्व ही निहित प्रपञ्च के साथ सादात्म्य होकर प्रतीत हो रहा है) ॥ ६ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

रूपं वक्ष्यामि वासनामयं मूर्तामूर्तं वासनाविज्ञानमयसंयोगजनितं विचित्रं पटमिति चित्र-  
वन्मायेन्द्रजालमृगतृष्णिकोपमं सत्त्वं व्यामोहास्पदम् । एतावन्मात्रमेवाऽऽस्मेति विज्ञानवा-  
दिनो वैनाशिका यत्र भ्रान्ताः । एतदेव वासनारूपं पटरूपवदात्मनो द्रव्यस्य गुण इति

वाक्यमित्यर्थः । कथमिदं रूपं लिङ्गस्य प्राप्तमिति तदाह—मूर्तेति । मूर्तामूर्तं वासनाविज्ञानमय-  
संयोगेन च जनितं बुद्धे रूपमिति यावत् । नेदमात्मनो रूपं तस्यैकरसस्यानेकरूपत्वानुपपत्तेरिति  
विशिनष्टि—विचित्रमिति । वास्तवत्वशङ्का धारयति—मायेति । वैचित्र्यमनुसृत्यानेकोदाहरणम् ।  
अन्तःकरणस्यैव रागादिवामनाद्वैतकथं पुरुषस्तन्मयो दृश्यते तत्राऽऽह—सर्वेति । तदेव व्याकुर्व-  
न्विज्ञानवादिना भ्रान्तिमाह—एतावन्मात्रमिति । बुद्धिमात्रमेवाह बुद्धिर्विशिष्टं “स्वरसभङ्गपुरं  
रागादिकलुपितमात्मा नाग्न्य स्याद्यी क्षणिकी वेति” यत्र ते भ्रान्तास्तस्य रूपं वक्ष्यामि इति सन्न्य ।  
तार्किकाणामपि बौद्धबहुभ्रान्तिमुद्धावयति—एतदेवेति । अन्तःकरणमेवा“हृंधोप्राह” रागादिधर्मक-

दीवार के समान विज्ञानमय को आश्रय करके फैलती है, इसलिये मायिक इन्द्रजाल एवं मृगतृष्णा के  
समान सर्ववाढियों के लिए आत्मा का भ्रमगोचरत्व सिद्ध होता है। विज्ञानवादी वैनाशिकों को ऐसा भ्रम  
होता है कि (स्वाभावतः नष्टकर क्षणिक) इतना ही आत्मा है। (बौद्धों के समान) नैयायिक और वैशेषिक  
भी ऐसा कहते हैं कि पट के शुक्लतन्त्र गुण के समान यह वासना ही ‘आत्मा’ नामक द्रव्य का गुण है।  
सांख्यमतवाचस्पतियों की भ्रान्ति है कि यह गुणत्रययुक्त स्वतन्त्र एवं प्रधान के आश्रय होने के कारण

नैयायिका वंशेयिकाश्च संप्रतिपन्नाः । इदमात्मार्थं त्रिगुणं स्वतन्त्रं प्रधानाश्रयं पुरुषार्थेन हेतुना प्रवर्तत इति सांख्याः ।

‘ओपनिषदमन्या अपि केचित्प्राक्या रचयन्त—मूर्तामूर्तराशिरेकः परमात्म-  
राशिरुक्तमस्ताभ्यामन्योऽयं मध्यमः कित्तु तृतीयः कर्त्रा भोक्त्रा विज्ञानमयेनाजातशत्रु-  
प्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदायः । प्रयोक्ता कर्मराशिः प्रयोज्यः पूर्वोक्तो  
मूर्तामूर्तमूर्तराशिः साधनं चेति ।

मात्मा तस्य वासनामयं रूपं पदस्य शोचत्यवद्गुणः स च संसार इति यत्र ताकिना भ्रान्तास्तस्य  
रूपं वक्ष्याम इति पूर्ववत् । सांख्यानं भ्रान्तिमाह—इदमिति । कथमस्य त्रिगुणत्वादिकं सिध्यति  
तत्राऽऽह—प्रधानाश्रयमिति । केन प्रकारेणास्तःकरणमात्मार्थमिष्यते तत्राऽऽह—पुरुषार्थेनेति ।  
नान्तःकरणमेवाऽऽत्मा कित्त्वन्त्यः सर्वगतः सर्वविक्रियाश्रयः स्वप्रकाशस्तस्य भोगापवर्गानुगुणेन  
प्रधानात्मकमन्तःकरणं तत्सधर्मकं प्रवर्तत इति यत्र कापिला भ्राम्यन्ति तस्य रूपं वक्ष्याम इति  
संख्यः ।

यत्र विविधा विपश्चिता भ्रान्तिस्तवन्तःकरणं तस्य हेतुत्रोच्यते नाऽऽस्तेति स्वपक्षमुत्तया  
भर्तृप्रपञ्चपक्षमुत्थापयति—ओपनिषदमन्या इति । कीदृशी प्रक्रियेत्युक्ते राशिप्रयकल्पनां घट्टादावधर्मं  
राशिं वर्णयति—मूर्तेति । उक्तृष्टराशिमाचष्टे—परमात्मेति । राशस्तस्माह—ताभ्यामिति । ताभ्येतानि  
ग्रीणि वस्तूनि “मूर्तामूर्तं” माहारजनाविरूपमात्मतत्त्वमिति परोक्तिमाश्रित्य राशिप्रयकल्पनामुत्त्वा  
मध्यमाधमराशयोर्विशेषमाह—प्रयोक्तेति । उत्पादकत्वं प्रयोजकत्वं । कर्मप्रवृत्तम् । विद्यापूर्वप्रज्ञासमुदाय-  
सक्षणम् । साधनं ज्ञानकर्मकारणं कार्यकरणजातं तदपि प्रयोज्यमित्याह—साधनं चेति । इतिशब्दो  
राशिप्रयकल्पनासमाप्त्यर्थः ।

उसके समान ही त्रिगुणात्मक अन्तःकरण पुरुषार्थ हेतु से आत्मा के लिए प्रवृत्त होता है ।

उसके अभिप्राय को न जानने वाले कोई-कोई ओपनिषद (भर्तृप्रपञ्चादि) अपनी उत्प्रेक्षा से  
ही प्रमाण एवं युक्ति से रहित प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं । एक मूर्तामूर्त राशि है, दूसरी परमात्मसमक  
उत्तम राशि है, तीसरी दोनों से भिन्न मध्यम राशि है । (वह आदित्य कौन है ? इस पर कहते हैं—)  
अजातशत्रु द्वारा जगाये गये कर्ता, भोक्ता और विज्ञानमय से आत्मा के साथ जो विद्या, कर्म और पूर्व-  
प्रज्ञा का समुदाय है । प्रयोजक कर्मराशि है और उत्पाद्य पूर्वोक्त मूर्तामूर्तमूर्तराशि एवं (ज्ञानकर्महेतुक  
कार्यकरणरूप) साधन है ।

१. तथा च सदाश्रितत्वात्तद्देव त्रिगुणात्मकम् । २. तत्तात्पर्याभिज्ञा इति भावः । ३. स्वोत्प्रेक्षावगादेव  
मानयुक्तिहीना कामपि प्रक्रियायाम् । ४. तत्त्वल्पनायाः श्रुतिवास्तवद्योतनाय विरोधेन । ५. दोषावित्यत्राह  
—कर्तेति । ६. आत्मना । ७. उत्पाद्यः । ८. नैयायिकमत आत्मा विचार्यमाणोऽन्तःकरणमेव  
निष्यते सुखादिनन्दनवत्तदनुपपन्नात् । ९. भोगापवर्गानुगुणं हेतुना त्रिगुण प्रधानमित्येतदामर्शव  
स्थितमन्तःकरण तत्सधर्मकमिति पाठान्तरम् । १०. प्रधानमित्यर्थः । ११. पृष्टे । १२. मूर्तामूर्तमिति  
पाठः । १३. मूर्तामूर्तं माहारजनादीनि च तेषां समाहारस्तद्रूपमित्यर्थः । तथा च मूर्तामूर्तरूपमेक वस्तु,  
माहारजनादिरूपं द्वितीयमात्मतत्त्व च तृतीयमित्येतां त्रीणि वस्तुनीत्यर्थः ।

तत्र च, 'तात्त्विकैः सह संधि कुर्वन्ति । लिङ्गाश्रयश्चैव' कर्मराशिरित्युक्त्वा पुनस्तत्तत्त्वस्यन्तः सांख्यत्वभयात्कर्मराशिः पुष्पाश्रय 'इव गन्धः पुष्पवियोगेऽपि 'पुटतैलाश्रयो भवति तद्वल्लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मैकदेशमाश्रयति । स परमात्मैकदेशः किलान्यत आगतेन गुणेन कर्मणा सगुणो भवति निर्गुणेऽपि स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मेति वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्ति । स च कर्मराशिभूतराशेरागन्तुकः 'स्वतो निर्गुण एव परमात्मैकदेशत्वात् । 'स्वतः' 'उत्पित्ताऽविद्या' 'अनागन्तुकाऽप्युप रं वदनात्मधर्म इत्यनया कल्पनया सांख्यचित्तमनुवर्तन्ते ।

परकीयकल्पनान्तरमाह—तत्रेति । राशित्रये कल्पिते सतीति यावत् । संधिकरणमेव स्फोरयति—लिङ्गाश्रयश्चेति । तत् इत्युक्तिपरामर्शः । सांख्यत्वभयात्तत्त्वस्यन्तो वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्तीति संयन्धः । कथं तद्वित्तानुसरणं तदुपपादयति—कर्मराशिरिति । कथं निर्गुणभारमानं कर्मराशिराश्रयतोऽस्याशङ्क्याऽह—स परमात्मैकदेश इति । अन्यत इति कार्यकरणात्मकाद्भूतराशेरिति यावत् । यदा भूतराशिनिष्ठं कर्मादि तद्द्वाराऽऽत्मन्यागच्छति तदा स कर्तृत्वादिसंसारमनुभवतोऽस्याह—स कर्तेति । 'स्वतस्तस्य कर्मादिसंयन्धेन संसारित्वं स्यादिति चेन्नेत्याह—स चेति । निर्गुण एव विज्ञानात्मेति शेषः । सांख्यचित्तानुसारार्थमेव परेषां प्रक्रियान्तरमाह—स्वत इति । 'भंसगिब्यप्यविद्या परस्मादेवाभिव्यक्ता संतो 'तदेकदेशो 'विकृत्य तस्मिन्नेवा' 'स्तःकरणाख्ये तिष्ठतीति यदन्तोऽनात्मधर्मोऽविद्येत्युक्त्या सांख्यचित्तमप्यनुसरन्तीत्यर्थः । अविद्या परस्मादुत्पत्त्या चेत्तमेवाऽऽभयेन 'तदेकदेशमिदस्याशङ्क्याऽह—ऊपरवदिति । यथा पृथिव्या जातो 'ऽप्युपरदेशस्तदेकदेशमाश्रयत्येवमविद्या परस्माज्जाताऽपि तदेकदेशमाश्रयिष्यतीत्यर्थः ।

इस पर वे, तर्क से धर्मनिर्णय कर लेने वाले सांख्याविको के साथ संधि कर लेते हैं । 'यह प्रयोजक कर्मराशि लिङ्गशरीर के आश्रित है' ऐसा कहकर फिर उसके सांख्यसिद्धान्त हो जाने के भय से वैशेषिको के दर्शन का अनुसरण कर डरते हुए कहने लगते हैं कि जिस प्रकार पुष्प के आश्रय रहने वाला गन्ध पुष्प के न रहने पर भी दोने अथवा तेल के आश्रित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मराशि लिङ्गशरीर के न रहने पर भी, परमात्मा के एकदेश जीव को आश्रय करती है । परमात्मा का एकदेश वह जीव अन्य स्थान से प्राप्त उस गुणरूप कर्म द्वारा निर्गुण होकर भी सगुण हो जाता है तथा वह विज्ञानात्मा कर्ता भोक्ता ही बन्धनमुक्त या मुक्त हो जाता है । वह कर्मराशि भूतराशि के सम्बन्ध से आत्मा मे बध्यस्त स्वतः निर्गुण ही है क्योंकि वह परमात्मा का एकदेश है । 'परमात्मा से प्रकटीभूता अविद्या यनादिसिद्धा होने पर भी ऊसर के समान अनात्मा का धर्म है' इस कल्पना से वह सांख्यदर्शानुगामीयो के मन की बात कह लेते हैं ।

- १ तर्कार्थनिर्णयके. सांख्यादिभिः । २ प्रयोजकः । ३ यथा । ४. पुट पत्रपात्रम् । ५ जीवम् ।
६. परेषामेव समतन्त्रिदिति विज्ञातिः । ७. भूतराशिगम्यन्वेनारम्यध्यस्तः । ८. विनोक्तोपाधिसम्बन्धम् ।
९. परमात्मतः । १०. प्रकटीभूता । ११. अनादिसिद्धा । १२. भूतरास्याद्युपाधि विना । १३.
- अनादिसिद्धा । १४. जीवम् । १५. विद्योभ्यः । १६. विज्ञानप्रधाने जीवे । १७. कारणमतिप्रम्य
- कार्यसामान्यावृत्तिरिति शेषः । १८. ऊपरदोष इति पाठः ।

सर्वमेतत्तार्किकः सह सामञ्जस्यकल्पनारमणीयत्वं पश्यन्ति नोपनिषत्सिद्धान्तं सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्ति । कथम् । उक्ता एव तावत्सार्वभौमत्वे परमात्मनः संसारित्व-सव्रणत्व'कर्मफलदेशसंसरणानुपपत्त्यादयो दोषाः । नित्यभेदे च विज्ञानात्मनः परेणैकत्वा-नुपपत्तिः । लिङ्गमेवेति चेत्परमात्मन उपचरितदेशत्वेन कल्पितं घटकरकभृच्छिद्रा-

तदेतद्ब्रूयितुमुपक्रमते—सर्वमेतदिति । तार्किकः सह संधिकरणादिकमेतत्तत्त्वम'धिकृत्य 'साम-ञ्जस्येन पूर्वोक्तानां कल्पनानामापातेन रमणीयत्वमनुभवन्तीति यावत् । यथोक्तकल्पनानां श्रुतिन्यायनु-सारित्वाभावात्पाप्यत्वं सूचयति—नेत्यादिना । 'कर्मद्वयं प्रत्येकं क्रियापदेन संबध्यते । नञ्श्रोभयप्राग्वयः । कार्यं यथोक्तकल्पनानामापातरमणीयत्वेन श्रुतिन्यायबाह्यत्वमिति पृच्छति—कयमिति । प्रवृत्तं परस्य-कदेशो विज्ञानात्ममेति "तत्र तदेकदेशत्वं वास्तवम्"वास्तव वा प्रथमे स परस्मादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्पः"५५४ ब्रूयमिति—उक्ता एवेति । आदिशब्देन "श्रुतिस्मृतिविरोधो गृह्यते । "कल्पात्तरं प्रत्याह—नित्यभेदे वति । भेदाभेदयोर्विरुद्धत्वादनुपपत्तिश्चकारार्थः । लिङ्गोपाधिरात्मा परस्यांश इति "कल्पात्तरं शङ्कते—लिङ्गमेवेति । उपचरितत्वं कल्पितत्वम् । लिङ्गोपाधिना कल्पितः परांशो जीवा-

तार्किको के साथ समन्वयस्थापना की कल्पना करके वे मन में बड़े प्रसन्न होते हैं किन्तु औप-निषद सिद्धान्त तथा जाने वाले सब प्रकार के न्यायविरोध को नहीं देखते । ऐसा कैसे कहते हो ? पूर्वोक्त (प्रथमब्राह्मण के वीसवें मन्त्र के 'अचलस्य' इत्यादि ४६४ पृष्ठ के भाष्य में) परमात्मा के सार्वभौमत्व मान लेने पर उसमें संसारित्व, सच्छिद्रत्व तथा कर्मफल भोग के स्थान में संसरण की अनुपपत्ति आदि दोष बतलाये हैं । अत्यन्तभेद स्वीकार करने पर तो जीवात्मा और परमात्मा का अभेद होना संभव नहीं है (इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्यप्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होने लगेगा) । यदि कहो कि घटाकाश, करकाकाश, भृच्छिद्राकाशादि के समान तदुपाधिक लिङ्गशरीर आत्मा ही परमात्मा के औपचारिक एकदेश में कल्पित है, ऐसा मानने पर तो लिङ्गशरीर जीवात्मा के चले जाने पर भी, वासना का

१. 'अचलस्येत्यादि' ४६४पृष्ठभाष्ये । २. कर्मफलदेशेति । एषदेशस्यैवदेशव्यतिरेकेणाभावाज्जीवस्य कर्मफलदेशवर्गादिषु गत्यनुपपत्तिरप्यथा परस्मादि गति स्थावहि परावयवेषु पलतु परो न चलतीत्याह—संसारित्वमिति । परस्यैकदेशोऽग्निविस्तुलिङ्गवत्कुटितो विज्ञानात्मा संसरतीति जीवस्य संसारित्वेऽपि परस्य तत्रास्तीत्याहकुपाः५५४—सप्रकत्वेति । परस्यावयवस्फुटनेन क्षतप्राणि । अत्रणत्वशक्यविरोधदेति । ३. अत्यन्तभेदः । ४. अनुपपत्तिरिति—तथा च "तत्त्वमस्यादि"धृतिविरोध इति भावः । ५. लिङ्गमिति—तदुपाधिरालेत्यर्थः । कल्पितमिति व्यस्तपाठे परमात्मन कल्पितदेशत्वेन लिङ्गापाधिरात्मा परमात्मन एव कल्पितोऽंश इति योजना । कल्पितपठेति समस्तपाठे तु कल्पितपदस्य आचारोऽन्वयः । ६. उद्दिश्यः । ७. तार्किकाद्य-विरोधेन । ८. अविवारेण । ९. चर्चद्वयभाषादि—उपनिषत्सिद्धान्तमित्येतस्य कर्मणो न पश्यन्तीति पूर्व-प्रियप्राग्वयः । सर्वन्यायविरोधं च ॥ पश्यन्तीत्येव ननुपपत्तेः द्वितीयकर्मण उत्तराधिकया सवन्ध इत्यर्थः । अत्र सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्तीत्यस्य भिन्नवाक्यत्वेन तत्र ननुपपत्तेः प्रसुप्त इति तद्विरोधनापेक्षेति वक्तव्यम् । उपनिष-त्सिद्धान्तसर्वन्यायविरोधमोविरोधेषुविशेष्यभावभ्रमापहोर्हार्थं वेत्यवश्यम् । १०. विज्ञानात्मनि । ११. उपाधि-इतम् । १२. प्रथमे आद्यम् । १३. "अस्यूलधनषु", "न लिप्यन्ते लोचदुष्टेन बाह्यः", "अस्य नाह इतो भावो बुद्धिर्बन्ध न लिप्यते" ॥ १४. प्रथमे द्वितीयम् । १५. द्वितीयमवास्तवपक्षम् ।

काशादिवत् । तथा लिङ्गविद्योगेऽपि परमात्मदेशाश्रयणं वासनायाः ।

अविद्यायाश्च 'स्वत उत्थानमूपरवदित्यादिकल्पनाऽनुपपन्नैव । न च 'वास्यदेशद्वय-  
तिरेकेण वासनाया वस्त्वन्तरसंचरणं मनसाऽपि कल्पयितुं शक्यम् । न च श्रुतयो  
'अनुगच्छन्ति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा, 'हृदये ह्येव रूपाणि', 'ध्यायतीव सेलायतीव,

स्तेषुयते स्वापादो लिङ्गद्वये वासना नाऽऽत्मनि स्याद्विज्ञानाभावे तदधीनजीवाभावात्ततश्च "तद्विद्योगेऽपि  
लिङ्गस्या वासना जीवे तिष्ठतीति प्रक्रियाऽनुपपन्नेति द्वयमिति—तथेति ।

यत्तु परस्मादविद्यायाः समुत्थानमिति तन्निराकरोति—अविद्यायादचेति । आदिपदेनानात्म-  
धर्मत्वमविद्याया गृह्यते" । परस्मादविद्योत्पत्तौ तस्यैव संसारः स्यात् । "तयोरेकाधिकरण्यात् । "अतश्चा-  
विद्याया सत्यां न" मुक्तिर्न च तस्यां नष्टायां "तत्तिष्ठिः कारणे स्थिते कार्यस्या"व्यन्तनाशायोगा"कार्या-  
विद्यानाशे तत्कारणपराभाव"स्तथाच "भोक्षिणेऽभावा"न्मोक्षातिष्ठिः । न खानात्मधर्मोऽविद्या विद्याया  
अपि तद्वर्त्मत्वप्रसङ्गात्तयोरेकाश्रयत्वादिति भावः । यत्तु लिङ्गोपरमे तद्वृत्ता वासनाऽऽत्मन्यस्तीति  
तत्राऽऽह—न चेति । पुटकादौ तु पुष्पाद्यवयवानामेवानुवृत्तिरिति भावः । इतश्च वासनाया जीवाश्रयत्व-  
मसंगतमित्याह—न चेति ।

परमात्मा के एकदेश का आश्रयण करना अनुपपन्न हो जायगा ।

ऊपर भूमि के समान अविद्या की उत्पत्ति भी परमात्मा से ही हुई है, ऐसी कल्पना भी अयुक्त  
ही है । इसके प्रतिरिक्त अपने आश्रय को छोड़कर वासना की, किसी अन्य वस्तु में संचरण होने की  
कल्पना तो मन से भी नहीं की जा सकती । इसके प्रतिरिक्त श्रुतियाँ भी तात्पर्यविषयक धर्म ने स्वारस्य  
अनुगमन करती हैं—“वाम, सकल्प, सदाय (आस्तिक्य, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और  
भय) यह सब मन ही है”, “(क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपों का हृदय से ही स्वरण करता है) अतः  
हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है”, “(वही बुद्धि-वृत्ति के अनुसार) चिन्तन करता हुआ सा और (प्राण-  
वृत्ति के अनुसार) चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है”, “जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ

१. अनुपपन्नमिति शेषः । २. परमात्मतः । ३. स्वाश्रयव्यतिरेकेण । ४. शब्दमिति—न हि गुणो द्रव्य  
हत्वा स्वातन्त्र्येण स्थानुमहंति पुष्पपुटिकावामपि पुष्पावयवानुवृत्तेर्न धर्मस्य वर्त्मनिक्रमः । ५. अनुगच्छन्तीति  
—तात्पर्यविषयेष्वेव स्वारस्यन (शक्या) नानुगता प्रवन्तीत्यर्थः । आत्मनो वासनाश्रयत्वकल्पनायामिति शेषः ।  
अतस्तस्य तदाश्रयत्वकल्पना श्रुतिश्रुतिविरुद्धाऽनुवृत्तेति भावः । आत्मनाऽपि मनावद्वासनाधर्मित्याशङ्क्यावधारण-  
श्रुतेश्च न तस्य तद्वर्त्मत्वमित्याह—हृदय ह्येवति । तर्हि आत्मनि धर्मप्रवर्तते कथं तत्राऽह—ध्यायतीवेति ।  
चित्तस्यैव कामादीत्यत्र वाक्यान्तरमाह—वामा यश्चेति । आत्मनो नेत्यत्रैव वानयान्तरमाह—तीर्णां हीति ।  
तदा मुक्तौ । ६. वृ० उ० १।५।३ । ७. वृ० उ० ३।६।२० । ८. प्रतिष्ठितानि भवन्तीति शेषः ।  
९. वृ० उ० ४।३।७ । १०. विज्ञानपणमेऽपि । ११. जीवाश्रयत्व चेत्सपि द्रष्टव्यम् । १२.  
अविद्यासंसारयोः । १३. अविद्याया परनिष्ठत्वाच्च । १४. परस्येति शेषः । १५. मुक्तिः । १६.  
समूलनाशायोगात् कारणं हि मूलम् । १७. कार्यविद्यानाश इति—परमात्मकार्यमूलाया अविद्याया  
अव्यन्तनाशेऽभ्युपगम्यमानेऽविद्याकारणस्य परस्याभाव एव स्यात् कार्यव्यन्तनाशस्य समूलोच्छेदरूपत्वादिति ।  
१८. पराभावानुपपन्ने च । १९. परस्य । २०. भोगेति—निरात्मवादप्रमत्तिश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ।  
न च परोत्याविद्याया जीवाश्रयत्वमिति वाच्य कारणमतिशय्य कार्यस्याभ्यव्रानुत्तिरित्युक्तत्वात् ।



‘तज्जनितवासनाश्च मूर्तामूर्त एव द्वे रूपे ब्रह्म च रूपि तृतीयं न चान्यस्तु यमन्तराले तदेतदनुकूलमवधारण द्वे एव ब्रह्मणो रूपे इति । अन्यथा ब्रह्मं कदेऽस्य विज्ञानात्मनो रूपे इति कल्प्यं परमात्मनो वा विज्ञानात्मद्वारेणेति । तदा च रूपे एवेति द्विवचनमसमञ्जसम् । रूपाणोति वासनाभिः सह बहुवचनं युक्ततरं स्यात् । द्वे च मूर्तामूर्त वासनाश्च तृतीयमिति ।

अथ मूर्तामूर्त एव परमात्मनो रूपे वासनास्तु विज्ञानात्मन इति चेत् । तदाऽपि विज्ञानात्मद्वारेण विक्रियमाणस्य परमात्मन इतीयं वाचोपुक्तिरनर्थिका स्यात् । वासनाया अपि विज्ञानात्मद्वारत्वस्याविशिष्टत्वात् । न च वस्तु वस्तुन्तरद्वारेण विक्रियत

नियेष्यकोटिनिवेश इत्याद्विषयध्वजस्तभवि “श्रुतिः शिखलीयेत्याह—अन्ययेति । भवत्वेव श्रुतेः शिक्षेति तत्राऽह—तदेति । “रूपिमध्ये जीवास्तर्भावकल्पनायामिति यावत् ।

“विषयभेदेनोपक्रमाविरोध” चोदयति—अयेति । इत्यत्र व्यवस्थामा जीवद्वारा विक्रियमाणस्य परस्य रूपे मूर्तामूर्त इत्युक्तिरुक्ता वासनापरमादेरपि तद्वद्वारा तत्र संवन्धाविरोधादिति दूषयति—तदेति । “विज्ञानात्मद्वारा परस्य विक्रियमाणत्वमङ्गीकृत्योक्त” तदेव नास्तीत्याह—न चेति ।

परमात्मा के दो रूप है, ऐसा श्रुति द्वारा बहना चाहिए । उस समय भी ‘रूपे’ यह द्विवचनान्त प्रयोग प्रयुक्त होगा । वासनात्मक तृतीय रूप होने के कारण “रूपाणि” ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा अर्थात् मूर्तामूर्त दो रूप हैं और तीसरा वासनात्मक रूप है ।

यदि कहा मूर्त और अमूर्त, ये परमात्मा के दो ही रूप हैं, वासनाएँ तो जीवात्मा की हैं । इस प्रकार स्वीकार कर लेने पर भी ऐसी वाक्यांक्ति बहना कि ये जीवात्मा के द्वारा विकार को प्राप्त हुए परमात्मा के रूप हैं, व्यर्थ ही होगा क्योंकि जीवात्मा का द्वारत्व मूर्त और अमूर्त के तुल्य होने के कारण (कर्मादि) वासना का भी उपलक्षण है । इसके अतिरिक्त एक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा विकार को प्राप्त होती है, ऐसी कल्पना मुख्यादृति से नहीं की जा सकती । एवं जीवात्मा परमात्मा से कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है क्योंकि ऐसी कल्पना करने में अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त में दोष प्राता है । अनेक न्यायोपविरोध होने के कारण वेदार्थज्ञान न होने वाले उन पुरुषों को ऐसी मनमानी कल्पना करना अक्षरवाह है । अक्षरवाह वेदार्थ अथवा वेदार्थ में उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि वेद प्रामाण्य-

- १ तज्जनितेति—यदा तु सवामने मूर्तामूर्त द्वे एव रूपे इत्यर्थः । २ रात्रिष्यान्मुपगमे । ३ श्रुत्या वक्तव्यम् । ४ अपि । ५ अयुक्तम् । ६ असमञ्जसमिति—वासनात्मन तृतीयरूपस्य सत्त्वादिति भावः । तदेवाह—रूपाणोति । ७ जीवस्य । ८ इत्यत्र व्यवस्थास्वीकारेऽपि । ९ ते । १० वाक्योक्तिः । ११ कर्माद्युपलक्षणम् । १२ मूर्तामूर्ताभ्यां तुल्यत्वात् । १३ इत्यत्र स्वभा वक्तव्यमासीदिति सा शिक्षणीया स्यात् । १४ ब्रह्मात्मकरूपिमध्ये । १५ रूपवामनयोराश्रयभेदेन । १६ द्विवचनान्तविरोधमिति पाठः । १७ तदीया । १८ स्यात् । १९ जीवद्वारा । २० परमात्मनि । २१ मूर्तामूर्ताभ्याम् । २२ अस्तु तर्हि जीवात्मना परिणतस्य परस्य वासनायामपि रूपमिदयाशङ्क्याऽह—विज्ञानात्मद्वारेति । २३ प्राक्तनमस्माभिः ।

इति मुख्यया वृत्त्या-शक्यं कल्पयितुम् । न च विज्ञानात्मा परमात्मनो वस्त्वन्तरम् । तथा कल्पनाया सिद्धान्तहानात् । 'तस्माद्वेदार्थमूढानां स्वचित्तप्रभवा एवमादिकल्पना अक्षर-बाह्याः । न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारी वा । निरपेक्षत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं प्रति । 'तस्माद्राशिष्यकल्पनाऽसमञ्जसा ।

योऽयं दक्षिणोऽक्षन्पुरुष इति 'लिङ्गात्मा प्रस्तुतोऽध्यात्मेऽधिदेवे च य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष इति तस्येति प्रकृतोपादानात्स एवोपादीयते योऽसौ त्वस्यामूर्तस्य रसो न तु 'विज्ञानमयः । ननु विज्ञानमयस्यैवैतानि रूपाणि कस्मान्न भवन्ति विज्ञानमयस्यापि

तथासूतस्याभ्यासमूर्तस्य च चिक्त्रिवाया 'दुरुपपावत्वादित्यर्थः । किञ्च जीवस्य ब्रह्मणो वस्त्वन्तरत्व-भात्यन्तिकम् 'नात्यन्तिकं वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । न द्वितीयो 'भेदाभेदनिरासादिति प्रष्टव्यम् । परपक्षदूषणमुपसहरति—तस्मादिति । एवमादिकल्पना राशिष्य जीवस्य कामाद्याक्षयत्वमित्याद्याः । अक्षरबाह्यत्वे फलितमाह—न हीति । वेदार्थोपकारित्वाभावे हेतुमाह—निरपेक्षत्वादिति । वेदार्थ-त्वाद्यभावे सिद्धमर्थं कथयति—तस्मादिति ।

नस्य हेत्यत्र परकीयप्रक्रिया प्रत्याख्याय स्वमते तच्छब्दार्थमाह—योऽयमिति । प्रकृतत्वा-लिङ्गात्मग्रहे जीवस्यापि पाणिपेयवाक्ये 'तद्भावात्तस्यैवात्र तच्छब्देन ग्रह-स्यादिति शाङ्कते—न विविति । प्रकृतत्वेऽपि तस्य निविशेषब्रह्मत्वेन ज्ञापयितुमिष्टत्वात् वासनामयं संसाररूपं" तत्त्वतो

निरपेक्ष है । इसलिए अक्षरबाह्य होने के कारण राशिष्यकल्पना अनुक्त ही है ।

'यह जो दायें नेत्र के अन्तर्गत पुरुष है' इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रकृत अध्यात्मप्रकरण मे लिङ्गात्मा (अन्तःकरण) का वर्णन किया गया है तथा अधिदेवप्रकरण मे 'यह जो इस आदित्य-मण्डल मे पुरुष है' इस प्रकार 'तस्य' पद से लिङ्गात्मा अन्तःकरण का प्रबलभित्त्व होने क कारण यह अमूर्त 'त्यत्' का सार है, जीव का नहीं, उसी का उपादान किया गया है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) यहाँ तो जीवात्मा का ही प्रकरण है, इसलिए ये जीवात्मा के ही रूप क्या नहीं होते क्योंकि 'तस्य' इस पद से तो जीव का ही ग्रहण किया गया है ? (इस पर सिद्धान्तवादी कहता है—)

१. अनेकस्यापविरोधात् । २. अक्षरबाह्यत्वात् । ३. अन्तःकरणमिति यावत् । ४. अस्य । ५. अवलम्बितत्वात् । ६. जीव । ७. 'अथापूर्वमवस्थितं विक्रियते चेति' व्याहृतम् । अथवाभूय विक्रियते तथा नासौ तद्विवार"इति । ८. दुरुपपावत्वादिति—न हि तथाभूत परिणामत्वे नाभिमतवस्तुभिन्नं यद्वस्तु सत्तदात्मना परिणामतेऽप्रयन्ताभेदे परिणामपरिणामिभावस्य विरुद्धत्वात् । अन्यथाभूत परिणामत्वेनाभिमतवस्तुभिन्न वस्तुभि सदात्मना न परिणामते मूदादेरपि दध्याद्यात्मना परिणामत्वापत्याज्यवस्थापते । यद्वा तथाभूत कूटस्यं वस्तु न परिणामते कूटस्त्वविरोधात् । अन्यथाभूतमकूटस्य वस्तु तदपि न परिणामन परिणामस्यापि परिणामापत्या पदोदघटान्तरं तस्मादपि तदन्तरमित्यनवस्थापत्तेरिति भावः । ९. आत्यन्त्रिकमभेदव्यापि-करणत्वम् । १०. अनेकसामानाधिकरणत्वं चानात्यन्तिकत्वम् । ११. एकस्यैव भेदाभेदोविच्छेदत्वेन निरस्तत्वादित्यर्थः । १२. प्रकृतत्वात् । १३. तस्य ।



प्रकृतत्वात्तस्येति च प्रकृतोपादानात् । नैवम्, विज्ञानमयस्या<sup>१</sup>रूपित्वेन विज्ञिज्ञापयिषित-  
त्वात् । यदि हि तस्यैव विज्ञानमयस्यैतानि माहारजनादीनि रूपाणि स्युस्तस्यैव नेति  
'नेतीत्यनाख्येयरूपतया'<sup>२</sup>ऽदेशो न स्यात् ।

नन्वन्यस्यैवासावादेशो<sup>३</sup> न तु विज्ञानमयस्येति । न । पष्ठान्त उपसंहारा<sup>४</sup>द्विज्ञाता-  
रमरे केन 'विज्ञानीयादिति विज्ञानमय प्रस्तुत्य स एष नेति नेतीति विज्ञपयिष्यामीति  
च प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वात् । यदि च विज्ञानमयस्यैवा<sup>५</sup>संख्यबुद्ध्यर्थमारम्भस्वरूपं ज्ञापयितुमिष्टं  
स्यात्प्रध्वस्तसर्वोपाधिविशेष तत् इयं प्रतिज्ञाऽर्थवती स्यात् । 'येनासौ ज्ञापितो जाना-  
त्यात्मानमेवाह ब्रह्मास्मीति' 'ज्ञातज्ञनिष्ठा प्राप्नोति न विभेति कुतश्चनेति'<sup>६</sup> । अथ पुनरन्यो

युक्तमिति परिहरति—नैवमिति । इतश्च जीवस्य न वासना<sup>७</sup>रूपिता किंतु चित्तस्यैत्याह—यदि हीति ।  
निषेध्यकोटिप्रवेशादिति भावः ।

नाम जीवस्याऽऽदेश<sup>८</sup> किंतु ब्रह्मण<sup>९</sup>स्तदस्यस्येति शङ्कयित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना ।  
'पष्ठान्तानि विज्ञातारमरे केनेत्यात्मानमुपक्रम्य स एष नेति नेत्यात्मत्वात्मशब्दा'<sup>१०</sup>तस्यैवाऽऽदेशोपसंहा-  
रादिहापि तस्यैवाऽऽदेशो न तदस्यस्येत्यर्थः । इतश्च प्रत्यगर्थसंख्यायमादेश इत्याह—विज्ञपयिष्यामीति ।  
'तदेव समर्थयते—यदीति । कथमेतावता<sup>११</sup>' प्रतिज्ञार्थवत्त्वं तवाह—येनेति । ज्ञानफलं कथयति—  
ज्ञानेति । अन्यमनुज्ञेनोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) साधयति—अयेत्यादिना । विषयं ये गृहीते

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीवात्मा को (निविशेय ब्रह्मरूप से) ग्रसपी बतलाना इष्ट है । यदि  
ये माहारजनादि रूप उस जीवात्मा के ही हो, तो उसका 'नेति नेति' इस प्रकार निषेधाधिष्ठानरूप  
उपदेश नहीं किया जा सकता ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) यह निषेध अवधि द्वारा उपदेश तो किसी दूसरे का ही है,  
जीवात्मा का तो नहीं है । (सिद्धान्तो उक्त आक्षेप का समाधान करता है—) ऐसा बहना ठीक नहीं  
क्योंकि 'हे मैत्रेयी ! विज्ञाता को किससे जाने' ? इस प्रकार विज्ञानात्मरूप का  
उपक्रम करके छठे अध्याय के अन्त में "बह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा भी नहीं है" इस प्रकार  
निषेधाधिष्ठान मुख से उपसंहार किया है । ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेने पर ही "विशेषरूप से ज्ञान  
कराऊंगा" इस प्रतिज्ञा का मार्थकता भी सिद्ध हो जाती है । यदि यहाँ विज्ञानात्मा के शब्दप्रत्यय से  
अगोचर सर्वोपाध्यतीत आत्मत्वरूप का ज्ञान करना अभीष्ट होगा, तभी यह प्रतिज्ञा मार्थक कहो

१ निविशेयब्रह्मरूपत्वेन । २ निषेधाधिष्ठानतया । ३ निर्देश उपदेश । ४ निषेधाधितोपपदेश ।

५ वृ० उ० ४।५।१५ । ६ शब्दप्रत्ययानुचरम् । ७ हेतुना उच्चात्मस्वरूपेण वा विज्ञानात्मा । ८  
शास्त्रप्रतिपाद्या स्वरूपावस्थितिम् । ९ इति प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वमिति शेषः । १० धर्मिता । ११  
जीवविभक्तम् । १२ यथापूर्वमंत्रेयीवाह्यान्तरे (वृ० उ० २।४।१४) "यनेद सर्वं विज्ञानाति त वेन विज्ञानी-  
याह" 'विज्ञानारमरे केन विज्ञानीयादित्य' नवोवाक्ययोरव्यवधानं तद्वत् पठ्यातेऽपि तयोर्व्याख्यानव्याख्येयभावे-  
नैवाप्योत्पन्नमेवाव्यवधानमवाधित्याऽऽह—पठ्यावसान इत्यादि । १३ विज्ञानमयस्यैव । १४ प्रतिज्ञाया  
अपवत्त्वमेव । १५ यथातद्विज्ञानात्मस्वरूपप्रतिपादनमात्रेण ।

विज्ञानमयोऽन्यो नेति नेतीति व्यपदिश्यते तदाऽन्यददो' ब्रह्मान्योऽहमस्मीति 'विपर्ययो गृहीतः स्यात् । 'नाऽऽत्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति । 'तस्मात्तस्य हेतुस्येति लिङ्गपुरुष-स्येवंतानि रूपाणि ।

'सत्यस्य च 'सत्ये परमात्मस्वरूपे वक्तव्ये 'निरवशेषं सत्यं वक्तव्यम् । 'सत्यस्य च विशेषरूपाणि वासनास्तामामिमानि रूपाण्युच्यन्ते । एतस्य पुरुषस्य प्रकृतस्य 'लिङ्गात्मन

ब्रह्मकण्डिकाविरोध दर्शयति—नाऽऽत्मानमिति । तच्छब्देन जीवपरमात्मसम्भवे कलितमाह—तस्मादिति ।

ननु लिङ्गस्य चेदेतानि रूपाणि किमित्युच्यन्त्यन्ते परमात्मस्वरूपस्यैव वक्तव्यत्वात् । आह—सत्यस्य नेति । 'इन्द्रगोपोपमानेन कौसुम्भस्य "गतस्वान्नहारजनं हरित्रेति व्याख्यातम् । "तत्र

जायगो । जिस आत्मस्वरूप के ज्ञान से यह विज्ञातात्मा ज्ञान कराये जाने पर अपने को "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार शास्त्रप्रतिपाद्य स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है, ऐसा जीव किसी से भी भय को प्राप्त नहीं करता । एवं यदि विज्ञातात्मा कोई अन्य हो तपा नेति नेति' इस निषेधाधिष्ठान वाक्य से किसी अन्य का उपदेश किया गया हो तो ऐसी स्थिति में "यह परोक्ष ब्रह्म अन्य है और मैं अन्य हूँ" ऐसे विपरीतप्रत्यय का अभ्युपगम होने लगेगा । ऐसा अभ्युपगम नहीं होगा "अपने को जाना, मैं ही ब्रह्म हूँ" । जीव के ब्रह्म से अभिन्न एवं वासनारूपित्व योग न होने से इस प्रकार आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रकृत लिङ्गपुरुष मन के ही रूप हैं ।

पष्ठघन्त सत्यशब्द के प्रथमान्त सत्यशब्दित परमात्मा में उपदेश करने पर समस्त द्विविध सत्यो को बतलाना है । पष्ठघन्त सत्यशब्दित लिङ्ग के विशेषरूप वासनाएँ हैं उनमें ये रूप बड़े जाते हैं । ये इस प्रकृत लिङ्गात्मा पुरुष अन्तःकरण के ही रूप हैं । वे रूप कौन-ने हैं ? भी बतलाया जाता है ।

१ परोक्षम् । २ विपरीतप्रत्ययोऽभ्युपेत स्यात् । ३ अन्या जीवोऽन्येषां शब्दोऽयमात्र ब्रह्म इति विपर्यय गृहीते तदाऽऽत्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति ब्रह्मकण्डिकाविरोध दोषान्तरमाह—नेति । तदुक्तं यातिके—'न स्मादात्मानमेवावेदह ब्रह्म इति मानवा । सम्बन्धोऽनित्यविधानादिनामिना मुक्तिरापिनीति' ॥१५॥ ४ तस्मादिति—जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् वागनारूपित्वायोगाच्चेत्यर्थः । तस्य आधिदैविकस्य । एतस्य आध्यात्मिकस्य प्रकृतस्य लिङ्गपुरुषस्य अन्तःकरणस्य । लिङ्गस्य बह्वृत्वादिवासनारूपित्वे रूपात्मनि तद्भूतमिति चेत् स्वाभावात्प्रमदोपेति गृह्येण स्वस्यात्मन आभासो यन्नेत्यविद्यातिस्तद्व्युत्पन्नप्रमदोपेनेत्यर्थः । यद्वा स्वस्य वा वासनाविति लिङ्गेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बस्तत्राह्वयप्रमेयेत्यर्थः । यद्वा सवासनलिङ्गमनिहिते स्वरस्मिन्पट्टिरोपेने मी वागवानामाभास प्रतिफलन तत्प्रयुक्तप्रमेयेत्यर्थः । तदुक्तम्—'वासना भूरिख्यात्मा लिङ्गस्या लिङ्गवाशिण । पुर्वन्ति बहुरूपस्य मणेरान्तरण यथेति' ॥१५॥ आन्तरणं रुप । अत्र तु नीलपतेरुपपन्नदानम् । ५ पष्ठघन्तसत्यशब्दितस्य । ६ प्रथमान्तसत्यशब्दिते परमात्मनि । ७ त्रिरूपशेषम्—नितिस द्वयमपि सत्यमिति यावत् । ८ पष्ठघन्तसत्यशब्दितस्य लिङ्गस्य । ९ अन्तःकरणस्य । १० वेदातेर्बुधुलस्य इति वाप । ११ ननु कुसुमे तच्छब्दस्य प्रतिबिम्बवासस्यान ब्रह्म कि न स्यात् । तदुक्तम्—'स्वात्पुसुम्भ वसिष्ठिण महात्मान-मित्यपी व्याख्यादुपाहेति । १२ अनयोस्तुत्यरूपरनादिति भावः । १३ चित्तस्य रज्जनारात्ये ।

एतानि रूपाणि । कानि तानीत्युच्यन्ते—यथा लोके महारजनं हरिद्रा तथा रक्तं माहारजनं यथा वासो लोके । एवं 'स्त्र्यादिविषयसंयोगे' तादृशं वासनारूपं 'रञ्जनाकारमुत्पद्यते चित्तस्य । 'येनासौ पुरुषो रक्त इत्युच्यते वस्त्रादिवत् । यथा च लोके पाण्ड्वाविकम् । अवेरिदमारचिकमूर्णादि । यथा च तत्पाण्डुरं भवति तयाऽन्यद्वासनारूपम् । यथा च लोक इन्द्रगोपोऽत्यन्तरक्तो भवत्येवमस्य वासनारूपम् । 'वचचिद्विषयविशेषापेक्षया रागस्य तारतम्यं वचचित्पुरुषचित्तवृत्त्यपेक्षया । यथा च लोकेऽन्यच्चिमास्वरं भवति तथा 'वचचित्कस्यचिद्वासनारूपं भवति' । यथा पुण्डरीकं शुक्लं तद्वदपि च वासनारूपं कस्यचिद्भवति । यथा सकृद्विद्युत्तं यथा लोके सकृद्विद्युत्तं "सर्वतः प्रकाशक भवति तथा ज्ञानप्रकाश" विद्युद्वचपेक्षया "कस्यचिद्वासनारूपमु"पजायते ।

लोकप्रसिद्धिं दर्शयति—येनेति । ऊर्णादीत्यादिपदं कम्बलादिग्रहार्थम् । मनसि वासनावैचित्र्ये किं कारणमिति तदाह—वचचिदिति । चित्तवृत्तिशब्देन "तस्या"दिगुणपरिणामो विवक्षितः ।

जिस प्रकार लोकव्यवहार में महारजन यानी हल्दी से रंगे हुए वस्त्र को माहारजन वस्त्र कहते हैं, उसी प्रकार स्त्री आदि विषय के संयोग से माहारजन वस्त्र की तरह चित्त की वैसी ही रागात्मक वासनारूप वृत्ति उत्पन्न होती है । जिस रंगने से यह पुरुष भी वस्त्रादि के समान रक्त कहा जाता है । "यथा पाण्ड्वाविकम्" यानी जिस प्रकार लोकव्यवहार में सफेद ऊन होती है । जो भेद का विकार हो, उस ऊन आदि को आविक कहते हैं । जिस प्रकार वह (पीत से रहित) शुक्लवर्ण की होती है; उसी प्रकार अन्य वासना का रूप होती है । "यथेन्द्रगोप" यानी जिस प्रकार लोक में इन्द्रगोप नामक कीट अत्यन्त रक्तवर्ण का होता है उसी प्रकार निज्जात्मा श्रुत करण का वासनामय रूप है । यहाँ श्रुत-करण में वही तो विषय विशेष की अपेक्षा राग का तात्तम्य है और वही पुरुष की चित्तवृत्ति को लेकर है । "यथाग्न्याचि" अथवा जिन प्रकार लोक में अग्नि की शिखा प्रकाशमुक्त रहती है; उसी प्रकार कहीं-कहीं विषयों में मन की वासनाओं का भी रूप होता है । "यथा पुण्डरीकम्" यानी जिस प्रकार पुण्डरीक शुक्लवर्ण का होता है, उसी प्रकार किमो की (मन की) वासनारूप का रूप होता है । "यथा सकृद्विद्युत्तम्" यानी जिस प्रकार लोकव्यवहार में एकदम विजली चमकने से सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप प्रकाशातिशय की अपेक्षा से किसी हिरण्यमर्मादि की वासना का रूप (एक बार ही सब ओर प्रकाशित हो जाने से) उत्पन्न हो जाता है ।

वासना के उक्त रूपों के आदि, अन्त, मध्य सत्या अथवा देश, काल या निमित्त निर्धारित नहीं

- १ निमित्तमाह—स्वीति । २. माहारजनवस्त्रोपमम् । ३. रागात्मकम् । ४. रञ्जनेन । ५. पीतिममिद्यशुक्लम् । ६. लिङ्गम् । ७. मनसि । ८. विषये । ९. मनसि । १०. अत्यन्तमाशुर-मस्मदीयचक्षुस्तद्विषये प्रवृत्तिप्रतिबन्धकम् । ११. अतिशयेति भावः । १२. हिरण्यमर्मादि । १३. सकृदेव सर्वतः प्रद्योतमानमुदच्छिद्यतीत्यर्थः । १४. सत्त्वादीति । तदुक्तं वार्तिके—“रजसः वचचिद्विद्युद्वेकस्तमसः वचचिद्विष्यते । सत्त्वस्यापि तमोत्कथं कुतश्चिदुपजायते” ॥१६३॥ इति । वचचिद मनसि । १५. शुक्लवचिन्मिति यावत् ।

'व्यक्ति'र्भवतीति तद्वयं वासनारूपं हिरण्यगर्भस्य यो वेद तस्य सकृद्विद्युत्तेव । ह वा इत्यवधारणार्थो । एवमेवास्य श्रीः 'स्यातिर्भवतीत्यर्थः । यथा हिरण्यगर्भस्यैवमेतद्योक्तं वासनारूपमन्त्यं यो वेद ।

एवं 'निरवशेषं' सत्यस्य स्वरूपमभिधाय यत्तत्सत्यस्य सत्यमवोचाम तस्यैव स्वरूपावधारणार्थं ब्रह्मण 'इदमारम्यते-अथानन्तरं सत्यस्य स्वरूपनिर्देशानन्तरं यत्तत्सत्यस्य सत्यं 'तदेवावशिष्यते यस्मादस्तस्मात्सत्यस्य' सत्यं 'स्वरूपं निर्देक्ष्यामः । आदेशो "निर्देशो ब्रह्मणः । कः पुनरसौ निर्देश इत्युच्यते-नेति नेतीत्येष निर्देशः ।

ननु कथमाभ्यां नेति नेतीति शब्दाभ्यां सत्यस्य "सत्यं निर्दिदिक्षितमिति । उच्यते-सर्वोपाधिविशेषा"पोहेन । यस्मिन्न कश्चिद्विशेषोऽस्ति नाम वा रूपं वा कर्म

"तदेव स्फुटयति-यथेत्यादिना ।

"वृत्तमनुष्ठानान्तरमन्यमवतारयति-एवमित्यादिना । तस्यैव ब्रह्मण इति संबन्धः । कस्माद-मन्तरमित्युक्ते "तद्दशमब्रह्म शब्द" चापेक्षितं पूरयन्त्याकरोनि-सत्यस्येति ।

ययोक्तादेशस्याभावः पर्यवसायित्वं भगवान् शङ्कुते-नन्दिति । "निरवशेषकनिषेधासिद्धे"स्त-द्वधिरावेन सत्यस्य सत्यं ब्रह्म निर्देष्टुमिष्टमिति परिहरति-उच्यत इति । ब्रह्मणो विधिमुखेन निर्देशे सभाष्यमाने किमिति निषेधमुखेन तन्निर्दिश्यते तत्राऽऽह-यस्मिन्निति । तद्विधिमुखेन निर्देष्टुमशक्यमिति

यानो स्याति हिरण्यगर्भं के समान हा जाती है ।

इस प्रकार नि शेष उपकरणमहिम्न सत्यशब्द के अर्थ की स्वरूपाभिधायि कर जिसे पहले 'सत्य का सत्य' कह माये हैं । उसी ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करने के लिए यह भावसवाक्य प्रारम्भ किया जाता है । "अथ" यानी इसके बाद अर्थात् सत्य के स्वरूप का उपदेश करने के पदवाच जो 'सत्य का सत्य' है, वही अवशिष्ट रह जाता है । इसलिये पष्ठपञ्चम अर्थ वाले 'सत्य के सत्य' पारमार्थिक स्वरूप का उपदेश करेगे । "आदेश" यानी ब्रह्म का उपदेश । पर वह उपदेश क्या है । इस पर बतलाया जाता है-"नेति-नेति" । इस प्रकार किया हुआ उपदेश ही आदेश है ।

किन्तु 'नेति-नेति' इस दो शब्दों द्वारा 'सत्य के सत्य' यानी ब्रह्म वस्तु का उपदेश करना किस प्रकार इष्ट है ? इस पर बतलाया जाता है । सभस्त उपाधिरूप विशेषरूप के निरास क द्वारा

- १ व्याकृतिरिति-हिरण्यगर्भस्य उदासनारूपं व्यक्ति । सर्वस्य वस्तुजातस्याश्रयभूत विद्युद्विद्योत्तमस्य सहदेवोत्पद्यत इत्यन्यमुपेक्षार्थः । २ उत्पद्यते । ३ स्यातिरिति-दृष्टमुपास्तिफलमिदम् । अदृष्टं तु त यथा यथेत्यादि दास्योद्यमेवेति ध्येयम् । ४ नि शेषम् शेषकरणम् । ५ पष्ठपञ्चमसत्यशब्दार्थस्य । ६ आदेशवाक्यमित्यस्य । ७ ब्रह्मातिरेकतो नान्यद्यतो वस्त्वभिप्रेष्यते । ८ पष्ठपञ्चमार्थस्य । ९ पारमार्थिक स्वरूपमित्यर्थः सत्यं सत्यमिति यावत् । १० उपदेशः । ११ ब्रह्मवस्तु । १२ निरासेन । १३ स्यातिभवनमेव । १४ आशिरुवाह्याणादावादेशादिति शेषः । १५ ज्ञान उपाधिविधम् । १६ अनशब्द-प्राप्त्याने । १७ तत्प्राप्त्यर्थवत्त्वम् । १८ निरवशेषानेति भावः । १९ निषेधावधिरन्तरस्य ।

वा 'भेदो वा जातिर्वा गुणो वा । तद्द्वारेण हि शब्दप्रवृत्तिर्भवति । न चैषां' कश्चिद्विशेषो ब्रह्मण्यस्ति । 'अतो न निर्देष्टुं शक्यत इदं तदिति । 'गौरसो स्पन्दते शुक्लो विपाणीति यथा लोके निर्दिश्यते तथा । 'अध्यारोपितनामरूपकर्मद्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते विज्ञानमानन्दं विज्ञानघन एव ब्रह्माऽऽत्मेत्येवमादिशब्दः । यदा पुनः 'स्वरूपमेव निर्दिद्विशितं भवति निरस्तसर्वोपाधिविशेषं' तदा न शक्यते 'केनचिदपि प्रकारेण 'निर्देष्टुम् । 'तदाऽयमेवाभ्युपायो द्रुत प्राप्तनिर्देशप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति निर्देशः ।

शेषः । नामरूपाद्यभावेऽपि ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिमाशङ्क्याऽऽह—तद्द्वारेणेति । जात्यादीनामन्यतमस्य ब्रह्मण्यपि संभवासद्द्वारा तत्र शब्दप्रवृत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—न चेति । उक्तमयं यथार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टमिति—गौरिति । तथा जात्याद्यभावात् ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिरिति शेषः । कथं "तर्हि क्वचिद्विधिमुखेन ब्रह्मोपदिश्यते तत्राऽह—अध्यारोपितेति । विज्ञानानन्दादिवाक्येषु शक्यते गृहीतशक्तिभिः शब्दः "लक्ष्यते ब्रह्मेत्यर्थः । ननु लक्षणागुपेक्ष्य "साक्षादेव ब्रह्म किमिति न विवक्ष्यते तत्राऽह—यदा पुनरिति । निर्देष्टुं लक्षणामुपेक्ष्य साक्षादेव वस्तुमिति यावत् । तत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां जात्यादीनामभावस्योक्तत्वादित्यर्थः । विधिमुखेन निर्देशासंभवे कलितमाह—तदेति । "प्राप्तो "निर्देशो यस्य "विशेषस्य तत्प्रतिषेधमुक्तेनेति यावत् ।

(उपदेश करना) सम्भव है । जिसमे नाम, रूप, कर्म, सम्यन्ध, जाति और गुणरूप कोई भी विशेषता नहीं है । क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति ब्रह्म मे इन्द्री के द्वारा होती है । किन्तु इनमे से कोई भी विशेषता ब्रह्म मे नहीं है । इसलिए "यह वह है" इस प्रकार उसका उपदेश नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार ब्रह्म मे नहीं है । इसलिए "यह वह है" इस प्रकार उसका उपदेश नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार लोकोपदेश मे " (सास्नादिमान्) यह गो चेष्टा करता है, श्वेत वर्ण वाला है, विपाणयुक्त है" ऐसा कहकर निर्देश किया जाता है, उस प्रकार उस ब्रह्म का उपदेश नहीं किया जा सकता । कल्पित नाम, रूप और कर्म के द्वारा "ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दस्वरूप है" "विज्ञानघन ही परमात्मा है" इत्यादि शब्दों से ब्रह्म का ही उपदेश किया जाता है । किन्तु जिस समय सब प्रकार उपाधिविशेषों से रहित चिन्मात्र का ही उपदेश करना इष्ट होता है, तब तो उमना किसी भी जात्यादिशक्ति से उपदेश करना सम्भव नहीं है । विधिमुख से उपदेश करना असंभव होने के कारण यह ही एक उपाय शेष रह जाता है कि भ्रान्ति से प्राप्त सम्बन्धप्रतिषेध द्वारा "यह नहीं है, यह नहीं है" इस प्रकार उसका निरूपण किया जाय ।

"नेति-नेति" श्रुति मे नकारद्वय का प्रयोग द्विरक्ति बल से प्राप्त सर्वविषय का निषेध करने के लिए है । जो-जो प्राप्त है, उम-उसका निषेध किया जाता है । विषयस्वरूप से प्राप्त सबका निषेध

१. भेद. समेद सम्यन्ध इति यावत् । २. मध्ये । ३. उक्तशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावात् । ४. गौरमात्रियादि गौरित्यनेन यदि नाम्ना सास्नादिमत्त्वेन रूपेण गोत्वजात्या च शब्दप्रवृत्तिर्देयता स्पन्दन इत्यनेन कर्मप्रयुक्ता पुनरुक्त इत्यनेन गुणप्रयुक्ता विपाणीत्यनेन च भेदप्रयुक्तेति द्रष्टव्यम् । ५. कल्पितेत्यर्थः । ६. चिन्मानम् । ७. शक्त्या । ८. जात्यादिना । ९. विधिमुखेन निर्देशासंभवात् । १०. विध्यनर्हते । ११. अत्रत्य तत्त्व संक्षेपज्ञातये । १२. विधिना शक्त्या वा । १३. भ्रान्तेरिति शेषः । १४. सम्यन्धः । १५. नामादेः ।

इदं च 'नकारद्वयं बोध्याव्याप्त्यर्थम् । यद्यत्प्राप्तं तत्तन्निषिध्यते ।' तथा च सत्यनिदिष्टाशङ्का ग्रहणः परिहृता भवति । 'अन्यथा हि 'नकारद्वयेन प्रकृतद्वयप्रतिषेधे यदन्यत्प्रकृतात्प्रतिषिद्धद्वयाद्ब्रह्म 'तत्र निदिष्टं' कोहशं तु खल्वित्याशङ्का न निर्वर्तिष्यते । 'तथा चानर्थकश्च स 'निर्देशः पुरुषस्य विविदिषाया अनिवर्तकत्वात् । ब्रह्म जपयिष्यामीति च 'वाक्यम्' परिसमाप्त्यर्थं स्यात् । यदा तु सर्वविधकाला 'दिविविदिषा निर्वर्तिता स्यात्सर्वो-

"एष ब्रह्म निदिदिक्षित चेदेकेनेव नञा" ५८ "कृत द्वितीयेनेत्याशङ्क्याऽह—इदं वेति । "बोध्याव्याप्तिः सर्वविषयसंग्रहस्तदर्थं नकारद्वयमित्युक्तमेव ध्यनस्ति—यद्यदिति । विषयत्वेन प्राप्तं सर्वं न ब्रह्मेत्युक्ते "सत्यविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेत्येकत्वे "शास्त्रपर्यवसानान्नराकाङ्क्ष्यं श्रोतुं सिध्यतीत्याह—तथा चेति । "इतिशब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्यात्प्रकृतमूर्तामूर्तादिरन्यत्वे" ग्रहणो नकारपर्यवसानं किमिति नेष्यते तत्राऽह—"अन्यथेति । आशङ्क्यानिवृत्त्यभावे बोधमाह—तथा चेति । अनर्थक्येति चकारेण समुद्धितं बोधान्तरमाह—ब्रह्मेति । "उक्तमर्थमन्वयमुत्तेन समर्थयते—यदा त्विति । सर्वो-

कर दिये जाने पर 'ब्रह्म का उपदेश नहीं होता' यह शङ्का निरस्त हो जाती है । द्वित्व के अङ्गीकार न करने पर वाक्यद्वयवर्ती नकारद्वय से प्रकृत मूर्त-अमूर्त रूप निषेध हो जाने पर प्रतिषिद्ध दो भिन्न पदार्थों से शून्य जो ब्रह्म है, उसका उपदेश नहीं होगा । "बह ज्ञेय या अज्ञेय, कार्य या अकार्य कैसा है" इस आक्षेप की निवृत्ति नहीं होगी । ब्रह्मोपदेशाभाव से प्रतिषेधद्वयनिर्देश भी अनर्थक हो जायगा

१ नकारद्वय बोधेति—नवीत्यस्य बोधया द्वित्वेति नेतीत्येकमेव वाक्य बोध्यावसाच्च प्राप्तस्य सर्वविषयस्य निषेधः । बोध्यावसाव्ययम् तु वाक्यद्वय भवेत्तथा च मूर्ताविद्वयस्यैव निषेधे तदतिरिक्तमेव निश्चितरसत्रातीय तदभाव एव वा ब्रह्मावगम्यतयादिदूषणम् । २ विषयत्वेन प्राप्तसर्वविषयस्येति । ३ अनिदिष्टेति—काङ्क्षमनसविषयस्यापेक्षस्य नञ्स्या निषेध तदतीत प्रत्यङ्मात्र ब्रह्मेत्थर्पादादिष्टम् निरवधिनिषेधायोगात् । तथा च तदनिदिष्टत्वाशङ्का निरस्ता भवतीत्यर्थः । ४ बोध्यावसाव्याकारे । ५ वाक्यद्वयपटनेन । ६ मूर्तामूर्तप्रतिषेधे । ७ न निदिष्टमिति—प्रतिषिद्धाभ्या मूर्तामूर्ताभ्यामन्यस्य कस्यचिद्व्यपदेशस्य तदुभयनिषेधस्य वा ब्रह्मत्वदुर्धर्पनवारणाभावात्प्रत्यक्षब्रह्मनिर्देशसम्भव इति भावः । अतः कीदृशमित्याशङ्क्यानिवर्तनमिति । ८ भवेत् । ९ ज्ञेयमज्ञेय वा कार्यमकार्य इत्येवमादि । १० ब्रह्मनिर्देशाभावम् । ११ प्रतिषेधद्वयनिर्देशः । १२ प्रतिज्ञावाक्यम् । १३ अपरिसमाप्त्यर्थमिति—परिसमाप्त प्राप्तो लब्धाश्चो यस्य तत्र स्वादित्यस्य । यदा इति नञ्कोत्प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वं न स्यात् यदा परि परितः पूर्णतया नञ् सूर्यश्च अर्थाद्विषयपरिस्तम्भात् व्याप्तं ब्रह्म अपरं यस्य सादृशं वाक्यं न स्यात् तथा च प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थानभागेतिदति यावत् । १४ आदि—देशः । १५ निषेधमुत्तेनत्वर्थः । १६ पर्यन्तं सिद्धमितिदति यावत् । १७ कृतमिति न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । १८ व्याप्तुमिच्छया हेतुभूतया । १९ सति अ इति च्छेदः । २० तात्पर्यं ब्रह्मादित्यर्थः । २१ बोध्या विना स्वयन्मत्वेनातु वाक्यद्वयमित्यभिप्रेत्य शङ्कते—इतिशब्दस्य-त्यादिना । २२ सकाशात् । २३ अन्यथेति—प्रतीकान्तरं ब्रह्मणोऽनिदिष्टत्वेन तद्विमर्शभेदस्य निर्देष्टुमशक्यत्वात् (भेदग्रहे धर्मग्रहस्य कारणत्वात्) इति भाव इति शेषो द्रष्टव्यः । २४ उक्तमर्थमिति—अन्यथा हीत्यादि भाष्येण व्यतिरेकवारोक्तम् । अद्वैतासम्भवात्पर्यवसानपुरःपरं श्रोतुं राकाङ्क्षरूपमेति नेतीति निर्देशस्य सार्थक्यरूप प्रतिज्ञावाक्यस्य परिसमाप्त्यर्थवत्त्वरूप सार्थक्यमित्यर्थः ।

पाधिनिराकरणद्वारेण तदा सैन्धवघनवदेकुरसं प्रज्ञानघनमनन्तरम् ब्राह्म सत्यस्य  
सत्यमह ब्रह्मास्मीति सर्वतो निवर्तते विविदिषाऽऽत्मन्येवावस्थिता प्रज्ञा भवति ।  
'तस्माद्वीप्सायं नेति नेतीति नकारद्वयम् । ननु महता यत्नेन परिकरबन्ध कृत्वा किं युक्तमेव निर्देष्टुं ब्रह्म । वादम् ।  
कस्मात् । न हि यस्मादिति नेति नेत्येतस्मादिति ध्यातव्यप्रकारा नकारद्वयस्य विषया

पाधिनिरासेन 'तत्र तत्र विषयवेदनेच्छा यदा निवर्तिता तदा यथोक्त प्रत्यग्ब्रह्माहमिति निश्चित्याकाङ्क्षा  
'सर्वतो व्यावर्तते' तेन निर्देशस्य साधकत्वं यदा चोक्तरीत्या ब्रह्माऽऽत्मेत्येव प्रज्ञाऽवस्थिता भवति  
तदा प्रतिज्ञावाक्यमपि 'परिसमाप्त्यर्थं स्यादिति योजना । 'वीप्सापक्षमुपसहरति—तस्मादिति ।'

'आदेशस्य प्रक्रमाननुगुणस्त्वमाशङ्क्यानन्तरवाक्येन (श) परिहरति—नन्विद्यादिना । न हीति  
प्रतीकोपादानम् । यस्मादित्यस्य हिशब्दार्थस्य तस्मादित्यनेन सबन्ध । ध्यातव्या सप्ताह्या विषयो-

क्योकि (यहाँ तो) पुरुष की जिज्ञासा ही निवृत्त नहीं होगी । 'तुम्हें मैं ब्रह्म का उपदेश कराऊँगा'  
इम प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोजन भी अधूरा रह जायगा । किन्तु जिस समय सम्पूर्ण दिशा, काल और देश-  
विषयिणी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, उस समय समस्त उपधियों के निरासमुख द्वारा 'मैं लवण के  
खेले के समान एकरस, प्रज्ञानघन, जातिव्यक्तिरहित और 'सत्य का सत्य' ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होता है,  
सब सब प्रकार से जिज्ञासा शान्त हो जाती है, बुद्धि आत्मा में ही सम्यक् स्थित हो जाती है ।  
इसलिए 'नेति-नेति' इस श्रुतिवाक्य में नकारद्वय वीप्सा के लिए ही है ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) तो फिर तात्पर्यपूर्वक महान् प्रयत्न परिकर-बन्ध करके क्या  
ब्रह्म का उपदेश करना उचित है । (सिद्धान्ती कहता है—) बहुत ठीक है । (पूर्ववादी पूछना है—)  
ऐसा क्यों है ? (सिद्धान्तवादी कहता है—) ऐसा नहीं है क्योंकि "न इति" "न इति" इस प्रकार  
'इति इति' दो शब्दों के द्वारा विषयीकर्तव्य जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी नकारद्वय के विषय होते हुए

१ जातिव्यक्तिरहितम् । २ स्वस्वाधिष्ठानम् । ३ वीप्सापक्षप्रथमतस्त्य प्रतिज्ञापरवादे समवात् ।  
४ महतीत्यादे—ब्रह्मोपदेशावायात इति शब्दाभ्यां महता प्रयत्नेन उपकरणबलाप सप्ताद्यापि नति नेतीत्येवमेव  
ब्रह्मोपदेष्टुं युक्त किं नैवयुक्तमुपक्रमविरोधादित्यर्थः । प्रयत्नमहत्त्वं तात्पर्यपूर्वकरम् । ५ नृश युक्तमित्यर्थः ।  
६ यद्यपि श्रुती 'इति न इति सङ्गदेव पठितं तथापि निषधद्वयानुवादाद्युपेक्षाद्विविधक्षित्वाऽह—इति न,  
इति न, इत्येतस्मादिति । निषधवाक्यस्योक्तं शब्दार्थमाह—इतीतीति । ७ शब्दाभ्याम् । ८ ध्यातव्येति  
—विषयीकर्तव्या यावत् पदधास्त सर्वे नकारद्वयस्य विषया सन्तो निर्दिश्यते इति कृत्वा गति नेतीत्येतस्मादि-  
र्देशादयस्परमुत्प्लुष्ट निर्देशन हि यस्मादाश्रितं तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मण इत्यर्थः । ९ प्रकारा इति—प्रक्रियत  
व्याक्रियन्ते ये ते तथा कार्यात्मानाऽखिलपदार्था इत्यर्थः । १० देशकालादौ । ११ स्वस्मात् अनात्मवर्गात्  
संबन्धा सर्वस्मिन्ना निश्चिन्नाकाङ्क्षति वाय । १२ यथोक्तानाशाननिवर्तनेन । १३ एवेन व्यपदेश्य मूर्ता-  
मूर्तपरिणामकार्यवरणसमाधानविषया प्रज्ञां व्यवच्छिन्नत । १४ सर्वानुस्यूतब्रह्मावस्थितिं यावत् । १५  
प्राप्तिके वीप्सामानाधिक्येन वाक्यद्वयत्वस्य शङ्कितत्वं सूचयन्नाह—वीप्सापक्षाभिमति । १६ आदेशत्वेन—  
नेति नेतीत्यादेशवाक्यस्येत्यर्थः । प्रश्नेत्यादि—'इह वाच ब्रह्मणो रूपे इत्युपप्रक्रमाननुगुणस्त्वमित्यर्थः । ब्रह्माति-  
रिक्तसंबन्धिपदे हि उपक्रमोक्तपदस्येत्यापि निषयादित्यर्थः ।

निदिश्यन्ते । यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इत्यन्यत्परं निर्देशनं नास्ति । तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मणः । यदुक्तं तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमित्येवंप्रकारेण सत्यस्य सत्यं तत्परं ब्रह्म । अतो युक्तमुक्तं नामधेयं ब्रह्मणो नामैव नामधेयम् । किं तत्सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति ॥ ६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य  
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

कर्तव्या ये 'प्रकारास्ते नकारद्वयस्य विषया सन्तो निदिश्यन्त' इति नेति नेत्येतस्मादित्यनेन भागेनेति योजना । इतिशब्दाभ्यां 'व्याप्त्यसत्वंप्रकारसंग्रहे दृष्टान्तमाह—यथेति । ग्रामो ग्रामो रमणीय इत्युक्ते राष्ट्रनिबिष्टरमणीयसत्वंग्रामसंग्रहवत्प्रकृतेऽपीतिशब्दाभ्यां विषयभूत'सर्वप्रकारसंग्रहे नकाराभ्यां सन्निपेक्षसिद्धिरित्यर्थः । यथोक्तान्निपेक्षरूपान्निर्देशादन्यन्निर्र्देशनं यस्माद्ब्रह्मणो न परमस्ति तस्मादि-  
त्युपसंहारः । अथेत्यादि वाक्य प्रकृतोपसंहारत्वेन व्याचष्टे—यदुक्तमित्यादिना ॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्यायस्य  
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

निदिष्ट किए जाते हैं । जिस प्रकार ग्राम-ग्राम रमणीय है, इस द्विवक्ति द्वारा सभी ग्रामों का निर्देश नहीं है, इसलिए यही ब्रह्म का निर्देश है । और जो कि 'सत्य का सत्य' (ब्रह्म वस्तु) ऐसा कहा है, यह उसकी उपनिषत् है । इस प्रकार से वह परब्रह्म 'सत्य का सत्य' है । इसलिए यह ब्रह्म का उचित ही नामधेय बतलाया जाता है । नाम ही को नामधेय कहा जाता है । वह क्या है ? 'सत्य का सत्य' है । प्राण ही सत्य हैं और यह उनका भी सत्य है ॥६॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के द्वितीय अध्याय के मूर्तामूर्तसंज्ञक तृतीय ब्राह्मण  
म शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूरा हुआ ।

१ बृ० उ० २।१।२० । २ एवमिति—यत् उक्तप्रवाराण परमायसत्य पर ब्रह्मैव अथ अतो युक्तमुक्तं ब्रह्मण उपनिषदिति उपनिषच्छब्दावमाह—नामधेयमिति । सत्यस्यनि सत्त्वर सजीव भूतभोक्ति जगत्सर्वं पञ्चगम्यगन्धवायःश्रिपधाराविभूत परमायभूत सत्य सति नेनीत्यवधारित पर ब्रह्म प्रथमान्तसत्यशब्दाय इत्युत्तायमेतदिति । ३ पदार्था । ४ अतो सङ्कटकमपि विनशावभाष्ये द्वि पठितं याजयति—इति न, इति न इति । ५ इत्येतस्मादिति—यथोक्तान्निर्देशो यद्यपि 'इति न' इत्यननेन भागेन सम्भवति तथापि इत्येतस्मादित्यस्य तावदाग्नित्वेन तदभिप्रत्यादव निर्देशकभाष्यप्रतर्जय उक्त इत्यवधेयम् । ६ निर्देशनीय । ७ भूतभूतानिदिसर्वलपदायसंग्रहः । ८ न परमस्तीति—ननु कथं ब्रह्मणो निर्देशात्तराभाषो विधिरूपस्यापि सम्वादिति चेत् सत्परत्वेन ब्रह्मणो निर्देष्टुमिष्टं तत्र यावन्तो भूतदियो निर्देशोप्यास्तेषां नेति नेतीति निरामास विधिमुख तदबोधनम् । तथा च वातिकम्—आदिदिशितमेतस्य तत्त्वं तद्वद्ब्रह्म परम् । यावन्तस्तत्र निर्देशास्तेषां सर्वे निवर्तिता ॥ २३८ ॥ इति ।

क्षेत्र नामधेय इत्यस्य सत्यमिति प्राणा न सत्यं तेषामेव सत्यमिति । अत्र वातिकायकादयो सन्ति । तथाहि—  
'मूर्तामूर्तं हि रक्षाङ्गं प्राणा सत्यास्तदात्मनः । क्षेत्रज्ञस्तदुपाधित्वात्सत्य इत्यभिधीयते ॥ अनिर्देश्यस्य निर्देश्या य भेदा वायसक्षणाः । तेषु तत्त्वास्पदं नाम परस्मिन्पुनश्चर्यते ॥ भूतमूर्तात्मकं सत्यं प्राणादे



( अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् । )

'आत्मेत्येवोपासीत । तदेवैतस्मिन्पदनीयमात्मतत्त्वं यस्मात्प्रेयः पुत्रादेरित्युप-

संबन्धाभिधत्तया वृत्तं कीर्तयति—आत्मेत्येवेति । किमित्यात्मतत्त्वमेव ज्ञातव्यं तस्माद्ऽहं—तदेवेति । इत्थं सूत्रितस्य विद्याविषयस्य वाक्यस्य व्याख्यानमेव विषयस्तत्र विद्यासाधनं साध्या मुक्तिरिति संबन्धो मुक्तिश्च कलनित्येते तदात्माननिरयादिना दृष्टिते इत्याह—इत्युपगमस्तस्येति ।

"आत्मा है, इसी रूप से ही उपासना करे; सभी अनात्मसंघात, मैं यह आत्मतत्त्व ही गवेषणीय है, क्योंकि वह पुत्रादि से भी प्रिय है" इस प्रकार जिसका व्याख्यान किया गया है; उस वाक्य के व्याख्यान में आत्मविद्या के सम्बन्ध और प्रयोजन का "(उपनिषत् से पहले यह नामरूपरसक जगत्

१. आनात्मवर्गं संवाते वा । २. सर्वस्मिन् वृ० उ० १।४।७ । ३. गवेषणीयम् । ४. वृ० उ० १।४।६ ।  
५. तस्माद्यधोक्तविद्याविषयमात्मतत्त्वमेव ज्ञातव्यमिति शेषः ।

कार्यरूपिणः । तस्याप्येतत्पर सत्य ज्योतीत्यवमारुतिम् ॥ उत्तमस्वर्गविकेण नामीया सत्यता यतः । न चाप्यसत्यता तस्मात्तेषां सत्य पर पदम् ॥ आत्मवन्तो यथा रज्ज्वा रज्जुसर्पद्वयस्तथा । आत्मवन्तो निरात्मानः प्राणाद्याः प्रत्यगात्मना ॥ यत् एवमतोऽवीक्ष्य भूतमित्तीदिवर्त्यना । सत्यव्यभिचयेयार्थं तथा द्वाप पर पदम् ॥ व्यपदेश्य-माननैकारस्य सत्यस्याऽऽख्यानमद्वयम् ॥ इष्टव्यमात्मवैवैनं सत्य पश्येययोदितम् ॥ अतोऽप्याकृतयाध्यात्म्यं व्याकृतेनोपविश्यते । सत्यस्य तत्त्वमिति तन्मात्रया व्यपदेशभाक् ॥ व्यपदेशोप नापेक्षत एव नामास्य विहितः । ननु ब्रह्माक्षरमिति व्यपदेशोऽत्र नामभिः ॥ कार्यकारणयो तद्वे तत्त्वतन्मास्वर यतः । इत्याभिधेयतांत्वमकृपा-शब्दमक्षरम् ॥ लक्ष्येष्टाव्यजस्रं वक्ति पर ब्रह्म कथयत । शब्दप्रवृत्तिहेतूनां तावत्तद्ब्रह्मण्यवतन्माह ॥ १४४-१४५ ॥ ज्योतीषो पृच्छन्तस्यसम्भार्यमाह—मूर्तेति । सद्य त्वत्कावर्वाति ध्रुवतत्त्वार्थोद्विष्टवृत्तेश्चं द्योतयति हिंस्रदः । भूतपञ्चकं तत्कार्यं तदुपाधिकं च जेतव्यं सत्यमित्यर्थः ॥ सत्त्वर सजीव सर्वं जगद्वस्तु पण्डपर्मस्तपार्थि न प्रथमार्या निवपाधिकं ब्रह्म तत्र शब्दप्रवृत्तिरिस्तरवादिषाचक्षुष लक्षणया तत्र सत्यव्यवस्थितिं प्रतिजातोऽहं—अनिर्वक्ष्येति ॥ पण्डपार्थानुवादेन विवक्षित प्रथमार्थमाह—मूर्तेति । परस्य स्वरूपण सत्यवन्मूर्तादीनामपि तद्योगात्स्वयमिदं स्वयस्य सत्यमिरजशब्दोऽहं—उच्यतेति । ब्रह्मणा तेषां लभ्यमानता न स्वातन्त्र्यगत्यदृष्टा-न्तिनाऽहं—आत्मवन्त इति । तन्नैव तेषामात्मवत्त्वे कलितमाह—यत इति । रज्जुवर्षादधिकं तत्त्व ब्रह्मणै-वाऽऽत्मत्वान्मूर्ताविरूपेण पण्डपार्थं सर्वमात्मन्य तद्द्वारा प्रथमार्थमुपलभ्यमानकाय कारणमैकार्थमाश्रित्य तद्व्याख्या-पण्डपार्थस्यापि तत्त्वस्फुटितं दृष्टिपीड्य कालसा दक्षितस्वरूपमनतिक्रम्य स्थितमेव परात्मानं प्रथमात्मन्य स्वरूपपरवर्तनं न मुमुक्षुरनुसन्ध्याविरक्षरार्थं ॥ रज्ज्वा सपदिस्तरमस्वरूपमव्यापितं ब्रह्मणा सर्वस्वाऽऽत्मवत्त्वं किं तार्थान्वया-शब्दो तत्र सत्यपदप्रवृत्तिरित्याह—अत इति । व्याकृत्याकृतयोर्व्याख्यात ब्रह्मणाध्यात्म्यत एव तद्द्वारा सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्मोन्पत यदि तेषां यापात्म्यं ब्रह्म तदा न तत्र शब्दप्रवृत्तिः स्याद्वद्वर विद्या साक्षाद्वर तत्त्वाव्य-पदेश्यत्वादित्यस्य ॥ या तर्हि ब्रह्मणि व्यपदेशो भूदित्यामद्वयाऽहं—व्यपदेशोवेति । स्यनाभिधेयं ब्रह्मणा व्यपदेशमाशङ्क्याऽहं—न स्मरिति । स्वीकृत्यात्मत्वमिति ज्ञमिति तद्वृत्ते—मन्विति । अत्रेति ब्रह्माति । कार्यकारणोपाधिकं ब्रह्मणि यतो नाम शानकाशमतो नामविवक्षणे तत्र शब्दप्रवृत्तिरिति प्रोच्यते—नावेति । द्वयविवक्षणेऽपि सत्यज्ञानाद्विषयमोषोऽतीत्याशङ्क्याऽहं—रूपेति । सोपाधिकं ब्रह्मणि वाच्यं मूर्तीमन्वाग्र पद विद्वद्वाक्यागेन शुद्धं लब्धवर्तित न तु विना लक्षणां ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिरित्यर्थः । तत्र मुमुक्षुर्यां शब्दप्रवृत्ति हेतुमाह—शब्देति । अतो लक्षणार्थं विप्रश्नम् प्रत्यग्रह्य वेदान्तप्रमाणमिति भावः ।

न्यस्तस्य वाक्यस्य 'व्याख्यानविषये' संबन्धप्रयोजने अमिहिते 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति । एवं प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्याया विषय इत्येतदुपेक्ष्य-  
स्तम् । अविद्यायाश्च विषयोऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न न वेदेत्यारम्य चातुर्वर्ण्यप्रवि-  
भागादिनिमित्तपाङ्क्तकर्मसाध्यसाधनलक्षणो बीजाङ्कुरवद् व्याकृताव्याकृतस्वभावो नाम-  
रूपकर्मत्मकः संसारश्च यं वा इदं नाम रूप कर्मयुगसहृतः 'शास्त्रीय उत्कर्षलक्षणो  
"ब्रह्मलोकान्तोऽधोभावश्च स्थावरान्तोऽशास्त्रीयः पूर्वमेव प्रदर्शितो "द्वया हेत्यादिना ।

विद्याविषयमुक्तं निगमयति—एवमिति । उक्तमर्थान्तरं स्मारयति—प्रविद्यायाश्चेति । अन्योऽसावि-  
त्याद्यारम्भाविद्याया विषयश्च संसार उपसहृतश्चयमित्यादिनेति सवन्धः । संसारमेव विशिनष्टि—  
चातुर्वर्ण्येति । चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यमिति प्रविभागादिनिमित्तं "यस्य पाङ्क्तकर्म कर्मणस्तस्य  
साध्यसाधनमित्येवमात्मक इति यावत् । "तत्त्वानादित्वं दर्शयति—बीजाङ्कुरवदिति । तमेव त्रिधा  
संक्षिपति—नामेति । "स चोत्कर्षपक्षान्यां द्विधा भिद्यते तत्रा"ऽऽद्यमुदाहरति—शास्त्रीय इति ।  
उक्तं हि संसार'रूपमात्मभावः शास्त्रीयज्ञानकर्मसम्य इत्यर्थः । द्वितीय कथयति—अधोभावश्चेति ।  
निकृष्टः संसारः "स्वाभाविकज्ञानकर्मसाध्य इत्यर्थः ।

ब्रह्मस्वरूप ही था) उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया"  
इस श्रुतिवाक्य से निरूपण किया है । इस प्रकार यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्या  
का विषय है और अविद्या का विषय है । "यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार  
जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है" इस श्रुतिवाक्य से उपपन्न करके चातुर्वर्ण्यादि विभाग  
के निमित्तभूत पाङ्क्तकर्मरूप साध्यसाधनमज्ञक, बीजाङ्कुर के समान कार्यकरणस्वरूप नामरूप-  
कर्मत्मक संसार वा "नाम, रूप और कर्म यह तीन का समुदाय है और यही त्रय है" इस श्रुतिमन्त्र से  
उपसंहार किया गया है । इसके अतिरिक्त पृथिवी से ब्रह्मलोक पयन्त शास्त्रविहित (उपास्त्यादिजन्य)  
उत्पन्न और स्थावरपयन्त शास्त्रनिषिद्ध उपासनादिजन्य अधोयति का व्याख्यान भी "प्रजापति के देव  
और असुर—ऐम दो प्रकार के पुत्र थे" इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा पहले ही प्रदर्शित कर दिया गया है ।

१. व्याख्याने इति यावत् । २ आरम्भविद्याया । ३ तदात्मानमिति—"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदिति" श्रुतिशेष आदी । अयमर्थः—अग्रे प्राक् प्रबोधादपि इदं शरीरस्य प्रभावविनाशिमूत स्थपदसदय ब्रह्मवासीत् तद्वद्ब्रह्मविद्याविशिष्टतयाऽधिपतिरस्त्वेन व्यवस्थित नासि त्वं समग्री सर्वलक्ष्यमविनिर्मुक्त चिदानन्दैकरस ब्रह्मवासीति दयानुनाचार्येण कथंचिदबोधितमात्मनामेवाह ब्रह्म प्रमानादिसाक्षि अनायायाद्यती नेतिनेत्यस्थूल-  
दिनदानमस्मीत्यवयवेद्विज्ञातवत्तस्मादेव विज्ञानात्तद्वद्ब्रह्म सर्वमभवत् । अब्रह्मात्वाव्यापारेणविद्यापगमात् तत्त्वार्थ-  
स्यासर्वत्वस्य निवृत्तौ स्वाभाविक सर्वत्व प्राप्तवदित्यर्थः । ४ वृ० उ० १।४।१० । ५ प्रदर्शितम् । ६.  
वृ० उ० १।४।१० । ७ आदिना आत्मा जगत्प्रजावित्तादिग्रहः । ८. कार्यकारणस्वरूप । ९. वृ० उ०  
१।६।१ । १० यास्त्रविहितोपास्त्यादिजन्य । ११. श्रुतिः । १२ नियदोपासनादिजन्य । १३.  
वृ० उ० १।३।१ । १४ यथोक्तकर्मण साध्य प्रयोज्य साधनरूप प्रयोजकश्च संसार इत्यर्थः । १५.  
संसारस्य । १६ यथोक्तसंसारः । १७. उत्पन्नम् । १८ मनोवाक्प्राणास्यो हिरण्यगर्भमावस्थानात्म-  
वम् । १९ अशास्त्रीयत्वम् । नियदेति यावत् ।

‘एतस्मादविद्या’ विषयो द्विरुक्तस्य प्रत्यगात्मविषयब्रह्मविद्यायामधिकारः कथं-  
चिदपि स्यादिति तृतीयेऽध्याय उपसंहृतं समस्तोऽविद्याविषयः । ‘चतुर्थे तु ब्रह्मविद्या-  
विषय प्रत्यगात्मानं ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति’ च प्रस्तुत्य तद्ब्रह्मकमद्वयं  
‘सर्वविशेषशून्य क्रियाकारकफलस्वभावसत्यशब्दवाच्याशेषभूतधर्मप्रतिषेधद्वारेण’ नेति  
नेतीति ज्ञापितम् ।

❧ “अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन सन्यासो विधित्सितः” । जायापुत्रवित्ता” विलक्षण

किमित्यविद्याविषयो व्याख्यातो न हि “स” पुरुषस्योपयुज्यते तत्राऽऽह—एतस्मादिति ।  
प्रत्यगात्मन विषयस्तस्मिन्मा ब्रह्मेति विद्या तस्यामिति यावत् । ‘तार्तीयमनूय चातुर्यिकमर्थं कथयति  
—चतुर्थे त्विति ।

एव “वृत्तमनूयोत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—अस्या इति । किमिति सन्यासो विधित्स्यते कर्मणं

इस अविद्या के काय ससार से विरक्त पुरुष का प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्या में अधिकार किस  
प्रकार हो, इसलिए ब्राह्मणक्रम से तृतीय अध्याय में ही अविद्या के समस्त विषयों का उपसंहार कर  
लिया गया है । चतुर्थ (उपनिषत्क्रम से प्रकृत द्वितीय) अध्याय में ब्रह्मविद्या के विषयभूत प्रत्यगात्मा का  
‘अव मे तुभु ब्रह्म का व्याख्यान करूँ’ तथा ‘मै तुभु ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा इन दोनों श्रुतिवाक्यों  
से उपक्रम करके क्रियाकारकफलस्वभाव, सत्यशब्दवाच्य भस्मस्त जीवधर्मों के प्रतिषेध मार्ग से  
निर्धर्मक, एक और अद्वय उस ब्रह्म का ‘नेति नेति’ इस श्रुतिवाक्य से ज्ञान कराया गया है ।

प्रकृत ब्रह्मविद्या का अङ्गत्वरूप से सन्यास इस ब्राह्मण में विधान करना इष्ट है । जाया, पुन

१ अविद्याकार्यात् । २ यथोक्तमसायात् । ३ उपनिषदि प्रथमे । ४ वृ० उ० द्वितीये प्रकृते एव । ५  
वृ० उ० २।१।१ । ६ वृ० उ० २।१।१५ । ७ वाक्याभ्याम् । ८ निधमकम् । ९ वृ० उ० २।३।६ ।  
१० प्रकृताया । ११ अत्र ब्राह्मण । १२ आदिना आत्मा गरीरम् । १३ ससार । १४  
मुमुक्षोरधिकारिण । १५ अयम् । १६ अतिक्रान्तमयम् ।

❧ अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन सन्यासो विधित्सित इति भाष्यम् । एतद्ब्रह्मविद्याविवरणपरान्न वातिकानि  
प्रदयते । तथाहि— नित्यवर्माद्यनुष्ठानसमुद्घाधिषण पुमान् । नि गेयकमहेतु यफलसाधयदीप्सत ॥ विरक्त  
आप्राजास्तोष्य तत्सावयसमीक्षणात् । ससारदु ससत्कारस्मतिभि प्रयभाषी ॥ उद्भूततन्निहास सत्तद्वाने  
साधनस्पृह । त्यक्तागेपैषण क्षोत्र प्रत्यग्याथात्म्यविदच्य ॥ धनुवत्तत्तयसबोधध्वस्तससारकारण ।  
व्याविद्धाशेषमसारो विमुक्तो ना विमुच्यते ॥ यावन्तिचिदविद्याया कार्य वैराग्यकारणम् । तत्सायासो विरक्त-  
त्वात्स्वत एव न शस्तत ॥ ब्रह्मायाथात्म्यविज्ञानमाधनत्व विनाऽऽप्तमात् । सन्यासस्य न विज्ञात तन्नास्त्रणेह  
बोध्यते ॥ ब्रह्मविद्यातमुत्पानात्कायकारणलक्षणात् । व्युदाप्य नेति नेतीति पर ब्रह्म प्रदर्शितम् ॥ तत्रैतच्छब्दधते  
चोच ब्रह्मत्वासिद्धिदोषहृत् । निषिद्ध नेति नेतीति मूर्तिमूर्तिदि वस्तु यत् ॥ कि तदत्रह्मनुग सर्व कि वा  
तस्माद्विचिन्त्यत । यदि ब्रह्महानुग ब्रह्म स्यादनयात्मक तदा ॥ अभावनिष्ठ तन्नेतस्यायुस्य ब्रह्म न सिध्यति ।  
अभावस्य ततोऽन्यत्वावयवत्यतिरेकत ॥ नेतीत्यपि निषयोक्तिस्तथा सति विरध्यते । वैदित्त्व प्रयाक्षोऽय सव  
स्यातुपवन्दनम् ॥ विचिन्त्यते ब्रह्मणश्चेमेव दोषस्तथाऽपि हि । ब्रह्मत्वं ब्रह्मणो न स्याद्विद्वितीये सति वस्तुनि ॥

पादयत कर्माविद्यारविषय यस्मान्नाऽत्मप्राप्तिसाधनम् । अन्यसाधनं ह्यन्यस्मिन् फलसाधनाय प्रयुज्यमानं प्रतिकूलं भवति । न हि बुभुक्षापिपासानिवृत्त्यर्थं धावनं गमनं वा साधनम् ।

विद्यालाभादित्यांशद्वयाऽऽह—जायति । अविद्याया 'विषय एव विषयो यस्येति विग्रहः । तस्मात्संन्यासो विधिस्तित इति पूर्वेषु सबन्धः । ननु प्रकृत कर्माविद्याविषयमपि किमित्यात्मज्ञानं तादर्थ्यमनानुष्ठेयमानं 'नोपनयति तत्राऽऽह—अन्येति । 'तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टमिति—न हीति । पादकस्य

धनं और शरीरलक्षण पादककर्म अविद्या का विषय है क्योंकि वह आत्मप्राप्ति का साधन नहीं है । किसी अन्यफल की सिद्धि के लिए किसी अन्य साधन का प्रयोग करना विपरीत ही हो जाता है । भूख और व्यास मिटाने के लिए दौड़ना अथवा चलना साधन नहीं हो सकता । पुत्रादिसाधन मनुष्यलोक,

१ कार्यम् । २ फलम् । ३ आत्मज्ञानार्थमिति यावत् । ४ जननीत्यर्थः । ५ प्रतिकूलत्वमेव ।

वृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मत्वमनुते । एतच्च दुर्लभं तस्य द्वितीयं सति साधनम् ॥ अथाब्रह्मारमकं वस्तु जगन्धावेदब्रह्म तद्वदेत् । प्रतीचो ब्रह्मणाऽतत्वाद्वा मोक्षो नापि सगृते ॥ ससारिणो न चरेत् ससार्यैव प्रसज्यते । नाऽऽप्नोति ब्रह्मता साक्षात्सर्वं ससारिवस्तुषु ॥ ससारे चापि जगदस्मिन् ब्रह्मणा निहिते सति । श्रुतेऽपि ब्रह्मविद्यानात्सर्वं स्युःपुन्यं चना । अन्वयादिनिपद्याय सब्रह्मत्वेति वाक्यतः । मैत्रेयीस्यादिको ग्रन्थस्तस्मादादरस्यते ५८ ॥ सर्वाब्रह्मनिपद्येन तदर्थो वेह निश्चितः । तस्य ससिद्धिविषयकैकात्म्यमनुनीष्यते ॥ नेतीति ब्रह्मणोज्यत्र मूर्तामूर्तस्यैवस्थितौ । प्रसज्यते साक्ष्यमिदं सत्त्वमात्रेति चाप्यते ॥ सत्यपि ब्रह्मविद्ये मासत्यवर्तणो यति । सुतिष्ठामिति वेहोक्तं सत्यासेन समुच्चयः ॥ निरस्तातिशयज्ञानो भावबल्यो यतो गृही । कैवल्याश्रममास्थाय प्राप तद्विष्णव पदम् ॥ एतान् एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् । त्यजतेव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुं प्रत्यक्पर पदम् ॥ २-२३ ॥ "ब्रह्मचर्याद्विद्वद्ब्रह्मचर्यं वनान्वापि विधीयते । नि शेषकमसंयासो यतोऽतो नर्णयद्वता ॥ श्रुत्या जाबाल-द्यालयां तपोचानधिकारिणाम् । सयासस्य विद्यानाञ्च कार्योऽतोऽतो मुमुक्षुभिः ॥ मरणाकादिकामाना मुनोऽप्येतादि साधनम् । तेभ्यो श्रुत्यतिचित्तानां सयासस्त्वत्तमकामिनाम् ॥ इममर्थं श्रुतिर्वैति सर्वकर्मानपेक्षिणी । प्रजादिना करिष्याम किं तत्फलवितृण्यत ॥ उत्पत्त्यादिविक्रदोऽप्यं वाको येयामकर्मजः । मोहमात्रान्ताद्यत्वा-ज्ज्ञानमात्रमपेक्षते ॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगा ज्ञान सन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सयसेहि बुद्धिमान् ॥ भावितं कर्णश्रवणं बहुससारयानिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे । तस्मासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टापस्य विपश्चितः । निष्वाश्रमेषु कोऽर्थो भवत्यरमणीयतः ॥ २७-३४ ॥ 'मुमुक्षापता वा प्राप्नुको ब्रह्मोऽत्यस्य सदाहता । प्रतीच्यपाऽतमबन्धस्य मुमुक्षां ब्रह्मणीयत ॥ ततस्तदेतदिति च ब्रह्मात्मपदवाच्ययो । सधुवाण्डावन्सर्वत्र वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥ प्रत्यक्षापात्मविज्ञानजं मनस्तं ध्रुतिं स्वयम् । निषित्स्नहीह सत्यास मैत्रेयीति प्रवर्तते ॥ ३६-३८ ॥ मुक्तिहेतुत्वेन प्रस्तुतविद्याज्ञानया भयामविषयानाद द्राह्मणमिति सबन्धं विन्मुक्तानां मुक्तिसिद्धौ क्रमं वदन्निहामुत्र वास्तुतस्तित्यादिकमफलं चित्तशुद्धिरित्याह—नित्यति । शुद्धिफलं मसारागारताहटिरित्याह—नि शेषति । सतः शुद्धिरिति यावत् ॥ ससारदोषहटिफलमाह—विरक्त इति । वैराग्यफलं मसारजिहासा तज्जमहेतुत्ति-पूर्वमाह—ससारेति ॥ उत्पन्नससारजिहासाकार्यमाह—तद्वान् इति । आत्यन्तिकवचनस्तो ह्यु जिज्ञासमानस्याभ्यासादापाठमाऽऽश्रमज्ञानं तदुपायं श्रुत्वा तच्छेषत्वेन पुत्राद्येवप्राप्तयं त्यजतीत्याह—त्यजति । विविदिषा-सयासान्ताम्भकदुन्दितश्रवणादिफलमाह—अयति ॥ तत्त्वज्ञानफलमाह—यस्त्विति । कारणध्वस्त्या

मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाधनत्वेन हि पुत्रादिसाधनानि श्रुतानि नाऽऽत्मप्राप्तिसाधन-  
त्वेन । विशेषितत्वाच्च । न च ब्रह्मविदो विहितानि काम्यत्वश्रवणादेतावान्वै काम-

कर्मणोऽन्यसाधनत्वमेव कथमधिगतमित्याशङ्क्याऽऽह—मनुष्येति । सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणां व जयः  
कर्मणा पितृलोको विद्या देवलोक इति विशेषितत्वम् । श्रुतत्वमेव विशेषितत्वोक्तिद्वारा स्फुटीकृतमिति  
चकारेण द्योत्यते । 'ननु ब्रह्मविद्या स्वफले विहितं कमपि सते श्रौतसाधनत्वा' 'दर्शादिपत्त्याच्च' समुच्च-

पितृलोक और देवलोक की प्राप्ति के साधनरूप से सुने गए हैं, आत्मप्राप्ति के साधनरूप से नहीं सुने  
गये । पुत्रादिको का मनुष्यलोकादि फल में विनियोग हो जाने से ऐसा होता है । विहित कर्मों के  
काम्यत्वविषयक श्रवण करने पर प्रसिद्ध, ज्ञाया, पुत्र, वित्तवर्जसञ्ज्ञक कामना किये जाने वाले विषय

१. वृ० उ० १।४।१६ । २. पुत्रादीनां मनुष्यलोकादीं फले विनिमुक्तत्वाच्चेत्यर्थः । ३. कर्माणि । ४.  
कर्मणा कामनाविषयश्रवणात् । ५. प्रसिद्धज्ञायापुत्रवित्तवर्जसञ्ज्ञकम् । ६ वृ० उ० १।४।१७ । ७.  
काममित्यर्थो विषयः । ८ वृ० उ० १।४।१६ । ९. सन्यासमनिष्ठं समुच्चयवादी शङ्कते—नमिति ।  
१०. तेषां हि साङ्गानामेव फलजनकत्वमिति तानि प्रयाजादिकमङ्गकमपि सन्ते । ११. विद्याया, स्वफलोत्पादने  
। कमपि सत्वे सति ।

काम्यत्वस्तिमाह—व्याविदेति । आरम्भ स्वतो मुक्तस्य कुतः सा हेतुधीनेत्याशङ्क्याऽज्ञानाद्बन्धवज्ज्ञानाद्बुद्धस्य  
सकार्याज्ञानध्वस्तौ मोक्षचर्यते ब्रह्मविदानोतीत्यादावित्याह—विमुक्त इति । ज्ञानाङ्गत्वेनोक्तमन्यासस्य वैराग्यादेव  
प्राप्तेन तद्विषयं ब्राह्मणमारम्भमित्याशङ्क्य सन्यासस्वरूपे विद्यानर्पणस्य ज्ञानाङ्गत्वे हेति विवरण्याऽऽह—  
मङ्गी करोति—यावदिति । तस्य तत्कारणस्य बुद्धबहुलत्वादेवधेयम् ॥ द्वितीयं दूषयति—ब्रह्मेति । इहेति  
वैदिकपक्षोक्तिः ॥ सन्यासस्य ज्ञानसाधनत्वोक्त्यर्थं ब्राह्मणमिति भाष्योक्तमर्थमुक्त्वाऽप्यन्तरं वक्तुमनन्तरं  
ब्राह्मणोक्तमनुवदति—ब्रह्मविदेति ॥ उत्तरब्राह्मणापोष चोद्यमाह—तत्रेति । तस्य निरस्यतामाह—ब्रह्मेति ।  
आद्यमेव विशदयितुं विकल्पविषयमाह—निषिद्धमिति ॥ तत्किं ब्रह्मणोऽभिन्नं विद्याभावनिष्ठमपि भिन्नमिति  
विवक्षयति—वि तदिति । अभेदपक्षमनुभाष्य दूषयति—यदीति ॥ अभावनिष्ठत्वपक्षमनूच निरस्यति—  
अभावेति । कुतो मुक्त्वा ब्रह्मनिष्ठस्तथाऽऽह—अभावस्येति । मूर्तादेरभावनिष्ठत्वे तस्य ब्रह्मणोऽपरममन्यत्व  
वाऽऽद्यं तस्य तेन सयोगवियोगयोर्भावेऽतसिद्धेर्भूत्यब्रह्मनिष्ठिरित्यर्थः ॥ द्वितीये निषेधोक्तिरपि भाष्यब्रह्म-  
भावादित्याह—नैतीत्यपीति । वदमानलोपसमुच्चयार्थोऽपि सत्त्वं । ब्रह्मभावे सर्वोपनिषद्वारम्भवैयर्थ्यं द्योयान्तरमाह  
—वैदिरस्येति ॥ भेदपक्षमनूच प्रत्याह—विविच्यत इति । तमेव प्रवदयति—ब्रह्मत्वमिति ॥ तस्यपि द्वितीये  
स्तत्किं न स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मलक्षणमाह—अव्यावृत्तेति । द्वितीयं मर्यादीयं तदात्र ब्रह्मणि न स्वात्तत्राऽऽ-  
—एतच्चेति ॥ सदपि द्वितीयमुक्तत्वात् ब्रह्मोक्तमप्यत्र स्यादित्याह—अथेति । ब्रह्म द्वितीयमुपसहस्यता  
णीयमुपसहस्यति न वा नाऽऽह इत्याह—प्रतीच इति ॥ कल्पान्तरमनुवदति—समाश्रित इति, । ते ब्रह्मणोऽभिन्ना  
भिन्ना हेति विवरण्याऽऽह निराह—समाश्रितेति । ब्रह्मेति शेषः । भेदपक्ष निरस्त्यभि-नाऽऽज्ञोतीति । समाश्रितब्रह्मणो-  
रभेदेऽपि न ब्रह्मणः समाश्रितस्य तेन प्रस्तत्त्वादित्याशङ्क्यातिप्रमञ्जमाह—समाश्रितेति ॥ एतदुत्तरत्वेन  
ब्राह्मणमप्यतारयति—अन्यथादीति । अन्यव्यतिरेकभावपरिहाराय भावमात्रेण भावभावेऽप्यहमात्रं अगदिनि  
वक्तुमुत्तरो ग्रन्थो ग्रन्थादारभ्यते तस्मात्तत्त्वोक्तयोगप्रसिद्धिर्भवति ॥ धोद्योत्तरत्वेन ब्राह्मणमन्यतामप्यन्तरमाह—  
वक्तुमुत्तरो ग्रन्थो ग्रन्थादारभ्यते तस्मात्तत्त्वोक्तयोगप्रसिद्धिर्भवति ॥ धोद्योत्तरत्वेन ब्राह्मणमन्यतामप्यन्तरमाह—  
सर्वेति । इहेत्यनन्तरब्राह्मणमुक्तम् । मूर्ताघनात्मनिरासेन तदर्थो निर्धारितस्तस्य स्वमर्थेनैव मुक्तत्वात्स्वमेव  
निर्धार्यते इत्यर्थः ॥ प्रकरान्तरेण ब्राह्मणमुत्थापयति—नेत्यादिना । निषेधोक्तौ ब्रह्मणोऽन्यत्र द्वैतसंभवाभावात्

इति । ब्रह्मविदश्चाऽऽप्तकामत्वादाप्तकामस्य कामानुपपत्तेः । 'येषां नोऽयमात्माऽयं' लोक  
इति च श्रुतेः ।

यान्न कर्मसंन्याससिद्धिरत आह—न चेति । कर्मणा 'काम्यत्वेऽपि ब्रह्मविदस्तानि किं तृप्त्युरित्या-  
द्याङ्कपाऽह—ब्रह्मविदश्चेति । इतश्च तस्य पुत्रादिसाधनानुपपत्तिरित्याह—येषामिति ।

ब्रह्मवेत्ता के लिए नहीं हैं क्योंकि ब्रह्मवेत्ता आप्तकाम होता है और आप्तकाम को कोई कामना नहीं  
होती । " (उनका निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है) जिन हम मोक्षाभिलाषियों को, यह स्वयं-  
प्रकाश आत्मलोक प्राप्त करना ही इष्ट है" इत्यादि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण है ।

कुछ दार्शनिक तो ब्रह्मज्ञानी वा एषणानय से सम्बन्ध होना बतलते हैं । उन्होंने बृहदारण्यक  
उपनिषत् नहीं सुना । पुत्रादि एषणार्थ तो भविद्वान् को ही होती है । विद्या के विषय में 'जिन हम

१ वृ० उ० ४।४।२२ । २ स्वयंप्रकाशः ३ फलेच्छा साधनमुपसक्रामतीति ध्यायन् कामनाविषयत्वेऽपि ।

इति मतमात्राङ्क्य कल्पितस्य सर्वस्याऽऽत्ममात्रस्य वक्तुमन्तराद्वाह्यमित्यर्थः ॥ तस्यार्थान्तरमाह—सत्यपीति ।  
सत्यासत्य सत्यज्ञानाद्भूतस्यापनायाऽऽस्मिन् प्राप्नुक्तोऽपुना ज्ञानस्य तेन समुच्चयविधानात्तेति भेदः ॥ ज्ञाने सत्यपि  
सत्यासामावादमुक्तेरदृष्टेर्न मुक्ती समुच्चयस्तथाऽह—निरस्तेति । अतः सत्यासतानभेदोक्तो मुक्ती समुच्चय इति  
शेषः ॥ तस्मिन्मुचितविधौ मुक्तिहेतुत्वे न केवलं लिङ्गमेव मानं किन्तु स्मृतिरपीत्याह—स्याग इति । तर्हि स्यागस्त्वैव  
मुक्तिहेतुता न तस्मिन्मुचितज्ञानस्यस्याङ्कपाऽह—त्यजतेति ॥ श्रद्धापाकरणश्रुतिस्मृतिविरोधात्सत्यासायो  
कुतस्तस्मिन्मुचितसिद्धिरित्याद्याङ्कपाऽह—ब्रह्मपर्याय इति । न विधिविरोधेऽर्थवादश्रुतिस्मृत्यो स्वार्थं मानतेति  
सबन्धग्रन्थे साधितमिति भावः । अथ जाबालश्रुती कर्मानविष्टतान्यादिविषय सत्यासत्येति । यथाऽह—'तमैव  
शक्यते वक्तुं येऽप्यष्टमहादमो नराः' । नृहस्यत्व न शक्यं न कर्तुं तेषामयं विधिः ॥ नैष्ठिकब्रह्मपर्यं वा  
परिप्राज्जनात्सिद्धिः वा । तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनाऽऽदावतदुच्यते' ॥ इति तत्राऽह—सद्यचेति । अथ पुनरुच्यती  
वेत्यादिना पृथग्जघिष्टज्ञानं सत्यासकिधानात्पुनर्मधिकृतविषयमेवेति भावः । श्रृणुस्त्वाद्यविरोधे फलितमाह—  
कार्यं इति ॥ श्रृणुप्रमाणविरोधेऽपि मोक्षकज्ञानाङ्गत्वेन सत्यासो न कार्यं श्रुतादिसाधनान्तस्मिन्मुचितज्ञानाद्वा  
तत्तिष्ठेदित्याद्याङ्कपाऽह—नरेति ॥ पुत्रादे स्वतन्त्रस्य परतन्त्रस्य वा न मुक्तिहेतुत्वेत्यत्र श्रुतिमाह—इममिति ।  
पुत्रादिना मनुष्यलोकादिसिद्धिरित्यादाक्षेपाद्यनुपपत्तिरित्याद्याङ्कपाऽह—तत्पत्तेति ॥ तद्वैतृष्ण्ये हेतुमाह—  
उत्पत्त्यादीति । ते अथ तत्फलवितृष्ण्य इति सबन्धः । मोक्षं श्रुताद्यनपेक्षस्यैकिकमपेक्षं भवति तत्राऽह—  
मोहेति ॥ पुत्रादेरन्यत्र विनियुक्तवाक्यैरेवस्य समुच्चितस्य वा मुक्तिहेतुत्वाद्योगाज्ज्ञानस्यैव तदेतदुत्पादकत्वेन  
सत्यासविधिरित्युक्तं सप्रति तस्य ज्ञानहेतुत्वे स्मृतिमाह—प्रवृत्तीति ॥ न भ्रमस्यासविषयमिदं वाक्यमित्यादा-  
ङ्कपाऽह—भावितेति ॥ ब्रह्मपर्यायैव प्रवृत्तितस्यापि पुनरिच्छया गार्हस्थ्येनो प्रवृत्तिः, स्यादित्याद्याङ्कपाऽह—  
तमिति ॥ ज्ञानस्य स्वस्यै फले शोषकारित्वेन सत्यास विधातुं ब्राह्मणमित्युक्त्वाऽर्थान्तरविवक्षया पूर्वब्राह्मणार्थ-  
मनुवदति—मुख्येति । तदर्थस्य स्वमर्थपर्यन्तता विहितेत्यर्थः । यदवग्राह्यं ब्राह्मणार्थं सक्षिपति—अथेति ।  
स्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्तताज्ज्ञानसमुच्चय इत्यर्थः ॥ ब्राह्मणद्वयं पदार्थोपक्षेपं चेदावपार्थस्येति चेन्नोच्यत इत्याद्याङ्क्य  
मपुत्राद्वागनेत्याह—तत इति । तदेतद्ब्रह्मापूर्वमित्यादिना वाक्येनेति सबन्धः । ब्रह्मादिपदवाक्ययोस्तद्द्वारा  
संशययोरिति यावत् । ममुकाण्डार्थसर्वस्वमर्थमित्यर्थः ॥ ब्राह्मणार्थमनेकयोक्तव्या सत्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वपक्षे ब्राह्म-  
णमवतार्यनुसंगतिपत्यर्थमाख्याविनामुत्पापयति—प्रत्ययिति । सत्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वपरामर्शोऽत्र शब्दः ।  
इहेति विरक्तविनाशमुक्तिः ॥

केचित्तु ब्रह्मावदाप्यवस्थासबन्धं वर्णयन्ति तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम् । पुत्राद्येपर्या-  
नामविद्वद्विषयत्वम् । विद्याविषये च 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यतः किं प्रजया करि-  
ष्याम इत्येष विभागस्तेन श्रुतः, श्रुत्या कृतः । सर्वक्रियाकारकफलोपगर्दस्वरूपायां च  
विद्यायां सत्यां सह कार्येणाविद्याया अनुपपन्निलक्षणश्च विरोधस्तेन विज्ञातो व्यासवाक्य  
च तेन श्रुतम् । कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याविद्यात्मकयोः प्रतिकूलवर्तनं विरोधः ।

“यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।

‘कां गतिं विद्याया यान्ति कां च न गच्छन्ति कर्मणा ॥

एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्ब्रवान्प्रब्रवीतु मे ।

‘एतावन्योग्यवैरूप्ये वर्तते प्रतिकूलतः” ॥

समुच्चयपक्षमनुभाष्य श्रुतिविरोधेन दूषयति—केचित्तिवति । श्रुतिविरोधमेव स्फोरयति—  
पुत्रादीति । अविद्वद्विषयत्वं श्रुतं तत्प्रकरणे तेषामुपदेशादात्त शेषः । किं प्रजया करिष्याम इत्यत  
आरभ्य येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति च 'विद्याविषये श्रुनमिति योजना । एष विभागः श्रुत्या  
कृतस्तेः समुच्चयवादिभिर्न श्रुत इति संगमः । न केवलं श्रुतिविरोधादेव समुच्चयासिद्धिः किंतु  
युक्तिविरोधाच्चेत्याह—सर्वेति । द्वितीयश्रकारोऽवधारणार्थं नञा सङ्गम्यते । स्मृतिविरोधाच्च  
समुच्चयासिद्धिरित्याह—व्याप्तेति । 'तत्र प्रथमं पूर्वोक्तं युक्तिविरोध स्फुटयति—कमेति । प्रतिकूलवर्तनं  
निवर्त्यनिवर्तकभावः । संप्रति स्मृतिविरोधं स्फोरयति—यदिदमिति । प्रसिद्धं वेदवचनं कुरु कर्मैत्यज्ञं  
प्रति यद्विदमुपलभ्यते विधेकिन् प्रति च त्यजेति 'तत्र कां गतिमित्यादिः शिष्यस्य व्यासं प्रति प्रश्न-  
स्तस्य धोजमाह—एताविति । विद्याकर्मव्यापुपायी परस्परविरुद्धत्वेन वर्तते साभिमानत्यनिरभिमान-  
त्वाविपुल्लकारेण प्रातिकूल्यात्समुच्चयानुपपत्त्यर्थोक्तस्य प्रश्नस्य सावकाशत्वमित्यर्थः । इत्येवं पृष्टव्य

गोक्षाभिलाषी को यह स्वयंप्रकाश आत्मलोक प्राप्त करना ही अभीष्ट है”, इसलिए “हमे प्रजा से क्या  
लेना है” इत्यादि श्रुतियो द्वारा किया हुआ विभाग उन्होंने नहीं सुना । इसके प्रतिरिक्त “समस्त  
क्रिया, कारक और फल का निरास करनेवाली विद्या के होने पर वहाँ कार्यसहित अविद्या का रहना  
असंभव है” यह विरोध भी वे लोग नहीं जानते, न ही उन्होंने भगवान् व्यास के (श्रुति-प्रतिकूल)  
वचनों को भी सुना है । कर्म और विद्या का स्वरूप अज्ञानात्मक और ज्ञानात्मक होने से उनमें परस्पर  
विरोध है क्योंकि उनमें विपरीतस्वभाव है ।

(मत्र स्मृतिविरोध का प्रतिपादन करते हैं—) “ऐसे जो वेद के बावजूद है कि कर्म का अनुष्ठान  
करो और कर्म का त्याग करो तो अधिकारी विद्या से किस फल को प्राप्त करते हैं और अविद्या के  
द्वारा (यानी कर्मानुष्ठान के द्वारा) किस फल को फल प्राप्त करते हैं ? इसका रहस्य मैं  
सुनना चाहता हूँ । आप मुझे इसका उपदेश करें क्योंकि कर्मानुष्ठान और ज्ञान (कर्मत्याग) परस्पर  
विरुद्ध स्वभाव वाले और प्रतिकूल आचरण (फल) वाले हैं” ।

इत्येवं पृष्टस्य प्रतिवचनेन—

“कर्मणा बध्यते जन्तुविद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः” ॥

इत्येवमादिविरोधः प्रदर्शितः ।

‘तस्मान्न साधनान्तरसहिता ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनं सर्वविरोधात्साधननिरपेक्षं पुरुषार्थसाधनमिति’ पारिवाज्यं ‘सर्वसाधनसंन्यासलक्षणम्’ इत्येन विधित्स्यते । ‘एतावदेवामृतत्वसाधनमित्यवधारणा’ एतत्प्रसमाप्तौ लिङ्गाच्च कर्मां सन्याजवल्क्यः प्रवयाजेति ।

भगवतो ध्यासस्येति शेषः । विरोधो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्येति ‘वक्तव्यम्’ ।

समुच्चयानुपपत्तिमुपसहरति—तस्मादिति । कथं तर्हि ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनमिति तत्राऽऽह—सर्वविरोधादिति । सर्वस्य क्रियाकारकमेवात्मकस्य द्वैतेन्द्रजालस्य ब्रह्मविद्या विरोधादिति यावत् । एकाकिनी ब्रह्मविद्या मुक्तिहेतुरिति स्थिते फलितमाह—इति पारिवाज्यमिति । न केवलं संन्यासस्य श्रवणादियोक्त्यहट्टद्वारेण विद्यापरिपाकाङ्गत्वं श्रुत्यादिवशादवगम्यते किं तु लिङ्गादप्येतावदेवेति । तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—पठसमाप्ताविति । एतच्चोभयतः संबध्यते । यदि कर्ममहितं ज्ञानं मुक्तिहेतुस्तदा किमिति कर्मणः सतो याजवल्क्यस्य पारिवाज्यमुच्यते ‘तस्मा’ सत्याग-  
“स्तदङ्गत्वेन विधिरिक्त इत्यर्थः ।

इस प्रकार किये गये प्रश्न का समाधान देते हुए—

“जीव कर्मानुष्ठान के द्वारा बन्धन में फँस जाता है और ज्ञान द्वारा मोक्षलाभ करता है । इसलिए तत्त्वद्रष्टा महात्मा कर्म का अनुष्ठान नहीं करते” ।

इस प्रकार प्रवृत्तिलक्षण कर्म और निवृत्तिलक्षण ज्ञान में परस्पर विरोध प्रदर्शित किया है ।

इसलिए (ज्ञान और कर्म का समुच्चय सभव न होने के कारण) कर्मात्म्य साधनान्तरसहित ब्रह्मविद्या मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन नहीं हो सकती, बल्कि सबसे विरोध रहने के कारण (ब्रह्मविद्या) साधननिरपेक्ष ही पुरुषार्थसिद्धि सम्पादित करती है, इस कारण से ब्रह्मविद्या के अङ्गत्वरूप से कर्मादि निखिल साधनो के त्यागात्मक संन्यास का विधान करना इष्ट है । (संन्यासपूर्वक “नेति-नेति” रूप परमात्मज्ञान) इतना मात्र ही अमृतत्व का साधन है—ऐसा निश्चय बृहदारण्यक उपनिषत्

१ इत्येवमादिविरोध इत्यत्रेत्यादिशब्देन “प्रवृत्तिलक्षणी योगो ज्ञान सन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञान पुरस्कृत्य सत्यतोहि बुद्धिमान् ॥ भावितं करणैश्चायं बहुसंसारयोगिनिपु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ समागच्छ तु मुक्तस्य दृष्टावश्यं विपरिचित । त्रिष्वध्यायेषु वो न्वर्धो भवेत्परमभोग्यतः” ॥ वा० ३२-३४ ॥ इत्यादिस्मृतयो गृह्यन्ते । योग वमयोग । पुरस्कृत्य उद्दिश्य ॥ भावितं सञ्जितं । मोक्ष सन्यासम् । प्रथमाश्रमे तदवसरे । दृष्टार्थस्य अपरोक्षीकृतात्मतत्त्वस्य । ननु सत्यस्यापि प्राच्यायमान्गुह्येयात्पुनः कर्मार्थमित्यासाङ्ग्याऽऽह—निषिद्धि । २ ज्ञानकर्मणो समुच्चयवासप्रवात् । ३ कर्मात्म्यसाधनान्तरत्वार्थं । ४ हेतो । ५ कर्माध्यायसाधनत्वमात्मकम् । ६ ब्रह्मविद्याङ्गत्वनेत्यर्थः । ७ सत्यास नेति नेतीत्याद्युक्त्यपमात्मज्ञान-मेत्यर्थः । ८ वृ० ११, ४० ४।१।११ । ९ इति, शेष इति यावत् । १० पारिवाज्योक्ते । ११ कर्मत्यागेति भावः । १२ ज्ञानाङ्गत्वेन ।



मैत्रेयं च 'कर्मसाधनरहितायै साधनत्वेनामृतत्वस्य ब्रह्मविद्योपदेशाद्वित्तनिन्दा-  
वचनाच्च । यदि ह्यमृतत्वसाधनं कर्म स्याद्वित्तसाध्यं पाद्वक्तं कर्म'ति तन्नित्यवचेनमनिष्टं  
स्यात् । यदि तु परित्यज्याजयिषितं कर्म ततो युक्ता तत्साधननिन्दा । कर्माधिकार-  
निमित्तवर्णाश्रमादिप्रत्ययोपमदाच्च ब्रह्म तं 'परादात्सत्त्वं तं परादादित्यादिना' । न हि  
'ब्रह्मसत्त्वाद्यात्मप्रत्ययोपमदं ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यं क्षत्रियेणेनेदं कर्तव्यमिति 'विषयाभावा-  
दात्मानं लभते विधिः । यस्यैव पुरुषस्योपमदितः प्रत्ययो ब्रह्मसत्त्वाद्यात्मविषयस्तस्य

'तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—मैत्रेयं चेति । न हि अत्रेयो भर्तरि त्यक्तकर्मणि स्थयं 'कर्माधि-  
कर्तुमर्हति पतिद्वारमन्तरेण भार्यायास्तदनधिकारात् । 'तथाच तस्य कमन्युग्यार्थं मुच्यते साधनत्वेन  
विद्योपवेशात्कर्मत्याग'स्तदङ्गत्वेन ध्वनित इत्यर्थः । तत्रैव हेतुवन्तरमाह—वित्तेति । किमहं तेन  
कुर्यामिति वित्तं निन्दते । 'अतश्च तत्साध्यं कर्म ज्ञानसहायत्वेन युक्तो नोपकरोतीत्यर्थः । 'तदेवं  
विधुणोति—यदि हीति । तन्नित्यवचनमित्यत्र तच्छब्देन वित्तमुच्यते । स्वल्पे वा कथं निन्दावचन-  
मिति तत्राऽह—यदि त्विति । किंच ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहमित्याद्यभियानस्य कर्मानुष्ठाननिमित्तस्य  
निन्दया सर्वमिदमात्मवेति प्रत्यये श्रुतेस्तात्पर्यवशनाद्विद्याङ्गत्वेन संन्यासो विधित्सित इत्याह—  
कर्माधिकारेति । ननु जायति 'विधौ कर्मानुष्ठानमशक्यमपहारयितुमत आह—न हीति । ननु  
वर्णाश्रमाभिमानवतः संन्यासोऽप्युच्यते स कथं तबभाये संभवेत्तत्राऽह—यन्मैवेति । अयंप्राप्तश्चेत्य-

पष्ठ अध्याय की समाप्ति में लिङ्ग होने से स्पष्ट होता है । सभी तो कर्मकाण्डी होते हुए भी याज्ञवल्क्य  
ने संन्यास ग्रहण कर लिया ।

इसके प्रतिरिक्त मैत्रेयी के प्रति, जो कर्मात्मक साधन से रहित थी, अमृतत्व के साधनरूप से  
ब्रह्मविद्या का उपदेश किये जाने से एव वित्तसाध्य कर्मों की निन्दा किये जाने से भी यही स्पष्ट होता  
है । क्योंकि यदि कर्मानुष्ठान ही अमृतत्व का साधन होता तो वित्त से सम्पन्न होने वाले कर्मों के लिए  
उसकी निन्दाज्ञापक श्रुतिर्वा व्यर्थ हो जाती । कर्मों में साध्यभूत वित्त की निन्दा करनी तो तभी  
उपयुक्त ठहराई जा सकती है जबकि कर्मों का (स्वरूपतः) त्याग करना ही अनिमित्त हो । इसके  
प्रतिरिक्त 'ब्राह्मणजाति उस पुरुष को परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मणजाति का  
समभक्ता है', 'क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजाति को ब्राह्मण से भिन्न समभक्ता  
है' इत्यादि श्रुतिवाक्य से कर्माधिकार के निमित्तभूत वर्णाश्रमादिप्रत्यय के प्रतिषेध हो जाने से भी  
उपरोक्त मत की पुष्टि होती है । ब्रह्मक्षत्रादि में आत्मत्व अध्यास के निवृत्त हो जाने पर 'यह ब्राह्मण

१. कर्मात्मसाधनरहितायै । २. वित्तसाध्यकर्मणि तात्पर्यम् । ३. प्रतिषेधात् । ४. शपत् । ५. वृ०  
उ० २।४।६ । ६. ब्रह्मसत्त्वादिष्वात्मत्वाध्यासनिवृत्तौ । ७. विद्योपवेशाभावात् । ८. ब्रह्मणोऽहमित्यादि ।  
९. संन्यासस्य ज्ञानपरिपाकाङ्गत्वे । १०. कर्मण्यधिकार लब्धुम् । ११. तं विना तस्यान्तर्भाविकात्तमात्रे  
च । १२. तदङ्गत्वेन । तदुक्तं नातिकसारे—'विज्ञानसाधनत्वेन मैत्रेयी वित्तमत्यजत् । तस्यायं धीसमाधाना-  
पज्ञाने स्यादपि कारिता । चतुर्थ आश्रमो नार्या नास्ति चेन्मास्तत्त्वभाष्यमी । ज्ञानाङ्गं सर्वमन्याममर्हत्येवा-  
ऽनिषेधकात्' ॥ १२-१३ ॥ इति भावः । १३. निन्दावचनादेव । १४. संग्रहवाक्यमेव । १५.  
कर्मानुष्ठानस्य ।

‘मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य’ उद्यास्यन्वा  
अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्या-  
न्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

अरी मैत्रेयी ! ऐसा याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ने अपनी भार्या से कहा—मैं अपने इस गार्हस्थ्य जीवन से ऊपर उठकर संन्यास आश्रम में जाना चाहता हूँ (अतः इस विषय में तेरी अनुमति चाहता हूँ) अपनी इस दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा भी कर देता हूँ (सत्पदचातृ में चला जाऊँगा) ॥१॥

तत्प्रत्ययसंन्यासात्तत्कार्याणां कर्मणां कर्मसाधनानां चार्थप्राप्तश्च संन्यासः । तस्मादात्म-  
ज्ञानाङ्गत्वेन संन्यासविधित्सयैवाऽऽख्यायिकेयमारम्यते ।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यो मैत्रेयी स्वभार्यामात्मन्त्रितवान्पाज्ञवल्क्यो नाम  
ऋषिः । उद्यास्यन्तूष्णं यास्यन्पारिव्राज्याख्यमाश्रमान्तरं वा अर इति संबोधनमहमस्मा-

वधारणार्थश्चकारः । ‘प्रयोजकज्ञानवतो वैषसंन्यासाभ्युपगमादविरोध इति भावः । आत्मज्ञानाङ्गत्वं  
संन्यासस्य श्रुतिस्मृतित्याद्यसिद्ध चेत्किमर्थमियमाख्यायिका प्रणीयते तत्राऽह—तस्मादिति ।  
विध्यपेक्षितार्थवादसिद्धपर्यमाख्यायिकेति भावः ।

भार्यामामन्य किं कृतवानिति तदाह—उद्यास्यन्निति । वैशब्दोऽवधारणार्थः । आश्रमान्तर

का कर्तव्य है”, “यह क्षत्रिय का कर्तव्य है” इन विधिवाक्यों में आत्मा से नियोज्य का अभाव होने से विधान की सार्थकता नहीं रह जाती । जिस पुरुष का भी “मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ” इत्यादि-  
रूप प्रत्यय निवृत्त हो गया, उसे उस प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने से स्वभावतः ही उस प्रत्यय के प्रयोज्य कार्य-कर्मों का एव कर्म के साधनो का संन्यास प्राप्त हो जाता है । इसलिए आत्मज्ञान के अङ्गत्वरूप से एव (ज्ञानसंन्याससमुच्चय होने के कारण) संन्यास का विधान करने की इच्छा से ही यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है ।

“मैत्रेयी होवाच याज्ञवल्क्य” अर्थात् याज्ञवल्क्यनामक ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को संबोधित किया । मैं यहाँ से “उद्यास्यन्” अर्थात् ऊपर के पारिव्राज्यसंज्ञक आश्रमान्तर में जाने वाला हूँ ।

१. “अपेक्षित समारोप इत्येव बाह्यगन्धे । आत्मेत्येवेति सूत्रार्थो बाह्यगन्धेऽस्मिन्नुदीक्ष्यत” ॥वा० सा० २०।४।१॥  
पुत्रार्थोऽस्मिन्कार्यरूप । २. यद्योक्तप्रत्ययप्रयोज्यानाम् । ३. संन्यासज्ञानाङ्गत्वस्य श्रुत्यादितिदत्तात् । ४.  
ज्ञानसंन्याससमुच्चयस्याप्युक्तसंज्ञानमिदम् । ५. संबोधितवान् । सति भार्यादौ अनुमतिपूर्वकमेव क्रमसंन्यासस्य  
‘श्रुतिविहितत्वाद्युक्तमामन्त्रणम् । श्रुतिश्चेत्यम्—‘भातर पितर भार्या पुत्रान् शुद्धो बन्धुनेताननुमोदयित्वा ये  
वास्यत्विज तान् सर्वान् पूर्ववदवृणीत्वा वैश्वानरीमिष्टिं कृत्वा सर्वस्व दद्यादिति” नृपीठविनाम् ॥ ६.  
प्रयोजनेति—प्रयोजकज्ञानम् आनन्दाद्वयात्यप्रतिपादकवास्यजन्यमापातज्ञानम् । तत्त्व, चाप्रामाण्यसङ्कास्पदत्वम् ।  
समायाचविरोक्तिरिति यावत् । बाह्यगन्ध प्रज्जेद्गृहादिति श्रुत्वा बाह्यगोऽहमिति प्रयोजकज्ञानवान् विधितः  
प्रज्जेत् । गतिताभिमानस्त्वर्थादित्यपि केचित् ।

सा होवाच मंत्रेयो यन्नु म इयं भगोः सर्वा

पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता

तव उस मंत्रेयी ने कहा—हे भगवन् ! यदि यह धन-धान्य से सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं-नहीं । धन से अमृतत्व

प्राप्तहंस्यात्स्थानादाश्रमादूर्ध्वं गन्तुमिच्छन्नस्मि भवामि । अतो हन्तानुमतिं प्रार्थयामि ते तव । किंचान्यत्ते तवानया द्वितीयया भार्यया कात्यायन्याऽन्तं विच्छेदं करवाणि । पति-द्वारेण युवयोर्मया संबध्यमानयोः संबन्ध आसीत्तस्य संबन्धस्य विच्छेदं करवाणि द्रव्यविभागं कृत्वा वित्तेन संविभज्य युवां गमिष्यामि ॥१॥

सैवमुक्ता होवाच यद्यदि न्विति वित्तं मे ममेयं पृथिवी भगो भगवन्सर्वा सागर-

यास्यन्नेवाहमस्मीति संबन्धः । यथोक्तेच्छानन्तरं भार्यायाः कर्तव्यं दर्शयति—अत इति । तति भार्यायां संन्यासस्य तदनुज्ञापूर्वकत्वनियमादिति भावः । कर्तव्यान्तरं कथयति—किंचेति । प्राक्पयो-विच्छेदः स्वाभाविकोऽस्ति किं तत्र कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पतिद्वारेणेति । त्वयि प्रव्रजिते स्वयमेवाऽऽनयोर्विच्छेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—द्रव्येति । वित्ते तु न लीत्वातन्व्यमिति भावः ॥ १ ॥

मंत्रेयी मौक्षमेवापेक्षमाणा भर्तारं प्रत्यानुकूल्यमात्मनो वक्षयति—सैवमिति । कर्मसाध्यस्य

“अरे” यह पद सम्बोधन के लिए प्रयुक्त है । “अहमस्मात्स्थानात्” यानी मैं इस बृहत्स्याश्रम से ऊपर अन्य आश्रम में जाने के लिए इच्छुक “अस्मि” यानी हूँ । अतः (ऊपर जाने की उत्कट इच्छा होने से) “हन्त ते” यानी तेरी अनुमति की प्रार्थना हूँ । इसके सिवा यह भी चाहता हूँ कि “अनया कात्याय-न्याऽन्तं करवाणीति” अर्थात् अपनी इस दूसरी भार्या के साथ तुम्हारा (द्रव्य) विभाजन भी करवा दूँ । सपत्नीभाव से मुझसे सम्बन्ध हुई तुम दोनों का पतिद्वार से जो सम्बन्ध था, अब द्रव्य विभाजन करके मैं उस सम्बन्ध का विच्छेद कर दूँगा । “अपनी अपनी अनुरूप वृत्ति के अनुसार विभाग करके संन्यास ग्रहण करे” इस शास्त्रीकृति से (प्रेरित होकर) धन के द्वारा तुम दोनों का विभाजन कर मैं संन्याम मार्ग में प्रवृत्त हो जाऊँगा ॥१॥

इस प्रकार बड़े जाने पर वह मंत्रेयी बोली—“यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्” यानी यदि सागर से परिवेष्टित तथा धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय, तो भी क्या मैं अमर

१. किम् । २. उदममनोत्कटेच्छायाः सत्त्वात् । ३. सपत्नीत्वरूपस्येत्यर्थः । ४. स्वान् अनुरूपामिवृत्तिभिः सविभज्य संन्यस्येदिति आश्रमं चात्र नियामकमिति भावः । ५. सागरपरिवेष्टिता । ६. यदा पत्या भार्यायां यत्कर्तव्यं तत् समतिप्रदानाख्यम् । ७. नन्वावायेव चित्तं सविभज्यापदे त्वया संन्यस्यतामित्यत्राह—वित्ते त्विति । तदुक्तं यानिके—“नि स्वा स्वी स्ववता पुसा नियुक्ता कर्मसंपदि । ग्रथि प्रव्रजिते तस्माद्युवयोर्नय-सगतिः” ॥ ४३ ॥ इति । “भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयस्ते निर्धनाः स्मृताः । यं ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तदनम्” ॥ इति स्मृतेश्च । यद्यपि ते भार्यादयः समधिगच्छन्ति सभन्ते तदपि धनं तस्यैव भवति स्वामिनः यस्यैव ते स्वभूता इत्यर्थः । नच तर्हि हिमा कर्मण्यपि निश्चयते तत्राऽह—स्ववतेति ॥

स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवो-  
पकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं<sup>१</sup> स्यादमृ-  
तत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति<sup>२</sup> वित्तेनेति ॥ २ ॥

की आशा नहीं की जा सकती है। उससे तो केवल इतना ही होगा कि जैसे विपुल भोगसामग्री से युक्त पुरुष का जीवन होता है; वैसा ही तेरा भी जीवन होगा ॥२॥

परिक्षिप्ता वित्तेन धनेन पूर्णा स्यात्कथं न कथंचनेत्याक्षेपार्थः प्रश्नार्थो वा, तेन पृथिव्यो-  
पूर्णवित्तसाध्येन कर्मणाऽग्निहोत्रादिनाऽमृता किं स्यामिति व्यवहितेन संबन्धः । प्रत्युवाच  
याज्ञवल्क्यः । कथमिति यथाक्षेपार्थमनुमोदनं नेति होवाच याज्ञवल्क्य इति । प्रश्नश्चे-  
त्प्रतिवचनार्थं नैव स्यादमृता किं तर्हि यथैव लोक उपकरणवतां साधनवतां जीवितं  
सुखोपभोगसंपन्नं तथैव तद्वदेव तव जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशा मनसाऽप्यस्ति  
वित्तेन वित्तसाध्येन कर्मणेति ॥२॥

गृहप्रासादादिविश्रित्यत्वात्पुनरपत्तिराक्षेपनिदानम् । कथंशब्दस्य प्रश्नार्थत्वपक्षे वाक्यं योजयति—तेनेति ।  
कथं तेनेत्यत्र 'कथंशब्देन किमहं तेनेत्यत्र' किञ्चिदनुपादाय वाक्यं योजनीयम् । 'वित्तसाध्यस्य  
कर्मणोऽमृतत्वसाधनत्वमात्रसिद्धौ तत्प्रकारप्रश्नस्य निरवकाशत्वादित्यर्थः । मुनिरपि भार्याहवयाभिजः  
संतुष्टः सन्नाक्षेपं प्रश्नं च प्रतिवदतीत्याह—प्रत्युवाचेति । वित्तेन मनसाऽमृतत्वाभावे तदकिञ्चित्करमनादे-  
यमित्याशाङ्क्याऽऽह—किं तर्हिनेति ॥ २ ॥

हो सकती है ? "तु" वित्तके के प्रर्थ में अवश्य है, अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकती । इस प्रकार  
'कथ'शब्द से प्रर्थ अथवा प्रश्नार्थ के लिए प्रयुक्त है । इससे सम्पूर्ण पृथिवी के वित्त से साध्य अग्नि-  
होत्रादि कर्म से क्या मैं अमर हो जाऊँगी, इसका व्यवहित पदो से सम्बन्ध है । इसका उत्तर  
याज्ञवल्क्य ने निषेध में दिया । यदि मन्त्रस्य 'कथम्' पद को प्रर्थार्थ माना जाय तब "न इति" पद से  
याज्ञवल्क्य ने अनुमोदन किया है और यदि उसे प्रश्नार्थक माना जाय तो यह प्रत्युत्तर के लिए है  
अर्थात् यदि तू उससे अमर न हो सकी तो क्या होगा । "यथैव" अर्थात् जिस प्रकार लोकव्यवहार में  
'उपकरणवताम्' यानी साधनसम्पन्न मनुष्यों का जीवन सुख के साधनभूत भोग में आसक्त रहता है,  
वैसा ही तेरा जीवन भी हो जायगा । "वित्तेन" अर्थात् धनमाध्य कर्म से अमृतत्व की आशा तो मन से

१. वित्तसाध्यकर्मणेत्यभिप्रायः । २. आक्षेपपक्षे कथंशब्दस्यार्थमाह—नेति । प्रश्ने तमाह—कथंचनेति । ३.  
सदा न इति अनुमोदनमुवाच याज्ञवल्क्य इत्यन्वयः । ४. अमृतत्वस्य त्विति—अविद्यामात्रविध्वसात्प्राप्ता-  
देयामृतं यत्, अमृतत्वस्य नाशाऽपि वित्तसाध्यन कर्मणेति पञ्चमीद्वय समानाधिकरणम् । ५. कथंशब्देनेति—  
उत्तरवाक्यानुसारेण कथंशब्दस्य स्थाने विशब्दं प्रयुज्येति यावत् । ६. अग्निमकण्डिनास्यम् । ७.  
तत्समानार्थकमुपेक्षेत्यर्थः । ८. ननु सम्भवति प्रकारार्थत्वे किमिति कथंशब्देन किञ्चिदुपादीयते तत्राऽऽह  
—वित्तसाध्यमेति ।

स होवाच मंत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं  
तेन कुर्या यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥  
स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती  
प्रियं भावस एह्यास्व व्याख्यास्यामि ते  
व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

तब उस मंत्रेयी ने कहा—जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ।  
भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, उसी का उपदेश मुझे भी करे ॥३॥

तब यह याज्ञवल्क्य बोले—धन्यवाद, अरी प्रिया ! तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस  
समय भी अनुकूल बात ही कह रही है, अतः बहुत ठीक है । आ, यहाँ पर बैठ जा, मैं तुझे अमरत्व के  
साधन की व्याख्या सुनाऊँगा । तत्पश्चात् व्याख्यान किये हुये वाक्यों के अर्थ का भलीभाँति चिन्तन  
करना अर्थात् मनन एवं निदिध्यासन करना ॥४॥

सा होवाच मंत्रेयी । एवमुक्ता प्रत्युवाच मंत्रेयी यद्येवं येनाहं नामृता स्यां किमहं  
तेन वित्तेन कुर्यां यदेव भगवान्केवलममृतत्वसाधनं वेद तदेवामृतत्वसाधनं मे मह्यं  
ब्रूहि ॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः । एवं वित्तसाध्येऽमृतत्वसाधने प्रत्याख्याते याज्ञवल्क्यः  
स्वाभिप्रायसंपत्तौ तुष्ट आह । स होवाच प्रियेष्टा बतैत्यनुकम्प्याऽऽह । अरे मंत्रेयि

वित्तस्यामृतत्वसाधनत्वाभावमधिगम्य तस्मिन्नास्था त्यक्त्वा मुक्तिसाधनमेवाऽऽत्मज्ञानमात्मार्थं  
दातुं पतिं निपुञ्जाना ब्रूते—सा हेति ॥ ४ ॥

भाषाविक्षिप्तं मोक्षोपायं विवक्षुस्तानादौ 'स्तौति'—स हेत्यादिना । वित्तेन साध्यं कर्म तस्मिन्-  
मृतत्वसाधने 'शङ्किते' किमहं तेन कुर्यामिति भाव्ययाऽपि प्रत्याख्याते सतीति यावत् । स्वाभिप्रायो न  
कर्मं मुक्तिहेतुरिति तस्य भार्याद्वाराऽपि संपत्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ ४ ॥

भी संभव नहीं है ॥२॥

“सा होवाच मंत्रेयी” अर्थात् इस प्रकार कहे जाने पर मंत्रेयी ने उत्तर दिया । यदि ऐसा है तो  
जिस धन से मैं अमृतत्वलाभ नहीं कर सकती, उसका मैं क्या करूँगी । इसलिये भगवन् ! जो कुछ  
आप केवल अमृतत्वलाभ का साधन जानते हैं, वही अमृतत्वप्राप्ति का साधन मेरे प्रति कहिये ॥३॥

“स होवाच याज्ञवल्क्यः” अर्थात् इस प्रकार वित्तसाधन कर्म अमृतत्वसाधन में पर्याप्त हैं, इस  
शङ्का का नकारात्मक उत्तर स्वयं भार्या द्वारा दिये जाने पर जो कि उसे भी प्रतिपादित करना इष्ट

१. अनुकम्प्यति—त्यबन्तन वनशब्दार्थो दक्षित । २. सत्या वैराग्य दृष्ट्वा तुष्टस्य परमुराग्रिपयास्तुति-  
रिष्टेति बोध्यम् । ३. अमृतत्वसाधनत्वेन तस्मिन्शङ्किते सतीत्यर्थः ।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः  
 प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो  
 भवति । न वा अरे जायाय कामाय जाया  
 प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया  
 भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः  
 प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया

याज्ञवल्क्य बोले—अरी मैत्रेयी ! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री को पति प्रिय होता है । वैसे ही स्त्री के प्रयोजन के लिये पति को स्त्री प्यारी नहीं होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्यारी होती है । पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे होते हैं । धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है ।

नोऽस्माकं पूर्वमपि प्रिया सती भवन्तीदानीं प्रियमेव चित्तानुकूलं भावसे । अत एहा-  
 स्स्वोपविश व्याख्यास्यामि यत्ते तवेष्टममृतत्वसाधनमात्मज्ञानं कथयिष्यामि । व्याचक्षा-  
 णस्य तु मे मम व्याख्यानं कुर्वन्तो निदिध्यासस्व वाक्यान्यर्थतो निश्चयेन 'ध्यातु-  
 मिच्छेति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्योऽमृतत्वसाधनं 'वैराग्यमुपदिदिसुर्जायापतिपुत्रादिभ्यो' विराग-

अमृतत्वसाधनमात्मज्ञानं विवक्षितं चेदात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि वक्तव्यं किमित न वा  
 अरे पत्युरित्यादि वाक्यमित्याशङ्क्याऽह—जायेति । उवाच जायादीनामात्मार्थत्वेन प्रियत्वमात्मन-

या, याज्ञवल्क्य ने सतुष्ट होकर कहा । मूल श्रुति में 'वत' शब्द का अर्थ है कि अनुकम्पापूर्वक बोले—  
 हे मैत्रेयी ! तु हमारी "प्रिया" यानी इष्टा है । पूर्व (गृहस्थाश्रम) काल में प्रिय होकर इस समय  
 (प्रव्रजनकाल में) भी हमारे अनुकूल कर रही है । इसलिए आओ, "आस्व" यानी बैठ जाओ । मैं  
 तुम्हारी रूचि के अनुसार अमृतत्वप्राप्ति के साधनस्वरूप आत्मज्ञान का 'व्याख्यास्यामि' यानी उपदेश  
 करूंगा । "व्याचक्षणस्य तु मे" अर्थात् मेरे द्वारा सुने हुए उपदेश का "निदिध्यासस्व" गम्भीरार्थ होने के  
 कारण उनके अर्थों को निश्चयपूर्वक ध्यान करो ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—उपदेश की इच्छा से जाया, पति एवं पुत्रादि का त्याग करने के लिए वैराग्य  
 उत्पन्न कराया जाता है । मूलमन्त्र "न वा" में "वै" शब्द प्रसिद्ध अर्थों को स्मरण कराने के लिए है

१. गम्भीरार्थत्वात्तेषामिति भावः । २. वैराग्यमित्यधिकम् । ३. विरागमिति—"आब्रह्मणोऽस्मात्संसार-  
 च्युदधीनं विरज्यते । यावत्सावन्न विद्याया बधिकारी भवेत्तर-" ॥ वा. ७२ ॥ इत्युक्ते । ४. शुद्धधी. ग्रन्थार्थ-  
 धारणनिपुणोऽसीति यावत् । ५. आत्मीयतया आत्मशेषत्वेनेति यावत् ।

भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं  
भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे  
ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म  
प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं  
भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा  
अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु  
कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे  
देवानां कामाय देवाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु

ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है । क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है । लोको के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं । देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये

मुत्पादयति तत्संन्यासाय । न वै । वंशब्दः प्रसिद्धस्मरणार्थः । प्रसिद्धमेवंतल्लोके । पत्युर्भूतुः  
कामाय प्रयोजनाय जायायाः पतिः प्रियो न भवति किं तर्ह्यात्मनस्तु कामाय प्रयोजनायैव  
भार्यायाः पतिः प्रियो भवति । तथा न वा अरे जायाया इत्यादि समानमन्यत् । न वा अरे  
पुत्राणाम् । न वा अरे वित्तस्य । न वा अरे ब्रह्मणः । न वा अरे क्षत्रस्य । न वा अरे  
लोकानाम् । न वा अरे देवानाम् । न वा अरे भूतानाम् । न वा अरे सर्वस्य । पूर्वं पूर्वं

श्रानौपाधिकप्रियत्वेन परमानन्दत्वमिति शेषः । प्रतीकनादाय ध्याचष्टे—न वा इति । किं तन्निपातेन  
स्मार्यते तदाह—प्रसिद्धमिति । मयोक्ते 'कृमे नियामकमाह—पूर्वं पूर्वमिति । यद्यदात्मनं प्रीतिसाधनं

यानी यह लोकव्यवहार में प्रसिद्ध ही है । 'पत्यु' यानी भर्ता के 'कामाय' यानी प्रयोजन के लिए  
"पतिः" अर्थात् जाया की पति प्रिय नहीं होता । तो फिर कैसे होता है ? "आत्मनस्तु कामाय"  
अर्थात् अपने ही प्रयोजन के लिए ही भार्या को पति प्रिय होता है । इसी प्रकार भ्रात्रे मन्त्र म "न वा  
अरे जायाम्" यानी जाया के प्रयोजन के लिए पति को जाया प्रिय नहीं होती इत्यादि रूप भ्रम  
उपरोक्त के समान समझ लेना चाहिए । जैसे कि पुत्रों के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, वित्त के  
प्रयोजन के लिए वित्त प्रिय नहीं होता, ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, क्षत्रिय के  
प्रयोजन के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, लोकों के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नहीं होते, देवताओं के  
प्रयोजन के लिए देवता प्रिय नहीं होते, भूतों के प्रयोजन के लिए भूत के प्रिय नहीं होते; जा-जा  
प्रीति के निकटतम सम्बन्ध में जुड़े हैं, उनका क्रम से पूर्व-पूर्व उपदेश किया गया है । यथाक्रम प्रीति के

कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां  
 कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय  
 भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय  
 सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।  
 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-  
 सितव्यो 'मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या  
 विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

देवता प्रिय होते हैं । भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये  
 भूत प्रिय होते हैं । किन्तुना सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये  
 सब प्रिय होते हैं । श्री मैत्रेयी । नि सन्देह यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है, इसे (आचार्य तथा शास्त्र  
 द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिए, (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन  
 करना चाहिये । हे मैत्रेयी । हम आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से ये सभी विज्ञात हो  
 जाते हैं (क्योंकि लोक में अधिष्ठान रज्ज्वादिके ज्ञान से ग्रह्यस्त सपादि विज्ञात होते देखे गये हैं) ॥५॥

यथासन्ने प्रीतिसाधने वचनम् । तत्र तत्रेतरत्वाद्द्वाराग्यस्य । सर्वग्रहणमुक्तानुक्तार्थम् ।

तत्सदनतिक्रम्य तस्मिन्विषये पूर्वं पूर्वं वचनमिति योजना । तत्र हेतुमाह—तत्रेति । न वा अरे  
 सर्वस्येत्यमुक्तं पत्यादीनामुक्त्यावशेन पुनरुक्तिप्रसङ्गादित्याशङ्क्य—सर्वग्रहणमिति । उक्तवदनु-

माधना का त्याग करना ज्यादा अच्छा है । (पत्यादिनिरूपण के बाद) सर्व का ग्रहण इसलिए किया,

१ आत्मेति । "अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारत । आत्मयवोपसहृत् चित्तकाग्र्य विवद्वयत् ॥  
 ऐकाग्र्यमचल कृत्वा निदिध्यासनकारणम् । आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत्सुखं ध्यास्यानुमाददे ॥ वा० सा० २५-२६ ॥  
 'आत्मा प्रत्यक्षप्रसिद्धं स्यात्तत्रैवाऽऽख्यानुवृत्तिः । इति प्रमेयनिर्देशो द्रष्टव्य इति तत्प्रमा ॥ आत्मबुद्धिरियं  
 सावस्तुर्द्वेषो जायत स्वतः । अप्राप्या सर्वमाप्तेति सैवततो धीर्विधीयत ॥ वा० २५ २६ ॥ "अज्ञातज्ञापनं  
 तत्त्वप्रत्ययेनाभिधीयते । शत्रुवृत्तप्रवृत्तिश्च न्यायाभावात्तु युज्यते ॥ अज्ञान आत्मा वदान्तज यज्ञानेन मीयत ।  
 इत्यवधोक्तं वाक्यार्थो नाश्रयवृत्तप्रयत्नम् ॥ वा० सा० २८ २९ ॥ आत्मशब्दग्रहणम्—आत्मेति । प्रतीत्यात्म-  
 शब्दस्य प्रसिद्धिं साधयति—तत्रति । वाक्यायमुक्त्वाविकसितमाह—इतीति । प्रतीत्यात्मनि प्रमेये वैदिक  
 दर्शनम् (ज्ञानम्) इत्येतदत्र विवक्षितमित्यर्थः ॥ २ हे मैत्रेय श्रवण श्रवणोत्पन्न मनसा मननेन विज्ञानेन  
 निदिध्यासनेन च हृदीहृत्तनात्मनो नै रानेन साक्षात्काररूपेणैव सर्वं स्वावशोक्त्यात्मकमित्यति विदितमेवेत्यर्थः ।  
 अत्र परमा (अनुवाद) वाक्ये दर्शनादि स्वस्वस्वभावानुदित निदिध्यासनं च विज्ञानशब्देन । तत्रायमभिप्रायः,  
 यत् श्रवणादिमाधनसहायतेनिदिध्यासनं ध्यानं माग्राहि अपितु ध्यानमहितश्रवणादिफलभूत वाक्यायविज्ञानमिति  
 ध्यानस्य साधनस्य तु समाहितो भूत्वेत्यादि श्रुतिसिद्धमेवत्यादित्यष्ट वार्तिके । ३ यथासन्ने प्रीतिसाधने ।



‘तस्माल्लोकप्रसिद्धमेतदात्मैव प्रियो नान्यत् । तदेतत्प्रियः पुत्रादिभ्युपन्यस्तं तस्यै-  
तद्वृत्तिस्थानीयं प्रपञ्चनम् । तस्मादात्मप्रीतिसाधनत्वाद्गौण्यन्यत्र प्रीतिरात्मन्येव मुख्या ।  
‘तस्मादात्मा वा अरे द्रष्टव्यो दर्शनाहो दर्शनविषयमापादयितव्यः श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत  
आर्गमतश्च । पञ्चान्मन्तव्यस्तर्कतः । ततो निदिध्यासितव्यो निश्चयेन ध्यातव्यः । एवं

त्तानामपि ग्रहणं कर्तव्यं न च सर्वे विशेषतो ग्रहीतुं शक्नुवन्ते तेन सामान्यार्थं सर्वपदमित्यर्थः ।  
सर्वपदेषु सिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । ननु ‘तृतीये प्रियत्वमात्मन आस्थां तदेवाप्रापि  
कथ्यते चेत्पुनरुक्तिः स्यात्तत्राऽऽह—तदेतदिति । अयोऽन्यासविधरणाभ्यां प्रीतिरात्मन्येवेत्युक्तं  
पुत्रादावपि तद्दर्शनादत आह—तस्मादिति । आत्मनो निरतिशयप्रीत्यास्पदत्वेन परमानन्दत्वमभिधायो-  
त्तरवाक्यमादाय व्याचष्टे—तस्मादित्यादिना । ‘कथं पुनरिदं दर्शनमुत्पद्यते तत्राऽऽह—श्रोतव्य इति ।  
अवणादीनामन्यतमेनाऽऽत्मज्ञानसाभात्किमिति सर्वेषामध्यमनमित्याशङ्क्याऽऽह—एव हीति ।

जिससे पत्यादि से प्रतिरिक्त न बहे हुए प्रिय साधनों का बोध हो जाय । जायादि सभी अनात्म-पदार्थों  
का आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय न होने के कारण लोकप्रसिद्ध यह आत्मा ही प्रिय है; दूसरी कोई  
वस्तु नहीं । (प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण के आठवें मन्त्र में) पहले कहा गया है कि आत्मतत्त्व पुत्र से बढ  
कर प्रिय है, उसी पूर्वप्रतिपादित सक्षिप्त व्याख्यान को यहाँ विस्तार से बतला दिया । इसलिए (सब  
केवल आत्मप्रयोजन के लिए प्रियता का उल्लेख होने के कारण) आत्म-प्रीति का साधन होने से  
से अन्यत्र प्रीति गौणी है, आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रीति ही मुख्या है । इसलिए (आत्मा के परमा-  
नन्दस्वरूप होने से) आत्मा ही “द्रष्टव्यः” अर्थात् प्रत्यक्ष करने के अनुरूप है अथवा साक्षात् ही प्राप्त  
करने योग्य है, “श्रोतव्य” यानी पहले प्राचार्यमुख एव शास्त्रप्रतिपादित ज्ञान से श्रवण करने योग्य । योग्य  
है, फिर “मन्तव्यः” यानी तर्क से मनन करने योग्य है । उसके बाद “निदिध्यासितव्यः” निश्चयपूर्वक

१. जायादिसर्वानात्मवर्गस्यात्मार्थत्वेन प्रियत्वात् । २. नृ० उ० १।४।५ । ३. इति तस्य प्रियत्व सतोपतो
४. व्याख्यातम् । ४. सत्तेषु विस्तराभ्यामात्मन्येव प्रीतेरुक्तत्वात् । ५. अनोपधिः प्रियत्वे नात्मनः परमानन्द-
- रूपत्वात् । ६. दर्शनविषयमिति—तत्र प्रार्थना वातिके तथाहि—“सर्वमात्मैश्वर्यतः पश्येदारमाज्जगत्प्रियभागवित् ।  
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या ह्योऽर्थोऽप्राभिधीयते” ॥ २११ ॥ वेदान्तोपबन्धसम्प्रवर्तनात्मनविषयमुपसंवेदने  
सर्वमात्मैति निश्चिनुयात् । तत्र वाक्यभक्तारप्यति—आत्मेति । स सर्वस्मादिभ्यस्त्वात्परानन्दो द्रष्टव्यहस्त ब्रह्मोति  
विषयी पश्यतीत्यर्थोऽस्या श्रुतावनेन वाक्येन भातीत्यर्थः । अर्थात्तत्सम्भव हेतु कर्तुं हि भावः ॥ ७. पाठभेदेन  
श्रवणादीनां क्रम प्रदर्शयति—पूर्वमित्यादिना । ८. नैरन्तर्यं सज्जतीयप्रत्ययप्रवाहविषयनामापादयितव्य
- इत्यर्थः । ९. जिह्वासितपदार्थाः । १०. उपनिषदि प्रथमाध्याये । ११. सक्षेपवित्तराभ्याम् । १२.  
केनापामेन प्रकारेण वा । १३. निर्वर्तनम् ।

श्रोतव्य इत्यादि ध्यातव्य इत्यन्तर्भाष्यरहस्याविकरणानि वातिकान्युपन्यस्यन्ते । तथाहि—“सर्वमान-  
प्रसक्तो च सर्वमानफलाश्रयात् । श्रोतव्य इत्यतः प्राह वेदान्मात्रकरसया ॥ दर्शनस्याविषेयज्ञानप्राप्तये विधीयते ।  
वेदान्मश्रवण यत्नादुपायतर्क एव च ॥ श्रुतिलिङ्गादिनी व्यायः शब्दप्रतिविषयवृत्तः । आनुमार्थिकनिश्चयं  
मन्तव्य इति श्रम्यते ॥ वस्तुतत्त्वविबोद्धं मन्तव्य इति साधनम् ॥ योगिदग्धादिदृष्टो हि नैव मन्तव्यताविधिः ॥  
वेदशब्दानुरोधेन तर्कोऽपि विनिपुन्यते । नाध्यवाचकसंबन्धनियमे तस्य दृष्टता ॥ अपरायसंबोधोऽत्र निदिध्या-

ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितः । यदैकत्वमेतान्युपगतानि तदा  
सम्यग्दर्शनं ब्रह्म कत्वविषयं प्रसीदति नान्यथा श्रवणमात्रेण । यद्ब्रह्मक्षेत्रादि 'कर्म-

विध्यनुसारित्वमेवंशब्दार्थः । श्रुतत्वाविशेषा'द्विकल्पहेत्वभावाच्च 'सर्वैरेवाऽऽत्मज्ञानं जायते चेत्तेषां  
समप्रधानत्वमा'ग्नेयादिवदापतेदित्याशङ्क्याऽऽह-यदेति । श्रवणस्य प्रमाणविचारत्वेन प्रधानत्वाद्भित्तुं  
मनननिदिध्यासनयोस्तु 'तत्कार्यप्रतिबन्धप्रध्वंसित्वाद्भित्तुत्वमित्यङ्गाङ्गिभावेन यदा श्रवणादीन्यसकृद-  
नुष्ठानेन समुच्चितानि तदा सामग्र्योपेक्षयात्तत्त्वज्ञानं 'फलशिरस्कं सिध्यति । मननाद्यभावे श्रवणमात्रेण  
नैव 'तदुपपद्यते । मननादिना प्रतिबन्धाप्रध्वसे वाक्यस्य फलवज्ज्ञानजनकत्वायोगादित्यर्थः ।  
'परामशोबाक्यस्य सात्पर्यमाह-यदित्यादिना । कर्मनिमित्त ब्रह्मक्षेत्रादि तदेव वर्णाधमा-

ध्यान करने योग्य है क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनों से अनुष्ठित यह  
आत्मा दर्शन का विषय होती है । जब इन सभी साधनों की समष्टिरूप से एकतापूर्वक प्राप्ति की जाती  
है, तभी ब्रह्म कत्व विषयक सम्यग्दर्शन होकर (प्रतिबन्धाख्य मल हटकर) चित्त शुद्ध हो जाता है;  
नहीं तो केवल श्रवणमात्र से चित्त विमल नहीं होता । आत्मा में अविद्या से ग्रथ्यस्त ज्ञान के विषय जो

१ प्रसीदति—प्रतिबन्धाख्यमन्तराहित्येन विमलीभवति फलावसानं सिध्यतीति यावत् । २. कर्मणः प्रयो-  
जकम् । ३. विक्षेपे हेत्वभावाच्चेत्यर्थः । ४. समितितैः । ५. आग्नेयादीति—अग्नीषोमीय आदिप्राहुः ।  
यथा ब्राह्मणपाठादावाग्नीषोमीयानुष्ठानम् मन्त्रपाठादावाग्नेयानुष्ठानं तत्तरतयो समप्रधानत्वमेवमित्यर्थः ।  
६. श्रवणकायतत्त्वज्ञाने श्रोत्रभावनोदप्रतिबन्ध । ७. फलावसानं सप्तमिति यावत् । ८. तत्—फल-  
शिरस्कं ज्ञानम् । ९. अनन्तरवाक्योक्तदर्शनादिपरामर्शकवाक्यस्य ।

सनमुच्यते । पूर्वबोधश्रवण तदुपगम्य इत्यते ॥ श्रवणादिक्रिया तावत्कर्तव्येह प्रयत्नतः । यावद्यथोक्त  
विज्ञानमाविर्भवति आस्वरम् ॥ आगमाद्दर्शनं पूर्वमागमाधार्यते मति । त्रयाणामपि सगानाच्छास्त्राधार्यमना  
स्विरम् ॥ प्रतिपत्तिः पुरा शब्दी यावन्न मनुते श्रुतम् । श्रुत्वा मत्वाऽप्य ॥ आसाधारमानं प्रतिपद्यते ॥  
अनन्यायसंविज्ञाने श्रवणादेशपायत । जाते नापेक्षत किंचित्प्रतीक्षोऽनुभववात्परम् ॥ २१२-२२१ ॥ इति ।  
दृष्टव्यवाक्ये तस्यो न विधायक किन्त्वर्थाश्रोतृत्वाऽऽत्मा दर्शनाह इति वाक्यार्थमुक्त्वा श्रोतव्यवाक्यमवतारयति  
—सर्वेति । प्रत्यक्षादिमानसभूतदृष्टघटवत्प्रभावात्मनि सर्वस्य मानस्य तत्कारणत्वेन प्रसक्ताद्योपनिषदत्वाभावे  
शङ्किते तासिरासायं वदान्तानामेवाऽऽत्मदृष्टिद्वयत्वेन स्वीकारेच्छया श्रोतव्य इत्येतदाह श्रुतिस्तस्मात्सदोपनिषद-  
त्वमिदिरित्यर्थः ॥ श्रोतव्यवाक्यमाह—दर्शनस्येति । विधीयमानश्रवणस्यानिदोषवत्सकृदनुष्ठेयवत् यस्मादिति  
श्रव्यते । मन्तव्यवाक्यमादत्ते—उपाय इति ॥ तयोः श्रवणस्वरूपमाह—श्रुतीति । श्रुत्यादिभिः श्रुतितात्पर्य-  
निश्चयायैवैर्यैर्देहात्मनि वेदा ततात्पर्यनिरूपण श्रवणमित्यर्थः । मननस्वरूपमाह—आगमेति । श्रुत्यादिना  
ज्ञातस्य तत्त्वस्यासमाधानाद्विनिरासेन निश्चयार्थं द्वैतमिध्यातृत्वाद्योक्तं यस्तर्कस्तदनुसंधानं मन्तव्य इत्युच्यते  
इत्यर्थः ॥ वदान्ता न वस्तुषां निःसृष्टास्तित्तिविधिपरा इति चेन्नितान्प्रत्याह—वस्तिवति । कथं वेदान्तेषु वस्तुनि  
तात्पर्यं मननविधिना ज्ञातं तन्नाऽह—योषिदिति । यत्र दृष्टिमात्रमिष्टं न वस्तु तत्र तस्य श्रुत्यर्थं न मन्तव्यादि-  
विधिरत्र तु तद्विधेस्तुति तात्पर्यं सिद्धमित्यर्थः । दृष्टान्ते मननमिध्यातृत्वाद्योक्तं यस्तर्कस्तदनुसंधानं मन्तव्य इत्युच्यते  
भूयस्तत्तात्पर्यं सर्वव्यापनापायवे नैवा तर्कजेषां विरुद्धमित्याशङ्क्याऽह—वेदेति । अत्रेति श्रुतार्थनिश्चयोक्तिः ।  
नैवेत्यवैदिकतर्कमिन्ना तदनुसारितर्काङ्गीकारेऽविरोधेऽप्येव । वैदिकशास्त्रेणैव तत्त्वनिश्चयाय तात्पर्यं कुत्रोप-



ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं  
तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं  
परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं  
परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद भूतानि तं

ब्राह्मणजाति उस पुष्प को परास्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मणजानि को समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजाति को आत्मा से भिन्न समझता है। मभी लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोको को आत्मा से भिन्न समझता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। उसे सभी भूत परास्त कर देते हैं, जो आत्मा से भिन्न सभी भूतों

ननु कथमन्यस्मिन्विदितेऽन्यद्विदितं भवति । नैव दोषः । न ह्यात्मव्यतिरेकेणान्यत्किंचिदस्ति । यद्यस्ति न तद्विदितं स्यान्न त्वन्यदस्यात्मैव तु सर्वम् । तस्मात्सर्व-

आत्मनि विदितं सर्वं विदितमित्युक्तमाक्षिपति—नन्विति । 'दृष्टिविरोध निराचष्टे—नैव दोष इति । आत्मनि ज्ञाते ज्ञातमेव सर्वं ततोऽर्थान्तरस्याभावादित्युक्तमेव स्फुटयति—यदीत्यादिना ।

(आत्मज्ञान से ही) न होती। पर अन्य वस्तु तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ तो आत्मा ही है। इसलिए (आत्मा में अर्थान्तर का अभाव होने के कारण) आत्मा का ज्ञान होने से सबका ज्ञान हो जाता है।

१. आत्मनोऽर्थान्तरस्याभावात् । २. दृष्टीति—ब्रह्म तमित्यादे सर्वं वेदेत्यन्तस्य तात्पर्यं वदन्नित्यादि । न ह्यन्यस्मिन्दृष्टेऽन्यद्विदितं दृष्टमिति दृष्टिविरोधः । दृष्टिः प्रत्यक्षम् ।

न ह्येत्यादे स्यादित्यन्तस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाहुर्वीतिकाचार्याः । “आत्मयोमात्रगम्यार्थस्तद्व्योऽवभासते । तद्वर्णननिषेधार्थं ब्रह्मेत्याह परा भूति ॥ समस्तव्यस्तता तस्मान्नैवेह भूतिमानत । आत्मबुद्धिविषय यतो यत्प्राप्तिपेक्षति ॥ कार्यत्वा कारणत्वा च द्वावात्मानो परात्मनः । प्रत्यक्षायात्प्यमोक्षेऽप्यो तन्नाशे नश्यतस्तत् ॥ अपूर्वोपपत्तेर्हि कार्यकारणताऽऽत्मनः । कुत प्रमाणात्समाख्या कार्यकारणसम्भरे ॥ नैतस्माज्जायते किंचिन्नाय जात कुतश्चन । आत्मेत्येव भूतिर्वैतिका कारणानिषेधदृष्ट ॥ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत । अनादिमत्तर ब्रह्म न सत्तन्मासदुज्यते ॥ यस्मात्परमतीतोऽहमदरादपि चोत्तम । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥ यो मामेवमसमूदो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्वज्जति मां सर्वभावेन भारत ॥ इति वेदात्मन साक्षाच्चन श्रुतिसमतम् । सर्वान्तर्यामिण शीरेनोपिष्ट्य तदूसाहर्ष ॥ तत्रैव सति यो मूढ कार्यकारणदर्शन । पराहमुक्त निदग्धात्तमात्माहृत्सत्त्वदर्शनम् ॥ २५० ४६ ॥ अनुवादवाक्यतात्पर्यमुक्त्वा ब्रह्म तमित्यादे सर्वं वेदेत्यन्तस्य तात्पर्यमाह—आत्मेति । स्वप्रकाशादात्मनो योऽन्यस्तादृशोऽर्थो भाति तस्य दर्शनं निषेधु ब्रह्मेत्यादिवाक्यमुत्तरा श्रुतिराहेत्यर्थः ॥ अनात्मदृष्टिनिषेधेन स्वपृथक्कल्पनाऽपि निरस्तेति निषेधफलमाह—शमस्तेति । इह आत्मनि । तच्छब्दाद्यं स्फुटयति—अनात्मेति । निषेधाभ्यामो यत्नः ॥ ननु स तस्मिन्निषेधमुपशयस्तस्य कार्यकारणत्वात् भेदादित्याह—पराह—नार्थः । तयोमहोत्थत्वफलमाह—तन्नाश इति । ततो

परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं  
 पराद्वाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्म वेदं  
 क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं  
 सर्वं यदयमात्मा ॥६॥

को समझता है । किंवदन्ता—उसे सभी परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है । मतः यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवता, ये भूत और ये सब जो कुछ हैं; ये सब एकमात्र आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और मन्त में आत्मा को छोड़ कर पृथक् इतकी उपलब्धि नहीं होती है) ॥६॥

मात्मनि विदिते विदितं स्यात् । कथं पुनरात्मैव सर्वमित्येतच्छ्रावयति । ब्रह्म ब्राह्मण-  
 जातिस्तं पुरुषं परादात्परादध्यास्पराकुर्यात् । कं, योऽन्यत्राऽऽत्मन आत्मस्वरूपव्य-

भाकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमुदाहृत्य व्याख्ये—कथमित्यादिना । पुरुषं विशेषतो ज्ञातुं प्रश्नमुपन्यस्य प्रतीकं गृहीत्वा व्याकरोति—कथमित्यादिना । पराकरणे पुरुषस्यापराधित्वं दर्शयति—अनात्मेति ।

“सबका आत्मत्व होना किस प्रकार है” इस पर श्रुति सुनाती है । “ब्रह्म” अर्थात् ब्राह्मण-  
 जाति उस पुरुष को “परादात्” अर्थात् पुरुषार्थ से अष्ट कर देती है । किस अष्ट कर देती है ?  
 ‘अन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद’ अर्थात् जो आत्मस्वरूप को छोड़कर यानी ‘यह ब्राह्मणजाति आत्मा ही नहीं

१ ‘अपीदितत्वाद्ब्रह्मादिद्वयान्वयति किं पुनः । इष्टव्यमित्यतो वक्ति त्विदं ब्रह्मेति न श्रुति’ ॥ वा० २६१ ॥  
 इतिराब्दो ब्रह्मेत्यादिवाक्यपरामर्शः । प्रश्नसमाप्ती द्वितीयः ॥ २ सर्वस्वारमत्वमित्यर्थः । ३ नाम  
 ब्रह्मशब्द परिचय क्षत्रसन्निधानादिनि भावः । ४ पुनराष्ट्र कुर्यात् । ५ अवतार्यः ।

वस्वैरस्म्यमिति शेषः ॥ तयोर्ज्ञानोत्पत्त्यवसिद्धमित्याह—अपूर्वैति । प्रमाणविरुद्धमर्थं न प्रमाणमुपस्था-  
 पयत्यविरोधापेक्षितत्वात्प्रमाणवत्त्वस्येति हिशब्दार्थः । अपूर्वादिवादोक्तं वाच्यंदिप्रसन्नरीतिं भवते ब्रह्मणि न सा  
 प्रामाण्योत्पन्न न जायते अत्र्यते वेत्त्यादि ज्ञानमित्याह—नैतन्माविनि ॥ तत्रैव स्मृतिमाह—ज्ञेयमिति ।  
 तत्प्रवचनफलमाह—यदिति । किं तज्ज्ञेयं तदाह—अनादिमिति । तस्य भूतान्मूर्तबलस्यमाह—न सति ।  
 नार्थकारणनिर्मुक्तत्वं चानेनोच्यते ॥ तत्रैव वाक्यान्तरमाह—यस्मादिति । स उत्तम, पुरुष इति श्रुतिर्वेदगन्धार्थः ॥  
 उत्तोऽर्थो विवक्षितस्तज्ज्ञानस्य फलवत्त्वादिदमाह—यो भागिति । उत्तस्मिन्प्रामाण्यमाप्नोतत्त्वेन सूचयति—  
 वेदेति । वेदमूलत्वाच्च तज्ज्ञानाण्यमित्याह—श्रुतीति । तस्यानुपेदगत्वे हेतुमाह—सर्वेति । अथवाद्वाक्यमपि  
 मेचिदुपेगन्तो तत्राऽह—अवादिरीति । वैदिकैरित्यर्थः ॥ ब्रह्मेत्यादेस्तात्पर्यंमुक्त्वाऽप्यर्थं सक्षिप्याऽह—  
 तत्रेति । तस्मिन्मात्मन्युक्तरीत्या इतिनिर्मुक्तं यो विवेकशून्य स्वगतत्वेन कार्यं कारणं च सत्यति त भेददर्शितमत्र  
 ब्रह्मशब्दादि मिथ्यादृष्टं पुनर्यात्परान्वेष्टीत्यर्थः ॥ ब्रह्मेत्यादिवाक्यमुपसहरति—“आत्मानं यो यथा वेत्ति  
 नम्यन्वा यदि वाऽन्यथा । यथादर्शनमेवातो ज्ञत्तमाप्नोति मानवः” ॥ २५६ ॥ यथादर्शनमर्थमियुक्तं न्यूनं  
 —“इति ब्रह्म तमित्यादे सक्षेपार्थं समीरित । ससरस्यन्यथाज्ञानात्सम्यग्ज्ञानाद्रिमुच्यते” ॥ वा २६० ॥ इति ।

‘स यथा दुन्दुभेर्हन्त्यमानस्य न बाह्याऽशब्दा-  
ऽशब्दनुयादग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दु-

लोक में जैसे दण्डादि से ताड़ित किये गए नक्कारे के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता, किन्तु नक्कारे या उसके घ्राघात को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ा जाता है; यही आत्मा की

तिरेकेणाऽऽत्मैव न भवतीत्यं ब्राह्मणजातिरिति तां यो वेद तं परादध्यात्सा ब्राह्मणजाति-  
रमात्मस्वरूपेण मां पश्यतीति । परमात्मा हि सर्वेषां मात्मा । तथा क्षत्रं क्षत्रियजाति-  
स्तथा लोका देवा भूतानि सर्वमिदं ग्रह्येति यान्यनुक्रान्तानि तानि सर्वाण्यात्मैव यदय-  
मात्मा योऽयमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति प्रकृतः । यस्मादात्मनो जायत आत्मन्येव लीयत  
आत्ममयं च स्थितिकाल आत्मव्यतिरेकेणाग्रहणादात्मैव सर्वम् ॥६॥

कथं पुनरिदानीमिदं सर्वमात्मैवेति ग्रहीतुं शक्यते । चित्मात्रा नुगमात्सर्वत्र चित्स्व-

परमात्मातिरेकेण दृश्यमानामपि ब्राह्मणजातिं “स्वस्वरूपेण पश्यन्कथमपराधी स्यादित्याशङ्क्याऽह-  
—परमात्मेति । इदं ग्रह्येष्टुत्तरवाक्या “नुवादस्तस्य व्याख्यानं यान्यनुक्रान्तानीत्यादि । आत्मव  
सर्वमित्येतदप्रतिपादयति—यस्मादित्यादिना । स्थितिकाले “तिष्ठति” तस्मादात्मैव सर्वं तद्व्यतिरेके-  
णाग्रहणादिति योजना ॥ ६ ॥

स्थित्यवस्थायां सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्व ज्ञानुपशब्दं ज्ञापकाभावादित्याक्षिपति—कथं पुनरिति ।

है’ इस प्रकार उसे जानता है, उसे वह ब्राह्मणजाति ‘यह मुझे अनात्मरूप से देखता है’ इस अपराध से  
भ्रष्ट कर देती है क्योंकि परमात्मा ही सभी का स्वरूप है । उसी प्रकार ‘क्षत्रम्’ यानी क्षत्रिय-  
जाति, लोक, देव, भूत और सभी ऐसा करत है । जिन ब्राह्मण-क्षत्रियादि का ‘यह ब्रह्म है’ इस रूप से  
अनुक्रमण है; वे सभी आत्मा में ही समीभूत हैं । (यह आत्मा क्या है ?) “यदयमात्मा” अर्थात् जो यह  
दशन, श्रवण करने योग्य आत्मा प्रकरण से प्राप्त है । जिस कारण स कि सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न  
होता है, आत्मा में ही समीभूत हो जाता है एव स्थितिकाल में भी आत्ममय है, इसलिए आत्मा से  
भिन्न कुछ भी न होने के कारण सब कुछ आत्मा ही है ॥६॥

। (इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु “स्थितिकाल में यह नाम-रूपादि भेद से भिन्न

१. स यद्येत्यत्र यातिके—“एव श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्त. श्रवणे विधिः । अयं मन्त्रव्य इत्यस्य प्रपञ्चः पर-  
उच्यते” ॥ २६३ ॥ यवणविधिविचार. शक्तितात्पर्यानुसार्यतिबुतः । अयं युक्त्यनुसारी मनविधिविचार  
आरभ्यत इत्यर्थः ॥ २. अपराधादिति भावः । ३. स्वरूपम् । ४. यद्वास्तव्येति । ५. कोऽसावा-  
त्मा आह—यदयमिति । ६. हेतोः । ७. नामरूपादिभेदभिन्नमसिद्धं जगत् । ८. व्यभिचारात् ।  
९. अपिस्तथादर्शनसंभावकः । १०. जातित्वेन अनात्मत्वेनेति यावत् । ११. प्रतीकदानम् । १२. अयं  
शेषः । १३. अयमप्याहारः ।

- श्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

सर्वरूपता मे दृष्टान्त है ॥७॥

रूपतैवेति गम्यते । तत्र दृष्टान्त उच्यते । यत्स्वरूपव्यतिरेकेणाग्रहणं यस्य तस्य तदात्म-  
त्वमेव लोके दृष्टम् । स यथा स इति दृष्टान्तो लोके यथा दुन्दुभेर्भयविहङ्ग्यमानस्य  
ताड्यमानस्य दण्डादिना न बाह्याञ्छब्दान्वहिर्भूताञ्छब्दविशेषादुन्दुमिश्रशब्दसामान्या-  
'मिश्रकृष्टान्दुन्दुमिश्रशब्दविशेषात् शक्नुयाद्ग्रहणाय गृहीतम् । दुन्दुमेस्तु ग्रहणेन 'दुन्दुमिश्रशब्द-

घटः स्फुरतीत्यादिप्रत्ययमाश्रित्य परिहरति—चिन्मात्रेति । स यथा दुन्दुमेरित्यादि बाधयमवतारयति  
—तत्रेति । सर्वत्र चिदतिरेकेणासत्त्वं सप्तम्यर्थः । 'दृष्टान्ते विवक्षितं संक्षिपति—यत्स्वरूपेति ।  
दुन्दुमिश्रदृष्टान्तमावाद्याक्षराणि व्याचष्टे—स यथेत्यादिना । शब्दविशेषानेव विशदयति—दुन्दुमेति ।  
कथं 'तर्हि दुन्दुमिश्रशब्दविशेषाणां ग्रहणं सदाह—दुन्दुमेस्त्विति । 'दुन्दुमिश्रशब्दसामान्यस्येति यावत् ।

समस्त जगत् आत्मा ही है" ऐसा ग्रहण किस प्रकार किया जा सकता है ? ( उक्त भाष्य का 'परिहार  
किया जाता है—) चित् मात्र का व्यभिचार न होने से (आत्मप्रवण बुद्धि से) इस सभी को  
(अपरोक्ष) चित्स्वरूपता स्वीकार की जाती है । इस प्रसङ्ग में (श्रुति) दृष्टान्त का प्रतिपादन करती  
है । जिसका जिस स्वरूप से व्यतिरिक्त ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसकी तदात्मकता लोकव्यवहार  
में प्रसिद्ध ही है । "स यथा" अर्थात् वह ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि आदि दृष्टान्त से यहाँ तात्पर्य  
है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में "हन्यमानस्य" यानी दण्डादि से बजाये जाते हुए "दुन्दुभेः" अर्थात् भेरी  
आदि के "बाह्याञ्छब्दान्" अर्थात् बहिर्भूत सार-मन्त्रादि शब्दविशेषों को दुन्दुमिश्रशब्दसामान्य से निकले  
हुए दुन्दुमिश्रशब्दविशेषों को "न शक्नुयाद् ग्रहणाय" ग्रहण नहीं किया जा सकता । 'दुन्दुमेस्तु ग्रहणेन'  
अर्थात् दुन्दुभि का शब्दसामान्य जिनका विशेषण है, ऐसे शब्दविशेष से दुन्दुभिलक्षित शब्दसामान्य-  
भिन्न शब्दविशेष गृहीत हो जाते हैं क्योंकि दुन्दुभि के शब्दसामान्य से पृथक् उनकी सत्ता नहीं है ।

१. आत्मप्रवणधियामपरोक्षमिदम् । २. सारमन्त्रादिरूपान् । ३. दुन्दुमिश्रशब्दसामान्यादिति । तथा च  
वातिके—"यथा दुन्दुमिश्रशब्दसामान्यादुत्थितान्मृथक् । नाऽऽदात्तु शक्नुयात्स्वविशेषोपात्तिसोशयत्"  
॥ २६७ ॥ दुन्दुमेर्हन्ममानस्येत्यनेन शब्दत्व सम्यक् ततो जाता विशेषा बाह्या शब्दास्तामिष्टपृथ्वाभिनिव  
कोणाद्गृहीतुं सुविश्वितोऽपि नालमतस्ते सामान्ये कल्पिताः सर्वादिरेव उज्ज्वामित्यर्थः । सद्यत इति हन्य-  
मानस्येति विशेषण दुन्दुमेस्तु ग्रहणेनेति वाक्यशेषश्च लक्षणमा तात्पर्यग्राह्याचिति द्रष्टव्य तथाहि दुन्दुमेस्तु  
ग्रहणेनेति वाक्यशेषे दुन्दुमिश्रशब्दविशेषात् हि शब्दविशेषग्रहं सम्भवति तयोर्भेदात् तत्र दुन्दुमिश्रशब्देन  
शब्दस्वसामान्यं लक्षणमवत् प्रकृतेऽपि लक्षणेति । हन्यमानस्येति विशेषणाच्च तत्तामोर्ध्वगन्ताभ्य अधिक्मधि-  
कार्यमिति न्यायाद् हनने सत्येव शब्दसम्भवात् । ४. निःश्रुताम् । ५. दुन्दुमिश्रशब्दसामान्यविशेषत्वनेति ।  
दुन्दुभेः शब्दसामान्य विशेषणं येषु (येषां) शब्दविशेषेषु । तथा तेषां भावस्वरूपे तेन शब्दविशेषाद्गृहीता  
भवन्तीति सम्बन्धः । ६. दृष्टान्त इति—ननु दृष्टान्ते सामान्यविशेषभाववाद् दार्ष्टान्तिनेऽपि स स्यात्तयो-  
स्तुल्यत्वादित्याशङ्क्य तत्रापि तद्भावाविवक्षित इत्यभिप्रेत्यत्यादिः । ७. सामर्थ्याभावे । ८.  
दुन्दुमिश्रशब्दसामान्यस्येति—मन्त्रत्र दुन्दुभिमात्रयुतेः शब्दसामान्यस्येति विशेषण प्राप्यभावाद्युत्तमिति चेन्न  
तस्य तत्र साक्ष्यमिदं स्यात् । न हि दुन्दुमिश्रशब्दविशेषग्रहणस्तयोर्भेदादिति भावः ।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्श-  
ब्दाञ्शक्त्युपाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्ख-  
ध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

दूसरा दृष्टान्त यह है—जैसे फूँक गये शङ्ख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु शङ्ख को भ्रमवा शङ्ख के बजाने की ग्रहण करने पर उसका शब्द स्वयं गृहीत हो जाता है ॥८॥

सामान्यविशेषत्वेन 'दुन्दुभिशब्दा एत इति-शब्दविशेषा-गृहीता भवन्ति । दुन्दुभिशब्द-सामान्यव्यतिरेकेणाभावात्तेषाम् । 'दुन्दुभ्याघातस्य वा दुन्दुभेराहननमाघातो 'दुन्दुभ्या-घातविशिष्टस्य शब्दसामान्यस्य ग्रहणेन 'तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति । न तु त एव 'निमित्तं ग्रहीतुं' शक्यस्ते विशेषरूपेणाभावात्तेषाम् । तथा 'प्रज्ञानव्यतिरेकेण स्वप्नजागरितयोर्न कश्चिद्वस्तुविशेषो गृह्यते । 'तस्मात्प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावो युक्तस्तेषाम् ॥७॥

तथा स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य शब्देन संयोज्यमानस्यऽऽपूर्वमाणस्य न बाह्या-

'उक्तस्यैव दुन्दुभ्याघातस्येत्यादिवाक्यमुक्त्याप्य ध्याचष्टे—दुन्दुभ्याघातस्येति । वाशब्दार्थमाह—तद्गता विशेषा इति । 'उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ए) विशदयति—न त्विति । विवक्षितं बाह्यान्तिक-माचष्टे—तथेति । "तत्रैव वस्तुविशेषग्रहणसंभावनाभिप्रेत्य स्थप्रज्ञागरितयोरित्युक्तम् ॥ ७ ॥

तथा दुन्दुभिष्टान्तवदिति यावत् । शङ्खस्य तु ग्रहणेनेत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः । दुन्दुभेस्तु

"दुन्दुभ्याघातस्य" पद मे दुन्दुभि बजाने का नाम आधान है, दुन्दुभि-आघातविशिष्ट शब्दसामान्य के ग्रहण से सामान्याभेद होने से विशेष का ग्रहण हो जाता है । उनका उससे विभाजन करके ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विशेषरूप से उनका अभाव है । इसी प्रकार स्वप्न और जागरित किसी भी स्फूर्त होने वाली वस्तुविशेष का स्फुरणात्मक ब्रह्मसामान्यातिरिक्तरूप से ग्रहण नहीं किया सकता । इसलिए (चित से प्रतिरिक्त चेत्य के अग्रहण से) प्रज्ञान से पृथक् उनका अभाव कहना उचित ही है ॥७॥

इसी (दुन्दुभिष्टान्त) के समान ही जिस प्रकार "ध्मायमानस्य" अर्थात् शब्द से संयुक्त किये जाते भ्रमवा फूँक जात हुए शङ्ख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, अथवा

१ तथा तद्विशेषणत्वमेवाभिधायति—दुन्दुभेति । एत शब्दविशेषा दुन्दुभिशब्दा । दुन्दुभिलक्षितशब्दसामान्याभिप्रा इत्येव प्रकाशनं शब्दविशेषा गृहीता भवन्तीत्यर्थः । २ न केवलं शब्दसामान्यग्रह एव तद्विशेषग्रहोऽपि तु शब्दवाक्यान्तरसामान्यग्रहादपि तद्विशेषाया ग्रह इत्यभिप्रेत्याऽऽह—दुन्दुभ्याघातस्येति । ३ वीरपादिनवरत्नात्मकतमरसमुक्तो दुन्दुभ्यादिहृन्नात्यप्र. सधामादिभूतो ध्वनिरत्र दुन्दुभ्याभाव तद्ग्रहे तद्विशेषग्रह-स्तयोस्तादात्म्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह—दुन्दुभ्याघातविशिष्टस्येति । ४ शब्दसामान्याभिप्रा इत्यर्थः । सामान्याभेदेनैवेति यावत् । ५ विभज्य । ६ स्फुरणात्मकब्रह्मसामान्यातिरिक्त । ७ स्फूर्तमात्र । ८ चिदतिरेकेण चेत्याग्रहात् । ९ शब्दसामान्याग्रहे तद्विशेषाग्रहरूपे । १० विशेषाणा सामान्याभेदेनैव ग्रहणरूपम् । ११ स्वप्नजागरितयोरेव ।



स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दा-  
ञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावा-  
दस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ६ ॥

इसमें तीसरा दृष्टान्त यह है—जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को पकड़ने में कोई  
समर्थ नहीं होता है, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर को पकड़ने से वह स्वयं पकड़ा जाता है ॥६॥

ञ्छब्दाञ्शक्नुयादित्येवमादि पूर्ववत् ॥८॥

तथा वीणायै वाद्यमानायै वीणाया वाद्यमानायाः । अनेकदृष्टान्तोपादानमिह  
सामान्यबहुत्वस्थापनार्थम् । अनेके हि विलक्षणाश्चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः ।  
तेषां पारम्पर्यगत्या यथैकस्मिन्महासामान्येऽन्तर्भावः प्रज्ञानघने कथं नाम प्रदर्शयितव्य

प्रहरोनेत्यादिवाक्य दृष्टान्तयति—पूर्ववदिति ॥ ८ ॥

सथेति दृष्टान्तद्वयपरामर्शः । एकेनैव दृष्टान्तेन विवक्षितार्थसिद्धौ किमित्यनेकदृष्टान्तोपादान-  
मित्याशङ्क्याऽऽह—अनेकेति । इहेति जगदुच्यते श्रुतिर्वा । सामान्यबहुत्वमेव स्फुटयति—अनेके हीति ।  
तेषां स्वस्वसामान्येऽन्तर्भावोऽपि कुतो ब्रह्मणि पर्यवसानमित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । कथमित्य-

व्याख्या पूर्वोक्त मन्त्र के समान समझ लेनी चाहिए ॥८॥

इसी प्रकार “वीणायै वाद्यमानायै” बजायी हुई वीणा का दृष्टान्त भी समझ लेना चाहिए ।  
पूर्वप्रतिपादित अनेक दृष्टान्तों का ग्रहण सामान्य की बहुलताज्ञापन करने के लिए है । चेतन और  
अचेतन सामान्य के भेद अनेक और विलक्षण हैं । जिस प्रकार उनका परम्परा से एक प्रज्ञानघन महा-  
सामान्य में पर्यवसान होता है—यही किसी प्रकार प्रदर्शित करना है । दुन्दुभि, शङ्ख और वीणा के  
सामान्य और विशेषों का (जिस प्रकार) शब्दत्व में अन्तर्भाव है (उसी प्रकार प्रज्ञानघन में समस्त

१. सामान्यभेदाः सामान्यस्य भेदाः सामान्यानि विशेषाश्चेत्येव वा विग्रहः । २. सर्वस्यारमात्रस्य  
विवक्षितौ दार्ष्टान्तिकरूपीर्यस्तस्यैक्यादेनेनैव दृष्टान्तेन सिद्धिरित्यर्थः । ३. अन्तर्भावः ।

अनेकदृष्टान्तेत्यारम्भ दुन्दुभिश्चेत्येततः प्राक्तनभाष्यस्यरहस्याविस्मरणपरानि वाक्त्रिभानि प्रदर्शयन्ते ।  
“दार्ष्टान्तिकार्थासिद्धिरेकेनैव कृतावधत् । दृष्टान्तेन बहूना तु विमर्शोक्तिरित्येते ॥ महासामान्य एवस्मि-  
न्विशेषाणामशेषतः । विलम्बः स्यात्कथं नाम व्यावृत्तान्वयस्मिणाम् ॥ महासामान्यदृष्टान्तो दोन्दुभो रव उच्यते ।  
सामान्यत्वरूपस्य दुन्दुभ्याघात इष्यते ॥ बाह्यानि तदावौक्तिकविशेषाणां तु नैवतम् । इत्युक्तार्थप्रसिद्धयर्थ-  
मित्युदाहरणप्रथमम् ॥ अन्यव्यतिरेकाम्बाधभाववपुषाऽप्यथा । सद्बोध्यस्याद्विस्वस्तु न माननावनीयते ॥  
पञ्चार्थासिद्धौऽस्तः स्यादद्वितीयासिद्धौऽस्तः । यथा मनि तथा विद्याद्वितीयन्यमानवे ॥ सामान्यभेदरूपाणां  
विशेषाणामशेषतः । महासामान्य एकत्र भूयसा स्याद्यथा तथा ॥ भिद्योभिप्रपदार्थानां नामरूपान्वयार्थम् ।  
स्थूलाद्यनभिसम्बन्धे कार्यकारणरूपिणाम् ॥ सूक्ष्मताव्यापिते ज्ञेये भूम्यादेरुत्तरोत्तरम् । प्रत्यक्षारमावसानम्

इति दुन्दुभिः शब्दसामान्यविशेषाणां यथा शब्दत्वेऽन्तर्भावः । एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषाद्यतिरेकादग्रहणं कर्तुं शक्यमवगन्तुम् ॥ ६॥

स्मात्पूर्वं तथेत्यध्याहारः । इति मन्यते श्रुतिरिति शेषः । 'विमतं नाऽऽमातिरेकि तदतिरेकेणागृह्यमाणत्वाद्यद्यतिरेकेणागृह्यमाणं तत्तदतिरेकि न भवति यथा दुन्दुभ्यादिशब्दास्तत्सामान्यातिरेकेणागृह्यमाणास्तदतिरेकेण न सन्तोत्यनुमानं विवक्षन्नाह—दुन्दुभीति । शब्दत्वेऽन्तर्भावस्तथा प्रज्ञानपक्षे सर्वं जगदन्तर्भवतीति शेषः । दृष्टान्तत्रयमवष्टुभ्य 'निर्दिष्टतमं पुनसंहरति—एवमिति ॥ ६ ॥

जगत् का अन्तर्भाव हो जाता है) । इस प्रकार स्थितिकाल में सामान्य और विशेष से ग्रह्य अभिन्न होने के कारण ग्रहात्मैक्यज्ञान होना संभव है ॥ ६॥

इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में उत्पत्ति से पूर्व ग्रह्य ही था, ऐसा जानना संभव है । जिस

१. ग्रहाण । २. अखिल जगत् । ३. साक्षितम् ।

पूर्वपूर्वग्रहाणत ॥ नामादीनि च तत्त्वानि प्राणान्तानि तयाऽऽयति । पूर्वपूर्वग्रहाणेन मान्यस्त वैवलाद्वये ॥ २८१-२८५ ॥ अनकदृष्टान्तोक्तिमासिपति—दाष्टान्तिकेति । सर्वस्याऽऽग्रमात्रस्य दाष्टान्तिकोऽर्थः । तस्यैक्यादेवेनैव दृष्टान्तेन सिद्धेदुन्दुभिः शब्दसामान्यासु दुन्दुभ्यादिरसौ दुन्दुभ्यापातविवादादस्येति बहूनामुक्तिरफलेत्यर्थः । तत्फल प्रतिजानीत—इयंत इति ॥ तत्प्रकटयति—महासामान्येति । एकस्मिन्ग्रहाणि महासामान्यस्थानीये विशेषाणां सामान्यस्योभयेषां च क्रमेण सद्यः भवतु नानादृष्टान्तोक्तिरित्यर्थः ॥ सत्यक्रम दर्शयितुं दृष्टान्तत्रयस्य दाष्टान्तिकत्रयेणान्यमाह—महासामान्येति । दुन्दुभ्यादिप्रयुक्तशब्दसामान्यादि विना तद्विशेषाभावाद्बहून्संस्कारणस्याप्यकार्यकारणग्रहातिरेकेणाभावात्सामान्यस्थानीयस्य कारणस्याद्वये ग्रहाणि सद्ये दृष्टान्तोऽन्तत्सामान्यावसानमूनिदुन्दुभ्यादिशब्दमात्रमित्यर्थः । दुन्दुभ्यापातशब्देन तदाह्ननकृतशब्दव्याप्य सामान्यविशेषो गृह्ये स च शब्दविशेषसमाप्तिदेश सामान्यविशेषात्मकभूतपञ्चवस्य सूक्ष्मकारणैश्चासन्मित्यत्र निदर्शनमित्याह—सामान्यनि ॥ अन्यत्रायाणां भौतिकानां भूतेष्वनुवृत्त्यावृत्तेश्चैव निष्ठेत्यत्र बाह्याशब्दानित्युक्तिर्दृष्टान्तस्ते हि दुन्दुभ्यापातशब्दत्वावान्तरसामान्यविशेषे लीयन्त इत्याह—बाह्यामिति । तथाचेति महासामान्यादिवृष्टान्तवदित्यर्थः । कारणस्याद्वयं ग्रहाणि भूतानां कारणे भौतिकानां तत्त्ववसानमित्युक्तत्वंसिद्धयर्थं दृष्टान्तत्रयमित्युपसहरति—इत्युक्तं ॥ अनेकदृष्टान्तस्य फलोक्त्या सर्वस्य ग्रहामात्रत्वमुक्त्वा तदेव दृष्टान्तान्तरेण साधयितुं तदाह—अत्ययति । सविशेषास्य वस्तु तत्सामान्यात्पृथगुच्यमानं तेन भेदेनाभेदेन शून्यतया वा मानतो न सिध्यत्यस्यलभेदेऽभेदे वा सामान्यविशेषात्सिद्धे शून्यत्वे च सद्धेतापत्तेरित्यर्थः ॥ तद्व्यवस्थे किं स्यादित्याशङ्क्यानेकव्यक्त्यभाव तदसद्व्यावृत्तिसामान्यविशेषत्वासिद्धिरित्याह—पठोति । दृष्टान्तमनूय दाष्टान्तिकमाह—सामान्यति । सविशेषाणां सर्वेषामवस्थिम् सत्सामान्यं यथावसानमित्यर्थः ॥ दृष्टान्तमुपसहरति—उक्तदृष्टान्तानुसारेण नामादिभिर्मार्गैर्ब्रह्मवर्तना कार्यदीनामवस्थलादिके ग्रहाणि तयात्प्रत्यगनुभवोद्भवोऽभ्युपगमः स्यादिति योजना ॥ सर्वस्य विनाशस्य प्रतीतिं क्रमेण सद्य इत्यत्र भाष्यकारसमतिमाह—सूक्ष्मतेति । पृथिवी-मयमतिमाह—नामादीनीति । तथेति अनन्तरोक्तन्यायवत् ॥

स यथाऽऽर्द्धधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्च-  
रन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमे-  
तद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः  
पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्या-  
ख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवंतानि निश्वसितानि ॥१०॥

इसमें चौथा दृष्टान्त यह है—जैसे गीली लकड़ी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार  
धुम्र निकलता है, हे मेनेत्रेयो । ऐसे ही ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (ये चार  
प्रकार के मन्त्रसमुदाय) उर्वशी-पुरुषासवादादि इतिहास-पुराण, देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक  
(ब्राह्मणभाग के मन्त्र) सूत्र, मन्त्रविवरण और ग्रन्थवाद हैं । वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के  
निश्वास हैं अर्थात् श्वास-निश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उस विज्ञानधन से सभी उत्पन्न  
हुए हैं ॥१०॥

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम् । यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गधूमा-  
ङ्गाराचिषां प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्याग्न्येकत्वमेवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः  
प्रज्ञानघन एवेति युक्तं ग्रहीतुमित्येतदुच्यते । स यथाऽऽर्द्धधाग्नेरार्द्धरेधोभिरिद्वोऽग्निरार्द्ध-

स यथाऽऽर्द्धधाग्नेरिषादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एवमित्यादिना । स्थितिकालवदित्येवंशब्दाद्यः ।  
'तत्र वाक्यमवतारं व्याचष्टे—इत्येतदिति । महतोऽग्नवच्छिन्नस्य भूतस्य परमायस्येति यावत् ।

प्रकार अग्नि की चिनगारी, धूम, अङ्गार और ज्वालाओं का जन्म होने से पूर्व धूमादि सब अग्निमय  
है, इससे अग्नि की एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नाम-रूपात्मक विकृति को प्राप्त जगत् उत्पत्ति  
से पूर्व प्रज्ञानघन ही था, ऐसा ग्रहण करना ठीक ही है । इसी से यह अग्निमय मन्त्र कहा जाता है ।  
वह “आर्द्धधाग्नेः यथा” यानी गीली लकड़ी से चारों ओर प्रज्वलित अग्नि से जिस प्रकार “पृथग्धूमा”

१. शक्यमिति—सथा च वार्तिके—“स्थितिकाले यथैकात्म्य शक्यते ज्ञानुमञ्जसा । यथोक्तन्यायतस्तद्वदुत्पत्तावपि  
शक्यते” ॥ २६७ ॥ इति ॥ यथोक्तन्यायो दृष्टान्तत्रयम् । २. ननु शब्दनामान्ये तद्विरोपायामेक्य दृष्टं  
यथा न तथा भिन्नजानोमघटादीनां वीरणादावतो नामादिभिन्नस्य जगती नात्मन्येव यत्रात्पादित्याङ्गुप  
यमाद्यत्ते—संप्रति । ३. विभागेऽग्न जन्म । ४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ५. एतदात्मना विकृतम् । ६.  
समाधत्ते—संप्रति । ७. विभागेऽग्न जन्म । ८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ९. एतदात्मना विकृतम् । १०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
११. एतदात्मना विकृतम् । १२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । १३. एतदात्मना विकृतम् । १४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
१५. एतदात्मना विकृतम् । १६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । १७. एतदात्मना विकृतम् । १८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
१९. एतदात्मना विकृतम् । २०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । २१. एतदात्मना विकृतम् । २२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
२३. एतदात्मना विकृतम् । २४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । २५. एतदात्मना विकृतम् । २६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
२७. एतदात्मना विकृतम् । २८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । २९. एतदात्मना विकृतम् । ३०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
३१. एतदात्मना विकृतम् । ३२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ३३. एतदात्मना विकृतम् । ३४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
३५. एतदात्मना विकृतम् । ३६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ३७. एतदात्मना विकृतम् । ३८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
३९. एतदात्मना विकृतम् । ४०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ४१. एतदात्मना विकृतम् । ४२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
४३. एतदात्मना विकृतम् । ४४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ४५. एतदात्मना विकृतम् । ४६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
४७. एतदात्मना विकृतम् । ४८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ४९. एतदात्मना विकृतम् । ५०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
५१. एतदात्मना विकृतम् । ५२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ५३. एतदात्मना विकृतम् । ५४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
५५. एतदात्मना विकृतम् । ५६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ५७. एतदात्मना विकृतम् । ५८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
५९. एतदात्मना विकृतम् । ६०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ६१. एतदात्मना विकृतम् । ६२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
६३. एतदात्मना विकृतम् । ६४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ६५. एतदात्मना विकृतम् । ६६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
६७. एतदात्मना विकृतम् । ६८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ६९. एतदात्मना विकृतम् । ७०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
७१. एतदात्मना विकृतम् । ७२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ७३. एतदात्मना विकृतम् । ७४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
७५. एतदात्मना विकृतम् । ७६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ७७. एतदात्मना विकृतम् । ७८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
७९. एतदात्मना विकृतम् । ८०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ८१. एतदात्मना विकृतम् । ८२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
८३. एतदात्मना विकृतम् । ८४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ८५. एतदात्मना विकृतम् । ८६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
८७. एतदात्मना विकृतम् । ८८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ८९. एतदात्मना विकृतम् । ९०. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
९१. एतदात्मना विकृतम् । ९२. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ९३. एतदात्मना विकृतम् । ९४. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
९५. एतदात्मना विकृतम् । ९६. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ९७. एतदात्मना विकृतम् । ९८. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।  
९९. एतदात्मना विकृतम् । १००. धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः ।

इति दुन्दुभिशाङ्खवीणाशब्दसामान्यविशेषाणां यथा शब्दत्वेऽन्तर्भावः । एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषाद्व्यतिरेकाद्ग्रहणं कर्तव्यं शक्यमवगन्तुम् ॥६॥

स्मात्पूर्वं तथेत्यध्याहारः । इति मन्यते श्रुतिरिति शेषः । 'विमतं नाऽऽश्नमातिरेकि तदतिरेकेणागृह्यमाणत्वाद्यद्यदतिरेकेणागृह्यमाणं तत्तदतिरेकि न भवति यथा दुन्दुम्यादिशब्दास्तत्सामान्यातिरेकेणागृह्यमाणान्तास्तदतिरेकेण न सन्तीत्यनुमानं विवक्षणाह—दुन्दुभीति । शब्दत्वेऽन्तर्भावस्तथा प्रतानघने सर्वं जगदन्तर्भवतीति शेषः । दृष्टान्तत्रयमवष्टुम् 'निष्टुङ्कृतमयंमुपसहरति—एवमिति ॥ ६ ॥

जगत् का अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार स्थितिकाल में सामान्य और विशेष से ग्रहण अभिन्न होने के कारण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होना सम्भव है ॥६॥

इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में उत्पत्ति से पूर्व ग्रहण ही था, ऐसा जानना सम्भव है । जिस

१. ब्रह्मण । २. अस्ति जगत् । ३. साधितम् ।

पूर्वपूर्वग्रहणतः ॥ नामादीनि च तत्त्वानि प्राणानानि तथाऽऽश्नानि । पूर्वपूर्वग्रहणं मान्यस्त केवलाद्वये ॥२८६-२८७॥ अनकदृष्टान्तोक्तिमाक्षिपति—दाष्टान्तिकेति । सर्वस्याऽऽश्नमानस्य दाष्टान्तिकोऽर्थः । तस्यैक्यादेवेनैव दृष्टान्तमसिद्धदुन्दुभिशाङ्खवीणासु दुन्दुम्यादिरथो दुन्दुम्याधातादिबाह्यशब्दादवेति बहूनामुक्तिरफलेत्यर्थः । तत्फल प्रतिजानीत—इयत् इति ॥ तत्प्रकटयति—महासामान्येति । एकस्मिन्नब्रह्मणि महासामान्यत्वानीति विशेषाणां सामान्यस्योभयथा च क्रमेण लय वक्तुं मानादृष्टान्तोक्तिरित्यर्थः ॥ सक्रमं दर्शयितुं दृष्टान्तत्रयस्य दाष्टान्तिकत्रयेणान्वयमाह—महासामान्येति । दुन्दुम्यादिप्रयुक्तशब्दसामान्यादि बिना तद्विशेषाभाववन्मूलकारणस्याप्यकारणकारणब्रह्मातिरेकेणाभावात्महासामान्यत्वानीत्यस्य कारणस्याद्वये ब्रह्मणि सत्ये दृष्टान्तोऽन्तरसामान्यावसानभूमिदुन्दुम्यादिशब्दमात्रमित्यर्थः । दुन्दुम्याधातशब्देन तदाहनेनकृतशब्दत्वव्याप्य सामान्यविशेषो गृह्यते ॥ च शब्दविशेषसमाप्तिदेश सामान्यविशेषात्मकभूतपञ्चकस्य मूलकारणेऽवसानमित्यत्र निदर्शनमित्याह—सामान्यति । अन्यकार्याणां भीतिवत्ता भूतपञ्चवृत्तव्यावृत्तत्वेन निष्ठेत्यत्र बाह्यज्वाभ्यामित्युक्तिदृष्टान्तस्ते हि दुन्दुम्याधात शब्दत्वावातरसामान्यविशेषे लीयन्त इत्याह—बाह्यानि । तथाप्येति महासामान्यादिदृष्टान्तबहिरप्य । कारणस्याद्वय ब्रह्मणि भूतानां कारणे भीतिवत्ता तत्त्ववसानमित्युक्तार्थसिद्धयर्थं दृष्टान्तत्रयमित्युपसहरति—इत्युक्तिः ॥ अनेकदृष्टान्तस्य फलकत्वा सर्वस्य ब्रह्मात्रत्वमुक्त्वा तदेव दृष्टान्तान्तरेण साधयितुं सदाह—अवयति । मद्दिशेपास्य वस्तु तत्सामान्यात्पृथगुच्यमानं तत्र भेदेनाभेदेन धूयतया वा मानतो न सिध्यत्यस्यन्तर्भेदभेदे वा सामान्यविशेषत्वासिद्धे धूयत्येव स दद्वैतापत्तेरित्यर्थः ॥ तद्वद्व्यत्ये किं स्यादित्याशङ्क्यानेकव्यक्त्यभाव तदसत्त्वात्तात्प्रायश्चित्तविशेषत्वासिद्धिरित्याह—पठति । दृष्टान्तमनूद्य दाष्टान्तिकमाह—यति । सत्यद्वयत्वमङ्गत्वं च यथावत् तथा स्वप्रकाशे प्रतीक्यपि तज्ज्ञेयमित्यर्थः ॥ दृष्टान्तमुपसहरति—सामान्यति । तद्विशेषाणां सर्वेषामस्मिन् सत्त्वामान्यं यथाऽऽश्नानमित्यर्थः । दाष्टान्तिकं विवृणोति—तथेति ॥ चतुर्दृष्टान्तानुसारेण नामादिभिर्मयोऽन्यार्थानां कार्यादीनामभ्युपगमादिके ब्रह्मणि सत्त्वात्प्रत्यगनुभवोऽप्योऽनुभवमारम्भाऽऽश्नान्तत्वेनैव पूर्वपूर्वग्रहणादित्यागतोत्तरस्यावादे सोदम्यादि ज्ञेयमिति योजना ॥ तत्रैव च्छान्दोग्यसमतिमाह—नामादीनीति । तथेति अन्तर्गतोत्तरायवत् ॥

स यथाऽऽर्द्धधानेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्च-  
रन्त्येव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चसितमे-  
तद्यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः  
पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्या-  
ख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्चसितानि ॥१०॥

इसमें चौथा दृष्टान्त यह है—जैसे गीली लकड़ी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार का धुआँ निकलता है, हे मंत्रेयो । ऐसे हो ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (ये चार प्रकार के मन्त्रसमुदाय) उर्वशी-पुरुषासवादादि इतिहास-पुराण, देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक (ब्राह्मणभाग के मन्त्र) सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद है। वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के निश्वास हैं अर्थात् इवास-निश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उस विज्ञानधन से सभी उत्पन्न हुए हैं ॥१०॥

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम् । यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गधूमा-  
ङ्गाराचिषा प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्याग्न्येकत्वमेवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः  
प्रज्ञानधन एवेति युक्तं ब्रहीतुमिष्येतदुच्यते । स यथाऽऽर्द्धधानेराद्रैधोभिरिन्द्रोऽग्निराद्रै-

स यथाऽऽर्द्धधानेरित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एवमित्यादिना । स्थितिकालवदित्येवशब्दार्थः ।  
'तत्र वाक्यमवगतम् व्याघ्रष्टे—इत्येवमिति । महतोऽनवच्छिन्नस्य भूतस्य परमार्थस्येति यावत् ।

प्रकार अग्नि की चिनगारी धूम, अङ्गार और ज्वालाओं का जन्म होने से पूर्व धूमादि सब अग्निमय है, इससे अग्नि की एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नाम रूपात्मक विकृति को प्राप्त जगत् उत्पत्ति ने पूर्व प्रज्ञानधन ही था, ऐसा ग्रहण करना ठीक ही है। इसी से यह अग्निम मन्त्र कहा जाता है। वह 'आर्द्धधाने यथा' यानी गीली लकड़ी से चारों ओर प्रज्वलित अग्नि से जिस प्रकार "पृथग्धूमा"

१ शक्यमिति—तथा च वार्तिके—“स्थितिकाले यथैकारस्य शक्यते ज्ञातुमञ्जसा । यथोक्तं यावत्तत्तदुत्पत्तावपि शक्यते” ॥ २६७ ॥ इति ॥ यथोक्तान्यामो दृष्टान्तत्रयम् । २ ननु दादसामाये तद्गोपाणामैक्यं दृष्टं यथा न तथा भिन्नजातीयपटादीनां धोरणादावतो नामादिभिन्नस्य जगतो नात्मन्यैक्यं वैजात्यादित्वाशङ्क्य सम्यक्ते—यथेति । ३ विभागेऽन जम । ४ धूमादयोऽग्निरेवेत्यर्थः । ५ एतदात्मना विकृतम् । ६ उत्पत्तात्पर्यं स यथेत्यादिवाक्ये नोच्यत इत्यर्थः । ७ तात्पर्यमिति—परस्य कारणत्वे फलेन भाव्यं बुद्धिपूर्व-कारिणो विषयप्रवृत्त्ययोगाच्च चासहायस्यामरानादित्यतः कारणतति साधनमपि निश्चिन्नाद्यत्तया चाऽऽप्य-मत्वादिहानिरिति वेचित्ता प्रत्यतदेव वाक्यमुत्तरमिति वार्तिकोत्पत्तात्पर्यान्तरमप्यत्र द्रष्टव्यम् । तथा च वार्तिके—“स्वार्थसाधनयस्यादीननपेक्षयोग्यवेष्टया । धूमादी हृतमुत्पत्तिप्राणादी प्रत्ययीदवर ” ॥ २०३ ॥ इति । ८ एवमेवैव ।

धाग्निस्तस्मादभ्याहितात्पृथग्धूमाः पृथग्नानाप्रकारं धूमग्रहणं विस्फुलिङ्गादिप्रदर्शनाय धूमविस्फुलिङ्गादयो विनिश्चरन्ति विनिगच्छन्ति । एवं यथाऽयं दृष्टान्तः । अरे मेत्रेऽप्यस्य परमात्मनः प्रकृतस्य महतो भूतस्य निश्चितमेतन्निश्चितमिव निश्चितम् । यथाऽप्र-  
त्नेनैव पुरुषनिभासो भवत्येवं वा अरे । किं तन्निश्चितमिव ततो जातमित्युच्यते ।  
प्रह्ववेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वान्निश्चितमिव मन्त्रजातमितिहास इत्युर्वंशोपुरुषवसोः  
संवादादिरुर्वंशो हाम्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि । विद्या  
'देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या । 'उपनिषदः 'प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः । इलोका  
'ब्राह्मणप्रभवा तन्त्रास्तवेतेह लोका इत्यादयः । सूत्राणि 'वस्तुसंग्रहयावयानि (णि) वेदे यथा-  
ऽऽस्तेत्येवोपासीतेत्यादीनि । अनुव्याख्यानानि 'मन्त्रविवरणानि । व्याख्यानान्यर्थवादाः ।

निश्चितमित्येत्युक्तं व्यनक्ति—यथेति । अरे मेत्रेय ततो जातमिति संबन्धः । 'तदेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं  
विशदयति—किं तदित्यादिना । इतिहास इति ब्राह्मणमेवेति संबन्धः । संवादादिरित्यादिपदेन  
प्राणसंवादादिग्रहणम् । असद्वा इदमग्र आसीदित्यादीत्यत्राऽऽदिशब्देनासदेवेदमग्र आसीदिति गृह्यते ।  
देवजनविद्या नृत्यगीतादिशास्त्रम् । वेदः "सोऽयं वेदाद्गृह्णन् भवतीत्यर्थः । इत्याद्या विद्येति संबन्धः ।  
आदिशब्दः शिल्पशास्त्रसंग्रहार्थः । प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्या इत्यत्राऽऽदिशब्दः सत्यस्य सत्यमित्यु-  
पनिषत्संग्रहार्थः । तदेते भूलोका इत्यादय इत्यत्राऽऽदिशब्देन तदप्येव भूलोको भवति । अन्तेव स  
भवतीत्यादि गृह्यते । इत्यादीनीत्यादिपदमग्न योज्यां देवतामुपास्ते ब्रह्मविदानोति परमित्यादि

अर्थात् नाना प्रकार का धूम निकलता है । मन्त्र मे धूमग्रहण विस्फुलिङ्ग आदि के प्रदर्शन के लिये है ।  
धूम और चिनगारी आदि "विनिश्चरन्ति" अर्थात् निकलती हैं । इसी प्रकार जैसे यह दृष्टान्त है । अरे  
मेत्रयो । इस परमात्मा के प्रकृत महद्भूत का "निश्चितम्" यानी निश्वास के समान निश्वास है ।  
जिस प्रकार बिना प्रयत्न के स्वास आता जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञानघन से जगत् उत्पन्न हुआ है । जो  
यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वान्निश्चित चार प्रकार का मन्त्रसमुदाय है तथा उर्वंशी-पुरुषरा  
का संवादरूप जो इतिहास है । ब्राह्मणग्रन्थो मे कहा है—उर्वंशी अप्सराएँ थी । "सृष्टि के पहले यह  
नामरूपात्मक जगत् अर्ध्याकृत ब्रह्मरूप ही था" इत्यादिरूप पुराण है । "बहु यह वेद है" इत्यादि  
नृत्यगीतादिशास्त्र विद्या है । "उसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिए (क्योंकि 'प्रिय' यह उसका  
चतुर्थपाद है)" इत्यादि अग्निधायकशब्दरूप उपनिषत् है । "स्वयज्योतिष्टवादि अर्थ को प्रतिपादन  
करने वाले ये मन्त्र हैं" इत्यादि ब्राह्मणभागमात्रस्य श्लोक ही मन्त्र है । दिवादि वस्तु को संक्षेप मे  
प्रतिपादन करनेवाले वेद मे वाक्य हैं—जिस प्रकार "आत्मा है, इस रूप से उसकी उपासना करे"  
इत्यादि । ("क्योंकि उस सृष्टिकर्ता ने मेघा व तप के द्वारा उत्पत्ति की" इत्यादि) मन्त्रविवरणात्मक

- १ अभित प्रज्वलितात् । २ अथर्वणा अङ्गिरणा च दृष्टा यन्त्रा अथर्वान्निश्चित । ३. "उदबुग्म निधाय  
वास्वोर्बलीय परिनृत्यन्तीत्यादि" ब्रा. । ४. अग्निधायकशब्दरूपा । ५. वृ० उ० ४।१।३ । ६. ब्राह्मण-  
भागमात्रस्या न तु मन्त्रभाष्यस्याः । ७. विद्यादिवस्तुसंक्षेपप्रतिपादितानि । ८. "मेघया हि तपसाऽज्जनय-  
त्येते"स्येवमादीनि । ९. ततो जातमेव । १०. नृत्यादिप्रतिपादकशास्त्रमित्यर्थः ।



पुरुषनिश्चासयन्न च पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वकः । अतः प्रमाणं निरपेक्ष एव  
स्वायं । 'तस्माद्यत्तेनोक्तं तत्तथैव प्रतिपत्तव्यमात्मनः श्रेय इच्छद्भिर्जनं वा कर्म वेति ।

'अनादिनिघनान्तित्येत्यादेशः सवातनत्वं तस्य निश्चीयते । न च 'कृतकत्वादप्रामाण्यं प्रत्यक्षादौ  
'अभिचारात् । न च पीरयेत्येवादनपेक्षत्वहेत्यभावादप्रामाण्यम् । 'बुद्धिपूर्वप्रणीतत्वाभावेन तत्सिद्धे ।  
'न चोन्मत्तवाक्यसादृश्यमवाधितार्थत्वादिति भावः । सिद्धे वेदस्य प्रामाण्ये कलितमाह—तस्मादिति ।

नियतरचनावान् (कृपाकाशादि के समान) विद्यमान वेद की ही अभिव्यक्ति हुई है, पुरुष की बुद्धि के  
प्रयत्न से (वेदों की) रचना नहीं हुई है । इसलिए (चिदात्मा से नित्य होने के कारण) प्रमाण स्वायं  
में निरपेक्ष ही है । इसलिए (वेद के प्रामाण्य होने से) ज्ञेयत्व अथवा अनुष्ठेयत्ववत् से ज्ञान या कर्म  
द्वारा जिसका जैसा निरूपण किया है, श्रेयस्कामियों को वैसे ही आत्मप्राप्ति कर लेनी चाहिये । न्य

१ वेद इति शेषः । २ चिदात्मना निरयत्नान् । ३ वेदस्य प्रामाण्यात् । ४ ज्ञेयत्वानुष्ठेयत्वेन वेति  
शेषः । ५ "अनादिनिघना नित्या वागुत्पृष्टा स्वयमुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तयः ॥" इति  
पूर्णा स्मृतिः । उत्पृष्टत्वोक्त्या पीरयेत्येवादनपेक्षत्वोक्तं अगवत्पादं । उत्सर्गाज्ययं वाचं सप्रदायप्रवर्तनात्मनो  
द्रष्टव्यं । अनादिनिघनाया अयाह्नस्योत्सर्गस्यासम्भवादिति । सम्प्रदायो गुरुशिष्यपरम्पराध्ययनम् । रूपमर्गा-  
त्प्राप्यमादिवाक्यं । सम्प्रदायान्तिरेकेणाप्राप्तिर्दिव्यत्वम् । अस्त्वेव शब्दमुष्टिस्तर्थापि कथं तत्पूर्वार्थमुष्टि-  
स्तत्राह—यत इति । ६ अभिव्यक्तव्यमेवात्र इत्यत्र त्वेनातिरिक्तत्वात्तदपेक्ष प्रामाण्यं घटादिवत् । ७  
अभिचारादिति—तत्र तत्सत्त्वेऽपि प्रामाण्यसत्त्वादित्यर्थः । अयमाशयः न हि नित्यत्व प्रामाण्ये हेतुः आत्मात्मादौ  
सम्भवात् नाप्यनित्यत्वमप्रामाण्ये हेतुश्चक्षुरादेरपि प्रामाण्यादतोऽनाद्योपनिच्छेदितो वेदस्यानपेक्षप्रामाण्य-  
सिद्धिरिति । ८ न च पीरयेत्येवादनपेक्षत्वोक्तं—शब्दार्थसम्बन्धस्य सन्नेतिवत्त्वाद्देवस्य स्वराक्षया चक्षुरादिवद्वा-  
चकत्वात् सकृत्तयितुपुरुषबुद्धिपेक्षत्वादप्रामाण्यमिति शङ्कितुराशयः । ९ बुद्धिपूर्वेति—न हि वेदो धीपूर्वक-  
स्तदर्थमानात्सुराभ्योऽपि ऐशज्ञानं तत्र भवदपि । वदरचनायामुपयुज्यते निश्चितयुक्तेरतो वेदवत्तदर्थसंबन्धार्थ-  
शक्तिरुपचक्षुरादेरिव विद्यमान एव परस्माद्व्यज्यते न साकेतिकस्त्वस्माद्वस्त्वनुसारी वेदोऽप्यसादिवगमानमिति  
समाधानुपपन्नम् । तन्नित्यत्वादौ स्थितं सति बुद्धादिवान्योत्पत्तीवत् वेदाप्रामाण्यमित्युक्तमयुक्तं च द्रष्टव्यम् । वेद  
स्वायं मानमज्ञातज्ञापकत्वात्परेष्टेवरयोवदित्यपि बोध्यम् । १० ननु सिद्धान्तोऽपि निश्चितयुक्त्या  
वेदस्याधीपूर्वकत्वोपगमे प्रामाण्यविरोधो यतो मत्ताद्युक्तिवदित्याद्युक्त्याऽह—न चोन्मत्तति । विप्रलम्भकाद्युक्ति-  
समो वेद इत्यस्यानुक्तवसदिग्धाऽवाधिताज्ञातधीहेतुः सन् न तत्सम इति वक्तुं शक्यत्वादिराशयः ।

नायथा तस्य प्रामाण्यमुपपद्यते ॥ प्रत्यक्षवदवचनविरुद्धं तेषु यद्वचनं । बुद्धवाक्यादिवत्तादुक्तवाक्यं श्रुतिविरोधतः ॥  
न चैवरातिरेकेण कश्चित्स्रष्टाऽगुपेयत । इतिहासपुरुषादिस्तदन्वस्वहं कायतः ॥ कारणत्व प्रमाणन यस्य  
साक्षाद्विनिरिचतम् । अपि उत्तायकर्तृत्वे तदेवागुपेयमयतः ॥ बीजमेवाङ्कुरादीनां यथा नारणमित्यतः ।  
अङ्कुराद्यात्मनां सद्ब्रह्मीमेव तु कारणम् ॥ आद्यन्तयोयता बीजं प्रत्यक्षाभाववीयत । तस्मात् मध्यकामेषु  
बीजमेवास्तु कारणम् । न च वेदोक्तितो वेद अदृश्या इह्यते । क्लिप्तमानत्वहेतुना वदवाक्यध्वसम्भवात् ॥  
प्रामाण्यं वेदवाक्यानां न च मानातराशयात् । अक्षादरपि मानत्व यथोक्तादव कारणत्वात् ॥ वा ३१९-३२६ ॥  
अपोनस्वत्वमं ब्राह्मणोद्भूता इत्युक्तम् ॥ अत्रति प्रकृतवाक्यग्रहणम् । प्रसिद्धतिहासादिग्रहं निश्चितयुक्तिप्राति-  
कूल्यमभिप्रत्याह—प्रतिद्वित्वेति । आध्यानुसारेण यदुवेद इत्यादि व्याख्यायाधान्तरमाह—मन्त्रति । इतिहासा-  
दिग्रहस्तद्धि कथमष्टविधं ब्राह्मणं भाष्यं बृहोत्तमत्याद्यष्ट दूषयति—सोर्केति । वापकाभावं बृहत्प्रसिद्धि-



‘नामप्रकाशवशा हि रूपस्य विक्रियावस्था । नामरूपयोरेव हि परमात्मोपाधिभूतयोर्व्या-  
क्रियमाणयोः सलिलफेनवत्तरवान्यत्वेना’ निर्वक्तव्ययोः सर्वावस्थयोः संसारत्वमित्यतो  
नाम्न एव निश्चसितत्वमुक्तम् । तद्वचनेनैवंतरस्य निश्चसितत्वसिद्धेः । अथवा

नामप्रपञ्चसृष्टिरेवात्रोपदिष्टा न रूपप्रपञ्चसृष्टि सा चोपदेष्टव्या सृष्टिरित्युक्तं न्यायाज्जुपपत्तेरित्याश-  
ङ्क्याऽऽह—‘नामेति’ । यद्यपि नामतन्त्रा रूपसृष्टिरिति नामसृष्टिचनेन रूपसृष्टिर्यादुक्ता तथाऽपि  
सर्वसंसारसृष्टिर्नोक्ता नामरूपयोरेव समारत्वे प्राक्तसृष्टे ससारो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—‘नामरूप-  
योरिति । सर्वावस्थयोर्भवंत्काव्यक्तावस्थयोरिति यावत् । नामप्रपञ्चस्यैवान्तर्गतोक्तिमुपपादितामुपसहरति  
—इतीति । अतः शब्दार्थ स्फुटयति—तद्वचनेनेति । निश्चसितत्वं विधातृत्वेणान्वयतारयति—

की विकार व्यवस्था नामसंज्ञक प्रकाशक के अधीन है । जल और फन के समान जिसका भेद या  
भेदनादिके द्वारा जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, उन परमात्मा के उपाधिभूत विकार को प्राप्त  
हुए समग्र अवस्थाओं में स्थित नाम और रूप को ही संसार कहते हैं । इसलिए नाम के ही उपाधयुक्त  
होने का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि उसके निर्वचन से ही रूप का निर्वचन सिद्ध होता है ।  
अथवा मैं कहूँ कि “ब्राह्मण जाति उसे भ्रष्ट कर देती है”, ‘यह जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है’

१ नामाख्यप्रकाशकाधीन । २ भेदाभेदादिनामनिर्वाच्ययोः । ३ रूपस्य । ४ तथा च साम्याद्युक्तैवति  
बोध्यमिति भावः ।

नार्तिकमणीयति भावः ॥ ऋगादिसिंहिततिहासादिशब्देनापि प्रसिद्धग्रहे स्मार्तं लिङ्गमाह—इतिहासति ।  
‘बिभल्पत्प्रभृतद्वेदा मामय प्रहरिष्यतीति भागान्तरम् । आदिमनुना बृद्धमनुनेति यावत् । अणिगाणीत्वपरेषु ॥  
इतिहासादिना वेदावनिरूपणं चेतदपेक्षया तत्प्रामाण्यादनपक्षप्रामाण्यक्षतिरित्याशङ्क्य वैपरीत्यान्वैवमित्याह—  
इतिहासेति । न हि व्याख्यातयोः विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायाद्व्याख्यातृवाक्याद्वदायनियमं तदपक्षया वदाजपक्ष  
प्रामाण्यं जहातीति भावः ॥ इतिहासादेरपि वेदवत्प्रामाण्यं कृतस्तत्पेक्षा स्वतः एव तद्योगादित्याशङ्क्याऽऽह—  
प्रत्यक्षेति ॥ कथमत्र प्रसिद्धेतिहासादिग्रहे कत्रन्तरस्मृतिरीश्वरस्यात्र कर्तृत्वभूततिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।  
इति चेत् सिद्धान्तोक्तिः ॥ परस्यैव व्यासादिरूपेण पुराणादिवाच्यत्वं साधयति—वाच्यत्वमिति । परम्याज्ञानद्वारा  
सर्ववाच्यतायां श्रुत्यादिसिद्धत्वात्कथमव्यासादेरितिहासादी कर्तृत्वस्मृतरपि तदव ब्रह्म तत्र तत्र तद्रूपेण  
कारण को ह्ययं पुण्डरीकाक्षान्ब्रह्माभारतत्रुद्धवदित्युक्तमित्यर्थः । ब्रह्मैव व्यासाद्यात्मना तत्तत्वाच्यमित्यन-  
न्दुष्टान्तनाऽऽह—वीजमिति । आद्यवीजस्याहंकारादिहेतुत्वं तत्रपुण्यादिहेतुत्वमहंकारादप्यस्तोत्रावाशङ्क्याऽऽह—  
अहंकारादीति । तत्वात्मना वीजमयं कारणं तत्रपुण्यादिरपीति शेषः । तथा ब्रह्मैव तत्तदात्मना तत्र तत्र कारण-  
मिश्राह—तद्वदिति ॥ बीजस्यैवाहंकाराद्यात्मना पञ्चादिहेतुत्वमत्र नियामकपक्षायां दृष्टान्तं प्रपञ्चयति—  
आद्यन्तर्धारयति । नयन्तरस्मृत्यविरोधार्थं नतिहासात् सापक्षं प्रामाण्यं निर्वचयितुं नयन्तरस्मृत्यविरुद्धपक्षत्वादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—न चेति । अस्यायं—निश्चसितमिति वदयचनेनाधीनपूर्वोक्त्या वदोजपक्षप्रामाण्यं नयति, किन्तु  
मानान्तरदृष्ट्यायत्वादीनामप्रामाण्यहेतूनां तत्राभावादितिहासाद्यनु वेदोपपत्त्युक्तत्वात्तदपक्षता न  
चेतिहासादिविषय निर्वचयितुं विरोध परमसाद्व्यासादिरूपादनायामनं तद्व्यतिरिक्तविषयत्वादिति ॥ साक्षात्पक्ष-  
सामर्थ्यं धत्वा वदेति बोधक इति न्यायाद्वदस्य मानान्तरादृष्ट्यायत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रामाण्यमिति ।  
पदानां शक्तिधिया मानान्तरापक्षत्वेऽपि न कथमप्रामाण्यं तदपक्षं तस्याज्ञातवर्तमानवर्तमानादित्यर्थः । अज्ञातापर-  
प्रामाण्यप्रयोजकमिति कथं निश्चयतः प्रसिद्धप्रामाण्येषु तत्पादुष्टेतिहाह—अज्ञादिति ॥

स यथा सर्वासामपा<sup>१</sup> समुद्र एकायनमेव<sup>२</sup> सर्वेषां<sup>३</sup>  
स्पर्शानां त्वगेकायनमेव<sup>४</sup> सर्वेषां गन्धानां नासिके  
एकायनमेव<sup>५</sup> सर्वेषां रसानां जिह्वा<sup>६</sup> एकायनमेव<sup>७</sup>  
सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेव<sup>८</sup> सर्वेषां शब्दानां<sup>९</sup>

आत्मा की सर्वरूपता में दृष्टान्त यह है कि जैसे सम्पूर्ण नदी-सरोवरदि के जलों का समुद्र ही एकमात्र प्राप्तव्यस्थान (अभेदप्राप्ति का स्थल) है, वैसे ही सम्पूर्ण स्पर्शों का प्रलयस्थान त्वचा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण गन्धों का एकायन दोनों नासिका है। ऐसे ही सम्पूर्ण रसों का एकायन जिह्वा है। ऐसे

सर्वस्य द्वैतजातस्याविद्याविषयत्वमुक्तं ब्रह्म तं परादादिवं सर्वं यदयमात्मेति<sup>१</sup> तेन वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्क्यते । तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदमुक्तं पुरुषनिश्चासवदप्रयत्नोत्थित-  
त्वात्प्रमाणं वेदो न यथाऽन्यो ग्रन्थ इति ॥१०॥

किंचान्यन्न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्जगतो ब्रह्मत्वं

अप्रवेष्ट्यादिना । 'मिथ्यात्वेऽपि प्रतिबिम्बवत्प्रामाण्यसंभवाद्भूतत्वादिवाक्यानां च 'मिथ्याज्ञानाधीन-  
प्रयत्नजन्यत्वेनामानत्वाद्देवस्य तदभावाद्विषयाव्यभिचाराच्च नाप्रामाण्यमित्याह—तदाशङ्केति ।  
अन्यो ग्रन्थो बुद्धादिप्रणीतः स्वयंकाम<sup>२</sup> इत्येव वन्देतेत्यादिः ॥ १० ॥

स यथा सर्वासामपा<sup>३</sup>मित्यादिसमन्तरग्रन्थमुत्थापयति—विचारयदिति । 'तदेव व्याकरोति

इन धृतिवाक्यों द्वारा सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च को अविद्या का कार्य कहा गया है। इन धृतिवाक्यों से वेद के अप्रामाण्य होने की शङ्का उत्पन्न होती है। उसी आशङ्का के निरास के लिए कहा गया है—पुरुष के निष्काम के समान निष्प्रयत्न उत्पन्न हुआ होने के कारण वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होता है, यह बुद्धादि-  
प्रणीत) ग्रन्थान्तर की तरह नहीं है ॥१०॥

इसके प्रतिरिक्त दूसरी बात कही जाती है। प्रज्ञानधन से व्यतिरिक्त जगत् का अभाव रहने से उसका ब्रह्मत्व केवल स्थिति और उत्पत्ति के समय ही नहीं है, बल्कि प्रलयावस्था में भी जगत् का ब्रह्मत्व सिद्ध है। जिस प्रकार जल, बुद्बुद और फेनादि की सत्ता जल का छोड़कर नहीं है, उसी प्रकार

१ वायस्वम् । २ अनन्य वाक्यम् । ३ तत्र वेदस्य प्रामाण्यमाशङ्क्यते इति । “इदं सर्वं यदयमात्मे त्वादि-  
मायनं सर्वस्य द्वैतजातस्याविद्याविषयत्वमुक्तं सर्वस्य मिथ्यात्वमुक्तं न हि मिथ्यात्वं दिनाऽविद्याविषयत्व  
सर्वस्य संभवति परस्परिणामादि तद्वत्प्रत्ययत्वे तन्मिथ्यात्वं तद्वत् स्ववेदस्यापि तद्भावाद्घूमाभासवदमानत्वमित्यर्थः ।  
४ अयमुक्त इति शब्दः । ५ मिथ्यात्वशीति—न हि मिथ्यात्वममानत्व हेतुः प्रतिबिम्बादौ व्यभिचारात्  
(प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि सत्यबिम्बानुमाप्यत्वात्) किन्तु अनुत्पत्त्यादि (शानानुत्पादकत्वादि) तथा  
(मिथ्यात्वेहेतुः) तद्वत् नास्ति धृतिवाक्यस्य बुद्बुदत्वादकत्वात् स कथादशचाभावादिति भावः । ६ नि स्वसित-  
युत्वा वेदस्याधीनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्प्रामाण्यविराधः उक्त्युत्पत्तिवदित्याशङ्क्याऽह—उक्त्युत्पादोक्तिः । ७  
आदिशानति यावत् । ८ यत्पु—बुद्धम् । ९ अन्यदेव ।

‘श्रोत्रमेकायनमेव’ सर्वेषां संकल्पानां मन एकायन-  
मेव सर्वसां विद्यानां हृदयमेकायनमेव सर्वेषां  
कर्मणां हस्तावेकायनमेव सर्वेषामानन्दानामुप-  
स्थ एकायनमेव सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेव  
सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव सर्वेषां वेदानां  
वागेकायनम् ॥ ११ ॥

ही सम्पूर्ण शब्दों का एकायन श्रोत्र है । ऐसे ही सभी संकल्पों का एकायन मन है । ऐसे ही सभी विद्याओं का एकायन हृदय है । ऐसे ही समस्त कर्मों का एकायन हाथ है । ऐसे ही समस्त भ्रान्तियों का एकायन उपस्थ है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का एकायन पायु है । ऐसे ही समस्त मार्गों का एकायन पाद है, इसी प्रकार समस्त वेदों का एकायन वाक् है (इस प्रकार विषयों के प्रलय से इन्द्रियो का प्रलय स्वयं ही सिद्ध हो जाता है) ॥११॥

प्रलयकाले च, जलबुद्बुदफेनादीनामिव सलिलव्यतिरेकेणाभावः । एवं प्रज्ञानव्यतिरेकेण तत्कार्याणां नामरूपकर्मणां तस्मिन्नेव लीयमानानामभावः । तस्मादेकमेव ब्रह्म प्रज्ञान-  
घनमेकरसं प्रतिपत्तव्यमित्यत ब्राह्म । प्रलयप्रदर्शनाय दृष्टान्तः स इति यथा येन प्रकारेण

—न केवलमिति । प्रलयकाले च प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्ज्ञातो ब्रह्मत्वमिति सश्रवः । उक्तमयं दृष्टान्तेन स्पष्टमिति—जलेति । ‘तथाऽपि प्रज्ञानमेवैकमेव’ स्यान्न ब्रह्मेत्याशङ्क्यऽऽह—तस्मादिति । सत्यज्ञाना-  
विवाक्याद्ब्रह्मणस्तन्मात्रत्वादित्यर्थः । यद्योक्तं ब्रह्म क्षेत्रप्रतिपत्तव्यं किमिति तर्हि स यथेत्यादि वाक्यमित्याशङ्क्य ‘तच्छेषत्वेन प्रलयं दर्शयितुं दृष्टान्तवचनमेतदित्याह—’अत ब्राह्मिति । प्रलीयतेऽस्मि-

प्रज्ञानघन से भिन्न उसके कार्य और उसी में लीन होने वाले नाम, रूप और कर्मों का भी अभाव है, इसलिए प्रज्ञानघन, एकरूप और अद्वितीयब्रह्म है—ऐसा जानना चाहिए । इसी बात को धृति प्रतिपादित करती है । प्रलयप्रदर्शन का यह दृष्टान्त है, मन्त्र में “स यथा” से लेकर दृष्टान्त है । “यथा” यानी

१ श्रोत्रमेकायनमित्यन्तरमित्य मूलग्रन्थो योग्यः । तथाहि एतान्यपि विषयविशेषसामान्यानि मनोविषयसकल्प-  
विशेषेषु प्रतीयन्तं तेषां सकल्पविशेषपूर्वकत्वात् । एव सर्वेषां सकल्पानां सकल्पविशेषाणां मन तद्विषयसामान्य-  
सकल्पमात्रमेकायनम् आप्तव्यम् । तस्य सकल्पमात्रस्याप्यवभाषास्वरूपं ब्रह्मणादबुद्धि विषयविशेषेषु विद्याभिन्ने-  
ष्वध्यवसायव्यवस्तर्भावि । एवभासा सर्वासा विद्यानां हृदय बुद्धिसामान्य विज्ञानमात्रमेकायन तदपि कारणभूत-  
प्रज्ञानघने ब्रह्मणि प्रतीयत इति । २. यथा । ३. एकरूपम् । ४. उत्तरत्याद्यवस्थानु प्रज्ञानव्यतिरेकेण-  
जगदोऽभावेऽपि । ५. उक्तरीत्या । ६. प्रज्ञानति बोध्यम् । ७. विमर्शम् । ८. यथातद्ब्रह्मप्रतिपत्ति-  
क्षेपत्वेन । ९. प्रलयप्रदर्शनार्थं दृष्टान्तस्यापेक्षितत्वात् ।

‘सर्वासां नदीवापीतडागादिगतानामपां’ समुद्रोऽन्धिरैकायनमेकगमनमेकप्रलयोऽविभाग-  
प्राप्तिरित्यर्थः । यथाऽयं दृष्टान्त एवं सर्वेषां ‘स्पर्शानां’ मृदुकर्कशकठिनपिच्छलादीनां  
वायोरात्मभूतानां त्वगेकायनं त्वगिति त्वग्विषयं स्पर्शसामान्यमात्रं तस्मिन्प्रविष्टाः  
स्पर्शविशेषा आप इव समुद्रं तद्व्यतिरेकेणाभावभूता भवन्ति । तस्यैव हि ते संस्थान-  
मात्रा आसन् ।

‘तथा तदपि स्पर्शसामान्यमात्रं त्ववशाद्दवाच्यं धनः’ ‘संकल्पे मनोविषयसामान्यमात्रे

मिति प्रलय एकध्वासौ प्रलयश्चेत्येकप्रलयः । तडागादिगतानामपां कुतः समुद्रे लयो न हि तासां तेन  
संगतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अविभागेति । ‘अत्र हि समुद्राशब्देन जलसामान्यमुच्यते तद्व्यतिरेकेण च  
जलविशेषाणामभावो विवक्षितस्तेषां’ ‘तत्संस्थानमात्रत्वाद्’ तत्राऽऽयामस्मिन्नविभागस्य प्राप्तिरिति  
समुद्रेऽविभागप्राप्तिरित्यर्थः । पिच्छलादीनामित्यादिशब्देनामुक्तस्पर्शविशेषाः सर्वे गृह्यन्ते । विषयाणा-  
मिन्द्रियकार्यत्वाभावात्कुतः स्पर्शानां त्वचि घिलयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—त्वगिति । स्पर्शविशेषाणां  
स्पर्शसामान्येऽन्तर्भावं प्रपञ्चयति—तस्मिन्मिति ।

‘तथाऽपि समस्तस्य जगतो ब्रह्मव्यतिरेकेणाभावाद्ब्रह्मत्वमित्येतत्कथं प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्य  
परम्परया ब्रह्मणि सर्वप्रविलय दर्शयितुं’ क्रममनुक्रमति—तथेति । मनसि सति विषयविषयिभावस्य

जिम प्रकार “सर्वानामपाम” अर्थात् समस्त नदी वापी और तालाव आदि के विभिन्न रूपों का जल  
“एकायनम्” अभिन्न नामरूपेक समुद्र को ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् वही एक प्रलयस्थान एव  
अविभागप्राप्ति का स्थल है । जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार वायु के स्वरूपभूत मृदु, कर्कश,  
कठोर और पिच्छल आदि सभी वायुविशेषों का त्वगि-द्वय ही प्रलयस्थान है । त्वक् से त्वघासम्बन्धी  
स्पर्शसामान्यमात्र समभूता चाहिए, उसी में सागर में जल के समान स्पर्शविशेष प्रविष्ट हो जाते हैं ।  
उनके बिना वे अभावयुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे उसी के संस्थानमात्र ही थे ।

- १ विभिन्नरूपाणाम् । २ अभिन्ननामरूपेक । ३ एकप्राप्य । ४ अविभागस्य प्राप्त्यर्थम् । ५ स्पर्शानामिति । तज्ज्ञानानामित्यपि द्रष्टव्यम् । तत्र मृदुस्पर्शो वायो । कर्कश—उष्ण स्पर्शस्तेजसः । कठिन कठोर पृथिव्या । पिच्छल—स्निग्ध । आदिना दीतो गृह्यते स च जलस्येति विवेकः । ६ स्वरूपभूतानां वायुविशेषाणामिति यावत् । अत्रत्य रहस्यमनुपदमेव स्फुटीभविव्यति । ७ तथेति—स्पर्शविशेषाणां तत्सामान्ये-  
ऽन्तर्भावदित्यर्थः ॥ स्पर्शानामित्यादि प्रलीयत इत्यन्तर्भाष्यतात्पर्यसमाह्वयानि वातिकानि कथ्यन्ते—  
“स्पर्शाद्विज्ञानभेदानां त्वगाद्येकायनं तथा । स्थान्ते त्वगादयस्तद्वद्वुद्धौ च मनमस्तथा ॥ कर्मसाक्षात्तया बुद्धि-  
कारणत्वेन तिष्ठति । एष साधारणस्तावत्प्रलयोऽबुद्धिपूर्वकः ॥ प्रत्यग्याचात्म्यविज्ञानाद्बुद्धस्तु वृत्तानुरोधतः ।  
प्रलयोऽज्ञानविषयसाक्षस्त्वमो बुद्धिपूर्वकः” ॥ ३२६-३३१ ॥ “पृथिव्यशस्य बाहुल्यात्कठिनं स्पर्श उच्यते । शीतदक्ष  
पिच्छलश्चापि बाहुल्यात्स्पर्श इष्यते ॥ भूयस्त्वात्तेजसश्चाप्यं सुकुमारस्तथा मृत् । बाहुल्यादिति विशेषो  
यथोक्तगुणसम्पत्त्या” ॥ ३३२-३३६ ॥ इति । अत्र साधारणो लय स्वापादौ ज्ञेयः । यथोक्तगुणान्तरमात्राणि ।  
८ सत्त्वात्मके मनसि । ९ प्रवृत्तवाक्यम् । १० अवस्थाविशेषः । ११ समुद्राशब्देन जलसामान्य-  
विवक्षात् । १२ जलविशेषाणां जलसामान्य इव स्पर्शविशेषाणां स्पर्शसामान्येऽन्तर्भावोऽपि । १३ सत्यम् । १४ दर्शयति ।

त्वग्विषय इव स्पर्शविशेषाः प्रविष्टं तद्व्यतिरेकेणाभावभूतं भवति । एवं मनोविषयोऽपि बुद्धिविषयसामान्यमात्रे प्रविष्टस्तद्व्यतिरेकेणाभावभूतो भवति । 'विज्ञानमात्रमेव भूत्वा प्रज्ञानघने परे ब्रह्मण्यप इव समुद्रे प्रलीयते । एवं परम्पराक्रमेण शब्दादौ सह ग्राहकेण करणेन प्रलीने प्रज्ञानघने, उपाध्यभावात्संघवधनवत्प्रज्ञानघनमेकरसमनन्तमपारं निरन्तरं ब्रह्म व्यवतिष्ठते । 'तस्मादात्मैवंकमद्वयमिति प्रतिपत्तव्यम् ।

॥तथा सर्वेषां गन्धानां पृथिवीविशेषाणां नासिके घ्राणविषयसामान्यम् । तथा

दर्शनादसति चादर्शनां मनःस्पन्दितमात्रं विषयजातमिति 'तस्य तद्विषयमात्रे प्रविष्टस्य तद्वतिरेकेणा-  
सत्त्वमित्यर्थः । संकल्पविकल्पात्मकमनःस्पन्दितत्वं तस्य संकल्पात्मके मनस्यन्तर्भावात्तस्य च  
संकल्पस्याध्यवसायपारतन्त्र्यदर्शनादध्यवसायात्मिकायां च बुद्धौ तद्विषयस्य पूर्ववदनुप्रवेशान्मनोविषय-  
सामान्यस्य बुद्धिविषयसामान्ये प्रविष्टस्य तद्व्यतिरेकेणासत्त्वमित्याहु—एवमिति । सर्वं जगदुपेत-  
न्यायेन 'बुद्धिमात्रं भूत्वा तद्व्यतिरेकेणासत्त्वमित्याहु—एवमिति । 'पर्यवस्यतीत्याहु—  
विज्ञानमात्रमिति । ननु जगदिदं विलीयमानं 'शक्तियोगमेष विलीयते । तत्त्वज्ञानाद्वृत्ते तस्य निःशेषना-  
शानाश्रयणात् । 'तथा च कुतो ब्रह्मं करसस्य प्रतिपत्तिरत आहु—एवमिति । शक्तियोगलयेऽपि 'तस्या  
दुर्निरूपत्वाद्दृष्टवैकरस्यधीरविच्छेदोति भावः । एकाग्रन प्रक्रियातात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति ।  
घ्राणविषयसामान्यमित्याहवाक्येकाग्रनमिति सर्वत्र संग्रहः ।

कथं पुनरत्र प्रतिपर्यायं ब्रह्मणि पर्यवसानं तत्राऽह—तथेति । यथा सर्वेषु पथेषु ब्रह्मणि

(स्पर्शविशेषो का स्पर्शसामान्य मे अन्तर्भाव होने के कारण) इसी प्रकार बहु त्वक्लृप्त-  
वाच्य स्पर्शसामान्य, त्वक्का के विषय मे स्पर्शविशेष के समान, मनोविषय सामान्यमात्ररूप सत्त्वात्मक  
मन मे प्रविष्ट होकर उससे पृथक् अभावयुक्त हो जाता है । तथा बुद्धिमात्र ही होकर समुद्र मे जल के  
समान प्रज्ञानघन परब्रह्म मे लीन हो जाता है । इस प्रकार परम्पराप्राप्त क्रम से ग्राहक इन्द्रियो सहित  
शब्दादि के प्रज्ञानघन मे प्रलीन हो जाने पर उपाधि के अभाव होने से संघव सवण के खण्ड के समान  
प्रज्ञानघन, एकरस, अनन्त, अपार, अखण्ड ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । उक्तरीति से (समस्त  
उपाधियों के विलीन हो जाने पर) एकमात्र अद्वितीय ही है—ऐसा समझ लेना चाहिए ।

इसी प्रकार पृथिवी के विशेषरूप सभी गन्धों की नासिकाएँ घ्राणसम्बन्धी विषयसामान्य है ।

१. बुद्धिमात्रम् । २. उक्तरीत्या निखिलोपाधिविलये तद्वतिरेकिणोऽजावात् । ३. सत्त्वमात्रम् । ४.  
हेतोः । ५. त्वक्लृप्तवाच्यस्पर्शसामान्यस्य । ६. मनोविषयसामान्ये । ७. कल्पितद्वैतस्य । ८.  
मन शब्दितस्य । ९. मनोविषयसामान्यस्य । १०. धीसामान्यम् । ११. मन्तमन्वति । १२. वारणा-  
त्मनाज्वरस्थान यथा स्वात्तया । १३. शक्तियोगविलये च । १४. वारणात्म्यसत्ते । १५. एकाग्र-  
प्रक्रियायाम् ।

॥तथा सर्वेषां गन्धानामित्यादि परस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते इत्यन्तर्भावतात्पर्यसंसाहचं वातिवद्वयम् । "गन्धादि-  
सहतिः पृथ्वी रसान्ताना तथा जलम् । तेजस्त्रयाणा वायुस्तु इमोरैकात्म्यं नमः ॥ एव सद्यतः पञ्च  
भूगण्येतानि निर्दिशेत् । मूर्तामूर्ताविकल्पा गुणाविवृत्तिरिष्यते" ॥ ३३४-३३५ ॥ इति । अत्रार्थानामिन्द्रियेषु  
तेषा मनसि तस्य बुद्धौ तस्याः कारणे स्य विवसता तेषा तद्व्यापिन्द्रियाणा च क्रमेण वारणात्म्यो स्य उक्तः ।

सर्वेषां रसानामविविशेषाणां जिह्वेन्द्रियविषयसामान्यम् । तथा सर्वेषां रूपाणां तेजो-  
विशेषाणां चक्षुश्चक्षुर्विषयसामान्यम् । तथा शब्दानां श्रोत्रविषयसामान्यं पूर्ववत् । तथा  
श्रोत्रादिविषयसामान्यानां मनो विषयसामान्ये संकल्पे । मनोविषयसामान्यस्यापि  
बुद्धिर्विषयसामान्ये विज्ञानमात्रे । विज्ञानमात्रं भूत्वा परिस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते । तथा  
कर्मेन्द्रियाणां विषया वदनादानगमनविसर्गानन्दविशेषास्तत्तत्क्रियासामान्येष्वेव प्रविष्टा  
न विभागयोग्या भवन्ति समुद्र इवाविविशेषाः । 'तानि च सामान्यानि प्राणमात्रं प्राणश्च  
प्रज्ञानमात्रमेव । "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः" इति कौपीतिकिनोऽधीयते ।  
ननु सर्वत्र विषयस्यैव प्रलयोऽभिहितो न तु करणस्य 'तत्र कोऽभिप्राय' इति ।

पर्यवसानं तथोच्यत इति यावत् । पूर्ववदिनि स्वविषयसामान्यवदित्यर्थः । संकल्पे लय इति शेषः ।  
विज्ञानमात्र इत्यत्रापि तथैव । एवं सर्वेषां कर्मेणामित्यादेरर्थमाह—तथा कर्मेन्द्रियाणामिति । क्रिया-  
सामान्यानां सूत्रात्मसंस्थानभेदत्वमभ्युपेत्याह—तानि चेति । क्रियाज्ञानशक्तयोश्चिदुपाधिभूतयो-  
'श्रवदेवादेभेदमभिप्रेत्य प्राणश्चेत्यादि भाष्यम् । 'तत्र 'तयोरन्योन्याभेदे मानमाह—यो वा इति ।  
श्रुतिमुखात्करणलयो' न प्रतिभाति स्वयं च व्याख्यायते तत्र को हेतुरिति पृच्छति—नन्विति ।

इसी प्रकार जल के विशेषरूप सभी रसों का रसनेन्द्रिय सम्बन्धी विषयसामान्य है । इसी प्रकार तेज  
के विशेषस्वरूप सभी रूपों का चक्षु अर्थात् चक्षुसम्बन्धी विषयसामान्य है । उसी प्रकार आकाश के  
सभी विशेषरूप शब्दों का पूर्वप्रतिपादित की तरह श्रोत्रसम्बन्धी विषयसामान्य है । इसी प्रकार  
श्रोत्रादि विषयसामान्यों का मन के विषयसामान्य संकल्प में है, मन के विषयसामान्य का भी विषय-  
सामान्यरूप विज्ञानमात्र में है, पुन विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन परब्रह्म में प्रलीन हो जाता है ।  
इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के भाषण, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्दरूप विशेष विषय उन-उन क्रिया-  
सामान्यों में प्रविष्ट होकर समुद्र में प्रविष्ट जल विशेष की तरह विभाग के योग्य नहीं रहते । उन  
सभी सामान्यों का प्राणमात्र में लय हो जाता है और प्राण का (कारणात्मक ब्रह्म) प्रज्ञानमात्र में लय  
हो जाता है । कौपीतिकी दाक्षा वालों से ऐसा पाठ सुना जाता है—“जो प्राण है, वही प्रज्ञा है; जो  
प्रज्ञा है, वही प्राण है” ।

(इस पर पूर्वपक्षी दाख्खा करता है—) किन्तु सभी जगह तो विषय की प्रलीनता ही उपपादित

१ आकाशविशेषाणाम् । २ तानि चेति—यथा बुद्धीन्द्रियाणां तदवधाना च तत्सामान्येषु स्पर्शादिषु पञ्चबु-  
धस्य तथा कर्मेन्द्रियाणां तदवधाना च वदनाविषयसामान्येषु सत्यस्तेषां च प्राणे तस्यापि कारणात्मनि ब्रह्मणीति  
सात्पर्यम् । ३. करणलयानुत्तो । ४. श्रुतेः । ५. चित सकाशादभेदात् । ६. तयोश्चिदभेदेऽपि ।  
७. ज्ञानक्रियासक्तयोः । ८. इष्टोऽपीति शेषः ।

इदानीं भूतलपर्यं तथा प्रागवस्थामाह—गन्धारीति ॥ भूतान्येव प्रसिद्धानि न तेषामुत्तररूपतेत्याशङ्क्य व्याख्यानतो  
विशेषणीरित्याह—एवमिति । गन्धादिशब्दान्तपञ्चगुणानामुपचयार्थस्थितानां यथातो भूतपञ्चकमित्यप्रसिद्ध  
किमिति व्याख्यायते तत्राह—भूतेति । या यथोक्तगन्धादीनां कारणादव्यक्तिं तैव भूतानामित्युक्तपञ्चकस्य  
स्वकारणादुत्पत्तिर्गुणतमसश्च भूतलपर्यं हेताविति लघीयस्या रीत्या व्युत्पादयितुमित्य व्याख्यारथः ॥



त्मकत्वाद्विषयप्रलयेनैव प्रलयः सिद्धो भवति करणानामिति ॥११॥

तत्रेदं सर्वं यदयमात्मेति 'प्रतिज्ञातं' तत्र 'हेतुरभिहितं' आत्मसामान्यत्वमात्मजत्व-  
मात्मप्रलयत्वं च । 'तस्मादुत्पत्तिस्थितिप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्प्रज्ञानं  
ब्रह्म वाऽऽत्मेवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातं यत्तत्कर्तः साधितम् । 'स्वाभाविकोऽयं' प्रलय इति

पृथग्विषयप्रलयादिति शेषः । एकाग्रप्रक्रियासमाप्तवितिशब्दः ॥११॥

स यथा संघवलित्य इत्यादेः 'संघ' वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—तत्रेत्यादिना । पूर्व. संदर्भस्तत्रे-  
त्युच्यते । प्रतिज्ञातेऽयं पूर्वोक्त हेतुमनूय साध्यसिद्धिं फलं दर्शयति—तस्मादिति । उक्तहेतोर्यथोक्तं  
ब्रह्म सर्वमिदं जगदिति यत्प्रतिज्ञातमिदं सर्वं यदयमात्मेति" तत्पूर्वोक्त"दृष्टान्तप्रबन्धरूपतर्कवशाद्वास्ता-  
धितमिति योजना । "उत्तरवाक्यस्य" विषयपरिशेषार्थमुक्तप्रलये पौराणिकसमतिमाह—स्वाभाविक

ज्ञातं अर्थं मे आत्मसामान्यत्व, आत्मजनितत्व और आत्मप्रलयत्व ये कारण बतलाये गये हैं । इसलिए  
(सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्णजगत् के आत्मसामान्यत्व, आत्मजत्व एवं आत्मप्रलयत्व होने के कारण)  
उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकाल में प्रज्ञानघन को छोड़कर किसी की सत्ता न होने के कारण जो ऐसी  
प्रतिज्ञा की थी कि "प्रज्ञान ब्रह्म है", "यह सब आत्मा ही है", उसे तर्क से भी सिद्ध कर दिया ।  
पौराणिकों के मत से ब्रह्म में लयात्मक प्रलय स्वाभाविक हुआ करता है । और जो ब्रह्मज्ञानियों का

१ षष्ठकण्डिकायाम् । २ प्रतिज्ञाताऽयं । ३ नामरूपादिविभिन्नार्थानां महासामान्यत्वानीयारमन्  
स्थितिकालेषु विचारे क्रियमाणेऽन्तर्भावात्तदामन्तरमिति यावत् । एतच्च त्वमकण्डिकाव्याख्यावसरे प्रत्यपादि ।  
४ आत्मा सामान्य यस्य तत्त्वम् । ५ सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकस्य जगत् आत्मसामान्यत्वादात्मजत्वादा-  
त्मप्रलयत्वाच्चेत्यर्थः । ६ मननाख्यात् । ७ स्वाभाविक इति—नैमित्तिकस्वाभाविकात्यन्तिकभेदातिरिचयो  
लभ्य । उक्तं हि—“सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधं प्रतिसत्त्वरं । नैमित्तिकं प्राकृतिकस्तथैवाऽऽत्यन्तिको लभ्य  
इति” ॥ तत्राऽऽद्यो ब्रह्मकर्तृकोऽनन्तरलयः । यथाऽऽह—बाह्यो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्तं प्रतिसत्त्वरं इति ।  
द्वितीयस्तु कार्याणां प्रस्ताववसानम् । आत्यन्तिको ज्ञानाधीनो मोक्ष इत्याह—बुद्धिपूर्वकं इति भाष्ये । उक्तं च  
“आत्यन्तिकस्य मोक्षास्य प्राकृतो द्विपराधिक” इति । स्वाभाविकलस्य धीपूर्वकत्ववादिशेषो वातिके दर्शितः ।  
तथाहि—“शक्तिमात्रात्मना स्थानं कामाणां यत्स्वकारणे । इत्यनारत्यन्तिकलस्यो भूयोऽन्तर्गतमिति” इति ॥  
स्वाभाविके लये कार्याणां कारणं शक्त्यात्मनाऽवस्थानमिति यस्मादास्थितं तस्मादावकारत्यन्तिकं इति योजना ।  
अनात्यन्तिकस्य विशदयति—भूय इति । पुनरपि जन्मार्थं कृतावकाशत्वात्प्राकृतोऽयमिति ॥ ८. ब्रह्मणि  
लयात्मकं । ९ पूर्वग्रन्थेन सह । १० वाक्येन । ११ दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तप्रत्यक्षः । १२ अक्षण्डाभ-  
धीप्रवटनार्थः । १३. पूर्वग्रन्थविषयासाकार्याम् ।

स्यानात्मनोऽस्तत्त्वात्साक्षात् च द्रव्यत्वावान्तरजात्येष्टमिति न सिद्धसाध्यता तद्बाह्यत्वं च तत्कारणतति  
मादृष्टादी व्यभिचार इति भावः । अनुभवसिद्धहेतुनृपपत्तिं विषये बाधत्वेनाऽह—अन्यथिति ॥ स्वगादीनां  
भौतिकत्वमुक्त्वा प्रजागाव्य साधारण रूपमाह—त्वगादीति । ज्ञानेन्द्रियाणां तच्छक्तियुक्तानां प्रकाश साधारण  
रूपमित्यर्थः । कर्मेन्द्रियाणामितरबुद्धौतिरत्व मत्वा साधारण रूपमाह—प्राण इति । अस्यार्थ—बाह्यभौतिकारो  
दिवरप्राधान्ये सति अन्तर्बुद्ध्यान्तरत्वाच्छ्रोत्रबद्धतो वायवीयो नियमेनाऽऽनागतपैसात्पदवद्बाह्यसाधारण करण-  
त्वात्त्वद्वायुरूपस्य बलस्य तत्र दृष्टेयं प्राणो वै बलमिति हि श्रुतिः । पादौ तेजसौ प्रायेणाप्यप्यस्तादृशोपवत् ।



स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत  
न हास्योद्ग्रहणायैव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत  
लवणमेवैव वा अर इदं 'महद्भूतमनन्तमपारं'

इस विषय में यह दृष्टान्त है, जैसे—जल में डाला हुआ नमक का डाला जल में ही विलीन हो जाता है । उसे जल से पृथक् करने में कोई समर्थ नहीं होता, पर जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण किया जाता है, वहाँ वहाँ वह नमकीन ही प्रतीत होता है । हे मन्त्रेयी ! वैसे ही यह महद्भूत परमात्मा अनन्त, अपार

पौराणिका बहन्ति । यस्तु बुद्धिपूर्वकः प्रलयो ब्रह्मविदां ब्रह्मविद्यानिमित्तोऽयमात्यन्तिक इत्याचक्षते । अविद्यानिरोधद्वारेण यो भवति तदर्थोऽयं विशेषारम्भः—

‘तत्र दृष्टान्त उपादीयते स यथेति । सैन्धवखिल्यः सिन्धोर्विकारः सैन्धवः

इति । कार्याणां प्रकृतावाभितत्त्व स्वाभाविकत्वम् । ‘प्रलयान्तरेऽपि तेषां संमतिं सगिरते—यस्त्विति । द्वितीयप्रपञ्चमधिकृत्यानन्तरप्रपञ्चमवतारयति—अपिद्येति । तत्रेत्यात्यन्तिकप्रत्ययोक्तिः । उदकं

ब्रह्मविद्या के निमित्त बुद्धिपूर्वक लय है, उसे (मोक्षालय) आत्यन्तिक कहते हैं । जो प्रलय प्रविद्या की निवृत्ति द्वारा होता है, उसी के प्रतिपादन के लिए यह विशेष आरम्भ किया जाता है ।

(कार्यकरण प्रपञ्च का ज्ञान द्वारा उससे विलक्षण ब्रह्म में विलय होने पर) यहाँ दृष्टान्त का उपादान किया जाता है । “सैन्धवखिल्य” पद में सिन्धु के विकार का नाम सैन्धव है, सिन्धु शब्द से

- १ अनवधिउत्तम् । २ कूटस्थम् । ३ अकारणम् । ४ अकार्यम् । ५ प्रलय । ६ तत्प्रदर्शनायोज्ञाननिवर्तकधीप्रदर्शनायोत्तरप्रव्याख्या इत्यर्थः । ७ कार्यकारणप्रपञ्चस्य तद्विलक्षणे ब्रह्मणि ज्ञानाद्विलये । ८ आत्यन्तिके । ९ श्रीकाल्यजन्मादिहृत्त्वज्ञानव्यतिरिक्तं बुद्धिपूर्वको व्यवसतमुपादायेत्यर्थः ।

पापुराप्य स्निग्धत्वात्समतवुपस्य पापिवो गन्धवत्त्वात्समतवत् । एव भौतिकानामेवा क्रियाशक्तिमता साधारणं रूपं स्वमादीनां प्रकाशविक्रियात् । तेजोमयी वागित्यादिभूतेर्बन्धैर्जती हस्तो पूर्वब्रह्मावबीयावैव पापु पापिवो गन्धवत्त्वादवस्तिरेव रश्मिरित्यादिभूते प्रजननमाप्य परिशोपात्पादो नाभसाविति वार्यम् ॥ यत्तु शब्दव्यञ्जकत्वेन श्रोत्रादेशकाशविकारव तद्व्युत्त तैजसे चक्षुष्यपि तद्व्यञ्जकत्वदृष्टेः चक्षुः अवा तर्प इति हि प्रसिद्धिः । यच्च हस्तत्वचो र्स्पशंदादानसाधनत्वाद्वायवीयत्व तद्वत्त्वादादौ व्यभिचारादौ चासति प्रतिबन्धे विशिष्टस्पर्शित्वात्त्वादादेर्जसरव हस्तादापपि तद्भावाच्च च स्निग्धत्वात्त्वादादेराप्यत्व घृतादौ व्यभिचाराच्च च गन्धवत्त्वादुत्पादादेर्जसरव हस्तादापपि तद्भावादौ नेन्द्रियाणां कार्यव्यवस्था भौतिकव्यवस्थित आह—याम्येति । यस्य श्रोत्रादेर्मा योग्या श्वभावाच्च वृत्ति सा चक्षुःपादौ दृष्टाऽपि तस्यैव श्रोत्रादज्ज्ञेया स्वभाववैपरीत्यायोपात्स्यात्तन्नेदाभावेऽपीन्द्रियभेदस्य कार्यभेदव्यवस्था दूरपल्लवत्वादित्यर्थः ॥

सैन्धवखिल्य इत्यादीत्युच्यते एतदन्तर्भाष्यतात्पर्योद्घाटकानि वातिकानि तर्गाहि—“सामुद्रमम् खिल्यव याति भानुविपाकत । सिन्धारायात् रा यन्तस्मात्सैन्धव उच्यते ॥ अस्मिन्प्रस्तावयव खिल्य सोऽयं निगद्यते । सोऽयं सैन्धवखिल्योऽप्रतो यथैवेह महोदधौ ॥ तेजो निरोधिनी प्राप्य प्रवृत्तिं विजहात्येव । तेजोविशेषात्ताठिन्य

‘विज्ञानघन एव । एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु  
विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच

याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

और विज्ञानघन है । यह इन देहादि उपाधियों के साथ मानो नत्यगब्दवाच्य भूतो में प्रकट होकर उनमें नाश के पीछे नष्ट हो जाता है । देह-इन्द्रियभाव में मुक्त होने पर (मैं श्रमुक् हूँ, श्रमुक् का पुत्र हूँ, यह मेरा परिवार है—ऐसे कोई) विशेषज्ञा इमकी नहीं रह जाती । हे भूतेभ्यो ! ऐसा मैं तुममें कहता हूँ । इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया भार्या भूतेभ्यो के प्रति परमार्थसिद्धि का निरूपण किया ॥१२॥

‘सिन्धुशब्देनोदकमभिधीयते स्यन्दनात्सिन्धुरुदकं तद्विकारस्तत्र भवो वा’ संधवः संधव-  
श्राप्ता खिल्यश्चेति संधवखिल्यः ‘खिल एव ‘जिल्यः स्वार्थे यत्प्रत्यय उदके सिन्धौ  
स्वयोनौ प्रास्तः ‘प्रक्षिप्त उदकमेव विलीयमानमनुविलीयेत । यत्तद्भूमतेजसः संपर्कात्काठि-

विलीयमानमित्यपुषतं काठिन्यविलयेऽपि तल्लयादर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति । न हेति प्रतीक-

जल का ग्रहण होता है । बहने के कारण जल ही सिन्धु है उसका विकार प्रथवा उसमें जो आगत हो,  
उसे संधव कहा जाता है, जो संधव ही और शकल हो, उसका नाम मंथवखिल्य है । खिल यानी

१ विमुहप्रज्ञातिमात्रैरसः । २ जबनोदकमेव सवर्ण संधवमन्वित न तु सामुद्रं तस्य पाषाणान्तरा-  
ऽभावात् सिल्यशब्देन चात्र तस्याभिवक्षितत्वादित्यभिप्रेत्य सिन्धुसन्धार्यमाह—सिन्धुशब्देनेति । ३. तत्  
मायात् इत्यपि द्रष्टव्यम् । ४. शकलम् । ५. स्वावयवनामिष समुपेतया दाढयं नित्यत्वम् । ६.  
प्रक्षिप्तं सन् विलीयमानमन्वितेन तदवयवभूतमुदकं विलीयमानमनु पदवाविलीयेतैव उदकभावमापद्यत एवार्थः ।

भवस्ती भवति तद्वन् ॥ काठिन्यकारणध्वस्ती सिल्यस्येह महोदयी । बहिर्बोदयविध्वंसमनु सिल्यो विलीयते ॥  
यदेवाहमिमं रूपं तदेवमयावशिष्यते । तेजोवयवमवगममुत्थं विनिर्यते ॥ तेज आद्यभिमन्त्रण कारण  
खिल्यरूपिण । तद्भावभावतस्तस्य तद्वन्स्ती ध्वसतस्तथा” ॥४०४-४०६॥ इति । इत्यान्तवाक्यार्थं सक्षिप्य  
प्रपञ्चवग्निल्यत्वे निमित्तमाह—माधुद्रमिति । संधवशब्दार्थमाह—सिन्धो इति ॥ सिल्यपदार्थमाह—  
असमिनेति । स्वावयवनाममभिप्रेत्य यिष समुपेतया दाढयम् । अर्थात् स्वयोनौ उदके प्रदीपात्प्रारण्यादाभित्यर्थः ।  
पदयोरप्यमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—सोऽमिति । यद्विमित्तमुदकं सिल्यरूपेण परिणतं तद्विरोधिनी प्रवृत्तिं प्राप्य तदेव  
सिल्यरूपं तजो जहातीत्यर्थः । अथद्वन्द्वो विरोचिप्राप्त्येजसस्त्यागहेतुत्वद्योतनार्थः ॥ पाचके तेजसि त्यन्तेऽपि  
विल्यरूपस्त्वितिमाशङ्क्याऽऽह—तेज इति ॥ एतदेव स्पृश्याति—काठिन्यति । सिल्यस्य महादघो क्षिप्तस्य  
काठिन्यहेतुतेन सत्कर्मवस्ती बहिर्बोदयध्वंसद्वारा सिल्यस्यापि ध्वसितित्यर्थः ॥ अवेजिष्टमर्थमाह—यदेवेति ।  
अस्य सिल्यस्येति वाक्यं । तन्बोदकमात्रम् । अहमिति काठिन्येऽपि तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेज इति ॥  
तद्वि तद्योगमात्रं सिल्यताहेतुरिति व्यर्थं पृथिव्यादीत्याशङ्क्याऽऽह—तेज आदीति । तेजोवपृथिव्यादेरपि  
उपेतुत्वे हेतुमाह—तद्भावति । अवयवव्यतिरेकाग्या हि कारणं वन्त्ये तौ च तेजसीव पृथिव्यादावपि तुल्यो  
तेनाविगिष्ट कारणत्वमित्यर्थः ।

न्यप्राप्तिः खिल्यस्य स्वयोनिसंपर्कादपगच्छति तदुदकस्य विलयनं 'तदनु' सन्धवखिल्यो विलीयत इत्युच्यते । 'तदेतदाहोदकमेवानुविलीयेतेति । न ह नैवास्य 'खिल्यस्योद्ग्रहणायो'द्धृत्य 'पूर्ववद्ग्रहणाय ग्रहीतुं नैव समर्थः कश्चित्स्यात्सुनिपुणोऽपि । इवशब्दोऽनर्थकः । ग्रहणाय नैव समर्थः कस्मात् । यतो यतो यस्माद्यस्माद्देशात्तदुदकमाददीत गृहीत्वा 'स्वाद-पेल्लवणास्वादमेव तदुदकं न तु खिल्यभावः' ।

यथाऽयं दृष्टान्त एव वा अरे मन्त्रेयोदं परमात्माख्यं महद्भूतम् । यस्मान्महतो 'भूतादविद्यया परिच्छिन्ना सती त्वं कार्यकरणोपाधिसंबन्धा'त्खिल्यभावमापन्नाऽसि मर्त्या जन्ममरणाक्षानायाविपासादिसंसारधर्मवत्यसि नामरूपकार्यात्मिका'ऽमुष्यान्वयाऽहमिति स

मादाय व्याचष्टे—नैवेति । अन्वयप्रदर्शनाय नैवेति पुनरुक्तम् ।

महद्भूतमेकमद्वैतमित्युत्तरत्र संबन्धः । "अस्यार्थस्य सर्वोपनिषत्प्रसिद्धत्वप्रदर्शनायो बंधवः । इदं महद्भूतमित्यत्रेदशब्दार्थं विशदयति—यस्मादित्यादिना । तद्वदं परमात्माख्यं महद्भूतमिति पूर्वैल संबन्धः । खिल्यभावापत्तिकार्यं कथयति—मर्त्यैत्यादिना । कोऽप्यो खिल्यभावोऽभिप्रेतस्तत्राऽह—नामरूपेति । कार्यकरणसंघाते तादात्म्याभिमानद्वारा जात्याद्यभिमानोऽत्र खिल्यभाव इत्यर्थः । इतिशब्देनाभिमानो लक्ष्यते । यद्योक्ते खिल्यभावे सति कुतो 'भूतस्य' 'महत्त्वमित्याशङ्क्याऽह—

शकल ही खिल्य है । इसमें स्वार्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ है । उदकमय सिन्धुरूप अपने उत्पत्तिस्थान में "प्रास्त" अर्थात् डाले जाने के कारण "उदकमेवानुविलीयेत" अर्थात् जल में विलीन होकर जलभाव को प्राप्त हो जाता है । पायिष तेजस सम्पर्क से जो उस डले में ठोसपन आ गया था, वह अपने कारण का सम्पर्क पा जाने से मिट जाता है । यही जल का विलयन होना है । उसके साथ सन्धवशकल भी विलीन हो जाता है, यह कहा जाता है । इसी से (उदकविलयन को सात्पर्य करके) कहा गया है, वह जल के साथ विलान हो जाता है । "अस्य" अर्थात् इस विलीन शकल के "उद्ग्रहणाय" अर्थात् जल से निकाल साध विलान हो जाता है । "अस्य" अर्थात् इस विलीन शकल के "उद्ग्रहण करन में कोई परम निष्णात पुरुष भी समर्थ नहीं होता । 'इव' कर उदकप्रक्षेप से पूर्व के समान ग्रहण करने में कोई परम निष्णात पुरुष भी समर्थ नहीं होता । 'इव' शब्द (शकलरूप होने से) निरर्थक ही है । उसे ग्रहण करने के लिए समर्थ नहीं ही होता । क्यों समर्थ नहीं होता ? क्योंकि "यतो यतो" यानी जिस-जिस देश से उस उदक को "माददीत" ग्रहण करके स्वाद लेता है; वह जल लवण के स्वाद वाला होता है, उनमें ठोसपन नहीं होता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, इसी प्रकार अरे मन्त्रेयो ! यह परब्रह्ममय जनवच्छिन्न महद्भूत है । जिस महान् परमार्थरूप से तू अविद्या के द्वारा परिच्छिन्न होकर कार्यकरणरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिच्छिन्नाभिमान को प्राप्त हुई है, तथा मरणधर्मा जन्म, मरण क्षुधा और विपासा आदि सान्नारिक

१. यथात्तात्कालिन्यापममारथकोदवसयानन्तरम् । २. यद्योक्तमुदकविलयनमाभिप्रेत्याहृत्यर्थः । ३. विनिर्नाम्य ।
४. मज्ज्य इति शेषः । ५. उदकप्रलोपात्प्राग्विव । ६. गिल्यग्रहणाभिप्रायो । ७. यहीनु नाप इति शेषः ।
८. परमार्थरूपत् । ९. परिच्छिन्नाभिमानम् । १०. अमुकवत्त्वेन वाक्यम् । ११. ब्रह्मणो महत्त्वार्थ-रूपस्य । १२. ब्रह्मलक्ष्यस्य । १३. एवमावयवस्य खिल्यभावे न विजितव्यत्वात्कालपरिकल्पेऽर्थस्य अभिप्रायः ।

खित्यमावस्तव' कार्यकरणभूतोपाधिसंपर्कभ्रान्तिजनितो महति भूते स्वयोनी महासमुद्रस्थानीये परमात्मन्यजरेऽमरेऽभये शुद्धे सन्धवधनवदे'करसे प्रज्ञानधनेऽनन्तेऽपारे 'निरन्तरेऽविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जिते प्रवेशितः । 'तस्मिन्प्रविष्टे' स्वयोनिग्रस्ते पितृभवावेऽविद्याकृते भेदभावे 'प्रणाशित इदमेकमद्वैतं महद्भूतं महच्च तद्भूतं च महद्भूतं सर्वमहत्तरत्वादाकाशादिकारणत्वान्च भूतं त्रिव्यपि कालेषु स्वरूपाव्यभिचारात्सर्वदेवं परिनिष्पन्नमिति त्रैकालिको निष्ठाप्रत्ययः ।

अथवा भूतशब्दः परमार्थवाची महच्च तत्पारमार्थिकं चेत्यर्थः । लौकिकं तु यद्यपि महद्भूवति स्वप्नमायाकृतं हिमवदादिपर्वतोपमं न परमार्थवस्तु । अतो विशिनष्टोवं

स खित्यभाव इति । खित्यभावः स्वशब्दार्थः । परस्य परियुद्धत्वात्परमजरादिविशेषणानि । केन रूपेणैकारस्यं तदाह—प्रज्ञानेति । तस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—अनन्त इति । 'तस्य सापेक्षत्वं वारयति—अपार इति । प्रतिभासमाने भेदे कथं यथोक्तं तत्त्वमित्याशङ्क्याऽह—प्रविष्टेति । भवतु यथोक्ते तत्त्वे खित्यभावस्य प्रवेशस्तथाऽपि किं स्यादित्यत आह—तस्मिन्निति । महत्त्वं साधयति—सर्वेति । भूतत्वमुपपादयति—त्रिप्यपीति ।

महदित्युक्ते पारमार्थिकं चेति विशेषणं किमर्थमित्याशङ्क्याऽह—लौकिकमिति । जाग्रत्कालीन

धर्मो वाली स्थिति को प्राप्त हुई है कि मैं नामरूपकार्यात्मिका अमुकवस्था हूँ । देहेन्द्रियभूत उपाधि के तादात्म्य से भ्रान्तिजनित तेरा यह स्वरूपभूत महान् भूत मे खित्यभाव स्वकारण महासमुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय, शुद्ध, सन्धवधन के समान जतिरूप, एकरस, प्रज्ञानधन, अनन्त, अपार, अव्यवहितस्वरूप, अविद्याजनित भ्रान्ति भेद से विवर्जित, परब्रह्म मे प्रविष्ट हो गया है । यद्योक्त ब्रह्मतत्त्व मे प्रविष्ट हो जाने पर उस खित्यभाव के अपने कारण द्वारा लीन कर दिये जाने पर अविद्याकृत द्वैतभाव का ('तत्त्वमसि' महावाक्य अर्थ के ऐक्यबोध से) नाश हो जाने से यह एक अद्वैत महद्भूत (परब्रह्म) ही अवशिष्ट रह जाता है । महान् और भूत होने से वह महद्भूत कहा जाता है । इसके प्रतिरिक्त वह आकाशादि (भूतो) का कारण होने से सबसे महान है । तीनों ही कालों मे उसके स्वरूप का व्यभिचार न होने से वह ज्यो का ज्यो सर्वेश बना रहता है, इस से 'भूत' नाम पड़ा । "भूत" शब्द मे "क्त" यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है ।

अथवा "भूत" शब्द परमार्थवाची है । जो महान् और पारमार्थिक हो; वह महद्भूत है, यह अर्थ है । यद्यपि हिमवान् आदि पर्वतो के समान लौकिक वस्तु, जो स्वप्न-मायाकृत होती है, वह भी महान् होती है, किन्तु वह परमार्थ वस्तु नहीं है । इसी से यह महान् भी है और भूत भी है, ऐसा विशेषण श्रुति प्रतिपादित करती है । "अनन्तम्" अर्थात् जिसका कार्य विद्यमान नहीं होता, वह (अकारणक) अनन्त है । कदाचित् आनन्द्य अपेक्षित हो, इसलिये 'अपारम्' यानी अकारणक विशेषण

१ स्वरूपभूत महति भूत इत्यन्वय । २. तादात्म्येति भावः । ३. जतिरूपे । ४. अव्यवहितस्वरूप इति यावत् । ५ यथोक्ते ब्रह्मतत्त्वे । ६. प्रविष्ट इत्यतदेव विदुषोति—स्वेति । ७. वाक्यात्तत्त्वमर्थयोरेक्यबोधेन प्रणाशित इत्यर्थः । ८. आनन्द्यस्य ।

तु महच्च तद्भूतं चेति । 'अनन्तं नास्यान्तो' विद्यत इत्यनन्तम् । कदाचिदापेक्षिकं स्यादित्यतो विशिनष्ट्येकारमिति । विज्ञप्तिविज्ञानं विज्ञानं च तद्धनश्चेति विज्ञानघनः । घनशब्दो जात्यन्तरप्रतिपेक्षार्थः । यथा सुवर्णघनोऽयोधन इति । एवशब्दोऽवधारणार्थः । नान्यजात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यर्थः ।

यदीदमेकमद्वैतं परमार्थतः स्वच्छं संसारदुःखासंपृक्तम् । किं निमित्तोऽयं खित्यभाव

परिदृश्यमानं हिमयदादि महद्यद्यपि भवति तथाऽपि स्वप्नमायादिसमत्वान्न तत्परमार्थवस्तु । "न हि दृश्य जडमिन्द्रजालादेर्विशिष्यतेऽतो सौकिकान्महतो ब्रह्म व्यावर्तयितुं विशेषणमित्यर्थः । आपेक्षिकं स्यादा" नन्त्यमिति शेषः । अथधारणरूपमयमेव स्फोरयति—नान्यदिति ।

एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्प्रायेत्याविसमनन्तरवाक्यव्याख्यामाशङ्कामाह—यदीदमिति । वस्तुतः शुद्धत्वे किं सिध्यति तदाह—ससारेति । "तर्हि" तस्मिन्निमित्ताभावात् तस्य खित्यत्वमिति मत्वाऽऽह

लगाया है । (विशुद्धप्रज्ञतिमात्र एकरस) विज्ञप्ति ही विज्ञान है, जो विज्ञान हो और घन हो; उसे विज्ञानघन कहा है । वहाँ घनशब्द विज्ञप्तिजाति का अर्थान्तरप्रतिपेक्ष करने के लिए है, जिस प्रकार सुवर्णघन, सोहृघन इत्यादि । 'एव' शब्द निर्धारणार्थक है । इसके भीतर कोई दूसरी कार्यकारणरूपक जाति नहीं है, यह इसका भाव है ।

यदि यह ब्रह्मात्मतत्त्व एक, अद्वैत, परमार्थतः शुद्ध (भाग्यनुक शुद्धिरहित), सासारिक दुःख

१. अनन्तमित्याद्यपारमित्यन्तभाव्यरहस्योद्घाटक सार्थवातिकम् । तथाहि—“कारणस्य नियधोक्तितन्तमिति यद्वचः । अपारमितिकार्यस्य पारः कार्यस्य कारणम् ॥ कारणस्य तथा कार्यमन्तोऽनादे, प्रसिद्धितः” ॥४१३-४१४॥ इति कथमपारवाक्येन परस्य कार्यत्वं निरस्यते तत्राऽऽह—पार इति । अपूर्वमिति कारणनिषेधे कार्यत्वमस्य निरसितुं सुरुचमितिर्न्यर्थः ॥ तथाऽपि कथमनन्तपदेन कारणत्वमस्य निषिध्यते तत्राऽऽह—कारणस्येति । अनादि हि कारणमप्यपान्जव्यादनवस्यानाच्च तस्य कार्यमन्तस्तत्रान्तत्वप्रसिद्धेन हि मुदादि घटादिभावापन्न घटावादि कटोति ततोऽनपरमिति कार्यनिरासात्कारणत्वं परस्य निषेद्धं शक्यमित्यर्थः । अत्राऽप्यपान्जव्यादिति—कारणनिरपेक्षसादित्वान्मुपपन्ने तदास्मिन्कत्वापतादित्यर्थः । तत्सापेक्षत्वे चानवस्थानादिति । यद्वाऽनन्तमाह—कारणस्यानुपपत्तेः । साधनः कार्यत्वेन कारणत्वायोगात्तयोविरोधात् । ननु मुद प्रति कार्यस्य घट प्रति कारणत्वं कपालस्येत्यविरोध इति चेन्न यन्निरप्यत्यर्थं कारण व्याप्रियते तदेव कार्यमवान्तरपरिणामस्तु कारणमेव भवतीति घट एव कार्यं कारणमेव कपालमिति । २. अन्तः—कार्यम् । ३. कारणत्वानधिकरणमिति यावत् । ४. पारः कारणम् । ५. विज्ञप्तेरर्थान्तरप्रतिपेक्षार्थः । तथा च विज्ञप्तिमात्रमिति यावत् । ६. जात्यन्तरमिति—कार्यकारणत्वाविरूपमित्यर्थः । तत्त्वमस्यादिवाक्यान्जीवेश्वरयोरेक्यज्ञानात्कार्यकारणात्थं जगन्निवर्तते एवं सर्वेकरस्यमेव पर्यवस्यतीति भावः । ७. ब्रह्मात्मतत्त्वम् । ८. नत्वागन्तुकशुद्धिमदित्यर्थः । ९. आदिः—गन्धर्वनगरम् । १०. ननु कथमर्थक्रियाहमस्यावाक्यस्य च लौकिकस्येन्द्रजातादित्यमित्यावाक्येषु दृश्यत्वादिहेतुनोभयत्रापि मिथ्यात्वाविरुद्धादित्याह—न हीति । न हि तात्त्विकत्वमर्थक्रियाप्रयोजकमतात्त्विकेऽपि रूप्यादी दर्शनात्तात्त्विकेऽपि ब्रह्मपददर्शनाच्च बाधश्च श्रुत्यनुभवसिद्ध एवेति भावः । ११. अस्य चापेक्षिकत्वं कार्यत्वव्याप्यधर्माविच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताज्ञाप्रयत्नरूपत्वम् । कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतानाश्रयत्वरूपत्वं च निरपेक्षत्वम् । १२. ब्रह्मतत्त्वस्य निश्कलत्वरूपत्वे । १३. खित्यभावे ।

आत्मनो जातो मृतः सुखी दुःख्यहं ममेत्येवमादित्यस्योऽनेकसंसारधर्मोपद्रुत इति । उच्यते ।  
 \* एतेभ्यो भूतेभ्यो यान्येतानि 'कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि  
 सलिलफेनबुद्बुदोपमानि' स्वच्छस्य परमात्मनः' सलिलोपमस्य । येषां 'विषयपर्यन्तानां  
 प्रज्ञानघने ब्रह्मणि परमार्थविवेकज्ञानेन प्रविलापनमुपत नदीसमुद्रवत् । एतेभ्यो हेतुभूतेभ्यो

—किनिमित्त इति । सित्यभावमेव विशिनष्टि—जात इति । अनेक. संसाररूपो धर्मोऽज्ञानायापिपासा-  
 विस्तेनोपद्रुतो दूषित इति यावत् । सित्यभावे निमित्त वशंयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । 'एतच्छब्दाय  
 व्याकरोति—यानीति । स्वच्छस्य परमात्मनः' कार्यकरणविषयाकारपरिणतानीति संघः । तानि  
 व्यवहारसिद्धयर्थं विशिनष्टि—नामरूपात्मकानीति । तेषाम'तिदुर्धसत्त्वं सूचयति—मनिलेति । स्वच्छत्वे  
 दृष्टान्तमाह—सलिलोपमस्येति । तेषां प्रत्यक्षावेऽपि प्रकृतत्वाभावे कथमेतच्छब्देन परामर्श इत्यादित्या-  
 शाङ्क्याऽऽह—येषामिति । उक्तमेकाग्रनप्रक्षिप्यायामिति शेष । ब्रह्मणि प्रज्ञानघने भूतानां प्रलये दृष्टान्तमाह  
 —नदाति । हेतौ पञ्चमीति वक्ष्यति—हेतुभूतेभ्य इति । पूर्वस्मिन्वाह्येण व्युत्पन्नसत्यशब्दाद्येतया

संश्रयसिद्धि है, तो आत्मा का यह सित्यभाव जन्म, मरण, सुखदुःख, दुःखित्व, ग्रह, मम इत्यादि  
 लक्षण वाले अनेक सासारिक धर्मों से दूषित किस कारण से है ? इस पर कहा जाता है—“एतेभ्यो  
 भूतेभ्यो” यानी इन 'सत्य'शब्दवाच्य हेतुभूत भूतों से, जो कि स्थूलसूक्ष्मशब्दाकार में परिणत जल  
 के फेन और बुद्बुद उपमारूप पृथिवी आदि भूत, स्वच्छ सलिल की उपमा वाले परमात्मा के नाम-  
 रूपात्मक (उपाधिभूत) हैं और जिनके कार्य से लेकर विषयपर्यन्त समुद्र में नदियों के समान पारमार्थिक

१ स्थूलसूक्ष्मशब्दाकारपरिणतानि । २ पृथिव्यादिभूतानीति शेष । ३ उपाधिभूतानीति शेष\* ।  
 ४ निरुक्तकार्यादारभ्य विषयपर्यन्तानाम् । ५ समुद्रे नदीनामिवेत्यर्थ । ६ प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वादिरूप-  
 नित्यर्थ । ७ उपाधिभूतानीति शेष । ८ क्षणभङ्गगुणवन्मित्यर्थ ।

ॐ एतेभ्यो भूतभ्य इत्यादि वार्तिकाभाषास्वेतेभ्यो भूतभ्य इत्यादेरन्तरमाहस्तथाहि—“तज सबन्धमाद्याद्य  
 यथाश्म सित्यतामगात् । तथैवाज्ञानभूतेभ्य परः क्षत्रज्ञता मयी ॥ कार्यमाश्रय्य वच्छ-यत्र निष्ठा निगच्छति ।  
 तानि भूतान्यविशति प्रादुस्त्रम्यन्तिनिष्ठिता ॥ परः कारणकार्येभ्य आत्मा पूर्णस्वरूपात् । एतेभ्योऽविद्याभूतेभ्य  
 कार्यकारणतामगात् ॥ यथाऽप्रैवैव तदुत्सुहृच्छितावतो न सन् । कार्यकारणभेदाय ब्रह्मास्मीतिप्रवाचत ॥  
 तस्मिन्म्यस्तस्य सबंधाभावेनैकात्म्यदायत । विषेयज्ञा नास्त्यस्य पूर्णप्रप्रतिपाद्यत ॥ अविचारितमिद्रीनि  
 यान्यविद्यत्यवादिपम् । एतेभ्यो हतुभूतभ्यो भूतेभ्योऽकार्यकारण ॥ कार्यकारणवद्वप तमुत्पापति शब्धत ।  
 अविद्यासंगतस्य ज्ञायतज्जकरूपवान् ॥ चेतनचेतनाभास आत्मनात्मत्वलक्षण । कार्यकारणरूपेण निष्पापेसाश्रय  
 तम ॥ कार्यकारणता यात आत्माश्रय्य तमावगात् । स्वभासेबहुतामति मनावुदपाद्युपापिभि ॥ तमाहवु  
 समुत्पान न वैदमीत्यप्रहातयम् । भिष्याज्ञान तम शुचदीहगेव करोति तत् ॥ अविद्याकाययुद्धिप्रत्यगाभासरूप-  
 वत् । बोद्धव्यादिसमुत्पान ग्रथ्यत परमात्मन ॥ योता स्फटेतिरूप स्वात्तर्थावन्द्वर्त्ताभि । दुखी गीरो  
 द्विजश्चेति शरीरोत्पानत पर ॥ घनी गोमादिरदो वा घनाद्यपरिमसक्त ॥ प्रतङ्गानपि समोहाद्ययोक्तात्मकता-  
 मगात् ॥ ४१०-४२६ ॥ इति । एतेभ्य इत्याद्यवतार्यति—तेज इति ॥ भूतसत्त्वस्य महाभूतयु रूढत्वात्तस्य  
 परस्य क्षत्रज्ञत्वज्ञानरूपभूतभाष्याभिधीयत तत्राऽह—कार्यत्पति । यत्र सर्वे कार्यं सीयते तन्मूलकारणमविद्या-  
 भूतशब्देनोच्यते यदाहऽऽवायवाचरपतिर्नामरूपशब्दात्किंभूतमव्याहृत भूतभूतमिति प्रसिद्धभूतानां क्षेत्रज्ञोत्पापक-



सलिलफेनबुद्बुदादियत्तेषु विनश्यत्स्व'न्वेवंप विशेषात्ममित्यभायो विनश्यति । ययोद-  
कालक्तकादिहेत्यपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति चन्द्रादिस्वरूपमेव पर-  
मायंती व्यवतिष्ठते । तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपारं स्वच्छं ध्यवतिष्ठते ।

न तत्र 'प्रेत्य' विशेषसंज्ञाऽस्ति कार्यकारणसंघातेभ्यो 'विमुक्तस्येत्येवमरे मंत्रेपि  
श्रवोमि नास्ति विशेषसंज्ञेत्यहमसावमुष्य पुनो नमेदं क्षेत्रं धनं सुखो दुःखोऽप्येवमादि-  
लक्षणाऽविद्याकृतत्वात्तस्या अविद्यायाश्च ब्रह्मविद्याया 'निरन्वयतो नाशितत्वात्कुतो  
विशेषसंज्ञासंभवो ब्रह्मविदश्चेतन्यस्वभावावस्थितस्य । शरीरावस्थितस्यापि विशेषसंज्ञा  
नोपपद्यते किमुत कार्यकरणविमुक्तस्य 'सर्वत इति होवाचोक्तवान्किल परमायंदर्शनं  
मंत्रेयं भार्यायं याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

विनश्यत्सु सत्त्वानु षष्ठ्यात्तिलस्यभावो नश्यतीत्याह—मलिलेति । किं पुनर्भूतानां तिलस्यभावस्य च  
विनाशे सत्यवशिष्यते तत्राऽऽह—यथेति ।

तत्रेपि कैवल्योक्तिः । उक्तमेव वाक्यार्थं स्फुटयति—नास्तीति । ब्रह्मपिदोःशरीरस्य विशेष-  
संज्ञाभार्यं कंप्तुकिन्मायेन कथयति—शरीरावस्थितस्येति । सुपुत्रस्येति यावत् । सर्वतः कार्यकरण-  
विमुक्तस्येति संबन्धः ॥ १२ ॥

को धारण करते हुए आत्मा के खिल्यभावरूप विशेष के हेतुस्वरूप भूत जिस समय शास्त्र और  
आचार्य द्वारा ब्रह्मज्ञान के उपदेश से समुद्र में नदियों के समान लीन होते हुए नाश को प्राप्त होते हैं;  
जल में फेन और बुद्बुदों के समान "मनुविनश्यति" अर्थात् निश्चय ही विशेषात्म खिल्यभाव विनष्ट  
हो जाता है । जिस प्रकार जल और लाक्षा के हेतु को हटा देने पर सूर्य, चन्द्र और स्फटिक भादि का  
प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, केवल चन्द्रादि का पारमार्थिक स्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है, उसी  
प्रकार प्रज्ञानघन, अकारणक, प्रकाशक, स्वच्छ ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

न ही वहाँ विमोक्त के अनन्तर "अहम् असी" अर्थात् मैं वह हूँ इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और ईश्वर  
इत्यादिरूपा विशेषसंज्ञा कार्यकरणसंघात से विमुक्त विद्वान् की रहती है । इसीलिए हे मैत्रेयी !  
मैं तुम्हें बताता हूँ—"मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा खेत है, धन है, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ"  
इत्यादि प्रकारक विशेषसंज्ञा नहीं रहती, क्योंकि वह भविद्यानिमित्तक है और भविद्या का ब्रह्मविद्या  
द्वारा निःशेष नाश हो जाने के कारण चेतन्यस्वरूप में स्थित ब्रह्मवेत्ता की विशेषसंज्ञा की कैसे  
सम्भावना हो सकती है ? उसका तो शरीर में स्थित रहते हुए भी विशेषसंज्ञा नहीं होती,  
फिर कार्यरूप देह एवं करणस्वरूप इन्द्रियों के सर्वथा विमुक्त रहने पर कैसे रह सकती है ? 'इति  
होवाच याज्ञवल्क्यः' यानी इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी भार्या मैत्रेयी को परमार्थदर्शन का उपदेश  
किया ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्रतिबोध कराये जाने पर "सा होवाच" यानी वह मैत्रेयी बोली—"अत्रैव" यानी

१. अन्वय—नश्यत्येवेति वाङ्मयारजान्वयो ज्ञेय । २. ब्रह्मोति शेष । ३. विमोक्तानन्तरम् । ४. अहम्-  
सावित्यादि क्षेत्रज्ञ ईश्वर इत्यादिरूपा च । ५. विदुषः । ६. नि शेषमिति यावत् । ७. सर्वथा ।



सा होवाच मंत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमेहुन् प्रेत्य  
संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं  
मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥

उस मंत्रेयी ने कहा कि देहपात के बाद कोई सज्ञा नहीं रहती, ऐसा कहकर आपने मुझे मोह में डाल दिया (सज्ञा के अभाव में मला विज्ञानघन की सज्ञा कैसे आनी जा सकती है) । याज्ञवल्क्य ने कहा—हे मंत्रेयी ! मैं तुम्हें मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, किन्तु श्री प्रिया ! यह तो महद्भूत परमात्मा का बोध कराने के लिए पर्याप्त है (अविद्याजन्य उपाधि के कारण उस विज्ञान में खिल्यभाव है, वह खिल्यभाव देहपात के अनन्तर या उपाधियों के अभाव हो जाने पर नहीं रह जाता) ॥१३॥

एव प्रतिबोधिता सा ह किलोवाचोक्तवती मंत्रेयी । अत्रैव तस्मिन्नेवं कस्मिन्वस्तुनि  
ब्रह्मणि विरुद्धधर्मवत्त्वमावक्ष्याणेन भगवता मम मोहः कृतस्तदाह । अत्रैव मा भगवा-  
न्युजावानमूमुहमोह कृतवान् । कथं तेन विरुद्धधर्मवत्त्वमुक्तमित्युच्यते पूर्वं विज्ञानघन  
एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न प्रेत्य संज्ञास्तीति । कथं विज्ञानघन एव कथं वा न प्रेत्य  
संज्ञास्तीति । न ह्युष्णः शीतश्चाग्निरेवंको भवति । श्रुतो मूढाऽस्म्यत्र । स होवाच  
याज्ञवल्क्यो न वा अरे मंत्रेय्यहं मोहं ब्रवीमि मोहन वाक्यं न ब्रवीमीत्यर्थः । ननु कथं

उक्त परमार्थबोधनमेव व्यक्तीकर्तुं बोधयति—एवमिति । तेन याज्ञवल्क्येनेति वाच्यम् । इति  
वदता विरुद्धधर्मवत्त्वमुक्तमिति शेषः । एव वदनेऽपि कुत्रे विरुद्धधर्मवत्त्वोक्तिस्तत्राऽह—कथमिति ।  
एकस्यैव विज्ञानघनत्वे सञ्ज्ञाहित्ये च कुतो विरोधघोरित्वाद्वाङ्मयाऽह—न हीति । विरोधबुद्धिकल-  
माह—अत इति । अत्रैवमुक्तविषयपरामर्शः । न वा इति प्रतीकं गृहीत्वा व्याकरोमि—अर इति ।  
मोहनं वाक्यं बोधोत्प्रेष भवामिति शङ्कते—नन्विति । समाधत्ते—न मेयेति । कथं तर्हि मम कस्मिन्नेव

एक ही वस्तु ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों का वतला देने से आपने मेरे मन में मोह उत्पन्न कर दिया है । उसी  
की श्रुति कहती है—“भगवान्” पूजनीय आपने इसी एक वस्तु में मुझ “अमूमहन्” भटका दिया है ।  
याज्ञवल्क्य ने किस प्रकार विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन किया ? इस पर कहा जाता है—पहले “वह  
परब्रह्म विज्ञानघन है” इस प्रकार प्रतिपादन कर फिर “देहविमोक्त के अनन्तर कोई सज्ञा नहीं रहती”,  
ऐसा कहा । एक ही अग्नि शीतस्वभाव एवं उष्णस्वभाव वाला भी हो, ऐसा नहीं हुआ करता । आप  
द्वारा परस्पर विरुद्ध कथन-श्रवण के कारण मुझे इस ब्रह्म में मूढता प्राप्त हो गयी है । याज्ञवल्क्य  
बोले—हे मंत्रेयी ! मैं तुम्हें “न मोहं ब्रवीमि” अर्थात् मोह में डालने वाली बात का उपदेश नहीं कर  
रहा हूँ । तो फिर वह विज्ञानघन है और सज्ञाभाव वाला भी है, ऐसे पारस्परिक विरुद्ध धर्म आप क्यों  
वतला रहे हो ? (मंत्रेयी की इस शङ्का का उत्तर देते हैं—) मैंने एक धर्म वाली वस्तु में विरुद्ध धर्म

१ उक्तेऽर्थे वाक्यं बोधयति—सदाहति । मोहाद्य वस्तु श्रुतिरहेत्यर्थः । २ याज्ञवल्क्यः । ३ भव-  
दीयमिषो विरुद्धोक्तिरयथाह । ४ एवम् ब्रह्मवस्तुनि । ५ त्वया सदनुक्ती ।

विरुद्धधर्मत्वमवोचो विज्ञानघनं संज्ञामावं च । न मयेदमेकस्मिन्धर्मिण्यभिहितम् ।  
 त्वयैवेव विरुद्धधर्मत्वेनेकं वस्तु परिगृहीतं भ्रान्त्या न तु मयोक्तम् । मया त्वदमुक्तं  
 यस्त्वविद्याप्रत्युपस्थापितं कार्यकरणसम्बन्ध्यात्मनः खित्यभावस्तस्मिन्विद्यया नाशिते  
 तन्निमित्ता या विशेषसज्ञा शरीरादिसम्बन्धिन्यत्वदर्शनलक्षणा सा कार्यकरणसंघातो-  
 पाथो प्रविलापिते नश्यति हेत्वभावादुदकाद्याधारनाशादिव चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्तन्नि-  
 मितश्च प्रकाशादिः । न पुनः परमार्थचन्द्रादित्यस्वरूपानाशवदसत्सारिव्रह्मास्वरूपस्य  
 नाशः । "तद्विज्ञानघन इत्युक्तं" स आत्मा सर्वस्य जगतः परमार्थतो भूतनाशान्न विनाशी ।  
 विनाशी त्वविद्याकृतखित्यभावो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति धृत्यन्तरात् । अयं

वस्तुनि विरुद्धधर्मवत्त्वबुद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—त्वयैवेति । त्वया सह किमुक्तमिति तत्राऽऽह—मया  
 त्विति । खित्यभावस्य विनाशे प्रत्यगात्मस्वरूपमेव विनश्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न पुनरिति ।  
 ब्रह्मस्वरूपस्यानाशे—विज्ञानघनस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति । विज्ञानघनस्य प्रत्यक्षत्व  
 दर्शयति—स आत्मेति । कथं "सह तान्येवानुयिनश्यतीति तत्राऽऽह—भूतनाशेति । खित्यभावस्याविद्या-  
 कृतत्वे प्रमाणमाह वाचारम्भणमिति । खित्यभाववत्प्रत्यगात्मनोऽपि विनाशित्वं स्यादिति चेन्नेत्याह

नही बतलाये है । तूने ही ये विरुद्ध धर्म भ्रान्ति मे एक वस्तु मे समझ सिये हैं, मैंने (धाम्त्व मे) ऐसा  
 उपदेश नहीं किया है । मैंने तो इतना मात्र कहा है कि आत्मा का जो अविद्या के द्वारा परिकल्पित  
 कार्यकरणनिमित्तक परिच्छिन्न खित्यभाव है, उसका विद्या के द्वारा नाश कर दिये जाने पर उसकी  
 निमित्तक शरीरादिसम्बन्धी भेदज्ञान निरूपण करने वाली दशनरूपा विशेषसज्ञा कार्यकरणसंघात-  
 रूप उपाधि मे प्रलीन होने पर आधार के अभाव मे उसी तरह नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार जलादि  
 आधार के नष्ट हो जाने पर चन्द्रादि के निमित्तक प्रकाशादि नष्ट हो जाते हैं । किन्तु जिस प्रकार  
 परमार्थतः चन्द्र और आदित्य के स्वरूप का नाश नहीं होता, उसी प्रकार अससारी ब्रह्म के स्वरूप का  
 नाश नहीं होता । वही ब्रह्म विज्ञानघन है" इस प्रकार कहा गया है, वह विज्ञानघन सर्वजगत् का  
 आत्मा है, समस्त भूतो के नष्ट हो जाने पर भी परमार्थतः उसका नाश नहीं होता । विनाशी तो  
 अविद्याकृत खित्यभाव ही है । श्रुत्यन्तर (छान्दोग्यश्रुति) से यही प्रतिपादित किया है "(हे सोम्य ।  
 लोक मे जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृत्तिका के कार्यममूह का ज्ञान हो जाता है  
 कि) विकार कवल बाणी का आधार नाममात्र ही है (वस्तुतः सत्य तो केवल मृत्तिका ही है)", किन्तु  
 यह तो परमार्थिक है और 'हे मैत्रयी । वह आत्मा तो विप्रियारहित है", इसलिए "अल वा अर इव  
 विज्ञानाय' अर्थात् जिस प्रकार इस महद्भूत, अनन्त, अपार को जानने के लिए उपदेश किया गया है,  
 वह बहुत ही आसान है । "(उस सुषुप्तावस्था मे वह जो जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ भी

१ विरुद्धधर्मवत्त्वम् । २ 'विज्ञानैकधनोवस्थाऽह कृत्स्नैकात्म्य एवावयवम् । सज्ञानाशेन चाविद्याहृत्यापह्नुति  
 तथेति ॥ वा० ४४८ ॥ ३ अविद्यया प्रदीप्त तत्कल्पित इति यावत् । ४ एतन्निमित्तक । ५ यदा  
 समस्त पदम् । ६ परिच्छिन्नत्वम् । ७ प्रथमात्मिदम् । ८ भेदज्ञाननिरूप्या । ९ प्रतिबिम्ब-  
 निमित्तवत्प्रकाशादिरिव । १० ब्रह्म । ११ विज्ञानघन । १२ प्रतीक कथमनाज सिद्ध इति यावत् ।  
 १३ तस्य सर्वजगत परमार्थस्वरूपत्वे ।

ॐ यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रन्ति  
तदितर इतरं पश्यन्ति तदितर इतरं शृणोति  
तदितर इतरमेविवदति तदितर इतरं मनुते

। जिस अविद्या अवस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत सा प्रतीत-होता है; वहाँ पर ही अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सब

तु पारमार्थिकोऽविनाशी वा अरेऽयमात्मा । अतोऽलं पर्यन्ति वा अर इव महद्भूतमन-  
न्तमपारं यथाव्याख्यातं विज्ञानार्थं विज्ञातुम् । न हि विज्ञातुं विज्ञाते विपरिलोपो विद्यतेऽवि-  
नाशित्वादिति हि वक्ष्यति ॥१३॥

। कथं तर्हि प्रेत्य संज्ञा नास्तीत्युच्यते । शृणु । यत्र यस्मिन्नविद्याकल्पिते कार्य-

—अयं त्विति । पारमार्थिकत्वे प्रमाणमाह—अविनाशीति । अविनाशित्वफलमाह—अत इति ।  
पर्यन्तं विज्ञातुमिति संबन्धः । इवमित्यादिपदानां गतायंस्यादव्याख्येयत्वं सूचयति—अथेति । विज्ञानघन  
एवेत्यत्र वाक्यशेष प्रमाणावति—न हीति ॥ १३ ॥

। आत्मनो विज्ञानघनत्वं प्रामाणिकं चेत्तर्हि निषेधवाक्यमयुक्तमिति शङ्कते—कथमिति ।  
अविद्याकृतविशेषविज्ञानाभावाभिप्रायेण निषेधवाक्योपपत्तिरित्युत्तरमाह—शृण्विति । यस्मिन्मुक्तलक्षणे

नहीं जानता) विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह तो निश्चय है, हाँ उस  
समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेषरूप से जाने, इस पर श्रुति आगे  
इसी बात का समर्थन करेगी ॥१३॥

शरीर विमोक्त के बाद उसकी संज्ञा किस प्रकार नहीं रहती, इस पर श्रुति कहती है। सुनो ।  
क्योंकि "यत्र" अर्थात् जिस अविद्या उपादानक कार्यकरणसंघातरूप उपाधि निमित्तक विशेषात्मरूप

१. उक्तमेव विशेषविज्ञानाभावात्मस्वयम्यतिरक्ताम्भा दृढीबुद्ध्याऽऽह—यत्र होति । २. शृ० उ० ४.५.१४ ।

३. अल्प प्रतीचौऽविनाशित्वात् । ४. सुप्तक बहुतरमिति वाच्यः । ५. वृ० उ० ४.१-३० । ६. १५दुपादानम् ।

७. भाष्योक्तविशेषणम् ।

अयं हि द्वैतमिव भवतीति अस्वा, श्रुतस्मात्पर्यमाहर्वातिकाचार्यास्तथाहि—“यत्राज्ञातोऽतत्त्वत्वात्माऽविद्या-  
सवीतरोमुपि । तत्र निष्प्राग्रहप्रत्यो हृद्दृष्ट्यादिभेदधी ॥ यत्राज्ञातात्मयाऽतत्त्वत्वात्माऽविद्या-  
तत्राविद्योत्पद्युद्वेगदिगुणभूतात्मविघ्नर ॥ अविद्यामात्रशपत्वं जगत् प्राणवादिषम् ॥ नतौऽविद्या वायमिदं हात  
हतावत् पदम् ॥ सतोऽभिष्यञ्जक मानस्याभावोऽयं मितमवत् । अविद्यायां स्वभावोऽयं यदस्त्वं जगन्मुपा ॥  
उक्तत्वेत्यपेक्ष्यतद्वीति तस्य निपातत । द्वौ हि द्वैतमेक सत्त्वरूपो द्वैतमुच्यते ॥ उपपारं इत्यतश्चकतीति  
क्रियापदम् । तत्रैवाविद्यावस्थायां सज्जेय युज्यते मुपा ॥ ननु द्वैतमित्येतेनदुपमानं कथं भवेत् । द्वैत वस्तु न  
चेदस्ति सर्वस्यैवाव्यमात्रं ॥ नैव दोषा यतो हृष्ट एवस्मिन्नपि वस्तुनि । उपपारोपादानो दिधीरिव

तदितर इतरं विजानाति 'यत्र वा अस्य सर्व-  
मात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्-  
त्केन कः शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं

आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको सुँघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसका प्रश्रितावन करे, किससे किसका मनन करे, किससे किसको जाने? वस्तुतः जिससे इन सभी को

करासंघातो'पाधिजनिते विशेषात्मनि खित्यभावे हि यस्माद्वैतमिव परमार्थतोऽद्वैते  
ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तरमात्मन उपलक्ष्यते । ननु द्वैतेनोपमीयमानत्वाद्वैतस्य

खित्यभावे सति यस्माद्यथोपपत्ते ब्रह्मणि द्वैतमिव द्वैतमुपलक्ष्यते तस्मात्तस्मिन्सतोत्तर इतरं जिघ्रतोति  
सबन्ध । द्वैतमिवेत्युक्तमनूय व्योषधे—भिन्नमिवेति । इवशब्दस्योपमार्थत्वमुपेत्य शङ्कते—नन्विति ।  
द्वैतेन द्वैतस्योपमीयमानत्वाद्वैतान्तस्य बाधान्तिकस्य च तस्य वस्तुत्वं स्वादुपमानोपमेययोश्चब्रह्मण्यो-

खित्यभाव मे 'द्वैतमिव' अर्थात् परमार्थतः द्वितीय ब्रह्म मे द्वैत या भिन्न आत्मवस्तु से पृथक् के समान  
भासता है । (यहाँ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—) किन्तु द्वैत से उपमा दिये जाने पर ता द्वैत की भी  
पारमार्थिकता सिद्ध होने लगती है । (इसका परिहार करते हैं—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । "धिकार

१ एतावता—एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यत्र सूचितो भूताविद्योपाधिक ससारा व्याख्यात । इदानी महद्भूतमनन्त-  
पारमित्यादि सूचित ब्रह्मात्मदर्शन व्याख्यास्य न भूतोपाध्यभावेन विशेषविज्ञानसङ्गससाराभाव इति व्यतिरेक-  
माह—यत्र वा इति । २ एतन्निमित्तके । ३ प्रचक्ष्यन्ताम् । ४ भाष्योक्तविशेषणके । ५ द्वैतस्य ।

विहायसि ॥ रामउवणयोर्मुद्ध रामउवणयोरिव । यथा प्रविद्धो जगति सर्ववेहापि गम्यताम् ॥ अद्वैतात्परमापि  
मायाद्वैतमपीप्यते । तेनोपमार्थसंसिद्धेयं स्वप्नेन्द्रजालयो ॥ मिथ्येव ज्ञाति सत्योऽसीत्यपि लोकेऽभिधीयते ।  
मिथ्याभावो न नास्तीति यदनु कश्चिदपि क्षम ॥ समस्तव्यस्तत्कारूप यो बलीहाऽऽश्रय भूते । तत्पदास्य निवेद्योऽय  
यत्र हीत्यादिनोच्यते" ॥ ४५३-४५४ ॥ इति । यत्र हीत्यादेस्तात्पर्यमाह—यत्रेति । अज्ञातात्मक तत्त्वमेवाऽऽमा  
यस्य स तथा ॥ यदा स्वरूपमविद्योपहृतीरात्मा न बद् तदा स द्वैतदर्शित्युक्त प्रपञ्चयति—यत्रेत्यादिना ॥  
तात्पर्यमुक्त्वाऽऽराणि व्यावकाणो हिशब्दायमाह—अविद्येति । प्राणिनि अन्धकारतुविचारदावित्यर्थ । उक्तेऽयं  
हेतुमन्वयव्यतिरेकारूपमाध्यासि—नेति । अविद्यामात्र द्वैतमिति पूर्वोक्तस्यैव प्रतिपादके हेतो हीति पदमत्तस्तदुक्त-  
मित्याह—हीतीति । ननु प्रपञ्चोऽस्ति न वाऽऽक्षे नाविद्योपयोगो द्वितीयोऽपि कथमस्तन्मविद्याऽपि दर्शयितुमल-  
मित्याद्यारूप दृष्टान्तेनाऽऽह—सत इति । द्वैतस्याऽऽविद्यत्वोऽपि तद्वेनुचोतिरिव हिशब्दस्य कथमित्याद्यारूपोपाऽऽह  
—उक्त्यति । इत्येवादिहेतुतो जगतो रजतादिवदविद्यामात्रत्वात्तदुच्यते हीत्येतत्पदमित्यर्थ । हिशब्दस्य  
यथोक्तहेतुवाचित्वमेव किं न स्यादत आह—उच्यति । निपाताना स्रोतवत्त्वमेवेति हि वैयाकरणसमय ।  
द्वैतमित्यादि व्याकरोति—द्वैतमिति ॥ इवशब्दार्थमर्थनार्थं यत्र हीत्यादिव्याकथस्य पर्यवसितमर्थमाह—  
तत्रेति ॥ द्वैतमस्ति न वा नाऽऽह ऐकार्त्वाविरोधात् द्वितीय एकोपमीयमानोपमेयत्वाद्योपादिवशब्दासिद्धिरिति शङ्कते  
—नन्विति ॥ आत्मेतद्वैताभावेऽपीवशब्दस्य उपमार्थत्वाविशिष्टरूपमानोपमेयभावसंबन्धायि दृष्टेरित्याह—

मन्वीत तत्केन कं विजानीयात् । यनद<sup>७</sup> सर्वं  
विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन  
विजानीयादिति ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये

चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

जानता है, उसे किससे जाने ? हे मैंनेयी ! (मत्ता बतलाओ तो सही) विज्ञाता को किसने जाने ॥१४॥  
॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

पारमार्थिकत्वमिति । न । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति श्रुत्यन्तरादेकमेवाद्वितीय-

वस्तुत्वोपलम्भादित्यर्थं । द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वबाधिश्रुतिविरोधात् तस्य सत्यमेति परिहरति—

केवल घाणी का विकार नाममात्र ही है वस्तुतः सत्य तो केवल मृत्तिका ही है" इस प्रकार ऐसी अन्य  
(छान्दोग्य) श्रुति भी प्रतिपादित करती है । "हे सोम्य ! उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नाम-  
रूपात्मक जगत् (सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् था", "(विशेष क्या

१ वाचारम्भणमिति । ननु द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे (अभावे) आत्मनि एकनोपमानोपमेयत्वायोगादिवशब्दा-  
सिद्धिरिति चेन्न । उपमानोपमेयभावस्य रामरावणयोर्पुंढमित्यादावेकत्रापि दृष्टत्वात् । नान्नोपमानोपमेयविवक्षा  
मुदमनयोरनुपममित्यस्मिन्नर्थे तात्पर्यादिति चेददाहरणान्तरं शृणु नाऽऽज्ञासाधर्षान्तरं विगच्छि माताभावात्तथाऽपि  
दिग्वि तद्भातीति सादृश्यधीराकाशे दृश्यते तथाऽऽत्मनः सकाशादन्यद्वैताभावेऽपि द्वैतमिव स आत्मा भवती-  
त्युक्तिसिद्धिः । यथा च स्वप्ने महेश्वजाले च स्वप्नदुष्ट मायावी च स्वकृतद्वैतवदभवति तथाऽऽत्मा स्वाविद्योत्थ-  
कर्त्राद्वैतरूपो भातीति कल्पितद्वैतेनोपमासिद्धिः स्पष्टैवेति ध्येयम् ।

नेत्यादिना । दृष्टिमेव व्याचष्टे—दिग्वीरिति । नाऽऽज्ञासाधर्षान्तरं विगच्छि माताभावात्तथाऽपि दिग्वि  
तद्भातीति सादृश्यधीराकाशे दृश्यते तथाऽऽत्मान्यद्वैताभावेऽपि द्वैतमिव स भवतीत्युक्तिसिद्धिरित्यर्थः ॥ एकस्मि-  
न्नुपमानोपमेयत्वसमवमुदाहरणान्तरेणाऽऽह—रामेति ॥ नान्नोपमानोपमेयविवक्षा मुदमनयोरनुपममित्यस्मिन्नर्थे  
तात्पर्यादित्यत्रापि विधानान्तरेनोपमानं समर्थयते—अद्वैतादिति । इवचरदं समवतीति शेषः ।  
कल्पितद्वैतेनोपमासिद्धिः स्फुटयति—यथेति । स्वप्ने महेश्वजाले च स्वप्नदुष्टा मायावीना च कृतद्वैतवद्वारमा  
स्वाविद्योत्थकर्त्राद्वैतरूपो भातीत्यर्थः ॥ मिथ्यात्वबाधितद्वैतस्य च सत्यारम्भद्वयान्ततत्प्रागुक्त्याऽह—  
मिथ्येति । यथा मिथ्यायं सत्यवद्भाति तथा वस्तु प्रथमोऽपिनाद । द्वितीयस्तु सास्त्रसमुक्त्यर्थः । यददृश्यं  
तत्त्वत्वमिति व्याप्तेर्मिथ्यापदार्थस्यैवास्तत्वे कुतस्तस्य दृष्टान्ततत्प्रागुक्त्याऽह—मिथ्याभाव इति । भ्रान्तिबाध-  
प्रसिद्धिविरोधादिति भावः ॥ यत्र हीत्यादिस्तात्पर्यमविद्यादत्रायामेव द्वैतवर्णनं मान्ददेश्युक्त्वा सत्यवद्भाह—  
समस्तति । एष हि दृष्टेत्यादिवानपदि सर्वं यद्यमात्मैत्यादि च श्रुतिरनुच्यते । परीरात्रनिर्वाणार्थ-  
मिहेत्युक्तम् । आत्मनस्तथाविध रूपवद्वान्तं चेदविरुद्धं याम्नां चेदविद्यावत्तथायामेव द्वैतवर्णनादिनी श्रुति-  
विरुध्यतेति भावः ।

मात्मवेदं सर्वमिति च न तत्तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खित्यभूत  
 आत्माऽपरमायं चन्द्रादेरिवोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्बं इतरो ध्रातेतरेण, ध्राणेनेतरं ध्रातव्यं  
 जिघ्रति । इतर इतरमिति कारकप्रदर्शनार्थं जिघ्रतीति क्रियाफलयोरभिधानम् । यथा  
 छिनत्तीति यथोद्यम्योद्यम्य निपातनं छेद्यस्य च द्वैधीभाव उभयं छिनत्तीत्येकनैव शब्दे-  
 नान्विधीयते क्रियायाः फलावसानत्वात्क्रियाव्यतिरेकेण च तत्फलस्यानुपलम्भात् । इतरो  
 ध्रातेतरेण ध्राणेनेतरं ध्रातव्यं जिघ्रति तथा । सर्वं पूर्वंच । इयमविद्यावदवस्था ।

न वाचारम्भणमिति । तत्र तस्मिन्खित्यभावे सतीति यावत् । स्वप्नाद्वैतमिव जागरितेऽपि द्वैतं  
 यस्माद्वालक्ष्यते तस्मात्परमात्मनः सकाशादितरोऽज्ञावात्मा खित्यभूतोऽपरमायः सन्नितरं जिघ्रतीति  
 योजना । परस्मादितरस्मिन्नात्मन्यपरमायं खित्यभूते हृष्टान्तमाह—चन्द्रादेरिवेति । इतरशब्दमनूद्य  
 तस्यार्थमाह—इतरो ध्रातेति । अविद्यादशायां सर्वाण्यपि कारकाणि सन्ति कर्तुं कर्मनिर्देशस्य सर्वकार-  
 रकोपलक्षणत्वावित्याह—इतर इति । क्रियाफलयोरेकशब्दत्वे हृष्टान्तं विवृणोति—यथेति । हृष्टान्तेऽपि  
 विप्रतिपत्तिमाशङ्क्यारम्भान्तरोपेत हेतुमेव स्पष्टयति—क्रियेति । अतश्च जिघ्रतीत्यत्रापि क्रियाफलयोरेक-  
 शब्दत्वमविरुद्धमिति शेषः । उक्तं वाक्यार्थमनूद्य वाक्यान्तरेष्वतिदिशति—इतर इति । तथेतरो  
 ब्रष्टेतरेण संक्षेपेतरं ब्रष्टव्यं पश्यतीत्यादि ब्रष्टव्यमिति शेषः । उत्तरेष्वपि वाक्येषु पूर्ववाक्यवत्कर्तृ कर्म-  
 निर्देशस्य सर्वकारकोपलक्षणत्वं क्रियापदस्य च क्रियातत्फलाभिधायित्वं सुलभमित्याह—सर्वमिति ।  
 यत्र होत्यादिवाक्यापंमुपसंहरति—इयमिति ।

कहे) यह सब कुछ आत्मा ही है" ऐसा भी श्रुतिवाक्यो में कहा गया है । इसलिये उस अवस्था में  
 क्योंकि द्वैत सा रहता है, इसीलिए परमात्मा का खित्यभाव अपारमाधिक आत्मा उससे "इतरः"  
 अर्थात् चन्द्रादि के जल में पड़े हुए चन्द्रादि प्रतिबिम्ब के समान भिन्न है, (जो कि) "इतरः" यानी  
 परमात्मा से भिन्न सूँधनेवाला, भिन्न ध्राणेन्द्रिय से, "इतरम्" यानी भिन्न सूँधने योग्य पदार्थों को  
 सूँधता है । श्रुति में "इतर इतरम्" यह पदद्वय कारकान्तर उपलक्षण के लिए है तथा "जिघ्रति" पद  
 क्रिया के ज्ञान का अभिवाचक है । जिस प्रकार "छिनत्ति" (लकड़ी काटता है) इस क्रियापद में  
 कुल्हाड़ी उठा-उठाकर मारना, काटने योग्य (सकड़ी) के दो टुकड़े करना यह दोनों ही "छिनत्ति" इस  
 एक ही क्रियाशब्द से बड़े जाते हैं क्योंकि उसी में क्रिया के फल का तात्पर्य अर्थ है और क्रिया से भिन्न  
 उस क्रिया के फल की उत्पत्ति भी नहीं होती । अतः "इतर" यानी भिन्न सूँधने वाला भिन्न ध्राणेन्द्रिय  
 द्वारा "इतरम्" अर्थात् अन्य ध्रातव्य पदार्थों को सूँधता है । इस प्रकार "यत्र हि—" इत्यादि श्रुति-  
 वाक्य में अविद्यावस्था (त्रिपुटीमानात्मनः) के समान सब पूर्ववत् व्याख्या समझ लेनी चाहिये ।

और जहाँ (विद्यावस्था में) ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या नष्ट हो गई है, वहाँ आत्मा से पृथक्

१. तद्विद्यादि व्याचष्टे—तत्रेति । तदुक्तं वातिके—“तस्यामविद्यावस्थया स्वप्नावस्था गतो यथा । ध्राततः  
 सन्नितरं गन्ध ध्राणेन जिघ्रति” ॥४६३॥ इति । २. कारकान्तरोपलक्षणार्थम् । ३. फलमत्र ज्ञानम् ।  
 ४. त्रियापलक्ष्येति भावः । ५. वनेत्य त्रिपुटीमान सेयमित्यर्थः । ६. आदीन्द्रवापुरा । ७. एकशब्द-  
 वाच्यत्वे । ८. उक्तमिति शेषः । ९. क्रियायाः फलावसानत्वादित्येतत् । १०. उक्तदृष्टान्तानुरोधादेव ।

‘यत्र तु ब्रह्मविद्यायाऽविद्या नाशमुपगमिता तत्राऽऽत्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावः ।  
यत्र वा अस्य ब्रह्मविदः सर्वं नामरूपाद्यात्मन्येव प्रविलापितमात्मैव संवृत्तं<sup>१</sup> यत्रैवमात्म-  
वाभूत्तत्तत्र केन करणेन कं घातव्यं<sup>२</sup> को जिघत्सया पश्येद्विजानीयात् । सर्वत्र<sup>३</sup> हि  
कारकसाध्या क्रिया । अतः कारकाभावेऽनुपपत्तिः क्रियायाः । क्रियाभावे च फलाभावः ।  
‘तस्मादविद्यायामेव सत्या क्रियाकारकफलव्यवहारो न ब्रह्मविदः । आत्मत्वादेव सर्वस्य  
नाऽऽत्मव्यतिरेकेण कारकं क्रियाफलं वाऽस्ति । न चानात्मा सन्सर्वमात्मैव भवति  
कस्यचित् । ‘तस्मादविद्यैवानात्मत्वं परिकल्पितं न तु परमार्थत आत्मव्यतिरेकेणास्ति  
किञ्चित् । तस्मात्परमार्थात्मैकत्वप्रत्यये क्रियाकारकफलप्रत्ययानुपपत्तिः । अतो विरोधा-

यत्र वा प्रत्येत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—यत्र त्विति । उक्तेऽर्थे वाक्याक्षराणि व्याचष्टे—  
यत्रेति । तमेवार्थं सन्निपत्ति—यत्रैवमिति । सर्वं कर्तृकरणदीति शेषः । तत्केनेत्यादि व्याकरोति  
—तत्तत्रेति । किशब्दस्याऽऽशेषार्थं कथयति—सर्वत्र हीति । ब्रह्मविदोऽपि कारकद्वारा क्रियादि  
स्वीक्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मत्वादिति । सर्वस्याऽऽत्मत्वासिद्धिमाशङ्क्य सर्वमात्मैवामुदिति  
श्रुत्या समाधत्ते—न चेति । कथं तर्हि सर्वमात्मव्यतिरेकेण भातीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।  
भेदभानस्याविद्याकृतत्वे फलितमाह—तस्मात्परमार्थेति । तद्धेतोरज्ञानस्वापनीतत्वादिति शेषः ।  
एकत्वप्रत्ययादज्ञाननिवृत्तिद्वारा क्रियादिप्रत्यये निवृत्तेऽपि क्रियादि स्थान्नेत्याह—अत इति । ‘करण-

अन्य वस्तु का अभाव हो जाता है । अथवा जहाँ इस ब्रह्मविज्ञानी के सम्पूर्ण नाम-रूपादि आत्मा में ही  
लीन किये जाने पर आत्मस्वरूप ही हो गये हैं जहाँ उत्तरोत्ति से सब कुछ आत्मा ही हो गया है, तब  
किस इन्द्रिय से किसको सूँघा जाय, कीन घाता सूँघे, इसा प्रकार किसको देखे, कीन दखे, किसको  
जाने, कीन जाने इत्यादि अर्थ कर लेना चाहिये । क्रिया कारकमाध्या हुआ करती है, ऐसा लोक ग्रीर  
वेद में प्रसिद्ध है । इसलिए कारक के अभाव होने पर तो क्रिया की सिद्धि होना संभव नहीं है । ग्रीर  
जब क्रिया ही नहीं होगी तो फल भी नहीं होगा । इसलिए (त्रियाकारकपक्षरूपात्मक सभी व्यवहार  
अविद्याविषयक होने के कारण) अविद्या के रहते हुए ही त्रियाकारकफलरूप व्यवहार संभव है ।  
ब्रह्मतत्त्ववेत्ता को ऐसा कुछ भी नहीं हाता क्योंकि यह सभी कर्तृकरणदि तो आत्मा ही है आत्मा से  
पृथक् तो कारक अथवा त्रियाफल की सिद्धि संभव नहीं है । ग्रीर ऐसा भी नहीं होता कि किसी के  
लिए अनात्मा रहते हुए भी सब कुछ आत्मा ही हो जाता है । इसलिए (सब कुछ आत्मस्वरूप होने के  
कारण) अविद्या के द्वारा ही अनात्मभाव परिकल्पित है, परमाथत तो आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं  
है । इसलिए परमाथत आत्मैकत्वज्ञान होने पर क्रिया वाग्व ग्रीर फल की प्रतीति होना संभव  
नहीं है । इसलिए (यद्योक्त अविद्या-क्रियादि प्रतीति वा एकत्वप्रतीति कार्य से) विरोध होने के  
कारण ब्रह्मतत्त्वदर्शी के लिए क्रिया ग्रीर उनके माधनो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ।

१ विद्यावस्थायाम् । २ उत्तरोत्ता । ३ घाता । ४ सावबदयो । ५ प्रमिदम् । ६ क्रिया-  
कारकफलव्यवहारस्याविद्यत्वात् । ७ कर्तृकरणदे । ८ सर्वस्यात्मत्वात् । ९ सर्वस्यात्मन्ये ।

१० यद्योक्तयोरविद्याक्रियाविप्रत्यययोर्हेतुप्रमाणभूतयोरिति यावत् ।

द्ब्रह्मविदः क्रियाणां तत्साधनानां चात्यन्तमेव निवृत्तिः । केन किमिति 'क्षेपार्थं' वचनं प्रकारान्तरानुपपत्तिप्रदर्शनार्थम् । केनचिदपि प्रकारेण क्रियाकरणादिकारकानुपपत्तेः । केनचित्कंचित्कश्चित्कथंचिन्न जिघ्र्क्षेदेवेत्यर्थः ।

यत्राप्यविद्यावस्थायामन्योऽन्यं पश्यति तत्रापि 'येनेदं सर्वं विजानाति तं' केन विजानीयाद्येन विजानाति तस्य करणस्य विज्ञेये विनियुक्तत्वात् । ज्ञातुश्च ज्ञेय एव हि जिज्ञासा नाऽऽत्मनि । न चाग्नेरिवाऽऽत्माऽऽत्मनो विषयो न चाविषये ज्ञातुर्ज्ञानमुपपद्यते । 'तस्माद्येनेदं सर्वं विजानाति तं विज्ञातारं केन करणेन को वाऽन्यो विजानीयात् ।

प्रमाणयोरभावे कार्यस्य विरुद्धत्वादिति यावत् । ननु किञ्चिदे प्रदर्शनार्थं प्रतीयमाने कथं क्रियातत्साधनयोरत्यन्तनिवृत्तिविषयो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—केनेति । 'किञ्चिदस्य प्रागेवाऽक्षेपार्थममुक्तं' तस्मात्क्षेपार्थं वचो विदुः सर्वप्रकारक्रियाकारकाद्यसंभवप्रदर्शनार्थमित्यतस्तमेव 'क्रियाविनिवृत्तिविषयो' भवत्येत्यर्थः । सर्वप्रकारानुपपत्तिमेवाभिनयति—केनचिदिति ।

कंवत्यावस्थायामस्याय संज्ञाभाववचनमित्युक्त्वा 'तत्रैवं किं पुनर्न्यायं' वक्तुमविद्यावस्थायामपि साक्षिणो ज्ञानविषयत्वमाह—यत्रापीति । येन कूटस्थयोगेन व्याप्तो 'लोकः सर्वं जानाति तं साक्षिणं' केन कारणेन को वा ज्ञाता जानीयादित्यत्र हेतुमाह—येनेति । येन चक्षुरादिना लोको जानाति तस्य 'विषयग्रहणेनैवोपशीलत्वाच्च' साक्षिणि प्रवृत्तिरित्यर्थः । आत्मनो "जंसंदिग्ध"भावत्वाच्च प्रमेयत्वासिद्धिरित्याह—ज्ञातुश्चेति । किञ्चाऽऽत्मा स्वेनेव ज्ञायते ज्ञात्रन्तरेण वा नाऽऽह इत्याह—न चेति । न द्वितीय इत्याह—न चाविषय इति । ज्ञात्रन्तरस्याभावात्तस्याविषयोऽयमात्मा कुतस्तेन ज्ञातुं शक्यते । न हि ज्ञात्रन्तरमस्ति नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिभूतेरित्यर्थः । आत्मनि "प्रमातृप्रमाणयोरभावे

मन्त्र मे "केन, कम्" (किसस, किसको) इत्यादि निषेधार्थक वचन प्रकारान्तर से असिद्धिप्रदर्शन के लिए है । किसी भी प्रकार से क्रिया-करणादि कारको की सिद्धि संभव नहीं है । अर्थात् किसी के द्वारा किसी विषय को कोई किसी भी प्रकार नहीं सूँघ सकता ।

इसके अतिरिक्त अविद्यावस्था में भी जहाँ इतर इतर को देखता है, वहाँ भी जिसके द्वारा यह सब जानता है, उसको किमके द्वारा जाने क्योंकि जिसके द्वारा वह जानता है, उस इन्द्रिय का तो विज्ञेय में विनियोग हुआ है । तथा ज्ञाता की जिज्ञासा ज्ञेय में ही होती है, आत्मा में नहीं होती । अग्नि के समान आत्मा अपना ही विषय नहीं हो सकता और जो विषय ही नहीं है, उसका ज्ञान ज्ञाता को नहीं हो सकता । इसलिए (आत्मा में प्रमाता और प्रमाण की प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण) जिसके

- १ निषेधार्थमित्यर्थः । २. येनेत्यादे भृत्यस्य तात्पर्यमाहुर्वातिके—“ज्ञातोत्पत्तो न सज्ञास्तोत्पास्ता तावदिहाऽऽत्मनः । अपि सत्यामविद्याया न सज्ञास्त्यात्मनीदृशीति” ॥ ईदृशी ग्राहकादिविभागोद्ग्राहिणीत्यर्थः ॥
३. अविद्यावस्थायामपि सर्वसाली स्वप्रकाशेनान्यापेक्ष. किं पुनर्विद्यावस्थायामित्यर्थः । ४. आत्मनि प्रमातृ-प्रमाणयो प्रवृत्त्यभावात् । ५. ब. उ. ६. २३ पृष्ठे सर्वत्र हीत्यादिभाष्येण । ६. कंवत्ये सज्ञाभाववचन एव । ७. किं पुनर्न्यायम्—कमुक्तिकन्यायम् । ८. सघातः । ९ स्वस्वनिमित्तशब्दादिविषयेत्यर्थः । १०. असंदिग्ध-भावाच्चेत्येव मुक्तः पाठः । असंदिग्धत्वाच्चेत्यर्थः । ११. पदार्पत्वात् । १२. वनयोः प्रवृत्तेरिति यावत् ।



‘यदा तु पुनः परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो विज्ञातव्यं केवलतोऽद्वयो वर्तते तं विज्ञातारमने केन विजानीयादिति ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

यत्केवलं कर्मनिरपेक्षममृतत्वसाधनं तद्वत्त्वमिति मंत्रेयो ब्राह्मणमारब्धम् । तच्च आऽऽत्मज्ञानं सर्वसंन्यासारूपं विशिष्टम् । आत्मनि च विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । आत्मा च प्रियः सर्वस्मात् । तस्मादात्मा द्रष्टव्यः स च श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति च दर्शनप्रकारा उक्ताः । तत्र श्रोतव्य आचार्यागमाभ्याम् । मन्तव्यस्तर्कतः ।

ज्ञानाविषयत्वं कलतीत्याह—तस्मादिति । विज्ञातारमित्यादिवाक्यस्यार्थं प्रपञ्चयति—यदा र्विति । तदेवं स्वरूपापेक्षं विज्ञानधनत्वं विशेषविज्ञानापेक्षं तु संज्ञाभाववचनमित्यविरोध इति ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकभाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—यत्केवलमिति । कैवल्यं व्याचष्टे—कर्मनिरपेक्षमिति । तच्च आऽऽत्मज्ञानमुक्तमिति ‘सबन्धः’ । ‘ततो निराकाङ्क्षस्य सिद्धिर्मात्रं चकारार्थः । आत्मज्ञानं संन्यासिनामेवेति नियन्तुं विशिनष्टि—सर्वेति । ननु कुतस्ततो निराकाङ्क्षं सत्यपि तस्मिन्विशेषान्तरसंभवादत्त आह—आत्मनि चेति । न वा अग्रे पत्सुरित्पराश्रयवृत्तस्मारयति—आत्मा चेति । तस्य निरतिशयप्रभास्यदत्त्वेन परमानन्दत्वेन कसितमाह—तस्मादिति । स चेद्देशनाहंस्तहि तद्दर्शने कानि साधनानोत्पाद्यञ्च आह—स चेति । दर्शनप्रकारा दर्शनस्योपायभेदाः । श्रवणमननयोः

द्वारा यह सब जानता है, उस विज्ञाता को किस इन्द्रिय के द्वारा जाने, कौन दूसरा जाने (जबकि आत्मा अद्वितीय है) । (विवावस्था में) जब (प्रखण्डार्थ का पर्यालोचन करने वाले) परमार्थतत्त्वद्रष्टा ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में केवल अद्वितीय विज्ञाता ही रह जाता है, तो हे मंत्रेयी ! उस विज्ञाता को वह किसके द्वारा जाने ॥१४॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् द्वितीयाध्याय के चतुर्थं मंत्रेयी ब्राह्मण में शाङ्खरभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥४॥

जो केवल कर्मनिरपेक्ष, अमृतत्वसाधन है, उसी का वर्णन करना चाहिए, इसी से मंत्रेयी ब्राह्मण आरम्भ किया गया था और वह सर्वसंन्यासरूप ब्रह्म से विशिष्ट आत्मज्ञान ही है । आत्मा का ज्ञान ही जाने पर यह सब ज्ञात हो जाता है । आत्मा ही सबसे प्रिय है । इसलिए (आत्मा के परमानन्द-स्वरूप होने से) आत्मा का दर्शन करना चाहिये, एव उसी का श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये, ये उसके दर्शन के प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं । उन (श्रवण और मनन) में श्रवण को

१. विद्यावस्थायाम् । २. अखण्डार्थं पर्यालोचयत । ३. दृष्ट्या । ४. आत्मनः परमानन्दत्वात् । ५. श्रवणमननयोर्मध्ये । ६. उक्ता इत्येतत्पदे लिङ्गवचनाभ्यां निष्पत्तिरवश्यं सबन्धः । ७. तत — निरोधो-मृतत्वसाधनतयात्मज्ञानस्योत्पत्तादित्यर्थः । ८. निराकाङ्क्षत्वं विदुष इति शेषः । ९. संन्यासविशिष्टात्म-ज्ञानात् । १०. आत्मज्ञाने । ११. सिद्धे र्विति ।

तत्र च तर्क उक्त आत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्य हेतुवचनमात्मैकतामान्यत्वमात्मैको-  
द्भवत्वमात्मैकप्रत्ययत्वं च । तत्रायं हेतुरसिद्ध इत्याशङ्क्यत आत्मैकतामान्योद्भवप्रत्यया-  
स्यस्तदाशङ्कानिवृत्त्ययमेतद्व्याहरणमारभ्यते ।

यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतं जगत्सर्वं पृथिव्यादि । यच्च लोके परस्परोप-  
कार्योपकारकभूतं तदेककारणपूर्वकमेकसामान्यात्मकमेकप्रत्ययं च दृष्टम् । तस्मादिदमपि  
पृथिव्यादिसक्षणं जगत्परस्परोपकार्योपकारकत्वात्तथाभूतं भवितुमर्हति । 'एष ह्यर्थो-

स्वरूपविशेषं दर्शयति—तत्रेति । कोऽसौ तर्को येनाऽऽत्मा मन्तव्यो भवति तत्राऽऽह—तत्र चेति ।  
द्वन्द्व्यादिप्रत्ययः सत्प्रत्ययः । उक्तमेव तर्कं 'संगृह्णाति—आत्मैवेति । प्रधानाविवादादाय हेत्वसिद्धि-  
शङ्कायां तन्निराकरणार्थमिदं ब्राह्मणमिति 'सगतिं संगिरते—तत्रायमिति ।

कथं हेत्वसिद्धिशङ्कोर्भ्रमयते तत्राऽऽह—यस्मादिति । तस्मात्तथाभूतं भवितुमर्हतीत्युत्तरं  
संदध्यः । अन्योन्योपकार्योपकारकभूतं जगदेकचेतन्या 'नुविदमे'कप्रकृतिकं चेत्यत्र व्याप्तिमाह—  
यच्चेति । दृष्ट स्वरूपादीति शेषः । दृष्टान्ते सिद्धमर्थं दृष्टान्तिके योजयति—तस्मादिति । तच्छब्दायं  
स्फुटयति—परस्परैति । तयाभूतमित्येककारणपूर्वकादि गृह्णाते । विमतमेककारणकं परस्परोपकार्योप-  
कारकभूतत्वात्स्वप्नवदित्युक्तं हेत्वसिद्धेः न हि सर्वं जगत्परस्परोपकार्योपकारकभूतमित्याशङ्क्याऽऽह

माधायं श्रीर शास्त्र द्वारा करना चाहिए । युक्तिके द्वारा मनन करना चाहिये । उसमें तर्क का स्वरूप  
बतलाया गया है कि जहाँ "यह जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है" इस प्रकार प्रतिज्ञावाक्य से "आत्मा  
का सबमे समानभाव से विद्यमान रहना, आत्मा स ही सबको उत्पत्ति होना तथा आत्मा मे, ही सबका  
प्रलय होना" यह फलितार्थ कथन है । प्रतिज्ञात अर्थ मे शङ्का की जाती है कि आत्मा का सबमे  
विद्यमान रहना, उसी से उत्पन्न होना तथा उसी मे प्रलय होना रूप हेतु असिद्ध है, इस आक्षेप की  
निवृत्ति के लिए द्वितीय अ अथ का पाँचवा ब्राह्मण प्रारम्भ किया जाता है ।

कथंकि यह पृथिवी आदि समस्त जगत् परस्पर उपकार्य और उपकारक स्वरूप है । लोक मे  
जो भी पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारक रूप होते हैं, वे एककारणपूर्वक, एकचेतन्यानुविद्ध और एक-  
प्रत्ययस्थान बाने देखे जाते हैं । इसलिए यह पृथिवी आदि रूप जगत् भी परस्पर उपकार्य-उपकारक रूप

१. इदं सर्वं यदयमात्मैवेत्येतदेव तु प्रतिज्ञावाक्य सत्यं कलितार्थकथनविदम् । २. आत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातम् । ३. आशङ्क्यत इति—जगत् स्थितिकाले चित्तसामान्यत्वं यदुक्तं तत्र सिध्यति चित्तो नि सामान्यविशेषात् तथा चिदुत्पत्तिमयास्य हेत्वशोऽपि सामान्योऽपि प्रति न सिध्यति । ते हि प्रधानाद जगज्जन्मलयाविच्छन्ति न च त्वयाऽपि चित्तो जगज्जन्मलयाऽऽश्रित्य शक्यो कटस्थमज्जाद्वयत्वोपगमादित्याशङ्का दृष्ट्या । ४. आरभ्यत इति—निसामान्यादिरूपा हेतुर्वस्तुतो नास्ति, यथावयविद्विद्वि विवक्ष्याऽऽवे दृष्टा-पत्ति । तदुक्तं बानिके—'ऐवात्म्यवस्तुतात्पर्यं हेत्वादिच्छन्नोच्यते' । वेदे यतो न हेत्वादि तावत्स्यादि-वसितम्" । ॥७॥ न द्वितीयोज्ञात ब्रह्मणि चित्तसामान्यादितत्त्ववात्तददमित्यादौ तत्त्वापत्तिमपि बभूवेत्याप्य-निदराव तत्सिद्धत्वाविधितया अधुनाहमारब्धमिति भाव । १. एष चेतन्यानुविद्धम् । २. सर्वस्य परस्परोपकार्योपकारकस्वरूप । ३. समस्तम् कथयति । ४. प्रधानादिवादे हि प्रधानादावेव अपेक्षानुवादिन न ब्रह्मणोति हेत्वसिद्धिः । ५. आक्षेपात्मिकायम् । ६. अनुवतम् । ७. एकोपादानकम् ।

ऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रकाशयते । अथवाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति 'प्रतिज्ञातस्याऽऽत्मोत्पत्तिरस्थितिलयश्च' हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य 'निगमनं' क्रियते । तथाहि नैयायिकैरुक्तं 'हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति' । अन्यव्याख्यातमा दुन्दुभिदृष्टान्ताच्छ्रोतव्यार्थमागमवचनं प्राङ्मधुब्राह्मणान्मन्तव्यार्थमुपपत्तिप्रदर्शनेन मधुब्राह्मणेन तु निदिध्यासनविधिरुच्यत इति । सर्वथाऽपि तु यथाऽऽगमेनावधारितं तर्कतस्तथैव भन्तव्यम् । यथा तर्कतो मतस्य तर्कगमाभ्यां निश्चितस्य तथैव निदिध्यासनं क्रियत इति पृथङ्निदिध्यासनविधिरनर्थक एव । 'तस्मात्पृथक्प्रकरणविभागोऽनर्थक इत्यस्मदभिप्रायः

एष हाति । हेत्वसिद्धिशङ्कां परिहर्तुं ब्राह्मणमिति संगतिमुक्त्वा प्रकारान्तरेण तामाह—प्रथमेति । प्रतिज्ञाहेतु क्रमेणोक्त्वा हेतुसहितस्य 'प्रतिज्ञार्थस्य पुनर्वचनं निगमनमित्यत्र तात्त्विकसंमतिमाह—तथा हीति । भर्तृप्रपञ्चानां ब्राह्मणारम्भप्रकारमनुवदति—अन्यैरिति । द्रष्टव्यादिवाक्यादारभ्याऽऽदुन्दुभिदृष्टान्तादागमवचनं श्रोतव्य इत्युक्तश्रवणनिरूपणार्थम् । दुन्दुभिदृष्टान्तादारभ्य मधुब्राह्मणात्प्रागुपपत्तिप्रदर्शनेन भन्तव्य इत्युक्तमनननिरूपणार्थमागमवचनम् । निदिध्यासनं व्याख्यातुं पुनरेतद्ब्राह्मणमित्यर्थः । एतद्ब्रूयति—सर्वथाऽपीति । श्रवणादेर्विधेयत्वेऽविधेयत्वेऽपीति यावत् । 'अन्यव्यतिरेकाभ्यां श्रवणे प्रवृत्तस्य "तत्पौष्कल्ये सत्य"र्थलब्ध मनन न विधिमपेक्षते । यथा तर्कतो मतं तत्त्वं तथा तस्य तर्कगमाभ्यां निश्चितस्योभयसामर्थ्यादेव निदिध्यासनसिद्धौ तदपि विध्यनपेक्षमेवेत्यर्थः । त्रयाणां विध्यनपेक्षत्वे फलितमाह—तस्मादिति । इति परकीयव्याख्यानमुक्तमिति शेषः । सिद्धान्तेऽपि

होने के कारण वंसा ही होना चाहिये । यही अर्थ इस ब्राह्मण में प्रकाशित किया जाता है । अथवा "यह जो कुछ है—सब आत्मा ही है" इस प्रतिज्ञात ऐकात्म्य का आत्मा से उत्पत्ति, स्थिति, लय होना रूप हेतु बतलाकर धब फिर आगमप्रधान मधुब्राह्मण से प्रतिज्ञातार्थ का पुनः कथन किया जाता है । इसी बात को नैयायिकों ने प्रतिपादित किया है कि "हेतुसम्बन्ध से प्रतिज्ञातार्थ का पुनः कथन निगमन है" इत्यादि । (भर्तृप्रपञ्चादि) अन्य दार्शनिकों ने इस प्रकार व्याख्या की है कि दुन्दुभि दृष्टान्त के पूर्व जो श्रुतिवचन है, वह "श्रोतव्यः" इस विधिवाक्य से प्रारम्भ किये हैं, फिर मधुब्राह्मण से पूर्व का शास्त्र है; वह युक्ति दिखलाते हुए "मन्तव्यः" इस वाक्य में मनन के निरूपण के लिए है । तथा मधुब्राह्मण के द्वारा निदिध्यासन की विधि बतलायी गयी है । किन्तु (श्रवणादि के क्रियारूपत्व पक्ष में विधेयत्व और ज्ञानरूप पक्ष में अविधेयत्व) सभी प्रकार से जैसा श्रुति ने निश्चित किया है, तर्क से वंसा ही मनन करना चाहिये । जिस तर्क से मनन किया हो और तर्क और श्रुति के द्वारा निश्चित अर्थ का उसी प्रकार निदिध्यासन किया जाता है । इसलिए निदिध्यासन के पृथक् विधान करने का कोई

१. ऐकात्म्यम् । २. निगमनम्—पुनः वचनम् तस्यापि साधना(अनुमाना)ज्ञातया वादिभिरिष्टत्वादवश्य वक्तव्यत्वात्तदुच्यते । ३. हेत्वपदेशादिति—हेतुसम्बन्धात् प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञातार्थस्य पुनः वचनमित्यपराधः । हेतोः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य कथनात् प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य प्रदर्शनमिति यावत् । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मं (हेतु) कथनपूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शनं न्यायावयवो निगमनमिति । ४. शी० सू० १।१।३६ । ५. त्रयाणां विध्यनपेक्षत्वात् । ६. प्रतिज्ञातार्थस्य । ७ इत् प्रागित्यर्थः । ८. श्रवणादेः प्रियास्वरूपपक्षे विधेयत्वं ज्ञानरूपत्वपक्षे त्वविधेयत्वम् । ९. सति श्रवणादी ज्ञानं दुग्धे—नान्यधेयत्वव्यतिरेकी । १०. श्रवणादिसम्पूर्णा । ११. विधिमन्तरेव ।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्य पृथिव्यं  
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः

यह प्रसिद्ध पृथिवी (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) समस्त भूतो का मधु है (जैसे अनेक मधुकर मधु के छत्ते को बनाते हैं, ऐसे ही समस्त भूतो ने इसे बनाया है) और ऐसे ही समस्त भूत इस पृथिवी के मधु हैं। इस पृथिवी में जो यह चिन्मात्र प्रकाशमय और अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म

श्रवणमनननिदिध्यासनानामिति । सर्वेषां अपि त्वध्यायद्वयस्यां योऽस्मिन्ब्राह्मण उपसंह्रियते ।

इयं पृथिवी प्रसिद्धा सर्वेषां भूतानां मधु सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानां प्राणिनां मधु कार्यं मध्विव मधु । ययैको मध्वपूषोऽनेकमधुकरं निर्वर्तित एवमियं पृथिवी सर्वभूतं निर्वर्तित । तथा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यं पृथिव्या अस्या मधुकार्यम् । किं च यश्चायं पुरुषोऽस्यां पृथिव्यां तेजोमयश्चिन्मात्रप्रकाशमयोऽमृतमयोऽमरणधर्मा पुरुषो

श्रवणादिविध्यम्युपगमात्कथं परकीयं प्रत्यानं प्रत्याख्यातमित्याशङ्क्याऽह—सर्वेषां अपि त्विति । तद्विध्यम्युपगमेऽपीति यावत् ।

एवं सगति ब्राह्मणस्योक्त्वा तदधराणि व्याकरोति—इयमित्यादिना । यदुक्तं मध्विव मध्विति तद्विद्योति—यदेति । न केवलमुक्तं मधुद्वयमेव किंतु मध्वन्तरं चास्तीत्याह—किं चेति । पुरुषशब्दस्य

औचित्य ही दिखाई नहीं देता । इसलिए (तीनों का विधि-अनपेक्ष होने से) श्रवण-मनन-निदिध्यासन के प्रकरणों का पृथक् विभाग करना व्युत्पाद्य है—ऐसा हमारा विचार है। सब प्रकार से ही इस अध्यायद्वय में इस ब्रह्म में प्रपञ्चमिथ्यात्वरूप अर्थ का उपसंहार किया जाता है।

“इयम्” अर्थात् प्रसिद्ध यह पृथिवी सभी भूतो का मधु है, “सर्वेषाम्” अर्थात् ब्रह्मादि से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी “भूतानाम्” अर्थात् प्राणियों का मधु यानी कार्य है। यह मधु के समान होने से मधु है। जिन प्रकार एक मधु का छत्ता अनेक भौंके द्वारा तैयार किया हुआ होता है, उसी प्रकार इस पृथिवी की भी सब भूतो द्वारा (क्रियाफल के उपभोगार्थ) सृष्टि की गई है। तथा समस्त जन्तु इस “पृथिव्यं” यानी पृथिवी के “मधु” अर्थात् कार्य हैं। इमने अतिरिक्त इस अधिदेव पृथिवी में जो भी यह लिङ्ग-शरीररूप “तेजोमय” यानी चिन्मात्र प्रकाशमय तथा “अमृतमय” यानी स्थूलदेह के समान आत्मा

१ प्रपञ्चमिथ्यात्वरूप । २ इदं शब्दार्थोऽयम् । ३ निर्वर्तितति—“क्रियाफलोपभोगार्थं सर्वैरेव स्वकर्मभिः । जन्तुभिः, पृथिवी सृष्टा मधु तथा ततो मही” ॥वा० १८॥ ४ पृथिव्या भूतानि मधु इति । पृथिव्या हि स्वकर्मकर्मोभार्थं भूतानि सृष्टानि । भूतानां पार्थिवत्वात्तत्पृथिव्यमिति ध्येयम् । ५ किं चेति—पृथिव्या भूतानां च स्थूलदेहरूप भाग कर्तृत्वकायत्वभोक्तृत्वभोग्यत्वरूपेण चतुर्धा विभज्य तस्मिन्नेव स्थूले यदायं लिङ्गशरीर तस्य चतुर्धा विभागाद्यमिदं वाक्यमित्यर्थः । ६ लिङ्गशरीररूपः । ७ अधिदेवम् । ८, प्राच्ये मयत् । ९, स्थूलदेहवन्नाजुविनाशी ।



एवमेतच्चतुष्टयं तावदेकं 'सर्वभूतकार्यं सर्वाणि च भूतान्यस्य कार्यम् । 'अतोऽस्यैककारणपूर्वकता' । यस्मादेकस्मात्कारणादेतज्जातं तदेवैकं परमार्थतो ब्रह्मेतेतरत्कार्यं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमित्येष मधुपर्यायाणां सर्वेषामर्थः संक्षेपतः । अयमेव स योऽयं प्रतिज्ञात इदं सर्वं यदयमात्मेति । इदममृतं यन्मैत्रेय्या अमृतत्वसाधनमुक्तमात्मविज्ञानमिदं तदमृतम् । इदं ब्रह्म यद्ब्रह्म ते ब्रवाणि जपयिष्यामीत्यध्यायादौ प्रकृतं यद्विषया च विद्या

काभावादत आह—चदावेदिति । प्रथमपर्यायार्थमुपसंहरति—एवमिति । पृथिवी सर्वाणि 'भूतानि' पार्थिवः पुरुषः शरीरं चेति चतुष्टयेकं ग्रन्थिति 'दोषः । मधुशब्दार्थमाह—सर्वेति । अस्वेति पृथिव्यादेरिति यावत् । 'परस्परमुपकार्योपकारकभावे कसितमाह—अत इति । अस्वेति सर्वं जगदुच्यते । 'उक्तं च यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतमित्यादि । भवत्वनेन 'न्यायेन मधुपयमिषु सर्वेषु 'कारणोपदेशो ब्रह्मोपदेशस्तु कथमित्याहाड्डूपाऽह—यस्मादिति । स 'प्रकृत आत्मैवायं 'चतुर्भूतौ भेद इति योजना । इदमिति चतुष्टयकल्पनाधिष्ठानविषयं ज्ञानं परामुशति । इदं ब्रह्मेत्यत्र चतुष्टयाधिष्ठानमिदंशब्दार्थः । 'तृतीये च तस्य प्रकृतत्वं दर्शयति—यद्विषयेति । इदं सर्वमित्यत्र ब्रह्मज्ञानमिदमित्युक्तम् । सर्वं सर्वास्ति-

जगत् की एककारणपूर्वकता है (उसका स्वप्न दृष्टान्त से अनुसंधान करना चाहिये) । जिस एक कारण से यह जगत् उत्पन्न हुआ, वही एक तत्त्व परमार्थतः ब्रह्म है । उससे भिन्न कार्य "विकार तो केवल बाणी का विकार नाम मात्र ही है" इस प्रकार मधु के पर्यायो से यह अर्थ संक्षेपतः किया गया है । "यह जो कुछ है, सभी आत्मा ही है" इस प्रकार जो यह प्रतिज्ञा की गई थी, यह वही है । 'इदममृतम्' अर्थात् मैंनेयी को जिस अमृतत्व-विज्ञान का साधन उपदेश किया गया था, वह यह आत्मविज्ञान अमृत है । यह ब्रह्म है । "मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा", "ब्रह्मज्ञान कराऊँगा" इस प्रकार जिस ब्रह्म का अध्याय के आरम्भ में उपक्रम किया है, उस ब्रह्मविषयिका विद्या को ब्रह्मविद्या कहा जाता है । यह ब्रह्मविद्या ही सब कुछ है क्योंकि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होने से सब कुछ आत्मा है, ऐसा ज्ञान हो जाता है ॥१॥

१. सर्वप्राणिनायम् । कार्यत्वमेव मधुत्वमिति भावः । २. सर्वस्य जगतः परस्परमुपकार्योपकारकत्वात् । ३. स्वप्नादत्र दृष्टान्तानुसंधयः । ४. दृ. उ. २-४-६ । ५. चतुर्व्यन्तमिषम् । ६. नृपि । ७. पार्थिवार्थेतिङ्कारमा । ८. परस्पर कार्यकारणत्वमेवोपकार्योपकारकत्वम् । ९. दृ. उ. ६-२-१० पृष्ठभाष्ये । १०. पुष्पा । ११. एककारणत्वसाधनं कारणोपदेशः । १२. मैत्रेयीब्राह्मणे दृष्टव्यत्वादना प्रकृतः । १३. एतन्नुष्टयविषयानामिति यावत् । १४. उपनिषदि प्रथमाध्यायः ।

येत्यर्थः ॥ सप्तम्याद्यं वदन्वाक्यार्थं प्रपञ्चयति—पृथिव्यादिवृत्ति । अन्तरमाधेयादि बाह्यमाधारादि । चतुष्टयस्याऽऽत्ममात्रत्वे हेतुमाह—तदवोचति ॥ योऽयमात्मेतिदोषस्यायदाब्देन पुनर्कतिमात्राड्डूपाऽह—अयमित्यस्येति । अयमित्युक्त आकाङ्क्षा स्यात्तत्रिवृत्त्यर्थं विवेचनं योऽयमित्यादि । सामानाधिकरण्यस्य नीलोत्पलवदखण्डार्थत्वविना नसर्गमात्रविषयत्वेनोपपत्तेर्न चतुष्टयस्य प्रत्यहमात्रतरेगाड्डूपाऽह—एवेतीति ॥ सप्तमद्वयारणं चतुष्टयस्याऽऽत्मनि सप्तमनिर्घटकं, सप्तमर्पणोऽयमोपकृत्यच्छेदिरनोपपत्तेस्तत्राऽह—उत्त्वमिति । वेदवद्वयार्थं स्फुटयति—अभ्यावृत्तेति । अयोगव्यवच्छेदे तु चतुष्टयस्याऽऽत्मनो व्यावृत्तया निरवस्थास्य सप्तमिदुपपत्तिरिति भावः ॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वात्सामपाः  
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजो-  
मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः रेतस-  
स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमा-  
त्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि  
भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृत-

ऐसे ही ये जल समस्त भूतों के मधु हैं और समस्त भूत इन जलों के मधु हैं । इन जलों में जो चिन्मय अमरणधर्मा पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म रेतस तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही वह है । जो कि “यह आत्मा है” (इस प्रतिज्ञावाक्य से बतलाया है), यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है ॥ २ ॥

यह अग्नि समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस अग्नि के मधु हैं । इस अग्नि में जो

ब्रह्मविद्योत्पुच्यते' इदं सर्वं यस्माद्ब्रह्मणो विज्ञानात्सर्वं भवति ॥ १ ॥

तथाऽऽपः । 'अध्यात्मं रेतस्यपां विशेषतोऽवस्थानम् ॥ २ ॥

तथाऽग्निः । वाच्यग्नेर्विशेषतोऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

साधनमिति यावत् । तदेव स्पष्टमिति—यस्मादिति ॥१॥

‘यथा पृथिवी मधुत्वेन व्याख्याता तथाऽऽपोऽपि व्याख्येया इत्याह—तथेति । रेतस इति विशेषणस्यार्थमाह—अध्यात्ममिति । ‘आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्’ इति हि श्रुत्यन्तरम् ॥२॥

पृथिव्यामप्यु चोक्तं व्यामग्नावतिविशति—तथेति । बाह्मण इत्यस्यार्थमाह—वाचीति ।

इसी प्रकार जल मधु है । (‘आपो रेतो भूत्वा’ यानी जल हो रेतस् होकर—इत्यादि श्रुति से) अध्यात्म रेतस् में जल का विशेषरूप से अवस्थान होने से रेतस् ही जल के मध्य अध्यात्मरूप है (इस-लिए अध्यात्म पुरुष का रेतस् यह विशेषण कहना ठीक ही है) ॥२॥

उसी प्रकार अग्नि है । (‘अग्नि होकर मुख में उस पुरुष ने प्रवेश किया’ इस वाक्य से) वागी में अग्नि का आवास है ॥३॥

१. वृ० उ. १.४.६-१० । २. सर्वं भवतीति । आपिर्देवाध्यात्मयोः स्मृतद्वयं ब्रह्मद्वयं चेति पतुष्टयं सर्वविशेषा-  
भाजोपलक्षितात्मनामिति इष्टव्यमित्युपसंहारोऽत्रानुसंधेयः । तथा च नातिथे—“पृथिवी पाथिवं चीतं गरीरं  
साविदेवतम् । जनीयात्सर्वं प्राप्तेति नेति त्रेत्युपलक्षणमिति” ॥ ३. अध्यात्मं रेतसोनि—आपो रेतो भूत्वेति  
श्रुतेरध्यात्मरेतसि जलानां विशेषतोऽवस्थानादेव एवापामध्यात्म रूपमतोऽध्यात्मपुरुषस्य रेतस इति विशेषणं  
युक्तमिति भावः । एवमत्रापि बोध्यम् ।

मयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-  
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेद-  
ममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः  
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजो-  
मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्ते-  
जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमा-  
त्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ४ ॥

तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि 'यह आत्मा है' (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है ॥३॥

इसी प्रकार यह वायु समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस वायु के मधु हैं। इस वायु में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म प्राणरूप तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्व-  
रूप है ॥४॥

तथा वायु । अध्यात्म प्राणो 'भूतानां शरीरारम्भकत्वेनोपकारान्मधुत्वं त्वन्तर्ग-  
तानां तेजोमयादीनां' करणत्वेनोपकारान्मधुत्वम् । तथा चोक्तं "तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदिति हि भूयते ॥३॥

अग्नावुक्तं न्याय वायौ योजयति—तथेति । 'वायु प्राणो भूत्वा नातिके प्राविशत्' इति ध्रुत्पन्तरभाषित्याऽऽह—अप्यारममिति । पृथिव्यादीनां तदन्तर्बन्तिनां च पुरपाणामेकवाक्योपात्ता-  
नामेकरूप मधुत्वमिति शङ्का परिहरन्नवान्तरविभागमाह—भूतानामिति । पृथिव्यादीनां कार्यत्वं तेजोमयादीनां करणत्वमित्यत्र सप्ताप्राधिकारसमतिमाह—तथा चोक्तमिति ॥४॥

इसी प्रकार वायु मधु है। अध्यात्म मधु ही (वायुवृत्ति से सहकृत घ्राणेन्द्रिय यहाँ) प्राण है। (पृथिवी आदि) भूतो का शरीरारम्भकसामर्थ्य तथा उनका उपकारक होने के कारण यह मधु है। उसके अन्तर्गत तेजोमयादि पुरुषों का करणत्व रूप से उपकारक होने के कारण मधुत्व है। इसी से (वृहदा-  
रण्यक के प्रथम अध्याय में) कहा गया है कि "(प्रजापति के अन्नरूप से प्रस्तुत हुए) उस वाक् का

१ वायुवृत्तिसङ्कृत घ्राणेन्द्रियमत्र प्राण । २ पृथिव्यादीनाम् । ३ पुरुषाणाम् । ४ तस्यै वाच इति—  
तस्यैतस्या प्रजापतेरन्नत्वेन प्रस्तुताया वाचिदैविका वाच । पृथिवी शरीरम् आधार, ज्योतीरूप प्रजाशात्मक  
करणभूतमाधेरूपम् । अयं वाचिबोधिनिमित्तम् । ५ घ्राणम् ।



अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽदि-  
त्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्ना-  
दित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं  
चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मे-  
दममृतमिव ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां  
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजो-  
मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रोत्रः

यह आदित्य समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस आदित्य के मधु हैं। यह जो इस  
आदित्य में चिन्मय प्रकाशस्वरूप अमरणवर्मा पुरुष है एव जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय  
पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म  
है और यही सर्वरूप है ॥५॥

तथा ये दिशाएँ समस्त भूतो की मधु हैं और समस्त भूत इन दिशाओं के मधु हैं। यह जो उन  
दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्र पुरुष प्रातिष्ठुरूप (प्रत्येक श्रवण वेला

ज्योतिरूपमयमग्निः" इति ॥ ४ ॥

तथा ऽऽदित्यो मधु । चाक्षुषोऽध्यात्मम् ॥ ५ ॥

तथा दिशो मधु । दिशां यद्यपि श्रोत्रमध्यात्मं रूपं शब्दप्रतिश्रवणवेलायां तु

यद्यप्यादित्यस्तृतीये 'भूतेऽतर्भवति तथाऽपि देवतामेवमाभित्याग्नानुषक्तं न्यायं तस्मिन्नति-  
विशति—तथेति । 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इति श्रुतिमाभित्याऽऽह—चाक्षुष इति ॥५॥  
आदित्यगतं न्यायं दिक्षु संपादयति—तथेति । 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णां प्राविशन्' इति 'भूतेः  
श्रोत्रमेव दिशामध्यात्मं रूपं तथा चाध्यात्मं श्रोत्र इत्येव वक्तव्ये कथं प्रातिष्ठुरूप इति विशेषण-  
मित्याशङ्क्याऽऽह—दिशामिति । तथाऽपीत्यस्मिन्नर्थे तुशब्दः ॥ ६ ॥

पृथिवी बाह्य माधार और पृथिवी का आधेयस्वरूप यह पाथिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक करण  
है" ॥४॥

इसी प्रकार आदित्य मधु है । ("आदित्य ही चक्षु होकर नेत्रगोलको में प्रविष्ट हुआ" इस  
श्रुतिवाक्य से) चाक्षुष पुरुष ही अध्यात्म मधु है ॥५॥  
इसी प्रकार दिशाएँ मधु हैं । यद्यपि श्रोत्र दिशाओं का अध्यात्मरूप है, तब भी प्रत्युत्तर श्रवण

१. न. उ. १. ५. ११ । २. प्रत्युत्तरश्रवणवेलायाम् । ३. तजति । ४. श्रुतिरिति—अध्यात्मश्रोत्रे दिशा  
विशेषतोऽवस्थानादिति शेषः । ५. तथा चेति—श्रोत्रस्यैव दिशामध्यात्मरूपत्वे चेत्पर्यं । ६ इत्येव—  
अध्यात्मश्रोत्र इत्येतावन्माने विशेषणं वक्तव्ये ।

तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः  
 हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
 योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्म देव सर्वम् ॥ १० ॥  
 'अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य

इस आकाश में चिन्मात्र प्रकाशमय अमररंगधर्मा पुरुष है, एवं जो यह अध्यात्म हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञा वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है ॥१०॥

यह धर्म समस्त भूतो का मधु है और समस्त भूत इस धर्म के मधु हैं (परोक्ष होते हुए भी

तथाऽऽकाशः । अध्यात्मं हृद्याकाशः ॥ १० ॥

आकाशान्ताः पृथिव्यादयो भूतगणा देवतागणाश्च, कार्यकरणसंघातात्मान उप-  
 कुर्वन्तो मधु भवन्ति प्रति शरीरिणमित्युक्तम् । येन ते प्रयुक्ताः शरीरिणिः संबध्यमाना  
 मधुत्वेनोपकुर्वन्ति तद्वत्कव्यमितीदमारभ्यते—

स्तनयित्वाबुक्तं न्यायमाकाशेऽतिदिशति—तथेति ॥१०॥

पर्यायान्तरं वृत्तमनूद्योत्थापयति—आकाशान्ता इति । प्रति शरीरिणं सर्वेषां शरीरिणां प्रत्येक-

इसी प्रकार आकाश मधु है । अध्यात्म पुरुष का विशेषण हृदयाकाश है ॥१०॥

पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त कार्यकरणसंघातरूप भूतगण और देवतागण उपकारक होने के कारण सभी प्राणियों के मधु होते हैं—ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। अब जिस धर्म से प्रयुक्त हुए शरीरधारियों से सम्बद्ध होकर मधुरूप से उनका उपकार करते हैं, उस धर्म के स्वरूप का वर्णन करना है। इसके लिए अग्रिम ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जाता है।

१. अयं धर्म इति—अस्मिन्पयि बहवो धर्मशब्दा वर्तन्ते तत्र यश्चायमस्मिन्धर्म इत्यत्र साधारणः पृथिव्यादि-  
 कारी धर्मोऽभिधीयते । यश्चायमध्यात्म धर्म इत्यत्राऽऽत्मनो देहाचारम्भकः प्रत्यात्मसाधारणो धर्म उच्यते ।  
 अयं धर्म इत्यत्र तु तदुभयार्थकमपूर्वमुच्यते इति विवेकः । किं तदुभयार्थकमपूर्वमित्याशङ्क्य समाहितं वातिके—  
 "प्राज्ञापरम्यपूर्वं यस्तत्सर्वभूतप्रयोजकम् । अध्यात्म पिण्डकृच्च सोऽयं धर्माभिधोदितः" ॥४६॥ इति ॥ तस्य  
 (धर्मस्य) साधारणकारकं दर्शयति—यदिति । तस्यासाधारण रूपमाह—अध्यात्ममिति । प्रायमिकधर्मशब्दार्थं  
 निगमयति—सोऽयमिति ॥ २. अध्यात्मपुरुषविशेषणं हृद्याकाश इति । ३. पृथिवीलिङ्गशरीरलिङ्गरूपाः ।  
 ४. कार्यं भूतगणाः करणं देवतागणाः । ५. इत्युक्तमिति । तथा च वातिके—“पृथिव्यादीनि भूतानि तदंशश्च  
 समीरिताः । हिरण्यमर्बलिङ्गाशास्तथा पूर्वोक्तमृतम्” ॥४३॥ इति । भूतानि पञ्चोक्तानि तेषामंशश्च शरीरादयः  
 सूत्रांशश्च भूतशरीराधाराः । भूतानि शरीराणि चाऽऽधाराः येषां ते तथा तेजोमयदिविशेषणकाः करणात्मानो  
 लिङ्गशरीरभूताः भूतशरीरयोराधेयरूपा इति यावत् । तथा सूत्रांशा. भूतशरीराधारास्तथैव भूतानां शरीराणां  
 च पूर्वोक्तानां मृत्युः स्वरूपभूता अपील्यर्थः । ६. धर्मेण । ७. धर्मस्वरूपम् ।



इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां भवस्य सत्यस्य  
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोम-  
योऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सत्यस्ते-

यह (अनुष्ठेयमान धर्म सत्यपद वाच्य) सत्य समस्त भूतो का मधु है और सम्पूर्ण भूत इस सत्य के मधु हैं। (धर्म के समान सत्य आचार भी दो प्रकार का है, वह सामान्यरूप से पृथिव्यादि से सम्बद्ध

इति प्रत्यक्षेण व्यपदेशः । सत्यधर्मयोश्चाभेदेन निर्देशः 'कृतः' शास्त्राचारलक्षणयोरिह तु भेदेन व्यपदेश' एकत्वे सत्यपि । दृष्टादृष्टभेदरूपेण कार्यारम्भकत्वात् । यस्त्वं दृष्टोऽपूर्वाण्यो धर्मः स सामान्यविशेषात्मनाऽदृष्टेन रूपेण कार्यमारभते सामान्यरूपेण पृथिव्यादीनां प्रयोक्ता भवति विशेषरूपेण चाध्यात्मं कार्यकरणसंघातस्य । तत्र पृथिव्यादीनां प्रयोक्तिरि यश्चायमस्मिन्धर्मं तेजोमयस्तथाध्यात्मं कार्यकरणसंघातकर्तारि धर्मं भवो धर्मः ॥ ११ ॥

यो वै स धर्मः सत्यं तदिति सत्यधर्मयोरभेदवचनात्तयोर्भवेनात्र पर्यायद्वयोपादानमनुपपन्नमतं ब्राह्म—सत्येति । कथमेकत्वे सति भेदेनोक्तिरित्याशङ्क्याऽह—इष्टेति । अदृष्टेन रूपेण कार्यारम्भकत्वं प्रकटयति—यस्त्विति । सामान्यात्मनाऽऽरम्भकत्वमुदाहरति—सामान्यरूपेणेति । विशेषात्मना कार्यारम्भकत्वं व्यनक्ति—विशेषेति । धर्मस्य 'द्वौ भेदावुक्ती तयोर्मध्ये' 'प्रथममधिकृत्य यश्चेत्यादि वाक्यमित्याह—तत्रेति । 'द्वितीयं विषयीकृत्य यश्चायमध्यात्ममित्यादि प्रवृत्तमित्याह—तथेति ॥११॥

जा चुकी है । यह क्षत्रियादि जाति का नियन्ता है, पृथिवी आदि भूतो के परिणाम का हेतु होने से जगत् की विचित्रता करने वाला है और प्राणियों द्वारा आचाराख्य कारण जिसका अनुष्ठेयमान रूप है, इसी से यह धर्म (समस्त भूतो का मधु) है, यह प्रत्यक्ष व्यपदेश है । (प्रथम अध्याय में) शास्त्र और आचार प्रमाणकद्वय स्वरूप सत्य और धर्म का अभेदरूप से निर्देश किया गया है, किन्तु एकत्वरूप होने पर भी यही भेदरूप से प्रतिपादन किया गया है क्योंकि दृष्ट और अदृष्टरूप से वह कार्य का आरम्भक है । उनमें जो अपूर्वसत्त्वक परोक्ष धर्म है, वह अपने समष्टि और व्यष्टिरूप से परोक्षतया कार्य आरम्भ करता है । वह समष्टिरूप से पृथिवी आदि का कर्ता होता है, एव व्यष्टिरूप से कार्यकरणसंघात अध्यात्म का कर्ता होता है । (समष्टिव्यष्टिरूप) सामान्य और विशेष के मध्य में पृथिवी आदि प्रेरक के लिए "यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है" यह श्रुतिवाक्य है, एव कार्यकरणसंघात के कर्ता के लिए "यह जो अध्यात्म सत्य सम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है" इत्यादि श्रुतिवाक्य है । जो धर्म में रहता है, उसे "धर्म" कहते हैं ॥११॥

१. प्रथमाध्याये । २. एतद्वयप्रमाणयोः । ३. इतः । ४. परोक्षः । ५. समष्टिव्यष्टिरूपेण ।  
६. कर्ता । ७. सामान्यविशेषयोर्मध्ये । ८. पुनरुक्तिमित्यर्थः । ९. सामान्यविशेषणात्मानो । १०.  
सामान्यम् । ११. विशेषात्मानम् ।



इदं मानुष<sup>१</sup> सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य  
 सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजो  
 मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोम-  
 योऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं  
 ब्रह्मेदं<sup>२</sup> सर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्यादि जाति सभी भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यादि जाति के मधु हैं। यह जो मनुष्य जाति में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और यह अध्यात्म मनुष्यादि सम्बन्धी तेजोमय अमृत-  
 मय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस श्रुतिवाक्य से कहा गया है) यह अमृत है,  
 यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥१३॥

'धर्मसत्याभ्या' प्रयुक्तोऽयं कार्यकरणसघातविशेषः । स येन जातिविशेषेण संयुक्तो  
 भवति स जातिविशेषो मानुषादिः । तत्र मानुषादिजातिविशिष्टा एव सर्वे प्राणिनिकायाः  
 परस्परोपकार्योपकारकभावेन धर्तमाना दृश्यन्ते । अतो मानुषादिजातिरपि सर्वेषां भूतानां  
 मधु । तत्र मानुषादिजातिरपि बाह्याऽऽध्यात्मिकी चेत्युभयथा निर्देशमागच्छति ॥१३॥

इह मानुषमित्यत्र मानुषग्रहणं सर्वजात्युपलक्षणमित्यभिप्रेत्याऽह—धर्मसत्याभ्यामिति । कथं  
 पुनरेषा जातिः सर्वेषां भूतानां मधु भवति । तत्राऽह—तत्रेति । भोगभूमि सत्प्रत्ययः । यश्चायमस्मिन्नि-  
 त्यादिवाक्यद्वयस्य विषयमेव दर्शयति—तत्रेति । व्यवहारभावाविति यावत् । धर्मादिवदित्यपेक्ष्य ।  
 'निर्वेदु स्वशरीरनिष्ठा जातिराध्यात्मिकी शरीरान्तराश्रिता तु बाह्येति तु भेदः । वस्तुतस्तु 'तत्र  
 नोभयधात्वमित्यभिप्रेत्य निर्देशभागित्युक्तम् ॥१३॥

यह कार्यकरणसघातविशेष अपूर्वरूप धर्म और आचाररूप सत्य द्वारा प्रेरित है। यह जिस  
 जातिविशेष से संयुक्त होता है, वह जातिविशेष मनुष्यादि है। वहाँ सम्पूर्ण प्राणीसमूह मनुष्यादि  
 जातिविशिष्ट हो कर ही परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव से विद्यमान देखे जाते हैं। इसलिये मनुष्य-  
 जाति भी समस्त भूतों का मधु है। वह मनुष्यजाति भी बाह्य और आध्यात्मिक भेद से दो प्रकार की  
 निर्देश वाली होती है ॥ १३ ॥

१ अपूर्वाचाराभ्याम् । २ प्रयुक्त इति—धर्मादिप्रयुक्तं भूतविराट्छन्दितम् । शरीरद्वय यज्जातिविशिष्ट  
 सव्यवहारसम सः सर्वो जातिर्मानुष्यवित्तेत्याह—य येनेति । तदुक्तं वातिके—“सत्यधर्मप्रयुक्तोऽयं लिङ्गपिण्ड-  
 स्वलक्षणः । विराट्बिरज्यगर्भेन सर्वजातिसमन्वितः” ॥१२॥ इति । स्वलक्षणम् स्वरूपम् ॥ इदं मानुषमिति  
 विशेषणान्न सर्वजातिसमन्वितमित्याशङ्क्य सप्ताहितं वातिके—“मनुष्यजातेग्रहणं सर्वजात्युपलक्षणम् । इदं  
 मानुषमित्येव व्याख्या सत्यास्तु पूर्ववत्” ॥१३॥ इति । इदं मानुषमित्येव मनुष्यजातेग्रहणमिति सवन्त्यः । साऽपि  
 बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विधा निर्दिश्यते धर्मादिवत्तमेव मानुषमिति मिलितसर्वजातेयंश्चायमस्मिन्निति बाह्यभेदस्य  
 यश्चायमध्यात्ममित्याध्यात्मिकभेदस्योक्तिरित्याह—व्याख्येति ॥ ३ सम्पूर्णा । ४ बह्वन्तुकाजातिरित्येव निर्देष्टुं  
 पुनः । ५ जातिः ।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽत्मनः  
 सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि  
 तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजो-  
 मयोऽमृतमयः - पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेद-  
 ममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १४ ॥

यह देह समस्त भूतो का कार्य होने से मधु है और समस्त भूत इस देह के मधु हैं । यह जो इस देह में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है । जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अविनाशी है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥१४॥

यस्तु 'कार्यकरणसंधातो मानुषादिजातिविशिष्टः सोऽयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु । नन्वयं' शारीरशब्देन निदिष्टः पृथिवीपर्याय एव । न । 'पर्यायवांशस्यैव तत्र ग्रहणात् ।' इह तु 'सर्वात्मा' 'प्रत्यस्तमिताध्यात्माधिसृताविसर्वविशेषः' 'सर्वभूतदेवतागणविशिष्टः कार्य-

अन्तिम पर्यायमवतारयति—यस्त्विति । आत्मन 'शारीरेण गतत्वात्पुनरुत्क्रियन्तुमुच्यतेति' शाङ्कते—नन्विति । 'अवयवावयवविषयत्वेन पर्यायह्वयमपुनरुक्तमिति परिहरति—नेत्यादिना । परमात्मानं व्यावर्तयति—सर्वभूतेति । 'चेतनं व्यावर्धनति—कार्येति । यथायमस्मिन्नितायाविकल्पस्य

जो भी (समष्टि स्थूलसूक्ष्म समुदाय विराड्द्विरण्यगर्भं उपाधिरूप) वेहेन्द्रियसंघात मानुषादि-जातिविशिष्ट है, वह वह आत्मा समस्त भूतो का मधु है । (पूर्वपक्षी शाङ्का करता है—) किन्तु यह उक्त आत्मशब्दार्थं शारीरशब्द से वतनाया हुआ पृथिवी का पर्याय ही है । (आक्षेप का परिहार किया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ पृथिवी के अक्षाभिमानी लिङ्गात्मा का ही ग्रहण है । इस पर्याय में जो सर्वात्मा है, जिसमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवादि सब प्रकार के विशेष को निरस्त कर दिया है, जो कार्यकरणसमुदायात्मक समष्टि समस्त भूत और देवगण से विशिष्ट है,

१ समष्टिस्थूलसूक्ष्मसमुदायो विराड्द्विरण्यगर्भोपाधि । २ उक्त आत्मशब्दार्थ । ३ पृथिव्यक्षामिमानि-  
 निङ्गात्मन । ४ पर्यायः । ५ सर्वात्मेति । वास्तवे यथा—'पृथिवी शारीर इत्येव सङ्ग्रहो य पुरोदित ।  
 विराड्द्विरण्यगर्भश्चेत्यममात्मेति तद्वच्च ॥ द्विरण्यगर्भं भूतानां च पुरुषपुरुषक । उक्तं मधुख येनात्तस्तत्ताम-  
 स्यमयोऽप्यते' ॥१४४-१४५॥ इयं पृथिवीत्यारस्य मानुषपयायपर्वणेन सर्वत्र विराट्पुरुषमिगुप्यमानावयववि-  
 पृथिवी शारीर इत्येतेन अनेकावयवयोः पित्राग उक्तस्तद्वत्तावयवविनो निदेशोऽयमात्मेत्यादिना क्रियत इत्यर्थः ॥  
 ६ निरस्तं भावः । ७ कार्यकरणसमुदायात्मा समष्टिः ॥ ८ जाते पर्याय शारीरशब्देन आत्मात्मन  
 उक्तत्वात् । ९ पूर्वोक्तो हि अष्टितयाऽवयव समष्टितया चायमवयवी । १० जीवम् ।

'स' वा 'अयमात्मा' सर्वेषां भूतानामधिपतिः

सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च

वह यह विज्ञानमय आत्मा सम्पूर्ण भूतों का अधिपति एवं सम्पूर्ण भूतों का राजा है। इसमें दृष्टान्त यह है—जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि में सभी अरें लगे रहते हैं, ऐसे ही इस सर्वात्मा में

करणसंघातः सोऽयमात्मेत्युच्यते । तस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽमूर्तरसः सर्वात्मको निविश्यते । 'एकदेशेन' तु पृथिव्यादिषु निदिष्टोऽप्राध्यात्मनिर्देशोभावात्स' न निविश्यते । यस्तु परिशिष्टो 'विज्ञानमयो यदर्थोऽयं देहलिङ्गसंघात आत्मा स यश्चायमात्मेत्युच्यते ॥ १४॥

यस्मिन्नात्मनि परिशिष्टो विज्ञानमयोज्ञेये पर्याये प्रवेशितः सोऽयमात्मा । तस्मि-

विषयमाह—तस्मिन्निति । यश्चायमाध्यात्ममिति किमिति—नोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एकदेशेनेति ।

अत्रेतिव्यपदेशोक्तिः । यश्चायमात्मेत्यस्यायंमाह—यस्त्विति ॥ १४॥

स वा अयमात्मेत्यस्यायंमाह—यस्मिन्निति । परिशिष्टः पूर्वपर्यायेष्वनुपदिष्टोऽज्ञेये च पर्याये

वही यही 'यह आत्मा है' ऐसा कहा गया है। उस 'इम' विराट् आत्मा को तेजोमय, अमृतमय पुरुष अमूर्त सूत्रात्मा, सर्वात्मक बतलाया गया है। अवयवरूप एकदेश से पृथिवी आदि पर्यायों में निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँ कोई अध्यात्मविशेष न होने के कारण अध्यात्मविशेष का निर्देश नहीं किया गया है। एवं जो पूर्वपर्यायों में अनुपदिष्ट बुद्धिप्रधान जीवात्मा ही शेष रह जाता है, जिसके

१. अन्यपर्यायोक्त्यात्मनः स्वरूपमाह—स वा इति । वातिके हि—“अपूर्वानपरामर्शप्रत्ययव्यापारव्यवस्थितये । स वा इत्यादिको ग्रन्थः सहृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ ६२॥ इति । २. सोऽयमिति । वातिके यथा—“अयमात्मेति निर्देशो विराजः प्रथमो मतः । सप्तम्यन्तेन तत्प्रत्यङ्गित्वात्माज्ज्ञो विधीयते ॥ ५५॥ इति । विराजः सूत्रस्य च यस्मिन्निति रूपं तस्यायमात्मेत्यत्राऽऽत्मशब्दः प्रथमान्तो वाचकः । यश्चायमात्मेति धातुमनोयत्र सप्तम्यन्तात्मा-शब्देन विराज एवातिरिक्ताह—सप्तम्यन्तेनेति । निर्देशो विराज इति पूर्वशब्दस्य । विराजोऽयमन्तरो निष्काला तेजोमयादिशब्देनोच्यत इत्याह—तत्प्रत्यङ्गित्वात् । वतस्तत्रोमयादिशब्दादित्यर्थः ॥ ३. विराजि । सूत्रात्मा । ४. एकदेशेनेति—पृथिव्यादिपर्यायेषु कार्यकारणसंघातस्य व्यष्टिधातुनाऽभिधानादवशिष्यते (भिद्यते) शरीरमिति तत्राध्यात्ममित्युक्तम् । अत्र च समष्टिधातुना तस्याभिधानादवशिष्यते शरीरमिति तथोक्तिरित्यर्थः । ५. अवयवरूपेण । ६. पर्यायेषु । ७. अध्यात्मविशेषः । ८. पूर्वपर्यायेष्वनुपदिष्टः । ९. धीप्रधानो जीवात्मा । १०. यन्त्रेण । ११. यश्चायमिति । वातिके हि—“वायात्मा कारणात्मा च यदयो भवतः सदा । यश्चायमात्मेत्यत्रोक्तो विज्ञानात्मेति य विदुः ॥ ५७॥ इति । यश्चायमात्मेत्याऽऽत्मशब्दस्य चेतस्याभासजीववाचित्यमाह—कार्येति । सोऽयमात्मेत्यन्तेनोक्तः शेषोति शेषः । शेषिणोऽप्यतिरिक्तं निरस्यति—विज्ञानात्मेति । १३. स वा इति वाक्यस्यात्माशब्दस्य ।

तद्यथा रथनाभौ च रथनेषु चाराः सर्वे समपिता इति ॥ “व्याचक्षतेऽप्यर्थेन दृष्टान्त केचिदात्मनः । समस्तादित्यतिजाप्यसिद्धये ब्रह्मवादिनः ॥ एकीकृत्य स्वमात्मानमखरे परमात्मनि । चकृन्नामिषदात्मानं कल्पयित्वा



रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्ना-  
त्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः  
सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

सभी भूत, सभी देव, सभी लोक सभी प्राण और ये अविद्याकल्पित सभी जीवात्मा समर्पित हैं ॥१५॥

अविद्याकृतकार्यकरणसघातोपाधिविशिष्टे ब्रह्मविद्यया परमार्थात्मनि प्रवेशिते स एव-

यथायमात्मैः युक्तो 'विज्ञानमयो 'यस्मिन्नात्मनि 'खित्यदृष्टान्तवधत्ता प्रवेशितस्तेन' परेणाऽऽत्माना  
सादात्म्य गतो 'विज्ञानाऽऽत्मशब्दार्थः । 'उक्तमात्मशब्दार्थमनुच सर्वोपाधिर्यादि व्याप्यते—  
तस्मिन्निति । अविद्यया कृत कार्यकरणसघात एवोपाधिस्तेन विशिष्टे जीवे तस्मिन्परमार्थात्मनि  
ब्रह्मणि ब्रह्मविद्यया प्रवेशिते सति स एवायमात्मा 'यथोक्तविशेषण सर्वोपाध्याय सर्वेषां भूतानामधि-

लिए यह बहुन्द्रियसघातरूप आत्मा है, वही "जो यह आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य से कह कर बतलाया  
गया है ॥१४॥

जिसका पूर्वोक्त पर्यायो मे उपबन्ध नहीं हुआ, उस परिशिष्ट विज्ञानमय (जीवात्मा) का अस्तिम  
पर्याय मे जिस आत्मा मे प्रवेश कराया गया है, उसका 'यह आत्मा है' इस प्रकार प्रतिपादन किया  
गया है । अविद्याकृत कार्यकरणसघात उपाधि से विशिष्ट उस परमार्थ आत्मा मे ब्रह्मविद्या के द्वारा  
प्रवेश कराये जाने पर उसके अनन्तर और अबाह्य, पूर्ण प्रज्ञानघनस्वरूप, सब भूतों का आत्मा इस प्रकार

१ जीव । २ अविद्यातत्कायहीन स्वस्वरूपे । ३ खित्यस्यादे—यथा मैथवीखित्य इत्यादि दृष्टान्त-  
पूर्वकादेव वा अत्र इव महद्भूतमनन्तमपार विज्ञानघन इत्यादिवाक्यात् प्रवक्षित एवमेव बोधित इत्यर्थः ।  
४ प्रवेशित इत्यस्यैवार्थमाह—तनेत्यादिना । ५ आत्मशब्दाय इति । स वा अयमितिपदत्रयार्थमाहुर्वाक्ये  
—'योऽमावविद्यया बही ससारीवाऽयमभूत्पुरा । साऽय साक्षात्पर ब्रह्म विद्यया यततऽभून्नति ॥६०॥ ६  
अनन्तरवादिबिधौषणक ।

विश्लेषण ॥ शरीर नेमिवर्चतद्भवताद्यवज्जगत् । कल्पयित्वा निदिध्यासेत्तद्भावाविष्टयो सदा ॥ अनेन ध्यान-  
मार्गेण ध्यायमानस्य सदा । तत्तत्साहचर्यवत् अवस्थावृत्तिद्वलभम् ॥ एतामवस्थामापन्नाः ध्यातृत्वाद्भिनिवर्तत ।  
अविद्याभिनिर्वाद्यानां ध्येयवर्गमधिगच्छति ॥ निश्चितमधिगच्छेत्तदा योगिना नित्यं परम् । यः प्राप्य न निवर्तत  
निर्वाणं परमं गता ॥ प्रत्येक प्राणिना ह्येतद्व्यावृत्त्यवस्थितम् । असदावाप्तुं तं सर्वं प्राणिभिर्नाभूयते ॥  
यैश्चानखरात्केचिदेव व्याजसत स्फुटम् । अक्षरानन्वयात्याज्या व्याख्याय साध्वपीदृशी ॥ सामर्थ्यादपि संप्राप्ता  
न चेदंगरूपवत् । तादृह्नोपास्य एवेति प्रादुराबमवेदित ॥ प्रमाणवन्त्यदृष्टानि नत्प्यानि सुबहूयपि ।  
अदृष्टज्ञतभागीऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः ॥ यथोक्तवधिव्याप्ती न श्रुताश्रयपूवकः । न चाणुपासनपद  
कृत्स्नेऽपि ब्राह्मणे श्रुतम् ॥ नाभिर्नमिद्वयस्यान दृष्टान्तत्वेन समते । दाष्टातिवस्तवार्थेन यत् सापार्तिह  
श्रुत ॥ समर्पितस्व प्राणादे श्रूयते प्रत्यमात्मनि । भूतषु दवतदेस्तदश्रुत गृह्यत नयम् ॥ बहिरन्तर्विभागस्य  
कार्यकारणता तथा । तदेतदिति वाक्येन प्रदीयाऽनैव वायते ॥ अथ योऽयमात्मनि तथा भेददृष्टिनिराहृत ।  
उपास्योपासनविधिं सम्यगिति मे मति । अज्ञानमात्रव्यवर्धेर्ब्रह्मनात्मप्रत्ययः । ब्रह्मविद्यातिरक्त्य सत्प्राप्तौ  
नापरा क्रिया ॥ तद्भावाऽनभ्युदित भनृत मनसा न यत् । तदेव ब्रह्म विद्धि त्वं न त्विदं यदुपासत ॥ उपाधि-

मुक्तोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानधनभूतः सर्वेषां भूतानामयमात्मा सर्वरूपास्यः सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वभूतानां 'स्वतन्त्रो' न 'कुमारामात्यवर्तिक' तर्हि सर्वेषां भूतानां 'राजा' ।

पतिरिति सवन्धः । स्वार्थेयेषां 'पदमादाय' तस्य 'वाच्यमयमाह—सर्वेषामिति । तस्यैव विवक्षितोऽर्थः सर्वरूपास्य इत्युक्तः । स्वातन्त्र्य व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—नेत्यादिना । सर्वेषां भूतानां राजेत्येतावन्तव

कहे जाने पर वह सब के द्वारा उपास्य, सभी भूतों का अधिपति, सभी भूतों का श्रेणी है, न 'राजकुमार

१. स्वतन्त्र इति—अन्यथेय इति यावत् । वातिने यथा—“तथाऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यमभिधीयते । स्वार्थं प्रत्यस्तदर्थत्वात्सहेतोर्जगदारम्भः” ॥६४॥ राजशब्देन राजनवदित्यर्थः । स्वातन्त्र्यमुपपादयति—स्वार्थं इति । आत्मा स्वरूप वस्तुन इति शेषः । २ श्रेणी । ३ राजकुमारः । ४ राजेति—अविमुक्तात्म-  
ब्रह्माधपणीय इत्यर्थः । वातिने यथा—ब्रह्मास्मीतिपरिज्ञानध्वस्तस्वान्तत्वरूपेणात् । राजेति राजनाद्भास्वदवि-  
मुक्तात्मवर्त्तनात्” ॥ ६३ ॥ इति । ज्ञानादज्ञाननिरासदप्रतिबन्धस्वरूपस्फुरणं भानाद्ब्रह्मविज्ञानैत्युक्तिर्नह-  
तीत्यर्थः ॥ ५ पद पदसमुदायवास्य मिति यावत् यदा अधिपतिपद वाक्यन्तर्भाविनादायेत्यर्थः । ६ अधिपति-  
पदस्य । ७ विवक्षितार्थस्योक्तत्वाद्वाच्यमिति ।

क्रियया व्याप्तिरब्रह्मरस्य सत्तन्मम् । धृत्वाऽकारि यतस्तादृक्कच ब्रह्मैश्वर्यास्त्ये ॥ दृश्यत एवप्रचया बुद्ध्या  
मनसैवेति यद्वच । तदारम्भविद्याभिष्यर्थं नोपासनविधायकम् ॥ रजस्तमोनुविद्वेन यतो न ब्रह्म गम्यते । शुद्ध-  
चित्तस्तथा तत्समादिष्टाद्ब्रह्मान्तर्गतमनि । यदाऽज्ञात्माभिसवन्त्यात्पूर्वमेकस्मिन्निष्ठता । सर्वप्राणभूता बुद्धिरित्यर्थो  
वचसो भवेत् ॥ एयोऽर्थो ब्रह्मस्तस्य न तूपासाविधिर्भवेत् । प्रचस्तमेव ऐकारस्य नोपासनविधिर्भवेत् ॥  
चक्रवृत्तिरतोऽज्ञात्मा धृत्वादिति विवाहः । तदेतदिति वाक्याप्यो ग्राह्योऽत्र सप्रवर्गमते ॥ तदाहुरिति वाक्येन  
ब्रह्मविद्याप्रयोजनम् । साक्षेप प्रागुपन्यस्त तस्याय निर्णयः कृतः” ॥ वा० ६७-६० ॥ इति । तद्यथादिवाक्यस्य  
भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामुत्पादयति—व्याचसत इति । दृष्टान्तब्रह्मण दार्ष्टान्तिकोपलक्षणम् । अन्यथाव्याख्यानपक्ष  
सूचयति—आत्मन इति । सप्रपञ्चोऽयमारभेति प्रतिज्ञेद सर्वं यदयमारभेत्यत्र स्थिता तदर्थसिद्धार्थमन्यथाव्याख्या-  
नमित्यर्थः ॥ तदेव स्फुटयति—एकीकृत्यति । न तावदात्मा परस्माद्भिद्यत ऐक्ययुक्ते न च चक्रनाभिस्थानीयो  
हेतुः प्रचभूतात्मक चक्रनेमिस्थानीय देवतादि जगद्वरबवात्मनि भूतेषु वर्णित कल्पितत्वा तत्रैव कल्पितेऽर्थे  
स्थिरबुद्धि सदा ध्यानं कुर्मादित्यर्थः ॥ किञ्चनेन ध्यानेनेत्यादिक्रुधाऽह—अनेनेति । सदातनमेकत्वं न ध्यानफल-  
मित्याद्यङ्गुष बन्धव्यस्तितस्तस्येति मत्वा विनिर्णयित—आनुत्तीति ॥ एकत्वमापन्नोऽपि ध्यानमातनुयादिति चेन्ने-  
त्याह—एतामिति । न वैवलम्बकफल ध्यातृत्वनिवृत्ति किन्तु ध्येयत्वाप्तिरपीत्याह—अविद्येति ॥ ध्येयस्वरूप  
निरूपयति—निश्चित्येति । य आत्मा मुक्ता सन्नो न पुन सत्वरति न प्रकृताचिन्त्य परमात्मानं ज्ञानिनामयन  
प्रत्यक्षया निश्चित्य य स्थित स ध्येयत्वमज्ञानप्रत्याप्तातीत्यर्थः ॥ चक्रवृत्तिध्यानं तत्फलं वेति परेषां प्रक्रिया  
प्रदश्य तथामेव प्रक्रियान्तरमाह—प्रत्यक्षमिति । ब्रह्मण सर्वप्राणिहृदयसन्निधानमन्येयुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति  
हिंसादाय । यदि ब्रह्मास्य चक्र सर्वप्राणिना हृदि सर्वदा स्थित किमिति तर्हि सर्वेनानुभूयते तत्राऽह—  
असन्नोपादिति । पूर्वपक्षमुपसहृति—वैश्वानरति । आपातरमणीयाऽपीय व्याख्या न स्वीकार्या धृत्यशरत्वाह-  
त्वादित्याह—अक्षरेति । ईदृशी यथोक्तप्रक्रियाविशिष्टाति यावत् ॥ दृष्टान्तसामर्थ्यादात्मनो नानारसत्वदृष्टे-  
रसमिद्विद्वोऽर्थो न युक्तिवाह इत्याशङ्क्याऽह—सामर्थ्यादिति । यद्यपि दृष्टान्तसामर्थ्यात्त्वद्विद्वोऽर्थो भाति  
तथाऽपि नासौ श्रोतोऽस्मिन्प्रकरणे तद्व्याचकपदभावात्पूर्वादिवाक्यविराधाच्चातो नाऽऽत्मनोऽनेकस्वरूपत्वाय दृष्टान्त-  
स्तथाऽपि नोपयोग्यार्थो नाऽऽदेयो यथाचार्यादर्थो न स चोदनाय इति स्थितत्वाया चातिप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ किंच

राजत्वविशेषणमधिपतिरिति भवति 'कश्चिद्राजोचितवृत्तिमाश्रित्य राजा न त्वधिपति'रतो विशिनष्ट्यधिपतिरिति । एवं सर्वभूतात्मा विद्वान्ब्रह्मविन्मुक्तो भवति । यदुक्तं ब्रह्म-

'यथोक्तार्थेऽसिद्धौ किमित्यधिपतिरिति विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—राजत्वेति । राजत्वजात्यनाक्रान्तोऽपि कश्चित्तुद्विचतपरिपालनादिव्यवहारवानित्युपलब्धं न पुनस्तस्य स्वातन्त्र्यं राजपरतन्त्रत्वात्तस्मात्ततो 'यथच्छेदार्थमधिपतिरिति विशेषणमित्यर्थः । राजाऽधिपतिरित्युभयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यत्वमभिप्रेत्य वाक्यार्थं निगमयति—एवमिति । उक्तस्य विद्याफलस्य 'तृतीयेनैकवाक्यत्व-

है, न भन्त्री के समान ही है; तो वह क्या है ? वह (अविलुप्त आत्मदर्शन से अर्घ्यनीय होने से) सब भूतों का राजा है । श्रुति में "अधिपतिः" यह पद राजा का विशेषण है; कोई राजा न होते हुए भी राजोचित व्यवहार (ऐश्वर्य) का प्राथम्य लेकर राजा हो जाता है, परन्तु वह अधिपति (स्वतन्त्र) नहीं होता, इसलिए 'अधिपति' यह विशेषण दिया गया है । इस प्रकार आत्मा का सर्वभूतात्मक स्वरूप

१. कश्चित्—अराजाऽपीत्यर्थः । २. स्वतन्त्रः । ३. यथोक्तोऽर्थः स्वातन्त्र्यम् । ४. तस्मादिति—राजपरतन्त्रेऽपि यथोक्ते जने राजेतिव्यवहारोपलब्धमादित्यर्थः । ५. ततः यथोक्तात्पुनः राज्ञः । ६. व्यावृत्त्यर्थः । ७. प्रथमाध्यायोक्तविद्याफलेनैक्यमिति यावत् ।

ब्रह्मणोऽन्यदपि न नामारस कल्पकाभावादन्यासितप्रसङ्गादित्याह—प्रमाणवन्तीति ॥ ननु न ब्रह्म समस्तादिरूपं कल्प्यते किंतु चक्रविन्यास श्रुत्यैव आश्रित्य नेत्याह—यथोक्तेति । यत्तु निदिध्यासेदिति तत्राऽह—न वेति ॥ किञ्च दृष्टान्तस्यैव न सर्वस्य दार्ष्टान्तिकेऽन्यस्तद्भावविरोधादतो न ब्रह्म समस्तादिरूपमित्याह—नाभीति ॥ यत्तु चक्रनामिस्थानीये प्रतीचि चक्रनेमिस्थानीयदेहात्मकभूतेषु च देवतादि अपदस्यदपितमिति तत्राऽह—समपितस्त्वमिति ॥ प्रधानवाक्यविरोधाच्च न समस्तादिरूपं ब्रह्मैत्याह—बहिरिति ॥ इतश्च ब्रह्म न समस्तादिरूपमित्याह—अथेति । ननु देवान्तरे दृष्टिनिन्दितत्वान्नेष्टा ब्रह्मदृष्टिस्त्वनिन्दितोपपद्यते तस्मिन्नुपास्तिविधिप्रभृते सप्रपञ्चत्वं न हि निष्पञ्चमुपास्यते तत्राऽह—उपास्येति । न हि श्वेद विनोपास्यादिप्रकारतन्मयः प्रकृते च श्वेददृष्टिरप्येते तन्नामोपास्तिविधिरित्यर्थः ॥ ब्रह्म सप्रपञ्चमुपास्यत्वात्प्रणवदित्यन्नाभिदिमुक्त्वा तदुपास्तिरामनो ब्रह्मत्वाय फलान्तराय वेति विकल्प्याऽह दूयमिति—अज्ञानेति । न द्वितीय फलान्तराभावात् हि जीवस्याविद्यावन्तो ब्रह्मास्ति विनाऽन्यदिष्ट ज्ञानादेव च तस्तिद्वैत्यैर्वा तदुपासेति चार्थः ॥ उपास्यत्वहेतोः उपास्तिप्रयुक्तफलवत्त्वोपाधिना व्याप्यत्वासिद्धिमुक्त्वा श्रुतिविरोधमाह—यदिति ॥ नन्वसंस्कृतवाग्यगोचरत्वेनोपास्यत्वनियेषेऽपि ब्रह्मणः संस्कृततद्गम्यत्वेनोपास्यत्वमविरुद्धमित्याशङ्क्य श्रुत्यर्थमाह—उपासीति । तादृगित्युपासिक्रियाव्याप्तमिति यावत् । उपास्यतेऽनुधीयतेऽङ्गी क्रियते इत्यर्थः ॥ ननु ब्रह्मोपास्तिविधिरपि कश्चिदस्ति तयाच श्रुत्यैव श्रुतेरपमारितत्वाद्युपास्य ब्रह्मेति तत्राऽह—दृश्यते त्विति । विद्याविधानस्य प्रागपहस्तितात्वात्कथमस्य तदर्थतेत्याशङ्क्याऽह—रज इति । ब्रह्मविद्यायं बुद्धिबुद्धिविपर्ययं यथोक्तं वाक्यमित्यर्थः ॥ यथोक्ते वाक्ये बुद्धिविधवाचकाभावात्कथं तदर्थतेत्याह—यद्वेति । विषयानुपल्लाप्तादेव सर्वेषां धीर्जगन्मात्रेण चिदाकारेतेषोऽर्वा वाक्यस्येष्टतेऽप्ययमेतिविशेषणानुगुण्यादित्यर्थः ॥ ब्रह्मोपास्तिविधायकत्वेन द्राष्टृतयुतेर्गम्यन्तर्गुप्तहृदयति—एष इति ॥ ब्रह्मणः समस्तादिरूपत्वे मानामावात्तद्विरोधान्नायुक्तं भवत्प्रपञ्चव्याप्तेति निगमयति—चक्रेति । परपञ्चस्योपेक्षयत्युक्त्वा स्वपञ्चसाऽऽप्येत्वमाह—तदिति । सदेतद्ब्रह्मापूर्वमित्यादिवाक्यस्यार्थः स्ताद्यथेत्यादिवाक्ये विवक्षितो ब्रह्मः पशान्तरायोमीकतेरैकरस्यावेदकमयमभावाच्चेत्यर्थः ॥ तस्मात्तत्सर्वमभवदिति विद्याफलमुक्तं तृतीये तदबोधसहितं इति पदान्तरमाह—तदिति ॥

विद्ययोः सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मेन्यन्ते किमु तद्वद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभेदितोर्द्वैतद्व्याख्यातम् । एवमात्मानमेव सर्वात्मत्वेनाऽऽचार्यागमाभ्यां श्रुत्वा भत्वा तर्कतो विज्ञाय साक्षादेवं यथा मधुब्राह्मणे दर्शितं तथा । तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवंलक्षणात्पूर्वमपि ब्रह्मं च सदविद्ययाऽब्रह्माऽऽसीत्सर्वमेव च सदसर्वमासीत् । 'त्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य ब्रह्मविद्ब्रह्मं च सम्ब्रह्मामवत्सर्वः सन् सर्वमभवत् ।

परिसमाप्तः शास्त्रार्थो यदर्थः प्रस्तुतः । तस्मिन्नेतस्मिन्सर्वात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वात्मनि सर्वं जगत्समर्पितमित्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—तद्यथा रथनाभौ च रथनेनौ

साह—यदुक्तमिति । तदेव व्याख्यानं स्फोरयति—एवमिति । मंत्रेयीब्राह्मणोक्तक्रमेणोक्ति-यावत् । एवमित्यस्याप कथयति—यथेति । मधुब्राह्मणे पूर्वब्राह्मणं चोक्तक्रमेणाऽऽत्मनि भवणादिवचनं संपाद्य विद्वान्ब्रह्माभवदिति संबन्धः । ननु मोक्षावस्थायामेव विद्युयो ब्रह्मत्वमपरिच्छिन्नत्वं च न प्राच्यामविद्या-ब्रह्मापामित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । समानाधिकरण पञ्चमीप्रथमम् । एवंलक्षणावहं ब्रह्मास्मीति 'भ्रवणादिकृतात्तत्त्वसाक्षात्कारादिति यावत् । अब्रह्मत्वादिधोष्यस्ति तस्मिन्' । कथमित्याशङ्क्याऽऽह—ता त्विति ।

वृत्तमनुद्योत्तरप्रथमवतारयति—परिसमाप्त इति । यस्य "शास्त्रस्यार्थो" "विषयप्रयोजनाद्यो" "ब्रह्मकण्डिकाया" "वतुर्पादो च प्रस्तुतस्तस्यार्थो" "यथोक्तन्यायेन निर्धारित इत्यनुवाचार्थः । सर्वात्म-भूतत्वं सर्पादिवत्कल्पितानां सर्वेषामात्म"भावेन स्थितत्वं । सर्वं ब्रह्म सद्रूपत्वं सर्वात्मत्वम् । सर्व एत

जानने वाला ब्रह्मवेत्ता विद्वान् मोक्ष का प्राप्त कर लेता है । तथा जो यह कहा गया है "(उमके विषय मे ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मणी ने यह कहा है कि) ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य हम सर्वरूप हो जायमे ऐसा मानते हैं (उमके विषय मे यह प्रश्न होता है कि) उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिस ब्रह्म से वह सर्वरूप हो गया" उमी का यह व्याख्यान किया गया है । इस प्रकार आचार्य और शास्त्र से आत्मा का सर्वभूतात्मकमात्र मुनकर तर्क के द्वारा मनन कर, उसका अपरोक्ष विज्ञान वैसे हो कर लेता है जैसा कि मधुब्राह्मण मे प्रतिपादित किया गया है । इननिये उक्त लक्षण वाले ब्रह्मविज्ञान से (साक्षात् जानकर) जो पूर्व मे ही ब्रह्म होते हुए अब्रह्म था एव सर्वस्वरूप होते हुए भी असर्व था, उस (अब्रह्मत्वादि की प्रयोजिका) भविद्या को इस ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से तिरस्कृत करके वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म होते हुए भी ब्रह्म एव सर्व होते हुए भी सर्व हुआ है ।

जिसके लिए इस प्रकरण का प्रारम्भ हुआ था, शास्त्र का वह प्रयोजन तो प्रस्तुत कर दिया । मन्के आत्मभूत सर्वात्मस्वरूप उसी ब्रह्मवेत्ता मे समस्त जगत् कल्पित है, इसी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त का उपादान किया जाता है । श्रुतिमन्त्र का—"जैसे रथ को नाभि और रथ को नेमि मे सभी अंगे लगे

- १ दृ० उ० १-४-६ । २. अब्रह्मत्वाद्विप्रयोजिकाया । ३ कल्पितम् । ४. व्याख्यानम् । ५. मंत्रेयी-ब्राह्मणे । ६. जननपरम्पराया । ७. आद्यतदर्थ । ८. मध्यमतदर्थ । ९. सत्त्वामविद्याया पद्माऽब्रह्मत्वादिभिसत्त्वे । १०. शास्त्रस्य "आत्मेत्यवोपासीत"ति विद्यासूत्राख्यस्य । ११. विषयप्रयोजने—ब्रह्मात्मैक्य-सर्वात्मभाषणी । १२ दृ० उ० १-४-१० । १३. द्वितीयाध्यायो । १४. निरक्तमुक्तकलापन । १५. अधिष्ठानतया ।

चाराः सर्वे समर्पिता इति प्रसिद्धोऽर्थः । एवमेवास्मिन्नात्मनि परमात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि सर्वे देवा अन्यादयः सर्वे लोका भूरादयः सर्वे प्राणा वागादयः सर्वे एत आत्मानो जलचन्द्रवत्प्रतिशरीरानुप्रवेशिनोऽविद्याकल्पिताः । सर्वे जगदस्मिन्समर्पितम् । यदुक्तं ब्रह्मविद्वान्मदेवः 'प्रतिपेदेऽहं मनुर्भवं ; सूर्यश्चेति । ॥ एष सर्वात्मभावो व्याख्यातः । स एष विद्वान्ब्रह्मविः सर्वोपाधिः 'सर्वात्मा सर्वो भवति । निरुपाधिर्निरुपाख्योऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः, प्रज्ञानघनोऽजोऽजरोऽमृतोऽमयोऽचलो नेति नेत्यस्थूलोऽमृणुरित्येवविशेषणो भवति ।

आत्मान इति कुतो 'भेदोक्तिरात्मैक्यस्य, शास्त्रोपत्तादित्याशङ्क्याऽऽह—जलचन्द्रवदिति । बाष्पान्ति-कभागस्य, 'संविण्डितमर्थमाह—सर्वमिति । उक्तस्य सर्वात्मभावस्य तृतीयैकभावस्य निर्विशति—यदुक्तमिति । सर्वात्मभावे विदुषः सप्रपञ्चत्व स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स एष इति । सर्वेण कल्पितेन द्वैतेन सहितमधिष्ठानभूत ब्रह्म प्रत्यग्भावेन पश्यन्विद्वान्सर्वोपाधिस्तत्तद्रूपेण स्थित सर्वो भवति । तदेव कल्पित सप्रपञ्चत्वमविद्वद्दृष्ट्या विदुषोऽभीष्टमित्यर्थः । विद्वद्दृष्ट्या तस्य निष्प्रपञ्चत्व दर्शयति—निरुपाधिरिति । निरुपाख्यत्व शब्दप्रत्ययागोचरत्व ब्रह्मण सप्रपञ्चत्वमविद्याकृत निष्प्रपञ्चत्वं तात्त्विकमित्यागमार्थाविरोध उक्तः ।

रहते हे" यह अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । "एवमेवास्मिन्नात्मनि" अर्थात् इसी प्रकार परमात्मभूत ब्रह्मवेत्ता मे 'सर्वानि भूतानि' यानी ब्रह्मा से लेकर स्तम्भपर्यन्त सभी भूत, "सर्वे देवा" यानी अन्यादि सभी देवता, "सर्वे लोका" यानी पृथिवी आदि सभी लोक सर्व प्राणा 'यानी वागादि सभी प्राण, "सर्वे एत आत्मान समर्पिता" अर्थात् यह सभी आत्मा जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा के समान प्रत्येक शरीर में प्रवेश करने वाले अविद्याकल्पित हैं । सभी (कायकरणप्रपञ्चात्मक) जगत् इसमें समर्पित है । और जो कहा कि ब्रह्मवित् वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव में देखते हुए ही जाना "मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था", इस श्रुति वाक्य से इस सर्वात्मभाव की व्याख्या हुई है । वह यह विद्वान् ब्रह्मवेत्ता सकल-पहित, प्रह्लादस्वरूप एव सर्वस्वरूप हो जाता है । तथा निरुपाधिक, अनिर्वचनीय, अनन्तर, अबाह्य, पूर्ण अजन्मा, जरारहित, अमृत, अभय, अचल निषेधात्मक, अस्यून अनणु—इस प्रकार के विशेषणों से युक्त हो जाता है ।

इस अविराधरूप अर्थ को नहीं जानने वाले कुछ तात्त्विक और अपने को पण्डित मानने वाले भीमासक शास्त्र के (ओपनिषद् ब्रह्म) अर्थ का इससे विपरीत मानते हुए बहुत से विद्वानों को करते

१. सर्वमिति—वायुवायुप्रपञ्चस्य ब्रह्माग्नेष पर्यवसानमाविष्कर्तुमिच्छन्तो य श्रुतिहृष्टा तद्वाच्यं प्रवृत्तेति भावः । तथा च वातिके—प्रत्यग्विस्तृताग्नेष समर्पितं जगदात्मनः । आविष्कर्तुं राक्षान्तराद्येति पण्यं श्रुतिः" ॥६५॥ इति । २. यदुक्तमिति—अनेन तृतीयावतः तस्मात्तत्सर्वमववदिति विद्याकलापसद्धारोऽत्र क्रियत इति सूचयति । वातिके यथा—"तदाहुरिति वानयनं ब्रह्मविद्याप्रवाजन्म् । साधेयं प्राणुपयस्त तस्याय निषय इतः" ॥६०॥ इति । ३. वृ० उ० १-४-१० । ४. सर्वज्ञोपहितः । ५. सर्वं ब्रह्म आत्मा मयः । ६. यदुक्तोक्तिः । ७. सिद्धान्तत्वात् । ८. निष्कृष्टमयम् । ९. स्वहृष्ट्या । १०. अगमा परस्पर विरुद्धाद्यतया प्रतीयमाना अनुपदेवे भाष्ये वक्ष्यमाणा ।



महीयान्” “कस्तं भवामदं देवम्” “तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्” इति च । तथा गीतासु  
 “अहं क्रतुरहं यज्ञः” “पिताऽहमस्य जगतः” “नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्” “समं सर्वेषु भूतेषु”  
 “अविभक्तं विभक्तेषु” “प्रसिष्णु प्रभविष्णु च” इत्येवमाद्यागमार्थं विरुद्धमिव प्रतिभान्तं  
 मन्यमानाः ‘स्वचित्तसामर्थ्यादर्थनिर्णयाय विकल्पयन्तोऽस्त्यात्मा नास्त्यात्मा कर्ताऽकर्ता-  
 मुक्तो बद्धः क्षणिको विज्ञानमात्रं शून्यं चेत्येवं विकल्पयन्तो न पारमधिगच्छन्त्यविद्याया  
 विरुद्धधर्मदक्षिणात्सर्वत्र । ‘तस्मात्तत्र’ य एव श्रुत्याचार्यदर्शितमार्गानुसारिणस्त एवा-  
 विद्यायाः पारमधिगच्छन्ति । त एव चास्मान्मोहसमुद्रादगाधानुत्तरिष्यन्ति नेतरे स्वबुद्धि-  
 कौशलानुसारिणः ॥ १५ ॥

मपि संवादयति—तथेति । ‘पूर्वोक्तप्रकारेणाऽऽगमार्थविरोधसमाधाने विद्यमानेऽपि ‘तदज्ञानाद्वावि-  
 विभ्रान्तिरित्युपसंहरति—इत्येवमादौति । विकल्पमेव स्फुटयति—प्रसीति । सर्वत्र श्रुतिस्मृतिष्व-  
 त्मेतीति यावत् । के ‘तर्हि पारमविद्यायाः समधिगच्छन्ति तत्राऽह—तस्मादिति । ब्रह्मज्ञानफलमाह—  
 त एवेति ॥ १५ ॥

सकता है ?)”, ईशावास्योपनिषत् के वचन भी इसमें प्रमाण है—“वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दोड़ने  
 वाले गतिशील पदार्थों को अतिक्रमण कर जाता है” । इसी प्रकार गीता में भी श्रीमुखवचन से प्रति-  
 पादित किया है—“मैं श्रौतकर्मरूप श्रुतु हूँ एव पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्मरूप यज्ञ हूँ”, “मैं चराचर  
 प्राणियों सहित समस्त विश्व का महाकारण होने से पिता हूँ”, “सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के  
 पापकर्म को और न किसी के पुण्यकर्म को ही ग्रहण करता है”, “(जो पुरुष नष्ट होते हुए) सब चरा-  
 चर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित प्रीति समभाव से देखता है (वही यथार्थ देखता है)”, (जिस ज्ञान  
 से) मनुष्य भिन्न भिन्न भावने वाले समस्त प्राणियों को अविनाशो परब्रह्म से अभिन्न देखता है”, “(जो  
 परब्रह्म अभिन्न होते हुए भी समस्त प्राणियों में विभक्त सा स्थित हुआ प्रतीत होता है) उसे ही तू  
 सम्पूर्ण जगत् का संहार करने वाला ‘प्रसिष्णु’ एव सब की उत्पत्ति करने वाला ‘प्रभविष्णु’ जान” । इस  
 प्रकार के श्रुति एव स्मृतिवाक्य शास्त्र के तात्पर्य को विरुद्ध सा भासने वाला मानकर अपनी बुद्धिस्य  
 निर्णय के अनुकूल शक्ति के अभिनिवेश से अर्थनिर्णय करने के लिए भ्रांति-भ्रांति की कल्पना करते हैं ।  
 एव आत्मा है, आत्मा नहीं है, कर्ता है और अकर्ता है, मुक्त, बद्ध, क्षणिकविज्ञानमात्र शून्य है—इस  
 प्रकार कल्पना करते हुए अविद्या का अन्त नहीं पाते क्योंकि उन्हें सर्वत्र विरुद्ध धर्म ही प्रतीत होता है ।  
 उक्त सभी के पारमार्थिक न होने के कारण उन अधिकारियों में जो भी श्रुति एव आचार्य द्वारा उपदिष्ट  
 मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे ही अविद्या का पार पा लेते हैं । वे ही इस मोहरूप अगाध समुद्र को  
 तैर कर पार हो जाते हैं; जो अपनी बुद्धिकौशल के बल पर रहते हैं, वे मग्नधार में ही रह जाते  
 हैं ॥ १५ ॥

१. स्वबुद्धिस्यनिर्णयानुकूलकल्पनस्यभिनिवेशात् । २. यद्येतानां पारमत्वाभावात् । ३. अधिवारिणां मध्ये ।

४. ६४६पृष्ठटीनायाम् । ५. समाधानाज्ञानात् । ६. स्वबुद्धिनीलतानुसारिणां तादृजिज्ञादीनामविद्यापार-

गन्तृत्वाभावे ।

'परिसमाप्ता ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनभूता । या मंत्रेयी पृष्टवती मर्तारं यदेव भगवानमृतत्वसाधनं वेद तदेव मे ब्रूहीति । एतस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थमाह्यायिकाऽऽनीता' । तस्या आह्यायिकायाः सक्षेपतोऽर्थप्रकाशनार्थवितौ मन्त्रौ भवतः । 'एवं' हि मन्त्रब्राह्मणाभ्यां स्तुतत्वादमृतत्वसर्वप्राप्तिसाधनत्वं ब्रह्मविद्यायाः प्रकटीकृतं राजमार्ग-मुपनीतं भवति । यथाऽऽदित्य उद्यञ्शार्वरं तमोऽपनयतीति तद्वत् । 'अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या येन्द्रराजरक्षिता सा दुष्प्रापा देवैरपि । यस्मादग्निभ्यामपि देव मिथग्भ्यामिन्द्र-

तद्यथेत्यादिवाक्यार्थं विस्तरेणोक्त्वा वृत्तं कीर्तयति—परिसमाप्तेति । ब्रह्मविद्या परिसमाप्ता चेत्किमुत्तरपक्षेनेत्याशङ्क्याऽऽह—एतस्या इति । इयमिति 'प्रवर्ण्यप्रकरणस्थामाह्यायिकां परामृशति । आनोतेव वं तमग्निवत्यादिना ब्राह्मणेनेति शेषः । "तदेतद्विपरित्यादेस्तात्पर्यमाह—तस्या इति । "तद्वि नरेत्यादिरैको मन्त्रः । "आयर्वंशायेत्यादिरपरः । "मन्त्रब्राह्मणाभ्यां वक्ष्यमाणरीत्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुतत्वे किं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एव हीति । तस्या मुक्तिसाधनत्वं हृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति । केन प्रकारेण ब्रह्मविद्यायाः स्तुतत्वं तदाह—अपि चेति । अपिशब्दः स्तावक्ब्राह्मणसंभावनाार्थः । मन्त्रद्वयसमुच्चयार्थश्चाशब्दः । एवशब्दसूचित स्तुतिप्रकारमेव प्रकटयति—येन्द्रेति । तस्या दुष्प्रापत्वे हेतुमाह—यस्मादिति । महान्तमायास स्फुटयति—ब्राह्मणस्येति । "कृतार्थेनापीन्ध्रेण रक्षितत्वे विद्याया

अमृतत्व की साधनभूत ब्रह्मविद्या का व्याख्यान हो चुका । (ब्रह्मविद्या का तो भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ) जिसकी मंत्रेयी ने अपने पति से इस प्रकार पूछा था—“भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, उसी का उपदेश मुझे भी करें ।” इसी ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए यह आह्यायिका उपस्थापित की गई है । उसी आह्यायिका का अर्थ सक्षेप से प्रकाशित करने के लिए ये दोनों मन्त्र हैं क्योंकि वक्ष्यमाण रीति से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के द्वारा स्तुत होने के कारण ब्रह्मविद्या की अमृतत्व और सर्वप्राप्ति का साधन प्रकट होने से उसी प्रकार राजमार्ग को स्फुटीकृत किया गया है, जिस प्रकार सूर्य उदय होकर रात्रि के अन्धकार को भगा देता है । इसके अतिरिक्त उस ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की गई है कि वह इन्द्र और अन्य राजाओं के द्वारा गोपनीय रखी गयी है एवं वह ब्रह्मविद्या देवताओं के लिए भी अप्राप्त हो चुकी थी क्योंकि इन्द्र के द्वारा गोपनीय रखी गई वह विद्या देवताओं के चिह्नितक दोनों अश्विनीकुमारों को बड़े प्रयत्न से प्राप्त हुई थी । उन्होंने ब्राह्मण का शिर

१ परिसमाप्तेति—आमेत्येवेति तृतीय प्रस्तुतविद्यामूत्रस्य व्याख्याप्रीतब्राह्मणपञ्चनेन श्रुत्या सम्यक्कृता । सा च ब्रह्मार्त्तमवसाधारण्यरहेतुरिति द्रष्टव्यम् । ननु व्याख्यातापि विद्यामूत्रे ब्रह्मविद्या नाद्यापि स्पष्टीकृतेत्याशङ्क्याऽऽह—परिसमाप्तेति । २ उपस्थापिता । ३ वक्ष्यमाणरीत्या । ४ तस्या मुक्तिसाधनत्वज्ञाने स्तुति पुष्कलो हेतुरिति हिन्दो द्योतयति । ५ सत् । ६ स्फुटतरीकृतम् । ७ अपि चैवमिति—स्तावक्ब्राह्मणेन मन्त्राभ्याम् । वक्ष्यमाणप्रवारेणेति तृतीयार्थः । ८ इन्द्रणान्यैश्च राजभिर्गोपिता । ९ २।१।१६ । १२ वृ० उ० २।१।१७ । १३ मन्त्रपीरस्त्यब्राह्मणाभ्याम् । १४ कृतो लब्धोऽर्थो विद्या-प्रयोजनं यत्नं तत्तन् सौमिक हीनरत्नसोपयोगं वस्तु स्थग्यते जनेनैवा तु तथेति स्तुतिः ।



क्षिता विद्या महताऽऽयासेन प्राप्ता । ब्राह्मणस्य शिरश्छित्त्वाऽऽख्यं शिरः 'प्रतिसंधाय तस्मिन्निन्द्रेण च्छिन्ने पुनः स्वशिर एव प्रतिसंधाय तेन ब्राह्मणस्य स्वशिरसंबोक्ता'ऽशेषा ब्रह्मविद्या श्रुता । 'तस्मात्ततः परतरं किञ्चित्पुरुषार्थसाधनं न भूतं न भावि वा कुत एव वर्तमानमिति नातः परा स्तुतिरस्ति ।

अपि चैवं स्तूयते ब्रह्मविद्या । 'सर्वपुरुषार्थानां कर्म हि साधनमिति लोके प्रसिद्धम् । तच्च कर्म 'वित्तसाध्यं तेनाऽऽज्ञाऽपि नास्त्यमृतत्वस्य । 'तदिदममृतत्वं केवलयाऽऽत्मविद्यया कर्मनिरपेक्षया प्राप्यते । यस्मात्कर्मप्रकरणे वक्तुं प्राप्ताऽपि सती 'प्रवर्ग्यप्रकरणे कर्मप्रकरणादुत्तीर्थं कर्मणा विरुद्धत्वात्केवलसंन्याससहिताऽभिहिताऽमृतत्वसाधनाय । 'तस्मान्नातः परं पुरुषार्थसाधनमस्ति । अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या । सर्वो हि 'लोको 'द्वंद्वारामः । 'स

दीर्घान्ये च फलितमाह—तस्मादिति ।

न केवलमुक्तैर्नैव प्रकारेण विद्या स्तूयते किंतु प्रकारान्तरेणापीत्याह—अपि चेति । तथैव प्रकारान्तरं प्रकटयति—सर्वेति । केवलधेत्यस्य व्याख्यानं कर्मनिरपेक्षयेति । "तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । किमिति कर्मप्रकरणे प्राप्ताऽपि प्रकरणान्तरे कथ्यते तत्राऽऽह—कर्मणेति । प्रसिद्धं पुनर्थोपाय "कर्म त्यक्त्वा विद्यायामेवाऽऽवरे तदधिकता" समधिगतेति फलितमाह—तस्मादिति । प्रकारान्तरेण ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिं बहोयति—अपि चेति । अनास्मरति स्पष्टत्वाऽऽसंशये रतिहेतुर्वाग्महीय विद्ये-

काट कर उस पर अश्व का शिर लगाया, उस अश्व के शिर को जब इन्द्र ने काट कर अलग कर दिया तो (ब्राह्मण के शरीर में लगे हुए अश्व का शिर कट जाने पर) उस शिर को पुन अपने में जोड़ कर फिर ब्राह्मण के अपने शिर से कहे जाने पर अवशिष्ट ब्रह्मविद्या का श्रवण किया । इसलिए उस ब्रह्मविद्या से बढ़कर अन्य पुरुषार्थ का साधन न कभी हुआ है, न कभी होगा ही, फिर वर्तमान में तो ही ही कैसे सकता है ? इससे बढ़कर उसकी स्तुति क्या हो सकती है ?

इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की जाती है । लोकव्यवहार में यह प्रसिद्ध है कि पुरुषों के द्वारा प्रार्थ्यमान फलों का साधन कर्म है । वह कर्म वित्त द्वारा साध्य है, वित्त भयवा वित्तसाध्य कर्म से अमृतत्व की आशा लेगमान भी संभव नहीं है । कर्म से इसकी प्राप्ति असंभव होने के कारण यह अमृतत्व कर्मनिरपेक्ष, केवल आत्मविद्या के द्वारा ही प्राप्त होता है क्योंकि कर्मप्रकरण में कहने का अवसर प्राप्त होने पर भी (कर्मप्रकरण के व्याख्यानस्वरूप) प्रवर्ग्यप्रकरण में कर्मसिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण उसे कर्मप्रकरण से निवाल कर अमृतत्वसाधन के लिए पारमहंसाध्य सन्यास के साथ वर्णन किया गया है । इसलिए इसमें बढ़कर पुरुषार्थ का साधन नहीं है । इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या

१. प्रतिसंधायति—तेनाश्वशिरसा विद्या सामि सुश्रुवपुरिति शेष । २ अशेषेति—अवशिष्टेति यावत् ।
३. टीकोक्तार्थकम् । ४ बुधिर्यमानफलानाम् । ५ वित्तं तत्साध्यकमणा वा । ६ कर्मासंभाविन-प्राप्तिकम् । ७ कर्मप्रकरणे इत्युक्तस्यैव व्याख्यानमिदम् । ८ पारमहंसाध्यमहिता, इतरन कर्मलेता-सम्भावात् । ९ आदत्तात् । १० अजजन । ११ द्वन्द्व स्त्रीपुंसमिधुनम् । १२ नैरपेक्षे । १३ प्रदस्यमाने सति । १४ कर्मपेक्ष उत्तर्यः ।

इदं च तन्मधु दध्यङ्गायवङ्गोऽशिवस्यामुवाच ।  
 'तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । 'तद्वां नरा सनये  
 द०स उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुनं दृष्टिम् ।

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्गायवङ्ग ऋषि ने अश्विनीकुमारो को बतताया था । इसी मधु को देखते हुए मन्त्र ने कहा था—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करना है, हे नराश्रुति अश्विनीकुमारो ! वैसे ही ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप लाभ के लिये ब्रिये हुएतुम दोनों का यह उग्रदस कर्म मैं प्रवट कर

यं नैव रेमे तस्यावेकाकी न रमते" इति श्रुतेः । याज्ञवल्क्यो 'लोकसाधारणोऽपि स भ्रातृ-  
 ज्ञानबलाद्भार्यापुत्रवित्तादिसंसाररतिं परित्यज्य प्रज्ञानवृत्त आत्मरतिवन्भूव । अपि चैवं  
 स्तुता ब्रह्मविद्या । यस्माद्याज्ञवल्क्येन संसारमार्गाद्व्युत्तिष्ठताऽपि प्रियार्थं भार्यायं प्रीत्य-  
 र्थमेवामिहिता । 'प्रियं भायस एह्यास्स्वेति लिङ्गात् ।

तत्रेयं स्तुत्यर्थाऽऽख्यायिकेत्यवोचाम । का पुनः साऽऽख्यायिकेति । उच्यते—

रयः । विधान्तरेण तस्याः स्तुतिमाह—अपि चैवमिति । कथं ब्रह्मविद्या भार्यायं प्रीत्यर्थमेवोक्तेति  
 गम्यते तत्राऽऽह—प्रियमिति ।

आख्यायिकायाः स्तुत्यर्थत्वं प्रतिपाद्य वृत्तमनुद्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकं 'तामवतार्यं व्याकरोति—तत्रे-

की इस प्रकार भी स्तुति की गई है । सभी भ्रजानी लोग स्त्री-गुरुप मिथुन में रमण करने वाले हैं । "उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसी से आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नहीं करता (इष्ट वस्तु के संयोग से होने वाली श्रीडा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिए और धरति की निवृत्ति के लिए) उस प्रजापति ने दूसरी वस्तु अर्थात् स्त्री की प्रमिलाया की ।" याज्ञवल्क्य अनुप्यत्वादि से इतरजन सदा न होते हुए भी आत्मज्ञान के प्रभाव से भार्या, पुत्र एवं वित्तादिरूप संसार की रति को त्याग कर प्रज्ञानब्रह्म में ही वृत्त हुए आत्मरति वाले हो गये । इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या की इस प्रकार भी स्तुति की गई है । क्योंकि याज्ञवल्क्य ने संसार मार्ग से उपराम होकर भी अपनी प्रिया पत्नी को (उसके मोह के लिए नहीं, बल्कि) आनन्द के लिए ही इस का उपदेश किया था । "हे मेनेयी ! तू वित्त के अनुकूल (अमृतत्व के साधन की) बात पूछ रही है, आ बैठ जा (तुझे तेरे अभीष्ट अमृतत्वसाधन आत्मज्ञान का उपदेश करता हूँ)" ऐसा अर्थप्रकाशनसामर्थ्य से जाना जाता है ।

१ तद्—तत्र वृत्तम् । एतत्—दृष्टिदृष्टम् । ऋषिर्मन्त्रस्तददृष्टा वा । २ तद्वामित्यादि—मन्त्रवर्ण्योऽन्तरायः  
 तथाहि—हे नराकारवादिनी भवद्वया मुखप्राकृतेजनवत् सनये लोभाय भवद०स कर्म उप क्रूर कृत रहसि,  
 वा मुखोत्पत्तद०स कर्म आविष्कृणोमि प्रकट करोमि, क कामिव तन्यतु पर्जन्यो वृष्टि न वृष्टिमिव यत्  
 कदाचिन् वस्यमाणमात्मज्ञानाख्य मधु दध्यङ्गनामाऽऽयवङ्गो वा युताभ्यामवश्वस्य शीर्ष्णां शिरसा प्रयदीमुवाच प्र  
 यद ईय इति श्लेषः । यथोवाच तदप्याविष्कृणोमीति सनयः । ह ईय अनयको निपातो ॥ ३. वृ० उ०  
 १।४।३ । ४. अनुप्यत्वादिनेतरजनसदृशोऽपि । ५. आनन्दार्थं न तु तस्या मोहवत्तया । ६. वृ० उ०  
 २।४।४ । ७. आख्यायिकाय ।



च्चेदन्यस्या अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिद्यामिति । तस्माद्दे बिभेमि यद्दे मे स शिरो न छिद्यन्त्यात्तद्वामुपनेष्य इति । तौ होचतुरावां त्वा तस्मात्त्रास्यावहे इति । 'कथं मा त्रास्येथे इति । 'यदा नावुपनेष्यसे । अथ ते शिरश्छित्त्वा' अन्यत्रा'ऽऽहृत्योपनिधास्यावः । 'अयाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते' प्रतिधास्यावः । 'तेन नावनुवक्ष्यसि । "स यदा नावनुवक्ष्यसि" । "अथ ते "तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यति । अथ ते स्वं शिर आहृत्य "तत्ते प्रतिधास्याव इति । "तयेति तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्ये । "अयास्य" शिरश्छित्त्वा' अन्यत्रोपनिदधतुः । अयाश्वस्य शिर आहृत्य तद्वास्य प्रतिदधतुः । 'तेन हाऽऽभ्यामनुवाच । स यदाऽऽभ्यामनुवाचायास्य

ब्राह्मणस्य वचनं वशंपति—स होवाचेति । एतच्छब्दो "भवन्नुभवविषयः । यद्यर्थो यच्छब्दः । तच्छब्द-  
स्तर्हीत्यर्थः । वा युवामुपनेष्ये शिष्यत्वेन स्वी करिष्यामीति यावत् । तौ देवभित्तजाश्विनौ, शिरश्छे-  
दनिमित्तं मरणं पञ्चम्यर्थः । नावावामुपनेष्यसे शिष्यत्वेन स्वी करिष्यसि यदेति यावत् । अयशब्द-  
स्तदेत्यर्थः । ब्राह्मणस्यानुज्ञानन्तर्यमथेत्युक्तम् । मधुप्रवचनानन्तर्यं तृतीयस्यायशब्दार्थः । यदश्वस्य

मुझे (मच्छी तरह) समझा दिया गया है कि यदि मैं इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसी दूसरे के लिए  
कहूँगा तो फौरन मेरा शिर धड़ से अलग कर दिया जायगा । इसी से मुझे भय लगता है । यदि वह मेरा  
शिर धड़ से अलग न करे तो मैं तुम्हें (ब्रह्मविद्या हेतु) सन्निधि के लिए वरण करता हूँ । उन दोनों  
अश्विनो कुमारों ने कहा—(ठीक है) हम दोनों तुम्हारी (उस इन्द्र के त्रास से) रक्षा करेंगे । दध्यङ्  
आयर्वण बोला—मेरी रक्षा आखिर करोगे कैसे ? (उन दोनों ने कहा—)जिस समय आप सन्निधि के  
लिए हमारा वरण करेंगे, उस समय आपका शिर धड़ से निकाल कर, हाथों से अश्व के शिर को निकाल  
कर, वहाँ उस में (शल्यचिकित्सा द्वारा) लगा देंगे । इस प्रकार आप का शिर अश्व में संस्थापित कर के  
अश्व के शिर को लाकर (शल्यचिकित्सा द्वारा ही) तुम्हारे धड़ के ऊपर जोड़ देंगे । आप अश्व के  
शिर द्वारा हमें उपदेश करेंगे । जिस समय आप हम मधुवाह्य का उपदेश करेंगे, तब आपका अश्व-  
वाला शिर इन्द्र धड़ से अलग कर देगा । इसके बाद अश्व के धड़ में संस्थापित हुआ आपका अपना शिर  
लाकर हम आपमें प्रतिस्थापित कर देंगे । "तथास्तु" कहकर दध्यङ् आयर्वण ने दोनों अश्विनो कुमारों  
का वरण किया । जब उन दोनों का सन्निधि में वरण किया ता उनके ब्राह्मण का शिर निकाल कर उसे  
अश्व में बठा दिया । और अश्व का शिर लाकर उसमें प्रतिस्थापित कर दिया । उन्होंने अश्वशिर से  
(हृदय में प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या का) उन अश्विनो कुमारों को उपदेश दिया । अब उन्होंने उपदेश दिया  
ता इन्द्र ने उस अश्व के शिर को धड़ से अलग कर दिया । इसके पश्चात् उन्होंने इन (दध्यङ् आयर्वण)

- १ ब्राह्मण आह—वयमिति । २ तावाहन्यदेति । ३ अश्वे । ४ उदपृत्य हस्ताभ्याम् । ५  
स्वच्छिरोऽश्वे संस्थाप्य । ६ स्कन्धे । ७ तयोऽप्याय । ८ अश्वशिरसा । ९ आवाभ्यामुपदेशयति ।  
१० त्वम् । ११ मधु । १२ मधुप्रवचनानन्तरम् । १३ अश्वम् । १४ ततो इति—अश्व्य शिर  
आहृत्यारवकवर्णं प्रतिधास्यावस्तव च स्व शिरास्त वदन् प्रतियास्याव इति योजना । १५ तथास्त्वित्युक्त्वा ।  
१६ ब्राह्मणानुज्ञानान्तरम् । १७ ब्राह्मणस्य । १८ अश्वे । १९ अश्वशिरसा । २० मधुविद्या-  
विषयक इत्यर्थः ।

तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेद । अथास्य स्वं शिर आहृत्य तद्वास्य प्रतिदधतुरिति । यावत् प्रवर्ग्य'कर्माङ्ग'सूतं मधु तावदेव 'तत्राभिहितं' न तु कस्यमात्मज्ञानाख्यम् । 'तत्र याऽऽख्या-  
यिकाऽभिहितो' सेह स्तुत्यर्था प्रदर्शिता । 'इदं वै तन्मधु दध्यद्वा'थर्वणोऽनेन प्रपञ्चेना-  
श्विभ्यामुवाच ।

तदेतदृषिस्तदेतत्कर्म ऋषिर्मन्त्रस्तद्वष्टा वा पश्यन्नुपलभमानोऽबोचदुक्तवान् ।  
कथम् । तद्वंस इति व्यवहितेन संबन्धः । दंस इति कर्मणो नामधेयम् । तस्य वंसः किमि-  
शिष्टम् । उप्रं क्रूरम् । वा युवयोः । हे नरा नराकारावश्विनी । तच्च कर्म किनिमित्तम् ।  
सन्ने लाभाय ॥ लाभलुब्धो हि लोकेऽपि क्रूरं कर्माऽऽचरति तथैवैताद्युपलभ्येते यथा लोके  
तदाविः प्रकांशं कृणोमि यद्रहसि भवद्भूषां कृतम् । 'किमिवेत्युच्यते । तन्यतुः पर्जन्यो

शिरौ ब्राह्मणे निबद्धं तस्य च्छेदनानन्तरं चतुर्यस्यावशब्दस्यार्थः । 'तहि समस्तमपि मधु प्रवर्ग्यप्रकरणे  
प्रदर्शितमेवेति कृतमनेन ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—यावत्स्विति । प्रवर्ग्यप्रकरणे स्वित्ताऽऽख्यायिका  
किमर्थम् 'आऽऽनीतेत्याशङ्क्यं तस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थेयमाख्यायिकेत्युक्तं'मुपसंहरति—तत्रेति ।  
ब्राह्मणभागव्याख्या निगमयति—इदमिति ।

तद्वानित्यादिमन्त्रमुत्थाप्य व्याचष्टे—तदेतदिति । कर्म लाभायपि क्रूरकर्मानुष्ठानमत आह—

का अपना शिर लाकर उनके घड़ में पुन जोड़ दिया । किन्तु जितना भी प्रवर्ग्यकर्म का भङ्गभूत उपा-  
सनारूप यहाँ मधु है, उसी को ही यहाँ (प्रथम अध्याय में) कहा गया है । आत्मज्ञानसंज्ञक गोप्य मधु-  
विद्या का व्याख्यान नहीं किया गया । प्रवर्ग्य प्रकरण में जो आख्यायिका कही गयी थी, उसी को यहाँ  
स्तुति के लिए प्रदर्शित किया जाता है । यह वही मधुविद्या है जिसका दध्यद्वाथर्वण ब्राह्मण में  
अनन्तरनिर्दिष्ट विस्तार पूर्वक दोनों अश्विनीकुमारों को उपदेश किया था ।

"तदेतत्" अर्थात् इस कर्म को "ऋषि" अर्थात् मन्त्र या मन्त्रवष्टा ने "पश्यन्" उपलब्ध करते  
हुए "अबोचत्" अर्थात् कहा । उक्त श्रुतिवाक्य में दोनों गदो 'तद् दस' का इकट्ठा सम्बन्ध है । 'दस'  
यह कर्म का नाम है । उस दस नामक कर्म की विशिष्टता क्या है ? (दस वने) "उप्रम्" अर्थात् क्रूर  
है, 'वा नरा' अर्थात् तुम दोनों नराकार अश्विनीकुमारों को वह कर्म किसलिये कहता है ? "सन्ने"  
अर्थात् लाभ के लिए । लोकव्यवहार में भी देला जाता है कि किसी उपलब्धिविशेष के लोभ में आया  
हुआ व्यक्ति क्रूरकर्म का आचरण करता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में होता है, उसी प्रकार ये दोनों  
(मधुविद्यालाभ के लिए प्रवृत्त) देखे जाते हैं । उस रहस्य का मैं "आवि कृणोमि" यानी उद्घाटन करता  
हूँ, जिसको एकान्त में मैंने तुम दोनों को सकेत किया था । क्या अथवा विम के सहाय वह रहस्य है ?

१. उपासनरूपम् । २ प्रथमाध्याय । ३ गोप्यम् । ४ प्रवर्ग्यप्रकरणे । ५ इदं वा इति । यदारम-  
ज्ञानसाधनं मधुब्राह्मण ब्राह्मणोऽश्विभ्यां प्रवर्ग्यवनिषाव्यक्तमुक्तवान् तद् एतदेव यद् इय पृथिवीत्यादिनाञ्ज  
स्पृष्टमुक्तमित्यर्थः । अनेन अनन्तरनिर्दिष्टेन विस्तरेणेत्यर्थः । ६ क वाभिवत्यर्थः । ७ मधुप्रवर्ग्ये  
मयोक्तकारणे स्थिते गति । ८ ब्रह्मविद्याप्रकरणे । ९. ६३०पृष्ठभाष्ये ।

नैव । नकारस्तु 'परिष्टादुपचार' उपमार्थो यो वेदे न प्रतिषेधार्थः । यथाऽऽव न । अश्व-  
मिवेति यद्वत् । तन्यतुरिव वृष्टि-यथा 'पर्जन्यो वृष्टि' प्रकाशयति स्तनयित्वादिशब्दस्तद्वद्दहं  
पुवयोः क्रूरं कर्मऽविष्कृणोमीति संबन्धः । नन्वश्विनोः स्तुत्यर्थो कथमिमो मन्त्रो स्यातां  
निन्दावचनो हीमो । नैव दोषः । स्तुतिरेवैषा न निन्दावचनो । यस्मादीदृशमप्यतिक्रूरं  
कर्म कुर्वतोऽप्युच्यते लोम च हीयत इति । न चान्यात्किंचिद्वीर्यत एवेति स्तुतावेतो  
नवतः । निन्दां प्रशंसां हि 'लौकिकाः स्मरन्ति । तथा प्रशंसाहृषा च निन्दा लोके

लभेति । ननु प्रतिषेधे मुख्यो नकारः कथमिदार्थं व्याख्यायते तत्राऽऽह—नकारस्त्विति । वेदे 'यदादु-  
परिष्टादो नकारः श्रुतः स खलूपचारः सन्नुपमार्थोऽपि संभवति न निषेधार्थं एवेत्यर्थः । तत्राद्याहरण-  
माह—यथेति । अश्वं न गृहमश्विनैत्यत्र नकारो यथोपमार्थोयस्तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः । 'तदेव' 'स्पष्टयति  
—मश्वमिवेति यद्वदिति । उपमार्थोयि नकारे सति वाक्यस्वरूपमनूय तदर्थं कथयति—तन्यतुरित्या-  
दिना । "विद्यास्तुतिद्वारा तदन्तावशिवनामत्र न स्तुयेते किं तु क्रूरकर्मकारित्वेन निन्द्येते तथा  
चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थेत्युक्तमिति शङ्कते—नन्विति । आख्यायिकाया विद्यास्तुत्यर्थत्वमविच्छे-  
दमिति परिहरति—नैव इति । लोममात्रमपि न हीयत इति यस्मात्तस्मात् "विद्यास्तुत्या तद्वतोः स्तुति-  
रेवात्र विवक्षितेति योजना । यद्यपि क्रूरकर्मकारिणोरश्विनोर्न हृष्टहानिस्तथाऽप्यहृष्टहानिः स्यादेवेत्या-  
शङ्क्य कौमुदिकन्यायेनाऽऽह—न चेति । कथं पुननिन्दायां हृष्टयमानायां स्तुतिरिष्यते, तत्राऽऽह—  
निन्दामिति । न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुमपि तु विधेयं स्तोतुमिति न्यायादित्यर्थः । यथा निन्दा न  
निन्द्यं निन्दितुमेव तथा स्तुतिरपि स्तुत्यं स्तोतुमेव न भवति किंतु निन्दितुमपि "तथा च ना"नयोर्थ-  
वस्थितत्वमित्याह—तथेति । तद्वानिष्टादिमन्त्रस्य पूर्वार्धं व्याख्यायाऽऽख्यायिकायाः स्तुत्यर्थत्वविरोधं

"तन्यतुर्न" अर्थात् पर्जन्य के समान है । यह नकार का प्रयोग वेद में अनन्तर रहने के कारण उपचारमात्र  
में उपमा के लिए होता है, प्रतिषेध अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता । जिस प्रकार "अश्व न" का अर्थ अश्व के  
समान है, इसी प्रकार यहाँ अर्थ है । पर्जन्य के समान दृष्टि को यानी जिस प्रकार मेघ गर्जनादि शब्दों  
के द्वारा दृष्टि को जापन करता है, उसी प्रकार मैं भी तुम दोनों के क्रूर कर्मों को प्रकाशित करता हूँ—  
ऐसा इसका सम्बन्ध है । इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—ये दो मन्त्र अश्विनोक्तुमारो की स्तुति के  
लिए कहे हो सकते हैं, ये तो उनकी निन्दा को बतला रहे हैं । इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है—  
ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है । यह तो स्तुति ही है, निन्दापरक बचन नहीं है, क्योंकि ऐसा क्रूरकर्म  
करने पर भी तुम्हारा रोममात्र भी बिगड़ नहीं सकता, न ही कोई दूसरी क्षति ही हो सकती है, इस-

१. न इवेति च्छेदः । २. अनन्तरम् । ३. गौणः । ४. मेघः । ५. जापयति । ६. एतावति—  
अश्विनो, मन्त्राविति वाक्यः । आद्ये स्तुताविति प्रथमा चरमे सप्तमीति । ७. लोकाख्याताः । ८. अन्वयवाक्ये  
म पदादुपरिष्टात्पठ्यते—यथा वृष्टि निति । ९. अश्व निति वाक्यमेव । १०. विष्णोति । ११.  
विद्यास्तुतिद्वारेति—यदि हि विद्यास्तुत्या स्यात्तदा तदन्तावेतावपि स्तुत्यावेव भवेताम् न हि स्तुत्यविद्याशालिनो  
निन्दास्पदं भवतः । १२. स्पष्टं निन्द्येते, तथा च विद्यास्तुत्यर्थमाख्यायिकाविति किं चेन सङ्गतमिति भावः ।  
१३. विद्यास्तुतिद्वारेत्यर्थः । १४. न्यायवतोऽर्थः । १५. स्तुतिनिन्दयोः । १६. स्तुत्यादावेव नियतत्वम् ।

‘इदं वै तन्मधु दध्यद्द्वयवर्णोऽश्विन्यामुवाच ।  
 तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विना<sup>१</sup>  
 दधीचेऽश्व्य<sup>२</sup> शिरः प्रत्यरयत् । स वां  
 मधु<sup>३</sup> प्रवोचदृताय<sup>४</sup> त्त्वाष्ट्रं<sup>५</sup> यद्वावपि कक्ष्यं  
 वामिति ॥ १७ ॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यद्द्वयवर्ण ऋषि ने अश्विनीकुमारी से कहा था । इसे देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा—हे अश्विनीकुमारी ! तुम दोनों ने दध्यद्द्वयवर्ण के लिए अश्व का शिर शिर लाया और उस ऋषि ने सूर्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्यसवन्धी मधु का विज्ञान कराया एवं हे धनु-हंसक ! जो आत्मज्ञानसवन्धी गोपनीय मधुविज्ञान था (वह भी तुम्हें ऋषि ने वतला दिया था) ॥१७॥

प्रसिद्धा । दध्यद्द्वयवर्णः । हेत्यनर्थको निपातः । यन्मधु<sup>३</sup> कक्ष्यमात्मज्ञानलक्षण-  
 मायवर्णो वा युवाभ्यामश्वस्य शीर्ष्णां शिरसा प्रयदीमुवाच यत्प्रोवाच मधु । ईमित्यनर्थको  
 निपातः ॥ १६ ॥

‘इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववन्मन्त्रान्तरप्रदर्शनार्थम् । ‘तथाऽन्यो मन्त्रस्तामेवाऽऽह्या-

चोद्गृह्योत्तरार्थं व्याचष्टे—दध्यद्द्वयवर्णः । यत्कक्ष्य ज्ञानाख्य मधु तदायवर्णो युवाभ्यामश्वस्य शिरसा  
 प्रोवाच । यस्मात् मधु युवाभ्यामुक्तवास्तदहमाविष्कृत्योमीति सवन्ध ॥१६॥

‘समानार्थत्वे किमिति पुनरुच्यते तत्राऽऽह—मन्त्रान्तेरेति । तुत्यार्थस्य ब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह

लिये ये दोनों मन्त्र स्तुतिपरक ही हैं । क्योंकि कही-कही लाकरूपात पुरुष प्रशसा को निन्दा के रूप में  
 वेखते हैं और इस प्रकार प्रशसारूपा निन्दा भी लोक में प्रसिद्ध है । “दध्यद् द्वयवर्ण” का अर्थ है, दध्यद्  
 नाम वाला द्वयवर्ण । ‘ह’ यह (वाचपातकार के लिए) निरर्थक निपात है । ‘यन्मधु’ अर्थात् जिस  
 आत्मज्ञानरूप गोप्य मधुविद्या का “याम्” अर्थात् तुम दोनों को “अदवस्य शीर्ष्णां” अर्थात् अदव के  
 शिर से “प्र मदीमुवाच” अर्थात् उपदेश किया था । मन्त्र में “ईम्” यह निरर्थक निपात है ॥१६॥

“इदं वै तन्मधु” इत्यादि श्रुतिमन्त्र भी पूर्ववत् दूसरे मन्त्र के प्रस्ताव के लिए है । पूर्वमन्त्र की  
 तरह दूसरे मन्त्र ने भी उसी आख्यायिका का अनुसरण किया । आयवर्ण दध्यद् नामा है, द्वयवर्ण तो

१ इदं वा इति । यत्प्रवन्मन्त्रकरो सूचित आविष्कृत तदेवेदं मधु, इह इयं पुषिबीर्यादि वाऽनन्तरनिदिष्ट  
 दध्यद्द्वयवर्णो योत्रापत्यमायवर्णोऽश्विन्या देवप्रियगम्यामुवाचोक्तवानित्यर्थः । तत्—वृत्तं ।  
 एतत्—इन्द्रिष्टम् । ऋषिर्मन्त्रस्तद्द्रष्टा वा पश्यन् उपसभमानाऽवाचत् प्रवृत्तमासत्यर्थः । २  
 हे अश्विनी । ३ अश्विनित्वेति ध्येयम् । ४ सम्भवमात्रं आर्थः । ५ गोप्यम् । ६ आविष्कृत्योनीति  
 प्रतिज्ञाते चूरकर्म मधुनी, के त इत्याकाङ्क्षायांमिदं वै तन्मध्वित्यादिपूर्वब्राह्मणानुवादपूर्वकं मन्त्रमाह—  
 इदमिति । ७ प्रस्तावार्थम् । ८ पूर्वमन्त्रवत् । ९ पूर्वब्राह्मणवैतदब्राह्मणस्य तुत्यार्थत्वे ।

यिकामनुसरति स्म । 'आयर्वणो' दध्यङ्नामाऽऽयर्वणोऽन्यो विद्यत इत्यतो विशिनष्टि दध्यङ्नामाऽऽयर्वणस्तस्मै दधीच आयर्वणाय हेऽग्निनाविति मन्त्रदृष्टो वचनम् । अश्व्यम-  
श्वस्य स्वभूत शिरो ब्राह्मणस्य शिरसि च्छिन्नेऽश्वस्य शिरश्छिद्यत्वे 'दृशमतिक्रूर कर्म  
कृत्वाऽश्व्यं शिरो ब्राह्मणं प्रत्यैर्यतं गमितवन्तो युवाम् । स चाऽऽयर्वणो वा युवान्या  
तन्मधु प्रवोचद्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं वक्ष्यामीति । स किमर्थमेव 'जीवितसदेहे'भाहृष्ट प्रावोच-  
दित्युच्यते । ऋतायन्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं सत्यं तत्परिपालयितुंमिच्छन् । जीवितादपि हि  
सत्यधर्मपरिपालना गुरुतरयेतस्य 'लिङ्गमेतत्' । किं तन्मधु प्रावोचदित्युच्यते । त्वाष्ट्रं  
त्वष्टाऽदित्यस्तस्य 'सबन्धि यज्ञस्य शिरश्छिन्न त्वष्टाऽमव' 'तत्प्रतिसंधानार्थं प्रवर्ग्यं कर्म' ।  
"तत्र प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं यद्विज्ञानं" तत्त्वाष्ट्रं मधु यज्ञस्य शिरश्छेदनप्रतिसंधानादिविषय "दर्शनं

—तयेति । विशेषणकृत्य दर्शयन्त्याकरोति—दध्यङ्नामेति । प्रथममश्व्यमित्यादि", पदार्थं 'वचनमश्व-  
स्येत्याद्यौ' 'छिद्यत्वेत्यस्य' कर्मोक्तिरश्व्यं शिर इत्यत्र त्वन्वयार्थमुक्तमिति विभाग । 'प्रेसापूर्वकारिणा-  
मोदशी प्रवृत्तिरयुक्तेति अङ्कित्वा समाधत्ते—स किमर्थमिति । ऋतायनित्यत्रार्थसिद्धि' 'मर्थं कथयति  
जीवितादपीति । "यज्ञस्य शिरोऽश्छिद्यत ते देवा अश्विनायन्वबन्धिमयजो यं स्य इव यज्ञस्य शिर-  
प्रतिपक्षम्" इत्यादिभूत्यन्तरमाभित्याऽऽह—यज्ञस्येत्यादिना । प्रवर्ग्यकर्मण्येव प्रवृत्तेऽपि प्रकृते "विज्ञाने  
किमायातं तदाह—तनेन । उक्तमेव संगृह्णाति—यज्ञस्येति । यद्ययोक्त दर्शनं तत्त्वाष्ट्रं मधु यज्ञ

दूसरा भी हो जाता है इसलिए आयर्वण के साथ दध्यङ् विशेषण लगाया जाता है । उस दधीच आयर्वण  
के लिए 'हे अश्विनी' यह मन्त्रद्रष्टा का सम्वाधन है । 'अश्व्यम्' अर्थात् अश्व के निजी शिर को,  
ब्राह्मण के शिर में, एवं ब्राह्मण के शिर को अलगकर अश्व के शिर में, इस प्रकार (दो शिर छेदनरूप)  
अति क्रूरकर्म करके अश्व के शिर से 'प्रत्यैरयनम्' यानी ब्राह्मण के पास तुम दोनों ने पहुँचाया । एवं  
"स" अर्थात् उस आयर्वण ने "वा" यानी तुम दोनों को 'मधु प्रवोचत' (अश्व के शिर से) उसी  
मधुविद्या का उपदेश दिया, जिसको कहने की पहल प्रतिज्ञा की थी । उसने इस प्रकार प्राणो को खतरे  
को पालन करने के लिए । इससे यह अर्थ प्रकाशित होता है कि सत्यधर्म का पालन प्राणो से श्रेष्ठ है ।  
यह मधु क्या है, जिसका उपदेश दिया ? इस पर कहा जाता है—'त्वाष्ट्रम्' तद्विज्ञानं शब्द में त्वष्टा  
आदित्य का नाम है । आदित्यविषयक उपासना से यज्ञपुरुष का अलग किया हुआ शिर ही त्वष्टा हो  
गया, उस त्वष्टारूप शिर को प्रतिस्थापित करने के लिए प्रवर्ग्यकर्म है । वहाँ प्रवर्ग्यकर्माङ्ग भूत जो

१ अयवण इति पाठ । २ आयर्वण इति—दध्यङ्नामाऽऽयर्वण एक तदयोऽपि अश्विदायवणाऽस्तीति  
सद्वचनच्छेदाय विशिनष्टि—दध्यङ्नामनीति याजना । ३ द्वि शिरश्छेदतक्षणम् । ४ प्राणसन्देशमापन्न  
त्वं । ५ अश्वस्य । ६ आयवणम् । ७ ऋतायनिति धावणम् । ८ आदित्यविषयक विज्ञानमुपासनमिति  
यावत् । ९ यज्ञपुरुषस्य 'यज्ञा वै विष्णु' । १० त्वष्ट्ररूपशिर प्रतिसंधानार्थमिति भाव । ११  
अवतरणोक्तायमेतत् । १२ उपायनम् । १३ उपास्ति । १४ इत्यादिवाक्यघटक शिरपदमिति यावत् ।  
१५ कथनम् । १६ वाक्ये । १७ शिर इति । १८ यो । १९ आधिक्यम् । २० त्वाष्ट्रमधुनि ।



इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच ।  
तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चक्रे - द्विपदः पुर-  
श्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारों से कहा था । इसे देखते हुए ऋषि से कहा है—परमात्मा ने दो पैरों वाले और चार पैरों वाले शरीर बनाये । पहले वह पुरुष पक्षी (लिङ्ग-शरीर) होकर स्थूल शरीरों में प्रविष्ट हो गया । इसलिये वह यह परमेश्वर सभी शरीरों में निवास

तत्त्वाष्ट्रं यन्मधु । हे दत्तौ दत्ताविति परबलानामुपलपयितारौ शत्रूणा वा हिंसितारौ । अपि च न केवलं त्वाष्ट्रमेव मधु कर्मसम्बन्धि युवाभ्यामवोचदपि च कक्ष्यं गोप्यं रहस्यं परमात्मसम्बन्धि 'यद्विज्ञानं मधु मधुब्राह्मणेनोक्तमध्यायद्वयप्रकाशित तच्च वा युवाभ्यामवोचदित्यनुवर्तते ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मध्विति पूर्ववत् । उक्तौ द्वौ मन्त्रौ प्रवर्ग्यसम्बन्ध्याख्याधिकोपसंहारौ । द्वयोः प्रवर्ग्यकर्तार्यधोरध्याययोरर्थं आख्यायिकामूलाभ्या मन्त्राभ्या प्रकाशितः । ब्रह्म-

तन्मधु तत्प्रवोचदिति सम्बन्ध । अध्यायद्वयप्रकाशित तृतीयचतुर्थीभ्यामध्यायान्या प्रकटितमिति यावत् ॥१७॥

उक्तमन्त्राभ्या वक्ष्यमाणमन्त्रयोर'गुनरुक्तत्वावयवत्व वस्तु वृत्त कीर्तयन्—उक्ताविति । 'आख्यायिकाविशेषणप्राप्त 'सकोच परिहरति—द्वयोरिति । उत्तरमन्त्रद्वयप्रवृत्ति प्रतिजानीते—

उपासना है, वही त्वाष्ट्र मधु है । यज्ञपुरुष के शिरच्छेदन और प्रतिस्थापनादिविषयक जो उपासना है, वही त्वाष्ट्र मधु है । दत्तौ अर्थात् हे दक्षुषा । यहाँ दत्तौ से तात्पर्य है—पुरुष के शत्रुघात के बल से क्षीण करने वाले हे हिंसको । इसके अतिरिक्त उन्होंने केवल कर्मसम्बन्धी त्वाष्ट्र मधु का ही उपदेश नहीं किया, अपितु 'कक्ष्यम्' यानी जो परब्रह्मविषयक गोपनीय रहस्यमय प्रत्यक्षाधारम्भदर्शन मधुविद्या है, उसी का मधु ब्राह्मण द्वारा उक्त दो अध्यायों में प्रकाशित किया गया, उसी का 'वाम्' अर्थात् तुम दोनों का उपदेश किया । वा के पदवाच 'प्रवाचत्' किया की अनुवृत्ति इसी श्रुतिवाक्य से ग्रहण हो जाती है ॥१७॥

"इदं वै तन्मधु" इस श्रुति का अर्थ पूर्वमन्त्रप्रतिपादित भाष्य के अनुसार समझ लेना चाहिये । उपरोक्त दो श्रुतिमन्त्र प्रवर्ग्यसम्बन्धी आख्यायिकाभूत मन्त्रों का उपसंहार करने वाले हैं । ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी तृतीय और चतुर्थ दो अध्यायों का अर्थ आगे के दो श्रुतिमन्त्रों द्वारा प्रकाशित करना, है इस-

१ गदाना केत्यपि द्रष्टव्यम् । २ प्रत्यगायातम्यदर्शनम् । ३ त्वाष्ट्रमध्वरूपम् । ४ अनुनरुक्तत्वन सार्थक्यम् । ५ आख्यायिकाविशेषणमिति यावत् । ६ आख्यायिकामात्रोपसंहाररूपम् ।

पुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु  
 पूर्णं पुरिशयो ननेन किचनानावृतं ननेन  
 किचनासंवृतम् ॥ १८ ॥

करने के कारण पुरुष कहा जाता है । ससार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उस पुरुष में आच्छादित न हो  
 तथा ऐसा भी कुछ नहीं है जिसमें परमेश्वर का प्रवेश न हुआ हो, इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता  
 स्पष्ट हो जाती है ॥ १८ ॥

विद्यार्थयोस्तत्र ध्याययोरर्थ उत्तराभ्यामृभ्या प्रकाशयितव्य इत्यतः प्रवर्तते । 'यत्कक्ष्यं च  
 मधूक्तवानाथर्वणो बुवाभ्यामित्युक्तम् । किं पुनस्तन्मध्वित्युच्यते । पुरश्चक्रे पुरः पुराणि  
 शरीराणि यत इयमव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया स परमेश्वरो नामरूपे अव्याकृते व्याकुर्वाणः  
 प्रथमं भूरादीँल्लोकान्सृष्ट्वा चक्रे कृतवान्द्विपदो द्विपादुपलक्षितानि मनुष्यशरीराणि  
 पक्षिशरीराणि । तथा पुरः शरीराणि चक्रे चतुष्पदश्चतुष्पादुपलक्षितानि पशुशरीराणि ।  
 पुरः पुरस्तात् ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरं भूत्वा पुरः शरीराणि पुरुष आविशदित्यस्मार्थ-  
 'मावष्टे श्रुतिः । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्णं सर्वशरीरेषु पुरिशयः पुरि शेत इति

ब्रह्मेति । सप्रत्यवान्तरसगतिमाह—यत्कक्ष्यं चेति । हिरण्यकर्तृकं शरीरनिर्माणमत्र नोच्यते किंतु  
 प्रकरणबलादीश्वरकर्तृकमित्याह—यत इति । शरीरसृष्ट्यपेक्षया लोकसृष्टिप्राथम्यम् । पुरस्ताद्देहसृष्ट्य-  
 नन्तर प्रवेशात्पूर्वमिति यावत् । 'स हि सर्वेषु शरीरेषु वर्तमानः पुरि शेत इति ध्युरपत्या पुरिशयः

लिए "इद वं—" यहाँ से श्रुति मन्त्रद्वय का प्रतिपादन करती है । यह तो कह ही चुके हैं कि प्रायवर्ण ने  
 तुम दोनों से त्वाष्ट्र ज्ञान (मधुविद्या) को गोपनीय ज्ञान के प्रति हेतुत्व सम्पादन किया था । तो फिर  
 वह मधुविद्या क्या है ? इस पर कहा जाता है । "पुरश्चक्रे" में पुर शब्द शरीरवाचक है क्योंकि  
 यह अव्याकृत ब्रह्म के व्याकृत होने की प्रक्रिया है । इसलिये उस परमेश्वर ने, अव्याकृत नाम-  
 रूपो को व्याकृत करते हुए शरीर की सृष्टि से पूर्व (भूतोत्पत्ति क्रम से) पृथिवी आदि लोको  
 को उत्पन्न करके "द्विपद" अर्थात् दो पैरो से उपलक्षित मनुष्य और पक्षी शरीरो को  
 "चक्रे" अर्थात् उत्पन्न किया । उसके बाद उसने "चतुष्पद" अर्थात् चार पैरो से उपलक्षित पशु के  
 शरीरो को रचा । "पुर" अर्थात् पहले वह ईश्वर पक्षी लिङ्गशरीर होकर "पुर" यानी शरीरो में पुरुष-  
 रूप से प्रविष्ट हो गया । इसी वाक्य का अर्थ श्रुति स्पष्ट करती है । वह यह पुरुष "सर्वासु पूर्ण" सब  
 शरीरो में पुरिशय है, इसलिए पुरुष कहा जाता है । 'पुरि' यानी शरीरो में दायन करने से पुरिशय नाम

१. तृतीयचतुर्थयो । २ प्रवर्तते इति—इद वा इत्याहुतायंत्राज्ञानपूर्वक मन्त्रद्वयमिति शेषः । ३.  
 यत्कक्ष्यं चेति—त्वाष्ट्रज्ञानस्य कक्ष्यज्ञान प्रति ह्युक्त्य द्योतयितुं चकारस्तथा च हेतुहेतुमद्भावरतयोर्वान्तरसङ्गत-  
 रिणि ध्वनितम् । ४ अतः । ५ शरीरसृष्टेः प्राक् भूतोत्पत्तिरनेनेति बोध्यम् । ६ जलचन्द्रवत् । ७  
 कथमीश्वरस्य पुरुषत्वमित्यपेक्षायाम् । ८ प्राच्याभ्यामुदीध्यमन्त्रयोः । ९ परमात्मा ।



इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य  
हरयः शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश  
च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च 'तदेतद्ब्रह्मा-  
'पूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यमयमात्मा ब्रह्म 'सर्वा-  
नुभूरि'त्यनुशासनम् ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये

पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

यह परमात्मा ही इन्द्रियरूप अक्षय भो यही दश सहस्र, अनेक एव अनन्त हैं । वह यह ब्रह्म कारणरहित,  
कार्यरहित, त्रिजातीय द्रव्य, ससंगम्य और अवाह्य है । यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला  
परमात्मा है । वस यही सम्पूर्ण वेदान्ती का उपदेश है ॥१६॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

रूपो रूपान्तरं बभूवेत्यर्थः । प्रतिरूपोऽनुरूपो वा यादृक्संस्थानी मातापितरौ तत्संस्थान-  
स्तदनुरूप एव पुत्रो जायते । न हि चतुष्पदो द्विपाज्जायते द्विपदो वा चतुष्पात् । स एव  
हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । किमर्थं पुनः 'प्रतिरूपमा-

रूप रूपमुपाधिभेदं प्रति प्रतिरूपो रूपान्तरं प्रतिविम्बं बभूवेत्येतत्प्रतिरूपो बभूवेत्यत्र विवक्षितमिति  
योजना । अनुरूपो वेत्त्युक्तं विवृणोति—यार्थगत्यादिता । उत्तममयमनुभवारुदं करोति—न हीति ।  
रूपान्तरभवेन कर्त्रन्तरं वारयति—स एव हीति । प्रतिरूपापनाय शास्त्राचार्यादिभेदेन तत्त्वप्रकाशना-

बभूव" अर्थात् देह-देह क प्रति (यानी उपाधिभेद के प्रति प्रतिविम्ब) रूपान्तर हो गया । (अवच्छेद  
पक्ष की प्रदर्शित किया जाता है—) "प्रतिरूप." यानी अनुरूप हा गया । (लोकव्यवहार में) जिस  
प्रकार की स्रष्टृति वाले माता-पिता होते हैं, उसी स्रष्टृति के अनुरूप ही पुत्र उत्पन्न होता है । ऐसा  
नहीं हुआ करता कि चतुष्पाद उपलक्षित पशुशरीरो से द्विपाद उपलक्षित मनुष्यशरीरो की उत्पत्ति  
हो जाय अथवा मनुष्यो से पशुधा की उत्पत्ति हो जाय । वह परमेश्वर ही नाम-रूप से व्याकृत होकर

१ इदानीमात्मन पारमार्थिक स्वरूपमाह—तदेतदिति । अपूर्वादिरूप यद्ब्रह्म तदेतत्तत् समस्त जगत् न  
तद्व्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । २ किं तद्ब्रह्म आत्मनोऽर्थान्तरं नेत्याह—अयमिति । अयं प्रत्यगात्मानं  
ब्रह्मेति न ब्रह्म परोक्ष ब्रह्माभेदाच्च न प्रतीच सत्तास्त्वित्यभिप्रायः । ३. कोऽसौ प्रत्यगात्मा तत्राऽह—  
सर्वानुभूति । सर्वरूपाऽनुभवश्चेत्यर्थः । तदुक्तं वातिके—“सर्वानुभव एवायमत सर्वानुभू पर ।  
कात्स्न्यसिद्धौ भवेदेव विमात्रत्वात्तथाऽनुभू ” ॥१४५॥ इति । कात्स्न्यं पूर्णत्वम् । ४ इत्यनुशासनमिति—  
“इत्युक्तपरामर्शो वेदानां चानुशासनम् । कर्तव्यमेतद्विज्ञानमिति वेदानुशासनम् ॥ अत्यातिलङ्घने दोष  
संसारानर्पसङ्गति । कुर्वन्तव महान्नाम आत्मन कुतस्त्येति” ॥१४६-१४७॥ ५ अवच्छेदपक्ष दर्शयति—  
अन्विति । ६ संस्थानमाहुः । ७ प्रत्युपाधिभेदमिति यावत् । ८ देह देह प्रतीति यावत् ।

गमनं तस्येत्युच्यते । तदस्याऽऽत्मनो रूपं प्रतिचक्षणाय प्रतिस्थापनाय । यदि हि नाम-  
रूपे न व्याक्रियेत तदाऽस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानधनाख्यं न प्रतिस्थापेत । यदा  
पुनः कार्यकरणरूपात्मना नामरूपे व्याकृते भवतस्तदाऽस्य रूपं प्रतिस्थापेत । इन्द्रः परमेश्वरो  
मायाभिः प्रज्ञाभिर्नामरूपकृतमिध्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप ईयते  
गम्यते एकैकं एव प्रज्ञानधनः सन्नविद्याप्रज्ञाभिः । कस्मात्पुनः कारणात् । युक्ता रथ  
इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय हि यस्मादस्य हरयो हरणादिन्द्रियाणि शता शतानि

येत्यर्थः । "तदेव व्यतिरेकेणान्वयेन च स्फुटयति—यदि हीत्यादिना । मायाभिः प्रज्ञाभिरिति "परपक्ष-  
मुक्त्वा स्वपक्षमाह—मायाभिरिति । मिथ्याद्योहेतुभूतानाद्यनिवर्त्य "दण्डायमानाज्ञानवशादेव बहुरूपो  
भाति । प्रकारभेदात् "बहुक्तिरिति । वाक्यायमाह—एवरूप एवेति । अविद्याप्रज्ञाभिर्बहुरूपो गम्यत  
इति पूर्वोक्तं संबन्धः । परस्य बहुरूपस्ये निमित्तं अन्नपूर्वकं निवेदयति—कस्मादित्यादिना । यथा रथे  
युक्ता वाजिनो रथिनः "स्वगोचरं देशं प्रापयितुं प्रवर्तन्ते तथाऽस्य 'प्रतीचो रथस्थानीये शरीरे युक्ता  
'हरयः स्वविषयप्रकाशनाय यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादिन्द्रियाणां तद्विषयाणां च बहुलत्वात् "तत्तद्रूपेय  
बहुरूपो भातीति योजना । हरिशब्दस्येन्द्रियेषु प्रवृत्तौ निमित्तमाह—हरणादिति । प्रतीचो विषया-

रूप-रूप के अनुरूप हो गया । उसमें प्रत्युपाधि का आगम किसलिये हुआ, उसे बतलाया जाता है "तदस्य"  
अर्थात् उस प्रतिविम्बात्मक आत्मा के रूप को "प्रतिचक्षणाय" यानी शास्त्र-आचार्यादि द्वारा प्रस्थापन  
करने के लिए (उसका आगम हुआ) । क्योंकि यदि नाम और रूपों की व्याकृति न होती, तब इस  
आत्मा का प्रज्ञानधनाख्य निरुपाधिकरूप प्रकाशित न हो पाता । किन्तु जिस समय कार्यकरणभाव से  
नामरूप व्याकृत होते हैं, तभी इस का रूप प्रकाशित होता है । "इन्द्र" यानी (नामा रूपों का उपादान  
प्रसङ्गात्मा) परमेश्वर "मायाभिः" अर्थात् उपाधिभूत प्रज्ञा या नाम-रूप कृत मिथ्याभिमान से 'पुरुरूपः'  
बहुत रूपों वाला 'ईयते' प्रतीत होना है ; परमार्थतः ऐसा नहीं होता । अर्थात् प्रज्ञानधन एकरूप होता  
हूमा भी अनृतबुद्धियों के द्वारा बहुत रूपों वाला जाना जाता है । परन्तु आतिर पुरुषों का बहुत किस-  
लिये होता है । "हि" अर्थात् क्योंकि, अपने विषय को प्रकाशन करने के लिए रथ में जुते हुए घोड़ों के  
मैमान इस शरीर में 'शता' अर्थात् सैकड़ों हजारों "दश च" अर्थात् प्राणिभेद बाहुल्य से अनन्त इन्द्रियाँ  
हैं । इन्द्रियों का नाम 'हरि' क्यों पड़ा ? क्योंकि वे विषयों की ओर चित्त हर लेती हैं । इसलिए इन्द्रियों  
के विषय की बहुलता होने के कारण अपने विषयों को प्रकाशित करने में ही इन्द्रियाँ प्रवृत्त हैं, आत्मा को

१. प्रतिविम्बात्मकम् । २. तस्येत्यादि—अन्यथाऽविद्यापटलादस्य स्वरूप (वाच्यत्व) प्रमाणानुपपत्तेरिति  
भावः तदपमित्यन्वयः । ३. शास्त्राचार्यादिना प्रस्थापनाय । ४. प्रवर्तन्ते । ५. अन्नपूर्वकम्  
बहुभवभूतपादानमाचष्टे—इन्द्र इति । ६. प्रज्ञाभिर्निमित्तं—उपाधिभूतान्मयो धीम्य इत्यर्थः । ७. इतोऽन्नानम्  
मायाभिरिति स्सलितः पाठो द्रष्टव्यः । ८. ज्ञायते प्रतीयते । ९. अविद्यानृतबुद्धिभिः । १०. पुरो  
यद्वत्त्वम् । ११. शरीरे । १२. दशविजिनः शतानि सद्योपाधौत्वेवमस्तद्वत्त्वे तात्पर्यम् ।  
१३. उक्तप्रकाशनेव । १४. भूतप्रवृत्तयाम् । १५. सम्बन्धमाना—अविदेविज्जलपाटनपेमानुभूयमाना ।  
१६. मायाया एतत्तेऽपि तच्छक्तिरूपाणा विदोपाणा बाहुल्यत्वात्तन् बहुत्वोक्तिः । १७. स्वयन्तम्यम् । १८.  
रथस्थानीयस्य । १९. इन्द्रियाणि । २०. तत्तत्तादात्म्यापत्त्येन वाच्यम् ।

दश च प्राणिभेदबाहुल्याच्छतानि दश च भवन्ति । तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्यात्तत्प्रकाशनायैव युक्तानि तानि नाऽऽत्मप्रकाशनाय । "पराश्च तानि व्यतृणत्स्वयंभूः" इति हि काठके । तस्मात्तैरेव विषयस्वरूपैरीयते न प्रज्ञानधनंकरसेन स्वरूपेण ।

एवं तर्ह्ययमन्यः परमेश्वरोऽन्ये हरय इत्येवं प्राप्त उच्यते—अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । प्राणिभेदस्याऽऽनन्त्यात् । किं बहुना तदेतद्ब्रह्म य 'आत्माऽपूर्वं नास्य' कारणं पूर्वं विद्यत इत्य'पूर्वंम् । नास्यापरं कार्यं विद्यत इत्य'न-

प्रतीति शेषः । इन्द्रियबाहुल्ये हेतुमाह—प्राणीति । इन्द्रियविषयबाहुल्यात्प्रत्यगात्मा बहुरूप इति शेषः । नन्वात्मानं प्रकाशयितुमिन्द्रियाणि प्रवृत्तानि न तु रूपादिकमेव "तत्तत्तयं" तद्विषयवशादात्मनोऽन्यथा" प्रथे"त्याशङ्क्याऽह—तत्प्रकाशनायेति । तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्यादित्य'नोक्तमुपसंहरति—तस्मादिति । यद्वा "यथोक्तभूतिवशेन लब्धमयंमाह—तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियाणि "पराविषये प्रवृत्तानि तस्मात्तैरिन्द्रियै"विषयस्वरूपैरेवायं प्रत्यगात्मा गम्यते न तु स्वासाधारणेन रूपेणोत्पत्तिः ।

युक्ता हीति संबन्धमाधित्य "अङ्गुते—एव तर्हीति । अयमित्यादिवाक्येन परिहरति—अयमिति । तत्तदिन्द्रियादिरूपेणाऽऽत्मन एवाविद्यया आनातसंबन्धस्य च कल्पितत्वासाद्वैतहानिरित्यर्थः । इन्द्रियानस्य हेतुमाह—प्राणिभेदस्येति । "वाक्यार्थव्याख्यानार्थमित्यं गतेन संबन्धेन भूमिका- "मारचय्य"तत्परं वाक्यमवगत्यं ध्याकरोति—किं बहुनेत्यादिना । न केवलमध्यापद्वयस्यैवायं

प्रकाशित करने में प्रवृत्त नहीं हैं । कठोपनिषद् में कहा है—"स्वयम्भू परमेश्वर ने (शब्दादि विषयो को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियो को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है" । अतः (आत्मा के इन्द्रियागोचर होने से) उन्ही विषयरूपों से बहुरूप प्रतीत होता है; प्रज्ञानधन एक-रमस्वरूप से नहीं ।

इस प्रकार यह परमेश्वर अन्य है एक इन्द्रिया अन्य हैं, उनमें यह भेद प्राप्त होने पर श्रुति कहती है । यह इन्द्रिया परमेश्वर ही है तथा यही दश, सहस्र, अनेक एव अनन्त हैं क्योंकि प्राणियों के भेद की अनन्तता सिद्ध ही है । अधिक क्या कहे—यह जो क्षेत्रज्ञ आत्मा है, वह ब्रह्म है, "अपूर्वंम्" यानी अकार्य-रूप है । "अपूर्वं" नाम इसलिये पडा क्योंकि इसका पूर्व या कारण कोई नहीं है । "अनपरम्" यानी अका-

१. अनन्तानि भवन्तीत्यर्थः । २. प्राणिभेदबाहुल्यात् । ३. विषयप्रकाशनायेत्यर्थः । ४. प्रवृत्तानि । ५. आत्मन इन्द्रियगोचरात् । ६. हरोगामात्मसंबन्धे सति अस्य हरय इत्येवम् । ७. तयोर्भेदे । ८. य आमेति । "नाऽऽत्मनोऽन्यत्र सभाव्यमपूर्वादि यदीरितम् । ब्रह्माऽऽन्येवेत्यतो वक्ति श्रुतिरंकात्म्यसिद्धये" ॥ वा० १४२ । ९. क्षेत्रज्ञः । १०. पूर्वमित्यस्यार्थः कारणमिति । ११. अकार्यरूपमित्यर्थः । १२. अकारण-रूपमित्यर्थः । १३. आत्मनोऽपि विषयत्वात् । १४. इन्द्रियविषयबाहुल्यानुरोधात् । १५. बहुत्वप्रतीतिः । १६. इत्याशङ्क्येति—विषयबाहुल्यादात्मनो बहुरूपत्व वदता सिद्धान्तिना आत्मबाहुल्यादात्मनो बहुरूपत्वमर्थ-दुक्तमेव तस्यापि विषयत्वाविशेषात्तथा आत्माधय इति धाङ्कितुराशयः । १७. (आत्मे) आत्मन अधीधिक-बहुत्वम् । १८. काठके । १९. अमात्मवयं । २०. विषयात्मनेत्यर्थः । २१. अङ्गुत इति—तस्य हरय इति संबन्धप्रतीतिर्द्वैतापत्तिरिति तदाशयः । २२. तदेतदित्यादिमहावाक्यार्थस्येति यावत् । २३. त्वमर्थं परितोऽप्येति यावत् । २४. अक्षणाव्यंतात्पर्येकम् ।

गमनं तस्येत्युच्यते । 'तदस्या'ऽऽत्मनो रूपं 'प्रतिचक्षणाय प्रतिस्थापनाय । यदि हि नान-  
रूपे न व्याक्रियेते तदाऽस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानधनाख्यं न 'प्रतिस्थापेते । यदा  
पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतस्तदाऽस्य रूपं प्रतिस्थापेते । 'इन्द्रः परमेश्वरो  
मायाभिः 'प्रज्ञाभिर्नामिरूपकृतमिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप इत्ये-  
व गम्यते एकरूप एव प्रज्ञानधनः सन्न 'विद्याप्रज्ञाभिः । कस्मात्पुनः कारणात्' । युक्ता रथ  
इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय हि यस्मादस्य' हरयो हरणादिन्द्रियाणि शता 'शतानि

मेत्यर्थं । 'तदेव व्यतिरेकेणाम्बयेन च स्फुटयति—यदि हीत्यादिना । मायाभिः प्रज्ञाभिरिति 'परमज्ञ-  
पुत्रत्वा स्वरूपमाह—मायाभिरिति । मिथ्याधीहेतुसूतानाद्यनिर्वाच्य' 'दण्डायमानाज्ञानवशादेव बहुरूपो  
भाति । प्रकारभेदात् 'बहूक्तिरिति । बाधयार्थमाह—एवरूप एवेति । अविद्याप्रज्ञाभिर्बहुरूपो गम्यन्  
इति पूर्वोक्तं सबन्धः । परस्य बहुरूपत्वे निमित्तं प्रश्नपूर्वकं निवेदयति—कस्मादित्यादिना । यदा रथे  
युक्ता वाजिनो रथिनं 'स्वगोचरं देशं प्रापयितुं प्रवर्तन्ते तथाऽस्य 'प्रतीचो रथस्थानीये शरीरे युक्ता  
'हरयः स्वविषयप्रकाशनाय यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादिन्द्रियाणां तद्विषयाणां च बहुलत्वात्तत्पुत्ररेव  
बहुरूपो भातीति योजना । हरिशब्दस्येन्द्रियेषु प्रवृत्तौ निमित्तमाह—हरणादिति । प्रतीचो विद्या-

रूप रूप के अनुरूप हो गया । उसमें प्रत्युपाधि का आगम किसलिये हुआ, उसे बतलाया जाता है 'तदस्य'  
अर्थात् उस प्रतिबिम्बात्मक आत्मा के रूप को 'प्रतिचक्षणाय' यानी शास्त्र-आचार्यादि द्वारा प्रस्थापन  
करने के लिए (उसका आगम हुआ) । क्योंकि यदि नाम और रूपों की व्याकृति न होती, तब इत  
प्राप्ता का प्रज्ञानधनाख्य निरुपाधिकरूप प्रकाशित न हो पाता । किन्तु जिस समय कायकरणभाव से  
नामरूप व्याकृत होते हैं तभी इस का रूप प्रकाशित होता है । इन्द्र 'यानी (नाना रूपों का उपादान  
धमज्ञात्मा) परमेश्वर 'मायाभिः' अर्थात् उपाधिभूत प्रज्ञा या नाम-रूप कृत मिथ्याभिमान से 'पुरुरूप'  
बहुत रूपों वाला 'ईयते' प्रतीत होना है, परमार्थतः ऐसा नहीं होता । अर्थात् प्रज्ञानधन एकरूप होना  
हुआ भी धनतबुद्धिया के द्वारा बहुत रूपों वाला जाना जाता है । परन्तु आखिर पुरुषों का बहुत्व किस-  
लिये होता है । 'हि' अर्थात् क्योंकि, अपने विषय को प्रकाशन करने के लिए रथ में जुते हुए घोड़ों के  
ममान इन शरीर में 'शता' अर्थात् सैकड़ों हजारों 'दश च' अर्थात् प्राणिभेद बाहुल्य से अनन्त इन्द्रियां  
हैं । इन्द्रिया का नाम 'हरि' क्यों पड़ा ? क्योंकि वे विषयों की ओर चित्त हर लेती हैं । इसलिए इन्द्रियों  
के विषय की बहुलता होने के कारण अपने विषयों को प्रकाशित करने में ही इन्द्रियां प्रवृत्त हैं, आत्मा को

- १ प्रतिबिम्बात्मकम् । २ तदस्येत्यादि—अन्यथाऽविद्यापटलावृतस्य स्वरूप (याथात्म्य) प्रकाशानुपपत्तिरिति  
भावः तदप्रमित्यवयव । ३ शास्त्राचार्यादिना प्रस्थापनाय । ४ प्रजापते । ५ अमङ्गलान्तो  
बृहन्ननापादानमाचष्टे—इन्द्र इति । ६ प्रज्ञाभिरिति—उपाधिभूतात्म्यो धीमन् इत्यर्थः । ७ इतोऽनन्तरं  
मायाभिरिति स्मरितं पाठो द्रष्टव्यः । ८ जायते प्रतीयते । ९ अविद्यानृतबुद्धिभिः । १० पुनो  
बहुरूपम् । ११ शरीरे । १२ दशविंशति शतानि सहस्राणीत्येवमसङ्ख्यत्वे तात्पर्यम् ।  
१३ उत्पन्नानामवयवः । १४ भर्तुं प्रवृत्त्यपवाहम् । १५ सम्बाधमाना—अविदेकिनपारम्पर्येणानुभूयमाना ।  
१६ मायाया एतत्त्वमपि तच्छक्तिरूपाणां विक्षेपाणां बाहुल्यात्तत्र बहुत्वोक्तिः । १७ स्वगन्तव्यम् । १८  
तदस्येतीत्यर्थः । १९ इन्द्रियाणि । २० तत्तत्तादात्म्यापत्येति यावत् ।

काच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिस्लाताच्चा-  
नभिस्लात आनभिस्लातादानभिस्लात आनभिस्लाता-  
दानभिस्लातो गौतमाद्गौतमः संतवप्राचीनयोग्याभ्यां  
संतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यौ भारद्वाजाङ्गा-  
रद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भार-  
द्वाजाङ्गारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो ब्रंजवापायनाद्-

से और गौतम से, गौतम ने ॥१॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिस्लात से, आनभिस्लात ने आनभिस्लात से, आनभिस्लात ने गौतम से, गौतम ने संतव और प्राचीनयोग्य से, संतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने

स्वाध्यायार्थो 'जपार्थश्च' तत्र वंश इव वंशो यथा वेणुवंशः 'पर्वणः पर्वणो हि मिष्टते

हि ब्रह्मविद्या तेन सा 'महाभागधेयेति स्तुतिः । ब्राह्मणस्यार्थान्तरमाह—मन्त्रश्चेति । स्वाध्यायः  
'स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वे सत्यध्यापनं जपस्तु प्रत्यहमावृत्तिरिति भेदः । 'यथोक्तनीत्या ब्राह्मणारम्भे  
स्थिते वंशशब्दार्थमाह—तत्रेति । 'तदेव स्फुटयति—यथेति । शिष्यावसानोपसर्गणीभूतात्पोतिमाध्या-

वतलाया जाता है । यह मन्त्र जप्यमन्त्रकल्प स्वाध्याय और जप के लिए है । बाँस के समान होने से  
प्रवतरणोक्तार्थक वंश शब्द का ग्रहण है । जिस प्रकार पर्वों का वंशभूत बाँस ग्रन्थिद्वय मध्यवर्ती भाग-

१. जपार्थश्चेति—जपस्तु ब्रह्मविद्योत्पत्तये । तथा च वातिके—“जपोऽयं ब्रह्मविज्ञानजग्मने षोडशे श्रुताविति”
- ॥ १ ॥ जपार्थश्चेति वशब्दार्थः वातिके—“पुमत्पुहोत्पितागङ्गानिवृत्त्यर्थं यथोदितम् । ब्रह्मज्ञानस्य वा वसो  
यलाच्छ्रुत्याप्रमुष्यते” ॥ २ ॥ इति । प्रकृतब्रह्मज्ञानस्य पुरुषबुद्धपुल्लेखितत्वजङ्गानिवृत्त्यर्थं ब्राह्मणमित्याह—  
पुमतीति । वसोपन्यासस्य यत्नो बहुधा वचनम् । अत्र यथोदितमिति ब्रह्मज्ञानस्य विशेषणमध्ययीभावत्वादव्ययम् ।
- २ अवतरणोक्तार्थकम् । ३. ग्रन्थिद्वयमध्यवर्तिभाग पर्वः । ४. महाभागधेयति—भागधेय मत भाग्ये  
भागप्रयययो, पुमान् इति । भाग्य नर्मं शुभाशुभमिति च कोष्ठः । तथा च महाप्रत्ययरूपेत्यर्थः । महाविज्ञानमिति  
यावत् । तत्र महत्त्वं च महावस्तुविषयत्वमित्याहु यद्वा महाभाष्यरूपेत्यर्थः यद्वा महाभागधेयं यस्या महाभाष्य-  
वतीत्यर्थः यतो महद्भिरङ्गीकृता महद्भिरनुगृहीता हि भाष्यवद्भवति स्तुत्यं चेति । ५ स्वाधीनेति—  
स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वविशिष्टं यदन्वोच्चारणानुक्रमोच्चारणकृतृत्वं तत्स्वाध्यायः । शिष्योच्चारणाधीनतदस्यो-  
च्चारणमादाय शिष्येऽर्पितव्याप्तिवारणाय विशेषणम् । उदाधीनावस्थायां गुरो स्वाध्यायव्यवहारवारणाय  
विशेष्यमिति निरवयव लक्षणम् । ६ यथोक्तप्रयोजनार्थमिति यावत् । ७. यणसादृश्यम् ।



वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥  
 घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराश-  
 र्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्यज्जातूकर्ण्य  
 आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणि-  
 रौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज  
 आत्रेयादात्रेयो माण्डेर्माण्डिगौतमाद्गौतमो गौतमा-  
 द्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कंशो-  
 र्यात्काप्यात्कंशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो  
 गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो  
 वत्सनपातो वाभ्रवाद्बत्सनपाद्वाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः

पाराशर्यं से, पाराशर्यं ने वैजवापायन से, वैजवापायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥२॥  
 घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातू-  
 कर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजघनि से,  
 औपजघनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्डि से, माण्डि ने  
 गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कंशोर्यकाप्य से,  
 कंशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भी-  
 कौण्डिन्य ने वत्सनपात् वाभ्रव से, वत्सनपात् वाभ्रव ने पन्था सोभर से, पन्था सोभर ने प्रयास्य आङ्गि-

तद्वत्प्राप्तभूत्या मूलप्राप्तेरयं वंशः । अध्यायचतुष्टयस्याऽऽचार्यपरम्पराक्रमो वंश  
 इत्युच्यते । 'तत्र प्रथमान्तः शिष्यः पञ्चम्यन्त आचार्यः । परमेष्ठी विराट् । ब्रह्मणो

दारम्य तदादिर्वेदाख्यब्रह्ममूलपर्यन्तोऽयं वंशः पर्वणः पर्वणोः भिद्यत इति संबन्धः । वंशशब्देन निष्पन्नमयं-  
 माह—अध्यायचतुष्टयस्येति । अध्यायत्र शिष्याचार्यवाचकशब्दाभावे कुतो 'व्यवस्थेति तत्राऽह—  
 तनेति । परमेष्ठिशब्दयोरेकार्यत्वमाशङ्क्याऽह—परमेष्ठीति । कुतस्तर्हि ब्रह्मणो विद्याप्राप्ति-

रूप पर्यं से भिन्न है, उसी प्रकार अध्याय से लेकर मूलप्राप्ति पर्यन्त यह वंश भी भिन्न है । यहाँ अध्याय-  
 चतुष्टयात्मक आचार्यपरम्पराक्रम को वंश कहा जाता है । उपरोक्त मन्त्रों में शिष्य के लिए प्रथमान्त  
 प्रयोग है एवं आचार्य के लिए पञ्चम्यन्त प्रयोग है । "परमेष्ठी" यानी विराट् ने "ब्रह्मणः" अर्थात्

१. वंशे । २. वंशे । ३. अयं गुरुव्यं च शिष्य इति नियमः ।

## अथ बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्यपदानां वर्णानुक्रमः ।

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०	कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
अथ कर्मणामात्मेत्येतदेपा०	१	६	३	४११	अथ चन्द्र सर्वेषा	२	५	७	६३४
अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा	१	३	१४	११८	अथ धर्म सर्वेषा भूताना	२	५	११	६३६
अथ त्रयो वाक् लोका	१	५	१६	३७६	अथ वायु सर्वेषां	२	५	४	६३२
अथ प्राणमत्यवहत्स यदा	१	३	१३	११७	अथऽस्तनयितु सर्वेषा	२	५	६	६३५
अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा	१	३	१६	११८	अहर्वा अश्व पुरस्तात्	१	१	२	२५
अथ यदा सुपुत्तो भवति	२	१	१६	४६५	आग्निवेश्यादाग्निवेश्य०	२	६	२	६६६
अथ रूपाणा चक्षु०	१	६	२	४१०	आत्मवेदमग्र आसीत्पु०	१	४	१	१५१
अथ वऽऽश । पीतिमाप्यो	२	६	१	६६५	आत्मवेदमग्र आसीदेक	१	४	१७	३२२
अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा	१	३	१५	११८	आपो वा अकंस्तद्यदाऽऽ	१	२	२	४६
अथ ह चक्षुरुचु	१	३	४	१००	इद मानुषऽऽ सर्वेषा	२	५	१३	६४०
अथ ह प्राणमूचस्त्व न	१	३	३	१००	इद वै तन्मधु पश्यन्-				
अथ ह मन ऊचु	१	३	६	१०१	वोचत् । आर्यव०	२	५	१७	६५७
अथ ह श्रोत्रमूचु	१	३	५	१०१	इद वै तन्मधु पश्यन्-				
अथ हेममामन्य प्राण०	१	३	७	१०२	वोचत् । तद्वा	२	५	१६	६५८
अथात् पवमानानामे०	१	३	२८	१४२	इद वै तन्मधु पश्यन्-				
अथात् सम्प्रतिर्यदा	१	५	१७	३७८	वाचत् । पुरश्चक्रे	२	५	१८	६५९
अथातो ब्रतमोमाऽऽता	१	५	२१	३६५	इद वै तन्मधु पश्यन्-				
अथाऽऽत्मेऽनाद्यमाणा०	१	३	१७	११६	वोचत् । रूपऽऽ	२	५	१६	६६१
अथाधिदेवत ज्वलिध्या०	१	५	२२	४००	इदऽऽ सत्यऽऽ सर्वेषा	२	५	१२	६३८
अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं	२	३	४	५५०	इमा आप सर्वेषा	२	५	२	६३१
अथामूर्तं प्राणश्च यश्चा०	०	३	५	५५२	इमा दिश सर्वेषा	२	५	६	६३३
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्ष	२	३	३	५४५	इमावेव गोतमभरद्वाजा०	२	२	४	५३८
अथेयभ्यमन्यतः सुलाञ्च	१	४	६	१७३	इय पृथिवी सर्वेषा	२	५	१	६२८
अथेतस्य प्राणस्याप	१	५	१३	३५८	इय विष्णुस्त्वेषा भूताना	२	५	८	६३४
अथेतस्य मनसो द्यौ	१	१	१२	३६५	उपा वा अश्वस्य मेध्यस्य	१	१	१	२०
अथेयं श्लोको भवति	१	५	२३	४०२	एष च एव बृहस्पति०	१	३	२०	१२०
अथो अथ वा आत्मा	१	४	१६	३१७	एष च एव ब्रह्मणस्पति०	१	३	२१	१२६
अद्भ्यस्त्वन चन्द्रमसश्च	१	५	२०	३६२	एष च एव साम वाग्वै	१	३	२२	१३०
अद्यमग्नि सर्वपा भूताना	२	५	३	६३१	एष च वा उदगीय	१	३	२३	१३४
अयमाकाश सर्वेषा	२	५	१०	६३५	भूतकौशिकाद्युतकौशिव	२	६	३	६६७
अयमात्मा सर्वेषा भूताना	२	५	१४	६४१	तदाहुयदब्रह्मविद्या	१	४	६	२४८
अयमादित्य सर्वेषा	२	५	५	६३३	तदेतत्त्रेय पुत्रात्त्रेयो	१	४	८	२४३

कण्डिकाद्यपदानि

अ० ब्रा० क० पृ०

तदेतद्ब्रह्म क्षयं विद्  
तदेतन्मूर्तं यदन्यत्  
तदेव श्लोको भवति ।  
अवर्णिविलम्बमस  
तद्वापि ब्रह्मदत्तश्चैकित्वा०  
तद्देव तर्ह्य व्याकृतमासीत्  
तमेताः सप्ताक्षितय  
तस्य हेतस्य पुरुषस्य  
तस्य हेतस्य साम्नोः यः  
प्रतिष्ठां वेद  
तस्य...सुवर्णं वेद  
तस्य...स्वं वेद  
तस्य वाचः पृथिवी  
तस्यैव सा विसृष्टिरेव  
ते देवा अद्भुवन्नेतावद्वा  
ते ह वाचमूचस्त्वं न  
ते होचुः एव नु सोऽभूत्  
त्रयं वा इदं नाम रूपं  
त्रयो लोका एत एव  
त्रयो वेदा एत एव  
त्रीण्यात्मनेऽङ्कुरतेति  
मनो वाच  
दिवश्चैनमादिषाच्च  
देवाः पितरो मनुष्या  
एत एव  
श्मवालाकिर्हानूचानो  
द्वया ह प्राजापत्या  
देवाश्चानुराश्च  
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं  
नैवेह किंचिनाग्र आसीत्  
पिता माता प्रजैत  
पृथिव्यं चैनमग्नेश्च  
ब्रह्म स परादाद्यो भूतानि तं  
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्त-  
दात्मानमेवावेत्

१ ४ १५ ३०६  
२ ३ २ ५४२  
२ २ ३ ५३६  
१ ३ २४ १३६  
१ ४ ७ १८६  
२ २ २ ५३४  
२ ३ ६ ५५३  
१ ३ २७ १४१  
१ ३ २६ १४०  
१ ३ २५ १३८  
१ ५ ११ ३६४  
१ ४ ६ १७४  
१ ३ १८ १२१  
१ ३ ३ ६५  
१ ३ ८ १०६  
१ ६ १ ४०६  
१ ५ ४ ३६१  
१ ५ ५ ३६१  
१ ५ ३ ३५४  
१ ५ १६ ३६१  
१ ५ ६ ३६१  
२ १ १ ४१६  
१ ३ १ ७१  
२ ३ १ ५४०  
१ २ १ २८  
१ ५ ७ ३६१  
१ ५ १८ ३८८  
२ ४ ६ ५६०  
१ ४ १० २५२

कण्डिकाद्यपदानि

अ० ब्रा० क० पृ०

ब्रह्म वा इदमग्र आसी-  
दमेकमेव  
मैत्रेयी होवाच  
यत्किंच विजिज्ञास्यं  
यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य  
यत्र हि द्वैतमिव भवति तदि-  
तर इतरं जिघ्रति  
यत्सप्ताग्रानि मेघया  
तपसाऽजनयत्पिता  
यत्सप्ताग्रानि मेघया तपसा-  
ऽजनयत्पितेति  
यो वं न सवत्सर  
यो ह वं शिशुः  
साधानः  
विज्ञातं विजिज्ञास्यम-  
विज्ञानमेत  
स एव संवत्सरः प्रजापतिः  
स ऐक्षत यदि वा  
स त्रेधाऽऽमानं व्यकु-  
ताऽऽदित्यं  
स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो-  
रूपमत्यसृजत  
स नैव व्यभवत्स  
विशमसृजत  
स नैव व्यभवत्स शौद्र  
वर्णमसृजत  
स यत्रैतत्त्वप्यया चरति  
स यथा दुन्दुभेर्दुन्द्व्यमानस्य  
स यथाऽऽर्द्धघानेरभ्या-  
हितात्...व्याख्यानानि  
न यथा वीणायै वाद्यमानायै  
स यथा शङ्खस्य आभय-  
मानस्य  
स यथा सर्व

१ ४ ११ २६८  
२ ४ १ ५८०  
१ ५ ६ ३६२  
१ ५ १० ३६३  
२ ४ १४ ६१६  
१ ५ १ ३३१  
१ ५ २ ३३४  
१ ५ १५ ३७४  
२ २ १ ५३०  
१ ५ ८ ३६२  
१ ५ १४ ३७०  
१ २ ५ ५७  
१ २ ३ ५१  
१ ४ १४ ३०३  
१ ४ १२ ३०२  
१ ४ १३ ३०३  
२ १ १८ ४६०  
२ ४ ७ ४६२  
२ ४ १० ५६७  
२ ४ ६ ५६६  
२ ४ ८ ५६४

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०	कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	पृ०
स यथा संववसित्य					स होवाच गार्ग्यो य				
उदके	२	४	१२	६०६	एवासौ विद्युति	२	१	४	४२५
से ययोर्णनाभिः	२	१	२०	४७८	स होवाच न वा अरे				
स वा अयमात्मा सर्वेषां					पत्युः कामाय	२	४	५	५८४
भूतानामधिपतिः	२	५	१५	६४२	स होवाच याज्ञवल्क्यः				
स वै नैव रेमे नस्मादे-					प्रिया वतारे	२	४	४	५८३
काको न रमते	१	४	३	१६७	स होवाचाजातग्रधुः				
स वै वाचमेव प्रथमा-					प्रतिलोमं	२	१	१५	४३६
मरयवहस्ता	१	३	१२	११६	स होवाचाजातग्रधुरेतावत्	२	१	१४	४३३
स होवाच गार्ग्यो य					स होवाचाजातग्रधुर्यत्रेय				
एवायमग्नौ	२	१	७	४२८	एतत् पुरुषः क्वप	२	१	१६	४५३
स होवाच गार्ग्यो य					स होवाचाजातग्रधुर्यत्रेय				
एवायमप्सु	२	१	८	४२९	एतत् पुरुषस्तदेवा	२	१	१७	४५६
स होवाच गार्ग्यो य					सा वा एषा देवता द्वर्नाम	१	३	६	१०६
एवायमाकाशे	२	१	५	४२६	सा वा एषा देवततासा				
स होवाच गार्ग्यो य					मृत्युमपहत्य	१	३	१०	११३
एवायमारमनि	२	१	१३	४३२	सा वा एषा देवततासा				
स होवाच गार्ग्यो य					मृत्युमपहत्यार्पणा	१	३	११	११६
एवायमादशौ	२	१	६	४२६	सा होवाच मैत्रेयी । यधु	२	४	२	५८१
स होवाच गार्ग्यो य					सा होवाच मैत्रेयी येनाह	२	४	३	५८३
एवाय छायाय	२	१	१२	४३२	सा होवाच मैत्रेय्यत्रेय भा	२	४	१३	६१७
स होवाच गार्ग्यो य					सोऽकामयत द्वितीयो	१	२	४	५४
एवायं दिक्षु	२	१	११	४३१	सोऽकामयत भूयसा	१	२	६	६०
स होवाच गार्ग्यो य					सोऽकामयत मेध्य	१	२	७	६३
एवायं यन्त	२	१	१०	४३०	सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी	१	४	२	१५७
स होवाच गार्ग्यो य					सोऽयास्य ब्राह्मिरसो-				
एवाय वारी	२	१	६	४२७	ज्जाना हि रसः	१	३	१६	१२५
स होवाच गार्ग्यो य					सोऽप्रेदह वाव सृष्टिः	१	४	५	१७२
एवासावदित्ये	२	१	२	४२२	सो हेयमीक्षाचक्रे	१	४	४	१७०
स होवाच गार्ग्यो य									
एवासौ चन्द्रे	२	१	३	४२४					